प्रेमचन्द
रचना-संचयन



प्रेमचन्द रचना संचयन

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिनमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

प्रेमचन्द
रचना-संचयन

सम्पादन
निर्मल वर्मा
कमल किशोर गोयनका





साहित्य अकादेमी

Premchand Rachana Sanchayan : Selection from the writings of Premchand, edited by Nirmal Verma and Kamal Kishore Goenka, Sahitya Akademi, New Delhi

प्रथम संस्करण : 1964

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44एक्स, डायमंड हार्बर मार्ग, कोलकाता 700 053

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443 (304), अन्ना सालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-0663-8

मूल्य : तीन सौ रुपये

मुद्रक : वेलविश प्रिंटर्स, दिल्ली-110088

विषय-सूची

उपन्यास

निबन्ध

पुस्तक-परिचय

पुस्तक भूमिका

लेख एवं सम्पादकीय

पत्र

साक्षात्कार

भाषण

यात्रा

निवेदन

प्रेमचन्द आधुनिक भारत के शीर्षस्थ एवं कालजयी साहित्यकारों में एक हैं। भारतीय ही नहीं सम्पूर्ण विश्व साहित्य में उनका नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। उनका जन्म 31 जुलाई, 1880 को वाराणसी के लमही गाँव में हुआ था। यह देश के इतिहास का वह काल-खण्ड था, जब देश अंग्रेज़ों के दमन, शोषण एवं ईसाई धर्म-संस्कृति के प्रचार के विरुद्ध पुनर्जागरण की देशव्यापी लहर से आन्दोलित हो रहा था। राजा राममोहन राय के उपरान्त स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द. बंकिमचन्द्र, दादा भाई नौरोजी, गोखले आदि ने अपने विचारो एवं कार्यों से ऐसी जाग्रति उत्पन्न की कि देश के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के प्रति भारतीय दृष्टि से विचार-मंथन आरम्भ हुआ और स्वदेशी, स्वराज्य तथा स्वाधीनता की धारणा लोकमानस को उद्वेलित करने लगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, लार्ड कर्जन द्वारा बंग-विभाजन और गाँधी के राजनीतिक रंगमंच पर प्रादुर्भाव ने इस स्वदेशी चिन्तन-धारा को भारत के स्वाधीनता संग्राम में पिरवर्तित कर दिया। राष्ट्र के ऐसे उद्वेलिन, मंथन तथा आत्म-चिन्तन के बीच हिन्दी-उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार प्रेमचन्द का जन्म, पालन-पोषण, शिक्षण, जीविका एवं लेखन का क्रम आरम्भ हुआ। वास्तव में, देश के अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा का यह ऐसा संवर्ष-काल था, जब प्रेमचन्द, महात्मा गाँधी, नेहरू, तिलक, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र प्रसाद, सुभाषचन्द्र बोस, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि जैसे तेजस्वी देशभक्त तथा जनसेवकों को जन्म लेना ही था।

प्रेमचन्द का जीवन उनके साहित्य के समान ही रोचक, प्रेरणादायक एवं घटनापूर्ण होने के कारण अध्येता को परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए एक श्रेष्ठ मनुष्य बनने की आधारभूत सामग्री प्रदान करता है। उनका जन्म तीन बहनों के बाद हुआ था, इस कारण सभी के लाड़ले थे। पिता ने पुत्र का नाम रखा 'धनपतराय' और ताऊ ने 'नवाबराय', लेकिन वे आगे चलकर 'प्रेमचन्द' के नाम से प्रसिद्ध लेखक बने। वे बचपन में नटखट और खिलाड़ी थे, किन्तु माता-पिता के शीघ्र देहान्त ने उन्हें जीवन की कठोर परिस्थितियां का सामना करने के लिए विवश कर दिया।

पिता के दूसरे विवाह तथा अपने पहले बेमेल विवाह ने उन्हें अनेक कटु अनुभव दिये, जिनका उन्होंने बाद में अपनी रचनाओं में उपयोग किया। बीस वर्ष की उम्र तक उन्होंने उर्दू-अंग्रेज़ी में लिखा विपुल साहित्य पढ़ लिया था और 13-14 वर्ष की उम्र में उन्होंने अपने मामा के एक प्रेम-प्रसंग पर एक नाटक लिखा था। वे 2 जुलाई, 1900 ई० को बीस रुपये मासिक पर सरकारी मास्टर बने और 1 मई, 1903 को उनकी पहली रचना 'ओलिवर क्रमवेल' उर्दू साप्ताहिक पत्र 'आवाज़-ए-ख़ल्क़' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई। इसके कुछ समय उपरान्त मार्च, 1906 में उन्होंने एक बाल विधवा शिवरानी देवी से विवाह करके एक बड़ी सामाजिक क्रान्ति की। स्वामी दयानन्द के आर्य समाज तथा विवेकानन्द के विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिसके कारण उनके जीवन एवं साहित्य दोनों में समाज-सुधार, देश-प्रेम तथा जन-जागरण प्रमुख प्रेरणा-स्रोत के रूप में विद्यमान रहे। उनका प्रथम उर्दू कहानी संग्रेह 'सोज़ेवतन' जुलाई, 1908 में कानपुर से प्रकाशित हुआ, जिसकी कहानियाँ देश-प्रेम से परिपूर्ण थीं। अंग्रेज़ कलक्टर ने इन कहानियों को राजद्रोहात्मक माना और उन्हें बुलाकर फटकारते हुए कहा कि यदि मुग़ल सल्तनत में होते तो हाथ काट दिये जाते। कलक्टर ने सात सौ बची प्रतियों को आग में जलवा दिया और भविष्य में सभी रचनाओं को प्रकाशन से पूर्व दिखाने की आज्ञा दी। इस पर उन्होंने अपने मित्र मुंशी दयानारायण निगम के सुझाव पर अपना छद्म नाम 'प्रेमचन्द' रखा और इस नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना' के दिसम्बर, 1910 के अंक में प्रकाशित हुई।

इस घटना के कुछ वर्षों के उपरान्त उन्होंने उर्दू के साथ हिन्दी में भी लिखने का फ़ैसला किया। उन्होंने 1 सितम्बर, 1915 को अपने मित्र मुंशी दयानारायण निगम को पत्र में लिखा, "अब हिन्दी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुज़र नहीं। यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िन्दगी सर्फ़ कर दूँगा। उर्दू नवीसी में किस हिन्दू को फ़ैल हुआ, जो मुझे हो जायेगा।" उन्होंने अपने इस प्रयास को जारी रखा और उनकी पहली हिन्दी कहानी 'सौत' हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के दिसम्बर, 1915 के अंक में तथा प्रथम हिन्दी कहानी-संग्रह 'सप्त-सरोज' जून, 1917 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक की भूमिका में पं. मन्नन द्विवेदी ने उनका मातृ-भाषा में लिखने पर स्वागत करते हुए उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समकक्ष रखकर देखा। इसी बीच उन्होंने सन् 1916 में इन्टरमीडिएट परीक्षा तथा 1919 में बी. ए. परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की, क्योंकि वे साहित्यिक जीवन में सफलता एवं वृद्धावस्था में निश्चिंतता के लिए बी. ए. करना आवश्यक समझने लगे थे, किन्तु वे महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन से इतने प्रभावित हुए कि 8 फ़रवरी, 1921 को गोरखपुर में उनके भाषण को सुनकर उन्होंने 16 फ़रवरी, 1921 को बीस वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने आत्मकथात्मक लेख 'जीवन-सार' में लिखा, "ऐसा

समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्मा जी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो-ही-चार दिन बाद मैंने बीस साल की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।"

महात्मा गाँधी के प्रति उनका यह दृष्टिकोण जीवन-पर्यन्त बना रहा। वे उनके निष्ठावान भक्त एवं अनुयायी बने रहे। उन्होंने इस्तीफ़े के लगभग पाँच महीने उपरान्त छपे अपने लेख 'स्वराज्य के फ़ायदे' में लिखा कि महात्मा गाँधी देशभक्त हैं और उन्होंने देश के लिए सर्वस्व त्याग दिया है। ऐसे महापुरुष संसार में विरले ही पैदा होते हैं। परमात्मा ने ही उन्हें भारत का उद्धार करने के लिए ही अवतरित किया है और यदि हमने उनकी आज्ञा न मानी तो यह हमारा परम दुर्भाग्य होगा। इसके बाद उन्होंने 'हंस' के मई, 1930 के अंक मे लिखा, "महात्मा गाँधी भारतीय आत्मा की स्वाधीनता, प्रेम और उसकी विकल आकृति के जीते-जागते अवतार हैं। वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोपरि आदर्श हैं।" एक बार उन्होंने स्वयं को महात्मा गाँधी का 'चेला' बतलाते हुए अपनी पत्नी शिवरानी देवी से कहा था, "मैं महात्मा गाँधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मज़दूर और काश्तकार सुखी हों और मैं भी लिखकर उनको उत्साह दे रहा हूँ। वे हिन्दू-मुसलमान एकता चाहते हैं, तो मैं हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।"

सरकारी नौकरी से इस्तीफ़े के उपरान्त प्रेमचन्द ने महावीर प्रसाद पेद्दार की मदद से चरखे एवं खद्दर बनाने का काम आरम्भ किया, किन्तु एक महीने के बाद ही उसे बन्द करके लमही गाँव चले गये। अब उन्होंने 'स्वदेश' में लिखना शुरू किया, कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेड मास्टरी की, 'मर्यादा' के स्थानापन्न सम्पादक बने तथा 125 रुपये मासिक पर काशी विद्यापीठ के हेड मास्टर के रूप में भी कार्य किया। इसी बीच उन्होंने आजीविका के लिए एक निश्चित एवं नियमित आय के लिए 'सरस्वती प्रेस' नाम से प्रेस खोला, किन्तु व्यापार उनकी प्रकृति में न था। प्रेस से उन्हें बराबर हानि उठानी पड़ी और मानसिक यातना भी, क्योंकि आगे चलकर यह प्रेस उनके जी का जंजाल बन गया। इस प्रेस के लगने के लगभग एक वर्ष बाद उन्होंने लखनऊ के दुलारेलाल भार्गव की प्रकाशन संस्था 'गंगा पुस्तक-माला कार्यालय' में साहित्यिक सलाहकार का पद स्वीकार कर लिया तथा बाद में वे नवलकिशोर प्रेस के मालिक मुंशी विष्णुनारायण भार्गव के निमन्त्रण पर 'माधुरी' के सम्पादक बने। उनके सम्पादकत्व-काल में 'माधुरी' के जनवरी, 1928 के अंक में उनकी कहानी 'मोटेराम जी शास्त्री' छपी तो लखनऊ के प्रसिद्ध वैद्य पं. शालिग्राम शास्त्री ने उन पर मान-हानि का दावा दायर कर दिया, पर उनके स्पष्टीकरण के बाद, अदालत ने यह दावा खारिज़ कर दिया। वास्तव में, मोटेराम शास्त्री नाम पात्र की सृष्टि उन्होंने हास-परिहास के लिए 'वरदान' (सन् 1912) में ही कर दी थी, जो बाद में भी उनकी कई कहानियों में आकर पाठकों का मनोरंजन करता रहा।

यह वह समय था, जब प्रेमचन्द की हिन्दी में उनके पाठक निरन्तर बढ़ रहे

थे। और उनकी रचनाएँ, 'प्रभा', 'स्वदेश', 'आज', 'श्री शारदा', 'चाँद', 'सरस्वती', 'माधुरी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में नियमित प्रकाशित हो रही थीं। उन्होंने 17 फ़रवरी, 1924 को अपने अभिन्न मित्र मुंशी दयानारायण निगम को पत्र में लिखा "हिन्दी रसाइल इस कदर दिक करते हैं कि कुछ किये नहीं बन पड़ता। अब मैं कहानियाँ उर्दू में नहीं, हिन्दी में ही लिखकर भेज दिया करता हूँ।" उनकी यह लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि अन्य भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं तक पहुँचने लगी और जनवरी, 1928 में मराठी लेखक आनन्दराव जोशी ने मराठी में अनुवाद के लिए उनसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियों की सूची माँगी। बाँदा के जगमोहन हरीलाल पारिख ने भी 'निर्मला' के गुजराती अनुवाद की अनुमति माँगी तथा जापान में रहनेवाले भारतीय केशोराम सब्बरवाल ने उनकी कहानी 'मुक्ति-मार्ग' का जापानी में अनुवाद 'सेईडो नो मीची' नाम से करके वहाँ की प्रसिद्ध पत्रिका 'केजक्रो' के जून, 1928 के अंक में प्रकाशित कराया। स्वयं पं. बनारसीदास चतुर्वेदी एवं सी. एफ. एन्ड्रयूज़ द्वारा अनूदित तथा संशोधित उनकी कहानी 'ऐक्ट्रेस' अंग्रेज़ी मासिक 'मॉर्डन रिव्यू' के जून, 1928 के अंक में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष जर्मनी के बर्लिन विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रोफ़ेसर ताराचन्द राय ने भी उनकी कहानियों-उपन्यासों का जर्मन में अनुवाद करने के लिए सम्पर्क किया।

वास्तव में, इस समय तक हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान यह मानने लगे थे कि प्रेमचन्द की रचनाओं का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करके हिन्दी का मस्तक और भी ऊँचा किया जा सकता है। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने 28 मई, 1928 के पत्र में यही कामना करते हुए प्रेमचन्द को लिखा, "मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ, जबकि किसी हिन्दी गल्प-लेखक की कहानियों का अनुवाद रूसी, जर्मन, फ्रेंच इत्यादि भाषाओं में होगा। यदि आप ही को यह गौरव प्राप्त हो तब तो बात ही क्या है? मेरे हृदय में आपके प्रति श्रद्धा इसलिए है कि आप दूसरी भाषाओं को कुछ देकर हिन्दी का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं। बंगला इत्यादि से दान लेते-लेते हमारा गौरव वह नहीं रहा।"

प्रेमचन्द अब कई स्तरों पर कार्य में संलग्न हो गये। लखनऊ में रहते हुए वे 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे। और बनारस (अब वाराणसी) में उनका 'सरस्वती प्रेस' भी चल रहा था, लेकिन उन्हें इससे सन्तोष न था। उनका मन अंग्रेज़ों की पराधीनता से पीड़ित था और वे महात्मा गाँधी के शान्तिमय स्वाधीनता संग्राम में अपना लघु योगदान करना चाहते थे। इसी समय उन्होंने हिन्दी में एक मासिक पत्रिका निकालने का निर्णय किया तथा जयशंकर प्रसाद के सुझाव पर उसका नाम रखा 'हंस'। इसका पहला अंक 10 मार्च,1930 को प्रकाशित हुआ। अपने पहले सम्पादकीय में उन्होंने लिखा, "जब श्री रामचन्द्र जी समुद्र पर पुल बाँध रहे थे, उस वक़्त छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद की थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। 'हंस' भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर अपनी नन्हीं-सी चोंच

में चुटकी-भर मिट्टी लिए हुए समुद्र पाटने, आज़ादी की जंग में योग देने चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन संघ-शक्ति ने उसका दिल मज़बूत कर दिया है।" इधर प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी भी स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगीं तथा वे पति के साथ ही कांग्रेस की सदस्या बनीं। उन्होंने 10 नवम्बर, 1930 को लखनऊ में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार आन्दोलन के अन्तर्गत दुकानों की पिकेटिंग की और गिरफ़्तार हुईं तथा उन्हें डेढ़ महीने की सज़ा हुई। प्रमचन्द की दृष्टि में अब उनकी पत्नी हज़ार गुना ऊपर उठ गयी थीं और वे स्वयं अपनी ही नज़र में छोटे हो गये थे। वे स्वयं जेल जाना चाहते थे, पर पत्नी के इस कदम ने उनका रास्ता रोक दिया।

प्रेमचन्द निरन्तर आर्थिक हानि के बावजूद 'हंस' से सन्तुष्ट न थे। वे एक साप्ताहिक पत्र भी निकालना चाहते थे। अवसर मिलते ही उन्होंने विनोदशंकर व्यास से 'जागरण' ले लिया और 22 अगस्त, 1932 को उनके सम्पादकत्व में इसका पहला अंक निकला, किन्तु आर्थिक हानि के कारण उन्हें इसका अन्तिम अंक 21 मई, 1934 को निकाल कर इसे बन्द करना पड़ा। 'हंस' अब भी चल रहा था, पर वे विकल्प की तलाश में थे इस बीच महात्मा गाँधी की प्रेरणा तथा गुजराती लेखक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के सक्रिय प्रयास से 'भारतीय साहित्य परिषद्' की स्थापना हुई तथा प्रेमचन्द ने मुंशी के प्रस्ताव पर, 'हंस' को परिषद् का मुख-पत्र बनाना स्वीकार कर लिया। अब वे मुंशी के साथ 'हंस' के अवैतनिक सम्पादक बने तथा इसका पहला अंक अक्टूबर, 1933 को प्रकाशित हुआ। इस स्थिति में इसके दस अंक निकले तथा अन्य भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं के हिन्दी अनुवाद इसमें प्रकाशित होते रहे, पर जब जुलाई, 1936 के अंक में सेठ गोविन्द दास का नाटक 'विचार स्वातन्त्र्य' प्रकाशित हुआ तो अंग्रेज़ी सरकार ने एक हज़ार रुपये की ज़मानत माँग ली। महात्मा गाँधी जमानत देकर 'हंस' निकालने को तैयार न हुए और परिषद् के मुख-पत्र के रूप में इसका प्रकाशन बन्द हो गया। इस समय प्रेमचन्द अस्वस्थ थे, किन्तु उन्होंने जमानत देकर 'हंस' को पुनर्जीवित किया और उनके स्वतन्त्र सम्पादन में इसका सितम्बर, 1936 का अंक प्रकाशित हुआ। इसी अंक में उनका धन पर आधारित सामाजिक व्यवस्था एवं पूँजीवाद का विरोध करते हुए रूस में उदित होनेवाली समाजवादी सम्पदा का स्वागत किया।

प्रेमचन्द आर्थिक निश्चिंतता का जीवन जीते हुए साहित्य-साधना करना चाहते थे, जो शायद उन्हें कभी नहीं मिला। उन्होंने इसके लिए खूब अनुवाद कार्य किया—हिन्दी से उर्दू में तथा अंग्रेज़ी से हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में और जिन प्रमुख लेखकों की रचनाएँ अनूदित की वे हैं—बर्नार्ड शॉ, मेटरलिंक तथा पं. जवाहरलाल नेहरू आदि। उन्होंने आर्थिक तनावों को कम करने के लिए फ़िल्मों में लेखन कार्य भी स्वीकार किया और वे अजन्ता सिनेटोन लि., बम्बई के डायरेक्टर एम. भवनानी के आमन्त्रण पर आठ हज़ार रुपये वार्षिक पर काम करने के लिए बम्बई गये। उनकी पहली कहानी 'मिल का मज़दूर' पर फ़िल्म बनी जो नवम्बर,

1934 में लाहौर में प्रदर्शित हुई। बम्बई में प्रदर्शित करने की अनुमति सेंसर ने नहीं दी। यह कम्पनी जब घाटे के कारण बन्द हो गयी तो प्रेमचन्द 3 अप्रैल, 1935 को बम्बई छोड़कर बनारस लौट आये। अपने फ़िल्मी जीवन की अनुभवों के आधार पर उन्होंने फ़िल्म-निर्माताओं की फ़िल्म-निर्माण को 'इंडस्ट्री' समझने, पवित्र भावनाओं को 'एक्सप्लॉइट' करने तथा अश्लीलता को मनोरंजन मानने की कटु आलोचना की। उनका निष्कर्ष था–स्वतन्त्र लेखन-कार्य में चाहे धन न हो, मगर सन्तोष अवश्य है। लेकिन बम्बई में रहते समय प्रेस की हालत ख़राब होती गयी। प्रवासीलाल वर्मा प्रेस के व्यवस्थापक थे। उनके दुर्व्यवहार तथा महीने का वेतन न मिलने पर कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। यद्यपि तेरह दिन के बाद कर्मचारियों से समझौता हो गया, किन्तु प्रेमचन्द 'भारत' में मज़दूरों की विजय के समाचार छपने से आहत हुए और उन्होंने इसके सम्पादक को पत्र लिखकर प्रेस की घाटे की स्थिति से परिचित कराते हुए लिखा कि मैंने कर्मचारियों को बेकार हो जाने के डर से प्रेस बन्द नहीं किया। मैंने कभी कर्मचारियों को एक्प्लॉइट नहीं किया, बल्कि उनके द्वारा एक्सप्लॉइट किया जा रहा हूँ। मैंने इस प्रेस से एक पैसा भी नहीं कमाया, फिर भी उन्हें साहित्य और समाज की सेवा तथा मज़दूरों की वकालत करनेवाले प्रेस से हमदर्दी नहीं हुई। मैं खुद मज़दूर हूँ और मज़दूरों का दोस्त हूँ और उनसे पूरी सहानुभूति है।

प्रेमचन्द अब थक चुके थे। उन्होंने अनेक अप्रिय स्थितियों में अपने जीवन को आगे बढ़ाया और विचलित नहीं हुए, किन्तु उनका शरीर रोगों से क्षीण होने लगा। उन्हें 6 जून, 1936 को लमही गाँव लौटने पर खून की पहली उल्टी हुई और एक महीने के बाद पुनः खून की उल्टी हुई। इस अवस्था में उन्होंने 'महाजनी सभ्यता' लेख तथा 'मंगलसूत्र' अधूरे उपन्यास के पृष्ठ लिखे और 'हंस' को पुनर्जीवित किया। वे इलाज के लिए लखनऊ भी गये, पर उनकी जीवन-शक्ति क्षीण होती गयी और 8 अक्टूबर, 1936 को प्रातः 10 बजे उनका निधन हो गया।

प्रेमचन्द एक सच्चे भारतीय थे, जिन्हें जीवनयापन के लिए बहुत कम वस्तुओं की आवश्यकता थी। एक सामान्य भारतीय के समान उनकी इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ सीमित थीं। वे एक सामान्य देहाती के समान कपड़े पहनते थे। धोती-कुर्ता उनकी सबसे प्रिय पोशाक़ थीं। उस समय गाँधी टोपी, कुर्ता, धोती, साफ़ा, शेरवानी, पाजामा आदि राष्ट्रीय वेशभूषा थी और उन्होंने इन्हें आत्मिक रूप से अपनाया हुआ था। उन्होंने कोट-पैंट पहना अवश्य, किन्तु विदेशी वेशभूषा उन्हें पसन्द न थी और उसमें उन्हें अंग्रेज़ियत की बू आती थी। अमृतराय ने अपने पिता की वेशभूषा का बयान करते हुए लिखा है, "क्या तो उनका हुलिया था, घुटनों से ज़रा ही नीचे तक पहुँचनेवाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बन्ददार जूता। यानी कुल मिलाकर आप उसे दहक़ान ही कहते, गँवइया भुच्च जो अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़े पहनने की भी तमीज़ नहीं, आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कहकर पहचानने से भी इन्कार कर दें, लेकिन तब भी वहीं प्रेमचन्द

था, क्योंकि वही हिन्दुस्तान है।"

प्रेमचन्द की अन्य आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। हाँ, गाय उनके पास सदैव रही। वे प्रायः फ़र्श पर बैठकर डेस्क पर लिखते। वे मेज़-कुर्सी तो बहुत बाद में पत्नी के कहने से लाये। इस प्रकार उनकी दुनिया क़लम, दावात, काग़ज़, घर, पत्नी और बच्चों तक सीमित थी, लेकिन इस दुनिया में देश की चिन्ता सर्वोपरि थी। उन्होंने 3 जून, 1930 को पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को अपने पत्र में लिखा था, "मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय जो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविश नहीं। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही हो।"

इसी दृष्टिकोण से प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन तथा सृजन संचालित होता है। देश की परिस्थितियों के कारण वे साहित्य को उपदेश, सुधार, जन-जाग्रति तथा उपयोगिता की तुला पर देखना अनिवार्य मानते हैं। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के पहले अधिवेशन में सभापति के पद से दिये अपने भाषण में उन्होंने कहा कि साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है। उन्होंने युग के अनुरूप साहित्य के स्वरूप तय करते हुए इसी भाषण में कहा कि जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, इसमें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं। अतः उन्होंने साहित्य की कसौटी निश्चित करते हुए अपने भाषण के अन्त में कहा, "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचन्द की यही रचना-दृष्टि, विभिन्न रूपों में, अनेक साहित्य में अभिव्यक्त हुई। वह बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे और उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक, समीक्षा, लेख, सम्पादकीय, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में साहित्य की सृष्टि की है, परन्तु वे प्रमुख रूप से कथाकार हैं। उन्हें अपने जीवन-काल में ही 'उपन्यास-सम्राट' की पदवी मिल गयी थी और कहानीकार के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी तुलना की जाती थी। उन्होंने कुल 15 उपन्यास, 300 से कुछ अधिक कहानियाँ, 3 नाटक, 10 अनुवाद, 7 बाल-पुस्तकें तथा हज़ारों पृष्ठों के लेख, सम्पादकीय, भाषण, भूमिका, पत्र आदि की रचना की लेकिन जो यश और प्रतिष्ठा उन्हें उपन्यास एवं कहानियों से प्राप्त हुई, वह अन्य विधाओं से प्राप्त न हो सकी। यह स्थिति हिन्दी एवं उर्दू भाषा दोनों में ही समान रूप से दिखायी देती है। उन्होंने

'रंगभूमि' तक के सभी उपन्यास पहले उर्दू भाषा में लिखे थे और 'कायाकल्प' से लेकर अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' तक सभी उपन्यास हिन्दी में रचे गये और बाद में इन्हें उर्दू में अनूदित या रूपान्तरित किया गया। कहानी में स्थिति इससे कुछ भिन्न है। प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी सन् 1915 में छपी थी, किन्तु वे जीवन-पर्यन्त उर्दू में भी कभी-कभी कहानियाँ लिखते रहे। यहाँ तक कि उनकी विश्वप्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' पहले उर्दू में प्रकाशित हुई जो उर्दू मासिक पत्रिका 'जामिया' के दिसम्बर, 1935 के अंक में छपी, लेकिन हिन्दी में इसका प्रकाशन हुआ 'चाँद' के अप्रैल, 1936 के अंक मे ; परन्तु जहाँ तक लोकप्रियता, प्रतिष्ठा और सम्मान का प्रश्न है, हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के कथा-साहित्य में उन्हें लगभग एक जैसा ही स्थान प्राप्त है।

उनके कथा-साहित्य में उनके उपन्यासकार का आरम्भ पहले होता है। उनका पहला उर्दू उपन्यास (अपूर्ण) 'असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़-ए-खल्क़' मे 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ, जबकि उनकी पहली उर्दू कहानी सन् 1908 में छपी। उनके कुल 15 उपन्यास हैं, जिनमें 2 अपूर्ण तथा 13 पूर्ण उपन्यास हैं। उनका पहला और अन्तिम उपन्यास अपूर्ण ही रहा। आशा है, साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित प्रेमचन्द की रचनाओं का समुच्चय प्रेमचन्द रचना संचयन देश-विदेश में फैले उनके असंख्य पाठकों की अपेक्षा पर खरा उतरेगा। सामग्री के चयन एवं संयोजन में यथासंभव सावधानी बरती गई है ताकि यह पूर्णता के अधिक-से-अधिक निकट हो तथा जिसमे ज्ञात-अज्ञात दोनों पक्षों की रचनाओं का उचित प्रतिनिधित्व हो। इन पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' (दो खंड) छप चुकी है। उससे भी प्रेमचन्द की कुछ अज्ञात एवं अनुपलब्ध रचनाओं को इस संकलन में दिया गया है। प्रेमचन्द की यह मूर्ति उनके स्वदेश-प्रेम तथा राष्ट्र-प्रहरी रूप के साथ ग्रामीण जीवन एव संस्कृति के आख्याता, शोषित एवं दमित के प्रवक्ता, सामाजिक जागरण के चितेरे, साम्प्रदायिक एकता के पक्षधर, समन्वयकारी सांस्कृतिक चेतना तथा मानवतावादी जीवन-दृष्टि से निर्मित होती है। वे हिन्दी के पहले साहित्यकार थे जिन्होंने पश्चिमी पूँजीवादी एवं औद्योगिक सभ्यता के संकट को पहचाना और देश की मूल कृषि संस्कृति तथा भारतीय जीवन-दृष्टि की रक्षा की और देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया। सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में 'प्रेमचन्द ने नवीन भारतीयता का, नवीन राष्ट्रीयता का समुज्ज्वल आदर्श' प्रस्तुत कर गाँधी के समान ही देश का पथ-प्रदर्शन किया। हमें विश्वास है कि 'प्रेमचन्द रचना संचयन' में संकलित रचनाएँ उनकी इस मूर्ति को न केवल साकार करेंगी, बल्कि पाठकों को उनकी सर्जनात्मकता के वास्तविक रूप की झाँकी भी मिल सकेगी।

—कमल किशोर गोयनका

दिल्ली

भूमिका

प्रेमचन्द

आत्मकथ्य

मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खँड़हरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौक़ीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी। मेरा जन्म संवत् १९६७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज़। एक बड़ी बहन भी थीं। उस समय पिताजी शायद बीस रुपये पाते थे। चालीस रुपये तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गयी। यों वह बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलनेवाले आदमी थे; लेकिन आख़िरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे, और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में ख़र्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था, वकील बनने का और एम. ए. पास करने का। नौकरी उस ज़माने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता; पर यहाँ तो आगे पढ़ने की धुन थी– पाँव में लोहे की नहीं, अष्टधातु की बेड़ियाँ थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर !

पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महँगी अलग–दस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था। हेटमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं वक़्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

मैट्रिक्युलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेंड डिवीजन जिससे क्वींस कालेज में भरती होने की आशा न रही। फ़ीस केवल अव्वल दरज़ेवाले की

ही मुआफ़ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल थे मि. रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने फ़र्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिज़ाज को तबदील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर–आधी ही कहने पाया था–बोले कि घर में कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। ख़ैर, कालेज में गया। मुलाकात तो हुई; पर निराशाजनक। फ़ीस मुआफ़ न हो सकती थी। अब क्या करूँ ? अगर प्रतिष्ठित सिफ़ारिशें ला सकता, तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता; लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था ?

रोज़ घर से चलता कि कहीं से सिफ़ारिश लाऊँ, पर बारह मील की मंज़िल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ ? कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफ़ारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्ध-कारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गयी। सिफ़ारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न रही। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था; लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया। और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया। एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गये। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाये और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घण्टे ही भर की देर थी। इस औषध ने, मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने पण्डितजी से बार-बार उस जड़ी का नाम पूछा ; पर उन्होंने न बताया। कहा–नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि. रिचर्डसन से मिला और सिफ़ारिशी चिट्ठी दिखायी। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ़ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा–इतने दिनों कहाँ थे ?

'बीमार हो गया था।'

'क्या बीमारी थी ?'

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी-सी चीज़ थी, जिसके लिए इतनी लम्बी ग़ैरहाज़िरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक़्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह से जब मैं सिफ़ारिश के लिए मिला था, तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया।

मैंने कहा–पैलपिटेशन आफ़ हार्ट सर !

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा–अब तुम बिलकुल

अच्छे हो ?

'जी हाँ।'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भरकर लाओ।'

मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ। फ़ार्म लिया, खानापूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था--इसकी योग्यता की जाँच की जाय।

यह नयी समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझ आशा न थी और बीजगणित तथा रेखागणित से तो रूह काँपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था ? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफ़ेसर साहब बंगाली थे। अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विंग का 'रिपिवान विंकिल' था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो ही चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफ़ेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और फार्म पर 'संतोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था। इसके प्रोफ़ेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फ़ार्म दिखाया। नयी संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुऐ थे। पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफ़ेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया ।

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका। इंटरमीडिएट में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में अख़्तियारी हो गयी तब मैंने दूसरे विषय लेकर उसे आसानी से पास कर लिया। उस समय तक यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। ख़ैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया; लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता ? किसी तरह गणित को सुधारूँ और कालेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना ज़रूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुज़र करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली! एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाज़ार से एक छोटा-सा लैम्प लाया

और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक़्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ दर का 'फ़साना-ए-आज़ाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिक्युलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफ़ारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब ज़रूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता !

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज़ उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया ! चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी ज़माने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सुखनतकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वह पैस उसने मुझसे मेरे घर गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूँ। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था, या संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुक्सेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए ख़रीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था ; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा—तुम कहाँ पढ़ते हो ?

मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ; पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा।

'मैट्रिक्युलेशन पास हो ?'

'जी हाँ।'

'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?'

'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।'

यह सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। इन्हें एक सहकारी अध्यापक की ज़रूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला, तो पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। यह सन् 1899 की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता; पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक ही खाट पर सुलाता है।

दो

मैंने पहले-पहल 1907 में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेज़ी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में; लेकिन गल्प 1907 से पहिले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था, 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह 1907 में 'ज़माना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह, 'सोज़े वतन' के नाम से 1909 में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गयी थी।

उस वक़्त मैं शिक्षा-विभाग में सब डिप्टी इन्सपेक्टर था और हमीरपुर के ज़िले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा, कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात तीस-चालीस मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज़े वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक़्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया-पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और इसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा—यह पुस्तक तुमने लिखी है ?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले–तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेज़ी अमलदारी में हो। मुग़लों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेज़ी सरकार की तौहीन की है, आदि। फ़ैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़े-वतन' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ता छूटे। एक हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से तीन सौ बिकी थीं। शेष सात सौ प्रतियाँ मैंने 'ज़माना कार्यालय' से मँगवाकर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गयी; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में ज़िले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इन्सपेक्टर– जिनका मैं मातहत था–मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं; बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा–ऐसे ख़तरनाक आदमी को ज़रूर सख़्त सज़ा देनी चाहिए। डिप्टी-इन्सपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से कि कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्रभाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें, कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनीतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालाँकि पुलिस के देवता उस वक़्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलक्टर साहब ने डिप्टी इन्सपेक्टर से पूछा–आपको आशा है कि वह आपसे अपने दिल की बातें कह देगा ?

"आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूँ।"

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले–मैं तो हुजूर के हुक्म··· साहब ने बात काटी–नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है। मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक में लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुक़दमा चलाइए, नहीं धमकी देकर छोड़ दीजिए। 'मुँह में राम, बगल में छुरी' मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इन्सपेक्टर साहब ने कई दिन पीछे ख़ुद मुझसे कहा, तो मैंने पूछा–क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते ?

वह हँसकर बोले–असम्भव ! कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था, और वह रुक गयी। मुक़दमा अदालत में आता, तो सज़ा हो जाना यक़ीनी था। यहाँ आपकी पैरवी करने वाला भी कोई

न मिलता; मगर साहब हैं शरीफ़ आदमी।

मैंने स्वीकार किया—बहुत ही शरीफ़।

तीन

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गयी। गर्मी के दिनों में देहातों में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुँइयाँ खानी पड़ी। यों मैं घुँइयों को बिच्छू समझता हूँ और तब भी समझता था; लेकिन न-जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गयी कि अजवाइन से घुँइयाँ का वादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुन्देलखण्ड के पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचन शक्ति को तीव्र कर दिया; लेकिन एक दिन पेट में दर्द हुआ और सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फंकियाँ लगाईं ; मगर दर्द न कम हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गयी ; मल के साथ आँव आने लगा; लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा, तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने में ही ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा क्या हरज है, आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा ! थाने में ही अड्डा जमा दिया। दारोगाजी ने जमींकंद का सालन पकवाया, पकौड़ियाँ, दही-बड़े, पुलाव। मैंने एहतियात से खाया—जमींकंद तो मैंने केवल दो फांकें खाईं, लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के फूस के बँगले में लेटा, तो दो-ढाई घण्टे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन-भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकंद की कारस्तानी है। घुँइयाँ से पहले मेरी कुट्टी हो चुकी थी। अब जमींकंद से भी बैर हो गया। तबसे इन दोनों चीज़ों की सूरत देखकर मैं काँप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा; पर पेचिश ने अड्डा जमा लिया। पेट में चौबीसों घण्टे तनाव बना रहता। अफारा हुआ करता। संयम के साथ चार-पाँच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई-न-कोई औषधि भी खाया करता; किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा कराई, एक बार महीने-भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन किया; पर कोई फ़ायदा नहीं !

तब मैंने तबादला कराया। चाहता था रोहेलखंड; पर पटका गया बस्ती के ज़िले में, और हलका वह मिला जो नेपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्व. पं. मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी-कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी; लेकिन यहाँ आकर पेचिश और बढ़ गयी।

तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली; और लखनऊ के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के एक हकीम से इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा-सा फ़ायदा तो मालूम हुआ पर बीमारी जड़ से न गयी। जब फिर बस्ती पहुँचा तो वही हालत हो गयी। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती हाईस्कूल में स्कूल-मास्टर हो गया। फिर यहाँ से तबदील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत जारी रही। यहाँ मेरा परिचय महावीर प्रसाद जी पोद्दार से हुआ जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े ही उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती से ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाई थीं। पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवा-सदन' की सृष्टि हुई वहाँ मैंने प्राइवेट बी. ए. भी पास किया। 'सेवा-सदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों की, विशेषकर पोद्दारजी की सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरम्भ की; लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक ज़ीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा तब और लोग धड़धड़ाते हुए चले गये, पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। उसी दिन मुझे अपनी कमज़ोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया, अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूँ, जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन संध्या-समय उर्दू बाज़ार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी, सम्पादक 'स्वदेशी' से मेरी भेंट हो गयी। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा—बाबूजी, आप तो बिलकुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का ज़िन्दगी से नाता है, तो क्यों न हँसकर मरूँ? मैंने चिढ़कर कहा—मर ही तो जाऊँगा भई, या और कुछ! मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गये। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह 1910 की बात है। असहयोग आन्दोलन ज़ोरों पर था। जलियाँवाला बाग़ का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो-ही-चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी का देहात

में एक मकान था। हम और वह दोनों वहाँ चले गये और चर्खे बनवाने लगे। वहाँ जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी। यहाँ तक कि एक महीने के अन्दर मल के साथ आँव का आना बन्द हो गया। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। ग़ुलामी से मुक्त होते ही मैं नौ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् की जो इच्छा होती है वही होता है, और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।

(हंस, जन.-फर., 1932)

मेरी पहली रचना

उस वक़्त मेरी उम्र कोई 13 साल की रही होगी। हिन्दी बिल्कुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने-लिखने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं. रतननाथ सरशार, मिर्ज़ा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी, उस वक़्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्व. हजरत रियाज़ ने जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरम सरा' के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवध-पंच' के सम्पादक स्व. मौलाना सज्जाद हुसेन ने, जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का 'धोखा' या 'तिलिस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी ज़माने में पढ़ीं। और पं. रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी गोरखपुर ही के मिशन स्कूल में आठवें में पढ़ता था, जो तीसरा दरजा कहलाता था। रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दूकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले-लेकर पढ़ता था; मगर दूकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दूकान से अंग्रेज़ी पुस्तकों की कुंजियाँ और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसके मुआवज़े में दूकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में मैंने सैंकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े, और 'तिलिस्मी होशरुबा' के कई भाग भी पढ़े। इस बृहद् तिलस्मी ग्रंथ के सत्रह भाग उस वक़्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपररायल आकार के दो-दो हज़ार पृष्ठों से कम न होगा। और इन सत्रह भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचीसों भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े। जिसने इतने बड़े ग्रन्थ की रचना की, उसकी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान

किया जा सकता है। कहते हैं, ये कथाएँ मौलाना फ़ैज़ी ने अकबर के विनोदार्थ फ़ारसी में लिखी थीं। इनमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता; लेकिन इतनी वृहद् कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो। पूरी एंसाइक्लोपीडिया समझ लीजिए। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी नकल भी करना चाहे, तो नहीं कर सकता। रचना तो दूसरी बात है।

उसी ज़माने में मेरे एक नाते के मामू कभी-कभी हमारे यहाँ आया करते थे। अधेड़ हो गये थे; लेकिन अभी तक बिन-ब्याहे थे। पास में थोड़ी-सी ज़मीन थी, मकान था, लेकिन घरनी के बिना सब कुछ सूना था। इसलिए घर पर जी न लगता था। नातेदारियों में घूमा करते थे, और सबसे यही आशा रखते थे कि कोई उनका ब्याह करा दे। इसके लिए सौ-दो सौ ख़र्च करने को भी तैयार थे। क्यों उनका ब्याह नहीं हुआ, यह आश्चर्य था। अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे, बड़ी-बड़ी मूँछें, औसत क़द, साँवला रंग। गाँजा पीते थे, इससे आँखें लाल रहती थीं। अपने ढंग के धर्मनिष्ठ भी थे। शिवजी को रोजाना जल चढ़ाते थे। और मांस-मछली नहीं खाते थे।

आख़िर एक बार उन्होंने भी वही किया, जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं। एक चमारिन के नयन-बाणों से घायल हो गये। वह उनके यहाँ गोबर पाथने, बैलों को सानी-पानी देने और इसी तरह के दूसरे फुटकर कामों के लिए नौकर थी। जवान थी, छबीली थी और अपने वर्ग की अन्य रमणियों की भाँति प्रसन्नमुख और विनोदिनी थी। 'एक समय सखि सुअरि सुन्दरि'--वाली बात थी। मामू साहब का तृषित हृदय मीठे जल की धारा देखते ही फिसल पड़ा। बातों-बातों में उससे छेड़छाड़ करने लगे। वह इनके मन का भाव ताड़ गयी। ऐसी अल्हड़ न थी। और नखरे करने लगी। केशों में तेल भी पड़ने लगा, चाहे सरसों का ही क्यों न हो! आँखों में काजल भी चमका, ओठों पर मिस्सी भी आयी, और काम में ढिलाई भी शुरू हुई। कभी दोपहर को आयी और झलक दिखलाकर चली गयी, कभी साँझ को आयी और एक तीर चलाकर चली गयी। बैलों को सानी-पानी मामू साहब खुद दे देते, गोबर दूसरे उठा ले जाते, युवती से बिगड़ते क्योंकर? वहाँ तो अब प्रेम उदय हो गया था! होली में उसे प्रथानुसार एक साड़ी दी; मगर अबकी गजी की साड़ी न थी, खूबसूरत-सी सवा दो रुपये की चुँदरी थी। होली की त्योहारी भी मामूल से चौगुनी दी। और यह सिलसिला यहाँ तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गयी।

एक दिन संध्या-समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं तो हुआ करें, क्या किसी की इज्ज़त लेंगे? एक इन लाला के बाप थे कि कभी किसी मेहरिया की ओर आँख उठाकर न देखा, (हालाँकि यह सरासर ग़लत था) और एक यह हैं कि नीच जाति की बहू-बेटियों पर भी डोरे डालते हैं! समझाने-बुझाने का मौक़ा न था। समझाने से लाला मानेंगे तो नहीं, उलटे और कोई मामला खड़ा कर देंगे। इनके कलम घुमाने की तो देर है। इसलिए निश्चय हुआ कि लाला साहब को

ऐसा सबक देना चाहिए कि हमेशा के लिए याद हो जाय। इज़्ज़त का बदला खून ही चुकाता है, लेकिन मरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौती हो सकती है।

दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर में आई तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया। महीनों के असमंजस और हिचक और धार्मिक संघर्ष के बाद आज मामू साहब ने अपने प्रेम को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया था। चाहे कुछ हो जाय, कुल-मरजाद रहे या जाय, बाप-दादा का नाम डूबे या उतराय !

उधर चमारों का जत्था ताक में था ही। इधर किवाड़ बन्द हुए, उधर उन्होंने द्वार खटखटाना शुरू किया। पहले तो मामू साहब ने समझा, कोई आसामी मिलने आया होगा, किवाड़ बन्द पाकर लौट जायेगा ; लेकिन जब आदमियों का शोरगुल सुना तो घबड़ाये। जाकर किवाड़ों की दराज से झाँका। कोई बीस-पचीस चमार लाठियाँ लिये, द्वार रोके खड़े किवाड़ों को तोड़ने की चेष्टा कर रहे थे। अब करें तो क्या करें ? भागने का कहीं रास्ता नहीं, चम्पा को कहीं छिपा नहीं सकते। समझ गये कि शामत आ गयी। आशिकी इतनी जल्दी गुल खिलायेगी, यह क्या जानते थे, नहीं इस चमारिन पर दिल को आने ही क्यों देते। उधर चम्पा इन्हीं को कोस रही थी—तुम्हारा क्या बिगड़ेगा, मेरी तो इज़्ज़त लुट गयी। घरवाले मूड़ ही काटकर छोड़ेंगे ; कहती थी, कभी किवाड़ बन्द न करो, हाथ-पाँव जोड़ती थी ; मगर तुम्हारे सिर पर तो भूत सवार था। लगी मुँह में कालिख कि नहीं ?

मामू साहब बेचारे इस कूचे में कभी न आये थे। कोई पक्का खिलाड़ी होता तो सौ उपाय निकाल लेता ; लेकिन मामू साहब की तो जैसे सिट्टी-पिट्टी भूल गयी। बरौठे में थर-थर काँपते 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते हुए खड़े थे। कुछ न सूझता था।

और उधर द्वार पर कोलाहल बढ़ता जा रहा था, यहाँ तक कि सारा गाँव जमा हो गया। बाम्हन, ठाकुर, कायस्थ सभी तमाशा देखने और हाथ की खुजली मिटाने के लिए आ पहुँचे। इससे ज़्यादा मनोरंजक और स्फूर्तिवर्द्धक तमाशा और क्या होगा कि एक मर्द और एक औरत के साथ घर में बन्द पाया जाय ! फिर वह चाहे कितनी ही प्रतिष्ठित और विनम्र क्यों न हो, जनता उसे किसी तरह क्षमा नहीं कर सकती। बढ़ई बुलाया गया, किवाड़ फाड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले। चम्पा आँगन में खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भागकर कहाँ जाते ? वह जानते थे, उनके लिए भागने का रास्ता नहीं है। मार खाने के लिए तैयार बैठे थे। मार पड़ने लगी और बेभाव की पड़ने लगी। जिसके हाथ जो कुछ लगा— जूता, छड़ी, छाता, लात, घूँसा सभी अस्त्र चले। यहाँ तक कि मामू साहब बेहोश हो गये और लोगों ने उन्हें मुर्दा समझकर छोड़ दिया। अब इतनी दुर्गति के बाद वह बच भी गये; तो गाँव में नहीं रह सकते और उनकी ज़मीन पट्टेदारों के हाथ आयेगी।

इस दुर्घटना की ख़बर उड़ते-उड़ते हमारे यहाँ भी पहुँची। मैंने भी उसका खूब आनन्द उठाया। पिटते समय उनकी रूप रेखा कैसी रही होगी, इसकी कल्पना करके मुझे खूब हँसी आयी।

एक महीने तक तो वह हल्दी और गुड़ पीते रहे। ज्यों ही चलने-फिरने लायक हुए, हमारे यहाँ आये। यहाँ अपने गाँववालों पर डाके का इस्तग़ासा दायर करना चाहते थे।

अगर उन्होंने कुछ दीनता दिखायी होती, तो शायद मुझे हमदर्दी हो जाती; लेकिन उनका वही दम-खम था। मुझे खेलते या उपन्यास पढ़ते देखकर बिगड़ना और रोब जमाना और पिताजी से शिकायत करने की धमकी देना, यह अब मैं क्यों सहने लगा था ! अब तो मेरे पास उन्हें नीचा दिखाने के लिए काफी मसाला था।

आख़िर एक दिन मैंने यह सारी दुर्घटना एक नाटक के रूप में लिख डाली और अपने मित्रों को सुनाई। सब-के-सब खूब हँसे। मेरा साहस बढ़ा। मैंने उसे साफ़-साफ लिखकर वह कापी मामू साहब के सिरहाने रख दी, और स्कूल चला गया। दिल में कुछ डरता भी था, कुछ खुश भी था और कुछ घबराया हुआ भी था। सबसे बड़ा कुतूहल यह था कि ड्रामा पढ़कर मामू साहब क्या कहते हैं। स्कूल में जी न लगता था। दिल उधर ही टँगा हुआ था। छुट्टी होते ही घर चला गया। मगर द्वार के समीप आकर पाँव रुक गये। भय हुआ, कहीं मामू साहब मुझे मार न बैठें; लेकिन इतना जानता था कि वह एकाध थप्पड़ से ज़्यादा मुझे मार न सकेंगे, क्योंकि मैं मार खानेवाले लड़कों में न था।

मगर यह मामला क्या है ! मामू साहब चारपाई पर नहीं हैं, जहाँ वह नित्य लेटे हुए मिलते थे। क्या घर चले गये ? आकर कमरा देखा वहाँ भी सन्नाटा। मामू साहब के जूते, कपड़े, गठरी सब लापता। अन्दर जाकर पूछा। मालूम हुआ, मामू साहब किसी ज़रूरी काम से घर चले गये। भोजन तक नहीं किया।

मैंने बाहर आकर सारा कमरा छान मारा मगर मेरा ड्रामा–मेरी वह पहली रचना–कहीं न मिली। मालूम नहीं, मामू साहब ने उसे चिराग़अली के सुपुर्द कर दिया या अपने साथ स्वर्ग ले गये ?

(हंस, दिसम्बर, 1935)


कहानी

यह मेरी मातृभूमि है

एक

आज पूरे साठ वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि–प्यारी मातृभूमि के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचालित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और कानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे सो करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ खूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी खूब पैदा किया तथा धन से आनंद भी खूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपना सानी आप ही थी। उसके लावण्य और सुन्दरता की ख्याति तमाम अमेरिका में फैली। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजाइश भी न थी, जिसका सम्बन्ध मुझसे न हो, मैं उस पर तन-मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे जो सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हे-नन्हे पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाये। मैंने अनंत धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हे-नन्हे बच्चे आदि अमूल्य पदार्थों का केवल इसीलिए परित्याग कर दिया कि मैं प्यारी भारत-जननी का अंतिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ; दस वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाकी है कि मैं अपने मातृभूमि का रजकण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय भी थी जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी। और जब मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-सा खटकता

रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे पास धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी, मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रह मातृभूमि के टूटे झोपड़े, चार-छः बीघा मौरूसी ज़मीन और बालपन के लँगोटिया यारों की याद अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था "यदि मैं अपने देश में होता..."

दो

जिस समय मैं बम्बई में जहाज़ से उतरा, मैंने पहिले काले कोट-पतलून पहने टूटी-फूटी अँगरेजी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँगरेज़ी दूकान, ट्राम और मोटरगाड़ियाँ दीख पड़ीं। इसके बाद रबर टायरवाली गाड़ियों की ओर मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन देखा। बाद में मै रेल में सवार होकर हरी-भरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों मे आँसू भर आये। और मैं खूब रोया, क्योकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इंगलैंड था; मगर प्यारा भारत नहीं था।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय में फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग की होड़ कर रहा था। मैं उस गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था—अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिल्कुल भूल गया था कि मैं ९० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग शीघ्र-शीघ्र उठते थे और हृदय में अकथनीय आनंद का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़ कर दृष्टि डालता। अहा ! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे, किंतु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे। सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज़ बंदूकें लिये इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख़्त मनाही थी।

गाँव में गया और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं, किन्तु शोक ! वे सब के सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोंपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफ़िक्री के आनंद लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

यह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-चलते दृष्टि आते थे, जो

अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे, उनके मुखों से चिंता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी और वे सब सांसारिक चिंताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान, लाल चेहरे वाले नवयुवक कहीं न दीख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल तथा कांतिहीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक फटे कपड़े पहिने बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा कि नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ--यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।

बरगद के पेड़ की ओर मैं दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनंद उड़ाए थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ास्थल और युवावस्था का सुखप्रद वासस्थान था। आह ! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःखदायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गयीं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे आँसू बहाता रहा। हाँ, यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़ कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी झूला थीं और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिया यार, जो कभी रूठते थे, कभी मानते थे, कहाँ गए ? हाय, बिना घर बार का मुसाफिर अब क्या अकेला ही हूँ ? क्या मेरे कोई भी साथी नहीं ? इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ीवाले करबद्ध खड़े थे ! वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने, दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, कोई और देश है। यह यूरोप है, अमेरिका है, मगर मेरी मातृभूमि नहीं है--कदापि नहीं है।

तीन

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक़्त पिताजी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-कहकहे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाज़ियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव भर की गायें रखी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक ! कि अब उस चौपाल का पता तक न था। वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी और गुड़ की सुगंध से मस्तिष्क पूर्ण हो जाता था। हम और हमारे साथी वहाँ गँडरियों के लिए बैठे रहते और गँडरियाँ करनेवाले मजदूरों के हस्तलाघव

को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था और वहाँ आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों के त्यों खड़े थे, किन्तु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तम्बोली और सिगरेटवाले की दुकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने दुखित हृदय से, एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा, "महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ। रात भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा ?" उस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और कहने लगा, "आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ से भी यही उत्तर मिला, "आगे जाओ।" पाँचवीं एक बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा कि "हाय ! यह मेरा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है–कदापि नहीं।"

मैंने एक सिगरेट की डिबिया ख़रीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा कि अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी; मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक ! शोक !! महान् शोक !!! धर्मशाला ज्यों की त्यों खड़ी थी, किंतु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिए स्थान न था। मदिरा, दुराचार और द्यूत ने उसे अपना घर बना रखा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा कि "नहीं, नहीं, नहीं और हज़ार बार नहीं है–यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और देश है। यह यूरोप है, अमेरिका है; मगर भारत कदापि नहीं है।'

चार

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने-अपने कर्कश स्वर में उच्चारण कर रहे थे। मैं अपना दुखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा–अब क्या करूँ ! फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ ? अब तक मेरी मातृभूमि थी, मैं विदेश में ज़रूर था किंतु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रखे मौन रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। घंटेवाले ने तीन बजाये और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया कि यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है। मैं तुरंत उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि पन्द्रह-बीस वृद्धा स्त्रियाँ, सफ़ेद धोतियाँ पहिने, हाथों में लोटे लिये स्नान को जा रही हैं और गाती

जाती हैं :

"हमारे प्रभु, अवगुन चित न धरो..."

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत-से आदमियों की बोलचाल सुन पड़ी। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। आनंददायक और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की चंचल से चंचल और प्रसन्न से प्रसन्न चित्तवाली लावण्यवती स्त्रियों का आलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, हृदयाकर्षक वचनों का आनंद उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किंतु जो आनंद, जो मजा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुना कर गाया :

"हमारे प्रभु, अवगुन चित न धरो..."

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनंदातिरेक से मेरा हृदय आनंदमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और छः मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा था, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिसकी लहरों मे डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिंदू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छः-सात मील पर बहती थीं। किसी समय में घोड़े पर चढ़ कर गंगा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारो मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मंत्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेदमंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं जोर से कह उठा—हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी तथा इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।

पाँच

मैं विशेष आनंद में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गंगा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद संध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़ कर चला आये और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगा-स्नान करता

हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगा माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं; मगर अब मैं यह गंगा माता का तट और अपना प्यारा देश छोड़ कर वहाँ नहीं जा सकता। अपनी मिट्टी गंगा जी को सौंपूंगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

(उर्दू में : 'सोज़े वतन' जुलाई, १६०८ में संकलित;
हिन्दी में : प्रथम प्रकाशन अज्ञात, 'मानसरोवर'–७ में संकलित)

रानी सारंधा

एक

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहिने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रखा है। टीले के पूर्व की ओर छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुंदेला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं, बुंदेलखंड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और बुंदेला राजा उठे और गिरे—कोई गाँव, कोई इलाक़ा ऐसा न था, जो इन दुरवस्थाओं से पीड़ित न हो; मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहरायी और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह ज़माना ही ऐसा था जब मनुष्य-मात्र को अपने बाहुबल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोंटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतला देवी से हुआ था; मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की खैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिर कर रोयी थी कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो, मुझे तुम्हारे साथ वनवास अच्छा है, यह वियोग अब नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, ज़िद से कहा, विनय की; मगर अनिरुद्ध बुंदेला था। शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

दो

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी, तारे आकाश में जागते थे। शीतला देवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थीं और उसकी ननद सारंधा फर्श पर बैठी मधुर स्वर

से गाती थी :

"बिनु रघुवीर कटत नहि रैन'

शीतला ने कहा–जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती ?

सारंधा–तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला–मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गयी।

सारंधा–किसी को ढूँढ़ने गयी होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। वह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे, और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतर कर ज़मीन पर बैठ गयी।

सारंधा ने पूछा–भैया, यह कपड़े भीगे क्यों है ?

अनिरुद्ध–नदी तैर कर आया हूँ।

सारंधा–हथियार क्या हुए ?

अनिरुद्ध–छिन गये।

सारंधा–और साथ के आदमी ?

अनिरुद्ध–सबने वीर गति पायी।

शीतला ने दबी जबान से कहा–ईश्वर ने ही कुशल किया। मगर सारंधा के तेवरों पर बल पड़ गये और मुख-मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली–भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारंधा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि, जिसे क्षण-भर के लिए अनुराग ने दबा लिया था, फिर ज्वलंत हो गयी। वह उलटे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि सारंधा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध क़िले से बाहर निकला। पल भर में नदी के उस पार जा पहुँचा और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे किले की दीवारों तक आयी; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा तो वह विरहिणी चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारंधा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा–मर्यादा इतनी प्यारी है ?

सारंधा–हाँ।

शीतला–अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेती।

सारंधा–ना, छाती में छुरा चुभा लेती।

शीतला ने ऐंठकर कहा–चोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारंधा–जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौनी को जीत करके लौटा और

साल भर पीछे सारंधा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया, मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

तीन

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुन्देला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और वे अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगे। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उन पर हमले करती थीं, पर हारकर लौट जाती थीं।

यही समय था जब अनिरुद्ध ने सारंधा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारंधा ने मुँह-माँगी मुराद पायी। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुन्देला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी, जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारंधा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चम्पतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वे अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर दिल्ली चले गये। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दारा शिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उनका बहुत आदर-सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उनको भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये-दिन के लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं, मगर सारंधा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती—वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारंधा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो ? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज़ हो ?

सारंधा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी, आप क्यों ऐसा विचार करते हैं ? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जब से यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कुराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र न सजाये। कहीं प्रेम-लता मुरझाने तो नहीं लगी ?

सारंधा—प्राणनाथ, आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं, जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि खुश रहूँ, मगर बोझ-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिए उनके विचार में सारंधा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़ कर बोले—"मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछा में कौन-सा सुख था, जो यहाँ नहीं है ?"

सारंधा का चेहरा लाल हो गया। बोली—"मैं कुछ कहूँ, आप नाराज़ तो न होंगे ?

चम्पतराय—नहीं, शौक़ से कहो।

सारंधा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछे मे वह थी जो अवध में कौशल्या थीं, यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्नचित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों पर से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारंधा की आत्मिक उच्च्ता को न जानते थे। जैसे बे-माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखे सजल हो गयीं। उन्होने आदरयुक्त अनुराग के साथ सारंधा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हे फिर उसी उजड़ी बस्ती की फ़िक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लायी थीं।

चार

माँ अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं और सारंधा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते-रहते महीनों बीत गये। इस बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहज़ादे मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-बिरंग के रूप भरकर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए क़दम बढ़ाते चले आ रहे थे। यहाँ तक कि धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिंता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहरें मार रही थी, किसी योगी के त्याग के सदृश। विवश होकर चम्पतराय के पास संदेश भेजा कि खुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारंधा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ ?

सारंधा–आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय–उनकी मदद करना दाराशिकोह से वैर लेना है।

सारंधा–यह सत्य है; परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिए।

चम्पतराय–प्रिये, तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारंधा–प्राणनाथ, मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है। और अब हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परंतु हम अपना रक्त बहाएँगे और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्तिगान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नामलेवा रहेगा, ये रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बन कर चमकेंगे।

वायुमण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछा के क़िले से बुन्देलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस में झूम रहा था। सारंधा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा का बीड़ा देकर कहा–"बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।"

आज उसका एक-एक अंग मुस्करा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फौज़ सजा कर नदी के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले उसकी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरन्त ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फौज़ घुमा दी और बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घण्टों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा तो सात सौ बुन्देलों की लाशें तड़प रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गयी। शाहज़ादों की सेना ने भी 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल पड़ गयी। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गयी, हाथोंहाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गयी। रणभूमि रुधिर से लाल हो गयी और आकाश में अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पश्चिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके क़दम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कुतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आयी। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह फतह के फ़रिश्ते हैं; शाहज़ादों की मदद के लिए आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये तो सारंधा ने घोड़े से उतर कर उनके पैरों पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारंधा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे

हुए वीरों के दल थे वहाँ अब बेजान लाशें तड़प रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए अनादि काल से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर लूट पड़ी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानिप्रद तस्वीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति बली बहादुर खाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती, चीते की-सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देखकर लोगों को बड़ा कुतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया–"ख़बरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास ले आयेगा, उसे धन से निहाल कर दूँगा।"

योद्धागण चारो ओर से लपके; परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकार रहा था, कोई फन्दे में फँसाने की फिक्र मे था पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारधा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गयी। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रखा और वह उसकी पीठ सहलाने लगी। घोड़े ने उसके अंचल मे मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़ कर खेमे की ओर चली। इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला मानो सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोडे ने सारंधा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज-परिवार के निमित्त स्वर्णजटित मृग साबित हुआ।

पाँच

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर पर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी जाते हैं, जो अवसर पर कदम बढ़ाना जानते हैं; लेकिन संकट में पीछे हटाना नहीं जानते। ये रणवीर पुरुष विजय को नीति की भेंट कर देते हैं, वे अपनी सेना का नाम मिटा देंगे, किन्तु जहाँ एक बार पहुँच गये हैं, वहाँ से क़दम पीछे न हटायेंगे। उनमें कोई बिरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है; किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी अधिक गौरवात्मक होती है। अगर अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो आन पर जान

देने वाला, मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है, और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे इस कार्यक्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आ जाता है, श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारंधा 'आन' पर जान देनेवालों में थी।

शाहज़ादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरा की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरा पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया !

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष्य में बारह हज़ारी मनसब प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से जमुना तक उसकी जागीर नियत की गयी। बुन्देला राजा फिर राज-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा और रानी सारंधा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली बहादुर ख़ाँ बड़ा वाक्-चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुता ने शीघ्र ही उसे बादशाहा आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

ख़ाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह ख़ाँ साहब के महल की तरफ़ जा निकला। वली बाहदुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरन्त अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता ? पाँव-पाँव घर आया और उसने सारंधा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली, "मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया, शोक इसका है तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा ? क्या तेरे शरीर में बुंदेलों का रक्त नहीं है ? घोड़ा न मिलता, न सही; किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुन्देला बालक से उसका घोड़ा जीत लेना हँसी नहीं है।"

यह कहकर उसने अपने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी। स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली बहादुर ख़ाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। ख़ाँ साहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे, सारंधा दरबार की तरफ़ चली, और एक क्षण में किसी वेगवती नदी की सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गयी। अधिकारी वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन में निकल आये। लोग अपनी-अपनी तलवारें सँभालने लगे और चारों तरफ़ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गयी।

सारंधा ने उच्च स्वर से कहा—ख़ाँ साहब, बड़ी लज्जा की बात है, आपने वही वीरता, जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख

दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते ?

वली बहादुर खाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज से बोले—किसी ग़ैर की क्या मजाल है कि मेरी चीज़ अपने काम में लाये ?

रानी—वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रणभूमि में पाया है और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रण-नीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते ?

खाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपकी नज़र है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

खाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ; परन्तु घोड़ा नही दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवार से होगा, बुन्देला योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय, बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—रानी साहबा, आप सिपाहियो को रोकें। घोडा आपको मिल जायेगा, परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मनसब भी ?

रानी—जागीर और मनसब कोई चीज़ नही।

बादशाह—अपना राज्य भी ?

रानी—हाँ, राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिए ?

रानी-नहीं, उस पदार्थ के लिए जो ससार मे सबसे अधिक मूल्यवान है।

बादशाह—वह क्या है ?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने अपने घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज और राज-सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नही, भविष्य के लिए काँटे बोये, इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शन्ति न मिली।

छह

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछा के किले में पदार्पण किया। उन्हें मनसब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ; किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला, वे सारंधा के स्वभाव को भली-भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्मगौरव पर कुठार का काम करती।

कुछ दिन यहाँ शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए; लेकिन बादशाह सारंधा की कठोर बात भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिंत हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण करने के लिए भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहिम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुन्देला बादशाह का

सूबेदार था। वह चम्तपराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया। और भी कितने ही बुन्देला सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर से राजा को विजय प्राप्त हुई लेकिन उसकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गयी। निकटवर्ती बुन्देला राजा, जो चम्पतराय के बाहुबल थे, बादशाह के कृपाकांक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दग़ा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं ; परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी, धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और वे तीन वर्ष तक बुंदेलखंड के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँडरा रही थीं। आये-दिन राजा का किसी न किसी से सामना हो जाता था। सारंधा सदैव उनके साथ रहती और उनका साहस बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में जबकि धैर्य लुप्त हो जाता और आशा साथ छोड़ देती–आत्मरक्षा का धर्म उसे सँभाले रहता है। तीन साल के बाद अंत में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवा और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटा लो और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई, पर वह शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गयी।

सात

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रखा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। क़िले में बीस हजार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनोंदिन न्यून होती जाती है। आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बंद हैं। हवा का भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ, पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिए उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं, औरतें सूर्य नारायण की ओर हाथ उठा-उठाकर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवार की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जा पाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को कुछ ढाढ़स होता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे क़िले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारंधा से कहा–"आज शत्रु ज़रूर क़िले में घुस आयेंगे।"

सारंधा–ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा–मुझे बड़ी चिंता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायेंगे।

सारंधा–हम लोग यहाँ से निकल जायें तो कैसा ?

राजा—इन अनाथों को छोड़कर ?

सारंधा—इस समय इन्हें छोड़ देने में ही कुशल है। हम न होंगे तो शत्रु इन पर कुछ दया ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायेंगे। मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारंधा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते ?

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं। मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की खुशामद करूँगा, कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा, किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारंधा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी, निस्संदेह प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है! मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गयी हूँ? लेकिन एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—यदि आपको विश्वास हो जाये कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायेगा तब तो आपको चलने में कोई बाधा न होगी ?

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा ?

सारंधा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञा-पत्र।

राजा—हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारंधा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायेगा। और निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे ? उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु, चतुर कौन है जो इस दुस्तर कार्य को सिद्ध करे ? छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चय करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में बुद्धिमान और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया तो उनके कमल-नेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निश्वास निकल गया।

छत्रसाल-माता, मेरे लिए क्या आज्ञा है ?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढंग है ?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुन्देलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप में अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—यह काम किसे सौंपा जाये ?

छत्रसाल-मुझको।

रानी—तुम इसे पूरा कर दिखाओगे ?

छत्रसाल—हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है ?

रानी—अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।

छत्रसाल जब चला तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधि, मैंने अपने तरुण और होनहार पुत्र बुन्देलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान वस्तु अर्पित की है, इसे स्वीकार करो।

आठ

दूसरे दिन प्रातःकाल सारंधा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिये मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों तले अँधेरा छाया जाता था। वह मंदिर के द्वार पर पहुँची थी कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक काग़ज़ का पुरजा लिपटा हुआ था। सारंधा ने थाल मंदिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा तो आनन्द से चेहरा खिल गया ; लेकिन यह आनन्द क्षण-भर का था। हाय ! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र खो दिया है। काग़ज़ के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा ?

मन्दिर से लौटकर सारंधा राजा चम्पतराय के पास गयी और बोली—प्राणनाथ, आपने जो वचन दिया था उसे पूरा कीजिए। राजा ने चौंककर पूछा, तुमने अपना वादा पूरा कर दिया ? रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे ग़ौर से देखा फिर बोले—अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा तो एक बार फिर शत्रुओं की खबर लूँगा। लेकिन सारन, सच बताओ, इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा है ?

रानी ने कुंठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सुनूँ ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लग गया। पूछा—अंगदराय ?

रानी—नहीं।

राजा—रतनसाह ?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल ?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परम प्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ तब बोले, सारन, तुमने बुरा किया।

अँधेरी रात थी। रानी सारंधा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाये किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले एक दिन ऐसे

ही अँधेरी दुःखमयी रात्रि थी। तब सारंधा ने शीतला देवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्यवाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारंधा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

नौ

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसाने वाली प्रचण्ड, प्रखर वायु वन और पर्वत में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारंधा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिये, पश्चिम की तरफ़ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता था कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में सराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे, प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालु सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रहीं थीं।

अचानक सारंधा ने पीछे की तरफ फिर कर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। यह लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारंधा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुन्देला सिपाहियों ने भी तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहु शोचनीय थी; किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया; किन्तु यह धनुष जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गयी। उस पंखरहित पक्षी के सदृश जो साँप को अपनी तरफ़ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभल उठे और फिर गिर पड़े। सारंधा ने उन्हें सँभाल कर बैठाया और रोकर बोलने की चेष्टा की, परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ ! इससे आगे मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरने वाली सारंधा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गयी, लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता

स्त्री-जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—सारन, देखो, हमारा एक वीर ज़मीन पर गिरा। शोक ! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय में आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय ! मृत्यु, तू कब आयेगी ! यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया, मगर हाथों में दम न था। तब सारंधा से बोले—प्रिये, तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभायी है।

इतना सुनते ही सारंधा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गयी। आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देखकर बोली—ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निभाऊँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण देने का संकेत कर रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारंधा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारंधा ने तलवार को निकालकर अपने वक्षस्थल पर रख लिया और कहा—यह आपकी आज्ञा नहीं है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मैं मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ ?

रानी ने जिज्ञासा की दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी ?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ ! इसके आगे वह कुछ न बोल सकी। आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा ?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवन पर आन निभाने का गर्व था ?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही; लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारंधा ने दामिनी की भाँति लपककर तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गयी। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी; पर चेहरे पर शान्ति छायी हुई थी।

कैसा हृदय है ! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है ! जिस हृदय से आलिंगित होकर उसने यौवनसुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को सारंधा की तलवार छेद रही है ! किसी स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है ?

आह ! आत्मभिमान का कैसा विषादमय अंत है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारंधा का यह साहस और धैर्य देख कर दंग रह गये।

सरदार ने आगे बढ़कर कहा--रानी साहिबा, ख़ुदा गवाह है, हम सब आपके ग़ुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो, उसे ब-सरो चश्म बजा लायेंगे।

सारंधा ने कहा--अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनो लाश उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

बड़े घर की बेटी

एक

बेनीमाधव सिंह गौरीपुर गाँव के ज़मींदार और नम्बरदार थे।

उनके पितामह किसी समय बड़े धनधान्य-सम्पन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्त्तिस्तम्भ थे। कहते हैं, इस दरवाज़े पर हाथी झूमता था। अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर मे पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था। पर दूध शायद बहुत देती थी. क्योंकि एक न एक आदमी हाँडी लिये उसके सर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से अधिक सम्पित्त वकीलों को भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हज़ार वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रींकठ सिंह था। उन्होंने बहुत दिनों तक परिश्रम और उद्योग के बाद बी. ए. की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ़्तर में नौकर थे। छोटा लड़का लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का सजीला जवान था, मुखड़ा भरा हुआ, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह सबेरे उठ, पी जाता था। श्रीकंठ सिंह की दशा उसके बिल्कुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने बी. ए. के दो अक्षरों पर न्यौछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कातिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रन्थों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। साँझ-सबेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ता के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अंग्रेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अंग्रेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे, बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी न किसी पात्र का पार्ट लेते। गौरीपुर में रामलीला के वे ही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के तो वे एकमात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की, कुटुम्ब में मिल-जुलकर रहने की ओर जो अरुचि हो जाती है, उसे वे जाति और देश के लिए बहुत हानिकर समझते थे। यही कारण था गाँव की ललनाएँ

उनकी निन्दक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं। स्वयं उनकी पत्नी का ही इस विषय में उनसे विरोध था। वह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास-ससुर, देवर, जेठ से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहन करने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाय।

आनन्दी एक बड़े कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशालभवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज-बहरी, शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ हैं, वह सभी यहाँ विद्यमान थे। भूपसिंह नाम था। बड़े उदारचित्त, प्रतिभाशाली पुरुष थे। दुर्भाग्यवश लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सबकी सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये, पर जो पन्हद्र-बीस हज़ार का कर्ज सिर पर हो गया तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनन्दी चौथी लड़की थी। अपनी सब बहिनों से अधिक रूपवती और गुणशीला थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्मसंकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचारक चन्दा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठ सिंह का आनन्दी के साथ विवाह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आयी, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीमटाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाममात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों की तो बात ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी। रेशमी-स्लीपर साथ लायी थी, पर यहाँ बाग़ कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधे-सादे देहाती गृहस्थ का मकान था। किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

दो

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह चिड़िया लिये हुए आया और भावज से कहा—जल्दी पका दो, मुझे भूख लगी है। आनन्दी भोजन बनाकर इनकी राह देख रही थी। अब यह नया व्यंजन बनाने बैठी। हाँडी में देखा तो घी पाव भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा ?

आनन्दी ने कहा–घी सब मांस में पड़ गया।

लालबिहारी ज़ोर से बोला–अभी परसों घी आया है, इतनी जल्दी उठ गया

आनन्दी ने उत्तर दिया–आज तो कुल पाव भर रह गया होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है।

लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तिनककर बोला–मैंके में तो चाहे घी की नदी बहती है !

स्त्री गालियाँ सह लेती है, मार भी सह लेती है, पर मैके की निन्दा उससे नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेरकर बोली–हाथी मरा भी तो नौ नाख का ! वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी और बोला–जी चाहता है कि जीभ पकड़कर खींच लूँ।

आनन्दी को भी क्रोध आया। मुँह लाल हो गया, बोली–वह होते तो आज मजा चखा देते।

अब अपढ़ उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण ज़मींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठाकर आनन्दी की ओर ज़ोर से फेंकी और बोला–"जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।"

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया ; पर अँगुली में बड़ी चोट आयी। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गयी। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी लोहू का घूँट पीकर रह गयी।

तीन

श्रीकंठ सिंह शनिवार को आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई। दो दिन तक आनन्दी कोपभवन में रही। न कुछ खाया, न कुछ पिया, उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश और काल सम्बन्धी समाचार तथा कुछ नये मुक़द्दमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुधि न रहती थी। श्रीकंठ का पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। यह दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्टों

से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया, पंचायत उठी। जब एकांत हुआ तब लालबिहारी ने कहा—भैया, आप जरा घर में समझा दीजिएगा कि मुँह सँभालकर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायेगा।

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी—हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि पुरुषों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी है, तो हम लोग भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।

श्रीकंठ ने चिंतित स्वर में पूछा—"आख़िर बात क्या हुई ?"

लालबिहारी ने कहा—"कुछ भी नहीं, यों ही आप ही आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझतीं ही नहीं।"

श्रीकंठ खा-पीकर आनंदी के पास गये। वह भरी बैठी थी। हजरत भी कुछ तीखे थे। आनंदी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है ?

श्रीकंठ बोले—बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आजकल घर में क्या उपद्रव मचा रखा है ?

आनंदी की तेवरियों पर बल पड़ गये और झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—"जिसने तुम्हें यह आग लगायी है, उसे पाऊँ तो मुँह झुलस दूँ।"

श्रीकंठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो ?

आनंदी—क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है, नहीं तो एक गँवार छोकरा, जिसको चपरासीगिरी करने का भी ढंग नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकंठ—सब साफ़-साफ़ हाल कहो तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनंदी—परसों तुम्हारें लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँड़ी में पाव भर से अधिक न था। वह मैंने सब मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा तो कहने लगा, दाल में घी क्यों नहीं ? बस, इस पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया, मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर उस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंककर मारी। यदि हाथ से न रोक लेती, तो सिर फट जाता। उसी से पूछो कि मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गयी। बोले—यहाँ तक हो गया ! इस छोकरे का यह साहस !

आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी, क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था, पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—"दादा, अब इस घर में मेरा निर्वाह न होगा।"

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था। परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वही बात अपने मुँह

से कहनी पड़ी। दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है !

बेनीमाधव सिंह घबराकर उठे और बोले--क्यों, क्यों ?

श्रीकंठ--इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वह उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरों का चाकर ठहरा, घर पर रहता नहीं। यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ। किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़े ठाकुर अवाक् रह गये। केवल इतना ही बोले--बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो ? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकंठ--इतना मैं जानता हूँ। आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से इसी गाँव में कई घर सँभल गये; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके साथ ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दंड नहीं देता।

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले--लालबिहारी तुम्हारा भाई है, उससे जब कभी भूल हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन···

श्रीकंठ--लालबिहारी को मैं अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधव सिंह--स्त्री के पीछे ?

श्रीकंठ--नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे। लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्का-चिलम के बहाने से वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तलमलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन ही मन जलते थे। वह कहा करते थे, श्रीकंठ अपने से आप दबता है, इसलिए वह दब्बू है। उसने इतनी विद्या पढ़ी, इसलिए वह किताबों का कीड़ा है, बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभकामनाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने के बहाने आ-आकर बैठ गये। बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे, इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया कि चाहे कुछ भी क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल शब्दों

में बोले–अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभवरहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग-क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या ख़बर ! बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया, बोला–लालबिहारी के साथ अब इस घर में मैं नहीं रह सकता।

बेनीमाधव–बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई है, उसे तुम बड़े होकर क्षमा कर दो।

श्रीकंठ–उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता, या तो वही घर मे रहेगा या मैं रहूँगा। आपको यदि वह अधिक प्यारा है तो मुझे विदा कीजिए। मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिए, जहाँ चाहे चला जाये। बस, यही मेरा अतिम निश्चय है।

लालबिहारी सिंह दरवाज़े की चौखट पर चुपचाप खडा, बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस नहीं हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाये, हुक्का पी ले या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश मे उन्होंने कभी उसे घुड़का तक नहीं था। जब इलाहाबाद से आते तो उसके लिए कोई न कोई वस्तु अवश्य लाते। मुग्दर की जोड़ी उन्होने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से इयोढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दगल में पछाड़ दिया, तो उन्होने पुलकित होकर अखाड़े मे जाकर उसे गले से लगा लिया था। पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदयविदारक बात सुनकर लाल बिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा।

इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने किये पर आप पछता रहा था। भाई के आने के एक दिन पहले से ही उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था, परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले मे बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता। पर भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछीं, जिससे कोई यह न समझ सके कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला–भाभी ! भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते। इसीलिए मैं अब जाता हूँ। उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर्रा आया।

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी

समय श्रीकंठ सिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं और कतराकर निकल गये, मानो उसकी परछाहीं से दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी ! वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने में गरम क्यों हो जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें तो कैसे क्या करूँगी। इस बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाज़े पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ; मुझसे जो कुछ अपराध हुआ है, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी-पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकंठ को देखकर आनन्दी ने कहा–लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ–तो मैं क्या करूँ ?

आनन्दी–भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे। मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ–मैं न बुलाऊँगा।

आनन्दी–पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गयी है। ऐसा न हो, कहीं चल दे।

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा–भाभी ! भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, मैं भी इसीलिए अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर बढ़ा। अन्त में आनन्दी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया। लाल बिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखों में आँसू भर बोला–मुझे जाने दो।

आनन्दी–कहाँ जाते हो ?

लालबिहारी–जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनन्दी–मैं न जाने दूँगी।

लालबिहारी–मैं तुम लोगो के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनन्दी–तुम्हें मेरी सौगन्ध, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।

लालबिहारी–जब तक मुझे यह न मालूम हो जाये कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी–मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूट कर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा–भैया ! अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—लल्लू ! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा तो अब ऐसा अवसर न आवेगा।

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये, बोले उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना, उसी ने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

नमक का दारोग़ा

एक

जव नमक का नया विभाग वना और ईश्वरप्रदत वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल-प्रपंचों का सूत्रपात हुआ, कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से। अधिकारियों के पौ-बारह थे। पटवारीगिरी का सर्वसम्मानित पद छोड़-छोड कर लोग इस विभाग की वरकंदाज़ी करते थे। इसके दारोग़ा पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचाता था। यह वह समय था जव अँगरेज़ी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फ़ारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और शृंगार रस के काव्य पढ़कर फारसीदाँ लाग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे। मुंशी वंशीधर भी जुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके सीरी और फरहाद के प्रेम-वृत्तांत को नल और नील की लड़ाई और अमेरिका के आविष्कार से अधिक महत्त्व की बाते समझते हुए रोज़गार की खोज में निकले। उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे। समझाने लगे, "बेटा ! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लडकियाँ हैं, वे घास-फूस की तरह वढ़ती चली जाती हैं। मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूँ, न मालूम कब गिर पढूँ ! अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख़्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मज़ार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरक़त होती है, तुम स्वयं विद्वान् हो, तुम्हें क्या समझाऊँ। इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और अवसर को देखो, उसके उपरांत जो उचित समझो, करो। गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ ही लाभ है। लेकिन बेगरज को दाँव पर पाना ज़रा कठिन है। इन बातों को निगाह में बाँध लो यह मेरी जन्म भर की कमाई है।

इस उपदेश के बाद पिताजी ने आशीर्वाद दिया। वंशीधर आज्ञाकारी पुत्र थे। ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए। इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथप्रदर्शक और आत्मावलम्बन ही अपना सहायक था। लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते ही जाते नमक विभाग के दारोगा पद पर प्रतिष्ठित हो गये। वेतन अच्छा और ऊपरी आय का तो ठिकाना ही न था। वृद्ध मुंशीजी को सुख-संवाद मिला तो फूले न समाये। महाजन कुछ नरम पड़े, कलवार की आशालता लहलहायी। पड़ोसियों के हृदय में शूल उठने लगे।

दो

जाड़े के दिन थे और रात का समय। नमक के सिपाही, चौकीदार नशे में मस्त थे। मुंशी वंशीधर को यहाँ आये अभी छह महीनों से अधिक न हुए थे, लेकिन इस थोड़े समय में ही उन्होंने अपनी कार्यकुशलता और उत्तम आचार से अफ़सरों को मोहित कर लिया था। अफ़सर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे। नमक के दफ़्तर से एक मील पूर्व की ओर जमुना बहती थी, उस पर नावों का एक पुल बना हुआ था। दारोगा जी किवाड़ बंद किये मीठी नींद सो रहे थे। अचानक आँख खुली तो नदी के प्रवाह की जगह गाड़ियों की गड़गड़ाहट तथा मल्लाहों का कोलाहल सुनाई दिया। उठ बैठे। इतनी रात गये गाड़ियाँ क्यों नदी के पार जाती हैं? अवश्य कुछ न कुछ गोलमाल है। तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया। वरदी पहनी, तमंचा जेब में रखा और बात की बात में घोड़ा बढ़ाये हुए पुल पर आ पहुँचे। गाड़ियों की एक लम्बी क़तार पुल के पार जाती देखी। डाँट कर पूछा, "किसकी गाड़ियाँ हैं।"

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। आदमियों में कुछ काना-फूसी हुई तब आगे वाले ने कहा–'पंडित अलोपीदीन की।'

"कौन पंडित अलोपीदीन ?"

"दातागंज के।"

मुंशी वंशीधर चौंके। पंडित अलोपीदीन इस इलाक़े के सबसे प्रतिष्ठित ज़मींदार थे। लाखों रुपये का लेन-देन करते थे, इधर छोटे से बड़े कौन ऐसे थे जो उनके ऋणी न हों। व्यापार भी बड़ा लम्बा-चौड़ा था। बड़े चलते-पुरजे आदमी थे। अँगरेज़ अफ़सर उनके इलाक़े में शिकार खेलने आते और उनके मेहमान होते। बारहों मास सदाव्रत चलता था। मुंशी ने पूछा, "गाड़ियाँ कहाँ जायँगी ?" उत्तर मिला, "कानपुर।" लेकिन इस प्रश्न पर कि इनमें क्या है, सन्नाटा छा गया। दारोग़ा साहब का संदेह और भी बढ़ा। कुछ देर तक उत्तर की बाट देखकर वह ज़ोर से बोले, "क्या तुम सब गूँगे हो गये हो ? हम पूछते हैं इनमें क्या लदा है ?"

जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने घोड़े को एक गाड़ी से मिलाकर

बोरे को टटोला। भ्रम दूर हो गया। यह नमक के डेले थे।

तीन

पंडित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते, कुछ जागते चले आते थे। अचानक कई गाड़ीवानों ने घबराये हुए आकर जगाया और बोले–"महाराज ! दारोग़ा ने गाड़ियाँ रोक दी हैं और घाट पर खड़े आपको बुलाते हैं।"

पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मी जी पर अखंड विश्वास था। वह कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था। न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती हैं नचाती हैं। लेटे ही लेटे गर्व से बोले, चलो हम आते हैं। यह कहकर पंडितजी ने बड़ी निश्चिंतता से पान के बीड़े लगाकर खाये। फिर लिहाफ़ ओढ़े हुए दारोग़ा के पास आकर बोले, "बाबूजी आशीर्वाद ! कहिए, हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ कि गाडियाँ रोक दी गयीं। हम ब्राह्मणों पर तो आपकी कृपा-दृष्टि रहनी चाहिए।"

वंशीधर रुखाई से बोले, "सरकारी हुक्म !"

प. अलोपीदीन ने हँसकर कहा, "हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को। हमारे सरकार तो आप ही हैं। हमारा और आपका तो घर का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं ? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया। यह हो नही सकता कि इधर से जायँ और इस घाट के देवता को भेंट न चढ़ावें। मैं तो आपकी सेवा मे स्वयं ही आ रहा था।" वंशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वंशी का कुछ प्रभाव न पड़ा। ईमानदारी की नयी उमंग थी। कड़क कर बोले, "हम उन नमकहरामों में नहीं है जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप इस समय हिरासत में हैं। आपको कायदे के अनुसार चालान होगा। बस, मुझे अधिक बातों की फुर्सत नहीं है। जमादार बदलूसिंह ! तुम इन्हें हिरासत में ले चलो, मैं हुक्म देता हूँ।"

पं. अलोपीदीन स्तम्भित हो गये। गाड़ीवानों में हलचल मच गयी। पंडितजी के जीवन में कदाचित् यह पहला ही अवसर था कि पंडितजी को ऐसी कठोर बातें सुननी पड़ीं। बदलूसिंह आगे बढ़ा, किन्तु रोब के मारे यह साहस न हुआ कि उनका हाथ पकड़ सके। पंडित जी ने धर्म को धन का ऐसा निरादर करते कभी न देखा था। विचार किया कि यह अभी उद्दंड लड़का है। माया-मोह के जाल में अभी नहीं पड़ा। अल्हड़ है, झिझकता है। बहुत दीनभाव से बोले, "बाबू साहब, ऐसा न कीजिए, हम मिट जायेंगे। इज़्ज़त धूल में मिल जायेगी। हमारा अपमान करने से आपके हाथ क्या आयेगा। हम किसी तरह आपसे बाहर थोड़े ही हैं।

वंशीधर ने कठोर स्वर में कहा, "हम ऐसी बातें नहीं सुनना चाहते।"

अलोपीदीन ने जिस सहारे को चट्टान समझ रखा था, वह पैरों के नीचे खिसकता हुआ मालूम हुआ। स्वाभिमान और धन-ऐश्वर्य की कड़ी चोट लगी। किन्तु अभी तक धन की सांख्यिक शक्ति का पूरा भरोसा था। अपने मुख़्तार से बोले, "लालाजी, एक हज़ार के नोट बाबू साहब की भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे है।"

वंशीधर ने गरम होकर कहा, "एक हज़ार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते।"

धर्म की इस बुद्धिहीन दृढ़ता और देव-दुर्लभ त्याग पर मन बहुत झुँझलाया। अब दोनों शक्तियों में संग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछल कर आक्रमण करने शुरू किये। एक से पाँच, पाँच से दस, दस से पंद्रह और पंद्रह से बीस हज़ार तक नौबत पहुँची, किन्तु धर्म अलौकिक वीरता के साथ बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भाँति अटल, अविचलित खड़ा था।

अलोपीदीन निराश होकर बोले, "अब इससे अधिक मेरा साहस नहीं। आगे आपको अधिकार है।"

वंशीधर ने अपने जमादार को ललकारा। बदलूसिंह मन में दारोगा जी को गालियाँ देता हुआ पंडित अलोपीदीन की ओर बढ़ा। पंडित जी घबड़ा कर दो-तीन क़दम पीछे हट गये। अत्यंत दीनता से बोले, "बाबू साहब, ईश्वर के लिए मुझ पर दया कीजिए, मैं पच्चीस हज़ार पर निपटारा करने को तैयार हूँ।"

"असम्भव बात है।"

"तीस हज़ार पर ?"

"किसी तरह भी सम्भव नहीं।"

"क्या चालीस हज़ार पर भी नहीं ?"

"चालीस हज़ार नहीं, चालीस लाख पर भी असम्भव है।'

"बदलूसिंह, इस आदमी को हिरासत में ले लो। अब मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता।"

धर्म ने धन को पैरों तले कुचल डाला। अलोपीदीन ने एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को हथकड़ियाँ लिये हुए अपनी तरफ़ आते देखा। चारों ओर निराश और कातर दृष्टि से देखने लगे। इसके बाद मूर्छित होकर गिर पड़े।

चार

दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे देखिए तो बालक-वृद्ध सबके मुँह से यही बात सुनाई देती थी। जिसे देखिए वही पंडितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निंदा की बौछारें हो रही थीं, मानो संसार से अब पापी का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचनेवाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनाने वाले सेठ और साहूकार यह सब के सब देवताओं की भाँति गर्दनें चला रहे थे। जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त होकर कांस्टेबलों के साथ, हाथों में हथकड़ियाँ, हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाये अदालत की तरफ़ चले तो सारे शहर में हलचल मच गयी। मेलों में कदाचित् आँखें इतनी व्यग्र न होती होंगी। भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा।

किंतु अदालत में पहुँचने की देर थी। पंडित अलोपीदीन इस अगाध वन के

सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख़्तार उनके आज्ञा पालक और अरदली, चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के ग़ुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ़ से दौड़े। सभी लोग विस्मित हो रहे थे। इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने यह कर्म किया बल्कि इसलिए कि वह क़ानून के पंजे में कैसे आये। ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह क्यों कानून के पंजे में आये ? प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था। बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गयी। न्याय के मैदान में धर्म और धन में युद्ध ठन गया। वंशीधर चुपचाप खड़े थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र। गवाह थे, किन्तु लोभ से डावाँडोल।

यहाँ तक कि मुंशीजी को न्याय भी अपनी ओर कुछ खिंचा हुआ दीख पड़ता था। वह न्याय का दरबार था, परन्तु उसके कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था। किन्तु पक्षपात और न्याय का क्या मेल ? जहाँ पक्षपात हो, वहाँ न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती। मुक़दमा शीघ्र ही समाप्त हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिये प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक हैं। वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना के बाहर है कि उन्होंने थोड़े लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोग़ा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उसकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भलेमानुस को कष्ट झेलना पड़ा। हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम में सजग और सचेत रहता है, किन्तु नमक से मुक़दमे की बढ़ी हुई नमकहलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए।

वकीलों ने यह फैसला सुना और उछल पड़े। पंडित अलोपीदीन मुस्कराते हुए बाहर निकले। स्वजन बांधवों ने रुपयों की लूट की। उदारता का सागर उमड़ पड़ा। उसकी लहरों ने अदालत की नींव तक हिला दी। जब वंशीधर बाहर निकले तो चारों ओर उनके ऊपर व्यंग्यबाणों की वर्षा होने लगी। चपरासियों ने झुक-झुक कर सलाम किये। किन्तु इस समय एक-एक कटुवाक्य, एक-एक संकेत उनकी गर्वाग्नि को प्रज्वलित कर रहा था। कदाचित् इस मुक़दमे में सफल होकर वह इस तरह अकड़ते हुए न चलते। आज उन्हें संसार को एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ। न्याय और विद्वत्ता, लम्बी-चौड़ी उपाधियाँ, बड़ी-बड़ी दाढ़ियाँ, ढीले चोगे एक भी सच्चे आदर का पात्र नहीं है।

वंशीधर ने धन से बैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था। कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुँचा। कार्य-परायणता का दंड मिला। बेचारे भग्न हृदय, शोक और खेद से व्यथित घर को चले। बूढ़े मुंशी जी तो पहले ही से कुड़बुड़ा रहे थे कि चलते-चलते इस लड़के को समझाया था, लेकिन इसने एक न सुनी। सब मनमानी करता है। हम तो कलवार

और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहाँ बस वही सूखी तनख़्वाह ! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे। लेकिन काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं। घर में चाहे अँधेरा हो, मस्जिद में अवश्य दिया जलायेंगे। खेद ऐसी समझ पर ! पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद, जब मुंशी वंशीधर इस दुरवस्था में घर पहुँचे और बूढ़े पिता जी ने समाचार सुना तो सिर पीट लिया। बोले, "जी चाहता है कि तुम्हारा और अपना सिर फोड़ लूँ।" बहुत देर तक पछता-पछताकर हाथ मलते रहे। क्रोध में कुछ कठोर बातें भी कहीं और यदि वंशीधर वहाँ से टल न जाते तो अवश्य ही यह क्रोध विकट रूप धारण करता। वृद्धा माता को भी दुःख हुआ। जगन्नाथ और रामेश्वर यात्रा की कामनाएँ मिट्टी में मिल गयीं। पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुँह बात भी नहीं की।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया। संध्या का समय था। बूढ़े मुंशी जी बैठे राम-नाम की माला जप रहे थे। इसी समय उनके द्वार पर सजा हुआ रथ आकर रुका। हरे और गुलाबी परदे, पछहिये बैलों की जोड़ी, उनकी गर्दनों में नीले धागे, सींगे पीतल से जड़ी हुई। कई नौकर लाठियाँ कंधों पर रखे साथ थे। मुंशी जी अगवानी को दौड़े। देखा तो पंडित अलोपीदीन हैं। झुककर दंडवत् की और लल्लो-चप्पो की बातें करने लगे, "हमारा भाग्य उदय हुआ, जो आपके चरण इस द्वार पर आये। आप हमारे पूज्य देवता हैं, आपको कौन-सा मुँह दिखावें, मुँह में तो कालिख लगी हुई है। किन्तु क्या करें, लड़का अभागा कपूत, है, नहीं तो आपसे क्या मुँह छिपाना पड़ता ? ईश्वर निस्संतान चाहे रक्खे पर ऐसी संतान न दे।"

अलोपीदीन ने कहा—"नहीं भाई साहब, ऐसा न कहिए।"

मुंशी जी ने चकित होकर कहा—"ऐसी संतान को और क्या कहूँ !"

अलोपीदीन से वात्सल्यपूर्ण स्वर में कहा—"कुलतिलक और पुरुखों की कीर्ति उज्ज्वल करनेवाले संसार में ऐसे कितने धर्मपरायण मनुष्य हैं जो धर्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सकें !"

पं. अलोपीदीन ने वंशीधर से कहा—"दारोग़ा जी, इसे खुशामद न समझिए, खुशामद करने के लिए मुझे इतना कष्ट उठाने की ज़रूरत न थी। उस रात को आपने अपने अधिकार-बल से मुझे अपनी हिरासत में लिया था, किन्तु आज मैं स्वेच्छा से आपकी हिरासत में आया हूँ। मैंने हज़ारों रईस और अमीर देखे, हज़ारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा किन्तु मुझे परास्त किया तो आपने। मैंने सबको अपना और अपने धन का गुलाम बनाकर छोड़ दिया। मुझे आज्ञा दीजिए कि आपसे कुछ विनय करूँ।"

वंशीधर ने अलोपीदीन को आते देखा तो उठकर सत्कार किया; किन्तु स्वाभिमान सहित। समझ गये कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आये हैं। क्षमा-प्रार्थना की चेष्टा नहीं की ; वरन् उन्हें अपने पिता की यह ठकुरसुहाती की बात असह्य-सी प्रतीत हुई। पर पंडित जी की बातें सुनी तो मन की मैल मिट गयी। पंडितजी की ओर उड़ती हुई दृष्टि से देखा। सद्भाव झलक रहा था। गर्व

ने अब लज्जा के सामने सिर झुका दिया। शर्माते हुए बोले–"यह आपकी उदारता है जो ऐसा कहते हैं। मुझसे जो कुछ अविनय हुई है, उसे क्षमा कीजिए। मैं धर्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ था, नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूँ। जो आज्ञा होगी, वह मेरे सिर-माथे पर।"

अलोपीदीन ने विनीत भाव से कहा–"नदी तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, किन्तु आज स्वीकार करनी पड़ेगी।"

वंशीधर बोले"–मैं किस योग्य हूँ, किन्तु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है, उसमें त्रुटि न होगी।"

अलोपीदीन ने एक स्टाम्प लगा हुआ पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रख कर बोले–"इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। मैं ब्राह्मण हूँ, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा, द्वार से न हटूँगा।"

मुंशी वंशीधर ने उस काग़ज़ को पढ़ा तो कृतज्ञता से आँखों में आँसू भर आये। पंडित अलोपीदीन ने उनको अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियत किया था। छह हज़ार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोज़ाना ख़र्च अलग, सवारी के लिए घोड़ा, रहने को बँगला, नौकर-चाकर मुफ़्त। कम्पित स्वर में बोले–"पंडित जी, मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आपकी उदारता की प्रंशसा कर सकूँ! किन्तु ऐसे उच्च पद के योग्य नहीं हूँ।"

अलोपीदीन हँसकर बोले–"मुझे इस समय एक अयोग्य मुनष्य की ही ज़रूरत है।"

वंशीधर ने गम्भीर भाव से कहा–"यों मैं आपका दास हूँ। आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। किंतु मुझमें न विद्या है, न बुद्धि, न वह स्वभाव जो इन त्रुटियों की पूर्ति कर देता है। ऐसे महान् कार्य के लिए एक बड़े मर्मज्ञ अनुभवी मनुष्य की ज़रूरत है।"

अलोपीदीन ने क़लमदान से क़लम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोले, "न मुझे विद्वत्ता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्यकुशलता की। इन गुणों के महत्त्व का परिचय खूब पा चुका हूँ। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है जिसके सामने योग्यता और विद्वत्ता की चमक फ़ीकी पड़ जाती है। यह कलम लीजिए, अधिक सोच-विचार न कीजिए, दस्तख़त कर दीजिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परंतु धर्मनिष्ठ दारोग़ा बनाये रखे!"

वंशीधर की आँखें डबडबा आयीं। हृदय के संकुचित पात्र में इतना एहसान न समा सका। एक बार फिर पंडित जी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और काँपते हुए हाथ से मैनेजरी के काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर दिये।

अलोपीदीन ने प्रफुल्लित होकर उन्हें गले लगा लिया।

पंच परमेश्वर

एक

जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन में भी साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गये थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे और अलगू जब कभी बाहर जाते, तब जुम्मन पर अपना घर छोड़ जाते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता, केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूल मन्त्र भी यही है।

इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ, जब दोनो मित्र बालक ही थे और जुम्मन के पूज्य पिता जुमराती उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरुजी की बहुत सेवा की–खूब रिकाबियाँ माँजीं, खूब प्याले धोये। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था, क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आधा घण्टे तक किताबों से मुक्त कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। शिक्षा की अपेक्षा उन्हें गुरु की सेवा-शुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वे कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती; जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से होता है। गुरुजी की कृपादृष्टि चाहिए। अतएव यदि अलगू पर जुमराती शेख़ के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ, तो वह यह मानकर सन्तोष कर लेगा कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखी। विद्या उसके भाग्य ही में न थी तो कैसे आती ?

मगर जुमराती शेख़ स्वयं आशीर्वाद के कायल न थे। उन्हें अपने सोंटे पर अधिक भरोसा था और इसी सोंटे के प्रताप से आज आस-पास के गाँवों में जुम्मन की पूजा होती थी। उनके लिखे हुए रिहननामे-बेनामे पर कचहरी का मुहर्रिर भी कलम न उठा सकता था। हल्के का डाकिया, कांस्टेबिल और तहसील का चपरासी–सब उनकी कृपा की आकांक्षा करते थे। अतएव अलगू का मान उनके धन के कारण था, तो जुम्मन शेख अपनी अमोल विद्या से ही सबके आदरपात्र बने थे।

दो

जुम्मन शेख की एक बूढ़ी खाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोड़ी-सी मिलकियत थी। परन्तु उसके निकट सम्बन्धियों में कोई न था। जुम्मन ने लम्बे-चौड़े वादे करके

वह मिलकियत अपने नाम चढ़वा ली थी। जब तक दान-पात्र की रजिस्टरी न हुई थी, तब तक ख़ालाजान का खूब आदर-सत्कार किया गया, उन्हें खूब स्वादिष्ट पदार्थ खिलाये गये। हलुवे-पुलाव की वर्षा-सी की गयी, पर रजिस्टरी की मुहर ने इन खातिरदारियों पर भी मानो मुहर लगा दी। जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज़-तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख़ भी निष्ठुर हो गये। अब बेचारी ख़ालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी बातें सुननी पड़ती थीं।

बुढ़िया न जाने कब तक जियेगी ? दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया है, मानो मोल ले लिया है। बघारी दाल के बिना रोटियाँ नहीं उतरतीं। जितना रुपया इसके पेट में झोंक चुके, उतने से तो अब तक एक गाँव मोल ले लेते।

कुछ दिन ख़ालाजान ने सुना और सहा ; पर जब न सहा गया, तब जुम्मन से शिकायत की। जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी गृहस्वामिनी के प्रबन्ध में दख़ल देना उचित न समझा। कुछ दिन तक और यों ही रो-धोकर काम चलता रहा। अन्त में एक दिन खाला ने जुम्मन ने कहा—बेटा ! तुम्हारे साथ मेरा निर्वाह न होगा। तुम मुझे रुपया दे दिया करो, मैं अपना अलग पका-खा लूँगी।

जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया—"रुपया क्या यहाँ फलते हैं ?"

खाला ने नम्रता से कहा—मुझे कुछ रूखा-सूखा चाहिए भी कि नहीं ? जुम्मन ने गंभीर स्वर में जवाब दिया—तो कोई यह थोड़े समझा था कि मौत से लड़कर आयी हो ?

खाला बिगड़ गयीं। उन्होंने पंचायत करने की धमकी दी। जुम्मन हँसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ जाते देखकर मन-ही-मन हँसता है। वे बोले—हाँ, ज़रूर पंचायत करो। फैसला हो जाए। मुझे भी यह रात-दिन की खटपट पसन्द नहीं।

पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी सन्देह न था। आस-पास के गाँवों में ऐसा कौन था, जो इनके अनुग्रह का ऋणी न हो ? ऐसा कौन था, जो उनको शत्रु बनाने का साहस कर सके ? किसमें इतना बल था, जो उनका सामना कर सके ? आसमान से फ़रिश्ते तो पंचायत करने आयेंगे ही नहीं।

तीन

इसके बाद कई दिन तक बूढ़ी ख़ाला हाथ में लकड़ी लिये आस-पास के गाँवों में दौड़ती रहीं कमर झुककर कमान हो गयी थी। एक-एक पग चलना दूभर था। मगर बात आ पड़ी थी, उसका निर्णय करना ज़रूरी था।

विरला ही कोई भला आदमी होगा, जिसके सामने बुढ़िया ने दुःख के आँसू न बहाये हों। किसी ने तो यों ही ऊपरी मन से हूँ-हाँ करके टाल दिया। किसी ने इस अन्याय पर ज़माने को गालियाँ दीं और कहा—"क़ब्र में पाँव लटके हुए हैं, आज

मरे कल दूसरा दिन हो, पर हवस नहीं मानती। अब तुम्हें क्या चाहिए ? रोटी खाओ, अल्ला का नाम लो। तुम्हें खेती-बारी से अब क्या काम ?" कुछ ऐसे सज्जन भी थे, जिन्हें हास्य के रसास्वादन का अच्छा अवसर मिला। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, सन के-से बाल—जब इतनी सामग्रियाँ एकत्र हों तब हँसी क्यों न आवे ? ऐसे न्यायप्रिय, दयालु, दीनवत्सल पुरुष बहुत कम थे, जिन्होंने उस अबला के दुखड़े को गौर से सुना हो और उसको सान्त्वना दी हो। चारों ओर से घूम-घामकर बेचारी अलगू चौधरी के पास आयी। लाठी पटक दी और दम लेकर बोली—बेटा, तुम भी क्षण भर के लिए पंचायत में चले आना।

अलगू—मुझे बुलाकर क्या करोगी ? कई गाँवों के आदमी तो आयेंगे ही !

ख़ाला—अपनी विपद तो सबके आगे रो आयी हूँ, आने न आने का अख्तियार उनको है।

अलगू—यों आने को मैं आऊँगा, मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।

ख़ाला—क्यों बेटा ?

अलगू—अब इसका क्या जवाब दूँ ? अपनी खुशी ! जुम्मन मेरे पुराने मित्र हैं। उनसे बिगाड़ नहीं कर सकता।

ख़ाला—बेटा, क्या बिगाड़ के भय से ईमान की बात न कहोगे ?

हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाये तो उसे ख़बर नहीं होती, परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। अलगू इस सवाल का कोई जवाब न दे सके। पर उनके हृदय में यह शब्द गूँज रहे थे :

"क्या बिगाड़ के भय सें ईमान की बात न कहोगे ?"

चार

संध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले ही से फ़र्श बिछा रखा था ! उन्होंने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था ! हाँ, वे स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ ज़रा दूर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था, तब दबे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरव-युक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब वहाँ भी पंचायत आरम्भ हुई। फ़र्श की एक-एक अंगुल ज़मीन भर गयी, पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमन्त्रित महाशयों में से केवल वही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ क़सर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असम्भव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज़ करते और कोई रोते थे। चारों तरफ़ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव

को भोज समझकर झुण्ड के झुण्ड जमा हो गये थे।

पंच लोग बैठ गये तो बूढ़ी ख़ाला ने उनसे विनती की–पंचो, आज तीन साल हुए, मैंने अपनी सारी जायदाद अपने भानजे के नाम लिख दी थी। इसे आप लोग जानते ही होंगे। जुम्मन ने मुझे हीन-हयात रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था। साल भर मैंने इसके साथ रो-धोकर काटा, पर अब रात-दिन का रोना नहीं सहा जाता। मुझे न पेट भर रोटी मिलती है और न तन का कपड़ा ! बेकस बेवा हूँ। कचहरी-दरबार कर नहीं सकती। तुम्हारे सिवाय और किसे अपना दुःख सुनाऊँ ? तुम लोग जो राह निकाल दो, उसी राह पर चलूँ। अगर मुझमें कोई ऐब देखो, मेरे मुँह पर थप्पड़ मारो। जुम्मन में बुराई देखो तो उसे समझाओ। क्यों एक बेकस की आह लेता है ? पंचों का हुक्म-सर-माथे पर चढ़ाऊँगी।

रामधन मिश्र, जिनके कई असामियों को जुम्मन ने अपने गाँव में बसा लिया था, बोले–जुम्मन मियाँ, किसे पंच बदते हो ? अभी से इसका निपटारा कर लो। फिर जो कुछ पंच कहेंगे, वही मानना पड़ेगा।

जुम्मन को इस समय सदस्यों में विशेषकर वही लोग दीख पड़े, जिनसे किसी न किसी कारण उनका वैमनस्य था। जुम्मन बोले–पंच का हुक्म अल्लाह का हुक्म है। खालाजान जिसे चाहें बदें, मुझे कोई उज्र नहीं।

खाला ने चिल्लाकर कहा–अरे अल्लाह के बन्दे ! पंचों के नाम क्यों नहीं बता देता ? कुछ मुझे भी तो मालूम हो ?

जुम्मन ने क्रोध से कहा–"अब इस वक़्त मेरा मुँह न खुलवाओ। तुम्हारी बन पड़ी है, जिसे चाहो पंच बदो।

खालाजान जुम्मन के आक्षेप को समझ गयी। वह बोली–बेटा ! खुदा से डरो। पंच न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन ! कैसी बात कहते हो ? और तुम्हारा किसी पर विश्वास न हो तो जाने दो, अलगू चौधरी को तो मानते हो ? लो, मैं उन्हीं को सरपंच बदती हूँ।

जुम्मन शेख आनन्द से फूल उठे, परन्तु भावों को छिपाकर बोले–चौधरी ही सही। मेरे लिए जैसे रामधन मिश्र, वैसे अलगू।

अलगू इस झमेले में फँसना नहीं चाहते थे। वे कन्नी काटने लगे। बोले–ख़ाला ! तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है।

खाला ने गम्भीर स्वर से कहा–बेटा ! दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ़ से निकलती है।

अलगू चौधरी सरपंच हुए। रामधन मिश्र और जुम्मन के दूसरे विरोधियों ने बुढ़िया को मन में बहुत कोसा।

अलगू चौधरी बोले–जुम्मन शेख़ ! हम और तुम पुराने दोस्त हैं। जब काम पड़ा है, तुमने हमारी मदद की है और हम से भी जो कुछ बन पड़ा, तुम्हारी सेवा करते रहे हैं। मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला दोनों हमारी निगाह में बराबर

हो। तुमको पंचो से जो कुछ अर्ज करना हो, करो।

जुम्मन को पूरा विश्वास था कि अब बाज़ी मेरी है। अलगू यह सब दिखावे की बातें कर रहा है, अतएव शान्त-चित्त होकर बोले—पंचो! तीन साल हुए, खालाजान ने अपनी जायदाद मेरे नाम हिब्बा कर दी थी। मैंने उन्हें हीनहयात, खाना-कपड़ा देना कबूल किया था। खुदा गवाह है कि आज तक मैंने खालाजान को कोई तकलीफ नहीं दी। मैं उन्हें अपनी माँ के समान समझता हूँ, उनकी ख़िदमत करना मेरा फ़र्ज है; मगर औरतों में जरा अनबन रहती है। इसमें मेरा क्या वश है? ख़ालाजान मुझसे माहवार ख़र्च अलग माँगती हैं! जायदाद जितनी है, वह पंचों से छिपी नहीं है। उससे इतना मुनाफा नहीं होता कि मैं माहवार ख़र्च दे सकूँ। इसके अलाव हिब्बानामे में माहवार ख़र्च का कोई ज़िक्र नहीं, नही तो मैं भूलकर भी इस झमेले में न पड़ता। बस, मुझे यही कहना है। आइन्दा पंचों को अख़्तियार है, जो फैसला चाहें, करें।

अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था, अतएव पूरा क़ानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से जिरह करनी आरम्भ की। एक-एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौडी की चोट की तरह पड़ता था। रामधन मिश्र इन प्रश्नों पर मुग्ध हुए जाते थे। जुम्मन चकित था कि अलगू को क्या हो गया है! अभी यह मेरे साथ बैठा हुआ कैसी-कैसी बातें कर रहा था। इतनी ही देर में ऐसी कायापलट हो गयी कि मेरी जड़ खोदने पर तुला हुआ है। न मालूम कब की कसर यह निकाल रहा है? क्या इतने दिनों की दोस्ती कुछ भी काम न आवेगी?

जुम्मन शेख़ इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि इतने में अलगू ने फैसला सुनाया—जुम्मन शेख़! पंचों ने इस मामले पर विचार किया। उन्हें यह नीतिसंगत मालूम होता है कि ख़ालाजान को माहवार ख़र्च दिया जाये। हमारा विचार है कि ख़ाला की जायदाद से इतना मुनाफ़ा अवश्य होता है कि माहवार ख़र्च दिया जा सके। बस, यही हमारा फ़ैसला है। अगर जुम्मन को ख़र्च देना मंजूर न हो, तो हिब्बानामा रद्‌द समझा जाय।

पाँच

यह फैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे में आ गये। जो अपना मित्र हो, वह शत्रु का-सा व्यवहार करे और गले पर छुरी फेरे! इसे समय के हेर-फेर के सिवाय और क्या कहें? जिस पर पूरा भरोसा था, उसने समय पड़ने पर धोखा दिया। ऐसे ही अवसरों पर झूठे-सच्चे मित्रों की परीक्षा हो जाती है। यही कलियुग की दोस्ती है! अगर लोग ऐसे कपटी, धोखे-बाज़ न होते, तो देश में आपत्तियों का प्रकोप क्यों होता? हैज़ा, प्लेग आदि व्याधियाँ दुष्कर्मों के ही दंड हैं।"

मगर रामधन मिश्र और अन्य पंच अलगू चौधरी की इस नीतिपरायणता की प्रशंसा जी खोलकर कर रहे थे। वे कहते थे—इसी का नाम पंचायत है। दूध का दूध

और पानी का पानी कर दिया। दोस्ती, दोस्ती की जगह है, किन्तु धर्म का पालन करना मुख्य है। ऐसे ही सत्यवादियों के बल पर पृथ्वी ठहरी है, नहीं तो वह कब की रसातल को चली जाती।

इस फैसले ने अलगू और जुम्मन की दोस्ती की जड़ हिला दी। अब वे साथ-साथ बातें करते नहीं दिखाई देते। इतना पुराना मित्रतारूपी वृक्ष सत्य का एक हल्का झोंका भी न सह सका। सचमुच वह बालू ही की ज़मीन पर खडा था !

उनमें अब शिष्टाचार का अधिक व्यवहार होने लगा। एक-दूसरे की आवभगत ज़्यादा करने लगे। वे मिलते-जुलते थे, मगर उसी तरह, जैसे तलवार से ढाल मिलती है।

जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठों पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यह चिन्ता रहती कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।

छह

अच्छे कामों की सिद्धि मे बड़ी देर लगती है, पर बुरे कामो की सिद्धि में यह बात नहीं। जुम्मन को भी बदला लेने का अवसर जल्दी मिल गया। पिछले साल अलगू चौधरी बटेसर से बैलों की एक बहुत अच्छी जोडी मोल लाये थे ! बैल पछाहीं जाति के सुन्दर, बड़ी-बड़ी सीगोवाले थे। महीनो तक आसपास के गाँवो के लोग उनके दर्शन करते रहे। दैवयोग से जुम्मन की पंचायत के एक महीने बाद इस जोड़ी का एक बैल मर गया। जुम्मन ने दोस्त से कहा—यह दग़ाबाजी की सज़ा है। इन्सान सब्र भले ही कर जाय, पर ख़ुदा नेक बद सब देखता है।

अलगू को संदेह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दिला दिया है। चौधराइन ने जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोपण किया। उसने कहा—जुम्मन ने कुछ करा दिया है। चौधराइन और करीमन मे इस विषय पर एक दिन खूब ही वाद-विवाद हुआ। दोनों देवियों ने शब्दमालाओ की नदी बहा दी। व्यंग्य, वक्रोक्ति, अन्योक्ति और उपमा आदि अलंकारों में बाते हुई। जुम्मन ने किसी तरह शांति स्थापित की। उसने अपनी पत्नी को डाँट-डपटकर समझा दिया। वे उसे उस रणभूमि से हटा भी ले गये। उधर अलगू चौधरी ने समझाने-बुझाने का काम अपने तर्कपूर्ण सोटे से लिया।

अब अकेला बैल किस काम का ? उसका जोड़ा बहुत ढूँढ़ा गया, पर न मिला। निदान यह सलाह ठहरी कि इसे बेच डालना चाहिए। गाँव में एक समझू साहू थे, इक्का गाड़ी हाँकते थे। गाँव से गुड़, घी लादकर वे मण्डी ले जाते, मण्डी से तेल-नमक भर लाते और गाँव में बेचते। इस बैल पर उनका मन लहराया। उन्होंने सोचा, यह बैल हाथ लगे तो दिन भर में बेखटके तीन खेपें हों। आजकल तो एक ही खेप के लाले पड़े रहते हैं। बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया, बाल भौरी की पहचान करायी, मोल-तोल किया और उसे लाकर द्वार पर बाँध ही दिया। एक महीने में दाम चुकाने

का वादा ठहरा। चौधरी को भी गरज थी ही, घाटे की परवाह न की।

समझू साहू ने नया बैल पाया तो लगे रगेदने। वे दिन में तीन-तीन, चार-चार खेपें करने लगे। न चारे की फिक्र थी, न पानी की, खेपों से काम था। मण्डी ले गये, वहाँ कुछ सूखा भूसा सामने डाल दिया। बेचारा जानवर अभी दम भी न लेने पाया कि फिर जोत दिया। अलगू चौधरी के घर थे, तो चैन की वंशी बजती थी। छठे-छमासे कभी बहली में जोते जाते, तब खूब उछलते-कूदते और कोसों तक दौड़ते जाते थे। वहाँ बैलराम को रातिब, साफ पानी, दली हुई अरहर की दाल और भूसे के साथ-साथ खली और यही नहीं, कभी-कभी घी का स्वाद भी चखने को मिल जाता था। शाम-सवेरे एक आदमी खरहरे करता, पोंछता और सुहलाता था। कहाँ वह सुख-चैन, कहाँ यह आठों पहर की खपन ! महीने भर में ही वह पिस-सा गया। इक्के का जुवा देखते ही उसका लोहू सूख जाता था। हड्डियाँ निकल आयी थीं, पर था वह पानीदार, मार की सहन न थी।

एक दिन चौथी खेप में साहूजी ने दूना बोझ लादा। दिन भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उस पर साहूजी कोड़े फटकारने लगे। बस फिर क्या था, बैल कलेजा तोड़कर चला। वह कुछ दूर दौड़ा और फिर बस, चाहा कि ज़रा दम ले लूँ, पर साहूजी को जल्द घर पहुँचने की फिक्र थी। अतएव उन्होंने कई कोड़े बड़ी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर ज़ोर लगाया। पर अबकी बार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह धरती पर गिर पड़ा और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहूजी ने बहुत पीटा, टाँग पकड़कर खींचा, नथुनों में लकड़ी ठूँस दी ! पर कहीं मृतक भी उठ सकता है ? तब साहूजी को कुछ शंका हुई। उन्होंने बैल को ग़ौर से देखा, खोलकर अलग किया और सोचने लगे कि गाड़ी कैसे घर पहुँचे। वे बहुत चीख़े-चिल्लाये, पर देहात का रास्ता बच्चों की आँखों की तरह साँझ होते ही बन्द हो जाता है, कोई नज़र न आया। आसपास कोई गाँव भी न था।.मारे क्रोध के उन्होंने मरे हुए बैल पर और दुर्रे गाये और कोसने लगे, अभागे ! तुझे मरना ही था तो घर पहुँच कर मरता। ससुरा बीच रास्ते में ही मर रहा ! अब गाड़ी कौन खींचे ? इस तरह साहूजी खूब जले-भुने। कई बोरे गुड़ और कई पीपे घी उन्होंने बेचा था, दो-ढाई सौ रुपये कमर में बँधे थे। इसके सिवाय गाड़ी पर कई बोरे नमक था, अतएव छोड़कर जा भी न सकते थे। लाचार बेचारे गाड़ी पर ही लेट गये। वहीं रतजगा करने की ठान ली, चिलम पी, गाया, फिर हुक्का पिया। इस तरह साहूजी आधी रात तक नींद को बहलाते रहे। अपनी जान में तो वे जागते ही रहे, पर पौ फटते ही जो नींद टूटी और कमर पर हाथ रक्खा तो थैली ग़ायब ! घबराकर इधर-उधर देखा, तो कई कनस्तर तेल भी नदारद ! अफ़सोस में बेचारा सिर पीटने लगा और पछाड़ खाने लगा। प्रातःकाल रोते-बिलखते घर पहुँचा। सहुआइन ने जब यह बुरी सुनावनी सुनी तब पहले रोयी, फिर अलगू चौधरी को गालियाँ देने लगी, निगोड़े ने ऐसा कुलच्छना बैल दिया कि जन्म भर की कमाई लुट गयी।

इस घटना को हुए कई वर्ष बीत गये। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते

तब साहूजी और सहुआइन दोनों ही झल्लाये कुत्तों की तरह चढ़ बैठते और अंड-बंड बकने लगते—वाह ! यहाँ तो सारे जन्म की कमाई लुट गयी, सत्यानास हो गया, इन्हें दामों की पड़ी है ! मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम माँगने चले हैं ! आँखों में धूल झोंक दी, सत्यानासी बैल दे दिया, हमें निरा पोंगा ही समझ लिया। हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कहीं और होंगे। पहले जाकर किसी गड़हे में मुँह धो आओ, तब नाम लेना। जी न मानता हो तो हमारा बैल खोल ले जाओ, महीना भर के बदले दो महीना जोत लो। रुपया क्या लोगे ?

चौधरी के अशुभचिन्तकों की कमी न थी। ऐसे अवसरों पर वे भी एकत्र हो जाते और साहूजी के बर्राने की पुष्टि करते। इस तरह फटकारें सुनकर बेचारे चौधरी अपना-सा मुँह लेकर लौट आते, परन्तु डेढ़ सौ रुपये से इस तरह हाथ धो लेना आसान न था। एक बार वे भी गरम पड़े। साहूजी बिगड़कर लाठी ढूँढ़ने घर चले गये। अब सहुआइन जी ने मैदान लिया। प्रश्नोत्तर होते-होते हाथापाई की नौबत आ पहुँची। सहुआइन ने घर में घुसकर किवाड़ बन्द कर लिये। शोर-गुल सुनकर गाँव के भलेमानुष जमा हो गये। उन्होंने दोनों को समझाया। साहूजी को दिलासा देकर घर से निकाला। वे परामर्श देने लगे कि इस तरह सिरफुटौवल से काम न चलेगा। पंचायत करा लो। जो कुछ तय हो जाय, उसे स्वीकार कर लो। साहूजी राजी हो गये अलगू ने भी हामी भर ली।

सात

पंचायत की तैयारियाँ होने लगीं। दोनों पक्षों ने अपने-अपने दल बनाने शुरू किये। इसके बाद तीसरे दिन उसी वृक्ष के नीचे फिर पंचायत बैठी। वही संध्या का समय था। खेतों में कौवे पंचायत कर रहे थे। विवादग्रस्त विषय यह था कि मटर की फलियों पर उनका स्वत्व है या नहीं और जब तक यह प्रश्न हल न हो जाय, तब तक वे रखवाले की पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुक-मण्डली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्य को बेमुरौवत कहने का क्या अधिकार है, जब उसे स्वयं अपने-अपने मित्रों को भी दगा देने में संकोच नहीं होता।

पंचायत बैठ गयी तो रामधन मिश्र ने कहा—अब देरी क्यों ? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी, किस-किसको पंच बदते हो ?

अलगू ने दीन भाव से कहा—समझू साहू ही चुन लें।

समझू खड़े हुए और कड़ककर बोले—"मेरी ओर से जुम्मन शेख़ !"

जुम्मन का नाम सुनते ही अलगू चौधरी का कलेजा धक-धक करने लगा, मानो किसी ने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के मित्र थे। वे बात को ताड़ गये ! पूछा—क्यों चौधरी, तुम्हें कोई उज्र तो नहीं ?

चौधरी ने निराश होकर कहा—नहीं, मुझे क्या उज्र होगा ?

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुत हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यह ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-सम्पादक अपनी शांति-कुटीर में बैठा हुआ कितनी धृष्टता और स्वतंत्रता के साथ अपनी प्रबल लेखनी से मंत्रिमंडल पर आक्रमण करता है, परन्तु ऐसे अवसर भी आते हैं जब वह स्वय मंत्रिमंडल में सम्मिलित होता है। मण्डल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ, कितनी विचारशील, कितनी न्यायपरायण हो जाती है, इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है। नवयुवक युवावस्था में कितना उद्दण्ड रहता है ? माता-पिता उसकी ओर से कितने चिंतित रहते हैं ? वे उसे कुल-कलंक समझते हैं। परन्तु थोड़े ही समय में परिवार का बोझ सिर पर पड़ते ही वही अव्यवस्थित चित्त, उन्मत्त युवक कितना ही धैर्यशील, कैसा शान्त-चित्त हो जाता है ! यह भी उत्तरदायित्व के ज्ञान का फल है।

जुम्मन शेख़ के मन में भी सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करते ही अपनी ज़िम्मेदारी का भय पैदा हुआ। उसने सोचा, मैं इस वक़्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा, वह देववाणी के सदृश है और देववाणी में मेरे मनोविकारों का कदापि समावेश न होना चाहिए। मुझे सत्य से जौ भर टलना उचित नहीं।

पंचों ने दोनों पक्षों से सवाल-जवाब करने शुरू किये। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। इस विषय में तो सब सहमत थे कि समझू को बैल का मूल्य देना चाहिए। परन्तु दो महाशय इस कारण रियायत करना चाहते थे कि बैल के मर जाने से समझू को हानि हुई। इसके प्रतिकूल दो सभ्य मूल्य के अतिरिक्त समझू को कुछ दंड देना चाहते थे, जिससे फिर किसी को पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता करने का साहस न हो। अंत में जुम्मन ने फ़ैसला सुनाया—"अलगू चौधरी और समझू साह ! पंचों ने तुम्हारे मुआमले पर अच्छी तरह विचार किया। रामझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दें। जिस वक़्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिया जाता, तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम कराया गया और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं किया गया।"

रामधन मिश्र बोले—समझू ने बैल को जान-बूझकर मारा है, अतएव उनसे दंड लेना चाहिए।

जुम्मन बोले—यह दूसरा सवाल है। हमको इससे कोई मतलब नहीं।

झगडू साहू ने कहा—समझू के साथ कुछ रियायत होनी चाहिए।

जुम्मन बोले—यह अलगू चौधरी की इच्छा पर है। वे रियायत करें तो उनकी भलमनसी है।

अलगू चौधरी फूले न समाये। उठ खड़े हुए और ज़ोर से बोले—पंच परमेश्वर की जय !

चारों ओर से प्रतिध्वनि हुई—पंच परमेश्वर की जय !

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता था—इसे कहते हैं न्याय ! यह मनुष्य का काम नहीं; पंच में परमेश्वर वास करते हैं। यह उन्हीं की महिमा है। पंच के सामने खोटे को कौन खरा कह सकता है ?

थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आये और उनके गले लिपटकर बोले—भैया, जब से तुमने मेरी पंचायत की, तब से मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था; पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की ज़ुबान से खुदा बोलता है।

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझायी लता फिर हरी हो गयी।

आत्माराम

एक

वेदी-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लिए लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से बंद हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ ग़ायब हो गयी। वह नित्य-प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह, झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' लोग समझ जाते कि भोर हो गई।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे। लेकिन उसके बोझ को हलका करनेवाला कोई न था। लड़के कहते, "जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनंद भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगी ही।" बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था; उसकी खटाई औरों से कहीं ज़्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज़्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये-दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे, पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता था। ज्यों ही यह कलह शांत होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मंत्र को जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती।

दो

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-से हो गया।

तोता कहाँ गया ! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता ग़ायब था। महादेव घबड़ाकर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे; बल्कि इसलिए कि उनके कारण वह अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिए कि वे अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब इस अवस्था में था, जब मनुष्य को शांति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखाकर कहने लगा–'आ आ सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगायी। तोता उडा और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौडा, सो दौड़ा, लोगो को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुंदर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गयी थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हे विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था। किसी ने कंकड़ फेके, किसी ने तालियाँ बजायीं। तोता फिर उडा और वहाँ से दूर आम के बाग़ में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर ख़ाली पिजडा लिये मेढ़क की भाँति उचकता चला। बाग़ में पहुँचा तो पैर के तलुओ से आग निकल रही थी; सिर चक्कर खा रहा था। जब ज़रा सावधान हुआ तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' तोता फुनगी से उतर नीचे की ओर आ बैठा ; किंतु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ मे छिप गया। तोते ने चारों ओर ग़ौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उलझने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्तमंत्र, जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के सामने आया और लपका कि तोते को पकड़ ले; किंतु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था, तो तोता मूर्तिमयी माया। यहाँ तक कि शाम हो गयी। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

तीन

रात हो गयी। चारों ओर निबिड़ अंधकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया। रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गयी ; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसलिए कि यह उसकी अंतप्रेरणा थी ; जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेश-मात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रहकर झपकियाँ ले लेता था; किंतु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अधकार मे उसकी आवाज़ सुनाई देती–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुज़र गयी थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर में बोला–'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला गया; किन्तु जिस प्रकार बंदूक की आवाज सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर गया। महादेव चिल्लाने लगा–'ठहरो ठहरो !' एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह ज़ोर से चिल्ला उठा–'चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो !' चोरों ने पीछे फिरकर न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला, जो मोर्चे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरे थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा। हाँ, मोहर थी। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकडी से जमीन से मिट्टी हटाकर गड्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

चार

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी

दुकान खुल गयी, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गयी। तब तीर्थयात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग़ भी लग गया और वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ, तो मैं भागूँगा क्योंकर ? उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया ; और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिंता शांत हो गयी। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गयी। उषा का आगमन हुआ, हवा जागी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आयी–

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुँह से निकलते थे, पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अंतःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था। निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोंपलें और शाखाएँ निकल आयी थीं। इस वायु-प्रवाह से झूम उठा, गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता पैरों को जोड़े हुए ऊँची डाल से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को उठाकर बोला–"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा !" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान् हो ! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ जैसा पापी, पतित प्राण कब इस कृपा के योग्य था ! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गयी। वह अनुरक्त होकर कह उठा–

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

पाँच

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी

से भेट न हुई, और कुत्ते को सोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद मे छिपा दिया, और उसे कोयले से अच्छी तरह ढँककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया तो वह सीधे पुरोहित के घर पहुँचा। पुरोहित पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुक़दमे की पेशी है और अभी तक हाथ मे कौड़ी भी नहीं—यजमानो में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पंडितजी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची ? मालूम नहीं, दाना भी मुयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—क्या है जी, क्या कहते हो ? जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं।

महादेव ने कहा—महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।

पुरोहित जी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है ?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं। ऐसी इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। वेदी के निकटवर्ती गाँवों मे सुपारी फिरी। कथा के उपरात भोज का भी नेबता था। जो सुनता, आश्चर्य करता। आज रेत मे दूब कैसे जमी ?

सध्या समय जब सब लोग जमा हो गये, और पंडितजी अपने सिहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खडा होकर उच्च स्वर में बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गयी। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितने खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सब भाइयो से ललकाकर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक, जब जी चाहे, आये और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।"

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—हम कहते न थे ! किसी ने अविश्वास से कहा—क्या खाकर भरेगा, हज़ारों का टोटल हो जायगा।

एक ठाकुर ने ठिठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये ?"

महादेव ने उत्तर दिया—उसके घर वाले तो होंगे !

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की उतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें ! फिर प्रायः लोगों को

याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बंद किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित जी बोले—तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था। तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ, याद है। आपका कितना नुक़सान हुआ होगा ?

पुरोहित—पचास रुपये से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहित जी के सामने रख दीं।

पुरोहितजी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगी। यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपये का नुक़सान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नियत ऐसी ख़राब ! राम-राम ! !

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गयी। एक घंटा बीत गया, पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी खड़ा न हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं, इसलिए आज कथा होने दीजिए। मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थयात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।"

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती थी। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनको यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञान हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि ससार बुरों के लिए बुरा है, और अच्छों के लिए अच्छा।

छह

इस घटना को पचास वर्ष बीत चुके हैं। आप बेदीग्राम जाइए, तो दूर ही से एक सुनहला कलस दिखाई देता है। वह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता, तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है। उसके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, वह रत्नजटित पिंजड़ा, स्वर्ग को चला गया, कोई कहता, वह 'सत्त गुरुदत्त' कहता हुआ अंतर्धान हो गया, पर यथार्थ यह है कि पक्षी रूपी चंद्र को किसी बिल्ली-रूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज़ आती है—

सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।

महादेव के विषय में भी कितनी ही जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

बूढ़ी काकी

एक

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का, रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे ! पृथ्वी पर पड़ी रहती और घर वाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और न मिलती तो रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़ कर रोती थी।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालान्तर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी। भतीजे ने सारी सम्पत्ति लिखाते समय खूब लम्बे-चौड़े वादे किये, किन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्ज़बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पण्डित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जबकि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमानसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता हो तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती, परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सुचेष्टा को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगती तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें ज़ोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढो से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का

यह रंग देखते तो वे बूढ़ी काकी को और सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता ! काकी चीख़ मारकर रोती, परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिए रोती हैं, अतएव उनके सन्ताप और आर्त्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काफी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगती तो रूपा घटनास्थल पर आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शान्ति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनो भाइयो के भय से अपने हिस्से की मिठाई-चबैना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों मे सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

दो

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुण्ड विस्मयपूर्ण नेत्रो से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरुदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों की 'वाह, वाह' पर ऐसा खुश हो रहा था मानो इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अंग्रेज़ी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार मण्डली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के मुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्ठियों पर कढ़ाव चढ़ रहे थे। एक में पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ निकल रही थीं, दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्द्धक सुगन्धि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थी। यह स्वाद मिश्रित सुगन्धि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन-ही-मन विचार कर रही थीं, सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गयी, कोई भोजन लेकर नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके हैं। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया परन्तु अशकुन के भय से वह रो न सकीं।

"आहा ! कैसी सुगन्धि है ? अब मुझे कौन पूछता है ? जब रोटियों ही के लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भर पेट पूड़ियाँ मिलें ?" यह विचार कर उन्हें

रोना आया, कलेजे मे हूक-सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रहीं ! घी और मसालों की सुगन्धि रह-रहकर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय मे गुदगुदी होने लगती थी। किसे पूकारूँ, आज लाडली बेटी भी नहीं आयी। दोनो छोकड़े सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली-भाँति भोजन दिया होगा। कचौड़ियों मे अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूडी मिलती तो ज़रा हाथ मे लेकर देखती। क्यों न चलकर कडाह के सामने ही बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छन कर तैयार होंगी। कड़ाह से गरम-गरम निकालकर थाल में रखी जाती होगी। फूल हम घर मे भी सूँघ सकते हैं; परन्तु बाटिका में कुछ और बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढी काकी उकड़ूँ बैठकर हाथो के बल सरकती हुई बडी कठिनाई मे चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती हुई कडाह के पास आ बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने मे होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे मे, कभी कडाह के पास आती, कभी भण्डार मे जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा– "महाराज ठण्डाई माँग रहे हैं।" ठण्डाई देने लगी। इतने मे फिर किसी ने आकर कहा– "भाट आया है, उसे कुछ दे दो।" भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा– "अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है ? जरा ढोल, मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढती थी, परन्तु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती थी। भय होता, कहीं पड़ोसिने यह न कहने लगे कि इतने में उबल पडी। प्यास से स्वयं कंठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फुँकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं थां कि ज़रा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। वह भी खटका था कि ज़रा आँख हटी और चीज़ों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गयी। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढक, केचुए पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली–"ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़ ? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था ? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका ? आकर छाती पर सवार हो गयीं। जल जाय ऐसी जीभ ! दिन भर खाती न होतीं तो न जाने किसकी हाँडी में मुँह डालती ? गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भर पेट खाने को नहीं पाती तभी तो इस तरह मुँह बाये फिरती

है। डायन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवा कर दम लेगी। इतना ठूँसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता। भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह मे पानी न जाय, परन्तु तुम्हारी पूजा पहले ही हो जाय।"

बूढी काकी ने सिर उठाया; न रोयी, न बोली। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी मे चली गयीं। आवाज ऐसी कठोर थी कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आर्षित हो गये थे। नदी मे जब करार का कोई वृहद खण्ड कट कर गिरता है तो आसपास का जल-समूह चारों ओर उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौडता है।

तीन

भोजन तैयार हो गया है। आँगन मे पत्तले पड़ गयी, मेहमान खाने लगे। स्त्रियो ने जेवनार गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानो के नाई और सेवकगण भी उसी मण्डली के साथ किन्तु कुछ हटकर भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब के सब खा न चुकें, कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढे-लिखे थे, सेवको के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढी काकी अपनी कोठरी मे जाकर पश्चात्ताप कर रही थी कि मैं कहाँ से कहाँ गयी। उन्हे रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाज़ी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन कर न चुकेंगे, घर वाले कैसे खायेगे। मुझसे इतनी देर भी न रहा गया। सबके सामने पा़नी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार का विचार कर वह बुलावे की प्रतीक्षा करने लगी। परन्तु घी की रुचिकर सुबास बड़ी धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रही थी। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गयी होगी! अब मेहमान आ गये होगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचार कर वह मन को बहलाने के लिए लेट गयी। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगी। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गयी। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होगे। किसी की आवाज़ नहीं सुनायी देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ गयी है, क्या जाने न बुलाये। सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वह कोई मेहमान तो नही जो उन्हें बुलाऊँ। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुईं। यह विश्वास कि एक मिनट मे पूडियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आयेगी, उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मनसूबे बाँधे– पहले तरकारी से

पूड़ियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से, कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई-बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँग कर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं ? कहा करें, इतने दिन के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ जाऊँगी।

वह उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आयीं। परन्तु हाय दुर्भाग्य ! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान मण्डली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उँगलियाँ चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं। कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में आ पहुँचीं। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे–"अरे यह बुढ़िया कौन है। यह कहाँ से आ गयी ? देखो किसी को छू न दे।"

पण्डित बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूड़ियों का थाल लिये खडे थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोडे कर्जदार को देखते ही झपटकर उसका टेंटुआ पकड़ लेता है। उसी तरह लपक कर उन्होंने काकी के दोनो हाथ पकडे और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा रूपी वाटिका लू के एक झोंके मे नष्ट-विनष्ट हो गयी।

मेहमानों ने भोजन किया। घर वालों ने भोजन किया। बाजे वाले धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उनकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढापे पर, दीनता पर, हतज्ञान पर किसी को करुणा न आयी थी। अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गन्ध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठ कर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते ? क्या मेहमान सबकी सब खा जायेंगे ? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा ? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिल्कुल न खायी थी। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रक्खी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी, पूड़ियाँ देखकर कैसी प्रसन्न होंगी ! मुझे खूब प्यार करेंगी !

चार

रात के ग्यारह बज गये थे। रूपा आंगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखो में नींद न आती थी। काकी को पूडियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्माँ सो रही है, तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ। चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी और चूल्हो के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने बोले नीम की ओर गयी। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखाई दे रही है। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं। इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढ़स हुआ। कई सोये हुए मनुष्यों के बदले एक भागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठायी और बूढी काकी की कोठरी की ओर चली।

पाँच

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़ कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई पहाड़ पर उडाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराये तब किसी ने उन्हे पहाड पर से पटका, वे मूर्च्छित हो गयीं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझी कि सब लोग खा-पीकर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गयी। रात कैसे कटेगी ? राम ! क्या खाऊँ पेट में अग्नि धधक रही है ? हाँ ! किसी ने मेरी सुधि न ली। क्या मेरा पेट काटने से धन जुड़ जायेगा ? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ ? इस पर यह हाल। मैं अन्धी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ न बूझूँ। यदि ऑगन मे चली गयी तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दी। उन्हीं पूड़ियो के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं, तब अब क्या देगे ?

यह विचार कर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गयीं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज़ आयी–"काकी उठो' मैं पूड़ियाँ लायी हूँ।" काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठी। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाडली ने पूड़ियाँ निकाल कर दीं।

काकी ने पूछा–"क्या तुम्हारी अम्मा ने दी हैं ?"

लाडली ने कहा–"नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।"

काकी पूडियो पर टूट पडीं। पाँच मिनट मे पिटारी खाली हो गयी। लाडली ने पूछा–"काकी पेट भर गया।"

जैसी थोड़ी-सी वर्षा ठण्डक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है, उसी भाँति इन थोड़ी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को और उत्तेजित कर दिया था। बोली–"नहीं बेटी, जाकर अम्मा से और माँग लाओ।"

लाडली ने कहा–"अम्मा सो रही है, जगाऊँगी तो मारेगी।"

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हे निकाल कर वे खा गयीं। बार-बार होंठ चाटती थीं, चटखारे भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूडियाँ कैसे पाऊँ। सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालो को मद का स्मरण करना उन्हें मदान्ध बनाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह मे बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं–"मेरा हाथ पकड़कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठकर भोजन किया है।"

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और जूठे पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुन कर भक्षण करने लगी। ओह दही कितना स्वादिष्ट था, कचौड़ियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी इतना जानती थी कि मैं वह काम कर रही हूँ, जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलो पर से पूड़ियो के टुकड़े उठा-उठाकर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरो की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देखकर देखने वालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता मानो ज़मीन रुक गयी, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई आपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ ? करुणा और भय से उसकी आँखे भर आयीं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है ? उसने सच्चे हृदय से गगन-मण्डल की ओर हाथ उठाकर कहा–परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जायगा।

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। सोचने लगी—हाय ! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति ! और मेरे कारण ! हे दयामय भगवान् ! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये; परन्तु जिसकी बदौलत हज़ारों रुपये खाये, उसे इस उत्सव में भी भर पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो, वह वृद्धा असहाय है।

रूपा ने दीया जलाया, अपने भण्डार का द्वार खोला और एक थाली मे सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजा कर लिये हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगुण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परन्तु उनमें किसी को वह परमानन्द प्राप्त न हो सकता था, जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देखकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कण्ठावरुद्ध स्वर में कहा—काकी उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसको बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें।

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुलाकर बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोयें से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लेने में निमग्न थी।

शतरंज के खिलाड़ी

एक

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, गरीब-अमीर सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही में मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक अवस्था में, कला-कौशल में, उधोग-धंधों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेंचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीले ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है)। इसलिए अगर मिरज़ा सज्जादअली और मीर रोशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी ? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थी; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या ? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछा कर बैठ जाते, मुहरे सज जाते और लड़ाई के दाव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम ! घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं, दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे।

मिरजा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिरजा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्ले वाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन-दुनिया किसी के काम का नहीं रहता, न घर का, न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिरजा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोज कर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती रहती थीं, तब तक बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरजाजी घर में आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं ? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की फ़ुरसत नहीं है ? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ चाहे कुत्ते को खिलायें। पर रूबरू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरजाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलज़ाम मीर साहब ही के सर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहब के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंड़ी से कहा—जाकर मिरजा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लायें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गयी तो मिरज़ाजी ने कहा—चल अभी आते हैं।" बेगम साहबा का मिजाज़ गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायेंगी। मिरजाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किस्तों में मीर साहब की मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है ? ज़रा सब्र नहीं होता ?

मीर—अरे, तो जा कर सुन ही आइए न। औरतें नाजुक-मिजाज़ होती ही हैं।"

मिरजा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ ! दो किस्तों में आपकी मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख़ामख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?

मिरजा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जा कर सुन आइए।

मिरजा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है, मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरजा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आयेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न

लगाऊँगा।

मिरजा साहब मजबूर होकर अन्दर गये तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए कहा–तुम्हे निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है? चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज, कोई तुम-जैसा आदमी हो !

मिरजा–क्या कहूँ मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ा कर आया हूँ।

बेगम–क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफाया कर डाला ?

मिरजा–बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना पडता है।

बेगम–दुत्कार क्यो नही देते ?

मिरजा–बराबर के आदमी हैं; उम्र मे, दर्जे मे मुझसे दो अगुल ऊँचे। मुलाहिजा करना ही पडता है।

बेगम–तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज हो जायेगे, हो जायें। कौन किसी की रोटियॉ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हरिया, जा बाहर से शतरज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियॉ अब न खेलेगे; आप तशरीफ ले जाइए।

मिरजा–हॉ-हॉ कही ऐसा गजब भी न करना ! जलील करना चाहती हो क्या ? ठहर हरिया, कहाँ जाती है।

बेगम–जाने क्यों नहीं देते ? मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ ?

यह कहकर बेगम साहबा झल्लायी हुई दीवानखाने की तरफ़ चली। मिरजा बेचारे का रग उड गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे–खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की कसम है। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय। लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानखाने के द्वार तक गयी, पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झॉका, सयोग से कमरा ख़ाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे, और अपनी सफाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँच कर बाजी उलट दी, मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेक दिये, कुछ बाहर और किवाड़ अन्दर से बन्द करके कुण्डी लगा दी। मीर साहब दरवाजे पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाजा बंद हुआ, तो समझ गये, बेगम साहबा बिगड़ गयीं। चुपके से घर की राह ली।

मिरजा ने कहा–"तुमने ग़ज़ब किया।"

बेगम–अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो वली हो जाते ! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फिक्र में सिर खपाऊँ ! जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है।

मिरज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तान्त कहा। मीर साहब बोले—"मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तजाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?

मिरजा—ख़ैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?"

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिरजा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थी; यहाँ बैठक होगी, तो शायद जिन्दा न छोड़ेगी।

मीर— अजी बकने भी दीजिए, दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से जरा तन जाइए।

दो

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं थीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है। लेकिन जब दीवानखाने मे बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता मे बाधा पड़ गयी। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जाती।

उधर नौकरों मे भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आये, कोई जाये, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गयी। पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—हुज़ूर, मियाँ की शतरज तो हमारे जी का जजाल हो गयी। दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरो मे छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी। घड़ी-आध घड़ी दिलबहलाव के लिए खेल-खेलना बहुत है। खैर, हमे तो कोई शिकायत नहीं ; हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लायेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलने वाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई आफ़त जरूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले मे यही चरचा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आका की बुराई सुन-सुन कर रंज होता है। मगर क्या करें ? इस पर बेगम साहबा कहती हैं—मैं तो खुद इसको पसन्द नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, क्या किया जाय।

मुहल्ले मे भी जो दो-चार पुराने जमाने के लोग थे, आपस में भाँति-भाँति की अमगल कल्पनाएँ करने लगे—अब खेरियत नही। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफिज है। यह बादशाहत शतरज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे है।

राज्य मे हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फरियाद सुनने वाला न था। देहातो की सारी दौलत लखनऊ मे खिंची आती थी और वह वेश्याओ मे, भॉडो मे और विलासिता के अन्य अगों की पूर्ति मे उड़ जाती थी। अग्रेज कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश मे सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी वसूल न होता था। रेजीडेण्ट बार-बार चेतावनी देती था, पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे मे चूर थे, किसी के कानो पर जूँ न रेगती थी।

खैर, मीर साहब के दीवानखाने मे शतरज होते कई महीने गुजर गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते; नये-नये किले बनाये जाते; नित्य नयी व्यूह-रचना होती; कभी कभी खेलते-खेलते झोड हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती ; पर शीघ्र ही दोनो मित्रो मे मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाजी उठा दी जाती, मिरजा जी रूठकर अपने घर चले आते। मीर साहब अपने घर मे जा बैठते। पर रात भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनो मित्र दीवानखाने मे आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनो मित्र बैठे हुए शतरज की दल दल मे गोते खा रहे थे कि इतने मे घोड़े पर सवार एक बादशाही फोज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये। यह क्या बला सिर पर आयी! यह तलबी किसलिए हुई है! अब खेरियत नही नजर आती। घर के दरवाजे बन्द कर लिये। नोकरो से बोले—कह दो, घर मे नही है।

सवार—घर मे नही, तो कहाँ है ?

नौकर—यह मैं नही जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बताऊँगा ? हुजूर मे तलबी है। शायद फौज के लिए सिपाही माँगे गये है। जागीरदार है कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायेगा।

नौकर—अच्छा तो जाइए, कह दिया जायेगा।

सवार—कहने की बात नही है। मै कल खुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।.

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिरजा जी से बोले—"कहिए जनाब, अब क्या होगा ?"

मिरजा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी तलबी भी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरजा–आफत है, और क्या। कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरें।

मीर–बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी। हज़रत आकर आप लौट जायेंगे।

मिरजा–वल्लाह, आपको खूब सूझी ! इसके सिवाय और कोई तदबीर ही नही।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने खूब धता बताया।

उसने जवाब दिया–ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।

तीन

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल मे एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे मे गिलौरियाँ भरे; गोमती पार की एक पुरानी वीरान मसज़िद मे चले जाते, जिसे शायद नवाव आसफ़उद्दौला ने वनवाया था। रास्ते मे तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनो मित्र किसी नानबाई की दुकान पर जाकर खाना खाते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इनकी ज़रा भी फिक्र न थी। वे घर से आते तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेकार में पकड़ जायें। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ़्त ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खण्डहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिरजा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। वह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीर साहब बोले–अंग्रेज फ़ौज आ रही है; खुदा खैर करे।

मिरजा–आने दीजिए, किश्त बचाइए। यह किश्त।

मीर–जरा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायें !

मिरजा–देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त !

मीर–तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं लाल बन्दरो के-से मुँह। सूरत देखकर खौफ़ मालूम होता है।

मिरजा–जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा। यह किश्त !

मीर–आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आयी हुई है और आपको किश्त की सूझी है ! कुछ इसकी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे ?

मिरजा–जब घर चलने का वक़्त आयेगा, तो देखा जायेगा–यह किश्त ! बस, अब की शह मे मात है।

फौज निकल गयी। दस बजे का समय था। फिर बाजी बिछ गयी।

मिरजा बोले–आज खाने की कैसे ठहरेगी ?

मीर–अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिरजा–जी नही, शहर मे न जाने क्या हो रहा है !

मीर–शहर मे कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खा कर आराम से सो रहे होगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह मे होंगे।

दोनो सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये । अब मिरजाजी की बाजी कमजोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड लिये गये थे, और सेना ने उन्हे किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर मे न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी खून नही गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते है। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद मे मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरजा ने कहा–हुज़ूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने कैद कर लिया है।

मीर–होगा, यह लीजिए शह।

मिरजा–जनाब, ज़रा ठहरिए। इस वक़्त इधर तबीयत नही लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक़्त खून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर–रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा। यह किश्त !

मिरजा–किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर–हाँ; सो तो है ही–यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरजा–खुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !

मीर–पहले अपने बादशाह को तो बचाइए फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और यह मात ! लाना हाथ !

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गयी। उनके जाते ही मिरजा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा–आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें। लेकिन मिरजा की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चार

शाम हो गयी। खण्डहर में चमगादडों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आ कर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाडी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरजाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाजी का रग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी खराब हो जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के गजलें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हो। मिरजा जी सुन-सुन कर झुँझलाते और हार की झेप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यो बाजी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकल जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे– जनाब, आप चाल बदला न कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल दीजिए; यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखते हैं ? मुहरों को छोड़ दीजिए। जब तक आपके चाल न सूझे, मुहरा छुइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध घण्टे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने मे पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसकी मात समझी जाये। फिर आपने चाल बदली ! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीर साहब का फरजी पिटता था। बोले–मैंने चाल चली ही कब थी ?

मिरजा–आप चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए–उसी घर में !

मीर–उस घर में क्यों रखूँ ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था ?

मिरजा–मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें तो क्या चाल ही न होगी ? फरजी पिटते देखा तो धाँधली करने लगे।

मीर–धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तकदीर से होती है, धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिरजा–तो इस बाजी में तो आपकी मात हो गयी।

मीर–मुझे क्यों मात होने लगी ?

मिरजा–तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर–वहाँ क्यों रखूँ ? नहीं रखता।

मिरजा–क्यों न रखिएगा ? आपको रखना होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिरजा बोले– किसी ने ख़ानदान में शतरज खेली होती , तब तो उसके कायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला करते थे, आप शतरज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से कोई रईस नही हो जाता।

मीर–क्या ? घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरजा–अजी, जाइए भी, गाजीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गयी। आज रईस बनने चले है। रईस बनना कुछ दिल्लगी नही है।

मीर– क्यो अपने बुजुर्गों के मुँह मे कालिख लगाते हो–वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आये हैं।

मिरजा–अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-चढ़ कर बाते न कर।

मीर–जबान सँभालिए, वरना बुरा होगा। मै ऐसी सुनने का आदी नही हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखायी कि उसकी आँखें निकाली। है हौसला ?

मिरजा–आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए। आज दो-दो हाथ हो जाये, इधर या उधर।

मीर–तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी जमाना था; सभी तलवार, पेशकब्ज, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनो विलासी थे, पर कायर न थे, उनमें राजनीतिक भावो का अधःपतन हो गया था– बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनो ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वही तडप-तड़प कर जानें दे दी। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखो से एक बूँद आँसू न निकला, उन्ही दोनों प्राणियों ने शतरज के वजीर की रक्षा मे प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिहासनो पर बैठे हुए मानो इन वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे !

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँड़हर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिन धुनती थी।

सवा सेर गेहूँ

एक

किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा ग़रीब आदमी था, अपने काम-से-काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला, खा लिया न मिला, चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किन्तु जब कोई अतिथि घर पर आ जाता तो उसे इस निवृत्ति-मार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेषकर जब साधु-महात्मा पदार्पण करते थे, तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था, पर साधु को कैसे भूखा सुलाता, भगवान के भक्त जो ठहरे !

एक दिन सन्ध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमण्डल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, सम्पूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीनकाल में जौ का चाहे जो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिन्ता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ ? आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव-भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य ही-मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य पदार्थ कैसे मिलता। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े-से मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लम्बी तानकर सोये। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पंसेरी बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँगा,

यह भी समझ जाएँगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पंसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने फिर कभी न माँगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

दो

सात साल गुज़र गए। विप्रजी से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गये थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाये, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जाएँगे, एक रोयेगा, दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे, प्रेम का बन्धन, खून का बन्धन, दूध का बन्धन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ-परिश्रम से कुल-मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसको जड़ से उखड़ता देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन-भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुँह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, मांस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुज़र-बसर कैसे हो ? पाँच बीघे के आधे रह गये, एक बैल रह गया, खेती क्या ख़ाक होती ! अन्त को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादा-रक्षा का साधन-मात्र रह गयी, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गये, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्रजी ने टोककर कहा—शंकर, कल आकर के अपने बीज-बेंग का हिसाब कर । तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कबके बाक़ी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हज़म करने का मन है क्या ?

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिए थे जो साढ़े पाँच मन हो गये ? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का छटाँक भर न अनाज है, न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का ज़िक्र किया, जो आज के सात वर्ष पहले शंकर को दिये थे। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया ? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ 'दक्षिणा' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ ! सवा सेर अनाज को अण्डे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जायगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ-तौलकर

दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे ? बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानों में सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते हैं, मैं कहाँ से दूँगा ?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ-सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है; जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पाण्डे, क्यों एक ग़रीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा ?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक-भर भी न छोड़ूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान् के घर तो दोगे।

शंकर काँप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो नहीं होगी। कम-से-कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिन्ता किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल ही से उसे रोमांच हो गया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ, इस जनम में तो ठोकर खा रहा हूँ, उस जनम के लिए क्यों काँटे बोऊँ ? मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण हो के तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता ? मैं तो दे दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान् के यहाँ ज़वाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बन्धु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो ?

शंकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसी से माँग-जाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा।

विप्र—मैं यह न मानूँगा। सात साल हो गये, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा। गेहूँ नहीं दे सकते, दो दस्तावेज़ लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है; चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज़ लिखाओ; किस हिसाब से दाम रक्खोगे ?

विप्र—बाज़ार भाव पाँच सेर का, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाज़ार-भाव काटूँगा, पाव-भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूँ।

हिसाब लगाया गया तो गेहूँ के दाम साठ रुपये हुए। साठ रुपये का दस्तावेज़ लिखा गया, तीन रुपये सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद की दर अढ़ाई रुपये

सैकड़े आठ आने का स्टाम्प,एक रुपये दस्तावेज़ की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव भर ने विप्रजी की निन्दा की, लेकिन मुँह पर नहीं। महाजन से सभी को काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आये ?

तीन

शंकर ने सालभर तक कठिन तपस्या की। मीयाद के पहले रुपये अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर के पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बन्द हुआ। केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जातीं ! पैसे रोज़ का तम्बाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसका वह कभी न त्याग कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तमाखू की हाण्डी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गये। शिशिर की अस्थिवेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अन्त में उसके पास साठ रुपये जमा हो गये। उसने समझा पण्डितजी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा महाराज, बाक़ी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाजिर करूँगा। पन्द्रह रुपये की तो और बात है, क्या पण्डितजी इतना भी न मानेंगे ! उसने रुपये लिये और ले जाकर पण्डितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिये। पण्डितजी ने विस्मित होकर पूछा–किसी से उधार लिये क्या ?

शंकर–नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र–लेकिन यह तो साठ रुपये ही हैं !

शंकर– हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाक़ी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र–उरिन तो जभी होगे जब कि मेरी कौड़ी-कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे पन्द्रह रुपये और लाओ।

शंकर–महाराज इतनी दया करो; अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी-न-कभी दे ही दूँगा।

विप्र–मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से साढ़े तीन रुपये सैकड़े का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर–अच्छा, जितना लाया हूँ उतना रख लीजिए। मैं जाता हूँ, कहीं से पन्द्रह रुपये और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि

उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पण्डितजी के शिकार को छेड़ने की किसी की हिम्मत न थी।

चार

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल भर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल भर में साठ रुपये से अधिक जमा न कर सका, तो अब और कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा इसके दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मिहनत से घृणा हो गयी, आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है, आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशा-हीन होकर उदासीन हो गया। वह ज़रूरतें जिनको उसने साल भर तक टाल रखा था, अब द्वार पर खड़ी होनेवाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होने वाली पिशाचनियाँ थी, जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़े लाता, कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था, वहाँ अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिन्ता न थी मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गये। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पण्डितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। साठ रुपये जो जमा थे वह मिनहा करने पर अब भी शंकर के ज़िम्मे एक सौ बीस रुपये निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूँगा। मूल न सही सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है, वह ले लीजिए और मेरे पास रक्खा ही क्या है ?

विप्र—मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज ?

विप्र— कुछ है, तुम तो हो। आख़िर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल को दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह

काम करने नहीं जा सकते जब तक मेरे रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूँ। कौन इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहें ?

शंकर—महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या ?

विप्र—तुम्हारी घर वाली है, लड़के हैं, क्या वे हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे। रहा मैं तुम्हे आध सेर जौ रोज़ कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कम्बल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा। और क्या चाहिए। यह सच है कि और लोग तुम्हें छः आने देते हैं लेकिन मुझे ऐसी गरज नहीं है, मैं तो तुम्हें रुपये भरने के लिए रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर गहरी चिन्ता में पड़े रहने के बाद कहा—महाराज यह तो जन्म-भर की गुलामी हुई।

विप्र—गुलामी समझो चाहे मजूरी समझो। मैं अपने रुपये भराये बिना तुमको कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

इस निर्णय की कही अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता, कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता, दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र-भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पडी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से सन्तोष होता था तो यह था कि वह मेरे पूर्व जन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किये थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति यावज्जीवन उसके सिर से न उतरे।

पाँच

शंकर ने विप्रजी के यहाँ बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। एक सौ बीस अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पण्डितजी ने उस ग़रीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी, इतने निर्दयी न थे। उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने।

पाठक ! इस वृत्तान्त को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया ख़ाली नहीं है।

कजाकी

एक

मेरी बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुज़र गये; कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िन्दादिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता और सवेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता। ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कन्धे पर बल्लम रखे, उसकी झुँझनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रंग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूँछें, उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुँझनी और तेज़ी से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आन्दोलित आनन्द न मिलता होगा जो मुझे कजाकी के विशाल कन्धों पर मिलता था। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कन्धे पर लिये हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कजाकी डाकख़ाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता ; लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगो को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता; उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूट कर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

दो

एक दिन कजाकी को डाक का थैला लेकर आने में देर हो गयी। सूर्यास्त हो गया और वह दिखलाई न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़-फाड़ कर देखता था ; पर वह परिचित रेखा न दिखलाई पड़ती थी। कान लगा कर सुनता था; 'झुन-झुन' की वह आमोदमय ध्वनि न सुनाई देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता–कजाकी आता है ? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा 'झुन-झुन' की आवाज़ कानों में आयी। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत ही दिखलाई देते थे–यहाँ तक कि माताजी के कमरे में ताक पर रखी हुई मिठाई भी अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिए त्याज्य हो जाती थी; लेकिन वह आवाज़ सुनते ही मैं उसकी तरफ़ ज़ोर से दौड़ा। हाँ, वह कजाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गयी। मैं उसे मारने लगा, फिर रूठ करके अलग खड़ा हो गया।

कजाकी ने हँसकर कहा– मारोगे, तो मैं एक चीज़ लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा–जाओ मत देना, मैं लूँगा ही नहीं।

कजाकी–अभी दिखा दूँ, तो दौड़ कर गोद में उठा लोगे।

मैने पिघल कर कहा–अच्छा, दिखा दो।

कजाकी–तो आकर मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ ! आज बहुत देर हो गयी है। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़ कर कहा–पहिले दिखा दो।

मेरी विजय हुई। अगर कजाकी को देर का डर न होता और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पासा पलट जाता। उसने कोई चीज़ दिखलायी, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाये हुए था; लम्बा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने उसे दौड़कर कजाकी की गोद से ले लिया। यह हिरन का बच्चा था। आह ! मेरी उस खुशी का कौन अनुमान करेगा ? तब से कठिन परीक्षाएँ पास की, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ ; पर वह खुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिये, उसके कोमल स्पर्श का आनन्द उठाता घर की ओर दौड़ा। कजाकी को आने मे क्यों इतनी देर हुई, इसका ख़याल ही न रहा।

मैंने पूछा– यह कहाँ मिला कजाकी ?

कजाकी–भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जंगल है। उसमें बहुत-से हिरन हैं, मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुण्ड के साथ दिखलाई दिया। मैं झुण्ड की ओर दौड़ा तो सब के सब भागे। यह बच्चा भी भागा। लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गये, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनों डाकख़ाने पहुँचे। बाबूजी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कजाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़कर बोले– आज इतनी देर कहाँ लगायी ? अब थैला लेकर आया है, उसे लेकर क्या करूँ ? डाक तो चली गयी। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगायी ?

कजाकी के मुँह से आवाज़ न निकली।

बाबूजी ने कहा–तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न, पेट भरा तो मोटा हो गया ! जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी।

कजाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबूजी का क्रोध और बढ़ा। बोले–अच्छा, थैला रख दे और अपने घर की राह ले। सूअर, अब डाक लेकर आया है। तेरा क्या बिगड़ेगा, जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायेगी, जवाब तो मुझसे तलब होगा।

कजाकी ने रुआँसे होकर कहा–सरकार, अब कभी देर न होगी।

बाबूजी–आज क्यों देर की, इसका जवाब दे ?

कजाकी के पास इसका कोई जवाब न था। आश्चर्य तो यह था कि मेरी भी जबान बन्द हो गयी। बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुँझला पडते थे। मैं तो उनके सामने कभी जाता ही न था। वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में केवल दो बार घण्टे-घण्टे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाक़ी सारे दिन दफ़्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी। पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ़्तर ही में रहते थे। केवल माता जी उनका क्रोध शान्त करना जानती थीं। पर वह दफ़्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक़्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और छीन लिया गया और उसे डाकखाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया। आह ! उस वक़्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती, तो कजाकी को दे देता और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमण्ड होता है उतना ही घमण्ड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसू बह रहे थे। और इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाये ऐसे चैन से बैठी हुई थी मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला तो मैं धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आकर कजाकी ने कहा– भैया, अब घर जाओ। साँझ हो गयी।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था। कजाकी फिर बोला–भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा और तुम्हें कन्धे पर बैठाकर कुदाऊँगा, बाबूजी ने नौकरी ले ली है तो क्या इतना भी न करने

दग ! तुमको छोड़कर मै कही न जाऊँगा, भैया ! जाकर अम्मा से कह दो, कजाकी जाता है। उसका कहा-सुना माफ़ करे।

मैं दौड़ा हुआ घर गया, लेकिन अम्मा जी के कुछ कहने के बदले बिलख-बिलख् कर रोने लगा। अम्मा जी रसोई के बाहर निकल कर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा ? किसने मारा ! बाबूजी ने कुछ कहा है ? अच्छा; रह तो जाओ, आज घर आते हैं, पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो बेटा, अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बडी मुश्किल से आवाज सँभाल कर कहा—कजाकी··

अम्मा ने समझा, कजाकी ने मारा है ; बोली—अच्छा, आने दो कजाकी को। देखो, खडे-खडे निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा बेटा को मारे ! आज ही तो साफा, बल्लम, सब छिनवाये लेती हूँ। वाह !

मैंने जल्दी से कहा—नही, कजाकी ने नही मारा। बाबूजी ने उसे निकाल दिया है। उसका साफा, बल्लम छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्मा—यह तुम्हारे बाबू जी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम मे इतना चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला ?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गयी थी।

यह कहकर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर मे उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्मा जी की निगाह भी उस पर न पडी थी। उसे फुदकते देख कर वह सहसा चौंक पडी और लपक कर मेरा हाथ पकड लिया कि कही यह भयकर जीव मुझे काट न खाय ! मैं कहाँ तो फूट-फूट कर रो रहा था और कहाँ अम्मा की घबराहट देख कर खिलखिला कर हँस पडा।

अम्मा—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है ! कहाँ मिला ?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अन्त तक कह सुनाया। अम्मा यह इतना तेज भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड ही न सकता। सन्-सन्, हवा की तरह उडता चला जाता था। कजाकी पाँच-छ घण्टे तक इसके पीछे दौडता रहा, तब कहीं जाकर बचा मिले। अम्मा जी, कजाकी की तरह कोई दुनिया भर मे नही दौड सकता, इसी से तो देर हो गयी। इसलिए बाबू जी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा ? भूखो मर जायगा।

अम्मा ने पूछा—कहाँ है कजाकी, जरा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खडा है। कहता था, अम्मा जी से मेरा कहा सुना माफ करवा देना।

अब तक अम्मा जी मेरे वृतान्त को दिल्लगी समझ रही थी। शायद वह समझती थी कि बाबूजी ने कजाकी को डाँटा होगा। लेकिन मेरा अन्तिम वाक्य सुनकर सशय हुआ कि सचमुच तो कजाकी बरखास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आकर

'कजाकी ! कजाकी' पुकारने लगीं, पर कजाकी का कहीं पता न था। मैंने बार-बार पुकारा। लेकिन कजाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, खास कर जब रबड़ी भी सामने हो। मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपये होते, तो एक लाख रुपये कजाकी को दे देता और कहता—बाबूजी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा ! देखूँ, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आकर ? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई क़िले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गयी।

तीन

दूसरे दिन मैं दिन भर अपने हिरन के बच्चे की सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण संस्कार हुआ। 'मुन्नू' नाम रखा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन ही भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बनने वाले विशाल भवन में उसके लिए अलग कमरा बनाने का भी निश्चय कर लिया; चारपाई, सैर करने की फिटन आदि का भी आयोजन कर लिया।

लेकिन सन्ध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़ कर सड़क पर जा खड़ा हुआ और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था कि कजाकी निकाल दिया गया है, अब उसे यहाँ आने की कोई ज़रूरत नहीं रही। फिर न जाने मुझे क्यों यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे ख्याल आया कि कजाकी भूखों मर रहा होगा। मैं तुरन्त घर आया। अम्मा दीया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला। आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते आटे की एक लकीर बनाता हुआ भागा। जाकर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलाई दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़कर उसकी कमर से चिपट गया और विस्मित होकर बोला—तुम्हें चपरास और बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी ?

कजाकी ने मुझे उठाकर कन्धे पर बैठाते हुए कहा—वह चपरास किस काम की थी, भैया ? वह तो गुलामी की चपरास थी, यह पुरानी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रखी थी। बोला—यह आटा कैसा है, भैया ?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिए तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे, आज क्या खाया होगा ?

आँखें तो मैं न देख सका, उसके कन्धे पर बैठा हुआ था। हाँ, उसकी आवाज़ से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है।

कजाकी—भैया, क्या रूखी ही रोटियाँ खाऊँगा ? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है। मैं अपनी भूल पर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायगा ? लेकिन नमक, दाल घी कैसे लाऊँ ? अब तो अम्मा चौक में होंगी। आटा लेकर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गयी। आटे की लकीर ने सुराग दे दिया है) अब ये तीन-तीन चीज़ें कैसे लाऊँगा ? अम्मा से माँगूँगा, तो कभी न देंगी। एक-एक पैसे के लिए तो घण्टों रुलाती हैं, इतनी सारी चीज़ें क्यों देने लगीं ? एकाएक मुझे एक बात याद आयी। मैंने अपनी किताबों के बस्तों में कई आने-पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा रखने मे आनन्द आता था। मालूम नहीं अब वह आदत क्यों बदल गयी ? अब भी वही हालत होती तो शायद इतना फाकेमस्त न रहता। बाबू जी मुझे प्यार तो कभी न करते थे पर पैसे खूब देते थे, शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण मुझसे पिण्ड छुडाने के लिए इसी नुस्खे को सब से आसान समझते थे। इनकार करने में मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्मा जी का स्वभाव इससे ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काम में बाधा पड़ने का भय न था। आदमी लेटे-लेटे दिन भर रोना सुन सकता है, हिसाब लगाते हुए ज़ोर की आवाज़ से ध्यान बँट जाता है। अम्मा मुझे प्यार तो बहुत करती थीं, पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थीं। मेरे पास किताबें न थीं। हाँ, एक बस्ता था, जिसमें डाकख़ाने के दो-चार फार्म तह करके पुस्तक रूप में रखे हुए थे। मैंने सोचा— दाल, नमक और घी के लिए क्या उतने पैसे काफ़ी न होंगे ? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा— अच्छा, मुझे उतार दो तो मैं दाल और नमक ला दूँ, मगर रोज़ आया करोगे न ?

कजाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा।

मैंने कहा—मैं रोज़ खाने को दूँगा।

कजाकी बोला—तो मैं रोज़ आऊँगा।

मैं नीचे उतरा और दौड़ कर सारी पूँजी उठा लाया। कजाकी को रोज़ बुलाने के लिए उस वक़्त मेरे पास कोहनूर हीरा भी होता, तो उसको भेंट करने में मुझे पसोपेश न होता।

कजाकी ने विस्मित होकर पूछा—ये पैसे कहाँ पाये, भैया ?

मैंने गर्व से कहा— मेरे ही तो हैं।

कजाकी—तुम्हारी अम्मा जी तुमको मारेंगी, कहेंगी; कजाकी ने फुसला कर मँगवा लिये होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना और मटके में रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं। मैं भला भूखों मर सकता हूँ ?

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं, लेकिन कजाकी ने न लिये। उसने बड़ी देर

तक इधर-उधर की सैर करायी, गीत सुनाये और मुझे घर पहुँचा कर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में क़दम रखा ही था कि अम्मा जी ने डाँट कर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था ? अब चोरी करना सीखता है ? बता किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़ कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गयी। अम्मा क्रोध में सिंहनी हो जाती थी। सिटपिटा कर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्मा—तूने आटा नहीं निकाला ? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है ?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, पुचकारती थीं, पर मेरी ज़बान न खुलती थी। आने वाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कि यह भी कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रखा हुआ है, और न उठा कर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गयी हो, मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कजाकी ने पुकारा—"बहू जी, आटा द्वार पर रखा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गये थे।"

यह सुनते ही अम्मा द्वार की ओर चली गयीं। कजाकी से वह परदा न करती थीं। उन्होंने कजाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अम्मा जी ख़ाली टोकरी लिये हुए घर में आयीं। फिर कोठरी में जाकर सन्दूक़ से कुछ निकाला और द्वार की ओर गयीं। मैंने देखा कि उनकी मुट्ठी बन्द थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्मा जी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्मा ने द्वार पर कई बार पुकारा। मगर कजाकी चला गया था।

मैंने बड़ी धीरता से कहा—मैं जाकर खोज लाऊँ, अम्मा जी ? अम्मा जी ने किवाड़ बन्द करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो यहीं खड़ा था। मैंने कहा कि यहीं रहना; मैं आती हूँ। तब तक न जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा संकोची है ! आटा तो लेता ही न था। मैंने ज़बरदस्ती उसके अँगोछे में बाँध दिया। मुझे तो बेचारे पर बडी दया आती है। न जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपये लायी थी कि दे दूँगी। पर न जाने कहाँ चला गया ? अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली (बच्चों के साथ समझदार बच्चे बन कर माँ-बाप उन पर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं उतने बूढ़े बन कर नहीं।)

अम्मा जी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों नहीं लिया था ? क्या मैं कजाकी को थोड़ा-सा आटा न देती ?

मैंने इसका उत्तर न दिया। दिल में कहा— इस वक़्त तुम्हें कजाकी पर दया

आ गयी है, जो चाहे दे डालो। लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़ती। हाँ, यह सोच कर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कजाकी भूखों न मरेगा। अम्मा जी उसे रोज़ खाने को देंगी और वह रोज़ मुझे कन्धे पर बिठा कर सैर करायेगा।

दूसरे दिन मैं दिन भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जा कर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया और कजाकी का कहीं पता नहीं। दीये जल गये, रास्ते में सन्नाटा छा गया। पर कजाकी न आया !

मैं रोता हुआ घर आया। अम्मा जी ने पूछा– क्यों रोते हो, बेटा ? क्या कजाकी नहीं आया ?

मैं और ज़ोर से रोने लगा। अम्मा जी ने मुझे, छाती से लगा लिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका भी कण्ठ गद्‌गद हो गया है।

उन्होंने कहा– बेटा, चुप हो जाओ, मैं कल किसी हरकारे को भेज कर कजाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते ही रोते सो गया। सवेरे ज्यों ही आँखें खुलीं, मैंने अम्मा जी से कहा–कजाकी को बुलवा दो।

अम्मा ने कहा– आदमी गया है, बेटा ! कजाकी आता होगा। मैं खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्मा जो बात कहती हैं, उसे पूरा ज़रूर करती हैं। उन्होंने सवेरे ही एक हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिये हुए घर आया, तो मालूम हुआ कि कजाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न जाने कहाँ चले गये। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

(बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है, कौन-सा काँटा उनके हृदय में खटक रहा है ? क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मन मारे बैठे रहते हैं, क्यों खेलने में जी नहीं लगता ?) मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँख कजाकी को ढूँढ़ रही थी। वह कहाँ चला गया ? कहीं भाग तो नहीं गया ?

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कजाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कजाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा पर गली में उसका पता न था, न-जाने किधर ग़ायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा। मगर कहीं कजाकी की गन्ध तक न मिली।

घर जाकर मैंने अम्मा जी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुनकर बहुत चिन्तित हो गयीं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कजाकी न दिखाई दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। (बच्चे पहले जितना प्यार करते हैं, बाद में उतने निष्ठुर भी

हो जाते हैं। जिस खिलौने पर प्राण देते हैं; उसी को दो-चार दिन बाद पटक कर फोड़ भी डालते हैं।)

दस-बारह दिन और बीत गये। दोपहर का समय था। बाबूजी खाना खा रहे थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैंजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आयी और आँगन में खड़ी हो गयी। उसके कपडे फटे हुए और मैले थे, पर गोरी, सुन्दर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा–भैया बहूजी कहाँ हैं ?

मैंने उसके पास जाकर उसका मुँह देखते हुए कहा–तुम कौन हो, क्या बेचती हो ?

औरत–कुछ बेचती नही हूँ। तुम्हारे लिए ये कमलगट्टे लायी हूँ। भैया, तुम्हे तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न ?

मैंने उसके हाथो से लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रो से देखकर पूछा–कहाँ से लायी हो ? देखे।

औरत–तुम्हारे हरकारे ने भेजा है, भैया !

मैंने उछल कर पूछा–कजाकी ने ?

औरत ने सिर हिला कर 'हाँ' कहा और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्मा जी भी रसोई से निकल आयी। उसने अम्मा के पैरो का स्पर्श किया। अम्मा ने पूछा– तू कजाकी की घरवाली है ?

औरत ने सिर झुका लिया।

अम्मा–आजकल कजाकी क्या करता है।

औरत ने रोकर कहा–बहू जी, जिस दिन से आपके घर से आटा लेकर गये हैं, उसी दिन से बीमार पडे हैं। बस भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही मे उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंक कर 'भैया . भैया' कहते हुए द्वार की ओर दौडते हैं। न जाने उन्हें क्या हो गया है, बहू जी ! एक दिन मुझसे कुछ कहा न सुना घर से चल दिये और एक गली मे छिप कर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हे देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा– हाँ-हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था अम्मा जी !

अम्मा–घर में कुछ खाने-पीने को है ?

औरत–हाँ बहूजी, तुम्हारे आशीर्वाद से खाने-पीने का दुःख नही है। आज सवेरे उठे और तालाब की ओर चले गये। बहुत कहती रही बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी। मगर न माना ! मारे कमज़ोरी के पैर काँपने लगते हैं, मगर तालाब मे घुस कर ये कमलगट्टे तोड़ लाये। तब मुझसे कहा– ले जा, भैया को दे आ। उन्हे कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुशल-क्षेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिये थे और मजे से चख रहा था। अम्मा ने बहुत आँखें दिखाई, मगर यहाँ इतनी सब्र कहाँ !

अम्मा ने कहा–कह देना सब कुशल है।

मैंने कहा–यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। जाओगे तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ !

बाबू जी खाना खाकर निकल आये थे। तौलये से हाथ-मुँह पोंछते हुए बोले–और यह भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी जाओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गयी। अम्मा ने बहुत पुकारा, पर वह न रुकी। शायद अम्मा जी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्मा ने पूछा–सचमुच बहाल हो गया ?

बाबू जी–और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्मा–यह तुमने अच्छा किया।

बाबू जी–उसकी बीमारी की यही दवा है।

तीन

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था, मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूख कर ठूँठा हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा और उसकी कमर से चिपट गया। कज़ाकी ने मेरे गाल चूमे और मुझे उठा कर कन्धे पर बैठलाने की चेष्टा करने लगा; पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथो और घुटनों के बल खड़ा हो गया और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक़्त फूला न समाता था और शायद कजाकी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबूजी ने कहा–कजाकी, तुम बहाल हो गये। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा; मगर शायद मेरे भाग्य में दोनों सुख भोगना न लिखा था–मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा; कजाकी आया तो मुन्नू हाथ से गया और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही रुचि थी; लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे सन्तोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता था, और मेरे ही साथ उठता भी था। सफ़ाई तो उसे इतनी पसन्द थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिए घर से बाहर मैदान में निकल जाता था। कुत्तों से उसे चिढ़ थी, कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ कर घर से बाहर निकाल देता था।

कजाकी को डाकख़ाने में छोड़ कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाये थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर जाकर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा

कुत्ता उसे आते देखकर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था। मगर वह कुत्ता उसके लिए यमराज का दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकाल कर भी सन्तोष न हुआ। वह उसे घर के बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद ख़याल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुल पर घमण्ड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में उसकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। झबरे ने इस मैदान मे आते ही उलट कर मुन्नू की गरदन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज़ तक न निकली। जब पड़ोसियो ने शोर मचाया, तो मैं दौडा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है और झबरे का कहीं पता नही।

हिंसा परमो धर्मः

एक

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए सबके नौकर होते हैं, जिन्हें कुछ अपना ख़ास काम न होने पर भी सिर उठाने की फ़ुरसत नहीं होती। जामिद इसी श्रेणी के मनुष्यों मे था। बिलकुल बेफ़िक्र, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो ज़रा हँस कर बाला, उसका बेदाम का ग़ुलाम हो गया। बे-काम का काम करने में उसे मजा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाज़िर है। कहिए, तो आधी रात को हकीम के घर चला जाय; किसी जड़ी-बूटी की तलाश में मंज़िलों की ख़ाक छान आयें। मुमकिन न था कि किसी ग़रीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज़ न आता था। ऐसे सैकड़ों ही मौके उसके सामने आ चुके थे। कांस्टेबिल से आये दिन उसकी छेड़छाड़ होती रहती थी। (इसलिए लोग उसे बौड़म समझते थे। और बात भी यही थी। जो आदमी किसी का बोझ भारी देखकर, उससे छीनकर, अपने सिर पर ले ले, किसी का छप्पर उठाने या आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा ?) सारांश यह कि उसकी जात से दूसरों को चाहे कितना ही फ़ायदा पहुँचे, अपना कोई उपकार न होता था; यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मुहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका ग़म दूसरे खाते थे।

दो

आख़िर जब लोगों ने बहुत धिक्कारा—क्यो अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हारा भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ; तो कोई चुल्लू भर पानी न दे; जब तक दूसरों की सेवा करते हो, लोग ख़ैरात समझकर खाने को दे देते हैं ; जिस दिन आ पड़ेगी, कोई सीधे मुँह बात भी न करेगा ; तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन-भाड़ा कुछ था ही नही। एक दिन उठा, और एक तरफ़ की राह ली। दो दिन के बाद एक शहर में पहुँचा। शहर बहुत बड़ा था ! महल

आसमान से बातें करने वाले। सड़कें चौड़ी और साफ़। बाज़ार गुलज़ार, मसजिदों और मन्दिरों की संख्या अगर मकानों से अधिक न थीं, तो कम भी नहीं। देहात में न तो कोई मसज़िद थी, न कोई मन्दिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज़ पढ़ लेते थे। हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे। नगर में धर्म का यह माहात्म्य देख कर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनन्द हुआ। उसकी दृष्टि में मज़हब का जितना सम्मान था उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं। यह सोचने लगा—ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यावादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानुभूति होगी, तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जाने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और उसके सामने विनय से सिर झुकाता था। यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता-तुल्य मालूम होते थे।

घूमते-घूमते साँझ हो गयी। वह थक कर एक मन्दिर के चबूतरे पर जा बैठा। मन्दिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर संगमरमर के चौके जड़े हुए थे; मगर आँगन में जगह-जगह गोबर कूड़ा पड़ा था। जामिद को गन्दगी से चिढ़ थी; देवालय की यह दशा देखकर उससे न रहा गया; इधर-उधर निगाह दौड़ायी कि कहीं झाड़ू मिल जाय, तो साफ़ कर दे, पर झाड़ू कहीं नज़र न आयी। विवश होकर उसने दामन से चबूतरे को साफ़ करना शुरू कर दिया।

ज़रा देर मे भक्तो का जमाव होने लगा। उन्होने जामिद को चबूतरा साफ़ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे—

"है तो मुसलमान !"

"मेहतर होगा।"

"नहीं मेहतर अपने दामन से सफ़ाई नहीं करता। कोई पागल मालूम होता है।"

"उधर का भेदिया न हो।"

"नहीं चेहरे से बड़ा ग़रीब मालूम होता है।"

"हसन निजामी का कोई मुरीद होगा।"

"अजी गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा। (जामिद से) गोबर न ले जाना बे, समझा ? कहाँ रहता है ?"

"परदेसी मुसाफिर हूँ। साहब ! मुझे गोबर लेकर क्या करना है ? ठाकुर जी का मन्दिर देखा, तो आकर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था। मैंने सोचा—धर्मात्मा लोग आते होंगे ; सफ़ाई करने लगा।"

"तुम तो मुसलमान हो न ?"

"ठाकुर जी तो सबके ठाकुर जी हैं— क्या हिन्दू, क्या मुसलमान !"

"तुम ठाकुर जी को मानते हो ?"

"ठाकुर जी को कौन नहीं मानेगा, साहब ? जिसने पैदा किया, उसे न मानूँगा तो किसे मानूँगा ?"

भक्तों में यह सलाह होने लगी—

"देहाती है।"

"फाँस लेना चाहिए, जाने न पाये !"

तीन

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनो वक़्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो-चार आदमी हरदम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मन्दिर में जाकर कीर्त्तन करता। भक्ति के साथ स्वर-लालित्य भी हो, तो फिर क्या पूछना। लोगों पर उसके कीर्त्तन का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग संगीत के लोभ से ही मन्दिर में आने लगे। सबको विश्वास हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुनकर भेजा है।

एक दिन मन्दिर में बहुत-से आदमी जमा हुए। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नये कपड़े पहनाये। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बाँटी गयी। वह अपने आश्रय-दाताओं की उदारता और धर्मनिष्ठा का और भी कायल हो गया। ये लोग कितने सज्जन हैं, मुझ जैसे फटेहाल परदेसी की इतनी खातिर। इसी को सच्चा धर्म कहते हैं। जामिद को जीवन में कभी इतना सम्मान न मिला था। यहाँ वही सैलानी युवक जिसे लोग बौड़म कहते थे, भक्तों का सिरमौर बना हुआ था। सैकड़ों ही आदमी केवल उसके दर्शनों को आते थे। उसकी प्रकाण्ड विद्वता की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो गयीं। पत्रों में यह समाचार निकला कि एक बड़े आलिम मौलवी साहब की शुद्धि हुई। सीधा-सादा जामिद इस सम्मान का रहस्य कुछ न समझता था। ऐसे धर्मपरायण सहृदय प्राणियों के लिए वह क्या कुछ न करता ? वह नित्य पूजा करता, भजन गाता था। उसके लिए यह कोई नयी बात न थी। अपने गाँव में भी वह बराबर सत्यनारायण की कथा में बैठा करता था। भजन-कीर्तन किया करता था। अन्तर यही था कि देहात में उसकी कदर न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे।

एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ़ रहा था, तो क्या देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ठ युवक, माथेपर तिलक लगाये; जनेऊ पहने, एक बूढ़े-दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बुड्ढा रोता है, गिड़गिड़ाता है और पैरों पड़-पड़ के कहता है कि महाराज, मेरा कसूर माफ करो; किन्तु तिलकधारी युवक को उस पर ज़रा भी दया नहीं आती। जामिद का रक्त ख़ौल उठा। ऐसे दृश्य देखकर वह शान्त न बैठ सकता था। तुरन्त कूद कर बाहर निकला, और युवक के सामने आकर बोला– बुड्ढे को क्यों मारते हो, भाई ? तुम्हें इस पर ज़रा भी दया नहीं आती ?

युवक–मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आखिर इसने क्या कुसूर किया है ? कुछ मालूम भी तो हो।

युवक—इसकी मुर्गी हमारे घर मे घुस गयी थी, और सारा घर गन्दा कर आयी।

जामिद—तो क्या इसने मुर्गी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गन्दा कर आये ?

बुड्ढा—खुदाबन्द, मैं तो उसे बराबर खाँचे मे ढाँके रहता हूँ। आज गफलत हो गयी। कहता हूँ, महाराज, कुसूर माफ करो; मगर नही मानते। हुजूर मारते-मारते अधमरा कर दिया।

युवक—अभी नही मारा है, अब मारूँगा—खोद कर गाड दूँगा।

जामिद—खोद कर गाड दोगे भाई साहब तो तुम भी यो न खडे रहोगे। समझ गये ? अगर फिर हाथ उठाया, तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताकत का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया, पर चाँटा पडने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड ली। दोनो मे मल्लयुद्ध होने लगा। जामिद करारा जवान था। युवक को पटकनी दी, तो चारो खाने चित्त गिर गया। उसका गिरना था कि भक्तो का समुदाय, जो अब तक मन्दिर मे बैठा तमाशा देख रहा था लपक पडा और जामिद पर चारो तरफ से चोटे पडने लगी। जामिद की समझ मे न आता था कि लोग मुझे क्यो मार रहे हैं। कोई कुछ नही पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नही कहता। बस, जो आता है, मुझी पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम होकर गिर पडा। तब लोगो मे बाते होने लगी।

"दगा दे गया।"

"धत् तेरी जात की! कभी म्लेच्छो से भलाई की आशा न रखनी चाहिए! कौआ कौओ ही के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। इसे कोई पूछता न था, मन्दिर मे झाडू लगा रहा था। देह पर कपडे का तार भी न था, हमने इसका सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ।"

"इनके धर्म का तो मूल ही यही है।"

जामिद रात भर सडक के किनारे पर पडा दर्द से कराहता रहा, उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी यातनाएँ वह कितनी बार भोग चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगो ने क्यो एक दिन मेरा इतना सम्मान किया, और क्यो आज अकारण ही मेरी इतनी दुर्गति की ? इनकी वह सज्जनता आज कहाँ गयी ? मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कसूर भी नही किया। मैंने तो वही किया, जो ऐसी दशा मे सभी को करना चाहिए। फिर इन लोगो ने मुझ पर क्यो इतना अत्याचार किया ? देवता क्यो राक्षस बन गये ?

वह रात भर इसी उलझन मे पडा रहा। प्रातःकाल उठकर एक तरफ की राह ली।

जामिद अभी थोडी ही दूर गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते

ही वह बोला–कसम ख़ुदा की , तुमने कल मेरी जान बचा दी। सुना, ज़ालिमों ने तुम्हें बुरी तरह पीटा। मैं तो मौक़ा पाते ही निकल भागा। अब तक कहाँ थे। यहाँ के लोग रात ही से तुमसे मिलने के लिए बेकरार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही से तुम्हारी तलाश में निकले थे, मगर तुम न मिले। कल हम अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक़्त था, जहाँ सब लोग मस्जिद में थे; अगर ज़रा भी ख़बर हो जाती, तो एक हज़ार लठैत पहुँच जाते। तब आटे-दाल का भाव मालूम होता। कसम ख़ुदा की ; आज से मैंने तीन कोड़ी मुर्ग़ियाँ पाली हैं। देखूँ, पण्डित जी महाराज अब क्या करते हैं। कसम ख़ुदा की, काजी साहब ने कहा है, अगर वह लौण्डा जरा भी आँख दिखाये, तो तुम आकर मुझसे कहना। या तो बच्चा घर छोड़कर भागेगा, या हड्डी-पसली तोड़ कर रख दी जायगी।

जामिद को लिये वह बुड्ढा काजी जोरावरहुसैन के दरवाज़े पर पहुँचा। काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़ कर गले लगा लिया और बोले–वल्लाह ! तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिये; क्यों न हो, मोमिन का ख़ून है ! काफिरों की हकीक़त क्या ? सुना सब के सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे ; मगर तुमने उनके सारे मनसूबे पलट दिये। इस्लाम को ऐसे सही खादिमों की जरूरत है। तुम जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। ग़लती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब्र नहीं किया। शादी हो जाने देते, तब मज़ा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ़्त। वल्लाह ! तुमने उजलत कर दी।

दिन भर भक्तों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नज़र देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, जोर और मजहबी जोश की प्रशंसा करते थे।

चार

पहर रात बीत चुकी थी। मुसाफ़िरों की आमदरफ़्त कम हो चली थी। जामिद ने काजी साहब से धर्म-ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा ख़ाली कर दिया था। वह काजी साहब से सबक़ लेकर आया, और सोने जा रहा था। सहसा उसे दरवाज़े पर एक ताँगे के रुकने की आवाज़ सुनायी दी। काजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा, कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया तो देखा–एक स्त्री ताँगे से उतर कर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

महिला ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा–नहीं जी, मुझे अच्छी तरह याद है; यह उनका मकान नहीं है। शायद तुम भूल गये हो।

ताँगेवाला–हुज़ूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।

स्त्री ने कुछ झिझकते हुए कहा—बुलाते क्यो नही ? आवाज दो।

ताँगेवाला—ओ साहब, आवाज क्या दूँ, जब जानता हूँ कि साहब का मकान यही है, तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा ? बेचारे आराम कर रहे होगे। आराम में खलल पड़ेगा ! आप निसाखातिर रहिए, चलिए, ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे ताँगेवाला असबाब लिये हुए चला। जामिद गुम-सुम नीचे खड़ा रहा। यह रहस्य उसकी समझ मे न आया।

ताँगेवाले की आवाज सुनते ही काजी साहब छत पर निकल आये, और एक औरत को आते देख कमरे की खिडकियाँ चारो तरफ़ से बन्द करके खूँटी पर लटकती तलवार उतार ली, और दरवाजे पर आकर खडे हो गये।

औरत ने जीना तय करके ज्योही छत पर पैर रखा कि काजी साहब को देखकर झिझकी। वह तुरन्त पीछे की तरफ़ मुडना चाहती थी कि काजी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड लिया और अपने कमरे मे घसीट लाये। इसी बीच मे जामिद और ताँगेवाला, ये दोनो भी ऊपर आ गये थे। जामिद यह दृश्य देखकर विस्मित हो गया था। यह रहस्य और भी रहस्यमय हो गया था। यह विद्या का सागर ,यह न्याय का भण्डार, यह नीति, धर्म और दर्शन का आगार इस समय एक अपरिचित महिला के ऊपर यह घोर अत्याचार कर रहा है। ताँगेवाले के साथ वह भी काजी साहब के कमरे मे चला गया। काजी साहब तो स्त्री के दोनो हाथ पकडे हुए थे। ताँगेवाल ने दरवाजा बन्द कर दिया।

महिला ने ताँगेवाले की ओर खून भरी आँखो से देखकर कहा—तू मुझे यहाँ क्यो लाया ?

काजी साहब ने तलवार चमका कर·कहा— पहले आराम से बैठ जाओ, सब कुछ मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो मुझे कोई मौलबी मालूम होते हो ? क्या तुम्हे खुदा ने यही सिखाया है कि परायी बहू-बेटियो को जबरदस्ती घर मे बन्द करके उनकी आबरू बिगाडो ?

काजी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरो को जिस तरह मुमकिन हो, इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आये, तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू-बेटी पकड कर बे-आबरू करे, तो ?

काजी—हो रहा है। (जैसा तुम हमारे साथ करोगे वैसा ही हम तुम्हारे साथ करेगे। फिर हम तो बे-आबरू नही करते, सिर्फ अपने मजहब मे शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढती है, घटती नही। हिन्दू कौम ने तो हमे मिटा देने का बीड़ा उठाया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसलमानो को बे-दीन बनाया जा रहा है, तो मुसलमान बैठे मुँह ताकेगे ?

औरत–हिन्दू कभी ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता। सम्भव है, तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों; मगर अब भी कोई सच्चा हिन्दू इसे पसन्द नहीं करता।

काजी साहब ने कुछ सोच कर कहा–बेशकद्य, पहले इस तरह की शरारत मुसलमान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ़ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपने इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। (तालीम और तहज़ीब की तरक्की के साथ कुछ दिनों यह गुण्डापन ज़रूर ग़ायब हो जाता; मगर अब तो हिन्दू कौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन-सा है। हम कमज़ोर हैं इसलिए हमें मजबूर होकर अपने को कायम रखने के लिए दग़ा से काम लेना पड़ता है; मगर तुम इतना घबराती क्यों हो ? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ़ न होगी। इस्लाम औरतों के हक़ का जितना लिहाज करता है, उतना और कोई मजहब नहीं करता)। और मुसलमान मर्द तो अपनी औरतों पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त(जामिद) तुम्हारे सामने खड़े है। इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम से ज़िन्दगी के दिन बसर करना।

औरत–मैं तुम्हें और तुम्हारे धर्म को घृणित समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिए कोई दूसरा काम नहीं। ख़ैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो, नहीं तो मैं अभी शोर मचा दूँगी, और तुम्हारा सारा मौलवीपन निकल जायगा।

काजी–अगर तुमने जबान खोली तो तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। बस, इतना समझ लो।

औरत–आबरू के सामने जान कोई हकीक़त नहीं। तुम मेरी जान ले सकते हो; मगर मेरी आबरू नहीं ले सकते।

काजी–क्यों नाहक ज़िद करती हो ?

औरत ने दरवाज़े के पास जाकर कहा–मैं कहती हूँ, दरवाज़ा खोल दो।

जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्यों ही स्त्री दरावाज़े की तरफ चली, और काजी साहब ने उसका हाथ पकड़ कर खींचा, जामिद ने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया और काजी साहब से बोला–इन्हें छोड़ दीजिए।

काजी–क्या बकता है ?

जामिद–कुछ नहीं। खैरियत इसी में है कि इन्हें छोड़ दीजिए।

लेकिन जब काजी साहब ने उस महिला का हाथ न छोड़ा, और ताँगेवाला भी उसे पकड़ने के लिए बढ़ा, तो जामिद ने एक धक्का देकर काजी साहब को धकेल दिया, और उस स्त्री का हाथ पकड़े हुए कमरे से बाहर निकल गया। ताँगेवाला पीछे लपका, मगर जामिद ने उसे इतने ज़ोर से धक्का दिया कि वह औंधा मुँह जा गिरा। एक क्षण में जामिद और स्त्री, दोनों सड़क पर थे।

जामिद–आपका घर किस मुहल्ले में है। ?

औरत–अहियागंज में।

जामिद–चलिए, मैं आपको पहुँचा आऊँ।

औरत–इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी। मैं आपकी इस नेकी को कभी न भूलूँगी। आपने आज मेरी आबरू बचा ली, नहीं तो मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि (अच्छे और बुरे सब जगह होते हैं।) मेरे शौहर का नाम पण्डित राजकुमार है।

उसी वक़्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखाई दिया। जामिद ने स्त्री को उस पर बैठा दिया, और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से काजी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया और डण्डा ताँगे से टकराया। जामिद ताँगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया।

अहियागंज में पडिण्त राजकुमार का पता लगाने में कठिनाई न पड़ी। जामिद ने ज्यों आवाज़ दी, वह घबराये हुए बाहर निकल आये और स्त्री को देखकर बोले–तू कहाँ रह गयी थी इन्दिरा ? मैंने तो तुम्हें स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में ज़रा देर हो गयी थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी ?

इन्दिरा ने घर के अन्दर कदम रखते ही कहा–बड़ी लम्बी कथा है; ज़रा दम लेने दो, तो बता दूँगी। बस, इतना ही समझ लो कि आज अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती तो आबरू चली गयी थी।

पण्डित जी पूरी कथा सुनने के लिए और भी व्याकुल हो उठे। इन्दिरा के साथ वह भी घर में चले गये; पर एक ही मिनट के बाद बाहर आकर जामिद से बोले–भाई साहब, शायद आप बनावट समझें; पर मुझे आपके रूप में इस समय अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान में इतनी ताक़त नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ। आइए, बैठ जाइए।

जामिद– जी नहीं, अब मुझे इज़ाजत दीजिए।

पण्डित जी–मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ ?

जामिद–इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी ग़रीब मुसलमान से न लीजिएगा, मेरी आप से यही दरख़्वास्त है।

यह कहकर जामिद चल खड़ा हुआ, और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर से बाहर निकल गया। उस शहर की विषाक्त वायु में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था ! वह जल्द से जल्द शहर से भाग कर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द्र था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गयी थी।

मन्त्र

एक

सन्ध्या का समय था। डॉक्टर चड्ढा गोल्फ खेलने के लिए तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खडी थी कि दो कहार एक डोली लिये आते दिखाई दिये। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था। डोली औषधालय के सामने आकर रुक गयी। बूढ़े ने धीरे-धीरे आकर द्वार पर पड़ी हुई चिक से झाँका। ऐसी साफ़-सुथरी जमीन पर पैर रखते हुए भय हो रहा था कि कोई घुड़क न बैठे। डॉक्टर साहब को सामने खड़े देखकर भी उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

डॉक्टर साहब ने चिक के अन्दर से गरज कर कहा–कौन है ? क्या चाहता है ?

बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा–हुजूर बडा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से...

डॉक्टर साहब ने सिगार जलाकर कहा–कल सवेरे आओ, कल सवेरे, हम इस वक्त मरीजों को नहीं देखते।

बूढ़े ने घुटने टेककर जमीन पर सिर रख दिया और बोला–"दुहाई है सरकार की, लड़का मर जायगा ! हुजूर, चार दिन से आँखे नहीं..."

डॉक्टर चड्ढा ने कलाई पर नज़र डाली। केवल दस मिनट समय और वाकी था। गोल्फ-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले–कल सबेरे आओ, कल सबेरे; यह हमारे खेलने का समय है।

बूढ़े ने पगड़ी उतार कर चौखट पर रख दी और रोकर बोला–हुजूर, एक निगाह देख लें। बस, एक निगाह ! लड़का हाथ से चला जायगा हुजूर, सात लड़कों में यही एक बच रहा है, हुजूर। हम दोनों आदमी रो-रो कर मर जायेंगे, सरकार ! आपकी बढ़ती होंये, दीनबन्धु !

ऐसे उजड्ड देहाती यहाँ प्रायः रोज आया करते थे। डॉक्टर साहब उनके स्वभाव से खूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे; पर वे अपनी ही रट लगाते जायेंगे। किसी की सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठायी और बाहर निकल कर मोटर की तरफ़ चले। बूढ़ा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा–सरकार, बड़ा धरम होगा। हुजूर, दया

कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ; संसार में कोई और नहीं है, बाबू जी !

मगर डॉक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेर कर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठकर बोले—कल सबेरे आना।

मोटर चली गयी। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवाह नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने ज़माने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कन्धा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाये उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डॉक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आयी थी, उधर ही चली गयी। चारों ओर से निराश होकर वह डॉक्टर चड्ढा के पास आया था। इनकी बड़ी तारीफ सुनी थी। यहाँ से निराश होकर फिर वह किसी दूसरे डॉक्टर के पास न गया। किस्मत ठोक ली !

उसी रात उसका हँसता-खेलता सात साल का बालक अपनी बाल-लीला समाप्त करके इस संसार से सिधार गया। बूढ़े माँ-बाप के जीवन का यही एक आधार था। इसी का मुँह देख कर जीते थे। इस दीपक के बुझते ही जीवन की अँधेरी रात भाँय-भाँय करने लगी। बुढ़ापे की विशाल ममता टूटे हुए हृदय से निकल कर अन्धकार में आर्त-स्वर से रोने लगी।

दो

कई साल गुज़र गये। डॉक्टर चड्ढा ने खूब यश और धन कमाया; लेकिन इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य की रक्षा भी की, जो एक असाधारण बात थी। यह उनके नियमित जीवन का आशीर्वाद था कि पचास वर्ष की अवस्था मे उनकी चुस्ती और फुर्ती युवकों को भी लज्जित करती थी। उनके हर एक काम का समय नियत था, इस नियम से वह जौ-भर भी न टलते थे। बहुधा लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन उस समय करते हैं, जब रोगी हो जाते हैं। डॉक्टर चड्ढा उपचार और संयम का रहस्य खूब समझते थे। उनकी सन्तान-संख्या भी इसी नियम के अधीन थी। उनके केवल दो बच्चे हुए, एक लड़का और एक लड़की। तीसरी सन्तान न हुई, इसीलिए श्रीमती चड्ढा भी अभी जवान मालूम होती थीं। लड़की का तो विवाह हो चुका था। लड़का कॉलेज में पढ़ता था। वही माता-पिता के जीवन का आधार था। शील और विनय का पुतला, बड़ा ही रसिक, बड़ा ही उदार, विद्यालय का गौरव, युवक-समाज की शोभा। मुखमण्डल से तेज की छटा-सी निकलती थी। आज उसकी बीसवीं सालगिरह थी।

सन्ध्या का समय था। हरी-हरी घास पर कुर्सियाँ बिछी हुई थी। शहर के रईस और हुक्काम एक तरफ़ कॉलेज के छात्र दूसरी तरफ़ बैठे भोजन कर रहे थे। बिजली के प्रकाश से सारा मैदान जगमगा रहा था। आमोद-प्रमोद का सामान भी जमा था। छोटा-सा प्रहसन खेलने की तैयारी थी। प्रहसन स्वयं कैलाशनाथ ने लिखा था। वही मुख्य एक्टर भी था। इस समय वह एक रेशमी कमीज पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव, उधर से उधर मित्रों की आवभगत में लगा हुआ था। कोई पुकारता–कैलाश, ज़रा इधर आना; कोई उधर से बुलाता–कैलाश, क्या उधर ही रहोगे ? सभी उसे छेड़ते थे, चुहलें करते थे, बेचारे को ज़रा दम मारने का अवकाश न मिलता था। सहसा एक रमणी ने उसके पास आकर कहा–क्यों कैलाश, तुम्हारे साँप कहाँ हैं ? ज़रा मुझे दिखा दो।

कैलाश ने उससे हाथ मिलाकर कहा–मृणालिनी, इस वक़्त क्षमा करो, कल दिखा दूँगा।

मृणालिनी ने आग्रह किया–जी नहीं तुम्हें दिखाना पड़ेगा मैं आज नहीं मानने की। तुम रोज़ 'कल-कल' करते हो।

मृणालिनी और कैलाश दोनों सहपाठी थे और एक-दूसरे के प्रेम में पगे हुए। कैलाश को साँपों के पालने, खेलाने और नचाने का शौक था। तरह-तरह के साँप पाल रखे थे। उनके स्वभाव और चरित्र की परीक्षा करता रहता था। थोड़े दिन हुए, उसने विद्यालय में 'साँपो' पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपो को नचा कर दिखाया भी था। प्राणिशास्त्र के बड़े-बड़े पण्डित भी यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गये थे ! यह विद्या उसने एक बड़े सँपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज था। इतना पता भर मिल जाय कि किसी व्यक्ति के पास कोई अच्छी जड़ी है, फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हज़ारों रुपये फूँक चुका था। मृणालिनी कई बार आ चुकी थी; पर कभी साँपों को देखने के लिए इतनी उत्सुक न हुई थी। कह नहीं सकते, आज उसकी उत्सुकता सचमुच जाग गयी थी, या वह कैलाश पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहती थी; पर उसका आग्रह बेमौक़ा था। उस कोठरी में कितनी भीड़ लग जायगी, भीड़ को देख कर साँप कितने चौंकेंगे और रात के समय उन्हे छेड़ा जाना कितना बुरा लगेगा, इन बातों का उसे ज़रा भी ध्यान न आया।

कैलाश ने कहा–नहीं, कल ज़रूर दिखा दूँगा। इस वक्त अच्छी तरह दिखा भी तो न सकूँगा, कमरे में तिल रखने को भी जगह न मिलेगी।

एक महाशय ने छेड़कर कहा–दिखा क्यों नहीं देते, ज़रा-सी बात के लिए इतना टाल-मटोल कर रहे हो ? मिस गोन्विद, हर्गिज न मानना। देखें कैसे नही दिखाते !

दूसरे महाशय ने और चढ़ाया–मिस गोविन्द इतनी सीधी और भोली हैं, तभी आप इतना मिज़ाज करते हैं; दूसरी सुंदरी होती, तो इसी बात पर बिगड़ खड़ी होती।

तीसरे साहब ने मज़ाक उड़ाया—अजी बोलना छोड़ देती। भला, कोई बात है ! इस पर आपका दावा है कि मृणालिनी के लिए जान हाजिर है।

मृणालिनी ने देखा कि ये शोहदे उसे रंग पर चढ़ा रहे हैं, तो बोली—आप लोग मेरी वकालत न करें, मैं खुद अपनी वकालत कर लूँगी। मैं इस वक़्त साँपों का तमाशा नहीं देखना चाहती। चलो, छुट्टी हुई।

इस पर मित्रों ने ठट्ठा लगाया। एक साहब बोले—देखना तो आप सब कुछ चाहें, पर कोई दिखाये भी तो ?

कैलाश को मृणालिनी की झेंपी हुई सूरत देखकर मालूम हुआ कि इस वक़्त उसका इनकार वास्तव में उसे बुरा लगा है। ज्योंही प्रीति-भोज समाप्त हुआ और गाना शुरू हुआ, उसने मृणालिनी और अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के सामने ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक खाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह ! क्या कमाल था ! ऐसा जान पड़ता था कि वे कीड़े उसकी एक-एक बात, उसके मन का एक-एक भाव समझते हैं। किसी को उठा लिया, किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गर्दन में न डालो, दूर ही से दिखा दो। बस, ज़रा नचा दो। कैलाश की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैंने व्यर्थ ही साँप दिखाने को कहा ; मगर कैलाश एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपने सर्प-कला-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कब चूकता ! एक मित्र ने टीका की—दाँत तोड़ डाले होंगे।

कैलाश हँसकर बोला—दाँत तोड़ डालना मदारियों का काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गये। कहिए तो दिखा दूँ ? कहकर उसने एक काले साँप को पकड़ लिया। और बोला—'मेरे पास इससे बड़ा जहरीला साँप दूसरा नहीं है, अगर किसी को काट ले, तो आदमी आनन-फानन में मर जाय। लहर भी न आये। इसके काटे पर मन्त्र नहीं। इसके दाँत दिखा दूँ ?

मृणालिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं-नहीं, कैलाश, ईश्वर के लिए इसे छोड़ दो। तुम्हारे पैर पड़ती हूँ।

इस पर एक दूसरे मित्र बोले—मुझे तो विश्वास नहीं आता, लेकिन तुम कहते हो तो मान लूँगा।

कैलाश ने साँप की गरदन पकड़कर कहा—नहीं साहब, आप आँखों से देख कर मानिए। दाँत तोड़कर वश में किया, तो क्या किया। साँप बड़ा समझदार होता है ! अगर उसे विश्वास हो जाय कि इस आदमी से मुझे कोई हानि न पहुँचेगी, तो वह उसे हर्गिज़ न काटेगा।

मृणालिनी ने जब देखा कि कैलाश पर इस वक़्त भूत सवार है, तो उसने यह तमाशा न करने के विचार से कहा—अच्छा भाई, अब यहाँ से चलो। देखो गाना शुरू हो गया है। आज मैं भी कोई चीज़ सुनाऊँगी। यह कहते हुए उसने कैलाश का कन्धा

पकड़कर चलने का इशारा किया और कमरे से निकल गयी; मगर कैलाश विरोधियों का शंका-समाधान करके ही दम लेना चाहता था। उसने साँप की गरदन पकड़कर जोर से दबायी, इतनी ज़ोर से दबायी कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गयी। साँप ने अब तक उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ मे न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं। उसे शायद भ्रम हुआ कि मुझे मार डालना चाहते हैं, अतएव वह आत्मरक्षा के लिए तैयार हो गया।

कैलाश ने उसकी गर्दन खूब दबा कर मुँह खोल दिया और उसके ज़हरीले दाँत दिखाते हुए बोला—"जिन सज्जनों को शक हो, आकर देख लें। आया विश्वास या अब भी कुछ शक है ? मित्रो ने आकर उसके दाँत देखे, और चकित हो गये। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने सन्देह को स्थान कहाँ। मित्रों का शंका-निवारण करके कैलाश ने साँप की गर्दन ढीली कर दी और उसे ज़मीन पर रखना चाहा, पर वह काला गेहुँवन क्रोध से पागल हो रहा था। गर्दन नरम पडते ही उसने सिर उठाकर कैलाश की उँगली मे ज़ोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलाश की उँगली से टप-टप खून टपकने लगा। उसने जोर से उँगली दबा ली और अपने कमरे की तरफ़ दौड़ा। वहाँ मेज़ की दराज मे एक जडी रखी हुई थी, जिसे पीसकर लगा देने से घातक विष भी रफ़ू हो जाता था। मित्रो मे हलचल पड गयी। बाहर महफिल मे भी खबर हुई। डॉक्टर साहब घबरा कर दौडे। फौरन उँगली की जड कस कर बाँधी गयी और जडी पीसने के लिए दी गयी। डॉक्टर साहब जडी के कायल न थे। वह उँगली का डसा भाग-नश्तर से काट देना चाहते थे, मगर कैलाश को जडी पर पूर्ण विश्वास था। मृणालिनी प्यानो पर बैठी हुई थी। यह ख़बर सुनते ही दौड़ी, और कैलाश की उँगली से टपकते हुए खून को रूमाल से पोछने लगी। जडी पीसी जाने लगी; पर उसी एक मिनट में कैलाश की ऑखें झपकने लगी, ओठो पर पीलापन दौडने लगा। यहाँ तक कि वह खड़ा न रह सका। फर्श पर बैठ गया। सारे मेहमान कमरे मे जमा हो गये। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। इतने मे जड़ी पीसकर आ गयी। मृणालिनी ने उँगली पर लेप किया। एक मिनट और बीता। कैलाश की ऑखे बन्द हो गयी। वह लेट गया और हाथ मे पखा झलने का इशारा किया। माँ ने दौडकर उसका सिर गोद में रख लिया और बिजली का टेबुल फैन लगा दिया।

डॉक्टर साहब ने झुककर पूछा—कैलाश, कैसी तबीयत है ? कैलाश ने धीरे से हाथ उठा दिया; पर कुछ बोल न सका। मृणालनी ने करुण स्वर में कहा—क्या जडी कुछ असर न करेगी ? डॉक्टर साहब ने सिर पकड़कर कहा—क्या बतलाऊँ, मै इसकी बातो में आ गया। अब तो नश्तर से भी कुछ फायदा न होगा।

आधे घण्टे तक यही हाल रहा। कैलाश की दशा प्रतिक्षण बिगडती जाती थी। यहाँ तक कि उसकी आँखें पथरा गयीं, हाथ-पाँव ठण्डे हो गये, मुख की कान्ति मलिन पड गयी, नाड़ी का कहीं पता नहीं। मौत के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। घर में कुहराम मच गया। मृणालिनी एक ओर सिर पीटने लगी; माँ अलग पछाड़े खाने लगी।

डॉक्टर चड्ढा को मित्रो ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गर्दन पर मार लेते।

एक महाशय बोले—कोई मन्त्र झाड़नेवाला मिले तो सम्भव है, अब भी जान बच जाय।

एक मुसलमान सज्जन ने इसका समर्थन किया—अरे साहब! कब्र मे पडी हुई लाशे जिन्दा हो गयी हैं। ऐसे-ऐसे बाकमाल पडे हुए हैं।

डॉक्टर चड्ढा बोले—मेरी अक्ल पर पत्थर पड गया था कि इसकी बातो मे आ गया। नश्तर लगा देता, तो यह नौबत ही न आती। बार-बार समझाता रहा कि बेटा, साँप न पालो, मगर कौन सुनता था! बुलाइए, किसी झाड-फूँक करने वाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले ले, मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरो पर रख दूँगा। लँगोटी बाध कर घर से निकल जाऊँगा; मगर मेरा कैलाश, मेरा प्यारा कैलाश उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलवाइए।

एक महाशय का किसी झाडने वाले से परिचय था। वह दौडकर उसे बुला लाये, मगर कैलाश की सूरत देखकर उसे मन्त्र चलाने की हिम्मत न पडी। बोला—अब क्या हो सकता है, सरकार? जो कुछ होना था, हो चुका!

"अरे मूर्ख, यह क्यो नहीं कहता कि जो कुछ न होना था, हो चुका। जो कुछ होना था, वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सेहरा कहाँ देखा? मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से रजित हो उठा? मन के वह स्वर्ण-स्वप्न जिनसे जीवन आनन्द का स्रोत बना हुआ था, क्या पूरे हो गये? जीवन के नृत्यमय तारिका-मण्डित सागर मे आमोद की बहार लूटते हुए क्या उनकी नौका जलमग्न नहीं हो गयी? जो न होना था, वह हो गया।"

वही हरा-भरा मैदान था, वही सुनहरी चाँदनी एक निश्शब्द सगीत की भाँति प्रकृति पर छायी हुई थी; वही मित्र-समाज था। वही मनोरजन के सामान थे। मगर जहाँ हास्य की ध्वनि थी, वहाँ करुण क्रन्दन और अश्रु-प्रवाह था।

तीन

शहर से कई मील दूर एक छोटे-से घर में एक बूढा और बुढ़िया अंगीठी के सामने बैठे जाड़े की रात काट रहे थे। बूढ़ा नारियल पीता था और बीच-बीच मे खाँसता था। बुढ़िया दोनों घुटनियो में सिर डाले आग की ओर ताक रही थी। एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी। घर मे न चारपाई थी, न बिछौना। एक किनारे थोड़ी-सी पुआल पड़ी हुई थी। इसी कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन-भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी। बूढ़ा रस्सी बट कर बाजार में बेच आता था। यही उनकी जीविका थी। उन्हें न किसी ने रोते देखा, न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फुरसत! बुढ़िया ने पूछा—कल्ल के लिए सन तो है नहीं, काम क्या करोगे?

"जाकर झगड़ू साहु से दस सेर सन उधार लाऊँगा।"

"उसके पहले के पैसे तो दिये ही नहीं, और उधार कैसे देगा ?"

"न देगा न सही। घास तो कहीं नहीं गयी है। दोपहर तक क्या दो आने की भी नहीं काटूँगा ?"

इतने में एक आदमी ने द्वार पर आवाज़ दी–भगत, भगत, क्या सो गये ? जरा किवाड़ खोलो।

भगत ने उठकर किवाड़ खोल दिये। एक आदमी ने अन्दर आकर कहा–"कुछ सुना, डॉक्टर चड्ढा बाबू के लड़के को साँप ने काट लिया।"

भगत ने चौंककर कहा–चड्ढा बाबू के लड़के को ! वही चड्ढा बाबू हैं न , जो छावनी में बँगले में रहते हैं ?

"हाँ-हाँ वही। शहर में हल्ला मचा हुआ है। जाते हो तो जाओ, आदमी बन जाओगे।"

बूढ़े ने कठोर भाव से सिर हिलाकर कहा–मैं नहीं जाता ! मेरी बला जाय ! वही चड्ढा है। खूब जानता हूँ। भैया को लेकर उन्हीं के पास गया था। खेलने जा रहे थे। पैरों पर गिर पड़ा कि एक नज़र देख लीजिए; मगर सीधे मुँह से बात तक न की। भगवान् बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का ग़म कैसा होता है। कई लड़के हैं।

"नहीं जी, यही तो एक लड़का था। सुना है, सबने जवाब दे दिया है।"

"भगवान् बड़ा कारसाज है। उस बखत मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े थे, पर उन्हें तनिक भी दया न आयी थी। मैं तो उनके द्वार पर होता, तो भी बात न पूछता।"

"तो न जाओगे ? हमने जो सुना था, सो कह दिया।"

"अच्छा किया–अच्छा किया। कलेजा ठण्डा हो गया, आँखे ठण्डी हो गयी। लडका भी ठण्डा हो गया होगा ! तुम जाओ। आज चैन की नीद सोऊँगा। (बुढ़िया से) जरा तम्बाखू ले ले ! एक चिलम और पीऊँगा। अब मालूम होगा लाला को ! सारी साहबी निकल जायगी, हमारा क्या बिगड़ा। लड़के के मर जाने से कुछ राज तो नहीं चला गया ? जहाँ छः बच्चे गये थे, वहाँ एक और चला गया, तुम्हारा तो राज सूना हो जायगा। उसी के वास्ते सबका गला दबा-दबा कर जोडा था न। अब क्या करोगे ? एक बार देखने जाऊँगा; पर कुछ दिन बाद। मिजाज़ का हाल पूछूँगा।

आदमी चला गया। भगत ने किवाड़ बन्द कर लिये, तब चिलम पर तम्बाकू रखकर पीने लगा।

बुढ़िया ने कहा–इतनी रात गये जाड़े-पाले में कौन जायगा ?

"अरे, दोपहर ही होता तो मैं न जाता। सवारी दरवाज़े पर लेने आती, तो भी न जाता। भूल नहीं गया हूँ। पन्ना की सूरत आज भी आँखों में फिर रही है। इस निर्दयी ने उसे एक नज़र देखा तक नहीं। क्या मैं न जानता था कि वह न

बचेगा ? खूब जानता था। चड्ढा भगवान् नहीं थे कि उनके एक निगाह देख लेने से अमृत बरस जाता। नहीं, खाली मन की दौड़ थी। जरा तसल्ली हो जाती। बस, इसीलिए उनके पास गया था। अब किसी दिन जाऊँगा और कहूँगा—क्यों साहब, कहिए, क्या रंग है ? दुनिया बुरा कहेगी, कहे; कोई परवाह नहीं। छोटे आदमियों में तो सब ऐब हैं। बड़ों मे कोई ऐब नहीं होता, देवता होते हैं।

भगत के लिए यह जीवन में पहला अवसर था कि ऐसा समाचार पाकर वह बैठा रह गया हो। अस्सी वर्ष के जीवन में ऐसा कभी न हुआ था कि साँप की खबर पाकर वह दौड़ न गया हो। माघ-पूस की अँधेरी रात, चैत-बैसाख की धूप और लू, सावन-भादों की चढ़ी हुई नदी और नाले, किसी की उसने कभी परवाह न की। वह तुरन्त घर से निकल पड़ता था—निःस्वार्थ, निष्काम ! लेन-देन का विचार कभी दिल में आया नहीं। यह ऐसा काम ही न था। जान का मूल्य कौन दे सकता है ? यह एक पुण्य-कार्य था। सैकड़ों निराशों को उसके मन्त्रों ने जीवन-दान दे दिया था; पर आज वह घर से कदम नहीं निकाल सका। यह ख़बर सुनकर सोने जा रहा है।

बुढ़िया ने कहा—तमाखू अँगीठी के पास रखी हुई है। उसके भी आज ढाई पैसे हो गये, देती ही न थी।

बुढ़िया यह कहकर लेटी। बूढ़े ने कुप्पी बुझायी, कुछ देर खड़ा रहा, फिर बैठ गया। अन्त में लेट गया; पर यह ख़बर उसके हृदय पर बोझे की भाँति रखी हुई थी। उसे मालूम हो रहा था कि उसकी कोई चीज़ खो गयी है, जैसे सारे कपड़े गीले हो गये हैं या पैरों में कीचड़ लगा हुआ है, जैसे कोई उसके मन में बैठा हुआ उसे घर से निकलने के लिए कुरेद रहा है। बुढ़िया ज़रा देर में खर्राटे लेने लगी। बूढ़े बातें करते-करते सोते हैं और जरा-सा खटका होते ही जागते। तब भगत उठा, आपनी लकड़ी उठा ली, और धीरे से किवाड़ खोले।

बुढ़िया ने पूछा—कहाँ जाते हो ?

""कहीं नहीं, देखता था कि कितनी रात है।"

"अभी बहुत रात है, सो जाओ।"

"नींद नहीं आती।"

"नींद काहे को आवेगी ? मन तो चड्ढा के घर पर लगा हुआ है।"

"चड्ढा ने मेरे साथ कौन-सी नेकी कर दी है, जो वहाँ जाऊँ ? वह आकर पैरों पड़े तो भी न जाऊँ !"

"उठे तो तुम इसी इरादे से हो ?"

"नहीं री, ऐसा पागल नहीं हूँ कि जो मुझे काँटे बोये उसके लिए फूल बोता फिरूँ।"

बुढ़िया फिर सो गयी। भगत ने किवाड़ लगा दिये और फिर आकर बैठा। पर उसके मन की कुछ ऐसी दशा थी, जो बाजे की आवाज़ कान में पड़ते ही उपदेश सुनने वालों की होती है। आँखें चाहे उपदेशक की ओर हों; पर कान बाजे की ही

ओर होते हैं। दिल में भी बाजे की ध्वनि गूँजती रहती है। शर्म के मारे जगह से नहीं उठता। निर्दयी प्रतिघात का भाव भगत के लिए उपदेशक था, पर हृदय उस अभागे युवक की ओर था, जो इस समय मर रहा था, जिसके लिए एक-एक पल का विलम्ब घातक था।

उसने फिर किवाड़ खोले, इतने धीरे से कि बुढ़िया को ख़बर भी न हुई। बाहर निकल आया। उसी वक़्त गाँव का चौकीदार गश्त लगा रहा था, बोला–कैसे उठे भगत ? आज तो बड़ी सरदी है ! कहीं जा रहे हो क्या ?

भगत ने कहा–नहीं जी, जाऊँगा कहाँ ! देखता था अभी कितनी रात है। भला, कै बजे होंगे ?

चौकीदार बोला–एक बजा होगा और क्या, अभी थाने से आ रहा था, तो डॉक्टर चड्ढा बाबू के बँगले पर बड़ी भीड़ लगी हुई थी। उनके लड़के का हाल तो तुमने सुना होगा, कीड़े ने छू लिया। चाहे मर भी गया हो। तुम चले जाओ, तो साइत बच जाय। सुना है दस हज़ार तक देने को तैयार हैं।

भगत–मैं तो न जाऊँ, चाहे वह दस लाख भी दे। मुझे दस हज़ार या दस लाख लेकर करना क्या है ? कल मर जाऊँगा, फिर कौन भोगनेवाला बैठा हुआ है।

चौकीदार चला गया। भगत ने आगे पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह अपने काबू में नहीं रहती, पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, जबान से निकलता कुछ है, वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतिकार था; पर कर्म मन के अधीन न था। जिसने कभी तलवार नहीं चलायी, वह इरादा करने पर भी तलवार नहीं चला सकता। उसके हाथ काँपते हैं, उठते ही नहीं।

भगत लाठी खट-खट करता लपका चला जाता था। चेतना रोकती थी पर उपचेतना ठेलती थी। सेवक स्वामी पर हावी था।

आधी राह निकल जाने के बाद सहसा भगत रुक गया। हिंसा ने क्रिया पर विजय पायी–मैं यों ही इतनी दूर चला आया। इस जाड़े-पाले में मरने की मुझे क्या पड़ी थी ? आराम से सोया क्यों नहीं ? नींद न आती, न सही; दो-चार भजन ही गाता। व्यर्थ इतनी दूर दौड़ा आया। चड्ढा का लड़का रहे या मरे, मेरी बला से। मेरे साथ उन्होंने ऐसा कौन-सा सलूक किया था कि मैं उनके लिए मरूँ ? दुनिया में हज़ारों मरते हैं, हज़ारों जीते हैं। मुझे किसी के मरने-जीने से मतलब !

मगर उपचेतना ने अब एक दूसरा रूप धारण किया, जो हिंसा से बहुत कुछ मिलता-जुलता था–वह झाड़-फूँक करने नहीं जा रहा है; वह देखेगा, कि लोग क्या कर रहे हैं। डॉक्टर साहब का रोना-पीटना देखेगा, किस तरह सिर पीटते हैं, किस तरह पछाड़ें खाते हैं ! वह देखेगा कि बड़े लोग भी छोटों ही की भाँति रोते हैं, या सबर कर जाते हैं ! वे लोग तो विद्वान होते हैं, सबर कर जाते होंगे ! हिंसा-भाव को यों धीरज देता हुआ वह फिर आगे बढ़ा।

इतने में दो आदमी आते दिखाई दिये। दोनों बातें करते चले आ रहे थे–चड्ढा

बाबू का घर उजड़ गया, वही तो एक लड़का था। भगत के कान में यह आवाज़ पड़ी। उसकी चाल और भी तेज़ हो गयी। थकान के मारे पाँव न उठते थे। शिरोभाग इतना बढ़ा जाता था, मानो अब मुँह के बल गिर पड़ेगा। इस तरह वह कोई दस मिनट चला होगा कि डॉक्टर साहब का बँगला नज़र आया। बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं; मगर सन्नाटा छाया हुआ था। रोने-पीटने की आवाज़ भी न आती थी। भगत का कलेजा धक्-धक् करने लगा। कहीं मुझे बहुत देर तो नहीं हो गयी ? वह दौड़ने लगा। अपनी उम्र में वह इतना तेज़ कभी न दौड़ा था। बस यही मालूम होता था मानो उसके पीछे मौत दौड़ी आ रही है।

चार

दो बज गये थे। मेहमान विदा हो गये। रोने वालों में केवल आकाश के तारे रह गये थे। और सभी रो-रो कर थक गये थे। बड़ी उत्सुकता के साथ लोग रह-रहकर आकाश की ओर देखते थे कि किसी तरह सुबह हो और लाश गंगा की गोद में दी जाय।

सहसा भगत ने द्वार पर पहुँचकर आवाज़ दी। डॉक्टर साहब समझे, कोई मरीज़ आया होगा। किसी और दिन उन्होंने उस आदमी को दुत्कार दिया होता; मगर आज बाहर निकल आये। देखा एक बूढ़ा आदमी खड़ा है–कमर झुकी हुई, पोपला मुँह, भौंहें तक सफ़ेद हो गयी थीं। लकड़ी के सहारे काँप रहा था। बड़ी नम्रता से बोले–क्या है भई, आज तो हमारे ऊपर ऐसी मुसीबत पड़ गयी है कि कुछ कहते नहीं बनता, फिर कभी आना। इधर एक महीना तक तो शायद मैं किसी भी मरीज को न देख सकूँगा।

भगत ने कहा–सुन चुका हूँ बाबू जी, इसीलिए आया हूँ। भैया कहाँ है ? जरा मुझे दिखा दीजिए। भगवान् बड़ा कारसाज है, मुरदे को भी जिला सकता है। कौन जाने, अब भी उसे दया आ जाय।

चड्ढा ने व्यथित स्वर से कहा–चलो, देख लो; मगर तीन-चार घण्टे हो गये। जो कुछ होना था, हो चुका। बहुतेरे झाड़ने-फूँकने वाले देख-देख कर चले गये।

डॉक्टर साहब को आशा तो क्या होती। हाँ, बूढ़े पर दया आ गयी। अन्दर ले गये। भगत ने लाश को एक मिनट तक देखा। तब मुस्कराकर बोला–अभी कुछ नहीं बिगड़ा है, बाबू जी ! वह नारायण चाहेंगे तो आध घण्टे में भैया उठ बैठेंगे। आप नाहक दिल छोटा कर रहे हैं। जरा कहारों से कहिए, पानी तो भरें।

कहारों ने पानी भर-भर कर कैलाश को नहलाना शुरू किया। पाइप बन्द हो गया था। कहारों की संख्या अधिक न थी, इसलिए मेहमानों ने अहाते के बाहर के कुएँ से पानी भर-भर कर कहारों को दिया, मृणालिनी कैलाश के लिए पानी ला रही थी। बूढ़ा भगत खड़ा मुस्करा-मुस्करा कर मन्त्र पढ़ रहा था, मानो विजय उसके सामने

ब्रड़ी है। जब एक बार मन्त्र समाप्त हो जाता, तब वह एक जड़ी कैलाश को सुँघा देता। इस तरह न जाने कितने घड़े कैलाश के सिर पर डाले गये और न जाने कितनी बार भगत ने मन्त्र फूँका। आख़िर जब उषा ने अपनी लाल-लाल आँखें खोलीं तो कैलाश की भी लाल-लाल आँखें खुल गयीं। एक क्षण में उसने अँगड़ाई ली और पानी पीने को माँगा। डॉक्टर चड्ढा ने दौड़ कर नारायणी को गले लगा लिया। नारायणी दौड़कर भगत के पैरों पर गिर पड़ी और मृणालिनी कैलाश के सामने आँखों में आँसू-भरे पूछने लगी—अब कैसी तबियत है !

एक क्षण में चारों तरफ़ ख़बर फैल गयी। मित्रगण मुबारकबाद देने आने लगे। डॉक्टर साहब बड़े श्रद्धा-भाव से हर एक के सामने भगत का यश गाते फिरते थे। सभी लोग भगत के दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठे ; मगर अन्दर जाकर देखा, तो भगत का कहीं पता न था। नौकरों ने कहा—अभी तो यहीं बैठे चिलम पी रहे थे। हम लोग तमाखू देने लगे, तो नहीं ली, अपने पास से तमाखू निकाल कर भरी।

यहाँ तो भगत की चारों ओर तलाश होने लगी, और भगत लपका हुआ घर चला आ रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले पहुँच जाऊँ !

जब मेहमान लोग चले गये तो डॉक्टर साहब ने नारायणी से कहा—बुड्ढा न जाने कहाँ चला गया। एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ।

नारायणी—मैंने तो सोचा था, इसे कोई बड़ी रकम दूँगी।

चड्ढा—रात को तो मैंने नहीं पहचाना, पर ज़रा साफ़ हो जाने पर पहचान गया। एक बार यह एक मरीज को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा था और मरीज को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिर कर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ, उसका जन्म यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अब से जीवन-पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।

ग़मी

एक

मुझे जब कोई काम–जैसे बच्चो को खिलाना, ताश खेलना, हारमोनियम बजाना, सड़क पर आने-जाने वालों को देखना– नहीं होता तो अख़बार उलट लिया करता हूँ। अख़बार में पहले उन मुक़दमो की रिपोर्ट पढ़ता हूँ, जिसमें किसी स्त्री की चर्चा होती है, जैसे आशनाई के, या भगा ले जाने के, या तलाक के या बलात्कार के। विशेष =कर बलात्कार के मुक़दमे में बड़े शौक़ से पढ़ता हूँ, तन्मय हो जाता हूँ।

कल सयोग से अख़बार मे ऐसा ही एक मुक़दमा मिल गया। मैं सँभल गया। ताबेदार से चिलम भरवायी और घड़ी-दो-घड़ी असीम आनन्द की कल्पना करके अख़बार पढ़ने लगा।

यकायक किसी ने पुकारा, "बाबू जी !"

मुझे यह 'मुदाख़लत बेज़ा' बुरी तो लगी, लेकिन कभी-कभी इसी तरह निमन्त्रण भी आ जाया करते हैं, इसीलिए मैंने कमरे के बाहर आकर आदमी से पूछा, "क्या काम है मुझसे ? कहाँ से आया है ?"

उस आदमी के हाथ में न कोई निमन्त्रण-पत्र था, न निमन्त्रित सज्जनों की नामावली। इससे मेरा क्रोध और दहक उठा। मैंने अंग्रेज़ी में दो-चार गलियाँ दीं और उसके जवाब की अपेक्षा करने लगा।

आदमी ने कहा, "बाबू भगीरथ प्रसाद के घर से आया हूँ। उनके घर में ग़मी हो गयी है।"

मैंने चिन्तित होकर पूछा, "कौन मर गया है ?"

आदमी, "हजूर, यह तो मुझे मालूम नहीं। बस इतना ही कहा है कि ग़मी की सूचना दे आ।"

यह कहकर वह चलता बना और मेरे मन में भ्रान्ति का एक तूफ़ान छोड़ गया–कौन मर गया ? स्त्री तो बीमार न थी, न कोई बच्चा ही बीमार था। फिर मर कौन गया ? अच्छा। समझ गया। स्त्री के बाल-बच्चा होना वाला था। उसी में कुछ गोलमाल हो गया होगा। बेचारी मर गयी होगी। घर उजड़ गया। कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। कौन उन्हें पालेगा ? और तो और, इस जाड़े-पाले में नदी जाना और वह

भी नंगे पैर और रात को नदी में स्नान। उसकी मृत्यु क्या हुई, हमारी मृत्यु हुई। यहाँ तो हवा से जुकाम हुआ करती है, रात को नहाना तो मौत के मुँह में जाना है।

इस सोच में मैं कई मिनट मूढ़ बना खड़ा रहा। फिर घर में जाकर कपड़े उतारे, धोती ली और नंगे पाँव चला। भगीरथप्रसाद के घर पहुँचा तो चिराग़ जल गये थे। द्वार पर कई आदमी मेरी ही तरह धोतियाँ लिये एक तख़्त पर बैठे हुए थे।

मैंने पूछा, "आप लोगों को तो मालूम होगा कौन मर गया है?" एक महाशय बोले, "जी नहीं। नाई ने तो इतना ही कहा था, ग़मी हो गयी है। शायद स्त्री का देहान्त हो गया है। भगीरथलाल को बुलाना चाहिए। देर क्यों कर रहे हैं। मालूम नहीं, कफ़न मँगवा लिया है या नहीं। अभी तो कहीं बाँस-फाँस का भी पता नहीं। सारी रात मरना है।"

मैंने द्वार पर जाकर पुकारा, "कहाँ हो भाई, क्या हम लोग अन्दर आ जायें? चारपाई से तो उतार लिया है न?"

भगीरथप्रसाद एक मिनट में पान और इलायची की तश्तरी लिये, फलालेन का कुरता पहने पान खाते हुए बाहर निकले। बाहर बैठी हुई शोक-मण्डली उन्हें देखकर चकित हो गयी। यह बात क्या है? न लाश, न कफ़न, न रोना, न पीटना, यह कैसी गमी है? आखिर मैंने डरते-डरते कहा, "कौन-यानी किसके विषय में, यही आदमी जो आपने भेजा था? तो क्या देर है?" भगीरथ ने कुर्सी पर बैठकर कहा, "पहले आराम से बैठिए, पान खाइए, तब वह बात भी होगी। मैं आपका मतलब समझ गया। बात सोलहों आने ठीक है?"

"तो फिर जल्दी कीजिए, रात हो ही गयी है–कौन है?"

भगीरथ ने अबकी गम्भीर होकर कहा, "वही जो सबसे प्यारा मेरा मित्र, मेरे जीवन का आधार, मेरा सर्वस्व, बेटे से भी प्यारा, स्त्री से भी निकट, मेरे 'आनन्द' की मृत्यु हो गयी। एक बालक का जन्म हुआ पर मैं इसे आनन्द का विषय नहीं समझता, शोक समझता हूँ। आप लोग जानते हैं, मेरे दो बालक मौजूद हैं। उन्हीं का पालन मैं अच्छी तरह नहीं कर सकता। दूध भी कभी नहीं पिला सकता, फिर इस तीसरे बालक के जन्म पर मैं आनन्द कैसे मनाऊँ? इसने मेरे सुख और शान्ति में बड़ी भारी बाधा डाल दी। मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि इसके लिए दाई रख सकूँ। माँ इसको खिलाये, इनका पालन करे या घर के दूसरे काम करे? फ़र्ज़ यह होगा कि मुझे सब काम छोड़कर इसकी सुश्रूषा करनी पड़ेगी। दस-पाँच मिनट जो मनोरंजन या सैर में जाते थे, अब इसके सत्कार की भेंट होंगे। मैं इसे विपत्ति समझता हूँ, और इसलिए इस जन्म को ग़मी कहता हूँ। आप लोगों को कष्ट हुआ। क्षमा कीजिए। आप लोग गंगा-स्नान के लिए तैयार होकर आये। चलिए मैं भी चलता हूँ। अगर शव का कन्धे पर रखकर चलना ही अभीष्ट हो, तो मेरे ताश और चौसर को लेते चलिए। इन्हें चिता में जला देंगे। वहाँ मैं गंगाजल हाथ में लेकर प्रतिज्ञा करूँगा कि

अब ऐसी महान् मूर्खता फिर न करूँगा।"

हम लोगों ने खूब कहकहे मारे, दावत खायी और घर चले आये, पर भगीरथ प्रसाद का कथन अभी तक मेरे कानों में गूँज रहा है।

(हिन्दी में : 'मतवाला', ३१ अगस्त, १९२६,
उर्दू में : अप्रकाशित)

अलग्योझा

एक

भोला महतो ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की, तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गये। रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष थी। चैन से गाँव में गुल्ली-डण्डा खेलता फिरता था। माँ के आते ही चक्की में जुतना पड़ा। पन्ना रूपवती स्त्री थी और रूप और गर्व में चोली-दामन का नाता है। वह अपने हाथों से कोई काम न करती। गोबर रग्घू निकालता, बैलों का सानी रग्घू देता। रग्घू ही जूठे बरतन माँजता। भोला की आँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रग्घू में सब बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ नजर आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार आँखें बन्द करके मान लेता था। रग्घू की शिकायतों की जरा परवाह न करता। नतीजा यह हुआ कि रग्घू ने शिकायत करना ही छोड़ दिया। किसके सामने रोये ? बाप ही नहीं, सारा गाँव उसका दुश्मन था। बड़ा ज़िद्दी लड़का है, पन्ना को तो कुछ समझता ही नहीं; बेचारी उसका दुलार करती है, खिलाती-पिलाती है। यह उसी का फल है। दूसरी औरत होती, तो निबाह न होता। वह तो कहो, पन्ना इतनी सीधी-सादी है कि निबाह होता जाता है। सबल की शिकायतें सब सुनते हैं, निर्बल की फ़रियाद भी कोई नहीं सुनता। रग्घू का हृदय माँ की ओर से दिन-दिन फटता जाता था। यहाँ तक कि आठ साल गुज़र गये और एक दिन भोला के नाम भी मृत्यु का सन्देश आ पहुँचा।

पन्ना के चार बच्चे थे–तीन बेटे और एक बेटी। इतना बड़ा ख़र्च और कमानेवाला कोई नहीं। रग्घू अब क्यों बात पूछने लगा ? यह मानी हुई बात थी। अपनी स्त्री लायेगा और अलग रहेगा। स्त्री आकर और भी आग लगायेगी। पन्ना को चारों ओर अँधेरा ही दिखाई देता था; पर कुछ भी हो वह रग्घू की आसरैत बनकर घर में नहीं रहेगी। जिस घर में उसने राज किया, उसमें अब लौंडी न बनेगी। जिस लौंडे को अपना गुलाम समझा, उसका मुँह न ताकेगी। वह सुन्दर थी, अवस्था अभी कुछ ऐसी ज़्यादा न थी। जवानी अपनी पूरी बहार पर थी। क्या वह कोई दूसरा घर नहीं कर सकती ? यही न होगा, लोग हँसेंगे ! बला से ! उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं ? ब्राह्मण, ठाकुर, थोड़े ही थी कि नाक कट जायगी। यह तो उन्हीं

ऊँची जातों में होता है कि घर में चाहे जो कुछ करो, बाहर परदा ढका रहे। वह तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती है, फिर वह रग्घू की दबैल बनकर क्यों रहे ?

भोला को मरे एक महीना गुज़र चुका था। सन्ध्या हो गयी थी। पन्ना इसी चिन्ता में पड़ी हुई थी कि सहसा उसे ख़्याल आया, लड़के घर में नहीं हैं। यह बैलों के लौटने की बेला है, कहीं कोई लड़का उनके नीचे न आ जाय। अब द्वार पर कौन है, जो उनकी देखभाल करेगा ? रग्घू को मेरे लड़के फूटी आँखों नहीं भाते। कभी हँसकर नहीं बोलता। घर से बाहर निकली, तो देखा, रग्घू सामने झोंपड़ें में बैठा ऊख की गँडेरियाँ बना रहा है, लड़के उसे घेरे खड़े हैं और छोटी लड़की उसकी गर्दन में हाथ डाले उसकी पीठ पर सवार होने की चेष्टा कर रही है। पन्ना को अपनी आँखों पर विश्वास न आया । आज तो यह नयी बात है। शायद दुनिया को दिखाता है कि मैं अपने भाइयों को कितना चाहता हूँ और मन ही मन में छुरी रखी हुई है। घात मिले तो जान ही ले ले ! काला साँप है काला साँप ! कठोर स्वर में बोली—तुम सबके सब वहाँ क्या करते हो ? घर में आओ, साँझ की बेला है, गोरू आते होंगे।

रग्घू ने विनीत नेत्रों से देखकर कहा—मैं तो हूँ ही काकी, डर किस बात का है ?

बड़ा लड़का केदार बोला—काकी, रग्घू दादा ने हमारे लिए दो गाड़ियाँ बना दी हैं। यह देख, एक पर हम और खुन्नू बैठेंगे, दूसरी पर लछमन और झुनियाँ। दादा दोनों गाड़ियाँ खींचेंगे।

यह कहकर वह एक कोने से दो छोटी-छोटी गाड़ियाँ निकाल लाया। चार-चार पहिये लगे थे। बैठने के लिए तख़्ते और रोक के लिए दोनों तरफ़ बाजू थे।

पन्ना ने आश्चर्य से पूछा—ये गाड़ियाँ किसने बनाई ?

केदार ने चिढ़कर कहा—रग्घू दादा ने बनायी हैं, और किसने। भगत के घर से बसुला और रुख़नी माँग लाये और चटपट बना दीं। खूब दौड़ती हैं काकी ! बैठ खुन्नू, मैं खींचूँ।

खुन्नू गाड़ी में बैठ गया। केदार खींचने लगा। चर-चर का शोर हुआ, मानो गाड़ी भी इस खेल में लड़कों के साथ शरीक़ है।

रग्घू ने झुनियाँ को भी गाड़ी में बिठा दिया और गाड़ी खींचता हुआ दौड़ा। तीनों लड़के तालियाँ बजाने लगे। पन्ना चकित नेत्रों से यह दृश्य देख रही थी और सोच रही थी कि यह वही रग्घू है या कोई और। !

थोड़ी देर के बाद दोनों गाड़ियाँ लौटीं; लड़के घर में जाकर इस यान-यात्रा के अनुभव बयान करने लगे। कितने खुश थे सब, मानो हवाई जहाज़ पर बैठ आये हों।

खुन्नू ने कहा—काकी, सब पेड़ दौड़ रहे थे।

लछमन—और बछियाँ कैसी भागीं, सबकी सब दौड़ी !

केदार—काकी, रग्घू दादा दोनों गाड़ियाँ एक साथ खींच ले जाते हैं।

झुनियाँ सबसे छोटी थी। उसकी व्यंजना-शक्ति उछल-कूद और नेत्रों तक परिमित थी—तालियाँ बजा-बजाकर नाच रही थी।

खुन्नू—अब हमारे घर गाय भी आ जायेगी काकी ! रग्घू दादा ने गिरधारी से कहा है कि हमें एक गाय ला दो। गिरधारी बोला, कल लाऊँगा।

केदार—तीन सेर दूध देती है काकी ! खूब दूध पीयेंगे।

इतने में रग्घू भी अन्दर आ गया। पन्ना ने अवहेलना की दृष्टि से देखकर पूछा—क्यों रग्घू, तुमने गिरधारी से कोई गाय माँगी है ?

रग्घू ने क्षमा-प्रार्थना के भाव से कहा—हाँ, माँगी तो है, कल लायेगा।

पन्ना—रुपये किसके घर से आयेंगे, यह भी सोचा है ?

रग्घू—सब सोच लिया है काकी ! मेरी यह मुहर नहीं है। इसके पच्चीस रुपये मिल रहे हैं, पाँच रुपये बछिया के मुजरा दे दूँगा ! बस, गाय अपनी हो जायेगी।

पन्ना सन्नाटे में आ गयी। अब उसका अविश्वासी मन भी रग्घू के प्रेम और सज्जनता को अस्वीकार न कर सका। बोली—"मुहर को क्यों बेचे देते हो ? गाय की अभी कौन जल्दी है ? हाथ में पैसे हो जायँ, तो ले लेना। सूना-सूना गला अच्छा न लगेगा। इतने दिनों गाय नहीं रही, तो क्या लड़के नहीं जिये ?"

रग्घू दार्शनिक भाव से बोला—बच्चों के खाने-पीने के यही दिन हैं काकी ! इस उम्र में न खाया, तो फिर क्या खायेंगे। मुहर पहनना मुझे अच्छा भी नहीं मालूम होता ! लोग समझते होंगे कि बाप तो गया। इसे मुहर पहनने की सूझी है।

भोला महतो गाय की चिन्ता ही में चल बसे। न रुपये आए और न गाय मिली। मजबूर थे। रग्घू ने यह समस्या कितनी सुगमता से हल कर दी। आज जीवन में पहली बार पन्ना को रग्घू पर विश्वास आया, बोली—जब गहना ही बेचना है, तो अपनी मुहर क्यों बेचोगे ? मेरी हँसुली ले लेना।

रग्घू—नहीं काकी ! वह तुम्हारे गले में बहुत अच्छी लगती है। मर्दों को क्या, मुहर पहनें या न पहनें।

पन्ना—चल, मैं बूढ़ी हुई। अब हँसुली पहनकर क्या करना है ? तू अभी लड़का है, तेरा गला अच्छा न लगेगा ?

रग्घू मुस्कराकर बोला—तुम अभी से कैसे बूढ़ी हो गयी ? गाँव में है कौन तुम्हारे बराबर ?

रग्घू की सरल आलोचना ने पन्ना को लज्जित कर दिया। उसके रूखे-मुरझाये मुख पर प्रसन्नता की लाली दौड़ गयी।

दो

पाँच साल गुज़र गये। रग्घू का-सा मेहनती, ईमानदार, बात का धनी दूसरा किसान गाँव में न था। पन्ना की इच्छा के बिना कोई काम न करता। उसकी उम्र अब 23 साल की हो गयी थी। पन्ना बार-बार कहती, भइया, बहू को विदा करा लाओ। कब तक नैहर में पड़ी रहेगी ? सब लोग मुझी को बदनाम करते हैं कि यही बहू को नहीं आने देती; मगर रग्घू टाल देता था। कहता कि अभी जल्दी क्या है ? उसे अपनी स्त्री के रंग-ढंग का कुछ परिचय दूसरों से मिल चुका था। ऐसी औरत को घर में लाकर वह अपनी शान्ति में बाधा नहीं डालना चाहता था।

आख़िर एक दिन पन्ना ने ज़िद करके कहा–"तो तुम न लाओगे ?"

"कह दिया कि अभी कोई जल्दी नहीं।"

"तुम्हारे लिए जल्दी न होगी, मेरे लिए तो जल्दी है। मैं आज आदमी भेजती हूँ।"'

"पछताओगी काकी, उसका मिजाज़ अच्छा नहीं है।"

"तुम्हारी बला से। जब मैं उससे बोलूँगी ही नहीं, तो क्या हवा से लड़ेगी ? रोटियाँ तो बना लेगी। मुझसे भीतर-बाहर का सारा काम नहीं होता, मैं आज बुलाये लेती हूँ।"

"बुलाना चाहती हो, बुला लो ; मगर फिर यह न कहना कि यह मेहरिया को ठीक नहीं करता, उसका गुलाम हो गया।"

"न कहूँगी, जाकर दो साड़ियाँ ओर मिठाई ले आ।"

तीसरे दिन मुलिया मैके से आ गयी। दरवाज़े पर नगाड़े बजे, शहनाइयों की मधुर ध्वनि आकाश में गूँजने लगी। मुँह-दिखावे की रस्म अदा हुई। वह इस मरुभूमि में निर्मल जलधारा थी। गेहुँआ रंग था, बड़ी-बड़ी नुकीली पलकें, कपोलों पर हल्की सुर्खी, आँखों में प्रबल आकर्षण। रग्घू उसे देखते ही मन्त्रमुग्ध हो गया।

प्रातःकाल पानी का घड़ा लेकर चलती, तब उसका गेहुआँ रंग प्रभात की सुनहरी किरणों से कुन्दन हो जाता, मानो उषा अपनी सारी सुगन्ध, सारा विकास और उन्माद लिये मुस्कराती चली जाती हो।

तीन

मुलिया मैके से ही जली-भुनी आयी थी। मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे, और पन्ना रानी बनी बैठी रहे, उसके लड़के रईसजादे बने घूमें। मुलिया से यह बरदाश्त न होगा। वह किसी की गुलामी न करेगी। अपने लड़के तो अपने होते ही नहीं, भाई किसके होते हैं ? जब तक पर नहीं निकलते हैं, रग्घू को घेरे हुए हैं। ज्यों ही जरा सयाने हुए, पर झाड़कर निकल जायेंगे, बात भी न पूछेंगे।

एक दिन उसने रग्घू से कहा–तुम्हें इस तरह गुलामी करनी हो, तो करो, मुझसे न होगी।

रग्घू–तो फिर क्या करूँ, तू ही बता ? लड़के तो अभी घर का काम करने लायक भी नहीं हैं।

मुलिया–लड़के रावत के हैं, कुछ तुम्हारे नहीं हैं। यही पन्ना है, जो तुम्हें दाने-दाने को तरसाती थी। सब सुन चुकी हूँ। मैं लौंडी बनकर न रहूँगी। रुपये-पैसे का मुझे कुछ हिसाब नहीं मिलता। न जाने तुम क्या लाते हो और वह क्या करती है। तुम समझते हो, रुपये घर ही में तो हैं; मगर देख लेना, तुम्हें जो एक फूटी कौड़ी भी मिले।

रग्घू–रुपये-पैसे तेरे हाथ में देने लगूँ तो दुनिया क्या कहेगी, यह तो सोच।

मुलिया–दुनिया जो चाहे, कहे। दुनिया के हाथों बिकी नहीं हूँ। देख लेना, भाँड़ लीपकर हाथ काला ही रहेगा। फिर तुम अपने भाइयों के लिए मरो, मैं क्यों मरूँ ?

रग्घू ने कुछ जवाब न दिया। उसे जिस बात का भय था, वह इतनी जल्द सिर आ पड़ी। अब अगर उसने बहुत तत्थो-थम्भो किया, तो साल-छः महीने और काम चलेगा। बस, आगे यह डोंगा चलता नज़र नहीं आता। बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी ?

एक दिन पन्ना ने महुए का सुखावन डाला। बरसात शुरू हो गयी थी। बखार में अनाज गीला हो रहा था। मुलिया से बोली–"बहू, ज़रा देखती रहना, मैं तालाब से नहा आऊँ।"

मुलिया ने लापरवाही से कहा–"मुझे नींद आ रही है, तुम बैठकर देखो। एक दिन न नहाओगी तो क्या होगा ?"

पन्ना ने साड़ी उठाकर रख दी, नहाने न गयी। मुलिया का वार ख़ाली गया।

कई दिन के बाद एक शाम को पन्ना धान रोपकर लौटी, अँधेरा हो गया था। दिन-भर की भूखी थी। आशा थी, बहू ने रोटी बना रखी होगी; मगर देखा तो यहाँ चूल्हा ठण्डा पड़ा हुआ था, और बच्चे मारे भूख के तड़प रहे थे। मुलिया से आहिस्ता से पूछा–"आज अभी चूल्हा नहीं जला ?"

केदार ने कहा–"आज दोपहर को भी चूल्हा नहीं जला काकी ! भाभी ने कुछ बनाया ही नहीं।"

पन्ना–तो तुम लोगों ने खाया क्या ?

केदार–कुछ नहीं; रात की रोटियाँ थीं, खुन्नू और लछमन ने खायी। मैंने सत्तू खा लिया।

पन्ना–और बहू ?

केदार–वह पड़ी सो रही है, कुछ नहीं खाया।

पन्ना ने उसी वक़्त चूल्हा जलाया और खाना बनाने बैठ गयी। आटा गूँथती थी और रोती थी। क्या नसीब है ? दिन-भर खेत में जली, घर आयी तो चूल्हे के

सामने जलना पड़ा।

केदार का चौदहवाँ साल था। भाभो के रंग-ढंग देखकर सारी स्थिति समझ रहा था। बोला—काकी, भाभी अब तुम्हारे साथ रहना नहीं चाहती।

पन्ना ने चौंककर पूछा—क्या कुछ कहती थी ?

केदार—कहती कुछ नहीं थी; मगर है उसके मन में यही बात। फिर तुम क्यों नहीं उसे छोड़ देतीं ? जैसे चाहे रहे, हमारा भी भगवान् है ?

पन्ना ने दाँतों से जीभ दबाकर कहा—चुप, मेरे सामने ऐसी बात भूल कर भी न कहना। रग्घू तुम्हारा भाई नहीं, तुम्हारा बाप है। मुलिया से कभी बोलोगे तो समझ लेना, जहर खा लूँगी।

चार

दशहरे का त्यौहार आया। इस गाँव से कोस-भर पर एक पुरवे में मेला लगता था। गाँव के सब लड़के मेला देखने चले। पन्ना भी लड़कों के साथ चलने को तैयार हुई; मगर पैसे कहाँ से आयें ? कुँजी तो मुलिया के पास थी।

रग्घू ने आकर मुलिया से कहा—लड़के मेले जा रहे हैं, सबों को दो-दो पैसे दे दो।

मुलिया ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—पैसे घर में नहीं हैं।

रग्घू—अभी तो तेलहन बिका था, क्या इतनी जल्दी रुपये उठ गये ?

मुनिया—हाँ, उठ गये।

रग्घू—कहाँ उठ गये ? जरा सुनूँ, आज त्योहार के दिन लड़के मेला देखने न जायेंगे ?

मुलिया—अपनी काकी से कहो, पैसे निकालें, गाड़कर क्या करेंगी ?

खूँटी पर कुंजी लटक रही थी। रग्घू ने कुंजी उतारी और चाहा कि सन्दूक खोले कि मुलिया ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोली—कुंजी मुझे दे दो, नही तो ठीक न होगा। खाने-पहनने को भी चाहिए, कागज़-किताब को भी चाहिए, उस पर मेला देखने को भी चाहिए। हमारी कमाई इसलिए नहीं है कि दूसरे खायें और मूँछों पर ताव दें।

पन्ना ने रग्घू से कहा—भइया, पैसे क्या होंगे ! लड़के मेला देखने न जायेंगे।

रग्घू ने झिड़ककर कहा—मेला देखने क्यों न जायेंगे ? सारा गाँव जा रहा है। हमारे ही लड़के न जायेंगे ?

यह कहकर रग्घू ने अपना हाथ छुड़ा लिया और पैसे निकालकर लड़कों को दे दिये; मगर कुंजी जब मुलिया को देने लगा, तब उसने उसे आँगन में फेंक दिया और मुँह लपेटकर लेट गयी ! लड़के मेला देखने न गये।

इसके बाद दो दिन गुजर गये। मुलिया ने कुछ नहीं खाया और पन्ना भी भूखी रही। रग्घू कभी इसे मनाता, कभी उसे; पर न यह उठती, न वह। आखिर रग्घू ने

हैरान होकर मुलिया से पूछा—कुछ मुँह से तो कह, चाहती क्या है ?

मुलिया ने धरती को सम्बोधित करके कहा—मैं कुछ नहीं चाहती, मुझे मेरे घर पहुँचा दो।

रग्घू—अच्छा उठ, बना-खा। पहुँचा दूँगा।

मुलिया ने रग्घू की ओर आँखें उठायी। रग्घू उसकी सूरत देखकर डर गया। वह माधुर्य, वह मोहकता, वह लावण्य गायब हो गया था। दाँत निकल आये थे, आँखें फट गयी थीं और नथुने फड़क रहे थे। अंगारे की-सी लाल आँखों से देखकर बोली—"अच्छा तो काकी ने यह सलाह दी है, यह मन्त्र पढ़ाया है ? तो यहाँ ऐसी कच्ची नहीं हूँ। तुम दोनों की छाती पर मूँग दलूँगी। हो किस फेर में ?

रग्घू—अच्छा, तो मूँग ही दल लेना। कुछ खा-पी लेगी, तभी तो मूँग दल सकेगी।

मुलिया—अब तो तभी मुँह में पानी डालूँगी, जब घर अलग हो जायेगा। बहुत झेल चुकी, अब नहीं, झेला जाता।

रग्घू सन्नाटे में आ गया। एक दिन तक उसके मुँह से आवाज़ ही न निकली। अलग होने की उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। उसने गाँव में दो-चार परिवारों को अलग होते देखा था। वह खूब जानता था, रोटी के साथ लोगों के हृदय भी अलग हो जाते हैं। अपने हमेशा के लिए ग़ैर हो जाते हैं। फिर उनमें वही नाता रह जाता है, जो गाँव के आदमियों में। रग्घू ने मन में ठान लिया था कि इस विपत्ति को घर में न आने दूँगा; मगर होनहार के सामने उसकी एक न चली। आह ! मेरे मुँह में कालिख लगेगी, दुनिया यही कहेगी कि बाप के मर जाने पर दस साल भी एक में निबाह न हो सका। फिर किससे अलग हो जाऊँ ? जिनको गोद में खिलाया, जिनको बच्चों की तरह पाला, जिनके लिए तरह-तरह के कष्ट झेले, उन्हीं से अलग हो जाऊँ ? अपने प्यारों को घर से निकाल बाहर करूँ ? उसका गला फँस गया। काँपते हुए स्वर में बोला—तू क्या चाहती है कि मैं अपने भाइयों से अलग हो जाऊँ ? भला सोच तो, कहीं मुँह दिखाने लायक़ रहूँगा ?

मुलिया—तो मेरा इन लोगों के साथ निबाह न होगा।

रग्घू—तो तू अलग हो जा। मुझे अपने साथ क्यों घसीटती है ?

मुलिया—तो मुझे क्या तुम्हारे घर में मिठाई मिलती है ? मेरे लिए क्या संसार में जगह नहीं है ?

रग्घू—तेरी जैसी मर्जी, जहाँ चाहे रह। मैं अपने घर वालों से अलग नहीं हो सकता। जिस दिन इस घर में दो चूल्हे जलेंगे, उस दिन मेरे कलेजे के दो टुकड़े हो जायेंगे। मैं यह चोट नहीं सह सकता। तुझे जो तकलीफ हो, वह मैं दूर कर सकता हूँ। माल-असबाब की मालकिन तू है ही; अनाज-पानी तेरे ही हाथ है, अब रह क्या गया है ? अगर कुछ काम-धन्धा करना नहीं चाहती, मत कर। भगवान् ने मुझे समाई दी होती, तो मैं तुझे तिनका तक उठाने न देता। तेरे यह सुकुमार हाथ-पाँव मेहनत-मजूरी करने के लिए बनाये ही नहीं गये हैं; मगर क्या करूँ, अपना कुछ बस

ही नहीं है। फिर भी तेरा जी कोई काम करने को न चाहे, मत कर; मगर मुझसे अलग होने को न कह, तेरे पैरों पड़ता हूँ।

मुलिया ने सिर से अंचल खिसकाया और ज़रा समीप आकर बोली—मैं काम करने से नहीं डरती, न बैठे-बैठे खाना चाहती हूँ; मगर मुझसे किसी की धौंस नहीं सही जाती। तुम्हारी ही काकी घर का काम-काज करती है, तो अपने लिए करती है, अपने बाल-बच्चों के लिए करती है। मुझ पर कुछ अहसान नहीं करती, फिर मुझ पर धौंस क्यों जमाती है ? उन्हें अपने बच्चे प्यारे होंगे, मुझे तो तुम्हारा आसरा है। मैं अपनी आँखों से यह नहीं देख सकती कि सारा घर तो चैन करे, ज़रा-ज़रा-से बच्चे तो दूध, पीयें, और जिसके बल-बूते पर गृहस्थी बनी हुई है, वह मट्ठे को तरसे। कोई उसका पूछनेवाला न हो। ज़रा अपना मुँह तो देखो, कैसी सूरत निकल आयी है। औरों के तो चार बरस में अपने पट्ठे तैयार हो जायेंगे। तुम तो दस साल में खाट पर पड़ जाओगे। बैठ जाओ, खड़े क्यों हो ? क्या मारकर भागोगे ? मैं तुम्हें जबरदस्ती न बाँध लूँगी, या मालकिन का हुक्म नहीं है ? सच कहूँ तुम बड़े कठ-कलेजी हो। मैं जानती, ऐसे निमोहिये से पाला पड़ेगा, तो इस घर में भूल से न आती। आती भी तो मन न लगाती, मगर अब तो मन तुमसे लग गया। घर भी जाऊँ, तो मन यहाँ ही रहेगा और तुम जो हो, मेरी बात नहीं पूछते।

मुलिया की ये रसीली बाते रग्घू पर कोई असर न डाल सकीं। वह उसी रुखाई से बोला—मुलिया, मुझसे यह न होगा। अलग होने का ध्यान करते ही मेरा मन जाने कैसा हो जाता है। यह चोट मुझसे न सही जायेगी।

मुलिया ने परिहास करके कहा—तो चूड़ियाँ पहनकर अन्दर बैठो न ! लाओ मैं मूँछें लगा लूँ। मैं तो समझती थी कि तुममें भी कुछ कल-बल है। अब देखती हूँ, तो निरे मिट्टी के लोंदे हो।

पन्ना दालान में खड़ी दोनो की बातचीत सुन रही थी। अब उससे रहा न गया। सामने आकर रग्घू से बोली—जब वह अलग होने पर तुली हुई है, फिर तुम क्यां उसे जबरदस्ती मिलाये रखना चाहते हो ? तुम उसे लेकर रहो, हमारे भगवान् मालिक हैं। जब महतो मर गये थे और कही पत्तो की भी छाँह न थी, जब उस वक़्त भगवान् ने निबाह दिया, तो अब क्या डर ? अब तो भगवान् की दया से तीनों लड़के सयाने हो गये हैं। अब कोई चिन्ता नहीं।

रग्घू ने आँसू-भरी आँखों से पन्ना को देखकर कहा—काकी, तू भी पागल हो गयी है क्या ? जानती नहीं, दो रोटियाँ होते ही दो मन हो जाते हैं।

पन्ना—जब वह मानती ही नहीं, तब तुम क्या करोगे ? भगवान् की मरजी होगी, तो कोई क्या करेगा ? परालब्ध में जितने दिन एक साथ रहना लिखा था, उतने दिन रहे। अब उसकी यही मरजी है, तो यही सही। तुमने मेरे बाल-बच्चों के लिए जो कुछ किया, वह भूल नहीं सकती। तुमने इनके सिर हाथ न रखा होता, तो आज इनकी न जाने क्या गति होती; न जाने किसके द्वार पर ठोकरें खाते होते, न

जाने कहाँ-कहाँ भीख माँगते फिरते। तुम्हारा जस मरते दम तक गाऊँगी। अगर मेरी खाल तुम्हारे जूते बनाने के काम आये, तो ख़ुशी से दे दूँ। चाहे तुमसे अलग हो जाऊँ, पर जिस घड़ी पुकारोगे, कुत्ते की तरह दौड़ी आऊँगी। यह भूलक़र भी न सोचना कि तुमसे अलग होकर मैं तुम्हारा बुरा चेतूँगी। जिस दिन तुम्हारा अनभल मेरे मन में आयेगा, उसी दिन विष खाकर मर जाऊँगी। भगवान् करे, तुम दूधों नहाओ, पूतों फलो! मरते दम तक यही असीस मेरे रोएँ-रोएँ से निकलती रहेगी और अगर लड़के भी अपने बाप के हैं, तो मरते दम तक तुम्हारा पोस मानेंगे।

यह कहकर पन्ना रोती हुई वहाँ से चली गयी। रग्घू वहीं मूर्ति की तरह बैठा रहा। आसमान की ओर टकटकी लगी थी और आँखो से आँसू बह रहे थे।

पांच

पन्ना की बातें सुनकर मुलिया समझ गयी कि अपने पौबारह हैं। चटपट उठी, घर में झाड़ू लगायी, चूल्हा जलाया और कुएँ से पानी लाने चली। उसकी टेक पूरी हो गयी थी।

गाँव में स्त्रियों के दो दल होते हैं। एक बहुओं का, दूसरा सासों का! बहुएँ सलाह और सहानुभूति के लिए अपने दल मे जाती हैं, सासें अपने में। दोनों की पंचायतें अलग होती हैं। मुलिया को कुएँ पर दो-तीन बहुएँ मिल गई। एक ने पूछा–"आज तो तुम्हारी बुढ़िया बहुत रो-धो रही थी।"

मुलिया ने विजय के गर्व से कहा–"इतने दिनों से घर की मालकिन बनी हुई है, राज-पाट छोड़ते किसे अच्छा लगता है? बहन, मैं उनका बुरा नहीं चाहती; लेकिन एक आदमी की कमाई में कहाँ तक बरकत होगी। मेरे भी तो यही खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने के दिन हैं। अभी उनके पीछे मरो, फिर बाल बच्चे हो जाएँ, उनके पीछे मरो, सारी ज़िन्दगी रोते ही कट जाय।"

एक बहू–बुढ़िया यही चाहती हैं कि यह सब जन्म-भर लौण्डी बनी रहें। मोटा-झोटा खायें और पड़ी रहें।

दूसरी बहू–किस भरोसे पर कोई मरे? अपने लड़के तो बात नहीं पूछें पराये लड़कों का क्या भरोसा? कल इनके हाथ-पैर हो जायेंगे, फिर कौन पूछता है! अपनी-अपनी मेहरियों का मुँह देखेंगे। पहले ही से फटकार देना अच्छा है, फिर तो कोई कलंक न होगा।

मुलिया पानी लेकर गयी, खाना बनाया और रग्घू से बोली–जाओ, नहा आओ, रोटी तैयार है।

रग्घू ने मानो सुना ही नहीं। सिर पर हाथ रखकर द्वार की तरफ़ ताकता रहा।

मुलिया–क्या कहती हूँ, कुछ सुनाई देता है? रोटी तैयार हैं, जाओ नहा आओ।

रग्घू–सुन तो रहा हूँ, क्या बहरा हूँ? रोटी तैयार हैं तो जाकर खा ले । मुझे भूख नहीं है।

मुलिया ने फिर नही कहा। जाकर चूल्हा बुझा दिया, रोटियाँ उठा कर छीके पर रख दीं और मुँह ढाँककर लेट रही।

ज़रा देर मे पन्ना आकर बोली–खाना तो तैयार है, नहा-धोकर खा लो ! बहू भी भूखी होगी।

रग्घू ने झुँझलाकर कहा–काकी, तू घर मे रहने देगी कि मुँह में कालिख लगाकर कही निकल जाऊँ ? खाना तो खाना ही है, आज न खाऊँगा, कल खाऊँगा, लेकिन अभी मुझसे न खाया जायेगा। केदार क्या अभी मदरसे से नहीं आया ?

पन्ना–अभी तो नही आया, आता ही होगा।

पन्ना समझ गयी कि जब तक वह खाना बनाकर लडकों को न खिलायेगी और खुद न खायेगी रग्घू न खायेगा। इतना ही नहीं उसे रग्घू से लडाई करनी पडेगी, उसे जली-कटी सुनानी पडेगी। उसे यह दिखाना पड़ेगा कि मैं ही उससे अलग होना चाहती हूँ, नही तो वह इसी चिन्ता मे घुल-घुलकर प्राण दे देगा। यह सोचकर उसने अलग चूल्हा जलाया और खाना बनाने लगी। इतने में केदार और खुन्नू मदरसे से आ गये। पन्ना ने कहा–आओ बेटा, खा लो, रोटी तैयार है।

केदार ने पूछा–भइया को भी बुला लूँ न ?

पन्ना–तुम आकर खा लो उनकी रोटी बहू ने अलग बनायी है।

खुन्नू–जाकर भइया से पूछ न आऊँ ?

पन्ना–जब उनका जी चाहेगा, खायेंगे। तू बैठकर खा; तुझे इन बातो से क्या मतलब ? जिसका जी चाहेगा खायेगा, जिसका जी न चाहेगा न खायेगा। जब वह और उसकी बीबी अलग रहने पर तुले हैं, तो कौन मनाये ?

केदार–तो क्यो अम्माजी, क्या हम अलग घर मे रहेगे ?

पन्ना–उनका जी चाहे, एक घर मे रहे, जी चाहे आँगन मे दीवार डाल ले।

खुन्नू ने दरवाज़े पर आकर झाँका, सामने फूँस की झोंपडी थी, वहीं खाट पर पडा रग्घू नारियल पी रहा था।

खुन्नू–भइया तो अभी नारियल लिये बैठे हैं।

पन्ना–जब जी चाहेगा, खायेगे।

केदार–भइया ने भाभी को डाँटा नही ?

मुलिया अपनी कोठरी में पडी सुन रही थी। बाहर आकर बोली–"भइया ने तो नहीं डाँटा, अब तुम आकर डाँटो।"

केदार के चेहरे का रग उड गया। फिर जबान न खोली। तीनों लडकों ने खाना खाया और बाहर निकले। लू चलने लगी थी। आम के बाग़ मे गाँव के लड़के-लड़कियाँ हवा से गिरे हुए आम चुन रहे थे। केदार ने कहा–"आज हम भी आम चुनने चलें, खूब आम गिर रहे हैं।

खुन्नू–दादा जो बैठे हैं ?

लछमन–मैं न जाऊँगा, दादा घुड़केंगे।

केदार–वह तो अब अलग हो गये।

लछमन–तो अब हमको कोई मारेगा, तब भी दादा न बोलेंगे ?

केदार–वाह, तब क्यों न बोलेंगे।

रग्घू ने तीनों लड़कों को दरवाज़े पर खड़े देखा; पर कुछ बोला नहीं। पहले तो वह घर के बाहर निकलते ही उन्हें डाँट बैठता था; पर आज वह मूर्ति के समान निश्चल बैठा रहा। अब लड़कों को कुछ साहस हुआ। कुछ दूर और आगे बढ़े। रग्घू अब भी न बोला, कैसे बोले ? वह सोच रहा था, काकी ने लड़कों को खिला-पिला दिया, मुझसे पूछा तक नहीं। क्या उसकी आँखों पर भी परदा पड़ गया है ; अगर मैंने लड़कों को पुकारा और वह न आये तो ? मैं उनको मार-पीट तो न सकूँगा। लू में सब मारे-मारे फिरेंगे। कहीं बीमार न पड़ जायें। उसका दिल मसोसकर रह जाता था ; लेकिन मुँह से कुछ कह न सकता था। लड़कों ने देखा कि यह बिलकुल नहीं बोलते, तो निर्भय होकर चल पड़े।

सहसा मुलिया ने आकर कहा–अब तो उठोगे कि अब भी नहीं ? जिनके नाम पर फाका कर रहे हो, उन्होंने मजे से लड़कों को खिलाया और खाया, अब आराम से सो रही हैं। 'मोर पिया बात न पूछें, मोर सुहागिन नाँव।' एक बार भी तो मुँह से न फूटा कि चलो भइया, खा लो।

रग्घू को इस समय मर्मान्तक पीड़ा हो रही थी। मुलिया के इन कठोर शब्दों ने घाव पर नमक छिड़क दिया। दुःखित नेत्रों से देखकर बोला–तेरी जो मर्जी थी वही तो हुआ। अब जा, ढोल बजा !

मुलिया–नहीं तुम्हारे लिए थाली परोसे बैठी हैं।

रग्घू–मुझे चिढ़ा मत। तेरे पीछे मैं भी बदनाम हो रहा हूँ। जब तू किसी की होकर नहीं रहना चाहती, तो दूसरे को क्या गरज है, जो मेरी खुशामद करे ? जाकर काकी से पूछ, लड़के आम चुनने गये हैं उन्हें पकड़ लाऊँ ?

मुलिया अँगूठा दिखाकर बोली–यह जाता है। तुम्हें सौ बार गरज हो , जाकर पूछो।

इतने में पन्ना भी भीतर से निकल आयी। रग्घू ने पूछा–"लड़के बगीचे में चले गये काकी, लू चल रही है।"

पन्ना–अब उनका कौन पुछत्तर है ? बगीचे में जायँ, पेड़ पर चढ़ें, पानी में डूबें। मैं अकेली क्या-क्या करूँ ?

रग्घू–जाकर पकड़ लाऊँ ?

पन्ना–जब तुम्हें अपने मन से नहीं जाना है, तो फिर मै जाने को क्यों कहूँ ? तुम्हें रोकना होता, तो रोक न देते ? तुम्हारे सामने ही तो गये होंगे ?

पन्ना की बात पूरी भी न हुई थी कि रग्घू ने नारियल कोने में रख दिया और बाग़ की तरफ़ चला।

छः

रग्घू लड़कों को लेकर बाग़ से लौटा, तो देखा मुलिया अभी तक झोंपड़े में खड़ी है। बोला–"तू जाकर खा क्यों नहीं लेती ? मुझे तो इस बेला भूख नहीं है।"

मुलिया ऐंठकर बोली–"हाँ, भूख क्यों लगेगी ! भाइयों ने खाया, वह तुम्हारे पेट में पहुँच ही गया होगा।"

रग्घू ने दाँत पीसकर कहा–"मुझे जला मत मुलिया, नहीं तो अच्छा न होगा। खाना कहीं भागा नहीं जाता। एक बेला न खाऊँगा, तो मर न जाऊँगा ! क्या तू समझती है, घर में आज कोई बात हो गई है ? तूने घर में चूल्हा नहीं जलाया, मेरे कलेजे में आग लगायी है। मुझे घमण्ड था कि और चाहे कुछ हो जाये, पर मेरे घर में फूट का रोग न आने पायेगा, पर तूने मेरा घमण्ड चूर कर दिया। परालब्ध की बात है।"

मुलिया तिनककर बोली–"सारा मोह-छोह तुम्हीं को है कि और किसी को है ? मैं तो किसी को तुम्हारी तरह बिसूरते नहीं देखती।"

रग्घू ने ठण्डी साँस खींचकर कहा–"मुलिया, घाव पर नोन न छिड़क। तेरे ही कारन मेरी पीठ में धूल लग रही है। मुझे इस गृहस्थी का मोह न होगा, तो किसे होगा ? मैंने ही तो इसे मर-मर जोड़ा। जिनको गोद में खिलाया, वही अब मेरे पट्टीदार होंगे। जिन बच्चों को मैं डाँटता था, उन्हें आज कड़ी आँखें से भी नहीं देख सकता। मैं उनके भले के लिए भी कोई बात करूँ तो दुनिया यही कहेगी कि यह अपने भाइयों का लूटे लेता है। जा मुझे छोड़ दे, अभी मुझसे कुछ न खाया जायेगा।"

मुलिया–मैं क़सम रखा दूँगी, नहीं चुपके से चले चलो।

रग्घू–देख, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अपना हठ छोड़ दे।

मुलिया–हमारा ही लहू पिये, जो खाने न उठे।

रग्घू ने कानों पर हाथ रखकर कहा–"यह तूने क्या किया मुलिया ? मैं तो उठ ही रहा था। चल खा लूँ। नहाने-धोने कौन जाये, लेकिन इतनी कहे देता हूँ कि चाहे चार की जगह छः रोटियाँ खा जाऊँ, चाहे तू मुझे घी के मटके ही में डुबा दे; पर यह दाग़ मेरे दिल से न मिटेगा।"

मुलिया–दाग-साग सब मिट जायगा। पहले सबको ऐसा ही लगता है। देखते नहीं हो, उधर कैसी चैन की बंसी बज रही है। वह तो मना ही रही थीं कि किसी तरह यह सब अलग हो जाये। अब वह पहले की-सी चाँदी तो नहीं है कि जो कुछ घर में आवे, सब गायब ! अब क्यों हमारे साथ रहने लगी ?

रग्घू ने आहत स्वर में कहा–इसी बात का तो मुझे ग़म है। काकी से मुझे ऐसी आशा न थी।

रग्घू खाने बैठा, तो कौर विष के घूँट-सा लगता था। जान पड़ता था, रोटियाँ भूसी की हैं। दाल पानी-सी लगती। पानी कण्ठ के नीचे न उतरता था, दूध की तरफ़ देखा तक नहीं। दो-चार ग्रास खाकर उठ आया, जैसे किसी प्रियजन के श्राद्ध का

भोजन हो।

रात का भोजन भी उसने इसी तरह किया। भोजन क्या किया, कसम पूरी की। रात-भर उसका चित्त उद्विग्न रहा। एक अज्ञात शंका उसके मन पर छायी हुई थी, जैसे भोला महतो द्वार पर बैठा रो रहा हो। वह कई बार चौंककर उठा। ऐसा जान पड़ा, भोला, उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देख रहा है।

वह दोनों जून भोजन करता था; पर जैसे शत्रु के घर। भोला की शोकमग्न मूर्ति आँखों से न उतरती थी। रात को उसे नींद न आती। वह गाँव में निकलता, तो इस तरह मुँह चुराये, सिर झुकाये मानों गो-हत्या की हो।

सात

पाँच साल गुजर गये। रग्घू अब दो लड़कों का बाप था। आँगन में दीवार खिंच गयी थी, खेतों में मेंड़ें डाल दी गयी थीं और बैल-बछिये बाँध लिये गये थे। केदार की उम्र अब सोलह की हो गयी थी। उसने पढ़ना छोड़ दिया था और खेती का काम करता था। खुन्नू गाय चराता था। केवल लछमन अब तक मदरसे जाता था। पन्ना और मुलिया दोनों एक-दूसरे की सूरत से जलती थीं। मुलिया के दोनों लड़के बहुधा पन्ना ही के पास रहते। वही उन्हें उबटन मलती, वही काजल लगाती, वही गोद में लिये फिरती; मगर मुलिया के मुँह से अनुग्रह का एक शब्द भी न निकलता। न पन्ना ही इसकी इच्छुक थी। वह जो कुछ करती, निर्व्याज भाव से करती थी। उसके दो-दो लड़के अब कमाऊ हो गये थे। लड़की खाना पका लेती थी। वह खुद ऊपर का काम-काज कर लेती। इसके विरुद्ध रग्घू अपने घर का अकेला था, वह भी दुर्बल, अशक्त और जवानी में बूढ़ा। अभी आयु तीस वर्ष से अधिक न थी, लेकिन बाल खिचड़ी हो गये थे, कमर भी झुक चली थी। खाँसी ने जीर्ण कर रखा था। देखकर दया आती थी। और खेती पसीने की वस्तु है। खेती की जैसी सेवा होनी चाहिए, वह उससे न हो पाती। फिर अच्छी फसल कहाँ से आती ? कुछ ऋण भी हो गया था। वह चिंता और भी मारे डालती थी। चाहिये तो यह था कि अब उसे कुछ आराम मिलता। इतने दिनों के निरन्तर परिश्रम के बाद सिर का बोझ कुछ हल्का होता, लेकिन मुलिया की स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता ने लहराती हुई खेती उजाड़ दी। अगर अब एक साथ रहते, तो वह अब तक पेंशन पा जाता, मजे में द्वार पर बैठा हुआ नारियल पीता। भाई काम करते, वह सलाह देता। महतो बना फिरता। कहीं किसी के झगड़े चुकाता, कहीं साधु-सन्तों की सेवा करता; वह अवसर हाथ से निकल गया। अब तो चिन्ता-भार दिन-दिन बढ़ता जा रहा था।

आखिर उसे धीमा-धीमा ज्वर रहने लगा। हृदय-शूल, चिन्ता, कड़ा परिश्रम और अभाव का यही पुरस्कार है। पहले कुछ परवाह न की। समझा आप ही आप अच्छा हो जायेगा; मगर कमज़ोरी बढ़ने लगी, तो दवा की फिक्र हुई। जिसने जो बता दिया, खा लिया। डॉक्टरों और वैद्यों के पास जाने की सामर्थ्य कहाँ ? और

सामर्थ्य भी होती, तो रुपये खर्च कर देने के सिवा और नतीजा ही क्या था ? जीर्ण ज्वर की औषधि आराम और पुष्टिकारक भोजन है। न वह बसंत-मालती का सेवन कर सकता था और न आराम से बैठकर बलवर्धक भोजन कर सकता था। कमज़ोरी बढ़ती ही गयी।

पन्ना को अवसर मिलता, तो वह आकर उसे तसल्ली देती; लेकिन उसके लड़के अब रग्घू से बात भी न करते थे। दवा-दारू तो क्या करते, उसका और मज़ाक उडाते। भैया समझते थे कि हम लोगों से अलग होकर सोने की ईंट रख लेंगे। भाभी भी समझती थीं, सोने से लद जाऊँगी। अब देखे कौन पूछता है ? सिसक-सिसककर न मरे तो कह देना। बहुत हाय ! हाय !' भी अच्छी नहीं होती। आदमी उतना काम करे, जितना हो सके। यह नही कि रुपये के लिए जान ही दे दे।

पन्ना कहती–रग्घू बेचारे का कौन दोष है ?

केदार कहता–चल, मैं खूब समझता हूँ। भैया की जगह मैं होता, तो डण्डे से बात करता। मजाल थी कि औरत यों ज़िद करती। यह सब भैया की चाल थी। सब सधी-बधी बात थी।

आखिर एक दिन रग्घू का टिमटिमाता हुआ जीवन-दीपक बुझ गया। मौत ने सारी चिन्ताओ का अन्त कर दिया।

अन्त समय उसने केदार को बुलाया था ; पर केदार को ऊख मे पानी देना था। डरा, कही दवा के लिए न भेज दे। बहाना बता दिया।

आठ

मुलिया का जीवन अन्धकारमय हो गया। जिस भूमि पर उसने मनसूबो की दीवार खडी की थी, वह नीचे से खिसक गयी थी। जिस खूँटे के बल पर वह उछल रही थी, वह उखड गया था। गॉववालो ने कहना शुरू किया, ईश्वर ने कैसा तत्काल दण्ड दिया। बेचारी मारे लाज के अपने दोनो बच्चों को लिये रोया करती। गाँव मे किसी को मुँह दिखाने का साहस न होता। प्रत्येक प्राणी उससे यह कहता हुआ मालूम होता था–'मारे घमण्ड के धरती पर पाँव न रखती थी; आखिर सजा मिल गयी कि नहीं !' अब इस घर मे कैसे निर्वाह होगा ? वह किसके सहारे रहेगी ? किसके बल पर खेती होगी ? बेचारा रग्घू बीमार था, दुर्बल था, जब तक जीता रहा, अपना काम करता रहा। मारे कमज़ोरी के कभी-कभी सिर पकड़कर बैठ जाता और ज़रा दम लेकर फिर हाथ चलाने लगता था। सारी खेती तहस-नहस हो रही थी, उसे कौन सँभालेगा ? अनाज की डाँठें खलिहान में पड़ी थीं, ऊख अलग सूख रही थी। वह अकेली क्या-क्या करेगी ? फिर सिंचाई अकेले आदमी का तो काम नहीं। तीन-तीन मजदूरों को कहाँ से लाये ! गाँव में मज़दूर थे ही कितने। आदमियों के लिए खींचा-तानी हो रही थी। क्या करे, क्या न करे !

इस तरह तेरह दिन बीत गये। क्रिया-क्रम से छुट्टी मिली। दूसरे ही दिन सवेरे मुलिया ने दोनों बालकों को गोद में उठाया और अनाज माँडने चली। खलिहान में पहुँचकर उसने एक को तो पेड़ के नीचे घास के नर्म बिस्तर पर सुला दिया और दूसरे को वहीं बैठाकर अनाज माँड़ने लगी। बैलों को हाँकती थी और रोती थी। क्या इसीलिए भगवान् ने उसको जन्म दिया था ? देखते-देखते क्या से क्या हो गया ? इन्हीं दिनों पिछले साल भी अनाज माँड़ा गया था। वह रग्घू के लिए लोटे मे शरबत और मटर की धुँघनी लेकर आयी थी। आज कोई उसके आगे है, न पीछे; लेकिन किसी की लौण्डी तो नहीं हूँ ! उसे अलग होने का अब भी पछतावा न था।

एकाएक छोटे बच्चे का रोना सुनकर उसने उधर ताका, तो बड़ा लड़का उसे चुमकाकर कह रहा था–बैया तुप लहो, तुप लहो ! धीरे-धीरे उसके मुँह पर हाथ फेरता था और चुप करने के लिए विकल था। जब बच्चा किसी तरह चुप न हुआ, तो वह खुद उसके पास लेट गया और उसे छाती से लगाकर प्यार करने लगा; मगर जब यह प्रयत्न भी सफल न हुआ, तो वह रोने लगा।

उसी समय पन्ना दौड़ी आयी और छोटे बालक को गोद में उठाकर प्यार करती हुई बोली–लड़कों को मुझे क्यों न दे आयी बहू ? हाय ! हाय ! बेचारा धरती पर पडा लोट रहा हे। जब मैं मर जाऊँ तो जो चाहे करना, अभी तो जीती हूँ। अलग हो जाने से बच्चे तो नहीं अलग हो गये।

मुलिया ने कहा–तुम्हें भी तो छुट्टी नही थी अम्मा, क्या करती ?

पन्ना–तो तुझे यहाँ आने की ऐसी क्या जल्दी थी ? डाँठ माँड़ न जाती। तीन-तीन लडके तो हैं, और किस दिन काम आयेंगे ? केदार तो कल ही मॉड़ने को कह रहा था; पर मैंने कहा, पहले ऊख में पानी दे लो, फिर अनाज माँडना। मँडाई तो दस दिन बाद भी हो सकती है, ऊख की सिंचाई न हुई तो सूख जायेगी। कल से पानी चढ़ा हुआ है, परसों तक खेत पुर जायेगा। तब मँड़ाई हो जायेगी। तुझे विश्वास न आयेगा, जब से भैया मरे हैं, केदार को बड़ी चिन्ता हो गयी है। दिन मे सौ-सौ बार पूछता है, भाभी बहुत रोती तो नहीं हैं ? देख, लड़के भूखे तो नहीं हैं। कोई लड़का रोता है, तो दौड़ा आता है, देख अम्मा, क्या हुआ, बच्चा क्यों रोता है ? कल रोकर बोला–अम्मा, मैं जानता कि भैया इतनी जल्दी चले जायेंगे, तो उनकी कुछ सेवा कर लेता। कहाँ जगाये-जगाये उठता था, अब देखती हो, पहर रात से उठकर काम में लग जाता है। खुन्नू कल जरा-सा बोला, पहले हम अपनी ऊख मे पानी दे लेंगे, तब भैया की ऊख में देंगे। इस पर केदार ने ऐसा डाँटा कि खुन्नू के मुँह से फिर बात न निकली। बोला, कैसी तुम्हारी और कैसी हमारी ऊख ? भैया ने जिला न लिया होता, तो आज या तो मर गये होते या कहीं भीख माँगते होते। आज तुम बड़े ऊखवाले बने हो ! यह उन्हीं का पुन-परताप है कि आज भले आदमी बने बैठे हो। परसों रोटी खाने को बुलाने गयी तो मँड़ैया में बैठा रो रहा था। पूछा–क्यों रोता है ? तो बोला, अम्मा भैया इसी 'अलग्योझे' के दुख से मर गये, नहीं अभी उनकी

उमिर ही क्या थी ! यह उस वक़्त न सूझा, नहीं उनसे क्यों बिगाड़ करते ? यह कहकर पन्ना ने मुलिया की ओर संकेतपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा–तुम्हें वह अलग न रहने देगा बहू, कहता है, भैया हमारे लिए मर गये तो हम भी उनके बाल-बच्चों के लिए मर जायेंगे।

मुलिया की आँखों से आँसू जारी थे। पन्ना की बातों में आज सच्ची वेदना, सच्ची सान्त्वना, सच्ची चिन्ता भरी हुई थी। मुलिया का मन कभी उसकी ओर इतना आकर्षित न हुआ था। जिससे उसे व्यंग्य और प्रतिकार का भय था, वे इतने दयालु, इतने शुभेच्छु हो गये थे !

आज पहली बार उसे अपनी स्वार्थपरता पर लज्जा आयी। पहली बार आत्मा ने अलग्योझे पर धिक्कारा।

नौ

इस घटना को हुए पाँच साल गुजर गये। पन्ना आज बूढ़ी हो गयी है। केदार घर का मालिक है। मुलिया घर की मालकिन है। खुन्नू और लछमन के विवाह हो चुके हैं; मगर केदार अभी तक क्वाँरा है। केदार कहता है–मैं विवाह न करूँगा। कई जगहों से बातचीत हुई, कई सगाइयाँ आयीं; पर उसने हामी न भरी। पन्ना ने कम्पे लगाये, जाल फैलाये, पर वह न फँसा। कहता–औरतों से कौन सुख ? मेहरिया घर में आयी और आदमी का मिजाज़ बदला। फिर जो कुछ है, वह मेहरिया है। माँ-बाप, भाई-बन्धु सब पराये हैं। जब भैया जैसे आदमी का मिजाज बदल गया, तो फिर दूसरों की क्या गिनती ? दो लड़के भगवान् के दिये हैं और क्या चाहिए। बिना ब्याह किये दो बेटे मिल गये, इससे बढ़कर और क्या होगा ? जिसे अपना समझो, वह अपना है; जिसे गैर समझो, वह गैर है।

एक दिन पन्ना ने कहा–तेरा वंश कैसे चलेगा ?

केदार–मेरा वंश तो चल रहा है। दोनों लड़कों को अपना ही समझता हूँ।

पन्ना–समझने ही पर है, तो तू मुलिया को भी अपनी मेहरिया समझता होगा ?

केदार ने झेंपते हुए कहा–तुम तो गाली देती हो अम्मा !

पन्ना– गाली कैसी, तेरी भाभी ही तो है !

केदार–मेरे जैसे लट्ठ-गँवार को वह क्यों पूछने लगी !

पन्ना–तू करने को कह, तो मैं उससे पूछूँ ?

केदार–नहीं मेरी अम्मा, कहीं रोने-गाने न लगे।

पन्ना–तेरा मन हो, तो मैं बातों-बातों में उसके मन की थाह लूँ !

केदार–मैं नहीं जानता, जो चाहे कर।

पन्ना केदार के मन की बात समझ गयी। लड़के का दिल मुलिया पर आया

हुआ है; पर संकोच और भय के मारे कुछ नहीं कहता।

उसी दिन उसने मुलिया से कहा—"क्या करूँ बहू, मन की लालसा मन में ही रह जाती है। केदार का घर भी बस जाता, तो मैं निश्चिंत हो जाती।"

मुलिया—वह तो करने को ही नहीं कहते।

पन्ना—कहता है, ऐसी औरत मिले, जो घर में मेल से रहे, तो कर लूँ।

मुलिया—ऐसी औरत कहाँ मिलेगी ? कहीं ढूँढ़ो।

पन्ना—मैंने तो ढूँढ़ लिया है।

मुलिया—सच, किस गाँव की है ?

पन्ना—अभी न बताऊँगी, मुदा यह जानती हूँ कि उससे केदार की सगाई हो जाये, तो घर बन जाये और केदार की ज़िन्दगी भी सुफल हो जाय। न जाने लड़की मानेगी कि नहीं।

मुलिया—मानेगी क्यों नहीं अम्मा, ऐसा सुन्दर कमाऊ, सुशील वर और कहाँ मिला जाता है ? उस जन्म का कोई साधु-महात्मा है, नहीं तो लड़ाई-झगड़े के डर से कौन बिन ब्याहा रहता है। कहाँ रहती है, मैं जाकर उसे मना लाऊँ।

पन्ना—तू चाहे, तो उसे मना ले, तेरे ही ऊपर है।

मुलिया—मैं आज ही चली जाऊँगी, अम्मा, उसके पैरों पड़कर मना लाऊँगी।

पन्ना—बता दूँ, वह तू ही है।

मुलिया लजाकर बोली—"तुम तो अम्मा जी, गाली देती हो।"

पन्ना—गाली कैसी, देवर ही तो है !

मुलिया—मुझ जैसी बुढ़िया को वह क्यों पूछेंगे ?

पन्ना—वह तुझी पर दाँत लगाये बैठा है। तेरे सिवा कोई और उसे भाती ही नहीं। डर के मारे कहता नहीं; पर उसके मन की बात मैं जानती हूँ।

वैधव्य के शोक से मुरझाया हुआ मुलिया का पीत बदन कमल की भाँति अरुण हो उठा। दस वर्षों में जो कुछ खोया था, वह इसी एक क्षण में मानो ब्याज के साथ मिला गया। वही लावण्य, वही विकास, वही आकर्षण, वही लोच।

(हिन्दी में : 'माधुरी', अक्टूबर, १६२६ में प्रकाशित;
उर्दू में : 'ज़माना', फरवरी, १६३० में प्रकाशित)

जुलूस

एक

पूर्ण स्वराज्य का जुलूस निकल रहा था। कुछ युवक, कुछ बूढ़े, कुछ बालक झण्डियाँ और झण्डे लिये वन्देमातरम् गाते हुए माल के सामने से निकले। दोनों तरफ़ दर्शको की दीवारें खड़ी थीं, मानो उन्हें इस लक्ष्य से कोई सरोकार नहीं है, मानो यह कोई तमाशा है और उनका काम केवल खडे-खड़े देखना है।

शम्भूनाथ ने दुकान की पटरी पर खड़े होकर अपने पडोसी दीनदयाल से कहा–सब के सब काल के मुँह मे जा रहे हैं। आगे सवारों का दल मार-मार भगा देगा।

दीनदयाल ने कहा–'महात्मा भी सठिया गये हैं। जुलूस निकालने से स्वराज्य मिल जाता तो अब तक कब का मिल गया होता। और जुलूस में हैं कौन लोग, देखो–लौण्डे, लफंगे, सिर-फिरे। शहर का कोई बड़ा आदमी नहीं।'

मैकू चट्टियों और स्लीपरों की माला गर्दन में लटकाये खड़ा था। इन दोनों सेठों की बातें सुनकर हँसा।

शम्भू ने पूछा–क्यों हँसे मैकू ? आज रंग चोखा मालूम होता है।

मैकू–हँसा इस बात पर जो तुमने कही कि कोई बड़ा आदमी जुलूस में नहीं है। बडे आदमी क्यों जुलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है ? बँगलों और महलों में रहते हैं, मोटरो पर घूमते हैं, साहबों के साथ दावत खाते हैं. कौन तकलीफ है ? मर तो हम लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफ़ोन लिए गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आयें पुलिस के कोड़े खाने के लिए ? तुमने भी भली कही ?

शंभू–तुम यह सब बातें क्या समझोगे मैकू, जिस काम में चार बड़े आदमी अगुआ होते हैं, उसकी सरकार पर भी धाक बैठ जाती है। लौण्डों-लफंगों का गोल भला, हाकिमों की निगाह में क्या जँचेगा ?

मैकू ने ऐसी दृष्टि से देखा, जो कह रही थी–इन बातों के समझने का ठीका कुछ तुम्हीं ने नहीं लिया है और बोला–बडे आदमी को तो हमीं लोग बनाते-बिगाड़ते

हैं या कोई और ? कितने ही लोग जिन्हें कोई पूछता भी न था, हमारे ही बनाये बड़े आदमी बन गये और अब मोटरों पर निकलते हैं और हमें नीच समझते हैं। यह लोगों की तकदीर की खूबी है कि जिसकी जरा बढ़ती हुई और उसने हमसे आँखें फेरीं। हमारा बड़ा आदमी तो वही है जो लँगोटी बाँधे नंगे पाँव घूमता है, जो हमारी दशा को सुधारने के लिए अपनी जान हथेली पर लिये फिरता है। और हमें किसी बड़े आदमी की परवाह नहीं है। सच पूछो तो इन बड़े आदमियों ने हमारी मिट्टी खराब कर रखी है। इन्हें सरकार ने कोई अच्छी-सी जगह दे दी, बस उसका दम भरने लगे।'

दीनदयाल—नया दरोगा बड़ा जल्लाद है। चौरास्ते पर पहुँचते ही हण्टर लेकर पिल पड़ेगा। फिर देखना, सब कैसे दुम दबाकर भागते हैं। मज़ा आयेगा।

जुलूस स्वाधीनता के नशे में चूर चौरास्ते पर पहुँचा तो देखा, आगे सवारों और सिपाहियों का एक दस्ता रास्ता रोके खड़ा है।

सहसा दारोगा बीरबल सिंह घोड़ा बढ़ाकर जुलूस के सामने आ गये और बोले—तुम लोगों को आगे जाने का हुक्म नहीं है।

जुलूस के बड़े नेता इब्राहीम अली ने आगे बढ़कर कहा—मैं आपको इतमीनान दिलाता हूँ, किसी क़िस्म का दंगा-फ़साद न होगा। हम दुकानें लूटने या मोटरें तोड़ने नही निकले हैं। हमारा मक़सद इससे कहीं ऊँचा है।

बीरबल—मुझे यह हुक्म है कि जुलूस यहाँ से आगे न जाने पाये।

इब्राहीम—आप अपने अफ़सरों से ज़रा पूछ न लें।

बीरबल—मैं इसकी कोई ज़रूरत नहीं समझता।

इब्राहीम—तो हम लोग यहीं बैठते हैं। जब आप लोग चले जायेंगे तो हम निकल जाएँगे।

बीरबल—यहाँ खड़े होने का भी हुक्म नहीं है। तुमको वापस जाना पड़ेगा।

इब्राहीम ने गम्भीर भाव से कहा—'वापस तो हम न जाएँगे। आपको या किसी को भी, हमें रोकने का कोई हक नहीं। आप अपने सवारों, संगीनों और बन्दूकों के ज़ोर से हमें रोकना चाहते हैं, रोक लीजिए; मगर आप हमें लौटा नहीं सकते। न जाने वह दिन कब आएगा, जब हमारे भाई-बन्द ऐसे हुक्मों की तामील करने से साफ़ इनकार कर देंगे, जिनकी मंशा महज़ कौम को गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़े रखना है।'

बीरबल ग्रैजुएट था। उसका बाप सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस था। उसकी नस-नस में रोब भरा हुआ था। अफ़सरों की दृष्टि में उसका बड़ा सम्मान था। ख़ासा गोरा-चिट्टा, नीली आँखों और भूरे बालों वाला तेजस्वी पुरुष था। शायद जिस वक़्त वह कोट पहनकर ऊपर से हैट लगा लेता, तो वह भूल जाता था कि मैं भी यहाँ का रहने वाला हूँ। शायद वह अपने को राज्य करनेवाली जाति का अंग समझने लगता था; मगर इब्राहीम के शब्दों में जो तिरस्कार भरा हुआ था, उसने ज़रा देर के लिए उसे

लज्जित कर दिया। पर मुआमला नाजुक था। जुलूस को रास्ता दे देता है, तो जवाब तलब हो जाएगा; वहीं खड़ा रहने देता है, तो यह सब न जाने कब तक खड़े रहे। इस संकट में पड़ा हुआ था कि उसने डी. एस. पी. को घोड़े पर आते देखा। अब सोच-विचार का समय न था। यही मौका था कारगुजारी दिखाने का। उसने कमर से बेटन निकाल लिया और घोड़े को एड़ लगाकर जुलूस पर चढ़ाने लगा। उसे देखते ही और सवारों ने भी घोड़ों को जुलूस पर चढ़ाना शुरू कर दिया। इब्राहीम दारोगा के घोड़ के सामने खड़ा था। उसके सिर पर एक बेटन ऐसे ज़ोर से पड़ा कि उसकी ऑखें तिलमिला गयी। खडा न रह सका। सिर पकड़कर बैठ गया। उसी वक्त दारोगाजी के घोडे ने दोनों पाँव उठाये और ज़मीन पर बैठा हुआ इब्राहीम उसके टापो के नीचे आ गया। जुलूस अभी तक शान्त खड़ा था। इब्राहीम को गिरते देखकर कई आदमी उसे उठाने के लिए लपके; मगर कोई आगे न बढ़ सका। उधर सवारो के डण्डे बड़ी निर्दयता से पड रहे थे। लोग हाथों पर डण्डों को रोकते थे और अविचलित रूप से खड़े थे। हिंसा के भावों में प्रवाहित न हो जाना उनके लिए प्रतिक्षण कठिन होता जाता था। जब आघात और अपमान ही सहना है, तो फिर हम भी इस दीवार को पार करने की क्यों न चेष्टा करें? लोगों को खयाल आया, शहर के लाखों आदमियो की निगाहें हमारी तरफ़ लगी हुई है। यहाँ से यह झण्डा लेकर लौट जायँ, तो फिर किस मुँह से आज़ादी का नाम लेंगे; मगर प्राण-रक्षा के लिए भागने का किसी को ध्यान भी न आता था। यह पेट के भक्तों, किराये के टट्टुओं का दल न था। यह स्वाधीनता के सच्चे स्वयंसेवकों का, आज़ादी के दीवानों का संगठित दल था। अपनी ज़िम्मेदारियो को खूब समझता था। कितने ही के सिरों से खून ज़ारी था, कितने ही के हाथ ज़ख्मी हो गये थे। एक हल्ले मे यह लोग सवारों की सफ़ो को चीर सकते थे, मगर पैरों में बेडियाँ पड़ी हुई थीं—सिद्धान्त की, धर्म की, आदर्श की।

दस-बारह मिनट तक यो ही डण्डों की बौछार होती रही और लोग शान्त खड़े रहे।

दो

इस मार-धाड की ख़बर एक क्षण मे बाज़ार में जा पहुँची। इब्राहीम घोड़े से कुचल गये, कई आदमी जख़्मी हो गये, कई के हाथ टूट गये; मगर न वे लोग पीछे फिरते हैं और न पुलिस उन्हें आगे जाने देती है।

मैकू ने उत्तेजित होकर कहा—अब तो भाई, यहाँ नहीं रहा जाता। मैं भी चलता हूँ।

दीनदयाल ने कहा—'हम भी चलते हैं भाई, देखी जायेगी।'

शम्भू एक मिनट तक मौन खड़ा रहा। एकाएक उसने भी दुकान बढ़ायी और बोला—'एक दिन तो मरना ही है, जो कुछ होना है, हो। आखिर वे लोग सभी के

लिए तो जान दे रहे हैं। देखते-देखते अधिकांश दुकानें बन्द हो गयीं। वह लोग, जो दस मिनट पहले तमाशा देख रहे थे, इधर-उधर से दौड़ पड़े और हज़ारों आदमियों का एक विराट् दल घटनास्थल की ओर चला। यह उन्मत्त, हिंसामद से भरे हुए मनुष्यों का समूह था, जिसे सिद्धान्त और आदर्श की परवाह न थी। जो मरने के लिए ही नहीं, मारने के लिए भी तैयार थे। कितनों ही के हाथों में लाठियाँ थीं, कितने ही जेबों में पत्थर भरे हुए थे। न कोई किसी से कुछ बोलता था, न पूछता था। बस, सब-के-सब मन में एक दृढ़ संकल्प लिये लपके चले जा रहे थे, मानो कोई घटा उमड़ी चली आती हो।

इस दल को दूर से देखते ही सवारो में कुछ हलचल पडी। बीरबल सिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। डी. एस. पी. ने अपनी मोटर आगे बढ़ायी। शान्ति और अहिंसा के ब्रतधारियों पर डण्डे बरसाना और बात थी, एक उन्मत्त दल से मुकाबला करना दूसरी बात। सवार और सिपाही पीछे खिसक गये।

इब्राहीम की पीठ पर घोड़े ने टाप रख दी। वह अचेत ज़मीन पर पड़े थे। इन आदमियों का शोर-गुल सुनकर आप ही आप उनकी आँखे खुल गयीं। एक युवक को इशारे से बुलाकर कहा–'क्यों कैलाश, क्या कुछ लोग शहर से आ रहे हैं ?

कैलाश ने उस बढ़ती हुई घटा की ओर देखकर कहा–जी हाँ, हज़ारों आदमी हैं।

इब्राहीम–तो अब ख़ैरियत नही है। झण्डा लौटा दो। हमें फ़ौरन लौट चलना चाहिए, नहीं तूफ़ान मच जायगा। हमें अपने भाइयो से लडाई नहीं करनी है। फ़ौरन लौट चलो।

यह कहते हुए उन्होंने उठने की चेष्टा की, मगर उठ न सके।

इशारे की देर थी। संगठित सेना की भाँति लोग हुक्म पाते ही पीछे फिर गये। झण्डियों के बाँसों, साफ़ो और रूमालों से चटपट एक स्ट्रेचर तैयार हो गया। इब्राहीम को लोगों ने उस पर लिटा दिया और पीछे फिरे। मगर क्या वह परास्त हो गये थे ? अगर कुछ लोगों को उन्हें परास्त मानने में ही सन्तोष हो तो हो, लेकिन वास्तव में उन्होंने एक युगान्तकारी विजय प्राप्त की थी। जानते थे, हमारा संघर्ष अपने ही भाइयों से है, जिनके हित परिस्थितियो के कारण हमारे हितों से भिन्न हैं। हमें उनसे वैर नहीं करना है। फिर वह यह भी नहीं चाहते कि शहर में लूट और दंगों का बाज़ार गर्म हो जाय और हमारे धर्मयुद्ध का अन्त लुटी हुई दुकानें, टूटे हुए सिर हों। उनकी विजय का सबसे उज्ज्वल चिह्न यह था कि उन्होंने जनता की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। वही लोग, जो पहले उन पर हँसते थे, उनका धैर्य और साहस देखकर उनकी सहायता के लिए निकल पड़े थे। मनोवृत्ति का यह परिवर्तन ही हमारी असली विजय है। हमें किसी से लड़ाई करने की ज़रूरत नहीं, हमारा उद्देश्य केवल जनता की सहानुभूति प्राप्त करना है, उसकी मनोवृत्तियों को बदल देना है। जिस दिन हम इस लक्ष्य पर पहुँचे जाएँगे, उसी दिन स्वराज्य का सूर्य उदय होगा।

तीन

तीन दिन गुजर गये थे। बीरबल सिह अपने कमरे मे बैठे चाय पी रहे थे और उनकी पत्नी मिट्ठन बाई शिशु को गोद मे लिये सामने खडी थी।

बीरबल सिह ने कहा–मैं क्या करता उस वक्त। पीछे डी एस पी खडा था। अगर उन्हे रास्ता दे देता तो अपनी जान मुसीबत मे फँसती।

मिट्ठनबाई ने सिर हिलाकर कहा–तुम कम से कम इतना तो कर ही सकते थे कि उन पर डण्डे न चलाने देते। तुम्हारा काम आदमियो पर डण्डे चलाना है ? तुम ज्यादा से ज्यादा उन्हे रोक सकते थे। कल को तुम्हे अपराधियो को बेत लगाने का काम दिया जाय, तो शायद तुम्हे बडा आन्नद आयेगा, क्यो ?

बीरबल सिह ने खिसियाकर कहा–तुम तो बात नही समझती हो।

मिट्ठनबाई–मैं खूब समझती हूँ। डी एस पी पीछे खडा था। तुमने सोचा होगा, ऐसी कारगुजारी दिखाने का अवसर शायद फिर कभी मिले या न मिले। क्या तुम समझते हो, उस दल मे कोई भला आदमी न था ? उसमे कितने आदमी ऐसे थे, जो तुम्हारे जैसो को नौकर रख सकते हैं। विद्या मे तो शायद अधिकाश तुमसे बढे हुए होगे। मगर तुम उन पर डण्डे चला रहे थे और उन्हे घोडे से कुचल रहे थे, वाह री जवाँमर्दी !

बीरबल सिह ने बेहयाई की हँसी के साथ कहा–डी एस पी ने मेरा नाम नोट कर लिया है। सच !

दारोगाजी ने समझा था कि यह सूचना देकर वह मिट्ठन बाई को खुश कर देगे। सज्जनता और भलमानसी आदि ऊपर की बाते हैं, दिल से नही, जबान से कही जाती है। स्वार्थ दिल की गहराइयो मे बैठा होता है। वह गम्भीर विचार का विषय है।

मगर मिट्ठन बाई के मुख पर हर्ष की कोई रेखा न नजर आयी, ऊपर की बाते शायद गहराइयो तक पहुँच गयी थी ! बोली–जरूर कर लिया होगा और शायद तुम्हे जल्द तरक्की भी मिल जाय। मगर बेगुनाहो के खून से हाथ रँगकर तरक्की पायी, तो क्या पायी ! यह तुम्हारी कारगुजारी का इनाम नही, तुम्हारे देशद्रोह की कीमत है। तुम्हारी कारगुजारी का इनाम तो तब मिलेगा, जब तुम किसी खूनी को खोज निकालोगे, किसी डूबते हुए आदमी को बचा लोगे।

एकाएक एक सिपाही ने बरामदे मे खडे होकर कहा–हुजूर, यह लिफाफा लाया हूँ। बीरबल सिह ने बाहर निकलकर लिफाफा ले लिया और भीतर की सरकारी चिट्ठी निकालकर पढने लगे। पढकर उसे मेज पर रख दिया।

मिट्ठन ने पूछा–क्या तरक्की का परवाना आ गया ?

बीरबल सिह ने झेपकर कहा–'तुम तो बनाती हो ! आज फिर कोई जुलूस निकलनेवाला है। मुझे उसके साथ रहने का हुक्म हुआ है।'

मिट्ठन—फिर तो तुम्हारी चाँदी है, तैयार हो जाओ। आज फिर वैसे ही शिकार मिलेंगे। खूब बढ़-बढ़कर हाथ दिखलाना ! डी. एस. पी. भी ज़रूर आयेंगे। अबकी तुम इंस्पेक्टर हो जाओगे। सच !

बीरबल सिंह ने माथा सिकोड़कर कहा—कभी-कभी तुम बे-सिर-पैर की बातें करने लगती हो। मान लो, मैं जाकर चुपचाप खड़ा रहूँ तो, क्या नतीजा होगा। मैं नालायक समझा जाऊँगा और मेरी जगह कोई दूसरा आदमी भेज दिया जायेगा। कहीं शुबहा हो गया कि मुझे स्वराज्यवादियों से सहानुभूति है, तो कहीं का न रहूँगा। अगर बर्ख़ास्त भी न हुआ, तो लैन की हाजिरी तो हो ही जायेगी। आदमी जिस दुनिया में रहता है, उसी का चलन देखकर काम करता है। मैं बुद्धिमान न सही; पर इतना जानता हूँ कि ये लोग देश और जाति का उद्धार करने के लिए ही कोशिश कर रहे हैं। यह भी जानता हूँ कि सरकार इस ख़याल को कुचल डालना चाहती है। ऐसा गधा नहीं हूँ कि गुलामी की ज़िन्दगी पर गर्व करूँ लेकिन परिस्थिति से मजबूर हूँ।

बाजे की आवाज़ कानों मे आयी। बीरबल सिंह ने बाहर जाकर पूछा। मालूम हुआ, स्वराज्य वालों का जुलूस आ रहा है। चटपट वर्दी पहनी, साफ़ा बाँधा और जेब में पिस्तौल रखकर बाहर आये। एक क्षण में घोड़ा तैयार हो गया। कान्सटेबल पहले ही से तैयार बैठे थे। सब लोग डबल मार्च करते हुए जुलूस की तरफ़ चले।

चार

वे लोग डबल मार्च करते हुए कोई पन्द्रह मिनट में जुलूस के सामने पहुँच गये। इन लोगों को देखते ही अगणित कण्ठों से 'वन्देमातरम्' की एक ध्वनि निकली, मानो मेघमण्डल में गर्जन का शब्द हुआ हो, फिर सन्नाटा छा गया। उस जुलूस में और इस जुलूस में कितना अन्तर था ! वह स्वराज्य के उत्सव का जुलूस था, यह एक शहीद के मातम का। तीन दिन के भीषण ज्वर और वेदना के बाद आज उस जीवन का अन्त हो गया, जिसने कभी पद की लालसा नहीं की, कभी अधिकार के सामने सिर नही झुकाया। उन्होंने मरते समय वसीयत की थी कि मेरी लाश को गंगा में नहलाकर दफ़न किया जाय और मेरे मज़ार पर स्वराज्य का झण्डा खड़ा किया जाय। उनके मरने का समाचार फैलते ही सारे शहर पर मातम का पर्दा-सा पड़ गया। जो सुनता था, एक बार इस तरह चौंक पड़ता था, जैसे उसे गोली लग गयी हो। और तुरन्त उनके दर्शनों के लिए भागता था। सारे बाज़ार बन्द हो गये, इक्को और तांगो का कहीं पता न था, जैसे शहर लुट गया हो। देखते-देखते सारा शहर उमड़ पड़ा। जिस वक़्त जनाज़ा उठा, लाख-सवा-लाख आदमी साथ थे। कोई आँख ऐसी न थी, जो आँसुओ से लाल न हो।

बीरबल सिंह अपने कांस्टेबलों और सवारों को पाँच-पाँच ग़ज़ के फ़ासले पर जुलूस के साथ चलने का हुक्म देकर ख़ुद पीछे चले गये। पिछली सफ़ों में कोई पचास

गज तक महिलाएँ थीं। दारोगा ने उनकी तरफ़ ताका। पहली ही कतार मे मिट्ठनबाई नजर आयीं। बीरबल को विश्वास न आया। फिर ध्यान से देखा, वही थी। मिट्ठन ने उनकी तरफ़ एक बार देखा और आँखे फेर लीं, पर उसकी एक चितवन मे कुछ ऐसा धिक्कार, कुछ ऐसी लज्जा, कुछ ऐसी व्यथा, कुछ ऐसी घृणा भरी हुई थी कि बीरबल सिह की देह मे सिर से पाँव तक सनसनी-सी दौड गयी। वह अपनी दृष्टि मे कभी इतने हल्के, इतने दुर्बल, इतने जलील न हुए थे।

सहसा एक युवती ने दारोगाजी की तरफ़ देखकर कहा—कोतवाल माहब कही हम लोगो पर डण्डे न चला दीजिएगा। आपको देखकर भय हो रहा है।

दूसरी बोली—आप ही के कोई भाई तो थे, जिन्होने उस माल के चौरस्ते पर इस पुरुष पर आघात किये थे।

मिट्ठन ने कहा—आपके कोई भाई न थे, आप खुद थे।

बीसियो ही मुँहो से आवाजे निकली—अच्छा, यह वही महाशय हैं ?

महाशय आपको नमस्कार है। यह आप ही की कृपा का फल है कि आज हम भी आपके डडे के दर्शन के लिए आ खडी हुई हैं।

बीरबल ने मिट्ठन बाई की ओर आँखो का भाला चलाया, मुँह से कुछ न बोले। एक तीसरी महिला ने फिर कहा—'हम एक जलसा करके आपको जयमाला पहनायेगे और आपका यशोगान करेगे।'

चौथी ने कहा—आप बिल्कुल अगरेज मालूम होते हैं, अभी इतने गोरे हैं !'

एक बुढिया ने आँखे चढाकर कहा—'मेरी कोख मे ऐसा बालक जन्मा होता, तो उसकी गर्दन मरोड देती !

एक युवती ने उसका तिरस्कार करके कहा—आप भी खूब कहती हैं, माता जी, कुत्ते तक तो नमक का हक अदा करते हैं, यह तो आदमी हैं !

बुढिया ने झल्लाकर कहा—'पेट के गुलाम, हाय पेट ! हाय पेट !'

इस पर कई स्त्रियो ने बुढिया को आडे हाथो ले लिया और वह बेचारी लज्जित होकर बोली—अरे मैं कुछ कहती थोडे ही हूँ। मगर ऐसा आदमी भी क्या, जो स्वार्थ के पीछे अन्धा हो जाये।

बीरबल सिह अब और न सुन सके। घोडा बढाकर जुलूस से कई गज पीछे चले गये। मर्द लज्जित करता है, तो हमे क्रोध आता है; स्त्रियाँ लज्जित करती हैं, तो ग्लानि उत्पन्न होती है। बीरबल सिह को इस वक्त इतनी हिम्मत न थी कि फिर उन महिलाओ के सामने जाते। अपने अफ़सरो पर क्रोध आया। मुझी को बार-बार क्यो इन कामो पर तैनात किया जाता है ? और लोग भी तो हैं, उन्हे क्यो नही लाया जाता ? क्या मैं ही सबसे गया-बीता हूँ। क्या मैं ही सबसे भावशून्य हूँ।

मिट्ठी इस वक्त मुझे दिल मे कितना कायर और नीच समझ रही होगी ? शायद इस वक्त मुझे कोई मार डाले, तो वह जबान भी न खोलेगी। शायद मन मे प्रसन्न

होगी कि अच्छा हुआ। अभी कोई जाकर साहब से कह दे कि बीरबल सिंह की स्त्री जुलूस में निकली थी, तो कहीं का न रहूँ ! मिट्टी जानती है, समझती है, फिर भी निकल खड़ी हुई। मुझसे पूछा तक नहीं। कोई फिक्र नहीं है न, जभी ये बातें सूझती हैं। यहाँ सभी बेफिक्र हैं, कॉलेजों और स्कूलों के लड़के, मजदूर पेशेवर, इन्हें क्या चिन्ता ? मरन तो हम लोगों की है, जिनके बाल-बच्चे हैं और कुल-मर्यादा का ध्यान है। सबकी सब मेरी तरफ़ कैसा घूर रही थीं, मानो खा जायेंगी।

जुलूस शहर की मुख्य सड़कों से गुज़रता हुआ चला जा रहा था। दोनों ओर छतों पर, छज्जों पर, जँगलों पर, वृक्षों पर दर्शकों की दीवारें-सी खड़ी थीं। बीरबल सिंह को आज उनके चेहरों पर एक नयी स्फूर्ति, एक नया उत्साह, एक नया गर्व झलकता हुआ मालूम होता था। स्फूर्ति थी वृद्धों के चहरे पर, उत्साह युवकों के और गर्व रमणियों के। यह स्वराज्य के पथ पर चलने का उल्लास था। अब उनकी यात्रा का लक्ष्य अज्ञात न था, पथभ्रष्टों की भाँति इधर-उधर भटकना न था, दलितों की भाँति सिर झुकाकर रोना न था। स्वाधीनता का सुनहला शिखर सुदूर आकाश में चमक रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि लोगों को बीच के नालों और जंगलों की परवाह नहीं है। सब उस सुनहले लक्ष्य पर पहुँचने के लिए उत्सुक हो रहे हैं।

ग्यारह बजते-बजते जुलूस नदी के किनारे जा पहुँचा, जनाज़ा उतारा गया और लोग शव को गंगा-स्नान कराने के लिए ले चले। उसके शीतल, शान्त, पीले मस्तक पर लाठी की चोट साफ़ नज़र आ रही थी। रक्त जमकर काला हो गया था। सिर के बड़े-बड़े बाल खून जम जाने से किसी चित्रकार की तूलिका की भाँति चिमट गये थे। कई हज़ार आदमी इस शहीद के अन्तिम दर्शनों के लिए मण्डल बाँधकर खड़े हो गये। बीरबल सिह पीछे घोडे पर सवार खडे थे। लाठी की चोट उन्हें भी नज़र आयी। उनकी आत्मा ने जोर से धिक्कारा। वह शव की ओर न ताक सके। मुँह फेर लिया। जिस मनुष्य के दर्शनो के लिए, जिसके चरणों की रज मस्तक पर लगाने के लिए लाखो आदमी विकल हो रहे है, उसका मैंने इतना अपमान किया ! उनकी आत्मा इस समय स्वीकार कर रही थी कि उस निर्दय प्रहार में कर्तव्य के भाव का लेश भी न था–केवल स्वार्थ था, कारगुजारी दिखाने की हवस और अफ़सरों को खुश करने की लिप्सा थी। हजारो ऑखे क्रोध से भरी हुई उनकी ओर देख रही थीं; पर वह सामने ताकने का साहस न कर सकते थे।

एक कांस्टेबल ने आकर प्रशंसा की–हुजूर का हाथ गहरा पड़ा था। अभी तक ख़ोपड़ी खुली हुई है। सबकी ऑखें खुल गयीं।

बीरबल ने उपेक्षा की–मैं इसे अपनी जवाँमर्दी नहीं, अपना कमीनापन समझता हूँ।

कांस्टेबल ने फिर खुशामद की–बड़ा सरकश आदमी था हुजूर !

बीरबल ने तीव्र भाव से कहा–चुप रहो ! जानते भी हो, सरकश किसे कहते

हैं ? सरकश वे कहलाते है, जो डाके मारते हैं, चोरी करते हैं, खून करते हैं, उन्हे सरकश नही कहते, जो देश की भलाई के लिए अपनी जान हथेली पर लिये फिरते हो। हमारी बदनसीबी है कि जिनकी मदद करनी चाहिए, उनका विरोध कर रहे हैं। यह घमण्ड करने और खुश होने की बात नही है, शर्म करने और रोने की बात है।

स्नान समाप्त हुआ। जुलूस यहॉं से फिर रवाना हुआ।

पाँच

शव को जब खाक के नीचे सुलाकर लोग लौटने लगे तो दो बज रहे थ। मिट्ठन बाई स्त्रियो के साथ-साथ कुछ दूर तक तो आयी, पर क्वीन्स पार्क मे आकर ठिठक गयी। घर जाने की इच्छा न हुई। वह जीर्ण, आहत, रक्तरजित शव, मानो उसके अन्तस्तल मे बैठा उसे धिक्कार रहा था। पति से उसका मन इतना विरक्त हो गया था कि अब उसे धिक्कारने की भी उसकी इच्छा न थी। ऐसे स्वार्थी मनुष्य पर भय के सिवा और किसी चीज का असर हो सकता है, इसका उसे विश्वास ही न था।

वह बडी देर तक पार्क मे घास पर बैठकर सोचती रही, पर अपने कर्तव्य का कुछ निश्चय न कर सकी। मैके जा सकती थी, किन्तु वहाँ से महीने दो महीने मे फिर इसी घर आना पडेगा। नही मैं किसी की आश्रित न बनूँगी। क्या मैं अपन गुजर-बसर को भी नही कमा सकती ? उसने स्वय भॉति भॉति की कठिनाइयो की कल्पना की, पर आज उसकी आत्मा मे न जाने इतना बल कहॉं से आ गया था। इन कल्पनाओ को ध्यान मे लाना ही उसे अपनी कमजोरी मालूम हुई।

सहसा उसे इब्राहीम अली की वृद्धा विधवा का खयाल आया। उसने सुना था, उनके लडके-बाले नही हैं। बेचारी बैठी रो रही होगी। कोई तसल्ली देनेवाला भी पास न होगा। वह उनके मकान की ओर चली। पता उसने पहले ही अपने साथ की औरतो से पूछ लिया था। वह दिल मे सोचती जाती थी– मैं उनसे कैसे मिलूँगी, उनसे क्या कहूँगी, उन्हे किन शब्दो मे ममझाऊँगी ? इन्ही विचारो मे डूबी हुई वह इब्राहीम अली के घर पर पहुँच गयी।

मकान एक गली मे था, साफ-सुथरा; लेकिन द्वार पर हसरत बरस रही थी। उसने धडकते हुए हृदय से अन्दर कदम रखा। सामने बरामदे मे एक खाट पर वह वृद्धा बैठी हुई थी, जिसके पति ने आज स्वाधीनता की वेदी पर अपना बलिदान दिया था। उसके सामने सादे कपडे पहने एक युवक खडा, ऑखो मे ऑसू भरे वृद्धा से बाते कर रहा था। मिट्ठन उस युवक को देखकर चौंक पडी–वह बीरबल सिह थे।

उसने क्रोधमय आश्चर्य से पूछा–तुम यहॉं कैसे आये ?

बीरबल सिह ने कहा–उसी तरह जैसे तुम आयी। अपने अपराध क्षमा कराने

आया हूँ।

मिट्ठन के गोरे मुखडे पर आज गर्व, उल्लास और प्रेम की जो उज्ज्वल विभूति नजर आयी, वह अकथनीय थी। ऐसा जान पडा, मानो उसके जन्म-जन्मान्तर के क्लेश मिट गये हैं। वह चिन्ता और माया के बन्धनो से मुक्त हो गयी है।

(हिन्दी में : 'हंस', मार्च १९३० में प्रकाशित;
उर्दू में : 'प्रेम चालीसी-२', १९३० में संकलित)

पूस की रात

एक

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है। लाओ, जो रुपये रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिरकर बोली—'तीन ही रुपये हैं, दे दोगे तो कम्मल कहाँ से आवेगा ? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी ? उससे कह दो, फसल पर दे देंगे। अभी नहीं।

हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, कम्मल के बिना हार में रात को वह किसी तरह सो नहीं सकता। मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियाँ जमावेगा, गालियाँ देगा। बला से जाड़ों में मरेंगे, बला तो सिर से टल जायेगी। यह सोचता हुआ वह अपनी भारी-भरकम डील लिये हुए (जो उसके नाम को झूठ सिद्ध करता था) स्त्री के समीप आ गया और खुशामद करके बोला—'ला दे दे, गला तो छूटे। कम्मल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।'

मुन्नी उसके पास से दूर हट गयी और आँखें तरेरती हुई बोली—'कर चुके दूसरा उपाय ! ज़रा सुनूँ तो कौन-सा उपाय करोगे ? कोई ख़ैरात दे देगा कम्मल ? न जाने कितनी बाकी है, जो किसी तरह चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जनम हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आये। मैं रुपये न दूँगी— न दूँगी।

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या गाली खाऊँ ?

मुन्नी ने तड़पकर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज़ है ?

मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौंहें ढीली पड़ गयीं। हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानो एक भीषण जन्तु की भाँति उसे घूर रहा था।

उसने जाकर आले पर से रुपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिये। फिर बोली—'तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी तो खाने को मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है ! मजूरी करके लाओ,

वह भी उसी में झोंक दो, उस पर धौंस।'

हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला, मानो अपना हृदय निकाल कर देने जा रहा हो। उसने मजूरी से एक-एक पैसा काट-काट कर तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किये थे। वह आज निकले जा रहे थे। एक-एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था।

दो

पूस की अँधेरी रात ! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खरोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा काँप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूँ-कूँ कर रहा था। दो में से एक को भी नींद न आती थी।

हल्कू ने घुटनियों को गरदन में चिपकाते हुए कहा–'क्यों जबरा, जाड़ा लगता है ? कहता तो था, घर में पुआल पर लेट रह, तो यहाँ क्या लेने आये थे ? अब खाओ ठड, मैं क्या करूँ ? जानते थे, मैं यहाँ हलुआ-पूरी खाने आ रहा हूँ, दौड़े-दौड़े आगे-आगे चले आये। अब रोओ नानी के नाम को।'

जबरा ने पड़े-पड़े दुम हिलायी और अपनी कूँ-कूँ को दीर्घ बनाता हुआ एक बार जम्हाई लेकर चुप हो गया। उसकी श्वान बुद्धि ने शायद ताड़ लिया, स्वामी को मेरी कूँ-कूँ से नींद नहीं आ रही है।

हल्कू ने हाथ निकालकर जबरा की ठन्डी पीठ सहलाते हुए कहा–'कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठण्डे हो जाओगे। यह राँड पछुआ न जाने कहाँ से बर्फ लिए आ रही है। उठूँ फिर एक चिलम भरूँ। किसी तरह रात तो कटे ! आठ चिलम तो पी चुका। यह खेती का मज़ा है ! और एक भागवान् ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा आये तो गरमी से घबड़ा कर भागो। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ़, कम्बल। मजाल है, जाड़े का गुज़र हो जाये। तकदीर की खूबी ! मजूरी हम करे, मजा दूसरे लूटे !

हल्कू उठा, गड्ढे में से ज़रा-सी आग निकाल कर चिलम भरी। जबरा भी उठ बैठा।

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा–पिएगा चिलम, जाड़ा तो क्या जाता है, हाँ जरा, मन बदल जाता है।

जबरा ने उसके मुँह की ओर प्रेम से छलकती हुई आँखों से देखा।

हल्कू–आज और जाड़ा खा ले। कल से मैं यहाँ पुआल बिछा दूँगा। उसी में घुसकर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा।

जबरा ने अपने पंजे उसकी घुटनियों पर रख दिये और उसके मुँह के पास अपना मुँह ले गया। हल्कू को उसकी गर्म साँस लगी।

चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो अबकी सो जाऊँगा; पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कम्पन होने लगा। कभी इस करवट

लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भाँति उसकी छाती को दबाये हुए था।

जब किसी तरह न रहा गया, उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपाकर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गंध आ रही थी, पर वह उसे अपनी गोद में चिपटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीनों से उसे न मिला था। जबरा शायद समझ रहा था कि स्वर्ग यहीं है, और हल्कू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गन्ध तक न थी। अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से गले लगाता। वह अपनी दीनता से आहत न था, जिसने आज उसे इस दशा को पहुँचा दिया। नहीं, इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिये थे और उनका एक-एक अणु प्रकाश से चमक रहा था।

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पायी। इस विशेष आत्मीयता ने उसमे एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी थी, जो हवा के ठण्डे झोकों को तुच्छ समझती थी। वह झपटकर उठा और छपरी से बाहर आकर भौंकने लगा। हल्कू ने उसे कई बार चुमकारकर बुलाया; पर वह उसके पास न आया। हार में चारों तरफ़ दौड़-दौड़कर भूँकता रहा। एक क्षण के लिए आ भी जाता, तो तुरन्त ही फिर दौड़ता। कर्त्तव्य उसके हृदय में अरमान की भाँति उछल रहा था।

तीन

एक घण्टा और गुज़र गया। रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरू किया। हल्कू उठ बैठा और दोनों घुटनों को छाती से मिलाकर सिर को उसमें छिपा लिया, फिर भी ठण्ड कम न हुई ; ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया है, धमनियों में रक्त की जगह हिम बह रही है। उसने झुककर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाक़ी है ! सप्तर्षि अभी आकाश में आधे भी नहीं चढ़े। ऊपर आ जायेंगे तब कहीं सबेरा होगा। अभी पहर से ऊपर रात है।

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग़ था। पतझड़ शुरू हो गयी थी। बाग़ मे पत्तियों का ढेर लगा हुआ था। हल्कू ने सोचा, चलकर पत्तियाँ बटोरूँ और उन्हें जलाकर खूब तापूँ। रात को कोई मुझे पत्तियाँ बटोरते देखे तो समझे, कोई भूत है। कौन जाने, कोई जानवर ही छिपा बैठा हो, मगर अब तो बैठे नहीं रहा जाता।

उसने पास के अरहर के खेत में जाकर कई पौधे उखाड़ लिये और उनका एक झाडू बनाकर हाथ में सुलगाता हुआ उपला लिये बगीचे की तरफ़ चला। जबरा ने उसे आते देखा, पास आया और दुम हिलाने लगा।

हल्कू ने कहा—अब तो नहीं रहा जाता जबरू ! चलो बगीचे में पत्तियाँ बटोरकर

तापें। टाँटे हो जाँयेंगे, फिर आकर सोयेंगे। अभी तो बहुत रात है।

जबरा ने कूँ-कूँ करके सहमति प्रकट की और आगे बगीचे की ओर चला।

बगीचे में खूब अँधेरा छाया हुआ था और अन्धकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था। वृक्षों से ओस की बूँदें टपटप नीचे टपक रही थीं।

एकाएक एक झोंका मेहँदी के फूलों की खुशबू लिये हुए आया।

हल्कू ने कहा–कैसी अच्छी महक आयी जबरू! तुम्हारी नाक में भी कुछ सुगन्ध आ रही है।

जबरा को कहीं ज़मीन पर एक हड्डी पड़ी मिल गयी थी। उसे चिंचोड़ रहा था।

हल्कू ने आग ज़मीन पर रख दी और पत्तियाँ बटोरने लगा। ज़रा देर में पत्तियों का ढेर लग गया। हाथ ठिठुरे जाते थे। नंगे पाँव गले जाते थे। और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था। इसी अलाव में वह ठण्ड को जलाकर भस्म कर देगा।

थोड़ी देर में अलाव जल उठा। उसकी लौ ऊपरवाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छूकर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे, मानो उस अथाह अन्धकार को अपने सिरों पर सँभाले हुए हों। अन्धकार के उस अनन्त सागर में यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था। एक क्षण में उसने दोहर उतारकर बगल में दबा ली, दोनों पाँव फैला दिये, मानो ठण्ड को ललकार रहा हो, 'तेरे जी में आये सो कर। ठण्ड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था।

उसने जबरा से कहा–क्यों जब्बर, अब ठण्ड नहीं लग रही है ?

जब्बर ने कूँ-कूँ करके मानो कहा–अब क्या ठण्ड लगती ही रहेगी ?

पहले से यह उपाय न सूझा, नही इतनी ठड क्यो खाते।

जब्बर ने पूँछ हिलायी।

अच्छा आओ, इस अलाव को कूदकर पार करें। देखें, कौन निकल जाता है। अगर जल गये बचा तो मैं दवा न करूँगा।

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रो से देखा !

मुन्नी से कल न कह देना, नही लड़ाई करेगी।

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ निकल गया। पैरों में जरा लपट लगी; पर वह कोई बात न थी। जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ।

हल्कू ने कहा–चलो-चलो, इसकी सही नहीं ! ऊपर से कूद कर आओ। वह फिर कूदा और अलाव के इरा पार आ गया !

चार

पत्तियाँ जल चुकी थीं। बगीचे में फिर अँधेरा छाया था। राख के नीचे कुछ-कुछ आग बाक़ी थी, जो हवा का झोंका आ जाने पर ज़रा जाग उठती थी; पर एक क्षण में फिर आँखें बन्द कर लेती थी।

हल्कू ने फिर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गुनगुनाने लगा। उसके बदन में गर्मी आ गयी थी; पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाये लेता था।

जबरा ज़ोर से भूँककर खेत की ओर भागा। हल्कू को ऐसा मालूम हुआ कि जानवरों का एक झुण्ड उसके खेत में आया है। शायद नीलगायों का झुण्ड था। उनके कूदने-दौड़ने की आवाज़ें साफ़ कान में आ रही थीं। फिर ऐसा मालूम हुआ कि खेत में चर रही हैं। उनके चबाने की आवाज़ चर-चर सुनाई देने लगी।

उसने दिल में कहा—नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता। नोच ही डाले। मुझे भ्रम हो रहा है। कहाँ ! अब तो कुछ नहीं सुनाई देता। मुझे भी कैसा धोखा हुआ !

उसने ज़ोर से आवाज़ लगायी—जबरा भूँकता रहा। उसके पास न आया।

फिर खेत के चरे जाने की आहट मिली। अब वह अपने को धोखा न दे सका। उसे अपनी जगह से हिलना ज़हर लग रहा था। कैसा दमदाया हुआ बैठा था। इस जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असह्य जान पड़ा। वह अपनी जगह से न हिला।

उसने ज़ोर से आवाज़ लगायी—हिलो! हिलो! हिलो !!!

जबरा फिर भूँक उठा। जानवर खेत चर रहे थे। फसल तैयार है। कैसी अच्छी खेती थी; पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किये डालते हैं !

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन क़दम चला; पर एकाएक हवा का ऐसा ठण्डा, चुभनेवाला, बिच्छू के डंक का-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेदकर अपनी ठण्डी देह को गर्माने लगा।

जबरा अपना गला फाड़े डालता था, नीलगायें खेत का सफाया किये डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शान्त बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों तरफ़ से जकड़ रखा था।

उसी राख के पास गर्म ज़मीन पर वह चादर ओढ़कर सो गया।

सबेरे जब उसकी नींद खुली, तब चारों तरफ़ धूप फैल गयी थी और मुन्नी कह रही थी—क्या आज सोते ही रहोगे ? तुम यहाँ आकर रम गये और उधर सारा खेत चौपट हो गया।

हल्कू ने उठकर कहा—क्या तू खेत से होकर आ रही है ?

मुन्नी बोली—'हाँऐ सारे खेत का सत्यानाश हो गया। भला, ऐसा भी कोई

सोता है। तुम्हारे यहाँ मँड़ैया डालने से क्या हुआ ?

हल्कू ने बहाना किया—मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी है। पेट में ऐसा दरद हुआ, ऐसा दरद कि मैं ही जानता हूँ !

दोनों फिर खेत के डाँड़ पर आये। देखा, सारा खेत रौंदा पड़ा हुआ है और जबरा मँड़ैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही न हों।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा—अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—रात को ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।

(हिन्दी में : 'माधुरी' मई, १६३० में प्रकाशित;
उर्दू में : 'प्रेम चालीसी' -२, १६३० में संकलित)

सद्गति

एक

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने-अपने काम से फ़ुर्सत पा चुके थे, तो चमारिन ने कहा—तो जाके पण्डित बाबा से कह आओ न। ऐसा न हो कहीं चले जायँ।

दुखी—हाँ जाता हूं, लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर ?

झुरिया—कहीं से खटिया न मिल जायगी ? ठकुराने से माँग लाना।

दुखी—तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि देह जल जाती है। ठकुरानेवाले मुझे खटिया देंगे ! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे ! कैथाने में जाकर एक लोटा पानी माँगू तो न मिले। भला खटिया कौन देगा ! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकडी थोड़े ही हैं कि जो चाहे उठा ले जाय। ले अपनी खटोली धोकर रख दे। गरमी के तो दिन हैं। उनके आते-आते सूख जायगी।

झुरिया—वह हमारी खटोली पर बैठेंगे नहीं। देखते नहीं कितने नेम धरम से रहते हैं।

दुखी ने ज़रा चिन्तित होकर कहा—हाँ, यह बात तो है। महुए के पत्ते तोड़कर एक पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाय। पत्तल मे बड़े-बड़े आदमी खाते हैं। वह पवित्तर है। ला तो डण्डा, पत्ते तोड़ लूँ।

झुरिया—पत्तल मैं बना लूँगी, तुम जाओ। लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा। अपनी थाली में रख दूँ ?

दुखी—कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे ! बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी क्रोध चढ़ आता है। क्रोध में पण्डिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल मे सीधा भी देना, हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दुकान से सब चीज़ें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायगा।

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठायी और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पण्डितजी से अर्ज करने चला। ख़ाली हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता। नजराने के लिए उसके पास घास के सिवाय और क्या था। उसे ख़ाली देखकर तो बाबा दूर ही से दुत्कारते।

दो

पं. घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घण्टे तक चन्दन रगड़ते, फिर आईने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घण्टी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते! ईशोपसन का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।

आज वह पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिये बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दण्डवत् करके हाथ बाँधकर खड़ा हो गया। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया! कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चन्दन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले—आज कैसे चला रे दुखिया?

दुखी ने सिर झुकाकर कहा—बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन विचारना है। कब मर्जी होगी?

घासी—आज मुझे छुट्टी नहीं। हाँ, साँझ तक आ जाऊँगा।

दुखी—नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ?

घासी—इस गाय के सामने डाल दे और जरा झाडू लेकर द्वार तो साफ़ कर दे। यह बैठक भी कई दिन से लीपी नहीं गयी। उसे भी गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान मे चार खाँची भूसा पड़ा है। उसे भी उठा लाना और भुसौली में रख देना।

दुखी फौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाडू लगायी, बैठक को गोबर से लीपा। तब बारह बज गये। पण्डितजी भोजन करने चले गये। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी जोर की भूख लगी; पर वहाँ खाने का क्या धरा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने चला जाय, तो पण्डितजी बिगड़ जायँ। बेचारे ने भूख दबायी और लकड़ी फाड़ने लगा। लकड़ी की मोटी-सी गाँठ थी; जिस

पर पहले कितने ही भक्तों ने अपना ज़ोर आजमा लिया था। वह उसी दम-खम के साथ लोहे से लोहा लेने के लिए तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाज़ार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता; पर उस गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँफता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था। हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था। अगर एक चिलम तम्बाकू पीने को मिल जाती, तो शायद कुछ ताकत आती। उसने सोचा, यहाँ चिलम और तम्बाकू कहाँ मिलेगी। ब्राह्मणों का पूरा है। ब्राह्मण लोग हम नीच जातों की तरह तम्बाकू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड भी रहता है। उसके यहाँ ज़रूर चिलम-तमाखू होगी। तुरन्त उसके घर दौड़ा। ख़ैर मेहनत सफल हुई। उसने तमाखू भी दी और चिलम भी दी; पर आग वहाँ न थी। दुखी ने कहा— आग की चिन्ता न करो भाई। मैं जाता हूँ, पण्डितजी के घर से आग माँग लूँगा। वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी।

यह कहता हुआ वह दोनों चीज़े लेकर चला आया और पण्डितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला—मालिक, रचिके आग मिल जाय, तो चिलम पी लें।

पण्डितजी भोजन कर रहे थे। पण्डिताइन ने पूछा—यह कौन आदमी आग माँग रहा है ?

पण्डित—अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पण्डिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा—तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूँगी। आग माँगने चले हैं।

पण्डितजी ने उन्हें समझाकर कहा—भीतर आ गया, तो क्या हुआ। तुम्हारी कोई चीज़ तो नहीं छुई। धरती पवित्र है। ज़रा-सी आग दे क्यो नहीं देती, काम तो हमारा ही कर रहा है। कोई लोनिया यही लकड़ी फाड़ता, तो कम-से-कम चार आने लेता।

पण्डिताइन ने गरज कर कहा—वह घर में आया क्यों !

पण्डित ने हारकर कहा—ससुरे का अभाग था और क्या !

पण्डिताइन—अच्छा, इस बख़्त तो आग दिये देती हूँ, लेकिन फिर जो इस तरह घर में आयेगा, तो उसका मुँह ही जला दूँगी।

दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक

आया। सच तो कहती हैं। पण्डित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं ये लोग तभी तो संसार पूजता है, तभी तो इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अक़ल भी न आयी।

इसलिए जब पण्डिताइन आग लेकर निकलीं तो वह मानो स्वयं का वरदान पा गया। दोनों हाथ जोड़कर ज़मीन पर माथा टेकता हुआ बोला–पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई है कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते ? पण्डिताइन चिमटे से पकड़कर आग लायी थीं। पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ़ आग फेंकी। आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर पर पड़ गयी। जल्दी से पीछे हटकर सिर के झोटे देने लगा। उसके मन ने कहा–यह एक पवित्तर ब्राह्मण के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसी से तो संसार पण्डितों से डरता है। और सबके रुपये मारे जाते हैं ब्राह्मण के रुपये भला कोई मार तो ले ! घर भर का सत्यानाश हो जायं, पाँव गल-गलकर गिरने लगें।

बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाडी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाज़ें आने लगीं।

उस पर आग पड़ गयी तो पण्डिताइन को उस पर कुछ दया आ गयी।

पण्डितजी भोजन करके उठे, तो बोलीं–इस चमारवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।

पण्डितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से दूर समझकर पूछा–रोटियाँ है ?

पण्डिताइन–दो चार बच जायेगी।

पण्डित–दो-चार रोटियों में क्या होगा ? चमार है, कम-से-कम सेर भर चढ़ा जाएगा।

पण्डिताइन कानों पर हाथ रखकर बोली–अरे बाप रे ! सेर भर ! तो फिर रहने दो।

पण्डितजी ने अब शेर बनकर कहा–कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो टो लिट्टी ठोंक दो। साले का पेट भर जाएगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।

पण्डिताइन ने कहा–अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।

तीन

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से ज़रा हाथों में ताक़त आ गयी थी। कोई आध घण्टा तक फिर कुल्हाडी चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया।

इतने में वही गोंड़ आ गया। बोला—क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गाँठ न फटेगी। नाहक हलाकान होते हो।

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा—अभी गाड़ी भर भूसा ढोना है भाई !

गोंड़—कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके माँगते क्यों नहीं ?

दुखी—कैसी बात करते हो चिखुरी, ब्राह्मण की रोटी हमको पचेगी !

गोंड़—पचने को पच जाएगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी-बहुत मजूरी देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बने हैं।

दुखी—धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें तो आफत आ जाए।

यह कहकर दुखी फिर सँभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उस पर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छीन ली और कोई आध घण्टा खूब कस-कस कुल्हाडी चलायी; पर गाँठ में एक दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फेंक दी और यह कहकर चला गया—तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाये।

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाड़े नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पड़ती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सो काम पड़े हैं। कार-परोजन का घर हैं, एक-न-एक चीज़ घटी ही रहती है; पर इन्हें इसकी क्या चिन्ता ! चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ। कह दूँगा, बाबा, आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा।

उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा। खलिहान यहाँ से दो फरलाग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भरकर लाता तो काम जल्द खत्म हो जाता; फिर झौवे को उठाता कौन। अकेले भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं भूसा ख़त्म हुआ। पण्डितजी की नींद भी खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया और बाहर निकले। देखा, तो दुखी झौवा सिर पर रखे सो रहा है ! ज़ोर से बोले—अरे, दुखिया ! तू सो रहा है ? लकड़ी तो अभी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। इतनी देर तू करता क्या रहा है ? मुट्ठी भर भूसा ढोने में सञ्झा कर दी ! उस पर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल। तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती। फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना ! इसी से कहा है कि नीच के घर में खाने को हुआ, उसकी आँख बदली।

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठायी। जो बातें पहले से सोच रखी थीं, वह सब भूल गया। पेट पीठ में धँसा जाता था; आज सबेरे जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना भी पहाड़ मालूम होता था। जी डूबा जाता था। दिल को समझाकर

उठा। पण्डित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहे बिगाड़ दें। पण्डितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गये और बढ़ावा देने लगे—हाँ, मार कसके, और मार—कसके मार—अबे जोर से मार—तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं—लगा कसके, खड़ा सोचने क्या लगता है—हाँ—बस फटा ही चाहती है ! दे उसी दरार में !

दुखी अपने होश में न था। न-जाने-कौन-सी गुप्तशक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकान, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गयी। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आध घण्टा तक वह इसी उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक कि लकड़ी बीच से फट गयी—और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूटकर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।

पण्डितजी ने पुकारा—उठके दो-चार हाथ और लगा दे। पतली-पतली चैलियाँ हो जायँ। दुखी न उठा। पण्डितजी ने अब उसे दिक करना उचित न समझा। भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गये, स्नान किया और पण्डिताई बाना पहनकर बाहर निकले ! दुखी अभी तक वहीं पड़ा हुआ था। जोर से पुकारा—'अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ। सब सामान ठीक-ठीक है न ? दुखी फिर भी न उठा।

अब पण्डितजी को कुछ शका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पण्डिताइन से बोले—दुखिया तो जैसे मर गया।

पण्डिताइन हकबकाकर बोलीं—वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न ?

पण्डित—हाँ लकड़ी चीरते-चीरते मर गया। अब क्या होगा ?

पण्डिताइन ने शान्त होकर कहा—होगा क्या, चमरौने में कहला भेजो, मुर्दा उठा ले जाएँ।

एक क्षण में गाँव भर में ख़बर हो गयी। पूरे मे ब्राह्मनो की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोंड का था। लोगों ने इधर का रास्ता छोड़ दिया। कुएँ का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय ! चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढ़िया ने पण्डितजी से कहा—अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं ? कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं।

इधर गोंड़ ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया—'खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है कि एक ग़रीब की जान ले ली। पण्डितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़े जाओगे।'

इसके बाद ही पण्डितजी पहुँचे; पर चमरौने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ, हाँ दुखी की स्त्री और कन्या दोनों हाय-हाय करती वहाँ चलीं और पण्डितजी के द्वार पर आकर सिर पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके साथ दस-पाँच और चमारिनें थीं। कोई रोती थी, कोई समझाती थी, पर चमार एक भी न था।

पण्डितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की; पर चमारों के दिल पर पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका। आख़िर निराश होकर लौट आये।

आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया और ब्राह्मण चमार की लाश कैसे उठाते! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है? कहीं कोई दिखा दे।

पण्डिताइन ने झुँझलाकर कहा—'इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली। सभों का गला भी नहीं पकता।'

पण्डित ने कहा—'रोने दो चुडैलों को, कब तक रोयेंगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था। मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब की सब आ पहुँची।'

पण्डिताइन—चमार का रोना मनहूस है।

पण्डित—हाँ, बहुत मनहूस।

पण्डिताइन—अभी से दुर्गन्ध उठने लगी।

पण्डित—चमार था ससुरा कि नहीं। साध-असाध किसी का विचार है इन सबों को।

पण्डिताइन—इन सबों को घिन भी नहीं लगती।

पण्डित—भ्रष्ट हैं सब।

रात तो किसी तरह कटी; मगर सबेरे भी कोई चमार न आया! चमारिनें भी रो-पीटकर चली गयीं। दुर्गन्ध कुछ-कुछ फैलने लगी।

पण्डितजी ने रस्सी निकाली। उसका फन्दा बनाकर मुरदे के पैर में डाला और फन्दे को खींचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधलका था। पंडितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गा-पाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।

(हिन्दी में : 'विशाल भारत', अक्टूबर, १९३१ में प्रकाशित;
उर्दू में : 'आखिरी तोहफ़ा', मार्च १९३४ में प्रकाशित)

दो बैलों की कथा

एक

जानवरों में गधा सबसे ज़्यादा बुद्धिहीन समझा जाता है, हम जब किसी आदमी को पल्ले दरजे का बेवकूफ़ कहना चाहते हैं, तो उसे गधा कहते हैं। गधा सचमुच बेवकूफ़ है, या उसके सीधेपन, उसकी निरापद सहिष्णुता ने उसे यह पदवी दे दी है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। गायें सींग मारती हैं, ब्यायी हुई गाय तो अनायास ही सिंहनी का रूप धारण कर लेती है। कुत्ता भी बहुत गरीब जानवर है, लेकिन कभी-कभी उसे भी क्रोध आ ही जाता है; किन्तु गधे को कभी क्रोध करते नहीं सुना, न देखा। जितना चाहे ग़रीब को मारो, चाहे जैसी ख़राब, सड़ी हुई घास सामने डाल दो, उसके चेहरे पर कभी असन्तोष की छाया भी न दिखाई देगी। वैशाख में चाहे एकाध बार कुलेल कर लेता हो ; पर हमने तो उसे कभी खुश होते नहीं देखा। उसके चेहरे पर एक स्थायी विषाद स्थायी रूप से छाया रहता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, किसी भी दशा में उसे बदलते नहीं देखा। ऋषियों-मुनियों के जितने गुण हैं, वे सभी उसमें पराकाष्ठा को पहुँच गये हैं; पर आदमी उसे बेवकूफ़ कहता है। सद्‌गुणों का इतना अनादर कहीं न देखा। कदाचित् सीधापन संसार के लिए उपयुक्त नहीं है। देखिए न, भारतवासियों की अफ्रीका में क्यों दुर्दशा हो रही है ? क्यों अमरीका में उन्हें घुसने नहीं दिया जाता ? बेचारे शराब नहीं पीते, चार पैसे कुसमय के लिए बचाकर रखते हैं, जी तोड़कर काम करते हैं, किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करते, चार बातें सुनकर ग़म खा जाते हैं फिर भी बदनाम हैं। कहा जाता है, वे जीवन के आदर्श को नीचा करते हैं। अगर वे भी ईंट का जवाब पत्थर से देना सीख जाते, तो शायद सभ्य कहलाने लगते। जापान की मिसाल सामने है। एक ही विजय ने उसे संसार की सभ्य जातियों में गण्य बना दिया।

लेकिन गधे का एक छोटा भाई और भी है, जो उससे कम ही गधा है, और वह है 'बैल'। जिस अर्थ में हम गधा का प्रयोग करते हैं, कुछ उसी से मिलते-जुलते अर्थ में 'बछिया के ताऊ' का भी प्रयोग करते हैं। कुछ लोग बैल को शायद बेवकूफ़ों में सर्वश्रेष्ठ कहेंगे; मगर हमारा विचार ऐसा नहीं है। बैल कभी-कभी मारता भी है, कभी-कभी अड़ियल बैल भी देखने में आता है। और भी कई रीतियों से अपना

असन्तोष प्रकट कर देता है; अतएव उसका स्थान गधे से नीचा है।

झूरी काछी के दोनो बैलो के नाम थे हीरा और मोती। दोनो पछाई जाति के थ—देखने मे सुन्दर, काम मे चौकस, डील मे ऊँचे। बहुत दिनो से साथ रहते-रहते दोनों मे भाईचारा हो गया था। दोनो आमने-सामने या आस-पास बैठे हुए एक दूसरे से मूक-भाषा मे विचार-विनिमय करते थे। एक दूसरे के मन की बात कैसे समझ जाता था, हम नही कह सकते। अवश्य ही उनमे कोई ऐसी गुप्त शक्ति थी, जिसमे जीवो मे श्रेष्ठता का दावा करनेवाला मनुष्य वचित है। दोनो एक-दूसरे को चाटकर और सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करते कभी-कभी दोनो सींग भी मिला लिया करते थे—विग्रह के नाते से नही, केवल विनोद के भाव से, आतमीयता के भाव से जैसे दोनो मे घनिष्ठता होते ही धौल-धप्पा होने लगता है। इसके बिना दोस्ती कुछ फुसफुसी, कुछ हल्की-सी रहती है, जिस पर ज्यादा विश्वास नही किया जा सकता। जिस वक्त ये दोनो बैल हल या गाडी मे जोत दिये जाते और गरदन हिला-हिलाकर चलते उस वक्त हर एक की यही चेष्टा होती थी कि ज्यादा-से-ज्यादा बोझ मेरी ही गरदन पर रहे। दिन-भर के बाद दोपहर या सन्ध्या को दोनो खुलते, तो एक-दूसरे का चाट-चूटकर अपनी थकान मिटा लेते। नॉद मे खली भूसा पड जाने के बाद दोनो साथ उठने, साथ नॉद मे मुँह डालते ओर साथ ही बैठते थे। एक मुँह हटा लेता तो दूसरा भी हटा लेता था।

सयोग की बात है, झूरी ने एक बार गोईं को ससुराल भेज दिया। बैलो को क्या मालूम वे क्यो भेजे जा रहे हैं। समझे, मालिक ने हमे बेच दिया। अपना या बेचा जाना उन्हे अच्छा लगा या बुरा, कौन जाने पर झूरी के साले गया को घर तक गोईं ले जाने मे दॉतो पसीना आ गया। पीछे से हॉकता तो दोनो दाये-बाये भागते, पगहिया पकडकर आगे से खीचता तो दोनो पीछे को जोर लगाते। मारता तो दोनो सीग नीचे करके हुँकरते। अगर ईश्वर ने उन्हे वाणी दी होती, तो झूरी से पूछते—तुम हम गरीबो को क्यो निकाल रहे हो ? हमने तो तुम्हारी सेवा करने मे कोई कसर नही उठा रखी। अगर इतनी मेहनत से काम न चलता था और काम ले लेते, हमे तो तुम्हारी चाकरी मे मर जाना कबूल था। हमने कभी दाने-चारे की शिकायत नही की। तुमने जो कुछ खिलाया वह सिर झुकाकर खा लिया फिर तुमने हमे इस जालिम के हाथो क्यो बेच दिया ?

सन्ध्या समय दोनो बैल अपने नये स्थान पर पहुँचे। दिन-भर के भूखे थे, लेकिन जब नाँद मे लगाये गये, तो एक ने भी उसमे मुँह न डाला। दिल भारी हो रहा था। जिसे उन्होने अपना घर समझ रखा था, वह आज उनसे छूट गया था। यह नया घर, नया गाँव, नये आदमी, उन्हे बेगानो से लगते थे।

दोनो ने अपनी मूक भाषा मे सलाह की, एक-दूसरे को कनखियो से देखा और लेट गये। जब गाँव मे सोता पड गया, तो दोनो ने जोर मारकर पगहे तुडा डाले और घर की तरफ चले। पगहे बहुत मजबूत थे। अनुमान न हो सकता था कि कोई बैल

उन्हे तोड सकेगा पर इन दोनो मे इस समय दूनी शक्ति आ गयी थी। एक एक झटके मे रस्सियाँ टूट गयीं।

झूरी प्रात सोकर उठा तो देखा कि दोनो बैल चरनी पर खडे हैं। दोनो की गरदनो मे आधा आधा गराँव लटक रहा है। घुटने तक पॉव कीचड से भरे है और दोनो की ऑखो मे विद्रोहमय स्नेह झलक रहा है।

झूरी बैलो को देखकर स्नेह से गद्‌गद हो गया। दौडकर उन्हे गले लगा लिया। प्रेमालिगन और चुम्बन का वह दृश्य बडा ही मनोहर था।

घर और गाँव के लडके जमा हो गये और तालियाँ बजा-बजाकर उनका स्वागत करने लगे। गॉव के इतिहास मे यह घटना अभूतपूर्व न होने पर भी महत्त्वपूर्ण थी। बाल सभा ने निश्चय किया, दोनो पशु वीरो को अभिनन्दनपत्र देना चाहिए। कोई अपने घर से रोटियाँ लाया, कोई गुड, कोई चोकर, कोई भूसी।

एक बालक ने कहा–ऐसे बैल किसी के पास न होगे।

दूसरे ने समर्थन किया–इतनी दूर से दोनो अकेले चले आये।

तीसरा बोला–बैल नही है वे, उस जनम के आदमी हैं।

इसका प्रतिवाद करने का किसी को साहस न हुआ।

झूरी की स्त्री ने बैलो को द्वार पर देखा, तो जल उठी। बोली– कैसे नमक हराम बैल हैं कि एक दिन वहाँ काम न किया , भाग खडे हुए।

झूरी अपने बैलो पर यह आक्षेप न सुन सका–नमकहराम क्यो हैं ? चारा दाना न दिया होगा, तो क्या करते ?

स्त्री ने रोब के साथ कहा–बस, तुम्ही तो बैलो को खिलाना जानते हो और तो सभी पानी पिला पिलाकर रखते हैं।

झूरी ने चिढ़ाया–चारा मिलता तो क्यो भागते ?

स्त्री चिढ़ी–भागे इसलिए कि वे लोग तुम जैसे बुद्धुओ की तरह बैलो को सहलाते नही। खिलाते है तो रगडकर जोतते भी है। ये दोनो ठहरे काम-चोर, भाग निकले। अब देखूँ ? कहाँ से खली और चोकर मिलता है, सूखे भूसे के सिवा कुछ न दूँगी, खायें चाहे मरे।

वही हुआ। मजूर को बडी ताकीद कर दी गयी कि बैलो को खाली सूखा भूसा दिया जाय।

बैलो ने नॉद मे मुँह डाला तो फीका-फीका। न कोई चिकनाहट न कोई रस। क्या खायें ? आशा भरी ऑखो से द्वार की ओर ताकने लगे।

झूरी ने मजूर से कहा–थोडी-सी खली क्या नही डाल देता बे ?

"मालकिन मुझे मार ही डालेगी।'

'चुराकर डाल आ।"

"ना दादा, पीछे से तुम भी उन्ही की सी कहोगे।"

दो

दूसरे दिन झूरी का साला फिर आया और बैलों को ले चला। अबकी उसने दोनों को गाड़ी में जोता।

दो-चार बार मोती ने गाड़ी को सड़क की खाई में गिराना चाहा; पर हीरा ने संभाल लिया। वह ज़्यादा सहनशील था।

सन्ध्या-समय घर पहुँचकर उसने दोनों को मोटी रस्सियों से बाँधा और कल की शरारत का मज़ा चखाया। फिर वही सूखा भूसा डाल दिया। अपने दोनों बैलों को खली, चूनी सब कुछ दी।

दोनों बैलों का ऐसा अपमान कभी न हुआ था। झूरी इन्हें फूल की छड़ी से भी न छूता था। उसकी टिटकार पर दोनों उड़ने लगते थे। यहाँ मार पड़ी। आहत-सम्मान की व्यथा तो थी ही, उस पर मिला सूखा भूसा !

नाँद की तरफ़ आँखें तक न उठायीं।

दूसरे दिन गया ने बैलों को हल में जोता, पर इन दोनों ने जैसे पाँव न उठाने की कसम खा ली थी। वह मारते-मारते थक गया; पर दोनों ने पाँव न उठाया। एक बार जब उस निर्दयी ने हीरा की नाक पर खूब डण्डे जमाये, तो मोती का गुस्सा काबू के बाहर हो गया। हल लेकर भागा। हल, रस्सी, जुआ, जोत, सब, टूट-टाट कर बराबर हो गया। गले में बड़ी-बड़ी रस्सियाँ न होतीं तो दोनो पकड़ाई में न आते।

हीरा ने मूक-भाषा में कहा—भागना व्यर्थ है।

मोती ने उत्तर दिया—तुम्हारी तो इसने जान ही ले ली थी।

"अबकी बड़ी मार पड़ेगी।"

"पड़ने दो बैल का जन्म लिया है तो मार से कहाँ तक बचेंगे।"

"गया दो आदमियों के साथ दौड़ा आ रहा है। दोनो के हाथों मे लाठियाँ हैं।"

मोती बोला—कहो तो दिखा दूँ कुछ मजा मैं भी। लाठी लेकर आ रहा है।

हीरा ने समझाया—नहीं भाई ! खड़े हो जाओ।

"मुझे मारेगा, तो मैं भी एक-दो को गिरा दूँगा।"

"नहीं। हमारी जाति का यह धर्म नहीं है।"

मोती दिल में ऐंठकर रह गया। गया आ पहुँचा और दोनों को पकड़कर ले चला। कुशल हुई कि उसने इस वक़्त मारपीट न की, नहीं तो मोती भी पलट पड़ता। उसके तेवर देखकर गया और उसके सहायक समझ गये कि इस वक्त टाल जाना ही मसलहत है।

आज दोनों के सामने फिर वही सूखा भूसा लाया गया। दोनों चुपचाप खड़े रहे। घर के लोग भोजन करने लगे। उस वक़्त छोटी-सी लड़की दो रोटियाँ लिये निकली, और दोनों के मुँह में देकर चली गयी। उस एक रोटी से इनकी भूख तो क्या शान्त होती ; पर दोनो के हृदय को मानो भोजन मिल गया। यहाँ भी किसी

सज्जन का बास है। लड़की भैरो की थी। उसकी माँ मर चुकी थी। सौतेली माँ मारती रहती थी, इसलिए इन बैलों से उसे एक प्रकार की आत्मीयता हो गयी थी।

दोनों दिन-भर जोते जाते, डण्डे खाते, अड़ते। शाम को थान पर बाँध दिये जाते और रात को वही बालिका उन्हें दो रोटियाँ खिला जाती। प्रेम के इस प्रसाद की यह बरकत थी कि दो-दो गाल सूखा भूसा खाकर भी दोनों दुर्बल न होते थे, मगर दोनों की आँखों में, रोम-रोम में विद्रोह भरा हुआ था।

एक दिन मोती ने मूक-भाषा में कहा—अब तो नहीं सहा जाता हीरा !

"क्या करना चाहते हो ?"

"एकाध को सींगों पर उठाकर फेंक दूँगा।"

"लेकिन जानते हो, वह प्यारी लड़की, जो हमें रोटियाँ खिलाती है, उसी की लड़की है, जो इस घर का मालिक है। यह बेचारी अनाथ न हो जायगी ?"

"तो मालकिन को न फेंक दूँ। वही तो उस लड़की को मारती है।"

"लेकिन औरत जात पर सींग चलाना मना है, यह भूले जाते हो।"

"तुम तो किसी तरह निकलने ही नहीं देते। बताओ, तुड़ाकर भाग चलें।"

"हाँ, यह मैं स्वीकार करता, लेकिन इतनी मोटी रस्सी टूटेगी कैसे ?"

"इसका एक उपाय है। पहले रस्सी, को थोड़ा-सा चबा लो। फिर एक झटके में जाती है।"

रात को जब बालिका रोटियाँ खिलाकर चली गयी, दोनों रस्सियाँ चबाने लगे पर मोटी रस्सी मुँह में न आती थी। बेचारे बार-बार जोर लगाकर रह जाते थे।

सहसा घर का द्वार खुला और वही बालिका निकली। दोनों सिर झुकाकर उसका हाथ चाटने लगे। दोनों की पूँछें खड़ी हो गयीं। उसने उनके माथे सहलाये और बोली—खोले देती हूँ। चुपके से भाग जाओ, नहीं तो यहाँ लोग मार डालेंगे। आज घर में सलाह हो रही है कि इनकी नाकों में नाथ डाल दी जायँ।

उसने गराँव खोल दिया, पर दोनों चुपचाप खड़े रहे।

मोती ने अपनी भाषा में पूछा—अब चलते क्यों नहीं ?

हीरा ने कहा—चलें तो लेकिन कल इस अनाथ पर आफत आयेगी। सब इसी पर सन्देह करेंगे। सहसा बालिका चिल्लायी—दोनों फूफा वाले बैल भागे जा रहे हैं। ओ दादा ! दोनों बैल भागे जा रहे हैं, जल्दी दौड़ो।

गया हड़बड़ाकर भीतर से निकला और बैलों को पकड़ने चला। वे दोनों भागे। गया ने पीछा किया। और भी तेज हुए। गया ने शोर मचाया। फिर गाँव के कुछ आदमियों को भी साथ लेने के लिए लौटा। दोनों मित्रों को भागने का मौका मिल गया। सीधे दौड़ते चले गये। यहाँ तक कि मार्ग का ज्ञान न रहा। जिस परिचित मार्ग से आये थे, उसका यहाँ पता न था। नये-नये गाँव मिलने लगे। तब दोनों एक खेत के किनारे खड़े होकर सोचने लगे, अब क्या करना चाहिए ?

हीरा ने कहा—मालूम होता है, राह भूल गये।

"तुम भी बेतहाशा भागे। वहीं उसे मार गिराना था।"

"उसे मार गिराते, तो दुनिया क्या कहती ? वह अपना धर्म छोड़ दे, लेकिन हम अपना धर्म क्यों छोड़ें ?"

दोनों भूख से व्याकुल हो रहे थे। खेत में मटर खड़ी थी। चरने लगे। रह-रहकर आहट ले लेते थे, कोई आता तो नहीं है।

जब पेट भर गया, दोनों ने आज़ादी का अनुभव किया, तो मस्त होकर उछलने-कूदने लगे। पहले दोनों ने डकार ली। फिर सींग मिलाये और एक-दूसरे को ठेलने लगे। मोती ने हीरा को कई क़दम हटा दिया, यहाँ तक कि वह खाई में गिर गया। तब उसे भी क्रोध आया। सँभलकर उठा और फिर मोती से भिड़ गया। मोती ने देखा—खेल में झगड़ा हुआ चाहता है, तो किनारे हट गया।

तीन

अरे ! यह क्या ? कोई साँड डौकता चला आ रहा है। हाँ, साँड ही है। वह सामने आ पहुँचा। दोनों मित्र बगलें झाँक रहे हैं। साँड पूरा हाथी है। उससे भिडना जान से हाथ धोना है; लेकिन न भिड़ने पर भी जान बचती नही नज़र आती। इन्ही की तरफ आ भी रहा है। कितनी भयकर सूरत है।

मोती ने मूक-भाषा मे कहा— बुरे फँसे। जान बचेगी ? कोई उपाय सोचो।

हीरा ने चिन्तित स्वर में कहा—अपने घमण्ड से फूला हुआ है। आरजू-विनती न सुनेगा।

"भाग क्यों न चलें ?"

"भागना कायरता है।"

"तो फिर यहीं मरो। बन्दा तो नौ-दो-ग्यारह होता है।"

"और जो दौड़ाये ?"

"तो फिर कोई उपाय सोचो जल्द !"

"उपाय यही है कि उस पर दोनों जनें एक साथ चोट करें ? मैं आगे से रगेदता हूँ, तुम पीछे से रगेदो, दोहरी मार पड़ेगी, तो भाग खड़ा होगा। मेरी ओर झपटे, तुम बग़ल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना। जान ज़ोखिम है; पर दूसरा उपाय नहीं है।"

दोनों मित्र जान हथेलियों पर लेकर लपके। साँड को भी संगठित शत्रुओं से लड़ने का तजरबा न था। वह तो एक शत्रु से मल्लयुद्ध करने का आदी था। ज्योंही हीरा पर झपटा, मोती ने पीछे से दौड़ाया। साँड उसकी तरफ़ मुड़ा, तो हीरा ने रगेदा। साँड चाहता था कि एक-एक करके दोनों को गिरा ले; पर ये दोनों भी उस्ताद थे। उसे वह अवसर न देते थे। एक बार साँड झल्लाकर हीरा का अन्त कर देने के लिए चला कि मोती ने बगल से आकर पेट में सींग भोंक दी। साँड क्रोध में आकर पीछे

फिरा तो हीरा ने दूसरे पहलू में सींग भोंक दी। आखिर बेचारा जख़्मी होकर भागा और दोनों मित्रों ने दूर तक उसका पीछा किया। यहाँ तक कि साँड बेदम होकर गिर पड़ा। तब दोनों ने उसे छोड़ दिया। दोनों मित्र विजय के नशे में झूमते चले जाते थे।

मोती ने अपनी सांकेतिक भाषा मे कहा–मेरा तो जी चाहता था कि बच्चा को मार ही डालूँ।

हीरा ने तिरस्कार किया–गिरे हुए बैरी पर सींग न चलाना चाहिए।

"यह सब ढोंग है। बैरी को ऐसा मारना चाहिए कि फिर न उठे।"

"अब घर कैसे पहुँचेंगे, वह सोचो।"

"पहले कुछ खा लें, तो सोचे।"

सामने मटर का खेत था ही। मोती उसमें घुस गया। हीरा मना करता रहा, पर उसने एक न सुनी। अभी दो ही चार ग्रास खाये थे कि दो आदमी लाठियाँ लिये दौड पड़े, और दोनों मित्रो को घेर लिया। हीरा तो मेड़ पर था, निकल गया। मोती सींचे हुए खेत मे था। उसके खुर कीचड़ मे धँसने लगे। न भाग सका। पकड़ लिया। हीरा ने देखा, सगी संकट में है, तो लौट पड़ा। फँसेंगे तो दोनो फँसेगे। रखवालों ने उसे भी पकड लिया। प्रातः काल दोनों मित्र काँजीहौस में बन्द कर दिये गये।

चार

दोनों मित्रों को जीवन मे पहली बार ऐसा साबिका पडा कि सारा दिन बीत गया और खाने को एक तिनका भी न मिला। समझ ही में न आता था, यह कैसा स्वामी है ? इससे तो गया फिर भी अच्छा था। यहाँ कई भैंसे थीं, कई बकरियाँ, कई घोड़े, कई गधे : पर किसी के सामने चारा न था, सब ज़मीन पर मुरदों की तरह पड़े थे। कई तो इतने कमजोर हो गये थे कि खड़े भी नहीं हो सकते थे। सारा दिन दोनों मित्र फाटक की ओर टकटकी लगाये ताकते रहे; पर कोई चारा लेकर आता न दिखाई दिया। तब दोनो ने दीवार की नमकीन मिट्टी चाटनी शुरू की, पर इससे क्या तृप्ति होती ?

रात को भी जब कुछ भोजन न मिला, तो हीरा के दिल में विद्रोह की ज्वाला दहक उठी।

मोती से बोला–अब तो नहीं रहा जाता मोती !

मोती ने सिर लटकाये हुए जवाब दिया–मुझे तो मालूम होता है, प्राण निकल रहे हैं।

"इतनी जल्द हिम्मत न हारो भाई ! यहाँ से भागने का कोई उपाय निकालना चाहिए।"

"आओ दीवार तोड डालें।"

"मुझसे तो अब कुछ नहीं होगा।"

"बस इसी बूते पर अकड़ते थे ?"

"सारी अकड़ निकल गयी।"

बाड़े की दीवार कच्ची थी। हीरा मजबूत तो था ही, अपनी नुकीली सींगें दीवार में गड़ा दिये और जोर मारा, तो मिट्टी का एक चिप्पड़ निकल आया। फिर तो उसका साहस बढ़ा। इसने दौड़-दौडकर दीवार पर चोटें कीं और हर चोट में थोड़ी-थोड़ी मिट्टी गिराने लगा।

उसी समय काँजीहौंस का चौकीदार लालटेन लेकर जानवरों की हाजिरी लेने निकला। हीरा का उजापन देखकर उसने उसे कई डण्डे रसीद किये और मोटी-सी रस्सी से बाँध दिया।

मोती ने पड़े-पड़े कहा—आखिर मार खायी, क्या मिला ?

"अपने बूते-भर जोर तो मार दिया।"

"ऐसा जोर मारना किस काम का कि और बन्धन में पड़ गये।"

"जोर तो मारता ही जाऊँगा, चाहे कितने ही बन्धन पड़ते जायँ।"

"जान से हाथ धोना पड़ेगा।"

"कुछ परवाह नहीं। यों भी तो मरना ही है। सोचो, दीवार खुद जाती तो कितनी जानें बच जातीं। इतने भाई यहाँ बन्द हैं। किसी के देह में जान नहीं है। दो-चार दिन और यही हाल रहा, तो सब मर जायेंगे।"

"हाँ, यह बात तो है। अच्छा, तो ला, फिर मैं भी ज़ोर लगाता हूँ।"

मोती ने भी दीवार में उसी जगह सींग मारा। थोड़ी-सी मिट्टी गिरी और हिम्मत बढ़ी। फिर तो वह दीवार में सींग लगाकर इस तरह जोर करने लगा, मानो किसी प्रतिद्वन्द्वी से लड़ रहा है। आखिर कोई दो घण्टे की ज़ोर-आज़माई के बाद दीवार ऊपर से लगभग एक हाथ गिर गयी। उसने दूनी शक्ति से दूसरा धक्का मारा, तो आधी दीवार गिर पड़ी।

दीवार का गिरना था कि अधमरे-से पड़े हुए सभी जानवर चेत उठे। तीनों घोड़ियाँ सरपट भाग निकलीं। फिर बकरियाँ निकलीं। इसके बाद भैंसें भी खिसक गयीं ; पर गधे अभी तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे।

हीरा ने पूछा— तुम दोनों क्यों नहीं भाग जाते ?

एक गधे ने कहा—जो कहीं फिर पकड़ लिये जायँ।

"तो क्या हरज है। अभी तो भागने का अवसर है।"

"हमें तो डर लगता है। हम यहीं पड़े रहेंगे।"

आधी रात से ऊपर जा चुकी थी। दोनों गधे अभी तक खड़े सोच रहे थे कि भागें या न भागें, मोती अपने मित्र की रस्सी तोड़ने में लगा हुआ था। जब वह हार गया, तो हीरा ने कहा—तुम जाओ, मुझे यहीं पड़ा रहने दो। शायद कहीं भेंट हो जाय।

मोती ने आँखों में आँसू लाकर कहा—तुम मुझे इतना स्वार्थी समझते हो,

हीरा ? हम और तुम इतने दिनों एक साथ रहे हैं। आज तुम विपत्ति में पड़ गये, तो मैं तुम्हें छोड़कर अलग हो जाऊँ।

हीरा ने कहा—बहुत मार पड़ेगी। लोग समझ जायेंगे, यह तुम्हारी शरारत है।

मोती गर्व से बोला—जिस अपराध के लिए तुम्हारे गले में बन्धन पड़ा, उसके लिए अगर मुझ पर मार पड़े, तो क्या चिन्ता ! इतना तो हो ही गया कि नौ-दस प्राणियों की जान बच गयी। वे सब तो आशीर्वाद देंगे।

यह कहते हुए मोती ने दोनों गधों को सींगों से मार-मारकर बाड़े के बाहर निकाला और तब अपने बन्धु के पास आकर सो रहा।

भोर होते ही मुंशी और चौकीदार तथा अन्य कर्मचारियों में कैसी खलबली मची, इसके लिखने की जरूरत नहीं। बस, इतना ही काफ़ी है कि मोती की खूब मरम्मत हुई और उसे भी मोटी रस्सी से बाँध दिया गया।

पाँच

एक सप्ताह तक दोनों मित्र वहाँ बँधे पड़े रहे। किसी ने चारे का एक तृण भी न डाला। हाँ, एक बार पानी दिखा दिया जाता था। यही उनका आधार था ! दोनों इतने दुर्बल हो गये थे कि उठा तक न जाता था; ठठरियाँ निकल आयी थीं।

एक दिन बाड़े के सामने डुग्गी बजने लगी और दोपहर होते-होते वहाँ पचास-साठ आदमी जमा हो गये। तब दोनों मित्र निकाले गये और उनकी देख-भाल होने लगी। लोग आ-आकर उनकी सूरत देखते और मन फीका करके चले जाते। ऐसे मृतक बैलों का कौन ख़रीददार होता ?

सहसा एक दढ़ियल आदमी , जिसकी आँखें लाल थीं और मुद्रा अत्यन्त कठोर, आया और दोनों मित्रों के कूल्हों मे उँगली गोदकर मुंशीजी से बातें करने लगा। उसका चेहरा देखकर अन्तर्ज्ञान से दोनो मित्रो के दिल काँप उठे। वह कौन है और उन्हें क्यों टटोल रहा है, इस विषय में उन्हें कोई सन्देह न हुआ। दोनों ने एक-दूसरे को भीत नेत्रों से देखा और सिर झुका लिया।

हीरा ने कहा—गया के घर से नाहक भागे। अब जान न बचेगी। मोती ने अश्रद्धा के भाव से उत्तर दिया—कहते हैं, भगवान् सबके ऊपर दया करते हैं। उन्हें हमारे ऊपर क्यों दया नहीं आती ?

भगवान् के लिए हमारा मरना-जीना दोनों बराबर है। चलो, अच्छा ही है, कुछ दिन उसके पास तो रहेंगे। एक बार भगवान् ने उस लड़की के रूप में हमें बचाया था। क्या अब न बचायेंगे ?

"यह आदमी छुरी चलायेगा। देख लेना।"

"तो क्या चिन्ता है ? मांस, खाल, सींग, हड्डी सब किसी-न-किसी काम आ जायेगी।"

नीलाभ हो जाने के बाद दोनो मित्र उस दढियल के साथ चले। दोनो की बोटी-बोटी कॉप रही थी। बेचारे पॉव तक न उठा सकते थे, पर भय के मारे गिरते-पडते भागे जाते थे ; क्योकि वह जरा भी चाल धीमी हो जाने पर जोर से डण्डा जमा देता था।

राह मे गाय-बैलो का एक रेवड हरे-हरे हार मे चरता नजर आया। सभी जानवर प्रसन्न थे, चिकने, चपल, कोई उछलता था, कोई आनन्द से बैठा पागुर करता था। कितना सुखी जीवन था इनका; पर कितने स्वार्थी हैं सब। किसी को चिन्ता नही कि उनके दो भाई बधिक के हाथ पडे कैसे दुःखी हैं।

सहसा दोनो को ऐसा मालूम हुआ कि यह परिचित राह है। हॉ, इसी रास्ते से गया उन्हे ले गया था। वही खेत, वही बाग, वही गॉव मिलने लगे। प्रतिक्षण उनकी चाल तेज होने लगी। सारी थकान, सारी दुर्बलता गायब हो गयी। आह ! यह ला ! अपना ही हार आ गया। इसी कुएँ पर हम पुर चलाने आया करते थे , यही कुऑ है।

मोती ने कहा—हमारा घर नगीच आ गया।

हीरा बोला—भगवान की दया है।

"मैं तो अब घर भागता हूँ।"

"यह जाने देगा ?"

"इसे मैं मार गिराता हूँ।"

"नही-नही, दौडकर थान पर चलो। वहॉ से हम आगे न जायेगे।"

दोनो उन्मत्त होकर बछडो की भॉति कुलेले करते हुए घर की ओर दौडे। वह हमारा थान है। दोनो दौडकर अपने थान पर आये और खडे हो गये। दढियल भी पीछे-पीछे दौडा चला आता था।

झूरी द्वार पर बैठा धूप खा रहा था। बैलो को देखते ही दौडा और उन्हे बारी-बारी से गले लगाने लगा। मित्रो की ऑखो मे आनन्द के ऑसू बहने लगे। एक झूरी का हाथ चाट रहा था।

दढियल ने जाकर बैलो की रस्सियॉ पकड ली।

झूरी ने कहा—मेरे बैल हैं।

"तुम्हारे बैल कैसे ? मैं मवेशीखाने से नीलाम लिये आता हूँ।"

"मैं तो समझता हूँ चुराये लिये आते हो ! चुपके से चले जाओ। मेरे बैल हैं। मैं बेचूँगा तो बिकेगे। किसी को मेरे बैल नीलाम करने का क्या अख्तियार है ?"

"जाकर थाने मे रपट कर दूँगा।"

"मेरे बैल है। इसका सबूत यह है कि मेरे द्वार पर खडे हैं।"

दढियल झल्लाकर बैलो को जबरदस्ती पकड ले जाने के लिए बढा। उसी वक्त मोती ने सीग चलाया। दढियल पीछे हटा। मोती ने पीछा किया। दढियल भागा। मोती पीछे दौडा। गॉव के बाहर निकल जाने पर वह रुका; पर खडा दढियल का

रास्ता देख रहा था। दढ़ियल दूर खड़ा धमकियाँ दे रहा था, गालियाँ निकाल रहा था, पत्थर फेंक रहा था। और मोती विजयी शूर की भाँति उसका रास्ता रोके खड़ा था। गाँव के लोग यह तमाशा देखते थे और हँसते थे। जब दढ़ियल हारकर चला गया, तो मोती अकड़ता हुआ लौटा।

हीरा ने कहा—मैं डर रहा था कि कही तुम गुस्से में आकर मार न बैठो।

"अगर वह मुझे पकड़ता, तो मैं बे-मारे न छोड़ता।"

"अब न आयेगा।"

"आयेगा तो दूर ही से खबर लूँगा। देखूँ, कैसे ले जाता है।"

"जो गोली मरवा दे ?"

"मर जाऊँगा; पर उसके काम तो न आऊँगा।"

"हमारी जान को कोई जान ही नहीं समझता।"

"इसलिए कि हम इतने सीधे हैं।"

जरा देर में नाँदों में खली, भूसा, चोकर और दाना भर दिया गया और दोनों मित्र खाने लगे। झूरी खड़ा दोनों को सहला रहा था और बीसों लड़के तमाशा देख रहे थे। सारे गाँव मे उत्छाह-सा मालूम होता था।

उसी समय मालकिन ने आकर दोनों के माथे चूम लिये।

(हिन्दी में : 'हंस', अक्टूबर, १९३१ में प्रकाशित;
उर्दू में : 'चन्दन', नवम्बर, १९३१ में 'दो बैल' शीर्षक से प्रकाशित)

दूध का दाम

एक

अब बड़े-बड़े शहरों मे दाइयाँ, नर्सें और लेडी डाक्टर, सभी पैदा हो गयी हैं; लेकिन देहातों में जच्चेखानों पर अभी तक भंगिनों का ही प्रभुत्व है और निकट भविष्य में इसमें कोई तब्दीली होने की आशा नहीं। बाबू महेशनाथ अपने गाँव के ज़मींदार थे, शिक्षित थे, और जच्चेखानों में सुधार की आवश्यकता को मानते थे, लेकिन इसमें जो बाधाएँ थीं, उन पर कैसे विजय पाते ? कोई नर्स देहात मे जाने पर राजी न हुई और वहुत कहने-सुनने से राजी भी हुई, तो इतनी लम्बी-चौड़ी फीस माँगी कि बाबू साहब को सिर झुकाकर चले आने के सिवा और कुछ न सूझा। लेडी डॉक्टर के पास जाने की उन्हें हिम्मत न पड़ी। उसकी फीस पूरी करने के लिए तो शायद बाबू साहब को अपनी आधी जायदाद बेचनी पड़ती ; इसलिए जब तीन कन्याओं के बाद चौथा लड़का पैदा हुआ तो फिर वही गूदड़ था और वही गूदड़ की बहू। बच्चे अक्सर रात ही को पैदा होते हैं। एक दिन आधी रात को चपरासी ने गूदड़ के द्वार पर ऐसी हाँक लगायी कि पास-पड़ोस में भी जाग्र पड़ गयी। लड़की न थी कि मरी आवाज़ से पुकारता।

गूदड़ के घर में इस शुभ अवसर के लिए महीनों से तैयारी हो रही थी। भय था तो यही कि फिर बेटी न हो जाय, नहीं तो वही बँधा हुआ एक रुपया और एक साड़ी मिलकर रह जाएगी। इस विषय में स्त्री-पुरुष में कितने ही बार झगड़ा हो चुका था, शर्त लग चुकी थी। स्त्री कहती थी—अगर अबकी बेटी न हो तो मुँह न दिखाऊँ; हाँ-हाँ, मुँह न दिखाऊँ, सारे लच्छन बेटे के हैं। और गूदड़ कहता था—देख लेना, बेटी होगी और बीच खेत बेटी होगी। बेटा निकले तो मूँछे मुँडा लूँ, हाँ-हाँ मूँछे मुंडा लूँ। शायद गूदड समझता था कि इस तरह अपनी स्त्री में पुत्र-कामना को बलवान् करके वह बेटे की अवाई के लिए रास्ता साफ़ कर रहा है।

भूँगी बोली—अब मूँछ मुँडा ले दाढ़ीजार ! कहती थी, बेटा होगा। सुनता ही न था। अपनी ही रट लगाये जाता था। मैं आज तेरी मूँछें मूँडूँगी, खूँटी तक तो रखूँगी ही नहीं।

गूदड़ ने कहा—अच्छा मूँड लेना भलीमानस ! मूँछें क्या फिर निकलेंगी ही

नहीं ? तीसरे दिन देख लेना, फिर ज्यों-की-त्यों हैं, मगर जो कुछ मिलेगा उसमें आधा रखा लूँगा, कहें देता हूँ।

भूँगी ने अँगूठा दिखाया और अपने तीन महीने के बालक को गूदड़ के सुपुर्द कर सिपाही के साथ चल खड़ी हुई।

गुदड़ ने पुकारा–अरी ! सुन तो; कहाँ भागी जाती है ? मुझे भी बधाई बजाने जाना पड़ेगा। इसे कौन सँभालेगा ?

भूँगी ने दूर ही से कहा–इसे वहीं धरती पर सुला देना। मैं आके दूध पिला जाऊँगी।

दो

महेशनाथ के यहाँ अब भूँगी की खूब खातिरदारियाँ होने लगीं। सबेरे हरीरा मिलता, दोपहर को पूरियाँ और हलवा, तीसरे पहर को फिर और रात को फिर और गूदड़ को भी भरपूर परोसा मिलता था। भूँगी अपने बच्चे को दिन-रात में एक-दो बार से ज़्यादा न पिला सकती थी। उसके लिए ऊपर के दूध का प्रबन्ध था। भूँगी का दूध बाबूसाहब का भाग्यवान बालक पीता था। और यह सिलसिला बारहवें दिन भी न बन्द हुआ। मालकिन मोटी-ताजी देवी थी; पर अब की कुछ ऐसा संयोग कि उन्हें दूध हुआ ही नहीं। तीनों लड़कियो की बार इतने इफरात से दूध होता था कि ज़ड़कियों को बदहजमी हो जाती थी। अब की एक बूँद नहीं। भूँगी दाई भी थी और दूध-पिलाई भी।

मालकिन कहती–भूँगी, हमारे बच्चे को पाल दे, फिर जब तक तू जिये, बैठी खाती रहना। पाँच बीघे माफ़ी दिलवा दूँगी। नाती-पोते तक चैन करेंगे।

और भूँगी का लाड़ला ऊपर का दूध हज़म न कर सकने के कारण बार-बार उलटी करता और दिन-दिन दुबला होता जाता था।

भूँगी कहती–बहूजी, मूँडन में चूड़े लूँगी। कहे देती हूँ।

बहूजी उत्तर देतीं–हाँ-हाँ, चूड़े लेना भाई, धमकाती क्यों है ? चाँदी के लेगी या सोने के ?

"वाह बहूजी ! चाँदी के चूड़े पहन के किसे मुँह दिखाऊँगी और किसकी हँसी होगी ?"

"अच्छा, सोने के लेना भाई, कह तो दिया।"

"और ब्याह में कण्ठा लूँगी और चौधरी(गूदड़) के लिए हाथों के तोड़े।"

"वह भी लेना, भगवान् वह दिन तो दिखावे।"

घर में मालकिन के बाद भूँगी का राज्य था, महरियाँ, महराज़िन, नौकर-चाकर सब उसका रोब मानते थे। यहाँ तक कि खुद बहूजी भी उससे दब जाती थीं। एक बार तो उसने महेशनाथ को भी डाँटा था। हँसकर टाल गये। बात चली थी भंगियों की। महेशनाथ ने कहा–दुनिया में और चाहे जो कुछ हो जाय, भंगी भंगी ही रहेंगे।

इन्हे आदमी बनाना कठिन है।

इस पर भूँगी ने कहा था—मालिक, भगी तो बडो-बडो को आदमी बनाते हैं, उन्हे कोई क्या आदमी बनाये ?

यह गुस्ताखी करके किसी दूसरे अवसर पर भला भूँगी के सिर के बाल बच सकते थे ? लेकिन आज बाबूसाहब ठठाकर हँसे और बोले—भूँगी बात बडे पते की कहती है।

तीन

भूँगी का शासनकाल साल-भर से आगे न चल सका। देवताओ ने बालक के भगिन का दूध पीने पर आपत्ति की, मोटेराम शास्त्री तो प्रायश्चित का प्रस्ताव कर बैठे। दूध तो छुडा दिया गया, लेकिन प्रायश्चित की बात हँसी मे उड गयी। महेशनाथ ने फटकारकर कहा—प्रायश्चित की खूब कही शास्त्रीजी, कल तक उसी भगिन का खून पीकर पला, अब उसमे छूत घुस गयी। वाह रे आपका धर्म !

शास्त्रीजी शिखा फटकारकर बोले—यह सत्य है, वह कल तक भगिन का रक्त पीकर पला। मास खाकर पला, यह भी सत्य है; लेकिन कल की बात कल थी, आज की बात आज। जगन्नाथपुरी मे छूत-अछूत सब एक पगत मे खाते हैं, पर यहाँ तो नही खा सकते। बीमारी मे तो हम भी कपडे पहने खा लेते है, खिचडी तक खा लेते हैं बाबूजी; लेकिन अच्छे हो जाने पर तो नेम का पालन करना ही पडता है। आपद्धर्म की बात न्यारी है।

तो इसका यह अर्थ है कि धर्म बदलता रहता है—कभी कुछ, कभी कुछ ?

"और क्या ! राजा का धर्म अलग, प्रजा का धर्म अलग, अमीर का धर्म अलग, गरीब का धर्म अलग, राजे-महाराजे जो चाहे खाये, जिसके साथ चाहे खाये, जिसके साथ चाहे शादी-ब्याह करे, उनके लिए कोई बन्धन नही। समर्थ पुरुष हैं। बन्धन तो मध्यवालो के लिए है।"

प्रायश्चित्त तो न हुआ; लेकिन भूँगी को गद्दी से उतारना पडा ! हाँ, दान-दक्षिणा इतनी मिली की वह अकेले ले न जा सकी और सोने के चूडे भी मिले। एक की जगह दो नयी, सुन्दर साडियाँ—मामूली नैनसुख की नही, जैसी लडकियो की बार मिली थी।

चार

इसी साल प्लेग ने जोर बाँधा और गूदड पहले ही चपेट मे आ गया। भूँगी अकेली रह गयी; पर गृहस्थी ज्यो-की-त्यो चलती रही। लोग ताक लगाये बैठे थे कि भूँगी अब गयी। फलाँ भगी से बातचीत हुई, फलाँ चौधरी आये, लेकिन भूँगी न कहीं आयी, न कही गयी, यहाँ तक कि पाँच साल बीत गये और उसका बालक मगल, दुर्बल

और सदा रोगी रहने पर भी दौड़ने लगा। सुरेश के सामने पिद्दी-सा लगता था।

एक दिन भूँगी महेशनाथ के घर का परनाला साफ़ कर रही थी। महीनों से गलीज जमा हो रहा था। आँगन में पानी भरा रहने लगा था। परनाले में एक लम्बा मोटा बाँस डालकर जोर से हिला रही थी। पूरा दाहिना हाथ परनाले के अन्दर था कि एकाएक उसने चिल्लाकर हाथ बाहर निकाल लिया और उसी वक़्त एक काला साँप परनाले से निकलकर भागा। लोगों ने दौड़कर उसे मार तो डाला; लेकिन भूँगी को न बचा सके। समझे ; पानी का साँप है, विषैला न होगा, इसलिए पहले कुछ गफ़लत की गयी। जब विष देह में फैल गया और लहरें आने लगीं, तब पता चला कि वह पानी का साँप नहीं, गेहुँवन था।

मंगल अब अनाथ था। दिन-भर महेशबाबू के द्वार पर मँडराया करता। घर में जूठन इतना बचता था कि ऐसे-ऐसे दस-पाँच बालक पल सकते थे। खाने की कोई कमी थी। हाँ, उसे तब बुरा ज़रूर लगता था, जब उसे मिट्टी के कसोरों में ऊपर से खाना दिया जाता था। सब लोग अच्छे-अच्छे बरतनों में खाते हैं, उसके लिए मिट्टी के कसोरे !

यों उसे इस भेद-भाव का बिलकुल ज्ञान न होता था; लेकिन गाँव के लड़के चिढ़ा-चिढ़ाकर उसका अपमान करते रहते थे। कोई उसे अपने साथ खेलाता भी न था। यहाँ तक कि जिस टाट पर वह सोता था, वह भी अछूत था। मकान के सामने एक नीम का पेड़ था। इसी के नीचे मंगल का डेरा था। एक फटा-सा टाट का टुकड़ा, दो मिट्टी के कसोरे और एक धोती, जो सुरेश बाबू की उतारन थी, जाड़ा, गरमी, बरसात हरेक मौसम में वह जगह एक-सी आरामदेह थी और भाग्य का बली मंगल झुलसती हुई लू, गलते हुए जाड़े और मूसलाधार वर्षा में भी ज़िन्दा और पहले से कहीं स्वस्थ था। बस, उसका कोई अपना था, तो गाँव का एक कुत्ता, जो अपने सहवर्गियों के ज़ुल्म से दुखी होकर मंगल की शरण आ पड़ा था। दोनों एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबीयत भी दोनों की एक-सी थी और दोनों एक-दूसरे के स्वभाव को जान गये थे। कभी आपस में झगड़ा न होता।

गाँव के धर्मात्मा लोग बाबूसाहब की इस उदारता पर आश्चर्य करते। ठीक द्वार के सामने–पचास हाथ भी न होगा– मंगल का पड़ा रहना उन्हें सोलहों आने धर्म-विरुद्ध जान पड़ता। छिः ! यही हाल रहा तो थोड़े ही दिनों में धर्म का अन्त ही समझो। भंगी को भी भगवान् ने ही रचा है, यह हम भी जानते हैं। उसके साथ हमें किसी तरह का अन्याय न करना चाहिए, यह किसे नहीं मालूम ? भगवान् का तो नाम ही पतित-पावन है; लेकिन समाज की मर्यादा भी कोई वस्तु है ! उस द्वार पर जाते हुए संकोच होता है। गाँव के मालिक हैं, जाना तो पड़ता ही है; लेकिन बस यही समझ लो कि घृणा होती है।

मंगल और टामी में गहरी बनती थी। मंगल कहता–देखो भाई टामी जरा और खिसककर सोओ। आखिर मैं कहाँ लेटूँ ? सारा टाट तो तुमने घेर लिया।

टामी कूँ-कूँ करता, दुम हिलाता और खिसक जाने के बदले और ऊपर चढ़ आता एवं मंगल का मुँह चाटने लगता।

शाम को वह एक बार रोज अपना घर देखने और थोड़ी देर रोने जाता। पहले साल फूँस का छप्पर गिर पड़ा, दूसरे साल एक दीवार गिरी और अब केवल आधी-आधी दीवारें खड़ी थी, जिनका ऊपरी भाग नोकदार हो गया था। यही उसे स्नेह की सम्पत्ति मिली थी। वही स्मृति, वही प्यार, वही आकर्षण, उसे एक बार उस ऊजड़ में खींच ले जाती थी। और टामी सदैव उसके साथ होता था। मंगल नोकदार दीवार पर बैठ जाता और जीवन के बीते और आनेवाले स्वप्न देखने लगता और बार-बार उछलकर उसकी गोद में बैठने की असफल चेष्टा करता।

पाँच

एक दिन कई लड़के खेल रहे थे। मंगल भी पहुँचकर दूर खड़ा हो गया। या तो सुरेश को उस पर दया आयी, या खेलेनवालों की जोड़ी पूरी न पड़ती थी, कह नहीं सकते। जो कुछ भी हो, तज़बीज की कि आज मंगल को भी खेल में शरीक़ कर लिया जाय। यहाँ कौन देखने आता है ! क्यों रे मंगल खेलेगा ?

मंगल बोला—न भैया, कहीं मालिक देख लें, तो मेरी चमड़ी उधेड़ दी जाय। तुम्हें क्या, तुम तो अलग हो जाओगे।

सुरेश ने कहा—तो यहाँ कौन आता है देखने बे ? चल, हम लोग सवार-सवार खेलेंगे। तू घोड़ा बनेगा, हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौड़ाएँगे ?

मंगल ने शंका की—मैं बराबर घोड़ा ही रहूँगा, कि सवारी भी करूँगा ? यह बता दो। यह प्रश्न टेढ़ा था। किसी ने इस पर विचार न किया था। सुरेश ने एक क्षण विचार करके कहा—तुझे कौन आपनी पीठ पर बिठाएगा, सोच ? आख़िर तू भंगी है कि नहीं ?

मंगल भी कड़ा हो गया। बोला—मैं कब कहता हूँ कि मैं भंगी नहीं हूँ, लेकिन तुम्हें मेरी ही माँ ने अपना दूध पिला कर पाला है। जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी, मैं घोड़ा न बनूँगा। तुम लोग बड़े चघड़ हो। आप तो मज़े से सवारी करोगे और मैं घोड़ा ही बना रहूँ !

सुरेश ने डाँटकर कहा, तुम्हें घोड़ा बनना पड़ेगा और मंगल को पकड़ने दौड़ा। मंगल भागा। सुरेश ने दौड़ाया। मंगल ने क़दम और तेज किया। सुरेश ने भी ज़ोर लगाया; मगर वह बहुत खा-खाकर थुल-थुल हो गया था और दौड़ने में उसकी साँस फूलने लगती थी।

आख़िर उसने रुककर कहा—आकर घोड़ा बनो मंगल, नहीं तो कभी पा जाऊँगा, तो बुरी तरह पीटूँगा।

"तुम्हें भी घोड़ा बनना पड़ेगा।"

"अच्छा हम भी बन जाएँगे।"

"तुम पीछे से निकल जाओगे। पहले घोड़ा बन जाओ। मैं सवारी कर लूँ फिर मैं बनूँगा।"

सुरेश ने सचमुच चकमा देना चाहा था। मंगल का यह मुतालबा सुनकर साथियों से बोला–देखते हो इसकी बदमाशी, भंगी है न !

तीनों ने मंगल को घेर लिया और उसे जबरदस्ती घोड़ा बना दिया। सुरेश ने चटपट उसकी पीठ पर आसन जमा लिया और टिकटिक करके बोला–चल घोड़े, चल !

मंगल कुछ देर तो चला, लेकिन उस बोझ से उसकी कमर टूटी जाती थी। उसने धीरे से पीठ सिकोड़ी और सुरेश की रान के नीचे से सरक गया। सुरेश महोदय लद से गिर पड़े और भोंपू बजाने लगे।

माँ ने सुना, सुरेश कहीं रो रहा है। सुरेश कहीं रोये, तो उनके तेज कानों में ज़रूर भनक पड़ जाती थी और उसका रोना भी बिल्कुल निराला होता था, जैसे छोटी लाइन के इंजन की आवाज़।

महरी से बोली--देख तो, सुरेश कहीं रो रहा है, पूछ तो किसने मारा है ?

इतने में सुरेश खुद आँखें मलता हुआ आया। उसे जब रोने का अवसर मिलता था, तो माँ के पास फ़रियाद लेकर ज़रूर आता था। माँ मिठाई या मेवे देकर आँसू पोंछ देती थी। आप थे तो आठ साल के, मगर थे बिलकुल गावदी। हद से ज़्यादा प्यार ने उसकी बुद्धि के साथ वही किया था, जो हद से ज़्यादा भोजन ने उसकी देह के साथ।

माँ ने पूछा–क्यों रोता है सुरेश, किसने मारा ?

सुरेश ने रोकर कहा–मंगल ने छू दिया।

माँ को विश्वास न आया। मंगल इतना निरीह था कि उससे किसी तरह की शरारत की शंका न होती थी; लेकिन जब सुरेश कसमें खाने लगा, तो विश्वास करना ज़ाजिम हो गया। मंगल को बुलाकर डाँटा–क्यों रे मंगल, अब तुझे बदमाशी सूझने लगी। मैंने तुझसे कहा था, सुरेश को कभी मत छूना, याद है कि नहीं, बोल ?

मंगल ने दबी आवाज़ से कहा–याद क्यों नहीं है ?

"तो फिर तूने उसे क्यों छुआ ?"

"मैंने नहीं छुआ।"

"तूने नहीं छुआ, तो वह रोता क्यों था ?"

"गिर पड़े, इससे रोने लगे।"

चोरी और सीनाजोरी। देवीजी दांत पीसकर रह गयीं। मारतीं, तो उसी दम स्नान करना पड़ता। छड़ी तो हाथ में लेनी ही पड़ती और छूत का विद्युत-प्रवाह इस छड़ी के रास्ते उनकी देह में पैवस्त हो जाता, इसलिए जहाँ तक गालियाँ दे सकीं, दीं और हुक्म दिया कि अभी-अभी यहाँ से निकल जा। फिर जो इस द्वार पर तेरी सूरत नज़र आयी, तो खून ही पी जाऊँगी। मुफ़्त की रोटियाँ खा-खाकर शरारत सूझती

है; आदि।

मंगल में गैरत तो क्या थी, हाँ डर था। चुपके से अपने सकोरे उठाये, टाट का टुकड़ा बगल में दबाया, धोती कन्धे पर रखी और रोता हुआ वहाँ से चल पड़ा। अब वह यहाँ कभी न आएगा। यही तो होगा कि भूखों मर जाएगा। क्या हरज है ? इस तरह जीने से फायदा ही क्या ? गाँव में उसके लिए और कहाँ ठिकाना था ? भंगी को कौन पनाह देता ? उसी खँड़हर की ओर चला, जहाँ भले दिनों की स्मृतियाँ उसके आँसू पोंछ सकती थीं और खूब फूट-फूटकर रोया।

उसी क्षण टामी भी उसे ढूँढ़ता हुआ पहुँचा और दोनों फिर अपनी व्यथा भूल गये।

छः

लेकिन ज्यों-ज्यों दिन का प्रकाश क्षीण होता जाता था, मंगल की ग्लानि क्षीण होती जाती थी। बचपन को बेचैन करने वाली भूख देह का रक्त पी-पीकर और भी बलवान होती जाती थी। आँखें बार-बार कसोरों की ओर उठ जातीं। वहाँ अब तक सुरेश की जूठी मिठाइयाँ मिल गयी होतीं। यहाँ क्या धूल फाँके ?

उसने टामी से सलाह की—खाओगे क्या टामी ? मैं तो भूखा लेट रहूँगा।

टामी ने कूँ-कूँ करके शायद कहा—इस तरह का अपमान तो ज़िन्दगी भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा ? मुझे देखो न, कभी किसी ने डण्डा मारा, चिल्ला उठा, फिर जरा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुँचा। हम-तुम दोनों इसीलिए बने हैं भाई !

मंगल ने कहा—तो तुम जाओ; जो कुछ मिले खा लो, मेरी परवाह न करो।

टामी ने अपनी श्वान-भाषा में कहा—अकेला नहीं जाता, तुम्हें साथ लेकर चलूँगा।

"मैं नहीं जाता।"

"तो मैं भी नहीं जाता।"

"भूखों मर जाओगे।"

"तो क्या तुम जीते रहोगे ?"

"मेरा कौन बैठा है, जो रोएगा ?"

"यहाँ भी वही हाल है भाई, क्वार में जिस कुतिया से प्रेम किया था, उसने बेवफाई की और अब कल्लू के साथ है। खैरियत यही हुई कि अपने बच्चे लेती गयी, नहीं तो मेरी जान गाढ़े में पड़ जाती। पाँच-पाँच बच्चों को कौन पालता ?"

एक क्षण के बाद भूख ने एक दूसरी युक्ति सोच निकाली।

"मालकिन हमें खोज रही होंगी, क्या टामी ?"

"और क्या ? बाबूजी और सुरेश खा चुके होंगे। कहार ने उनकी थाली से जूठन निकाल लिया होगा और हमें पुकार रहा होगा।"

"बाबूजी और सुरेश दोनों की थालियों में घी खूब रहता है और वह मीठी-मीठी चीज–हाँ मलाई।"

"सब-का-सब घूरे पर डाल दिया जाएगा।"

"देखें, हमें खोजने कोई आता है ?"

"खोजने कौन आयेगा; क्या कोई पुरोहित हो ? एक बार मंगल-मंगल होगा और बस थाली परनाले मे उँडेल दी जाएगी।"

"अच्छा, तो चलो चलें। मगर मैं छिपा रहूँगा, अगर किसी ने मेरा नाम लेकर न पुकारा; तो मैं लौट आऊँगा। यह समझ लो।"

दोनों वहाँ से निकले और आकर महेशनाथ के द्वार पर अँधेरे में दबककर खड़े हो गये; मगर टामी को सब्र कहाँ ? वह धीरे-से अन्दर घुस गया। देखा, महेशनाथ और सुरेश थाली पर बैट गये हैं। बरोठे मे धीरे से बैठ गया, मगर डर रहा था कि कोई डण्डा न मार दे।

नौकरों में बातचीत हो रही थी। एक ने कहा–आज मंगलवा नहीं दिखाई देता। मालकिन ने डाँटा था, इससे भागा है साइत।

दूसरे ने जवाब दिया– अच्छा हुआ, निकाल दिया गया। सवेरे-सवेरे भगी का मुँह देखना पड़ता था। मंगल और अँधेरे में खिसक गया। आशा गहरे जल में डूब गयी।

महेशनाथ थाली से उठ गये। नौकर हाथ धुला रहा है। अब हुक्का पीएँगे और सोएँगे। सुरेश अपनी माँ के पास बैठा कोई कहानी सुनता-सुनता सो जाऐगा ! ग़रीब मंगल की किसे चिन्ता है इतनी देर हो गयी, किसी ने भूल से भी न पुकारा।

कुछ देर तक वह निराश-सा वहाँ खड़ा रहा, फिर एक लम्बी साँस खींचकर जाना ही चाहता था कि कहार पत्तल में थाली का जूठन ले जाता नज़र आया।

मंगल अँधेरे से निकलकर प्रकाश में आ गया। अब मन को कैसे रोके ?

कहार ने कहा–अरे, तू यहाँ था ? हमने समझा कि कहीं चला गया। ले, खा ले; मैं फेंकने ले जा रहा था।

मंगल ने दीनता से कहा– मैं तो बड़ी देर से यहाँ खड़ा था।

"तो बोला क्यों नहीं ?"

"मारे डर के।"

"अच्छा, ले खा ले।"

उसने पत्तल को ऊपर उठाकर मंगल के फैले हुए हाथों में डाल दिया। मंगल ने उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जिसमें दीन कृतज्ञता भरी हुई थी।

टामी भी अन्दर से निकल आया था। दोनों वहीं नीम के नीचे पत्तल में खाने लगे। मगल ने एक हाथ से टामी का सिर सहलाकर कहा–देखा, पेट की आग ऐसी होती है ! यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलतीं, तो क्या करते ?

"टामी ने दुम हिला दी।"

"सुरेश को अम्माँ ने पाला था।"

टामी ने फिर दुम हिलायी।

"'लोग कहते हैं, दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है।"

टामी ने फिर दुम हिलायी।

(हिन्दी में : 'हंस', जुलाई, १९३४ में प्रकाशित:
उर्दू में : 'दूध की कीमत', अप्रैल-मई, १९३७ में प्रकाशित

पण्डित मोटेराम की डायरी

एक

क्या नाम कि कुछ समझ में नहीं आता कि डेरी और डेरी-फार्म में क्या सम्बन्ध ! डेरी तो कहते हैं उस छोटी-सी सादी सजिल्द पोथी को, जिस पर रोज़-रोज़ का वृत्तान्त लिखा जाता है और जो प्रायः सभी महान् पुरुष लिखा करते हैं और डेरी-फार्म उस स्थान को कहते हैं, जहाँ गायें-भैंसें पाली जाती हैं और उनका दूध, मक्खन, घी तैयार किया जाता है। ऐसा मालूम होता है, डेरी-फार्म इसलिए नाम पड़ा कि जैसे डेरी में नित्य-प्रति का समाचार लिखा जाता है, उस तरह वहाँ नित्यप्रति दूध-मक्खन बनता है। जो कुछ हो, मैंने अब डेरी लिखने का निश्चय कर लिया है। कई साल पहले एक बार एक पुस्तक वाले ने मुझे एक डेरी भेंट की थी। तब मैंने उस पर एक महीने तक अपना हाल लिखा; लेकिन मुझे उसमें लिखने को कुछ सूझता ही न था। रात को सोने के पहले घण्टों बैठा सोचता—क्या लिखूँ। लिखने लायक कोई बात भी हो ? यह लिखना कि प्रातःकाल उठा, मुँह-हाथ धोया, स्नान किया, तिलक-चन्दन लगाया, पूजन किया, यजमानों से मिला, कहीं साइत बाँचने गया; फिर लौटकर भोजन किया और सोया। तीसरे पहर फिर उठा, भंग छानी, फिर स्नान किया, फिर तिलक लगाया और कथा बाँचने चला गया; लौटकर फिर भोजन किया और सो रहा। यह सब लिखना मुझे अच्छा न लगता था। इसलिए उस डेरी पर मैंने धोबी के कपड़ों और आमदनी-ख़र्च लिखकर उसे पूरा किया। जब से वह डेरी समाप्त हुई, तबसे ख़र्च-आमदनी का हिसाब लिखना छोड़ दिया और धोबी के कपड़ों का हिसाब पण्डिताइन के ज़िम्मे डाल दिया।

लेकिन अब मैं फिर डेरी लिखना आरम्भ कर रहा हूँ, इसका क्या कारण है ? मैंने सुना है कि इससे आयु बढ़ती है, और चारों पदार्थ हाथ आ जाते हैं। इसलिए अब मैं फिर भगवान् का नाम लेकर, और गणेश जी के सामने शीश झुकाकर डेरी लिखना आरम्भ करता हूँ। ओम शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

क्या नाम कि आजकल साम्यवाद और समष्टिवाद की बड़ी चर्चा सुन रहा हूँ। साम्यवाद का अर्थ यह है कि सभी मनुष्य बराबर हों। तो मैं अपने साम्यवादी विद्वानों से जो इस विषय के आचार्य हैं, जैसे—श्री सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव जी और आचार्य श्रीप्रकाशजी से पूछना चाहता हूँ कि सब मनुष्य कैसे बराबर हो सकते

हैं ? आचार्य नरेन्द्रदेवजी मुझे क्षमा करें या न करें, मगर उनके जैसे तीन आचार्य मेरे पेट में समा सकते हैं, फिर यह कैसा साम्यवाद ? इसका मतलब तो यही हो सकता है कि या मैं वामन-रूप धारण कर लूँ या वह विराट् रूप धारण कर लें।

अच्छा, अब दूसरी बात लीजिए। धन तो आप सबका बराबर कर देना चाहते हैं, लेकिन कृपा करके यह बतलाइए कि आप सबके पेट कैसे बराबर कर देंगे ? आचार्य नरेन्द्रदेवजी एक-दो फुलके और एक-आध घूंट दूध पीकर रह सकते हैं, मगर मुझे तो पूजा करने के बाद, मध्याह्न, तीसरे पहर और रात को, चार बार तर माल चकाचक चाहिए, जिसमें लड्डू, हलवा, मलाई, बादाम, कलाकन्द आदि का प्राधान्य हो। अगर आपका साम्यवाद इसकी गारण्टी करे कि वह मुझे इच्छापूर्ण भोजन देगा तो मैं उस पर विचार कर सकता हूँ और अगर आप चाहते हों कि मैं भी दो फुलके और तोले-भर दूध और दो तोले भाजी खाकर रहूँ तो ऐसे साम्यवाद को मेरा दूर ही से प्रणाम है। मैं धन नहीं मँगता; लेकिन भोजन आँतफाड़ चाहता हूँ, अगर इस तरह की गारण्टी दी गयी, तो वचन देता हूँ कि मैं और मेरे अनेक मित्र साम्यवादी बनने को तैयार हो जाएँगे।

लेकिन एक भोजन ही से तो काम नहीं चलता। कपड़ा ही ले लीजिए। आपको एक कुरता और एक टोपी चाहिए। कुरते में एक गज़ से अधिक खद्दर न लगेगा। मैं लम्बी अँगरखी पहनता हूँ, जिसमें सात गज़ से कम कपड़ा नहीं लगता। मैंने दरज़ी के सामने बैठकर खुद कटवाया है और इसका विश्वास दिलाता हूँ कि इससे कम में मेरी अँगरखी नहीं बन सकती। फिर बारह गज़ का साफा, पाँच गज़ की चादर ऊपर से। साम्यवाद इसकी गारण्टी ले सकता है ? धन लेकर मुझे क्या करना है, लेकिन भोजन और वस्त्र तो चाहिए ही।

आप कहेंगे, काम सबके बराबर करना पड़ेगा। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। अगर कोई सज्जन घड़ी-भर पूजा करें, तो मैं दो घड़ी कर दूँगा; वह घड़ी भर स्नान करें तो मैं दो घड़ी पानी में रह सकता हूँ; वह एक घड़ी शास्त्रार्थ करें तो मैं भोजन-पूजन आदि को छोड़कर दिन-भर शास्त्रार्थ कर सकता हूँ। इसमें मैं किसी से पीछे हटनेवाला नहीं।

एक बात और। स्थान की मुझे परवाह नहीं; झोंपड़ा भी हो तो मैं अपना निबाह कर सकता हूँ। लेकिन रेल-यात्रा करते समय अगर मुझे सबके बराबर जगह मिली, तो उस पटरी पर बैठनेवालों को छोड़कर भागना पड़ेगा; क्योंकि मैं एक पूरी पटरी से कम में समा ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि मैं सन्नाटा मारकर नहीं सो सकता। निद्रा में एक विचित्र प्रकार का खर्राटा लेता हूँ। कभी कोई सज्जन मेरे समीप सोते हैं, तो उन्हें रात को उठकर भागना पड़ता है। इसलिए अपने हित के लिए नहीं, दूसरों के हित के लिए मैं यह चाहूँगा कि मुझे एक पूरी कोठरी सोने को मिले। अगर साम्यवाद इसमें मीन-मेष निकाले तो मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा।

इतना लिख चुका था कि पण्डिताइन आकर खड़ी हो गयी और पूछने

लगी—आज सबेरे-सबेरे यह क्या लिखने बैठ गये। सेठजी के लड़के की कुण्डली क्यों नहीं बना डालते ? व्यर्थ शास्त्रार्थ कराके अपना मूँड़ क्यों दुखवाते हो ?

मैं स्त्रियों का अपमान नहीं करता। उन्हें घर की देवी समझता हूँ। वे घर की लक्ष्मी हैं, लेकिन घर-गिरस्ती के सिवा उनसे किसी और बात में सलाह नहीं लेता। घर की लक्ष्मी को घर तक ही रखना चाहता हूँ। राजनीति, समाज, धर्म आदि के विषय में उन्हें क्या मतलब। स्त्रियों को सिर चढ़ाने की इन मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे बाबुओं को जो सनक सवार हुई है, मैं इसे पसन्द नहीं करता। पण्डिताइन भी एक दिन आधी बाँह की जम्पर पहने हुए निकलीं जिससे आधी छाती दिखाई दे रही थी, तो मैंने उसी दम वह जम्पर उतरवा कर छोड़ा। वह बहुत बिगड़ीं; लेकिन मैंने भी रौद्ररूप दिखाया। आख़िरकार जब मैं डण्डा लेने दौड़ा; तो उन्होंने धीरे से जम्पर उतार दिया और मुँह फुला बैठीं। मैंने कहा—चाहे मुँह फुलाओ, चाहे गाल फुलाओ,चाहे सारी देह फुलाकर कुप्पा हो जाओ; लेकिन इस भेष में मैं तुम्हें घर से निकलने न दूँगा। ख़ैर, जब उन्होंने आकर मुझे डाँट बतायी, तो मैंने कह दिया, 'तुम यह बातें नहीं समझ सकतीं, जाकर अपना काम देखो।'

पण्डिताइन बोलीं— तुमने चार अक्षर पढ़ लिया तो बड़े समझदार हो गये ? अभी एक जून चूल्हा न जलाऊँ तो सारी समझदारी निकल जाय।

कितना बेतुका जवाब था। मारूँ घुटना, फूटे आँख ! लेकिन मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। उनसे मैं ऐसे जवाब सुनने का अभ्यस्त हो गया हूँ। मैंने जरा कड़ाई के साथ कहा—तुम्हारे मतलब की कोई बात नहीं है देवी, नहीं तो मैं तुम्हें सुना देता।

"कोई कविताई करते होंगे। यही तो तुम्हें रोग है।"

"कविता करने का रोग मुझे कब था ? बे-बात-की-बात करती हो। मैं कविताई से इतनी दूर हूँ, जितना पूरब पच्छिम से। यह वेश-भूषा, यह डील-डौल कवियों का है ? तुम क्या जानो, कवि किसे कहते हैं ? कवि वह है, जिसकी सूरत से कविता बरसती हो। बस, मैं कविताई नहीं कर रहा हूँ, एक सामाजिक प्रश्न पर कुछ शंकाएँ उपस्थित करने का सौभाग्य-सिन्दूर प्राप्त कर रहा हूँ।"

पण्डित के इस पाण्डित्यपूर्ण कथन से वह कुछ रोब में आ गयीं। लेकिन मैं थोड़ा-सा बुद्धू भी हूँ। उसी वक़्त मुझे हँसी आ गयी। बस, पण्डिताइन लौट पड़ीं और मेरे हाथ से लेख छीनकर बोलीं— मैं समझ गयी, किसी को प्रेम-पत्र लिख रहे हो ?

अब नहीं तो अब बनी। मैं गंगाजल लेकर शपथ खा सकता हूँ कि मैंने आज तक न जाना, प्रेम किस चिड़िया का नाम है। मेरी प्रेमिका तर माल है। दूसरा प्रेम मेरी समझ में नहीं आता; लेकिन पण्डिताइन को न जाने क्यों मुझ पर सन्देह होता रहता है। प्रेमियों की दशा देखकर तो मुझे उन पर हँसी आती है। जब देखो, रो रहे हैं। ठण्डी साँसें खींच रहे हैं। न कुछ खाते हैं, न पीते हैं खासे लकलक बने हुए हैं, फूँक दो तो उड़ जायँ। इस तरह का प्रेम करके तो मैं तीसरे ही दिन संसार से

विदा हो जाऊँ। लेकिन इस सन्देह का निवारण करना अब लाज़िम हो गया।

मैंने थोड़े से शब्दों से पण्डिताइन को साम्यवाद का तत्त्व समझाने की चेष्टा की। जब मैं अपना कथन समाप्त कर चुका, तो वह आँखें मटकाकर बोलीं—ऐ नौज तुम्हारा सामवाद ! कुछ घास तो नहीं खा गये हो ! जिनके बाल वंश न हों, वे सामवाद की बात सोचें। मुझे तो भगवान ने पाँच-पाँच पुत्र दिये हैं, और छठा आनेवाला है। मैं सामवाद के फेर में क्यों पड़ूँ ? 'मेरे बराबर हो, पड़ोसन गोदा-रोटी खाय।' अच्छा सामवाद है। मेरे लाल जीते रहेंगे, तो माँग खाएँगे।

वह और भी न जाने क्या-क्या अनाप-शनाप बकती रहीं; लेकिन उनकी बातों से मेरे मन में एक शंका उत्पन्न हो गयी। साम्यवाद में कहीं सन्तान-निग्रह का बन्धन तो नहीं है ? क्योंकि इस तरह का कोई सम्बन्ध हुआ तो फिर मेरा उससे कोई सम्पर्क न रहेगा। मैं इस विषय में किसी तरह का समझौता न करूँगा। पीछे से थुक्का-फजीहत करना मुझे पसन्द नहीं। आचार्य मुझे स्पष्ट बतला दें, कि मुझे गृहस्थाश्रम का त्याग तो न करना पड़ेगा ? मैं इसकी स्वाधीनता चाहता हूँ कि जितनी सन्तानें आवें उनका स्वागत करूँ ; क्योंकि मैं जानता हूँ, जन्म देनेवाले भगवान् हैं और पालन करनेवाले भी भगवान् हैं। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ।

दो

क्या नाम है कि मैं पण्डित मोटेराम वल्द पण्डित छोटेराम स्वर्गवासी, साकिन विश्वनाथपुरी जो शंकर भगवान के तिरसूल पर बसी है, आज बम्बई में दनदना रहा हूँ। एक यजमान सेठजी ने तार भेजा, हम बड़े संकट में हैं तुरंत आओ। तार के साथ डबल तीसरे दरजे का किराया भी। इसलिए हमने चटपट बम्बई को प्रस्थान कर दिया। अपने यजमान पर संकट पड़े, तो हम कैसे रुक सकते थे। सेठजी एक बार काशी आये थे। वहाँ मैं भी निमन्त्रण में गया था। वहीं मेरी उनकी जान-पहचान हुई। बात करने मे मैं पक्का फिकैत हूँ। बस यही समझ लो कि कोई मुझे निमन्त्रण-भर दे दे, फिर मैं अपनी बातों से ऐसा ज्ञान घोलता हूँ, वेदों-शास्त्रों की ऐसी व्याख्या करता हूँ कि क्या मजाल जो यजमान उल्लू न हो जाय। योगासन, हस्तरेखा, सन्तानशास्त्र, वशीकरण आदि सभी विद्याएँ, जिन पर सेठ-महाजनों का पक्का विश्वास है, मेरी जिह्वा पर हैं। अगर पूछो कि क्यों पण्डित मोटेराम जी शास्त्री, इन विद्याओं को पढ़ा भी है ? तो मैं डके की चोट कहता हूँ, मैंने कभी नहीं पढ़ा। इन विद्याओं का क्या रोना, हमने कुछ नहीं पढ़ा, पूरे लण्ठ हैं, निरक्षर महान् लेकिन फिर भी किसी बड़े-से-बड़े पुस्तक चाटू, शास्त्रघोंटू पण्डित का सामना करा दो, चपेट न दूँ तो मोटेराम नहीं। जी हाँ, चपेट दूँ, ऐसा चपेटूँ, ऐसा रगेदूँ कि पण्डित जी को भागने का रास्ता न मिले ! पाठक कहेंगे, यह असम्भव है, भला एक मूर्ख आदमी महान् पण्डित को कैसे रगेदेगा। मैं कहता हूँ प्रियवर, पुस्तक चाटने से कोई विद्वान् नहीं हो जाता। जो विद्वान् आज इस युग में श्राद्ध, पिण्डदान और वर्णाश्रम में विश्वास रखता है,

जो आज गोबर और गोमूत्र को पवित्र समझता है, जो देवपूजा को मुक्ति का साधन समझता है, वह विद्वान कैसे हो सकता है ? मैं खुद यजमानों से यह सब कृत्य कराता हूँ; निःसन्देह जानता हूँ, हलवा और कलाकन्द किसी आत्मा के पेट में नहीं, मेरे पेट में जाता है, फिर भी यजमानों को मूँड़ता हूँ, तो इसलिए कि मेरी यह जीविका है। जीविका नहीं छोड़ी जाती, और इसलिए यजमान खुद बेवकूफ बनना चाहता है, पाँच पैसे का गऊदान करके भवसागर पार उतरना चाहता है, तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा है जो कहूँ कि यह सब मिथ्या है, सरासर मिथ्या है। आती हुई लक्ष्मी को कौन दुतकारता है ? लेकिन पण्डितों के बीच में दूसरी बात हो जाती है। वहाँ मुझे अपनी जीविका का डर नहीं रहता और मैं भिगो-भिगोकर लगाता हूँ, कभी दाहिने, कभी बायें चौंधिया देता हूँ, साँस नहीं लेने देता। बस पण्डितों के पास इसके सिवा और जवाब नहीं रहता कि तुम नास्तिक हो।

मगर मैं अपने विषय से बहककर कहाँ जा पहुँचा। जब मैं बम्बई चलने को तैयार हुआ, तो पण्डिताइन रोने लगीं। कहने लगीं, बताओ कै दिन में आओगे। दो-तीन दिन में ज़रूर से लौट आना। मैं जो उस वक़्त बता दूँ कि दो दिन तो पहुँचने में लग जाएँगे, तो फिर वह मेरा पिण्ड न छोड़ती। इसलिए बड़े प्रेम भरे शब्दों में कहा–प्रिये, मेरा जी तुम्हीं में लगा रहेगा। खाऊँगा तो तुम्हारे कर-कमलों की गुदगुदी रोटियाँ और पतली दाल याद आएगी। पानी पिऊँगा तो तुम्हारे पपड़ियाये हुए अधरों का ध्यान बना रहेगा। सोते-जागते, उठते-बैठते, बस तुम्हारे ही पास मन मँड़राता रहेगा। इससे उन्हें कुछ ढाढ़स हुआ। लेकिन क्या नाम कि स्त्री का हृदय कुछ अटपटा होता है। एकाएक बोल उठीं–मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं आता। कौन जाने, तुम वहाँ कैसे हो जाओ। कहीं तुम कुछ गड़बड़ न कर बैठो। मैंने तुरन्त समझाया–प्राण-प्रिये, मुझे तुम्हारे प्रेम में पगे लगभग ४५ साल हुए। क्या तुम समझती हो कि इतने दिनों में जो रंग जमा है, वह दो-चार दिन में फीका पड़ जाएगा ? कहाँ तुम्हारा ख़्याल है ! बोलीं–क्या जाने भाई, तुम मरदों का हाल कौन जाने ? यहाँ तो ऐसी मीठी-मीठी बातें करते हो, वहाँ जाकर क्या जाने क्या कर बैठो। मैं वहाँ थोड़ी बैठी रहूँगी कि तुम्हारी देख-भाल करती रहूँ। मैं तो एक ही सरियत पर जाने दूँगी, कि तुम गंगाजल हाथ में लेकर कहो कि वहाँ कुछ गड़बड़-सड़बड़ न करूँगा। मैं मन मे हँसा और गंगाजल लेकर क़सम खायी। तब जाके पण्डिताइन का चित्त शान्त हुआ।

चलने को तो चला; लेकिन हृदय मेरा भी काँपता था। प्रयाग तक तो मेरा मन ठिकाने रहा; लेकिन जब फिर भी बम्बई का कहीं पता न चला, तो मुझे रोना आ गया। भगवन् ! यह तो कालापानी है। दिन-भर चला, बम्बई नदारद। रात-भर चला, बम्बई नदारद। समझ गया कि काशी में मरना न बदा था। मजे से गंगास्नान करता था, विश्वनाथ के दर्शनों का पुन्न लूटता था और धेली बारह आने कहीं-न-कहीं से पीट ही लाता था। और यहाँ गाड़ी में बैठे न जाने किस लोक को चले जा रहे

हैं। इतनी दूर तो चन्द्रमा भी न होंगे। मुझे भ्रम हो गया कि यात्री और रेल कर्मचारी सब मुझे धोखा दे रहे हैं। बम्बई ज़रूर पीछे छूट गयी। बारे कोई दस बजे बम्बई का नाम सुना। जान आयी। देखा तो यजमान सेठजी मेरा स्वागत करने के लिए खड़े थे। उन्होंने पालागन किया; मगर असीस कौन देता है, यहाँ तो चोला भसम हो रहा था। मैंने ब्रह्मतेज से गरजकर कहा–तुमने मुझे लिखा क्यों नहीं कि बम्बई लंका के पास है ? अभी तक जल नहीं ग्रहण किया। प्राण छटपटा के निकलने जा रहा था; बारे मैंने योगबल से रोक लिया। मैं झूठ बोल रहा था। मैं रास्ते-भर फलाहरी खाता रहा और रेल से उतर कर पानी पीता चला आ रहा था; लेकिन ऐसे यजमानों के सामने अपने नेम का डंका बजा देना फलदायक होता है। सेठजी ने दौड़कर मेरी अधारी कन्धे रखी और लगे घिघियाने–महाराज, क्षमा किया जाय, मैं क्या जानता था कि महाराज को बम्बई...

मैंने फिर डाँटा–महाराज को बम्बई से क्या सम्बन्ध ? अपने लोग तीर्थ स्थानों पर रहते हैं कि राक्षसों के देश में ! यहाँ वह रहे, जो धन का लोभी हो। हम ब्राह्मणों को अपना धर्म प्यारा है।

इस डाँट से सेठजी की नानी मर गयी। बाहर आये तो मोटर खड़ी थी। बैठकर यजमान के घर चले। वाह रे बम्बई ! वहाँ तो आदमी पागल हो जाय। सड़कें न-जाने क्यों इतनी चौड़ी बनायी हैं। हमारी चौखम्भेवाली कितनी गुलजार गली है कि वाह ! यहाँ की सड़कें हैं कि बालेमियाँ का मैदान है। मगर बम्बई का हाल फिर लिखेंगे। इस वक़्त तो सेठजी के संकट की कथा कहनी है, जिसके लिए हम इतनी दूर से बुलाये गये हैं। संकट यह कि सेठजी ने सट्टा खेला है और चाहते हैं; मैं कोई ऐसा अनुष्ठान करूँ कि सेठजी के पौ-बारह हो जायँ। मामला गहरा है, कोई डेढ़ लाख का। मैंने यह वृत्तान्त सुनकर ऐसा गम्भीर मुँह बनाया, मानो सब कुछ मेरे ही हाथ में है। फिर बोला–सेठजी, आप जो हैं सो मेरे यजमान हैं और मुझे जो कुछ विद्या आती है, उसमें कुछ उठा न रखूँगा। और यह आप जानते हैं कि मुझे किसी बात से ममता नहीं रही। ब्राह्मण को धन से क्या प्रयोजन ? धन चाहता तो अब तक लाखों बटोर लेता। कितने यजमान मेरे अनुष्ठानों से करोड़पति हो गये, लखपतियों की तो गिनती नहीं। मैं वही ब्राह्मण का ब्राह्मण बना हूँ। तो बात क्या है। हम ममता को पास नहीं आने देते। साढ़े-सात सौ कोस से ही ललकारते हैं, ख़बरदार जो इधर मुँह किया ! हाँ, बात इतनी है कि अनुष्ठानों में पैसे खरच होते हैं। अगर यही अनुष्ठान विधिपूर्वक करूँ तो डेढ़-दो सौ से कम न ख़र्च होंगे। यह समझ लीजिए।

लेकिन मैं इस साल ६५ साल की अवस्था में भी पोंगा ही रहा। मैंने डेढ़-दो सौ अपनी समझ में बहुत कहे थे। इससे ऊँचे जाने की मुझे हिम्मत ही न पड़ी। कभी इतना बड़ा शिकार तो फँसा नहीं था। उसके दाँव-घात क्या समझता ? सेठजी का मुँह लटक गया। उन्होंने दस-बारह हज़ार का अनुमान किया था। डेढ़-दो सौ सुनकर

मेरी सारी प्रतिष्ठा उनके हृदय पर से निकल भागी। क्या स्वर्ण-संयोग दिया था भगवान् विश्वनाथ ने लेकिन तकदीर खोटी है तो उनका क्या बस ? दस हज़ार कह देता तो जन्मभर के लिए अयाच्य हो जाता। बोलते-बोलते बोला क्या ? डेढ़-दो सौ ! धत् तेरे पोंगापन का सत्यानाश हो ! अब तो यही जी चाहता है कि जाकर समुद्र में कूद पड़ूँ ! उसी दिन एक दूसरे घोंघानाथ शास्त्री के नाम तार गया। अब यह पठा आकर इन सेठजी को मूँड़ेगा बीस हज़ार से कम न लेगा; लेकिन अब पछताने से क्या होता है। फिर भी मैंने सोचा, बला से मैं भी नहीं पा रहा हूँ ! कोई दूसरा क्यों ले जावे ? मेरा क्या यह धर्म नहीं है कि अपने यजमान की इन लुटेरों से रक्षा करूँ ? बोला, मैंने केवल सामग्री का मूल्य दिया। दक्षिणा मैं लेता नहीं। एक हज़ार रुपये विप्रों की दक्षिणा भी समझ लीजिए।

सेठजी बोले—उससे कोई मतलब नहीं , वह तो यहाँ अलग से दिया जाएगा। आपकी सामग्री तो कुल दो सौ की होगी ?

मैंने कहा—बस, इससे अधिक नहीं। हाँ, ऐसे लोगों को भी जानता हूँ, जो इसी अनुष्ठान के लिए दस हज़ार, पन्द्रह हज़ार तक ले लेंगे। लगेगा तो ढाई-तीन सौ, शेष धन अपने पेट में ठूँस लेंगे। इसलिए ऐसे धूर्तों से सचेत रहिएगा।

लेकिन सेठ के कण्ठ तले यह बात न धँसी। बोला—यह आप क्या कहते हो शास्त्री जी ? गुड़ जितना ही डालो उतना ही मीठा पकवान होगा। आपका अनुष्ठान दो सौ का है। आप कीजिए। लेकिन बिना बड़े अनुष्ठान के मेरा काम न चलेगा।

अब भी मुझे अपना उल्लू फाँसने का मौक़ा था। कह सकता था, सेठजी, आपका काम तो छोटे अनुष्ठान से ही निकल सकता है, लेकिन आपकी इच्छा है तो मैं महा-महा-महा मृत्युंजय-पाठ और ब्रह्म-प्रवीक्षक क्रिया भी कर सकता हूँ। हाँ, उसमें कोई साढ़े तेरह हजार का ख़र्च है; मगर यह तो अब सूझ रही है। उस वक़्त अक्ल पर पत्थर पड़ गया था। मेरी भी विचित्र खोपड़ी है। जब सूझती है, अवसर निकल जाने पर। हाँ, मैंने यह निश्चय कर लिया कि पण्डित घोंघानाथ को बिना दस-पाँच घिस्से दिये न छोड़ूँगा। या तो बेटा से आधा रखा लूँगा; या फिर यहीं बम्बई के मैदान में हमारी उनकी ठनेगी। वह विद्वान् होंगे। यहाँ सारी जवानी अखाड़े में कटी है। भुरकुस निकाल दूँगा।

अपनी इस पिछिल सूझता पर पछता रहा था कि डाकिया एक तिकोना-सा बैरंग लिफ़ाफ़ा लाकर मुझे दे गया। समझ गया, पण्डिताइन की कृपा है। आज यह पत्र हाथ में लेकर मुझे सचमुच उनकी याद आ गयी। बेचारी ने मेरे साथ ४५ साल काट दिये, और मैं बराबर उसे बातों में टालता रहा। आँखें सजल हो गयीं। पत्र खोला। लिखा था—स्वस्ति श्री सर्व उपमा योग ··· सो तुम जाय के बम्बई में वैठि रह्यौ, कान में तेल डारिकै। हमका रोज सपना दिखात है। डरन के मारे नींद नहीं आवति है। कतों तुम कुछ गड़-बड़ि न करि बैठो, यही चिन्ता में हमार परान सूखा जात है। तुम कहिहौ हम ६५ साल के होय गयन, अबका जनम भर गड़बड़े करत

रहिबै। मुला सुनित है, बैदन सें अइस-अइस बिरवा निकारेन हैं कि एहिका खायके मनई बौराय जात है, एक बैद झाँसी माँ है, एक और कतों हैं। तुमार जोरित है, तुम कौनो औखद न खायो। तुम गंगाजल उठाय के जौन परन किह्य एहिका निबाह करै का परी। हम तुमका साँड़ न बनै देब।

लीजिए साहब, अब मैं साँड़ हो गया। कमर सीधी होती नहीं, डेढ़ सेर मलाई भी नहीं पचाये पचती, और वहाँ पण्डिताइन मुझे साँड़ बना रही है। सो यहाँ भी अपनी ही भूल है। मैं पण्डिताइन के सामने अपनी जवाँमरदी और पुरुषार्थ की डींग मारा करता हूँ। वह गऊ क्या जाने, यह लाड़ियाँ है। मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ब्रह्मवाक्य समझ बैठती है और उसका यह फल है। इस यात्रा में सम्भवतः मेरी दृष्टि कुछ सूक्ष्म हो रही है।

तीन

क्या नाम कि जब मैंने देखा कि अब तो मुझसे भूल हो ही गयी और बहुत खींच-तान करने पर भी दो सौ से बेशी न मिलेंगे, तो मैंने सोचा, लाओ और कुछ न सही तो इसके सौ पचास रुपये भोजनों में ही बिगाड़ दो। यह भी क्या समझेगा कि किसी से पाला पड़ा था। बस, मैंने शंकर भगवान् का सुमिरन किया और विनती की—हे उमापति, अब तुम्हीं मेरी रक्षा करो, मैं तो अब प्राणों से हाथ धोकर भोजन पर जुटता हूँ। नाश्ता आया तो मैंने कह दिया—मुझे आपके महाराज के हाथ की बनी चीज़ो मे कोई स्वाद नहीं आता, मुझे तो आप सामग्री दे दीजिए, मैं अपना भोजन आप पका लूँगा। भण्डारी ने कहा—जैसी आपकी इच्छा, जो आज्ञा हो वह हाज़िर करूँ। मैंने नाश्ते का नुसखा बताया—सवा सेर ताज़ा मक्खन, आध सेर बादाम, आध सेर पिश्ते, आधा तोले केसर, सेर भर सूजी और सेर भर शक्कर। भण्डारी मेरा मुँह ताकने लगा। मैंने कहा—मुँह क्या ताकते हो, क्या बाँधकर ले जाने को माँगता हूँ? जाकर चटपट लाओ। बस मैंने घोंटी भंग और चढ़ाया गोला और विश्वनाथ का नाम लेकर हलवा बनाने बैठ गया। शंकर की दया से ऐसा स्वादिष्ट पदार्थ बना कि क्या कहूँ। पालथी मारके जो बैठा, तो आध घण्टे में साफ। मक्खी के लिए भी न बचा। भण्डारी के होश उड़ गये। दोपहर को फिर मैंने पूरियाँ पकायीं। आधेआध मोयन देकर। रात को कुछ खाने की इच्छा न होने पर भी मैंने सवा सेर मलाई चढ़ा ली।

लेकिन अब वह जवानी तो नहीं कि ईंट पत्थर जो पेट में पहुँच जाय, वह सब भस्म। तीसरे ही दिन मुझे उदर-विकार के लक्षण दिखे। मैंने सोचा—यहाँ किसी से कहता हूँ तो सब यही कहेंगे कि ब्राह्मण की जात, खाने के पीछे प्राण दे रहा है। इसलिए मुहल्ले ही में एक डॉक्टर के पास कोई पाचक-बटी लेने चला गया। बड़ा भारी मकान, मोटर, फ़ोन। मैंने अपना परिचय दिया तो डॉक्टर ने मुझे ग़ौर से देखा और बोले—काशी से आता है?

मैंने कहा—हाँ साहब, विश्वनाथजी आपको प्रसन्न रखें, यहाँ कुछ भोजन प्रकृति

के अनुकूल न मिलने के कारण पाचन दूषित हो गया है। कोई औषधि प्रदान कीजिए।

डॉक्टर मुझे एक अलग कमरे में ले गया और एक मेज़ पर लेटाकर मेरा पेट टटोलने लगा। फिर सीने की परीक्षा की, पीठ ठोंकी, आँखें देखी, जीभ निकलवाकर परीक्षा ली। इस तरह कोई आध घण्टे तक मेरी दलेल करने के बाद बोला—वेल पण्डितजी, आपको कुछ टी. बी. का आसार मालूम देता है। आपको उसका दवाई करने होगा। हम टी. बी. का इसपिसलिस्ट है। आपको अच्छा करने सकता है; पर आपको अभी एक दूसरा डॉक्टर के पास अपने खून का मुलाहजा कराना होगा। बिना खून देखे हम कुछ नहीं कर सकता। हम आपको चिट्ठी देता है, आप डॉक्टर सूबेदार के पास जायँ। वह चौपाटी में रहता है। हम चिट्ठी देता है। आप के ब्लड का मुलाहजा करके हमको लिखेगा।

मेरे होश फाखता हो गये। पण्डिताइन की याद आयी। भगवान् क्या बम्बई में मेरी मिट्टी की दुरदशा करोगे। आया था कि कुछ कमाकर जाऊँगा, सो यहाँ जान पर बीता चाहती है। अभी काशी से चला हूँ तो कोई बात न थी। ख़ासा साठा-पाठा बना हुआ था कि बम्बई का पानी है, और कुछ नही। दुबे विजयानन्द ने कहा था। बम्बई का पानी खराब है, जरा सँभलकर रहना। लेकिन यह क्या जानता था कि दस-पाँच दिन में ही सिल धरे लेता है; लेकिन अब पछताये क्या होता है। चलो, लहू भी दिखा लो; और फिर डर किस बात का है। मर ही तो जायेंगे। यहाँ अमर कौन है। जरा कच्ची गिरस्ती है, यही चिन्ता है। अगर जानता कि अन्त इतना निकट है तो पिछले दो लडके क्यो होते और तीसरा गर्भ क्यों रहता। लेकिन हरि की इच्छा ! तुलसीदास जी ने कहा भी तो है—

सुत बनितादि जानि स्वारथ रत न करु नेह सबही ते,
अन्तहुँ तोहि तजेंगे पामर, तू न तजे अबही ते।

मै यहाँ से चला तो दिल बहुत छोटा हो गया था; लेकिन डॉक्टर साहब ने तुरन्त टोका—हमारा फीस ३२ रु. हुआ। सेठजी के पास बिल भेज देगा न ?

अगर अभी तक यमराज न आये थे, तो अब आ गये, ३२ रु. फीस ! जो उमर में कभी नहीं दी ! बैद, डॉक्टर को अमीर लोग पैसा देते हैं ? हम शकर के उपासक तो केवल आशीर्वाद से काम निकालते हैं। काशी मे जब कभी काम पड़ता था, डॉक्टर चौधरी, डॉक्टर बनर्जी, डा. सेठ आदि जिसके पास चला गया दवाई ले आया, ऊपर से रुपये आठ आने बिदाई झटक आया। और यहाँ ज़रा-सी परीक्षा की तो ३२ रु. फीस। आँखों-तले अँधेरा छा गया; लेकिन फिर सोचा अब तो मर ही रहे हो, रुपये पैसे के माया-मोह में क्या पड़े हो। ३२ रु. ख़र्च हुए तो हुए, मालूम तो हो गया कि तपेदिक हो गया है। नहीं योही एक दिन चल देते, किसी को पता न चलता। दवा-दारू करने की नौबत न आती। भला, दवा करने का अवसर मिल गया। और आदमी कमाता ही किसलिए है। लेकिन यह पूछ लेना आवश्यक मालूम हुआ कि डॉ. सूबेदार को तो कुछ न देना पड़ेगा। अतएव मैने इस विषय का प्रश्न

किया।

डॉ. साहब ज़ोर से हँसे। बोले–तुम काशी का विद्वान लोग बड़ा मज़ाक करता है। काशी के एक पण्डित को दच्छिना देने से सब पण्डित तो नहीं परसन हो जायगा। बोलो ?

हमने कलेजा थामकर पूछा–तो उनकी क्या फीस होगी ?

'उसका फीस केवल १० रु. है।"

मैंने मन में कहा–चलो मन यह १० रु. भी गम खाओ। बम्बई में जो कमाना है, वह सब देकर भी प्राण बचे तो समझना चाहिए, नया जीवन पाया। नहीं यहीं बैठे-बैठे टें हो जाएँगे, कोई रोनेवाला भी न मिलेगा। उस वक़्त ऐसा वैराग्य सवार हुआ कि सब छोड़-छाड़कर निकल भागूँ। कबीर का वह पद याद आया जिसे पढ़कर मैं कभी-कभी हँसा करता था। धूर्त्तताई में जीवन कट गया। अब इस काया की क्या दुरदशा होगी भगवन्–

दिवाने मन भजन बिना दुख पैहो,
पहिला जनम भूत को पैहौ, सात जनम पछतैहो ;
कीरा पर के पानी पैहो, प्यासन ही मरि जैहो।
दूजा जनम सुवा का पैहो, बाग बसेरा लैहो ;
टूटे पंख बाज मँडराने, अधफड़ प्रान गँवैहो।
बाजीगर के बानर होइहौ, लकड़िन नाच नचैहो ;
ऊँच-नाच से हाथ पसरिहौ, माँगे भीख न पैहो।
तेलिन के घर बैला होइहौ, आँखिन ढाँपढँपैहो ;
कोस पचास घरै माँ चलिहौ बाहर हीन न पैहो।
पाँचवाँ जनम ऊँट का पैहो, बिन तोले बोझलदैहो ;
बैठे तो उठन न पैहो, घुरच-घुरच मरि जैहो।
धोबी घट के गदहा होइहौ, कटी घास न पैही ;
लादी लादि आपु चढ़ बैठे लैके घाट पहुँचैहो।

आखिर यही कहना पड़ा कि हाँ सेठजी के पास बिल भेज देना। फिर वहाँ का पता पूछता हुआ डॉक्टर सूबेदार के पास पहुँचा। कोई दस बज गये थे, पेट में मीठा-मीठा दर्द होने लगा था; लेकिन सोचा इस झमेले से निबट लो फिर विश्वनाथजी की जैसी इच्छा होगी, वह तो होगा ही।

डॉ. सूबेदार युवक-से लगते थे, कोट-पैण्ट से लैस। मैंने पत्र जो दिया, आपने ले जाकर भीतर के कमरे में लेटा दिया और ऐंसे जोर से मेरी बाँह में सुई चुभो दिया कि मैं ऐंठकर रह गया। बाँह में से रक्त निकल पड़ा। उसने एक शीशे की नलकी में ले लिया और मेरी बाँह में कुछ पोतकर एक तीसरी कोठरी में जाकर न जाने क्या करता रहा। फिर आकर बोला–वेल पण्डितजी, आपके ब्लड में टी. बी. का जर्म दिखाई देता है। आपको किसी पहाड़ पर जाना होगा और वहाँ आराम से

रहना होगा। आपको पढ़ना-लिखना बन्द करना होगा, लेकिन अभी हम कुछ ठीक-ठीक नहीं कह सकता, आप डॉ. घोड़ेपुरकर के पास जायँ, वह आपका यूरीन देखेगा। उसका रिपोर्ट लेकर तब हम अपना रिपोर्ट देगा। तब आप डॉ. लम्पट के पास जायगा। फिर वह जो कुछ कहेगा, वह आपको करना होगा।

मेरे बदन में आग लग गयी। जी में तो आया, मारूँ गोली इन डॉक्टरों को और चलकर दो पैसे की हड़ मँगवाकर उसकी फंकी फाँक लूँ। मरना ही बदा है, तो सारी दुनिया के डॉक्टर भी तो नहीं जिला सकते; लेकिन जान का लोभ बड़ा बलवान होता है। उनकी चिट्ठी लेकर पता पूछता हुआ चला डॉक्टर घोड़ेपुरकर के पास। इसने मुझसे एक चोंगे में लघुशंका करवायी और बड़ी देर तक न जाने क्या करता रहा। फिर मुझे रिपोर्ट लिखकर दी और कहा–डॉ. सूबेदार के पास जाइए। सूबेदार के पास फिर पहुँचा, तो तीन बज गये थे। आपने अपनी रिपोर्ट दी, तो आया डॉ. लम्पट के पास। डॉक्टर लम्पट ने दोनों रिपोर्ट को बड़े ध्यान से देखा और बोले–मेरा अनुमान ठीक था पण्डितजी, आपको टी. बी. हो गया है।

मैंने सजल-नेत्र होकर पूछा– तो मैं मर जाऊँगा ?

"नहीं-नहीं, हम आपको मरने नहीं देगा। आपको पहाड़ पर रहना होगा। अच्छा भोजन करने से आप बच सकता है। आपको अण्डों का सेवन करना होगा।"

मैंने कानों पर हाथ रखकर कहा–क्या कहा, अण्डों का ? मैं अण्डे हाथ से नहीं छू सकता, खाने की कौन कहे !

"ओह ! यह सब आरथोडाक्सी यहाँ नहीं चलेगा। तुमको अण्डे खाना होगा।"

"अण्डे मैं किसी तरह नहीं खा सकता।"

"तुम मर जायगा।"

"कोई चिनतास नहीं।"

"हम दवाई देता है, इसे तो पी सकता है।"

"ना ! अब न कोई दवा खाऊँगा; न किसी डॉक्टर के पास जाऊँगा।"

यह कहकर मैं सेठजी की कोठी पर लौट आया। दिन-भर जो कुछ भोजन न किया था, तो भूख चमचमा उठी थी। बूटी छानी, शौच गया और फिर खूब डटकर भोजन किया।

सहसा सेठजी घबड़ाये हुए आये और बोले– पण्डितजी, क्या आपका मुलाहजा किया था लम्पट साहब ने ? आपको तो टी. बी. बताते हैं।

मैंने कहा–वह आपके घर आने का पुरस्कार है, और क्या ?

"आप आज ही काशी चले जाइए।'

"मैं बिना अनुष्ठान पूरा किये नहीं जा सकता।"

"नहीं, नहीं, कोई दरकार नहीं, आप इसी नौ बजे की गाड़ी से चले जायँ।"

मैंने उसकी घबराहट देखी तो समझ गया, यह ब्रह्महत्या से डर रहा है। बस फिर क्या था। मेरी लह गयी।

मैंने कहा– बिना अनुष्ठान पूरा किये लौट जाने में प्राणों का भय है। इसका उपचार करने में कम से कम एक हज़ार का खरच है। मैं वह कहाँ से लाऊँगा। फिर मरने से क्या डरना ! यहीं मर जाऊँगा तो क्या चिन्ता।

सेठजी काँपते हुए बोले– नहीं पण्डितजी, आपका जो कुछ ख़र्च पड़े, वह लीजिए और आज ही चल दीजिए।

बस मुनीमजी बुलाये गये और फिर सौ-सौ के दस नोट मेरे चरणों पर रख दिये। मैंने विश्वनाथजी को धन्यवाद दिया, नोट गाँठ में किये और टी. बी. को ऐसा भूला कि वह भी मुझे भूल गयी।

चार

क्या नाम कि मैं जहाँ जाता हूँ, वहीं कुछ-न-कुछ लोग मेरे पीछे पड़ जाते हैं, और आ-आकर मुझे दिक करते हैं। बम्बई में भी भले आदमियों से गला न छूटा। यह तो होता नहीं कि आकर एक मोहर मेरे चरणों पर रक्खें और तब अपनी कथा सुनाये। बस आकर लगते हैं अपनी कथा सुनाने और चाहते हैं कि मैं सेंत-मेंत में उन्हें अनुष्ठान बता दूँ। तो यहाँ ऐसे उल्लू नहीं हैं। सुनने को सुन लेते हैं, लेकिन अनुष्ठान बताने के लिए पचासों बार दौड़ाते हैं, ऐसा पदाते हैं कि वह भाग खड़ा होता है। जब कोई डॉक्टर सेंत-मेंत में किसी रोगी को नहीं देखता, कोई वकील सेंत में कोई मिसिल नहीं छूता तो मैं क्यों सेंत में अपनी विद्या लुटाता फिरूँ ? वह विद्या क्या है, यह मैं जानता हूँ, उसी तरह जैसे वकील और डॉक्टर अपनी विद्या को जानते हैं; लेकिन भाई, एक दूसरे का पर्दा क्यों खोलो। संसार उसका है, जो उसे बेवकूफ़ बनाये, जिसे यह कला नहीं आती, वह कौड़ी का तीन है।

कल भंग-बूटी से निपटकर मलाई पर हाथ साफ कर रहा था कि एक सज्जन आकर बैठ गये। कोट, पैण्ट, कालर, बूट; हैट ख़ासे साहब बहादुर थे। चेहरा लटका हुआ, मानो पत्नी मर गयी हो, बोले–आपका नाम पण्डित मोटेराम शास्त्री है ?

मैंने कहा–हाँ, मेरा ही नाम है। कहिए, आपकी क्या सेवा करूँ ?

साहब बहादुर ने जेब से रूमाल निकाला और सिर का पसीना पोंछते हुए कहा–मैं बड़े संकट में पड़ गया हूँ महाशय ! कुछ अक्ल काम नहीं करती। अब आप ही बेड़ा पार लगाइए तो लगे।

मेरे हृदय में गुदगुदी हुई। यह तो कोई शिकार मालूम होता है।

बोला–भगवान् की दया से सारी बाधाएँ दूर हो जाएँगी, कुछ चिन्ता न कीजिए।"

"क्या कहूँ–महोदय, कहते संकोच हो रहा है।"

"संकोच की कोई बात नहीं। सन्तान तो मेरी मुट्ठी में है। कहिए तो बालकों से आपका घर भर दूँ। बस एक अनुष्ठान ... "

"जी नहीं, बालकों से तो मुझे प्रेम नहीं। मैं सन्तान विरोधी हूँ।"

"अच्छा तो क्या धन की इच्छा है ?"

"धन की इच्छा किसे न हा गी; लेकिन इस वक़्त मैं इस हेतु से आपकी सेवा में नहीं आया था।"

'तो कहो न ? पैष्टिक अनुष्ठानों की भी मेरे पास कमी नहीं। चूर्ण, अवलेह, गोली, भस्म, आसव, क्वाथ, किसी चीज के सेवन करने की आवश्यकता नहीं, बस पाँच बार उस मन्त्र का जप करके सो जाइए, फिर उसकी करामात देखिए।'

"मैं इस समय एक दूसरे ही काम से सेवा में आया था।"

मुझे कुछ निराशा होने लगी। हत्थे पर चढ़ने वाला नहीं जान पड़ता। फिर भी मैंने दिलासा दिया–"जो इच्छा हो वह निस्संकोच कहो।"

उसने पूछा–"आप उसमें अपना अपमान तो नहीं समझेंगे ?"

अब मेरे कान खड़े हुए, उत्सुकता और बढ़ी।

"अपमान की बात होगी, तो अवश्य अपमान समझूँगा।"

"बात यह है कि कल सन्ध्या समय मेरे माता-पिता देश से आ गये हैं।"

"बहुत अच्छी बात है। तुम्हें उनका आदर-सत्कार करना चाहिए।"

"लेकिन करूँ कैसे, यह समझ में नहीं आता। कल से उन्होंने भोजन नहीं किया !"

"भोजन नहीं किया ! यह तो बड़ा अनर्थ है। कुछ उदर-विकार हो गया है ? मैं आयुर्वेद भी जानता हूँ।"

"नहीं-नहीं शास्त्रीजी, वह तो आपसे भी भारी डील-डौल के हैं।"

"भारी डील-डौल के लोग क्या बीमार नहीं पड़ते ?"

"पड़ते होंगे; पर फादर कभी बीमार नहीं पड़ते और मदर के सिर में तो कभी दर्द भी नहीं हुआ।"

"तो वह और आप दोनों भाग्यवान हैं।"

"समस्या यह है कि वे दोनों ही बड़े नेम से रहते हैं।"

"बड़े हर्ष की बात है। आप वास्तव में भाग्यशाली हैं।"

"लेकिन वह मेरे खानसामा के हाथ का भोजन तो नहीं कर सकते !"

"तो एक-दो दिन तुम्हारी स्त्री ही भोजन पका लेगी तो क्या छोटी हो जाएगी ? सास-ससुर की सेवा करना ही स्त्री का परम धर्म है।"

"मैं इसे नहीं स्वीकार करता, महोदय ! बुरा न मानिएगा। आप सौ बरस की पुरानी बात कह रहे हैं। सास-ससुर को ऐसी जरा-जरा-सी बातों के लिए पुत्र और पुत्र-वधू को संकट में न डालना चाहिए। समय बहुत आगे बढ़ गया है। अब ऐसे माता-पिता के लिए स्थान नहीं रहा।"

"यह आप बहुत ठीक कह रहे हैं; लेकिन जब माता-पिता दो-ही चार दिन के लिए आये हैं, तो स्त्री को थोड़ा-सा कष्ट भी हो तो सह लेना चाहिए।' इस पर सज्जन ने कुछ भौंवें सिकोड़कर कहा– लेकिन भोजन पकाने का उन्हें बिलकुल अभ्यास नहीं है, श्रीमान् ! जब कभी खानसामा बैठ रहता है, तो हम लोग होटल में खा

लेते हैं। एक बार घर में रुपये न थे, और होटल में नकद दाम देना पड़ता है; इसलिए स्त्री ने सोचा, कुछ पका लें, तो साहब, आटा ऐसा हो गया जैसे गाढ़ा दूध और चावल जलकर कोयला हो गया। उस पर तीन दिन श्रीमतीजी के सिर में दर्द होता रहा। हारकर हमें फ़ाका करना पड़ा। तो साहब, फिर वह विपत्ति नहीं मोल लेना चाहता। न जाने क्यों होटल में खाना खाते इन लोगों की नानी मरती है। मैं इसे उनकी कोरी ज़िद समझता हूँ। माँ-बाप हैं, क्या कहूँ ? क्या आप इतनी कृपा न करेंगे कि एक-दो दिन जब तक वह लोग यहाँ रहें, उनका भोजन पका दें , आपको कष्ट तो होगा, लेकिन आप ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण को परोपकार के लिए अपने कष्ट की परवाह नहीं होती।"

मेरा खून खौल उठा। जी में आया, उठा के पटक दूँ, लेकिन मैंने सब्र किया। क्या कदर की है आपने ब्राह्मण की ! और मज़ा यह है कि इस मूर्ख को मुझसे ऐसी बात कहते संकोच भी न हुआ। मुझे चुप देखकर उसने कहा--क्या आप बुरा मान गये ?

मैंने कहा--नहीं, बुरा क्या मानूँगा, लेकिन आपने इस काम के लिए किसी पानी-पाँड़े को पकड़ा होता, मुझे आप शायद नहीं जानते ?

उसने कहा--मैं आपको खूब जानता हूँ, आप काशी के शास्त्री हैं। जब मैं होस्टल में था तो एक काशी के शास्त्री मेरे सहपाठी थे। वह बराबर अपना भोजन आप पकाया करते थे, और जब कभी हमारे मेस का रसोइयादार बीमार पड़ जाता या भाग जाता तो वह मेरा भोजन पका देते थे और आग्रह करके खिलाते थे। इसलिए मैंने आपसे यह प्रार्थना की।

मेरे पास इसका क्या जवाब था। पुरखों ने जो कुछ किया है, उसका तावान तो देना ही पड़ेगा।

मैंने कहा--आपकी इच्छा है तो मैं चलकर भोजन बना दूँगा। लेकिन एक शर्त है, अगर आप उसे स्वीकार करें।

"कहिए, कहिए, आप जो कुछ कहेंगे वह मुझे स्वीकार है। आपने आज मेरी लाज रख ली।"

"मैं रसोई में बैठकर बताता जाऊँगा; काम श्रीमतीजी को करना पड़ेगा।"

"लेकिन उनके सिर में दर्द हुआ तब।"

"उसकी मेरे पास दवा है। सिर में चक्कर आ जाय, आँखों के सामने अँधेरा छा जाय, मैं बात-की-बात में अच्छा कर सकता हूँ।"

"और जो उन्हें गर्मी लगे ?"

"आप खड़े पंखा झलते रहिएगा।"

"और उन्होंने क्रोध में आकर आपको कुछ कह दिया ?"

"तो मुझे भी क्रोध आ जाएगा और क्रोध में मैं लाट साहब को भी कुछ नहीं

समझता। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि इसके बाद उन्हें फिर कभी क्रोध न आएगा

"और जो उन्होंने बहस शुरू कर दी ? उनकी दलीलों का आप जवाब दे सकते हैं ?"

"वाह ! और मैंने उम्र भर किया क्या है ? पहले तो दलील का जवाब दलील से देता हूँ। जब इससे काम नहीं चलता तो हाथ-पाँव से भी काम ले लेता हूँ। कितने ही शास्त्रार्थों में सम्मिलित हुआ हूँ और कभी परास्त होकर नहीं आया। बड़े-बड़े महा-महोपाध्यायों को गुड़-हल्दी पिलाकर छोड़ दिया।"

सज्जन ने एक क्षण तक विचार किया और फिर आने का वादा करके चले गये। तब से अब तक सूरत नहीं दिखायी।

क़फ़न

एक

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अन्दर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसा दिल हिला देने वाली आवाज़ निकलती थी, कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा–मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते ही गया, जा देख तो आ।

माधव चिढ़कर बोला–मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती ? देखकर क्या करूँ ?

"तू बड़ा बेदर्द है बे ! साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई !"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।"

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता। माधव इतना काम-चोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी-भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की कसम थी। जब दो-चार फ़ाके हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाज़ार से बेच लाता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को उसी वक़्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए, संयम और नियम की बिलकुल ज़रूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका ! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिये जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त ! कर्ज़ से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर

कोई भी ग़म नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिलकुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज़ दे देते थे। मटर, आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाश-वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिह्नों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक़्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए, देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जबसे यह औरत आयी थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी और इन दोनों बे-ग़ैरतों का दोज़ख भरती रहती थी। जब से वह आयी, यह दोनों और भी आरामतलब हो गये थे। बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तज़ार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा–जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी ? चुड़ैल का फिसाद होगा, और क्या ? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है !

माधव को भय था, कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग सफाया कर देगा। बोला–"मुझे वहाँ जाते डर लगता है।"

"डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही।"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न ?"

'मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं; और फिर मुझसे लजाएगी कि नहीं ? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ ! उसे तन की सुध भी तो न होगी ? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी !'

"मैं सोचता हूँ कोई बाल-बच्चा हुआ, तो क्या होगा ? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं है घर में !"

"सब कुछ आ जाएगा। भगवान् दें तो ! जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान् ने किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी नहीं थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज़्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज़्यादा विचारवान् था और किसानों के विचार-शून्य समूह में शामिल होने के बदले

बैठकबाज़ों की कुत्सित मण्डली में जा मिला थ। हाँ उसमें यह शक्ति न थी, कि बैठकबाज़ों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती, और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेज़ा फ़ायदा तो नहीं उठाते। दोनों आलू निकाल-निकाल कर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठण्डा हो जाने दें। कई बांर दोनों की जबानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा वहुत ज़्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पडते ही अन्दर का हिस्सा जबान, हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज़्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफ़ी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश मे उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक़्त ठाकुर की बरात याद आयी, जिसमें वीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन मे एक याद रखने लायक बात थी, और आज भी उसकी याद ताजी थी। बोला—वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नही मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलायी थीं, सबको ! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की ! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी मिटाई, अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला, कोई रोक-टोक नहीं थी, जो चीज़ चाहो, माँगो, जितना चाहो, खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, कि किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाल देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब सबने मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी ? खड़ा हुआ न जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर !

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मज़ा लेते हुए कहा— अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।

"अब कोई क्या खिलाएगा ? वह ज़माना दूसरा था। अब तो सबको किफायत ही सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो। पूछो, ग़रीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे ? बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफ़ायत सूझती है।"

'तुमने बीस एक पूरियाँ खायी होंगी ?'

"बीस से ज़्यादा खायी थीं !"

"मैं पचास खा जाता !"

"पचास से कम मैंने न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेंडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

दो

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गयी थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट मे बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों ज़ोर-ज़ोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पडोसवालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागो को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फिक्र करनी थी। घर मे तो पैसा इस तरह गायब था, जैसे चील के घोसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमीदार के पास गये। वह इन दोनो की सूरत से नफरत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथो पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा—क्या है बे घिसुआ, रोता क्यो है ? अब तो तू कही दिखलाई भी नही देता ! मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आँखो में आँसू भरे हुए कहा—सरकार ! बड़ी विपत्ति मे हूँ। माधव की घरवाली रात को गुज़र गयी। रात-भर तड़पती रही सरकार ! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गयी। अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा मालिक ! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगाएगा। हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ।

जमीदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था। जी मे तो आया, कह दे, चल, दूर हो यहाँ से। यों तो बुलाने से भी नही आता, आज जब गरज पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है। हरामख़ोर कहीं का, बदमाश ! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिये। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ़ ताका तक नही। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब ज़मींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गाँव के बनिये-महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता ? घीसू ज़मींदार के नाम का ढिंढ़ोरा भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गयी। कहीं से नाज मिल गया। कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव बाज़ार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

तीन

बाज़ार में पहुँचकर घीसू बोला—लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गयी है, क्यो माधव !

माधव बोला—"हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफन चाहिए।"

"तो चलो, कोई हलका-सा कफन ले लें।"

"हाँ, और क्या ! लाश उठते-उठते रात हो जाएगी। रात को कफन कौन देखता है ?"

"कैसा बुरा रिवाज़ है कि जिसे जीते जी, तन ढाँकने को चीथडा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।"

"कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।"

"और क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा दारू कर लेते।"

दोनो एक-दूसरे के मन की बात ताड रहे थे। बाजार मे इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दुकान पर गये, कभी उसकी दुकान पर। तरह-तरह के कपड़े रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नही। यहाँ तक कि शाम हो गयी। तब दोनो न-जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे। और जैसे किसी पूर्व-निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनो असमजस मे खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा— साहुजी, एक बोतल हमें भी देना। इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछली आयी और दोनो बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबडतोड़ पीने के बाद दोनो सरूर मे आ गये।

घीसू बोला—कफन लगाने से क्या मिलता ? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—दुनिया का दस्तूर है, नही लोग बाँभनो को हज़ारों रुपये देते

हैं ? कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं !

"बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें। हमारे पास फूँकने को क्या है ?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे ? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है ?"

घीसू हँसा—"अबे, कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। वहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास न आएगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।"

माधव भी हँसा—'इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला—वड़ी अच्छी थी बेचारी ! मरी तो खूब खिला-पिलाकर !'

आधी बोतल से ज्यादा उड़ गयी। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगायी। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दुकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त इस शान से बैठे पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ था, न वदनामी की फिक्र। इन सब भावनाओं को उन्होंने वहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसे पुन्न न होगा ?

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की—जरूर से जरूर होगा। भगवान तुम अन्तर्यामी हो। उसे वैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे है। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्रभर न मिला था।

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला—क्यों दादा, हम लोग भी तो एक-न-एक दिन वहाँ जाएँगे ही ?

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

"जो वहाँ हम लोगो से पूछे कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया तो क्या कहेगे ?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर !"

"पूछेगी तो जरूर !"

"तू कैसे जानता है कि उसे कफन न मिलेगा ? तू मुझे ऐसा गधा समझता है ? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ? उसको कफन मिलेगा और बहुल अच्छा मिलेगा !"

माधव को विश्वास न आया। बोला—कौन देगा ? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसके माँग मे तो सिन्दुर मैंने डाला था।

घीसू गर्म होकर बोला—"मैं कहता हूँ, उसे कफन मिलेगा, तू मानता क्यो नहीं ?"

"कौन देगा, बताते क्यो नही ?"

"वही लोग देगे, जिन्होंने अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आएँगे।"

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज़्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं। या न जीते हैं, न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मज़े ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं ! पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और देने के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा–ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे ! जिसकी कमाई है, वह तो मर गयी। मगर तेरा आशीर्वाद उसे ज़रूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं !

माधव ने फिर आसमान की तरफ़ देखकर कहा– वह बैकुण्ठ में जाएगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला–हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी। वह न बैकुण्ठ में जायेगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं ?

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला–मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी !

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मारकर।

घीसू ने समझाया–क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गयी, जंजाल से छूट गयी। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बन्धन तोड़ दिये।

और दोनों खड़े होकर गाने लगे–

"ठगिनी क्यों नैना झमकावे ! ठगिनी !"

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये। और आख़िर नशे से मदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।

(उर्दू में : 'जामिया', दिसम्बर १६३५ में प्रकाशित;
हिन्दी में : 'चाँद', अप्रैल १६३६ में प्रकाशित)

ठाकुर का कुआँ

एक

जोखू ने लोटा मुहँ से लगाया तो पानी मे सख़्त बदबू आयी। गंगी से बोला–यह कैसा पानी है ? मारे बास के पिया नहीं जाता। गला सूखा जा रहा है और तू सड़ा पानी पिलाये देती है !

गंगी प्रतिदिन शाम को पानी भर लिया करती थी। कुआँ दूर था, बार-बार जाना मुश्किल था। कल वह पानी लायी, तो उसमें बू बिलकुल न थी; आज पानी में बदबू कैसी ! लोटा नाक से लगाया, तो सचमुच बदबू थी। ज़रूर कोई जानवर कुएँ मे गिर कर मर गया होगा ; मगर दूसरा पानी आवे कहाँ से ?

ठाकुर के कुएँ पर कौन चढ़ने देगा ? दूर से लोग डाँट बताएँगे। साहू का कुआँ गाँव के उस सिरे पर है, परन्तु वहाँ भी कौन पानी भरने देगा ? कोई कुआँ गाँव में है नहीं।

जोखू कई दिनों से बीमार है। कुछ देर तक तो प्यास रोके चुप पड़ा रहा, फिर बोला– अब तो मारे प्यास के रहा ही नहीं जाता। ला थोड़ा पानी नाक बन्द करके पी लूँ।

गंगी ने पानी न दिया। ख़राब पानी पीने से बीमारी बढ़ जाएगी–इतना जानती थी परन्तु यह न जानती थी कि पानी को उबाल देने से उसकी ख़राबी जाती रहती है बोली–यह पानी कैसे पियोगे ? न जाने कौन जानवर मरा है कुएँ में। मैं दूसरा पानी लाये देती हूँ।

जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा–दूसरा पानी कहाँ से लायेगी ?

"ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं। क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे ?"

"हाथ-पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से ब्राह्मन-देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पाँच लेंगे गरीबों का दर्द कौन समझता है ! हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई द्वार पर झाँकने नहीं आता, कन्धा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे ?"

इन शब्दों में कड़वा सत्य था। गंगी क्या जवाब देती ; किन्तु उसने वह बदबूदार पानी पीने को न दिया।

दो

रात के नौ बजे थे। थके-माँदे मजदूर तो सो चुके थे, ठाकुर के दरवाज़े पर दस-पाँच बेफिक्रे जमा थे मैदानी। बहादुरी का तो न अब ज़माना रहा है, न मौक़ा। क़ानूनी बहादुरी की बातें हो रही थीं। कितनी होशियारी से ठाकुर ने थानेदार को एक ख़ास मुक़दमे मे रिश्वत दे दी और साफ़ निकल गये। कितनी अक़्लमन्दी से एक मार्के के मुक़दमे की नक़ल ले आये। नाज़िर और मोतिमिम, सभी कहते थे, नक़ल नहीं मिल सकती। कोई पचास माँगता कोई सौ ! यहाँ वे पैसे-कोड़ी नक़ल उड़ा दी। काम करने का ढंग चाहिए।

इसी समय गंगी कुएँ से पानी लेने पहुँची।

कुप्पी की धुँधली रोशनी कुएँ पर आ रही थी। गंगी जगत की आड़ में बैठी मौक़े कर इन्तजार करने लगी। इस कुएँ का पानी सारा गाँव पीता है। किसी के लिए रोक नहीं; सिर्फ़ ये बदनसीब नहीं भर सकते।

गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा—हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँचे हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं ? यहाँ तो जितने हैं; एक-से-एक छटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की भेंड़ चुरा ली थी और बाप को मारकर खा गया। इन्हीं पण्डित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस-किस बात में हैं हमसे ऊँचे ? हाँ, मुँह से हमसे ऊँचे है, हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे हैं, हम ऊँचे। कभी गाँव में आ जाती हूँ, तो रस-भरी आँख से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है, परन्तु घमण्ड यह कि हम ऊँचे है !

कुएँ पर किसी के आने की आहट हुई। गंगी की छाती धक्-धक् करने लगी। कहीं देख ले तो गजब हो जाय। एक लात भी तो नीचे न पड़े। उसने घड़ा और रस्सी उठा ली और झुककर चलती हुई एक वृक्ष के अँधेरे साये में जा खड़ी हुई। कब इन लोगों को दया आती है किसी पर ! बेचारे महँगू को इतना मारा कि महीनों लहू थूकता रहा। इसीलिए तो कि उसने बेगार न दी थी ! इस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं ?

कुएँ पर दो स्त्रियाँ पानी भरने आयी थीं। इनमें बातें हो रही थीं।

"खाना खाने चले और हुक्म हुआ कि ताज़ा पानी भर लाओ। घड़े के लिए पैसे नहीं हैं।"

"हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे मरदों को जलन होती है।"

"हाँ, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते बस, हुकुम चला दिया कि ताजा पानी लाओ, जैसे हम लौंडियाँ ही तो हैं !"

"लौंडियाँ नहीं तो और क्या हो तुम ? रोटी-कपड़ा नहीं पातीं ? दस-पाँच रुपये

भी छीन-झपटकर ले ही लेती हो और लौडियाँ कैसी होती हैं !"

"मत ले जाओ, दीदी ! छिन-भर आराम करने को जी तरसकर रह जाता है। इतना काम किसी दूसरे के घर कर देती, तो इससे कहीं आराम से रहती। ऊपर से वह एहसान मानता। यहाँ काम करते-करते मर जाओ, पर किसी का मुँह ही सीधा नहीं होता।"

दोनों पानी भर कर चली गयी, तो गंगी वृक्ष की छाया से निकली और कुएँ के जगत के पास आयी। बेफिक्रे चले गये थे। ठाकुर भी दरवाज़ा बन्द कर अन्दर आँगन में सोने के लिए जा रहे थे। गंगी ने क्षणिक सुख की साँस ली। किसी तरह मैदान तो साफ़ हुआ। अमृत चुरा लाने के लिए जो राजकुमार किसी ज़माने मे गया था, वह भी शायद इतनी सावधानी के साथ और समझ-बूझकर न गया हो। गगी दबे पाँव कुएँ के जगत पर चढ़ी। विजय का ऐसा अनुभव उसे पहले कभी न हुआ।

उसने रस्सी का फंदा घड़े में डाला। दाएँ-बाएँ चौकन्नी दृष्टि से देखा जैसे कोई सिपाही रात को शत्रु के किले में सुराख़ कर रहा हो। अगर इस समय वह पकड ली गयी, तो फिर उसके लिए माफी या रियायत की रत्ती-भर उम्मीद नहीं। अन्त में देवताओं को याद करके उसने कलेजा मजबूत किया और घड़ा कुएँ में डाल दिया।

घड़े ने पानी में गोता लगाया, बहुत ही आहिस्ता। ज़रा भी आवाज न हुई। गंगी ने दो-चार हाथ जल्दी-जल्दी मारे, घडा कुएँ के मुँह तक आ पहुँचा। कोई बड़ा शहजोर पहलवान भी इतनी तेजी से उसे न खींच सकता था।

गंगी झुकी कि घडे को पकड़कर जगत पर रखे कि एकाएक ठाकुर साहब का दरवाज़ा खुल गया। शेर का मुँह इससे अधिक भयानक न होगा !

गगी के हाथ से रस्सी छूट गयी। रस्सी के साथ घडा धड़ाम से पानी मे गिरा और कई क्षण तक पानी में हलकोरे की आवाजे सुनाई देती रही।

ठाकुर, "कौन है, कौन है ?" पुकारते हुए कुएँ की तरफ जा रहे थे और गगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी।

घर पहुँचकर देखा कि जोखू लोटा मुँह से लगाये वही मैला गन्दा पानी पी रहा है।

(हिन्दी में : 'जागरण', २६ अगस्त, १६३२ में प्रकाशित
उर्दू में : अप्रकाशित)

रंगीले बाबू

एक

बाबू रसिकलाल को मैं उस वक्त से जानता हूँ, जब वह लॉ कॉलेज में पढ़ते थे। मेरे सामने ही वह वकील हुए और आनन-फानन चमके। देखते-देखते बँगला बन गया, ज़मीन ख़रीद ली, मोटर रख ली और शहर के रईसों में शुमार होने लगे, लेकिन मुझे न जाने क्यों उनके रंग-ढंग कुछ बहुत जँचते न थे। मैं यह नहीं देख सकता कि कोई भला आदमी ख्वामख्वाह टेढ़ी टोपी लगाकर निकले या सुरमा लगाकर, माँग निकालकर, मुँह को पान से फुलाकर, गले में मोतिया या बेले के गजरे डाले, तजेब का चुन्नटदार कुरता और महीन धोती पहने बाज़ार में कोठो की ओर ताक-झाँक करता, ठट्ठे मारता निकले। मुझे उससे चिढ़ हो जाती है। वह मेरे पास म्यूनिसिपल मेम्बरी के लिए वोट माँगने आये तो कभी न दूँ, उससे याराना निभाना तो दूर की बात है, भले आदमी को ज़रा गम्भीर, ज़रा सादगी-पसन्द देखना चाहता हूँ। मुझे अगर किसी मुक़दमे में वकील करना पड़े तो मैं ऐसे आदमी को कभी न करूँ, चाहे वह रासबिहारी घोष ही का-सा क़ानूनदाँ क्यों न हो। रसिकलाल इसी तरह के रंगीले आदमी हैं। उनकी तर्क शक्ति ऊँचे दरजे की है, मानता हूँ। जिरह भी अच्छी करते है, यह भी मुझे स्वीकार है, लेकिन सीधी टोपी लगाने और सीधी चाल चलने से उनकी वकालत कुछ ठण्डी न पड़ जाएगी। मेरा तो ख़याल यह है कि बाँकपन छोड़कर भले आदमी बन जाये तो उनकी प्रैक्टिस दूनी हो सकती है, लेकिन अपने को क्या पड़ी है कि किसी की बातों में दखल दें ? जब कभी उनका सामना हो जाता है तो मैं दूसरी ओर ताकने लगता हूँ या किसी गली में ही रहता हूँ। मैं सड़क पर उनसे बातें करना मुनासिब नहीं समझता। क्या हुआ वह नामी वकील हैं और मैं बेचारा स्कूल मास्टर हूँ ? मुझे उनसे किसी तरह का द्वेष नहीं। उन्होंने मेरा क्या बिगाड़ा है जो मैं उनसे जलूँ। मेरी तो वह बड़ी इज्ज़त और खातिर करते हैं। अपनी लड़की की शादी में मैं उनसे दरियाँ और दूसरा सामान माँगने गया था। उन्होंने दो ठेले भर दरियाँ, क़ालीनें, जाजिम, चौकियाँ, मसनदें भेज दीं। नहीं, मुझे उनसे जरा भी द्वेष नहीं–बहुत दिनों के परिचय के नाते मुझे उनसे स्नेह है, लेकिन उनका यह बाँकपन मुझे नहीं अच्छा लगता। वह चलते हैं तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे दुनिया को ललकारते चलते

हों–"देखूँ, मेरा कोई क्या कर सकता है ? मुझे किसी की परवाह नहीं है। एक बार मुझे स्टेशन पर मिल गये। लपककर मेरे कन्धे पर हाथ ही तो रख दिया– 'आप तो मास्टर साहब, कभी नज़र ही नहीं आते, कभी भला साल मे एक-आध बार तो दर्शन दे दिया कीजिए।" मैने अपना कन्धा छुड़ाते हुए कहा, "क्या करें साहब, अवकाश ही नहीं मिलता।" बस, आपने चट एक बाज़ारी शेर पढ़ा :

तुम्हे ग़ैरों से कब फुरसत,
हम अपने ग़म से कब ख़ाली ?
चलो, बस हो चुका मिलना
न तुम ख़ाली न हम ख़ाली।

मैंने हँस तो दिया–जो आदमी अपना लिहाज़ करे, उससे कोई कैसे रुखाई करे ? फिर बड़े आदमियों से बिगाड़ करना भी नही चाहता, न जाने कब अपनी गरज लेकर उनके पास जाना पड़े–लेकिन मुझे उनकी यह बेतकल्लुफ़ी कुछ अच्छी न लगी। यों मैं न कोई तपस्वी हूँ, न जाहिद। अरसिक होना उस बाँकपन से भी बुरा है। शुष्क जीवन भी कोई जीवन है, जिसमें विनोद के लिए स्थान न हो ? वन की शोभा हरे-भरे, सरस वृक्षों से है, सूखे हुए ठूँठों से नहीं, लेकिन मैं चाहता हूँ, आदमी जो कुछ करे। छिपाकर करे शराब पीना चाहते हो, पियो, मगर पियो एकान्त में ! इसकी क्या ज़रूरत है, शराब में मस्त होकर बहकते फिरो ? रूप के उपासक बनना चाहते हो, बनो लेकिन इसकी क्या ज़रूरत है कि वेश्याओं को दायें-बायें बैठाये मोटर में अपने छैलपन का ढिंढोरा पीटते फिरो, रसिकता की भी एक उम्र होती है। जब लड़के जवान हो गये, लड़कियों की शादी हो गयी, बाल पक चले, तो मेरे ख़याल में आदमी को कुछ गम्भीर हो जाना चाहिए। आपका दिल अभी जवान है, बहुत अच्छी बात है, मैं तुम्हें इस पर बधाई देता हूँ। वासना कभी बूढ़ी नहीं होती, मेरा तो अनुभव है कि उम्र के साथ-साथ वह भी प्रौढ़ होती जाती है, लेकिन इस उम्र में कुलेलें करना मुझे ओछापन मालूम होता है। सींग कटाकर बछड़ा बनने वाली मनोवृति का मैं कायल नहीं। कोई किसी का क्या कर लेगा ? लेकिन चार भले आदमी उँगली उठायें, ऐसा काम क्यों करो ? तुम्हें भगवान ने सम्पन्न बनाया है, बहुत अच्छी बात है, लेकिन अपनी सम्पन्नता को इस विपन्न संसार में दिखाते फिरना, जो क्षुधा से व्याकुल है, उनके सामने रसगुल्ले उड़ाना, इसमें न तो रसिकता है, न आदमियत।

रसिकलाल की बड़ी लड़की का विवाह था। मथुरा से बारात आयी थी। ऐसे ठाठ की बारात यहाँ शायद ही कभी आयी हो। बड़ी धर्मशाला में जनवासा था। वर का पिता किसी रियासत का दीवान था। मैं भी बारातियों की सेवा-सत्कार में लगा हुआ था। एक हज़ार आदमी से कम न थे इतने आदमियों का सत्कार करना हँसी नहीं है। यहाँ तो किसी बारात में सौ-पचास आदमी आ जाते हैं तो उनकी भी अच्छी तरह ख़ातिर नहीं हो पाती। फिर बारातियों के मिज़ाज का क्या कहना। सभी तानाशाह बन जाते हैं। कोई चमेली का तेल माँगता है, कोई आँवले का ; कोई

केशरंजना, कोई शराब माँगता है ; कोई अफ़ीम ! साबुन चाहिए, इत्र चाहिए। एक हज़ार आदमियों के खाने का प्रबन्ध करना कितना कठिन है। मैं समझता हूँ, बीस-पच्चीस हज़ार के वारे-न्यारे हुए होंगे, लेकिन रसिकलाल के माथे पर शिकन न आयी। वही बाँकपन था, वही विनोद, वही बेफ़िक्री । न झुँझलाना, न बिगड़ना। बारातियों की ओर से ऐसी-ऐसी बेहूदा फ़रमाइशें होती थीं कि हमें ग़ुस्सा आ जाता था। पाव-आध-पाव भंग बहुत है, यह पसेरी भर भंग लेकर क्या उसकी धूनी देंगे ? जब सिनेमा के एक सौ अव्वल दरजे के टिकटों की फरमाइश हुई तो मुझसे न रहा गया। रसिकलाल को खूब डाँट बतायी, और उसी क्रोध में जनवासे की ओर चला कि एक-एक को फटकारूँ। लड़के का ब्याह करने आये हैं या किसी भले आदमी की इज्ज़त बिगाड़ने ? एक दिन बग़ैर सिनेमा देखे नहीं रहा जाता ? ऐसे ही बड़े शौकीन हो तो जेब से पैसे क्यों नहीं ख़र्च करते ? लेकिन रसिकलाल खड़े हँस रहे थे। भाईसाहब, क्यों इतना बिगड़ रहे हो ? ये लोग तुम्हारे मेहमान हैं, मेहमान दस जूते भी लगायें तो बुरा न मानिए। यह सब ज़िन्दगी के तमाशे हैं तमाशे में हम खुश होने जाते हैं, वहाँ रोना भी पड़े तो उसमे आनन्द है। लपककर सिनेमा घर से सौ टिकट ला दीजिए, सौ-दो-सौ रुपये का मुँह न देखिए। मैंने मन में कहा, मुफ़्त का धन बटोरा है तो लुटाओ और नाम लूटो। यह कोई सत्कार नही है कि मेहमान की ग़ुलामी की जाय। मेहमान उसी वक़्त तक मेहमान है, जब वह मेहमान की तरह रहे। जब वह रोब जमाने लगे, बेइज्जती करने पर आमादा हो जाय, तो वह मेहमान नहीं, शैतान है।

दो

इसके तीन महीने बाद सुना कि रसिकलाल का दामाद मर गया, वही जिसकी नयी शादी हुई थी। सिविल सर्विस के लिए इंग्लैण्ड गया हुआ था। वहीं न्यूमोनिया हो गया। यह खबर सुनते ही मुझे रोमांच हो आया। उस युवक की सूरत आँखों में दौड़ गयी। कितना सौम्य, कितना प्रतिभाशाली लड़का था और मरा जाकर इंग्लैण्ड में कि घर वाले देख भी न सके और उस लड़की की क्या दशा होगी, जिसका सर्वनाश हो गया ? अभी हाथ की मेहंदी भी तो न छूटी थी। चुँदरी भी तो अभी मैली नहीं हुई। वाह रे दयालु भगवान ! और वाह रे तुम्हारी लीला ! प्राणियों की होली बनाकर उसकी लपटों का तमाशा देखते हो। उसी वक़्त भागा हुआ रसिकलाल के पास गया और उनकी सूरत देखते ही मन की कुछ ऐसी दशा हुई कि चिंघाड़ मार कर रो पड़ा। रसिकलाल आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे, उठकर मुझे गले लगा लिया और उसी स्थिर, अविचलित, निर्द्वन्द्व भाव से बोले, "वाह मास्टर साहब, आपने तो बालकों को भी मात कर दिया, जिनकी मिठाई कोई छीनकर खा जाय तो रोने लगते हैं ! बालक तो इसलिए रोता है कि उसके बदले में दूसरी मिठाई कोई मिल जाय। आप तो ऐसी चीज़ के लिए रो रहे हैं जो किसी तरह मिल ही नहीं सकती। अरे, साहब, यहाँ बेहया

बनकर रहिए। मार खाते जाइए और मूँछों पर ताव देते जाइए। मज़ा तो तब है कि जल्लाद के पैरों-तले आकर भी वही अकड़ बनी रहे ! अगर ईश्वर है, मुझे तो कुछ मालूम नहीं, लेकिन सुनता हूँ कि वह दयालु है और दयालु ईश्वर भला निर्दयी कैसे हो सकता है ! वह किसे मारता है, किसे जिलाता है, हमसे मतलब नहीं। उसके खिलौने हैं, खेले या तोड़े, हम क्यों उसके बीच में दखल दें ? वह हमारा दुश्मन नहीं, न ज़ालिम बादशाह है कि हमे सताकर खुश हो। मेरा लड़का घर मे आग भी लगा दे तो मैं उसका दुश्मन न बनूँगा। मैंने तो उसे पाल-पोसकर बड़ा किया है, उससे क्या दुश्मनी करूँ, भला ईश्वर कभी निर्दयी हो सकता है, जिसके प्रेम का स्वरूप यह ब्रह्माण्ड है ? अगर ईश्वर नही है, मुझे मालूम नहीं, और कोई ऐसी शक्ति है, जिसे हमारी विपत्ति में आनन्द मिलता है तो साहब यहाँ रोने वाले नहीं। हाथों में ताक़त होती और दुश्मन नज़र आता तो हम भी कुछ जवाँमर्दी दिखाते। अब अपनी बहादुरी दिखाने का इसके सिवा और क्या साधन है कि मार खाते जाओ और हँसते जाओ ! अकड़ते जाओ ! रोये तो अपनी हार स्वीकार करेंगे मार ले साले, जितना चाहे मार ले, लेकिन हँसते ही रहेंगे। मक्कार भी है, जादूगर भी। छिपकर वार करता है। आ जाय सामने तो दिखाऊँ। हमें तो अपने उन बेचारे शायरों की अदा पसन्द है जो क़ब्र में भी माशूक के पाजेब की झंकार सुनकर मस्त होते रहते हैं।

इसके बाद रसिकलाल ने उर्दू शेरों का ताँता बाँध दिया और इस तरह तन्मय होकर उनका आनन्द उठाने लगे, मानो कुछ हुआ ही नहीं है। फिर बोले, "लड़की रो रही है। मैंने कहा, ऐसे बेवफ़ा के लिए क्या रोना जो तुम्हें छोड़कर चल दिया ! अगर उससे प्रेम है तो रोने की कोई ज़रूरत नहीं ! प्रेम तो आनन्द की वस्तु है। अगर कहो, क्या करें दिल नहीं मानता, तो दिल को मनाओ। बस, दुःखी मत हो। दुःखी होना ईश्वर का अपमान करना है, और मानवता को कलंकित करना।

मैं रसिकलाल का मुँह ताकने लगा। उन्होंने यह कथन कुछ ऐसे उदात्त भाव से किया कि एक क्षण के लिए मुझ पर भी उसने जादू कर दिया। थोड़ी देर के बाद मैं वहाँ से चला तो दिल का बोझ बहुत-कुछ हलका हो गया था। मन में एक प्रकार का साहस उदय हो गया था जो विपत्ति और बाधा पर हँस रहा था।

तीन

थोड़े दिनों के बाद वहाँ से तबादला हो गया और रसिकलालजी की कोई ख़बर नहीं मिली। कोई साल भर के बाद एक दिन गुलाबी लिफ़ाफ़े पर सुनहरे अक्षरों में छपा हुआ एक निमन्त्रण-पत्र मिला। रसिकलाल के बड़े लड़के का विवाह हो रहा था। नवेद के नीचे कलम से आग्रह किया गया था कि अवश्य आइए, वरना मुझे आपसे बड़ी शिकायत रहेगी। आधा मज़ा जाता रहेगा। एक उर्दू का शेर भी था–

इस शौक़े फिरावाँ की या रब,
आख़िर कोई हद भी है कि नहीं ;

इन्कार करे वह या वादा,
हम रास्ता देखते रहते हैं।

एक सप्ताह का समय था। मैंने नयी रेशमी अचकन बनवायी, नये जूते ख़रीदे और खूब बन-ठनकर चला। वधू के लिए एक अच्छी -सी काश्मीरी साड़ी ले ली। महीनों एक जगह रहते-रहते और एक ही काम करते-करते मन कुछ कुण्ठित-सा हो गया था। तीन-चार दिन खूब जलसे रहेंगे, गाने सुनूँगा, दावतें उड़ाऊँगा। मन बहाल हो जाएगा। रेलगाड़ी से उतरकर वेटिंग रूम में गया और अपना नया सूट पहना। बहुत दिनों बाद नया सूट पहनने की नौबत आयी थी, पर आज भी मुझे नया सूट पहनकर वही खुशी हुई जो लड़कपन में होती थी। मन कितना ही उदास हो, नया सूट पहनकर हरा हो जाता है। मैं तो कहता हूँ, बीमारी में बहुत-सी दवाएँ न खाकर हम नया सूट बनवा लिया करें तो कम-से-कम उतना फ़ायदा तो जरूर ही होगा जितना दवा खाने से होता है। क्या यह कोई बात ही नहीं कि ज़रा देर के लिए आप अपनी ही आँखों में कुछ ऊँचे हो जायें ? मेरा अनुभव तो यह कहता है कि नया सूट हमारे अन्दर एक नया जीवन डाल देता है, जैसे साँप कंचुल बदले या वसन्त मे वृक्षों में नयी कोंपलें निकल आयें ?

स्टेशन से निकलकर मैंने ताँगा लिया और रसिकलाल के द्वार पर पहुँचा। तीन बजे होंगे। लू चल रही थी ! मुँह झुलसा जाता था। द्वार पर शहनाइयाँ बज रही थीं। बन्दनवारें बँधी हुई थीं। ताँगे से उतरकर अन्दर के सहन में पहुँचा। बहुत से आदमी आँगन के सहन के बीच में घेरा बाँधे खड़े थे। मैंने समझा कि शायद जोड़-गहने की नुमाइश हो रही होगी। भीड़ चीरकर घुसा—बस कुछ न पूछो, क्या देखा, जो ईश्वर सातवें बैरी को भी न दिखाए। अर्थी थी, पक्के काम के दोशाले से ढकी हुई, जिस पर फूल बिखरे हुए थे। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि गिर पड़ूँगा।

सहसा रसिकलाल पर मेरी निगाह पड़ गयी। रंगीन कपड़ों का एक गट्ठर लिये अन्दर से आये थे। न आँखों में आँसू, न मुख पर वेदना, न माथे पर शिकन। वही बाँकी टोपी थी, वही रेशमी कुरता, वही महीन तंजेब की धोती। सब रो रहे थे, कोई आसुओं के वेग को रोके हुऐ था, कोई शोक से विह्वल ! ये बाहर के आदमी थे। कोई मित्र था, कोई बन्धु और जो मरने वाले का बाप था, वह इन डगमगाने वाली नौकाओं और जहाज़ों के बीच में स्तम्भ की भाँति खड़ा था। मैं दौड़कर उनके गले से लिपटकर रोने लगा। वह पानी की बूँद, जो पत्ते पर रुकी हुई थी, ज़रा-सी हवा पाकर ढुलक पड़ी।

रसिकलाल ने मुझे गले से लगाते हुए कहा, “आप कब आये ? क्या अभी चले आ रहे हैं ? वाह, मुझे ख़बर ही न हुई। शादी की तैयारियों में ऐसा फँसा कि मेहमानों की ख़ातिरदारी भी न कर सका। चलकर कपड़े उतारिए, मुँह-हाथ धोइए। अभी बारात में चलना पड़ेगा। पूरी तैयारी के साथ चलेंगे। बैण्ड, बीन, ताशा, शहनाई, नगाड़ा, ढफली—सभी कुछ साथ होंगे। कोतल घोड़े, हाथी, सवारियाँ सब कुछ मँगवायी हैं। आतिशबाज़ी, फूलों के तख्त, खूब धूम से चलेंगे। जेठे लड़के का ब्याह है, खूब दिल खोलकर क़रेंगे। गंगा के तट पर जनवासा होगा।

इन शब्दों में शोक की कितनी भयंकर, कितनी अथाह वेदना थी ! एक कुहराम मच गया।

रसिकलाल ने लाश के सिर पर बेलों का मौर पहनाकर कहा, "क्या रोते हो भाइयो ! यह कोई नयी बात नहीं हुई है। रोज़ ही तो यह तमाशा देखते हैं, कभी अपने घर में, कभी दूसरे के घर में। रोज़ ही तो रोते हो, कभी अपने दुख से, कभी पराये दुख से। कौन तुम्हारे रोने की परवाह करता है, कौन तुम्हारे आँसू पोंछता है, कौन तुम्हारी चीत्कार सुनता है ? तुम रोये जाओ, वह अपना काम किये जाएगा। फिर रोकर क्यों अपनी दुर्बलता दिखाते हो ? उसकी चोटों को छाती पर लो और हँसकर दिखा दो, तुम ऐसी चोटों की परवाह नहीं करते। उससे कहो, तेरे अस्त्रालय में जो सबसे घातक अस्त्र हो, वह निकाल ला। यह क्या सुइयाँ-सी चुभोता है ? पर हमारी कोई दलील नहीं सुनता। न सुने ! हम भी अपनी अकड़ न छोड़ेंगे उसी धूम-धाम से बारात निकालेंगे, खुशियाँ मनायेंगे।

रसिकलाल रोते तो और लोग भी उन्हें समझाते। इस विद्रोहभरी ललकार ने सबको स्तम्भित कर दिया। समझाता कौन ? हमें वह ललकार विक्षिप्त वेदना-सी जान पड़ी जो आँसुओं से कहीं मर्मान्तक थी। चिनगारी के स्पर्श से आबले पड़ जाते हैं दहकती हुई आग में पाँव पड़ जाय तो भुन जाएगा, आबले न पड़ेंगे रसिकलाल की वेदना वही दहकती हुई आग थी।

लाश मोटर पर रखी गयी। मोटर गुलाब के फूलों से सजाया गया था। किसी ने पुकारा, "राम नाम सत्य है !"

रसिकलाल ने उसे विनोदभरी आँखों से देखा, " तुम भूल जाते हो, लाला। यह विवाह का उत्सव है। हमारे लिए सत्य जीवन है, उसके सिवा जो कुछ है, मिथ्या।"

बाजे-गाजे के साथ बारात चली। इतना बड़ा जुलूस तो मैंने शहर में नहीं देखा। विवाह के जुलूस में दो-चार सौ आदमियों से ज़्यादा न होते। इस जुलूस की संख्या लाखों से कम न थी। धन्य हो रसिकलाल ! धन्य तुम्हारा कलेजा ! रसिकलाल उसी बाँकी अदा से मोटर के पीछे घोड़े पर सवार चले जा रहे थे। जब लाश चिता पर रखी गयी तो रसिकलाल ने एक बार ज़ोर से छाती पर हाथ मारा। मानवता ने विद्रोही आत्मा को आन्दोलित किया, पर दूसरे ही क्षण उनके मुख पर वही कठोर मुस्कान चमक उठी। मानवता वह थी या यह, कौन कहे ?

उसके दो दिन बाद मैं नौकरी पर लौट गया। जब छुट्टियाँ होती हैं तो रसिकलाल से मिलने आता हूँ। उन्होंने उस विद्रोह का एक अंश मुझे भी दे दिया है। अब जो कोई उनके आचार-व्यवहार पर आक्षेप करता है तो मैं केवल मुस्करा देता हूँ।

(हिन्दी में : 'भारत' अर्द्ध-साप्ताहिक, गुरुवार, २६ जनवरी,
१६३३ में प्रकाशित;
उर्दू में : अप्रकाशित)

गुल्ली-डंडा

एक

हमारे अँगरेज़ी दोस्त मानें या न मानें मैं तो यही कहूँगा कि गुल्ली-डण्डा सब खेलों का राजा है। अब भी कभी लड़कों को गुल्ली-डण्डा खेलते देखता हूँ, तो जी लोट-पोट हो जाता है कि इनके साथ जाकर खेलने लगूँ। न लान की ज़रूरत, न कोर्ट की, न नेट की, न थापी की। मज़े से किसी पेड़ से एक टहनी काट ली, गुल्ली बना ली, और दो आदमी भी आ गये, तो खेल शुरू हो गया।

विलायती खेलों में सबसे बड़ा ऐब है कि उनके सामान महँगे होते हैं। जब तक कम-से-कम एक सैकड़ा न ख़र्च कीजिए, खिलाड़ियों में शुमार ही नहीं हो सकता। यहाँ गुल्ली-डण्डा है कि बिना हर्र-फिटकरी के चोखा रंग देता है ; पर हम अंग्रेज़ी चीज़ों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीजों से अरुचि हो गयी। स्कूलों में हरेक लड़के से तीन-चार रुपये सालाना केवल खेलने की फीस ली जाती है। किसी को यह नहीं सूझता कि भारतीय .खेल खिलायें, जो बिना दाम-कौड़ी के खेले जाते हैं। अँगरेज़ी खेल उनके लिए है, जिनके पास धन है। ग़रीब लड़कों के सिर क्यों यह व्यसन मढ़ते हो ? ठीक है, गुल्ली से आँख फूट जाने का भय रहता है, तो क्या क्रिकेट से सिर फूट जाने, तिल्ली फट जाने, टाँग टूट जाने का भय नहीं रहता ? अगर हमारे माथे में गुल्ली का दाग़ आज तक बना हुआ है, तो हमारे कई दोस्त ऐसे भी हैं, जो थापी को बैसाखी से बदल बैठे। यह अपनी-अपनी रुचि है। मुझे गुल्ली ही सब खेलो से अच्छी लगती है और बचपन की मीठी स्मृतियों में गुल्ली ही सबसे मीठी है।

वह प्रातःकाल घर से निकल जाना, वह पेड़ पर चढ़कर टहनियाँ काटना और गुल्ली-डण्डे बनाना, वह उत्साह , वह लगन, वह खिलाड़ियों के जमघट, वह पदना और पदाना, वह लड़ाई-झगड़े, वह सरल स्वभाव, जिससे छूत-अछूत, अमीर-ग़रीब का बिलकुल भेद न रहता था, जिसमें अमीराना चोचलों की, प्रदर्शन की, अभिमान की गुंजाइश ही न थी, यह उसी वक़्त भूलेगा जब ···जब ··· । घरवाले बिगड़ रहे हैं, पिताजी चौके पर बैठे वेग से रोटियों पर अपना क्रोध उतार रहे है, अम्मा की दौड़ केवल द्वार तक है, लेकिन उनकी विचार-धारा में मेरा अन्धकारमय भविष्य टूटी

हुई नौका की तरह डगमगा रहा है ; और मैं हूँ कि पदाने में मस्त हूँ, न नहाने की सुधि है, न खाने की। गुल्ली है तो ज़रा-सी, पर उसमें दुनिया भर की मिठाइयों की मिठास और तमाशों का आनन्द भरा हुआ है।

मेरे हमजोलियों में एक लड़का गया नाम का था। मुझसे दो-तीन साल बड़ा होगा। दुबला, बन्दरों की-सी लम्बी-लम्बी, पतली-पतली उँगलियाँ, बन्दरों की-सी ही चपलता, वही झल्लाहट। गुल्ली कैसी ही हो, उस पर इस तरह लपकता था, जैसे छिपकली कीड़ों पर लपकती है। मालूम नहीं, उसके माँ-बाप थे या नहीं, कहाँ रहता था, क्या खाता था ; पर था हमारे गुल्ली-क्लब का चैम्पियन। जिसकी तरफ़ वह आ जाय, उसकी जीत निश्चित थी। हम सब उसे दूर से आते देख, उसका दौड़कर स्वागत करते थे और अपना गोइयाँ बना लेते थे।

एक दिन मैं और गया दो ही खेल रहे थे। वह पदा रहा था। मैं पद रहा था ; मगर कुछ विचित्र बात है कि पदाने में हम दिन-भर मस्त रह सकते हैं ; पदना एक मिनट का भी अखरता है। मैंने गला छुड़ाने के लिए सब चालें चलीं, जो ऐसे अवसर पर शास्त्र-विहित न होने पर भी क्षम्य है, लेकिन गया अपना दाँव लिये बग़ैर मेरा पिण्ड न छोड़ता था।

मैं घर की ओर भागा। अनुनय-विनय का कोई असर न हुआ।

गया ने मुझे दौड़कर पकड़ लिया और डण्डा मारकर बोला—मेरा दाँव देकर जाओ। पदाया तो बड़े बहादुर बनके, पदने के बेर क्यों भागे जाते हो ?

"तुम दिन-भर पदाओ तो मैं दिन-भर पदता रहूँ।"

"हाँ, तुम्हें दिन-भर पदना पड़ेगा।"

"न खाने जाऊँ, न पीने जाऊँ ?"

'हाँ! मेरा दाँव दिये बिना कहीं नहीं जा सकते।"

"मैं तुम्हारा ग़ुलाम हूँ?"

"हाँ मेरे ग़ुलाम हो।"

"मैं घर जाता हूँ, देखूँ मेरा क्या कर लेते हो !"

'घर कैसे जाओगे ; कोई दिल्लगी है। दाँव दिया है, दाँव लेंगे।"

"अच्छा, कल मैंने अमरूद खिलाया था। वह लौटा दो।"

"वह तो पेट में चला गया।"

"निकालो पेट से। तुमने क्यों खाया मेरा अमरूद ?"

"अमरूद तुमने दिया, तब मैंने खाया। मैं तुमसे माँगने न गया था।"

"जब तुम मेरा अमरूद न दोगे, मैं दाव न दूँगा।"

मैं समझता था, न्याय मेरी ओर है। आख़िर मैंने किसी स्वार्थ से ही उसे अमरूद खिलाया होगा। कौन निःस्वार्थ किसी के साथ सलूक करता है। भिक्षा तक तो स्वार्थ के लिए ही देते हैं। जब गया ने अमरूद खाया, तो फिर उसे मुझसे दाँव लेने का क्या अधिकार है ? रिश्वत देकर तो लोग खून पचा जाते हैं, यह मेरा अमरूद यों

ही हजम कर जाएगा ? अमरूद पैसे के पाँचवाले थे, जो गया के बाप को भी नसीब न होंगे। यह सरासर अन्याय था।

गया ने मुझे अपनी ओर खींचते हुए कहा--मेरा दाँव देकर जाओ, अमरूद-समरूद मैं नहीं जानता।

मुझे न्याय का बल था। वह अन्याय पर डटा हुआ था। मैं हाथ छुड़ाकर भागना चाहता था। वह मुझे जाने न देता ! मैंने उसे गाली दी, उसने उससे कड़ी गाली दी, और गाली ही नहीं, एक चाँटा जमा दिया। मैंने उसे दाँत काट लिया। उसने मेरी पीठ पर डण्डा जमा दिया। मैं रोने लगा। गया मेरे इस अस्त्र का मुक़ाबला न कर सका। मैंने तुरन्त आँसू पोछ डाले, डण्डे की चोट भूल गया और हँसता हुआ घर जा पहुँचा ! मैं थानेदार का लड़का एक नीच जात के लौंडे के हाथों पिट गया, यह मुझे उस समय भी अपमानजनक मालूम हुआ ; लेकिन घर में किसी से शिकायत न की।

दो

उन्हीं दिनों पिताजी का वहाँ से तबादला हो गया। नयी दुनिया देखने की खुशी में ऐसा फूला कि अपने हमजोलियों से बिछुड़ जाने का बिलकुल दुःख न हुआ। पिताजी दुःखी थे, यह बड़ी आमदनी की जगह थी। अम्माजी भी दुःखी थीं, यहाँ सब चीज़ें सस्ती थीं, और मुहल्ले की स्त्रियों से घराव-सा हो गया था, लेकिन मैं मारे खुशी के फूला न समाता था। लडकों से जीट उडा रहा था, वहाँ ऐसे घर थोड़े ही होते हैं, ऐसे-ऐसे ऊँचे घर हैं कि आसमान से बातें करते है। वहाँ के अँगरेज़ी स्कूल में कोई मास्टर लड़को को पीटे, तो उसे जेल हो जाये। मेरे मित्रों की फैली हुई आँखें और चकित मुद्रा बतला रही थी कि मैं उनकी निगाह में कितना ऊँचा उठ गया हूँ। बच्चों में मिथ्या को सत्य बना लेने की वह शक्ति है, जिसे हम, जो सत्य को मिथ्या बना लेते हैं, क्या समझेंगे ? उन बेचारों को मुझसे कितनी स्पर्द्धा हो रही थी ! मानो कह रहे थे--तुम भागवान् हो भाई, जाओ हमें तो इसी ऊजड़ ग्राम में जीना भी है और मरना भी।

बीस साल गुज़र गये। मैंने इंजीनियरी पास की और उसी जिले का दौरा करता हुआ उसी कस्बे में पहुँचा और डाक बँगले में ठहरा। उस स्थान को देखते ही इतनी मधुर बाल-स्मृतियाँ हृदय में जाग उठीं कि मैंने छड़ी उठाई और कस्बे की सैर करने निकला। आँखें किसी प्यासे पथिक की भाँति बचपन के उन क्रीड़ा-स्थलों को देखने के लिए व्याकुल हो रही थीं ; पर उस परिचित नाम के सिवा वहाँ और कुछ परिचित न था। जहाँ खँड़हर था, वहाँ पक्के मकान खड़े थे जहाँ बरगद का पुराना पेड़ था, वहाँ अब एक सुन्दर बगीचा था। स्थान की काया पलट हो गयी थी। अगर उसके नाम और स्थिति का ज्ञान न होता, तो मैं उसे पहचान भी न सकता। बचपन की संचित और अमर स्मृतियाँ बाँहें खोले अपने उन पुराने मित्रों से गले मिलने को अधीर

हो रही थीं ; मगर वह दुनिया बदल गयी थी। ऐसा जी होता था कि उस धरती से लिपटकर रोऊँ और कहूँ, तुम मुझे भूल गयी ! मैं तो अब भी तुम्हारा वही रूप देखना चाहता हूँ।

सहसा एक खुली हुई जगह में मैंने दो-तीन लड़कों को गुल्ली-डण्डा खेलते देखा। एक क्षण के लिए मैं अपने को बिल्कुल भूल गया। भूल गया कि मैं एक ऊँचा अफसर हूँ, साहबी ठाठ में, रौब और अधिकार के आवरण में।

जाकर एक लड़के से पूछा-- क्यों बेटे, यहाँ कोई गया नाम का आदमी रहता है ?

एक लड़के ने गुल्ली-डण्डा समेटकर सहमे हुए स्वर में कहा–कौन गया ? गया चमार ?

मैंने यों ही कहा–हाँ-हाँ, वही। गया नाम का कोई आदमी है तो ? शायद वही हो।

"हाँ, है तो।"

"ज़रा उसे बुला सकते हो ?"

लड़का दौड़ता हुआ गया और एक क्षण में एक पाँच हाथ काले देव को साथ लिये आता दिखाई दिया। मैं दूर से ही पहचान गया। उसकी ओर लपकना चाहता था कि उसके गले लिपट जाऊँ, पर कुछ सोचकर रह गया। बोला–कहो, गया, मुझे पहचानते हो ?

गया ने झुककर सलाम किया–हाँ मालिक, भला पहचानूँगा क्यों नहीं ! आप मज़े में रहे ?

"बहुत मज़े में। तुम अपनी कहो।"

"डिप्टी साहब का साईस हूँ।"

"मतई, मोहन, दुर्गा सब कहाँ हैं ? कुछ ख़बर है ?"

"मतई तो मर गया, दुर्गा और मोहन दोनों डाकिये हो गए है। आप ?"

"मैं तो जिले का इंजीनियर हूँ।"

"सरकार तो पहले ही बड़े ज़हीन थे।"

"अब कभी गुल्ली-डण्डा खेलते हो ?"

गया ने मेरी ओर प्रश्न भरी आँखों से देखा–अब गुल्ली-डंडा क्या खेलूँगा सरकार, अब तो धन्धे से छुट्टी नहीं मिलती।

"आओ, आज हम-तुम खेलें। तुम पदाना, हम पदेंगे तुम्हारा एक दाँव हमारे ऊपर है। वह आज ले लो।"

गया बड़ी मुश्किल से राज़ी हुआ। वह ठहरा टके का मज़दूर, मैं एक बड़ा अफ़सर। हमारा और उसका क्या जोड़ ? बेचारा झेंप रहा था। लेकिन मुझे भी कुछ कम झेंप न थी ; इसलिए नहीं कि मैं गया के साथ खेलने जा रहा था, बल्कि इसलिए कि लोग इस खेल को अजूबा समझकर इसका तमाशा बना लेंगे और अच्छी-ख़ासी

भीड़ लग जायेगी। उस भीड़ मे वह आनन्द कहाँ रहेगा, पर खेले बगैर तो रहा नहीं जाता। आख़िर निश्चय हुआ कि दोनों जने बस्ती से बहुत दूर एकान्त में जाकर खेलें वहाँ कौन कोई देखने वाला बैठा होगा। मज़े से खेलेंगे और बचपन की उस मिठाई को खूब रस ले-लेकर खाएँगे। मैं गया को लेकर डाकबँगले पर आया और मोटर में बैठकर दोनों मैदान की ओर चले। साथ में एक कुल्हाड़ी ले ली। मैं गम्भीर भाव धारण किये हुए था, लेकिन गया इसे अभी तक मज़ाक ही समझ रहा था। फिर भी उसके मुख पर उत्सुकता या आनन्द का कोई चिह्न न था। शायद वह हम दोनों में जो अंतर हो गया था, यही सोचने में मगन था।

मैंने पूछा–तुम्हें कभी हमारी याद आती थी गया ? सच कहना।

गया झेंपता हुआ बोला–मैं आपको याद करता हजूर, किस लायक़ हूँ। भाग में आपके साथ कुछ दिन खेलना बदा था ; नहीं मेरी क्या गिनती ?

मैंने कुछ उदास होकर कहा–लेकिन मुझे तो बराबर, तुम्हारी याद आती थी। तुम्हारा वह डण्डा, जो तुमने तानकर जमाया था, याद है न ?

गया ने पछताते हुए कहा–"वह लड़कपन था सरकार, उसकी याद न दिलाओ।"

"वाह ! वह मेरे बाल-जीवन की सबसे रसीली याद है। तुम्हारे उस डण्डे में जो रस था, वह तो अब न आदर-सम्मान मे पाता हूँ, न धन में। कुछ ऐसी मिटास थी उसमें कि आज तक उससे मन मीठा होता रहता है।"

इतनी देर में हम बस्ती से कोई तीन मील निकल आये। चारों तरफ़ सन्नाटा है। पश्चिम ओर कोसों तक भीमताल फैला हुआ है, जहाँ आकर हम किसी समय कमल पुष्प तोड़ ले जाते थे और उसके झूमक बनाकर कानों में डाल लेते थे। जेठ की सन्ध्या केसर मे डूबी चली आ रही है। मैं लपककर एक पेड़ पर चढ गया। और एक टहनी काट लाया। चटपट गुल्ली-डण्डा बन गया। खेल शुरू हो गया। मैंने गुच्ची में गुल्ली रखकर उछाली। गुल्ली गया के सामने से निकल गयी। उसने हाथ लपकाया, जैसे मछली पकड़ रहा हो। गुल्ली उसके पीछे गिरी। वह वही गया है, जिसके हाथों मे गुल्ली जैसे आप ही आकर बैठ जाती थी। वह दाहिने-बायें कहीं हो, गुल्ली उसकी हथेलियों में ही पहुँचती थी। जैसे गुल्लियों पर वशीकरण डाल देता हो, नयी गुल्ली, पुरानी गुल्ली, छोटी गुल्ली, बड़ी गुल्ली, नोकदार गुल्ली, सपाट गुल्ली सभी उससे मिल जाती थीं। जैसे उसके हाथों मे कोई चुम्बक हो, गुल्लियों को खीच लेता हो; लेकिन आज गुल्ली को उससे वह प्रेम नहीं रहा। फिर तो मैंने पदाना शुरू किया। मैं तरह-तरह की धाँधलियाँ कर रहा था। अभ्यास की कसर बेईमानी से पूरी कर रहा था। हुच जाने पर भी डण्डा खुले जाता था। हालाँकि शास्त्र के अनुसार गया की बारी आनी चाहिए थी। गुल्ली पर ओछी चोट पड़ती और वह ज़रा दूर पर गिर पड़ती, तो मैं झपटकर उसे खुद उठा लेता और दोबारा टाँड़ लगाता। गया यह सारी बे-कायदगियाँ देख रहा था; पर कुछ न बोलता था, जैसे उसे वह सब कायदे-कानून भूल गये। उसका निशाना कितना अचूक था। गुल्ली उसके हाथ से निकलकर टन

से डण्डे मे आकर लगती थी। उसके हाथ से छूटकर उसका काम था डण्डे से टकरा जाना, लेकिन आज वह गुल्ली डण्डे मे लगती ही नही ! कभी दाहिने जाती है, कभी बाये, कभी आगे, कभी पीछे।

आध घण्टे पदाने के बाद एक गुल्ली डण्डे मे आ लगी। मैने धाँधली की–गुल्ली डण्डे मे नही लगी, बिल्कुल पास से गयी ; लेकिन लगी नही।

गया ने किसी प्रकार का असन्तोष नही प्रकट किया।

"न लगी होगी।"

"डण्डे मे लगती तो क्या मैं बेईमानी करता ?"

"नही भैया, तुम भला बेईमानी करोगे !"

बचपन मे मजाल था कि मैं ऐसा घपला करके जीता बचता ! यही गया गर्दन पर चढ बैठता, लेकिन आज मैं उसे कितनी आसानी से धोखा दिये चला जाता था। गधा है ! सारी बाते भूल गया।

सहसा गुल्लो फिर डण्डे से लगी और इतनी जोर से लगी, जैसे बन्दूक छूटी हो। इस प्रमाण के सामने अब किसी तरह की धाँधली करने का साहस मुझे इस वक्त भी न हो सका, लेकिन क्यो न एक बार सबको झूठ बताने की चेष्टा करूँ ? मेरा हरज ही क्या है मान गया तो वाह-वाह नही दो-चार हाथ पदना ही तो पडेगा। अँधेरे का बहाना करके जल्दी से छुडा लूँगा। फिर कौन दाँव देने आता है।

गया ने विजय के उल्लास मे कहा–लग गयी, लग गयी ! टन से बोली।

मैंने अनजान बनने की चेष्टा करके कहा–तुमने लगते देखा ? मैंने तो नही देखा।

"टन से बोली है सरकार !"

"और जो किसी ईट से टकरा गयी हो ?"

मेरे मुख से यह वाक्य उस समय कैसे निकला, इसका मुझे खुद आश्चर्य है। इस सत्य को झुठलाना वैसा ही था, जैसे दिन को रात बताना। हम दोनो ने गुल्ली को डण्डे मे जोर से लगते देखा था , लेकिन गया ने मेरा कथन स्वीकार कर लिया।

"हाँ, किसी ईट मे ही लगी होगी। डण्डे मे लगती तो इतनी आवाज न आती।"

मैंने फिर पदाना शुरू कर दिया; लेकिन इतनी प्रत्यक्ष धाँधली कर लेने के बाद, गया की सरलता पर मुझे दया आने लगी; इसीलिए जब तीसरी बार गुल्ली डण्डे मे लगी, तो मैंने बडी उदारता से दाँव देना तय कर लिया।

गया ने कहा--अब तो अँधेरा हो गया है भैया, कल पर रखो।

मैंने सोचा, कल बहुत-सा समय होगा, यह न जाने कितनी देर पदाये, इसलिए इसी वक्त मुआमला साफ़ कर लेना अच्छा होगा।

"नहीं, नही। अभी बहुत उजाला है तुम अपना दॉव ले लो।"

"गुल्ली सूझेगी नहीं।"

"कुछ परवाह नहीं।"

गया ने पदाना शुरू किया ; पर उसे अब बिल्कुल अभ्यास न था। उसने दो बार टाँड़ लगाने का इरादा किया ; पर दोनों ही बार हुच गया। एक मिनट से कम में वह दाँव खो बैठा । मैंने अपनी हृदय की विशालता का परिचय दिया।

"एक दाँव और खेल लो तुम तो पहले ही हाथ में हुच गये।"

"नहीं भैया, अब अँधेरा हो गया।"

"तुम्हारा अभ्यास छूट गया। कभी खेलते नहीं ?"

"खेलने का समय कहाँ मिलता है भैया !"

हम दोनों मोटर पर जा बैठे और चिराग़ जलते-जलते पड़ाव पर पहुँच गये। गया चलते-चलते बोला—कल यहाँ गुल्ली-डण्डा होगा। सभी पुराने खिलाडी खेलेगे तुम भी आओगे ? जब तुम्हें फुरसत हो, तभी खिलाड़ियों को बुलाऊँ।

मैंने शाम का समय दिया और दूसरे दिन मैच देखने गया। कोई दस-दस आदमियों की मण्डली थी। कई मेरे लड़कपन के साथी निकले ! अधिकांश युवक थे, जिन्हें मैं पहचान न सका। खेल शुरू हुआ। मैं मोटर पर बैठा-बैठा तमाशा देखने लगा। आज गया का खेल, उसका वह नैपुण्य देखकर मैं चकित हो गया। टॉड लगाता, तो गुल्ली आसमान से बातें करती। कल की-सी वह झिझक, वह हिचकिचाहट , वह बेदिली आज न थी। लड़कपन मे जो बात थी, आज उसने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी। कही कल इसने मुझे इस तरह पदाया होता, तो मैं ज़रूर रोने लगता। उसके डण्डे की चोट खाकर गुल्ली दो सौ गज़ की ख़बर लाती थी।

पदने वालों में एक युवक ने कुछ धाँधली की। उसने अपने विचार मं गुल्ली लपक ली थी। गया का कहना था—गुल्ली ज़मीन में लगकर उछली थी। इस पर दोनो मे ताल ठोकने की नौबत आयी है। युवक दब गया। गया का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर डर गया। अगर वह दब न जाता तो ज़रूर मार-पीट हो जाती।

मैं खेल में न था ; पर दूसरों के इस खेल में मुझे वही लड़कपन का आनन्द आ रहा था, जब हम सब कुछ भूलकर खेल में मस्त हो जाते थे।

अब मुझे मालूम हुआ कि कल गया ने मेरे साथ खेला नहीं, केवल खेलने का बहाना किया। उसने मुझे दया का पात्र समझा। मैंने धाँधली की, बेईमानी की, पर उसे ज़रा भी क्रोध न आया। इसलिए कि वह खेल न रहा था, मुझे खेला रहा था, मेरा मन रख रहा था। वह मुझे पदाकर मेरा कचूमर नहीं निकालना चाहता था। मैं अब अफसर हूँ। यह अफसरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गयी है मैं अब उसका लिहाज़ पा सकता हूँ, अदब पा सकता हूँ, साहचर्य नहीं पा सकता। लड़कपन था, तब मैं उसका समकक्ष था। यह पद पाकर अब मैं केवल उसकी दया योग्य हूँ। वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता। वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया हूँ।

(हिन्दी में : 'हंस', फरवरी, १९३३ में प्रकाशित;
उर्दू में : 'वारदात', जो मार्च, १९३५ तक
प्रकाशनार्थ प्रेषित किन्तु
प्रकाशित १९३८ के आरम्भ में)

बालक

एक

गगू को लोग ब्राह्मण कहते हैं और वह अपने को ब्राह्मण समझता भी है। मेरे साईस और खिदमतगार मुझे दूर से सलाम करते हैं। गंगू मुझे कभी सलाम नहीं करता। वह शायद मुझसे पालागन की आशा रखता है। मेरा जूठा गिलास कभी हाथ से नही छूता और न मेरी कभी इतनी हिम्मत हुई कि उससे पखा झलने को कहूँ। जब मैं पसीने से तर होता हूँ और वहाँ कोई दूसरा आदमी नही होता, तो गगू आप-ही-आप पंखा उठा लेता है ; लेकिन उसकी मुद्रा से यह भाव स्पष्ट प्रकट होता है कि मुझ पर कोई एहसान कर रहा है और मैं भी न-जाने क्यों फ़ौरन ही उसके हाथ से पखा छीन लेता हूँ। उग्र स्वभाव का मनुष्य है, किसी की बात नही सह सकता। ऐसे बहुत कम आदमी होंगे, जिनसे उसकी मित्रता हो: पर साईस और खिदमतगार के साथ बैठना शायद वह अपमानजनक समझता है। मैंने उसे किसी से मिलते-जुलते नहीं देखा। आश्चर्य यह है कि उसे भंग-बूटी से प्रेम नहीं, जो इस श्रेणी के मनुष्यो में एक असाधारण गुण है। मैंने उसे कभी पूजा-पाठ करते या नदी में स्नान करते नहीं देखा। बिलकुल निरक्षर है ; लेकिन फिर भी वह ब्राह्मण है और चाहता है कि दुनिया उसकी प्रतिष्ठा तथा सेवा करे और क्यों न चाहे ? जब पुरखाओ की पैदा की हुई सम्पत्ति पर आज भी लोग अधिकार जमाये हुए हैं और उसी शान से, मानो खुद पैदा किये हों, तो वह क्यों उस प्रतिष्ठा और सम्मान को त्याग दे, जो उसके पुरुखाओ ने संचय किया था ? यह उसकी बपौती है।

मेरा स्वभाव कुछ इस तरह का है कि अपने नौकरों से बहुत कम बोलता हूँ। मैं चाहता हूँ, जब तक मैं खुद न बुलाऊँ, कोई मेरे पास न आये। मुझे यह अच्छा नहीं लगता है कि ज़रा-सी बातों के लिए नौकरों को आवाज़ देता फिरूँ। मुझे अपने हाथ से सुराही से पानी उँड़ेल लेना, अपना लैम्प जला लेना, अपने जूते पहन लेना या आलमारी से कोई किताब निकाल लेना, इससे कहीं ज़्यादा सरल मालूम होता है कि हींगन और मैकू को पुकारूँ। इससे मुझे अपनी स्वेच्छा और आत्म-विश्वास का बोध होता है। नौकर भी मेरे स्वभाव से परिचित हो गये हैं और बिना ज़रूरत मेरे पास बहुत कम आते हैं। इसलिए एक दिन जब प्रातःकाल गंगू मेरे सामने आकर खड़ा हो गया तो मुझे बहुत बुरा लगा। ये लोग जब आते हैं, तो पेशगी हिसाब में

कुछ माँगने के लिए या किसी दूसरे नौकर की शिकायत करने के लिए। मुझे ये दोनो ही बाते अत्यंत अप्रिय हैं। मैं पहिली तारीख़ को हर एक का वेतन चुका देता हूँ और बीच में जब कोई कुछ माँगता है, तो क्रोध आ जाता है ; कौन दो,-दो चार-चार रुपये का हिसाब रखता फिरे। फिर जब किसी को महीने-भर की पूरी मजूरी मिल गयी, तो उसे क्या हक है कि उसे पन्द्रह दिन मे खर्च कर दे और ऋण या पेशगी की शरण ले और शिकायतो से तो मुझे घृणा है। मे शिकायतो को दुर्बलता का प्रमाण समझता हूँ, या ठकुरसुहाती की क्षुद्र-चेष्टा !

मैंने माथा सिकोड कर कहा—क्या बात है, मैंने तो तुम्हें बुलाया नही ?

गगू के तीखे अभिमानी मुख पर आज कुछ ऐसी नम्रता, कुछ ऐसी याचना कुछ ऐसा सकोच था कि मैं चकित हो गया। ऐसा जान पडा, वह कुछ जवाब देना चाहता है; मगर शब्द नही मिल रहे है।

मैंने जरा नम्र होकर कहा—आखिर क्या बात है, कहते क्यो नही ? तुम जानते हो, यह मेरे टहलने का समय है। मुझे देर हो रही है।

गगू ने निराशा भरे स्वर मे कहा—तो आप हवा खाने जायँ, मै फिर जाऊँगा।

यह अवस्था और भी चिन्ताजनक थी। इस जल्दी मे तो वह एक क्षण मे अपना वृत्तान्त कह सुनाएगा। वह जानता है कि मुझे ज्यादा अवकाश नही है। दूसरे अवसर पर तो दुष्ट घण्टा रोएगा। मेरे कुछ लिखने-पढ़ने का तो यह शायद कुछ काम समझता हो , लेकिन विचार को, जो मेरे लिए सबसे कठिन साधना है, वह मेरे विश्राम का समय समझता है। वह उसी वक्त आकर मेरे सिर पर सवार हो जाएगा।

मेने निर्दयता के साथ कहा— क्या कुछ पेशगी माँगने आये हो ? मै पेशगी नही देता।

"जी नही सरकार, मेने तो कभी पेशगी नही माँगा।"

"तो क्या किसी की शिकायत करना चाहते हो ? मुझे शिकायतो से घृणा है।"

"जी नही सरकार, मेने तो कभी किसी की शिकायत नही की।"

गगू ने अपना दिल मजबूत किया। उसकी आकृति मे स्पष्ट झलक रहा था, मानो वह कोई छलाँग मारने के लिए अपनी सारी शक्तियो को एकत्र कर रहा हो और लडखडाती हुई आवाज मे बोला—मुझे आप छुट्टी दे दे मै आपकी नौकरी अब न कर सकूँगा।

यह इस तरह का पहला प्रस्ताव था, जो मेरे कानो मे पडा। मेरे आत्माभिमान को चोट लगी। मैं जब अपने को मनुष्यता का पुतला समझता हूँ, अपने नौकरो को कभी कटु-वचन नही कहता, अपने स्वामित्व को यथासाध्य म्यान मे रखने की चेष्टा करता हूँ, तब मैं इस प्रस्ताव पर क्यो न विस्मित हो जाता ! कठोर स्वर मे बोला—क्यो, क्या शिकायत है ?

आपने तो हुजूर जैसा अच्छा स्वभाव पाया है, वैसा क्या कोई पाएगा; लेकिन बात ऐसी आ पडी है कि अब मैं आपके यहाँ नहीं रह सकता। ऐसा न हो कि पीछे

से कोई बात हो जाय, तो आपकी बदनामी हो। मैं नहीं चाहता कि मेरी वजह से आपकी आबरू में बट्टा लगे।

मेरे दिल में उलझन पैदा हुई। जिज्ञासा की अग्नि प्रचण्ड हो गयी। आत्मसमर्पण के भाव से बरामदे में पड़ी हुई कुर्सी पर बैठकर बोला—तुम तो पहेलियाँ बुझवा रहे हो साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते, क्या मामला है ?

गंगू ने बड़ी नम्रता से कहा—बात यह है कि वह स्त्री जो अभी विधवा-आश्रम से निकाल दी गयी है, गोमती देवी ···

वह चुप हो गया। मैंने अधीर होकर कहा—हाँ, निकाल दी गयी है, तो फिर ? तुम्हारी नौकरी से उससे क्या सम्बन्ध!

गंगू ने जैसे अपने सिर का बोझ ज़मीन पर पटक दिया—

"मैं उससे ब्याह करना चाहता हूँ बाबूजी !"

मैं विस्मय से उसका मुँह ताकने लगा। यह पुराने विचारों का पोगा ब्राह्मण जिसे नयी सभ्यता की हवा तक न लगी, उस कुलटा से विवाह करने जा रहा है, जिसे कोई भला आदमी अपने घर में क़दम भी न रखने देगा। गोमती ने मुहल्ले के शान्त-वातावरण में थोड़ी-सी हलचल पैदा कर दी। कई साल पहले वह विधवाश्रम मे आयी थी। तीन बार आश्रम के कर्मचारियों ने उसका विवाह कर दिया था, पर हर बार वह महीने-पन्द्रह दिन के बाद भाग आयी थी। यहाँ तक कि आश्रम के मन्त्री ने अबकी बार उसे आश्रम से निकाल दिया था। तब से वह इसी मुहल्ले में एक कोठरी लेकर रहती थी और सारे मुहल्ले के शोहदों के लिए मनोरजन का केन्द्र बनी हुई थी।

मुझे गंगू की सरलता पर क्रोध भी आया और दया भी। इस गधे को सारी दुनिया में कोई स्त्री ही न मिलती थी, जो इससे ब्याह करने जा रहा है। जब वह तीन बार पतियो के पास से भाग आयी, तो इसके पास कितने दिन रहेगी ? कोई गाँठ का पूरा आदमी होता, तो एक बात भी थी। शायद साल-छः महीने टिक जाती। यह तो निपट आँख का अन्धा है। एक सप्ताह भी तो निबाह न होगा।

मैंने चेतावनी के भाव से पूछा—तुम्हें इस स्त्री की जीवन कथा मालूम है ?

गंगू ने आँखों-देखी बात की तरह कहा—सब झूठ है सरकार, लोगो ने हकनाहक उसको बदनाम कर दिया है।

"क्या कहते हो, वह तीन बार अपने पतियों के पास से नहीं भाग आयी ? उन लोगों ने उसे निकाल दिया, तो क्या करती ?"

"कैसे बुद्धू आदमी हो ! कोई इतनी दूर से आकर विवाह करके ले जाता है, हज़ारों रुपये खर्च करता है इसीलिए कि औरत को निकाल दे ?"

गंगू ने भावुकता से कहा—जहाँ प्रेम नहीं है हुज़ूर, वहाँ कोई स्त्री नहीं रह सकती। स्त्री केवल रोटी कपड़ा ही नही चाहती, कुछ प्रेम भी चाहती है। वे लोग समझते होंगे कि हमने एक विधवा से विवाह करके उसके ऊपर कोई बड़ा एहसान किया

है। चाहते होंगे कि तन-मन से वह उनकी हो जाय, लेकिन दूसरे को अपना बनाने के लिए पहले आप उसका बन जाना पडता है हजूर। यह बात है फिर
उसे एक बीमारी भी है। उसे कोई भूत लगा हुआ है। वह कभी-कभी बक-झक करने लगती है और बेहोश हो जाती है।

"और तुम ऐसी स्त्री से विवाह करोगे ?"—मैंने सन्दिग्ध भाव से सिर हिलाकर कहा—"समझ लो, जीवन कडवा हो जाएगा।"

गगू ने शहीदो के-से आवेश से कहा—मै तो समझता हूँ मेरी ज़िन्दगी बन जायेगी वावूजी, आगे भगवान् की मर्जी !

मेंने जोर देकर पूछा—तो तुमने तय कर लिया है ?

"हॉ, हुजूर"

"तो मै तुम्हारा इस्तीफा मंजूर करता हूं।"

मै निरर्थक रूढ़ियो और व्यर्थ के बन्धनों का दास नही हूँ; लेकिन जो आदमी एक दुष्टा से विवाह करे, उसे अपने यहॉ रखना वास्वत मे जटिल समस्या थी। आये-दिन टण्टे- बखेडे होगे, नयी-नयी उलझने पैदा होगी। कभी पुलिस दौड लेकर आयेगी, कभी मुकदमे खडे होंगे। सम्भव है, चोरी की वारदातें भी हो। इस दलदल मे दूर रहना ही अच्छा। गगू क्षुधा-पीडित प्राणी की भॉति रोटी का टुकडा देखकर उसकी ओर लपका रहा है। रोटी जूठी है, सूखी हुई है, खाने योग्य नहीं है, इसकी उसे परवाह नही; उसको विचार बुद्धि से काम लेना कठिन था। मैंने उसे पृथक् कर देने ही मे अपनी कुशल समझी।

दो

पाँच महीने गुजर गये। गंगू ने गोमती से विवाह कर लिया था और उसी मुहल्ले में एक खपरैल का मकान लेकर रहता था। वह अब चाट का खोचा लगाकर गुजर-बसर करता था। मुझे जब कभी बाज़ार मे मिल जाता, तो मैं उसका क्षेम-कुशल पूछता। मुझे उसके जीवन से विशेष अनुराग हो गया था। यह एक स।माजिक प्रश्न की परीक्षा थी—सामाजिक ही नहीं, मनोवैज्ञानिक भी। मैं देखना चाहता था, इसका परिणाम क्या होता है ! मैं गगू को सदैव प्रसन्न-मुख देखता। समृद्धि और निश्चिन्तता के मुख पर जो एक तेज और स्वभाव में जो एक आत्म-सम्मान पैदा हो जाता है, वह मुझे यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई देता था। रुपये बीस आने की रोज़ बिक्री हो जाती थी। इसमें लागत निकालकर आठ-दस आने बच जाते थे। यही उसकी जीविका थी; किन्तु इसमें किसी देवता का वरदान था; क्योंकि इस वर्ग के मनुष्यों में जो निर्लज्जता और विपन्नता पायी जाती है, इसका वहाँ चिह्न तक न था। उसके मुख पर आत्म-विकास और आनन्द की झलक थी, जो चित्त की शान्ति से ही आ सकती है।

एक दिन मैंने सुना कि गोमती गंगू के घर से भाग गयी है ! कह नहीं सकता, क्यों ? मुझे इस ख़बर से एक विचित्र आनन्द हुआ। मुझे गंगू के सन्तुष्ट और सुखी

जीवन पर एक प्रकार की ईर्ष्या होती थी। मैं उसके विषय में किसी अनिष्ट की, किसी घातक अनर्थ की, किसी लज्जास्पद घटना की प्रतीक्षा करता था। इस खबर से इस ईर्ष्या को सान्त्वना मिली। आख़िर वही बात हुई, जिसका मुझे विश्वास था। आख़िर बचा को अपनी अदूरदर्शिता का दण्ड भोगना पडा। अब देखे, बचा कैसे मुँह दिखाते हैं। अब आँखें खुलेगी और मालूम होगा कि लोग, जो उन्हे इस विवाह से रोक रहे थे, उनके कैसे शुभचिन्तक थे। उस वक्त तो ऐसा मालूम होता था, मानो आपको कोई दुर्लभ पदार्थ मिला जा रहा हो। मानो मुक्ति का द्वार खुल गया हो। लोगो ने कितना कहा कि यह स्त्री विश्वास के योग्य नही है, कितनो को दगा दे चुकी है, तुम्हारे साथ भी दगा करेगी ; लेकिन इन कानो पर जूँ तक न रेगी। अब मिले, तो जरा उनका मिजाज पूछूँ। कहूँ–क्यो महाराज, देवीजी का यह वरदान पाकर प्रसन्न हुए या नही ? तुम तो कहते थे, वह ऐसी है और वैसी है, लोग उस पर केवल दुर्भावना के कारण दोष आरोपित करते हैं। अब बतलाओ, किसकी भूल थी ?

उसी दिन सयोगवश गगू से बाजार मे भेट हो गयी। घबराया हुआ था, बदहवास था, बिलकुल खोया हुआ। मुझे देखते ही उसकी ऑखो मे ऑसू भर आये। लज्जा से नही, व्यथा से मेरे पास आकर बोला-- बाबूजी, गोमती ने मेरे माथ विश्वासघात किया।

मैंने कुटिल आनन्द से लेकिन कृत्रिम सहानुभूति दिखाकर कहा–तुमसे तो मेंने पहले ही कहा था; लेकिन तुम माने ही नही, अब सब्र करो। इसके सिवा और क्या उपाय है ? रुपये-पैसे ले गयी या कुछ छोड गयी ?

गगू ने छाती पर हाथ रखा। ऐसा जान पडा, मानो मेरे इस प्रश्न ने उसके हृदय को विदीर्ण कर दिया।

"अरे बाबूजी, ऐसा न कहिए, उसने धेले की भी चीज नही छुई। अपना जो कुछ था, वह भी छोड गयी। न-जाने मुझमे क्या बुराई देखी ? मैं उसके योग्य न था और क्या कहूँ? वह पढी-लिखी थी, मे करिया अक्षर भैस बराबर। मेरे साथ इतने दिन रही, यही बहुत था। कुछ दिन और उसके साथ रह जाता, तो आदमी बन जाता। उसका आपसे कहाँ तक बखान करूँ हजूर ? औरो के लिए चाहे जो कुछ रही हो, मेरे लिए तो किसी देवता का आशीर्वाद थी। न-जाने- क्या ऐसी खता हो गयी ? मगर क़सम ले लीजिए, जो उसके मुख पर मैल तक आया हो। मेरी औकात ही क्या है बाबूजी ! दस-बारह आने का मजूर हूँ ; पर इसी मे उसके हाथो इतनी बरक्कत थी कि कभी कमी नही पडी।'

मुझे इन शब्दो से घोर निराशा हुई। मैंने समझा था, वह उसकी बेवफाई की कथा कहेगा और मैं उसकी अन्ध-भक्ति पर कुछ सहानुभूति प्रकट करूँगा; मगर उस मूर्ख की आँखे अब तक नही खुली। अब भी उसी का मन्त्र पढ रहा है। अवश्य ही इसका चित्त कुछ अव्ययवस्थित है।

मैंने कुटिल परिहास आरम्भ किया–'तो तुम्हारे घर से कुछ नही ले गयी ?'

"कुछ भी नहीं बाबूजी, धेले की भी चीज़ नहीं।"

"और तुमसे प्रेम भी बहुत करती थी ?"

"अब आपसे क्या कहूँ बाबूजी, वह प्रेम तो मरते दम तक याद रहेगा।"

"फिर भी तुम्हें छोड़कर चली गयी ?"

"यही तो आश्चर्य है बाबूजी !"

"त्रिया-चरित्र का नाम कभी सुना है ?"

"अरे बाबूजी, ऐसा न कहिए। मेरी गर्दन पर कोई छुरी रख दे, तो भी मैं उसका यश ही गाऊँगा।"

"तो फिर ढूँढ निकालो !"

"हाँ, मालिक ! जब तक उसे ढूँढ न लाऊँगा, मुझे चैन न आएगा। मुझे इतना मालूम हो जाय कि वह कहाँ है, फिर तो मैं उसे ले ही आऊँगा; और बाबूजी, मेरा दिल कहता है कि वह आएगी जरूर। देख लीजिएगा। वह मुझसे रूठकर नहीं गयी; लेकिन दिल नही मानता। जाता हूँ, महीने-दो-महीने जगल, पहाड़ की धूल छानूँगा। जीता रहा, तो फिर आपके दर्शन करूँगा।"

यह कहकर वह उन्माद की दशा मे एक तरफ चल दिया।

तीन

इसके बाद मुझे एक जरूरत से नैनीताल जाना पडा, सैर करने के लिए नही। एक महीने के बाद लौटा और अभी कपडे भी न उतारने पाया था कि देखता हूँ, गगू एक नवजात शिशु को गोद में लिये खडा है। शायद कृष्ण को पाकर नन्द भी इतने पुलकित न हुए होगे। मालूम होता था, उसके रोम-रोम से आनन्द फूटा पडता है। चेहरे और आँखों में कृतज्ञता और श्रद्धा के राग-से निकल रहे थे। कुछ वही भाव था, जो किसी क्षुधा-पीड़ित भिक्षुक के चेहरे पर भरपेट भोजन करने के बाद नज़र आता है।

मैंने पूछा—कहो महाराज, गोमतीदेवी का कुछ पता लगा, तुम तो बाहर गये थे ?

गंगू ने आपे में न समाते हुए जबाव दिया—हाँ बाबूजी, आपके आशीर्वाद से ढूँढ़ लाया। लखनऊ के जनाने अस्पताल में मिली। यहाँ एक सहेली से कह गयी थी कि अगर वह बहुत घबरायें तो बतला देना। मैं सुनते ही लखनऊ भागा और उसे घसीट लाया। घाते मे यह बच्चा भी मिल गया।

उसने बच्चे को उठाकर मेरी तरफ़ बढ़ाया। मानो कोई खिलाड़ी तमगा पाकर दिखा रहा हो।

मैंने उपहास के भाव से पूछा—अच्छा, यह लड़का भी मिल गया ? शायद इसीलिए वह यहाँ से भागी थी। है तो तुम्हारा ही लड़का ?

"मेरा काहे को है बाबूजी, आपका है, भगवान का है।"

"तो लखनऊ में पैदा हुआ ?"

"हाँ बाबूजी, अभी तो कुल एक महीने का है।"

"तुम्हारे ब्याह हुए कितने दिन हुए ?"

"यह सातवाँ, महीना जा रहा है।"

"तो शादी, के छठे महीने पैदा हुआ ?"

"और क्या बाबूजी !"

"फिर भी तुम्हारा लड़का है ?"

"हाँ, जी।'

"कैसी बे-सिर-पैर की बातें कर रहे हो ?"

मालूम नहीं, वह मेरा आशय समझ रहा था, या बन रहा था। उसी निष्कपट भाव से बोला—मरते-मरते बची, बाबूजी नया जनम हुआ। तीन दिन , तीन रात छटपटाती रही। कुछ न पूछिए।

मैंने अब ज़रा व्यंग्य-भाव से कहा—लेकिन छः महीने मे लड़का होते आज ही सुना। यह चोट निशाने पर जा बैठी।

मुसकराकर बोला—अच्छा, वह बात ! मुझे तो उसका ध्यान भी नही आया। इसी भय से तो गोमती भागी थी। मैंने कहा—गोमती, अगर तुम्हारा मन मुझसे नही मिलता, तो तुम मुझे छोड़ दो। मैं अभी चला जाऊँगा और फिर कभी तुम्हारे पास न आऊँगा। तुमको जब कुछ काम पड़े तो मुझे लिखना, मैं भरसक तुम्हारी मदद करूँगा। मुझे तुमसे कुछ मलाल नहीं है। मेरी आखों में तुम अब भी उतनी ही भली हो। अब भी मैं तुम्हें उतना ही चाहता हूँ। नहीं, अब मैं तुम्हें और ज़्यादा चाहता हूँ; लेकिन अगर तुम्हारा मन मुझसे फिर नहीं गया है, तो मेरे साथ चलो। गंगू जीते-जी तुमसे बेवफ़ाई नहीं करेगा। मैंने तुमसे इसलिए विवाह नही किया कि तुम देवी हो; बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है, मेरा अपना बच्चा है। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा, कि उसे किसी दूसरे ने बोया था ?

यह कहकर उसने ज़ोर से ठट्ठा मारा।

मैं कपड़े उतारना भूल गया। कह नहीं सकता, क्यो मेरी आँखे सजल हो गयीं। न-जाने वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने मेरी मनोगत घृणा को दबाकर मेरे हाथों को बढ़ा दिया। मैंने उस निष्कलंक बालक को गोद में ले लिया और इतने प्यार से चुम्बन लिया कि शायद अपने बच्चों का भी न लिया होगा।

गंगू बोला—बाबूजी, आप बड़े सज्जन हैं। मैं गोमती से बार-बार अपका बखान किया करता हूँ। कहता हूँ, चल, एक बार उनके दर्शन कर आ; लेकिन मारे लाज के आती ही नहीं।

मैं और सज्जन ! अपनी सज्जनता का पर्दा आज मेरी आँखों से हटा। मैंने भक्ति से डूबे हुए स्वर में कहा—नहीं जी, मेरे-जैसे कलुषित मनुष्य के पास वह क्या आएगी ? चलो, मैं उसके दर्शन करने चलता हूँ। तुम मुझे सज्जन समझते हो ? मैं

ऊपर से सज्जन हूँ; पर दिल का कमीना हूँ। असली सज्जनता तुममें और यह बालक वह फूल है, जिससे तुम्हारी सज्जनता की महक निकल रही है।

मैं बच्चे को छाती से लगाये हुए गंगू के साथ चला।

(हिन्दी में : 'हंस', अप्रैल, १६३३ में प्रकाशित;
उर्दू में : 'वारदात' में संकलित, जो मार्च, १६३५ तक प्रकाशनार्थ प्रेषित
लेकिन प्रकाशित १६३८ के आरम्भ में)

ईदगाह

एक

रमज़ान के पूरे तीस रोज़ों के बाद ईद आयी है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभात है। वृक्षों पर अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक़ है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है आज का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है, यानी संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गाँव में कितनी हलचल है ईदगाह जाने की तैयारियाँ हो रही है। किसी के कुरते में बटन नही है, पड़ोस के घर मे सुई-धागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गये हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर पर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी दे दे। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जाएगी। तीन कोस का पैदल रास्ता, फिर सैकडो आदमियो से मिलना-भेंटना, दोपहर के पहले लौटना असम्भव है। लड़के सबसे ज़्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोज़ा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं, लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज़ है। रोज़े बड़े-बूढ़ों के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज़ ईद का नाम रटते थे, आज वह आ गयी। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी चिन्ताओं से क्या प्रयोजन ! सेवैयो के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयाँ खाएँगे वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या ख़बर कि चौधरी आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाय। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना ख़ज़ाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद, गिनता है, एक-दो दस-बारह, उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पन्द्रह पैसे हैं। इन्हीं अनगिनती पेसों में अनगिनती चीज़ें लाएँगे—खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या !

और सबसे ज़्यादा प्रसन्न है हामिद। वह चार-पाँच साल का ग़रीब सूरत, दुबला पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैजे की भेंट हो गया और माँ न जाने क्यो पीली होती-होती एक दिन मर गयी। किसी को पता न चला क्या बीमारी है। कहती तो कौन सुनने वाला था ? दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल में ही सहती थी

और जब न सहा गया, तो संसार से विदा हो गयी। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रुपये कमाने गये हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आएँगे। अम्मीजान अल्लाह मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीज़ें लाने गयी हैं, इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज़ है, और फिर बच्चों की आशा ! उनकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती है। हामिद के पाँव में जूते नहीं हैं, सिर पर एक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोटा काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियामतें लेकर आएँगी ; तो वह दिल से अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा, मोहसिन, नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे।

अभागिन अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन उसके घर मे दाना नहीं ! आज आबिद होता, तो क्या इसी तरह ईद आती और चली जाती ! इस अन्धकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को ? इस घर में उसका काम नहीं, लेकिन हामिद ! उसे किसी के मरने-जीने से क्या मतलब ? उसके अन्दर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दलबल लेकर आये, हामिद की आनन्द भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है–तुम डरना नहीं अम्माँ, मैं सबसे पहल आऊँगा। बिल्कुल न डरना।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है ! उसे कैसे अकेले मेले जाने दे ? उस भीड़-भाड़ में बच्चा कहीं खो जाय तो क्या हो ? नहीं, अमीना उसे यों न जाने देगी। नन्हीं-सी जान ! तीन कोस चलेगा कैसे ? पैर में छाले पड़ जाएँगे जूते भी तो नहीं हैं। वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद में ले लेगी, लेकिन यहाँ सेवैयाँ कौन पकाएगा ? पैसे होते तो लौटते-लौटते सब सामग्री जमा करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घण्टों चीजें जमा करते लगेंगे। माँगे का ही तो भरोसा ठहरा। उस दिन फहीमन के कपड़े सिले थे। आठ आने पैसे मिले थे। उस अठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी इसी ईद के लिए, लेकिन कल ग्वालन सिर पर सवार हो गयी तो क्या करती ? हामिद के लिए कुछ नहीं है, तो दो पैसे का दूध तो चाहिए ही। अब तो कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पाँच अमीना के बटुवे में। यही तो बिसात है और ईद का त्यौहार, अल्ला ही बेड़ा पार लगाये। धोबन और नाइन और मेहतरानी और चुड़िहारिन सभी तो आएँगी। सभी को सेवैयाँ चाहिए और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस-किससे मुँह चुराएगी ? और मुँह क्यों चुराए ? साल भर का त्योहार है। ज़िन्दगी ख़ैरियत से रहे, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है। बच्चे को खुदा सलामत रखे, ये दिन भी कट जाएँगे।

गाँव से मेला चला। और बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सबके सब दौड़कर आगे निकल जाते फिर किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर साथ वालों का

इन्तजार करते हैं। यह लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं ! हामिद के पैरों में तो जैसे पर लग गये हैं। वह कभी थक सकता है ? शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चारदीवारी बनी हुई है। पेड़ों में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशाना लगाता है। माली अन्दर से गाली देता हुआ निकलता है। लड़के वहाँ से एक फर्लांग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को कैसा उल्लू बनाया है।

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कॉलेज है, यह क्लब घर है, इतने बड़े कॉलेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे ? सब लड़के नहीं हैं जी ! बड़े -बड़े आदमी हैं, सच। उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। इतने बड़े हो गये, अभी तक पढ़ते जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे और क्या करेंगे इतना पढ़कर ! हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिलकुल तीन कौड़ी के हैं। रोज मार खाते हैं, काम से जी चुराने वाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे और क्या। क्लब-घर में जादू होता है। सुना है, यहाँ मुर्दे की खोपड़ियाँ दौड़ती है। और बड़े-बड़े तमाशे होते हैं, पर किसी को अन्दर नहीं जाने देते और वहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं। मूँछों-दाढ़ी वाले और मेमें भी खेलती हैं, सच ! हमारी अम्मा को यह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क जाएँ।

महमूद ने कहा–हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला क़सम।

मोहसिन बोला–चलो, मनों आटा पीस डालती हैं। ज़रा-सा बैट पकड़ लेगी, तो हाथ काँपने लगेंगे सैंकड़ों घड़े पानी रोज़ निकालती है। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती हैं। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े, तो आँखों तक अँधेरी आ जाय।

महमूद–लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।

मोहसिन–हाँ, उछल-कूद नहीं सकतीं ; लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गयी थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, अम्माँ इतना तेज दौड़ीं कि मैं उन्हें न पा सका, सच।

आगे चले, हलवाइयो की दूकानें शुरू हुई। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता है ? देखो न, एक-एक दुकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर ख़रीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थे कि आधी रात को एक आदमी हर दुकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है वह तुलवा लेता है और सचमुच के रुपये देता है, बिल्कुल ऐसे ही रुपये।

हामिद को यकीन न आया–ऐसे रुपये जिन्नात को कहाँ से मिल जाएँगे ?

मोहसिन ने कहा–जिन्नात को रुपये की क्या कमी ? जिस ख़ज़ाने में चाहें चले जाएँ। लोहे के दरवाज़े तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में ! हीरे-जवाहरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गये, उसे टोकरों जवाहरात दे दिये। अभी यहीं बैठे हैं, पाँच मिनट में कलकत्ता पहुँच जायँ।

हामिद ने पूछा—जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते हैं ?

मोहसिन—एक-एक सिर आसमान के बराबर होता है जी ! ज़मीन पर खड़ा हो जाय तो उसका सिर आसमान से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाय।

हामिद—लोग उन्हें कैसे खुश करते होंगे ? कोई मुझे यह मन्तर बता दे, तो एक जिन्न को खुश कर लूँ।

मोहसिन— अब यह तो मैं नहीं जानता , लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत-से जिन्नात है। कोई चीज़ चोरी जाय, चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे और चोर का नाम बता देंगे। जुगराती का बछवा उस दिन खो गया था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला तब झख मारकर चौधरी के पास गये। चौधरी ने तुरन्त बता दिया, मवेशीखाने में है और वहीं मिला। जिन्नात आकर उन्हें सारे जहान की ख़बरें दे जाते हैं।

अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है और क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबिल कवायद करते हैं। रैटन ! फाय फो ! रात को बेचारे घूम-घूमकर पहरा देते हैं, नहीं चोरियाँ हो जायँ। मोहसिन ने प्रतिवाद किया—यह कानिसटिबिल पहरा देते हैं। तभी तुम बहुत जानते हो। अजी हजरत, यह चोरी कराते हैं। शहर के जितने चोर-डाकू हैं, सब इनसे मिले रहते हैं। रात को ये लोग चोरों से तो कहते हैं, चोरी करो और आप दूसरे मुहल्ले मे जाकर 'जागते रहो !' पुकारते हैं। जभी इन लोगों के पास इतने रुपये आते हैं। मेरे मामू एक थाने में कानिसटिबिल हैं। बीस रुपया महीना पाते हैं, लेकिन पचास रुपये घर भेजते हैं। अल्ला कसम ! मैंने एक बार पूछा था कि मामू, आप इतने रुपये कहाँ से पाते हैं ? हँसकर कहने लगे—बेटा, अल्लाह देता है फिर आप ही बोले—हम लोग चाहें तो एक दिन में लाखों मार लायँ। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न हो और नौकरी न चली जाय।।

हामिद ने पूछा— यह लोग चोरी करवाते हैं, तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं ?

मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला—अरे, पागल ! इन्हें कौन पकड़ेगा ? पकड़ने वाले तो यह लोग खुद हैं, लेकिन अल्लाह उन्हें सज़ा भी खूब देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े ही दिन हुए, मामू के घर में आग लग गयी। सारी लेई-पूँजी जल गयी। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पेड़ के नीचे सोये, अल्ला क़सम, पेड़ के नीचे ! फिर न जाने, कहाँ से एक सौ कर्ज़ लाये तो बरतन-भाँडे आये।

हामिद— एक सौ तो पचास से ज़्यादा होते हैं ?

"कहाँ पचास, कहाँ एक सौ ! पचास एक थैली भर होता है, सौ तो दो थैलियों में भी न आयें।"

अब बस्ती घनी होने लगी। ईदगाह जाने वालों की टोलियाँ नज़र आने लगीं।

एक से एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार कोई मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दिलों में उमंग ग्रामीणों का यह छोटा-सा दल अपनी विपन्नता से बेख़बर, सन्तोष और धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिए नगर की सभी चीज़ें अनोखी थीं।।

जिस चीज़ की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते और पीछे से हॉर्न की आवाज होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नज़र आयी। ऊपर इमली के घने वृक्षों की छाया है, नीचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजम बिछा हुआ है और रोजेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ तक चली गयी हैं, पक्की जगत के नीचे तक जहाँ जाजम भी नहीं है, नये आने वाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते है। आगे जगह नही है। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर है। इन ग्रामीणो ने भी वजू किया और पिछली पंक्ति मे खड़े हो गये। कितना सुन्दर संचालन है, कितनी सुन्दर व्यवस्था ! लाखों सिर एक साथ सिजदे मे झुक जाते है, फिर सबके सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं, और एक साथ खड़े हो जाते हैं। कई बार यही क्रिया होती है, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हो और एक साथ बुझ जायँ, और यही क्रम चलता रहा कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएँ, विस्तार और अनन्तता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानन्द से भर देती थीं, मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोए हुए हैं।

दो

नमाज खत्म हो गयी। लोग आपस मे गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौने की दुकान पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो, हिंडोला है। एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होगे, कभी जमीन पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के हाथी, घोड़े, ऊँट, छड़ों में लटके हुए हैं। एक पैसा देकर बैठ जाओ और पच्चीस चक्करों का मज़ा लो। महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी इन घोड़ों और ऊँटों पर बैठते हैं। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं। अपने कोष का एक तिहाई ज़रा-सा चक्कर खाने के लिए नही दे सकता।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। इधर दुकानो की कतार लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं–सिपाही और गुजरिया; राजा और वकील; भिश्ती और धोबिन और साधु। वह ! कित्ते सुन्दर खिलौने हैं। अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता है, खाकी वर्दी और लाल पगड़ीवाला, कन्धे पर बंदूक रखे हुए ; मालूम होता है, अभी कवायद किए चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसन्द आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए है। मशक का मुँह एक हाथ से पकड़े

हुए है। कितना प्रसन्न है ! शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी उड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम है। कैसी विद्वत्ता है उसके मुख पर ! काला चोगा, नीचे सफ़ेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी, सुनहरी ज़ंजीर, एक हाथ में कानून का पोथा लिये हुए। मालूम होता है, अभी किसी अदालत से ज़िरह या बहस किये चले आ रहे हैं। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं, इतने महँगे खिलौने वह कैसे ले ? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े, तो चूर-चूर हो जाये। ज़रा पानी पड़े, तो सारा रंग धुल जाय। ऐसे खिलौने लेकर वह क्या करेगा, किस काम के !

मोहसिन कहता है–मेरा भिश्ती रोज पानी दे जाएगा साँझ-सबेरे।

महमूद–और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा। कोई चोर आयेगा, तो फ़ौरन बन्दूक से फैर कर देगा।

नूरे–और मेरा वकील खूब मुक़दमा लड़ेगा।

सम्मी–और मेरी धोबिन रोज कपड़े धोएगी।

हामिद खिलौनों की निन्दा करता है–मिट्टी ही के तो हैं, गिरे तो चकनाचूर हो जाएँ ; लेकिन ललचाइयी हुई आँखों से खिलौनों को देख रहा है और चाहता है कि जरा देर के लिए उन्हें हाथ में ले सकता है। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं ; लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते है, विशेषकर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचता रह जाता है।

खिलौने के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेवड़ियाँ ली है, किसी ने गुलाबजामुन, किसी ने सोहन हलवा। मज़े से खा रहे हैं। हामिद बिरादरी से पृथक है। अभागे के पास तीन पैसे है। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता ? ललचायी आँखों से सबकी ओर देखता है।

मोहसिन कहता है–हामिद, रेवड़ी ले जा ; कितनी खुशबूदार है !

हामिद को सन्देह हुआ, यह केवल क्रूर विनोद है। मोहसिन इतना उदार नहीं है ; लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेवड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेवड़ी अपने मुँह में रख लेता है। महमूद, नूरे और सम्मी खूब तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

मोहसिन– अच्छा, अबकी जरूर देंगे हामिद, अल्ला क़सम, ले जा।

हामिद–रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं हैं ?

सम्मी–तीन ही पैसे तो हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगे ?

महमूद–हमसे गुलाबजामुन ले जाओ हामिद। मोहसिन बदमाश है।

हामिद–मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।

मोहसिन–लेकिन दिल में कह रहे होंगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों

नहीं निकालते ?

महमूद—हम समझते हैं, इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे ख़र्च हो जाएँगे, तो हमें ललचा-ललचाकर खायेगा।

मिठाइयों के बाद कुछ दुकानें लोहे की चीज़ों की, कुछ गिलट और कुछ नकली गहनों की। लड़कों के लिए यहाँ कोई आकर्षण न था। वे सब आगे बढ़ जाते हैं। हामिद लोहे की दुकान पर रुक जाता है। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे ख़याल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तवे से रोटियाँ उतारती है, तो हाथ जल जाता है। अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे, तो वह कितना प्रसन्न होगी ! फिर उनकी उँगलियाँ कभी न जलेंगी। घर में एक काम की चीज हो जाएगी। खिलौने से क्या फायदा ? व्यर्थ में पैसे ख़राब होते हैं। ज़रा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौने को कोई आँख उठाकर नही देखता। यह तो घर पहुँचते-पहुँचते टूट-फूट बराबर हो जाएँगे। चिमटा कितने काम की चीज़ है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हे में सेक लो। कोई आग माँगने आये, तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो। अम्मा बेचारी को कहाँ फुरसत है कि बाज़ार आएँ और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं। ? रोज हाथ जला लेती हैं।

हामिद के साथी आगे बढ़ गए है। सबील पर सबके सब शर्बत पी रहे हैं। देखो, सब कितने लालची हैं ! इतनी मिठाइयाँ ली, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते हैं, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करो। अब अगर किसी ने कोई काम करने को कहा, तो पूछूँगा। खायें मिठाइयाँ, आप मुँह सड़ेगा, फोड़े-फुन्सियाँ निकलेंगी, आप ही जुबान चटोरा हो जाएगी। तब घर से पैसे चुराएँगे और मार खाएँगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हैं। मेरी जबान क्यों ख़राब होगी ? अम्माँ चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी—मेरा बच्चा अम्माँ के लिए चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौने पर कौन इन्हें दुआएँ देगा ?

बड़ों की दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं, और तुरन्त सुनी जाती हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं तभी तो मोहसिन और महमूद यों मिज़ाज दिखाते हैं। मैं भी इनसे मिज़ाज दिखाऊँगा। खेलें खिलौने और खाएँ मिठाइयाँ। मैं नहीं खेलता खिलौने, किसी का मिज़ाज क्यों सहूँ ? मैं ग़रीब सही, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाता। आख़िर अब्बाजान कभी न कभी आएँगे। अम्मा भी आएँगी ही। फिर इन लोगों से पूछूँगा, कितने खिलौने लोगे ? एक-एक को टोकरियों खिलौने दूँ और दिखा दूँ कि दोस्तों के साथ इस तरह का सलूक किया जाता है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं, तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सबके सब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें ! मेरी बला से ! उसने दुकानदार से पूछा—यह चिमटा कितने का है ?

दुकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर कहा—तुम्हारे

काम का नहीं है जी !

"बिकाऊ है कि नहीं ?"

"बिकाऊ क्यों नहीं है ? और यहाँ क्यों लाद लाये हैं ?"

"तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है ?"

"छः पैसे लगेंगे।"

हामिद का दिल बैठ गया।

"ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।"

हामिद ने कलेजा मजबूत करके कहा–तीन पैसे लोगे ?

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि दुकानदार की घुड़कियाँ न सुने। लेकिन दुकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दीं। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कन्धे पर रखा, मानो बन्दूक़ है और शान से अकड़ता हुआ सगियों के पास आया। जरा सुनें, सबके सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं।

मोहसिन ने हँसकर कहा–यह चिमटा क्यों लाया पगले; इसे क्या करेगा ?

हामिद ने चिमटे को ज़मीन पर पटककर कहा–जरा अपना भिश्ती ज़मीन पर गिरा दो। सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जाएँ बचा की।

महमूद बोला–तो यह चिमटा कोई खिलौना है !

हामिद–खिलौना क्यों नही है ! अभी कन्धे पर रखा, बन्दूक़ हो गयी। हाथ में ले लिया, फ़कीरों का चिमटा हो गया। चाहूँ तो इससे मजीरे का काम ले सकता हूँ। एक चिमटा जमा दूँ, तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाय। तुम्हारे खिलौने कितना ही ज़ोर लगायें, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नही कर सकते। मेरा बहादुर शेर है चिमटा।

सम्मी ने खँजरी ली थी। प्रभावित होकर बोला–मेरी खँजरी से बदलोगे ? दो आने की है।

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा–मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खँजरी का पेट फाड़ डाले। बस, एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी। ज़रा-सा पानी लग जाय, तो खतम हो जाय। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफ़ान में बराबर डटा खड़ा रहेगा।

चिमटे ने सभी को मोहित कर लिया, लेकिन अब पैसे किसके पास धरे हैं ? फिर मेले से दूर निकल आये हैं, नौ कब के बज गये, धूप तेज हो रही है। घर पहुँचने की जल्दी हो रही है। बाप से ज़िद भी करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता। हामिद है बड़ा चालाक। इसीलिए बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे।

अब बालकों के दो दल हो गये हैं। मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे एक तरफ़ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ़। शास्त्रार्थ हो रहा है। सम्मी तो विधर्मी हो गया ! दूसरे पक्ष से जा मिला ; लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी हामिद से एक-एक, दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से आतंकित हो उठे हैं। उसके पास

न्याय का बल है और नीति की शक्ति। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक़्त अपने को फौलाद कह रहा है। वह अजेय है, घातक है। अगर कोई शेर आ जाय, मियाँ भिश्ती के छक्के छूट जायँ, मियाँ सिपाही मिट्टी की बन्दूक़ छोड़कर भागें, वकील साहब की नानी मर जाय, चोंगे में मुँह छिपाकर ज़मीन पर लेट जायँ। मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह रुस्तमे-हिन्द लपककर शेर की गरदन पर सवार हो जाएगा और उसकी आँखें निकाल लेगा।

मोहसिन ने एड़ी-चोटी का जोर लगाकर कहा—अच्छा पानी तो नहीं भर सकता।

हामिद ने चिमटे को सीधा खड़ा करके कहा—भिश्ती को एक डाँट बताएगा, तो दौड़ा हुआ पानी लाकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।

मोहसिन परास्त हो गया; पर महमूद ने कुमुक पहुँचायी--अगर बचा पकड़ जाएँ, तो अदालत में बँधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब के पैरों पड़ेंगे।

हामिद इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा—हमें पकड़ने कौन आएगा ?

नूरे ने अकड़कर कहा—यह सिपाही बन्दूक़ वाला।

हामिद ने मुँह चिढ़ाकर कहा—यह बेचारे हम बहादुर रुस्तमे-हिन्द को पकड़ेंगे ! अच्छा लाओ, अभी ज़रा कुश्ती हो जाय। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेंगे क्या बेचारे !

मोहसिन को एक नयी चोट सूझ गयी—तुम्हारे चिमटे का मुँह रोज़ आग में जलेगा।

उसने समझा था कि हामिद लाजवाब हो जाएगा; लेकिन यह बात न हुई। हामिद ने तुरंत जवाब दिया—आग में बहादुर ही कूदते हैं जनाब, तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लौंडियों की तरह घर में घुस जायँगे। आग मे वह काम है, जो यह रुस्तमे-हिन्द ही कर सकता है।

महमूद ने एक जोर लगाया—वकील साहब कुरसी-मेज़ पर बैठेंगे, तुम्हारा चिमटा तो बावरचीखाने में ज़मीन पर पड़ा रहेगा।

इस तर्क ने सम्मी और नूरे को भी सजीव कर दिया ! कितने ठिकाने की बात कही है पट्ठे ने। चिमटा बावरचीखाने में पड़ा रहने के सिवा और क्या कर सकता है ?

हामिद को कोई फडकता हुआ जवाब न सूझा, तो उसने धाँधली शुरू की—मेरा चिमटा बावरचीखाने में नहीं रहेगा। वकील साहब कुर्सी पर बैठेंगे, तो जाकर उन्हें ज़मीन पर पटक देगा और उनका क़ानून उनके पेट मे डाल देगा।

बात कुछ बनी नहीं। ख़ाली गाली-गलौज़ थी ; लेकिन कानून को पेट मे डालने वाली बात छा गयी। ऐसी छा गयी कि तीनों सूरमा मुँह ताकते रह गये, मानो कोई धेलचा कंकौआ किसी गण्डेवाले कंकौए को काट गया हो। कानून मुँह से बाहर निकलनेवाली चीज़ है। उसको पेट के अन्दर डाल दिया जाना, बेतुकी-सी बात होने

पर भी कुछ नयापन रखती है। हामिद ने मैदान मार लिया। उसका चिमटा रुस्तमे-हिन्द है। अब इसमें मोहसिन, महमूद, नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारनेवालों से जो सत्कार मिलना स्वाभाविक है, वह हामिद को भी मिला। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किये, पर कोई काम की चीज़ न ले सके। हामिद ने तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा ? टूट-फूट जाएँगे। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों !

सन्धि की शर्तें तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा—ज़रा अपना चिमटा दो, हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किये।

हामिद को इन शर्तों को मानने में कोई आपत्ति न थी। चिमटा बारी-बारी से सबके हाथ में गया, और उनके खिलौने बारी-बारी से हामिद के हाथ में आये। कितने खूबसूरत खिलौने हैं !

हामिद ने हारने वालों के आँसू पोंछे—मैं तुम्हे चिढ़ा रहा था, सच ! यह चिमटा भला, इन खिलौनों की क्या बराबरी करेगा ; मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से सन्तोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छूट रहा है।

मोहसिन—लेकिन इन खिलौनों के लिए कोई हमें दुआ तो न देगा ?

महमूद—दुआ को लिये फिरते हो। उलटे मार न पड़े। अम्माँ ज़रूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने मिले ?

हामिद को स्वीकार करना पडा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होगी, जितनी दादी चिमटे को देखकर होगी। तीन पैसों ही में तो उसे सब-कुछ करना था और उन पैसों के इस उपयोग पर पछतावे की बिलकुल ज़रूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रुस्तमे-हिन्द है और सभी खिलौनों का बादशाह !

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दिये। महमूद ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुँह ताकते रह गये। यह उस चिमटे का प्रसाद था।

तीन

ग्यारह बजे गाँव में हलचल मच गयी। मेलेवाले आ गये। मोहसिन की छोटी बहन ने दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खुशी के जो उछली, तो मियाँ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक सिधारे। इस पर भाई-बहन मे मार-पीट हुई। दोनों खूब रोये। उसकी अम्माँ यह शोर सुनकर बिगड़ी और दोनो को ऊपर से दो-दो चाँटे और लगाये।

मियाँ नूरे के वकील का अन्त उनके प्रतिष्ठानुकूल इससे ज़्यादा गौरवमय हुआ।

वकील ज़मीन पर या ताक पर तो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में दो खूँटियाँ गाड़ी गयी। उन पर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज़ का क़ालीन बिछाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति सिंहासन पर विराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खस की टट्टियाँ और बिजली के पंखे रहते हैं। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो ! क़ानून की गर्मी दिमाग़ पर चढ़ जाएगी कि नहीं ? बाँस का पंखा आया और नूरे हवा करने लगे। मालूम नहीं, पंखे की हवा से या पंखे की चोट से वकील साहब स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया ! फिर बड़े जोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थि घूरे पर डाल दी गयी।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया ; लेकिन पुलिस का सिपाही क़ोई साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चले। वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आयी, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चीथड़े बिछाये गये, जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटे। नूरे ने यह टोकरी उठायी और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उनके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरह 'छोनेवाले, जागते लहो, पुकारते चलते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी चाहिए; नूरे को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मिआँ सिपाही अपनी बन्दूक़ लिये ज़मीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है।

महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डॉक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिल गया है, जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता है। केवल गूलर का दूध चाहिए। गूलर का दूध आता है। टाँग जोड़ दी जाती है ; लेकिन सिपाही को ज्यों ही खड़ा किया जाता है, टाँग जवाब दे देती है। शल्य-क्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब कम-से-कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है। एक टाँग से तो न चल सकता था, न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता हैं कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफ़ा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपान्तर चाहो, कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है।

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए। अमीना उसकी आवाज़ सुनते ही दौड़ी और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी।

"यह चिमटा कहाँ था ?"

"मैंने मोल लिया है।"

"कै पैसे में ?"

"तीन पैसे दिये।"

अमीना ने छाती पीट ली। ये कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ

खाया न पिया। लाया क्या, चिमटा ! "सारे मेले में तुझे और कोई चीज़ न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया ?"

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा—तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैंने इसे लिया।

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया, और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग, कितना सद्भाव और कितना विवेक है ! दूसरों को खिलौने लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा ? इतना ज़ब्त इससे हुआ कैसे ? वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गद्गद हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता !

(हिन्दी में : 'चाँद', अगस्त, १६३३ में प्रकाशित,
उर्दू में : 'इस्मत', वार्षिक अंक, १६३३
में प्रकाशित तथा 'दूध की कीमत', अप्रैल-मई, १६३७ में संकलित)

उपन्यास

गोदान

एक

होरीराम ने दोनों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा– गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूँ। जरा मेरी लाठी दे दे।

धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे थे। उपले थापकर आयी थी। बोली–अरे, कुछ रस-पानी तो कर लो। जल्दी क्या है ?

होरी ने अपने झुर्रियों से भरे माथे को सिकोड़कर कहा– तुझे रस-पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर हो गयी तो मालिक से भेंट न होगी। असनान-पूजा करने लगेंगे, तो घंटो बैठे बीत जायेगा।

"इसी से तो कहती हूँ, कुछ जलपान कर लो। और आज न जाओगे तो कौन हरज होगा ! अभी तो परसों गये थे।"

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है भाई ! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई, नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

धनिया इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएँ। यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीस बरसों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो; मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है। फिर भी वह हार न मानती थी, और इस विषय पर स्त्री-पुरुष में आये दिन संग्राम छिड़ा रहता था। उसकी छः सन्तानों में अब केवल तीन ज़िन्दा हैं, एक लड़का गोबर कोई सोलह साल का, और दो लड़कियाँ सोना और रूपा, बारह और आठ साल की। तीन लड़के बचपन ही में मर गये। उसका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवा-दारू होती तो वे बच जाते; पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी। उसकी ही उम्र अभी क्या थी। छत्तीसवाँ ही साल तो था; पर

सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गया थीं। सारी देह ढल गयी थी, वह सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था, और आँखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो। कभी तो जीवन का सुख न मिला। इस चिरस्थायी जीर्णावस्था ने उसके आत्मसम्मान को उदासीनता का रूप दे दिया था। जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों ? इस परिस्थिति से उसका मन बराबर विद्रोह किया करता था, और दो-चार घुड़कियाँ खा लेने पर ही उसे यथार्थ का ज्ञान होता था।

उसने परास्त होकर होरी की लाठी, मिरजई, जूते, पगड़ी और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिये।

होरी ने उसकी ओर आँखें तरेरकर कहा—क्या ससुराल ज़ाना है, जो पाँचों पोसाक लायी है ? ससुराल में भी तो जवान साली-सलहज़ नहीं बैठी हैं, जिसे जाकर दिखाऊँ।

होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते हुए कहा—ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी !

होरी ने फटी हुई मिरजई को बड़ी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा—तो क्या तू समझती है, मैं बूढ़ा हो गया ? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।

"जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम-जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं, पाठे होंगे ! तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान् यह बुढ़ापा कैसे कटेगा ? किसके द्वार पर भीख माँगेगे ?"

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गयी। लकड़ी सँभालता हुआ बोला—साठ तक पहुँचने की नौबत न आने पाएगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे।

धनिया ने तिरस्कार किया—अच्छा रहने दो, मत अशुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्दी बात भी कहे, तो लगते हो कोसने।

होरी कन्धे पर लाठी रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाए हुए हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभय-दान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अन्दर छिपाए लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंगत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी, मानों झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा, बल्कि यथार्थ के निकट होने

के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गयी थी। काना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखोंवाले आदमी को हो सकता है ?

होरी क़दम बढ़ाए चला जाता था। पगडण्डी के दोनों ओर ऊख के पौधों की लहराती हुई हरियाली देखकर उसने मन में कहा–भगवान् कहीं गौं से बरखा कर दे और डाँड़ी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरूर लेगा। देशी गायें तो न दूध दें, न उनके बछवे ही किसी काम के हों। बहुत हुआ तो तेली के कोल्हू में चलें। नहीं, वह पछाँई गाय लेगा। उसकी खूब सेवा करेगा। कुछ नहीं तो चार-पाँच सेर दूध हागा। गोबर दूध के लिए तरस-तरसकर रह जाता है। इस उमिर में न खाया-पिया, तो फिर कब खाएगा ? साल-भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे। दो सौ से कम की गोंई न होगी। फिर, गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना ! न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।

हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक सूद से चैन करने या ज़मीन ख़रीदने या महल बनवाने की विशाल आकांक्षाएँ उसके नन्हें-से हृदय में कैसे समातीं !

जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकलकर आकाश पर छायी हुई लालिमा को अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गर्मी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम-राम करते और सम्मान भाव से उसे चिलम पीने का निमन्त्रण देते थे; पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था ? उसके अन्दर बैठी हुई सम्मान-लालसा ऐसा आदर पाकर उसके सूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर रही थी। मालिकों से मिलते-जुलते रहने ही का तो यह प्रसाद है कि सब उसका आदर करते हैं, नहीं उसे कौन पूछता ? पाँच बीघे के किसान की बिसात ही क्या ? यह कम आदर नहीं है कि तीन-तीन, चार-चार हलवाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते हैं।

अब वह खेतों के बीच की पगडण्डी छोड़कर एक खलेटी में आ गया था, जहाँ बरसात में पानी भर जाने के कारण तरी रहती थी और जेठ में कुछ हरियाली नज़र आती थी। आस-पास के गाँवों की गउएँ यहाँ चरने आया करती थीं। उस समय में भी यहाँ की हवा में कुछ ताज़गी और ठंडक थी। होरी ने दो-तीन साँसें ज़ोर से लीं। उसके जी में आया, कुछ देर यहीं बैठ जाय। दिन-भर तो लू-लपट में मरना है ही। कई किसान इस गड्ढे का पट्टा लिखाने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे; पर ईश्वर भला करे रायसाहब का कि उन्होंने साफ कह दिया, यह ज़मीन जानवरों की चराई के लिए छोड़ दी गयी है। और किसी दाम पर भी न उठायी जायेगी। कोई स्वार्थी ज़मींदार होता, तो कहता, गायें जायँ भाड़ में, हमें रुपये मिलते हैं, क्यों छोड़ें ? पर रायसाहब अभी तक पुरानी मर्यादा निभाते आते हैं। जो मालिक

प्रजा को न पाले, वह भी कोई आदमी है।

सहसा उसने देखा, भोला अपनी गायें लिये इसी तरफ़ चला आ रहा है। भोला इसी गाँव से मिले हुए पुरवे का ग्वाला था और दूध-मक्खन का व्यवसाय करता था। अच्छा दाम मिल जाने पर कभी-कभी किसानों के हाथ गायें भी बेच देता था। होरी का मन उन गायों को देखकर ललचा गया। अगर भोला वह आगेवाली गाय उसे दे तो क्या कहना! रुपये आगे-पीछे देता रहेगा। वह जानता था, घर में रुपये नहीं हैं। अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका, बिसेसर साह का देना भी बाक़ी है, जिस पर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है; लेकिन दरिद्रता में जो एक प्रकार की अदूरदर्शिता होती है, वह निर्लज्जता में तकाज़े, गाली और मार से भी भयभीत नहीं होती, उसने उसे प्रोत्साहित किया। बरसों से जो साध मन को आन्दोलित कर रही थी, उसने उसे विचलित कर दिया। भोला के समीप जाकर बोला–राम-राम भोला भाई कहो क्या रंग-ढंग हैं? सुना अबकी मेले से नयी गायें लाये हो?

भोला ने रुखाई से जवाब दिया। होरी के मन की बात उसने ताड़ ली थी–हाँ, दो बछियें और दो गायें लाया। पहलेवाली गायें सब सूख गयी थीं। बन्धी पर दूध न पहुँचे तो गुजर कैसे हो?

होरी ने आगेवाली गाय के पुट्ठे पर हाथ रखकर कहा– दुधार तो मालूम होती है। कितने में ली?

भोला ने शान जमायी–अबकी बाज़ार बड़ा तेज़ रहा महतो, इसके अस्सी रुपये देने पड़े। आँखें निकल गयीं। तीस-तीस रुपये तो दोनों कलोरों के दिये। तिस पर गाहक रुपये का आठ सेर दूध माँगता है।

"बड़ा भारी कलेजा है तुम लोगों का भाई, लेकिन फिर लाये भी तो वह माल कि यहाँ दस-पाँच गाँवों में तो किसी के पास निकलेगी नहीं।"

भोला पर नशा चढ़ने लगा। बोला–रायसाहब इसके सौ रुपये देते थे। दोनों कलोरों के पचास-पचास रुपये, लेकिन हमने न दिये। भगवान् ने चाहा, तो सौ रुपये इसी ब्यान में पीट लूँगा।

"इसमें क्या सन्देह है भाई! मालिक क्या खा के लेंगे? नज़राने में मिल जाय, तो भले ले लें। यह तुम्हीं लोगों का गुर्दा है कि अँजुली-भर रुपये तकदीर के भरोसे गिन देते हो। यही जी चाहता है कि इसके दरसन करता रहूँ। धन्य है तुम्हारा जीवन कि गऊओं की इतनी सेवा करते हो! हमें तो गाय का गोबर भी मयस्सर नहीं। गिरस्त के घर में एक गाय भी न हो, तो कितनी लज्जा की बात है। साल-के-साल बीत जाते हैं, गोरस के दरसन नहीं होते। घरवाली बार-बार कहती है, भोला भैया से क्यों नहीं कहते? मैं कह देता हूँ, कभी मिलेंगे तो कहूँगा। तुम्हारे सुभाव से बड़ी परसन रहती है। कहती है, ऐसा मर्द ही नहीं देखा कि जब बातें करेंगे, नीची आँखें करके, कभी सिर नहीं उठाते।"

भोला पर जो नशा चढ़ रहा था, उसे इस भरपूर प्याले ने और गहरा कर

दिया। बोला—आदमी वही है, जो दूसरों की बहू-बेटी को अपनी बहू-बेटी समझे। जो दुष्ट किसी मेहरिया की ओर ताके, उसे गोली मार देना चाहिए।

"यह तुमने लाख रुपये की बात कह दी भाई ! बस, सज्जन वही, जो दूसरों की आबरू को अपनी आबरू समझे।"

"जिस तरह मर्द के मर जाने से औरत अनाथ हो जाती है, उसी तरह औरत के मर जाने से मर्द के हाथ-पाँव टूट जाते हैं। मेरा तो घर उजड़ गया महतो, कोई एक लोटा पानी देनेवाला भी नहीं।"

गत वर्ष भोला की स्त्री लू लग जाने से मर गयी थी। यह होरी जानता था, लेकिन पचास बरस का खंखड़ भोला भीतर से इतना स्निग्ध है, वह न जानता था। स्त्री की लालसा उसकी आँखों में सजल हो गयी थी। होरी को आसन मिल गया। उसकी व्यावहारिक कृषक-बुद्धि सजग हो गयी।

"पुरानी मसल झूठी थोड़ी है—बिन घरनी घर भूत का डेरा। कहीं सगाई क्यों नहीं ठीक कर लेते ?"

"ताक में हूँ महतो, पर कोई जल्दी फँसता नहीं। सौ-पचास खरच करने को भी तैयार हूँ। जैसी भगवान् की इच्छा।"

"अब मैं भी फिकर में रहूँगा। भगवान् चाहेंगे, तो जल्दी घर बस जायेगा।"

"बस, यही समझ लो कि उबर जाऊँगा भैया ! घर में खाने को भगवान् का दिया बहुत है। चार पसेरी रोज दूध हो जाता है, लेकिन किस काम का ?"

"मेरे ससुराल में एक मेहरिया है। तीन-चार साल हुए, उसका आदमी उसे छोड़कर कलकत्ते चला गया। बेचारी पिसाई करके गुजर कर रही है। बाल-बच्चा भी कोई नहीं। देखने-सुनने में अच्छी है। बस, लच्छमी समझ लो।"

भोला का सिकुड़ा हुआ चेहरा चिकना गया। आशा में कितनी सुधा है ! बोला—अब तो तुम्हारा ही आसरा है महतो ! छुट्टी हो तो चलो एक दिन देख आयें।

"मैं ठीक-ठाक करके तब तुमसे कहूँगा बहुत उतावली करने से भी काम बिगड़ जाता है।"

"जब तुम्हारी इच्छा हो तब चलो। उतावली काहे की ? इस कबरी पर मन ललचाया हो, तो ले लो।"

"यह गाय मेरे मान की नहीं है दादा। मैं, तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाना चाहता। अपना धरम यह नहीं है कि मित्रों का गला दबायें। जैसे इतने दिन बीते हैं, वैसे और भी बीत जायेंगे।"

"तुम तो ऐसी बातें करते हो होरी, जैसे हम-तुम दो हैं। तुम गाय ले जाओ, दाम जो चाहे देना जैसे मेरे घर रही, वैसे तुम्हारे घर रही। अस्सी रुपये में ली थी, तुम अस्सी रुपये ही देना। जाओ।"

"लेकिन मेरे पास नगद नहीं हैं दादा, समझ लो।"

"तो तुमसे नगद माँगाता कौन है भाई ?"

होरी की छाती गज़-भर की हो गयी। अस्सी रुपये में गाय महँगी न थी। ऐसा अच्छा डील-डौल, दोनों जून में छः-सात सेर दूध, सीधी ऐसी कि बच्चा भी दुह ले। इसका तो एक-एक बाछा सौ-सौ का होगा। द्वार पर बँधेगी तो द्वार की शोभा बढ़ जायेगी। उसे अभी कोई चार सौ रुपये देने थे; लेकिन उधार को वह एक तरह से मुफ्त समझता था। कहीं भोला की सगाई ठीक हो गयी, तो साल-दो साल तो वह बोलेगा भी नहीं। सगाई न भी हुई, तो होरी का क्या बिगड़ता है ! यही तो होगा, भोला बार-बार तगादा करने आयेगा, बिगड़ेगा, गालियाँ देगा। लेकिन होरी को इसकी ज़्यादा शर्म न थी। इस व्यवहार का वह आदी था। कृषक के जीवन का तो यह प्रसाद है। भोला के साथ वह छल कर रहा था और यह व्यापार उसकी मर्यादा के अनुकूल था। अब भी लेन-देन में उसके लिए लिखा-पढ़ी होने और न होने में कोई अन्तर न था। सूखे-बूड़े की विपदाएँ उसके मन को भीरु बनाए रहती थीं। ईश्वर का रौद्र रूप सदैव उसके सामने रहता था पर यह छल उसकी नीति में छल न था। यह केवल स्वार्थ-सिद्धि थी और यह कोई बुरी बात न थी। इस तरह का छल तो वह दिन-रात करता रहता था। घर में दो-चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रुई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज़ था। और यहाँ तो केवल स्वार्थ न था, थोड़ा-सा मनोरंजन भी था। बुड्ढों का बुढ़भस हास्यास्पद वस्तु है और ऐसे बुड्ढों से अगर कुछ ऐंठ भी लिया जाय, तो कोई दोष-पाप नहीं।

भोला ने गाय की पगहिया होरी के हाथ में देते हुए कहा— ले जाओ महतो, तुम भी याद करोगे। ब्याते ही छः सेर दूध ले लेना। चलो, मैं तुम्हारे घर तक पहुँचा दूँ। साइत तुम्हें अनजान समझकर रास्ते में कुछ दिक करे। अब तुमसे सच कहता हूँ, मालिक नब्बे रुपये देते थे, पर उनके यहाँ गऊओं की क्या क़दर। मुझसे लेकर किसी हाकिम-हुक्काम को दे देते। हाकिमों को गऊ की सेवा से मतलब ? वह तो खून चूसना-भर जानते हैं। जब तक दूध देती, रखते, फिर किसी के हाथ बेच देते। किसके पल्ले पड़ती, कौन जाने। रुपया ही सब कुछ नहीं है भैया, कुछ अपना धरम भी तो है। तुम्हारे घर आराम से रहेगी तो। यह न होगा कि तुम आप खाकर सो रहो और गऊ भूखी खड़ी रहे। उसकी सेवा करोगे, चुमकारोगे। गऊ हमें आसिरवाद देगी। तुमसे क्या कहूँ हैया , घर में चंगुल-भर भूसा नहीं रहा। रुपये सब बाज़ार में निकल गये। सोचा था, महाजन से कुछ लेकर भूसा ले लेंगे; लेकिन महाजन का पहला ही न चुका उसने इनकार कर दिया। इतने जानवरों को क्या खिलाएँ, यही चिन्ता मारे डालती है। चुटकी-चुटकी भर खिलाऊँ, तो मन-भर रोज का खरच है। भगवान् ही पार लगाएँ तो लगे।

होरी ने सहानुभूति के स्वर में कहा—तुमने हमसे पहले क्यों नहीं कहा ? हमने एक गाड़ी भूसा बेच दिया।

भोला ने माथा ठोककर कहा–इसीलिए नहीं कहा भैया कि सबसे अपना दुःख क्यों रोऊँ। बाँटता कोई नहीं, हँसते सब हैं। जो गायें सूख गयी हैं, उनका गम नहीं, पत्ती-सत्ती खिलाकर जिला लूँगा; लेकिन अब यह तो रातिब बिना नहीं रह सकती! हो सके, तो दस-बीस रुपये भूसे के लिए दे दो।

किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घण्टों चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता, लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती, दूसरे ही पीते हैं; मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान ? होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।

भोला की संकट-कथा सुनते ही उसकी मनोवृत्ति बदल गयी। पगहिया को भोला के हाथ में लौटाता हुआ बोला–रुपये तो दादा मेरे पास नहीं हैं। हाँ, थोड़ा-सा भूसा बचा है, वह तुम्हें दूँगा। चलकर उठवा लो। भूसे के लिए तुम गाय बेचोगे, और मैं लूँगा ! मेरे हाथ न कट जायेंगे ?

भोला ने आर्द्र कण्ठ से कहा–तुम्हारे बैल भूखों न मरेंगे ! तुम्हारे पास भी ऐसा कौन-सा बहुत-सा भूसा रखा है।

"नहीं दादा, अबकी भूसा अच्छा हो गया था।"

"मैंने तुमसे नाहक भूसे की चर्चा की।"

"तुम न कहते और पीछे से मुझे मालूम होता, तो मुझे बड़ा रंज होता कि तुमने मुझे इतना गैर समझ लिया। अवसर पड़ने पर भाई की मदद भाई भी न करे, तो काम कैसे चले !"

"मुदा यह गाय तो लेते जाओ।"

"अभी नहीं दादा, फिर ले लूँगा।"

"तो भूसे के दाम दूध में कटवा लेना।"

होरी ने दुःखित स्वर में कहा–दाम-कौड़ी की इसमें कौन बात है दादा, मैं एक-दो जून तुम्हारे घर खा लूँ तो तुम मुझसे दाम माँगोगे ?

"लेकिन तुम्हारे बैल भूखों मरेंगे कि नहीं ?"

"भगवान कोई-न-कोई सबील निकालेंगे ही। आसाढ़ सिर पर है। कड़दी बो लूँगा।"

"मगर यह गाय तुम्हारी हो गयी जिस दिन इच्छा हो, आकर ले जाना।"

"किसी भाई का नीलाम पर चढ़ा हुआ बैल लेने में जो पाप है, वह इस समय तुम्हारी गाय लेने में है।"

होरी में बाल की खाल निकालने की शक्ति होती, तो वह खुशी से गाय लेकर घर की राह लेता। भोला जब नकद रुपये नहीं माँगता, तो स्पष्ट था कि वह भूसे के लिए गाय नहीं बेच रहा है, बल्कि इसका कुछ और आशय है; लेकिन जैसे पत्तों के खड़कने पर घोड़ा अकारण ही ठिठक जाता है और मारने पर भी आगे कदम नहीं उठाता, वही दशा होरी की थी। संकट की चीज लेना पाप है, यह बात जन्म-जन्मान्तरों से उसकी आत्मा का अंश बन गयी थी।

भोला ने गद्गद कण्ठ से कहा—तो किसी को भेज दूँ भूसे के लिए ?

होरी ने जवाब दिया—अभी मैं रायसाहब की डयोढ़ी पर जा रहा हूँ। वहाँ से घड़ी-भर में लौटूँगा, तभी किसी को भेजना।

भोला की आँखों में आँसू भर आये। बोला—तुमने आज मुझे उबार लिया होरी भाई ! मुझे अब मालूम हुआ कि मैं संसार में अकेला नहीं हूँ। मेरा भी कोई हितू है। एक क्षण के बाद उसने फिर कहा—उस बात को भूल न जाना।

होरी आगे बढ़ा तो उसका चित्त प्रसन्न था। मन में एक विचित्र स्फूर्ति हो रही थी। क्या हुआ, दस-पाँच मन भूसा चला जायेगा, बेचारे को संकट में पड़कर अपनी गाय तो न बेचनी पड़ेगी। जब मेरे पास चारा हो जायेगा, तब गाय खोल लाऊँगा। भगवान् करे, मुझे कोई मेहरिया मिल जाय। फिर तो कोई बात ही नहीं।

उसने पीछे फिरकर देखा। कबरी गाय पूँछ से मक्खियाँ उड़ाती, सिर हिलाती, मस्तानी, मंद गति से झूमती चली जाती थी, जैसे बाँदियों के बीच में कोई रानी हो। कैसा शुभ होगा वह दिन जब यह कामधेनु उसके द्वार पर बँधेगी !

दो

सेमरी और बेलारी दोनों अवध-प्रान्त के गाँव हैं। जिले का नाम बताने की कोई ज़रूरत नहीं। होरी बेलारी में रहता है, रायसाहब अमरपाल सिंह सेमरी में। दोनों गाँवों में केवल पाँच मील का अन्तर है। पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। यह नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँट और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो; मगर यह सारी बदनामी मुख़्तारों के सिर जाती थी। राय साहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लगा सकता था। वह बेचारे भी तो उसी व्यवस्था के गुलाम थे। जाब्ते का काम तो जैसे होता चला आया है, वैसा ही होगा। रायसाहब की सज्जनता उस पर कोई असर न डाल सकती थी, इसलिए आमदनी और अधिकार में जौ-भर की भी कमी न होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था। असामियों से वह हँसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है ? सिंह का काम तो शिकार करना है; अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार

मिल जाता। शिकार की खोज में जंगल में न भटकना पड़ता।

रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाए रखते थे। उनकी नज़रें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थीं। साहित्य और संगीत के प्रेमी थे, ड्रामा के शौक़ीन, अच्छे वक़्ता थे, अच्छे लेखक, अच्छे निशानेबाज। उनकी पत्नी को मरे आज दस साल हो चुके थे; मगर दूसरी शादी न की थी। हँस-बोलकर अपने विधुर जीवन को बहलाते रहते थे।

होरी ड्योढ़ी पर पहुँचा तो देखा, जेठ के दशहरे के अवसर पर होने वाले धनुष-यज्ञ की बड़ी जोरों से तैयारियाँ हो रही हैं; कहीं रंग-मंच बन रहा था, कहीं मंडप, कहीं मेहमानों का आतिथ्यगृह, कहीं दूकानदारों के लिए दूकानें। धूप तेज हो गयी थी; पर रायसाहब खुद काम में लगे हुए थे। अपने पिता से सम्पत्ति के साथ-साथ उन्होंने राम की भक्ति भी पायी थी और धनुष-यज्ञ को नाटक का रूप देकर उसे शिष्ट मनोरंजन का साधन बना दिया था। इस अवसर पर उनके यार-दोस्त, हाकिम-हुक्काम सभी निमंत्रित होते थे। और दो-तीन दिन इलाके में बड़ी चहल-पहल रहती थी। रायसाहब का परिवार बहुत विशाल था। कोई डेढ़ सौ सरदार एक साथ भोजन करते थे। कई चचा थे। दर्जनों चचेरे भाई , कई सगे भाई, बीसियों नाते के भाई। एक चचा साहब राधा के अनन्य उपासक थे और बराबर वृन्दावन में रहते थे। भक्ति-रस के कितने ही कवित्त रच डाले थे और समय-समय पर उन्हें छपवाकर दोस्तों की भेंट कर देते थे। एक दूसरे चचा थे, जो राम के परम भक्त थे और फ़ारसी भाषा में रामायण का अनुवाद कर रहे थे। रियासत से सबके वसीके बंधे हुए धे। किसी को कोई काम करने की ज़रूरत न थी। होरी मण्डप में खड़ा सोच रहा था कि अपने आने की सूचना कैसे दे कि सहसा रायसाहब घर ही आ निकले और उसे देखते ही बोले—अरे ! तू आ गया होरी, मैं तो तुझे बुलवानेवाला ही था। देख, अबकी तुझे राजा जनक का माली बनना पड़ेगा। समझ गया न, जिस वक्त श्री जानकी जी मन्दिर में पूजा करने जाती हैं, उसी वक्त तू एक गुलदस्ता लिये खड़ा रहेगा और जानकी जी की भेंट करेगा, ग़लती न करना और देख, असामियों से ताकीद करके कह देना कि सब-के-सब शगुन करने आयें। मेरे साथ कोठी में आ, तुझसे कुछ बातें करनी हैं।

वह आगे-आगे कोठी की ओर चले, होरी पीछे-पीछे चला। वहीं एक घने वृक्ष की छाया में एक कुर्सी पर बैठ गये और होरी को जमीन पर बैठने का इशारा करके बोले—समझ गया, मैंने क्या कहा। कारकुन को तो जो कुछ करना है, वह करेगा ही; लेकिन असामी जितने मन से असामी की बात सुनता है, कारकुन की नहीं सुनता। हमें इन्हीं पाँच-सात दिनों में बीस हजार का प्रबन्ध करना है। कैसे होगा, समझ में नहीं आता। तुम सोचते होगे, मुझ टके के आदमी से मालिक क्यों अपना दुखड़ा ले बैठे। किससे अपने मन की कहूँ ? न जाने क्यों तुम्हारे ऊपर विश्वास होता है। इतना जानता हूँ कि तुम मन में मुझ पर हँसोगे नहीं। और हँसो भी, तो तुम्हारी

हँसी मैं बरदाश्त कर सकूँगा। नहीं सह सकता उनकी हँसी, जो अपने बराबर के हैं, क्योंकि उनकी हँसी में ईर्ष्या, व्यंग्य और जलन है। और वे क्यों न हँसेंगे ? मैं भी तो उनकी दुर्दशा और विपत्ति और पतन पर हँसता हूँ, दिल खोलकर, तालियाँ बजाकर। सम्पत्ति और सहृदयता में बैर है। हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन जानते हो, क्यों ? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए। हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार। हममें से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी की विधवा बहू निकल जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय, या अपने असामियों के हाथो पिट जाय, तो उसके और सभी भाई उस पर हँसेंगे, बगलें बजाएँगे, मानो सारे संसार की सम्पदा मिल गयी है। और मिलेंगे तो इतने प्रेम से, जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं। अरे, और तो और, हमारे चचेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई जो इसी रियासत की बदौलत मौज उड़ा रहे हैं, कविता कर रहें हैं और जुए खेल रहे हैं, शराबें पी रहे हैं और ऐयाशी कर रहे हैं, वह भी मुझसे जलते हैं, आज मर जाऊँ तो घी के चिराग जलायें। मेरे दुःख को दुःख समझनेवाला कोई नहीं। उनकी नज़रों में मुझे दुखी होने का कोई अधिकार नहीं है। मैं अगर रोता हूँ, तो दुःख की हँसी उड़ाता हूँ। मैं अगर बीमार होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। मैं अगर अपना ब्याह करके घर में कलह नहीं बढ़ाता, तो यह मेरी नीच स्वार्थपरता है; अगर ब्याह कर लूँ, तो वह विलासांधता होगी। अगर शराब नहीं पीता तो मेरी कंजूसी है। शराब पीने लगूँ, तो वह प्रजा का रक्त होगा। और ऐयाशी नहीं करता, तो अरसिक हूँ; ऐयाशी करने लगूँ, तो फिर कहना ही क्या ! इन लोगों ने मुझे भोग-विलास में फँसाने के लिए कम चालें नहीं चलीं और अब तक चलते जाते हैं उनकी यही इच्छा है कि मैं अन्धा हो जाऊँ और ये लोग मुझे लूट लें, और मेरा धर्म यह है कि सब कुछ देखकर भी कुछ न देखूँ। सब कुछ जानकर भी गधा बना रहूँ।

रायसाहब ने गाड़ी को आगे बढ़ाने के लिए दो बीड़े पान खाए और होरी के मुँह की ओर ताकने लगे, जैसे उसके मनोभावों को पढ़ना चाहते हों।

होरी ने साहस बटोरकर कहा—हम समझते थे कि ऐसी बातें हमीं लोगों में होती हैं, पर जान पड़ता है, बड़े आदमियों में भी उनकी कमी नहीं है।

रायसाहब ने मुँह पान से भरकर कहा—तुम हमें बड़ा आदमी समझते हो ? हमारे नाम बड़े हैं, पर दर्शन थोड़े। गरीबों में अगर ईर्ष्या या बैर है, तो स्वार्थ के लिए या पेट के लिए। ऐसी ईर्ष्या और बैर को मैं क्षम्य समझता हूँ। हमारे मुँह की रोटी कोई छीन ले, तो उसके गले में उँगली डालकर निकालना हमारा धर्म हो जाता है। अगर हम छोड़ दें, तो देवता हैं। बड़े आदमियों की ईर्ष्या और बैर केवल आनन्द के लिए हैं। हम इतने बड़े आदमी हो गये हैं कि हमें नीचता और कुटिलता में ही निःस्वार्थता और परम आनन्द मिलता है। हम देवतापन के उस दर्जे पर पहुँच

गये हैं, जब हमें दूसरों के रोने पर हँसी आती है। इसे तुम छोटी साधना मत समझना। जब इतना बड़ा कुटुम्ब है, तो कोई-न-कोई तो हमेशा बीमार रहेगा ही। और बड़े आदमियों के रोग भी बड़े होते हैं। वह बड़ा आदमी ही क्या, जिसे कोई छोटा रोग हो। मामूली ज्वर भी आ जाये, तो हमें सरसाम की दवा दी जाती है; मामूली फुन्सी भी निकल आए, तो वह जहरबाद बन जाती है। अब छोटे सर्जन और मझोले सर्जन और बड़े सर्जन तार से बुलाए जा रहे हैं। मसीहुलमुल्क को लाने के लिए दिल्ली आदमी भेजा जा रहा है, भिषगाचार्य को लाने के लिए कलकत्ता। उधर देवालय में दुर्गापाठ हो रहा है और ज्योतिषाचार्य कुण्डली का विचार कर रहे हैं और तन्त्र के आचार्य अपने अनुष्ठान में लगे हुए हैं। राजा साहब को यमराज के मुँह से निकालने के लिए दौड़ लगी हुई है। वैद्य और डाक्टर इस ताक में रहते हैं कि कब सिर में दर्द हो और कब उनके घर में सोने की वर्षा हो। और ये रुपया तुमसे और तुम्हारे भाइयों से वसूल किये जाते हैं, भाले की नोक पर। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता; मगर नहीं, आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। भस्म होने में तो बहुत देर नहीं लगती, वेदना भी थोड़ी ही देर की होती है। हम जौ-जौ और अंगुल-अंगुल और पोर-पोर भस्म हो रहे हैं। उस हाहाकार से बचने के लिए हम पुलिस की, हुक्काम की, अदालत की, वकीलों की शरण लेते हैं। और रूपवती स्त्री की भांति सभी के हाथों का खिलौना, बनते हैं। दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके , महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ, क्या नहीं है, लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसे और रोनेवाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को बिलकुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो, और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है, रायसाहब शिकार खेलने आयें या दौरे पर, मेरा कर्त्तव्य है कि उनकी दुम के पीछे लगा रहूँ। उनकी भौंहों पर शिकन पड़ी और हमारे प्राण सूखे। उन्हें प्रसन्न करने के लिए हम क्या नहीं करते ? मगर वह पचड़ा सुनाने लगूँ तो तुम्हें विश्वास न आये। डालियों और रिश्वतों तक तो खैर गनीमत है, हम सिजदे करने को भी तैयार रहते हैं। मुफ्तखोरी ने हमें अपंग बना दिया है, हमें अपने पुरुषार्थ पर लेश मात्र भी विश्वास नहीं, केवल अफसरों के सामने दुम हिला-हिलाकर किसी तरह उनके कृपापात्र बने रहना और उनकी सहायता से अपनी प्रजा पर आतंक जमाना ही हमारा उद्यम है पिछलग्गुओं की खुशामद ने हमें इतना अभिमानी और तुनकमिजाज बना दिया है कि हममें शील, विनय और सेवा का लोप हो गया है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि अगर सरकार हमारे इलाके छीनकर हमें अपनी रोजी के लिए मेहनत करना सिखा दे, तो हमारे साथ महान् उपकार करे, और यह तो निश्चय है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा

न करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जानेवाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ। ईश्वर वह दिन जल्द लाये। वह हमारे उद्धार का दिन होगा। हम परिस्थितियों के शिकार बने हुए हैं। यह परिस्थिति ही हमारा सर्वनाश कर रही है और जब तक संपत्ति की यह बेड़ी हमारे पैरों से न निकलेगी, जब तक यह अभिशाप हमारे सिर पर मँडराता रहेगा, हम मानवता का वह पद न पा सकेंगे, जिस पर पहुँचना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

रायसाहब ने फिर गिलौरी-दान निकाला और कई गिलौरियाँ निकालकर मुँह में भर लीं। कुछ और कहने वाले थे कि एक चपरासी ने आकर कहा—सरकार, बेगारों ने काम करने से इनकार कर दिया है। कहते हैं, जब तक हमें खाने को न मिलेगा, हम काम न करेंगे। हमने धमकाया, तो सब काम छोड़कर अलग हो गये।

रायसाहब के माथे पर बल पड़ गये। आँखें निकालकर बोले—चलो, मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया, तो आज यह नयी बात क्यों? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है; और इस मजूरी पर काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।

फिर होरी की ओर देखकर बोले—तुम अब जाओ होरी, अपनी तैयारी करो। जो बात मैंने कही है, उसका खयाल रखना। तुम्हारे गाँव से मुझे कम-से-कम पाँच सौ की आशा है।

रायसाहब झल्लाते हुए चले गए। होरी ने मन में सोचा, अभी यह कैसी-कैसी नीति और धरम की बातें कर रहे थे। और एकाएक इतने गरम हो गये!

सूर्य सिर पर आ गया था। उसके तेज से अभिभूत होकर वृक्षों ने अपना पसार समेट लिया था। आकाश पर मटियाली गर्द छायी हुई थी और सामने की पृथ्वी काँपती हुई जान पड़ती थी।

होरी ने अपना डण्डा उठाया और घर चला। शगुन कहाँ से आयेंगे, यही चिन्ता उसके सिर पर सवार थी।

तीन

होरी अपने गाँव के समीप पहुँचा, तो देखा, अभी तक गोबर खेत में ऊख गोड़ रहा है और दोनों लड़कियाँ भी उसके साथ काम कर रही हैं। लू चल रही थी, बगूले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था। जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो। यह सब अभी तक खेत में क्यों हैं? क्या काम के पीछे सब जान देने पर तुले हुए हैं? वह खेत की ओर चला और दूर ही से चिल्लाकर बोला—आता क्यों नहीं गोबर, क्या काम ही करता रहेगा? दोपहर ढल गयी, कुछ सूझता है कि नहीं?

उसे देखते ही तीनों ने कुदालें उठा लीं और उसके साथ हो लिये। गोबर साँवला,

लम्बा, इकहरा युवक था, जिसे इस काम से रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता की जगह मुख पर असंतोष और विद्रोह था। वह इसलिए काम में लगा हुआ था कि वह दिखाना चाहता था, उसे खाने-पीने की कोई फिक्र नहीं है। बड़ी लड़की सोना लज्जाशील कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों तक मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी, उसके हलके शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी, और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच-छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला-सा बना हुआ, एक लँगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढीठ और रोनी।

रूपा ने होरी की टाँगों में लिपटकर कहा—काका ! देखो, मैंने एक ढेला भी नहीं छोड़ा। बहन कहती है, जा पेड़ तले बैठ। ढेले न तोड़े जायेंगे काका, तो मिट्टी कैसे बराबर होगी ?

होरी ने उसे गोद में उठाकर प्यार करते हुए कहा—तूने बहुत अच्छा काम किया बेटी, चल घर चलें। कुछ देर अपने विद्रोह को दबाए रहने के बाद गोबर बोला—यह तुम रोज़-रोज़ मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो ? बाकी न चुके तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नज़र-नज़राना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो !

इस समय यही भाव होरी के मन में भी आ रहे थे; लेकिन लड़के के इस विद्रोह-भाव को दबाना ज़रूरी था। बोला—सलामी करने न जायँ, तो रहें कहाँ ? भगवान् ने जब गुलाम बना दिया है, तो अपना क्या बस है ? यह इसी सलामी की बरकत है कि द्वार पर मड़ैया डाल ली और किसी ने कुछ नहीं कहा। घूरे ने द्वार पर खूँटा गाड़ा था, जिस पर कारिन्दों ने दो रुपये डाँड़ ले लिये थे। तलैया से कितनी मिट्टी हमने खोदी, कारिन्दों ने कुछ नहीं कहा। दूसरा खोदे तो नज़र देनी पड़े। अपने मतलब के लिए सलामी करने जाता हूँ, पाँव में शनीचर नहीं है और न सलामी करने में कोई बड़ा सुख मिलता है। घण्टों खड़े रहो, तब जाके मालिक को ख़बर होती है। कभी बाहर निकलते हैं, कभी कहला देते हैं कि फुरसत नहीं है।

गोबर ने कटाक्ष किया—बड़े आदमियों की हाँ-में-हाँ मिलाने में कुछ-न-कुछ आनन्द तो मिलता ही है, नहीं लोग मेम्बरी के लिए क्यों खड़े हों ?

"जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी जो चाहे कह लो। पहले मैं भी यह सब बातें सोचा करता था, पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़कर निबाह नहीं हो सकता।"

पिता पर अपना क्रोध उतारकर गोबर कुछ शान्त हो गया और चुपचाप चलने लगा। सोना ने देखा, रूपा बाप की गोद में चढ़ी बैठी है तो ईर्ष्या हुई। उसे डाँटकर बोली—अब गोद से उतरकर पाँव-पाँव क्यों नहीं चलती, क्या पाँव टूट गये हैं ?

रूपा ने बाप की गरदन में हाथ डालकर ढिठाई से कहा—न उतरेंगे जाओ। काका, बहन हमको रोज चिढ़ाती है कि तू रूपा है, मैं सोना हूँ। मेरा नाम कुछ और

रख दो।

होरी ने सोना को बनावटी रोष से देखकर कहा–तू इसे क्यों चिढ़ाती है सोनिया ? सोना तो देखने को है। निबाह तो रूपा से होता है। रूपा न हो, तो रुपये कहाँ से बनें, बता ?

सोना ने अपने पक्ष का समर्थन किया–सोना न हो तो मोहन माला कैसे बने, नथुनियाँ कहाँ से आये, कण्ठा कैसे बने ?

गोबर भी इस विनोदमय विवाद में शरीक हो गया। रूपा से बोला–तू कह दे कि सोना तो सूखी पत्ती की तरह पीला होता है, रूपा तो उजला होता है, जैसे सूरज।

सोना बोली–शादी-ब्याह में पीली साड़ी पहनी जाती है, उजली साड़ी कोई नहीं पहनता।

रूपा इस दलील से परास्त हो गयी। गोबर और होरी की कोई दलील इसके सामने न ठहर सकी। उसने क्षुब्ध आँखों से होरी को देखा।

होरी को एक नयी युक्ति सूझ गयी। बोला–सोना बड़े आदमियों के लिए है। हम गरीबों के लिए तो रूपा ही है। जैसे जौ को राजा कहते हैं। गेहूँ को चमार; इसलिए न कि गेहूँ बड़े आदमी खाते हैं, जौ हम लोग खाते हैं।

सोना के पास इस सबल युक्ति का कोई जवाब न था। परास्त होकर बोली–तुम सब जने एक ओर हो गये, नहीं रुपिया को रुलाकर छोड़ती।

रूपा ने उँगली मटकाकर कहा–राम, सोना चमार–ए राम, सोना चमार।

इस विजय का उसे इतना आनन्द हुआ कि बाप की गोद में रह न सकी। ज़मीन पर कूद पड़ी और उछल-उछलकर यही रट लगाने लगी–रूपा राजा, सोना चमार–रूपा राजा, सोना चमार !

ये लोग घर पहुँचे तो धनिया द्वार पर खड़ी इनकी बाट जोह रही थी ! रुष्ट होकर बोली–आज इतनी देर क्यों की गोबर ? काम के पीछे कोई परान थोड़े ही दे देता है।

फिर पति से गर्म होकर कहा–तुम भी वहाँ से कमाई करके लौटे तो खेत में पहुँच गये। खेत कहीं भागा जाता था ?

द्वार पर कुआँ था। होरी और गोबर ने एक-एक कलसा पानी सिर पर उँड़ेला, रूपा को नहलाया और भोजन करने गये। जौ की रोटियाँ थीं, पर गेहूँ-जैसी सुफ़ेद और चिकनी। अरहर की दाल थी, जिसमें कच्चे आम पड़े हुए थे। रूपा बाप की थाली में खाने बैठी। सोना ने उसे ईर्ष्या-भरी आँखों से देखा, मानो कह रही थी, वाह रे दुलारे !

धनिया ने पूछा–मालिक से क्या बातचीत हुई ?

होरी ने लोटा-भर पानी चढ़ाते हुए कहा–यही तहसील-वसूल की बात थी और क्या। हम लोग समझते हैं, बड़े आदमी बहुत सुखी होंगे; लेकिन सच पूछो, तो वह

हमसे भी ज़्यादा दुःखी हैं। हमें अपने पेट की चिन्ता है, उन्हें हजा़रों चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।

रायसाहब ने और क्या-क्या कहा था, यह कुछ होरी को याद न था। उस सारे कथन का खुलासा-मात्र उसके स्मरण में चिपका हुआ रह गया था।

गोबर ने व्यंग्य किया—तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते ! हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला ? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुःख होता है, वह दरजनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उस पर दुःखी हैं।

होरी ने झुंझलाकर कहा—अब तुमसे बहस कौन करे भाई ! जैजात किसी से छोड़ी जाती है कि वही छोड़ देंगे ? हमीं को खेती से क्या मिलता है ? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपये महीने का भी नौकर है, वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है, लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें, तो और करें क्या ? नौकरी कहीं मिलती है ? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है। इसी तरह जमींदारों का हाल भी समझ लो ! उनकी जान को भी तो सैकड़ों रोग लगे हुए हैं, हाकिमों को रसद पहुँचाओ, उनकी सलामी करो, अमलों को खुश करो। तारीख़ पर मालगुजारी न चुका दें, तो हवालात हो जाय, कुड़की आ जाय। हमें तो कोई हवालात नहीं ले जाता। दो-चार गालियाँ-घुड़कियाँ ही तो मिलकर रह जाती हैं।

गोबर ने प्रतिवाद किया—यह सब कहने की बातें हैं। हम लोग दाने-दाने को मुहताज़ हैं, देह पर साबित कपड़े नहीं हैं, चोटी का पसीना एड़ी तक आता है, तब भी गुज़र नहीं होता। उन्हें क्या, मज़े से गद्दी-मसनद लगाए बैठे हैं, सैकड़ों नौकर-चाकर हैं, हज़ारों आदमियों पर हुकूमत है। रुपये न जमा होते हों, पर सुख तो सभी तरह का भोगते हैं। धन लेकर आदमी और क्या करता है ?

"तुम्हारी समझ में हग और वह बराबर हैं ?"

"भगवान् ने तो सबको बराबर ही बनाया है।"

"यह बात नहीं है बेटा, छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हैं, उनका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या ?"

"यह सब मन को समझाने की बातें हैं। भगवान् सबको बराबर बनाते हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है। वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।"

"यह तुम्हारा भरम है। मालिक आज भी चार घण्टे रोज भगवान् का भजन करते हैं।"

"किसके बल पर यह भजन-भाव और दान-धर्म होता है ?"

"अपने बल पर।"

"नहीं, किसानों के बल पर और मजदूरों के बल पर। यह पाप का धन पचे कैसे ? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है, भगवान् का भजन भी इसीलिए होता है। भूखे-नंगे रहकर भगवान् का भजन करें, तो हम भी देखें। हमें कोई दोनों जून खाने को दे, तो हम आठों पहर भगवान् का जाप ही करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाय।"

होरी ने हारकर कहा—अब तुम्हारे मुँह कौन लगे भाई, तुम तो भगवान की लीला में भी टाँग अड़ाते हो।

तीसरे पहर गोबर कुदाल लेकर चला, तो होरी ने कहा—जरा ठहर जाओ बेटा, हम भी चलते हैं। तब तक थोड़ा-सा भूसा निकालकर रख दो। मैंने भोला को देने को कहा है। बेचारा आजकल बहुत तंग है।

गोबर ने अवज्ञा-भरी आँखों से देखकर कहा—हमारे पास बेचने को भूसा नहीं है।

"बेचता नहीं हूँ भाई, यों ही दे रहा हूँ। वह संकट में है, उसकी मदद तो करनी ही पड़ेगी।"

"हमें तो उन्होंने कभी एक गाय नहीं दे दी।"

"दे तो रहा था, पर हमने ली ही नहीं।"

धनिया मटककर बोली—गाय नहीं वह दे रहा था। इन्हें गाय दे देगा ! आँख में अंजन लगाने को कभी चिल्लू-भर दूध तो भेजा नहीं, गाय देगा !

होरी ने क़सम खायी—नहीं, जवानी क़सम, अपनी पछाँई गाय दे रहे थे। हाथ तंग है, भूसा-चारा नहीं रख सके। अब एक गाय बेचकर भूसा लेना चाहते है। मैंने सोचा, संकट में पड़े आदमी की गाय क्या लूँगा। थोड़ा-सा भूसा दिये देता हूँ; कुछ रुपये हाथ आ जायेंगे तो गाय ले लूँगा। थोड़ा-थोड़ा करके चुका दूँगा। अस्सी रुपये की है; मगर ऐसी कि आदमी देखता रहे।

गोबर ने आड़े हाथों लिया—तुम्हारा यही धर्मात्मापन तो तुम्हारी दुर्गत कर रहा है साफ़-साफ़ तो बात है। अस्सी रुपये की गाय है, हमसे बीस रुपये का भूसा ले लें और गाय हमें दे दें। साठ रुपये रह जायेंगे, वह हम धीरे-धीरे दे देंगे।

होरी रहस्यमय ढंग से मुस्कराया—मैंने ऐसी चाल सोची है कि गाय सेंत मेंत में हाथ आ जाय। कहीं भोला की सगाई ठीक करनी है, बस। दो-चार मन भूसा तो खाली अपना रंग जमाने को देता हूँ।

गोबर ने तिरस्कार किया—तो तुम अब सबकी सगाई ठीक करते फिरोगे ?

धनिया ने तीखी आँखों से देखा—अब यही एक उद्यम तो रह गया है। नहीं देना है हमें भूसा किसी को। यहाँ भोला-भाली किसी का करज नहीं खाया है।

होरी ने अपनी सफाई दी—अगर मेरे जतन से किसी का घर बस जाय, तो इसमें कौन-सी बुराई है ?

गोबर ने चिलम उठाई और आग लेने चला गया। उसे यह झमेला बिलकुल नहीं भाता था।

धनिया ने सिर हिलाकर कहा—जो उनका घर बसाएगा, वह अस्सी रुपये की गाय लेकर चुप न होगा। एक थैली गिनवाएगा।

होरी ने पुचारा दिया—यह मैं जानता हूँ, लेकिन उनकी भलमनसी को भी तो देखो। मुझसे जब मिलता है, तेरा बखान ही करता है—ऐसी लक्ष्मी है, ऐसी सलीकेदार है।

धनिया के मुख पर स्निग्धता झलक पड़ी। मन मन भाये मुडिया हिलाए वाले भाव से बोली—मैं उनके बखान की भूखी नहीं हूँ, अपना बखान धरे रहें।

होरी ने स्नेह-भरी मुस्कान के साथ कहा—मैंने तो कह दिया, भैया, वह नाक पर मक्खी भी नहीं बैठने देती, गालियों से बात करती है; लेकिन वह यही कहे जाय कि वह औरत नहीं, लक्ष्मी है। बात यह है कि उसकी घरवाली जबान की बड़ी तेज थी। बेचारा उसके डर के मारे भागा-भागा फिरता था। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह सबेरे देख लेता हूँ, उस दिन कुछ-न कुछ ज़रूर हाथ लगता है। मैंने कहा—तुम्हारे हाथ लगता होगा, यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट नहीं होती।

"तुम्हारे भाग ही खोटे हैं, तो मैं क्या करूँ।"

"लगा अपनी घरवाली की बुराई करने—भिखारी को भीख तक नहीं देती थी, झाड़ू लेकर मारने दौड़ती थी, लालचिन ऐसी थी कि नमक तक दूसरों के घर से माँग लाती थी!"

"मरने पर किसी की क्या बुराई करूँ। मुझे देखकर जल उठती थी।"

"भोला बड़ा गमखोर था कि उसके साथ निबाह कर दिया। दूसरा होता तो ज़हर खाके मर जाता। मुझसे दस साल बड़े होंगे भोला; पर राम-राम पहले ही करते हैं।"

"तो क्या कहते थे कि जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह देख लेता हूँ तो क्या होता है?"

"उस दिन भगवान कहीं-न-कहीं से कुछ भेज देते हैं।"

"बहुएँ भी तो वैसी ही चटोरिन आयी हैं। अब की सबों ने दो रुपये के खरबूजे उधार खा डाले। उधार मिल जाय, फिर उन्हें चिन्ता नहीं होती कि देना पड़ेगा या नहीं।"

"अरे भोला रोते काहे को हैं?"

गोबर आकर बोला—भोला दादा आ पहुँचे। मन-दो मन भूसा है, वह उन्हें दे दो, फिर उनकी सगाई ढूँढ़ने निकलो।

धनिया ने समझाया—आदमी द्वार पर बैठा है, उसके लिए खाट-वाट तो डाल नहीं दी, ऊपर से लगे भुनभुनाने। कुछ तो भलमनसी सीखो। कलसा ले जाओ, पानी भरकर रख दो। हाथ-मुँह धोएँ, कुछ रस-पानी पिला दो। मुसीबत में ही आदमी दूसरों के सामने हाथ फैलाता है।

होरी बोला—रस-वस का काम नहीं है, कौन कोई पाहुने हैं।

धनिया बिगड़ी—पाहुने और कैसे होते हैं। रोज़-रोज़ तो तुम्हारे द्वार पर नहीं आते हैं। इतनी दूर से धूप-घाम में आये हैं, प्यास लगी ही होगी। रुपिया, देख डब्बे में तमाखू है कि नहीं, गोबर के मारे काहे को बची होगी। दौड़कर एक पैसे का तमाखू सहुआइन की दुकान से ले ले।

भोला की आज जितनी खातिर हुई, और कभी न हुई होगी। गोबर ने खाट डाल दी, सोना रस घोल लायी, रूपा तमाखू भर लायी। धनिया द्वार पर किवाड़ की आड़ में खड़ी अपने कानों से अपना बखान सुनने के लिए अधीर हो रही थी।

भोला ने चिलम हाथ में लेकर कहा—अच्छी घरनी घर में आ जाय, तो समझ लो लक्ष्मी आ गई। वही जानती है, छोटे-बड़े का आदर-सत्कार कैसे करना चाहिए।

धनिया के हृदय में उल्लास का कम्पन हो रहा था। चिन्ता और निराशा और अभाव से आहत आत्मा इन शब्दों में एक कोमल-शीतल स्पर्श का अनुभव कर रही थी।

होरी जब भोला का खाँचा उठाकर भूसा लाने अन्दर चला, तो धनिया भी पीछे-पीछे चली। होरी ने कहा—जाने कहाँ से इतना बड़ा खाँचा मिल गया। किसी भड़भूँजे से माँग लिया होगा मन-भर से कम में न भरेगा। दो खाँचे भी दिये, तो दो मन निकल जायेंगे।

धनिया फूली हुई थी। मलामत की आँखों से देखती हुई बोली—या तो किसी को नेवता न दो, और दो तो भरपेट खिलाओ। तुम्हारे पास फूल-पत्र लेने थोड़े ही आये हैं कि चँगेरी लेकर चलते। देते ही हो, तो तीन खाँचे दे दो। भला आदमी लड़कों को क्यों नहीं लाया ? अकेले कहाँ तक ढोएगा ? जान निकल जाएगी।

"तीन खाँचे तो मेरे दिये न दिये जायेंगे।"

"तब क्या एक खाँचा देकर टालोगे ? गोबर से कह दो, अपना खाँचा भरकर उनके साथ चला जाय।"

"गोबर ऊख गोड़ने जा रहा है।"

"एक दिन न गोड़ने से ऊख सूख न जायेगी।"

"यह तो उनका काम था कि किसी को अपने साथ ले लेते। भगवान के दिये दो-दो बेटे हैं।"

"न होंगे घर पर। दूध लेकर बाजार गये होंगे।"

"यह तो अच्छी दिल्लगी है कि अपना माल भी दो और उसे घर तक पहुँचा भी दो। लाद दे, लदा दे, लादनेवाला साथ कर दे।"

"अच्छा भाई, कोई मत जाय। मैं पहुँचा दूँगी। बड़ों की सेवा करने में लाज नहीं है।"

"और तीन खाँचे उन्हें दे दूँ, तो अपने बैल क्या खायेंगे ?"

"यह तो नेवता देने के पहले ही सोच लेना था। न हो, तुम और गोबर दोनों

चले जाओ।"

"मुरौवत मुरौवत की तरह की जाती है, अपना घर नहीं दे दिया जाता!"

"अभी जमींदार का प्यादा आ जाय, तो अपने सिर पर भूसा लादकर पहुँचाओगे, तुम, तुम्हारा लड़का, लड़की सब। और वहाँ साइत मन-दो मन लकड़ी भी फाड़नी पड़े।"

"जमींदार की बात और है।"

"हाँ, वह डंडे के जोर से काम लेता है न।"

"उसके खेत नहीं जोतते ?"

"खेत जोतते हैं तो लगान नहीं देते ?"

"अच्छा भाई, जान न खा, हम दोनों चले जायेंगे। कहाँ-से-कहाँ मैंने इन्हें भूसा देने को कह दिया। या तो चलेगी नहीं, या चलेगी तो दौड़ने लगेगी।"

तीनो खाँचे भूसे से भर दिये गये। गोबर कुढ़ रहा था। उसे अपने बाप के व्यवहारों में ज़रा भी विश्वास न था। वह समझता था, यह जहाँ जाते हैं, वहीं कुछ-न-कुछ घर से खो आते हैं। धनिया प्रसन्न थी। रहा होरी, वह धर्म और स्वार्थ के बीच में डूब-उतरा रहा था।

होरी और गोबर मिलकर एक खाँचा बाहर लाये। भोला ने तुरन्त अपने अँगौछे का बीड़ा बनाकर सिर पर रखते हुए कहा–मैं इसे रखकर अभी भागा आता हूँ। एक खाँचा और लूँगा।

होरी बोला–एक नहीं, दो और भरे धरे हैं। और तुम्हें न आना पड़ेगा। मैं और गोबर एक-एक खाँचा लेकर तुम्हारे साथ ही चलते हैं।

भोला स्तम्भित हो गया। होरी उसे अपना भाई, बल्कि उससे भी निकट जान पड़ा। उसे अपने भीतर एक ऐसी तृप्ति का अनुभव हुआ, जिसने मानो उसके संपूर्ण जीवन को हरा कर दिया।

तीनों भूसा लेकर चले, तो राह में बातें होने लगीं।

भोला ने पूछा–दशहरा आ रहा है, मालिकों के द्वार पर तो बड़ी धूमधाम होगी ?

"हाँ, तम्बू-सामियाना गड़ गया है। अबकी लीला में मैं भी काम करूँगा। रायसाहब ने कहा है, तुम्हें राजा जनक का माली बनना पड़ेगा।"

"मालिक तुमसे बहुत खुश है।"

"उनकी दया है।"

एक क्षण के बाद भोला ने फिर पूछा–सगुन के लिए रुपये का कुछ जुगाड़ कर लिया है ? माली बन जाने से तो गला न छूटेगा।

होरी ने मुँह का पसीना पोंछकर कहा–उसी की चिन्ता तो मारे डालती है दादा–अनाज तो सब-का-सब खलिहान में ही तुल गया। जमींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया। मेरे लिए पाँच सेर अनाज बच रहा। यह भूसा तो मैंने

रातोंरात ढोकर छिपा दिया था, नहीं तिनका भी न बचता। जमींदार तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग और मँगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग। किसी का ब्याज भी पूरा न चुका। जमींदार के भी आधे रुपये बाकी पड़ गये। सहुआइन से फिर रुपये उधार लिये तो काम चला। सब तरह किफायत करके देख लिया भैया, कुछ नहीं होता। हमारा जन्म इसीलिए हुआ है कि अपना रक्त बहाएँ और बड़ों का घर भरें। मूल का दुगुना सूद भर चुका, पर मूल ज्यों-का-त्यों सिर पर सवार है। लोग कहते हैं, खुशी-गमीं में, तीरथ-बरत में हाथ बाँधकर खरच करो। मुदा रास्ता कोई नहीं दिखाता। रायसाहब ने बेटे के ब्याह में तीस हजार लुटा दिये। उनसे कोई कुछ नहीं कहता। मँगरू ने अपने बाप के क्रिया-करम में पाँच हज़ार लगाए। उनसे कोई कुछ नहीं पूछता। वैसी ही मरजाद तो सबकी है।

भोला ने करुण भाव से कहा—बड़े आदमियों की बराबरी तुम कैसे कर सकते हो भाई ?

"आदमी तो हम भी हैं।"

"कौन कहता है कि हम-तुम आदमी हैं। हममें आदमियत कहाँ ? आदमी वह है, जिनके पास धन है, अख्तियार है, इलम है। हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं। उस पर एक दूसरे को देख नहीं सकता। एका का नाम नहीं। एक किसान दूसरे के खेत पर न चढ़े तो कोई जाफा कैसे करे, प्रेम तो संसार से उठ गया।"

बूढ़ों के लिए अतीत के सुखों और वर्तमान के दुःखों और भविष्य के सर्वनाश से ज़्यादा मनोरंजक और कोई प्रसंग नहीं होता। दोनों मित्र अपने-अपने दुखड़े रोते रहे। भोला ने अपने बेटों की करतूत सुनाए, होरी अपने भाइयों का रोना रोया और तब एक कुएँ पर बोझ रखकर पानी पीने के लिए बैठ गये। गोबर ने बनिये से लोटा माँगा और पानी खींचने लगा।

भोला ने सहृदयता से पूछा—अलगौझे के समय तो तुम्हें बड़ा रंज हुआ होगा। भाइयों को तो तुमने बेटों की तरह पाला था।

होरी आर्द्र कण्ठ से बोला—कुछ न पूछो दादा, यही जी चाहता था कि कहीं जाके डूब मरूँ। मेरे जीते-जी सब कुछ हो गया। जिनके पीछे अपनी जवानी धूल में मिला दी, वही मेरे मुद्दई हो गए और झगड़े की जड़ क्या थी ? यही कि मेरी घरवाली हार में काम करने क्यों नहीं जाती। पूछो, घर देखनेवाला भी कोई चाहिए कि नहीं ? लेना-देना, धरना-उठाना, सँभालना-सहेजना, यह कौन करे ? फिर वह घर बैठी तो नहीं रहती थी, झाड़ू-बुहारू, रसोई, चौका-बरतन, लड़कों की देखभाल यह कोई थोड़ा काम है। सोभा की औरत, घर सँभाल लेती कि हीरा की औरत में यह सलीका था ? जब से अलगौझा हुआ है, दोनों घरों में एक जून रोटी पकती है, नहीं सबको दिन में चार बार भूख लगती थी। अब खायँ चार दफे, तो देखूँ। इस मालिकपन में गोबर की माँ की जो दुर्गति हुई है, वह मैं ही जानता हूँ। बेचारी

अपनी देवरानियों के फटे-पुराने कपड़े पहनकर दिन काटती थी, खुद भूखी सो रही होगी; लेकिन बहुओं के लिए जलपान तक का ध्यान रखती थी। अपनी देह पर गहने के नाम कच्चा धागा भी न था, देवरानियों के लिए दो-दो, चार-चार गहने बनवा दिए। सोने के न सही, चाँदी के तो हैं। जलन यही थी कि यह मालिक क्यों है। बहुत अच्छा हुआ कि अलग हो गए। मेरे सिर से बला टली।

भोला ने एक लोटा पानी चढ़ाकर कहा–यही हाल घर-घर है भैया ! भाइयों की बात ही क्या, यहाँ तो लड़कों से भी नहीं पटती और पटती इसीलिए नहीं कि मैं किसी की कुचाल देखकर मुँह नहीं बन्द कर सकता। तुम जुआ खेलोगे, चरस पीओगे, गाँजे के दम लगाओगे, मगर आये किसके घर से? खरचा करना चाहते हो तो कमाओ; मगर कमाई तो किसी से न होगी। खरच दिल खोलकर करेंगे। जेठा कामता सौदा लेकर बाज़ार जायेगा, तो आधे पैसे गायब। पूछो तो कोई जवाब नहीं। छोटी जंगी है, वह संगत के पीछे मतवाला रहता है। साँझ हुई और ढोल-मजीरा लेकर बैठ गये। संगत को मैं बुरा नहीं कहता। गाना-बजाना ऐब नहीं, लेकिन यह सब काम फुरसत के हैं। यह नहीं कि घर को तो कोई काम न करो, आठों पहर उसी धुन में पड़े रहो, जाती है मेरे सिर; सानी-पानी मैं करूँ, गाय-भैंस मैं दुहूँ, दूध लेकर बाज़ार मैं जाऊँ। यह गृहस्थी जी का जंजाल है, सोने की हँसिया, जिसे न उगलते बनता है, न निगलते। लड़की है झुनिया, वह भी नसीब की खोटी। तुम तो उसकी सगाई में आये थे। कितना अच्छा घर-वर था। उसका आदमी बम्बई में दूध की दूकान करता था। उन दिनों वहाँ हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हुआ, किसी ने उसके पेट में छुरा भोंक दिया। घर ही चौपट हो गया। वहाँ अब उसका निबाह नहीं। जाकर लिवा लाया कि दूसरी सगाई कर दूँगा; मगर वह राजी ही नहीं होती। और दोनों भावजें हैं कि रात-दिन उसे जलाती रहती हैं। घर में महाभारत मचा रहता है। विपत की मारी यहाँ आयी, यहाँ भी चैन नहीं।

इन्हीं दुखड़ों में रास्ता कट गया। भोला का पुरवा था तो छोटा; मगर बहुत गुलज़ार। अधिकतर अहीर ही बसते थे। और किसानों के देखते इनकी दशा बहुत बुरी न थी। भोला गाँव का मुखिया था। द्वार पर बड़ी-सी चरनी थी, जिस पर दस-बारह गायें-भैंसें खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारे में एक बड़ा-सा तख्त पड़ा था, जो शायद दस आदमियों से भी न उठता। किसी खूँटी पर ढोलक लटक रही थी, किसी पर मजीरा। एक ताख़ पर कोई पुस्तक बस्ते में बँधी रखी हुई थी,जो शायद रामायण हो। दोनों बहुएँ सामने बैठी गोबर पाथ रही थीं और झुनिया चौखट पर खड़ी थी। उसकी आँखें लाल थीं और नाक के सिरे पर भी सुर्खी थी। मालूम होता था, अभी रोकर उठी है। उसके मांसल, स्वस्थ, सुगठित अंगों में मानो यौवन लहरें मार रहा था। मुँह बड़ा और गोल था, कपोल फूले हुए, आँखें छोटी और भीतर धँसी हुई, माथा पतला; पर वक्ष का उभार और गात का वही गुदगुदापन आँखों को खींचता था। उस पर छपी हुई गुलाबी साड़ी उसे और भी शोभा प्रदान कर रही

थी।

भोला को देखते ही उसने लपककर उनके सिर से खाँचा उतरवाया। भोला ने गोबर और होरी के खाँचे उतरवाए और झुनिया से बोले—पहले एक चिलम भर ला, फिर थोड़ा-सा रस बना ले। पानी न हो तो गगरा ला, मैं खींच दूँ। होरी महतो को पहचानती है न ?

फिर होरी से बोला—घरनी के बिना घर नहीं रहता भैया। पुरानी कहावत है—नाटन खेती बहुरियन घर ? नाटे बैल क्या खेती करेंगे और बहुएँ क्या घर सँभालेंगी ? जब से इसकी माँ मरी है, जैसे घर की बरकत ही उठ गयी । बहुएँ आटा पाथ लेती हैं। पर गृहस्थी चलाना क्या जानें। हाँ, मुँह चलाना खूब जानती हैं। लौंडे कहीं फड़ पर जमे होंगे। सब-के-सब आलसी हैं, कामचोर। जब तक जीता हूँ, इनके पीछे मरता हूँ। मर जाऊँगा, तो आप सिर पर हाथ धरकर रोएँगे। लड़की भी वैसी ही है। छोटा-सा अढ़ौना भी करेगी, तो भुन-भुनाकर। मैं तो सह लेता हूँ, ख़सम थोड़े ही सहेगा।

झुनिया एक हाथ में भरी हुई चिलम, दूसरे में लोटे का रस लिये बड़ी फुर्ती से आ पहुँची। फिर रस्सी और कलसा लेकर पानी भरने चली। गोबर ने उसके हाथ से कलसा लेने के लिए हाथ बढ़ाकर झेंपते हुए कहा— तुम रहने दो, मैं भरे लाता हूँ।

झुनिया ने कलसा न दिया। कुएँ के जगत पर जाकर मुस्कराती हुई बोली—तुम हमारे मेहमान हो। कहोगे एक लोटा पानी भी किसी ने न दिया।

"मेहमान काहे से हो गया। तुम्हारा पड़ोसी ही तो हूँ।"

"पड़ोसी साल-भर में एक बार भी सूरत न दिखाए, तो मेहमान ही है।"

"रोज़-रोज़ आने से मरजाद भी तो नहीं रहती।"

झुनिया हँसकर तिरछी नज़रों से देखती हुई बोली—यही मरजाद तो दे रही हूँ। महीने में एक बेर आओगे, ठण्डा पानी दूँगी। पन्द्रहवें दिन आओगे, चिलम पाओगे। सातवें दिन आओगे, खाली बैठने को माची दूँगी। रोज़-रोज़ आओगे, कुछ न पाओगे।

"दरसन तो दोगी ?"

"दरसन के लिए पूजा करनी पड़ेगी।"

यह कहते-कहते जैसे उसे कोई भूली बात याद आ गयी ! उसका मुँह उदास हो गया। वह विधवा है। उसके नारीत्व के द्वार पर पहले उसका पति रक्षक बना बैठा रहता था। वह निश्चिन्त थी। अब उस द्वार पर कोई रक्षक न था, इसलिए वह उस द्वार को सदैव बन्द रखती है। कभी-कभी घर के सूनेपन से उकताकर वह द्वार खोलती है; पर किसी को आते देखकर भयभीत होकर दोनों पाट भेड़ लेती है।

गोबर ने कलसा भरकर निकाला। सबों ने रस पिया और एक चिलम तमाखू

और पीकर लौटे। भोला ने कहा–कल तुम आकर गाय ले जाना, गोबर, इस बख़्त तो सानी खा रही है।

गोबर की आँखें उसी गाय पर लगी हुई थीं और मन-ही-मन वह मुग्ध हुआ जाता था। गाय इतनी सुन्दर और सुडौल है। इसकी उसने कल्पना भी न की थी।

होरी ने लोभ को रोककर कहा–मँगवा लूँगा, जल्दी क्या है ?

"तुम्हें जल्दी न हो, हमें तो जल्दी हैं उसे द्वार पर देखकर तुम्हें वह बात याद रहेगी।"

"उसकी मुझे बड़ी फ़िकर है दादा !"

"तो कल गोबर को भेज देना।"

दोनों ने अपने-अपने खाँचे सिर पर रखे और आगे बढ़े। दोनों इतने प्रसन्न थे, मानो ब्याह करके लौटे हों। होरी को तो अपनी चिरसंचित अभिलाषा के पूरे होने का हर्ष था, और बिना पैसे के। गोबर को इससे भी बहुमूल्य वस्तु मिल गयी थी। उसके मन में अभिलाषा जाग उठी थी।

अवसर पाकर उसने पीछे की तरफ़ देखा। झुनिया द्वार पर खड़ी थी; मत्त आशा की भाँति अधीर, चंचल।

चार

होरी को रात-भर नींद नहीं आयी। नीम के पेड़-तले अपनी बाँस की खाट पर पड़ा बार-बार तारों की ओर देखता था। गाय के लिए एक नाँद गाड़नी है। बैलों से अलग उसकी नाँद रहे तो अच्छा। अभी तो रात को बाहर ही रहेगी; लेकिन चौमासे में उसके लिए कोई दूसरी जगह ठीक करनी होगी। बाहर लोग नज़र लगा देते हैं। कभी-कभी तो ऐसा टोना-टोटका कर देते हैं कि गाय का दूध ही सूख जाता है। थन में हाथ ही नहीं लगाने देती। लात मारती है। नहीं, बाहर बाँधना ठीक नहीं। और बाहर नाँद भी कौन गाड़ने देगा ? कारिन्दा साहब नज़र के लिए मुँह फुलाएँगे। छोटी-छोटी बात के लिए रायसाहब के पास फरियाद ले जाना भी उचित नहीं। और कारिन्दे के सामने मेरी सुनता कौन है ? उनसे कुछ कहूँ, तो कारिन्दा दुश्मन हो जाय। जल में रहकर मगर से बैर करना लड़कपन है। भीतर ही बाँधूँगा। आँगन है तो छोटा-सा; लेकिन एक मड़ैया डाल देने से काम चल जायेगा। अभी पहला ही ब्यान है। पाँच सेर से कम क्या दूध देगी। सेर-भर तो गोबर ही को चाहिए। रुपिया दूध देखकर कैसी ललचाती रहती है। अब पिये जितना चाहे। कभी-कभी दो-चार सेर मालिकों को दे आया करूँगा। कारिन्दा साहब की पूजा भी करनी ही होगी। और भोला के रुपये भी दे देने चाहिए। सगाई के ढकोसले में उसे क्यों डालूँ ? जो आदमी अपने ऊपर इतना विश्वास करे, उससे दग़ा करना नीचता है। अस्सी रुपये की गाय मेरे विश्वास पर दे दी, नहीं यहाँ तो कोई एक पैसे को नहीं पतियाता। सन में क्या

कुछ मिलेगा ? अगर पच्चीस रुपये भी दे दूँ तो भोला को ढाढ़स हो जाय। धनिया से नाहक बता दिया। चुपके से गाय लाकर बाँध देता तो चकरा जाती। लगती पूछने, किसकी गाय है ? कहाँ से लाए हो ? खूब दिक़ करके तब बताता; लेकिन जब पेट में बात पचे भी। कभी दो-चार पैसे ऊपर से आ जाते हैं; उनको भी तो नहीं छिपा सकता। और यह अच्छा भी है। उसे घर की चिन्ता रहती है; अगर उसे मालूम हो जाय कि इनके पास भी पैसे रहते हैं, तो फिर नखरे बघारने लगे। गोबर जरा आलसी है, नहीं मैं गऊ की ऐसी सेवा करता कि जैसी चाहिए। आलसी-वालसी कुछ नहीं है। इस उमिर में कौन आलसी नहीं होता ? मैं भी दादा के सामने मटरगस्ती ही किया करता था। बेचारे पहर रात से कुट्टी काटने लगते। कभी द्वार पर झाड़ू लगाते, कभी खेत में खाद फेंकते। मैं पड़ा सोता रहता था। कभी जगा देते, तो मैं बिगड़ जाता और घर छोड़कर भाग जाने की धमकी देता था। लड़के जब अपने माँ-बाप के सामने भी जिन्दगी का थोड़ा-सा सुख न भोगेंगे,तो फिर जब अपने सिर पड़ गई तो क्या भोगेंगे ? दादा के मरते ही क्या मैंने घर नहीं सँभाल लिया ? सारा गाँव यही कहता था कि होरी घर बरबाद कर देगा; लेकिन सिर पर बोझ पड़ते ही मैंने ऐसा चोला बदला कि लोग देखते रह गये। सोभा और हीरा अलग ही हो गये, नहीं आज इस घर की और ही बात होती। तीन हल एक साथ चलते। अब तीनों अलग-अलग चलते हैं। बस, समय का फेर है। धनिया का क्या दोष था ? बेचारी जब से घर में आयी, कभी तो आराम से न बैठी। डोली से उतरते ही सारा काम सिर पर उठा लिया। अम्मा को पान की तरह फेरती रहती थी। जिसने घर के पीछे अपने को मिटा दिया, देवरानियों से काम करने को कहती थी, तो क्या बुरा करती थी ? आख़िर उसे भी तो कुछ आराम मिलना चाहिए। लेकिन भाग्य में आराम लिखा होता तब तो मिलता। तब देवरों के लिए मरती थी, अब अपने बच्चों के लिए मरती है। वह इतनी सीधी, गमखोर, निर्छल न होती, तो आज सोभा और हीरा जो मूँछों पर ताव देते फिरते हैं, कहीं भीख माँगते होते। आदमी कितना स्वार्थी हो जाता है। जिसके लिए लड़ो, वही जान का दुश्मन हो जाता है।

होरी ने फिर पूर्व की ओर देखा। साइत भिनसार हो रहा है। गोबर काहे को जागने लगा, नहीं कहके तो यही सोया था कि मैं अँधेरे ही चला जाऊँगा। जाकर नाँद तो गाड़ दूँ, लेकिन नहीं, जब तक गाय द्वार पर न आ जाय, नाँद गाड़ना ठीक नहीं। कहीं भोला बदल गये या और किसी कारन से गाय न दी, तो सारा गाँव तालियाँ पीटने लगेगा, चले थे गाय लेने ! पट्ठे ने इतनी फुर्ती से नाँद गाड़ दी, मानो इसी की कसर थी। भोला है तो अपने घर का मालिक, लेकिन जब लड़के सयाने हो गये, तो बाप की कौन चलती है ? कामता और जंगी अकड़ जायँ, तो क्या भोला अपने मन से गाय मुझे दे देंगे ? कभी नहीं।

सहसा गोबर चौंककर उठ बैठा और आँखें मलता हुआ बोला–अरे ! यह तो भोर हो गयी। तुमने नाँद गाड़ दी दादा ?

होरी ने गोबर के सुगठित शरीर और चौड़ी छाती की ओर गर्व से देखकर और मन में यह सोचते हुये कि कहीं इसे गोरस मिलता, तो कैसा पट्ठा हो जाता, बोला—नहीं, अभी नहीं गाड़ी। सोचा, कहीं न मिले तो नाहक भद्द हो।

गोबर ने त्योरी चढ़ाकर कहा—"मिलेगी क्यों नहीं ?"

"उनके मन में कोई चोर पैठ जाय ?"

"चोर पैठे या डाकू, गाय तो उन्हें देनी ही पड़ेगी।"

गोबर ने और कुछ न कहा। लाठी कन्धे पर रखी और चल दिया। होरी उसे जाते देखता हुआ अपना कलेजा ठंडा करता रहा। अब लड़के की सगाई में देर न करनी चाहिए। सत्रहवाँ लग गया ; मगर करे कैसे ? कहीं पैसे के भी दरसन हों। जब से तीनों भाइयों में अलगौझा हो गया, घर की साख़ जाती रही। महतो लड़का देखने आते हैं, पर घर की हालत देखकर मुँह फीका करके चले जाते हैं। दो-एक राजी भी हुए, तो रुपये माँगते हैं। दो-तीन सौ लड़की का दाम चुकाए और इतना ही ऊपर से खर्च करे, तब जाकर ब्याह हो। कहाँ से आवें इतने रुपये ? रास खलिहान में तुल जाती है। खाने-भर को भी नहीं बचता। ब्याह कहाँ से हो ? और अब तो सोना ब्याहने योग्य हो गयी। लड़के का ब्याह न हुआ, न सही। लड़की का ब्याह न हुआ, तो सारी बिरादरी में हँसी होगी। पहले तो उसी की सगाई करनी है, पीछे देखी जायेगी।

एक आदमी ने आकर राम-राम किया और पूछा—तुम्हारी कोठी में कुछ बाँस होंगे महतो ?

होरी ने देखा, दमड़ी दमड़ी बँसोर सामने खड़ा है, नाटा, काला, खूब मोटा, चौड़ा मुँह, बड़ी-बड़ी मूँछें, लाल आँखें, कमर में बाँस काटने की कटार खोंसे हुए। साल में एक-दो बार आकर चिकें, कुरसियाँ आदि बनाने के लिए कुछ बाँस काट ले जाता था।

होरी प्रसन्न हो गया। मुट्ठी गर्म होने की कुछ आशा बँधी। चौधरी को ले जाकर अपनी तीनों कोठियाँ दिखायी, मोल-भाव किया और पच्चीस रुपये सैकड़ें में पचास बाँसों का बयाना ले लिया। फिर दोनों लौटे। होरी ने उसे चिलम पिलायी, जलपान कराया और तब रहस्यमय भाव से बोला—मेरे बाँस कभी तीस रुपये से कम में नहीं जाते; लेकिन तुम घर के आदमी हो, तुमसे क्या मोल-भाव करता। तुम्हारा वह लड़का, जिसकी सगाई हुई थी, अभी परदेश से लौटा कि नहीं ?

चौधरी ने चिलम का दम लगाकर खाँसते हुए कहा—उस लौंडे के पीछे मर मिटा महतो ! जवान बहू घर में बैठी थी और वह बिरादरी की एक दूसरी औरत के साथ परदेस मौज करने चल दिया। बहू भी दूसरे के साथ निकल गयी। बड़ी नाकिस जात है महतो, किसी की नहीं होती। कितना समझाया कि तू जो चाहे खा, जो चाहे पहन, मेरी नाक न कटवा, मुदा कौन सुनता है ? औरत को भगवान सब कुछ दे, रूप न दे, नहीं वह काबू में नहीं रहती। कोठियाँ तो बँट गयी होंगी ?

होरी ने आकाश की और देखा ओर मानो उसकी महानता में उड़ता हुआ बोला—सब कुछ बँट गया चौधरी ! जिनको लड़कों की तरह पाला-पोसा, वह अब बराबर के हिस्सेदार हैं; लेकिन भाई का हिस्सा खाने की अपनी नीयत नहीं है। इधर तुमसे रुपये मिलेंगे, उधर दोनों भाइयों को बाँट दूँगा। चार दिन की ज़िन्दगी में क्यों किसी से छल-कपट करूँ ? नहीं कह दूँ कि बीस रुपये सैकड़ें में बेचे हैं तो उन्हें क्या पता लगेगा। तुम उनसे कहने थोड़े ही जाओगे। तुम्हें तो मैंने बराबर अपना भाई समझा है।

व्यवहार में हम 'भाई' के अर्थ का कितना ही दुरुपयोग करें, लेकिन उसकी भावना में जो पवित्रता है, वह हमारी कालिमा से कभी मलिन नहीं होती।

होरी ने अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रस्ताव करके चौधरी के मुँह की ओर देखा कि वह स्वीकार करता है या नहीं। उसके मुख पर कुछ ऐसा मिथ्या विनीत भाव प्रकट हुआ, जो भिक्षा माँगते समय मोटे भिक्षुकों पर आ जाता है।

चौधरी ने होरी का आसन पाकर चाबुक जमाया—हमारा-तुम्हारा पुराना भाईचारा है, महतो, ऐसी बात है भला; लेकिन बात यह है कि ईमान आदमी बेचता है, तो किसी लालच से। बीस रुपये नहीं, मैं पन्द्रह रुपये कहूँगा; लेकिन जो बीस रुपये के दाम लो।

होरी ने खिसियाकर कहा—तुम तो चौधरी अन्धेर करते हो, बीस रुपये में कहीं ऐसे बाँस जाते हैं ?

ऐसे क्या, इससे अच्छे बाँस जाते हैं दस रुपये पर, हाँ, दस कोस और पच्छिम चले जाओ मोल बाँस का नहीं है, शहर के नगीच होने का है। आदमी सोचता है, जितनी देर वहाँ जाने में लगेगी, उतनी देर में तो दो-चार रुपये का काम हो जायेगा।

सौदा पट गया। चौधरी ने मिर्जई उतारकर छान पर रख दी और बाँस काटने लगा।

ऊख की सिंचाई हो रही थी। हीरा-बहू कलेवा लेकर कुएँ पर जा रही थी। चौधरी को बाँस काटते देखकर घूँघट के अन्दर से बोली—कौन बाँस काटता है ? यहाँ बाँस न कटेंगे।

चौधरी ने हाथ रोककर कहा—बाँस मोल लिये हैं, पन्द्रह रुपये सैंकड़े का बयाना हुआ है। सेंत में नहीं काट रहे हैं।

हीरा बहू अपने घर की मालकिन थी। उसी के विद्रोह से भाइयों में अलगौझा हुआ था। धनिया को परास्त करके शेर हो गयी थी। हीरा कभी-कभी उसे पीटता था। अभी हाल में इतना मारा था कि वह कई दिन तक खाट से न उठ सकी, लेकिन अपना पदाधिकार वह किसी तरह न छोड़ती थी। हीरा क्रोध में उसे मारता था; लेकिन चलता था उसी के इशारों पर, उसे घोड़े की भाँति, जो कभी-कभी स्वामी को लात मारकर भी उसी के आसन के नीचे चलता है।

कलेवे की टोकरी सिर से उतारकर बोली—पन्द्रह रुपये में हमारे बाँस न जायेंगे।

चौधरी औरत जात से इस विषय में बातचीत करना नीति-विरुद्ध समझते थे। बोले—जाकर अपने आदमी को भेज दो। जो कुछ कहना हो, आकर कहें।

हीरा बहू का नाम था पुन्नी। बच्चे दो ही हुए थे। लेकिन ढल गयी थी। बनाव-सिंगार से समय के आघात का शमन करना चाहती थी, लेकिन गृहस्थी में भोजन ही का ठिकाना न था, सिंगार के लिए पैसे कहाँ से आते ? इस अभाव और विवशता ने उसकी प्रकृति का जल सुखाकर कठोर और शुष्क बना दिया था, जिस पर एक बार फावड़ा भी उचट जाता था।

समीप आकर चौधरी का हाथ पकड़ने की चेष्टा करती हुई बोली– आदमी को क्यों भेज दूँ ? जो कुछ कहना हो, मुझसे कहो न ? मैंने कह दिया, मेरे बाँस न कटेंगे।

चौधरी हाथ छुड़ाता था और पुन्नी बार-बार पकड़ लेती थी। एक मिनट तक यही हाथापाई होती रही। अन्त में चौधरी ने उसे ज़ोर से पीछे ढकेल दिया। पुन्नी धक्का खाकर गिर पड़ी; मगर फिर सँभली और पाँव से तल्ली निकालकर चौधरी के सिर, मुँह, पीठ पर अन्धाधुन्ध जमाने लगी। बँसोर होकर उसे ढकेल दें ? उसका यह अपमान ! मारती जाती थी और रोती जाती थी। चौधरी उसे धक्का देकर—नारी जाति पर बल का प्रयोग करके—गच्चा खा चुका था ! खड़े-खड़े मार खाने के सिवा इस संकट से बचने की उसके पास और कोई दवा न थी।

पुन्नी का रोना सुनकर होरी भी दौड़ा हुआ आया। पुन्नी ने उसे देखकर और जोर से चिल्लाना शुरू किया। होरी ने समझा, चौधरी ने पुनिया को मारा है। खून ने जोश मारा और अलगौझे की ऊँची बाँध को तोड़ता हुआ, सब कुछ अपने अन्दर समेटने के लिए बाहर निकल पड़ा। चौधरी को ज़ोर से एक लात जमाकर बोला—अब अपना भला चाहतो हो चौधरी, तो यहाँ से चले जाओ, नहीं तुम्हारी लहास उठेगी। तुमने अपने को समझा क्या है ? तुम्हारी इतनी मजाल कि मेरी बहू पर हाथ उठाओ।

चौधरी क़समें खा-खाकर अपनी सफ़ाई देने लगा। तल्लियों की चोट में उसकी अपराधी आत्मा मौन थी। यह लात उसे निरपराध मिली और उसके फूले हुए गाल आँसुओं से भीग गये। उसने तो बहू को छुआ भी नहीं। क्या वह इतना गँवार है कि महतो के घर की औरतों पर हाथ उठाएगा ?

होरी ने अविश्वास करके कहा—आँखों में धूल मत झोंको चौधरी, तुमने कुछ कहा नहीं, तो बहू झूठ-मूठ रोती है ? रुपये की गर्मी है, तो वह निकाल दी जायेगी। अलग हैं तो क्या हुआ, हैं तो एक ही खून। कोई तिरछी आँख से देखे, तो आँख निकाल लें।

पुन्नी चण्डी बनी हुई थी। गला फाड़कर बोली—तूने मुझे धक्का देकर गिरा नहीं दिया ? खा जा अपने बेटे की कसम !

हीरा को ख़बर मिली की चौधरी और पुनिया में लड़ाई हो रही है। चौधरी ने पुनिया को धक्का दिया। पुनिया ने तल्लियों से पीटा। उसने पुर वहीं छोड़ा और

औंगी लिये घटना-स्थल की ओर चला। गाँव में अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध था। छोटा डील, गठा हुआ शरीर, आँखें क्रोधी की तरह निकल आयी थीं और गर्दन की नसें तन गयी थीं; मगर उसे चौधरी पर क्रोध न था, क्रोध था पुनिया पर। वह क्यों चौधरी से लड़ी ? क्यों उसकी इज्ज़त मिट्टी में मिला दी ? बँसोर से लड़ने-झगड़ने का उसे क्या प्रयोजन था ? उसे जाकर हीरा से समाचार कह देना चाहिए था। हीरा जैसा उचित समझता, करता। वह उससे लड़ने क्यों गयी ? उसका बस होता, तो वह पुनिया को पर्दे में रखता। पुनिया किसी बड़े से मुँह खोलकर बातें करे, यह उसे असह्य था। वह खुद जितना उद्दंड था, पुनिया को उतना ही शान्त रखना चाहता था। जब भैया ने पन्द्रह रुपये में सौदा कर लिया, तो यह बीच में कूदने वाली कौन !

आते ही उसने पुन्नी का हाथ पकड़ लिया और घसीटता हुआ अलग ले जाकर लगा लातें जमाने–हरामजादी, तू हमारी नाक कटाने पर लगी हुई है ! तू छोटे-छोटे आदमियों से लड़ती फिरती है, किसकी पगड़ी नीची होती है ! (एक लात और जमाकर) हम तो वहाँ कलेऊ की बाट देख रहे हैं, तू यहाँ लड़ाई ठाने बैठी है। इतनी बेशर्मी ! आँख का पानी ऐसा गिर गया ! खोदकर गाड़ दूँगा।

पुन्नी हाय-हाय करती जाती थी और कोसती जाती थी–'तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैज़ा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जायँ, तुझे इन्फ्लुएंजा हो जाय। भगवान् करे, तू कोढ़ी हो जाय। हाथ-पाँव कट-कट गिरे।

और गालियाँ तो हीरा खड़ा-खड़ा सुनता रहा, लेकिन यह पिछली गाली उसे लग गयी ! हैजा, मारी आदि में विशेष कष्ट न था। इधर बीमार पड़े, उधर विदा हो गये, लेकिन कोढ़ ! यह घिनौनी मौत, और उससे भी घिनौना जीवन। वह तिलमिला उठा, दाँत पीसता हुआ पुनिया पर झपटा और झोटे पकड़कर फिर उसका सिर जमीन पर रगड़ता हुआ बोला–हाथ-पाँव कटकर गिर जायेंगे, तो मैं तुझे लेकर चाटूँगा ! तू ही मेरे बाल-बच्चों को पालेगी ? ऐं ! तू ही इतनी बड़ी गिरस्ती चलाएगी ? तू तो दूसरा भंतार करके किनारे खड़ी हो जायेगी।

चौधरी को पुनिया की इस दुर्गति पर दया आ गयी। हीरा को उदारतापूर्वक समझाने लगा–हीरा महतो, अब जाने दो, बहुत हुआ। क्या हुआ, बहू ने मुझे मारा। मैं तो छोटा नहीं हो गया। धन्य भाग कि भगवान् ने यह दिन तो दिखाया।

हीरा ने चौधरी को डाँटा–तुम चुप रहो चौधरी, नहीं मेरे क्रोध में पड़ जाओगे तो बुरा होगा। औरत जात इसी तरह बकती है। आज को तुमसे लड़ गयी कल को दूसरों से लड़ जायेगी तुम तो भले मानस हो, हँसकर टाल गए, दूसरा तो बरदास न करेगा। कहीं उसने भी हाथ छोड़ दिया तो कितनी आबरू रह जायेगी, बताओ।

इस ख़याल ने उसके क्रोध को फिर भड़काया। लपका था कि होरी ने दौड़कर पकड़ लिया और उसे पीछे हटाते हुए बोला–अरे, हो तो गया। देख तो लिया दुनिया ने कि बहादुर हो। अब क्या उसे पीसकर पी जाओगे ?

हीरा अब भी बड़े भाई का अदब करता था। सीधे-साधे न लड़ता था। चाहता तो एक झटके में अपना हाथ छुड़ा लेता; लेकिन इतनी बेअदबी न कर सका। चौधरी की ओर देखकर बोला—अब खड़े क्या ताकते हो ? जाकर अपने बाँस काटो। मैंने सही कर दिया। पन्द्रह रुपये सैकड़े में तय है।

कहाँ तो पुन्नी रो रही थी। कहाँ झमककर उठी और अपना सिर पीटकर बोली—लगा दे घर में आग !

उसने कलेऊ की टोकरी वहीं छोड़ दी और घर की ओर चली। हीरा गरजा—वहाँ कहाँ जाती है, चल कुएँ पर, नहीं खून पी जाऊँगा।

पुनिया के पाँव रुक गये। इस नाटा का दूसरा अंक न खेलना चाहती थी। चुपके से टोकरी उठाकर रोती हुई कुएँ की ओर चली। हीरा भी पीछे-पीछे चला।

होरी ने कहा—अब फिर मार-धाड़ न करना इससे औरत बेशर्म हो जाती है।

धनिया ने द्वार पर आकर हाँक लगायी—तुम वहाँ खड़े-खड़े क्या तमाशा देख रहे हो ? कोई तुम्हारी सुनता भी है कि यों ही शिक्षा दे रहे हो। उस दिन इसी बहू ने तुम्हें घूँघट की आड़ में डाढ़ीजार कहा था, भूल गये ? बहुरिया होकर पराये मरदों से लड़ेगी, तो डाँटी न जायेगी।

होरी द्वार पर आकर नटखटपन के साथ बोला—और जो मैं इसी तरह तुझे मारूँ ?

"क्या कभी मारा नहीं है, जो मारने की साध बनी हुई है ?"

"इतनी बेदरदी से मारता, तो तू घर छोड़कर भाग जाती ! पुनिया बड़ी गमखोर है।"

"ओहो ! ऐसे ही तो बड़े दरदवाले हो। अभी तक मार का दाग़ बना हुआ है। हीरा मारता है तो दुलारता भी है। तुमने खाली मारना सीखा, दुलार करना सीखा ही नहीं। मैं ही ऐसी हूँ कि तुम्हारे साथ निबाह हुआ।"

"अच्छा रहने दे, बहुत अपना बखान न कर ! तू ही रूठ-रूठकर नैहर भागती थी। जब महीनों खुशामद करता था, तब जाकर आती थी।"

"जब अपनी गरज सताती थी, तब मनाने जाते थे लाला ! मेरे दुलार से नहीं जाते थे।"

"इसीसे तो मैं सबसे तेरा बखान करता हूँ।"

वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा

बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता।

धनिया ने आँखों में रस भरकर कहा–चलो-चलो, बड़े बखान करनेवाले ! जरा-सा कोई काम बिगड़ जाय, तो गरदन पर सवार हो जाते हो।

होरी मे मीठे उलाहने के साथ कहा–ले, अब यही तेरी बेइन्साफी मुझे अच्छी नहीं लगती धनिया ! भोला ने पूछा मैंने उनसे तेरे बारे में क्या कहा था ?

धनिया ने बात बदलकर कहा–देखो, गोबर गाय लेकर आता है कि खाली हाथ।

चौधरी ने पसीने में लथ-पथ आकर कहा–महतो, चलकर बाँस गिन लो। कल ठेला लाकर उठा ले जाऊँगा।

होरी ने बाँस गिनने की ज़रूरत न समझी। चौधरी ऐसा आदमी नहीं है। फिर एकाध बाँस बेसी काट ही लेगा, तो क्या। रोज ही तो मँगनी बाँस कटते रहते हैं। सहालगों में तो मण्डप बनाने के लिए लोग दरजनों बाँस काट ले जाते हैं।

चौधरी ने साढ़े सात रुपये निकालकर उसके हाथ में रख दिये। होरी ने गिनकर कहा–और निकालो। हिसाब से ढाई और होते हैं।

चौधरी ने बेमुरौवती से कहा–पन्द्रह रुपये में तय हुए हैं कि नहीं ?

"हीरा महतो ने तुम्हारे सामने पन्द्रह रुपये कहे थे। कहो तो बुला लाऊँ ?"

"तय तो बीस रुपये में ही हुए थे चौधरी ! अब तुम्हारी जीत है, जो चाहो कहो। ढाई रुपये निकलते हैं, तुम दो ही दे दो।"

मगर चौधरी कच्ची गोलियाँ न खेला था। अब उसे किसका डर ? होरी के मुँह में तो ताला पड़ा हुआ था। क्या कहे, माथा ठोंककर रह गया। बस इतना बोला–यह अच्छी बात नहीं है, चौधरी, दो रुपये दबाकर राजा न हो जाओगे।

चौधरी तीक्ष्ण स्वर में बोला– और तुम क्या भाइयों के थोड़े-से पैसे दबाकर राजा हो जाओगे ? ढाई रुपये पर अपना ईमान बिगाड़ रहे थे, उस पर मुझे उपदेश देते हो। अभी परदा खोल दूँ, तो सिर नीचा हो जाय।

होरी पर जैसे सैंकड़ों जूते पड़ गये हों। चौधरी तो रुपये सामने ज़मीन पर रखकर चला गया; पर वह नीम के नीचे बैठा बड़ी देर तक पछताता रहा। वह कितना लोभी और स्वार्थी है, इसका उसे आज पता चला। चौधरी ने ढाई रुपये दे दिये होते, तो वह खुशी से कितना फूल उठता। अपनी चालाकी को सराहता कि बैठे-बैठे ढाई रुपये मिल गये। ठोकर खाकर ही तो हम सावधानी के साथ पग उठाते हैं।

धनिया अन्दर चली गयी थी। बाहर आयी तो रुपये जमीन पर पड़े देखे, गिनकर बोली–और रुपये क्या हुए, दस न चाहिए ?

होरी ने लम्बा मुँह बनाकर कहा–हीरा ने पन्द्रह रुपये में दे दिये, तो मैं क्या करता।

"हीरा पाँच रुपये में दे दे। हम नहीं देते इन दामों।"

"वहाँ मार-पीट हो रही थी। मैं बीच में क्या बोलता ?"

होरी ने अपनी पराजय अपने मन में ही डाल ली जैसे कोई चोरी से आम तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़े और गिर पड़ने पर धूल झाड़ता हुआ उठ खड़ा हो कि कोई देख न ले। जीतकर आप अपनी धोखेबाजियों की डींग मार सकते हैं; जीत में सब-कुछ साफ़ है। हार की लज्जा तो पी जाने की ही वस्तु है।

धनिया पति को फटकारने लगी। ऐसे अवसर उसे बहुत कम मिलते थे। होरी उससे चतुर था; पर आज बाज़ी धनिया के हाथ थी। हाथ मटकाकर बोली– क्यों न हो, भाई ने पन्द्रह रुपये कह दिए, तो तुम कैसे टोकते ? अरे, राम-राम ! लाड़ले भाई का दिल छोटा हो जाता कि नहीं। फिर जब इतना बड़ा अनर्थ हो रहा था कि लाड़ली बहू के गले पर छुरी चल रही थी, तो भला तुम कैसे बोलते ? उस बखत कोई तुम्हारा सरबस लूट लेता, तो भी तुम्हें सुध न होती।

होरी चुपचाप सुनता रहा। मिनका तक नहीं। झुँझलाहट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पिसे ; लेकिन बोला नहीं। चुपके-से कुदाल उठायी और ऊख गोड़ने चला।

धनिया ने कुदाल छीनकर कहा–क्या अभी सबेरा है जो ऊख गोड़ने चले ? सूरज देवता माथे पर आ गये। नहाने-धोने जाव। रोटी तैयार है।

होरी ने घुन्नाकर कहा–मुझे भूख नहीं है।

धनिया ने जले पर नोन छिड़का–हाँ, काहे को भूख लगेगी ! भाई ने बड़े-बड़े लड्डू खिला दिये हैं न ! भगवान् ऐसे सपूत भाई सबको दे।

होरी बिगड़ा।

क्रोध अब रस्सियाँ तुड़ा रहा था–तू आज मार खाने पर लगी हुई है !

धनिया ने नक़ली विनय का नाटक करके कहा–क्या करूँ, तुम दुलार ही इतना करते हो कि मेरा सिर फिर गया है।

"तू घर में रहने देगी कि नहीं ?"

"घर तुम्हारा, मालिक तुम, मैं भला कौन होती हूँ तुम्हें घर से निकालने वाली ?"

होरी आज धनिया से किसी तरह पेश नहीं पा सकता। उसकी अक्ल जैसे कुन्दा हो गयी है। इन व्यंग्य-बाणों के रोकने के लिए उसके पास कोई ढाल नहीं है। धीरे से कुदाल रख दी और गमछा लेकर नहाने चला गया। लौटा कोई आध घण्टे में; मगर गोबर अभी तक न आया था। अकेले कैसे भोजन करे। लौंडा वहाँ जाकर सो रहा। भोला की वह मदमाती छोकरी है न झुनिया। उसके साथ हँसी-दिल्लगी कर रहा होगा। कल भी तो उसके पीछे लगा हुआ था। नहीं गाय दी, तो लौट क्यों नहीं आया। क्या वहाँ ढई देगा ?

धनिया ने कहा–अब खड़े क्या हो ? गोबर साँझ को आयेगा।

होरी ने और कुछ न कहा। कहीं धनिया फिर न कुछ कह बैठे।

भोजन करके नीम की छाँ में लेट रहा।

रूपा रोती हुई आयी नंगे बदन एक लँगोटी लगाए, झबरे बाल इधर-उधर बिखरे हुए। होरी की छाती पर लोट गयी। उसकी बड़ी बहन सोना कहती है—गाय आयेगी, तो उसका गोबर मैं पाथूँगी। रूपा यह नहीं बरदाश्त कर सकती। सोना ऐसी कहाँ की बड़ी रानी है कि सारा गोबर आप पाथ डाले। रूपा उससे किस बात में कम है ? सोना रोटी पकाती है, तो क्या रूपा बरतन नहीं माँजती ? सोना पानी लाती है, तो क्या रूपा कुएँ पर रस्सी नहीं ले जाती ? सोना तो कलसा भरकर इठलाती चली आती है, रस्सी लपेटकर रूपा लाती है। गोबर दोनों साथ पाथती हैं। सोना खेत गोड़ने जाती है। तो क्या रूपा बकरी चराने नहीं जाती ? फिर सोना क्यों अकेली गोबर पाथेगी ? यह अन्याय रूपा कैसे सहे ?

होरी ने उसके भोलेपन पर मुग्ध होकर कहा—नहीं, गाय का गोबर तू पाथना ! सोना गाय के पास आये तो भगा देना।

रूपा ने पिता के गले में हाथ डालकर कहा—दूध भी मैं ही दुहूँगी।

"हाँ-हाँ, तू न दुहेगी तो और कौन दुहेगा ?"

"वह मेरी गाय होगी।"

"हाँ, सोलहों आने तेरी।"

रूपा प्रसन्न होकर अपनी विजय का शुभ समाचार पराजिता सोना को सुनाने चली गयी। गाय मेरी होगी, उसका दूध मैं दुहूँगी, उसका गोबर मैं पाथूँगी, तुझे कुछ न मिलेगा।

सोना उम्र से किशोरी, दहके गठन में युवती और बुद्धि से बालिका थी, जैसे उसका यौवन उसे आगे खींचता था, बालपन पीछे। कुछ बातों में इतनी चतुर कि ग्रेजुएट युवतियों को पढ़ाए, कुछ बातों में इतनी अल्हड़ कि शिशुओं से भी पीछे। लम्बा, रूखा, किन्तु प्रसन्न मुख, ठोड़ी नीचे को खिंची हुई, आँखों में एक प्रकार की तृप्ति, न केशों में तेल, न आँखों में काजल, न देह पर कोई आभूषण, जैसे गृहस्थ के भार ने यौवन को दबाकर बौना कर दिया हो।

सिर को एक झटका देकर बोली—जा, तू गोबर पाथ। जब तू दूध दुहकर रखेगी तो मैं पी जाऊँगी।

"मैं दूध की हाँडी ताले में बन्द करके रखूँगी।"

"मैं ताला तोड़कर दूध निकाल लाऊँगी।"

यह कहती हुई वह बाग़ की तरफ़ चल दी। आम गदरा गये थे। हवा के झोंकों से एकाध जमीन पर गिर पड़ते थे, लू के मारे चुचके, पीले; लेकिन बाल-बृन्द उन्हें टपके समझकर बाग को घेरे रहते थे। रूपा भी बहन के पीछे हो ली। जो काम सोना करे, वह रूपा ज़रूर करेगी। सोना के विवाह की बातचीत हो रही थी, रूपा के विवाह की कोई चर्चा नहीं करता; इसलिए वह स्वयं अपने विवाह के लिए आग्रह करती है। उसका दूल्हा कैसा होगा, क्या-क्या लाएगा, उसे कैसे रखेगा, उसे क्या खिलाएगा, क्या पहनाएगा, इसका वह बड़ा विशद वर्णन करती, जिसे सुनकर

कदाचित् कोई बालक उससे विवाह करने पर राजी न होता।

सॉंझ हो रही थी। होरी ऐसा अलसाया कि ऊख गोड़ने न जा सका। बैलों को नाँद में लगाया, सानी-खली दी और एक चिलम भरकर पीने लगा। इस फ़सल में सब कुछ खलिहान में तौल देने पर भी अभी उस पर कोई तीन सौ कर्ज था, जिस पर कोई सौ रुपये सूद के बढ़ते जाते थे। मँगरू साह से आज पाँच साल हुए, बैल के लिए साठ रुपये लिये थे, उसमें साठ दे चुका था; पर वह साठ रुपये ज्यों-के-त्यों बने हुए थे। दातादीन पण्डित से तीस रुपये लेकर आलू बोए थे। आलू तो चोर खोद ले गये, और उस तीस के इन तीन बरसों में सौ हो गये थे। दुलारी विधवा सहुआइन थी, जो गाँव में नोन, तेल, तमाखू की दूकान रखे हुए थी। बटवारे के समय उससे चालीस रुपये का ब्याज था। लगान के भी अभी पच्चीस रुपये बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शगुन के रुपयों का भी कोई प्रबन्ध करना था। बाँसों के रुपये बड़े अच्छे समय पर मिल गये। शगुन की समस्या हल हो जायेगी; लेकिन कौन जाने ! यहाँ तो एक धेला भी हाथ में आ जाय, तो गाँव में शोर मच जाता है, और लेनदार चारों तरफ़ से नोचने लगते हैं। ये पाँच रुपये तो वह शगुन में देगा, चाहे कुछ हो जाय; मगर अभी ज़िन्दगी के दो बड़े-बड़े काम सिर पर सवार थे। गोबर और सोना का विवाह। बहुत हाथ बाँधने पर भी तीन सौ से कम ख़र्च न होंगे। ये तीन सौ किसके घर से आयेंगे ? कितना चाहता है कि किसी से एक पैसा कर्ज न ले; जिसका आता है, उसका पाई-पाई चुका दे; लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता। इसी तरह सूद बढ़ता जायेगा और एक दिन उसका घर-द्वार सब नीलाम हो जायेगा, उसके बाल-बच्चे निराश्रय होकर भीख माँगते फिरेंगे। होरी जब काम-धन्धे से छुट्टी पाकर चिलम पीने लगता था, तो यह चिन्ता एक काली दीवार की भाँति चारों ओर से घेर लेती थी, जिसमें से निकलने की उसे कोई गली न सूझती थी। अगर सन्तोष था तो यही कि यह विपत्ति अकेले उसी के सिर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा तो इससे भी बदतर थी। शोभा और हीरा को उससे अलग हुए अभी तीन साल हुए थे; मगर दोनों पर चार-चार सौ का बोझ लद गया। झींगुर दो हल की खेती करता है। उस पर एक हज़ार से कुछ बेसी ही देना है। जियावन महतो के घर, भिखारी भीख भी नहीं पाता; लेकिन करजे का कोई ठिकाना नहीं। यहाँ कौन बचा है ?

सहसा सोना और रूपा दोनों दौड़ी हुई आयीं और एक साथ बोलीं—भैया गाय ला रहे हैं। आगे-आगे गाय पीछे-पीछे भैया हैं।

रूपा ने पहले गोबर को आते देखा था। यह ख़बर सुनाने की सुर्खरूई उसे मिलनी चाहिए थी। सोना बराबर की हिस्सेदार हुई जाती है, यह उससे कैसे सहा जाता ?

उसने आगे बढ़कर कहा—पहले मैंने देखा था। तभी दौड़ी। बहन ने तो पीछे से देखा।

सोना इस दावे को स्वीकार न कर सकी। बोली–तूने भैया को कहाँ पहचाना ? तू तो कहती थी, कोई गाय भागी आ रही है। मैंने ही कहा, भैया हैं।

दोनों फिर बाग़ की तरफ़ दौड़ीं, गाय का स्वागत करने के लिए।

धनिया और होरी दोनों गाय बाँधने का प्रबन्ध करने लगे। होरी बोला–चलो जल्दी से नाँद गाड़ दें।

धनिया के मुख पर जवानी चमक उठी थी– नहीं, पहले थाली में थोड़ा-सा आटा और गुड़ घोलकर रख दें। बेचारी धूप में चली होगी। प्यासी होगी। तुम जाकर नाँद गाड़ो, मैं घोलती हूँ।

"कहीं एक घंटी पड़ी थी। उसे ढूँढ़ ले। उसके गले में बाँधेंगे।"

"सोना कहाँ गयी ? सहुआइन की दुकान से थोड़ा-सा काला डोरा मँगवा लो, गाय को नज़र बहुत लगती है।"

"आज मेरे मन की बड़ी भारी लालसा पूरी हो गयी।"

धनिया अपने हार्दिक उल्लास को दबाए रखना चाहती थी। इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई नयी बाधा न लाए, यह शंका उसके निराश हृदय में कम्पन डाल रही थी। आकाश की ओर देखकर बोली–गाय के आने का आनन्द तो जब है कि उसका पौरा भी अच्छा हो। भगवान् के मन की बात है।

मानो वह भगवान् को भी धोखा देना चाहती थी। भगवान् को भी दिखाना चाहती थी कि इस गाय के आने से इतना आनन्द नहीं हुआ कि ईर्ष्यालु भगवान् सुख का पलड़ा ऊँचा करने के लिए कोई नयी विपत्ति भेज दें।

वह अभी आटा घोल ही रही थी कि गोबर गाय को लिये बालकों के एक जुलूस के साथ द्वार पर पहुँचा। होरी दौड़कर गाय के गले से लिपट गया। धनिया ने आटा छोड़ दिया और जल्दी से एक पुरानी साड़ी का काला किनारा फाड़कर गाय के गले में बाँध दिया।

होरी श्रद्धा-विह्वल नेत्रों से गाय को देख रहा था, मानो साक्षात् देवीजी ने घर में पदार्पण किया हो। आज भगवान् ने यह दिन दिखाया कि उसका घर गऊ के चरणों से पवित्र हो गया। यह सौभाग्य ! न जाने किसके पुण्य-प्रताप से !

धनिया ने भयातुर होकर कहा–खड़े क्या हो, आँगन में नाँद गाड़ दो।

"आँगन में, जगह कहाँ है ?"

"बहुत जगह है।"

"मैं तो बाहर ही गाड़ता हूँ।"

'पागल न बनो। गाँव का हाल जानकर भी अनजान बनते हो।'

"अरे बित्ते भर के आँगन में गाय कहाँ बँधेगी भाई ?"

"जो बात नहीं जानते, उसमें टाँग मत अड़ाया करो। संसार-भर की विद्या तुम्हीं नहीं पढ़े हो।"

होरी सचमुच आपे में न था। गऊ उसके लिए केवल भक्ति और श्रद्धा की

वस्तु नहीं, सजीव सम्पत्ति भी थी। वह उससे अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था। वह चाहता था, लोग गाय को द्वार पर बँधे देखकर पूछें–यह किसका घर है ? लोग कहें–होरी महतो का। तभी लड़कीवाले भी उसकी विभूति से प्रभावित होंगे। आँगन में बँधी, तो कौन देखेगा ? धनिया इसके विपरीत सशंक थी। वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपाकर रखना चाहती थी। अगर गाय आठों पहर कोठरी में रह सकती, तो शायद वह उसे बाहर न निकालने देती। यों हर बात में होरी की जीत होती थी। वह अपने पक्ष पर अड़ जाता था और धनिया को दबना पड़ता था, लेकिन आज धनिया के सामने होरी की एक न चली। धनिया लड़ने पर तैयार हो गयी। गोबर, सोना और रूपा, सारा घर होरी के पक्ष में था; पर धनिया ने अकेले सबको परास्त कर दिया। आज उसमें एक विचित्र आत्मविश्वास और होरी में एक विचित्र विनय का उदय हो गया था।

मगर तमाशा कैसे रुक सकता था ? गाय डोली में बैठकर तो आयी न थी। कैसे सम्भव था कि गाँव में इतनी बड़ी बात हो जाय और तमाशा न लगे। जिसने सुना, सब काम छोड़कर देखने दौड़ा। यह मामूली देशी गऊ नहीं है। भोला के घर से अस्सी रुपये में आयी है। होरी अस्सी रुपये क्या देंगे, पचास-साठ रुपये में लाये होंगे। गाँव के इतिहास में पचास-साठ रुपये की गाय का आना भी अभूतपूर्व बात थी। बैल तो पचास रुपये के भी आये, सौ के भी आये, लेकिन गाय के लिए इतनी बड़ी रक़म किसान क्या खा के ख़र्च करेगा ? यह तो ग्वालों ही का कलेजा है कि अंजुलियों रुपये गिन आते हैं। गाय क्या है, साक्षात् देवी का रूप है। दर्शकों, आलोचकों का तांता लगा हुआ था, और होरी दौड़-दौड़ कर सबका सत्कार कर रहा था। इतना विनय, इतना प्रसन्नचित्त वह कभी न था।

सत्तर साल के बूढ़े पंडित दातादीन लठिया टेकते हुए आये और पोपले मुँह से बोले–कहाँ हो होरी, तनिक हम भी तुम्हारी गाय देख लें। सुना, बड़ी सुन्दर है।

होरी ने दौड़कर पालागन किया और मन में अभिमानमय उल्लास का आनन्द उठाता हुआ, बड़े सम्मान से आँगन में ले गया। महाराज ने गऊ को अपनी पुरानी अनुभवी आँखों से देखा, सींगें देखीं, थन देखा, पुट्ठा देखा और घनी सफेद भौंहों के नीचे छिपी हुई आँखों में जवानी की उमंग भरकर बोले–कोई दोष नहीं है बेटा, बाल-भौंरी, सब ठीक। भगवान् चाहेंगे, तो तुम्हारे भाग खुल जायेंगे, ऐसे अच्छे लच्छन हैं कि वाह ! रातिब न कम होने पाये। एक-एक बाछा सौ-सौ का होगा।

होरी ने आनन्द के सागर में डुबकियाँ खाते हुए कहा– सब आपका असीरवाद है दादा !

दातादीन ने सुरती की पीक थूकते हुए कहा–मेरा असीरवाद नहीं बेटा। भगवान् की दया है। यह सब प्रभु की दया है। रुपये नगद दिये ?

होरी ने बे-पर की उड़ाई। अपने महाजन के सामने भी अपने समृद्धि-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कैसे छोड़े। टके की नई टोपी सिर पर रखकर जब हम

अकड़ने लगते हैं, ज़रा देर के लिए किसी सवारी पर बैठकर जब हम आकाश में उड़ने लगते हैं, तो इतनी बड़ी विभूति पाकर क्यों न उसका दिमाग आसमान पर चढ़े ? बोला–भोला ऐसा भलामानस नहीं है महाराज ! नगद गिनाए, पूरे चौकस।

अपने महाजन के सामने यह डींग मारकर होरी ने नादानी तो की थी; पर दातादीन के मुख पर असन्तोष का कोई चिह्न न दिखाई दिया। इस कथन में कितना सत्य है, उनकी उन बुझी आँखों से छिपा न रह सका, जिनमें ज्योति की जगह अनुभव छिपा' बैठा था।

प्रसन्न होकर बोले–कोई हरज नहीं बेटा, कोई हरज नहीं। भगवान् सब कल्याण करेंगे। पाँच सेर दूध है इसमें बच्चे के लिए छोड़कर।

धनिया ने तुरन्त टोका– अरे नहीं महाराज, इतना दूध कहाँ। बुढ़िया तो हो गयी है। फिर यहाँ रातिब कहाँ धरा है।

दातादीन ने मर्म-भरी आँखों से देखकर उसकी सतर्कता को स्वीकार किया, मानो कह रहे हों, गृहिणी का यह धर्म है, सीटना मरदों का काम है, सीटने दो। फिर रहस्य-भरे स्वर में बोले–बाहर न बाँधना, इतना कहे देते हैं।

धनिया ने पति की ओर विजयी आँखों से देखा, मानो कह रही हो–लो, अब तो मानोगे।

दातादीन से बोली–नहीं महाराज, बाहर क्या बाँधेंगे, भगवान् दें तो इसी आँगन में तीन गायें और बँध सकती हैं।

सारा गाँव गाय देखने आया। नहीं आये तो सोभा और हीरा, जो अपने सगे भाई थे। होरी के हृदय में भाइयों के लिए अब भी कोमल स्थान था। वह दोनों आकर देख लेते और प्रसन्न हो जाते तो उसकी मनोकामना पूरी हो जाती। साँझ हो गयी। दोनों पुर लेकर लौट आये। इसी द्वार से निकले, पर पूछा कुछ नहीं।

होरी ने डरते-डरते धनिया से कहा–न सोभा आया, न हीरा। सुना न होगा ?

धनिया बोली–तो यहाँ कौन उन्हें बुलाने जाता है।

"तू बात तो समझती नहीं। लड़ने के लिए तैयार रहती है। भगवान् ने जब यह दिन दिखाया है, तो हमें सिर झुकाकर चलना चाहिए। आदमी को अपने सगों के मुँह से अपनी भलाई-बुराई सुनने की जितनी लालसा होती है, बाहरवालों के मुँह से नहीं। फिर अपने भाई लाख बुरे हों, हैं तो अपने भाई ही। अपने हिस्से-बखरे के लिए सभी लड़ते हैं, पर इससे खून थोड़े ही बँट जाता है। दोनों को बुलाकर दिखा देना चाहिए, नहीं कहेंगे गाय लाये, हमसे कहा तक नहीं।"

धनिया ने नाक सिकोड़कर कहा–मैंने तुमसे सौ बार, हजार बार कह दिया, मेरे मुँह पर भाइयों का बखान न किया करो, उनका नाम सुनकर मेरी देह में आग लग जाती है। सारे गाँव ने सुना, क्या उन्होंने नहीं सुना होगा ? कुछ इतनी दूर भी तो नहीं रहते। सारा गाँव देखने आया, उन्हीं के पाँवों में मेहँदी लगी हुई थी; मगर

आएँ कैसे ? ज़लन हो रही होगी कि इसके घर गाय आ गयी। छाती फटी जाती होगी।

दीया-बत्ती का समय आ गया था। धनिया ने जाकर देखा, तो बोतल में मिट्टी का तेल न था। बोतल उठाकर तेल लाने चली गयी। पैसे होते तो रूपा को भेजती, उधार लाना था, कुछ मुँह देखी कहेगी ; कुछ लल्लो-चप्पो करेगी, तभी तो तेल उधार मिलेगा।

होरी ने रूपा को बुलाकर प्यार से गोद में बैठाया और कहा–जरा जाकर देख, हीरा काका आ गये कि नहीं। सोभा काका को भी देखती आना। कहना, दादा ने तुम्हें बुलाया है। न आये, हाथ पकड़कर खींच लाना।

रूपा ठुनककर बोली– छोटी काकी मुझे डाँटती है।

"काकी के पास क्या करने जायेगी ! फिर सोभा-बहू तो तुझे प्यार करती है ?"

"सोभा काका मुझे चिढ़ाते हैं... मैं न कहूँगी।"

"क्या कहते हैं, बता ?"

"चिढ़ाते हैं।"

"क्या कहकर चिढ़ाते हैं ?"

"कहते हैं, तेरे लिए मूस पकड़ रखा है। ले जा, भूनकर खा ले।"

होरी के अन्तस्तल में गुदगुदी हुई।

"तू कहती नहीं, पहले तुम खा लो, तो मैं खाऊँगी।"

"अम्माँ मने करती हैं। कहती हैं, उन लोगों के घर न जाया करो।"

"तू अम्माँ की बेटी है कि दादा की ?"

रूपा ने उसके गले में हाथ डालकर कहा–अम्माँ की, और हँसने लगी।

"तो फिर मेरी गोद से उतर जा। आज मैं तुझे अपनी थाली में न खिलाऊँगा।"

घर में एक ही फूल की थाली थी। होरी उसी थाली में खाता था। थाली में खाने का गौरव पाने के लिए रूपा होरी के साथ खाती थी। इस गौरव का परित्याग कैसे करे ? हुमककर बोली–अच्छा, तुम्हारी।

"तो फिर मेरा कहना मानेगी कि अम्माँ का ?"

"तुम्हारा।"

"तो जाकर हीरा और सोभा को खींच ला।"

"और जो अम्माँ बिगड़े ?"

"अम्माँ से कहने कौन जायेगा !"

रूपा कूदती हुई हीरा के घर चली। द्वेष का माया जाल बड़ी-बड़ी मछलियों को ही फँसाता है। छोटी मछलियाँ या तो उसमें फँसती ही नहीं या तुरन्त निकल जाती हैं। उनके लिए वह घातक जल क्रीड़ा की वस्तु है, भय की नहीं। भाइयों से होरी की बोलचाल बन्द थी; पर रूपा दोनों घरों में आती जाती थी। बच्चों से

क्या बैर !

लेकिन रूपा घर से निकली थी कि धनिया तेल लिये मिल गयी। उसने पूछा–साँझ की बेला कहाँ जाती है, चल घर।

लेकिन रूपा माँ को प्रसन्न करने के प्रलोभन को न रोक सकी।

धनिया ने डाँटा–चल घर, किसी को बुलाने नहीं जाना है।

रूपा का हाथ पकड़े हुए वह घर आयी और होरी से बोली–मैंने तुमसे हज़ार बार कह दिया, मेरे लड़कों को किसी के घर न भेजा करो। किसी ने कुछ कर-करा दिया, तो मैं तुम्हें लेकर चाटूँगी ? ऐसा ही बड़ा परेम है, तो आप क्यों नहीं जाते ? अभी पेट नहीं भरा जान पड़ता है।

होरी नाँद जमा रहा था। हाथों में मिट्टी लपेटे हुए अज्ञान का अभिमान करके बोला– किस बात पर बिगड़ती है भाई ? यह तो अच्छा नहीं लगता कि अन्धे कूकर की तरह हवा को भूँका करे।

धनिया को कुप्पी में तेल डालना था, इस समय झगड़ा न बढ़ाना चाहती थी। रूपा भी लड़कों में जा मिली।

पहर रात से ज़्यादा जा चुकी थी। नाँद गड़ चुकी थी। सानी और खली डाल दी गयी थी। गाय मनमारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आयी हो। नाँद में मुँह तक न डालती थी। होरी और गोबर खाकर आधी-आधी रोटियाँ उसके लिए लाये, पर उसने सूँघा तक नहीं। मगर यह कोई नयी बात न थी। जानवरों को भी बहुधा घर छूट जाने का दुःख होता है।

होरी बाहर खाट पर बैठकर चिलम पीने लगा, तो फिर भाइयों की याद आयी। नहीं, आज इस शुभ अवसर पर वह भाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसका हृदय यह विभूति पाकर विशाल हो गया था। भाइयों से अलग हो गया है, तो क्या हुआ। उनका दुश्मन तो नहीं है। यही गाय तीन साल पहले आयी होती, तो सभी का उस पर बराबर अधिकार होता। और कल को यही गाय दूध देने लगेगी, तो क्या वह भाइयों के घर दूध न भेजेगा या दही न भेजेगा ? ऐसा तो उसका धरम नहीं है। भाई उसका बुरा चेतें, वह क्यों उनका बुरा चेते ? अपनी-अपनी करनी तो अपने-अपने साथ है।

उसने नारियल खाट के पाये से लगाकर रख दिया और हीरा के घर की ओर चला। सोभा का घर भी उधर ही था। दोनों अपने-अपने द्वार पर लेटे हुए थे। काफी अँधेरा था। होरी पर उनमें से किसी की निगाह नहीं पड़ी। दोनों में कुछ बातें हो रही थीं। होरी ठिठक गया और उनकी बातें सुनने लगा। ऐसा आदमी कहाँ है, जो अपनी चर्चा सुनकर टाल जाय ?

हीरा ने कहा–जब तक एक में थे, एक बकरी भी नहीं ली। अब पछाँई गाय ली जाती है भाई का हक मारकर किसी को फलते-फूलते नहीं देखा।

सोभा बोला–यह तुम अन्याय कर रहे हो हीरा ! भैया ने एक-एक पैसे का

हिसाब दे दिया था। यह मैं कभी न मानूँगा कि उन्होंने पहले की कमाई छिपा रखी थी।

"तुम मानो चाहे न मानो, है यह पहले की कमाई।"

"किसी पर झूठा इल्ज़ाम न लगाना चाहिए।"

"अच्छा, तो यह रुपये कहाँ से आ गये ? कहाँ से हुन बरस पड़ा ? उतने ही खेत तो हमारे पास भी हैं। उतनी ही उपज हमारी भी है। फिर क्यों हमारे पास कफन को कौड़ी नहीं और उनके घर नयी गाय आती है ?"

"उधार लाये होंगे।"

"भोला उधार देनेवाला आदमी नहीं है।"

"कुछ भी हो, गाय है बड़ी सुन्दर। गोबर लिये जाता था, तो मैंने रास्ते में देखा।"

बेईमानी का धन जैसे आता है, वैसे ही जाता है। भगवान् चाहेंगे, तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।

होरी से और न सुना गया। वह बीती बातों को बिसारकर अपने हृदय में स्नेह और सौहार्द्र-भरे भाइयों के पास आया था। इस आघात ने जैसे उसके हृदय में छेद कर दिया और वह रसभाव उसमें किसी तरह नहीं टिक रहा था। लत्ते और चिथड़े ठूँसकर अब उस प्रवाह को नहीं रोक सकता। जी में एक उबाल आया कि उसी क्षण इस आक्षेप का जवाब दे, लेकिन बात बढ़ जाने के भय से चुप रह गया। अगर उसकी नीयत साफ़ है तो कोई कुछ नहीं कर सकता। भगवान् के सामने वह निर्दोष है। दूसरों की उसे परवाह नहीं। उलटे पाँव लौट आया। और वह जला हुआ तम्बाकू पीने लगा। लेकिन जैसे वह विष प्रतिक्षण उसकी धमनियों में फैलता जाता था। उसने सो जाने का प्रयास किया, पर नींद न आयी। बैलों के पास जाकर उन्हें सहलाने लगा, विष शान्त न हुआ। दूसरी चिलम भरी; लेकिन उसमें भी कुछ रस न था। विष ने जैसे चेतना को आक्रान्त कर दिया हो। जैसे नशे में चेतना एकांगी हो जाती है, जैसे फैला हुआ पानी एक दिशा में बहकर वेगवान हो जाता है, वही मनोवृत्ति उसकी हो रही थी। उसी उन्माद की दशा में वह अन्दर गया। अभी द्वार खुला हुआ था। आँगन में एक किनारे चटाई पर लेटी हुई धनिया सोना से देह दबवा रही थी और रूपा जो रोज साँझ होते ही सो जाती थी, आज खड़ी गाय का मुँह सहला रही थी। होरी ने जाकर गाय को खूँटे से खोल दिया और द्वार की ओर ले चला। वह इसी वक़्त गाय को भोला के घर पहुँचाने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। इतना बड़ा कलंक सिर पर लेकर वह अब गाय को घर में नहीं रख सकता। किसी तरह नहीं।

धनिया ने पूछा—कहाँ लिये जाते हो रात को ?

होरी ने एक पग बढ़ाकर कहा—ले जाता हूँ भोला के घर। लौटा दूँगा।

धनिया को विस्मय हुआ, उठकर सामने आ गयी और बोली—लौटा क्यों

दोगे ? लौटाने के लिए ही लाये थे ?

"हाँ, इसके लौटा देने में ही कुशल है।"

"क्यों क्या बात है ? इतने अरमान से लाये और अब लौटाने जा रहे हो ? क्या भोला रुपये माँगते हैं ?"

"नहीं, भोला यहाँ कब आया ?"

"तो फिर क्या बात हुई ?"

"क्या करोगी पूछकर ?"

धनिया ने लपककर पगहिया उसके हाथ से छीन ली। उसकी चपल बुद्धि ने जैसे उड़ती हुई चिड़िया पकड़ ली। बोली–तुम्हें भाइयों का डर हो, तो जाकर उनके पैरों पर गिरो। मैं किसी से नहीं डरती। अगर हमारी बढ़ती देखकर किसी की छाती फटती है, तो फट जाय, मुझे परवाह नहीं है।

होरी ने विनीत स्वर में कहा–धीरे-धीरे बोल महरानी ! कोई सुने, तो कहे, ये सब इतनी रात गये लड़ रहे हैं ! मैं अपने कानों से क्या सुन आया हूँ, तू क्या जाने ! यहाँ चरचा हो रही है कि मैंने अलग होते समय रुपये दबा लिये थे और भाइयों को धोखा दिया था, यही रुपये अब निकल रहे हैं।

"हीरा कहता होगा ?"

"सारा गाँव कह रहा है ! हीरा को क्या बदनाम करूँ।"

"सारा गाँव नहीं कह रहा है, अकेला हीरा कह रहा है। मैं अभी जाकर पूछती हूँ न कि तुम्हारे बाप कितने रुपये छोड़कर मरे थे ? डाढ़ीजारों के पीछे हम बरबाद हो गये। सारी ज़िन्दगी मिट्टी में मिला दी, पाल-पोसकर संडा किया; और अब हम बेईमान हैं ! मैं कहे देती हूँ, अगर गाय घर के बाहर निकली तो अनर्थ हो जायेगा। रख लिये हमने रुपये, दबा लिये, बीच खेत दबा लिये। डंके की चोट कहती हूँ, मैंने हंडे भर असर्फियाँ छिपा लीं। हीरा और सोभा और संसार को जो करना हो, करे ले। क्यों न रुपये रख लें ? दो-दो संडों का ब्याह नहीं किया, गौना नहीं किया ?"

होरी सिटपिटा गया। धनिया ने उसके हाथ से पगहिया छीन ली, और गाय को खूँटे से बाँधकर द्वार की ओर चली। होरी ने उसे पकड़ना चाहा; पर वह बाहर जा चुकी थी। वहीं सिर थामकर बैठ गया। बाहर उसे पकड़ने की चेष्टा करके वह कोई नाटक नहीं दिखाना चाहता था। धनिया के क्रोध को खूब जानता था। बिगड़ती है, तो चण्डी हो जाती है। मारो, काटो, सुनेगी नहीं; लेकिन हीरा भी तो एक ही गुस्सेवर है। कहीं हाथ चला दे तो परलै ही हो जाय। नहीं, हीरा इतना मूरख नहीं है। मैंने कहाँ-से-कहाँ यह आग लगा दी ! उसे अपने आप पर क्रोध आने लगा। बात मन में रख लेता, तो क्या यह टंटा खड़ा होता। सहसा धनिया का कर्कश स्वर कान में आया। हीरा की गरज भी सुन पड़ी। फिर पुन्नी की पैनी पीक भी कानों में चुभी। सहसा उसे गोबर की याद आयी। बाहर लपककर उसकी खाट देखी।

गोवर वहाँ न था। गज़ब हो गया ! गोबर भी वहाँ पहुँच गया। अब कुशल नहीं। उसका नया खून है, न जाने क्या कर बैठे; अब होरी वहाँ कैसे जाय ? हीरा कहेगा, आप तो बोलते नहीं, जाकर इस डाइन को लड़ने के लिए भेज दिया। कोलाहल प्रतिक्षण प्रचण्ड होता जाता था। सारे गाँव में जाग पड़ गयी। मालूम होता था, कहीं आग लग गयी है। और लोग खाट से उठ-उठ बुझाने दौड़े जा रहे हैं।

इतनी देर तक तो वह जब्त किये बैठा रहा। फिर न रहा गया। धनिया पर क्रोध आया। वह क्यों चढ़कर लड़ने गयी ? अपने घर में आदमी न जाने किसको क्या कहता है। जब तक कोई मुँह पर बात न कहे, यही समझना चाहिए कि उसने कुछ नहीं कहा। होरी की कृषक प्रकृति झगड़े से भागती थी। चार बातें सुनकर गम खा जाना इससे कहीं अच्छा है कि आपस में तनाजा हो। कहीं मार-पीट हो जाय तो थाना-पुलिस हो, बँधे-बँधे फिरो, सबकी चिरौरी करो, अदालत की धूल फाँकों, खेती-बारी जहन्नुम में मिल जाय। उसका हीरा पर तो कोई बस न था; मगर धनिया को तो वह जबरदस्ती खींच ला सकता है। बहुत होगा, गालियाँ दे लेगी, एक-दो दिन रूठी रहेगी, थाना-पुलिस की नौबत तो न आयेगी। जाकर हीरा के द्वार पर सबसे दूर दीवार की आड़ में खड़ा हो गया। एक सेनापति की भाँति मैदान में आने के पहले परिस्थिति को अच्छी तरह समझ लेना चाहता था। अगर अपनी जीत हो रही है, तो बोलने की कोई ज़रूरत नहीं; हार हो रही है, तो तुरन्त कूद पड़ेगा। देखा तो वहाँ पचासों आदमी जमा हो गये हैं पण्डित दातादीन, लाला पटेश्वरी, दोनों ठाकुर, जो गाँव के करता-धरता थे, सभी पहुँचे हुए हैं। धनिया का पल्ला हलका हो रहा था। उसकी उग्रता जनमत को उसके विरुद्ध किये देती थी। वह रणनीति में कुशल न थी। क्रोध में ऐसी जली-कटी सुना रही थी कि लोगों की सहानुभूति उससे दूर होती जाती थी।

वह गरज रही थी–तू हमें देखकर क्यों जलता है ? हमें देखकर क्यों तेरी छाती फटती है ? पाल-पोसकर जवान कर दिया, यह उसका इनाम है ? हमने न पाला होता तो आज कहीं भीख माँगते होते। रूख की छाँह भी न मिलती।

होरी को ये शब्द ज़रूरत से ज़्यादा कठोर जान पड़े। भाइयों का पालना-पोसना तो उसका धर्म था। उनके हिस्से की जायदाद तो उसके हाथ में थी। कैसे न पालता-पोसता ? दुनिया में कहीं मुँह दिखाने लायक रहता ?

हीरा ने जवाब दिया–हम किसी का कुछ नहीं जानते। तेरे घर में कुत्तों की तरह एक टुकड़ा खाते थे और दिन-दिन भर काम करते थे। जाना ही नहीं कि लड़कपन और जवानी कैसी होती है। दिन-दिन भर सूखा गोबर बीना करते थे उस पर भी तू बिना दस गाली दिये रोटी न देती थी। तेरी-जैसी राच्छसिन के हाथ में पड़कर ज़िन्दगी तलख हो गयी।

धनिया और भी तेज हुई–जबान सँभाल, नहीं जीभ खींच लूँगी। राच्छसिन तेरी औरत होगी। तू है किस फेर में मूँड़ी-काटे, टुकड़े-खोर, नमक हराम।

दातादीन ने टोका—इतना कटु-वचन क्यों कहती है धनिया ? नारी का धरम है कि गम खाय। वह तो उजड्ड है, क्यों उसके मुँह लगती है ?

लाला पटेश्वरी पटवारी ने उसका समर्थन किया—बात का जवाब बात है, गाली नहीं। तूने लड़कपन में उसे पाला-पोसा; लेकिन यह क्यों भूल जाती है कि उसकी जायदाद तेरे हाथ में थी ?

धनिया ने समझा, सब-के-सब मिलकर मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं। चौमुख लड़ाई लड़ने के लिए तैयार हो गयी—अच्छा रहने दो लाला ! मैं सबको पहचानती हूँ। इस गाँव में रहते बीस साल हो गये। एक-एक की नस-नस पहचानती हूँ। मैं गाली दे रही हूँ, वह फूल बरसा रहा है, क्यों ?

दुलारी सहुआइन ने आग पर घी डाला—बाकी बड़ी गाल-दराज औरत है भाई ! मरद के मुँह लगती है। होरी ही जैसा मरद है कि इसका निबाह होता है। दूसरा मरद होता तो एक दिन न पटती।

अगर हीरा इस समय ज़रा नर्म हो जाता तो उसकी जीत हो जाती; लेकिन ये गालियाँ सुनकर आपे से बाहर हो गया। औरों को अपने पक्ष में देखकर वह कुछ शेर हो रहा था। गला फाड़कर बोला—चली जा मेरे द्वार से, नहीं जूतों से बात करूँगा। झोंटा पकड़कर उखाड़ लूँगा। गाली देती है डाइन ! बेटे का घमण्ड हो गया है। खून···

पाँसा पलट गया। होरी का खून खौल उठा। बारूद में जैसे चिनगारी पड़ गयी हो। आगे आकर बोला—अच्छा बस, अब चुप हो जाओ हीरा, अब नहीं सुना जाता। मैं इस औरत को क्या कहूँ ! जब मेरी पीठ में धूल लगती है तो इसी के कारन। न जाने क्यों इससे चुप नहीं रहा जाता।

चारों ओर से हीरा पर बौछार पड़ने लगी। दातादीन ने निर्लज्ज कहा, पटेश्वरी ने गुण्डा बनाया, झिंगुरीसिंह ने शैतान की उपाधि दी। दुलारी सहुआइन ने कपूत कहा। एक उद्दंड शब्द ने धनिया का पल्ला हल्का कर दिया था। दूसरे उस शब्द ने हीरा को गच्चे में डाल दिया। पर होरी के संयत वाक्य ने रही-सही क़सर भी पूरी कर दी।

हीरा सँभल गया। सारा गाँव उसके विरुद्ध हो गया। अब चुप रहने में ही उसकी कुशल है। क्रोध के नशे में भी इतना होश उसे बाक़ी था।

धनिया का कलेजा दूना हो गया। होरी से बोली—सुन लो कान खोल के। भाइयों के लिए मरते हो। ये भाई हैं, ऐसे भाई का मुँह न देखे। यह मुझे जूतों से मारेगा। खिला-पिला...

होरी ने डाँटा—फिर क्यों बक-बक करने लगी तू ! घर क्यों नहीं जाती ?

धनिया ज़मीन पर बैठ गयी और आर्त्त स्वर में बोली—अब तो इसके जूते खाके आऊँगी। ज़रा इसकी मरदूमी देख लूँ, कहाँ है गोबर ? अब किस दिन काम आयेगा ? तू देख रहा है बेटा, तेरी माँ को जूते मारे जा रहे हैं !

यों विलाप करके उसने अपने क्रोध के साथ होरी के क्रोध को भी क्रियाशील बना डाला। आग को फूँक-फूँककर उसमें ज्वाला पैदा कर दी। हीरा पराजित-सा पीछे हट गया। पुन्नी उसका हाथ पकड़कर घर की ओर खींच रही थी। सहसा धनिया ने सिंहनी की भाँति झपटकर हीरा को इतने जोर से धक्का दिया कि वह धम से गिर पड़ा और बोली—कहाँ जाता है, जूते मार, मार जूते, देखूँ तेरी मरदूमी !

होरी ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और घसीटता हुआ घर ले चला।

पाँच

उधर गोबर खाना खाकर अहिराने में पहुँचा। आज झुनिया से उसकी बहुत-सी बातें हुई थीं। जब वह गाय लेकर चला था, तो झुनिया आधे रास्ते तक उसके साथ आयी थी। गोबर अकेला गाय को कैसे ले जाता ! अपरिचित व्यक्ति के साथ जाने में उसे आपत्ति होना स्वाभाविक था। कुछ दूर चलने के बाद झुनिया ने गोबर को मर्म-भरी आँखों से देखकर कहा—अब तुम काहे को यहाँ कभी आओगे ?

एक दिन पहले तक गोबर कुमार था। गाँव में जितनी युवतियाँ थीं, वह या तो उसकी बहनें थीं या भाभियाँ। बहनों से तो कोई छेड़छाड़ हो ही क्या सकती थी, भाभियाँ अलबत्ता कभी-कभी उससे ठिठोली किया करती थीं, लेकिन वह केवल सरल विनोद होता था। उनकी दृष्टि में अभी उसके यौवन में केवल फूल लगे थे। जब तक फल न लग जायँ, उस पर ढेले फेंकना व्यर्थ की बात थी। और किसी ओर से प्रोत्साहन न पाकर उसका कौमार्य उसके गले से चिपटा हुआ था। झुनिया का वंचित मन, जिसे भाभियों के व्यंग्य और हास-विलास ने और भी लोलुप बना दिया था, उसके कौमार्य ही पर ललचा उठा। और उस कुमार में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोये हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठा।

गोबर ने आवरणहीन रसिकता के साथ कहा—अगर भिक्षुक को भीख मिलने की आसा हो, तो वह दिन-भर और रात-भर दाता के द्वार पर खड़ा रहे।

झुनिया ने कटाक्ष करके कहा—तो यह कहो, तुम भी मतलब के यार हो।

गोबर की धमनियों का रक्त प्रबल हो उठा। बोला—भूखा आदमी अगर हाथ फैलाए तो उसे क्षमा कर देना चाहिए।

झुनिया और गहरे पानी में उतरी—भिक्षुक जब तक दस द्वारे न जाय, उसका पेट कैसे भरेगा ? मैं ऐसे भिक्षुकों को मुँह नहीं लगाती। ऐसे तो गली-गली मिलते हैं। फिर भिक्षुक देता क्या है, असीस ! असीसों से तो किसी का पेट नहीं भरता।

मन्द-बुद्धि गोबर झुनिया का आशय न समझ सका। झुनिया छोटी-सी थी, तभी से ग्राहकों के घर दूध लेकर जाया करती थी। ससुराल में उसे ग्राहकों के घर दूध पहुँचाना पड़ता था। आजकल भी दही बेचने का भार उसी पर था। उसे तरह-तरह के मनुष्यों से साबिका पड़ चुका था। दो-चार रुपए उसके हाथ लग जाते थे, घड़ी-भर

के लिए मनोरंजन भी हो जाता था ; मगर यह आनन्द जैसे मँगनी की चीज़ हो। उसमें टिकाव न था, समर्पण न था, अधिकार न था। वह ऐसा प्रेम चाहती थी, जिसके लिए वह जिये और मरे, जिस पर वह अपने को समर्पित कर दे। वह केवल जुगनू की चमक, नहीं, दीपक का स्थायी प्रकाश चाहती थी। वह एक गृहस्थ की बालिका थी, जिसके गृहिणीत्व को रसिकों की लगावटबाज़ियों ने कुचल नहीं पाया था।

गोबर ने कामना से उद्दीप्त मुख से कहा—भिक्षुक को एक ही द्वार पर भरपेट मिल जाय, तो क्यों द्वार-द्वार घूमे ?

झुनिया ने सदय भाव से उसकी ओर ताका। कितना भोला है, कुछ समझता ही नहीं।

'भिक्षुक को एक द्वार पर भरपेट कहाँ मिलता है। उसे तो चुटकी ही मिलेगी। सर्बस तो तभी पाओगे, जब अपना सर्बस दोगे।'

'मेरे पास क्या है झुनिया ?'

'तुम्हारे पास कुछ नहीं है ? मैं तो समझती हूँ, मेरे लिए तुम्हारे पास जो कुछ है, वह बड़े-बड़े लखपतियों के पास नहीं है। तुम मुझसे भीख न माँगकर मुझे मोल ले सकते हो।'

गोबर उसे चकित नेत्रों से देखने लगा।

झुनिया ने फिर कहा—और जानते हो, दाम क्या देना होगा ? मेरा होकर रहना पड़ेगा। फिर किसी के सामने हाथ फैलाए देखूँगी, तो घर से निकाल दूँगी।

गोबर को जैसे अँधेरे में टटोलते हुए इच्छित वस्तु मिल गयी। एक विचित्र भय-मिश्रित आनन्द से उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। लेकिन यह कैसे हो ? झुनिया को रख ले, तो रखेली को लेकर घर में रहेगा कैसे। बिरादरी का झंझट जो है। सारा गाँव काँव-काँव करने लगेगा। सभी दुश्मन हो जायेंगे। अम्माँ तो इसे घर में घुसने भी न देगी। लेकिन जब स्त्री होकर यह नहीं डरती, तो पुरुष होकर वह क्यों डरे ? बहुत होगा, लोग उसे अलग कर देंगे। वह अलग ही रहेगा। झुनिया जैसी औरत गाँव में दूसरी कौन है ? कितनी समझदारी की बातें करती है। क्या जानती नहीं कि मैं उसके जोग नहीं हूँ, फिर भी मुझसे प्रेम करती है। मेरी होने को राज़ी है। गाँववाले निकाल देंगे, तो क्या संसार में दूसरा गाँव ही नहीं है ? और गाँव क्यों छोड़े ? मातादीन ने चमारिन बैठा ली, तो किसी ने क्या कर लिया ? दातादीन दाँत कटकटाकर रह गये। मातादीन ने इतना ज़रूर किया कि अपना धरम बचा लिया। अब भी बिना असनान-पूजा किये मुँह में पानी नहीं डालते। दोनों जून अपना भोजन आप पकाते हैं और अब तो अलग भोजन नहीं पकाते। दातादीन और वह साथ बैठकर खाते हैं। झिंगुरी सिंह ने बाम्हनी रख ली उनका किसी ने क्या कर लिया ? उनका जितना आदर-मान तब था, उतना ही आज भी है; बल्कि और बढ़ गया। पहले नौकरी खोजते फिरते थे। अब उसके रुपये से महाजन बन बैठे। ठकुराई का रोब तो था ही, महाजनी का रोब भी जम गया। मगर फिर ख्याल आया, कहीं

झुनिया दिल्लगी न कर रही हो। पहले इसकी ओर से निश्चिन्त हो जाना अवश्यक था।

उसने पूछा—मन से कहती हो झूना, कि ख़ाली लालच दे रही हो ? मैं तो तुम्हारा हो चुका; लेकिन तुम भी हो जाओगी ?

"तुम मेरे हो चुके, कैसे जानूँ ?"

"तुम जान भी चाहो, तो दे दूँ।"

"जान देने का अरथ भी समझते हो ?"

"तुम समझा दो न।"

"जान देने का अरथ है, साथ रहकर निबाह करना। एक बार हाथ पकड़कर उमिर-भर निबाह करते रहना, चाहे दुनिया कुछ कहे, चाहे माँ-बाप, भाई-बन्द, घर-द्वार सब कुछ छोड़ना पड़े। मुँह से जान देने वाले बहुतों को देख चुकी। भौंरों की भाँति फूल का रस लेकर उड़ जाते हैं। तुम भी वैसे ही न उड़ जाओगे ?"

गोबर के एक हाथ में गाय की पगहिया थी। दूसरे हाथ से झुनिया का हाथ पकड़ लिया। जैसे बिजली के तार पर हाथ गया हो। सारी देह यौवन के पहले स्पर्श से काँप उठी। कितनी मुलायम, गुदगुदी, कोमल कलाई !

झुनिया ने उसका हाथ हटाया नहीं, मानो इस स्पर्श का उसके लिए कोई महत्त्व ही न हो। फिर एक क्षण के बाद गम्भीर भाव से बोली—आज तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, याद रखना।

"खूब याद रखूँगा झूना, और मरते दम तक निबाहूँगा।"

झुनिया अविश्वास-भरी मुस्कान से बोली—इसी तरह तो सब कहते हैं गोबर ! बल्कि इससे भी मीठे, चिकने शब्दों में। अगर मन में कपट हो, मुझे बता दो। सचेत हो जाऊँ। ऐसों को मन नहीं देती। उनसे तो ख़ाली हँस-बोल लेने का नाता रखती हूँ। बरसों से दूध लेकर बाज़ार जाती हूँ। एक-से-एक बाबू, महाजन, ठाकुर, वकील, अमले, अफ़सर अपना रसियापन दिखाकर मुझे फँसा लेना चाहते हैं। कोई छाती पर हाथ रखकर कहता है, झुनिया, तरसा मत; कोई मुझे रसीली, नसीली चितवन से घूरता है, मानो मारे प्रेम के बेहोश हो गया है, कोई रुपये दिखाता है, कोई गहने। सब मेरी गुलामी करने को तैयार रहते हैं, उमिर-भर, बल्कि उस जनम में भी; लेकिन मैं उन सबों की नस पहचानती हूँ। सब-के-सब भौंरे रस लेकर उड़ जाने वाले। मैं भी उन्हें ललचाती हूँ, तिरछी नज़रों से देखती हूँ, मुस्कराती हूँ। वह मुझे गधी बनाते हैं, मैं उन्हें उल्लू बनाती हूँ। मैं मर जाऊँ, तो उनकी आँखों में आँसू न आयेगा। वह मर जायँ, तो मैं कहूँगी, अच्छा हुआ, निगोड़ा मर गया। मैं तो जिसकी हो जाऊँगी, उसकी जनम-भर के लिए हो जाऊँगी, सुख में, दुःख में, सम्पत में, विपत में, उसके साथ रहूँगी। हरजाई नहीं हूँ कि सबसे हँसती-बोलती फिरूँ। न रुपये की भूखी हूँ, न गहने-कपड़े की। बस भले आदमी का संग चाहती हूँ, जो मुझे अपना समझे और जिसे मैं भी अपना समझूँ। एक पण्डितजी बहुत

तिलक-मुद्रा लगाते हैं। आध सेर दूध लेते हैं। एक दिन उनकी घरवाली कहीं नेवते में गयी थी। मुझे क्या मालूम ! और दिनों की तरह दूध लिये भीतर चली गयी। वहाँ पुकारती हूँ, बहूजी, बहूजी। कोई बोलता ही नहीं। इतने में देखती हूँ तो पण्डितजी बाहर के किवाड़ क्यों बन्द किये चले आ रहे हैं। मैं समझ गयी इसकी नीयत खराब है। मैंने डाँटकर पूछा—तुमने किवाड़ क्यों बन्द कर लिये ? क्या बहूजी कहीं गयी हैं ? घर में सन्नाटा क्यों है ?

उसने कहा—वह एक नेवते में गयी हैं। और मेरी ओर दो पग और बढ़ आया।

मैंने कहा—तुम्हें दूध लेना हो तो लो, नहीं तो जाती हूँ। बोला—आज तो तुम यहाँ से न जाने पाओगी झूनी रानी, रोज-रोज कलेजे पर छुरी चलाकर भाग जाती हो, आज मेरे हाथ से न बचोगी। तुमसे सच कहती हूँ गोबर, मेरे रोएँ खड़े हो गये।

गोवर आवेश में बोला—मैं बच्चा को देख पाऊँ, तो खोदकर ज़मीन में गाड़ दूँ। खून चूस लूँ। तुम मुझे दिखा तो देना।

"सुनो तो, ऐसों का मुँह तोड़ने के लिए मैं ही काफी हूँ। मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। यह कुछ बदमासी कर बैठे, तो क्या करूँगी ? कोई चिल्लाना भी तो न सुनेगा ; लेकिन मन में यह निश्चय कर लिया था कि मेरी देह छुई, तो दूध की भरी हाँड़ी उसके मुँह पर पटक दूँगी। बला से चार-पाँच सेर दूध जायेगा, बचा को याद तो हो जायेगी। कलेजा मजबूत करके बोली—इस फेर में न रहना पण्डितजी ! मैं अहीर की लड़की हूँ। मूँछ का एक-एक बाल नुचवा लूँगी। यही लिखा है तुम्हारे पोथी-पत्रे में कि दूसरों की बहू-बेटी को अपने घर में बन्द करके बेइज़्ज़त करो। इसीलिए तिलक-मुद्रा का जाल बिछाए बैठे हो ? लगा हाथ जोड़ने, पैरों पड़ने—एक प्रेमी का मन रख दोगी, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जायेगा, झूना रानी ! कभी-कभी ग़रीबों पर दया किया करो, नहीं भगवान् पूछेंगे, मैंने तुम्हें इतना रूप-धन दिया था, तुमने उससे एक ब्राह्मण का उपकार भी नहीं किया, तो क्या जवाब दोगी ? बोले, मैं विप्र हूँ, रुपये-पैसे का दान तो रोज ही पाता हैं, आज रूप का दान दे दो।

"मैंने यों ही उसका मन परखने को कह दिया, मैं पचास रुपए लूँगी। सच कहती हूँ गोबर, तुरन्त कोठरी में गया और दस-दस के पाँच नोट निकालकर मेरे हाथों में देने लगा और जब मैंने नोट ज़मीन पर गिरा दिये और द्वार की ओर चली, तो उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं तो पहले ही से तैयार थी। हाँड़ी उसके मुँह पर दे मारी। सिर से पाँव तक सराबोर हो गया। चोट भी खूब लगी। सिर पकड़कर बैठ गया और लगा हाय-हाय करने। मैंने देखा, अब यह कुछ नहीं कर सकता, तो पीठ में दो लातें जमा दीं और किवाड़ खोलकर भागी।"

गोबर ठट्टा मारकर बोला—बहुत अच्छा किया तुमने। दूध से नहा गया होगा। तिलक-मुद्रा भी धुल गयी होगी। मूँछें भी क्यों न उखाड़ लीं ?

"दूसरे दिन मैं फिर उसके घर गयी। उसकी घरवाली आ गयी थी। अपने

बैठक में सिर में पट्टी बाँधे पड़ा था। मैंने कहा—कहो तो कल की तुम्हारी करतूत खोल दूँ पण्डित ! लगा हाथ जोड़ने। मैंने कहा—अच्छा थूककर चाटो, तो छोड़ दूँगी। सिर ज़मीन पर रगड़कर कहने लगा—अब मेरी इज्ज़त तुम्हारे हाथ है झूना, यही समझ लो कि पण्डिताइन मुझे जीता न छोड़ेंगी। मुझे भी उस पर दया आ गयी।"

गोबर को उसकी दया बुरी लगी—यह तुमने क्या किया ? उसकी औरत से जाकर कह क्यों नहीं दिया ? जूती से पीटती। ऐसे पाखंडियों पर दया न करनी चाहिए। तुम मुझे कल उसकी सूरत दिखा दो, फिर देखना, कैसी मरम्मत करता हूँ।

झुनिया ने उसके अर्द्ध-विकसित यौवन को देखकर कहा—तुम उसे न पाओगे। खासा देव है। मुफ्त का माल उडाता है कि नही।

गोबर अपने यौवन का यह तिरस्कार कैसे सहता ? डींग मारकर बोला—मोटे होने से क्या होता है। यहाँ फ़ौलाद की हड्डियाँ हैं। तीन सौ डण्ड रोज मारता हूँ। दूध-घी नहीं मिलता, नहीं अब तक सीना यों निकल आया होता।

यह कहकर उसने छाती फैलाकर दिखायी।

झुनिया ने आश्वस्त आँखों से देखा—अच्छा, कभी दिखा दूँगी। लेकिन वहाँ तो सभी एक-से हैं, तुम किस-किसकी मरम्मत करोगे ? न जाने मरदों की क्या आदत है कि जहाँ कोई जवान, सुन्दर औरत देखी और बस लगे घूरने, छाती पीटने। और यह जो बड़े आदमी कहलाते हैं, ये तो निरे लम्पट होते हैं। फिर मैं तो कोई सुन्दरी नहीं हूँ···

गोबर ने आपत्ति की—तुम ! तुम्हें देखकर तो यही जी चाहता है कि कलेजे में बिठा लें।

झुनिया ने उसकी पीठ में हल्का-सा घूँसा जमाया—लगे औरों की तरह तुम भी चापलूसी करने। मैं जैसी कुछ हूँ, वह मैं जानती हूँ। मगर लोगों को तो जवान मिल जाय। घड़ी-भर मन बहलाने को और क्या चाहिए। गुन तो आदमी उसमें देखता है, जिसके साथ जनम-भर निबाह करना हो। सुनती भी हूँ और देखती भी हूँ, आजकल बड़े घरों की विचित्र लीला है। जिस महल्ले में मेरी ससुराल है, उसी में गपडू नाम के कासमीरी रहते थे। बड़े भारी आदमी थे। उनके यहाँ पाँच सेर दूध लगता था। उनकी तीन लड़कियाँ थीं। कोई बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस की होंगी। एक-से-एक सुन्दर। तीनों बड़े कालिज में पढ़ने जाती थीं। एक साइत कालिज में पढ़ाती भी थी। तीन सौ का महीना पाती थी। सितार वह सब बजावें, हरमुनियाँ वह सब बजावें, नाचें वह, गावें वह; लेकिन ब्याह कोई न करती थी। राम जाने, वह किसी मरद को पसन्द नहीं करती थीं कि मरद उन्हीं को पसन्द नहीं करता था। एक बार मैंने बड़ी बीबी से पूछा, तो हँसकर बोली—हम लोग यह रोग नहीं पालते ! मगर भीतर-ही-भीतर खूब गुलछर्रे उड़ाती थीं। जब देखूँ, दो-चार लौंडे उनको घेरे हुए हैं। जो सबसे बड़ी थी, वह तो कोट-पतलून पहनकर घोड़े पर सवार होकर मर्दों

के साथ सैर करने जाती थी। सारे सहर में उनकी लीला मशहूर थी। गपडू बाबू सिर नीचा किये, जैसे मुँह पर कालिख़-सी लगाए रहते थे। लड़कियों को डाँटते थे, समझाते थे ; पर सब-की-सब खुल्लमखुल्ला कहती थीं—तुमको हमारे बीच में बोलने का कुछ मजाल नहीं है। हम अपने मन की रानी हैं, जो हमारी इच्छा होगी, वह हम करेंगे। बेचारा बाप जवान-जवान लड़कियों से क्या बोले ? मारने-बाँधने से रहा, डाँटने-डपटने से रहा; लेकिन भाई बड़े आदमियों की बातें कौन चलाये। वह जो कुछ करे, सब ठीक है। उन्हें तो बिरादरी और पंचायत का भी डर नहीं। मेरी समझ मे तो यही नहीं आता कि किसी का रोज-रोज मन कैसे बदल जाता है। क्या आदमी गाय-बकरी से गया-बीता हो गया है ? लेकिन किसी को बुरा नहीं कहती भाई ! मन को जैसा बनाओ, वैसा बनता है। ऐसों को भी देखती हूँ, जिन्हें रोज़-रोज़ की दाल-रोटी के बाद कभी-कभी मुँह का सवाद बदलने के लिए हलवा-पूरी भी चाहिए। और ऐसों को भी देखती हूँ, जिन्हें घर की रोटी-दाल देखकर ज्वर आता है। कुछ बेचारियाँ ऐसी भी हैं, जो अपनी रोटी-दाल में ही मगन रहती हैं। हलवा-पूरी से उनहें कोई मतलब नहीं। मेरी दोनों भावजों को ही देखो। हमारे भाई काने-कुबड़े नहीं हैं, दस जवानों में एक जवान हैं; लेकिन भावजों को नहीं भाते। उन्हें तो वह चाहिए, जो सोने की बालियाँ बनवाए, महीन साड़ियाँ लाए, रोज चाट खिलाए। बालियाँ और मिठाइयाँ मुझे भी कम अच्छी नहीं लगतीं, लेकिन जो कहो कि इसके लिए अपनी लाज बेचती फिरूँ तो भगवान इससे बचायें। एक के साथ मोटा-झोटा खा-पहनकर उमिर काट देना, बस अपना तो यही राग है। बहुत करके तो मर्द ही औरतों को बिगाड़ते हैं। जब मर्द इधर-उधर ताक-झाँक करेगा तो औरत भी आँख लड़ाएगी। मर्द दूसरी औरतों के पीछे दौड़ेगा, तो औरत भी ज़रूर मर्दों के पीछे दौड़ेगी। मर्द का हरजाईपन औरत को भी उतना ही बुरा लगता है, जितना औरत का मर्द को। यही समझ लो। मैंने तो अपने आदमी से साफ़-साफ़ कह दिया था, अगर तुम इधर-उधर लपके, तो मेरी भी जो इच्छा होगी, वह करूँगी। यह चाहो कि तुम तो अपने मन की करो और औरत को मार के डर से अपने काबू में रखो, तो यह न होगा। तुम खुले-खजाने करते हो, वह छिपकर करेगी। तुम उसे जलाकर सुखी नहीं रह सकते।

गोबर के लिए यह एक नयी दुनिया की बातें थीं। तन्मय होकर सुन रहा था। कभी-कभी तो आप-ही-आप उसके पाँव रुक जाते, फिर सचेत होकर चलने लगता। झुनिया ने पहले अपने रूप से मोहित किया था। आज उसने अपने ज्ञान और अनुभव से भरी बातों और अपने सतीत्व के बखान से मुगध कर लिया। ऐसी रूप, गुण, ज्ञान की आगरी उसे मिल जाय, तो धन्य भाग। फिर वह क्यों पंचायत और बिरादरी से डरे ?

झुनिया ने जब देख लिया कि उसका गहरा रंग जम गया, तो छाती पर हाथ रखकर जीभ दाँत से काटती हुई बोली—अरे, यह तो तुम्हारा गाँव आ गया ! तुम

भी बड़े मुरहे हो, मुझसे कहा भी नहीं कि लौट जाओ।

यह कहकर वह लौट पड़ी।

गोबर ने आग्रह करके कहा–एक छन के लिए मेरे घर क्यों नहीं चली चलतीं ? अम्माँ भी तो देख लें।

झुनिया ने लज्जा से आँखें चुराकर कहा–तुम्हारे घर यों न जाऊँगी। मुझे तो यही अचरज होता है कि मैं इतनी दूर कैसे आ गयी ! अच्छा बताओ, अब कब आओगे ? रात को मेरे द्वार पर अच्छी संगत होगी। चले आना, मैं अपने पिछवाड़े मिलूँगी।

"और जो न मिलीं ?"

"तो लौट जाना।"

"तो फिर मैं न आऊँगा।"

"आना पड़ेगा, नहीं कहे देती हूँ।"

"तुम भी वचन दो कि मिलोगी ?"

"मैं वचन नहीं देती।"

"तो मैं भी नहीं आता।"

"मेरी बला से !"

झुनिया अँगूठा दिखाकर चल दी। प्रथम मिलन में ही दोनों एक दूसरे पर अपना-अपना अधिकार जमा चुके थे। झुनिया जानती थी, वह आएगा, कैसे न आएगा ? गोबर जानता था, वह मिलेगी, कैसे न मिलेगी ?

गोबर जब अकेला गाय को हाँकता हुआ चला, तो ऐसा लगता था, मानों स्वर्ग से गिर पड़ा है।

छः

जेठ की उदास और गर्म सन्ध्या सेमरी की सड़कों और गलियों में पानी के छिड़काव से शीतल और प्रसन्न हो रही थी। मण्डप के चारों तरफ फूलों और पौधों के गमले सज़ा दिये गये थे और बिजली के पंखे चल रहे थे। रायसाहब अपने कारख़ाने में बिजली बनवा लेते थे। उनके सिपाही वर्दियाँ डाटे, नीले साफे बाँधे, जनता पर रोब जमाते फिरते थे। नौकर उजले कुरते पहने और केसरिया पाग बाँधे, मेहमानों और मुखियों का आदर-सत्कार कर रहे थे। उसी वक़्त एक मोटर सिंह-द्वार के सामने आकर रुकी और उसमें से तीन महानुभाव उतरे। वह जो खद्दर का कुरता और चप्पल पहले हुए हैं, उनका नाम पण्डित ओंकारनाथ है। आप दैनिक पत्र 'बिजली' के यशस्वी सम्पादक हैं, जिन्हें देश-चिन्ता ने घुला डाला है। दूसरे महाशय जो कोट-पैंट में हैं, वह हैं तो वकील, पर वकालत न चलने के कारण एक बीमा-कम्पनी की दलाली करते हैं और ताल्लुकेदारों को महाजनों और बैंकों से कर्ज़ दिलाने में वकालत से

कहीं ज्यादा कमाई करते हैं। इनका नाम है श्यामबिहारी तंखा और तीसरे सज्जन जो रेशमी अचकन और तंग पाजामा पहने हुए हैं, मिस्टर बी. मेहता, युनिवर्सिटी में दर्शनशास्त्र के अध्यापक हैं। ये तीनों सज्जन रायसाहब के सहपाठियों में हैं और शगुन के उत्सव पर निमन्त्रित हुए हैं। आज सारे इलाके के असामी आयेंगे और शगुन के रुपये भेंट करेंगे। रात को धनुष-यज्ञ होगा और मेहमानों की दावत होगी। होरी ने पाँच रुपये शगुन के दे दिये हैं और एक गुलाबी मिर्जई पहने, गुलाबी पगड़ी बाँधे घुटने तक कछनी काछे, हाथ में एक खुरपी लिये और मुख पर पाउडर लगवाए राजा जनक का माली बन गया है और गरूर से इतना फूल उठा है, मानों यह सारा उत्सव उसी के पुरुषार्थ से हो रहा है।

रायसाहब ने मेहमानों का स्वागत किया। दोहरे बदन के ऊँचे आदमी थे, गठा हुआ शरीर, तेजस्वी चेहरा, ऊँचा माथा, गोरा, जिस पर शर्बती रेशमी चादर खूब खिल रही थी।

पण्डित ओंकारनाथ ने पूछा—अबकी कौन-सा नाटक खेलने का विचार है ? मेरे रस की तो यही वस्तु है।

रायसाहब ने तीनों सज्जनों को अपनी रावटी के सामने कुर्सियों पर बिठाते हुए कहा—पहले तो धनुष-यज्ञ होगा, उसके बाद एक प्रहसन। नाटक कोई अच्छा न मिला। कोई तो इतना लम्बा कि शायद पाँच घण्टों में भी ख़तम न हो और इतना क्लिष्ट कि शायद यहाँ एक व्यक्ति भी उसका अर्थ न समझे। आखिर मैंने स्वयं एक प्रहसन लिख डाला, जो दो घण्टों में पूरा हो जायेगा।

ओंकारनाथ को रायसाहब की रचना-शक्ति में बहुत संदेह था। उनका ख्याल था कि प्रतिभा तो ग़रीबी ही में चमकती है दीपक की भाँति, जो अँधेरे ही में अपना प्रकाश दिखाता है। उपेक्षा के साथ, जिसे छिपाने की भी उन्होंने चेष्टा नहीं की, पण्डित ओंकारनाथ ने मुँह फेर लिया।

मिस्टर तंखा इन बेमतलब की बातों में न पड़ना चाहते थे, फिर भी रायसाहब को दिखा देना चाहते थे कि इस विषय में उन्हें कुछ बोलने का अधिकार है। बोले—नाटक कोई भी अच्छा हो सकता है, अगर उसके अभिनेता अच्छे हों। अच्छा-से-अच्छा नाटक बुरे अभिनेताओं के हाथ में पड़कर बुरा हो सकता है। जब तक स्टेज पर शिक्षित अभिनेत्रियाँ नहीं आतीं, हमारी नाट्यकला का उद्धार नहीं हो सकता। अबकी तो आपने कौंसिल में प्रश्नों की धूम मचा दी। मैं तो दावे के साथ कह सकता हूँ कि किसी मेम्बर का रिकार्ड इतना शानदार नहीं है।

दर्शन के अध्यापक मिस्टर मेहता इस प्रशंसा को सहन न कर सकते थे। विरोध तो करना चाहते थे, पर सिद्धान्त की आड़ में। उन्होंने हाल ही में एक पुस्तक क़ई साल के परिश्रम से लिखी थी। उसकी जितनी धूम होनी चाहिए थी, उसकी शतांश भी नहीं हुई थी। इससे बहुत दुखी थे। बोले-भाई, मैं प्रश्नों का कायल नहीं। मैं चाहता हूँ, हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। आप कृषकों के शुभेच्छु

हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायत देना चाहते हैं, जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, बल्कि उन्हें आप समाज का श्राप कहते हैं फिर भी आप जमींदार हैं, वैसे ही जमींदार जैसे हज़ारों और जमींदार हैं। अगर आपकी धारणा है कि कृषकों के साथ रियासत होनी चाहिए, तो पहले आप खुद शुरू करें—काश्तकारों को बग़ैर नज़राने लिये पट्टे लिख दें, बेगार बन्द कर दें, इज़ाफ़ा लगान को तिलांजलि दे दें, चरावर ज़मीन छोड़ दें। मुझे उन लोगों से ज़रा हमदर्दी नहीं है, जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।

रायसाहब को आघात पहुँचा। वकील साहब के माथे पर बल पड़ गये और सम्पादकजी के मुँह में कालिख लग गयी। वह खुद समष्टिवाद के पुजारी थे, पर सीधे घर में आग न लगाना चाहते थे।

तंखा ने रायसाहब की वकालत की—मैं समझता हूँ, रायसाहब का अपने असामियों के साथ जितना अच्छा व्यवहार है, अगर सभी जमींदार वैसे ही हो जायें, तो यह प्रश्न ही न रहे।

मेहता ने हथौड़े की दूसरी चोट जमायी—मानता हूँ, आपका अपने असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें स्वार्थ है या नहीं। इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धिम आँच में भोजन स्वादिष्ट पकता है ? गुड़ से मारनेवाला ज़हर से मारनेवाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है। मैं तो केवल इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं, तो बकना छोड़ दें। मैं नक़ली ज़िन्दगी का विरोधी हूँ। अगर मांस खाना अच्छा समझते हो तो खुलकर खाओ। बुरा समझते हो, तो मत खाओ, यह तो मेरी समझ में आता है; लेकिन अच्छा समझना और छिपकर खाना, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं तो इसे कायरता भी कहता हूँ और धूर्त्तता भी, जो वास्तव में एक हैं।

रायसाहब सभा-चतुर आदमी थे। अपमान और आघात को धैर्य और उदारता से सहने का उन्हें अभ्यास था। कुछ असमंजस में पड़े हुए बोले—आपका विचार बिल्कुल ठीक है मेहताजी। आप जानते हैं, मैं आपकी साफ़गोई का कितना आदर करता हूँ, लेकिन आप यह भूल जाते हैं कि अन्य यात्राओं की भाँति विचारों की यात्रा में भी पड़ाव होते हैं, और आप एक पड़ाव को छोड़कर दूसरे पड़ाव तक नहीं जा सकते। मानव-जीवन का इतिहास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं उस वातावरण में पला हूँ, जहाँ राजा ईश्वर है और जमींदार ईश्वर का मन्त्री। मेरे स्वर्गवासी पिता असामियों पर इतनी दया करते थे कि पाले या सूखे में कभी आधा और कभी पूरा लगान माफ कर देते थे। अपने बखार से अनाज निकालकर असामियों को खिला देते थे। घर के गहने बेचकर कन्याओं के विवाह में मदद देते थे; मगर उसी वक़्त तक, जब तक प्रजा उनको सरकार और धर्मावतार कहती रहे, उन्हें अपना देवता

समझकर उनकी पूजा करती रहे। प्रजा का पालन उनका सनातन धर्म था, लेकिन अधिकार के नाम पर वह कौड़ी का एक दाँत भी फोड़कार देना न चाहते थे। मैं उसी वातावरण में पला हूँ और मुझे गर्व है कि मैं व्यवहार में चाहे जो कुछ करूँ, विचारों में उनसे आगे बढ़ गया हूँ और यह मानने लग गया हूँ कि जब तक किसानों को ये रियासतें अधिकार के रूप में न मिलेंगी, केवल सद्‌भावना के आधार पर उनकी दशा सुधर नहीं सकती। स्वेच्छा अगर अपना स्वार्थ छोड़ दे, तो अपवाद है। मैं खुद सद्‌भावना करते हुए भी स्वार्थ नहीं छोड़ सकता और चाहता हूँ कि हमारे वर्ग को शासन और नीति के बल से अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया जाय। इसे आप कायरता कहेंगे, मैं इसे विवशता कहता हूँ। मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणिमात्र का धर्म है। समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें कुछ लोग मौज़ करें और अधिक लोग पिसें और खपें, कभी सुखद नहीं हो सकती। पूँजी और शिक्षा, जिसे मैं पूँजी ही का एक रूप समझता हूँ, इनका किला जितनी जल्द टूट जाय, उतना ही अच्छा है। जिन्हें पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस, पाँच-पाँच हज़ार फटकारें, यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी। इस व्यवस्था ने हम जमींदारों में कितनी विलासिता, कितना दुराचार, कितनी पराधीनता और कितनी निर्लज्जता भर दी है, यह मैं खूब मानता हूँ ; लेकिन मैं इन कारणों से इस व्यवस्था का विरोध नहीं करता। मेरा तो यह कहना है कि अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी इसका अनुमोदन नहीं किया जा सकता। इस शान को निभाने के लिए हमें अपनी आत्मा की इतनी हत्या करनी पड़ती है कि हममें आत्माभिमान का नाम भी नहीं रहा। हम अपने असामियों को लूटने के लिए मजबूर हैं। अगर अफ़सरों को कीमती-कीमती डालियाँ न दें, तो बाग़ी समझे जायें, शान से न रहें, तो कंजूस कहलाएँ। प्रगति की ज़रा-सी आहट पाते ही हम काँप उठते हैं ; और अफ़सरों के पास फ़रियाद लेकर दौड़ते हैं कि हमारी रक्षा कीजिए। हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया। बस, हमारी दशा उन बच्चों की-सी है, जिन्हें चम्मच से दूध पिलाकर पाला जाता है, बाहर से मोटे, अन्दर से दुर्बल, सत्त्वहीन और मोहताज।

मेहता ने ताली बजाकर कहा–हियर, हियर ! आपकी जबान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी भी मस्तिष्क में होती ! खेद यही है कि सब कुछ समझते हुए भी आप अपने विचारों को व्यवहार में नहीं लाते।

ओंकारनाथ बोले–अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, मिस्टर मेहता ! हमें समय के साथ चलना भी है और उसे अपने साथ चलाना भी। बुरे कामों में ही सहयोग की ज़रूरत नहीं होती। अच्छे कामों के लिए भी सहयोग उतना ही ज़रूरी है। आप ही क्यों आठ सौ रुपये महीने हड़पते हैं, जब आपके करोड़ों भाई केवल आठ रुपये में अपना निर्वाह कर रहे हैं ?

रायसाहब ने ऊपरी खेद, लेकिन भीतरी सन्तोष से सम्पादकजी को देखा और बोले—व्यक्तिगत बातों पर आलोचना न कीजिए सम्पादकजी ! हम यहाँ समाज की व्यवस्था पर विचार कर रहे हैं।

मिस्टर मेहता उसी ठण्डे मन से बोले—नहीं-नहीं, मैं इसे बुरा नहीं समझता। समाज व्यक्ति ही से बनता है। और व्यक्ति को भूलकर हम किसी व्यवस्था पर विचार नहीं कर सकते। मैं इसलिए इतना वेतन लेता हूँ कि मेरा इस व्यवस्था पर विश्वास नहीं है।

सम्पादकजी को अचम्भा हुआ—अच्छा, तो आप वर्तमान व्यवस्था के समर्थक हैं ?

"मैं इस सिद्धान्त का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे, और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।"

कुश्ती का जोड़ बदल गया। रायसाहब किनारे खड़े हो गये। सम्पादकजी मैदान में उतरे—आप बीसवीं शताब्दी में भी ऊँच-नीच का भेद मानते हैं !

"जी हाँ, मानता हूँ और बड़े जोरों से मानता हूँ। जिस मत के आप समर्थक हैं, वह भी तो कोई नयी चीज़ नहीं। जब से मनुष्य में ममत्व का विकास हुआ, तभी उस मत का जन्म हुआ। बुद्ध और प्लेटो और ईसा सभी समाज में समता प्रवर्तक थे। युनानी और रोमन और सीरियाई सभी सभ्यताओं ने उसकी परीक्षा की, पर अप्राकृतिक होने के कारण कभी वह स्थायी न बन सकी।"

"आपकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।"

"आश्चर्य अज्ञान का दूसरा नाम है।"

"मैं आपका कृतज्ञ हूँ ! अगर आप इस विषय पर कोई लेखमाला शुरू कर दें।"

"जी, मैं इतना अहमक नहीं हूँ, अच्छी रक़म दिलवाइए, तो अलबत्ता।"

"आपने सिद्धान्त ही ऐसा लिया है कि खुले खज़ाने पब्लिक को लूट सकते हैं।"

'मुझमें और आपमें अन्तर इतना ही है कि मैं जो कुछ मानता हूँ, उस पर चलता हूँ। आप लोग मानते कुछ हैं, करते कुछ हैं। धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते हैं। लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से ही तो नहीं होता। मैंने बड़े-बड़े धन-कुबेरों को भिक्षुकों के सामने घुटने टेकते देखा है, और आपने भी देखा होगा। रूप के चौखट पर बड़े-बड़े महीप नाक रगड़ते हैं। क्या यह सामाजिक विषमता नहीं है ? आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा करेगी।'

तश्तरी में पान आ गये थे। रायसाहब ने मेहमानों को पान और इलायची देते हुए कहा–बुद्धि अगर स्वार्थ से मुक्त हो, तो उसकी प्रभुता मानने में कोई आपत्ति नहीं। समाजवाद का यही आदर्श है। हम साधु-महात्माओं के सामने इसीलिए सिर झुकाते हैं कि उनमें त्याग का बल है। इसी तरह हम बुद्धि के हाथ में अधिकार भी देना चाहते हैं, सम्मान भी, नेतृत्व भी ; लेकिन सम्पत्ति किसी तरह नहीं। बुद्धि का अधिकार और सम्मान व्यक्ति के साथ चला जाता है, लेकिन उसकी सम्पत्ति विष बोने के लिए, उसके बाद और भी प्रबल हो जाती है। बुद्धि के बग़ैर किसी समाज का संचालन नहीं हो सकता। हम केवल इस बिच्छू का डंक तोड़ देना चाहते हैं।

दूसरी मोटर आ पहुँची और मिस्टर खन्ना उतरे, जो एक बैंक के मैनेजर और शक्कर मिल के मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं। दो देवियाँ भी उनके साथ थीं। रायसाहब ने दोनों देवियों को उतारा। वह जो खद्दर की साड़ी पहने बहुत गंभीर और विचारशील-सी हैं, मिस्टर खन्ना की पत्नी, कामिनी खन्ना हैं। दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख-छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इंगलैंड से डाक्टरी पढ़ आयी हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण। जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन ; जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव ; मनोद्‌गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया।

आपने मिस्टर मेहता से हाथ मिलाते हुए कहा–सच कहती हूँ, आप सूरत से ही फ़िलासफर मालूम होते हैं। इस नयी रचना में तो आपने आत्मवादियों को उधेड़कर रख दिया। पढ़ते-पढ़ते कई बार मेरे जी में ऐसा आया कि आपसे लड़ जाऊँ। फ़िलासफ़रों में सहृदयता क्यों ग़ायब हो जाती है ?

मेहता झेंप गये। बिना-ब्याहे थे और नवयुग की रमणियों से पनाह माँगते थे। पुरुषों की मंडली में खूब चहकते थे, मगर ज्योंही कोई महिला आयी और आपकी ज़बान बन्द हुई, जैसे बुद्धि पर ताला लग जाता था। स्त्रियों से शिष्ट व्यवहार तक करने की सुधि न रहती थी।

मिस्टर खन्ना ने पूछा–फ़िलासफ़रों की सूरत में क्या ख़ास बात होती है देवीजी?

मालती ने मेहता की ओर दया-भाव से देखकर कहा–मिस्टर मेहता, बुरा न मानें तो बतला दूँ ?

खन्ना मिस मालती के उपासकों में थे। जहाँ मिस मालती जायें, वहाँ खन्ना का पहुँचना लाज़िम था। उनके आस-पास भौंरे की तरह मँडराते रहते थे। हर समय

उनकी यही इच्छा रहती थी कि मालती से अधिक-से-अधिक वही बोलें, उनकी निगाह अधिक-से-अधिक उन्हीं पर रहे।

खन्ना ने आँख मारकर कहा—फ़िलासफ़र किसी की बात का बुरा नहीं मानते। उनकी यही सिफ़त है।

"तो सुनिए, फिलासफर हमेशा मुर्दा-दिल होते हैं। जब देखिए, अपने विचारों में मगन बैठे हैं। आपकी तरफ़ ताकेंगे, मगर आपको देखेंगे नहीं ; आप उनसे बातें किए जायें, कुछ सुनेंगे नहीं, जैसे शून्य में उड़ रहे हों।"

सब लोगों ने क़हक़हा मारा। मिस्टर मेहता जैसे ज़मीन में गड़ गये।

"आक्सफ़ोर्ड में मेरे फ़िलासफ़ी के प्रोफ़ेसर हसबैंड थे ···"

खन्ना ने टोका—नाम तो निराला है···

"मिस्टर मेहता भी तो क्वाँरे हैं ···"

"यह रोग सभी फ़िलासफ़रों को होता है।"

अब मेहता को अवसर मिला। बोले—आप भी इसी मरज में गिरफ़्तार हैं ?

"मैंने प्रतिज्ञा की है, किसी फ़िलासफर से शादी करूँगी और यह वर्ग शादी के नाम से घबराता है। हसबैंड साहब तो स्त्री को देखकर धर में छिप जाते थे। उनके शिष्यों में कई लड़कियाँ थीं। अगर उनमें से कोई कभी कुछ पूछने के लिए उनके आफ़िस में चली जाती थी ; तो आप ऐसे घबड़ा जाते, जैसे कोई शेर आ गया हो। हम लोग उनहें खूब छेड़ा करते थे, मगर थे बेचारे सरल-हृदय। कई हज़ार की आमदनी थी, पर मैंने उन्हें हमेशा एक ही सूट पहने देखा। उनकी एक विधवा बहन थी। वही उनके घर का सारा प्रबन्ध करती थी। मिस्टर हसबैंड को तो खाने की फिक्र ही न रहती थी। मिलनेवालों के डर से अपने कमरे का द्वार बन्द करके लिखा-पढ़ी करते थे। भोजन का समय आ जाता, तो उनकी बहन आहिस्ता से भीतर के द्वार से उनके पास जाकर किताब बन्द कर देती थी, तब उन्हें मालूम होता कि खाने का समय हो गया। रात को भी भोजन का समय बँधा हुआ था। उनकी बहन कमरे की बत्ती बुझा दिया करती थी। एक दिन बहन ने किताब बन्द करनी चाही, तो आपने पुस्तक को दोनों हाथों से दबा लिया और बहन-भाई में जोर-आजमाई होने लगी। आख़िर बहन उनकी पहिएदार कुर्सी खींचकर भोजन के कमरे में लायी।"

रायसाहब बोले—मगर मेहता साहब तो बड़े खुशमिज़ाज़ और मिलनसार हैं, नहीं इस हंगामे में क्यों आते।

. "तो आप फिलासफ़र न होंगे। जब अपनी चिन्ताओं से हमारे सिर में दर्द होने लगता है, तो विश्व की चिन्ता सिर पर लादकर कोई कैसे प्रसन्न रह सकता है !"

उधर सम्पादकजी श्रीमती खन्ना से अपनी आर्थिक कठिनाइयों की कथा कह रहे थे—बस यों समझिए श्रीमतीजी, कि सम्पादकजी का जीवन एक दीर्घ विलाप है, जिसे सुनकर लोग दया करने के बदले कानों पर हाथ रख लेते हैं। बेचारा न

अपना उपकार कर सके, न औरों का। पब्लिक उससे आशा तो यह रखती है कि हरएक आन्दोलन में वह सबसे आगे रहे, जेल जाए, मार खाए, घर के माल-असबाब की कुर्की कराए, यह उसका धर्म समझा जाता है, लेकिन उसकी कठिनाइयों की ओर किसी का ध्यान नहीं। हो तो वह सब कुछ। उसे हरएक विद्या, हरएक कला में पारंगत होना चाहिए ; लेकिन उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। आप तो आजकल कुछ लिखतीं ही नहीं। आपकी सेवा करने का जो थोड़ा-सा सौभाग्य मुझे मिल सकता है, उससे क्यों मुझे वंचित रखती हैं ?

मिसेज खन्ना को कविता लिखने का शौक़ था। इस नाते से सम्पादकजी कभी-कभी उनसे मिल आया करते थे; लेकिन घर के काम-धन्धों में व्यस्त रहने के कारण बहुत दिनों से कुछ लिख नहीं सकी थीं। सच बात तो यह है कि सम्पादकजी ने ही उन्हें प्रोत्साहित करके कवि बनाया था। सच्ची प्रतिभा उनमे बहुत कम थी।

"क्या लिखूँ कुछ सूझता ही नहीं। आपने कभी मिस मालती से कुछ लिखने को नहीं कहा ?"

सम्पादकजी उपेक्षा भाव से बोले—उनका समय मूल्यवान् है कामिनी देवी ! लिखते तो वे लोग हैं, जिनके अन्दर कुछ दर्द है, अनुराग है, लगन है, विचार है। जिन्होंने धन और भोग-विलास को जीवन का लक्ष्य बना लिया, वह क्या लिखेंगे ?

कामिनी ने ईर्ष्या-मिश्रित विनोद से कहा—अगर आप उनसे कुछ लिखा सकें, तो आपका प्रचार दुगुना हो जाय। लखनऊ में तो ऐसा कोई रसिक नहीं है, जो आपका ग्राहक न बन जाय।

"अगर धन मेरे जीवन का आदर्श होता, तो आज इस दशा में में न होता। मुझे भी धन कमाने की कला आती है। आज चाहूँ, तो लाखों कमा सकता हूँ; लेकिन यहाँ तो धन को कभी कुछ समझा ही नहीं। साहित्य की सेवा अपने जीवन का ध्येय है और रहेगा।"

"कम-से-कम मेरा नाम तो ग्राहकों में लिखवा दीजिए।"

"आपका नाम ग्राहकों में नहीं, संरक्षकों में लिखूँगा।"

"संरक्षकों में रानियों-महारानियो को रखिए, जिनकी थोड़ी-सी खुशामद करके आप अपने पत्र को लाभ की चीज़ बना सकते हैं।"

"मेरी रानी-महारानी आप हैं। मैं तो आपके सामने किसी रानी-महारानी की हक़ीक़त नहीं समझता। जिसमें दया और विवेक है, वही मेरी रानी है। खुशामद से मुझे घृणा है।"

कामिनी ने चुटकी ली—लेकिन मेरी खुशामद तो आप कर रहे हैं सम्पादकजी !

सम्पादकजी ने गम्भीर होकर श्रद्धापूर्ण स्वर में कहा—यह खुशामद नहीं है देवीजी, हृदय के सच्चे उदगार हैं।

रायसाहब ने पुकारा—सम्पादकजी, जरा इधर आइएगा। मिस मालती आपसे कुछ कहना चाहती हैं।

सम्पादकजी की वह सारी अकड़ ग़ायब हो गयी। नम्रता और विनय की मूर्ति बने हुए आकर खड़े हो गये। मालती ने उन्हें सदय नेत्रों से देखकर कहा—मैं अभी कह रही थी कि दुनिया में मुझे सबसे ज़्यादा डर सम्पादकों से लगता है। आप लोग जिसे चाहें, एक क्षण में बिगाड़ दें। मुझी से चीफ़ सेक्रेटरी साहब ने एक बार कहा—अगर मैं इस ब्लडी ओंकारनाथ को जेल में बन्द कर सकूँ, तो अपने को भाग्यवान समझूँ।

ओंकारनाथ की बड़ी-बड़ी मूँछें खड़ी हो गयीं। आँखों में गर्व की ज्योति चमक उठी। यों वह बहुत ही शान्त प्रकृति के आदमी थे ; लेकिन ललकार सुनकर उनका पुरुषत्व उत्तेजित हो जाता था। दृढ़ता-भरे स्वर में बोले—इस कृपा के लिए आपका कृतज्ञ हूँ। उस बज्म (सभा) में अपना ज़िक्र तो आता है, चाहे किसी तरह आये। आप सेक्रेटरी महोदय से कह दीजिएगा कि ओंकारनाथ उन आदमियों में नहीं हैं, जो इन धमकियों से डर जायें। उसकी कलम उसी वक़्त विश्राम लेगी, जब उसकी जीवन-यात्रा समाप्त हो जायेगी। उसने अनीति और स्वेच्छाचार को जड़ से खोदकर फेंक देने का जिम्मा लिया है।

मिस मालती ने और उकसाया—मगर मेरी समझ में आपकी यह नीति नहीं आती कि जब आप मामूली शिष्टाचार से अधिकारियों का सहयोग प्राप्त कर सकते हैं, तो क्यों उनसे कन्नी काटते हैं ? अगर आप अपनी आलोचनाओं में आग और विष जरा कम दें, तो मैं वादा करती हूँ कि आपको गवर्नमेंट से काफ़ी मदद दिला सकती हूँ। जनता को तो आपने देख लिया। उससे अपील की, उसकी खुशामद की, अपनी कठिनाइयों की कथा कही, मगर कोई नतीजा न निकला। अब ज़रा अधिकारियों को भी आज़मा देखिए। तीसरे महीने आप मोटर पर न निकलने लगें, और सरकारी दावतों में निमन्त्रित न होने लगें तो मुझे जितना चाहें कोसिएगा। तब यही रईस और नेशनलिस्ट जो आपकी परवा नहीं करते, आपके द्वार के चक्कर लगायेंगे।

ओंकारनाथ अभिमान के साथ बोले—यही तो मैं नहीं कर सकता देवीजी ! मैंने अपने सिद्धान्तों को सदैव ऊँचा और पवित्र रखा है और जीते-जी उनकी रक्षा करूँगा। दौलत के पुजारी तो गली-गली मिलेंगे, मैं सिद्धान्त के पुजारियों में हूँ !

"मैं इसे दम्भ कहती हूँ।"

"आपकी इच्छा।"

"धन की आपको परवा नहीं है ?"

"सिद्धान्तों का खून करके नहीं।"

"तो आपके पत्र में विदेशी वस्तुओं के विज्ञापन क्यों होते हैं ? मैंने किसी भी दूसरे पत्र में इतने विदेशी विज्ञापन नहीं देखे। आप बनते तो हैं आदर्शवादी और

सिद्धान्तवादी, पर अपने फ़ायदे के लिए देश का धन विदेश भेजते हुए आपको ज़रा भी खेद नहीं होता ? आप किसी तर्क से इस नीति का समर्थन नहीं कर सकते।"

ओंकारनाथ के पास सचमुच कोई जवाब न था। उन्हें बगलें झाँकते देखकर रायसाहब ने उनकी हिमायत की—तो आख़िर आप क्या चाहती हैं ? इधर से भी मारे जायें, उधर से भी मारे जायें, तो पत्र कैसे चले ?

मिस मालती ने दया करना न सीखा था।

"पत्र नहीं चलता तो बन्द कीजिए। अपना पत्र चलाने के लिए आपको विदेशी वस्तुओं के प्रचार का कोई अधिकार नहीं। अगर आप मजबूर हैं, तो सिद्धान्त का ढोंग छोड़िए। मैं तो सिद्धान्तवादी पत्रों को देखकर जल उठती हूँ। जी चाहता है, दियासलाई दिखा दूँ। जो व्यक्ति कर्म और वचन में सामंजस्य नहीं रख सकता, वह और चाहे जो कुछ हो, सिद्धान्तवादी नहीं है।"

मेहता खिल उठे। थोड़ी देर पहले उन्होंने खुद इसी विचार का प्रतिपादन किया था। उन्हें मालूम हुआ कि इस रमणी में विचार की शक्ति भी है, केवल तितली नहीं। संकोच जाता रहा।

"यही बात अभी मैं कह रहा था। विचार और व्यवहार में सामंजस्य का न होना ही धूर्तता है, मक्कारी है।"

मिस मालती प्रसन्न मुख से बोली—तो इस विषय में आप और मैं एक हैं, और मैं भी फ़िलासफ़र होने का दावा कर सकती हूँ।

खन्ना की जीभ में खुजली हो रही थी। बोले—आपका एक-एक अंग फ़िलासफ़ी में डूबा हुआ है।

मालती ने उनकी लगाम खींची—अच्छा, आपको भी फिलासफ़ी में दखल है ! मैं तो समझती थी, आप बहुत पहले अपनी फिलासफ़ी को गंगा में डुबो बैठे। नहीं, आप इतने बैंकों और कम्पनियों के डाइरेक्टर न होते।

रायसाहब ने खन्ना को सँभाला—तो आप समझती हैं कि फ़िलासफ़रों को हमेशा फ़ाकेमस्त रहना चाहिए ?

"जी हाँ, फ़िलासफ़र अगर मोह पर विजय न पा सके, तो फ़िलासफ़र कैसा ?"

"इस लिहाज़ से तो शायद मिस्टर मेहता भी फ़िलासफ़र न ठहरें !"

मेहता ने जैसे आस्तीन चढ़ाकर कहा—मैंने तो कभी यह दावा नहीं किया रायसाहब ! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि जिन औजारों से लोहार काम करता है, उन्हीं औजारों से सोनार नहीं करता। क्या आप चाहते हैं, आप भी उसी दशा में फलें-फूलें जिसमें बबूल या ताड़ ? मेरे लिए धन केवल उन सुविधाओं का नाम है, जिनसे मैं अपना जीवन सार्थक कर सकूँ ! धन मेरे लिए बढ़ने और फलने-फूलनेवाली चीज़ नहीं, केवल साधन है। मुझे धन की बिल्कुल इच्छा नहीं, आप वह साधन जुटा दें, जिसमें मैं अपने जीवन का उपयोग कर सकूँ।

ओंकारनाथ समष्टिवादी थे। व्यक्ति की इस प्रधानता को कैसे स्वीकार करते ?

"इसी तरह हर एक मज़दूर कह सकता है कि उसे काम करने की सुविधाओ के लिए एक हज़ार महीने की ज़रूरत है।"

"अगर आप समझते हैं कि उस मज़दूर के बग़ैर आपका काम नहीं चल सकता, तो आपको वह सुविधाएँ देनी पड़ेंगी। अगर वही काम दूसरा मजदूर थोड़ी-सी मजदूरी में कर दे, तो कोई वजह नहीं कि आप पहले मजदूर की खुशामद करें।"

"अगर मजदूरों के हाथ में अधिकार होता, तो मजदूरों के लिए स्त्री और शराब भी उतनी ही सुविधा हो जाती, जितनी फ़िलासफ़रों के लिए।"

"तो आप विश्वास मानिए, मैं उनसे ईर्ष्या न करता।"

"जब आपका जीवन सार्थक करने के लिए स्त्री इतनी आवश्यक है, तो आप शादी क्यों नहीं कर लेते ?"

मेहता ने निःसंकोच भाव से कहा—इसीलिए कि मैं समझता हूँ, मुक्त भोग आत्मा के विकास में बाधक नही होता। विवाह तो आत्मा को और जीवन को पिंजरे मे बन्द कर देता है।

खन्ना ने इसका समर्थन किया—बंधन और निग्रह पुरानी थ्योरियाँ हैं। नयी थ्योरी है—मुक्त भोग।

मालती ने चोटी पकड़ी—तो अब मिसेज खन्ना तलाक के लिए तैयार रहना चाहिए।

"तलाक का बिल पास तो हो।"

"शायद उसका पहला उपयोग आप ही करेंगे ?"

कामिनी ने मालती की ओर विष-भरी आँखों से देखा और मुँह सिकोड़ लिया, मानो कह रही है—खन्ना तुम्हें मुबारक रहें, मुझे परवा नहीं।

मालती ने मेहता की तरफ़ देखकर कहा—इस विषय में आपके क्या विचार हैं मिस्टर मेहता ?

मेहता गम्भीर हो गये। वह किसी प्रश्न पर अपना मत प्रकट करते थे, तो जैसे अपनी सारी आत्मा उसमें डाल देते थे।

"विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"

"तो आप तलाक के विरोधी हैं, क्यों ?"

"पक्का।"

"और मुक्त भोगवाला सिद्धान्त ?"

"वह उनके लिए है, जो विवाह नहीं करना चाहते।"

"अपनी आत्मा का सम्पूर्ण विकास सभी चाहते हैं; फिर विवाह कौन करे और

क्यों करे ?"

"इसीलिए कि मुक्ति सभी चाहते हैं; पर ऐसे बहुत कम हैं, जो लोभ से अपना गला छुड़ा सकें।"

"आप श्रेष्ठ किसे समझते हैं, विवाहित जीवन को या अविवाहित जीवन को ?"

"समाज की दृष्टि से विवाहित जीवन को, व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन को।"

धनुष-यज्ञ का अभिनय निकट था। दस से एक तक धनुष-यज्ञ, एक से तीन तक प्रहसन, यह प्रोग्राम था। भोजन की तैयारी शुरू हो गयी। मेहमानों के लिए बँगले में रहने का अलग-अलग प्रबन्ध था। खन्ना-परिवार के लिए दो कमरे रखे गये थे। और भी कितने ही मेहमान आ गए थे। सभी अपने-अपने कमरे में गये और कपड़े बदल-बदलकर भोजनालय में जमा हो गये। यहाँ छूत-छात का कोई भेद न था। सभी जातियों और वर्णों के लोग साथ भोजन करने बैठे। केवल सम्पादक ओंकार नाथ सबसे अलग अपने कमरे में फलाहार करने गये। और कामिनी खन्ना को सिरदर्द हो रहा था, उन्होंने भोजन करने से इनकार किया। भोजनालय में मेहमानों की संख्या पच्चीस से कम न थी। शराब भी थी और मांस भी। इस उत्सव के लिए रायसाहब अच्छी क़िस्म की शराब ख़ास तौर पर खिंचवाते थे। खींची जाती थी दवा के नाम से; पर होती थी खालिस श़राब। मांस भी कई तरह के पकते थे, कोफ़्ते, कबाब और पुलाव। मुर्ग, मुर्गियाँ, बकरा, हिरन, तीतर, मोर, जिसे जो पसन्द हो, वह खाये।

भोजन शुरू हो गया तो मिस मालती ने पूछा—सम्पादकजी कहाँ रह गये ? किसी को भेजो रायसाहब, उन्हें पकड़ लाए।

रायसाहब ने कहा—वह वैष्णव हैं, उन्हें यहाँ बुलाकर क्यों बेचारे का धर्म नष्ट करोगी ? बड़ा ही आचारनिष्ठ आदमी है।

"अजी और कुछ न सही, तमाशा तो रहेगा।"

सहसा एक सज्जन को देखकर उसने पुकारा—आप भी तशरीफ रखते हैं मिर्जा खुर्शेद, यह काम आपके सुपुर्द। आपकी लियाकत की परीक्षा हो जायेगी।

मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूँछें, नीली आँखें, दोहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहने थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे; मगर शराब खूब पीते थे। कहते थे, जब हम खुदा का एक हुक्म भी कभी नहीं मानते, तो दीन के लिए क्यों जान दें ! बड़े दिल्लगीबाज़, बेफिक्रे जीव थे। पहले बसरे में ठीके का कारोबार करते थे। लाखों कमाये, मगर शामत आयी कि एक मेम से आशनाई कर बैठे। मुकदमेबाज़ी हुई। जेल जाते-जाते बचे। चौबीस घण्टे के अन्दर मुल्क से निकल जाने का हुक्म हुआ। जो कुछ जहाँ था, वहीं छोड़ा और सिर्फ पचास हज़ार लेकर भाग खड़े हुए। बम्बई

में उनके एजेण्ट थे। सोचा था, उनसे हिसाब-किताब कर लें और जो कुछ निकलेगा, उसी में ज़िन्दगी काट देंगे, मगर एजेण्टों ने जाल करके उनसे वह पचास हज़ार भी ऐंठ लिये। निराश होकर वहाँ से लखनऊ चले। गाड़ी में एक महात्मा से साक्षात् हुआ। महात्माजी ने उन्हें सब्ज़ बाग़ दिखाकर उनकी घड़ी, अँगूठियाँ, रुपये सब उड़ा लिए। बेचारे लखनऊ पहुँचे तो देह के कपड़ों के सिवा कुछ न था। रायसाहब से पुरानी मुलाकात थी। कुछ उनकी मदद से और कुछ अन्य मित्रों की मदद से एक जूते की दुकान खोल ली। वह अब लखनऊ की सबसे चलती हुई जूते की दुकान थी, चार-पाँच सौ रोज़ की बिक्री थी। जनता को उन पर थोड़े ही दिनों में इतना विश्वास हो गया कि एक बड़े भारी मुस्लिम ताल्लुकेदार को नीचा दिखाकर कौंसिल में पहुँच गये।

अपनी जगह पर बैठे-बैठे बोले—जी नहीं, मैं किसी का दीन नहीं बिगाड़ता। यह काम आपको खुद करना चाहिए। मज़ा तो जब है कि आप उन्हे शराब पिलाकर छोड़ें। यह आपके हुस्न के जादू की आजमाइश है।

चारों तरफ़ से आवाज़ें आयीं—हाँ-हाँ, मिस मालती, आज अपना कमाल दिखाइए। मालती ने मिर्जा को ललकारा—कुछ इनाम दोगे ?

"सौ रुपए की एक थैली !"

"हुश ! सौ रुपए ! लाख रुपये का धर्म बिगाड़ूँ सौ के लिए।"

"अच्छा, आप खुद अपनी फीस बताइए।"

"एक हज़ार, कौड़ी कम नहीं।"

"अच्छा, मंजूर।"

"जी नहीं, लाकर मेहताजी के हाथ में रख दीजिए।"

मिर्जाजी ने तुरन्त सौ रुपये का नोट जेब से निकाला और उसे दिखाते हुए खड़े होकर बोले—भाइयो ! यह हम सब मरदों की इज्जत का मामला है। अगर मिस मालती की फरमाइश न पूरी हुई, तो हमारे लिए कहीं मुँह दिखाने की जगह न रहेगी। अगर मेरे पास रुपये होते, तो मैं मिस मालती की एक-एक अदा पर एक-एक लाख कुरबान कर देता। एक पुराने शायर ने अपने माशूक के एक काले तिल पर समरकन्द और बोखारा के सूबे कुरबान कर दिये थे। आज आप सभी साहबों की जवाँमरदी और हुस्नपरस्ती का इम्तहान है। जिसके पास जो कुछ हो सच्चे सूरमा की तरह निकालकर रख दें। आपको इल्म की कसम, माशूक की अदाओं की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटाइए। मरदो ! रुपये ख़र्च हो जायेंगे, नाम हमेशा के लिए रह जायेगा। ऐसा तमाशा लाखों में भी सस्ता है। देखिए, लखनऊ के हसीनों की रानी एक जाहिद पर अपने हुस्न का मन्त्र कैसे चलाती है ?

भाषण समाप्त करते ही मिर्ज़ाजी ने हरएक की जेब की तलाशी शुरू कर दी। पहले मिस्टर खन्ना की तलाशी हुई। उनकी जेब से पाँच रुपये निकले।

मिर्ज़ा ने मुँह फीका करके कहा—वाह खन्ना साहब, वाह ! नाम बड़े दर्शन

थोड़े। इतनी कम्पनियों के डायरेक्टर, लाखों की आमदनी और आपकी जेब में पाँच रुपये ! लाहौल विला कूवत ! कहाँ हैं मेहता ? आप ज़रा जाकर मिसेज़ खन्ना से कम-से कम सौ रुपये वसूल कर लाएँ।

खन्ना खिसियाकर बोले–अजी, उनके पास एक पैसा भी न होगा। कौन जानता था कि यहाँ आप तलाशी लेना शुरू करेंगे ?

"ख़ैर, आप ख़ामोश रहिए। हम अपनी तकदीर तो आज़मा लें।"

"अच्छा, तो मैं जाकर उनसे पूछता हूँ !"

"जी नहीं, आप यहाँ से हिल नहीं सकते। मिस्टर मेहता, आप फिलासफर हैं, मनोविज्ञान के पण्डित। देखिए, अपनी भद न कराइएगा।"

मेहता शराब पीकर मस्त हो जाते थे। उस मस्ती में उनका दर्शन उड़ जाता था और विनोद सजीव हो जाता था। लपककर मिसेज खन्ना के पास गये और पाँच मिनट ही में मुँह लटकाए लौट आये।

मिर्ज़ा ने पूछा–अरे, क्या ख़ाली हाथ ?

रायसाहब हँसे–काजी के घर चूहे भी सयाने।

मिर्ज़ा ने कहा–हो बड़े खुशनसीब खन्ना, खुदा की क़सम !

मेहता ने क़हक़हा मारा और जेब से सौ-सो रुपये के पाँच नोट निकाले।

मिर्ज़ा ने लपककर उन्हें गले लगा लिया।

चारों तरफ़ से आवाज़ें आने लगीं–कमाल है, मानता हूँ उस्ताद, क्यों न हो, फ़िलासफ़र ही जो ठहरे !

मिर्ज़ा ने नोटों को आँखों से लगाकर कहा–भई मेहता, आज से मैं तुम्हारा शागिर्द हो गया। बताओ, क्या जादू मारा?

मेहता अकड़कर, लाल-लाल आँखों से ताकते हुए बोले–अजी, कुछ नहीं। ऐसा कौन-सा बड़ा काम था। जाकर पूछा, अन्दर आऊँ ? बोलीं–आप हैं मेहताजी, आइए ' मैंने अन्दर जाकर कहा, वहाँ लोग ब्रिज खेल रहे हैं ! अँगूठी एक हजार से कम की नहीं है। आपने तो देखा है। बस वही। आपके पास रुपये हों, तो पाँच सौ रुपये देकर एक हज़ार की चीज ले लीजिए। ऐसा मौक़ा फिर न मिलेगा। मिस मालती ने इस वक्त रुपये न दिये, तो बेदाग निकल जायेंगी। पीछे से कौन देता है, शायद इसीलिए उन्होंने अँगूठी निकाली है कि पाँच सौ रुपये किसके पास धरे होंगे। मुसकराईं और चट अपने बटुवे से पाँच नोट निकालकर दे दिए, और बोलीं–मैं बिना कुछ लिये घर से नहीं निकलती न जाने कब क्या ज़रूरत पड़े।

खन्ना खिसियाकर बोले–जब हमारे प्रोफ़ेसर का यह हाल है, तो यूनिवर्सिटी का ईश्वर ही मालिक है।

खुर्शेद ने घाव पर नमक छिड़का–अरे, तो ऐसी कौन-सी बड़ी रक़म है, जिसके लिए आपका दिल बैठा जाता है। खुदा झूठ न बुलाए तो यह आपकी एक दिन की आमदनी है। समझ लीजिएगा, एक दिन बीमार पड़ गये, और जायेगा भी तो

मिस मालती ही के हाथ में। आपके दर्द जिगर की दवा मिस मालती ही के पास तो है।

मालती ने ठोकर मारी—देखिए मिर्ज़ाजी, तबेले में लतिआहुज अच्छी नहीं।

मिर्ज़ा ने दुम हिलायी—कान पकड़ता हूँ देवीजी !

मिस्टर तंखा की तलाशी हुई। मुश्किल से दस रुपये निकले, मेहता की जेब से केवल अठन्नी निकली ! कई सज्जनों ने एक-एक रुपये खुद दे दिये। हिसाब जोड़ा गया, तो तीन सौ की कमी थी। यह कमी रायसाहब ने उदारता के साथ पूरी कर दी।

सम्पादकजी ने मेवे और फल खाए थे और ज़रा कमर सीधी कर रहे थे कि रायसाहब ने जाकर कहा—आपको मिस मालती याद कर रही हैं।

खुश होकर बोले—मिस मालती मुझे याद कर रही हैं, धन्य-भाग ! रायसाहब के साथ ही हाल में आ विराजे।

उधर नौकरों ने मेज़े साफ़ कर दी थीं। मालती ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया।

सम्पादकजी ने नम्रता दिखायी—बैठिए, तकल्लुफ़ न कीजिए। मैं इतना बड़ा आदमी नहीं हूँ।

मालती ने श्रद्धा-भरे स्वर में कहा—आप तकल्लुफ समझते होंगे, मैं समझती हूँ, मैं अपना सम्मान बढ़ा रही हूँ; यों आप अपने को कुछ समझें और आपको शोभा भी नहीं देता है, लेकिन यहाँ जितने सज्जन जमा हैं, सभी आपकी राष्ट्र और साहित्य-सेवा से भली भाँति परिचित हैं। आपने इस क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण काम किया है, अभी चाहे लोग उसका मूल्य न समझें; लेकिन वह समय बहुत दूर नहीं है—मैं तो कहती हूँ, वह समय आ गया है—जब हर एक नगर में आपके नाम की सड़कें बनेंगी, क्लब बनेंगे, टाउनहालों में आपके चित्र लटकाए जायेंगे। इस वक़्त जो थोड़ी-बहुत जागृति है, वह आप ही के महान उद्योग का प्रसाद है। आपको यह जानकर आनन्द होगा कि देश में अब आपके ऐसे अनुयायी पैदा हो गए हैं, जो आपके देहात-सुधार-आन्दोलन में आपका हाथ बँटाने को उत्सुक हैं, और उन सज्जनों की बड़ी इच्छा है कि यह काम संगठित रूप से किया जाय और एक देहात-सुधार संघ स्थापित किया जाय, जिसके आप सभापति हों।

ओंकारनाथ के जीवन में यह पहला अवसर था कि उन्हें चोटी के आदमियों में इतना सम्मान मिले। यों वह कभी-कभी आम जलसों में बोलते थे और कई सभाओं के मन्त्री और उपमन्त्री भी थे; लेकिन शिक्षित समाज ने अब तक उनकी उपेक्षा ही की थी। उन लोगों में वह किसी तरह मिल न पाते थे, इसलिये आम-जलसों में उनकी निष्क्रियता और स्वार्थान्धता की शिकायत क्या करते थे और अपने पत्र में एक-एक को रगेदते थे। कलम तेज़ थी, वाणी कठोर, साफगोई की जगह उच्छृंखलता कर बैठते थे, इसलिए लोग उन्हें ख़ाली ढोल समझते थे। उसी समाज

में आज उनका इतना सम्मान ! कहाँ हैं आज 'स्वराज' और 'स्वाधीन भारत' और 'हंटर' के सम्पादक, आकर देखें और अपना कलेजा ठंडा करें। आज अवश्य ही देवताओं की उन पर कृपादृष्टि है। सदुद्योग कभी निष्फल नहीं जाता, यह ऋषियों का वाक्य है। वह स्वयं अपनी नज़रों में उठ गये। कृतज्ञता से पुलकित होकर बोले—देवीजी, आप तो मुझे काँटों में घसीट रही हैं। मैंने तो जनता की जो कुछ भी सेवा की, अपना कर्त्तव्य समझकर की। मैं इस सम्मान को अपना नहीं, उस उद्देश्य का सम्मान समझ रहा हूँ, जिसके लिए मैंने अपना जीवन अर्पित कर दिया है, लेकिन मेरा नम्र निवेदन है कि प्रधान का पद किसी प्रभावशाली पुरुष को दिया जाय, मैं पदों में विश्वास नहीं रखता। मैं तो सेवक हूँ और सेवा करना चाहता हूँ।

मिस मालती इसे किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकतीं। सभापति पण्डितजी को बनना पड़ेगा। नगर में उसे ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति दूसरा नहीं दिखाई देता। जिसकी कलम में जादू है, जिसकी ज़बान में जादू है, जिसके व्यक्तित्व में जादू है, अब प्रतिभा और प्रभाव के मेल का युग है। सम्पादकजी को यह पद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। मन्त्री मिस मालती होंगी। इस सभा के लिए एक हज़ार का चन्दा भी हो गया है और अभी तो सारा शहर और प्रान्त पड़ा हुआ है। चार-पाँच लाख मिल जाना मामूली बात है।

ओंकारनाथ पर कुछ नशा-सा चढ़ने लगा। उनके मन में जो एक प्रकार की फुरफुरी-सी उठ रही थी, उसने गम्भीर उत्तरदायित्व का रूप धारण कर लिया। बोले—मगर यह आप समझ लें, मिस मालती, कि यह बड़ी ज़िम्मेदारी का काम है और आपको अपना बहुत समय देना पड़ेगा। मैं अपनी तरफ़ से आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप सभा-भवन में मुझे सबसे पहले मौजूद पायेंगी।

मिर्ज़ाजी ने पुचारा दिया—आपका बड़े-से-बड़ा दुश्मन भी यह नहीं कह सकता कि आप अपना फर्ज़ अदा करने में कभी किसी से पीछे रहे।

मिस मालती ने देखा, शराब कुछ-कुछ असर करने लगी है, तो और भी गम्भीर बनकर बोलीं—अगर हम लोग इस काम की महानता न समझते, तो न यह सभा स्थापित होती और न आप इसके सभापति होते। हम किसी रईस या ताल्लुकेदार को सभापति बनाकर धन खूब बटोर सकते हैं, और सेवा की आड़ में स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं, लेकिन यह हमारा उद्देश्य नहीं। हमारा एकमात्र उद्देश्य जनता की सेवा करना है। और उसका सबसे बड़ा साधन आपका पत्र है। हमने निश्चय किया है कि हरएक नगर और गाँव में उसका प्रचार किया जाय और जल्द-से-जल्द उसकी ग्राहक-संख्या को बीस हज़ार तक पहुँचा दिया जाय। प्रान्त की सभी म्युनिसिपैलिटियों और जिल्ला बोर्ड के चेयरमैन हमारे मित्र हैं। कई चेयरमैन तो यहीं विराजमान हैं। अगर हरएक ने पाँच-पाँच सौ प्रतियाँ भी ले लीं, तो पचीस हज़ार प्रतियाँ तो आप यकीनी समझें। फिर रायसाहब और मिर्ज़ा साहब की यह सलाह है कि कौंसिल में इस विषय का एक प्रस्ताव रखा जाये कि प्रत्येक गाँव के लिए 'बिजली' की एक

प्रति सरकारी तौर पर मँगाई जाय, या कुछ वार्षिक सहायता स्वीकार की जाय और हमें पूरा विश्वास है कि यह प्रस्ताव पास हो जायेगा।

ओंकारनाथ ने जैसे नशे में झूमते हुए कहा–हमें गवर्नर के पास डेपुटेशन ले जाना होगा।

मिर्ज़ा खुर्शेद बोले–ज़रूर-ज़रूर !

"उनसे कहना होगा कि किसी सभ्य शासन के लिए यह कितनी लज्जा और कलंक की बात है कि ग्रामोत्थान का अकेला पत्र होने पर भी 'बिजली' का अस्तित्व तक नहीं स्वीकार किया जाता।"

मिर्ज़ा खुर्शेद ने कहा–अवश्य-अवश्य !

"मैं ग़र्व नहीं करता। अभी गर्व करने का समय नहीं आया; लेकिन मुझे इसका दावा है कि ग्राम्य-संगठन के लिए 'बिजली' ने जितना उद्योग किया है..."

मिस्टर मेहता ने सुधारा–नहीं महाशय, तपस्या कहिए।

"मैं मिस्टर मेहता को धन्यवाद देता हूँ। हाँ, इसे तपस्या ही कहना चाहिए, बड़ी कठोर तपस्या। 'बिजली' ने जो तपस्या की है, वह इस प्रान्त के ही नहीं, इस राष्ट्र के इतिहास में अभूतपूर्व है।"

मिर्ज़ा खुर्शेद बोले–ज़रूर-ज़रूर !

मिस मालती ने एक पेग और दिया–हमारे संघ ने यह निश्चय भी किया है कि कौंसिल में अबकी जो जगह खाली हो, उसके लिए आपको उम्मेदवार खड़ा किया जाए। आपको केवल अपनी स्वीकृति देनी होगी। शेष सारा काम हम लोग कर लेंगे। आपको न ख़र्च से मतलब, न प्रोपेगैंडा, न दौड़-धूप से।

ओंकारनाथ की आँखों की ज्योति दुगुनी हो गयी। गर्वपूर्ण नम्रता से बोले–मैं आप लोगों का सेवक हूँ, मुझसे जो काम चाहें ले लीजिए।

"हमलोगों को आपसे ऐसी ही आशा है। हम अब तक झूठे देवताओं के सामने नाक रगड़ते-रगड़ते हार गये और कुछ हाथ न लगा। अब हमने आपमें सच्चा पथ-प्रदर्शक, सच्चा गुरु पाया है और इस शुभ दिन के आनन्द में आज हमें एकमन, एकप्राण होकर अपने अहंकार को, अपने दम्भ को तिलांजलि दे देना चाहिए। हममें आज से कोई ब्राह्मण नहीं है, कोई शूद्र नहीं है, कोई हिन्दू नहीं है, कोई मुसलमान नहीं है, कोई ऊँच नहीं है, कोई नीच नहीं है। हम सब एक ही माता के बालक एक ही गोद के खेलनेवाले, एक ही थाली के खानेवाले भाई हैं। जो लोग भेद-भाव में विश्वास रखते हैं, जो लोग पृथक्ता और कट्टरता के उपासक हैं, उनके लिए हमारी सभा में स्थान नहीं है। जिस सभा के सभापति पूज्य ओंकारनाथजी जैसे विशाल-हृदय व्यक्ति हों, उस सभा में ऊँच-नीच का, खान-पान का और जाति-पाँति का भेद नहीं हो सकता। जो महानुभाव एकता में और राष्ट्रीयता में विश्वास न रखते हों, वे कृपा करके यहाँ से उठ जायें।"

रायसाहब ने शंका की–मेरे विचार में एकता का यह आशय नहीं है कि सब

लोग खान-पान का विचार छोड़ दें। मैं शराब नहीं पीता, तो क्या मुझे इस सभा से अलग हो जाना पड़ेगा ?

मालती ने निर्मम स्वर में कहा—बेशक अलग हो जाना पड़ेगा। आप इस संघ में रहकर किसी तरह का भेद नहीं रख सकते हैं।

मेहताजी ने घड़े को ठोंका—मुझे सन्देह है कि हमारे सभापतिजी स्वयं खान-पान की एकता में विश्वास नहीं रखते हैं।

ओंकारनाथ का चेहरा जर्द पड़ गया। इस बदमाश ने यह क्या बेवक्त की शहनाई बजा दी। दुष्ट कहीं गड़े-मुर्दे न उखाड़ने लगे, नहीं यह सारा सौभाग्य स्वप्न की भाँति शून्य में विलीन हो जायेगा।

मिस मालती ने उनके मुँह की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखकर दृढ़ता से कहा—आपका सन्देह निराधार है मेहता महोदय ! क्या आप समझते हैं कि राष्ट्र की एकता का ऐसा अनन्य उपासक, ऐसा उदारचेता पुरुष, ऐसा रसिक कवि इस निरर्थक और लज्जाजनक भेद को मान्य समझेगा ? ऐसी शंका करना उसकी राष्ट्रीयता का अपमान करना है।

ओंकारनाथ का मुख-मंडल प्रदीप्त हो गया। प्रसन्नता और सन्तोष की आभा झलक पड़ी।

मालती ने उसी स्वर में कहा—और इससे भी अधिक उनकी पुरुष-भावना का। एक रमणी के हाथों से शराब का प्याला पाकर वह कौन भद्र पुरुष होगा, जो इनकार कर दे ? यह तो नारी-जाति का अपमान होगा, उस नारी-जाति का, जिसके नयन-बाणों से अपने हृदय को बिंधवाने की लालसा पुरुष-मात्र में होती है, जिसकी अदाओं पर मर-मिटने के लिए बड़े-बड़े महीप लालायित रहते हैं। लाइए, बोतल और प्याले, और दौर चलने दीजिए। इस महान अवसर पर, किसी तरह की शंका, किसी तरह की आपत्ति राष्ट्रद्रोह से कम नहीं। पहले हम अपने सभापति की सेहत का जाम पीयेंगे।

बर्फ, शराब और सोडा पहले ही से तैयार था। मालती ने ओंकारनाथ को अपने हाथों से लाल विष से भरा हुआ ग्लास दिया, और उन्हें कुछ ऐसी जादू-भरी चितवन से देखा कि उनकी सारी निष्ठा, सारी वर्ण-श्रेष्ठता काफूर हो गयी। मन ने कहा—सारा आचार-विचार परिस्थितियों के अधीन है। आज तुम दरिद्र हो, किसी मोटरकार को धूल उड़ाते देखते हो, तो ऐसा बिगड़ते हो कि उसे पत्थरों से चूर-चूर कर दो; लेकिन क्या तुम्हारे मन में कार की लालसा नहीं है ? परिस्थिति ही विधि है और कुछ नहीं। बाप-दादों ने नहीं पी थी, न पी हो। उन्हें ऐसा अवसर ही कब मिला था ? उनकी जीविका पोथी-पत्रों पर थी। शराब लाते कहाँ से, और पीते भी तो जाते कहाँ ? फिर वह तो रेलगाड़ी पर न चढ़ते थे, कल का पानी न पीते थे, अंग्रेजी पढ़ना पाप समझते थे। समय कितना बदल गया है। समय के साथ अगर नहीं चल सकते, तो वह तुम्हें पीछे छोड़कर चला जायेगा। ऐसी महिला के कोमल

हाथों से विष भी मिले तो शिरोधार्य करना चाहिए। जिस सौभाग्य के लिए बड़े-बड़े राजे तरसते हैं, वह आज उनके सामने खड़ा है। क्या वह उसे ठुकरा सकते हैं ?

उन्होंने ग्लास ले लिया और सिर झुकाकर अपनी कृतज्ञता दिखाते हुए एक ही साँस में पी गये और तब लोगों को गर्व भरी आँखों से देखा, मानों कह रहे हों, अब तो आपको मुझ पर विश्वास आया। क्या समझते हैं, मैं निरा पोंगा पण्डित हूँ। अब तो मुझे दम्भी और पाखण्डी कहने का साहस नहीं कर सकते ?

हाल में ऐसा शोरगुल मचा कि कुछ न पूछो, जैसे पिटारे में बन्द कहकहे निकल पड़े हों। वाह देवीजी ! क्या कहना है ! कमाल है मिस मालती, कमाल है ! तोड़ दिया, नमक का क़ानून तोड़ दिया, धम का क़िला तोड़ दिया, नेम का घड़ा फोड़ दिया !

ओंकारनाथ के कंठ के नीचे शराब का पहुँचना था कि उनकी रसिकता वाचाल हो गई। मुसकराकर बोले–मैंने अपने धर्म की थाती मिस मालती के कोमल हाथों में सौंप दी और मुझे विश्वास है, वह उसकी यथोचित रक्षा करेंगी। उनके चरण-कमलों के इस प्रसाद पर मैं ऐसे एक हज़ार धर्मों को न्योछावर कर सकता हूँ।

क़हक़हों से हॉल गूँज उठा।

सम्पादकजी का चेहरा फूल उठा था, आँखें झुकी पड़ती थीं। दूसरा ग्लास भरकर बोले–यह मिस मालती की सेहत का जाम है। आप लोग पियें और आशीर्वाद दें।

लोगों ने फिर अपने-अपने ग्लास खाली कर दिये।

उसी वक्त मिर्ज़ा खुर्शेद ने एक माला लाकर सम्पादकजी के गले में डाल दी और बोले–सज्जनो, फिदवी ने अभी अपने पूज्य सदर साहब की शान में एक कसीदा कहा है। आप लोगों की इज़ाज़त हो तो सुनाऊँ।

चारों तरफ़ से आवाज़ें आयीं–हाँ-हाँ, ज़रूर सुनाइए।

ओंकारनाथ भंग तो आए दिन पिया करते थे और उनका मस्तिष्क उसका अभ्यस्त हो गया था, मगर शराब पीने का उन्हें यह पहला अवसर था। भंग का नशा मन्थर गति से एक स्वप्न की भाँति आता था और मस्तिष्क पर मेघ के समान छा जाता था। उनकी चेतना बनी रहती थी। उन्हें खुद मालूम होता था कि इस समय उनकी वाणी बड़ी लच्छेदार है, और उनकी कल्पना बहुत प्रबल। शराब का नशा उनके ऊपर सिंह की भाँति झपटा और दबोच बैठा। वह कहते कुछ हैं, मुँह से निकलता कुछ है। फिर यह ज्ञान भी जाता रहा। वह क्या कहते हैं और क्या करते हैं, इसकी सुधि ही न रही। यह स्वप्न का रोमानी वैचित्र्य न था, जागृति का वह चक्कर था, जिसमें साकार निराकार हो जाता है।

न जाने कैसे उनके मस्तिष्क में यह कल्पना जाग उठी कि कसीदा पढ़ना कोई बड़ा अनुचित काम है। मेज पर हाथ पटककर बोले–नहीं, कदापि नहीं। यहाँ कोई कसीदा नयी ओगा, नयी होगा। हम सभापति हैं। हमारा हुक्म है। हम अबी इस

सबा को तोड़ सकते हैं। अबी तोड़ सकते हैं। सभी को निकाल सकते हैं। कोई हमारा कुछ नयी कर सकता। हम सभापति हैं। कोई दूसरा सभापति नयी है।

मिर्ज़ा ने हाथ जोड़कर कहा—हुजूर, इस कसीदे में तो आपकी तारीफ़ की गयी है।

सम्पादकजी ने लाल, पर ज्योतिहीन नेत्रों से देखा—तुम हमारी तारीप क्यों की ? क्यों की ? बोलो, क्यों हमारी तारीप की ? हम किसी का नौकर नयी है। किसी के बाप का नौकर नयीं है, किसी साले का दिया नहीं खाते। हम खुद सम्पादक हैं। हम 'बिजली' का सम्पादक है। हम उसमें सबका तारीप करेगा। देवीजी, हम तुम्हारा तारीप नयी करेगा। हम कोई बड़ा आदमी नयी है। हम सबका गुलाम है। हम आपका चरण-रज है। मालती देवी हमारी लक्ष्मी, हमारी सरस्वती, हमारी राधा···

यह कहते हुए वे मालती के चरणों की तरफ झुके और मुँह के बल फर्श पर गिर पड़े। मिर्ज़ा खुर्शेद ने दौड़कर उन्हें सँभाला और कुर्सियाँ हटाकर वहीं ज़मीन पर लिटा दिया। फिर उनके कानों के पास मुँह ले जाकर बोले—राम-राम सत्त है ! कहिए तो आपका जनाज़ा निकालें ?

रायसाहब ने कहा—कल देखना कितना बिगड़ता है। एक-एक को अपने पत्र में रगेदेगा। और ऐसा रगेदेगा कि आप भी याद करेंगे ! एक ही दुष्ट है, किसी पर दया नहीं करता। लिखने में तो अपना ज़ोड़ नहीं रखता। ऐसा गधा आदमी कैसे इतना अच्छा लिखता है, यह रहस्य है।

कई आदमियों ने सम्पादकजी को उठाया और ले जाकर उनके कमरे में लिटा दिया। उधर पण्डाल में धनुष-यज्ञ हो रहा था। कई बार इन लोगों को बुलाने के लिए आदमी आ चुके थे। कई हुक्काम भी पण्डाल में आ पहुँचे थे। लोग उधर जाने को तैयार हो रहे थे कि सहसा एक अफ़गान आकर खड़ा हो गया। गोरा रंग, बड़ी बड़ी मूँछें, ऊँचा कद, चौड़ा सीना, आँखों में निर्भयता का उन्माद भरा हुआ, ढीला नीचा कुरता, पैरों में शलवार, जरी के काम की सदरी, सिर पर पगड़ी और कुलाह, कन्धे में चमड़े का बैग लटकाए, कन्धे पर बन्दूक़ रखे और कमर में तलवार बाँधे न जाने किधर से आ खड़ा हो गया और गरजकर बोला—खबरदार ! कोई यहाँ से मत जाओ। अमारा साथ का आदमी पर डाका पड़ा है। यहाँ का जो सरदार है, वह अमारा आदमी को लूट लिया है, उसका माल तुमको देना होगा ! एक-एक कौड़ी देना होगा ! कहाँ है सरदार, उसको बुलाओ।

रायसाहब ने सामने आकर क्रोध-भरे स्वर में कहा—कैसी लूट ! कैसा डाका ? यह तुम लोगों का काम है। यहाँ कोई किसी को नहीं लूटता। साफ़-साफ़ कहो, क्या मामला है ?

अफ़गान ने आँखें निकालीं और बन्दूक़ का कुन्दा ज़मीन पर पटककर बोला—अमसे पूछता है कैसा लूट, कैसा डाका ? तुम लूटता है, तुम्हारा आदमी लूटता

है। अम यहाँ की कोठी का मालिक है। अमारी कोठी में पचास जवान है। अमारा आदमी रुपये तहसील कर लाता था। एक हज़ार। वह तुम लूट लिया, और कहता है, कैसा डाका ? अम बतलाएगा, कैसा डाका होता है। अमारा पचीसों जवान अबी आता है। अम तुम्हारा गाँव लूट लेगा। कोई साला कुछ नयीं कर सकता, कुछ नयीं कर सकता।

खन्ना ने अफ़गान के तेवर देखे तो चुपके से उठे कि निकल जायें। सरदार ने ज़ोर से डाँटा—काँ जाता तुम ? कोई कईं नयीं जा सकता, नयीं अम सबको कत्ल कर देगा। अबी फैर कर देगा। अमारा तुम कुछ नयीं कर सकता। अम तुम्हारा पुलिस से नहीं डरता। पुलिस का आदमी अमारा सकल देखकर भागता है। अमारा अपना कांसल है, अम उसको खत लिखकर लाट साहब के पास जा सकता है। अम याँ से किसी को नयीं जाने देगा। तुम अमारा एक हज़ार रुपया लूट लिया। अमारा रुपया नयीं देगा, तो अम किसी को जिन्दा नयीं छोड़गा। तुम सब आदमी दूसरों के माल को लूट करता है और याँ माशूक के साथ शराब पीता है।

मिस मालती उसकी आँख बचाकर कमरे से निकलने लगीं कि वह बाज़ की तरह टूटकर उनके सामने आ खड़ा हुआ, बोला—तुम इन बदमाशों से अमारा माल दिलवाए, नयीं अम तुमको उठा ले जायेगा, अपनी कोठी पर जशन मनाएगा। तुम्हारा हुसत पर अम आशिक हो गया। या तो अमको एक हज़ार अबी-अबी दे दे या तुमको अमारे साथ चलना पड़ेगा। तुमको अम नयीं छोड़ेगा। अम तुम्हारा आशिक हो गया है। अमारा दिल और जिगर फटा जाता है। अमारा इस जगह पचीस जवान है। इस ज़िला में हमारा पाँच सौ जवान काम करता है अम अपने क़बीले का ख़ान है। अमारे क़बीला में दस हज़्ज़ार सिपाही हैं। अम काबुल के अमीर से लड़ सकता है। अंग्रेज सरकार अमको बीस हज़ार सालाना खिराज देता है। अगर तुम हमारा रुपया नयीं देगा, तो अम गाँव लूट लेगा और तुम्हारा माशूक को उठा ले जायेगा। खून करने में अमको लुतफ आता है। अम खून का दरिया बहा देगा।

मजलिस पर आतंक छा गया। मिस मालती अपना चहकना भूल गयीं। खन्ना की पिंडलियाँ काँप रही थीं। बेचारे चोट-चपेट के भय से एक मंजिले बँगले में रहते थे। जीने पर चढ़ना उनके लिए सूली पर चढ़ने से कम न था। गरमी में भी डर के मारे कमरे में सोते थे। रायसाहब को ठकुराई का अभिमान था। वह अपने ही गाँव में पठान से डर जाना हास्यास्पद समझते थे, लेकिन उसकी बन्दूक को क्या करते ? उन्होंने जरा भी चीं-चपड़ किया और इसने बन्दूक चलायी। हूश तो होते ही हैं ये सब, और निशाना भी इन सबों का कितना अचूक होता है ; अगर उसके हाथ में बन्दूक न होती, तो रायसाहब उससे सींग मिलाने को भी तैयार हो जाते। मुश्किल यही थी कि दुष्ट किसी को बाहर नहीं जाने देता। नहीं, दम-के-दम में सारा गाँव जमा हो जाता और इसके पूरे जत्थे को पीट-पाटकर रख देता।

आख़िर उन्होंने दिल मजबूत किया और जान पर खेलकर बोले—हमने आपसे

कह दिया कि हम चोर-डाकू नहीं हैं। मैं यहाँ की कौंसिल का मेम्बर हूँ और यह देवीजी लखनऊ की सुप्रसिद्ध डाक्टर हैं। यहाँ सभी शरीफ और इज़्ज़तदार लोग जमा हैं। हमें बिलकुल ख़बर नहीं, आपके आदमियों को किसने लूटा ? आप जाकर थाने में रपट कीजिए।

ख़ान ने ज़मीन पर पैर पटके, पैंतरे बदले और बन्दूक़ को कंधे से उतारकर हाथ में लेता हुआ दहाड़ा—मत बक-बक करो। काउन्सिल का मेम्बर को अम इस तरह पैरों से कुचल देता है। (ज़मीन पर पाँव रगड़ता है) अमारा हाथ मजबूत है, अमारा दिल मजबूत है, अम खुदाताला के सिवा और किसी से नयीं डरता। तुम अमारा रुपया नहीं देगा, तो अम (रायसाहब की तरफ़ इशारा कर) अभी तुमको कत्ल कर देगा।

अपनी तरफ़ बन्दूक़ की नली देखकर रायसाहब झुककर मेज़ के बराबर आ गये। अजीब मुसीबत में जान फँसी थी। शैतान बरबस कहे जाता है, तुमने हमारे रुपये लूट लिये। न कुछ सुनता है, न कुछ समझता है, न किसी को बाहर जाने-आने देता है नौकर-चाकर, सिपाही-प्यादे, सब धनुष-यज्ञ देखने मे मग्न थे। जमींदारों के नौकर यों भी आलसी और काम-चोर होते ही हैं, जब तक दस दफे न पुकारा जाता, बोलते ही नहीं; और इस वक्त तो वे एक शुभ काम में लगे हुए थे। धनुष-यज्ञ उनके लिए केवल तमाशा नहीं, भगवान की लीला थी; अगर एक आदमी भी इधर आ जाता, तो सिपाहियों को ख़बर हो जाती और दम-भर में खान का सारा खानपान निकल जाता, दाढ़ी के एक-एक बाल नुच जाते। कितना गुस्सेवर है। होते भी तो जल्लाद हैं ! न मरने का ग़म, न जीने की खुशी। मिर्ज़ा साहब ने चकित नेत्रों से देखा—क्या बताऊँ, कुछ अक्ल काम नहीं करती। मैं आज अपना पिस्तौल घर ही छोड़ आया, नहीं मज़ा चखा देता।

खन्ना रोना मुँह बनाकर बोले—कुछ रुपये देकर किसी तरह इस बला को टालिए।

रायसाहब ने मालती की ओर देखा—देवीजी, अब आपकी क्या सलाह है ?

मालती का मुख-मण्डल तमतमा रहा था। बोली—होगा क्या, मेरी इतनी बेइज़्ज़ती हो रही है और आप लोग बैठे देख रहे हैं ! बीस मर्दों के होते एक उजड्ड पठान मेरी इतनी दुर्गति कर रहा है और आप लोगों के खून में ज़रा भी गर्मी नहीं आती ! आपको जान इतनी प्यारी है ? क्यों एक आदमी बाहर जाकर शोर नहीं मचाता ? क्यों आप लोग उस पर झपटकर उसके हाथ से बन्दूक नहीं छीन लेते ? बन्दूक ही तो चलाएगा ? चलाने दो। एक या दो की जान ही तो जायेगी ? जाने दो।

मगर देवीजी मर जाने को जितना आसान समझती थीं, और लोग न समझते थे। कोई आदमी बाहर निकलने की हिम्मत करे और पठान गुस्से में आकर दस-पाँच फैर कर दे, तो यहाँ सफाया हो जायेगा। बहुत होगा, पुलिस उसे फाँसी की सज़ा

द देगी। वह भा क्या ठीक। एक बड़े कबीले का सरदार है। उसे फाँसी देते हुए सरकार भी सोच-विचार करेगी। ऊपर से दबाव पड़ेगा। राजनीति के सामने न्याय को कौन पूछता है ? हमारे ऊपर उलटे मुकदमे दायर हो जायें और दण्डकारी पुलिस बिठा दी जाय, तो आश्चर्य नहीं; कितने मज़े से हँसी-मज़ाक़ हो रहा था। अब तक ड्रामा का आनन्द उठाते होते। इस शैतान ने आकर एक नयी विपत्ति खड़ी कर दी, और ऐसा जान पड़ता है, बिना दो-एक खून किये, मानेगा भी नहीं।

खन्ना ने मालती को फटकारा–देवीजी, आप तो हमें ऐसा लताड़ रही हैं, मानों अपनी प्राणरक्षा करना कोई पाप है। प्राण का मोह प्राणि-मात्र में होता है और हम लोगों में भी हो, तो कोई लज्जा की बात नही। आप हमारी जान इतनी सस्ती समझती हैं, यह देखकर मुझे खेद होता है। एक हज़ार का ही तो मुआमला है। आपके पास मुफ़्त के एक हज़ार हैं, उसे देकर क्यों नहीं विदा कर देतीं ? आप खुद अपनी बेइज़्ज़ती करा रही हैं, इसमें हमारा क्या दोष ?

रायसाहब ने गर्म होकर कहा–अगर इसने देवीजी को हाथ लगाया, तो चाहे मेरी लाश यहीं तड़पने लगे, मैं उससे भिड़ जाऊँगा। आख़िर वह भी आदमी ही तो है।

मिर्ज़ा साहब ने सन्देह से सिर हिलाकर कहा–रायसाहब, आप अभी इन सबों के मिजाज़ से वाकिफ़ नहीं हैं। यह फैर करना शुरू करेगा, तो फिर किसी को ज़िन्दा न छोड़ेगा। इनका निशाना बेखता होता है।

मि. तंखा बेचारे आनेवाले चुनाव की समस्या सुलझाने आये थे। दस-पाँच हज़ार का वारा-न्यारा करके घर जाने का स्वप्न देख रहे थे। यहाँ जीवन ही संकट में पड़ गया। बोले–सबसे सरल उपाय वही है, जो अभी खन्नाजी ने बतलाया। एक हज़ार ही की बात है और रुपये मौजूद हैं, तो आप लोग क्यों इतना सोच-विचार कर रहे हैं ?

मिस मालती ने तंखा को तिरस्कार-भरी आँखों से देखा।

"आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।"

"मैं भी यह न समझता था कि आपको रुपये इतने प्यारे हैं और वह भी मुफ्त के ?"

"जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं, तो अपने घर की स्त्रियों का अपमान भी देख सकते होंगे ?"

"तो आप भी पैसे के लिए अपने घर के पुरुषों को होम करने में संकोच न करेंगी।"

खान इतनी देर तक झल्लाया हुआ-सा इन लोगों की गिटपिट सुन रहा था। एकाएक गरजकर बोला–अम अब नयीं मानेगा। अम इतनी देर यहाँ खड़ा है, तुम लोग कोई जवाब नयीं देता। (जेब से सीटी निकालकर) अम तुमको एक लमहा और देता है, अगर तुम रुपया नयीं देता तो अम सीटी बजाएगा और अमारा पचीस जवान

यहाँ आ जायेगा। बस !

फिर आँखों में प्रेम की ज्वाला भरकर उसने मिस मालती को देखा।

"तुम अमारे साथ चलेगा दिदार ! अम तुम्हारे ऊपर फिदा हो जायेगा। अपना जान तुम्हारे कदमों पर रख देगा। इतना आदमी तुम्हारा आशिक है; मगर कोई सच्चा आशिक नहीं। सच्चा इश्क क्या है, अम दिखा देगा। तुम्हारा इशारा पाते ही अम अपने सीने में खंजर चुबा सकता है।"

मिर्ज़ा ने घिघियाकर कहा–देवीजी, खुद के लिए इस मूजी को रुपये दे दीजिए।

खन्ना ने हाथ जोड़कर याचना की–हमारे ऊपर दया करो मिस मालती।

रायसाहब तनकर बोले–हर्गिज़ नहीं। आज जो कुछ होना है, हो जाने दीजिए। या तो हम खुद मर जायेंगे, या इन ज़ालिमों को हमेशा के लिए सबक दे देंगे।

तंखा ने रायसाहब को डाँट बतायी–शेर की माँद में घुसना कोई बहादुरी नहीं है। मैं इसे मूर्खता समझता हूँ।

मगर मिस मालती के मनोभाव कुछ और ही थे। खान के लालसा-प्रदीप्त नेत्रों ने उन्हें आश्वस्त कर दिया था और अब इस काण्ड में उन्हें मनचलेपन का आनन्द आ रहा था। उनका हृदय कुछ देर इन नरपुंगवों के बीच में रहकर उसके बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने के लिए ललचा रहा था। शिष्ट प्रेम की दुर्बलता और निर्जीवता का उन्हें अनुभव हो चुका था। आज अक्खड़, अनघड़ पठान के उन्मत्त प्रेम के लिए उनका मन दौड़ रहा था, जैसे संगीत का आनन्द उठाने के बाद कोई मस्त हाथियों की लड़ाई देखने के लिए दौड़े।

उन्होंने खाँ साहब के सामने ज़ाकर निश्शंक भाव से कहा–तुम्हे रुपये नहीं मिलेंगे।

खान ने हाथ बढ़ाकर कहा–तो अम तुमको लूट ले जायेगा।

"तुम इतने आदमियों के बीच से हमें नहीं ले जा सकता।"

"अम इतने आदमियों के बीच से ले जा सकता है।"

"तुमको जान से हाथ धोना पड़ेगा।"

"अम अपने माशूक के लिए अपने जिस्म का एक-एक बोटी नुचवा सकता है।"

उसने मालती का हाथ पकड़कर खींचा। उसी वक़्त होरी ने कमरे में क़दम रखा। वह राजा जनक का माली बना हुआ था और उसके अभिनय ने देहातियों को हँसाते-हँसाते लोटा दिया था। उसने सोचा, मालिक अभी तक क्यों नहीं आये ? वह भी तो आकर देखें कि देहाती इस काम में कितने कुशल होते हैं। उसके यार-दोस्त भी देखें। कैसे मालिक को बुलाए ? वह अवसर खोज रहा था, और ज्यों ही मुहलत मिली, दौड़ा हुआ यहाँ आया; मगर यहाँ का दृश्य देखकर भौंचक्का-सा खड़ा रह गया। सब लोग चुप्पी साधे, थर-थर काँपते, कातर नेत्रों से खान को देख रहे थे और खान मालती को अपनी तरफ़ खींच रहा था। उसकी सहज बुद्धि ने

परिस्थिति का अनुमान कर लिया। उसी वक्त रायसाहब ने पुकारा–होरी, दौड़कर जा और सिपाहियों को बुला ला, जल्द दौड़ !

होरी पीछे मुड़ा था कि खान ने उसके सामने बन्दूक़ तानकर डाँटा–कहाँ जाता है सुअर, अम गोली मार देगा।

होरी गँवार था। लाल पगड़ी देखकर उसके प्राण निकल जाते थे; लेकिन मस्त साँड पर लाठी लेकर पिल पड़ता था। वह कायर न था, मारना, और मरना दोनों ही जानता था; मगर पुलिस के हथकंडों के सामने उसकी एक न चलती थी। बँधे-बँधे कौन फिरे, रिश्वत के रुपये कहाँ से लाये, बाल-बच्चों को किस पर छोड़े ; मगर जब मालिक ललकारते हैं, तो फिर किसका डर ? तब तो वह मौत के मुँह में भी कूद सकता है।

उसने झपटकर ख़ान की कमर पकड़ी और ऐसा मारा कि ख़ान चारों खाने चित ज़मीन पर आ रहे और लगे पश्तों में गालियाँ देने। होरी उनकी छाती पर चढ़ बैठा और ज़ोर से दाढ़ी पकड़कर खींची। दाढ़ी उसके हाथ में आ गयी। ख़ान ने तुरन्त अपनी कुलाह उतार फेंकी और ज़ोर मारकर खड़ा हो गया। अरे ! यह तो मिस्टर मेहता हैं। वही !

लोगों ने चारों तरफ़ से मेहता को घेर लिया। कोई उनके गले लगता, कोई उनकी पीठ पर थपकियाँ देता था और मिस्टर मेहता के चेहरे पर हँसी न थी, न गर्व; चुपचाप खड़े थे, मानों कुछ हुआ ही नहीं।

मालती ने नक़ली रोष से कहा–आपने यह बहुरूपपन कहाँ सीखा ? मेरा दिल अभी तक धड़-धड़ कर रहा है।

मेहता ने मुस्कराते हुए कहा–ज़रा इन भले आदमियों की जवाँमर्दी की परीक्षा ले रहा था। जो गुस्ताख़ी हुई हो, उसे क्षमा कीजिएगा।

सात

यह अभिनय जब समाप्त हुआ, तो उधर रंगशाला में धनुष-यज्ञ समाप्त हो चुका था और सामाजिक प्रहसन की तैयारी हो रही थी; मगर इन सज्जनों को उससे विशेष दिलचस्पी न थीं केवल मिस्टर मेहता देखने गये और आदि से अन्त तक जमे रहे। उन्हें बड़ा मजा आ रहा था। बीच-बीच में तालियाँ बजाते थे और "फिर कहो, फिर कहो" का आग्रह करके अभिनेताओं को प्रोत्साहन भी देते जाते थे। रायसाहब ने इस प्रहसन में एक मुक़दमेबाज़ देहाती जमींदार का खाका उड़ाया था। कहने को तो प्रहसन था; मगर करुणा से भरा हुआ। नायिका का बात-बात में क़ानून की धाराओं का उल्लेख करना, पत्नी पर केवल इसलिए मुक़दमा दायर कर देना कि उसने भोजन तैयार करने में ज़रा-सी देर कर दी, फिर वकीलों के नखरे और देहाती गवाहों की चालाकियाँ और झाँसे, पहले गवाही के लिए चट-पट तैयार हो जाना; मगर इजलास

पर तलबी के समय खूब मनावन करना और नाना प्रकार की फ़रमाइशे करके उल्लू बनाना, ये सभी दृश्य देखकर लोग हँसी के मारे लोटे जाते थे। सबसे सुन्दर वह दृश्य था, जिसमें वकील गवाहों को उनके बयान रटा रहा था। गवाहों का बार-बार भूलें करना, वकील का बिगड़ना, फिर नायक का देहाती बोली मे गवाहों को समझाना और अन्त में इजलास पर गवाहों का बदल जाना, ऐसा सजीव और सत्य था कि मिस्टर मेहता उछल पड़े और तमाशा समाप्त होने पर नायक को गले लगा लिया और सभी नटों को एक-एक मेडल देने की घोषणा की। रायसाहब के प्रति उनके मन में श्रद्धा के भाव जाग उठे। रायसाहब स्टेज के पीछे ड्रामे का संचालन कर रहे थे। मेहता दौड़कर उनके गले लिपट गये और मुग्ध होकर बोले—आपकी दृष्टि इतनी पैनी है, इसका मुझे अनुमान न था।

दूसरे दिन जलपान के बाद शिकार का प्रोग्राम था। वहीं किसी नदी के तट पर बाग़ में भोजन बने, खूब जल-क्रीड़ा की जाय और शाम को लोग घर आयें। देहाती जीवन का आनन्द उठाया जाय। जिन मेहमानों को विशेष काम था, वह तो विदा हो गये, केवल वे ही लोग बच रहे जिनकी रायसाहब से घनिष्ठता थी। मिसेज़ खन्ना के सिर में दर्द था, न जा सकी, और सम्पादकजी इस मण्डली से जले हुए थे और इनके विरुद्ध एक लेख-माला निकालकर इनकी खबर लेने के विचार में मग्न थे। सब-के-सब छटे हुए गुण्डे हैं । हराम के पैसे उड़ते हैं और मूँछों पर ताव देते हैं। दुनिया में क्या हो रहा है, इन्हें क्या ख़बर। इनके पडोस मे कौन मर रहा है, इन्हें क्या परवा। इन्हें तो अपने भोग-विलास से काम है। यह मेहता, जो फ़िलासफ़र बना फिरता है, उसे यही धुन है कि जीवन को सम्पूर्ण बनाओ। महीने में एक हज़ार मार लेते हो, तुम्हें अख़्तियार है, जीवन को सम्पूर्ण बनाओ या परिपूर्ण बनाओ। जिसको यह फिक्र दबाए डालती है कि लड़कों का ब्याह कैसे हो, या बीमार स्त्री के लिए वैद्य कैसे आये या अबकी घर का किराया किसके घर से आयेगा, वह अपना जीवन कैसे सम्पूर्ण बनाए ! छूटे साँड़ बने दूसरों के खेतों में मुँह मारते फिरते हो और समझते हो, संसार में सब सुखी हैं। तुम्हारी आँखें तब खुलेंगी, जब क्रान्ति होगी और तुमसे कहा जायेगा—बचा, खेतों में चलकर हल जोतो। तब देखे, तुम्हारा जीवन कैसे सम्पूर्ण होता है और वह जो है मालती, जो बहत्तर घाटों का पानी पीकर भी मिस बनी फिरती है ! शादी नहीं करेगी, इससे जीवन बन्धन में पड़ जाता है, और बन्धन में जीवन का पूरा विकास नहीं होता। बस, जीवन का पूरा विकास इसी में है कि दुनिया को लूटे जाओ और निर्द्वन्द्व विलास किये जाओ ! सारे बन्धन तोड़ दो, धर्म और समाज को गोली मारो, जीवन के कर्त्तव्यों को पास न फटकने दो, बस तुम्हारा जीवन सम्पूर्ण हो गया। इससे ज़्यादा आसान और क्या होगा ! माँ-बाप से नहीं पटती, उन्हें धता बताओ, शादी मत करो, यह बन्धन है; बच्चे होंगे, यह मोहपाश है; मगर टैक्स क्यों देते हो ? कानून भी तो बन्धन है, उसे क्यों नहीं

तोड़ते ? उससे क्यों कन्नी काटते हो ? जानते हो न कि कानून की ज़रा भी अवज्ञा की और बेड़ियाँ पड़ जायेंगी। बस वही बन्धन तोड़ो, जिसमें अपनी भोग-लिप्सा में बाधा न पड़ती। रस्सी को साँप बनाकर पीटो और तीसमारखाँ बनो। जीते साँप के पास जाओ ही क्यों, वह फुंकार भी मारेगा, तो लहरे आने लगेंगी। उसे आते देखो, तो दुम दबाकर भागो। यह तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन है।

आठ बजे शिकार-पार्टी चली। खन्ना ने कभी शिकार न खेला था, बन्दूक़ की आवाज़ से काँपते थे; लेकिन मिस मालती जा रही थीं, वह कैसे रुक सकते थे। मिस्टर तंखा को अभी तक एलेक्शन के विषय में बातचीत करने का अवसर न मिला था। शायद वहाँ वह अवसर मिल जाय। रायसाहब अपने इस इलाके में बहुत दिनों से नहीं गये थे। वहाँ का रंग-ढंग देखना चाहते थे। कभी-कभी इलाके मे आने-जाने से आदमियों से एक सम्बन्ध भी हो जाता है और रोब भी रहता है। कारकुन और प्यादे भी सचेत रहते हैं। मिर्ज़ा खुर्शेद को जीवन के नये अनुभव प्राप्त करने का शौक था, विशेषकर ऐसे, जिनमें कुछ साहस दिखाना पड़े। मिस मालती अकेले कैसे रहतीं ! उन्हें तो रसिकों का जमघट चाहिए। केवल मिस्टर मेहता शिकार खेलने के सच्चे उत्साह से जा रहे थे। रायसाहब की इच्छा तो थी कि भोजन की सामग्री, रसोइया, कहार, ख़िदमतगार, सब साथ चलें, लेकिन मिस्टर मेहता ने इसका विरोध किया।

खन्ना ने कहा–आख़िर वहाँ भोजन करेंगे या भूखों मरेंगे ?

मेहता ने जवाब दिया–भोजन क्यों न करेंगे, लेकिन आज हम लोग खुद अपना सारा काम करेंगे। देखना तो चाहिए कि नौकरों के बग़ैर हम ज़िन्दा रह सकते हैं या नहीं। मिस मालती पकायेंगी और हम खायेंगे। देहातों में हाँड़ियाँ और पत्तल मिल ही जाते हैं, और ईंधन की कोई कमी नहीं। शिकार हम करेंगे ही।

मालती ने गिला किया–क्षमा कीजिए। आपने रात मेरी कलाई इतने जोर से पकड़ी कि अभी तक दर्द हो रहा है।

"काम तो हम लोग करेंगे, आप केवल बताती जाइएगा।"

मिर्ज़ा खुर्शेद बोले–अभी आप लोग तमाशा देखते रहिएगा, मैं सारा इन्तज़ाम कर दूँगा। बात ही कौन-सी है। जंगल में हाँड़ी और बर्तन ढूँढ़ना हिमाक़त है। हिरन का शिकार कीजिए, भूनिए, खाइए और वहीं दरख़्त के साये में खर्राटे लीजिए।

यही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। दो मोटरें चलीं। एक मिस मालती ड्राइव कर रही थीं, दूसरी खुद रायसाहब। कोई बीस-पचीस मील पर पहाड़ी प्रान्त शुरू हो गया। दोनों तरफ़ ऊँची पर्वत-माला दौड़ी चली आ रही थी। सड़क भी पेंचदार होती जाती थी। कुछ दूर की चढ़ाई के बाद एकाएक ढाल आ गया और मोटर नीचे की ओर चली। दूर से नदी का पाट नज़र आया, किसी रोगी की भाँति दुर्बल, निस्पन्द कगार पर एक घने वटवृक्ष की छाँह में कारें रोक दी गयीं और लोग उतरे। यह सलाह हुई कि दो-दो की टोली बने और शिकार खेलकर बारह बजे तक यहाँ आ जायें।

मिस मालती मेहता के साथ चलने को तैयार हो गईं। खन्ना मन में ऐंठकर रह गये। जिस विचार से आये थे, उसमें जैसे पंचर हो गया; अगर जानते, मालती दग़ा देगी, तो घर लौट जाते लेकिन रायसाहब का साथ उतना रोचक न होते हुए भी बुरा न था। उनसे वहुत-सी मुआमले की बातें करनी थीं। खुर्शेद और तंखा बच रहे। उनकी टोली बनी-बनायी थी। तीनों टोलियाँ एक-एक तरफ़ चल दीं।

कुछ दूर तक पथरीली पगडण्डी पर मेहता के साथ चलने के बाद मालती ने कहा–तुम तो चले ही जाते हो। ज़रा दम ले लेने दो।

मेहता मुस्कराए–अभी तो हम एक मील भी नहीं आयें। अभी से थक गयीं ?

"थकी नहीं; लेकिन क्यों न ज़रा दम ले लो।"

"जब तक कोई शिकार हाथ न आ जाये, हमे आराम करने का अधिकार नहीं।"

"मैं शिकार खेलने न आयी थी।"

मेहता ने अनजान बनकर कहा–अच्छा, यह मैं न जानता था। फिर क्या करने आयी थीं ?

"अब तुमसे क्या बताऊँ !"

हिरनों का एक झुण्ड चरता हुआ नजर आया। दोनों एक चट्टान की आड़ में छिप गये और निशाना बाँधकर गोली चलायी। निशाना खाली गया। झुण्ड भाग निकला।

मालती ने पूछा–अब ?

"कुछ नहीं, चलो फिर कोई शिकार मिलेगा।"

दोनों कुछ देर तक चुपचाप चलते रहे। फिर मालती ने ज़रा रुककर कहा–गर्मी के मारे बुरा हाल हो रहा है। आओ, इस वृक्ष के नीचे बैठ जायें।

"अभी नहीं, तुम बैठना चाहती हो तो बैठो। मैं तो नहीं बैठता।"

"बड़े निर्दयी हो तुम, सच कहती हूँ।"

"जब तक कोई शिकार न मिल जाय, मैं बैठ नहीं सकता।"

"तब तो तुम मुझे मार ही डालोगे। अच्छा बताओ, रात तुमने मुझे इतना क्यों सताया ? मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ा क्रोध आ रहा था। याद है, तुमने मुझे क्या कहा था ? तुम हमारे साथ चलेगा दिलदार ? मैं न जानती थी, तुम इतने शरीर हो। अच्छा, सच कहना, तुम उस वक्त मुझे अपने साथ ले जाते ?"

मेहता ने कोई जवाब न दिया, मानों सुना ही नहीं।

दोनों कुछ दूर चलते रहे। एक तो जेठ की धूप, दूसरे पथरीला रास्ता। मालती थककर बैठ गयी।

मेहता खड़े-खड़े बोले–अच्छी बात है, तुम आराम कर लो। मैं यहीं आ जाऊँगा।

"मुझे अकेले छोड़कर चले जाओगे ?"

"मैं जानता हूँ, तुम अपनी रक्षा कर सकती हो !"

"कैसे जानते हो ?"

"नये युग की देवियों की यही सिफ़त है। वह मर्द का आश्रय नहीं चाहतीं, उससे कंधा मिलाकर चलना चाहती हैं।"

मालती ने झेंपते हुए कहा–तुम कोरे फ़िलासफ़र हो मेहता, सच।

सामने वृक्ष पर एक मोर बैठा हुआ था। मेहता ने निशाना साधा और बन्दूक़ चलायी, मोर उड़ गया।

मालती प्रसन्न होकर बोली–बहुत अच्छा हुआ। मेरा शाप पड़ा।

मेहता ने बन्दूक कन्धे पर रखकर कहा–तुमने मुझे नहीं, अपने आपको शाप दिया शिकार मिल जाता, तो मैं तुम्हें दस मिनट की मुहलत देता। अब तो तुमको फ़ौरन चलना पड़ेगा।

मालती उठकर मेहता का हाथ पकड़ती हुई बोली–फ़िलासफ़रों के शायद हृदय नहीं होता। तुमने अच्छा किया, विवाह नहीं किया। उस ग़रीब को मार ही डालते; मगर मैं यों न छोड़ूँगी। तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते।

मेहता ने एक झटके से हाथ छुड़ा लिया और आगे बढ़े।

मालती सजल नेत्र होकर बोली–मैं कहती हूँ, मत जाओ। नहीं मैं इसी चट्टान पर सिर पटक दूँगी।

मेहता ने तेज़ी से क़दम बढ़ाए। मालती उन्हें देखती रही। जब वह बीस कदम निकल गये, तो झुँझलाकर उठी और उनके पीछे दौड़ी। अकेले विश्राम करने में कोई आनन्द न था

समीप आकर बोली–मैं तुम्हें इतना पशु न समझती थी।

"मैं जो हिरन मारूँगा, उसकी खाल तुम्हें भेंट करूँगा।"

"खाल जाय भाड़ में। मैं अब तुमसे बात न करूँगी।"

"कहीं हम लोगों के हाथ कुछ न लगा और दूसरों ने अच्छे शिकार मारे तो मुझे बड़ी झेंप होगी।"

एक चौड़ा नाला मुँह फैलाए बीच में खड़ा था। बीच की चट्टानें उसके दाँतों-सी लगती थीं। धार में इतना वेग था की लहरें उछली पड़ती थीं। सूर्य मध्याह्न पर आ पहुँचा था और उसकी प्यासी किरणें जल में क्रीड़ा कर रही थीं।

मालती ने प्रसन्न होकर कहा–अब तो लौटना पड़ा।

"क्यों ? उस पार चलेंगे। यहीं तो शिकार मिलेंगे।"

"धारा में कितना वेग है ! मैं तो बह जाऊँगी।"

"अच्छी बात है। तुम यहीं बैठो, मैं जाता हूँ।"

"हाँ, आप जाइए। मुझे अपनी जान से बैर नहीं है।"

मेहता ने पानी में क़दम रखा और पाँव साधते हुए चले। ज्यों-ज्यों आगे जाते

थे, पानी गहरा होता जाता था। यहाँ तक कि छाती तक आ गया।

मालती अधीर हो उठी। शंका से मन चंचल हो उठा। ऐसी विकलता तो उसे कभी न होती थी। ऊँचे स्वर में बोली–पानी गहरा है। ठहर जाओ, मैं भी आती हूँ।

'नहीं-नहीं, तुम फ़िसल जाओगी। धार तेज है।'

'कोई हरज नहीं, मैं आ रही हूँ। आगे न बढ़ना, ख़बरदार।'

मालती साड़ी ऊपर चढ़ाकर नाले में पैठी। मगर दस हाथ आते-आते पानी उसकी कमर तक आ गया।

मेहता घबड़ाए। दोनों हाथ से उसे लौट जाने को कहते हुए बोले–तुम यहाँ मत आओ मालती ! यहाँ तुम्हारी गर्दन तक पानी है।

मालती ने एक क़दम और आगे बढ़कर कहा–होने दो ! तुम्हारी यही इच्छा है कि मैं मर जाऊँ तो तुम्हारे पास ही मरूँगी।

मालती पेट तक पानी में थी। धार इतनी तेज़ थी कि मालूम होता था, क़दम उखड़ा। मेहता लौट पड़े और मालती को एक हाथ से पकड़ लिया।

मालती ने नशीली आँखों में रोष भरकर कहा–मैंने तुम्हारे-जैसा बेदर्द आदमी कभी न देखा था। बिलकुल पत्थर हो। खैर; आज सता लो, जितना सताते बने; मैं भी कभी समझूँगी।

मालती के पाँव उखड़ते हुए मालूम हुए। वह बन्दूक़ सँभालती हुई उनसे चिमट गयी।

मेहता ने आश्वासन देते हुए कहा–तुम यहाँ खड़ी नहीं रह सकतीं। मैं तुम्हें अपने कन्धे पर बिठाए लेता हूँ।

मालती ने भृकुटी टेढ़ी करके कहा–तो उस पार जाना क्या इतना ज़रूरी है ?

मेहता ने कुछ उत्तर न दिया। बन्दूक़ कनपटी से कन्धे पर दबा ली और मालती को दोनों हाथों से उठाकर कन्धे पर बैठा लिया।

मालती अपनी पुलक को छिपाती हुई बोली–अगर कोई देख ले ?

"भद्दा तो लगता है।"

दो पग के बाद उसने करुण स्वर में कहा–अच्छा बताओ, मैं यहीं पानी में डूब जाऊँ, तो तुम्हें रंज हो या न हो ? मैं तो समझती हूँ, तुम्हें बिलकुल रंज न होगा।

मेहता ने आहत स्वर से कहा–तुम समझती हो, मैं आदमी नहीं हूँ ?

"मैं तो यही समझती हूँ, क्यों छिपाऊँ।"

"सच कहती हो मालती ?"

"तुम क्या समझते हो।"

"मैं ! कभी बतलाऊँगा।"

पानी मेहता की गर्दन तक आ गया। कहीं अगला क़दम उठाते ही सिर तक

न आ जाय। मालती का हृदय धक्-धक् करने लगा। बोली–मेहता, ईश्वर के लिए अब आगे मत जाओ, नहीं मैं पानी में कूद पड़ूँगी।

उस संकट में मालती को ईश्वर याद आया, जिसका वह मज़ाक़ उड़ाया करती थी। जानती थी, ईश्वर कहीं बैठा नहीं है, जो आकर उन्हें उबार लेगा; लेकिन मन को जिस अवलम्बन और शक्ति की ज़रूरत थी, वह और कहाँ मिल सकती थी ?

पानी कम होने लगा था। मालती ने प्रसन्न होकर कहा–अब तुम मुझे उतार दो।

"नहीं-नहीं, चुपचाप बैठी रहो। कहीं आगे कोई गढ़ा मिल जाय।"

"तुम समझते होगे, यह कितनी स्वार्थिनी है।"

"मुझे इसकी मजदूरी दे देना।"

मालती के मन में गुदगुदी हुई।

"क्या मजदूरी लोगे ?"

"यही कि जब तुम्हें जीवन में ऐसा ही कोई अवसर आये, तो मुझे बुला लेना।"

किनारे आ गये। मालती ने रेत पर अपनी साड़ी का पानी निचोड़ा, जूते का पानी निकालकर मुँह-हाथ धोया, पर ये शब्द अपने रहस्यमय आशय के साथ उसके सामने नाचते रहे।

उसने इस अनुभव का आनन्द उठाते हुए कहा–यह दिन याद रहेगा।

मेहता ने पूछा–तुम बहुत डर रही थीं ?

"पहले तो डरी, लेकिन फिर मुझे विश्वास हो गया कि तुम हम दोनों की रक्षा कर सकते हो।"

मेहता ने गर्व से मालती को देखा–उनके मुख पर परिश्रम की लाली के साथ तेज था।

"मुझे यह सुनकर कितना आनन्द आ रहा है, तुम यह समझ सकोगी मालती ?"

"तुमने समझाया कब ? उलटे और जंगलों में घसीटते फिरते हो; और अभी फिर लौटती बार यही नाला पार करना पड़ेगा। तुमने कैसी आफ़त में जान डाल दी। मुझे तुम्हारे साथ रहना पड़े, तो एक दिन न पटे।"

मेहता मुसकराए। इन शब्दों का संकेत खूब समझ रहे थे।

"तुम मुझे इतना दुष्ट समझती हो ! और जो मैं कहूँ कि तुमसे प्रेम करता हूँ। मुझसे विवाह करोगी ?"

"ऐसे काठ-कठोर से कौन विवाह करेगा ! रात-दिन जलाकर मार डालेगा।"

और मधुर नेत्रों से देखा, मानों कह रही हो–इसका आशय तुम खूब समझते हो। इतने बुद्धू नहीं हो।

मेहता ने जैसे सचेत होकर कहा–तुम सच कहती हो मालती ! मैं किसी रमणी को प्रसन्न नहीं रख सकता। मुझसे कोई स्त्री प्रेम का स्वांग नहीं कर सकती। मैं

उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाऊँगा। फिर उससे अरुचि हो जायेगी।

मालती काँप उठी। इन शब्दों में कितना सत्य था।

उसने पूछा—बताओ, तुम कैसे प्रेम से सन्तुष्ट होगे ?

"बस यही कि जो मन में हो, वही मुख पर हो ! मेरे लिए रंग-रूप और हाव-भाव और नाज़ो-अन्दाज का मूल्य उतना ही है, जितना होना चाहिए। मैं वह भोजन चाहता हूँ, जिससे आत्मा की तृप्ति हो। उत्तेजक और शोषक पदार्थों की मुझे ज़रूरत नहीं।"

मालती ने ओठ सिकोड़कर ऊपर को साँस खींचते हुए कहा—तुमसे कोई पेश न पाएगा। एक ही घाघ हो। अच्छा बताओ, मेरे विषय में तुम्हारा क्या ख्याल है ?

मेहता ने नटखटपन से मुस्कराकर कहा—तुम सब कुछ कर सकती हो, बुद्धिमती हो, चतुर हो, प्रतिभावान हो, दयालु हो, चंचल हो, स्वाभिमानी हो, त्याग कर सकती हो; लेकिन प्रेम नहीं कर सकतीं।

मालती ने पैनी दृष्टि से ताककर कहा—झूठे हो तुम, बिलकुल झूठे। मुझे तुम्हारा यह दावा निस्सार मालूम होता है कि तुम नारी-हृदय तक पहुँच जाते हो।

दोनों नाले के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। बारह बज चुके थे; पर अब मालती को न विश्राम की इच्छा थी, न लौटने की। आज के सम्भाषण में उसे एक ऐसा आनन्द आ रहा था, जो उसके लिए बिल्कुल नया था। उसने कितने ही विद्वानों और नेताओं को एक मुसकान में, एक चितवन में, एक रसीले वाक्य में उल्लू बनाकर छोड़ दिया था। ऐसी बालू की दीवार पर वह जीवन का आधार नहीं रख सकती थी। आज उसे वह कठोर, ठोस, पत्थर-सी भूमि मिल गयी थी, जो फावड़ों से चिनगारियाँ निकाल रही थी और उसकी कठोरता उसे उत्तरोत्तर मोह लेती थी।

धाँय की आवाज हुई। एक लालसर नाले पर उड़ा जा रहा था। मेहता ने निशाना मारा चिड़िया चोट खाकर भी कुछ दूर उड़ी, फिर बीच धार में गिर पड़ी और लहरों के साथ बहने लगी।

"अब ?"

"अभी जाकर लाता हूँ। जाती कहाँ है ?"

यह कहने के साथ वह रेत में दौड़े और बन्दूक किनारे पर रख गड़ाप से पानी में कूद पड़े और बहाव की ओर तैरने लगे; मगर आध मील तक पूरा ज़ोर लगाने पर भी चिड़िया न पा सके। चिड़िया मरकर भी जैसे उड़ी जा रही थी।

सहसा उन्होंने देखा, एक युवती किनारे की झोंपड़ी से निकली, चिड़िया को बहते देखकर साड़ी को जाँघों तक चढ़ाया और पानी में घुस पड़ी। एक क्षण में उसने चिड़िया पकड़ ली और मेहता को दिखाती हुई बोली—पानी से निकल आओ बाबूजी, तुम्हारी चिड़िया यह है। मेहता मालती की चपलता और साहस देखकर मुग्ध हो गये। तुरन्त किनारे की ओर हाथ चलाए और दो मिनट में युवती के पास ज़ा खड़े हुए।

युवती का रंग था तो काला और वह भी गहरा, कपड़े बहुत ही मैले और फूहड़, आभूषण के नाम पर केवल हाथों में दो-दो चूड़ियाँ, सिर के बाल उलझे अलग-अलग। मुख-मंडल का कोई भाग ऐसा नहीं, जिसे सुन्दर या सुघड़ कहा जा सके; लेकिन उस स्वच्छ, निर्मल जलवायु ने उसके कालेपन में ऐसा लावण्य भर दिया था और प्रकृति की गोद में पलकर उसके अंग इतने सुडौल, सुगठित और स्वच्छन्द हो गये थे कि यौवन का चित्र खींचने के लिए उससे सुन्दर कोई रूप न मिलता। उसका सबल स्वास्थ्य जैसे मेहता के मन में बल और तेज भर रहा था।

मेहता ने उसे धन्यवाद देते हुए कहा–तुम बड़े मौक़े से पहुँच गयीं, नहीं मुझे न जाने कितनी दूर तैरना पड़ता।

युवती ने प्रसन्नता से कहा–मैंने तुम्हें तैरते आते देखा, तो दौड़ी। शिकार खेलने आये होंगे ?

"हाँ, आये तो थे शिकार ही खेलने, मगर दोपहर हो गयी और यही चिड़िया मिली है।"

"तेंदुआ मारना चाहो, तो मैं उसका ठौर दिखा दूँ। रात को यहाँ रोज़ पानी पीने आता है। कभी-कभी दोपहर में भी आ जाता है।"

फिर ज़रा सकुचाकर सिर झुकाए बोली–उसकी खाल हमें देनी पड़ेगी। चलो मेरे द्वार पर। वहाँ पीपल की छाया है। यहाँ धूप में कब तक खड़े रहोगे ? कपड़े भी तो गीले हो गये हैं।

मेहता ने उसकी देह में चिपकी हुई गीली साड़ी की ओर देखकर कहा–तुम्हारे कपड़े भी तो गीले हैं।

उसने लापरवाही से कहा–ऊँह हमारा क्या, हम तो जंगल के हैं। दिन-दिन भर धूप और पानी में खड़े रहते हैं। तुम थोड़े ही रह सकते हो।

लड़की कितनी समझदार है और बिलकुल गँवार।

"तुम ख़ाल लेकर क्या करोगी ?"

"हमारे दादा बाज़ार में बेचते हैं। यही तो हमारा काम है।"

"लेकिन दोपहरी यहाँ काटें, तो तुम खिलाओगी क्या ?"

युवती ने लजाते हुए कहा–तुम्हारे लायक हमारे घर में क्या है। मक्के की रोटियाँ खाओ, जोधरी है। चिड़िये का सालन पका दूँगी। तुम बताते जाना, जैसे बनाना हो। थोड़ा-सा दूध भी है। हमारी गैया को एक बार तेंदुए ने घेरा था। उसे सींगों से भगाकर भाग आयी, तबसे तेंदुआ उससे डरता है।

"लेकिन मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ एक औरत भी है।"

"तुम्हारी घरवाली होगी ?"

"नहीं, घरवाली तो अभी नहीं है, जान-पहचान की है।"

"तो मैं दौड़कर उनको बुला लाती हूँ। तुम चलकर छाँह में बैठो।"

"नहीं-नहीं, मैं बुला लाता हूँ।"

"तुम थक गये होगे। शहर का रहैया जंगल में काहे आते होंगे। हम तो जंगली आदमी हैं। किनारे ही तो खड़ी होंगी।"

जब तक मेहता कुछ बोलें, वह हवा हो गयी। मेहता ऊपर चढ़कर पीपल की छाँह में बैठे। इस स्वच्छन्द जीवन से उनके मन में अनुराग उत्पन्न हुआ। सामने की पर्वतमाला दर्शन-तत्त्व की भाँति अगम्य और अत्यन्त फैली हुई, मानों ज्ञान का विस्तार कर रही हो, मानो आत्मा उस ज्ञान को, उस प्रकाश को, उस अगम्यता को, उसके प्रत्यक्ष विराट रूप में देख रही हो। दूर के एक बहुत ऊँचे शिखर पर एक छोटा-सा मन्दिर था, जो उस अगम्यता में बुद्धि की भाँति ऊँचा, पर खोया हुआ-सा खड़ा था, मानो वहाँ तक पर मारकर पक्षी विश्राम लेना चाहता है और कहीं स्थान नहीं पाता।

मेहता इन्हीं विचारों में डूबे हुए थे कि युवती मिस मालती को साथ लिये आ पहुँची, एक वनपुष्प की भाँति धूप में खिली हुई, दूसरी गमले के फूल की भाँति धूप में मुरझायी और निर्जीव।

मालती ने बेदिली के साथ कहा—पीपल की छाँह बहुत अच्छी लग रही है क्या ? और यहाँ भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हैं।

युवती दो बड़े-बड़े मटके उठा लाई और बोली—तुम जब तक यहीं बैठो, मैं अभी दौड़कर पानी लाती हूँ, फिर चूल्हा जला दूँगी; और मेरे हाथ का खाओ, तो मैं एक छन में बाटियाँ सेंक दूँगी, नहीं, अपने आप सेंक लेना। हाँ, गेहूँ का आटा मेरे घर में नहीं है और यहाँ कहीं कोई दुकान भी नहीं है कि ला दूँ।

मालती को मेहता पर क्रोध आ रहा था। बोली—तुम यहाँ क्यों आकर पड़ रहे ?

मेहता ने चिढ़ाते हुए कहा—एक दिन ज़रा इस जीवन का आनन्द भी तो उठाओ। देखो, मक्के की रोटियों में कितना स्वाद है।

"मुझसे मक्के की रोटियाँ खायी ही न जायेंगी, और किसी तरह निगल भी जाऊँ तो हज़म न होंगी। तुम्हारे साथ आकर मैं बहुत पछता रही हूँ। रास्ते-भर दौड़ा के मार डाला और अब यहाँ लाकर पटक दिया !"

मेहता ने कपड़े उतार दिये थे और केवल एक नीला जाँघिया पहने बैठे हुए थे। युवती को मटके ले जाते देखा, तो उसके हाथ से मटके छीन लिये और कुएँ पर पानी भरने चले। दर्शन के गहरे अध्ययन में भी उन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की थी और दोनों मटके लेकर चलते हुए उनकी मांसल और चौड़ी छाती और मछलीदार जाँघें किसी यूनानी प्रतिमा के सुगठित अंगों की भाँति उनके पुरुषार्थ का परिचय दे रही थीं। युवती उन्हें पानी खींचते हुए अनुराग-भरी आँखों से देख रही थी। वह अब उसकी दया के पात्र नहीं, श्रद्धा के पात्र हो गये थे।

कुआँ बहुत गहरा था, कोई साठ हाथ, मटके भारी थे और मेहता कसरत का अभ्यास करते रहने पर भी एक मटका खींचते-खींचते शिथिल हो गये। युवती ने

दौड़कर उनके हाथ से रस्सी छीन ली और बोली—तुमसे न खिंचेगा। तुम जाकर खाट पर बैठो, मैं खींचे लेती हूँ।

मेहता अपने पुरुषत्व का यह अपमान न सह सके। रस्सी उसके हाथ से फिर ले ली और ज़ोर मारकर एक क्षण में दूसरा मटका भी खींच लिया और दोनों हाथों में मटके लिये, आकर झोंपड़ी के द्वार पर खड़े हो गये। युवती ने चटपट आग जलायी, लालसर के पंख झुलस डाले। छुरे से उसकी बोटियाँ बनायीं और चूल्हे में आग जलाकर मांस चढ़ा दिया और चूल्हे के दूसरे ऐले पर कढ़ाई में दूध उबालने लगी।

और मालती भौंहें चढ़ाए, खाट पर खिन्न मन पड़ी इस तरह यह दृश्य देख रही थी, मानो उसके ऑपरेशन की तैयारी हो रही हो।

मेहता झोंपड़ी के द्वार पर खड़े होकर, युवती के गृह-कौशल को अनुरक्त नेत्रों से देखते हुए बोले—मुझे भी तो कोई काम बताओ, मैं क्या करूँ ?

युवती ने मीठी झिड़की के साथ कहा—तुम्हें कुछ नहीं करना है, जाकर बाई के पास बैठो, बेचारी बहुत भूखी है। दूध गरम हुआ जाता है, उसे पिला देना।

उसने एक घड़े से आटा निकाला और गूँधने लगी। मेहता उसके अंगों का विलास देखते रहे। युवती भी रह-रहकर उन्हें कनखियों से देखकर अपना काम करने लगती थी।

मालती ने पुकारा—तुम वहाँ क्या खड़े हो ? मेरे सिर में ज़ोर का दर्द हो रहा है। आधा सिर ऐसा फटा पड़ता है, जैसे गिर जायेगा।

मेहता ने आकर कहा—मालूम होता है, धूप लग गयी है।

"मैं क्या जानती थी, तुम मुझे मार डालने के लिए यहाँ ला रहे हो।"

"तुम्हारे साथ कोई दवा भी तो नहीं है ?"

"क्या मैं किसी मरीज़ को देखने आ रही थी, जो दवा लेकर चलती ? मेरा एक दवाओं का बक्स है, वह सेमरी में हैं ! ! उफ् ! सिर फटा जाता है !"

मेहता ने उसके सिर की ओर जमीन पर बैठकर धीरे-धीरे उसका सिर सहलाना शुरू किया। मालती ने आँखें बन्द कर लीं।

युवती हाथों में आटा भरे, सिर के बाल बिखेरे, आँखें धुएँ से लाल और सजल, सारी देह पसीने में तर, जिससे उसका उभरा हुआ वक्ष साफ झलक रहा था, आकर खड़ी हो गयी और मालती को आँखें बन्द किये पड़ी देखकर बोली—बाई को क्या हो गया है ?

मेहता बोले—सिर में बड़ा दर्द है।

"पूरे सिर में है कि आधे में ?"

"आधे में बतलाती हैं।"

"दाईं ओर है, कि बाईं ओर ?"

"बाईं ओर।"

"मैं अभी दौड़ के एक दवा लाती हूँ। घिसकर लगाते ही अच्छा हो जायेगा।"

"तुम इस धूप में कहाँ जाओगी ?"

युवती ने सुना ही नहीं। वेग से एक ओर जाकर पहाड़ियों में छिप गयी कोई आधा घण्टे बाद मेहता ने उसे ऊँची पहाड़ी पर चढ़ते देखा। दूर से बिल्कुल गुड़िया-सी लग रही थी। मन में सोचा—इस जंगली छोकरी में सेवा का कितना भाव और कितना व्यावहारिक ज्ञान है। लू और धूप में आसमान पर चढ़ी चली जा रही है।

मालती ने आँखें खोलकर देखा—कहाँ गयी वह कलूटी। ग़ज़ब की काली है, जैसे आबनूस का कुन्दा हो। इसे भेज दो, रायसाहब से कह आये, कार यहाँ भेज दें। इस तपिश में मेरा दम निकल जायेगा।

"कोई दवा लेने गयी है। कहती है, उससे आधा-सीसी का दर्द बहुत जल्द आराम हो जाता है !"

"इनकी दवाएँ इन्हीं को फ़ायदा करती हैं, मुझे न करेंगी। तुम तो इस छोकरी पर लट्टू हो गये हो। कितने छिछोरे हो ! जैसी रूह वैसे फ़रिश्ते !"

मेहता को कटु सत्य कहने में संकोच न होता था।

"कुछ बातें तो उसमें ऐसी हैं कि अगर तुममें होतीं, तो तुम सचमुच देवी हो जातीं।"

"उसकी खूबियाँ उसे मुबारक, मुझे देवी बनने की इच्छा नहीं।"

"तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं जाकर कार लाऊँ, यद्यपि कार यहाँ आ भी सकेगी, मैं नहीं कह सकता।"

"उस कलूटी को क्यों नहीं भेज देते ?"

"वह तो दवा लेने गयी है, फिर भोजन पकाएगी।"

"तो आज आप उसके मेहमान हैं ! शायद रात को भी यहीं रहने का विचार होगा। रात को शिकार भी तो अच्छे मिलते हैं।"

मेहता ने इस आक्षेप से चिढ़कर कहा—इस युवती के प्रति मेरे मन में जो प्रेम और श्रद्धा है, वह ऐसी है कि अगर मैं उसकी ओर वासना से देखूँ तो आँखें फूट जायें। मैं अपने किसी घनिष्ठ मित्र के लिए भी इस धूप और लू में उस ऊँची पहाड़ी पर न जाता। और हम केवल घड़ी-भर के मेहमान हैं, यह वह जानती है वह किसी ग़रीब औरत के लिए भी इसी तत्परता से दौड़ जायेगी। मैं विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम पर केवल लेख लिख सकता हूँ, केवल भाषण दे सकता हूँ; वह उस प्रेम और त्याग का व्यवहार कर सकती है। कहने से करना कहीं कठिन है। इसे तुम भी जानती हो।

मालती ने उपहास भाव से कहा—बस-बस, वह देवी है। मैं मान गयी। उसके वक्ष में उभार है, नितम्बों में भारीपन है, देवी होने के लिए और क्या चाहिए।

मेहता तिलमिला उठे। तुरन्त उठे और कपड़े पहने, जो सूख गये थे, बन्दूक उठायी और चलने को तैयार हुए। मालती ने फुंकार मारी—तुम नहीं जा सकते, मुझे अकेली छोड़कर।

"तब कौन जायेगा ?"

"वही तुम्हारी देवी !"

मेहता हतबुद्धि-से खड़े थे। नारी पुरुष पर कितनी आसानी से विजय पा सकती है, इसका आज उन्हें जीवन में पहला अनुभव हुआ।

वह दौड़ती-हाँफती चली आ रही थी। वही कलूटी युवती, हाथ में एक झाड़ लिये हुए। समीप आकर मेहता को कहीं जाने को तैयार देखकर बोली—मैं वह जड़ी खोज लायी। अभी घिसकर लगाती हूँ, लेकिन तुम कहाँ जा रहे हो ? मांस तो पक गया होगा, मैं रोटियाँ सेंक देती हूँ। दो-एक खा लेना। बाई दूध पी लेगी। ठंडा हो जायेगा तो चले जाना।

उसने निस्संकोच भाव से मेहता के अचकन की बटनें खोल दीं। मेहता अपने को बहुत रोके हुए थे। जी होता था, इस गँवारिन के चरणों को चूम लें।

मालती ने कहा—अपनी दवाई रहने दो। नदी के किनारे, बरगद के नीचे हमारी मोटरकार खड़ी है। वहाँ और लोग होंगे। उनसे कहना, कार यहाँ लायें। दौड़ी हुई जा।

युवती ने दीन नेत्रों से मेहता को देखा। इतनी मेहनत से बूटी लायी, उसका यह अनादर ! इस गँवारिन की दवा इन्हें नहीं जँची, तो न सही, उसका मन रखने को ही ज़रा-सी लगवा लेतीं, तो क्या होता।

उसने बूटी ज़मीन पर रखकर पूछा—तब तक तो चूल्हा ठण्डा हो जायेगा बाईजी। कहो तो रोटियाँ सेंककर रख दूँ। बाबूजी खाना खा लें, तुम दूध पी लो और दोनों जने आराम करो। तब तक मैं मोटरवाले को बुला लाऊँगी।

वह झोंपड़ी में गयी, बुझी हुई आग फिर जलायी। देखा तो मांस उबल गया था। कुछ जल भी गया था। जल्दी-जल्दी रोटियाँ सेंकी, दूध गर्म था, उसे ठण्डा किया और एक कटोरे में मालती के पास लायी। मालती ने कटोरे के भद्देपन पर मुँह बनाया; लेकिन दूध त्याग न सकी। मेहता झोंपड़ी के द्वार पर बैठकर एक थाली में मांस और रोटियाँ खाने लगे। युवती खड़ी पंखा झल रही थी।

मालती ने युवती से कहा—उन्हें खाने दो। कहीं भागे नहीं जाते हैं। तू जाकर गाड़ी ला।

युवती ने मालती की ओर एक बार सवाल की आँखों से देखा, यह क्या चाहती हैं। इनका आशय क्या है ? उसे मालती के चेहरे पर रोगियों की-सी नम्रता और कृतज्ञता और याचना न दिखाई दी। उसकी जगह अभिमान और प्रमाद की झलक थी। गँवारिन मनोभावों के पहचानने में चतुर थी। बोली—मैं किसी की लौंडी नहीं हूँ बाईजी ! तुम बड़ी हो, अपने-घर की बड़ी हो। मैं तुमसे कुछ माँगने तो नहीं जाती। मैं गाड़ी लेने न जाऊँगी।

मालती ने डाँटा—अच्छा, तूने गुस्ताख़ी पर कमर बाँधी ! बता, तू किसके इलाके में रहती है ?

"यह रायसाहब का इलाका है।"

"तो तुझे उन्हीं रायसाहब के हाथों हंटरों से पिटवाऊँगी।"

"मुझे पिटवाने से तुम्हें सुख मिले तो पिटवा लेना बाईजी ! कोई रानी-महारानी थोड़ी हूँ कि लस्कर भेजनी पड़ेगी।"

मेहता ने दो-चार कौर निगले थे कि मालती की यह बातें सुनीं। कौर कण्ठ में अटक गया। जल्दी से हाथ धोया और बोले–यह नहीं जायेगी। मैं जा रहा हूँ।

मालती भी खड़ी हो गयी–उसे जाना पड़ेगा।

मेहता ने अंग्रेज़ी में कहा–उसका अपमान करके तुम अपना सम्मान बढ़ा नहीं रही हो मालती !

मालती ने फटकार बतायी–ऐसी ही लौंडियाँ मर्दों को पसन्द आती हैं, जिनमें और कोई गुण हो या न हो, उनकी टहल दौड़-दौड़कर प्रसन्न मन से करें और अपना भाग्य सराहें कि इस पुरुष ने मुझसे यह काम करने को तो कहा। वह देवियाँ हैं, शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं, मैं समझती थी, वह पुरुषत्व तुममें कम-से-कम नहीं है; लेकिन अन्दर से, सस्कारों से, तुम भी वही बर्बर हो।

मेहता मनोविज्ञान के पण्डित थे। मालती के मनोरहस्यों को समझ रहे थे। ईर्ष्या का ऐसा अनोखा उदाहरण उन्हें कभी न मिला था। उस रमणी से, जो इतनी मृदु स्वभाव, इतनी उदार, इतनी प्रसन्नमुख थी, ईर्ष्या की ऐसी प्रचण्ड ज्वाला !

बोले–कुछ भी कहो, मैं उसे न जाने दूँगा। उसकी सेवाओं और कृपाओं का यह पुरस्कार देकर मैं अपनी नज़र में नीच नहीं बन सकता।

मेहता के स्वर में कुछ ऐसा तेज था कि मालती धीरे से उठी और चलने को तैयार हो गयी। उसने जलकर कहा–अच्छा, तो मैं ही जाती हूँ, तुम उसके चरणों की पूजा करके पीछे आना।

मालती दो-तीन क़दम चली गयी, तो मेहता ने युवती से कहा–अब मुझे आज्ञा दो बहन ; तुम्हारा यह नेह, तुम्हारी निस्वार्थ सेवा हमेशा याद रहेगी।

युवती ने दोनों हाथों से, सजल नेत्र होकर उन्हें प्रणाम किया और झोपड़ी के अन्दर चली गयी।

दूसरी टोली रायसाहब और खन्ना की थी। रायसाहब तो अपने उसी रेशमी कुरते और रेशमी चादर में थे। मगर खन्ना ने शिकारी सूट डाटा था, जो शायद आज ही के लिए बनवाया गया था; क्योंकि खन्ना को असामियों के शिकार से इतनी फ़ुरसत कहाँ थी कि जानवरों का शिकार करते। खन्ना ठिंगने, इकहरे, रूपवान आदमी थे। गेहुँआ रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, मुँह पर चेचक के दाग़ ; बातचीत में बड़े कुशल।

कुछ देर चलने के बाद खन्ना ने मिस्टर मेहता का ज़िक्र छेड़ दिया, जो कल से ही उनके मस्तिष्क में राहु की भाँति समाए हुए थे।

बोले–यह मेहता भी कुछ अजीब आदमी है। मुझे तो कुछ बना हुआ मालूम

होता है।

रायसाहब मेहता की इज़्ज़त करते थे और उन्हें सच्चा और निष्कपट आदमी समझते थे; पर खन्ना से लेन-देन का व्यवहार था, कुछ स्वभाव से शान्तिप्रिय भी थे, विरोध न कर सके। बोले—मैं तो उन्हे केवल मनोरजन की वस्तु समझता हूँ। कभी उनसे बहस नहीं करता और करना भी चाहूँ तो उतनी विद्या कहाँ से लाऊँ ? जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी क़दम ही नहीं रखा, वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है। मज़े से एक हज़ार माहवार फटकारते हैं, न जोरू न जाँता, न कोई चिन्ता न बाधा, वह दर्शन न बघारे तो कौन बघारे ? आप निर्द्वन्द्व रहकर जीवन को सम्पूर्ण बनाने का स्वप्न देखते हैं। ऐसे आदमी से क्या बहस की जाय।

"मैंने सुना, चरित्र का अच्छा नहीं है।"

"बेफ़िक्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है ! समाज में रहो और समाज के कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो, तब पता चले !"

"मालती न जाने क्या देखकर उन पर लट्टू हुई जाती है।"

"मैं समझता हूँ, वह केवल तुम्हें जला रही है।"

"मुझे वह क्या जलाएँगी। बेचारी ! मैं उन्हें खिलौने से ज़्यादा नहीं समझता।"

"यह तो न कहो मिस्टर खन्ना, मिस मालती पर जान तो देते हो तुम।"

"यों तो मैं आपको भी यही इल्जाम दे सकता हूँ।"

"मैं सचमुच खिलौना समझता हूँ। आप उन्हें प्रतिमा बनाये हुए हैं।"

खन्ना ने ज़ोर से क़हक़हा मारा, हालाँकि हँसी की कोई बात न थी।

"अगर एक लोटा जल चढ़ा देने से वरदान मिल जाय, तो क्या बुरा है !"

अबकी रायसाहब ने ज़ोर से क़हक़हा मारा, जिसका कोई प्रयोजन न था।

"तब आपने उस देवी को समझा ही नहीं। आप जितनी ही उसकी पूजा करेंगे, उतना ही वह आपसे दूर भागेगी। जितना ही दूर भागिएगा, उतना ही आपकी ओर दौड़ेगी।"

"तब तो उन्हें आपकी ओर दौड़ना चाहिए था।"

"मेरी ओर ! मैं उस रसिक-समाज से बिलकुल बाहर हूँ मिस्टर खन्ना, सच कहता हूँ। मुझमें जितनी बुद्धि, जितना बल है, वह इस इलाके के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाता है। घर के जितने प्राणी हैं, सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त; कोई उपासना में, कोई विषय-वासना में। कोऊ काहू में मगन, कोऊ काहू में मगन। और इन सब अजगरों को भक्ष्य देना मेरा काम है, कर्त्तव्य है। मेरे बहुत-से ताल्लुकेदार भाई भोग-विलास करते हैं, यह सब मैं जानता हूँ। मगर वह लोग घर फूँककर तमाशा देखते हैं। क़र्ज़ का बोझ सिर पर लदा जा रहा है, रोज़ डिग्रियाँ हो रही हैं। जिससे लेते हैं, उसे देना नहीं जानते, चारों तरफ़ बदनाम। मैं तो ऐसी ज़िन्दगी से मर जाना अच्छा समझता हूँ ! मालूम नहीं, किस संस्कार से मेरी आत्मा में ज़रा-सी जान बाक़ी

रह गयी, जो मुझे देश और समाज के बन्धन में बाँधे हुए है। सत्याग्रह-आन्दोलन छिड़ा। मेरे सारे भाई शराब-कबाब में मस्त थे। मैं अपने को न रोक सका। जेल गया और लाखों रुपये की जेरबारी उठाई और अभी तक उसका तावान दे रहा हूँ। मुझे उसका पछतावा नहीं है। बिलकुल नहीं। मुझे उसका गर्व है। मैं उस आदमी को आदमी नहीं समझता, जो देश और समाज की भलाई के लिए उद्योग न करे और बलिदान न करे। मुझे क्या अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानों का रक्त चूसूँ और अपने परिवारवालों की वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाऊँ; मगर करूँ क्या ? जिस व्यवस्था में पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता और उसी चरखे में रात-दिन पड़ा रहता हूँ कि किसी तरह इज़्ज़त-आबरू बची रहे, और आत्मा की हत्या न होने पाये। ऐसा आदमी मिस मालती क्या, किसी भी मिस के पीछे नहीं पड़ सकता, और पड़े तो उसका सर्वनाश ही समझिए। हाँ, थोड़ा-सा मनोरंजन कर लेना दूसरी बात है।"

मिस्टर खन्ना भी साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढ़नेवाले। दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर न पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी-बड़ी तकलीफें झेल सकते थे। जेल में शराब छुई तक नहीं, और ए क्लास में रहकर भी सी क्लास की रोटियाँ खाते रहे, हालाँकि, उन्हें हर तरह का आराम मिल सकता था; मगर रण-क्षेत्र में जानेवाला रथ भी तो बिना तेल के नहीं चल सकता। उनके जीवन में थोड़ी-सी रसिकता लाजिमी थी। बोले—आप संन्यासी बन सकते हैं, मैं तो नहीं बन सकता। मैं तो समझता हूँ, जो भोगी नहीं है, वह संग्राम में भी पूरे उत्साह से नहीं जा सकता। जो रमणी से प्रेम नहीं कर सकता, उसके देश-प्रेम में मुझे विश्वास नहीं।

रायसाहब मुस्कराए—आप मुझी पर आवाज़ें कसने लगे।

"आवाज़ नहीं है, तत्त्व की बात है।"

"शायद हो।"

"आप अपने दिल के अन्दर पैठकर देखिए तो पता चले।"

"मैंने तो पैठकर देखा है, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, वहाँ और चाहे जितनी बुराइयाँ हों, विषय की लालसा नहीं है।"

"तब मुझे आपके ऊपर दया आती है। आप जो इतने दुखी और निराश और चिंतित हैं, इसका एकमात्र कारण आपका निग्रह है। मैं तो यह नाटक खेलकर रहूँगा, चाहे दुःखान्त ही क्यों न हो ! वह मुझसे मज़ाक करती है, दिखाती है कि मुझे तेरी परवाह नहीं है; लेकिन मैं हिम्मत हारनेवाला मनुष्य नहीं हूँ। मैं अब तक उसका मिज़ाज़ नहीं समझ पाया। कहाँ निशाना ठीक बैठेगा, इसका निश्चय न कर सका।"

"लेकिन वह कुंजी आपको शायद ही मिले। मेहता शायद आपसे बाज़ी मार ले जायें।"

एक हिरन कई हिरनियों के साथ चर रहा था, बड़ी सींगोंवाला, बिलकुल काला।

रायसाहब ने निशाना बाँधा। खन्ना ने रोका—क्यों हत्या करते हो यार ? बेचारा चर रहा है, चरने दो। धूप तेज़ हो गयी। आइए कहीं बैठ जायें। आपसे कुछ बातें करनी हैं।

रायसाहब ने बन्दूक़ चलायी, मगर हिरन भाग गया। बोले—एक शिकार मिला भी तो निशाना ख़ाली गया।

"एक हत्या से बचे।"

"आपके इलाके में ऊख होती है ?"

"बड़ी कसरत से।"

"तो फिर क्यों न हमारे शुगर मिल में शामिल हो जाइए ? हिस्से धड़ाधड़ बिक रहे हैं। आप ज़्यादा नहीं एक हज़ार हिस्से ख़रीद लें ?"

"गज़ब किया, मैं इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा ?"

"इतने नामी इलाकेदार और आपको रुपयों की कमी ! कुल पचास हज़ार ही तो होते हैं। उनमें भी अभी पच्चीस फ़ीसदी ही देना है।"

"नहीं भाई साहब, मेरे पास इस वक़्त बिलकुल रुपये नहीं हैं।"

"रुपये जितने चाहें, मुझसे लीजिए। बैंक आपका है। हाँ, अभी आपने अपनी ज़िन्दगी इंश्योर्ड न करायी होगी। मेरी कम्पनी में एक अच्छी-सी पालिसी लीजिए। सौ-दो सौ रुपये तो आप बड़ी आसानी से हर महीने दे सकते हैं। और इकट्ठी रकम मिल जायेगी--चालीस-पचास हज़ार। लड़कों के लिए इससे अच्छा प्रबन्ध आप नहीं कर सकते। हमारी नियमावली देखिए। हम पूर्ण सहकारिता के सिद्धान्त पर काम करते हैं। दफ़्तर और कर्मचारियों के ख़र्च के अलावा नफे की एक पाई भी किसी की जेब में नहीं जाती। आपको आश्चर्य होगा कि इस नीति से कम्पनी चल कैसे रही है। और मेरी सलाह से थोड़ा-सा स्पेकुलेशन का काम भी शुरू कर दीजिए। यह जो आप सैकड़ों करोड़पति बने हुए हैं, सब इसी स्पेकुलेशन से बने हैं। रूई, शक्कर, गेहूँ, रबर किसी जिन्स का सट्टा कीजिए। मिनटों में लाखों का वारा-न्यारा होता है। काम ज़रा अटपटा है। बहुत-से लोग गच्चा खा जाते हैं, लेकिन वही, जो अनाड़ी हैं। आप जैसे अनुभवी, सुशिक्षित और दूरन्देश लोगों के लिए इससे ज़्यादा नफे का काम ही नहीं। बाज़ार का चढ़ाव-उतार कोई आकस्मिक घटना नहीं। इसका भी विज्ञान है। एक बार उसे ग़ौर से देख लीजिए, फिर क्या मजाल कि धोखा हो जाय।"

रायसाहब कम्पनियों पर अविश्वास करते थे, दो-एक बार इसका उन्हें कड़वा अनुभव हो भी चुका था, लेकिन मिस्टर खन्ना को उन्होंने अपनी आँखों से बढ़ते देखा था और उनकी कार्यक्षमता के कायल हो गये थे। अभी दस साल पहले जो व्यक्ति बैंक में क्लर्क था, वह केवल अपने अध्यवसाय, पुरुषार्थ और प्रतिभा से शहर में पुजता था। उसकी सलाह की उपेक्षा न की जा सकती थी। इस विषय में अगर खन्ना उनके पथ-प्रदर्शक हो जायें, तो उन्हें बहुत कुछ कामयाबी हो सकती

है। ऐसा अवसर क्यों छोड़ा जाय ? तरह-तरह के प्रश्न करते रहे।

सहसा एक देहाती एक बड़ी-सी टोकरी में कुछ जड़ें, कुछ पत्तियाँ, कुछ फल लिये, जाता नज़र आया।

खन्ना ने पूछा—अरे, क्या बेचता है ?

देहाती सकपका गया। डरा, कहीं बेगार में न पकड़ जाय। बोला—कुछ तो नहीं मालिक ! यही घास-पात है।

"क्या करेगा इनका ?"

"बेचूँगा मालिक ! जड़ी-बूटी है।"

"कौन-कौन-सी जड़ी-बूटी है, बता ?"

देहाती ने अपना औषधालय खोलकर दिखलाया। मामूली चीज़ें थीं, जो जंगल के आदमी उखाड़कर ले जाते हैं और शहर में अत्तारों के हाथ दो-चार आने में बेच आते हैं। जैसे मकोय, कंघी, सहदेइया, कुकरौंधे, धतूरे के बीज, मदार के फूल, करजे, घुमची आदि। हरएक चीज़ दिखाता था और रटे हुए शब्दों में उसके गुण बयान करता जाता था। यह मकोय है सरकार ! ताप हो, मंदाग्नि हो, तिल्ली हो, धड़कन हो, शूल हो, खाँसी हो, एक खोराक में आराम हो जाता है। ये धतूरे के बीज हैं मालिक, गठिया हो, बाई हो ···

खन्ना ने दाम पूछा—उसने आठ आने कहे। खन्ना ने एक रुपया फेंक दिया और उसे पड़ाव तक रख आने का हुक्म दिया। ग़रीब ने मुँह-माँगा दाम ही नहीं पाया, उसका दुगुना पाया। आशीर्वाद देता चला गया।

रायसाहब ने पूछा—आप यह घास-पात लेकर क्या करेंगे ?

खन्ना ने मुस्कराकर कहा—इनकी अशर्फियाँ बनाऊँगा। मैं कीमियागर हूँ। यह आपको शायद नहीं मालूम।

"तो यार, वह मन्त्र हमें सिखा दो।"

"हाँ-हाँ, शौक से। मेरी शागिर्दी कीजिए। पहले सवा सेर लड्डू लाकर चढ़ाइए, तब बताऊँगा। बात यह है कि मेरा तरह-तरह के आदमियों से साबका पड़ता है। कुछ ऐसे लोग भी आते हैं, जो जड़ी-बूटियों पर जान देते हैं। उनको इतना मालूम हो जाय कि यह किसी फ़कीर की दी हुई बूटी है, फिर आपकी खुशामद करेंगे, नाक रगड़ेंगे, और आप वह चीज़ उन्हें दे दें, तो हमेशा के लिए आपके ऋणी हो जायेंगे। एक रुपये में अगर दस-बीस बुद्धुओं पर एहसान का नमदा कसा जा सके, तो क्या बुरा है ? ज़रा-से एहसान से बड़े-बड़े काम निकल जाते हैं।"

रायसाहब ने कुतूहल से पूछा—मगर इन बूटियों के गुण आपको याद कैसे रहेंगे ?

खन्ना ने क़हक़हा मारा—आप भी रायसाहब ! बड़े मज़े की बातें करते हैं। जिस बूटी में जो गुण चाहे बता दीजिए, वह आपकी लियाकत पर मुनहसर है। सेहत तो रुपये में आठ आने विश्वास से होती है। आप जो इन बड़े-बड़े अफ़सरों को

देखते हैं, और इन लम्बी पूँछवाले विद्वानों को, और इन रईसों को, ये सब अन्धविश्वासी होते हैं। मैं तो वनस्पति-शास्त्र के प्रोफेसर को जानता हूँ, जो कुकरौंधे का नाम भी नहीं जानते। इन विद्वानों का मज़ाक तो हमारे स्वामीजी खूब उड़ाते हैं। आपको तो कभी उनके दर्शन न हुए होंगे। अबकी आप आयेंगे, उनसे मिलाऊँगा। जब से मेरे बगीचे में ठहरे हैं, रात-दिन लोगों का ताँता लगा रहता है। माया तो उन्हें छू भी नहीं गयी। केवल एक बार दूध पीते हैं। ऐसा विद्वान महात्मा मैंने आज तक नहीं देखा। न जाने कितने वर्ष हिमालय पर तप करते रहे। पूरे सिद्ध पुरुष हैं। आप उनसे अवश्य दीक्षा लीजिए। मुझे विश्वास है, आपकी यह सारी कठिनाइयाँ छूमन्तर हो जायेंगी। आपको देखते ही आपका भूत-भविष्य सब कह सुनायेंगे। ऐसे प्रसन्न मुख हैं कि देखते ही मन खिल उठता है। ताज्जुब तो यह है कि खुद इतने बड़े महात्मा हैं; मगर संन्यास और त्याग, मन्दिर और मठ, संप्रदाय और पन्थ, इन सबको ढोंग कहते हैं, पाखण्ड कहते हैं, रूढ़ियों के बन्धन को तोड़ो और मनुष्य बनो; देवता बनने का ख्याल छोड़ो। देवता बनकर तुम मनुष्य न रहोगे।

रायसाहब के मन में शंका हुई। महात्माओं में उन्हें भी वह विश्वास था, जो प्रभुतावालों में आमतौर पर होता है। दुखी प्राणी को आत्मचिन्तन में जो शान्ति मिलती है, उसके लिए वह भी लालायित रहते थे। जब आर्थिक कठिनाइयों से निराश हो जाते, मन में आता, संसार से मुँह मोड़कर एकान्त में जा बैठें और मोक्ष की चिन्ता करें। संसार के बन्धनों को वह भी साधारण मनुष्यों की भाँति आत्मोन्नति के मार्ग की बाधाएँ समझते थे और इनसे दूर हो जाना ही उनके जीवन का भी आदर्श था; लेकिन संन्यास और त्याग के बिना बन्धनों को तोड़ने का और क्या उपाय है ?

"लेकिन जब वह संन्यास को ढोंग कहते हैं, तो खुद क्यों संन्यास लिया है ?"

"उन्होंने संन्यास कब लिया है साहब, वह तो कहते हैं—आदमी को अन्त तक काम करते रहना चाहिए। विचार-स्वातन्त्र्य उनके उपदेशों का तत्त्व है।"

"मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा। विचार-स्वातन्त्र्य का आशय क्या है ?';

"समझ में तो मेरे भी कुछ नहीं आता, अबकी आइए, तो उनसे बातें हों। वह प्रेम को जीवन का सत्य कहते हैं। और इसकी ऐसी सुन्दर व्याख्या करते हैं कि मन मुग्ध हो जाता है।' '

"मिस मालती को उनसे मिलाया या नहीं ?"

"आप भी दिल्लगी करते हैं। मालती को भला इनसे क्या मिलाता···"

वाक्य पूरा न हुआ था कि वह सामने झाड़ी में सरसराहट की आवाज़ सुनकर चौंक पड़े और प्राण-रक्षा की प्रेरणा से रायसाहब के पीछे आ गये। झाड़ी में से एक तेंदुआ निकला और मन्द गति से सामने की ओर चला।

रायसाहब ने बन्दूक उठायी और निशाना बाँधना चाहते थे कि खन्ना ने कहा—यह क्या करते हैं आप ? ख्वाहमख़्वाह उसे छेड़ रहे हैं। कहीं लौट पड़े

तो ?

"लौट क्या पड़ेगा, वहीं ढेर हो जायेगा।"

"तो मुझे उस टीले पर चढ़ जाने दीजिए। मैं शिकार का ऐसा शौक़ीन नहीं हूँ।"

"तब क्या शिकार खेलने चले थे ?"

"शामत और क्या !"

रायसाहब ने बन्दूक़ नीचे कर ली।

"बड़ा अच्छा शिकार निकल गया। ऐसे अवसर कम मिलते हैं।"

"मैं तो अब यहाँ नहीं ठहर सकता। ख़तरनाक जगह है।"

"एकाध शिकार तो मार लेने दीजिए। ख़ाली हाथ लौटते शर्म आती है।"

"आप मुझे कृपा करके कार के पास पहुँचा दीजिए, फिर चाहे तेंदुए का शिकार कीजिए या चीते का।"

"आप बड़े डरपोक हैं मिस्टर खन्ना, सच।"

"व्यर्थ में अपनी जान ख़तरे में डालना बहादुरी नहीं है !"

"अच्छा, तो आप खुशी से लौट सकते हैं।"

"अकेला ?"

"रास्ता बिलकुल साफ़ है।"

"जी नहीं, आपको मेरे साथ चलना पड़ेगा।"

रायसाहब ने बहुत समझाया; मगर खन्ना ने एक न मानी। मारे भय के उनका चेहरा पीला पड़ गया था। उस वक़्त अगर झाड़ी में से एक गिलहरी भी निकल आती, तो वह चीख़ मारकर गिर पड़ते। बोटी-बोटी काँप रही थी। पसीने से तर हो गये थे ! रायसाहब को लाचार होकर उनके साथ लौटना पड़ा।

जब दोनों आदमी बड़ी दूर निकल आये, तो खन्ना के होश ठिकाने आये।

बोले—ख़तरे से नहीं डरता; लेकिन ख़तरे के मुँह में उँगली डालना हिमाक़त है।

"अजी, जाओ भी। ज़रा-सा तेंदुआ देख लिया, तो जान निकल गयी।"

"मैं शिकार खेलना उस जमाने का संस्कार समझता हूँ, जब आदमी पशु था। तब से संस्कृति बहुत आगे बढ़ गयी है।"

"मैं मिस मालती से आपकी कलई खोलूँगा।"

"मैं अहिंसावादी होना लज्जा की बात नहीं समझता।"

"अच्छा, तो यह आपका अहिंसावाद था। शाबाश !"

खन्ना ने गर्व से कहा—जी हाँ, यह मेरा अहिंसावाद था। आप बुद्ध और शंकर के नाम पर गर्व करते हैं और पशुओं की हत्या करते हैं, लज्जा आपको आनी चाहिए, न कि मुझे।

कुछ दूर दोनों फिर चुपचाप चलते रहे। तब खन्ना बोले—तो आप कब तक

आयेंगे ? मैं चाहता हूँ, आप पालिसी का फार्म आज ही भर दें और शक्कर के हिस्सों का भी। मेरे पास दोनो फार्म भी मौजूद हैं।

रायसाहब ने चिन्तित स्वर में कहा—ज़रा सोच लेने दीजिए।

"इसमें सोचने की ज़रूरत नहीं।"

तीसरी टोली मिर्ज़ा खुर्शेद और मिस्टर तंखा की थी। मिर्ज़ा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति था। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछतावा था, न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था, उसमें जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मंडली में वह विनोद के पुतले थे। कौंसिल में उनसे ज्यादा उत्साही मेम्बर कोई न था। जिस प्रश्न के पीछे पड़ जायें कोनिस्टरों को रुला देते। किसी के साथ रू-रियायत करना न जानते थे। बीच-बीच में परिहास भी करते जाते थे। उनके लिए आज जीवन था, कल का पता नहीं। गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोंककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे; लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई और यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे, न दूसरों का देना। शौक़ था शायरी का और शराब का। औरत केवल मनोरंजन की वस्तु थी। बहुत दिन हुए हृदय का दिवाला निकाल चुके थे।

मिस्टर तंखा दाँव-पेंच के आदमी थे, सौदा पटाने में, मुआमला सुलझाने में, अड़ंगा लगाने मे, बालू से तेल निकालने में, गला दबाने में, दुम झाड़कर निकल जाने में बड़े सिद्धहस्त। कहिए रेत में नाव चला दें, पत्थर पर दूब उगा दें। ताल्लुकेदारों को महाजनों से क़र्ज़ दिलाना, नयी कम्पनियाँ खोलना, चुनाव के अवसर पर उम्मेदवार खड़े करना, यही उनका व्यवसाय था। खासकर चुनाव के समय उनकी तकदीर चमकती थी। किसी पोढ़े उम्मेदवार को खड़ा करते, दिलोजान से उसका काम करते और दस-बीस हज़ार बना लेते। जब कांग्रेस का ज़ोर था, तो कांग्रेस के उम्मेदवारों के सहायक थे। जब साम्प्रदायिक दल का जोर हुआ, तो हिन्दूसभा की ओर से काम करने लगे; मगर इस उलटफेर के समर्थन के लिए उनके पास ऐसी दलीलें थी कि कोई उँगली न दिखा सकता था। शहर के सभी रईस, सभी हुक्काम, सभी अमीरों से उनका याराना था। दिल में चाहे लोग उनकी नीति पसन्द न करें, पर वह स्वभाव के इतने नम्र थे कि कोई मुँह पर कुछ न कह सकता था।

मिर्जा खुर्शेद ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछकर कहा—आज तो शिकार खेलने के लायक़ दिन नहीं है। आज तो कोई मुशायरा होना चाहिए था।

वकील ने समर्थन किया—जी हाँ, वहीं बाग में। बड़ी बहार रहेगी।

थोड़ी देर के बाद मिस्टर तंखा ने मामले की बात छेड़ी।

"अबकी चुनाव में बड़े-बड़े गुल खिलेंगे। आपके लिए भी मुश्किल है।"

मिर्ज़ा विरक्त मन से बोले—अबकी मैं खड़ा न हूँगा।

तंखा ने पूछा—क्यों ?

"मुफ़्त की बकबक कौन करे ? फ़ायदा ही क्या ! मुझे अब इस डेमॉक्रेसी में भक्ति नहीं रही। ज़रा-सा काम और महीनों की बहस। हाँ, जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए अच्छा स्वाँग है। इससे तो कहीं अच्छा है कि एक गवर्नर रहे, चाहे वह हिन्दुस्तानी हो, या अंग्रेज़, इससे बहस नहीं। एक इंजिन जिस गाड़ी को बड़े मज़े से हज़ारों मील खींच ले जा सकता है, उसे दस हज़ार आदमी मिलकर भी उतनी तेज़ी से नहीं खींच सकते। मैं तो यह सारा तमाशा देखकर कौंसिल से बेज़ार हो गया हूँ। मेरा बस चले, तो कौंसिल में आग लगा दूँ। जिसे हम डेमॉक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और ज़मीदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाज़ी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं। रुपये के ज़ोर से उसके लिए सभी सुविधाएँ तैयार हो जाती हैं। बड़े-बड़े पण्डित, बड़े-बड़े मौलवी, बड़े-बड़े लिखने और बोलनेवाले, जो अपनी जबान और क़लम से पब्लिक को जिस तरफ़ चाहें फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते हैं। मैंने तो इरादा कर लिया है, अब इलेक्शन के पास न आऊँगा ! मेरा प्रोपेगैंडा अब डेमॉक्रेसी के ख़िलाफ़ होगा।"

मिर्ज़ा साहब ने कुरान की आयतों से सिद्ध किया कि पुराने ज़माने के बादशाहों के आदर्श कितने ऊँचे थे। आज तो हम उसकी तरफ़ ताक भी नहीं सकते। हमारी आँखों में चकाचौंध आ जायेगी। बादशाह को खज़ाने की एक कौड़ी भी निजी ख़र्च में लाने का अधिकार न था। वह किताबें नक़ल करके, कपड़े सीकर, लड़कों को पढ़ाकर अपना गुज़र करता था। मिर्ज़ा ने आदर्श महीपों की एक लम्बी सूची गिना दी। कहाँ तो वह प्रजा को पालनेवाला बादशाह, और कहाँ आजकल के मन्त्री और मिनिस्टर, पाँच-छः, सात, आठ हजार माहवार मिलना चाहिए। यह लूट है या डेमॉक्रेसी !

हिरनों का एक झुण्ड चरता हुआ नज़र आया ! मिर्ज़ा के मुख पर शिकार का जोश चमक उठा। बन्दूक सँभाली और निशाना मारा। एक काला-सा हिरन गिर पड़ा। वह मारा ! इस उन्मत्त ध्वनि के साथ मिर्ज़ा भी बेहताशा दौड़े—बिलकुल बच्चों की तरह उछलते, कूदते, तालियाँ बजाते।

समीप ही एक वृक्ष पर एक आदमी लकड़ियाँ काट रहा था। वह भी चट-पट वृक्ष से उतरकर मिर्ज़ाजी के साथ दौड़ा। हिरन की गर्दन में गोली लगी थी, उसके पैरों में कम्पन हो रहा था और आँखें पथरा गयी थीं।

लकड़हारे ने हिरन को करुण नेत्रों से देखकर कहा—अच्छा पट्ठा था, मन-भर से कम न होगा। हुकुम हो, तो मैं उठाकर पहुँचा दूँ ?

मिर्ज़ा कुछ बोले नहीं। हिरन की टँगी हुई, दीन वेदना से भरी आँखें देख रहे थे। अभी एक मिनट पहले इसमें जीवन था। ज़रा-सा पत्ता भी खड़कता, तो कान खड़े करके चौकड़ियाँ भरता हुआ निकल भागता। अपने मित्रों और बाल-बच्चों के साथ ईश्वर की उगाई हुई घास खा रहा था, मगर अब निस्पन्द पड़ा है। उसकी

ख़ाल उधेड़ लो, उसकी बोटियाँ कर डालो, उसका क़ीमा बना डालो, उसे ख़बर न होगी। उसके क्रीड़ामय जीवन में जो आकर्षण था, जो आनन्द था, वह क्या इस निर्जीव शव में है ? कितनी सुन्दर गठन थी, कितनी प्यारी आँखें, कितनी मनोहर छवि ? उसकी छलाँगें हृदय में आनन्द की तरंगें पैदा कर देती थीं, उसकी चौकड़ियों के साथ हमारा मन भी चौकड़ियाँ भरने लगता था। उसकी स्फूर्ति जीवन-सा बिखेरती चलती थी, जैसे फूल सुगन्ध बिखेरता है; लेकिन अब ! उसे देखकर ग्लानि होती है।

लकड़हारे ने पूछा—कहाँ पहुँचाना होगा मालिक ? मुझे भी दो-चार पैसे दे देना !

मिर्ज़ाजी जैसे ध्यान से चौंक पड़े। बोले—अच्छा, उठा ले। कहाँ चलेगा ?

"जहाँ हुकुम हो मालिक।"

"नहीं, जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ ले जा। मैं तुझे देता हूँ !"

लकड़हारे ने मिर्ज़ा की ओर कुतूहल से देखा। कानों पर विश्वास न आया।

"अरे नहीं मालिक, हुजूर ने शिकार किया है, तो हम कैसे खा लें।"

"नहीं-नहीं, मैं खुशी से कहता हूँ, तुम इसे ले जाओ। तुम्हारा घर यहाँ से कितनी दूर है ?"

"कोई आधा कोस होगा मालिक !"

"तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। देखूँगा, तुम्हारे बाल-बच्चे कैसे खुश होते हैं।"

"ऐसे तो मैं न ले जाऊँगा सरकार ! आप इतनी दूर से आये ; इस कड़ी धूप में शिकार किया, मैं कैसे उठा ले जाऊँ ?'

"उठा-उठा, देर न कर। मुझे मालूम हो गया, तू भला आदमी है।"

लकड़हारे ने डरते-डरते और रह-रहकर मिर्ज़ाजी के मुख की ओर सशंक नेत्रों से देखते हुए कि कहीं बिगड़ न जायें, हिरन को उठाया। सहसा उसने हिरन छोड़ दिया और खड़ा होकर बोला—मैं समझ गया मालिक, हुजूर ने इसकी हलाली नहीं की।

मिर्ज़ाजी ने हँसकर कहा—बस-बस, तूने खूब समझा। अब उठा ले और घर चल।

मिर्ज़ाजी धर्म के इतने पाबन्द न थे। दस साल से उन्होंने नमाज़ न पढ़ी थी। दो महीने में एक दिन व्रत रख लेते थे। बिल्कुल निराहार, निर्जल; मगर लकड़हारे को इस ख़याल से जो सन्तोष हुआ था कि हिरन अब इन लोगों के लिए अखाद्य हो गया है, उसे फीका न करना चाहते थे।

लकड़हारे ने हल्के मन से हिरन को गर्दन पर रख लिया और घर की ओर चला। तंखा अभी तटस्थ-से वहीं पेड़ के नीचे खड़े थे। धूप में हिरन के पास जाने का कष्ट क्यों उठाते ? कुछ समझ में न आ रहा था कि मुआमला क्या है; लेकिन

जब लकड़हारे को उल्टी दिशा में जाते देखा, तो आकर मिर्ज़ा से बोले—आप उधर कहाँ जा रहे हैं हजरत ! क्या रास्ता भूल गये ?

मिर्ज़ा ने अपराधी भाव से मुस्कराकर कहा—मैंने शिकार इस ग़रीब आदमी को दे दिया। अब ज़रा इसके घर चल रहा हूँ। आप भी आइए न।

तंखा ने मिर्ज़ा को कुतूहल की दृष्टि से देखा और बोले—आप अपने होश में हैं या नही ?

"कह नही सकता। मुझे खुद नहीं मालूम।"

"शिकार इसे क्यो दे दिया ?"

"इसलिए कि उसे पाकर इसे जितनी खुशी होगी, मुझे या आपको न होगी।"

तंखा खिसियाकर बोले—जाइए ! सोचा था, खूब कबाब उड़ायेगे, सो आपने सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। ख़ैर, रायसाहब और मेहता कुछ न कुछ लायेंगे ही। कोई ग़म नहीं। मैं इस इलेक्शन के बारे में कुछ अर्ज़ करना चाहता हूँ। आप नहीं खड़ा होना चाहते न सही, आपकी जैसी मरज़ी; लेकिन आपको इसमें क्या ताम्मुल है कि जो लोग खड़े हो रहे हैं, उनसे इसकी अच्छी कीमत वसूल की जाय ? मैं आपसे सिर्फ़ इतना चाहता हूँ कि आप किसी पर यह भेद न खुलने दें कि आप नहीं खड़े हो रहे हैं। सिर्फ़ इतनी मेहरबानी कीजिए मेरे साथ ! ख़्वाजा जमाल ताहिर इसी शहर से खड़े हो रहे हैं। रईसों के वोट सोलहों आने उनकी तरफ़ हैं ही, हुक्काम भी उनके मददगार हैं। फिर भी पब्लिक पर आपका जो असर है, इससे उनकी कोर दब रही है। आप चाहें तो आपको उनसे दस-बीस हज़ार रुपये महज़ यह जाहिर कर देने के मिल सकते हैं कि आप उनकी ख़ातिर बैठ जाते हैं... नहीं, मुझे अर्ज कर लेने दीजिए। इस मुआमले में आपको कुछ नहीं करना है। आप बेफ़िक्र बैठे रहिए। मैं आपकी तरफ़ से मेनिफेस्टो निकाल दूँगा और उसी शाम को आप मुझसे दस हज़ार वसूल कर लीजिए।

मिर्ज़ा साहब ने उनकी ओर हिकारत से देखकर कहा—मैं ऐसे रुपये पर और आप पर लानत भेजता हूँ।

मिस्टर तंखा ने ज़रा भी बुरा नहीं माना। माथे पर बल तक न आने दिया।

"मुझ पर जितनी लानत चाहें भेजें; मगर रुपये पर लानत भेजकर आप अपना ही नुकसान कर रहे हैं।"

"मैं ऐसी रक़म को हराम समझता हूँ।"

"आप शरीयत के इतने पाबन्द तो नहीं हैं।"

"लूट की कमाई को हराम समझने के लिए शरा का पाबन्द होने की ज़रूरत नहीं है।"

"तो इस मुआमले में क्या आप अपना फ़ैसला तब्दील नहीं कर सकते ?"

"जी नहीं।"

"अच्छी बात है, इसे जाने दीजिए। किसी बीमा कम्पनी के डाइरेक्टर बनने

में तो आपको कोई एतराज नहीं है ? आपको कम्पनी का एक हिस्सा भी न खरीदना पड़ेगा। आप सिर्फ अपना नाम दे दीजिएगा।"

जी नहीं, मुझे यह भी मंजूर नहीं है। मैं कई कम्पनियों का डाइरेक्टर, कई का मैनेजिंग एजेण्ट, कई का चेयरमैन था। दौलत मेरे पाँव चूमती थी। मैं जानता हूँ, दौलत से आराम और तकल्लुफ के कितने सामान जमा किये जा सकते हैं; मगर यह भी जानता हूँ कि दौलत इन्सान को कितना खुद-गरज़ बना देती है, कितना ऐश-पसन्द, कितना मक्कार, कितना बेग़ैरत।'

वकील साहब को फिर कोई प्रस्ताव करने का साहस न हुआ। मिर्ज़ाजी की बुद्धि और प्रभाव में उनका जो विश्वास था, वह बहुत कम हो गया। उनके लिए धन ही सब कुछ था और ऐसे आदमी से, जो लक्ष्मी को ठोकर मारता हो, उनका कोई मेल न हो सकता था।

लकड़हारा हिरन को कंधे पर रखे लपका चला जा रहा था। मिर्ज़ा ने भी कदम बढ़ाया; पर स्थूलकार तंखा पीछे रह गये।

उन्होंने पुकारा—ज़रा सुनिए, मिर्ज़ाजी, आप तो भागे जा रहे हैं।

मिर्ज़ाजी ने बिना रुके हुए जवाब दिया—वह ग़रीब बोझ लिये इतनी तेज़ी से चला जा रहा है। हम क्या अपना बदन लेकर भी उसके बराबर नहीं चल सकते ?

लकड़हारे ने हिरन को एक ठूँठ पर उतारकर रख दिया था और दम लेने लगा था।

मिर्ज़ा साहब ने आकर पूछा—थक गये, क्यों ?

लकड़हारे ने सकुचाते हुए कहा—बहुत भारी है सरकार !

"तो लाओ, कुछ दूर मैं ले चलूँ।"

लकड़हारा हँसा। मिर्ज़ा डील-डौल में उससे कहीं ऊँचे और मोटे-ताजे थे, फिर भी वह दुबला-पतला आदमी उनकी इस बात पर हँसा। मिर्ज़ाजी पर जैसे चाबुक पड़ गया।

"तुम हँसे क्यों ? क्या तुम समझते हो, मैं इसे नहीं उठा सकता ?"

लकड़हारे ने मानो क्षमा माँगी—सरकार आप लोग बड़े आदमी हैं। बोझ उठाना तो हम जैसे मजूरों का ही काम है।

"मैं तुम्हारा दुगुना जो हूँ।"

"इससे क्या होता है मालिक !"

मिर्ज़ाजी का पुरुषत्व अपना और अपमान न सह सका। उन्होंने बढ़कर हिरन को गर्दन पर उठा लिया और चले; मगर मुश्किल से पचास कदम चले होंगे कि गर्दन फटने लगी; पाँव थरथराने लगे और आँखों में तितलियाँ उड़ने लगीं। कलेजा मजबूत किया और एक बीस कदम और चले। कम्बख्त कहाँ रह गया ? जैसे इस लाश में सीसा भर दिया हो। ज़रा मिस्टर तंखा की गर्दन पर रख दूँ, तो मज़ा आये।

मशक की तरह जो फूले चलते हैं, जरा इसका मज़ा भी देखें; लेकिन बोझा उतारें कैसे ? दोनों अपने दिल में कहेंगे, बड़ी जवाँमर्दी दिखाने चले थे। पचास कदम में ही बोल गये।

लकड़हारे ने चुटकी ली—कहो मालिक, कैसे रंग-ढंग हैं ? बहुत हल्का है न ?

मिर्ज़ाजी को बोझ कुछ हल्का मालूम होने लगा। बोले—उतनी दूर तो ले ही जाऊँगा, जितनी दूर तुम लाये हो।

"कई दिन गर्दन दुखेगी मालिक !"

"तुम क्या समझते हो, मैं यों ही फूला हुआ हूँ !"

"नहीं मालिक, अब तो ऐसा नहीं समझता। मुदा आप हैरान न हों; वह चट्टान है, उस पर उतार दीजिए।"

"मैं अभी इसे इतनी ही दूर और ले जा सकता हूँ।"

"मगर यह अच्छा तो नहीं लगता कि मैं ठाला चलूँ और आप लदे रहें।"

मिर्ज़ा साहब ने चट्टान पर हिरन को उतारकर रख दिया। वकील साहब भी आ पहुँचे।

मिर्ज़ा ने दाना फेंका—अब आपको भी कुछ दूर ले चलना पड़ेगा जनाब !

वकील साहब की नज़रों में अब मिर्ज़ाजी का कोई महत्त्व न था। बोले—मुआफ़ कीजिए। मुझे अपनी पहलवानी का दावा नहीं है।

"बहुत भारी नहीं है, सच।"

"अजी, रहने भी दीजिए !"

"आप अगर इसे सौ क़दम ले चलें, तो मैं वादा करता हूँ, आप मेरे सामने जो तजवीज़ रखेंगे, उसे मंजूर कर लूँगा।"

"मैं इन चकमों में नहीं आता।"

"मैं चकमा नहीं दे रहा हूँ, वल्लाह। आप जिस हलके से कहेंगे, खड़ा हो जाऊँगा। जब हुक्म देंगे, बैठ जाऊँगा। जिस कम्पनी का डाइरेक्टर, मेम्बर, मुनीम, कनवेसर, जो कहिएगा, बन जाऊँगा ! बस, सौ क़दम ले चलिए। मेरी तो ऐसे ही दोस्तों से निभती है, जो मौका पड़ने पर सब कुछ कर सकते हों।"

तंखा का मन चुलबुला उठा। मिर्ज़ा अपने कौल के पक्के हैं। इसमें कोई सन्देह न था। हिरन ऐसा क्या बहुत भारी होगा। आखिर मिर्ज़ा इतनी दूर ले ही आये। बहुत ज़्यादा थके तो नहीं जान पड़ते; अगर इनकार करते हैं, तो सुनहरा अवसर हाथ से जाता है। आखिर ऐसा क्या कोई पहाड़ है। बहुत होगा, चार-पाँच पँसेरी होगा। दो-चार दिन गर्दन ही तो दुखेगी ! जेब में रुपये हों, तो थोड़ी-सी बीमारी सुख की वस्तु है।

"सौ कदम की रही।"

"हाँ, सौ कदम। मैं गिनता चलूँगा।"

"देखिए, निकल न जाइएगा।"

"निकल जानेवाले पर लानत भेजता हूँ।"

तंखा ने जूते का फीता फिर से बाँधा, कोट उतारकर लकड़हारे को दिया, पतलून ऊपर चढ़ाया, रूमाल से मुँह पोंछा और इस तरह हिरन को देखा, मानों ओखली में सिर देने जा रहे हों। फिर हिरन को उठाकर गर्दन पर रखने की चेष्टा की। दो-तीन बार जोर लगाने पर लाश गर्दन पर तो आ गयी; पर गर्दन न उठ सकी। कमर झुक गयी, हाँफ उठे और लाश को ज़मीन पर पटकनेवाले थे कि मिर्ज़ा ने उन्हें सहारा देकर आगे बढ़ाया।

तंखा ने एक डग इस तरह उठाया, जैसे दलदल में पाँव रख रहे हों। मिर्ज़ा ने बढ़ावा दिया–शाबाश ! मेरे शेर, वाह-वाह !

तंखा ने एक डग और रखा। मालूम हुआ गर्दन टूटी जाती है।

"मार लिया मैदान ! जीते रहो पट्ठे !"

तंखा दो डग और बढ़े। आँखें निकली पड़ती थीं।

"बस, एक बार और ज़ोर मारो दोस्त ! सौ क़दम की शर्त ग़लत। पचास क़दम की ही रही।"

वकील साहब का बुरा हाल था। वह बेजान हिरन शेर की तरह उनको दबोचे हुए, उनका हृदय-रक्त चूस रहा था। सारी शक्तियाँ जवाब दे चुकी थीं। केवल लोभ, किसी लोहे की धरन की तरह छत को सँभाले हुए था। एक से पच्चीस हज़ार तक की गोटी थी। मगर अन्त में वह शहतीर भी जवाब दे गई। लोभी की कमर भी टूट गयी। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सिर में चक्कर आया और वह शिकार गर्दन पर लिये पथरीली जमीन पर गिर पड़े।

मिर्ज़ा ने तुरन्त उन्हें उठाया और अपने रूमाल से हवा करते हुए उनकी पीठ ठोंकी।

"ज़ोर तो यार, तुमने खूब मारा; लेकिन तक़दीर के खोटे हो।"

तंखा ने हाँफते हुए लम्बी साँस खींचकर कहा–आपने तो आज मेरी जान ही ले ली थी। दो मन से कम न होगा ससुर।

मिर्ज़ा ने हँसते हुए कहा–लेकिन भाईजान, मैं भी तो इतनी दूर उठाकर लाया ही था।

वकील साहब ने खुशामद करनी शुरू की–मुझे तो आपकी फरमाइश पूरी करनी थी। आपको तमाशा देखना था, वह आपने देख लिया। अब आपको अपना वादा पूरा करना होगा।

"आपने मुआहदा कब पूरा किया ?"

"कोशिश तो जान तोड़कर की।"

"उनकी सनद नहीं।"

लकड़हारे ने फिर हिरन उठा लिया था और भागा चला जा रहा था। वह

दिखा देना चाहता था कि तुम लोगों ने काँख-कूँखकर दस कदम इसे उठा लिया, तो यह न समझा कि पास हो गये। इस मैदान में मैं दुर्बल होने पर भी तुमसे आगे रहूँगा। हाँ, कागद तुम चाहे जितना काला करो और झूठे मुकदमे चाहे जितने बनाओ।

एक नाला मिला, जिसमें बहुत थोड़ा पानी था। नाले के उस पार टीले पर एक छोटा-सा पाँच-छः घरों का पुरवा था और कई लड़के इमली के नीचे खेल रहे थे। लकड़हारे को देखते ही सबों ने दौड़कर उसका स्वागत किया और लगे पूछने–किसने मारा बापू ? कैसे मारा, कहाँ मारा, कैसे गोली लगी, कहाँ लगी, इसी को क्यों लगी, और हिरनों को क्यों न लगी ? लकड़हारा हूँ-हाँ करता इमली के नीचे पहुँचा और हिरन को उतारकर पास की झोंपड़ी से दोनों महानुभावों के लिए खाट लेने दौड़ा। उसके चारों लड़कों और लड़कियों ने शिकार को अपने चार्ज मे ले लिया और अन्य लड़कों को भगाने की चेष्टा करने लगे।

सबसे छोटे बालक ने कहा–यह हमारा है।

उसकी बड़ी बहन ने, जो चौदह-पन्द्रह साल की थी, मेहमानों की ओर देखकर छोटे भाई को डाँटा–चुप, नहीं सिपाई पकड़ ले जायेगा।

मिर्ज़ा ने लड़के को छेड़ा–तुम्हारा नहीं, हमारा है।

बालक ने हिरन पर बैठकर अपना कब्जा सिद्ध कर दिया और बोला–बापू तो लाये हैं।

बहन ने सिखाया–कह दे भैया, तुम्हारा है।

उन बच्चों की माँ बकरी के लिए पत्तियाँ तोड़ रही थी। दो नये भले आदमियों को देखकर ज़रा-सा घूँघट निकाल लिया और शरमायी कि उसकी साड़ी कितनी मैली, कितनी फटी, कितनी उटंगी है। वह इस वेष में मेहमानों के सामने कैसे जाये ? और गये बिना काम नहीं चलता। पानी-वानी देना है।

अभी दोपहर होने में कुछ क़सर थी; लेकिन मिर्ज़ा साहब ने दोपहरी इसी गाँव में काटने का निश्चय किया। गाँव के आदमियों को जमा किया। शराब मँगवायी, शिकार पका, समीप के बाजार से घी और मैदा मँगाया और सारे गाँव को भोज दिया। छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सबों ने दावत उड़ायी। मर्दों ने खूब शराब पी और मस्त होकर शाम तक गाते रहे। और मिर्ज़ाजी बालकों के साथ बालक, शराबियों के साथ शराबी, बूढ़ों के साथ बूढ़े, जवानों के साथ जवान बने हुए थे।

इतनी देर में सारे गाँव से उनका इतना घनिष्ठ परिचय हो गया था, मानो यहीं के निवासी हों। लड़के तो उन पर लदे पड़ते थे। कोई उनकी फुँदनेदार टोपी सिर पर रखे लेता था, कोई उनकी राइफल कन्धे पर रखकर अकड़ता हुआ चलता था, कोई उनकी कलाई की घड़ी खोलकर अपनी कलाई पर बाँध लेता था। मिर्ज़ा ने खुद खूब देशी शराब पी और झूम-झूमकर जंगली आदमियों के साथ गाते रहे।

जब ये लोग सूर्यास्त के समय यहाँ से विदा हुए तो गाँव-भर के नर-नारी इन्हें बड़ी दूर तक पहुँचाने आये। कई तो रोते थे। ऐसा सौभाग्य उन गरीबों के

जीवन में शायद पहली ही बार आया हो कि किसी शिकारी ने उनकी दावत की हो। ज़रूर यह कोई राजा हैं, नहीं इतना दरियाव दिल किसका होता है। इनके दर्शन फिर काहे को होंगे !

कुछ दूर चलने के बाद मिर्ज़ा ने पीछे फिरकर देखा और बोले—बेचारे कितने खुश थे। काश, मेरी जिन्दगी में ऐसे मौके रोज़ आते। आज का दिन बड़ा मुबारक था।

तंखा ने बेरुख़ी के साथ कहा—आपके लिए मुबारक होगा, मेरे लिए तो मनहूस ही था। मतलब की कोई बात न हुई। दिन-भर जंगलों और पहाड़ों की खाक छानने के बाद अपना-सा मुँह लिये लौट जाते हैं।

मिर्ज़ा ने निर्दयता से कहा—मुझे आपके साथ हमदर्दी नहीं है।

दोनों आदमी जब बरगद के नीचे पहुँचे, तो दोनों टोलियाँ लौट चुकी थीं। मेहता मुँह लटकाए हुए थे। मालती विमन-सी अलग बैठी थी, जो नयी बात थी। रायसाहब और खन्ना दोनों भूखे रह गये थे और किसी के मुँह से बात न निकलती थी। वकील साहब इसलिए दुखी थे कि मिर्ज़ा ने उनके साथ बेवफ़ाई की। अकेले मिर्ज़ा साहब प्रसन्न थे और वह प्रसन्नता अलौकिक थी।

आठ

जब से होरी के घर में गाय आ गई है, घर की श्री ही कुछ और हो गयी है। धनिया का घमण्ड तो उसके सँभाल से बाहर हो-हो जाता है। जब देखो, गाय की चर्चा।

भूसा छिज गया था। ऊख में थोड़ी-सी चरी बो दी गयी थी। उसी की कुट्टी काटकर जानवरों को खिलाना पड़ता था। आँखें आकाश की ओर लगी रहती थीं कि कब पानी बरसे और घास निकले। आधा आसाढ़ बीत गया और वर्षा न हुई।

सहसा एक दिन बादल उठे और आसाढ़ का पहला दौंगड़ा गिरा। किसान खरीफ बोने के लिए हल ले-लेकर निकले कि रायसाहब के कारकुन ने कहला भेजा, जब तक बाक़ी न चुक जायेगी, किसी को खेत में हल न ले जाने दिया जायेगा। किसानों पर जैसे वज्रपात हो गया। और कभी तो इतनी कड़ाई न होती थी, अबकी यह कैसा हुक्म। कोई गाँव छोड़कर भागा थोड़ा ही जाता है; अगर खेतों में हल न चले, तो रुपये कहाँ से आ जायेंगे ? निकालेंगे तो खेत ही से। सब मिलकर कारकुन के पास जाकर रोए। कारकुन का नाम था पण्डित गोसेराम। आदमी बुरे न थे; मगर मालिक का हुक्म था। उसे कैसे टालें ? अभी उस दिन रायसाहब ने होरी से कैसी दया और धर्म की बातें की थीं और आज असामियों पर यह जुल्म। होरी मालिक के पास जाने को तैयार हुआ; लेकिन फिर सोचा, उन्होंने कारकुन को एक बार जो हुक्म दे दिया, उसे क्यों टालने लगे ? वह अगुवा बनकर क्यों बुरा बने ? जब और कोई कुछ नहीं बोलता, तो वही आग में क्यों कूदे ? जो सबके सिर पड़ेगी, वह भी

झेल लेगा।

किसानों में खलबली मची हुई थी। सभी गाँव के महाजनों के पास रुपये के लिए दौड़े। गाँव में मँगरू साह की आजकल चढ़ी हुई थी। इस साल सन में उसे अच्छा फ़ायदा हुआ था। गेहूँ और अलसी में भी उसने कुछ कम नहीं कमाया था। पण्डित दातादीन और दुलारी सहुआइन भी लेन-देन करती थीं। सबसे बड़े महाजन थे झिंगुरीसिंह। वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेण्ट थे। उनके नीचे कई आदमी और थे, जो आस-पास के देहातों में घूम-घूमकर लेन-देन करते थे। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-मोटे महाजन थे, जो दो आने रुपये ब्याज पर बिना लिखा-पढ़ी के रुपये देते थे। गाँववालों को लेन-देन का कुछ ऐसा शौक़ था कि जिसके पास दस-बीस रुपये जमा हो जाते, वही महाजन बन बैठता था। एक समय होरी ने भी महाजनी की थी। उसी का यह प्रभाव था कि लोग अभी तक यही समझते थे कि होरी के पास दबे हुए रुपये हैं। आख़िर वह धन गया कहाँ ? बँटवारे में निकला नहीं, होरी ने कोई तीर्थ, व्रत, भोज किया नहीं ; गया तो कहाँ गया ? जूते जाने पर भी उनके घट्ठे बने रहते हैं।

किसी ने किसी देवता को सीधा किया, किसी ने किसी को। किसी ने आना रुपया ब्याज देना स्वीकार किया, किसी ने दो आना। होरी में आत्मसम्मान का सर्वथा लोप न हुआ था। जिन लोगों के रुपये उस पर बाकी थे, उनके पास कौन मुँह लेकर जाय ? झिंगुरीसिंह के सिवा उसे और कोई न सूझा। वह पक्का काग़ज़ लिखाते थे, नज़राना अलग लेते थे, दस्तूरी अलग, स्टाम्प की लिखाई अलग। उस पर एक साल का ब्याज पेशगी काटकर रुपया देते थे। पचीस रुपये का काग़ज़ लिखा, तो मुश्किल से सत्रह रुपये हाथ लगते थे; मगर इस गाढ़े समय में और क्या किया जाय ? रायसाहब की ज़बरदस्ती है, नहीं इस समय किसी के सामने क्यों हाथ फैलाना पड़ता ?

झिंगुरीसिंह बैठे दातून कर रहे थे। नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले आदमी थे, बिल्कुल विदूषक-जैसे। और थे भी बड़े हँसोड़। इस गाँव को अपनी ससुराल बनाकर मर्दों से साले या ससुर और औरतों से साली या सलहज का नाता जोड़ लिया था। रास्ते में लड़के उन्हें चिढ़ाते—पण्डितजी पाल्लगी ! और झिंगुरीसिंह उन्हें चटपट आशीर्वाद देते—तुम्हारी आँखें फूटें, घुटना टूटे, मिर्गी आये, घर में आग लग जाय आदि। लड़के इस आशीर्वाद से कभी न अघाते थे; मगर लेन-देन में बड़े कठोर थे। सूद की एक पाई न छोड़ते थे और वादे पर बिना रुपये लिये द्वार से न टलते थे।

होरी ने सलाम करके अपनी विपत्ति-कथा सुनायी।

झिंगुरीसिंह ने मुस्कराकर कहा—वह सब पुराना रुपया क्या कर डाला ?

"पुराने रुपये होते ठाकुर, तो महाजनी से अपना गला न छुड़ा लेता, कि सूद भरते किसी को अच्छा लगता है ?"

"गड़े रुपये न निकलें, चाहे सूद कितना ही देना पड़े। तुम लोगों की यही नीति है।"

"कहाँ के गड़े रुपये बाबू साहब, खाने को तो होता नहीं। लड़का जवान हो गया; ब्याह का कहीं ठिकाना नहीं। बड़ी लड़की भी ब्याहने जोग हो गयी। रुपये होते, तो किस दिन के लिए गाड़ रखते ?"

झिंगुरीसिंह ने जब से उसके द्वार पर गाय देखी थी, उस पर दाँत लगाये हुए थे। गाय का डील-डौल और गठन कह रहा था कि उसमें पाँच सेर से कम दूध नहीं है। मन में सोच लिया था, होरी को किसी अरदब में डालकर गाय को उड़ा लेना चाहिए। आज वह अवसर आ गया।

बोले—अच्छा भई, तुम्हारे पास कुछ नहीं है, अब राजी हुए। जितने रुपये चाहो, ले जाओ, लेकिन तुम्हारे भले के लिए कहते हैं, कुछ गहने-गांठे हों, तो गिरो रखकर रुपये ले लो। इसटाम लिखोगे, तो सूद बढ़ेगा और झमेले में पड़ जाओगे !

होरी ने कसम खाई कि घर में गहने के नाम कच्चा सूत भी नहीं है। धनिया के हाथों में कड़े हैं, वह भी गिलट के।

झिंगुरीसिंह ने सहानुभूति का रंग मुँह पर पोतकर कहा—तो एक बात करो, यह नयी गाय जो लाये हो, इसे हमारे हाथ बेच दो। सूद, इसटाम सब झगड़ों से बच जाओ; चार आदमी जो दाम कहें, वह हमसे ले लो। हम जानते हैं, तुम उसे अपने शौक से लाये हो और बेचना नहीं चाहते; लेकिन यह संकट तो टालना ही पड़ेगा।

होरी पहले तो इस प्रस्ताव पर हँसा, उस पर शान्त मन से विचार भी न करना चाहता था; लेकिन ठाकुर ने ऊँच-नीच सुझाया, महाजनी के हथकंडों का ऐसा भीषण रूप दिखाया कि उसके मन में भी यह बात बैठ गयी। ठाकुर ठीक ही तो कहते हैं, जब हाथ में रुपये आ जायें, गाय ले लेना। तीस रुपये का कागद लिखने पर कहीं पचीस रुपये मिलेंगे और तीन-चार साल तक न दिये गये, तो पूरे सौ हो जायेंगे। पहले का अनुभव यही बता रहा था कि कर्ज़ वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।

बोला—मैं घर जाकर सलाह कर लूँ, तो बताऊँ।

"सलाह नहीं करना है, उनसे कह देना है कि रुपये उधार लेने में अपनी बर्बादी के सिवा और कुछ नहीं।"

"मैं समझ रहा हूँ ठाकुर, अभी आके जवाब देता हूँ।"

लेकिन घर आकर उसने ज्योंही वह प्रस्ताव किया कि कुहराम मच गया। धनिया तो कम चिल्लाई, दोनों लड़कियों ने तो दुनिया सिर पर उठा ली। नहीं देते अपनी गाय, रुपये जहाँ से चाहो लाओ। सोना ने तो यहाँ तक कह डाला, इससे तो कहीं अच्छा है, मुझे बेच डालो। गाय से कुछ बेसी ही मिल जायेगा। होरी असमंजस में पड़ गया। दोनों लड़कियाँ सचमुच गाय पर जान देती थीं। रूपा तो उसके गले

से लिपट जाती थी और बिना उसे खिलाए कौर मुँह में न डालती थी। गाय कितने प्यार से उसका हाथ चाटती थी, कितनी स्नेहभरी आँखों से उसे देखती थी। उसका बछड़ा कितना सुन्दर होगा। अभी से उसका नामकरण हो गया था—मटरू। वह उसे अपने साथ लेकर सोएगी। इस गाय के पीछे दोनों बहनों में कई बार लड़ाइयाँ हो चुकी थीं। सोना कहती, मुझे ज़्यादा चाहती है, रूपा कहती, मुझे। इसका निर्णय अभी तक न हो सका था। और दोनों दावे क़ायम थे।

मगर होरी ने आगा-पीछा सुझाकर धनिया को किसी तरह राज़ी कर लिया। एक मित्र से गाय उधार लेकर बेच देना भी बहुत ही वैसी बात है; लेकिन विपत में तो आदमी का धरम तक चला जाता है, यह कौन-सी बड़ी बात है। ऐसा न हो तो लोग विपत से इतना डरें क्यों ? गोबर ने भी विशेष आपत्ति न की। वह आजकल दूसरी ही धुन में मस्त था। यह तय किया कि जब दोनों लड़कियाँ रात को सो जायें, तो गाय झिंगुरीसिंह के पास पहुँचा दी जाय।

दिन किसी तरह कट गया। साँझ हुई। दोनों लड़कियाँ आठ बजते-बजते खा-पीकर सो गयीं। गोबर इस करुण दृश्य से भागकर कहीं चला गया था। वह गाय को जाते कैसे देख सकेगा ? अपने आँसुओं को कैसे रोक सकेगा ? होरी भी ऊपर ही से कठोर बना हुआ था। मन उसका चंचल था। ऐसा कोई माई का लाल नहीं, जो इस वक्त उसे पचीस रुपये उधार दे-दे, चाहे फिर पचास रुपये ही ले ले। वह गाय के सामने जाकर खड़ा हुआ, तो उसे ऐसा जान पड़ा कि उसकी काली-काली सजीव आँखों में आँसू भरे हुए हैं और वह कह रही है—क्या चार दिन में तुम्हारा मन मुझसे भर गया ? तुमने तो वचन दिया था कि जीते-जी इसे न बेचूँगा। यही वचन था तुम्हारा ! मैंने तो तुमसे कभी किसी बात का गिला नहीं किया। जो कुछ रूखा-सूखा तुमने दिया, वही खाकर सन्तुष्ट हो गयी। बोलो।

धनिया ने कहा—लड़कियाँ तो सो गयीं। अब इसे ले क्यों नहीं जाते ? जब बेचना ही है, तो अभी बेच दो।

होरी ने काँपते हुए स्वर में कहा—मेरा तो हाथ नहीं उठता धनिया ! उसका मुँह नहीं देखती ? रहने दो, रुपये सूद पर ले लूँगा। भगवान् ने चाहा तो सब अदा हो जायेंगे, तीन-चार सौ होते ही क्या हैं। एक बार ऊख लग जाय।

धनिया ने गर्व-भरे प्रेम से उसकी ओर देखा—और क्या ! इतनी तपस्या के बाद तो घर में गऊ आयी। उसे भी बेच दो। ले लो कल रुपये। जैसे और सब चुकाए जायेंगे, वैसे इसे भी चुका देंगे।

भीतर बड़ी उमस हो रही थी। हवा बंद थी। एक पत्ती न हिलती थी। बादल छाये हुए थे; पर वर्षा के लक्षण न थे ! होरी ने गाय को बाहर बाँध दिया। धनिया ने टोका भी, कहाँ लिये जाते हो ? पर होरी ने सुना नहीं, बोला—बाहर हवा में बाँधे देता हूँ। आराम से रहेगी। उसके भी तो जान है। गाय बाँधकर वह अपने मँझले भाई शोभा को देखने गया। शोभा को इधर कई महीने से दमे का आरजा हो गया

था। दवा-दारू की जुगत नहीं। खाने-पीने का प्रबंध नही, और काम करना पड़ता था जी तोड़कर, इसलिए उसकी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। शोभा सहनशील आदमी था, लड़ाई-झगड़े से कोसों भागनेवाला। किसी से मतलब नहीं। अपने काम से काम। होरी उसे चाहता था। और वह भी होरी का अदब करता था। दोनों में रुपए-पैसे की बातें होने लगीं। रायसाहब का यह नया फरमान आलोचनाओं का केन्द्र बना हुआ था।

कोई ग्यारह बजते-बजते होरी लौटा और भीतर जा रहा था कि उसे भास हुआ, जैसे गाय के पास कोई आदमी खड़ा है। पूछा–कौन खड़ा है वहाँ ?

हीरा बोला–मैं हूँ दादा, तुम्हारे कौड़े मे आग लेने आया था।

हीरा उसके कौड़े मे आग लेने आया है, इस ज़रा-सी बात मे होरी को भाई की आत्मीयता का परिचय मिला। गाँव में और भी तो कौड़े हैं। कहीं से आग मिल सकती थी। हीरा उसके कौड़े में आग ले रहा है, तो अपना ही समझकर तो। सारा गाँव इस कौड़े में आग लेने आता था। गाँव मे सबसे सम्पन्न यही कौड़ा था; मगर हीरा का आना दूसरी बात थी। और उस दिन की लड़ाई के बाद ! हीरा के मन में कपट नही रहता। गुस्सैल है, लेकिन दिल का साफ।

उसने स्नेह-भरे स्वर में पूछा–तमाखू है कि ला दूँ ?

"नहीं, तमाखू तो है दादा।"

"शोभा तो आज बहुत बेहाल है।"

"कोई दवाई नही खाता, तो क्या किया जाय। उसके लेखे तो सारे बैद, डाक्टर, हकीम अनाड़ी हैं। भगवान के पास जितनी अक्कल थीं, वह उसके और उसकी घरवाली के हिस्से पड़ गयी।"

होरी ने चिन्ता से कहा–यही तो बुराई है उसमें। अपने सामने किसी को गिनता ही नहीं। और चिढ़ने तो बीमारी मे सभी हो जाते हैं। तुम्हें याद है कि नही, जब तुम्हें इफिंजा हो गया था, तो दवाई उठाकर फेंक देते थे। मैं तुम्हारे दोनों हाथ पकड़ता था, तब तुम्हारी भाभी तुम्हारे मुँह में दवाई डालती थीं। उस पर तुम उसे हजारों गालियाँ देते थे।

"हाँ दादा, भला वह बात भूल सकता हूँ ? तुमने इतना न किया होता, तो तुमसे लड़ने के लिए कैसे बचा रहता।"

होरी को ऐसा मालूम हुआ कि हीरा का स्वर भारी हो गया है। उसका गला भी भर आया।

"बेटा, लड़ाई-झगड़ा तो ज़िंदगी का धरम है। इससे जो अपने हैं, वह पराये थोड़े ही हो जाते हैं। जब घर में चार आदमी रहते हैं, तभी तो लड़ाई-झगड़े भी होते हैं। जिसके कोई है ही नहीं, उसके कौन लड़ाई करेगा ?"

दोनों ने साथ चिलम पी। तब हीरा अपने घर गया, होरी अंदर भोजन करने चला।

धनिया रोष से बोली—देखी अपने सपूत की लीला ? इतनी रात गयी और अभी उसे अपने सैल से छुट्टी नहीं मिली। मैं सब जानती हूँ। मुझको सारा पता मिल गया है। भोला की वह रौंड़ लड़की नहीं है, झुनिया ! उसी के फेर में पड़ा रहता है !

होरी के कानों में भी इस बात की भनक पड़ी थी, पर उसे विश्वास न आया था। गोबर बेचारा इन बातों को क्या जाने।

बोला—किसने कहा तुमसे ?

धनिया प्रचण्ड हो गयी—तुमसे छिपी होगी, और तो सभी जगह चर्चा चल रही है। यह भुग्गा, वह बहत्तर घाट का पानी पिए हुए। इसे उँगलियों पर नचा रही है, और यह समझता है, वह इस पर जान देती है। तुम उसे समझा दो, नहीं कोई ऐसी-वैसी हो गयी, तो कहीं के न रहोगे।

होरी का दिल उमंग पर था। चुहल की सूझी—झुनिया देखने-सुनने में तो बुरी नहीं है। उसी से कर ले सगाई। ऐसी सस्ती मेहरिया और कहाँ मिली जाती है ?

धनिया को यह चुहल तीर-सा लगा—झुनिया इस घर में आये, तो मुँह झुलस दूँ रौंड़ का। गोबर की चहेती है, तो उसे लेकर जहाँ चाहे रहे।

"और जो गोबर इसी घर में लाये ?"

"तो यह दोनों लड़कियाँ किसके गले बाँधोगे ? फिर बिरादरी में तुम्हें कौन पूछेगा, कोई द्वार पर खड़ा तक तो होगा नहीं।"

"उसे इसकी क्या परवाह !"

"इस तरह नहीं छोड़ूँगी लाला को। मर-मरके पाला है और झुनिया आकर राज करेगी। मुँह में आग लगा दूँगी रौंड़ के।"

सहसा गोबर आकर घबड़ाई हुई आवाज में बोला—दादा, सुन्दरिया को क्या हो गया , क्या काले नाग ने छू लिया ? वह तो पड़ी तड़प रही है।

होरी चौके में जा चुका था। थाली सामने छोड़कर बाहर निकल आया और बोला—क्या असगुन मुँह से निकालते हो। अभी तो मैं देखे आ रहा हूँ। लेटी थी।

तीनों बाहर गये। चिराग़ लेकर देखा। सुन्दरिया के मुँह से फिचकुर निकल रहा था। आँखें पथरा गयी थीं, पेट फूल गया था और चारों पाँव फैल गए थे। धनिया सिर पीटने लगी। होरी पण्डित दातादीन के पास दौड़ा। गाँव में पशु-चिकित्सा के वही आचार्य थे। पण्डितजी सोने जा रहे थे। दौड़े हुए आये। दम-के-दम में सारा गाँव जमा हो गया। गाय को किसी ने कुछ खिला दिया। लक्षण स्पष्ट थे। साफ विष दिया गया है; लेकिन गाँव में कौन ऐसा मुद्दई है; जिसने विष दिया हो ; ऐसी वारदात तो इस गाँव में कभी हुई नहीं ; लेकिन बाहर का कौन आदमी गाँव में आया ! होरी की किसी से दुश्मनी भी न थी कि उस पर सन्देह किया जाये। हीरा से कुछ कहा-सुनी हुई थी; मगर वह भाई-भाई का झगड़ा था। सबसे ज़्यादा दुखी तो हीरा ही था। धमकियाँ दे रहा था कि जिसने यह हत्यारों का काम किया है,

उसे पाये तो खून पी जाये। वह लाख गुस्सैल हो, पर नीच काम नहीं कर सकता।

आधी रात तक जमघट रहा। सभी होरी के दुःख में दुखी थे और वधिक को गालियाँ देते थे। वह इस समय पकड़ा जा सकता, तो उसके प्राणो की कुशल न थी। जब यह हाल है तो कोई जानवरो को बाहर कैसे बाँधेगा ? अभी तक रात-बिरात सभी जानवर बाहर पड़े रहते थे। किसी तरह की चिन्ता न थी ; लेकिन अब तो एक नयी विपत्ति आ खड़ी हुई थी। क्या गाय थी कि बस देखता रहे ! पूजने जोग। पाँच सेर से कम दूध न था। सौ-सौ का एक-एक बछडा होता। आते देर न हुई और यह वज्र गिर पड़ा।

जब सब लोग अपने-अपने घर चले गये, तो धनिया होरी को कोसने लगी—तुम्हे कोई लाख समझाए, करोगे अपने मन की। तुम गाय खोलकर आँगन से चले, तब तक मैं जूझती रही कि बाहर न ले जाओ। हमारे दिन पतले हैं, न जाने कब क्या हो जाय; लेकिन नही, उसे गर्मी लग रही है। अब तो खूब ठण्डी हो गयी है और तुम्हारा कलेजा भी ठण्डा हो गया। ठाकुर माँगते थे; दे दिया होता, तो एक बोझ सिर से उतर जाता और निहोरा का निहोरा होता; मगर यह तमाचा कैसे पड़ता ? कोई बुरी बात होने वाली होती है तो मति पहले ही हर जाती है। इतने दिन मज़े से घर मे बँधती रही ; न गर्मी लगी, न जूडी आयी। इतनी जल्दी सबको पहचान गयी थी कि मालूम ही न होता था कि बाहर से आयी है। बच्चे उसके सींगो से खेलते रहते थे। सिर तक न हिलाती थी। जो कुछ नाँद मे डाल दो, चाट-पोंछकर साफ कर देती थी। लच्छमी थी, अभागो के घर क्या रहती ? सोना और रूपा भी यह हलचल सुनकर जाग गयी थी और बिलख-बिलखकर रो रही थीं। उसकी सेवा का भार अधिकतर उन्हीं दोनो पर था। उनकी सगिनी हो गयी थी। दोनो खाकर उठतीं, तो एक-एक टुकडा रोटी उसे अपने हाथो से खिलातीं। कैसा जीभ निकालकर खा लेती थी, और जब तक उनके हाथ का कौर न पा लेती, खडी ताकती रहती। भाग्य फूट गये !

गोबर और दोनो लड़कियाँ रो-धोकर सो गई थी। होरी भी लेटा। धनिया उसके सिरहाने पानी का लोटा रखने आयी, तो होरी ने धीरे से कहा—तेरे पेट मे बात पचती नहीं; कुछ सुन पायेगी, तो गाँव भर मे ढिढोरा पीटती फिरेगी।

धनिया ने आपत्ति की—भला सुनूँ; मैंने कौन-सी बात पीट दी कि यों ही नाम बदनाम कर दिया।

"अच्छा, तेरा सन्देह किसी पर होता है ?"

"मेरा सन्देह तो किसी पर नहीं होता। कोई बाहरी आदमी था।"

"किसी से कहेगी तो नहीं ?"

"कहूँगी नहीं, तो गाँववाले मुझे गहने कैसे गढ़वा देगे।"

"अगर किसी से कहा, तो मार ही डालूँगा।"

"मुझे मारकर सुखी न रहोगे। अब दूसरी मेहरिया नहीं मिली जाती। जब

तक हूँ, तुम्हारा घर सँभाले हुए हूँ। जिस दिन मर जाऊँगी, सिर पर हाथ धरकर रोओगे। अभी मुझमें सारी बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं, तब आँखों से आँसू निकलेंगे।"

"मेरा सन्देह हीरा पर होता है।"

"झूठ, बिलकुल झूठ ! हीरा इतना नीच नहीं है। वह मुँह का ही ख़राब है।"

"मैंने अपनी आँखों से देखा। सच, तेरे सिर की सौह।"

"तुमने अपनी आँखों से देखा ! कब ?"

"वही, मैं शोभा को देखकर आया, तो वह सुन्दरिया की नाँद के पास खड़ा था। मैंने पूछा–कौन है, तो बोला, मैं हूँ हीरा, कौड़े में से आग लेने आया था। थोड़ी देर मुझसे बातें करता रहा। मुझे चिलम पिलायी वह उधर गया, मैं भीतर आया और वही गोबर ने पुकार मचायी। मालूम होता है, मैं गाय बाँधकर सोभा के घर गया हूँ, और इसने आकर कुछ खिला दिया है। साइत फिर यह देखने आया था कि मरी या नहीं।"

धनिया ने लम्बी साँस लेकर कहा–इस तरह के होते हैं भाई, जिन्हे भाई का गला काटने में भी हिचक नहीं होती। उफ्फोह ! हीरा मन का इतना काला है ! और दाढ़ीजार को मैंने पाल-पोसकर बड़ा किया।

"अच्छा, जा सो रह, मगर किसी से भूलकर भी जिकर न करना।"

"कौन, सबेरा होते ही लाला को थाने न पहुँचाऊँ, तो अपने असल बाप की नहीं। यह हत्यारा भाई कहने जोग है ! यही भाई का काम है ! वह बैरी है, पक्का बैरी और बैरी को मारने में पाप नहीं, छोड़ने में पाप है।"

होरी ने धमकी दी–मैं कहे देता हूँ धनिया, अनर्थ हो जायेगा।

धनिया आवेश में बोली–अनर्थ नहीं, अनर्थ का बाप हो जाय। मैं बिना लाला को बड़े घर भिजवाए, मानूँगी नहीं। तीन साल चक्की पिसवाऊँगी, तीन साल। वहाँ से छूटेंगे, तो हत्या लगेगी। तीरथ करना पड़ेगा। भोज देना पडेगा। इस धोखे में न रहे लाला ! और गवाही दिलाऊँगी तुमसे, बेटे के सिर पर हाथ रखकर।

उसने भीतर जाकर किवाड़ बन्द कर लिये और होरी बाहर अपने को कोसता पड़ा रहा। जब स्वयं उसके पेट में बात न पची, तो धनिया के पेट मे क्या पचेगी ? अब यह चुड़ैल माननेवाली नहीं ! ज़िद पर आ जाती है, तो किसी की सुनती ही नहीं। आज उसने अपने जीवन में सबसे बड़ी भूल की।

चारों ओर नीरव अन्धकार छाया हुआ था। दोनों बैलों के गले की घण्टियाँ कभी-कभी बज उठती थीं। दस कदम पर मृतक गाय पड़ी हुई थी और होरी घोर पश्चात्ताप में करवटें बदल रहा था। अन्धकार में प्रकाश की रेखा कहीं नज़र न आती थी।

नौ

प्रातःकाल होरी के घर में एक पूरा हंगामा हो गया। होरी धनिया को मार रहा था।

धनिया उसे गालियाँ दे रही थी। दोनो लडकियाँ बाप के पाँवो से लिपटी चिल्ला रही थी और गोबर माँ को बचा रहा था। बार-बार होरी का हाथ पकडकर पीछे ढकेल देता, पर ज्योही धनिया के मुँह से कोई गाली निकल जाती, होरी अपने हाथ छुडाकर उसे दो-चार घूँसे और लात जमा देता। उसका बूढा क्रोध जैसे किसी गुप्त सचित शक्ति को निकाल लाया हो। सारे गाँव मे हलचल पड गयी। लोग समझाने के बहाने तमाशा देखने आ पहुँचे। शोभा लाठी टेकता आ खडा हुआ। दातादीन ने डॉटा—यह क्या है होरी, तुम बावले हो गये हो क्या ? कोई इस तरह घर की लक्ष्मी पर हाथ छोडता है ! तुम्हे तो यह रोग न था। क्या हीरा की छूत तुम्हे भी लग गयी ?

होरी ने पालागन करके कहा—महाराज, तुम इस बखत न बोलो। मैं आज इसकी बान छुडाकर तब दम लूँगा। मैं जितना ही तरह देता हूँ, उतना ही यह सिर चढती जाती है।

धनिया सजल क्रोध मे बोली—महाराज, तुम गवाह रहना। मैं आज इसे और इसके हत्यारे भाई को जेल भेजवाकर तब पानी पिऊँगी। इसके भाई ने गाय को माहुर खिलाकर मार डाला। अब जो मैं थाने मे रपट लिखाने जा रही हूँ, तो यह हत्यारा मुझे मारता है। इसके पीछे अपनी जिन्दगी चौपट कर दी, उसका यह इनाम दे रहा है।

होरी ने दॉत पीसकर और ऑखे निकालकर कहा—फिर वही बात मुँह से निकाली। तूने देखा था हीरा को माहुर खिलाते ?

"तू कसम खा जा कि तूने हीरा को गाय की नॉद के पास खडे नही देखा ?"

"हॉ, मैंने नही देखा, कसम खाता हूँ।"

"बेटे के माथे पर हाथ रखके कसम खा !"

होरी ने गोबर के माथे पर कॉपता हुआ हाथ रखकर काँपते हुए स्वर मे कहा—मैं बेटे की कसम खाता हूँ कि मैंने हीरा को नाँद के पास नही देखा।

धनिया ने जमीन पर थूककर कहा— थुडी है तेरी झुठाई पर। तूने खुद मुझसे कहा कि हीरा चोरो की तरह नाँद के पास खडा था। और अब भाई के पक्ष मे झूठ बोलता है। थुडी है ! अगर मेरे बेटे का बाल भी बाँका हुआ, तो घर मे आग लगा दूँगी। सारी गृहस्थी मे आग लगा दूँगी। भगवान्, आदमी मुँह से बात कहकर इतनी बेसरमी से मुकर जाता है !

होरी पाँव पटककर बोला—धनिया, गुस्सा मत दिला, नहीं बुरा होगा।

"मार तो रहा है, और मार ले। जा, तू अपने बाप का बेटा होगा तो आज मुझे मारकर तब पानी पिएगा। पापी ने मारते-मारते मेरा भुरकस निकाल दिया, फिर भी इसका जी नही भरा। मुझे मारकर समझता है, मैं बडा वीर हूँ। भाइयो के सामने भीगी बिल्ली बन जाता है, पापी कही का, हत्यारा !"

फिर वह बैन कहकर रोने लगी—इस घर में आकर उसने क्या नहीं झेला, किस-किस तरह पेट-तन नहीं काटा, किस तरह एक-एक लत्ते को तरसी, किस तरह एक-एक पैसा प्राणों की तरह संचा, किस तरह घर-भर को खिलाकर आप पानी पीकर सो रही। और आज उन सारे बलिदानों का यह पुरस्कार ! भगवान् बैठे यह अन्याय देख रहे हैं और उसकी रक्षा को नहीं दौड़ते। गज की और द्रौपदी की रक्षा करने बैकुण्ठ से दौड़े थे। आज क्यों नींद में सोए हुए हैं ?

जनमत धीरे-धीरे धनिया की ओर आने लगा। इसमें अब किसी को सन्देह नहीं रहा कि हीरा ने ही गाय को ज़हर दिया। होरी ने बिलकुल झूठी कसम खाई है, इसका भी लोगों को विश्वास हो गया। गोबर को भी बाप की इस झूठी कसम और उसके फलस्वरूप आने वाली विपत्ति की शंका ने होरी के विरुद्ध कर दिया। उस पर जो दातादीन ने डाँट बतायी, तो होरी परास्त हो गया। चुपके से बाहर चला गया, सत्य ने विजय पायी।

दातादीन ने शोभा से पूछा—तुम कुछ जानते हो शोभा, क्या बात हुई ?

शोभा जमीन पर लेटा हुआ बोला—मैं तो महाराज, आठ दिन से बाहर नहीं निकला। होरी दादा कभी-कभी जाकर कुछ दे आते हैं, उसी से काम चलता है। रात भी वह मेरे पास गये थे। किसने क्या किया, मैं कुछ नहीं जानता। हाँ, कल साँझ को हीरा मेरे घर खुरपी माँगने गया था। कहता था, एक जड़ी खोदना है। फिर तब से मेरी उससे भेंट नहीं हुई।

धनिया इतनी शह पाकर बोली—पण्डित दादा, यह उसी का काम है। शोभा के घर से खुरपी माँगकर लाया और कोई जड़ी खोदकर गाय को खिला दी। उस रात को जो झगड़ा हुआ था, उसी दिन से वह खार खाए बैठा था।

दातादीन बोले—यह बात साबित हो गयी, तो उसे हत्या लगेगी। पुलिस कुछ करे या न करे, धरम तो बिना दण्ड दिये न रहेगा। चली तो जा रुपिया, हीरा को बुला ला। कहना, पण्डित दादा बुला रहे हैं। अगर उसने हत्या नहीं की है, तो गंगाजली उठा ले और चौरे पर चढ़कर कसम खाय।

धनिया बोली—महाराज, उसके कसम का भरोसा नहीं। चटपट खा लेगा। जब इसने झूठी कसम खा ली, जो बड़ा धर्मात्मा बनता है, तो हीरा का क्या विश्वास ?

अब गोबर बोला—खा ले झूठी कसम ! बन्स का अन्त हो जाय। बूढ़े जीते रहें। जवान जीकर क्या करेंगे !

रूपा एक क्षण में आकर बोली—काका घर में नहीं हैं, पण्डित दादा ! काकी कहती है, कहीं चले गये हैं।

दातादीन ने लम्बी दाढ़ी फटकारकर कहा—तूने पूछा नहीं, कहाँ चले गये हैं ? घर में छिपा बैठा न हो। देख तो सोना, भीतर तो नहीं बैठा है ?

धनिया ने टोका—उसे मत भेजो दादा ! हीरा के सिर हत्या सवार है, न जाने

क्या कर बैठे।

दातादीन ने खुद लकड़ी सँभाली और खबर लाये कि हीरा सचमुच कहीं चला गया है। पुनिया कहती है, लुटिया-डोर और डण्डा सब लेकर गये हैं। पुनिया ने पूछा भी, कहाँ जाते हो, पर बताया नहीं। उसने पाँच रुपये आले में रखे थे। रुपये वहाँ नहीं हैं। साइत रुपये भी लेता गया।

धनिया शीतल हृदय से बोली–मुँह में कालिख लगाकर कहीं भागा होगा।

शोभा बोला–भाग के कहाँ जायेगा ? गंगा नहाने न चला गया हो।

धनिया ने शंका की–गंगा जाता तो रुपये क्यों ले जाता, और आजकल कोई परब भी तो नहीं है।

इस शंका का कोई समाधान न मिला। धारणा दृढ़ हो गयी।

आज होरी के घर भोजन नहीं पका। न किसी ने बैलों को सानी-पानी दिया। सारे गाँव में सनसनी फैली हुई थी। दो-दो, चार-चार आदमी जगह-जगह जमा होकर इसी विषय की आलोचना कर रहे थे। हीरा अवश्य कहीं भाग गया। देखा होगा कि भेद खुल गया, अब जेहल जाना पड़ेगा, हत्या अलग लगेगी। बस, कहीं भाग गया। पुनिया अलग रो रही थी, कुछ कहा न सुना, न जाने कहाँ चल दिये।

जो कुछ क़सर रह गयी थी, वह संध्या-समय हलके के थानेदार ने आकर पूरी कर दी। गाँव के चौकीदार ने इस घटना की रपट की, जैसा उसका कर्त्तव्य था, और थानेदार साहब भला अपने कर्त्तव्य से कब चूकनेवाले थे ? अब गाँववालों को भी उनका सेवा-सत्कार करके अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। दातादीन, झिंगुरीसिंह, नोखेराम, उनके चारों प्यादे, मँगरू साह और लाला पटेश्वरी, सभी आ पहुँचे। दारोग़ाजी के सामने हाथ बाँधकर खड़े हो गये। होरी की तलबी हुई। जीवन में यह पहला अवसर था कि वह दारोग़ा के सामने आया। ऐसा डर रहा था, जैसे फाँसी हो जायेगी। धनिया को पीटते समय उसका एक-एक अंग फड़क रहा था। दारोग़ा के सामने कछुए की भाँति भीतर सिमटा जाता था। दारोग़ा ने उसे आलोचक नेत्रों से देखा और उसके हृदय तक पहुँच गये। आदमियों की नस पहचानने का उन्हें अच्छा अभ्यास था। किताबी मनोविज्ञान में कोरे, पर व्यावहारिक मनोविज्ञान के मर्मज्ञ थे। यकीन हो गया, आज अच्छे का मुँह देखकर उठे हैं। और होरी का चेहरा कहे देता था, इसे केवल एक घुड़की काफी है।

दारोग़ा ने पूछा–तुझे किस पर शुबहा है ?

होरी ने ज़मीन छुई और हाथ बाँधकर बोला–मेरा शुबहा किसी पर नहीं है सरकार, गाय अपनी मौत से मरी है। बुड्ढी हो गयी थी।

धनिया भी आकर पीछे खड़ी हो गयी थी। तुरन्त बोली–गाय मारी है तुम्हारे भाई हीरा ने। सरकार ऐसे बौड़म नहीं हैं कि जो कुछ तुम कह दोगे, वह मान लेंगे। यहाँ जाँच-तहकीकात करने आये हैं।

दारोग़ाजी ने पूछा–यह कौन औरत है ?

कई आदमियों ने दारोगाजी से कुछ बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए चढ़ा-ऊपरी की। एक साथ बोले और अपने मन को इस कल्पना से सन्तोष दिया कि पहले मैं बोला—होरी की घरवाली है सरकार !

"तो इसे बुलाओ, मैं पहले इसी का बयान लिखूँगा। वह कहाँ है हीरा ?"

विशिष्ट जनों ने एक स्वर से कहा—वह तो आज सवेरे से ही कहीं चला गया है सरकार !

"मैं उसके घर की तलाशी लूँगा।"

तलाशी ! होरी की साँस तले-ऊपर होने लगी। उसके भाई हीरा के घर की तलाशी होगी और हीरा घर में नहीं है। और फिर होरी के जीते-जी, उसके देखते यह तलाशी न होने पायेगी ; और धनिया से अब उसका कोई संबंध नहीं। जहाँ चाहे जाय। जब वह उसकी इज़्जत बिगाड़ने पर आ गयी है, तो उसके घर में कैसे रह सकती है ? जब गली-गली ठोकर खायेगी, तब पता चलेगा।

गाँव के विशिष्ट जनों ने इस महान संकट को टालने के लिए कानाफूसी शुरू की।

दातादीन ने गंजा सिर हिलाकर कहा—यह सब कमाने का ढंग है। पूछो, हीरा के घर में क्या रखा है ?

पटेश्वरी लाला बहुत लम्बे थे; पर लम्बे होकर भी बेवकूफ़ न थे। अपना लम्बा, काला मुँह और लम्बा करके बोले—और यहाँ आया है किसलिए, और जब आया है, बिना कुछ लिये-दिये गया कब है ?

झिंगुरीसिंह ने होरी को बुलाकर कान में कहा—निकालो जो कुछ देना हो। यों न छूटेगा।

दारोग़ाजी ने अब ज़रा गरजकर कहा—मैं हीरा के घर की तलाशी लूँगा।

होरी के मुख का रंग ऐसा उड़ गया था, जैसे देह का सारा रक्त सूख गया हो। तलाशी उसके घर हुई तो, उसके भाई के घर हुई तो, एक ही बात है। हीरा अलग सही; पर दुनिया तो जानती है, वह उसका भाई है; मगर इस वक़्त उसका कुछ बस नहीं। उसके पास रुपये होते, तो इसी वक़्त पचास रुपये लाकर दारोग़ाजी के चरणों पर रख देता और कहता—सरकार, मेरी इज़्ज़त अब आपके हाथ है। मगर उसके पास तो ज़हर खाने को भी एक पैसा नहीं है। धनिया के पास चाहे दो-चार रुपये पड़े हों; पर वह चुड़ैल भला क्यों देने लगी ? मृत्यु-दण्ड पाये हुए आदमी की भाँति सिर झुकाए, अपने अपमान की वेदना का तीव्र अनुभव करता हुआ चुपचाप खड़ा रहा।

दातादीन ने होरी को सचेत किया—अब इस तरह खड़े रहने से काम न चलेगा होरी; रुपये की कोई जुगत करो।

होरी दीन स्वर में बोला—अब मैं क्या अरज करूँ महाराज ! अभी तो पहले ही की गठरी सिर पर लदी है, और किस मुँह से माँगूँ; लेकिन इस संकट से उबार

लो। जीता रहा, तो कौड़ी-कौड़ी चुका दूँगा। मैं मर भी जाऊँ तो गोबर तो है ही।

नेताओं में सलाह होने लगी। दारोग़ाजी को क्या भेंट किया जाय ? दातादीन ने पचास का प्रस्ताव किया। झिंगुरीसिंह के अनुमान में सौ से कम पर सौदा न होगा। नोखेराम भी सौ के पक्ष में थे। और होरी के लिए सौ और पचास में कोई अन्तर न था। इस तलाशी का संकट उसके सिर से टल जाय। पूजा चाहे कितनी ही चढ़ानी पड़े। मरे को मन-भर लकड़ी से जलाओ, या दस मन से ; उसे क्या चिन्ता !

मगर पटेश्वरी से यह अन्याय न देखा गया। कोई डाका या कतल तो हुआ नहीं। केवल तलाशी हो रही है इसके लिए बीस रुपये बहुत हैं।

नेताओं ने धिक्कारा—तो फिर दारोगाजी से बातचीत करना। हम लोग नगीच न जायेंगे। कौन घुड़कियाँ खाय ?

होरी ने पटेश्वरी के पाँव पर अपना सिर रख दिया—भैया, मेरा उद्धार करो। जब तक जिऊँगा, तुम्हारी ताबेदारी करूँगा।

दारोग़ाजी ने फिर अपने विशाल वक्ष और विशालतर उदर की पूरी शक्ति से कहा—कहाँ है हीरा का घर ? मैं उसके घर की तलाशी लूँगा।

पटेश्वरी ने आगे बढ़कर दारोग़ाजी के कान में कहा—तलाशी लेकर क्या करोगे हुजूर, उसका भाई आपकी ताबेदारी के लिए हाज़िर है।

दोनों आदमी ज़रा अलग जाकर बातें करने लगे।

"कैसा आदमी है ?"

"बहुत ही ग़रीब हुजूर ! भोजन का ठिकाना भी नहीं !"

"सच ?"

"हाँ, हुजूर, ईमान से कहता हूँ।"

"अरे, तो क्या एक पचासे का डौल भी नहीं है ?"

"कहाँ की बात हुजूर ! दस मिल जायँ, तो हज़ार समझिए। पचास तो पचास जनम में भी मुमकिन नहीं और वह भी जब कोई महाजन खड़ा हो जायेगा।"

दारोग़ाजी ने एक मिनट तक विचार करके कहा—तो फिर उसे सताने से क्या फ़ायदा ? मैं ऐसों को नहीं सताता, जो आप ही मर रहे हों।

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे जा पड़ा। बोले—नहीं हुजूर, ऐसा न कीजिए, नहीं फिर हम कहाँ जायेंगे। हमारे पास दूसरी और कौन-सी खेती है ?

"तुम इलाके के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो ?"

"जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है, तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं, नहीं पटवारी को कौन पूछता है ?"

"अच्छा जाओ, तीस रुपये दिलवा दो; बीस रुपये हमारे, दस रुपये तुम्हारे।"

"चार मुखिया हैं, इसका ख्याल कीजिए।"

"अच्छा आधे-आधे पर रखो, जल्दी करो। मुझे देर हो रही है।"

पटेश्वरी ने झिंगुरी से कहा, झिंगुरी ने होरी को इशारे से बुलाया, अपने घर

ले गये, तीस रुपये गिनकर उसके हवाले किये और एहसान से दबाते हुए बोले—आज ही कागद लिखा लेना। तुम्हारा मुँह देखकर रुपये दे रहा हूँ, तुम्हारी भलमंसी पर।

होरी ने रुपये लिये और अँगोछे के कोर में बाँधे प्रसन्न-मुख आकर दारोग़ाजी की ओर चला।

सहसा धनिया झपटकर आगे आयी और अंगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली। गाँठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गयी और सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुंकारकर बोली—ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता ? भला चाहता है, तो सब रुपये लौटा दे, नहीं कहे देती हूँ। घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अँजुली-भर रुपये लेकर चला है इज़्ज़त बचाने ! ऐसी बड़ी है तेरी इज़्ज़त ! जिसके घर में चूहे लोटें, वह भी इज़्ज़तवाला है ! दारोगा तलाशी ही तो लेगा। ले-ले जहाँ चाहे तलाशी। एक तो सौ रुपये की गाय ग्यी, उस पर यह पलोथन ! वाह री तेरी इज्जत !

होरी खून का घूँट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा। नेताओ के सिर झुक गये। दारोग़ा का मुँह ज़रा-सा निकल आया। अपने जीवन में उसे ऐसी लताड़ न मिली थी।

होरी स्तम्भित-सा खड़ा रहा। जीवन में आज पहली बार धनिया ने उसे भरे अखाड़े में पटकनी दी, आकाश तका दिया। अब वह कैसे सिर उठाए !

मगर दारोगाजी इतनी जल्दी हार माननेवाले न थे। खिसियाकर बोले—मुझे ऐसा मालूम होता है, कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिए खुद गाय को ज़हर दे दिया।,

धनिया हाथ मटकाकर बोली—हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा ? तुम्हारे तहकीकात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।

होरी आँखों से अंगारे बरसाता धनिया की ओर लपका; पर गोबर सामने आकर खड़ा हो गया और उग्र भाव से बोला—अच्छा दादा, अब बहुत हुआ। पीछे हट जाओ, नहीं मैं कहे देता हूँ, मेरा मुँह न देखोगे। तुम्हारे ऊपर हाथ न उठाऊँगा। ऐसा कपूत नहीं हूँ। यहीं गले में फाँसी लगा लूँगा।

होरी पीछे हट गया और धनिया शेर होकर बोली—तू हट जा गोबर, देखूँ तो क्या करता है मेरा। दारोगाजी बैठे हैं। इसकी हिम्मत देखूँ । घर में तलाशी होने से इसकी इज़्ज़त जाती है। अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज़्ज़त नहीं जाती ! यही तो वीरों का धरम है। बड़ा वीर है, तो किसी मर्द से लड़। जिसकी बाँह पकड़कर लाया, उसे मारकर बहादुर न कहलाएगा। तू समझता होगा,

मैं इसे रोटी-कपड़ा देता हूँ। आज से अपना घर सँभाल। देख तो इसी गाँव में तेरी छाती पर मूँग दलकर रहती हूँ कि नहीं, और उससे अच्छा खाऊँ-पहनूँगी। इच्छा हो, देख ले।

होरी परास्त हो गया। उसे ज्ञात हुआ, स्त्री के सामने पुरुष कितना निर्बल, कितना निरुपाय है।

नेताओं ने रुपये चुनकर उठा लिये थे और दारोग़ाजी को वहाँ से चलने का इशारा कर रहे थे। धनिया ने एक ठोकर और जमायी–जिसके रुपये हों, ले जाकर उसे दे दो। हमें किसी से उधार नहीं लेना है। और जो देता है, तो उसी से लेना। मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अँजुली-भर रुपये ठनाठन निकाल के दे दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होनेवाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसनेवाले ! सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेल से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।

नेताओं के मुँह में कालिख-सी लगी हुई थी। दारोग़ाजी के मुँह पर झाड़ू-सी फिरी हुई थी। इज़्ज़त बचाने के लिए हीरा के घर की ओर चले।

रास्ते में दारोग़ा ने स्वीकार किया–औरत है बड़ी दिलेर !

पटेश्वरी बोले–दिलेर है हुजूर, कर्कशा है। ऐसी औरत को तो गोली मार दें।

"तुम लोगों का काफिया तंग कर दिया उसने। चार-चार तो मिलते ही।"

"हुजूर के भी तो पन्द्रह रुपये गये।"

"मेरे कहाँ जा सकते हैं ? वह न देगा, गाँव के मुखिया देंगे और पन्द्रह की जगह पूरे पचास रुपये। आप लोग चटपट इन्तजाम कीजिए।"

पटेश्वरीलाल ने हँसकर कहा–हुजूर बड़े दिल्लगीबाज़ हैं।

दातादीन बोले–बड़े आदमियों के यही लक्षण हैं। ऐसे भाग्यवानों के दर्शन कहाँ होते हैं ?

दारोग़ाजी ने कठोर स्वर में कहा–यह खुशामद फिर कीजिएगा। इस वक्त तो मुझे पचास रुपये दिलवाइए, नक़द; और यह समझ लो कि आनाकानी की, तो मैं तुम चारों के घर की तलाशी लूँगा। बहुत मुमकिन है कि तुमने हीरा और होरी को फँसाकर उनसे सौ-पचास ऐंठने के लिए पाखण्ड रचा हो।

नेतागण अभी तक यही समझ रहे हैं, दारोग़ाजी विनोद कर रहे हैं।

झिंगुरीसिंह ने आँखें मारकर कहा–निकालो पचास रुपये पटवारी साहब !

नोखेराम ने उनका समर्थन किया–पटवारी साहब का इलाक़ा है। उन्हें ज़रूर आपकी ख़ातिर करनी चाहिए।

पण्डित नोखेरामजी की चौपाल आ गयी। दारोगाजी एक चारपाई पर बैठ गये और बोले–तुम लोगों ने क्या निश्चय किया ? रुपये निकालते हो या तलाशी

करवाते हो ?

दातादीन ने आपत्ति की–मगर हुजूर···

"मैं अगर-मगर कुछ नहीं सुनना चाहता।"

"झिंगुरीसिंह ने साहस किया–सरकार, यह तो सरासर···"

"मैं पन्द्रह मिनट का समय देता हूँ। अगर इतनी देर में पूरे पचास रुपये न आये, तो तुम चारों के घर की तलाशी होगी। और गण्डासिंह को जानते हो ? उसका मारा पानी भी नहीं माँगता ?"

पटेश्वरीलाल ने तेज स्वर से कहा–आपको अख़्तियार है, तलाशी ले लें। यह अच्छी दिल्लगी है, काम कौन करे, पकड़ा कौन जाय।

"मैंने पचीस साल थानेदारी की है, जानते हो ?"

"लेकिन ऐसा अन्धेर तो कभी नहीं हुआ।"

"तुमने अभी अन्धेर नहीं देखा। कहो तो वह भी दिखा दूँ ? एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए भेजवा दूँ। यह मेरे बायें हाथ का खेल है। डाके में सारे गाँव को काले पानी भेजवा सकता हूँ। इस धोखे में न रहना !"

चारों सज्जन चौपाल के अन्दर जाकर विचार करने लगे।

फिर क्या हुआ, किसी को मालूम नहीं। हाँ, दारोगाजी प्रसन्न दिखाई दे रहे थे और चारों सज्जनों के मुँह पर फटकार बरस रही थी।

दारोग़ाजी घोड़े पर सवार होकर चले, तो चारों नेता दौड़ रहे थे। घोड़ा दूर निकल गया तो चारों सज्जन लौटे; इस तरह मानो किसी प्रियजन का संस्कार करके शमशान से लौट रहे हों।

सहसा दातादीन बोले–मेरा सराप न पड़े तो मुँह न दिखाऊँ।

नोखेराम ने समर्थन किया–ऐसा धन कभी फलते नहीं देखा।

पटेश्वरी ने भविष्यवाणी की–हराम की कमाई हराम में जायेगी।

झिंगुरीसिंह को आज ईश्वर की न्यायपरता में सन्देह हो गया था। भगवान् न जाने कहाँ है कि यह अन्धेर देखकर भी पापियों को दण्ड नहीं देते।

इस वक़्त इन सज्जनों की तस्वीर खींचने लायक़ थी।

दस

हीरा का कहीं पता न चला और दिन गुज़रते जाते थे। होरी से जहाँ तक दौड़-धूप हो सकी, की; फिर हारकर बैठ रहा। खेती-बारी की भी फिक्र करनी थी। अकेला आदमी क्या-क्या करता ? और अब अपनी खेती से ज़्यादा फिक्र थी पुनिया की खेती की। पुनिया अब अकेली होकर और भी प्रचण्ड हो गयी थी। होरी को अब उसकी खुशामद करते बीतती थी। हीरा था, तो वह पुनिया को दबाए रहता था। उसके चले जाने से अब पुनिया पर कोई आँकुस न रह गया था। होरी की पट्टीदारी

हीरा से थी। पुनिया अबला थी। उससे वह क्या तनातनी करता ? और पुनिया उसके स्वभाव से परिचित थी और उसकी सज्जनता का उसे खूब दण्ड देती थी। खैरियत यही हुई कि कारकुन साहब ने पुनिया से बकाया लगान वसूल करने की कोई सख़्ती न की, केवल थोड़ी-सी पूजा लेकर राजी हो गये। नहीं, होरी अपनी बकाया के साथ उसकी बकाया चुकाने के लिए भी क़र्ज़ लेने को तैयार था। सावन में धान की रोपाई की ऐसी धूम रही कि मजूर न मिले और होरी अपने खेतों में धान न रोप सका; लेकिन पुनिया के खेतों में कैसे न रोपाई होती ? होरी ने पहर रात-रात तक काम करके उसके धान रोपे। अब होरी ही तो उसका रक्षक है ! अगर पुनिया कोई कष्ट हुआ, तो दुनिया उसी को तो हँसेगी। नतीजा यह हुआ कि होरी को खरीफ की फ़सल में बहुत थोड़ा अनाज मिला, और पुनिया के बखार में धान रखने की जगह न रही।

होरी और धनिया में उस दिन से बराबर मनमुटाव चला आता था। गोबर से भी होरी की बोलचाल बन्द थी। माँ-बेटे ने मिलकर जैसे उसका बहिष्कार कर दिया था। अपने घर में परदेशी बना हुआ था। दो नावों पर सवार होनेवालों की जो दुर्गति होती है, वही उसकी हो रही थी। गाँव में भी अब उसका उतना आदर न था। धनिया ने अपने साहस से स्त्रियों का ही नहीं पुरुषों का नेतृत्व भी प्राप्त कर लिया था। महीनो तक आसपास के इलाकों में इस काण्ड की खूब चर्चा रही। यहाँ तक कि वह अलौकिक रूप तक धारण करता जाता था—"धनिया नाम है उसका जी। भवानी का इष्ट है उसे। दारोग़ाजी ने ज्योंही उसके आदमी के हाथ में हथकड़ी डाली कि धनिया ने भवानी का सुमिरन किया। भवानी उसके सिर आ गयी। फिर तो उसमें इतनी शक्ति आ गयी कि उसने एक झटके में पति की हथकड़ी तोड़ डाली और दारोग़ा की मूँछें पकड़कर उखाड़ लीं, फिर उसकी छाती पर चढ़ बैठी। दारोग़ा ने जब बहुत मानता की, तब जाकर उसे छोड़ा।" कुछ दिन तक तो लोग धनिया के दर्शनों को आते रहे। वह बात अब पुरानी पड़ गयी थी; लेकिन गाँव में धनिया का सम्मान बहुत बढ़ गया। उसमें अद्‌भुत साहस है और समय पड़ने पर वह मर्दों के भी कान काट सकती है।

मगर धीरे-धीरे धनिया में एक परिवर्तन हो रहा था। होरी को पुनिया की खेती में लगे देखकर भी वह कुछ न बोलती थी। और यह इसलिए नहीं कि वह होरी से विरक्त हो गयी थी; बल्कि इसलिए कि पुनिया पर अब उसे भी दया आती थी। हीरा का घर से भाग जाना, उसकी प्रतिभा-भावना की तुष्टि के लिए काफ़ी था।

इसी बीच में होरी को ज्वर आने लगा। फस्ली बुखार फैला था ही। होरी उसके चपेट में आ गया। और कई साल के बाद जो ज्वर आया, तो उसने सारी बकाया चुका ली। एक महीने तक होरी खाट पर पड़ा रहा। इस बीमारी ने होरी को तो कुचल डाला ही, पर धनिया पर भी विजय पा गयी। पति जब मर रहा है,

तो उससे कैसा बैर ? ऐसी दशा में तो बैरियों से भी बैर नहीं रहता, वह तो अपना पति है लाख बुरा हो; पर उसी के साथ जीवन के पचीस साल कटे हैं, सुख किया है तो उसी के साथ, दुःख भोगा है तो उसी के साथ अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है। दाढ़ीजार ने मुझे सबके सामने मारा, सारे गाँव के सामने मेरा पानी उतार लिया; लेकिन तब से कितना लज्जित है कि सीधे ताकता नहीं। खाने आता है तो सिर झुकाए खाकर उठ जाता है, डरता रहता है कि मैं कुछ कह न बैठूँ।

होरी जब अच्छा हुआ, तो पति-पत्नी में मेल हो गया था।

एक दिन धनिया ने कहा–तुम्हें इतना गुस्सा कैसे आ गया ? मुझे तो तुम्हारे ऊपर कितना ही गुस्सा आये, मगर हाथ न उठाऊँगी।

होरी लजाता हुआ बोला–अब उसकी चर्चा न कर धनिया ! मेरे ऊपर कोई भूत सवार था। इसका मुझे कितना दुःख हुआ है, वह मैं ही जानता हूँ।

"और जो मैं भी उस क्रोध में डूब मरी होती !"

"तो क्या मैं रोने के लिए बैठा रहता ? मेरी लहाश भी तेरे साथ चिता पर जाती।"

"अच्छा चुप रहो, बेबात की बात मत बको।"

"गाय गयी सो गयी, मेरे सिर पर एक विपत्ति डाल गयी। पुनिया की फिकर मुझे मारे डालती है।"

"इसीलिए तो कहते हैं, भगवान घर का बड़ा न बनाए। छोटों को कोई नहीं हँसता। नेकी-बदी सब बड़ों के सिर जाती है।"

माघ के दिन थे। मघावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, दूसरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ था। अँधेरा तक न सूझता था। होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेंड़ पर अपनी मँड़ैया में लेटा हुआ था। चाहता था, शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल। इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसी से मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। पाँच साल हुए, यह मिर्जई बनवायी थी। धनिया ने एक प्रकार से ज़बरदस्ती बनवा दी थी, वही जब एक बार काबुली से कपड़े लिये थे, जिसके पीछे कितनी साँसता हुई, कितनी गालियाँ खानी पड़ी। और कम्बल उसके जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है, पर अब वह भोजन को चबानेवाला दाँत नहीं, दुखनेवाला दाँत है।

जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो। और बैठे-बैठाए यह एक नया जंजाल पड़ गया। न करो तो दुनिया हँसे, करो तो यह संशय बना रहे कि लोग क्या कहते हैं। सब यह समझते हैं कि वह दुनिया को लूट लेता है, उसकी सारी उपज घर में भर लेता है। एहसान तो क्या होगा, उल्टा कलंक लग रहा है। और उधर भोला कई बेर याद दिला चुके हैं कि कहीं कोई सगाई का डौल करो, अब काम नहीं चलता। शोभा उससे कई बार कह चुका है कि पुनिया के विचार उसकी ओर से अच्छे नहीं हैं। न हों। पुनिया की गृहस्थी तो उसे सँभालनी ही पड़ेगी, चाहे हँसकर सँभाले या रोकर।

धनिया का दिल भी अभी तक साफ़ नहीं हुआ। अभी तक उसके मन में मलाल बना हुआ है। मुझे सब आदमियों के सामने उसको मारना न चाहिए था। जिसके साथ पचीस साल गुज़र गये, उसे मारना और सारे गाँव के सामने, मेरी नीचता थी; लेकिन धनिया ने भी तो मेरी आबरू उतारने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। मेरे सामने से कैसा कतराकर निकल जाती है, जैसे कभी की जान-पहचान ही नहीं। कोई बात कहनी होती है, तो सोना या रूपा से कहलाती है। देखता हूँ, उसकी साड़ी फट गयी है; मगर कल मुझसे कहा भी, तो सोना की साड़ी के लिए, अपनी साड़ी का नाम तक न लिया। सोना की साड़ी अभी दो-एक महीने थेगलियाँ लगाकर चल सकती है। उसकी साड़ी तो मारे पैबंदों के बिल्कुल कथरी हो गयी है। और फिर मैं ही कौन उसका मनुहार कर रहा हूँ ? अगर मैं ही उसके मन की दो-चार बातें करता रहता, तो कौन छोटा हो जाता ? यही तो होता, वह थोड़ा-सा अदरावन कराती, दो-चार लगनेवाली बात कहती, तो क्या मुझे चोट लग जाती, लेकिन मैं बुड्ढा होकर उल्लू बना रह गया। वह तो कहो, इस बीमारी ने आकर उसे नर्म कर दिया, नहीं जाने कब तक मुँह फुलाए रहती।

और आज उन दोनों में जो बातें हुई थीं, वह मानों भूखे का भोजन थीं। वह दिल से बोली थी और होरी गद्‌गद हो गया था। उसके जी में आया, उसके पैरों पर सिर रख दे और कहे—मैंने तुझे मारा है तो ले मैं सिर झुकाए लेता हूँ, जितना चाहे मार ले, गालियाँ देना चाहे दे ले।

सहसा उसे मँड़ैया के सामने चूड़ियों की झंकार सुनाई दीं उसने कान लगाकर सुना, हाँ, कोई है। पटवारी की लड़की होगी, चाहे पण्डित की घरवाली हो। मटर उखाड़ने आयी होगी। न जाने क्यों इन लोगों की नीयत इतनी खोटी है। सारे गाँव से अच्छा पहनते हैं, सारे गाँव से अच्छा खाते हैं, घर में हज़ारों रुपये गड़े हैं, लेन-देन करते हैं, ड्योढ़ी-सवाई चलाते हैं, घूस लेते हैं, दस्तूरी लेते हैं, एक-न-एक मामला खड़ा करके हमा-सुमा को पीसते ही रहते हैं, फिर भी नीयत का यह हाल ! बाप जैसा होगा, वैसी ही सन्तान भी होगी। और आप नहीं आते, औरतों को भेजते हैं। अभी उठकर हाथ पकड़ लूँ तो क्या पानी रह जाय ! नीच कहने को नीच हैं; जो ऊँचे हैं, उनका मन तो और नीचा है। औरत जात का हाथ पकड़ते भी तो नहीं

बनता; आँखों देखकर मक्खी निगलनी पड़ती है। उखाड़ ले भाई, जितना तेरा जी चाहे। समझ ले, मैं नहीं हूँ। बड़े आदमी अपनी लाज न रखें, छोटों को तो उनकी लाज रखनी ही पड़ती है।

मगर नहीं, यह तो धनिया है। पुकार रही है।

धनिया ने पुकारा—सो गये कि जागते हो ?

होरी झटपट उठा और मँड़ैया के बाहर निकल आया। आज मालूम होता है, देवी प्रसन्न हो गयीं, उसे वरदान देने आयी हैं, इसके साथ ही इस बादल-बूँदी और जाड़े-पाले में इतनी रात गये उसका आना शंकाप्रद भी था। ज़रूर कोई-न-कोई बात हुई है।

बोला—ठण्डी के मारे नींद भी आती है ? तू इस जाड़े-पाले में कैसे आयी, कुशल तो है ?

"हाँ सब कुशल है।"

"गोबर को भेजकर मुझे क्यों नहीं बुलवा लिया।"

धनिया ने कोई उत्तर न दिया। मँड़ैया मे आकर पुआल पर बैठती हुई बोली—गोबर ने तो मुँह में कालिख लगा दी, उसकी करनी क्या पूछते हो ! जिस बात को डरती थी, वह होकर रही।

"क्या हुआ, क्या ? किसी से मार-पीट कर बैठा ?"

"अब मैं जानूँ, क्या कर बैठा, चलकर पूछो उसी राँड़ से ?"

"किस राँड़ से ? क्या कहती है तू ? बौरा तो नहीं गयी ?"

"हाँ, बौरा क्यों न जाऊँगी ! बात ही ऐसी हुई है कि छाती दुगुनी हो जाय।"

होरी के मन में प्रकाश की एक लम्बी रेखा ने प्रवेश किया।

"साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती। किस राँड़ को कह रही है ?"

"उसी झुनिया को, और किसको !"

"तो झुनिया क्या यहाँ आयी है ?"

"और कहाँ जाती, पूछता कौन ?"

"गोबर क्या घर में नहीं है ?"

"गोबर का कहीं पता नहीं। जाने कहाँ भाग गया। इसे पाँच महीने का पेट है।"

होरी सब कुछ समझ गया। गोबर को बार-बार अहिराने जाते देखकर यह खटका था ज़रूर ; मगर उसे ऐसा खिलाड़ी न समझता था। युवकों में रसिकता होती ही है, इसमें कोई नयी बात नहीं। मगर जिस रूई के गाले को उसने नीले आकाश में हवा के झोंके से उड़ते देखकर केवल मुसकरा दिया था, वह सारे आकाश में छाकर उसके मार्ग को इतना अन्धकारमय बना देगा, यह तो कोई देवता भी न जान सकता था। गोबर ऐसा लम्पट ! वह सरल गँवार, जिसे वह अभी बच्चा समझता था; लेकिन उसे भोज की चिन्ता न थी, पंचायत का भय न था, झुनिया घर में कैसे रहेगी, इसकी

चिन्ता भी उसे न थी। उसे चिन्ता थी गोबर की। लड़का लज्जाशील है, अनाड़ी है, आत्माभिमानी है, कहीं कोई नादानी न कर बैठे।

घबड़ाकर बोला—झुनिया ने कुछ कहा नहीं, गोबर कहाँ गया ? उससे कहकर ही गया होगा ?

धनिया झुँझलाकर बोली—तुम्हारी अक्ल तो घास खा गयी है। उसकी चहेती तो यहाँ बैठी है, भागकर जायेगा कहाँ, यहीं कहीं छिपा बैठा होगा। दूध थोड़े ही पीता है कि खो जायेगा। मुझे तो इस कलमुँही झुनिया की चिन्ता है कि इसे क्या करूँ ? अपने घर में मैं छन-भर भी न रहने दूँगी। जिस दिन गाय लाने गया है, उसी दिन से दोनों में तक-झक होने लगी। पेट न रहता तो अभी बात न खुलती। मगर जब पेट रह गया, तो झुनिया लगी घबड़ाने। कहने लगी, कहीं भाग चलो। गोबर टालता रहा। एक औरत को साथ लेके कहाँ जाय, कुछ न सूझा। आखिर जब आज वह सिर हो गयी कि मुझे यहाँ से ले चलो, नहीं मैं परान दे दूँगी, तो बोला—तू चलकर मेरे घर में रह, कोई कुछ न बोलेगा, अम्माँ को मना लूँगा। यह गधी उसके साथ चल पड़ी। कुछ दूर तो आगे-आगे आता रहा, फिर न जाने किधर सरक गया। यह खड़ी-खड़ी उसे पुकारती रही। जब रात भीग गयी और वह न लौटा, भागी यहाँ चली आयी। मैंने तो कह दिया, जैसा किया है, वैसा फल भोग। चुड़ैल ने लेके मेरे लड़के को चौपट कर दिया। तब से बैठी रो रही है। उठती ही नहीं। कहती है, अपने घर कौन मुँह लेकर जाऊँ ? भगवान ऐसी सन्तान से तो बाँझ ही रखे तो अच्छा। सवेरा होते-होते सारे गाँव में काँव-काँव मच जायेगी। ऐसा जी होता है, माहुर खा लूँ। मैं तुमसे कहे देती हूँ, मैं अपने घर में न रखूँगी। गोबर को रखना हो, अपने सिर पर रखे। घर में ऐसी छँत्तीसियों के लिए जगह नहीं है और अगर तुम बीच में बोले, तो फिर या तो तुम्हीं रहोगे, या मैं ही रहूँगी।

होरी बोला—तुझसे बना नहीं। उसे घर में आने ही न देना चाहिए था।

"सब कुछ कहके हार गयी। टलती ही नहीं। धरना दिये बैठी है।"

"अच्छा चल, देखूँ कैसे नहीं उठती, घसीटकर बाहर निकाल दूँगा।"

"दाढ़ीजार भोला सब कुछ देख रहा था; पर चुप्पी साधे बैठा रहा। बाप भी ऐसे बेहया होते हैं !"

"वह क्या जानता था, इनके बीच में क्या खिचड़ी पक रही है।"

"जानता क्यों नहीं था ? गोबर रात-दिन घेरे रहता था तो क्या उसकी आँखें फूट गयी थीं ! सोचना चाहिए था न, कि यहाँ क्यों दौड़-दौड़ आता है।"

"चल, मैं झुनिया से पूछता हूँ न !"

दोनों मँड़ैया से निकलकर गाँव की ओर चले। होरी ने कहा—पाँच घड़ी रात के ऊपर गयी होगी।

धनिया बोली—हाँ, और क्या; मगर कैसा सोता पड़ गया है ! कोई चोर आये, तो सारे गाँव को मूस ले जाय।

"चोर ऐसे गाँव में नहीं आते। धनियों के घर जाते हैं।"

धनिया ने ठिठककर होरी का हाथ पकड़ लिया और बोली—देखो, हल्ला न मचाना; नहीं सारा गाँव जाग उठेगा और बात फैल जायेगी।

होरी ने कठोर स्वर में कहा—मैं यह कुछ नहीं जानता। हाथ पकड़कर घसीट लाऊँगा और गाँव के बाहर कर दूँगा। बात तो एक दिन खुलनी ही है, फिर आज ही क्यों न खुल जाय ? वह मेरे घर आयी क्यों ? जाये जहाँ गोबर है। उसके साथ कुकरम किया, तो क्या हमसे पूछकर किया था ?

धनिया ने फिर उसका हाथ पकड़ा और धीरे से बोली—तुम उसका हाथ पकड़ोगे तो वह चिल्लाएगी।

"तो चिल्लाया करे।"

"मुदा इतनी रात गये, अँधेरे सन्नाटे रात में जायेगी कहाँ, यह तो सोचो।"

"जाय जहाँ उसके सगे हों। हमारे घर में उसका क्या रखा है ?"

"हाँ, लेकिन इतनी रात गये घर से निकालना उचित नहीं। पाँव भारी है, कहीं डर-डरा जाय, तो और आफत हो। ऐसी दशा में कुछ करते-धरते भी तो नहीं बनता !"

"हमें क्या करना है, मरे या जीये। जहाँ चाहे जाय। क्यों अपने मुँह में कालिख लगाऊँ ? मैं तो गोबर को भी निकाल बाहर करूँगा।"

धनिया ने गम्भीर चिन्ता से कहा—कालिख जो लगनी थी, वह तो अब लग चुकी। वह अब जीते-जी नहीं छूट सकती। गोबर ने नौका डुबा दी।

"गोबर ने नहीं, डुबाई इसी ने। वह तो बच्चा था। इसके पंजे में आ गया।"

"किसी ने डुबाई, अब तो डूब गयी।"

दोनों द्वार के सामने पहुँच गये। सहसा धनिया ने होरी के गले में हाथ डालकर कहा—देखो तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। भाग की खोटी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता ?

होरी की आँखें आर्द्र हो गयी। धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता-जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा। दोनों ही के हृदय में जैसे अतीत-यौवन सचेत हो उठा। होरी को इस गत-यौवना में भी वही कोमल हृदय बालिका नज़र आयी, जिसने पच्चीस साल पहले उसके जीवन में प्रवेश किया था। उस आलिंगन में कितना अथाह वात्सल्य था, जो सारे कलंक, सारी बाधाओं और सारी मूलबद्ध परम्पराओं को अपने अन्दर समेट लेता था।

दोनों ने द्वार पर आकर किवाड़ों के दराज़ के अन्दर झाँका। दीवट पर तेल की कुप्पी जल रही थी और उसके मद्धिम प्रकाश में झुनिया घुटने पर सिर रखे, द्वार की ओर मुँह किये, अन्धकार में उस आनन्द को खोज रही थी, जो एक क्षण पहले अपनी मोहिनी छवि दिखाकर विलीन हो गया था। वह आफ़त की मारी, व्यंग्य-वाणों से आहत और जीवन के आघातों से व्यथित किसी वृक्ष की छाँह खोजती

फिरती थी, और उसे एक भवन मिल गया था, जिसके आश्रय में वह अपने को सुरक्षित और सुखी समझ रही थी; पर आज वह भवन अपना सारा सुख-विलास लिये अलादीन के राजमहल की भाँति ग़ायब हो गया था और भविष्य एक विकराल दानव के समान उसे निगल जाने को खड़ा था।

एकाएक द्वार खुलते और होरी को आते देखकर वह भय से काँपती हुई उठी और होरी के पैरों पर गिरकर रोती हुई बोली–दादा, अब तुम्हारे सिवाय मुझे दूसरा ठौर नहीं है, चाहे मारो चाहे काटो; लेकिन अपने द्वार से दुरदुराओ मत।

होरी ने झुककर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए प्यार-भरे स्वर में कहा–डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह। जैसी तू भोला की बेटी है, वैसी ही मेरी बेटी है। जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिन्ता मत कर। हमारे रहते, कोई तुझे तिरछी आँखों न देख सकेगा। भोज-भात जो लगेगा, वह हम सब दे लेंगे, तू खातिर-जमा रख।

झुनिया, सान्त्वना पाकर और भी होरी के पैरों से चिमट गयी और बोली–दादा, अब तुम्हीं मेरे बाप हो, और अम्माँ, तुम्हीं मेरी माँ हो। मैं अनाथ हूँ। मुझे सरन दो, नहीं मेरे काका और भाई मुझे कच्चा ही खा जायेंगे।

धनिया अपनी करुणा के आवेश को अब न रोक सकी। बोली–तू चल घर में बैठ, मैं देख लूँगी काका और भैया को। संसार में उन्हीं का राज नहीं है। बहुत करेंगे, अपने गहने ले लेंगे। फेंक देना उतारकर।

अभी ज़रा देर पहले धनिया ने क्रोध के आवेश में झुनिया को कुलटा और कलंकिनी और कलमुँही, न जाने क्या-क्या कह डाला था। झाड़ मारकर घर से निकालने जा रही थी। अब जो झुनिया ने स्नेह, क्षमा और आश्वासन से भरे यह वाक्य सुने, तो होरी के पाँव छोड़कर धनिया के पाँव से लिपट गयी और वही साध्वी, जिसने होरी के सिवा किसी पुरुष को आँख भरकर देखा भी न था, इस पापिष्ठा को गले लगाए, उसके आँसू पोंछ रही थी। और उसके त्रस्त हृदय को कोमल शब्दों से शान्त कर रही थी, जैसे कोई चिड़िया अपने बच्चे को परों में छिपाए बैठी हो।

होरी ने धनिया को संकेत किया कि इसे कुछ खिला-पिला दे और झुनिया से पूछा–क्यों बेटी, तुझे कुछ मालूम है, गोबर किधर गया !

झुनिया ने सिसकते हुए कहा–मुझसे तो कुछ नहीं कहा। मेरे कारन तुम्हारे ऊपर...यह कहते-कहते उसकी आवाज़ आँसुओं में डूब गयी।

होरी अपनी व्याकुलता न छिपा सका।

"जब तूने आज उसे देखा, तो कुछ दुखी था ?"

"बातें तो हँस-हँसकर कर रहे थे। मन का हाल भगवान जाने।"

"तेरा मन क्या कहता है, है गाँव में ही कि कहीं बाहर चला गया ?"

"मुझे तो शंका होती है, कहीं बाहर चले गये हैं।"

"यही मेरा मन भी कहता है, कैसी नादानी की। हम उसके दुश्मन थोड़े ही

थे। जब भली या बुरी एक बात हो गयी, तो उसे निभानी पड़ती है। इस तरह भागकर उसने हमारी जान आफ़त में डाल दी।"

धनिया ने झुनिया का हाथ पकड़कर अन्दर ले जाते हुए कहा—कायर कहीं का! जिसकी बाँह पकड़ी, उसका निबाह करना चाहिए कि मुँह में कालिख लगाकर भाग जाना चाहिए। अब जो आये, तो घर में बैठने न दूँ।

होरी वहीं पुआल में लेटा। गोबर कहाँ गया? यह प्रश्न उसके हृदयकोश में किसी पक्षी की भाँति मँडराने लगा।

ग्यारह

ऐसे असाधारण काण्ड पर गाँव में जो हलचल मचना चाहिए था, वह मचा और महीनों तक मचता रहा। झुनिया के दोनों भाई लाठियाँ लिये गोबर को खोजते फिरते थे। भोला ने क़सम खायी कि अब न झुनिया का मुँह देखेंगे और न इस गाँव का। होरी से उन्होंने अपनी सगाई की जो बातचीत की थी, वह अब टूट गयी। अब वह अपनी गाय के दाम लेंगे और नकद, और इसमें विलम्ब हुआ तो होरी पर दावा करके उसका घर-द्वार नीलाम कर लेंगे। गाँववालों ने होरी को जाति-बाहर कर दिया। कोई उसका हुक्का नहीं पीता, न उसके घर का पानी पीता है। पानी बन्द कर देने की कुछ बातचीत थी; लेकिन धनिया का चण्डी-रूप सब देख चुके थे, इसलिए किसी की आगे आने की हिम्मत न पड़ी।

धनिया ने सबको सुना-सुनाकर कह दिया—किसी ने उसे पानी भरने से रोका, तो उसका और अपना खून कर देगी। इस ललकार ने सभी के पित्ते पानी कर दिये। सबसे दुखी है झुनिया, जिसके कारण यह सब उपद्रव हो रहा है, और गोबर की कोई खोज-ख़बर न मिलना, इस दुःख को और भी दारुण बना रहा है। सारे दिन मुँह छिपाए घर में पड़ी रहती है। बाहर निकले तो चारों ओर से वाग्बाणों की ऐसी वर्षा हो कि जान बचना मुश्किल हो जाय। दिन-भर घर के धन्धे करती रहती है और जब अवसर पाती है, रो लेती है। हरदम थर-थर काँपती रहती है कि कहीं धनिया कुछ कह न बैठे। अकेला भोजन तो नहीं पका सकती; क्योंकि कोई उसके हाथ का खाएगा नहीं, बाक़ी सारा काम उसने अपने ऊपर ले लिया। गाँव में जहाँ चार स्त्री-पुरुष जमा हो जाते हैं, यही कुत्सा होने लगती है।

एक दिन धनिया हाट से चली आ रही थी कि रास्ते में पण्डित दातादीन मिल गये! धनिया ने सिर नीचा कर लिया और चाहती थी कि कतराकर निकल जाए; पर पण्डितजी छेड़ने का अवसर पाकर कब चूकनेवाले थे? छेड़ ही तो दिया—गोबर का कुछ सर-सन्देश मिला कि नहीं धनिया? ऐसा कपूत निकला कि घर की सारी मरजाद बिगाड़ दी।

धनिया के मन में स्वयं यही भाव आते रहते थे। उदास मन से बोली—बुरे दिन आते हैं बाबा, तो आदमी की मति फिर जाती है, और क्या कहूँ।

दातादीन बोले—तुम्हें इस दुष्टा को घर में न रखना चाहिए था। दूध में मक्खी पड़ जाती है, तो आदमी उसे निकालकर फेंक देता है और दूध पी जाता है। सोचो, कितनी बदनामी और जग-हँसाई हो रही है। वह कुलटा घर में न रहती, तो कुछ न होता। लड़कों से इस तरह की भूल-चूक होती रहती है ! जब तक बिरादरी को भात न दोगे, बाम्हनों को भोज न दोगे, कैसे उद्धार होगा ? उसे घर में न रखते, तो कुछ न होता। होरी तो पागल है ही, तू कैसे धोखा खा गयी ?

दातादीन का लड़का मातादीन एक चमारिन से फँसा हुआ था। इसे सारा गाँव जानता था; पर वह तिलक लगाता था, पोथी-पत्रे बाँचता था, कथा-भागवत कहता था, धर्म-संस्कार कराता था। उसकी प्रतिष्ठा में जरा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता था। धनिया जानती थी, झुनिया को आश्रय देने ही से यह सारी विपत्ति आयी है। उसे न जाने कैसे दया आ गयी, नहीं उसी रात को झुनिया को निकल देती, तो क्यों इतना उपहास होता; लेकिन यह भय भी होता था कि तब उसके लिए नदी या कुआँ के सिवा और ठिकाना कहाँ था ? एक प्राण का मूल्य देकर—एक नहीं दो प्राणों का—वह अपने मरजाद की रक्षा कैसे करती ? फिर झुनिया के गर्भ में जो बालक है, वह धनिया ही के हृदय का टुकड़ा तो है। हँसी के डर से उसके प्राण कैसे ले लेती ! और फिर झुनिया की नम्रता और दीनता भी उसे निरस्त्र करती रहती थी। वह जली-भुनी बाहर से आती; पर ज्योंही झुनिया लोटे का पानी लाकर रख देती और उसके पाँव दबाने लगती, उसका क्रोध पानी हो जाता। बेचारी अपनी लज्जा और दुःख से आप दबी हुई है, उसे और क्या दबाए, मरे को क्या मारे ?

उसने तीव्र स्वर में कहा—हमको कुल-परतिसठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही; पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही। किस मुँह से निकाल देती ? वही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुदा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता। वही काम छोटे आदमी करते हैं, तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है। नाक कट जाती है। बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं।

दातादीन हार माननेवाले जीव न थे। वह इस गाँव के नारद थे। यहाँ की वहाँ, वहाँ की यहाँ, यही उनका व्यवसाय था। वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान-जोखिम था; पर चोरी के माल में हिस्सा बँटाने के समय अवश्य पहुँच जाते थे। कहीं पीठ में धूल न लगने देते थे। जमींदार को आज तक लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती, तो कुएँ में गिरने चलते, नोखेराम के किये कुछ न बनता; मगर असामियों को सूद पर रुपये उधार देते थे। किसी स्त्री को कोई आभूषण बनवाना है, दातादीन उसकी सेवा के लिए हाज़िर हैं। शादी-ब्याह तय करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है, यश भी मिलता है, दक्षिणा भी मिलती है। बीमारी में दवा-दारू

भी करते हैं, झाड़-फूँक भी, जैसी मरीज़ की इच्छा हो। और सभा-चतुर इतने हैं कि जवानों में जवान बन जाते हैं, बालकों में बालक और बूढ़ों में बूढ़े। चोर के भी मित्र हैं और साह के भी। गाँव में किसी को उन पर विश्वास नहीं है; पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा आकर्षण है कि लोग बार-बार धोखा खाकर भी उन्हीं की शरण जाते हैं।

सिर और दाढ़ी हिलाकर बोले—यह तू ठीक कहती है धनिया ! धर्मात्मा लोगों का यही धरम है; लेकिन लोक-नीति का निबाह तो करना ही पड़ता है।

इसी तरह एक दिन लाला पटेश्वरी ने होरी को छेड़ा। वह गाँव में पुण्यात्मा मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य सत्यनारायण की कथा सुनते पर पटवारी होने के नाते खेत बेगार में जुतवाते थे, सिंचाई बेगार में करवाते थे और असामियों को एक-दूसरे से लड़ाकर रक़में मारते थे। सारा गाँव उनसे काँपता था ! गरीबों को दस-दस, पाँच-पाँच कर्ज देकर उन्होंने कई हज़ार की सम्पत्ति बना ली थी। फ़सल की चीज़ें असामियों से लेकर कचहरी और पुलिस के अमलों की भेंट करते रहते थे। इससे इलाके भर में उनकी अच्छी धाक थी। अगर कोई उनके हत्थे नहीं चढ़ा, तो वह दारोगा गंडासिंह थे, जो हाल में इस इलाके में आये थे। परमार्थी भी थे। बुखार के दिनों में सरकारी कुनैन बाँटकर यश कमाते थे, कोई बीमार आराम हो, तो उसकी कुशल पूछने अवश्य जाते थे। छोटे-मोटे झगड़े आपस में ही तय करा देते थे। शादी-ब्याह में अपनी पालकी, कालीन और महफ़िल के सामान मँगनी देकर लोगों का उबार कर देते थे। मौक़ा पाकर न चूकते थे, पर जिसका खाते थे, उसका काम भी करते थे।

बोले—यह तुमने क्या रोग पाल लिया होरी ?

होरी ने पीछे फिरकर पूछा—तुमने क्या कहा लाला—मैंने सुना नहीं।

पटेश्वरी पीछे से क़दम बढ़ाते हुए बराबर आकर बोले—यही कह रहा था कि धनिया के साथ क्या तुम्हारी बुद्धि भी घास खा गयी ? झुनिया को क्यों नहीं उसके बाप के घर भेज देते, सेंत-मेंत में अपनी हँसी करा रहे हो। न जाने किसका लड़का लेकर आ गयी और तुमने घर में बैठा लिया। अभी तुम्हारी दो-दो लड़कियाँ ब्याहने को बैठी हुई हैं, सोचो, कैसे बेड़ा पार होगा ?

होरी इस तरह की आलोचनाएँ और शुभ कामनाएँ सुनते-सुनते तंग आ गया था। खिन्न होकर बोला—यह सब मैं समझता हूँ लाला ! लेकिन तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ! मैं झुनिया को निकाल दूँ, तो भोला उसे रख लेंगे ? अगर वह राजी हों, तो आज मैं उसे उनके घर पहुँचा दूँ। अगर तुम उन्हें राजी कर दो, तो जनम-भर तुम्हारा औसान मानूँ; मगर वहाँ तो उनके दोनों लड़के खून करने को उतारू हो रहे हैं। फिर मैं उसे कैसे निकाल दूँ ? एक तो नालायक आदमी मिला कि उसकी बाँह पकड़कर दग़ा दे गया। मैं भी निकाल दूँगा, तो इस दशा में वह कहीं मेहनत-मजूरी भी तो न कर सकेगी। कहीं डूब-धस मरी तो किसे अपराध लगेगा ! रहा लड़कियों

का ब्याह, सो भगवान मालिक है। जब उसका समय आयेगा, कोई न कोई रास्ता निकल ही आयेगा। लड़की तो हमारी बिरादरी में आज तक कभी कुँआरी नहीं रही। बिरादरी के डर से हत्यारे का काम नहीं कर सकता।

होरी नम्र स्वभाव का आदमी था। सदा सिर झुकाकर चलता और चार बातें गम खा लेता था। हीरा को छोड़कर गाँव में कोई उसका अहित न चाहता था, पर समाज इतना बड़ा अनर्थ कैसे सह ले! और उसकी मुटमर्दी तो देखो कि समझाने पर भी नहीं समझता। स्त्री-पुरुष दोनों जैसे समाज को चुनौती दे रहे हैं कि देखें, कोई उनका क्या कर लेता है। तो समाज भी दिखा देगा कि उसकी मर्यादा तोड़नेवाले सुख की नींद नहीं सो सकते।

उसी रात को इस समस्या पर विचार करने के लिए गाँव के विधाताओं की बैठक हुई।

दातादीन बोले—मेरी आदत किसी की निन्दा करने की नहीं है। संसार में क्या-क्या कुकर्म नहीं होता; अपने से क्या मतलब ? मगर वह राँड़ धनिया तो मुझसे लड़ने को उतारू हो गयी। भाइयों का हिस्सा दबाकर हाथ में चार पैसे हो गये, तो अब कुपंथ के सिवा और क्या सूझेगी ? नीच जात, जहाँ पेट-भर रोटी खायी और टेढ़े चले, इसी से तो सासतरों में कहा है—नीच जात लतियाए अच्छा।

पटेश्वरी ने नारियल का कश लगाते हुए कहा—यही तो इनमें बुराई है कि चार पैसे देखे और आँखें बदलीं। आज होरी ने ऐसी हेकड़ी जतायी कि मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया। न जाने अपने को क्या समझता है ! अब सोचो, इस अनीति का गाँव में क्या फल होगा ? झुनिया को देखकर दूसरी विधवाओं का मन बढ़ेगा कि नहीं ? आज भोला के घर में यह बात हुई। कल हमारे-तुम्हारे घर में भी होगी। समाज तो भय के बल से चलता है। आज समाज का आंकुस जाता रहे, फिर देखो संसार में क्या-क्या अनर्थ होने लगते हैं।

झिंगुरीसिंह दो स्त्रियों के पति थे। पहली स्त्री पाँच लड़के-लड़कियाँ छोड़कर मरी थी। उस समय इनकी अवस्था पैंतालीस के लगभग थी; पर आपने दूसरा ब्याह किया और जब उससे कोई सन्तान न हुई, तो तीसरा ब्याह कर डाला। अब इनकी पचास की अवस्था थी और दो जवान पत्नियाँ घर में बैठी थीं। उन दोनों ही के विषय में तरह-तरह की बातें फैल रही थीं, पर ठाकुर साहब के डर से कोई कुछ कह न सकता था, और कहने का अवसर भी तो हो। पति की आड़ में सब कुछ जायज है। मुसीबत तो उसकी है, जिसे कोई आड़ नहीं। ठाकुर साहब स्त्रियों पर बड़ा कठोर शासन रखते थे और घमण्ड था कि उनकी पत्नियों का घूँघट तक किसी ने न देखा होगा। मगर घूँघट की आड़ में क्या होता है, उसकी उन्हें क्या ख़बर ?

बोले—ऐसी औरत का तो सिर काट ले। होरी ने इस कुलटा को घर रखकर समाज में विष बोया है। ऐसे आदमी को गाँव में रहने देना सारे गाँव को भ्रष्ट करना

है। रायसाहब को इसकी सूचना देनी चाहिए। साफ़-साफ़ कह देना चाहिए, अगर गाँव में यह अनीति चली तो किसी की आबरू सलामत न रहेगी।

पण्डित नोखेराम कारकुन बड़े कुलीन ब्राह्मण थे। इनके दादा किसी राजा के दीवान थे ! पर अपना सब कुछ भगवान के चरणों में भेंट करके साधु हो गये थे। इनके बाप ने भी राम-नाम की खेती में उम्र काट दी। नोखेराम ने भी वही भक्ति तरके में पायी थी। प्रातःकाल पूजा पर बैठ जाते थे और दस बजे तक बैठे राम-नाम लिखा करते थे; मगर भगवान के सामने से उठते ही उनकी मानवता इस अवरोध से विकृत होकर उनके मन, वचन और कर्म सभी को विषाक्त कर देती थी। इस प्रस्ताव में उनके अधिकार का अपमान होता था। फूले हुए गालों में धँसी हुई आँखें निकालकर बोले—इसमें रायसाहब से क्या पूछना है। मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ। लगा दो सौ रुपये डाँड़। आप गाँव छोड़कर भागेगा। इधर बेदखली भी दायर किए देता हूँ।

पटेश्वरी ने कहा—मगर लगान तो बेबाक कर चुका है ?

झिंगुरीसिंह ने समर्थन किया—हाँ, लगान के लिए ही तो हमसे तीस रुपये लिये हैं।

नोखेराम ने घमण्ड के साथ कहा—लेकिन अभी रसीद तो नहीं दी। सबूत क्या है कि लगान बेबाक कर दिया ?

सर्वसम्मति से यही तय हुआ कि होरी पर सौ रुपये तावान लगा दिया जाय। केवल एक दिन गाँव के आदमियों को बटोरकर उनकी मंजूरी ले लेने का अभिनय आवश्यक था। सम्भव था, इसमें दस-पाँच दिन की देर हो जाती। पर आज ही रात को झुनिया के लड़का पैदा हो गया। और दूसरे दिन गाँववालों की पंचायत बैठ गयी। होरी और धनिया, दोनों अपनी किस्मत का फैसला सुनने के लिए बुलाए गये। चौपाल में इतनी भीड़ थी कि कहीं तिल रखने की जगह न थी। पंचायत ने फ़ैसला किया कि होरी पर सौ रुपये नक़द और तीस मन अनाज डाँड़ लगाया जाय।

धनिया भरी सभा में रुँधे हुए कण्ठ से बोली—पंचो, गरीब को सताकर सुख न पाओगे, इतना समझ लेना। हम तो मिट जायेंगे, कौन जाने, इस गाँव में रहें या न रहें, लेकिन मेरा सराप तुमको भी जरूर लगेगा। मुझसे इतना कड़ा जरीबाना इसलिए लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा। क्यों उसे घर से निकालकर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया। यही न्याय है—ऐं ?

पटेश्वरी बोले--वह तेरी बहू नहीं है, हरजाई है।

होरी ने धनिया को डाँटा—तू क्यों बोलती है धनिया ! पंच में परमेसर रहते हैं। उनका जो न्याय है वह सिर-आँखों पर। अगर भगवान की यही इच्छा है कि हम गाँव छोड़कर भाग जायें, तो हमारा क्या बस। पंचो, हमारे पास जो कुछ है, वह अभी खलिहान में है। एक दाना भी घर में नहीं आया, जितना चाहे, ले लो। सब लेना चाहो, सब ले लो। हमारा भगवान् मालिक है, जितनी कमी पड़े, उसमें

हमारे दोनों बैल ले लेना।

धनिया दाँत कटकटाकर बोली—मैं एक दाना न अनाज दूँगी, न कौड़ी डाँड़। जिसमें बूता हो, चलकर मुझसे ले। अच्छी दिल्लगी है ! सोचा होगा, डाँड़ के बहाने इसकी सब जैजात ले लो और नज़राना लेकर दूसरों को दे दो। बाग़-बगीचा बेचकर मजे से तर माल उड़ाओ। धनिया के जीते-जी यह नहीं होने का, और तुम्हारी लालसा तुम्हारे मन में ही रहेगी। हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायेगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की कमाई खायेंगे।

होरी ने उसके सामने हाथ जोड़कर कहा—धनिया, तेरे पैरों पड़ता हूँ, चुप रह। हम सब बिरादरी के चाकर हैं, उसके बाहर नहीं जा सकते। वह जो डाँड़ लगाती है, उसे सिर झुकाकर मंजूर कर। नक्कू बनकर जीने से तो गले में फाँसी लगा लेना अच्छा है। आज मर जायें, तो बिरादरी ही तो इस मिट्टी को पार लगायेगी ? बिरादरी ही तारेगी तो तरेंगे। पंचो, मुझे अपने जवान बेटे का मुँह देखना नसीब न हो, अगर मेरे पास खलिहान में अनाज के सिवा और कोई चीज हो। मैं बिरादरी से दगा न करूँगा। पंचों को मेरे बाल-बच्चों पर दया आये, तो उनकी कुछ परवरिस करें, नहीं मुझे तो उनकी आज्ञा पालनी है।

धनिया झल्लाकर वहाँ से चली गयी और होरी पहर रात तक खलिहान से अनाज ढो-ढोकर झिंगुरीसिंह की चौपाल में ढेर करता रहा। बीस मन जौ था, पाँच मन गेहूँ और इतना ही मटर, थोड़ा-सा चना और तेलहन भी था। अकेला आदमी और दो गृहस्थियों का बोझ। यह जो कुछ हुआ, धनिया के पुरुषार्थ से हुआ। झुनिया भीतर का सारा काम कर लेती थी। और धनिया अपनी लड़कियों के साथ खेती में जुट गयी थी। दोनों ने सोचा था, गेहूँ और तेलहन से लगान की एक किस्त अदा हो जायेगी और हो सके तो थोड़ा-थोड़ा सूद भी दे देंगे। जो खाने के काम में आयेगा ! लंगे-तंगे पाँच-छः महीने कट जायेंगे, तब तक जुआर मक्का, साँवा, धान के दिन आ जायेंगे वह सारी आशा मिट्टी में मिल गयी। अनाज तो हाथ से गये ही, सौ रुपये की गठरी और सिर पर लद गयी। अब भोजन का कहीं ठिकाना नहीं। और गोबर का क्या हाल हुआ, भगवान जाने। न हाल न हवाल। अगर दिल का इतना कच्चा था, तो ऐसा काम ही क्यों किया; मगर होनहार को कौन टाल सकता है ! बिरादरी का वह आतंक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो। जमींदार, साहूकार, सरकार, किसका इतना रोब था ? कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोखे लेती थी; पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार आँकुस दिये जा रहा था। बिरादरी से पृथक् जीवन की वह कोई कल्पना ही न कर सकता था। शादी-ब्याह, मूँड़न-छेदन, जन्म-मरण सब कुछ बिरादरी के हाथ में है। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाये हुए थी और उसकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी हुई

थीं। बिरादरी से निकलकर उसका जीवन विशृंखल हो जायेगा—तार-तार हो जायेगा।

जब खलिहान में केवल डेढ़-दो मन जौ रह गया, तो धनिया ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और बोली—अच्छा, अब रहने दो। ढो तो चुके बिरादरी की लाज ! बच्चों के लिए भी कुछ छोड़ोगे कि सब बिरादरी के भाड़ में झोंक दोगे ? मैं तुमसे हार जाती हूँ। मेरे भाग्य में तुम्हीं जैसे बुद्धू का संग लिखा था !

होरी ने अपना हाथ छुड़ाकर टोकरी में अनाज भरते हुए कहा—यह न होगा धनिया, पंचों की आँख बचाकर एक दाना भी रख लेना मेरे लिए हराम है। मैं ले जाकर सब-का-सब वहाँ ढेर कर देता हूँ। फिर पंचों के मन में दया उपजेगी, तो कुछ मेरे बाल-बच्चों के लिए देंगे, नहीं भगवान मालिक है।

धनिया तिलमिलाकर बोली—यह पंच नहीं हैं, राक्षस हैं, पक्के राक्षस ! यह सब हमारी जगह-जमीन छीनकर माल मारना चाहते हैं। डाँड़ तो बहाना है। मैं समझती हूँ, पर तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं। तुम इन पिशाचों से दया की आशा रखते हो ? सोचते हो, दस-पाँच मन निकालकर तुम्हें दे देंगे। मुँह धो रखो।

जब होरी ने न माना और टोकरी सिर पर रखने लगा, तो धनिया ने दोनों हाथों से पूरी शक्ति के साथ टोकरी पकड़ ली और बोली—इसे तो मैं न ले जाने दूँगी, चाहे तुम मेरी जान ही ले लो। मर-मरकर हमने कमाया, पहर रात-रात को सींचा, अगोरा, इसलिए कि पंच लोग मूँछों पर ताव देकर भोग लगायें और हमारे बच्चे दाने-दाने को तरसें ! तुमने ही सब कुछ नहीं कर लिया है। मैं अभी अपनी बच्चियों के साथ सती हुई हूँ। सीधे से टोकरी रख दो, नहीं आज सदा के लिए नाता टूट जायेगा। कहे देती हूँ।

होरी सोच में पड़ गया। धनिया के कथन में सत्य था। उसे अपने बाल-बच्चों की कमाई छीनकर तावान देने का क्या अधिकार है ? वह घर का स्वामी इसलिए है कि सबका पालन करे, इसलिए नहीं कि उनकी कमाई छीनकर बिरादरी की नज़र में सुर्खरू बने। टोकरी उसके हाथ से छूट गयी। धीरे से बोला—तू ठीक कहती है धनिया, दूसरों के हिस्से पर मेरा कोई जोर नहीं है। जो कुछ बचा है, वह ले जा। मैं जाकर पंचों से कहे देता हूँ।

धनिया अनाज की टोकरी घर में रखकर अपनी दोनों लड़कियों के साथ पोते के जन्मोत्सव में गला फाड़-फाड़कर सोहर गा रही थी, जिससे सारा गाँव सुन ले। आज यह पहला मौका था कि ऐसे शुभ अवसर पर बिरादरी की कोई औरत न थी। सौर से झुनिया ने कहला भेजा था, सोहर गाने का काम नहीं है; लेकिन धनिया कब मानने लगी ! अगर बिरादरी को उसकी परवा नहीं है, तो वह भी बिरादरी की परवा नहीं करती।

उसी वक्त होरी अपने घर को अस्सी रुपये पर झिंगुरीसिंह के हाथ गिरों रख रहा था। डाँड़ के रुपये का इसके सिवा वह और कोई प्रबन्ध न कर सकता था। बीस रुपये तो तेलहन, गेहूँ और मटर से मिल गये। शेष के लिए घर लिखना पड़ा।

नोखेराम तो चाहते थे कि बैल बिकवा लिये जायें; लेकिन पटेश्वरी और दातादीन ने इसका विरोध किया। बैल बिक गये, तो होरी खेती कैसे करेगा ? बिरादरी उसकी जायदाद से रुपये वसूल करे; पर ऐसा तो न करे कि वह गाँव छोड़कर भाग जाये। इस तरह बैल बच गये।

होरी रेहननामा लिखकर कोई ग्यारह बजे रात घर आया, तो धनिया ने पूछा—इतनी रात तक वहाँ क्या करते रहे ?

होरी ने जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर उतारते हुए कहा—करता क्या रहा, इस लौंडे की करनी भरता रहा। अभागा आप तो चिनगारी छोड़कर भागा, आग मुझे बुझानी पड़ रही है। अस्सी रुपये में घर रेहन लिखना पड़ा। करता क्या ! अब हुक्का खुल गया। बिरादरी ने अपराध क्षमा कर दिया।

धनिया ने ओठ चबाकर कहा—न हुक्का खुलता, तो हमारा क्या बिगड़ा जाता था ? चार-पाँच महीने नहीं किसी का हुक्का पिया, तो क्या छोटे हो गये ? मैं कहती हूँ, तुम इतने भोंदू क्यों हो ? मेरे सामने तो बड़े बुद्धिमान बनते हो, बाहर तुम्हारा मुँह क्यों बन्द हो जाता है ? ले-देके बाप-दादों की निसानी एक घर बच रहा था, आज तुमने उसका भी वारा-न्यारा कर दिया। इसी तरह कल यह तीन-चार बीघे जमीन है, इसे भी लिख देना और तब गली-गली भीख माँगना। मैं पूछती हूँ, तुम्हारे मुँह में जीभ न थी कि उन पंचों से पूछते, तुम कहाँ के बड़े धर्मात्मा हो, जो दूसरों पर डाँड़ लगाते फिरते हो, तुम्हारा तो मुँह देखना भी पाप है।

होरी ने डाँटा—चुप रह, बहुत चढ़-चढ़ न बोल। बिरादरी के चक्कर में अभी पड़ी नहीं है, नहीं मुँह से बात न निकलती।

धनिया उत्तेजित हो गई—कौन-सा पाप किया है, जिसके लिए बिरादरी से डरें ? किसी की चोरी की है। किसी का माल काटा है; मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, हाँ, रखके छोड़ देना पाप है। आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधेपन का फल यही होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं। आज उधर तुम्हारी वाह-वाह हो रही होगी कि बिरादरी की कैसी मरजाद रख ली। मेरे भाग फूट गये थे कि तुम-जैसे मर्द से पाला पड़ा। कभी सुख की रोटी न मिली।

"मैं तेरे बाप के पाँव पड़ने गया था ? वही तुझे मेरे गले बाँध गया।"

"पत्थर पड़ गया था उनकी अक्कल पर और उन्हें क्या कहूँ ? न जाने क्या देखकर लट्टू हो गये। ऐसे कोई बड़े सुन्दर भी तो न थे तुम !"

"विवाद विनोद के क्षेत्र में आ गया। अस्सी रुपये गये, लाख रुपये का बालक तो मिल गया ! उसे तो कोई न छीन लेगा। गोबर घर लौट आये, धनिया अलग झोंपड़ी में भी सुखी रहेगी।"

होरी ने पूछा—बच्चा किसको पड़ा है ?

धनिया ने प्रसन्न मुख होकर जवाब दिया—बिल्कुल गोबर को पड़ा है। सच !

"रिष्ट-पुष्ट तो है ?"

"हाँ, अच्छा है।"

बारह

रात को गोबर झुनिया के साथ चला, तो ऐसा काँप रहा था, जैसे उसकी नाक कटी हुई हो। झुनिया को देखते ही सारे गाँव में कुहराम मच जायेगा, लोग चारों ओर से कैसी हाय-हाय मचायेंगे, धनिया कितनी गालियाँ देगी, यह सोच-सोचकर उसके पाँव पीछे रह जाते थे। होरी का तो उसे भय न था। वह केवल एक बार धाड़ेंगे फिर शान्त हो जायेंगे। डर था धनिया का, ज़हर खाने लगेगी, घर में आग लगाने लगेगी। नहीं, इस वक्त वह झुनिया के साथ घर नहीं जा सकता।

लेकिन कहीं धनिया ने झुनिया को घर में घुसने ही न दिया और झाड़ू लेकर मारने दौड़ी, तो वह बेचारी कहाँ जायेगी ? अपने घर तो लौट ही नहीं सकती। कहीं कुएँ में कूद पड़े या गले में फाँसी लगा ले, तो क्या हो ? उसने लम्बी साँस ली। किसकी शरण ले ?

मगर अम्माँ इतनी निर्दयी नहीं हैं कि मारने दौड़े। क्रोध में दो-चार गालियाँ देंगी ! लेकिन जब झुनिया उनके पाँव पकड़कर रोने लगेगी, तो उन्हें ज़रूर दया आ जायेगी। तब तक वह खुद कहीं छिपा रहेगा। जब उपद्रव शान्त हो जायेगा, तब वह एक दिन धीरे से आयेगा और अम्माँ को मना लेगा। अगर इस बीच उसे कहीं मजूरी मिल जाये और दो-चार रुपये लेकर घर लौटे, तो फिर धनिया का मुँह बन्द हो जायेगा।

झुनिया बोली—मेरी छाती धक्-धक् कर रही है। मैं क्या जानती थी, तुम मेरे गले यह रोग मढ़ दोगे। न जाने किस बुरी साइत में तुमको देखा। न तुम गाय लेने आते, न यह सब कुछ होता। तुम आगे-आगे जाकर जो कुछ कहना-सुनना हो, कह-सुन लेना। मैं पीछे से जाऊँगी।

गोबर ने कहा—नहीं-नहीं, पहले तुम जाना और कहना, मैं बाज़ार से सौदा बेचकर घर जा रही थी। रात हो गयी है, अब कैसे जाऊँ ? जब तक मैं आ जाऊँगा।

झुनिया ने चिन्तित मन से कहा—तुम्हारी अम्माँ बड़ी गुस्सैल हैं। मेरा तो जी काँपता है। कहीं मुझे मारने लगें तो क्या करूँगी ?

गोबर ने धीरज दिलाया—अम्माँ की आदत ऐसी नहीं। हम लोगों तक को तो कभी एक तमाचा मारा नहीं, तुम्हें क्या मारेंगी ! उनको जो कुछ कहना होगा, मुझे कहेंगी; तुमसे तो बोलेंगी भी नहीं।

गाँव समीप आ गया। गोबर ने ठिठककर कहा—अब तुम जाओ।

झुनिया ने अनुरोध किया—तुम भी देर न करना।

"नहीं-नहीं, छन भर में आता हूँ, तू चल तो।"

"मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है ! तुम्हारे ऊपर क्रोध आता है।"

"तुम इतना डरती क्यों हो ? मैं तो आ ही रहा हूँ।"

"इससे तो कहीं अच्छा था कि किसी दूसरी जगह भाग चलते।"

"जब अपना घर है तो क्यों कहीं भागें ? तुम नाहक डर रही हो।"

"जल्दी से आओगे न ?"

"हाँ-हाँ, अभी आता हूँ।"

"मुझसे दगा तो नहीं कर रहे हो ? मुझे घर भेजकर आप कहीं चलते बनो ?"

"इतना नीच नहीं हूँ झूना ! जब तेरी बाँह पकड़ी है, तो मरते दम तक निभाऊँगा।"

झुनिया घर की ओर चली। गोबर एक क्षण दुविधा में पड़ा रहा। फिर एकाएक सिर पर मँडरानेवाली धिक्कार की कल्पना भयंकर रूप धारण करके उसके सामने खड़ी हो गयी। कहीं सचमुच अम्माँ मारने दौड़े, तो क्या हो ? उसके पाँव जैसे धरती से चिमट गये। उसके और उसके घर के बीच केवल आमों का छोटा-सा बाग था। झुनिया की काली परछाईं धीरे-धीरे जाती हुई दीख रही थी। उसकी ज्ञानेन्द्रियां बहुत तेज हो गयी थीं। उसके कानों में ऐसी भनक पड़ी, जैसे अम्माँ झुनिया को गाली दे रही हैं। उसके मन की कुछ ऐसी दशा हो रही थी, मानो सिर पर गड़ाँसे का हाथ पड़नेवाला हो। देह का सारा रक्त जैसे सूख गया हो। एक क्षण के बाद उसने देखा, जैसे धनिया घर से निकलकर कहीं जा रही हो। दादा के पास जाती होगी ! साइत दादा खा-पीकर मटर अगोरने चले गये हैं। वह मटर के खेत की ओर चला। जौ-गेहूँ के खेतों को रौंदता हुआ वह इस तरह भागा जा रहा था, मानों पीछे दौड़ आ रही है। वह है दादा की मँड़ैया ! वह रुक गया और दबे पाँव आकर मँड़ैया के पीछे बैठ गया। उसका अनुमान ठीक निकला। वह पहुँचा ही था कि धनिया की बोली सुनाई दी। ओह ! गजब हो गया ! अम्माँ इतनी कठोर हैं। एक अनाथ लड़की पर इन्हें तनिक भी दया नहीं आती। और जो मैं सामने जाकर फटकार दूँ कि तुमको झुनिया से बोलने का कोई मजाल नहीं है, तो सारी सेखी निकल जाय। अच्छा ! दादा भी बिगड़ रहे हैं। केले के लिए आज ठीकरा भी तेज हो गया। मैं जरा अदब करता हूँ, उसी का फल है। यह तो दादा भी वहीं जा रहे हैं। अगर झुनिया को इन्होंने मारा-पीटा तो मुझसे न सहा जायेगा। भगवान ! अब तुम्हारा ही भरोसा है। मैं न जानता था, इस विपत में जान फँसेगी। झुनिया मुझे अपने मन में कितना धूर्त, कायर और नीच समझ रही होगी; मगर उसे मार कैसे सकते हैं ? घर से निकाल भी कैसे सकते हैं ? क्या घर में मेरा हिस्सा नहीं है ? अगर झुनिया पर किसी ने हाथ उठाया, तो आज महाभारत हो जायेगा। माँ-बाप जब तक लड़कों की रक्षा करें, तब तक माँ-बाप हैं। जब उनमें ममता ही नहीं है, तो कैसे माँ-बाप !

होरी ज्यों ही मँड़ैया से निकला, गोबर भी दबे पाँव धीरे-धीरे पीछे-पीछे चला; लेकिन द्वार पर प्रकाश देखकर उसके पाँव बँध गये। उस प्रकाश-रेखा के अन्दर

वह पाँव नहीं रख सकता। वह अँधेरे में ही दीवार से चिमटकर खड़ा हो गया। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। हाय ! बेचारी निरपराध झुनिया पर यह लोग झल्ला रहे हैं, और वह कुछ नहीं कर सकता। उसने खेल-खेल में जो एक चिनगारी फेंक दी थी, वह सारे खलिहान को भस्म कर देगी, यह उसने न समझा था। और अब उसमें इतना साहस न था कि सामने आकर कहे—हाँ, मैंने चिनगारी फेंकी थी। जिन टिकौनों से उसने अपने मन को सँभाला था, वे सब इस भूकम्प में नीचे आ रहे और वह झोंपड़ा नीचे गिर पड़ा। वह पीछे लौटा। अब वह झुनिया को क्या मुँह दिखाये।

वह सौ क़दम चला; पर इस तरह, जैसे कोई सिपाही मैदान से भागे। उसने झुनिया से प्रीति और विवाह की जो बातें की थीं; वह अभिसार की मीठी स्मृतियाँ याद आयीं, जब वह अपने उन्मत्त उसाँसों में, अपनी नशीली चितवनों में मानों अपने प्राण निकालकर उसके चरणों पर रख देता था। झुनिया किसी वियोगी पक्षी की भाँति अपने छोटे-से घोंसले में एकान्त-जीवन काट रही थी। वहाँ नर का मत्त आग्रह न था, न वह उद्दीप्त उल्लास, न शावकों की मीठी आवाज़ें; मगर बहेलिये का जाल और छल भी तो वहाँ न था। गोबर ने उसके एकान्त घोंसले में जाकर उसे कुछ आनन्द पहुँचाया या नहीं, कौन जाने; पर उसे विपत्ति में तो डाल ही दिया। वह सँभल गया। भागता हुआ सिपाही मानों अपने एक साथी का बढ़ावा सुनकर पीछे लौट पड़ा।

उसने द्वार पर आकर देखा, तो किवाड़ बन्द हो गये थे। किवाड़ों के दराजों से प्रकाश की रेखाएँ बाहर निकल रही थीं। उसने एक दराज़ से बाहर झाँका। धनिया और झुनिया बैठी हुई थीं। होरी खड़ा था। झुनिया की सिसकियाँ सुनाई दे रही थीं और धनिया उसे समझा रही थी—बेटी, तू चलकर घर में बैठ। मैं तेरे काका और भाइयों को देख लूँगी। जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिन्ता नहीं है। हमारे रहते कोई तुझे तिरछी आँखों देख भी न सकेगा। गोबर गद्गद हो गया। आज वह किसी लायक़ होता, तो दादा और अम्माँ को सोने से मढ़ देता और कहता—अब तुम कुछ परवा न करो, आराम से बैठे खाओ और जितना दान-पुन चाहो, करो। झुनिया के प्रति अब उसे कोई शंका नहीं है। वह उसे जो आश्रय देना चाहता था, वह मिल गया। झुनिया उसे दगाबाज़ समझती है, तो समझे। वह तो अब तभी घर आयेगा, जब वह पैसे के बल से सारे गाँव का मुँह बंद कर सके और दादा और अम्माँ उसे कुल का कलंक न समझकर कुल का तिलक समझें।

मन पर जितना ही गहरा आघात होता है उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी गहरी होती है। इस अपकीर्ति और कलंक ने गोबर के अन्तस्तल को मथकर वह रत्न निकाल लिया, जो अभी तक छिपा पड़ा था। आज पहली बार उसे अपने दायित्व का ज्ञान हुआ और उसके साथ ही संकल्प भी। अब तक वह कम से कम काम करता और ज़्यादा से ज़्यादा खाना अपना हक समझता था। उसके मन में कभी यह विचार

ही नहीं उठा कि घरवालों के साथ उसका भी कुछ कर्त्तव्य है। आज माता-पिता की उदात्त क्षमा ने जैसे उसके हृदय में प्रकाश डाल दिया। जब धनिया और झुनिया भीतर चली गयीं, तो वह होरी की उसी मँड़ैया में जा बैठा और भविष्य के मंसूबे बाँधने लगा।

शहर के बेलदारों को पाँच-छः आने रोज़ मिलते हैं, यह उसने सुन रखा था। बाहर उसे छः आने रोज़ मिलें और वह एक आने में गुज़र कर ले, तो पाँच आने रोज़ बच जायें। महीने में दस रुपये होते हैं, और साल-भर में सवा सौ। वह सवा सौ की थैली लेकर घर आये, तो किसकी मजाल है, जो उसके सामने मुँह खोल सके ? यही दातादीन और यही पटेसरी आकर उसकी हाँ में हाँ मिलायेंगे। और झुनिया तो मारे गर्व के फूल जाये। दो-चार साल वह इसी तरह कमाता रहे, तो घर का सारा दलिद्दर मिट जाय। अभी तो सारे घर की कमाई भी सवा सौ नहीं होती। अब वह अकेला सवा सौ कमाएगा। यही तो लोग कहेंगे कि मजूरी करता है। कहने दो। मजूरी करना कोई पाप तो नहीं है। और सदा छः आने ही थोड़े ही मिलेंगे। जैसे-जैसे वह काम में होशियार होगा, मजूरी भी तो बढ़ेगी। तब वह दादा से कहेगा, अब तुम घर बैठकर भगवान का भजन करो। इस खेती में जान-खपाने के सिवा और क्या रखा है ? सबसे पहले वह एक पछाई गाय लायेगा, जो चार-पाँच सेर दूध देगी और दादा से कहेगा, तुम गऊ माता की सेवा करो। इससे तुम्हारा लोक भी बनेगा, परलोक भी।

और क्या, एक आने में उसका गुज़र आराम से न होगा ? घर-द्वार लेकर क्या करना है ? किसी के ओसारे में पड़ा रहेगा। सैकड़ों मन्दिर हैं, धरमसाले हैं। और फिर जिसकी वह मजूरी करेगा, क्या वह उसे रहने के लिए जगह न देगा ? आटा रुपये का दस सेर आता है। एक आने में ढाई पाव हुआ। एक आने का तो वह आटा ही खा जायेगा। लकड़ी, दाल, नमक, साग यह सब कहाँ से आयेगा। दोनों जून के लिए पेट भर तो आटा ही चाहिए। ओह ! खाने की तो कुछ न पूछो। मुट्ठी भर चने में काम चल सकता है। हलुवा और पूरी खाकर भी काम चल सकता है। जैसी कमाई हो। वह आध सेर आटा खाकर दिन-भर मज़े से काम कर सकता है। इधर-उधर से उपले चुन लिये, लकड़ी का काम चल गया। कभी एक पैसे की दाल ले ली, कभी आलू। आलू भूनकर भुरता बना लिया। यहाँ दिन काटना है कि चैन करना है ! पत्तल पर आटा गूँधा, उपलों पर बाटियाँ सेंकीं, आलू भूनकर भुरता बनाया और मजे से खाकर सो रहे। घर पर कौन दोनों जून रोटी मिलती है, एक जून चबेना ही मिलता है। यहाँ भी एक जून चबेने पर काटेंगे।

उसे शंका हुई; अगर कभी मजूरी न मिली, तो वह क्या करेगा ? मगर मजूरी क्यों न मिलेगी ? जब वह जी तोड़कर काम करेगा, तो सौ आदमी उसे बुलायेंगे। काम सबको प्यारा होता है, चाम नहीं प्यारा होता। यहाँ भी तो सूखा पड़ता है, पाला गिरता है, ऊख में दीमक लगते हैं, जौ में गेरुई लगती है, सरसों में लाही लग

जाती है। उसे रात को कोई काम मिल जायेगा, तो उसे भी न छोड़ेगा। दिन-भर मजूरी की; रात कहीं चौकीदारी कर लेगा। दो आने भी रात के काम में मिल जायें, तो चाँदी। जब वह लौटेगा, तो सबके लिए साड़ियाँ लायेगा। झुनिया के लिए हाथ का कंगन ज़रूर बनवायेगा और दादा के लिए एक मुँड़ासा लायेगा।

इन्हीं मनमोदकों का स्वाद लेता हुआ वह सो गया; लेकिन ठंड में नींद कहाँ! किसी तरह रात काटी और तड़के उठकर लखनऊ की सड़क पकड़ ली। बीस कोस ही तो है। साँझ तक पहुँच जायेगा। गाँव का कौन आदमी वहाँ आता-जाता है और वह अपना ठिकाना नहीं लिखेगा, नहीं दादा दूसरे ही दिन सिर पर सवार हो जायेंगे। उसे कुछ पछतावा था, तो यही कि झुनिया से क्यों न साफ़-साफ कह दिया–अभी तू घर जा, मैं थोड़े दिनों में कुछ कमाकर लौटूँगा; लेकिन तब वह घर जाती ही क्यों? कहती–मैं भी तुम्हारे साथ लौटूँगी। वह कहाँ-कहाँ बाँधे फिरता?

दिन चढ़ने लगा। रात को कुछ न खाया था। भूख मालूम होने लगीं।पाँव लड़खड़ाने लगे। कहीं बैठकर दम लेने की इच्छा होती थी। बिना कुछ पेट में डाले, वह अब नहीं चल सकता; लेकिन पास एक पैसा भी नहीं है। सड़क के किनारे झड़-बेरियों के झाड़ थे। उसने थोड़े से बेर तोड़ लिये और उदर को बहलाता हुआ चला। एक गाँव में गुड़ पकने की सुगन्ध आयी। अब मन न माना। कोल्हाड़ में जाकर लोटा-डोर माँगा और पानी भरकर चुल्लू से पीने बैठा कि उस किसान ने कहा–अरे भाई, क्या निराला ही पानी पियोगे? थोड़ा-सा मीठा खा लो। अबकी और चला लें कोल्हू बना लें खाँड़। अगले साल तक मिल तैयार हो जायेगी। सारी ऊख खड़ी बिक जायेगी। गुड़ और ख़ाँड़ के भाव चीनी मिलेगी, तो हमारा गुड़ कौन लेगा? उसने एक कटोरे में गुड़ की कई पिंडियाँ लाकर दी। गोबर ने गुड़ खाया? पानी पिया। तमाखू तो पीते होगे? गोबर ने बहाना किया। अभी चिलम नहीं पीता। बुड्ढे नें प्रसन्न होकर कहा–बड़ा अच्छा करते हो भैया! बुरा रोग है एक बेर पकड़ ले, तो ज़िन्दगी-भर नहीं छोड़ता।

इंजन को कोयला-पानी भी मिल गया, चाल तेज़ हुई। जाड़े के दिन, न जाने कब दोपहर हो गया। एक जगह देखा, एक युवती एक वृक्ष के नीचे पति से सत्याग्रह किये बैठी थी। पति सामने खड़ा उसे मना रहा था। दो-चार राहगीर तमाशा देखने खड़े हो गये थे। गोबर भी खड़ा हो गया। मानलीला से रोचक और कौन जीवन-नाटक होगा!

युवती ने पति की ओर घूरकर कहा–मैं न जाऊँगी, न जाऊँगी।

पुरुष ने जैसे अल्टिमेटम दिया–न जायेगी?

"न जाऊँगी।"

'न जायेगी?"

"न जाऊँगी।"

पुरुष ने उसके केश पकड़कर घसीटना शुरू किया। युवती भूमि पर लोट गयी।

पुरुष ने हारकर कहा—मैं फिर कहता हूँ, उठकर चल।

स्त्री ने उसी दृढ़ता से कहा—मैं तेरे घर सात जनम न जाऊँगी, बोटी-बोटी काट डाल।

"मैं तेरा गला काट लूँगा।"

"तो फाँसी पाओगे।"

पुरुष ने उसके केश छोड़ दिये और सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। पुरुषत्व अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। उसके आगे अब उसका कोई बस नहीं है।

एक क्षण में वह फिर खड़ा हुआ और परास्त होकर बोला—आखिर तू क्या चाहती है ?

युवती भी उठ बैठी और निश्चल भाव से बोली—मैं यही चाहती हूँ, तू मुझे छोड़ दे।

"कुछ मुँह से कहेगी, क्या बात हुई ?"

"मेरे भाई-बाप को कोई गाली दे ?"

"किसने गाली दी, तेरे भाई-बाप को ?"

"जाकर अपने घर में पूछ !"

"चलेगी तभी तो पूछूँगा ?"

"तू क्या पूछेगा ? कुछ दम भी है। जाकर अम्माँ के आँचल में मुँह ढाँककर सो। वह तेरी माँ होगी। मेरी कोई नहीं है। तू उसकी गालियाँ सुन। मैं क्यों सुनूँ ? एक रोटी खाती हूँ, तो चार रोटी का काम करती हूँ। क्यों किसी की धौंस सहूँ ? मैं तेरा एक पीतल का छल्ला भी तो नहीं जानती !"

राहगीरों को इस कलह में अभिनय का आनन्द आ रहा था; मगर उसके जल्द समाप्त होने की कोई आशा न थी। मंजिल खोटी होती थी। एक-एक करके लोग खिसकने लगे। गोबर को पुरुष की निर्दयता बुरी लग रही थी। भीड़ के सामने तो कुछ न कह सकता था। मैदान खाली हुआ तो बोला—भाई, मर्द और औरत के बीच में बोलना तो न चाहिए, मगर इतनी बेदरदी भी अच्छी नहीं होती।

पुरुष ने कौड़ी की-सी आँखें निकालकर कहा—तुम कौन हो ?

गोबर ने निःशंक भाव से कहा—मैं कोई हूँ; लेकिन अनुचित बात देखकर सभी को बुरा लगता है।

पुरुष ने सिर हिलाकर कहा—मालूम होता है, अभी मेहरिया नहीं आयी, तभी इतना दर्द है !

"मेहरिया आयेगी, तो भी उसके झोंटे पकड़कर न खींचूँगा।"

"अच्छा, तो अपनी राह लो। मेरी औरत है, मैं उसे मारूँगा, काटूँगा। तुम कौन होते हो बोलनेवाले ! चले जाओ सीधे से, यहाँ मत खड़े हो।"

गोबर का गर्म खून और गर्म हो गया। वह क्यों चला जाये ? सड़क सरकार

की है। किसी के बाप की नहीं है। वह जब तक चाहे, वहाँ खड़ा रह सकता है। वहाँ से उसे हटाने का किसी को अधिकार नहीं है।

पुरुष ने ओंठ चबाकर कहा–तो तुम न जाओगे ? आऊँ ?

गोबर ने अँगोछा कमर में बाँध लिया और समर के लिए तैयार होकर बोला–तुम आओ या न आओ। मैं तो तभी जाऊँगा, जब मेरी इच्छा होगी।

"तो मालूम होता है, हाथ-पैर तुड़ा के जाओगे ?"

"यह कौन जानता है, किसके हाथ-पाँव टूटेंगे।"

"तो तुम न जाओगे ?"

"ना।"

पुरुष मुट्ठी बाँधकर गोबर की ओर झपटा। उसी क्षण युवती ने उसकी धोती पकड़ ली और उसे अपनी ओर खींचती हुई गोबर से बोली–तुम क्यों लड़ाई करने पर उतारू हो रहे हो जी, अपनी राह क्यों नहीं जाते ? यहाँ कोई तमाशा है ? हमारा आपस का झगड़ा है। कभी वह मुझे मारता है, कभी मैं उसे डाँटती हूँ। तुमसे मतलब ?

गोबर यह धिक्कार पाकर चलता बना दिल में कहा–यह औरत मार खाने ही लायक है।

गोबर आगे निकल गया, तो युवती ने पति को डॉटा–तुम सबसे लडने क्यो लगते हो ? उसने कौन-सी बुरी बात कही थी कि तुम्हें चोट लग गयी। बुरा काम करोगे, तो दुनिया बुरा कहेगी ही; मगर है किसी भले घर का और अपनी बिरादरी का ही जान पडता है। क्यों उसे अपनी बहन के लिए नही ठीक कर लेते ?

पति ने सन्देह के स्वर में कहा–क्या अब तक क्वाँरा बैठा होगा ?

"तो पूछ ही क्यों न लो ?"

पुरुष ने दस कदम दौड़कर गोबर को आवाज़ दी और हाथ से ठहर जाने का इशारा किया। गोबर ने समझा, शायद फिर इसके सिर भूत सवार हुआ, तभी ललकार रहा है। मार खाए बिना न मानेगा। अपने गॉव में कुत्ता भी शेर हो जाता है, लेकिन आने दो।

लेकिन उसके मुख पर समर की ललकार न थी, मैत्री का निमन्त्रण था। उसने गाँव और नाम और जात पूछी। गोबर ने ठीक-ठीक बता दिया। उस पुरुष का नाम कोदई था।

कोदई ने मुस्कराकर कहा–हम दोनों में लड़ाई होते-होते बची। तुम चले आये, तो मैंने सोचा, तुमने ठीक ही कहा। मैं नाहक तुमसे तन बैठा। कुछ खेती-बारी घर में होती है न ?

गोबर ने बताया, उसके मौरूसी पाँच बीघे खेत हैं और एक हल की खेती होती है।

"मैंने तुम्हें जो भला-बुरा कहा है, उसकी माफी दे दो भाई ! क्रोध में आदमी

अन्धा हो जाता है। औरत गुन-सहूर में लच्छिमी है, मुदा कभी-कभी न जाने कौन-सा भूत इस पर सवार हो जाता है। अब तुम्हीं बताओ, माता पर मेरा क्या बस है ? जन्म तो उन्होंने दिया है, पाला-पोसा तो उन्होंने है। जब कोई बात होगी, तो मैं जो कुछ कहूँगा, लुगाई ही से कहूँगा। उस पर अपना बस है। तुम्हीं सोचो, मैं कुपद तो नहीं कह रहा हूँ ? हाँ, मुझे उसका बाल पकड़कर घसीटना न था; लेकिन औरत जात बिना कुछ ताड़ना दिये काबू में भी तो नहीं रहती। चाहती है, माँ से अलग हो जाऊँ। तुम्हीं सोचो, कैसे अलग हो जाऊँ और किससे अलग हो जाऊँ ! अपनी माँ से ? जिसने जनम दिया ? यह मुझसे न होगा। औरत रहे या जाये।"

गोबर को भी अपनी राय बदलनी पड़ी। बोला—माता का आदर करना तो सबका धरम ही है भाई। माता से कौन उरिन हो सकता है ?

कोदई ने उसे अपने घर चलने का नेवता दिया। आज वह किसी तरह लखनऊ नहीं पहुँच सकता। कोस-दो कोस जाते-जाते साँझ हो जायेगी रात को कहीं टिकना ही पड़ेगा।

गोबर ने विनोद किया—लुगाई मान गयी ?

"न मानेगी तो क्या करेगी।"

"मुझे तो उसने ऐसी फटकार बतायी कि मैं लजा गया।"

"वह खुद पछता रही है। चलो, जरा माताजी को समझा देना। मुझसे तो कुछ कहते नहीं बनता। उन्हें भी सोचना चाहिए कि बहू को बाप-भाई की गाली क्यों देती है। हमारी ही बहन है। चार दिन में उसकी सगाई हो जायेगी। उसकी सास हमें गालियाँ देगी, तो उससे सुना न जायेगा। सब दोस लुगाई ही का नहीं है। माता का भी दोस है। जब हर बात में वह अपनी बेटी का पच्छ करेंगी, तो हमें बुरा लगेगा ही। इसमें इतनी बात अच्छी है कि घर से रूठकर चली जाये; पर गाली का जवाब गाली से नहीं देती।"

गोबर को रात के लिए कोई ठिकाना चाहिए था ही। कोदई के साथ हो लिया। दोनों फिर उसी जगह आये, जहाँ युवती बैठी हुई थी। वह अब गृहिणी बन गयी थी। जरा-सा घूँघट निकाल लिया था और लजाने लगी थी।

कोदई ने मुस्कराकर कहा—यह तो आते ही न थे। कहते थे, ऐसी डाँट सुनने के बाद उनके घर कैसे जायें ?

युवती ने घूँघट की आड़ से गोबर को देखकर कहा—इतनी ही डाँट में डर गये ? लुगाई आ जायेगी, तब कहाँ भागोगे ?

गाँव समीप ही था। गाँव क्या था, पुरवा था, दस-बारह घरों का जिसमें आधे खपरैल के थे, आधे फूस के। कोदई ने अपने घर पहुँचकर खाट निकाली, उस पर एक दरी डाल दी, शर्बत बनाने को कहता, चिलम भर लाया। और एक क्षण में वही युवती लोटे में शर्बत लेकर आयी और गोबर को पानी का एक छींटा मारकर मानो क्षमा माँग ली। वह अब उसका ननदोई हो रहा था। फिर क्यों न अभी से छेड़-छाड़ शुरू कर दे !

तेरह

गोबर अँधेरे ही मुँह उठा और कोदई से विदा माँगी। सबको मालूम हो गया था कि उसका ब्याह हो चुका है, इसलिए उससे कोई विवाह-सम्बन्धी चर्चा नहीं की। उसके शील-स्वभाव ने सारे घर को मुग्ध कर लिया था। कोदई की माता को तो उसने ऐसे मीठे शब्दों में और उसके मातृपद की रक्षा करते हुए, ऐसा उपदेश दिया कि उसने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया था।

"तुम बड़ी हो माताजी, पूज्य हो। पुत्र माता के रिन से सौ जन्म लेकर भी उरिन नहीं हो सकता, लाख जन्म लेकर भी उरिन नहीं हो सकता। करोड़ जन्म लेकर भी नहीं..."

बुढ़िया इस संख्यातीत श्रद्धा पर गद्गद हो गयी। इसके बाद गोबर ने जो कुछ कहा, उसमें बुढ़िया को अपना मंगल ही दिखाई दिया। वैद्य एक बार रोगी को चंगा कर दे, फिर रोगी उसके हाथों विष भी खुशी से पी लेगा–अब जैसे आज ही बहू घर से रूठकर चली गयी, तो किसकी हेठी हुई। बहू को कौन जानता है ? किसकी लड़की है, किसकी नातिन है, कौन जानता है ! सम्भव है, उसका बाप घसियारा ही रहा हो···।

बुढ़िया ने निश्चयात्मक भाव से कहा–घसियारा तो है ही बेटा, पक्का घसियारा। सबेरे उसका मुँह देख लो, तो दिन-भर पानी न मिले।

गोबर बोला–तो ऐसे आदमी की क्या हँसी हो सकती है ! हँसी हुई तुम्हारी और तुम्हारे आदमी की। जिसने पूछा, यही पूछा कि किसकी बहू है ? फिर वह अभी लड़की है, अबोध, अल्हड़। नीच माता-पिता की लड़की है, अच्छी कहाँ से बन जाय ! तुमको तो बूढ़े तोते को रांम-नाम पढ़ाना पड़ेगा। मारने से तो वह पढ़ेगा नहीं, उसे तो सहजं स्नेह ही से पढ़ाया जा सकता है। ताड़ना भी दो; लेकिन उसके मुँह मत लगो। उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, तुम्हारा अपमान होता है।

जब गोबर चलने लगा, तो बुढ़िया ने खाँड़ और सत्तू मिलाकर उसे खाने को दिया। गाँव के और कई आदमी मजूरी की टोह में शहर जा रहे थे। बातचीत में रास्ता कट गया और नौ बजते-बजते सब लोग अमीनाबाद के बाजार में जा पहुँचे। गोबर हैरान था, इतने आदमी नगर में कहाँ से आ गये। आदमी पर आदमी गिरा पड़ता था।

उस दिन बाज़ार में चार-पाँच सौ मजदूरों से कम न थे। राज और बढ़ई और लोहार और बेलदार और खाट बुननेवाले और टोकरी ढोनेवाले और संगतराश सभी जमा है। और उसके हाथ तो कोई औजार भी नहीं है। कोई क्या जानेगा कि वह क्या काम कर सकता है। कोई उसे क्यों रखने लगा ? बिना औज़ार के उसे कौन पूछेगा ?

धीरे-धीरे एक-एक करके मजूरों को काम मिलता जा रहा था ! कुछ लोग निराश होकर घर लौटे जा रहे थे। अधिकतर वह बूढ़े और निकम्मे बच रहे थे, जिनका

कोई पुछत्तर न था। और उन्हीं में गोबर भी था। लेकिन अभी आज उसके पास खाने को है। कोई ग़म नहीं।

सहसा मिर्ज़ा खुर्शेद ने मजदूरों के बीच में आकर ऊँची आवाज़ से कहा–जिसको छः आने रोज पर काम करना हो, वह मेरे साथ आये। सबको छः आने मिलेंगे। पाँच बजे छुट्टी मिलेगी।

दस-पाँच राजों और बढ़इयों को छोड़कर सबके सब उनके साथ चलने को तैयार हो गये। चार सौ फटे-हालों की एक विशाल सेना सज गयी। आगे मिर्ज़ा थे, कन्धे पर मोटा सोटा रखे हुए। पीछे भुखमरों की लम्बी क़तार थी, जैसे भेड़ें हों।

एक बूढ़े ने मिर्ज़ा से पूछा–कौन काम करना है मालिक ?

मिर्जा ने जो काम बतलाया, उस पर सब और भी चकित हो गये। केवल एक कबड्डी खेलना ! यह कैसा आदमी है, जो कबड्डी के छः आना रोज दे रहा है। सनकी तो नहीं है कोई ! बहुत धन पाकर आदमी सनक ही जाता है। बहुत पढ़ लेने से भी आदमी पागल हो जाते हैं। कुछ लोगों को सन्देह होने लगा, कहीं यह कोई मखौल तो नहीं है ! यहाँ से घर पर ले जाकर कह दे, कोई काम नहीं है, तो कौन इसका क्या कर लेगा ! वह चाहे कबड्डी खेलाये, चाहे आँखमिचौनी, चाहे गुल्ली-डंडा, मजूरी पेशगी दे दे। ऐसे झक्कड़ आदमी का क्या भरोसा ?

गोबर ने डरते-डरते कहा–मालिक, हमारे पास कुछ खाने को नहीं हैं। पैसे मिल जायें तो कुछ लेकर खा लूँ।

मिर्ज़ा ने झट छः आने पैसे उसके हाथ में रख दिये और ललकारकर बोले–मजूरी सबको चलते-चलते पेशगी दे दी जायेगी। इसकी चिन्ता मत करो।

मिर्ज़ा साहब ने शहर के बाहर थोड़ी-सी जमीन ले रखी थी। मजूरों ने जाकर देखा, तो एक बड़ा अहाता घिरा हुआ था और उसके अन्दर केवल एक छोटी-सी फूस की झोंपड़ी थी, जिसमें तीन-चार कुर्सियाँ थीं, एक मेज़। थोड़ी-सी किताबें मेज़ पर रखी हुई थीं। झोंपड़ी बेलों और लताओं से ढकी हुई बहुत सुन्दर लगती थी। अहाते में एक तरफ़ आम और नीबू और अमरूद के पौधे लगे हुए थे, दूसरी तरफ़ कुछ फूल। बड़ा हिस्सा परती था। मिर्ज़ा ने सबको कतार में खड़ा करके ही मजूरी बाँट दी। अब किसी को उनके पागलपन में सन्देह न रहा।

गोबर पैसे पहले ही पा चुका था, मिर्ज़ा ने उसे बुलाकर पौधे सींचने का काम सौंपा। उसे कबड्डी खेलने को न मिलेगी। मन में ऐंठकर रह गया। इन बुड्ढ़ों को उठा-उठाकर पटकता; लेकिन कोई परवाह नहीं। बहुत कबड्डी खेल चुका है। पैसे तो पूरे मिल गये।

आज युगों के बाद इन जरा-ग्रस्तों को कबड्डी खेलने का सौभाग्य मिला। अधिकतर तो ऐसे थे, जिन्हें याद भी न आता था कि कभी कबड्डी खेली है या नहीं। दिनभर शहर में पिसते थे। पहर रात गये घर पहुँचते थे और जो कुछ रूखा मिल

जाता था, खाकर पड़े रहते थे। प्रातःकाल फिर वही चरखा शुरू हो जाता था। जीवन नीरस, निरानन्द, केवल एक ढर्रा मात्र हो गया था। अब जो यह अवसर मिला, तो बूढ़े भी जवान हो गये। अधमरे बूढ़े, ठठरियाँ लिये, मुँह में दाँत न पेट में आँत, जाँघ के ऊपर धोतियाँ या तहमद चढ़ाए ताल ठोक-ठोककर उछल रहे थे, मानों उन बूढ़ी हड्डियों में जवानी धँस पड़ी हो। चटपट पाली बन गयी, दो नायक बन गये। गोइयों का चुनाव होने लगा और बारह बजते खेल शुरू हो गया। जाड़ों की ठण्डी धूप ऐसी क्रीड़ाओं के लिए आदर्श ऋतु है।

इधर अहाते के फाटक पर मिर्ज़ा साहब तमाशाइयों को टिकट बाँट रहे थे। उन पर इस तरह कोई-न-कोई सनक हमेशा सवार रहती थी। अमीरों से पैसा लेकर ग़रीबों को बाँट देना। इस बूढ़ी कबड्डी का विज्ञापन कई दिन से हो रहा था। बड़े-बड़े पोस्टर चिपकाए गये थे, नोटिस बाँटे गये थे। यह खेल अपने ढंग का निराला होगा, बिल्कुल अभूतपूर्व। भारत के बूढ़े आज भी कैसे पोढ़े हैं, जिन्हें यह देखना हो, आयें और अपनी आँखें तृप्त कर लें। जिसने यह तमाशा न देखा, वह पछतायेगा। ऐसा सुअवसर फिर न मिलेगा। टिकट दस रुपये से लेकर दो आने तक के थे। तीन बजते-बजते सारा अहाता भर गया। मोटरों और फिटनों का ताँता लगा हुआ था। दो हज़ार से कम भीड़ न थी। रईसों के लिए कुर्सियों और बेंचों का इन्तजाम था। साधारण जनता के लिए साफ़-सुथरी जमीन।

मिस मालती मेहता, खन्ना, तंखा और रायसाहब सभी विराजमान थे।

खेल शुरू हुआ तो मिर्ज़ा ने मेहता से कहा—आइए डाक्टर साहब, एक गोई हमारी और आपकी हो जाय।

मिस मालती बोली—फ़िलासफ़र का जोड़ फ़िलासफ़र ही से हो सकता है।

मिर्ज़ा ने मूँछों पर ताव देकर कहा—तो क्या आप समझती हैं, मैं फ़िलासफ़र नहीं हूँ मेरे पास पुछल्ला ही है; लेकिन हूँ मैं फिलासफर; आप मेरा इम्तहान ले सकते हैं मेहताजी !

मालती ने पूछा—अच्छा बतलाइए, आप आइडियलिस्ट हैं या मेटीरियलिस्ट ?

"मैं दोनों हूँ।"

"यह क्योंकर ?"

"बहुत अच्छी तरह। जब जैसा मौका देखा, वैसा बन गया।"

"तो आपका अपना कोई निश्चय नहीं है ?"

"जिस बात का आज तक कभी निश्चय न हुआ, और न कभी होगा, उसका निश्चय मैं भला क्या कर सकता हूँ, और लोग आँखें फोड़कर और किताबें चाटकर जिस नतीजे पर पहुँचते हैं, वहाँ मैं यों ही पहुँच गया। आप बता सकती हैं, किसी फिलासफ़र ने अक्लीगद्दे लड़ाने के सिवाय और कुछ किया है ?"

डाक्टर मेहता ने अचकन के बटन खोलते हुए कहा—तो चलिए हमारी और

आपकी हो ही जाय। और कोई माने या न माने, मैं आपको फ़िलासफ़र मानता हूँ।

मिर्ज़ा ने खन्ना से पूछा—आपके लिए भी कोई जोड़ ठीक करूँ ?

मालती ने पुचारा दिया—हाँ, हाँ, इन्हें ज़रूर ले जाइए मिस्टर तंखा के साथ।

खन्ना झेंपते हुए बोले—जी नहीं, मुझे क्षमा कीजिए।

मिर्ज़ा ने रायसाहब से पूछा—आपके लिए कोई जोड़ लाऊँ ?

रायसाहब बोले—मेरा जोड़ तो ओंकारनाथ का है, मगर वह आज नज़र ही नहीं आते।

मिर्ज़ा और मेहता भी नंगी देह, केवल जाँघिये पहने हुए मैदान में पहुँच गये। एक इधर, दूसरा उधर। खेल शुरू हो गया।

जनता बूढ़े कुलेलों पर हँसती थी तालियाँ बजाती थी, गालियाँ देती थी, ललकारती थी, बाजियाँ लगाती थी। वाह ! ज़रा इन बूढ़े बाबा को देखो ! किस शान से जा रहे हैं, जैसे सबको मारकर ही लौटेंगे । अच्छा, दूसरी तरफ़ से भी उन्हीं के बड़े भाई निकले। दोनों कैसे पैंतरे बदल रहे हैं ! इन हड्डियों में अभी बहुत जान है। इन लोगों ने जितना घी खाया है, उतना अब हमें पानी भी मयस्सर नहीं। लोग कहते हैं, भारत धनी हो रहा है। होता होगा। हम तो यही देखते हैं कि इन बुड्ढों-जैसे जीवट के जवान भी आज मुश्किल से निकलेंगे। वह उधरवाले बुड्ढे ने इसे दबोच लिया। बेचारा छूट निकलने के लिए कितना ज़ोर मार रहा है; मगर अब नहीं जा सकते बच्चा ! एक को तीन लिपट गये। इस तरह लोग अपनी दिलचस्पी जाहिर कर रहे थे; उनका सारा ध्यान मैदान की ओर था। खिलाड़ियों के आघात-प्रतिघात, उछल-कूद, धर-पकड़ और उनके मरने-जीने में तन्मय हो रहे थे। कभी चारों तरफ़ से क़हक़हे पड़ते, कभी कोई अन्याय या धाँधली देखकर लोग 'छोड़ दो, छोड़ दो' का गुल मचाते। कुछ लोग तैश में आकर पाली की तरफ़ दौड़ते, लेकिन जो थोड़े-से सज्जन शामियाने में ऊँचे दरज़े के टिकट लेकर बैठे थे, उन्हें इस खेल में विशेष आनन्द न मिल रहा था। वे इससे अधिक महत्त्व की बातें कर रहे थे।

खन्ना ने जिंजर का ग्लास ख़ाली करके सिगार सुलगाया और रायसाहब से बोले—मैंने आपसे कह दिया, बैंक इससे सूद पर किसी तरह राज़ी न होगा और यह रिआयत भी मैंने आपके साथ की है; क्योंकि आपके साथ घर का मुआमला है।

रायसाहब ने मूँछों में मुस्कराहट को लपेटकर कहा—आपकी नीति में घरवालों को ही उल्टे छुरे से हलाल करना चाहिए ?

"यह आप क्या फ़रमा रहे हैं ?"

"ठीक कह रहा हूँ। सूर्यप्रताप सिंह से आपने केवल सात फ़ीसदी लिया है, मुझसे नौ फ़ीसदी माँग रहे हैं और उस पर अहसान भी रखते हैं। क्यों न हो !"

खन्ना ने क़हक़हा मारा, मानो यह कथन हँसने के ही योग्य था।

"उन शर्तों पर मैं आपसे भी वही सूद ले लूँगा। हमने उनकी जायदाद रेहन रख ली है और शायद यह जायदाद फिर उनके हाथ न जायेगी।"

"मैं अपनी कोई जायदाद निकाल दूँगा। नौ परसेंट देने से यह कहीं अच्छा है कि फ़ालतू जायदाद अलग कर दूँ। मेरी जैकसन रोडवाली कोठी आप निकलवा दें। कमीशन ले लीजिएगा।"

"उस कोठी का सुभीते से निकलना ज़रा मुश्किल है। आप जानते हैं, वह जगह बस्ती से कितनी दूर है; मगर ख़ैर, देखूँगा। आप उसकी कीमत का क्या अन्दाजा करते हैं ?"

रायसाहब ने एक लाख पचीस हज़ार बताये। पन्द्रह बीघे जमीन भी तो है उसके साथ। खन्ना स्तम्भित हो गये। बोले—आप आज के पन्द्रह साल पहले का स्वप्न देख रहे हैं रायसाहब ! आपको मालूम होना चाहिए कि इधर जायदादों के मूल्य में पचास परसेंट की कमी हो गयी है।

रायसाहब ने बुरा मानकर कहा—जी नहीं, पन्द्रह साल पहले उसकी कीमत डेढ़ लाख थी।

"मैं खरीदार की तलाश में रहूँगा ; मगर मेरा कमीशन पाँच प्रतिशत होगा आपसे।"

"औरों से शायद दस प्रतिशत हो क्यों; क्या करोगे इतने रुपये लेकर ?"

"आप जो चाहें दे दीजिएगा। अब तो राज़ी हुए। शुगर के हिस्से अभी तक आपने न ख़रीदे ? अब बहुत थोड़े-से हिस्से बच रहे हैं। हाथ मलते रह जाइएगा। इंश्योरेंस की पालिसी भी आपने न ली। आपमें टाल-मटोल की बुरी आदत है। जब अपने लाभ की बातों का इतना टाल-मटोल है, तब दूसरों को आप लोगों से क्या लाभ हो सकता है ! इसी से कहते हैं, रियासत आदमी की अक्ल चर जाती है। मेरा बस चले तो मैं ताल्लुकेदारी की रियासतें जब्त कर लूँ।"

मिस्टर तंखा मालती पर जाल फेंक रहे थे। मालती ने साफ कह दिया था कि वह एलेक्शन के झमेले में नहीं पड़ना चाहती ; पर तंखा इतनी आसानी से हार मानने वाले व्यक्ति न थे। आकर कुहनियों के बल मेज़ पर टिककर बोले—आप ज़रा उस मुआमले पर फिर विचार करें। मैं कहता हूँ, ऐसा मौक़ा शायद आपको फिर न मिले। रानी साहब चन्दा को आपके मुकाबले में रुपये में एक आना भी चान्स नहीं है। मेरी इच्छा केवल यह है कि कौंसिल में ऐसे लोग जायें, जिन्होंने जीवन में कुछ अनुभव प्राप्त किया है और जनता की कुछ सेवा की है। जिस महिला ने भोग-विलास के सिवा कुछ जाना ही नहीं, जिसने जनता को हमेशा अपनी कार का पेट्रोल समझा, जिसकी सबसे मूल्यवान सेवा वे पार्टियाँ हैं, जो वह गवर्नरों और सेक्रेटरियों को दिया करती है, उनके लिए इस कौंसिल में स्थान नहीं है। नयी कौंसिल में बहुत कुछ अधिकार प्रतिनिधियों के हाथ में होगा और मैं नहीं चाहता कि वह अधिकार अनधिकारियों के हाथ में जाय।

मालती ने पीछा छुड़ाने के लिए कहा—लेकिन साहब, मेरे पास दस-बीस हज़ार एलेक्शन पर ख़र्च करने के लिए कहाँ हैं ? रानी साहब तो दो-चार लाख ख़र्च कर

सकती हैं। मुझे भी साल में हज़ार-पाँच सौ रुपये उनसे मिल जाते हैं, यह रकम भी हाथ से निकल जायेगी।

"पहले आप यह बता दें कि आप जाना चाहती हैं या नहीं ?"

"जाना तो चाहती हूँ, मगर फ्री पास मिल जाय !"

"तो यह मेरा जिम्मा रहा। आपको फ्री पास मिल जायगा।"

"जी नहीं, क्षमा कीजिए। मैं हार की ज़िल्लत नहीं उठाना चाहती। जब रानी साहब रुपये की थैलियाँ खोल देंगी और एक-एक वोट पर एक-एक अशर्फी चढ़ने लगेगी, तो शायद आप भी उधर वोट देंगे।"

"आपके ख़्याल में एलेक्शन महज़ रुपये से जीता जा सकता है ?"

"जी नहीं, व्यक्ति भी एक चीज़ है। लेकिन मैने केवल एक बार जेल जाने के सिवां और क्या जन-सेवा की है ? और सच पूछिए तो उस बार भी मैं अपने मतलब ही से गयी थी, उसी तरह जैसे रायसाहब और खन्ना गये थे। इस नयी सभ्यता का आधार धन है। विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेच है। कभी-कभी इतिहास में ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब धन को आन्दोलन के सामने नीचा देखना पड़ता है; मगर इसे अपवाद समझिए। मैं अपनी ही बात कहती हूँ। कोई गरीब औरत दवाखाने में आ जाती है, तो घण्टों उससे बोलती तक नहीं। पर कोई महिला कार पर आ गयी, तो द्वार तक जाकर उसका स्वागत करती हूँ और उसकी ऐसी उपासना करती हूँ, मानो साक्षात् देवी है। मेरा और रानी साहब का कोई मुकाबला नहीं। जिस तरह के कौंसिल बन रहे हैं, उनके लिए रानी साहब ही ज्यादा उपयुक्त हैं।"

उधर मैदान में मेहता की टीम कमज़ोर पड़ती जाती थी। आधे से ज़्यादा खिलाड़ी मर चुके थे। मेहता ने अपने जीवन में कभी कबड्डी न खेली थी। मिर्ज़ा इस फन के उस्ताद थे। मेहता की तातीलें अभिनय के अभ्यास में कटती थीं। रूप भरने में वह अच्छे-अच्छे को चकित कर देते थे। और मिर्ज़ा के लिए सारी दिलचस्पी अखाड़े में थी, पहलवानों के भी परियों के भी।

मालती का ध्यान उधर भी लगा हुआ था। उठकर रायसाहब से बोली–मेहता की पार्टी तो बुरी तरह पिट रही है।

रायसाहब और खन्ना में इंश्योरेंन्स की बातें हो रही थीं। रायसाहब उस प्रसंग से ऊबे हुए मालूम होते थे। मालती ने मानों उन्हें एक बन्धन से मुक्त कर दिया। उठकर, बोले–जी हाँ, पिट तो रही है। मिर्ज़ा पक्का खिलाड़ी है।

"मेहता को यह क्या सनक सूझी ! व्यर्थ अपनी भद्द करा रहे हैं।"

"इससे काहे की भद्द ? दिल्लगी ही तो है।"

मेहता की तरफ़ से जो बाहर निकलता है, वही मर जाता है।'

एक क्षण के बाद उसने पूछा–क्या इस खेल में हाफ टाइम नहीं होता ?

खन्ना को शरारत सूझी। बोले–आप चले थे मिर्ज़ा से मुकाबला करने। समझते

थे, यह भी फ़िलॉसाफ़ी है।

"मैं पूछती हूँ, इस खेल में हाफ़ टाइम नहीं होता ?"

खन्ना ने फिर चिढ़ाया—अब खेल ही खतम हुआ जाता है। मज़ा आयेगा तब, जब मिर्ज़ा मेहता को दबोचकर रगड़ेंगे और मेहता साहब 'ची' बोलेंगे।

"मैं तुमसे नहीं पूछती। रायसाहब से पूछती हूँ।"

रायसाहब बोले—इस खेल में हाफ़ टाइम ! एक ही एक आदमी तो सामने आता है।'

"अच्छा, मेहता का एक आदमी और मर गया।"

खन्ना बोले—आप देखती रहिए ! इस तरह सब मर जायेंगे और आख़िर में मेहता साहब भी मरेंगे।

मालती जल गयी—आपकी हिम्मत न पड़ी बाहर निकलने की।

"मैं गँवारों के खेल में नहीं खेलता। मेरे लिए टेनिस है।"

"टेनिस में भी मैं तुम्हें सैकड़ों गेम दे चुकी हूँ।"

"आपसे जीतने का दावा ही कब है ?"

"अगर दावा हो, तो मैं तैयार हूँ।"

मालती उन्हें फटकार बताकर फिर अपनी जगह पर आ बैठी। किसी को मेहता से हमदर्दी नहीं है। कोई यह नहीं कहता कि अब खेल खत्म कर दिया जाये। मेहता भी अजीब बुद्धू आदमी हैं, कुछ धाँधली क्यों नहीं कर बैठते। यहाँ अपनी न्याय-प्रियता दिखा रहे हैं। अभी हारकर लौटेंगे तो चारों तरफ़ से तालियाँ पड़ेंगी। अब शायद बीस आदमी उनकी तरफ़ और होंगे और लोग कितने ख़ुश हो रहे हैं।

ज्यों-ज्यों अन्त समीप आता जाता था, लोग अधीर होते जाते थे और पाली की तरफ़ बढ़ते जाते थे। रस्सी का जो एक कठघरा-सा बनाया गया था, वह तोड़ दिया गया। स्वयं-सेवक रोकने की चेष्टा कर रहे थे; पर उस उत्सुकता के उन्माद में उनकी एक न चलती थी। यहाँ तक कि ज्वार अन्तिम बिन्दु तक आ पहुँचा और मेहता अकेले बच गये और अब उन्हें गूँगे का पार्ट खेलना पड़ेगा। अब सारा दारमदार उन्हीं पर है; अगर वह बचकर अपनी पाली लौट आते हैं, तो उनका पक्ष बचता है। नहीं, हार का सारा अपमान और लज्जा लिये हुए उन्हें लौटना पड़ता है, वह दूसरे पक्ष के जितने आदमियों को छूकर अपनी पाली में आयेंगे, वह सब मर जायेंगे और उतने ही आदमी उनकी तरफ़ जी उठेंगे। सबकी आँखें मेहता की ओर लगी हुई थीं। वह मेहता चले। जनता ने चारों ओर से आकर पाली को घेर लिया। तन्मयता अपनी पराकाष्ठा पर थी। मेहता कितने शान्त भाव से शत्रुओं की ओर जा रहे हैं। उनकी प्रत्येक गति जनता पर प्रतिबिम्बित हो जाती है, किसी की गर्दन टेढ़ी हुई जाती है, कोई आगे को झुक पड़ता है। वातावरण गर्म हो गया, पारा ज्वाला-बिन्दु पर आ पहुँचा है। मेहता शत्रु-दल में घुसे। दल पीछे हटता जाता है। उनका संगठन इतना दृढ़ है कि मेहता की पकड़ या स्पर्श में कोई नहीं आ रहा है। बहुतों को आशा थी कि मेहता कम-से-कम अपने पक्ष के दस-पाँच आदमियों को तो जिला ही लेंगे,

वे निराश होते जा रहे हैं।

सहसा मिर्ज़ा एक छलाँग मारते हैं और मेहता की कमर पकड़ लेते हैं। मेहता अपने को छुड़ाने के लिए जोर मार रहे हैं। मिर्ज़ा को पाली की तरफ़ खींचे लिये आ रहे हैं लोग उन्मत्त हो जाते हैं। अब इसका पता चलना मुश्किल है कि कौन खिलाड़ी है, कौन तमाशाई। सब एक गड़मड़ हो गये हैं। मिर्ज़ा और मेहता में मल्लयुद्ध हो रहा है। मिर्ज़ा के कई बुड्ढे मेहता की तरफ़ लपके और उनसे लिपट गये। मेहता ज़मीन पर चुपचाप पड़े हुए हैं; अगर वह किसी तरह खींच-खांचकर दो हाथ और ले जायें, तो उनके पचासों आदमी जी उठते हैं, मगर वह एक इंच भी नहीं खिसक सकते। मिर्ज़ा उनकी गर्दन पर बैठे हुए हैं। मेहता का मुख लाल हो रहा है। आँखें बीर-बहूटी बनी हुई हैं। पसीना टपक रहा है, और मिर्ज़ा अपने स्थूल शरीर का भार लिये उनकी पीठ पर हुमच रहे हैं।

मालती ने समीप जाकर उत्तेजित स्वर में कहा—मिर्ज़ा खुर्शेद, यह फ़ेयर नहीं है। बाजी ड्रान रही।

खुर्शेद ने मेहता की गर्दन पर एक धस्सा लगाकर कहा—जब तक यह 'चीं' न बोलेंगे, मैं हरगिज न छोड़ूँगा। क्यों नहीं 'चीं' बोलते ?

मालती और आगे बढ़ी—'चीं' बुलाने के लिए आप इतनी ज़बरदस्ती नहीं कर सकते।

मिर्ज़ा ने मेहता की पीठ पर हुमचकर कहा—बेशक कर सकता हूँ। आप इनसे कह दें, 'चीं' बोलें, मैं अभी उठा जाता हूँ।

मेहता ने एक बार फिर उठने की चेष्टा की ; पर मिर्ज़ा ने उनकी गर्दन दबा दी।

मालती ने उनका हाथ पकड़कर घसीटने की कोशिश करके कहा—यह खेल नहीं, अदावत है।

"अदावत ही सही।"

"आप न छोड़ेंगे ?"

उसी वक्त जैसे कोई भूकम्प आ गया। मिर्ज़ा साहब जमीन पर पड़े हुए थे और मेहता दौड़े हुए पाली की ओर भागे जा रहे थे। और हजारों आदमी पागलों की तरह टोपियाँ और पगड़ियाँ और छड़ियाँ उछाल रहे थे। कैसे यह कायापलट हुई, कोई समझ न सका।

मिर्ज़ा ने मेहता को गोद में उठा लिया और लिये हुए शामियाने तक आये। प्रत्येक मुख पर यह शब्द थे—डाक्टर साहब ने बाज़ी मार ली। और प्रत्येक आदमी इस हारी हुई बाज़ी के एकबारगी पलट जाने पर विस्मित था। सभी मेहता के जीवट और धैर्य का बखान कर रहे थे।

मज़दूरों के लिए पहले से नारंगियाँ मँगा ली गयी थीं। उन्हें एक-एक नारंगी देकर विदा किया गया। शामियाने में मेहमानों के चाय-पानी का आयोजन था। मेहता और मिर्ज़ा एक ही मेज़ पर आमने-सामने बैठे। मालती मेहता के बगल में बैठी।

मेहता ने कहा—मुझे आज एक नया अनुभव हुआ। महिला की सहानुभूति हार को जीत बना सकती है।

मिर्ज़ा ने मालती की ओर देखा—अच्छा ! यह बात थी ! जभी तो मुझे हैरत हो रही थी कि आप एकाएक कैसे ऊपर आ गये।

मालती शर्म से लाल हुई जाती थी। बोली—आप बड़े बेमुरौवत आदमी हैं। मिर्ज़ाजी ! मुझे आज मालूम हुआ।

"कुसूर इनका था। यह क्यों 'चीं' नहीं बोलते थे ?"

"मैं तो 'चीं' न बोलता, चाहे आप मेरी जान ही ले लेते।"

कुछ देर मित्रों में गप-शप होती रही। फिर धन्यवाद के और मुबारकवाद के भाषण हुए और मेहमान लोग विदा हुए। मालती को भी एक विजिट करनी थी। वह भी चली गयी। केवल मेहता और मिर्ज़ा रह गये। उन्हें अभी स्नान करना था। मिट्टी में सने हुए थे। कपड़े कैसे पहनते ? गोबर पानी खींच लाया और दोनो दोस्त नहाने लगे।

मिर्ज़ा ने पूछा—शादी कब तक होगी ?

मेहता ने अचम्भे में आकर पूछा—किसकी ?

"आपकी।"

"मेरी शादी ! किसके साथ हो रही है ?"

"वाह ! आप तो ऐसा उड़ रहे हैं, गोया यह भी छिपाने की बात है।"

"नहीं-नहीं, मैं सच कहता हूँ, मुझे बिल्कुल ख़बर नहीं है। क्या मेरी शादी होने जा रही है ?"

"और आप क्या समझते हैं, मिस मालती आपकी कम्पेनियन बनकर रहेंगी ?"

मेहता गंभीर भाव से बोले—आपका ख़्याल बिल्कुल ग़लत है। मिर्ज़ाजी ! मिस मालती हसीन हैं, खुशमिज़ाज हैं, समझदार हैं, रोशन ख्याल हैं और भी उनमें कितनी ख़ूबियाँ हैं ! लेकिन मैं अपनी जीवन-संगिनी में जो बात देखना चाहता हूँ, वह उनमें नहीं है और न शायद हो सकती हैं। मेरे जेहन में औरत वफ़ा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेज़बानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है पर आत्मा स्त्री की होती है। आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता ? औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है ? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है। वह अपने को मिटाएगा, तो शून्य हो जायेगा। वह किसी खोह में जा बैठेगा और सर्वात्मा में मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेज प्रधान जीव है, और अहंकार में यह समझकर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है। स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शान्ति-सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं, तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष

आकर्षित होता है स्त्री की ओर, जो सर्वांश में स्त्री हो मालती ने अभी तक मुझे आकर्षित नहीं किया। मैं आपसे किन शब्दों में कहूँ कि स्त्री मेरी नज़रों में क्या है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ; मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि उसे मार ही डालूँ तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये; अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ, तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे। ऐसी स्त्री पाकर मैं उसके चरणों में गिर पड़ूँगा और उस पर अपने को अर्पण कर दूँगा।

मिर्ज़ा ने सिर हिलाकर कहा—ऐसी औरत आपको इस दुनिया में तो शायद ही मिले।

मेहता ने हाथ मारकर कहा—एक नहीं हज़ारों, वरना दुनिया वीरान हो जाती।

"ऐसी एक ही मिसाल दीजिए।"

"मिसेज़ खन्ना को ही ले लीजिए।"

"लेकिन खन्ना !"

"खन्ना अभागे हैं, जो हीरा पाकर काँच का टुकड़ा समझ रहे हैं। सोचिए, कितना त्याग है और उसके साथ ही कितना प्रेम है। खन्ना के रूपासक्त मन में शायद उसके लिए रत्ती-भर भी स्थान नहीं है; लेकिन आज खन्ना पर कोई आफ़त आ जाय, तो वह अपने को उन पर न्योछावर कर देगी। खन्ना आज अन्धे या कोढ़ी हो जायें, तो भी उसकी वफ़ादारी में फर्क न आयेगा। अभी खन्ना उसकी क़द्र नहीं कर सकते हैं, मगर आप देखेंगे, एक दिन यही खन्ना उसके चरण धो-धोकर पियेंगे। मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता, जिससे मैं आइस्टीन के सिद्धान्त पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।"

खुर्शेद ने दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए जैसे कोई भूली हुई बात याद करके कहा—आपका ख्याल बहुत ठीक है मिस्टर मेहता ! ऐसी औरत अगर कहीं मिल जाये, तो मैं भी शादी कर लूँ, लेकिन मुझे उम्मीद नहीं है कि मिले।

मेहता ने हँसकर कहा—आप भी तलाश में रहिए, मैं भी तलाश में हूँ। शायद तक़दीर जागे।

"मगर मिस मालती आपको छोड़नेवाली नहीं। कहिए लिख दूँ।"

ऐसी औरत से मैं केवल मनोरंजन कर सकता हूँ, ब्याह नहीं। ब्याह तो आत्मसमर्पण है।'

"अगर ब्याह आत्मसमर्पण है तो प्रेम क्या है ?"

"प्रेम जब आत्मसमर्पण का रूप लेता है, तभी ब्याह है; उसके पहले अय्याशी है।"

मेहता ने कपड़े पहने और विदा हो गये। शाम हो गयी थी। मिर्ज़ा ने जाकर देखा, तो गोबर अभी तक पेड़ों को सींच रहा था। मिर्ज़ा ने प्रसन्न होकर कहा—जाओ,

अब तुम्हारी छुट्टी है। कल फिर आओगे ?

गोबर ने कातर भाव से कहा—मैं कहीं नौकरी चाहता हूँ मालिक !

"नौकरी करना है, तो हम तुझे रख लेंगे।"

"कितना मिलेगा हुजूर ?"

"जितना तू माँगे।"

"मैं क्या माँगूँ। आप जो चाहे दे दें।"

"हम तुम्हें पन्द्रह रुपये देंगे और खूब कसकर काम लेंगे।"

गोबर मेहनत से नहीं डरता। उसे रुपये मिलें, तो वह आठों पहर काम करने को तैयार है। पन्द्रह रुपये मिलें, तो क्या पूछना। वह तो प्राण भी दे देगा।

बोला—मेरे लिए कोठरी मिल जाय, वहीं पड़ा रहूँगा।

"हाँ-हाँ, जगह का इन्तज़ाम मैं कर दूँगा। इसी झोंपड़ी में एक किनारे तुम भी पड़े रहना।"

गोबर को जैसे स्वर्ग मिल गया।

चौदह

होरी की फसल सारी की सारी डाँड़ की भेंट हो चुकी थी। वैशाख तो किसी तरह कटा, मगर जेठ लगते-लगते घर में अनाज का एक दाना न रहा। पाँच-पाँच पेट खानेवाले और घर में अनाज नदारद। दोनों जून न मिले, एक जून तो मिलना ही चाहिए। भर-पेट न मिले, आधा पेट तो मिले। निराहार कोई कै दिन रह सकता है ! उधार ले तो किससे ? गाँव के छोटे-बड़े महाजनों से तो मुँह चुराना पड़ता था। मजूरी भी करे, तो किसकी ? जेठ में अपना ही काम ढेरों था। ऊख की सिंचाई लगी हुई थी; लेकिन खाली पेट मेहनत भी कैसे हो !

साँझ हो गयी थी। छोटा बच्चा रो रहा था। माँ को भोजन न मिले, तो दूध कहाँ से निकले ? सोना परिस्थिति समझती थी, मगर रूपा क्या समझे ! बार-बार रोटी-रोटी चिल्ला रही थी। दिन-भर तो कच्ची अमिया से जी बहला; मगर अब तो कोई ठोस चीज़ चाहिए। होरी दुलारी सहुआइन से अनाज उधार माँगने गया था; पर वह दुकान बन्द करके पैठ चली गयी थी। मँगरू साह ने केवल इनकार ही न किया, लताड़ भी दी—उधार माँगने चले हैं, तीन साल से धेला भी नहीं दिया, उस पर उधार दिये जाओ। अब आकबत में देंगे। खोटी नीयत हो जाती है, तो यही हाल होता है। भगवान से भी यह अनीति नहीं देखी जाती। कारकुन की डाँट पड़ी, तो कैसे चुपके से रुपये उगल दिये। मेरे रुपये, रुपये ही नहीं हैं। और मेहरिया है कि उसका मिजाज ही नहीं मिलता।

वहाँ से रुआँसा होकर उदास बैठा था कि पुन्नी आग लेने आयी। रसोई के द्वार पर जाकर देखा तो अँधेरा पड़ा हुआ था। बोली—आज रोटी नहीं बना रही हो क्या भाभीजी ? अब तो बेला हो गयी।

जब गोबर भागा था, पुन्नी और धनिया में बोलचाल हो गयी थी। होरी का एहसान भी मानने लगी थी। हीरा को अब वह गालियाँ देती थी—हत्यारा, गऊ-हत्या करके भागा। मुँह में कालिख लगी है, घर कैसे आये ? और आये भी तो घर के अंदर पाँव न रखने दूँ। गऊ-हत्या करते इसे लाज भी न आयी। बहुत अच्छा होता, पुलिस बाँधकर ले जाती और चक्की पिसवाती !

धनिया कोई बहाना न कर सकी। बोली—रोटी कहाँ से बने, घर में दाना तो है ही नहीं। तेरे महतो ने बिरादरी का पेट भर दिया, बाल-बच्चे मरें या जियें। अब बिरादरी झाँकती तक नहीं।

पुन्नी की फ़सल अच्छी हुई थी, और वह स्वीकार करती थी कि यह होरी का पुरुषार्थ है। हीरा के साथ कभी इतनी बरक्कत न हुई थी।

बोली—अनाज मेरे घर से क्यों नहीं मँगवा लिया ? वह भी तो महतो ही की कमाई है। या किसी और की ? सुख के दिन आयें, तो लड़ लेना ; दुख तो साथ रोने ही से कटता है। मैं क्या ऐसी अन्धी हूँ कि आदमी का दिल नहीं पहचानती ? महतो ने न सँभाला होता, तो आज मुझे कहाँ सरन मिलती ?

वह उल्टे पाँव लौटी और सोना को भी साथ लेती गयी। एक क्षण में दो डल्ले अनाज से भरे लाकर आँगन में रख दिये। दो मन से कम जौ न था। धनिया अभी कुछ कहने न पायी थी कि वह फिर चल दी और एक क्षण में एक बड़ी-सी टोकरी अरहर की दाल से भरी हुई लाकर रख दी और बोली—चलो, मैं आग जलाये देती हूँ।

धनिया ने देखा तो जौ के ऊपर एक छोटी-सी डलिया में चार-पाँच सेर आटा भी था। आज जीवन में पहली बार वह परास्त हुई। आँखों में प्रेम और कृतज्ञता के मोती भरकर बोली—सब का सब उठा लायी कि घर में कुछ छोड़ा ? कहीं भागा जाता था ?

आँगन में बच्चा खटोले पर पड़ा रो रहा था। पुनिया उसे गोद में लेकर दुलराती हुई बोली—तुम्हारी दया से अभी बहुत है भाभीजी ! पन्द्रह मन तो जौ हुआ है और दस मन गेहूँ। पाँच मन मटर हुआ, तुमसे क्या छिपाना है। दोनों घरों का काम चल जायेगा। दो-तीन महीने में फिर मकई हो जायेगी। आगे भगवान मालिक है।

झुनिया ने आकर अंचल से छोटी सास के चरण छुए। पुनिया ने असीस दिया। सोना आग जलाने चली, रूपा ने पानी के लिए कलसा उठाया। रुकी हुई गाड़ी चल निकली। जल में अवरोध के कारण जो चक्कर था, फेन था, शोर था, गति की तीव्रता थी, वह अवरोध के हट जाने से शान्त मधुर-ध्वनि के साथ सम, धीमी, एक-रस धार में बहने लगी।

पुनिया बोली—महतो को डाँड़ देने की ऐसी जल्दी क्या पड़ी थी ?

धनिया ने कहा—बिरादरी में सुरखरू कैसे होते ?

"भाभी, बुरा न मानो तो, एक बात कहूँ ?"

"कह, बुरा क्यों मानूँगी ?"

"न कहूँगी, कहीं तुम बिगड़ने न लगो ?"

"कहती हूँ, कुछ न बोलूँगी, कह तो।"

"तुम्हें झुनिया को घर में रखना न चाहिए था।"

"तब क्या करती ? वह डूबी मरती थी।"

"मेरे घर में रख देतीं तब तो कोई कुछ न कहता।"

"यह तो तू आज कहती है। उस दिन भेज देती, तो झाड़ू लेकर दौड़ती !"

"इतने खरच में तो गोबर का ब्याह हो जाता।"

"होनहार कौन टाल सकता है पगली ! अभी इतने ही से गला नहीं छूटा, भोला अब अपनी गाय के दाम माँग रहा है। तब तो गाय दी कि मेरी सगाई कही ठीक कर दो। अब कहता है, मुझे सगाई नहीं करनी, मेरे रुपये दे दो। उसके ये दोनों बेटे लाठी लिये फिरते हैं। हमारे कौन बैठा है, जो उससे लड़े ! इस सत्यानासी गाय ने आकर चौपट कर दिया।"

कुछ और बातें करके पुनिया आग लेकर चली गयी। होरी सब कुछ देख रहा था। भीतर आकर बोला–पुनिया दिल की साफ़ है।

"हीरा भी तो दिल का साफ़ था ?"

धनिया ने अनाज तो रख लिया था; पर मन में लज्जित और अपमानित हो रही थी। यह दिनों का फेर है कि आज उसे यह नीचा देखना पड़ा।

"तू किसी का औसान नहीं मानती, यही तुझमें बुराई है।"

"औसान क्यों मानूँ ? मेरा आदमी उसकी गिरस्ती के पीछे जान नहीं दे रहा है ? फिर मैंने दान थोड़े ही लिया है। उसका एक-एक दाना भर दूँगी।"

मगर पुनिया अपनी जिठानी के मनोभाव समझकर भी होरी का एहसान चुकाती जाती थी। जब यहाँ अनाज चुका जाता, मन-दो मन दे जाती; मगर जब चौमासा आ गया और वर्षा न हुई, तो समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी। सावन का महीना आ गया था और बगूले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था, और ऊख ताप से जली जा रही थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था मगर उसके पीछे आए दिन लाठियाँ निकलती थीं। यहाँ तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया। जगह-जगह चोरियाँ होने लगीं, डाके पड़ने लगे। सारे प्रांत में हाहाकार मच गया। बारे कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गयी और किसानों के प्राण हरे हुए। कितना उछाह था उस दिन ! प्यासी पृथ्वी जैसे अघाती ही न थी और प्यासे किसान ऐसे उछल रहे थे, मानो पानी नहीं अशर्फियाँ बरस रही हों। बटोर लो, जितना बटोरते बने। खेतों में जहाँ बगूले उठते थे, वहाँ हल चलने लगे। बाल-वृन्द निकल-निकलकर तालाबों और पोखरों और गड़हियों का मुआयना कर रहे थे। ओहो ! तालाब तो आधा भर गया, और वहाँ से गड़हिया की तरफ़ दौड़े।

मगर अब कितना ही पानी बरसे, ऊख तो विदा हो गयी। एक-एक हाथ

ही होके रह जायेगी, मक्का और जुआर और कोदों से लगान थोड़े ही चुकेगा, महाजन का पेट थोड़े ही भरा जायेगा ? हाँ, गौओं के लिए चारा हो गया और आदमी जी गया।

जब माघ बीत गया और भोला के रुपये न मिले, तो एक दिन वह झल्लाया हुआ होरी के घर आ धमका और बोला–यही है तुम्हारा क़ौल ? इसी मुँह से तुमने ऊख पेरकर मेरे रुपये देने का वादा किया था ? अब तो ऊख पेर चुके। लाओ रुपये मेरे हाथ में।

होरी जब अपनी विपत्ति सुनाकर और सब तरह से चिरौरी करके हार गया और भोला द्वार से न हटा, तो उसने झुँझलाकर कहा–तो महतो, इस बखत तो मेरे पास रुपये नहीं हैं और न मुझे कहीं उधार ही मिल सकते हैं। मैं कहाँ से लाऊँ ? दाने-दाने की तंगी हो रही है। बिस्वास न हो, घर में आकर देख लो। जो कुछ मिले, उठा ले जाओ।

भोला ने निर्मम भाव से कहा–मैं तुम्हारे घर में क्यों तलासी लेने जाऊँ और न मुझे इससे मतलब है कि तुम्हारे पास रुपये हैं या नहीं। तुमने ऊख पेरकर रुपये देने को कहा था। ऊख पेर चुके। अब मेरे रुपये मेरे हवाले करो।

"तो फिर जो कहो, वह करूँ ?"

"मैं क्या कहूँ ?"

"मैं तुम्हीं पर छोड़ता हूँ।"

"मैं तुम्हारे दोनों बैल खोल ले जाऊँगा।"

होरी ने उसकी ओर विस्मय-भरी आँखों से देखा, मानो अपने कानों पर विश्वास न आया हो। फिर हतबुद्धि-सा सिर झुकाकर रह गया। भोला क्या उसे भिखारी बनाकर छोड़ देना चाहते हैं ? दोनों बैल चले गये, तब तो उसके दोनों हाथ ही कट जायेंगे।

दीन स्वर में बोला–दोनों बैल ले लोगे, तो मेरा सर्वनाश हो जायेगा। अगर तुम्हारा धरम यही कहता है, तो खोल ले जाओ।

"तुम्हारे बनने-बिगड़ने की मुझे परवा नहीं है। मुझे अपने रुपये चाहिए।'

"और जो मैं कह दूँ, मैंने रुपये दे दिये ?"

भोला सन्नाटे में आ गया। उसे अपने कानों पर विश्वास न आया। होरी इतनी बड़ी बेईमानी कर सकता है, यह सम्भव नहीं।

उग्र होकर बोला–अगर तुम हाथ में गंगाजली लेकर कह दो कि मैंने रुपये दे दिये, तो सबर कर लूँ।

"कहने का मन तो चाहता है, मरता क्या न करता; लेकिन कहूँगा नहीं।'

"तुम कह ही नहीं सकते।"

"हाँ भैया, मैं नहीं कह सकता। हँसी कर रहा था।"

एक क्षण तक वह दुविधा में पड़ा रहा। फिर बोला–तुम मुझसे इतना बैर क्यों

पाल रहे हो भोला भाई ! झुनिया मेरे घर में आ गयी, तो मुझे कौन-सा सरग मिल गया ? लड़का अलग हाथ से गया, दो सौ रुपया डाँड़ अलग भरना पड़ा। मैं तो कहीं का न रहा। और अब तुम भी मेरी जड़ खोद रहे हो। भगवान जानते हैं, मुझे बिलकुल न मालूम था कि लौंडा क्या कर रहा है। मैं तो समझता था, गाना सुनने जाता होगा। मुझे तो उस दिन पता चला, जब आधी रात को झुनिया घर में आ गयी। उस बखत मैं घर में न रखता, तो सोचो, कहाँ जाती ? किसकी होकर रहती ?

झुनिया बरौठे के द्वार पर छिपी खड़ी यह बातें सुन रही थी। बाप को अब वह बाप नहीं, शत्रु समझती थी। डरी, कहीं होरी बैलों को दे न दें। जाकर रूपा से बोली–अम्माँ को जल्दी से बुला ला। कहना, बड़ा काम है, बिलम न करो।

धनिया खेत में गोबर फेंकने गयी थी, बहू का सन्देश सुना, तो आकर बोली–काहे बुलाया बहू, मैं तो घबड़ा गयी।

"काका को तुमने देखा है न ?"

"हाँ देखा, कसाई की तरह द्वार पर बैठा हुआ है। मैं तो बोली भी नहीं।"

"हमारे दोनों बैल माँग रहे हैं, दादा से।"

धनिया के पेट की आँतें भीतर सिमट गयीं।

"दोनों बैल माँग रहे हैं ?"

"हाँ, कहते हैं या तो हमारे रुपये दो, या हम दोनों बैल खोल ले जायेंगे।"

"तेरे दादा ने क्या कहा ?"

"उन्होंने कहा, तुम्हारा धरम कहता हो, तो खोल ले जाओ।"

"तो खोल ले जाय; लेकर इस द्वार पर आकर भीख न माँगे, तो मेरे नाम पर थूक देना। हमारे लहू से उसकी छाती जुड़ाती हो, तो जुड़ा ले।"

वह इसी तैश में बाहर आकर होरी से बोली–महतो दोनों बैल माँग रहे हैं, तो दे क्यों नहीं देते ? उनका पेट भरे, हमारे भगवान मालिक हैं। हमारे हाथ तो नहीं काट लेंगे ? अब तक अपनी मजूरी करते थे, अब दूसरों की मजूरी करेंगे। भगवान की मरजी होगी, तो फिर बैल-बधिये हो जायेंगे, और मजूरी ही करते रहे, तो कौन बुराई है। बूड़े-सूखे और पोत-लगान का बोझ तो न रहेगा। मैं न जानती थी, यह हमारे बैरी हैं, नहीं गाय लेकर अपने सिर पर विपत्ति क्यों लेती ! उस निगोड़ी का पौरा जिस दिन से आया, घर तहस-नहस हो गया।

भोला ने अब तक जिस शस्त्र को छिपा रखा था, अब उसे निकालने का अवसर आ गया। उसे विश्वास हो गया, बैलों के सिवा इन सबों के पास कोई अवलम्ब नहीं है। बैलों को बचाने के लिए ये लोग सब कुछ करने को तैयार हो जायेंगे। अच्छे निशानेबाज़ की तरह मन को साधकर बोला–अगर तुम चाहते हो कि हमारी बेइज्जती हो और तुम चैन से बैठो, तो यह न होगा। तुम अपने दो सौ को रोते हो। यहाँ लाख रुपये की आबरू बिगड़ गयी। तुम्हारी कुशल इसी में है कि जैसे

झुनिया को घर में रखा था, वैसे ही घर से उसे निकाल दो, फिर न हम बैल माँगेंगे, न गाय का दाम माँगेंगे। उसने हमारी नाक कटवाई है, तो मैं भी उसे ठोकरें खाते देखना चाहता हूँ। वह यहाँ रानी बनी बैठी रहे, और हम मुँह में कालिख़ लगाए उसके नाम को रोते रहें, यह नहीं देख सकता। वह मेरी बेटी है, मैंने उसे गोद में खिलाया है, और भगवान साखी है, मैंने उसे कभी बेटों से कम नहीं समझा; लेकिन आज उसे भीख माँगते और घूर पर दाने चुनते देखकर मेरी छाती सीतल हो जायेगी। जब बाप होकर मैंने अपना हिरदा इतना कठोर बना लिया है, तब सोचो, मेरे दिल पर कितनी बड़ी चोट लगी होगी। इस मुँहजली ने सात पुस्त का नाम डुबा दिया। और तुम उसे घर में रखे हुए हो, यह मोरी छाती पर मूँग दलना नहीं तो और क्या है !

धनिया ने से पत्थर की लकीर खींचते हुए कहा–तो महतो, मेरी भी सुन लो। जो बात तुम चाहते हो, वह न होगी। सौ जनम न होगी। झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम बैल ही तो ले जाने को कहते हो, ले जाओ; मगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती हो तो जोड़ लो; पुरखों की आबरू बचती हो, तो बचा लो। झुनिया से बुराई ज़रूर हुई। जिस दिन उसने मेरे घर में पाँव रखा, मैं झाड़ू लेकर मारने उठी थी; लेकिन जब उसकी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे, तो मुझे उस पर दया आ गयी। तुम अब बूढ़े हो गये महतो ! पर आज भी तुम्हें सगाई की धुन सवार है। फिर वह तो अभी बच्चा है।

भोला ने अपील-भरी आँखों से होरी को देखा–सुनते हो होरी इसकी बातें ! अब मेरा दोष नहीं। मैं बिना बैल लिये न जाऊँगा।

होरी ने दृढ़ता से कहा–ले जाओ।

"फिर रोना मत कि मेरे बैल खोल ले गये !"

"नहीं रोऊँगा।"

भोला बैलों की पगहिया खोल ही रहा था कि झुनिया चकतियोंदार साड़ी पहने, बच्चे को गोद में लिये, बाहर निकल आयी और कम्पित स्वर में बोली–काका, लो मैं इस घर से निकल जाती हूँ और जैसी तुम्हारी मनोकामना है, उसी तरह भीख माँगकर अपना और बच्चे का पेट पालूँगी, और जब भीख भी न मिलेगी, तो कहीं डूब मरूँगी।

भोला खिसियाकर बोला–दूर हो मेरे सामने से। भगवान न करे, मुझे फिर तोरा मुँह देखना पड़े। कुलच्छिनी, कुल-कलंकिनी कहीं की ! अब तेरे लिए डूब मरना ही उचित है।

झुनिया ने उसकी ओर ताका भी नहीं। उसमें वह क्रोध था, जो अपने को खा जाना चाहता है, जिसमें हिंसा नहीं, आत्मसमर्पण है। धरती इस वक्त मुँह खोलकर उसे निगल लेती, तो वह कितना धन्य मानती ! उसने आगे क़दम उठाया।

लेकिन वह दो क़दम भी न गयी थी कि धनिया ने दौड़कर उसे पकड़ लिया

और हिंसा-भरे स्नेह से बोली—तु कहाँ जाती है बहू, चल घर में। यह तेरा घर है, हमारे जीते भी और हमारे मरने के पीछे भी। डूब मरे वह, जिसके अपनी सन्तान से बैर हो। इस भले आदमी को मुँह से ऐसी बात कहते लाज नहीं आती। मुझ पर धौंस जमाता है नीच ! ले जा, बैलों का रक्त पी ...

झुनिया रोती हुई बोली—अम्माँ, जब अपना बाप होके मुझे धिक्कार रहा है, तो मुझे डूब ही मरने दो। मुझ अभागिनी के कारन तो तुम्हें दुःख ही मिला। जब से आयी, तुम्हारा घर मिट्टी में मिल गया। तुमने इतने दिन मुझे जिस परेम से रखा, माँ भी न रखती। भगवान मुझे फिर जनम दें, तो तुम्हारी कोख से दें, यही मेरी अभिलाषा है।

धनिया उसको अपनी ओर खींचती हुई बोली—यह तेरा बाप नहीं है, तेरा बैरी है, हत्यारा। माँ होती तो अलबत्ता उसे कलक होता। ला सगाई। मेहरिया जूतों से न पीटे, तो कहना !

झुनिया सास के पीछे-पीछे घर में चली गयी। उधर भोला ने जाकर दोनों बैलों को खूँटों से खोला और हाँकता हुआ घर चला, जैसे किसी नेवते में जाकर पूरियों के बदले जूते पड़े हों—अब करो खेती और बजाओ बंसी। मेरा अपमान करना चाहते हैं सब, न जाने कब का बैर निकाल रहे हैं, नहीं ऐसी लड़की को कौन भला आदमी अपने घर में रखेगा ? सबके सब बेसरम हो गये हैं। लौंडे का कहीं ब्याह न होता था इसी से। और इस राँड झुनिया की ढिठाई देखो कि आकर मेरे सामने खड़ी हो गई। दूसरी लड़की होती, तो मुँह न दिखाती। आँखों का पानी मर गया है। सबके सब दुष्ट और मूरख भी हैं। समझते हैं, झुनिया अब हमारी हो गयी।

यह नहीं समझते, जो अपने बाप के घर न रही, वह किसी के घर नहीं रहेगी। समय खराब है, नहीं बीच बाज़ार में इस चुड़ैल धनिया के झोंटे पकड़कर घसीटता। मुझे कितनी गालियाँ देती थी।

फिर उसने दोनों बैलों को देखा, कितने तैयार हैं। अच्छी जोड़ी है। जहाँ चाहूँ, सौ रुपये में बेच सकता हूँ। मेरे अस्सी रुपये खरे हो जायेंगे।

अभी वह गाँव के बाहर भी न निकला था कि पीछे से दातादीन, पटेश्वरी, शोभा और दस-बीस आदमी और दौड़े आते दिखाई दिये। भोला का लहू सर्द हो गया। अब फौज़दारी हुई; बैल भी छिन जायेंगे, मार भी पड़ेगी। वह रुक गया कमर कसकर। मरना ही है तो लड़कर मरेगा।

दातादीन ने समीप आकर कहा—यह तुमने क्या अनर्थ किया भोला, ऐं ! उसके बैल खोल लाये, वह कुछ बोला नहीं, इसी से सेर हो गये। सब लोग अपने-अपने काम में लगे थे, किसी को खबर भी न हुई। होरी ने ज़रा-सा इशारा कर दिया होता, तो तुम्हारा एक-एक बाल नुच जाता। भला चाहते हो, तो ले चलो बैल, जरा भी भलमंसी नहीं है तुममें !

पटेश्वरी बोले—यह उसके सीधेपन का फल है। तुम्हारे रुपये उस पर आते

हैं, तो जाकर दिवानी में दावा करो, डिग्री कराओ। बैल खोल लाने का तुम्हें क्या अख्तियार है ? अभी फ़ौजदारी में दावा कर दे तो बँधे-बँधे फिरो।

भोला ने दबकर कहा–तो लाला साहब, हम कुछ ज़बरदस्ती थोड़े ही खोल लाये। होरी ने खुद दिये।

पटेश्वरी ने शोभा से कहा–तुम बैलों को लौटा दो शोभा। किसान अपने बैल ख़ुशी से तो देता नहीं। इन्हें हल में जोतेगा।

भोला बैलों के सामने खड़ा हो गया। हमारे रुपये दिलवा दो, हमें बैलों को लेकर क्या करना है ?

"हम बैल लिये जाते हैं; अपने रुपये के लिए दावा करो और नहीं तो मारकर गिरा दिये जाओगे। रुपये दिये थे नगद तुमने ? एक कुलच्छिनी गाय बेचारे के सिर मढ़ दी और अब उसके बैल खोले लिये जाते हो।"

भोला बैलों के सामने से हटा। खड़ा रहा गुमसुम, दृढ़, मानों मारकर ही हटेगा। पटवारी से दलील करके वह कैसे पेश पाता ?

दातादीन ने एक क़दम आगे बढ़कर अपनी झुकी कमर को सीधा करके ललकारा–तुम सब खड़े ताकते क्या हो, मार के भगा दो इसको। हमारे गाँव से बैल खोल ले जायेगा !

बंशी बलिष्ठ युवक था। उसने भोला को ज़ोर से धक्का दिया। भोला सँभल न सका, गिर पड़ा। उठना चाहता था कि बंशी ने एक घूँसा दिया।

होरी दौड़ता हुआ आ रहा था। भोला ने उसकी ओर दस कदम बढ़कर पूछा–ईमान से कहना होरी महतो, मैंने बैल ज़बरदस्ती खोल लिये ?

दातादीन ने इसका भावार्थ किया–यह कहते हैं कि होरी ने अपनी खुशी से बैल मुझे दे दिये। हमी को उल्लू बनाते हैं।

होरी ने सकुचाते हुए कहा–यह मुझसे कहने लगे या तो झुनिया को घर से निकाल दो, या मेरे रुपये दो, नहीं तो मैं बैल ले जाऊँगा। मैंने कहा, मैं बहू को तो न निकालूँगा, न मेरे पास रुपये हैं; अगर तुम्हारा धरम कहे, तो बैल खोल लो। बस, मैंने इनके धरम पर छोड़ दिया और इन्होंने बैल खोल लिये।

पटेश्वरी ने मुँह लटकाकर कहा–जब तुमने धरम पर छोड़ दिया, तब काहे की ज़बरदस्ती। उसके धरम ने कहा लिये जाता है। जाओ भैया, बैल तुम्हारे हैं।

दातादीन ने समर्थन किया–हाँ, जब धरम की बात आ गयी, तो कोई क्या कहे। सब के सब होरी को तिरस्कार की आँखों से देखते परास्त होकर लौट पड़े और विजयी भोला शान से गर्दन उठाए बैलों को ले चला।

पन्द्रह

मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी ही हँसी नहीं है, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है ! और जिए भी तो वह कोई सुखी जीवन

न होगा। वह हँसती है, इसलिए कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना, इसलिए नहीं है कि वह चहकने को ही जीवन समझती है, या उसने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने ही लिये करे। नहीं, वह इसलिए चहकती है और विनोद करती है कि इससे उसके कर्त्तव्य का भार कुछ हल्का हो जाता है। उसके बाप उन विचित्र जीवों में थे, जो केवल जबान की मदद से लाखों के वारे-न्यारे करते थे। बड़े-बड़े जमींदारों और रईसों की जायदादें बिकवाना, उन्हें कर्ज दिलाना या उनके मुआमलों को अफ़सरों से मिलकर तय करा देना, यही उनका व्यवसाय था। दूसरे शब्दों में दलाल थे। इस वर्ग के लोग बड़े प्रतिभावान होते हैं। जिस काम से कुछ मिलने की आशा हो, वह उठा लेंगे, किसी-न-किसी तरह उसे निभा भी देंगे। किसी राजा की शादी किसी राजकुमारी से ठीक करवा दी और दस-बीस हज़ार उसी में मार लिये। यही दलाल जब छोटे-छोटे सौदे करते हैं, तो टाउट कहे जाते हैं, और हम उनसे घृणा करते हैं। बड़े-बड़े काम करके वही टाउट राजाओं के साथ शिकार खेलता है और गवर्नरों की मेज़ पर चाय पीता है। मिस्टर कौल उन्हीं भाग्यवानों में थे। उनके तीन लड़कियाँ ही लड़कियाँ थीं। उनका विचार था कि तीनों को इंगलैण्ड भेजकर शिक्षा के शिखर पर पहुँचा दें। अन्य बहुत-से बड़े आदमियों की तरह उनका भी खयाल था कि इंगलैण्ड में शिक्षा पाकर आदमी कुछ और हो जाता है। शायद वहाँ के जलवायु में बुद्धि को तेज़ कर देने की कोई शक्ति है; मगर उनकी यह कामना एक-तिहाई से ज़्यादा पूरी न हुई।

मालती इंगलैण्ड में ही थी कि उन पर फ़ालिज गिरा और बेकाम कर गया। अब बड़ी मुश्किल से दो आदमियों के सहारे उठते-बैठते थे। ज़बान तो बिलकुल बन्द ही हो गयी। और जब ज़बान ही बन्द हो गयी, तो आमदनी भी बन्द हो गयी। जो कुछ थी, ज़बान ही की कमाई थी। कुछ बचा रखने की उनकी आदत न थी अनियमित आय थी, और अनियमित ख़र्च था, इसलिए इधर कई साल से बहुत तंगहाल हो रहे थे। सारा दायित्व मालती पर आ पड़ा। मालती के चार-पाँच सौ रुपये में वह भोग-विलास और ठाठ-बाट तो क्या निभता ! हाँ, इतना था कि दोनों लड़कियों की शिक्षा होती जाती थी और भलेमानसों की तरह ज़िन्दगी बसर होती थी। मालती सुबह से पहर रात तक दौड़ती रहती थी। चाहती थी कि पिता सात्विकता के साथ रहें, लेकिन पिताजी को शराब-कबाब का ऐसा चस्का पड़ा था कि किसी तरह गला न छोड़ता था। कहीं से कुछ न मिलता, तो एक महाजन से अपने बँगले पर प्रोनोट लिखकर हज़ार-दो हज़ार ले लेते थे। महाजन उनका पुराना मित्र था, जिसने उनकी बदौलत लेन-देन में लाखों कमाए थे, और मुरौवत के मारे कुछ बोलता न था। उसके पचीस हज़ार चढ़ चुके थे, और जब चाहता, कुर्की करा सकता था; मगर मित्रता की लाज निभाता जाता था। आत्मसेवियों में जो निर्लज्जता आ जाती है, वह कौल में भी थी रोज तकाजे हुआ करें, उन्हें परवा न थी। मालती उनके

अपव्यय पर झुँझलाती रहती थी; लेकिन उसकी माता जो साक्षात् देवी थीं और इस युग में भी पति की सेवा को नारी-जीवन का मुख्य हेतु समझती थीं, उसे समझाती रहती थीं, इसलिए गृह-युद्ध न होने पाता था।

सन्ध्या हो गयी थी। हवा में अभी तक गर्मी थी। आकाश में धुन्ध छाया हुआ था। मालती और उसकी दोनों बहनें बँगले के सामने घास पर बैठी हुई थीं। पानी न पाने के कारण वहाँ की दूब जल गयी थी और भीतर की मिट्टी निकल आयी थी।

मालती ने पूछा—माली क्या बिलकुल पानी नहीं देता ?

मँझली बहन सरोज ने कहा—पड़ा-पड़ा सोया करता है सूअर। जब कहो, तो बीस बहाने निकालने लगता है।

सरोज बी. ए. में पढ़ती थी, दुबली-पतली, लम्बी, पीली, रूखी, कटु। उसे किसी की कोई बात पसन्द न आती थी। हमेशा ऐब निकालती रहती थी। डाक्टरों की सलाह थी कि वह कोई परिश्रम न करे और पहाड़ पर रहे; लेकिन घर की स्थिति ऐसी न थी कि उसे पहाड़ पर भेजा जा सकता।

सबसे छोटी वरदा को सरोज से इसलिए द्वेष था कि सारा घर सरोज को हाथों में लिये रहता था; वह चाहती थी कि जिस बीमारी में इतना स्वाद है, वह उसे ही क्यों नहीं हो जाती। गोरी-सी, गर्वशील, स्वस्थ, चंचल आँखों वाली बालिका थी, जिसके मुख पर प्रतिमा की झलक थी। सरोज के सिवा उसे सारे संसार से सहानुभूति थी। सरोज के कथन का विरोध करना उसका स्वभाव था। बोली—दिन-भर दादाजी बाज़ार भेजते रहते हैं, फुरसत ही कहाँ पाता है। मरने को छुट्टी तो मिलती नहीं, पड़ा-पड़ा सोएगा !

सरोज ने डाँटा—दादाजी उसे कब बाज़ार भेजते हैं री, झूठी कहीं की !

"रोज़ भेजते हैं, रोज़। अभी तो आज ही भेजा था। कहो तो बुलाकर पुछवा दूँ ?"

"पुछवायेगी, बुलाऊँ ?"

मालती डरी। दोनों गुथ जायेंगी, तो बैठना मुश्किल कर देंगी। बात बदलकर बोली—अच्छा ख़ैर, होगा। आज डाक्टर मेहता का तुम्हारे यहाँ भाषण हुआ था, सरोज ?

सरोज ने नाक सिकोड़कर कहा—हाँ, हुआ तो था; लेकिन किसी ने पसन्द नहीं किया। आप फरमाने लगे—संसार में स्त्रियों का क्षेत्र पुरुषों से बिलकुल अलग है। स्त्रियों का पुरुषों के क्षेत्र में आना इस युग का कलंक है। सब लड़कियों ने तालियाँ और सीटियाँ बजानी शुरू कीं। बेचारे लज्जित होकर बैठ गये। कुछ अजीब-से आदमी मालूम होते हैं। आपने यहाँ तक कह डाला कि प्रेम केवल कवियों की कल्पना है। वास्तविक जीवन में इसका कहीं निशान नहीं। लेडी हुक्कू ने उनका खूब मज़ाक उड़ाया।

मालती ने कटाक्ष किया—लेडी हुक्कू ने ? इस विषय में वह कुछ बोलने का साहस रखती है ! तुम्हें डाक्टर साहब का भाषण आदि से अन्त तक सुनना चाहिए था। उन्होंने दिल में लड़कियों को क्या समझा होगा ?

"पूरा भाषण सुनने का सब्र किसे था ? वह तो जैसे घाव पर नमक छिड़कते थे।"

"फिर उन्हें बुलाया ही क्यों ? आख़िर उन्हें औरतों से कोई बैर तो है नहीं। जिस बात को हम सत्य समझते हैं, उसी का तो प्रचार करते हैं। औरतों को खुश करने के लिए वह उनकी-सी कहनेवालों में नहीं हैं और फिर अभी यह कौन जानता है कि स्त्रियाँ जिस रास्ते पर चलना चाहती हैं, वह सत्य है। बहुत सम्भव है, आगे चलकर हमें अपनी धारणा बदलनी पड़े।"

उसने फ्रांस, जर्मनी और इटली की महिलाओं के जीवन आदर्श बतलाए और कहा—शीघ्र ही वीमेन्स लीग की ओर से मेहता का भाषण होनेवाला है।

सरोज को कुतूहल हुआ।

"मगर आप भी तो कहती हैं कि स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार समान होने चाहिए।"

"अब भी कहती हूँ, लेकिन दूसरे पक्षवाले क्या कहते हैं, यह भी तो सुनना चाहिए। सम्भव है, हमीं गलती पर हों।"

यह लीग इस नगर की नयी संस्था है और मालती के उद्योग से खुली है। नगर की सभी शिक्षित महिलाएँ उसमें शरीक़ हैं। मेहता के पहले भाषण ने महिलाओं में बड़ी हलचल मचा दी थी और लीग ने निश्चय किया था, कि उनका खूब दंदाशिकन जवाब दिया जाये। मालती ही पर यह भार डाला गया। मालती कई दिन तक अपने पक्ष के समर्थन में युक्तियाँ और प्रमाण खोजती रही। और भी कई देवियाँ अपने भाषण लिख रही थीं उस दिन जब मेहता शाम को लीग के हाल में पहुँचे, तो जान पड़ता था, हाल फट जायेगा। उन्हें गर्व हुआ। उनका भाषण सुनने कि लिए इतना उत्साह ! और वह उत्साह केवल मुख पर और आँखों में न था। आज सभी देवियाँ सोने और रेशम से लदी हुई थीं, मानों किसी बारात में आयी हों। मेहता को परास्त करने के लिए शक्ति से काम लिया था और यह कौन कह सकता है कि जगमगाहट शक्ति का अंग नहीं है। मालती ने तो आज के लिए नये फैशन की साड़ी निकाली थी, नये काट के जम्पर बनवाए थे और रंग-रोगन और फूलों से खूब सजी हुई थी, मानो उसका विवाह हो रहा हो। वीमेंस लीग में इतना समारोह और कभी न हुआ था। डाक्टर मेहता अकेले थे, फिर भी देवियों के दिल काँप रहे थे। सत्य की एक चिनगारी असत्य के एक पहाड़ को भस्म कर सकती है।

सबसे पीछे की सफ़ में मिर्ज़ा और खन्ना सम्पादकजी भी विराज रहे थे। रायसाहब भाषण शुरू होने के बाद आये और पीछे खड़े हो गये।

मिर्ज़ा ने कहा—आ जाइए आप भी, खड़े कब तक रहिएगा ?

रायसाहब बोले—नहीं भाई, यहाँ मेरा दम घुटने लगेगा।

'तो मैं खड़ा रहता हूँ। आप बैठिए।'

रायसाहब ने उनके कंधे दबाए—तकल्लुफ नहीं, बैठे रहिए। मैं थक जाऊँगा, तो आपको उठा दूँगा और बैठ जाऊँगा, अच्छा मिस मालती सभानेत्री हुईं ? खन्ना साहब कुछ इनाम दिलवाइए।

खन्ना ने रोनी सूरत बनाकर कहा—अब मिस्टर मेहता पर ही निगाह है। मैं तो गिर गया।

मिस्टर मेहता का भाषण शुरू हुआ—

"देवियो, जब मैं इस तरह आपको सम्बोधित करता हूँ, तो आपको कोई बात खटकती नहीं। आप इस सम्मान को अपना अधिकार समझती हैं ; लेकिन आपने किसी महिला को पुरुषों के प्रति 'देवता' का व्यवहार करते सुना है ? उसे आप देवता कहें, तो वह समझेगा, आप उसे बना रही हैं। आपके पास दान देने के लिए दया है, श्रद्धा है, त्याग है। पुरुष के पास दान के लिए क्या है ? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकार के लिए हिंसा करता है, संग्राम करता है, कलह करता है..."

तालियाँ बजीं। रायसाहब ने कहा—औरतों को खुश करने का इसने कितना अच्छा ढंग निकाला।

'बिजली' सम्पादक को बुरा लगा—कोई नयी बात नहीं। मैं कितनी ही बार यह भाव व्यक्त कर चुका हूँ।

मेहता आगे बढ़े—इसलिए जब मैं देखता हूँ, हमारी उन्नत विचारोवाली देवियाँ उस दया और श्रद्धा और त्याग के जीवन से असन्तुष्ट होकर संग्राम और कलह और हिंसा के जीवन की ओर दौड़ रही हैं और समझ रही हैं कि यही सुख स्वर्ग है, तो मैं उन्हें बधाई नहीं दे सकता।

मिसेज़ खन्ना ने मालती की ओर सगर्व नेत्रों से देखा। मालती ने गर्दन झुका ली।

खुर्शेद बोले—अब कहिए। मेहता दिलेर आदमी है। सच्ची बात कहता है और मुँह पर।

'बिजली' सम्पादक ने नाक सिकोड़ी—अब वह दिन लद गये, जब देवियाँ इन चकमों में आ जाती थीं। उनके अधिकार हड़पते जाओ और कहते जाओ, आप तो देवी हैं, लक्ष्मी हैं, माता हैं।

मेहता आगे बढ़े—स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में, स्त्री के कर्म करते देखकर। मुझे विश्वास है, ऐसे पुरुषों को आप अपने विश्वास और प्रेम का पात्र नहीं समझतीं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऐसी स्त्री भी पुरुष के प्रेम और श्रद्धा का पात्र नहीं बन सकती।

खन्ना के चेहरे पर दिल की खुशी चमक उठी।

रायसाहब ने चुटकी ली–आप बहुत खुश हैं खन्नाजी !

खन्ना बोले–मालती मिलें, तो पूछूँ, अब कहिए।

मेहता आगे बढ़े–मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ, उसी तरह जैसे प्रेम और त्याग और श्रद्धा को हिंसा और संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता हूँ। अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव-क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा। मैं इस विष में दृढ़ हूँ। पुरुष ने अपने अभिमान में अपनी कीर्ति को अधिक महत्त्व दिया। वह अपने भाई का स्वत्व छीनकर और उसका रक्त बहाकर समझने लगा, उसने बहुत बड़ी विजय पायी। जिन शिशुओं को देवियों ने अपने रक्त से सिरजा और पाला, उन्हें बम और मशीनगन और सहस्रों टैंकों का शिकार बनाकर वह अपने को विजेता समझता है। और जब हमारी ही माताएँ उसके माथे पर केसर का तिलक लगाकर और उसे अपनी असीसों का कवच पहनाकर हिंसा-क्षेत्र में भेजती हैं। तो आश्चर्य है कि पुरुष ने विनाश को ही संसार के कल्याण की वस्तु समझा और उसकी हिंसा-प्रवृति दिन-दिन बढ़ती गयी और आज हम देख रहे हैं कि यह दानवता प्रचण्ड होकर समस्त संसार को रौंदती, प्राणियों को कुचलती, हरी-भरी खेतियों को जलाती और गुलज़ार बस्तियों को वीरान करती चली जाती है। देवियो, मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आप इस दानवलीला में सहयोग देकर, इस संग्राम-क्षेत्र में उतरकर संसार का कल्याण करेंगी ? मैं आपसे विनती करता हूँ, नाश करनेवालों को अपना काम करने दीजिए, आप अपने धर्म का पालन किये जाइए।

खन्ना बोले–मालती की तो ग़र्दन नहीं उठती।

रायसाहब ने इन विचारों का समर्थन किया–मेहता कहते तो यथार्थ ही हैं।

'बिजली' सम्पादक बिगड़े–मगर कोई बात तो नहीं कही। नारी-आंदोलन के विरोधी इन्हीं ऊटपटाँग बातों की शरण लिया करते हैं। मैं इसे मानता ही नहीं कि त्याग और प्रेम से संसार ने उन्नति की। संसार ने उन्नति की पौरुष से, पराक्रम से, बुद्धि से, तेज से।

खुर्शेद ने कहा–अच्छा, सुनने दीजिएगा या अपनी गाये जाइएगा ?

मेहता का भाषण जारी था–देवियो, मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो कहते हैं, स्त्री और पुरुष में समान शक्तियाँ हैं, समान प्रवृत्तियाँ हैं, और उनमें कोई विभिन्नता नहीं है। इससे भयंकर असत्य की मैं कल्पना नहीं कर सकता। यह वह असत्य है, जो युग-युगान्तरों से संचित अनुभव को उसी तरह ढँक लेना चाहता है, जैसे बादल का एक टुकड़ा सूर्य को ढक लेता है। मैं आपको सचेत किये देता हूँ कि आप इस जाल में न फँसें। स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष धर्म और अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर

उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सदियों से ज़ोर मार रहा है; पर सफल नहीं हो सका। मैं कहता हूँ, उसका सारा अध्यात्म और योग एक तरफ़ और नारियों का त्याग एक तरफ़।

तालियाँ बजीं। हाल हिल उठा। रायसाहब ने गद्‌गद होकर कहा—मेहता वही कहते हैं, जो इनके दिल में है।

ओंकारनाथ ने टीका की—लेकिन बातें सभी पुरानी हैं, सड़ी हुईं।

"पुरानी बात भी आत्मबल के साथ कही जाती है, तो नयी हो जाती है।"

"जो एक हज़ार रुपये हर महीने फटकारकर विलास में उड़ाता हो, उसमें आत्मबल जैसी वस्तु नहीं रह सकती। यह केवल पुराने विचार की नारियों और पुरुषों को प्रसन्न करने के ढंग हैं।'

खन्ना ने मालती की ओर देखा—यह क्यों फूली जा रही हैं ? इन्हें तो शरमाना चाहिए।

खुर्शेद ने खन्ना को उकसाया—अब तुम भी एक तकरीर कर डालो खन्ना, नहीं मेहता तुम्हें उखाड़ फेंकेगा। आधा मैदान तो उसने अभी मार लिया है।

खन्ना खिसियाकर बोले—मेरी न कहिए, मैंने कितनी चिड़ियाँ फँसाकर छोड़ दी हैं।

रायसाहब ने खुर्शेद की तरफ़ आँख मारकर कहा—आजकल आप महिला-समाज की तरफ़ आते-जाते हैं। सच कहना, कितना चन्दा दिया ?

खन्ना पर झेंप छा गयी—मैं ऐसे समाजों को चन्दे नहीं दिया करता, जो कला का ढोंग रचकर दुराचार फैलाते हैं।

मेहता का भाषण जारी था—

"पुरुष कहता है, जितने दार्शनिक और वैज्ञानिक आविष्कारक हुए हैं, वह सब पुरुष थे। जितने बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं, वह सब पुरुष थे। सभी योद्धा, सभी राजनीति के आचार्य, बड़े-बड़े नाविक, बड़े-बड़े सब कुछ पुरुष थे ; लेकिन इन बड़ों-बड़ों के समूहों नें मिलकर किया क्या ? महात्माओं और धर्म-प्रवर्तकों ने संसार में रक्त की नदियाँ बहाने और वैमनस्य की आग भड़काने के सिवा और क्या किया, योद्धाओं ने भाइयों की गर्दनें काटने के सिवा और क्या यादगार छोड़ी, राजनीतिज्ञों की निशानी अब केवल लुप्त साम्राज्यों के खंडहर रह गये हैं, और आविष्कारकों ने मनुष्य को मशीन का गुलाम बना देने के सिवा और क्या समस्या हल कर दी ? पुरुषों की रची हुई इस संस्कृति में शान्ति कहाँ है ? सहयोग कहाँ है ?

ओंकारनाथ उठकर जाने को हुए—विलासियों के मुँह से बड़ी-बड़ी बातें सुनकर मेरी देह भस्म हो जाती है।

खुर्शेद ने उनका हाथ पकड़कर बैठाया—आप भी सम्पादकजी निरे पोंगा ही रहे। अजी यह दुनिया है, जिसके जी में जो आता है, बकता है। कुछ लोग सुनते हैं और तालियाँ बजाते हैं। चलिए, क़िस्सा ख़तम। ऐसे-ऐसे बेशुमार मेहते आयेंगे

और चले जायेंगे और दुनिया अपनी रफ़्तार से चलती रहेगी। बिगड़ने की कौन-सी बात है ?

"असत्य सुनकर मुझसे सहा नहीं जाता !"

रायसाहब ने इन्हें और चढ़ाया—कुलटा के मुँह से सतियों की-सी बात सुनकर किसका जी न जलेगा !

ओंकारनाथ फिर बैठ गये। मेहता का भाषण जारी था—

"मैं आपसे पूछता हूँ, क्या बाज़ को चिड़ियों का शिकार करते देखकर हंस को यह शोभा देगा कि वह मानसरोवर की आनन्दयमी शान्ति को छोड़कर चिड़ियों का शिकार करने लगे ? और अगर वह शिकारी बन जाय, तो आप उसे बधाई देंगी ? हंस के पास उतनी तेज़ चोंच नहीं है, उतने तेज़ चंगुल नहीं हैं, उतनी तेज़ आँखें नहीं हैं, उतने तेज़ पंख नहीं हैं और उतनी तेज़ रक्त की प्यास नहीं है। उन अस्त्रों को संचय करने में उसे सदियाँ लग जायेंगी, फिर भी वह बाज़ बन सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है; मगर बाज़ बने या न बने, वह हंस न रहेगा—वह हंस जो मोती चुगता है।"

खुर्शेद ने टीका की—यह तो शायरों की-सी दलीलें हैं। मादा बाज़ भी उसी तरह शिकार करती है, जैसे नर बाज़।

ओंकारनाथ प्रसन्न हो गये—उस पर आप फिलासफ़र बनते हैं, इसी तर्क के बल पर !

खन्ना ने दिल का गुबार निकाला—फ़िलासफ़र की दुम है। फ़िलॉसफ़र वह है जो ...

ओंकारनाथ ने बात पूरी की—ज़ो सत्य से जौ-भर भी न टले।

खन्ना को यह समस्या-पूर्ति नहीं रुची—सत्य-वत्य नहीं जानता। मैं तो फिलॉसफर उसे कहता हूँ, जो फ़िलॉसफ़र हो। क्यों न हो !

मेहता आगे चले—मैं नहीं कहता देवियों को विद्या की ज़रूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक। मैं नहीं कहता, देवियों को शक्ति की ज़रूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक; लेकिन वह विद्या और वही शक्ति आप भी ले लेंगी, तो संसार मरुस्थल हो जायेगा। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है। क्या आप समझती हैं, वोटों से मानवजाति का उद्धार होगा, या दफ़्तरों में और अदालतों में ज़बान और कलम चलाने से ? इन नकली, अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिये हैं ?

सरोज अब तक बड़ी बहन के अदब से ज़ब्त किये बैठी थी। अब न रहा गया फुफकार उठी—हमें वोट चाहिए, पुरुषों के बराबर।

और कई युवतियों ने हाँक लगायी—वोट ! वोट !

ओंकारनाथ ने खड़े होकर ऊँचे स्वर में कहा—नारी-जाति के विरोधियों की

पगड़ी नीची हो।

मालती ने मेज़ पर हाथ पटकर कहा—शान्त रहो, जो लोग पक्ष या विपक्ष में कुछ कहना चाहेंगे, उन्हें पूरा अवसर दिया जायेगा।

मेहता बोले—वोट नये युग का माया-जाल है, मरीचिका है, कलंक है, धोखा है; उसके चक्कर में पड़कर आप न इधर की होंगी, न उधर की। कौन कहता है कि आपका क्षेत्र संकुचित है और उसमें आपको अभिव्यक्ति का अवकाश नहीं मिलता। हम सभी पहले मनुष्य हैं, पीछे और कुछ। हमारा जीवन हमारा घर है। वहीं हमारी सृष्टि होती है, वहीं हमारा पालन होता है, वहीं से जीवन के सारे व्यापर होते हैं। अगर वह क्षेत्र परिमित है, तो अपरिमित कौन-सा क्षेत्र है ? क्या वह संघर्ष, जहाँ संगठित अपहरण है ? जिस कारखाने में मनुष्य और उसका भाग्य बनता है, उसे छोड़कर आप उन कारख़ानों में जाना चाहती हैं, जहाँ मनुष्य पीसा जाता है, जहाँ उसका रक्त निकाला जाता है ?

मिर्ज़ा ने टोका—पुरुषों के जुल्म ने ही तो उनमें बग़ावत की यह स्पिरिट पैदा की है।

मेहता बोले—बेशक़, पुरुषों ने अन्याय किया है; लेकिन इसका यह जवाब नहीं है। अन्याय को मिटाइए, लेकिन अपने को मिटाकर नहीं।

मालती बोली—नारियाँ इसलिए अधिकार चाहती हैं कि उनका सदुपयोग करें और पुरुषों को उनका सदुपयोग करने से रोकें।

मेहता ने उत्तर दिया—संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको मिले हुए हैं। उन अधिकारों के सामने वोट कोई चीज़ नहीं। मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गयी हैं। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसीलिए कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीज़ें अच्छी हैं, वह उनसे लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है; लेकिन अन्धी नक़ल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है ! पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ की शिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाँहों या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूँ, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है ?

रायसाहब ने तालियाँ बजायीं। हाल तालियों से गूँज उठा, जैसे पटाखों की

टट्टियाँ छूट रही हों।

मिर्ज़ा साहब ने सम्पादकजी से कहा–जवाब तो आपके पास भी न होगा ?

सम्पादकजी ने विरक्त मन से कहा–सारे व्याख्यान में इन्होंने यही एक बात सत्य कही है।

"तब तो आप भी मेहता के मुरीद हुए !"

"जी नहीं, अपने लोग किसी के मुरीद नहीं होते। मैं इसका जवाब ढूँढ़ निकालूँगा, 'बिजली' में देखियेगा।"

"इसके माने यह हैं कि आप हक की तलाश नहीं करते, सिर्फ पक्ष के लिए लड़ना चाहते हैं।"

रायसाहब ने आड़े हाथों लिया–इसी पर आपको अपने सत्य-प्रेम का अभिमान है ?

सम्पादकजी अविचल रहे–वकील का काम अपने मुवक्किल का हित देखना है, सत्य या असत्य का निराकरण नहीं।

"तो यों कहिए कि आप औरतों के वकील हैं ?"

"मैं उन सभी का वकील हूँ, जो निर्बल हैं, निस्सहाय हैं, पीड़ित हैं।"

"बड़े बेहया हो यार !"

मेहताजी कह रहे थे–और यह पुरुषों का षड्यन्त्र है। देवियों को ऊँचे शिखर से खींचकर अपने बराबर बनाने के लिए, उन पुरुषों का, जो कायर हैं, जिनमें वैवाहिक जीवन का दायित्व संभालने की क्षमता नहीं है, जो स्वच्छन्द काम-क्रीड़ा की तरंगों में साँड़ों की भाँति दूसरों की हरी-भरी खेती में मुँह डालकर अपनी कुत्सित लालसाओं को तृप्त करना चाहते हैं। पश्चिम में इनका षड्यन्त्र सफल हो गया और देवियाँ तितलियाँ बन गयीं। मुझे यह कहते हुए शर्म आती है कि इस त्याग और तपस्या की भूमि भारत में भी कुछ वही हवा चलने लगी है। विशेषकर हमारी शिक्षित बहनों पर वह जादू बड़ी तेजी से चढ़ रहा है। वह गृहिणी का आदर्श त्यागकर तितलियों का रंग पकड़ रही हैं।

सरोज उत्तेजित होकर बोली–हम पुरुषों से सलाह नहीं माँगतीं। अगर वह अपने बारे में स्वतन्त्र हैं, तो स्त्रियाँ भी अपने विषय में स्वतन्त्र हैं। युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।

ज़ोर से तालियाँ बजीं, विशेषकर अगली पंक्तियों में, जहाँ महिलाएँ थीं।

मेहता ने जवाब दिया–जिसे तुम प्रेम कहती हो, वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है, तो मुक्त विलास में बिलकुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है, जो दम्पति को जीवनपर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का कोई असर नहीं होता। जहाँ

सेवा का अभाव है, वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। और आपके ऊपर, पुरुष-जीवन का नौका की कर्णधार होने के कारण जिम्मेदारी ज़्यादा है। आप चाहें तो नौका को आँधी और तूफ़ानों में पार लगा सकती हैं। और आपने असावधानी की, तो नौका डूब जायेंगी और उसके साथ आप भी डूब जायेगी।

भाषण समाप्त हो गया। विषय विवाद-ग्रस्त था और कई महिलाओं ने जवाब देने की अनुमति माँगी; मगर देर बहुत हो गयी थी। इसलिए मालती ने मेहता को धन्यवाद देकर सभा भंग कर दी। हाँ, यह सूचना दे दी गयी कि अगले रविवार को इसी विषय पर कई देवियाँ अपने विचार प्रकट करेंगी।

रायसाहब ने मेहता को बधाई दी—आपने मन की बातें कहीं मिस्टर मेहता। मैं आपके एक-एक शब्द से सहमत हूँ।

मालती हँसी—आप क्यों न बधाई देंगे, चोर-चोर मौसेरे भाई जो होते हैं; मगर यह सारा उपदेश ग़रीब नारियों ही के सिर क्यों थोपा जाता है ? उन्हीं के सिर क्यों आदर्श और मर्यादा और त्याग सब कुछ पालन करने का भार पटका जाता है ?

मेहता बोले—इसलिए कि वह बात समझती हैं।

खन्ना ने मालती की ओर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देखकर मानों उसके मन की बात समझने की चेष्टा करते हुए कहा—डाक्टर साहब के ये विचार मुझे तो कोई सौ साल पिछड़े हुए मालूम होते हैं।

मालती ने कटु होकर पूछा—कौन-से विचार ?

"यही सेवा और कर्त्तव्य आदि।"

"तो आपको ये विचार सौ साल पिछड़े हुए मालूम होते हैं ! तो कृपा करके अपने ताजे विचार बतलाइए। दम्पति कैसे सुखी रह सकते हैं, इसका ताज़ा नुसखा आपके पास है ?"

खन्ना खिसिया गये। बात कही मालती को खुश करने के लिए, वह तिनक उठी। बोले—यह नुसखा तो मेहता साहब को मालूम होगा।

"डाक्टर साहब ने तो बतला दिया और आपके ख्याल में वह सौ साल पुराना है, तो नया नुसखा आपको बतलाना चाहिए। आपको ज्ञात नहीं कि दुनिया में ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो कभी पुरानी हो ही नहीं सकतीं। समाज में इस तरह की समस्याएँ हमेशा उठती रहती हैं और हमेशा उठती रहेंगी।"

मिसेज खन्ना बरामदे में चली गयी थीं। मेहता ने उनके पास जाकर प्रणाम करते हुए पूछा—मेरे भाषण के विषय में आपकी क्या राय है ?

मिसेज खन्ना ने आँखें झुकाकर कहा—अच्छा था, बहुत अच्छा; मगर अभी आप अविवाहित हैं, जभी नारियाँ देवियाँ हैं, श्रेष्ठ हैं, कर्णधार हैं। विवाह कर लीजिए तो पूछूँगी, अब नारियाँ क्या हैं ? और विवाह आपको करना पड़ेगा, क्योंकि आप विवाह से मुँह चुरानेवाले मर्दों को कायर कह चुके हैं।

मेहता हँसे—उसी के लिए तो ज़मीन तैयार कर रहा हूँ।

"मिस मालती से जोड़ा भी अच्छा है।"

"शर्त यही है कि कुछ दिन आपके चरणों में बैठकर आपसे नारी-धर्म सीखें।"

"वही स्वार्थी पुरुषों की बात ! आपने पुरुष-कर्त्तव्य सीख लिया है ?"

"यही सोच रहा हूँ, किससे सीखूँ।"

"मिस्टर खन्ना आपको बहुत अच्छी तरह सिखा सकते हैं।"

मेहता ने क़हक़हा मारा—नहीं, मैं पुरुष-कर्त्तव्य भी आप ही से सीखूँगा।

'अच्छी बात है, मुझी से सीखिए। पहली बात यही है कि भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी ज़िम्मेदारी उसी पर है, श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा और संयम और कर्त्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है; अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी अभाव रहेगा। नारियों में आज जो यह विद्रोह है, इसका कारण पुरुष का इन गुणों से शून्य हो जाना है।'

मिर्ज़ा साहब ने आकर मेहता को गोद में उठा लिया और बोले—मुबारक !

मेहता ने प्रश्न की आँखों से देखा—आपको मेरी तक़रीर पसन्द आयी ?

"तकरीर तो खैर जैसी थी, मगर कामयाब खूब रही। आपने परी को शीशे में उतार लिया। अपनी तक़दीर सराहिए कि जिसने आज तक किसी को मुँह नहीं लगाया, वह आपका कलमा पढ़ रही है।"

मिसेज खन्ना दबी जबान से बोलीं—जब नशा ठहर जाये, तो कहिए।

मेहता ने विरक्त भाव से कहा—मेरे जैसे किताब के कीड़ों को कौन औरत पसन्द करेगी देवीजी ! मैं तो पक्का आदर्शवादी हूँ।

मिसेज खन्ना ने अपने पति को कार की तरफ़ जाते देखा, तो उधर चली गयीं। मिर्ज़ा भी बाहर निकल गये। मेहता ने मंच पर से अपनी छड़ी उठायी और बाहर जाना चाहते थे कि मालती ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया और आग्रह-भरी आँखों से बोली—आप अभी नहीं जा सकते। चलिए, पापा से आपकी मुलाक़ात कराऊँ और आज वहीं खाना खाइए।

मेहता ने कान पर हाथ रखकर कहा—नहीं, मुझे क्षमा कीजिए। वहाँ सरोज मेरी जान खायेगी। मैं इन लड़कियों से बहुत घबराता हूँ।

"नहीं-नहीं, मैं ज़िम्मा लेती हूँ, जो वह मुँह भी खोले।"

"अच्छा, आप चलिए, मैं थोड़ी देर में आऊँगा।"

"जी नहीं, यह न होगा। मेरी कार सरोज को लेकर चल दी। आप मुझे पहुँचाने तो चलेंगे ही।"

दोनों मेहता की कार में बैठे। कार चली।

एक क्षण बाद मेहता ने पूछा—मैंने सुना है, खन्ना साहब अपनी बीवी को मारा करते हैं। तब से मुझे इनकी सूरत से नफ़रत हो गयी। जो आदमी इतना निर्दयी हो, उसे मैं आदमी नहीं समझता। उस पर आप नारी जाति के बड़े हितैषी बनते हैं। तुमने उन्हें कभी समझाया नहीं ?

मालती उद्विग्न होकर बोली—ताली हमेशा दो हथेलियो से बजती है, यह आप भूल जाते हैं।

"मैं तो ऐसे किसी कारण की कल्पना ही नहीं कर सकता कि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे।"

"चाहे स्त्री कितनी ही बदजबान हो ?"

"हाँ, कितनी ही।"

"तो आप एक नये क़िस्म के आदमी हैं।"

"अगर मर्द बदमिज़ाज है, तो तुम्हारी राय में उस मर्द पर हंटरों की बौछार करनी चाहिए, क्यों ?"

"स्त्री जितनी क्षमाशील हो सकती है, पुरुष नहीं हो सकता। आपने ख़ुद आज यह बात स्वीकार की है।"

"तो औरत की क्षमाशीलता का यही पुरस्कार है ! मैं समझता हूँ, तुम खन्ना को मुँह लगाकर उसे और भी शह देती हो। तुम्हारा वह जितना आदर करता है, तुमसे उसे जितनी भक्ति है, उसके बल पर तुम बड़ी आसानी से उसे सीधा कर सकती हो; मगर तुम उसकी सफ़ाई देकर स्वयं उस अपराध में शरीक हो जाती हो।"

मालती उत्तेजित होकर बोली—तुमने इस समय यह प्रसंग व्यर्थ ही छेड़ दिया। मैं किसी की बुराई नहीं करना चाहती; मगर अभी आपने गोविन्दी देवी को पहचाना नहीं ? आपने उनकी भोली-भाली शान्त मुद्रा देखकर समझ लिया, वह देवी हैं। मैं उन्हें इतना ऊँचा स्थान नहीं देना चाहती। उन्होंने मुझे बदनाम करने का जितना प्रयत्न किया है, मुझ पर जैसे-जैसे आघात किये हैं, वह बयान करूँ, तो आप दंग रह जायेंगे और तब आपको मानना पड़ेगा कि ऐसी औरत के साथ यही व्यवहार होना चाहिए।

"आखिर उन्हें आपसे इतना द्वेष है, इसका कोई कारण तो होगा ?"

"कारण उनसे पूछिए। मुझे किसी के दिल का हाल क्या मालूम ?"

"उनसे बिना पूछे भी अनुमान किया जा सकता है और वह यह है—अगर कोई पुरुष मेरे और मेरी स्त्री के बीच में आने का साहस करे, तो मैं उसे गोली मार दूँगा, और उसे न मार सकूँगा, तो अपनी छाती में मार लूँगा। इसी तरह अगर मैं किसी स्त्री को अपने और अपनी स्त्री के बीच में लाना चाहूँ, तो मेरी पत्नी को भी अधिकार है कि वह जो चाहे, करे। इस विषय में मैं कोई समझौता नहीं कर सकता। यह अवैज्ञानिक मनोवृत्ति है, जो हमने अपने बनैले पूर्वजों मे पायी है और आजकल कुछ लोग इसे असभ्य और असामाजिक व्यवहार कहेंगे; लेकिन मैं अभी तक उस मनोवृत्ति पर विजय नहीं पा सका और न पाना चाहता हूँ। इस विषय में मैं कानून की परवाह नहीं करता। मेरे घर में मेरा कानून है।"

मालती ने तीव्र स्वर में पूछा—लेकिन आपने यह अनुमान कैसे कर लिया कि मैं आपके शब्दों में खन्ना और गोविन्दी के बीच आना चाहती हूँ ? आप ऐसा अनुमान

करके मेरा अपमान कर रहे हैं। मैं खन्ना को अपनी जूतियों की नोक के बराबर भी नहीं समझती'।

मेहता ने अविश्वास-भरे स्वर में कहा—यह आप दिल से नहीं कह रही हैं मिस मालती ! क्या आप सारी दुनिया को बेवकूफ़ समझती हैं ? जो बात सभी समझ रहे हैं, अगर वही बात मिसेज खन्ना भी समझें, तो मैं उन्हें दोष नहीं दे सकता।

मालती ने तिनककर कहा—दुनिया को दूसरों को बदनाम करने मे मज़ा आता है। यह उसका स्वभाव है। मैं उसका स्वभाव कैसे बदल दूँ; लेकिन यह व्यर्थ का कलंक है। हाँ, मैं इतनी बेमुरौवत नहीं हूँ कि खन्ना को अपने पास आते देखकर दुतकार देती। मेरा काम ही ऐसा है कि मुझे सभी का स्वागत और सत्कार करना पड़ता है। अगर कोई इसका कुछ और अर्थ निकालता है, तो वह··· वह···

मालती का गला भर्रा गया और उसने मुँह फेरकर रूमाल से आँसू पोंछे। फिर एक मिनट बाद बोली—औरों के साथ तुम भी मुझ··· मुझ··इसका दुख है··मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी।

फिर कदाचित् उसे अपनी दुर्बलता पर खेद हुआ। वह प्रचण्ड होकर बोली—आपको मुझ पर आक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है; अगर आप भी उन्हीं मर्दों में हैं, जो किसी स्त्री-पुरुष का साथ देखकर उँगली उठाए बिना नहीं रह सकते, तो शौक से उठाइए। मुझे रत्ती-भर परवा नहीं। अगर कोई स्त्री आपके पास बार-बार किसी-न-किसी बहाने से आये, आपको अपना देवता समझे, हरएक बात में आपसे सलाह ले, आपके चरणों के नीचे आँखें बिछाए, आपका इशारा पाते ही आग में कूदने को तैयार हो, तो मैं दावे से कह सकती हूँ, आप उसकी उपेक्षा न करेंगे। अगर आप उसे ठुकरा सकते हैं, तो आप मनुष्य नहीं हैं उसके विरुद्ध आप कितने ही तर्क और प्रमाण लाकर रख दें; लेकिन मैं मानूँगी नहीं। मैं तो कहती हूँ, उपेक्षा तो दूर रही, ठुकराने की बात ही क्या, आप उस नारी के चरणा धो-धोकर पियेंगे, और बहुत दिन गुज़रने के पहले वह आपकी हृदयेश्वरी होगी मैं आपसे हाथ जोड़कर कहती हूँ, मेरे सामने खन्ना का कभी नाम न लीजिएगा।

मेहता ने इस ज्वाला में मानो हाथ सेंकते हुए कहा—शर्त यही है कि मैं खन्ना को आपके साथ न देखूँ।

"मैं मानवता की हत्या नहीं कर सकती। वह आयेंगे तो मैं उन्हें दुरदुराऊँगी नहीं।"

"उनसे कहिए, अपनी स्त्री के साथ सज्जनता से पेश आयें।"

"मैं किसी के निजी मुआमले में दख़ल देना उचित नहीं समझती। न मुझे इसका अधिकार है।"

"तो आप किसी की जबान नहीं बन्द कर सकतीं।"

मालती का बँगला आ गया। कार रुक गयी। मालती उतर पड़ी और बिना हाथ मिलाए चली गयी। वह यह भी भूल गयी कि उसने मेहता को भोजन की दावत

दी है। वह एकान्त में जाकर खूब रोना चाहती है। गोविन्दी ने पहले भी आघात किये हैं, पर आज उसने जो आघात किया है, वह बहुत गहरा, बड़ा चौड़ा बड़ा मर्मभेदी है।

सोलह

रायसाहब को ख़बर मिली कि इलाके में एक वारदात हो गयी है और होरी से गाँव के पंचों ने जुरमाना वसूल कर लिया है, तो फौरन नोखेराम को बुलाकर जवाब-तलब किया—क्यों उन्हें, इसकी इत्तला नहीं दी गयी। ऐसे नमकहराम दगाबाज़ आदमी के लिए उनके दरबार में जगह नहीं है।

नोखेराम ने इतनी गालियाँ खायीं, तो ज़रा गर्म होकर बोले—मैं अकेला थोड़ा ही था। गाँव के और पंच भी तो थे। मैं अकेला क्या कर लेता ?

रायसाहब ने उनकी तोंद की तरफ़ भाले-जैसी नुकीली दृष्टि से देखा—मत बको जी ! तुम्हें उसी वक़्त कहना चाहिए था, जब तक सरकार की इत्तला न हो जाये, मै पंचों को जुरमाना न वसूल करने दूँगा। पंचों को मेरे और मेरी रिआया के बीच मे दख़ल देने का हक़ क्या है ? इस डाँड़-बाँध के सिवा इलाके में और कौन-सी आमदनी है ? वसूली सरकार के घर गयी। बकाया असामियों ने दबा लिया। तब मैं कहाँ जाऊँ ? क्या खाऊँ, तुम्हारा सिर ! यह लाखों रुपये साल का ख़र्च कहाँ से आये ? खेद है कि दो पुश्तों से कारिन्दगीरी करने पर मुझे आज तुम्हें यह बात बतलानी पड़ती है। कितने रुपये वसूल हुए थे होरी से ?

नोखेराम ने सिटपिटाकर कहा—अस्सी रुपये !

"नकद ?"

"नकद उसके पास कहाँ थे हुजूर ! कुछ अनाज दिया, बाकी में अपना घर लिख दिया।"

रायसाहब ने स्वार्थ का पक्ष छोड़कर होरी का पक्ष लिया—अच्छा, तो आपने और बगुलाभगत पंचो ने मिलकर मेरे एक मातबर आसामी को तबाह कर दिया। मैं पूछता हूँ, तुम लोगों को क्या हक था कि मेरे इलाके में मुझे इत्तिला दिये बग़ैर मेरे असामी से जुरमाना वसूल करते ? इसी बात पर अगर मैं चाहूँ, तो आपको, उस जालिए पटवारी और उस धूर्त पण्डित को सात-सात साल के लिए जेल भिजवा सकता हूँ। आपने समझ लिया कि आप ही इलाके के बादशाह हैं। मैं कहे देता हूँ, आज शाम तक जुरमाने की पूरी रक़म मेरे पास पहुँच जाये, वरना बुरा होगा। मैं एक-एक को चक्की पिसवाकर छोड़ूँगा। जाइए, हाँ, होरी को और उसके लड़के को मेरे पास भेज दीजिएगा।

नोखेराम ने दबी ज़बान से कहा—उसका लड़का तो गाँव छोड़कर भाग गया। जिस रात को यह वारदात हुई उसी रात को भागा।

रायसाहब ने रोष से कहा—झूठ मत बोलो। तुम्हें मालूम है, झूठ से मेरे बदन

में आग लग जाती है। मैंने आज तक कभी नहीं सुना कि कोई युवक अपनी प्रेमिका को उसके घर से लाकर फिर खुद भाग जाये। अगर उसे भागना ही होता, तो वह उस लड़की को लाता क्यों ? तुम लोगों की इसमें भी ज़रूर कोई शरारत है। तुम गंगा में डूबकर भी अपनी सफ़ाई दो, तो मानने का नहीं। तुम लोगों ने अपने समाज की प्यारी मर्यादा की रक्षा के लिए उसे धमकाया होगा। बेचारा भाग न जाता, तो क्या करता !

नोखेराम इसका प्रतिवाद न कर सके। मालिक जो कुछ कहे, वह ठीक है। वह यह भी न कह सके कि आप खुद चलकर झूठ-सच की जाँच कर लें। बड़े आदमियों का क्रोध पूरा समर्पण चाहता है। अपने खिलाफ़ एक शब्द भी नहीं सुन सकता।

पंचों ने रायसाहब का यह फ़ैसला सुना, तो नशा हिरन हो गया। अनाज तो अभी तक ज्यों का त्यों पड़ा था; पर रुपये तो कब के ग़ायब हो गये। होरी का मकान रेहन लिखा गया था; पर उस मकान को देहात मे कौन पूछता था ? जैसे हिन्दू स्त्री पति के साथ घर की स्वामिनी है, और पति त्याग दे, तो कहीं की नही रहती, उसी तरह यह घर होरी के लिए लाख रुपये का है, पर उसकी असली कीमत कुछ भी नहीं। और इधर रायसाहब बिना रुपये लिये मानने के नहीं। यही होरी जाकर रो आया होगा। पटेश्वरीलाल सबसे ज़्यादा भयभीत थे। उनकी तो नौकरी ही चली जायेगी। चारो सज्जन इस गहन समस्या पर विचार कर रहे थे, पर किसी की अक्ल काम न करती थी। एक दूसरे पर दोष रखता था। फिर खूब झगड़ा हुआ।

पटेश्वरी ने अपनी लम्बी शंकाशील गर्दन हिलाकर कहा—मैं मना करता था कि होरी के विषय में हमें चुप्पी साधकर रह जाना चाहिए। गाय के मामले में सबको तावान देना पड़ा। इस मामले में तावान ही से गला न छूटेगा, नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा; मगर तुम लोगों को रुपये की पड़ी थी। निकालो बीस-बीस रुपये। अब भी कुशल है। कहीं रायसाहब ने रपट कर दी, तो सब जने बँध जाओगे।

दातादीन ने ब्रह्मतेज दिखाकर कहा—मेरे पास बीस रुपये की जगह बीस पैसे भी नहीं हैं। ब्राह्मणों को भोज दिया गया, होम हुआ। क्या इसमें कुछ खरच ही नहीं हुआ ? रायसाहब की हिम्मत है कि मुझे जेल ले जायें ? ब्रह्म बनकर घर का घर मिटा दूँगा। अभी उन्हें किसी ब्राह्मण से पाला नहीं पडा।

झिंगुरीसिंह ने भी कुछ इसी आशय के शब्द कहे। वह रायसाहब के नौकर नहीं हैं। उन्होंने होरी को मारा नहीं, पीटा नहीं; कोई दबाव नहीं डाला। होरी अगर प्रायश्चित्त करना चाहता था, तो उन्होंने इसका अवसर दिया। इसके लिए कोई उन पर अपराध नहीं लगा सकता; मगर नोखेराम की गर्दन इतनी आसानी से न छूट सकती थी। यहाँ मज़े से राज करते थे। वेतन तो दस रुपये से ज़्यादा न था; पर एक हज़ार साल की ऊपर की आमदनी थी, सैकड़ों आदमियों पर हुकूमत, चार-चार प्यादे हाज़िर, बेगार में सारा काम हो जाता था, थानेदार तक कुरसी देते थे, यह

चैन उन्हें और कहाँ था ! और पटेश्वरी तो नौकरी के बदौलत महाजन बने हुए थे। कहाँ जा सकते थे ? दो-तीन दिन इसी चिन्ता में पड़े रहे कि कैसे इस विपत्ति से निकलें। आख़िर उन्हें एक मार्ग सूझ ही गया। कभी-कभी कचहरी में उन्हें दैनिक 'बिजली' देखने को मिल जाती थी। यही एक गुमनाम पत्र उसके सम्पादक की सेवा में भेज दिया जाये कि रायसाहब किस तरह असामियों से जुरमाना वसूल करते हैं, तो बचा को लेने के देने पड़ जायें। नोखेराम भी सहमत हो गये। दोनों ने मिलकर किसी तरह एक पत्र लिखा और रजिस्ट्री से भेज दिया।

सम्पादक ओंकारनाथ तो ऐसे पत्रों की ताक में रहते थे। पत्र पाते ही तुरन्त रायसाहब को सूचना दी। उन्हें एक ऐसा समाचार मिला है, जिस पर विश्वास करने की उनकी इच्छा नहीं होती; संवाददाता ने ऐसे प्रमाण दिये हैं कि सहसा अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। क्या यह सच है कि रायसाहब ने अपने इलाके के एक असामी से अस्सी रुपये तावान इसलिए वसूल किये कि उसके पुत्र ने एक विधवा को घर में डाल लिया था ? सम्पादक का कर्त्तव्य उन्हें मजबूर करता है कि मुआमले की जाँच करें और जनता के हितार्थ उसे प्रकाशित कर दें। रायसाहब इस विषय में जो कुछ कहना चाहें, सम्पादकजी उसे भी प्रकाशित कर देंगे। सम्पादकजी दिल से चाहते हैं कि यह ख़बर ग़लत हो; लेकिन उसमें कुछ भी सत्य हुआ, तो वह उसे प्रकाश में लाने के लिए विवश हो जायेंगे। मैत्री उन्हें कर्त्तव्य-पथ से नहीं हटा सकती।

रायसाहब ने यह सूचना पायी, तो सिर पीट लिया। पहले तो उनको ऐसी उत्तेजना हुई कि जाकर ओंकारनाथ को गिनकर पचास हंटर जमायें और कह दें, जहाँ वह पत्र छापना, वहाँ यह समाचार भी छाप देना; लेकिन इसका परिणाम सोचकर मन को शान्त किया और तुरन्त उनसे मिलने चले। अगर देर की, और ओंकारनाथ ने वह संवाद छाप दिया, तो उनके सारे यश में कालिमा पुत जायेगी।

ओंकारनाथ सैर करके लौटे थे और आज के पत्र के लिए सम्पादकीय लेख लिखने की चिंता में बैठे हुए थे; पर मन पक्षी की भाँति अभी उड़ा-उड़ा फिरता था। उनकी धर्मपत्नी ने रात में उन्हें कुछ ऐसी बातें कह डाली थीं, जो अभी तक काँटों की तरह चुभ रही थीं। उन्हें कोई दरिद्र कह ले, अभागा कह ले, बुद्धू कह ले वह ज़रा भी बुरा न मानते थे; लेकिन यह कहना कि उनमें पुरुषत्व नहीं है, यह उनके लिए असह्य था। और फिर अपनी पत्नी को यह कहने का क्या हक़ है ? उससे तो यह आशा की जाती है कि कोई इस तरह का आक्षेप करे, तो उसका मुँह बन्द कर दे। बेशक़ वह ऐसी ख़बरें नहीं छापते, ऐसी टिप्पणियाँ नहीं करते कि सिर कोई आफत आ जाये। फूँक-फूँककर कदम रखते हैं। इन काले क़ानूनों के युग में वह और कर ही क्या सकते हैं; मगर वह क्यों साँप के बिल में हाथ नहीं डालते ? इसलिए तो कि उनके घरवालों को कष्ट न उठाने पड़े। और उनकी सहिष्णुता का उन्हें यह पुरस्कार मिल रहा है ? क्या अंधेरे हैं ! उनके पास रुपये नहीं हैं, तो बनारसी साड़ी कैसे मँगा दें ? डाक्टर सेठ और प्रोफेसर भाटिया और न जाने किस-किसकी स्त्रियाँ

वनारसी साड़ी पहनती हैं, तो क्या करे ? क्यो उनकी पत्नी इन साड़ीवालियों को अपनी खद्दर की साडी से लज्जित नहीं करतीं ? उनकी खुद तो यह आदत है कि किसी बड़े आदमी से मिलने जाते हैं, तो मोटे से मोटे कपडे पहन लेते हैं और कोई कुछ आलोचना करें, तो उसका मुँहतोड़ जवाब देने को तैयार रहते है उनकी पत्नी में क्यों वही आत्माभिमान नही है ? वह क्यों दूसरों का ठाट-बाट देखकर विचलित हो जाती है ? उसे समझना चाहिए कि वह एक देश-भक्त पुरुष की पत्नी है। देश-भक्त के पास अपनी भक्ति के सिवा और क्या सम्पत्ति है ? इसी विषय को आज के अग्रलेख का विषय बनाने की कल्पना करते-करते उनका ध्यान रायसाहब के मुआमले की ओर जा पहुँचा। रायसाहब सूचना का क्या उत्तर देते हैं, यह देखना है। अगर वह अपनी सफ़ाई देने में सफल हो जाते हैं, तब तो कोई बात नहीं; लेकिन अगर वह यह समझें कि ओंकारनाथ दबाव, भय या मुलाहजे मे आकर अपने कर्त्तव्य से मुँह फेर लेंगे तो यह उनका भ्रम है। इस सारे तप और साधना का पुरस्कार उन्हे इसके सिवा और क्या मिलता है कि रायसाहब बडे प्रभावशाली जीव है कौंसिल के मेम्बर तो हैं ही, अधिकारियों में भी उनकी काफी रसूख है। वह चाहे, तो उन पर झूठे मुक़दमे चलवा सकते है, अपने गुण्डों से राह चलते पिटवा सकते हैं; लेकिन ओंकार इन बातों से नही डरता। जब तक उसकी देह में प्राण है, वह आततायियों की ख़बर लेता रहेगा।

सहसा मोटरकार की आवाज सुनकर वह चौंके। तुरन्त काग़ज लेकर अपना लेख आरम्भ कर दिया। और एक क्षण मे रायसाहब ने उनके कमरे मे कदम रक्खा।

ओंकारनाथ ने न उनका स्वागत किया, न कुशल-क्षेम पूछा, न कुरसी दी। उन्हें इस तरह देखा, मानो कोई मुलज़िम उनकी अदालत में आया हो और रोब से मिले हुए स्वर में पूछा—आपको मेरा पुरजा मिल गया था ? मैं वह पत्र लिखने के लिए बाध्य था, मेरा कर्त्तव्य यह था कि स्वयं उसकी तहकीकात करता; लेकिन मुरौवत में सिद्धान्तों की कुछ-न-कुछ हत्या करनी ही पड़ती है। क्या उस संवाद में कुछ सत्य है ?

रायसाहब उसका सत्य होना अस्वीकार न कर सके। हालाँकि अभी तक उन्हें जुरमाने के रुपये नहीं मिले थे और वह उनके पाने से साफ़ इनकार कर सकते थे; लेकिन वह देखना चाहते थे कि यह महाशय किस पहलू पर चलते हैं।

ओंकारनाथ ने खेद प्रकट करते हुए कहा—तब तो मेरे लिए उस संवाद को प्रकाशित करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं है। मुझे इसका दुःख है कि मुझे अपने एक परम हितैषी मित्र की आलोचना करनी पड़ रही है; लेकिन कर्त्तव्य के आगे व्यक्ति कोई चीज़ नहीं। संपादक अगर अपना कर्त्तव्य न पूरा कर सके, तो उसे इस आसन पर बैठने का कोई हक़ नहीं है।

रायसाहब कुरसी पर डट गये और पान की गिलौरियाँ मुँह में भरकर बोले—लेकिन यह आपके हक़ में अच्छा न होगा। मुझे जो कुछ होना है, पीछे होगा,

आपको तत्काल दण्ड मिल जायेगा; अगर आप मित्रों की परवाह नहीं करते, तो मैं भी उसी कैंड़े का आदमी हूँ।

ओंकारनाथ ने शहीद का गौरव धारण करके कहा—इसका तो मुझे कभी भय नहीं हुआ। जिस दिन मैंने पत्र-सम्पादन का भार लिया, उसी दिन प्राणो का मोह छोड़ दिया, और मेरे समीप एक सम्पादक की सबसे शानदार मौत यही है कि वह न्याय और सत्य की रक्षा करता हुआ अपना बलिदान कर दे।

"अच्छी बात है। मैं आपकी चुनौती स्वीकार करता हूँ। मैं अब तक आपको मित्र समझता आया था; मगर अब आप लड़ने ही पर तैयार हैं, तो लड़ाई ही सही। आखिर मैं आपके पत्र का पाँचगुना चन्दा क्यों देता हूँ ? केवल इसीलिए कि वह मेरा गुलाम बना रहे। मुझे परमात्मा ने रईस बनाया है। पचहत्तर रुपया देता हूँ, इसीलिए कि आपका मुँह बन्द रहे। जब आप घाटे का रोना रोते हैं और सहायता की अपील करते हैं, और ऐसी शायद ही कोई तिमाही जाती हो, जब आपकी अपील न निकलती हो, तो मैं ऐसे मौक़े पर आपकी कुछ-न-कुछ मदद कर देता हूँ। किसलिए ? दीपावली, दशहरा, होली में आपके यहाँ बैना भेजता हूँ, और साल मे पच्चीस बार आपकी दावत करता हूँ, किसलिए ? आप रिश्वत और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते।"

ओकारनाथ उत्तेजित होकर बोले—मैंने कभी रिश्वत नहीं ली।

रायसाहब ने फटकारा—अगर यह व्यवहार रिश्वत नहीं है तो रिश्वत क्या है, जरा मुझे समझा दीजिए ? क्या आप समझते हैं, आपको छोड़कर और सभी गधे हैं, जो निःस्वार्थ भाव से आपका घाटा पूरा करते हैं ? निकालिए अपनी बही और बतलाइए, अब तक आपको मेरी रियासत से कितना मिल चुका है ? मुझे विश्वास है, हज़ारों की रक़म निकलेगी। अगर आपको स्वदेशी-स्वदेशी चिल्लाकर विदेशी दवाओ और वस्तुओं का विज्ञापन छापने में शरम नहीं आती, तो मैं अपने असामियों से डाँड़, तावान और जुर्माना लेते क्यों शरमाऊँ ? यह न समझिए कि आप ही किसानों के हित का बीड़ा उठाये हुए हैं। मुझे किसानों के साथ जलना-मरना है, मुझसे बढ़कर दूसरा उनका हितेच्छु नही हो सकता; लेकिन मेरी गुज़र कैसे हो ? अफ़सरों को दावतें कहाँ से दूँ, सरकारी चन्दे कहाँ से दूँ, ख़ानदान के सैकड़ों आदमियों की ज़रूरतें कैसे पूरी करूँ ? मेरे घर का क्या ख़र्च है, यह शायद आप जानते हैं। तो क्या मेरे घर में रुपये फलते हैं ? आयेगा तो असामियों ही के घर से। आप समझते होंगे, ज़मींदार और ताल्लुकेदार सारे संसार का सुख भोग रहे हैं। उनकी असली हालत का आपको ज्ञान नहीं; अगर वह धर्मात्मा बनकर रहें, तो उनका ज़िन्दा रहना मुश्किल हो जाये। अफ़सरों को डालियाँ न दें, तो ज़ेलखाना घर हो जाये। हम बिच्छू नहीं हैं कि अनायास ही सबको डंक मारते फिरें। न ग़रीबों का गला दबाना कोई बड़े आनन्द का काम है; लेकिन मर्यादाओं का पालन तो करना ही पड़ता है। जिस तरह आप मेरी रईसी का फ़ायदा उठाना चाहते हैं, उसी तरह और सभी हमें सोने की

मुर्गी समझते हैं। आइए, मेरे बँगले पर तो दिखाऊँ कि सुबह से शाम तक कितने निशाने मुझ पर पड़ते हैं। कोई काश्मीर से शाल-दुशाला लिये चला आ रहा है, कोई इत्र और तम्बाकू का एजेंट है, कोई पुस्तकों और पत्रिकाओं का, कोई जीवन-बीमे का, कोई ग्रामोफ़ोन लिये सिर पर सवार है, कोई कुछ। चन्देवाले तो अनगिनती। क्या सबके सामने अपना दुखड़ा लेकर बैठ जाऊँ ? ये लोग मेरे द्वार पर दुखड़ा सुनाने आते हैं ? आते हैं मुझे उल्लू बनाकर मुझसे कुछ ऐंठने के लिए। आज मर्यादा का विचार छोड़ दूँ, तो तालियाँ पिटने लगें। हुक्काम को डालियाँ न दूँ, बाग़ी समझा जाऊँ। तब आप अपने लेखों से मेरी रक्षा न करेंगे। कांग्रेस में शरीक हुआ, उसका तावान अभी तक देता जाता हूँ। काली किताब में नाम दर्ज हो गया। मेरे सिर पर कितना कर्ज़ है, यह भी कभी आपने पूछा ? अगर सभी महाजन डिग्रियाँ करा लें, तो मेरे हाथ की यह अँगूठी तक बिक जायेगी। आप कहेंगे, क्यों यह आडम्बर पालते हो ? कहिए, सात पुश्तों से जिस वातावरण में पला हूँ, उससे अब निकल नहीं सकता। घास छीलना मेरे लिए असम्भव है। आपके पास ज़मीन नहीं, जायदाद नही, मर्यादा का झमेला नहीं, आप निर्भीक हो सकते हैं; लेकिन आप भी दुम दबाए बैठे रहते हैं। आपको कुछ ख़बर है, अदालतों में कितनी रिश्वतें चल रही हैं, कितने ग़रीबो का खून हो रहा है, कितनी देवियाँ भ्रष्ट हो रही हैं ! है बूता लिखने का ? सामग्री मैं देता हूँ, प्रमाणसहित।

ओंकारनाथ कुछ नम्र होकर बोले—जब कभी अवसर आया है, मैंने क़दम पीछे नहीं हटाया।

रायसाहब भी कुछ नर्म हुए—हाँ, मैं स्वीकार करता हूँ कि दो-एक मौक़ों पर आपने जवाँमर्दी दिखाई है; लेकिन आपकी निगाह हमेशा अपने लाभ की ओर रही है, प्रजा-हित की ओर नहीं। आँखें न निकालिए और न मुँह लाल कीजिए। जब कभी आप मैदान में आये हैं, उसका शुभ परिणाम यही हुआ कि आपके सम्मान और प्रभाव और आमदनी में इज़ाफ़ा हुआ है; अगर मेरे साथ भी आप वही चाल चल रहे हों, तो आपकी खातिर करने को तैयार हूँ। रुपए न दूँगा; क्योंकि वह रिश्वत है। आपकी पत्नीजी के लिए कोई आभूषण बनवा दूँगा। है मंजूर ? अब मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि आपको जो संवाद मिला, वह ग़लत है; मगर यह भी कह देना चाहता हूँ कि अपने और सभी भाइयों की तरह मैं भी असामियों से ज़ुर्माना लेता हूँ और साल में दस-पाँच हज़ार रुपये मेरे हाथ लग जाते हैं, और अगर आप मेरे मुँह से यह कौर छीनना चाहेंगे, तो आप घाटे में रहेंगे। आप भी संसार में सुख से रहना चाहते हैं, मैं भी चाहता हूँ। इससे क्या फ़ायदा कि आप न्याय और कर्त्तव्य का ढोंग रचकर मुझे भी ज़ेरबार करें, खुद भी ज़ेरबार हों। दिल की बात कहिए। मैं आपका बैरी नहीं हूँ। आपके साथ कितनी ही बार एक चौके में एक मेज़ पर खा चुका हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि आप तकलीफ़ में हैं। आपकी हालत शायद मेरी हालत से भी ख़राब है। हाँ, अगर आपने हरिश्चन्द्र बनने की कसम खा ली

है, तो आपकी खुशी। मै चलता हूँ।

रायसाहब कुरसी से उठ खड़े हुए। ओंकारनाथ ने उनका हाथ पकड़कर संधिभाव से कहा—नही-नहीं, अभी आपको बैठना पड़ेगा। मैं अपनी पोजीशन साफ़ कर देना चाहता हूँ। आपने मेरे साथ जो सलूक किये हैं, उनके लिए मैं आपका आभारी हूँ; लेकिन यहाँ सिद्धान्त की बात आ गयी है और आप जानते हैं, सिद्धान्त प्राणों से भी प्यारे होते हैं।

रायसाहब कुर्सी पर बैठकर ज़रा मीठे स्वर मे बोले—अच्छा भाई, जो चाहे लिखो। तुम्हारे सिद्धान्त को तोड़ना नही चाहता। और तो क्या होगा, बदनामी होगी। हाँ, कहाँ तक नाम के पीछे-पीछे मरूँ! कौन ऐसा ताल्लुकेदार है, जो असामियों को थोड़ा-बहुत नही सताता। कुत्ता हड्डी की रखवाली करे तो खाये क्या? मैं इतना ही कर सकता हूँ, आगे आपको इस तरह की कोई शिकायत न मिलेगी; अगर आपको मुझ पर विश्वास है, तो इस बार क्षमा कीजिए। किसी दूसरे सम्पादक से मैं इस तरह की खुशामद न करता। उसे सरे बाज़ार पिटवाता लेकिन मुझसे आपकी दोस्ती है, इसलिए दबना ही पड़ेगा। यह समाचार-पत्रों का युग है। सरकार तक उनसे डरती है। मेरी हस्ती क्या! आप जिसे चाहें बना दें। ख़ैर, यह झगड़ा खतम कीजिए, कहिए आजकल पत्र की क्या दशा है? कुछ ग्राहक बढ़े?

ओंकारनाथ ने अनिच्छा के भाव से कहा—किसी-न-किसी तरह काम चल जाता है और वर्तमान परिस्थिति में मैं इससे अधिक आशा नहीं रखता। मैं इस तरफ़ धन और भोग की लालसा लेकर नहीं आया था, इसलिए मुझे शिकायत नहीं है। मैं जनता की सेवा करने आया था और वह यथाशक्ति किये जाता हूँ। राष्ट्र का कल्याण हो, यही मेरी कामना है। एक व्यक्ति के सुख-दुख का कोई मूल्य नहीं।

रायसाहब ने ज़रा और सहृदय होकर कहा—यह सब ठीक है भाई साहब; लेकिन सेवा करने के लिए भी जीना ज़रूरी है। आर्थिक चिन्ताओं में आप एकाग्रचित्त होकर सेवा भी तो नहीं कर सकते। क्या ग्राहक-संख्या बिलकुल नहीं बढ़ रही है?

"बात यह है कि मैं अपने पत्र का आदर्श गिराना नहीं चाहता; अगर मैं आज सिनेमा-स्टारों के चित्र और चरित्र छापने लगूँ तो मेरे ग्राहक बढ़ सकते हैं; लेकिन अपनी तो वह नीति नहीं। और भी कितने ही ऐसे हथकण्डे हैं, जिनसे पत्रों द्वारा धन कमाया जा सकता है, लेकिन मैं उन्हें गर्हित समझता हूँ।"

"इसी का यह फल है कि आज आपका इतना सम्मान है। मैं एक प्रस्ताव करना चाहता हूँ। मालूम नहीं, आप उसे स्वीकार करेंगे या नहीं। आप मेरी ओर से सौ आदमियों के नाम फ़्री कापी जारी कर दीजिए। चन्दा मैं दे दूँगा।"

ओंकारनाथ ने कृतज्ञता से सिर झुकाकर कहा—मैं धन्यवाद के साथ आपका दान स्वीकार करता हूँ। खेद यही है कि पत्रों की ओर से जनता कितनी उदासीन है। स्कूल और कालिजों और मन्दिरों के लिए धन की कमी नहीं है, पर आज तक एक भी ऐसा दानी न निकला, जो पत्रों के प्रचार के लिए दान देता, हालाँकि जन-शिक्षा

का उद्देश्य जितने कम ख़र्च में पत्रों से पूरा हो सकता है, और किसी तरह नहीं हो सकता। जैसे शिक्षालयों को संस्थाओं द्वारा सहायता मिला करती है, ऐसे ही अगर पत्रकारों को मिलने लगे, तो इन बेचारों को अपना जितना समय और स्थान विज्ञापनों की भेंट करना पड़ता है, वह क्यों करना पड़े ? मैं आपका बड़ा अनुगृहीत हूँ।

रायसाहब विदा हो गये। ओंकारनाथ के मुख पर प्रसन्नता की झलक न थी। रायसाहब ने किसी तरह की शर्त न की थी, कोई बन्धन न लगाया था; पर ओंकारनाथ आज इतनी करारी फटकार पाकर भी इस दान को अस्वीकार न कर सके। परिस्थिति ऐसी आ पड़ी थी कि उन्हें उबरने का कोई उपाय ही न सूझ रहा था। प्रेस के कर्मचारियों का तीन महीने का वेतन बाकी पड़ा हुआ था। काग़ज़वाले के एक हज़ार से ऊपर आ रहे थे ; यही क्या कम था कि उन्हें हाथ नहीं फैलाना पड़ा।

उनकी स्त्री गोमती ने आकर विद्रोह के स्वर में कहा—क्या अभी भोजन का समय नहीं आया या यह भी कोई नियम है कि जब तक एक न बज जाये, जगह से न उठो ? कब तक कोई चूल्हा अगोरता रहे ?

ओंकारनाथ ने दुखी आँखों से पत्नी की ओर देखा। गोमती का विद्रोह उड़ गया। वह उनकी कठिनाइयों को समझती थी। दूसरी महिलाओं के वस्त्राभूषण देखकर कभी-कभी उसके मन में विद्रोह के भाव जाग उठते थे और वह पति को दो-चार जली-कटी सुना जाती थी; पर वास्तव में यह क्रोध उनके प्रति नहीं, अपने दुर्भाग्य के प्रति था, और इसको थोड़ी-सी आँच अनायास ही ओंकारनाथ तक पहुँच जाती थी। वह उनका तपस्वी जीवन देखकर मन में कुढ़ती थी और उनसे सहानुभूति भी रखती थी। बस, उन्हें थोड़ा-सा सनकी समझती थी। उनका उदास मुँह देखकर पूछा—क्यों उदास हो, पेट में कुछ गड़बड़ है क्या ?

ओंकारनाथ को मुस्कराना पड़ा—कौन उदास है, मैं ? मुझे तो जितनी खुशी है, उतनी अपने विवाह के दिन भी न हुई थी। आज सबेरे पन्द्रह सौ की बोहनी हुई। किसी भाग्यवान का मुँह देखा था।

गोमती को विश्वास न आया, बोली—झूठे हो। तुम्हें पन्द्रह सौ कहाँ से मिल जाते हैं ? हाँ, पन्द्रह रुपये कहो, मान लेती हूँ।

"नहीं-नहीं, तुम्हारे सिर की क़सम, पन्द्रह सौ मारे। अभी रायसाहब आये थे सौ ग्राहकों का चन्दा अपनी तरफ़ से देने का वचन दे गये हैं।"

गोमती का चेहरा उतर गया—तो मिल चुके ?

"नहीं, रायसाहब वादे के पक्के हैं।"

"मैंने किसी ताल्लुकेदार को वादे का पक्का देखा ही नहीं। दादा एक ताल्लुकेदार के नौकर थे। साल-सालभर तलब नहीं मिलती थी। उसे छोड़कर दूसरे की नौकरी की। उसने दो साल तक एक पाई न दी। एक बार दादा गरम पड़े, तो मारकर भगा दिया। इनके वादों का कोई क़रार नहीं।"

"मैं आज ही बिल भेजता हूँ।"

"भेजा करो। कह देंगे, कल आना। कल अपने इलाके पर चले जायेंगे। तीन महीने में लौटेंगे।'

ओंकारनाथ संशय में पड़ गये। ठीक तो है, कहीं रायसाहब पीछे से मुकर गये तो वह क्या कर लेंगे ? फिर भी दिल मजबूत करके कहा–ऐसा नहीं हो सकता। कम-से-कम रायसाहब को मैं इतना धोखेबाज़ नहीं समझता। मेरा उनके यहाँ कुछ बाकी नहीं है।

गोमती ने उसी सन्देह के भाव से कहा–इसी से तो मैं तुम्हें बुद्धू कहती हूँ। ज़रा किसी ने सहानुभूति दिखाई और तुम फूल उठे। मोटे रईस हैं। इनके पेट में ऐसे कितने वादे हज़म हो सकते हैं। जितने वादे करते हैं, अगर सब पूरा करने लगें, तो भीख माँगने की नौबत आ जाये। मेरे गाँव के ठाकुर साहब तो दो-दो, तीन-तीन साल तक बनियों का हिसाब न करते थे। नौकरों का हिसाब तो नाम के लिए देते थे। साल-भर काम लिया, जब नौकर ने वेतन माँगा, मारकर निकाल दिया। कई बार इसी नादिहेन्दी में स्कूल से उनके लड़कों के नाम कट गये। आखिर उन्होंने लड़कों को घर बुला लिया। एक बार रेल का टिकट उधार माँगा था। यह रायसाहब भी तो उन्हीं के भाईबन्द हैं। चलो भोजन करो और चक्की पीसो, जो तुम्हारे भाग्य में लिखा है। यह समझ लो कि ये बड़े आदमी तुम्हें फटकारते रहें, वही अच्छा है। यह तुम्हें एक पैसा देंगे, तो उसका चौगुना अपने असामियों से वसूल कर लेंगे। अभी उनके विषय में जो कुछ चाहते हो, लिखते हो। तब तो ठकुरसोहाती ही करनी पड़ेगी।

पण्डितजी भोजन कर रहे थे; पर कौर मुँह में फँसा हुआ जान पड़ता था। आखिर बिना दिल का बोझ हलका किये, भोजन करना कठिन हो गया। बोले–अगर रुपये न दिये, तो ऐसी ख़बर लूँगा कि याद करेंगे। उनकी चोटी मेरे हाथ में है। गाँव के लोग झूठी ख़बर नहीं दे सकते। सच्ची खबर देते तो उनकी जान निकलती है, झूठी ख़बर क्या देंगे ! रायसाहब के खिलाफ़ एक रिपोर्ट मेरे पास आयी है। छाप दूँ, बचा को घर से निकलना मुश्किल हो जाय। मुझे यह खैरात नहीं दे रहे हैं, बड़े दबसट में पड़कर इस राह पर आये हैं पहले धमकियाँ दिखा रहे थे। जब देखा, इससे काम न चलेगा, तो यह चारा फेंका। मैंने भी सोचा, एक इनके ठीक हो जाने से तो देश से अन्याय मिटा जाता नहीं, फिर क्यों न दान को स्वीकार कर लूँ ? मैं अपने आदर्श से गिर गया हूँ ज़रूर; लेकिन इतने पर भी रायसाहब ने दग़ा की, तो मैं भी शठता पर उतर आऊँगा। जो ग़रीबों को लूटता है, उसको लूटने के लिए अपनी आत्मा को बहुत समझाना न पड़ेगा।

गाँव में ख़बर फैल गयी कि रायसाहब ने पंचों को बुलाकर खूब डाँटा और इम लोगों ने जितने रुपये वसूल किये थे, वह सब इनके पेट से निकाल लिये। वह तो इन लोगों को जेहल भेजवा रहे थे; लेकिन इन लोगों ने हाथ-पाँव जोडे, थूककर चाटा, तब जाके उन्होंने छोड़ा। धनिया का कलेजा शीतल हो गया, गाँव में घूम-घूमकर पंचों को लज्जित करती फिरती–आदमी न सुने गरीबों की पुकार, भगवान तो सुनते हैं लोगों ने सोचा था, इनसे डाँड़ लेकर मजे से फुलौड़ियाँ खायेंगे। भगवान ने ऐसा

तमाचा लगाया कि फुलौड़ियाँ मुँह से निकल पडी। एक एक के दो-दो भरने पडे। अब चाटो मेरा मकान लेकर।

मगर बैलो के बिना खेती कैसे हो ? गॉवों मे बोआई शुरू हो गयी। कार्तिक के महीने मे किसान के बैल मर जाये, तो उसके दोनो हाथ कट जाते है। होरी के दोनो हाथ कट गये थे। और सब लोगो के खेतो मे हल चल रहे थे। बीज डाले जा रहे थे। कही कही गीत की ताने सुनाई देती थी। होरी के खेत किसी अनाथ अबला के घर की भॉति सूने पडे थे। पुनिया के पास भी गोई थी, शोभा के पास भी गोई थी; मगर उन्हे अपने खेतो की बुआई से कहॉ फुरसत कि होरी की बुआई करे। होरी दिन भर इधर-उधर मारा-मारा फिरता था। कही इसके खेत मे जा बैठता, कही उसकी बोआई करा देता। इस तरह कुछ अनाज मिल जाता। धनिया, रूपा, सोना सभी दूसरो की बोआई मे लगती रहती थी। जब तक बुआई रही, पेट की रोटियॉ मिलती गयी, विशेष कष्ट न हुआ। मानसिक वेदना तो अवश्य होती थी, पर खाने भर को मिल जाता था। रात को नित्य स्त्री-पुरुष मे थोडी सी लडाई हो जाती थी।

यहॉ तक कि कार्तिक का महीना बीत गया और गॉव मे मजदूरी मिलनी भी कठिन हो गयी। अब सारा दारमदार ऊख पर था, जो खेतो मे खडी थी।

रात का समय था। सर्दी खूब पड रही थी। होरी के घर मे आज कुछ खाने को न था। दिन को तो थोडा-सा भुना हुआ मटर मिल गया था, पर इस वक्त चूल्हा जलाने का कोई डौल न था और रूपा भूख के मारे व्याकुल थी और द्वार पर कौडे के सामने बैठी रो रही थी। घर मे जब अनाज का एक दाना भी नही है, तो क्या मॉगे, क्या कहे !

जब भूख न सही गयी तो वह आग मॉगने के बहाने पुनिया के घर गयी। पुनिया बाजरे की रोटियॉ और बथुए का साग पका रही थी। सुगन्ध से रूपा के मुँह मे पानी भर आया।

पुनिया ने पूछा—क्या अभी तेरे घर आग नही जली, क्या री ?

रूपा ने दीनता से कहा—आज तो घर मे कुछ था ही नही, आग कहाँ से जलती ?

"तो फिर आग काहे को माँगने आयी है ?"

"दादा तमाखू पियेगे।"

पुनिया ने उपले की आग उसकी ओर फेक दी ; मगर रूपा ने आग उठायी नही और समीप जाकर बोली—तुम्हारी रोटियॉ महक रही हैं काकी ! मुझे बाजरे की रोटियाँ बडी अच्छी लगती हैं।

पुनिया ने मुस्कराकर पूछा—खाएगी ?

"अम्मा डॉटेगी।"

"अम्मा से कौन कहने जाएगा ?"

रूपा ने पेट-भर रोटियाँ खायीं और जूठे मुँह भागी हुई घर चली गयी।

होरी मन-मारे बैठा था कि पण्डित दातादीन ने जाकर पुकारा। होरी की छाती धड़कने लगी। क्या कोई नई विपत्ति आनेवाली है ? आकर उनके चरण छुए और कौड़े के सामने उनके लिए माँची रख दी।

दातादीन ने बैठते हुए अनुग्रह भाव से कहा—अबकी तो तुम्हारे खेत परती पड़ गये होरी ! तुमने गाँव में किसी से कुछ कहा नहीं, नहीं भोला की मज़ाल थी कि तुम्हारे द्वार से बैल खोल ले जाता ! यहीं लहास गिर जाती। मैं तुमसे जनेऊ हाथ में लेकर कहता हूँ होरी, मैंने तुम्हारे ऊपर डाँड़ न लगाया था। धनिया मुझे नाहक बदनाम करती फिरती है। यह लाला पटेश्वरी और झिंगुरीसिंह की कारस्तानी है। मैं तो लोगों के कहने से पंचायत में बैठ भर गया था। वह लोग तो और कड़ा दण्ड लगा रहे थे। मैंने कह-सुनके कम कराया; मगर अब सब जने सिर पर हाथ धरे रो रहे हैं। समझे थे, यहाँ उन्हीं का राज है, यह न जानते थे कि गाँव का राजा कोई और है। तो अब अपने खेतों की बोआई का क्या इन्तजाम कर रहे हो ?

होरी ने करुण कंठ से कहा—क्या बताऊँ महाराज, परती रहेंगे।

"परती रहेंगे ? यह तो बड़ा अनर्थ होगा !"

"भगवान की यही इच्छा है, तो अपना क्या बस।"

"मेरे देखते तुम्हारे खेत कैसे परती रहेंगे ? कल मैं तुम्हारी बोआई करा दूँगा। अभी खेत में कुछ तरी है। उपज दस दिन पीछे होगी, इसके सिवा और कोई बात नहीं। हमारा-तुम्हारा आधा साझा रहेगा। इसमें न तुम्हें कोई टोटा है, न मुझे। मैंने आज बैठे-बैठे सोचा, तो चित्त बड़ा दुखी हुआ कि जुते-जुताए खेत परती रहे जाते हैं !"

होरी सोच में पड़ गया। चौमासे-भर इन खेतों में खाद डाली, जोता और आज केवल बोआई के लिए आधी फ़सल देनी पड़ रही है। उस पर एहसान कैसा जता रहे हैं। लेकिन इससे अच्छा यही है कि खेत परती पड़ जायें। और कुछ न मिलेगा, लगान तो निकल ही आयेगा। नहीं, अबकी बेबाकी न हुई, तो बेदख़ली आयी धरी है।

उसने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

दातादीन प्रसन्न होकर बोले—चलो, मैं अभी बीज तौल दूँ, जिसमें सवेरे का झंझट न रहे। रोटी तो खा ली है न ?

होरी ने लजाते हुए आज घर में चूल्हा न जलने की कथा कही।

दातादीन ने मीठे उलाहने के भाव से कहा— अरे ! तुम्हारे घर में चूल्हा नहीं जला और तुमने मुझसे कहा भी नहीं ! हम तुम्हारे बैरी तो नहीं थे। इसी बात पर तुमसे जी कुढ़ता है। अरे भले आदमी, इसमें लाज-सरम की कौन बात है ! हम सब एक ही तो हैं तुम सूद्र हुए तो क्या, हम बाम्हन हुए तो क्या, हैं तो सब एक ही घर के। दिन सबके बराबर नहीं जाते। कौन जाने, कल मेरे ही ऊपर कोई संकट

आ पड़े, तो मैं तुमसे अपना दुःख न कहूँगा तो किससे कहूँगा ? अच्छा जो हुआ चलो, बेंग ही के साथ तुम्हें मन-दो मन अनाज खाने को भी तौल दूँगा।

आध घण्टे में होरी मन-भर जौ का टोकरा सिर पर रखे आया और घर की चक्की चलने लगी। धनिया रोती थी और साहस के साथ जौ पीसती थी। भगवान उसे किस कुकर्म का यह दण्ड दे रहे हैं !

दूसरे दिन से बोआई शुरू हुई। होरी का सारा परिवार इस तरह काम मे जुटा हुआ था, मानो सब कुछ अपना ही है। कई दिन के बाद सिंचाई भी इस तरह हुई। दातादीन को सेंत-मेंत के मजूर मिल गये। अब कभी-कभी उनका लड़का मातादीन भी घर में आने लगा। जवान आदमी था, बड़ा रसिक और बातचीत का मीठा। दातादीन जो कुछ छीन-झपटकर लाते थे, वह उसे भाँग बूटी में उड़ाता था। एक चमारिन से उसकी आशनाई हो गयी थी, इसलिए अभी तक ब्याह न हुआ था। वह रहती थी; पर सारा गाँव यह रहस्य जानते हुए भी कुछ न बोल सकता था। हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नही आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।

अब साझे की खेती होने से मातादीन को झुनिया से बातचीत करने का अवसर मिलने लगा। वह ऐसे दाँव से आता, जब घर में झुनिया के सिवा और कोई न होता; कभी किसी बहाने से, कभी किसी बहाने से। झुनिया रूपवती न थी; लेकिन जवान थी और उसकी चमारिन प्रेमिका से अच्छी थी। कुछ दिन शहर में रह चुकी थी, पहनना-ओढ़ना, बोलना-चालना जानती थी और लज्जाशील भी थी, जो स्त्री का सबसे बडा आकर्षण है। मातादीन कभी कभी उसके वच्चे को गोद में उठा लेता और प्यार करता। झुनिया निहाल हो जाती थी।

एक दिन उसने झुनिया से कहा—तुम क्या देखकर गोबर के साथ आयी झूना ?

झुनिया ने लजाते हुए कहा—भाग खींच लाया महाराज, और क्या कहूँ !

मातादीन दुखी मन से बोला—बड़ा बेवफ़ा आदमी है। तुम जैसी लच्छमी को छोड़कर न जाने कहाँ मारा-मारा फिर रहा है। चंचल सुभाव का आदमी है, इसी से मुझे शंका होती है कि कहीं और न फँस गया हो। ऐसे आदमियों को गोली मार देनी चाहिए। आदमी का धरम है, जिसकी बाँह पकड़े, उसे निभाये। यह क्या कि एक आदमी की जिन्दगी ख़राब कर दी और दूसरा घर ताकने लगे।

युवती रोने लगी। मातादीन ने इधर-उधर ताककर उसका हाथ पकड़ लिया और समझाने लगा—तुम उसकी क्यो परवा करती हो झूना, चला गया, जाने दो। तुम्हारे लिए किस बात की कमी है ? रुपये-पैसे, गहना-कपड़ा, जो चाहो मुझसे लो।

झुनिया ने धीरे से हाथ छुड़ा लिया और पीछे हटकर बोली—सब तुम्हारी दया है महाराज ! मैं तो कहीं की न रही। घर से भी गयी, यहाँ से भी गयी। न माया मिली, न राम ही हाथ आये। दुनिया का रंग-ढंग न जानती थी। इसकी मीठी-मीठी

बातें सुनकर जाल में फँस गयी।

मातादीन ने गोबर की बुराई करनी शुरू की—वह तो निरा लफंगा है, घर का न घाट का। जब देखो, माँ-बाप से लड़ाई। कहीं पैसा पा जाये, चट जुआ खेल डालेगा, चरस और गाँजे में उसकी जान बसती थी, सोहदों के साथ घूमना, बहु-बेटियों को छेड़ना, यही उसका काम था। थानेदार साहब बदमाशी में उसका चालान करनेवाले थे, हम लोगों ने बहुत खुशामद की, तब जाकर छोड़ा। दूसरों के खेत-खलिहान से अनाज उड़ा लिया करता। कई बार तो खुद उसी ने पकड़ा था, पर गाँव-घर समझकर छोड़ दिया।

सोना ने बाहर आकर कहा—भाभी, अम्मा ने कहा है, अनाज निकालकर धूप में डाल दो, नहीं तो चोकर बहुत निकलेगा। पण्डित ने जैसे बखार में पानी डाल दिया हो।

मातादीन ने अपनी सफ़ाई दी—मालूम होता है, तेरे घर बरसात नहीं हुई। चौमासे में लकड़ी तक गीली हो जाती है, अनाज तो अनाज ही है।

यह कहता हुआ वह बाहर चला गया। सोना ने आकर उसका खेल बिगाड़ दिया।

सोना ने झुनिया से पूछा—मातादीन क्या करने आये थे ?

झुनिया ने माथा सिकोड़कर कहा—पगहिया माँग रहे थे। मैंने कह दिया, यहाँ पगहिया नहीं है।

"यह सब बहाना है। बडा ख़राब आदमी है।"

"मुझे तो बड़ा भला आदमी लगता है। क्या ख़राबी है उसमे ?"

"तुम नहीं जानती ? सिलिया चमारिन को रखे हुए है।"

"तो इसी से ख़राब आदमी हो गया ?"

"और काहे से आदमी ख़राब कहा जाता है ?"

"तुम्हारे भैया भी तो मुझे लाये हैं। वह भी ख़राब आदमी हैं ?"

सोना ने इसका जवाब न देकर कहा—मेरे घर में फिर कभी आयेगा, तो दुतकार दूँगी।

"और जो उससे तुम्हारा ब्याह हो जाये ?"

सोना लजा गयी—तुम तो भाभी, गाली देती हो।

"क्यों, इसमें गाली की क्या बात है ?"

"मुझसे बोले, तो मुँह झुलस दूँ।"

"तो क्या तुम्हारा ब्याह किसी देवता से होगा ? गाँव में ऐसा सुन्दर, सजीला जवान दूसरा कौन है ?"

"तो तुम चली जाओ उसके साथ, सिलिया से लाख दर्जे अच्छी हो।"

"मैं क्यों चली जाऊँ ? मैं तो एक के साथ चली आयी। अच्छा है या बुरा।"

"तो मैं भी जिसके साथ ब्याह होगा, उसके साथ चली जाऊँगी, अच्छा हो

या बुरा।' '

"और जो किसी बूढ़े के साथ ब्याह हो गया ?"

सोना हँसी—मैं उसके लिए नरम-नरम रोटियाँ पकाऊँगी, उसकी दवाइयाँ कूटूँ-छानूँगी, उसे हाथ पकड़कर उठाऊँगी, जब मर जायेगा, तो मुँह ढाँपकर रोऊँगी।

"और जो किसी जवान के साथ हुआ ?"

"तब तुम्हारा सिर, हाँ नहीं तो !"

"अच्छा बताओ, तुम्हें बूढ़ा अच्छा लगता है कि जवान ?"

"जो अपने को चाहे, वही जवान है, न चाहे वही बूढ़ा है।"

"दैव करे, तुम्हारा ब्याह किसी बूढ़े से हो जाये, तो देखूँ, तुम उसे कैसे चाहती हो। तब मनाओगी, किसी तरह यह निगोड़ा मर जाये, तो किसी जवान को लेकर बैठ जाऊँ।"

"मुझे तो उस बूढ़े पर दया आये।"

इस साल इधर एक शक्कर का मिल खुल गया था। उसके कारिन्दे और दलाल गाँव-गाँव घूमकर किसानों की ऊख मोल ले लेते थे। वही मिल था, जो मिस्टर खन्ना ने खोला था। एक दिन उसका कारिन्दा गाँव में भी आया। किसानों ने उससे भाव-ताव किया, तो मालूम हुआ गुड़ बनाने में कोई बचत नहीं है; जब घर में ऊख पेरकर भी यही दाम मिलता है, तो पेरने की मेहनत क्यों उठायी जाय ? सारा गाँव ऊख बेचने को तैयार हो गया; अगर कुछ कम भी मिले तो परवाह नहीं। तत्काल तो मिलेगा। किसी को बैल लेना था, किसी को बाकी चुकाना था, कोई महाजन से गला छुड़ाना चाहता था। होरी को बैलों की गोईं लेनी थी। अबकी ऊख की पैदावार अच्छी न थी, इसलिए यह डर भी था कि माल न पड़ेगा। और जब गुड़ के भाव मिल की चीनी मिलेगी, तो गुड़ लेगा ही कौन ? सभी ने बयाने ले लिये। होरी को कम-से कम सौ रुपये की आशा थी। इसमें एक मामूली गोईं आ जायेगी; लेकिन महाजनों को क्या करे ! दातादीन, मँगरू, दुलारी, झिंगुरीसिंह सभी तो प्राण खा रहे थे। अगर महाजनों को देने लगेगा, तो सौ रुपये सूद-भर को भी न होंगे ! कोई ऐसी जुगत न सूझती थी कि ऊख के रुपये हाथ आ जायें और किसी को ख़बर न हो। जब बैल घर आ जायेंगे, तो कोई क्या कर लेगा। गाड़ी लदेगी, तो सारा गाँव देखेगा ही, तौल पर जो रुपये मिलेंगे, वह सबको मालूम हो जायेंगे। सम्भव है, मँगरू और दातादीन हमारे साथ-साथ रहें। इधर रुपये मिले, उधर उन्होंने गर्दन पकड़ी।

शाम को गिरधर ने पूछा—तुम्हारी ऊख कब तक जायेगी होरी काका ?

होरी ने झाँसा दिया—अभी तो कुछ ठीक नहीं है भाई, तुम कब तक ले जाओगे ?

गिरधर ने भी झाँसा दिया—अभी तो मेरा भी कुछ ठीक नहीं है काका !

और लोग भी इसी तरह की उड़नघाइयाँ बताते थे, किसी को किसी पर विश्वास न था। झिंगुरीसिंह के सभी रिनियाँ थे, और सबकी यही इच्छा थी कि झिंगुरीसिंह

के हाथ रुपये न पड़ने पायें, नहीं वह सबका सब हज़म कर जायेगा। और जब दूसरे दिन असामी फिर रुपये माँगने जायेगा, तो नया कागज़, नया नज़राना, नयी तहरीर। दूसरे दिन शोभा आकर बोला–दादा, कोई ऐसा उपाय करो कि झिंगुरी को हैज़ा हो जाये। ऐसा गिरे कि फिर न उठे।

होरी ने मुसकराकर कहा–क्यों, उसके बाल-बच्चे नहीं हैं ?

"उसके बाल-बच्चों को देखें कि अपने बाल-बच्चों को ? वह तो दो-दो मेहरियों को आराम से रखता है, यहाँ तो एक को रूखी रोटी भी मयस्सर नहीं, सारी जमा ले लेगा। एक पैसा भी घर न लाने देगा।"

"मेरी तो हालत और भी ख़राब है भाई, अगर रुपये हाथ से निकल गये, तो तबाह हो जाऊँगा। गोईं के बिना तो काम न चलेगा।"

"अभी तो दो-तीन दिन ऊख ढोते लगेंगे। ज्यों ही सारी ऊख पहुँच जाय, जमादार से कहें कि भैया कुछ ले ले, मगर ऊख चटपट तौल दे, दाम पीछे देना। इधर झिंगुरी से कह देंगे, अभी रुपये नहीं मिले।"

होरी ने विचार करके कहा–झिंगुरीसिंह हमसे-तुमसे कई गुना चतुर है शोभा ! जाकर मुनीम से मिलेगा और उसी से रुपये ले लेगा। हम तुम ताकते रह जायेंगे। जिस खन्ना बाबू का मिल है, उन्हीं खन्ना बाबू की महाजनी कोठी भी है। दोनों एक हैं।

शोभा निराश होकर बोला–न जाने इन महाजनों से भी कभी गला छूटेगा कि नहीं।

होरी बोला–इस जनम में तो कोई आशा नहीं है। भाई ! हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना, और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।

शोभा ने धूर्तता के साथ कहा–मैं तो दादा ! इस सबों को अबकी चकमा दूँगा। जमादार को कुछ दे दिलाकर इस बात पर राजी कर लूँगा कि रुपये के लिए हमें खूब दौड़ायें। झिंगुरी कहाँ तक दौड़ेंगे।

होरी ने हँसकर कहा–यह सब कुछ न होगा भैया ! कुशल इसी में है कि झिंगुरीसिंह के हाथ-पाँव जोड़ो। हम जाल में फँसे हुए हैं। जितना ही फड़फड़ाओगे, उतना ही और जकड़ते जाओगे।

"तुम तो दादा, बूढ़ों की-सी बातें कर रहे हो। कठघरे में फँसे बैठे रहना तो कायरता है। फन्दा और जकड़ जाये तो बला से; पर गला छुड़ाने के लिए जोर तो लगाना ही पड़ेगा। यही तो होगा झिंगुरी घर-द्वार नीलाम करा लेंगे; करा लें नीलाम ! मैं तो चाहता हूँ कि हमें कोई रुपये न दे, हमें भूखों मरने दे, लातें खाने दे, एक पैसा भी उधार न दे; लेकिन पैसा वाले उधार न दें तो सूद कहाँ से पायें ? एक हमारे ऊपर दावा करता है, तो दूसरा हमें कुछ कम सूद पर रुपये उधार देकर अपने-जाल में फँसा लेता है। मैं तो उसी दिन रुपये लेने जाऊँगा, जिस दिन

झिंगुरी कहीं चला गया होगा।"

होरी का मन भी विचलित हुआ—हाँ, यह ठीक है।

"ऊख तुलवा देंगे। रुपये दाँव-घात देखकर ले आयेंगे।"

"बस-बस, यही चाल चलो।"

दूसरे दिन प्रातःकाल गाँव के कई आदमियों ने ऊख काटनी शुरू की। होरी भी अपने खेत में गँड़ासा लेकर पहुँचा। उधर से शोभा भी उसकी मदद को आ गया। पुनिया, झुनिया, धनिया, सोना सभी खेत में जा पहुँचीं। कोई ऊख काटता था, कोई छीलता था, कोई पूले बाँधता था। महाजनों ने जो ऊख कटते देखी, तो पेट में चूहे दौड़े। एक तरफ़ से दुलारी दौड़ी, दूसरी तरफ़ से मँगरू साह, तीसरी ओर से मातादीन और पटेश्वरी और झिंगुरी के पियादे। दुलारी हाथ-पाँव में मोटे-मोटे चाँदी के कड़े पहले, कानों में सोने की झूमक, आँखों में काजल लगाये, बूढ़े यौवन को रँगे-रँगाये आकर बोली—पहले मेरे रुपये दे दो, तब ऊख काटने दूँगी। मैं जितना ही गम खाती हूँ, उतना ही तुम शेर होते हो। दो साल से एक धेला सूद नहीं दिया, पचास तो मेरे सूद के होते हैं।

होरी ने घिघियाकर कहा—भाभी, ऊख काट लेने दो, इनके रुपये मिलते हैं, तो जितना हो सकेगा, तुमको भी दूँगा। न गाँव छोड़कर भागा जाता हूँ, न इतनी जल्द मौत ही आयी जाती है। खेत में खड़ी ऊख तो रुपये न देगी ?

दुलारी ने उसके हाथ से गँड़ासा छीनकर कहा—नीयत इतनी खराब हो गयी है तुम लोगों की, तभी तो बरक्कत नहीं होती।

आज पाँच साल हुए, होरी ने दुलारी से तीस रुपये लिये थे। तीन साल में उसके सौ रुपये हो गये, तब स्टाम्प लिखा गया। दो साल में उस पर पचास रुपया सूद चढ़ गया था।

होरी बोला—सहुआइन, नीयत तो कभी खराब नहीं की, और भगवान चाहेंगे, तो पाई-पाई चुका दूँगा। हाँ, आजकल तंग हो गया हूँ, जो चाहे कह लो।

सहुआइन को जाते देर नहीं हुई कि मँगरू साह पहुँचे। काला रंग, तोंद कमर के नीचे लटकती हुई, दो बड़े-बड़े दाँत सामने जैसे काट खाने को निकले हुए, सिर पर टोपी, गले में चादर, उम्र अभी पचास से ज़्यादा नहीं; पर लाठी के सहारे चलते थे। गठिया का मरज़ हो गया था। खाँसी भी आती थी। लाठी टेककर खड़े हो गये और होरी को डाँट बतायी—पहले हमारे रुपये दे दो होरी, तब ऊख काटो। हमने रुपये उधार दिये थे, ख़ैरात नहीं थे। तीन-तीन साल हो गये, न सूद न ब्याज; मगर यह न समझना कि तुम मेरे रुपये हज़म कर जाओगे। मैं तुम्हारे मुर्दे से भी वसूल कर लूँगा।

शोभा मसखरा था। बोला—तब काहे को घबड़ाते हो साहजी, इनके मुर्दे ही से वसूल कर लेना। नहीं, एक-दो साल के आगे पीछे दोनों ही सरग में पहुँचोगे। वहीं भगवान के सामने अपना हिसाब चुका लेना।

मँगरू ने शोभा को बहुत बुरा-भला कहा—जमामार, बेईमान इत्यादि। लेने की बेर तो दुम हिलाते हो, जब देने की बारी आती है, तो गुर्राते हो। घर बिकवा लूँगा; बैल-बधिये नीलाम करा लूँगा।

शोभा ने फिर छेड़ा—अच्छा, ईमान से बताओ साह, कितने रुपये दिये थे, जिसके अब तीन सौ रुपये हो गये हैं ?

"जब तुम साल के साल सूद न दोगे, तो आप ही बढ़ेंगे।"

"पहले-पहल कितने रुपये दिये थे तुमने ? पचास ही तो।"

"कितने दिन हुए, यह भी तो देख।"

"पाँच-छः साल हुए होंगे ?"

"दस साल हो गये पूरे, ग्यारहवाँ जा रहा है"

"पचास रुपये के तीन सौ रुपए लेते तुम्हें ज़रा भी सरम नहीं आती !"

"सरम कैसी, रुपये दिये हैं कि खैरात माँगते हैं।"

होरी ने इन्हें भी चिरौरी-विनती करके विदा किया। दातादीन ने होरी के साझे में खेती की थी। बीज देकर आधी फसल ले लेंगे। इस वक्त कुछ छेड़-छाड़ करना नीति-विरुद्ध था। झिंगुरीसिंह ने मिल के मैनेजर से पहले ही सब कुछ कह-सुन रखा था। उनके प्यादे गाड़ियों पर ऊख लदवाकर नाव पर पहुँचा रहे थे। नदी गाँव से आध मील पर थी। एक गाड़ी दिन-भर में सात-आठ चक्कर कर लेती थी। और नाव एक खेवे में पचास गाड़ियों का बोझ लाद लेती थीं। इस तरह किफायत पड़ती थी। इस सुविधा का इन्तज़ाम करके झिंगुरीसिंह ने सारे इलाके को एहसान से दबा दिया था।

तौल शुरू होते ही झिंगुरीसिंह ने मिल के फाटक पर आसन जमा लिया। हरएक की ऊख तौलते थे, दाम का पुरजा लेते थे, खजांची से रुपए वसूल करते थे और अपना पावना काटकर असामी को दे देते थे। असामी कितनी ही रोए, चीखे, किसी की न सुनते थे। मालिक का यही हुक्म था। उनका क्या बस !

होरी को एक सौ बीस रुपए मिले ! उसमें से झिंगुरीसिंह ने अपने पूरे रुपये सूद समेत काटकर कोई पचीस रुपये होरी के हवाले किए।

होरी ने रुपए की ओर उदासीन भाव से देखकर कहा—यह लेकर मैं क्या करूँगा ठाकुर, यह भी तुम्हीं ले लो। मेरे लिए मजूरी बहुत मिलेगी।

झिंगुरी ने पचीसों रुपये जमीन पर फेंककर कहा—लो या फेंक दो, तुम्हारी खुशी। तुम्हारे कारन मालिक की घुड़कियाँ खायीं और अभी रायसाहब सिर पर सवार हैं कि डाँड़ के रुपये अदा करो। तुम्हारी गरीबी पर दया करके इतने रुपये दिये देता हूँ, नहीं एक धेला भी न देता। अगर रायसाहब ने सख्ती की तो उलटे और घर से देने पड़ेंगे।

होरी ने धीरे से रुपये उठा लिये और बाहर निकला कि नोखेराम ने ललकारा। होरी ने जाकर पचीसों रुपये उनके हाथ पर रख दिये, और बिना कुछ कहे जल्दी

से भाग गया। उसका सिर चक्कर खा रहा था। शोभा को इतने ही रुपये मिले थे। वह बाहर निकला, तो पटेश्वरी ने घेरा।

शोभा वदल पड़ा। बोला–मेरे पास रुपये नहीं हैं; तुम्हें जो कुछ करना हो, कर लो।

पटेश्वरी ने गर्म होकर कहा–ऊख बेची है कि नहीं ?

"हाँ, बेची है।"

"तुम्हारा यही वादा तो था कि ऊख बेचकर रुपया दूँगा !"

"हाँ, था तो।"

"फिर क्यों नहीं देते ! और सब लोगों को दिये हैं कि नहीं ?"

"हाँ, दिये हैं।"

"तो मुझे क्यों नहीं देते ?"

"मेरे पास अब जो कुछ बचा है, वह बाल-बच्चों के लिए है।"

पटेश्वरी ने बिगड़कर कहा–तुम रुपये दोगे शोभा, और हाथ जोड़कर और आज ही। हाँ, अभी जितना चाहो, बहक लो। एक रपट में जाओगे छः महीने को, पूरे छः महीने को, न एक दिन बेस, न एक दिन कम। यह जो नित्य जुआ खेलते हो, वह एक रपट में निकल जायेगा। मैं जमींदार या महाजन का नौकर नहीं हूँ, सरकार बहादुर का नौकर हूँ, जिसका दुनिया-भर में राज है और जो तुम्हारे महाजन और ज़मींदार दोनों का मालिक है।

पटेश्वरी लाला आगे बढ़ गए। शोभा और होरी कुछ दूर चुपचाप चले। मानो इस धिक्कार ने उन्हें संज्ञाहीन कर दिया हो। तब होरी ने कहा–शोभा, इसके रुपये दे दो। समझ लो, ऊख में आग लग गई थी। मैंने भी यही सोचकर, मन को समझाया है।

शोभा ने आहत कंठ से कहा–हाँ, दे दूँगा दादा ! न दूँगा तो जाऊँगा कहाँ ?

सामने से गिरधर ताड़ी पिये झूमता चला आ रहा था। दोनों को देखकर बोला–झिंगुरिया ने सारे का सारा ले लिया होरी काका ! चबेना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का ! रोया गिड़गिड़ाया; पर इस पापी को दया न आयी।

शोभा ने कहा–ताड़ी तो पिए हुए हो, उस पर कहते हो, एक पैसा भी न छोड़ा !

गिरधर ने पेट दिखाकर कहा–साँझ हो गई, जो पानी की बूँद भी कंठ तले गई हो, तो गो-माँस बराबर। एक इकन्नी मुँह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा, साल-भर पसीना गारा है, तो एक ताड़ी तो पी लूँ; मगर सच कहता हूँ, नसा नहीं है। एक आने में क्या नसा होगा ? हाँ झूम रहा हूँ जिसमें लोग समझें, खूब पिए हुए है। बड़ा अच्छा हुआ काका, बेबाकी हो गई। बीस लिये, उसके एक सौ साठ भरे, कुछ हद है !

होरी घर पहुँचा, तो रूपा पानी लेकर दौड़ी, सोना चिलम भर लायी, धनिया ने चबेना और नमक लाकर रख दिया और आशा-भरी आँखों से उसकी ओर ताकने लगीं। झुनिया भी चौखट पर आ खड़ी हुई थी। होरी उदास बैठा था। कैसे मुँह-हाथ धोए, कैसे चबेना खाए। ऐसा लज्जित और ग्लानित था, मानो हत्या करके आया हो।

धनिया ने पूछा—कितने की तौल हुई ?

"एक सौ बीस मिले; पर सब वहीं लुट गए, धेला भी न बचा।"

धनिया सिर से पाँव तक भस्म हो उठी। मन में ऐसा उद्वेग उठा कि अपना मुँह नोंच ले। बोली—तुम जैसा घामड़ आदमी भगवान ने क्यों रचा, कहीं मिलते तो उनसे पूछती। तुम्हारे साथ सारी जिन्दगी तलख हो गई, भगवान मौत भी नहीं देते कि जजाल से जान छूटे। उठाकर सारे रुपए बहनोइयों को दे दिए। अब और कोन आमदनी है, जिससे गोई आयेगी ? हल में क्या मुझे जोतोगे, या आप जुतोगे ? मैं कहती हूँ, तुम बूढ़े हुए, तुम्हें इतनी अक्ल भी नहीं आई कि गोई-भर के रुपए तो निकाल लेते ! कोई तुम्हारे हाथ से छीन थोड़े लेता। पूस की यह ठंड और किसी की देह पर लत्ता नहीं। ले जाओ सबको नदी में डुबा दो। सिसक-सिसककर मरने से तो एक दिन मर जाना फिर भी अच्छा है। कब तक पुआल में घुसकर रात काटेंगे और पुआल में घुस भी लें, तो पुआल खाकर रहा तो न जायेगा। तुम्हारी इच्छा हो, घास ही खाओ, हमसे तो घास न खायी जायेगी।

यह कहते-कहते वह मुस्करा पड़ी। इतनी देर में उसकी समझ में यह बात आने लगी थी कि महाजन जब सिर पर सवार हो जाये, और अपने हाथ में रुपये हों और महाजन जानता हो कि इसके पास रुपए हैं, तो असामी कैसे अपनी जान बचा सकता है।

होरी सिर नीचा किए अपने भाग्य को रो रहा था। धनिया का मुस्कराना उसे न दिखाई दिया। बोला—मजूरी तो मिलेगी। मजूरी करके खायेंगे।

धनिया ने पूछा—कहाँ है इस गाँव में मजूरी ? और कौन मुँह लेकर मजूरी करोगे ? महतो नहीं कहलाते !

होरी ने चिलम के कई कश लगाकर कहा—मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाये तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाये तो मजूर हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न होता तो यह सब बिपत क्यों आती ? क्यों लड़का नालायक निकल जाता ?

धनिया ने बहू और बेटियों की ओर देखकर कहा—तुम सब की सब क्यों घेरे खड़ी हो, जाकर अपना-अपना काम देखो। वह और हैं जो हाट-बाजार से आते हैं, तो बाल-बच्चों के लिए दो-चार पैसे की कोई चीज लिये आते हैं यहाँ तो यह लोभ रहा होगा कि रुपए तुड़ायें कैसे ? एक कम न हो जायेगा; इसी से इनकी कमाई में बरक्कत नहीं होती। जो खरच करते हैं उन्हें मिलता है। जो न खा सकें, न पहन

सकें, उन्हें रुपए मिलें ही क्यों ? जमीन में गाड़ने के लिए ?

होरी ने खिलखिलाकर पूछा—कहाँ है वह गाड़ी हुई थाती ?

"जहाँ रखी है, वहीं होगी। रोना तो यही है कि यह जानते हुए भी पैसे के लिए मरते हो ! चार पैसे की कोई चीज लाकर बच्चों के हाथ पर रख देते तो पानी में न पड़ जाते। झिंगुरी से तुमि कह देते कि एक रुपया मुझे दे दो, नहीं मैं तुम्हें एक पैसा न दूँगा, जाकर अदालत में लेना, तो वह जरूर दे देता।'

होरी लज्जित हो गया। अगर वह झल्लाकर पच्चीसो रुपये नोखेराम को न दे देता, तो नोखे क्या कर लेते ? बहुत होता बकाया पर दो-चार आना सूद ले लेता; मगर अब तो चूक हो गई।

झुनिया ने भीतर जाकर सोना से कहा—मुझे तो दादा पर बड़ी दया आती है। बेचारे दिन-भर के थके-माँदे घर आये, अम्माँ कोसने लगी। महाजन गला दबाए था, तो क्या करते बेचारे !

"तो बैल कहाँ से आयेंगे ?"

"महाजन अपने रुपए चाहता है। उसे तुम्हारे घर के दुखड़ों से क्या मतलब ?"

"अम्माँ वहाँ होतीं, तो महाजन को मज़ा चखा देतीं। अभागा रोकर रह जाता।"

झुनिया ने दिल्लगी की—तो यहाँ रुपए की कौन कमी है ? तुम महाजन से जरा हँसकर बोल दो, देखो सारे रुपये छोड़ देता है कि नही। सच कहती हूँ, दादा का सारा दुख-दलिद्दर दूर हो जाये।

सोना ने दोनों हाथों से उसका मुँह दबाकर कहा—बस, चुप ही रहना, नहीं कहे देती हूँ। अभी जाकर अम्माँ से मातादीन की सारी कलई खोल दूँ तो रोने लगो।

झुनिया ने पूछा—क्या कह दोगी अम्माँ से ? कहने को कोई बात भी हों जब वह किसी बहाने से घर में आ जाते हैं, तो क्या कह दूँ कि निकल जाओ, फिर मुझसे कुछ ले तो नहीं जाते ? कुछ अपना ही दे जाते हैं। सिवाय मीठी-मीठी बातें के वह झुनिया से कुछ नहीं पा सकते ! और अपनी मीठी बातों को महँगे दामों बेचना भी मुझे आता है। मैं ऐसी अनाड़ी नहीं हूँ कि किसी के झाँसे में आ जाऊँ। हाँ, जब जान जाऊँगी कि तुम्हारे भैया ने वहाँ किसी को रख लिया है, तब की नहीं चलाती। तब मेरे ऊपर किसी का कोई बन्धन न रहेगा। अभी तो मुझे विश्वास है कि वह मेरे हैं और मेरे कारन उन्हें गली-गली ठोकर खाना पड़ रहा है। हँसने-बोलने की बात न्यारी है, पर मैं उनसे विश्वासघात न करूँगीं जो एक से दो का हुआ, वह किसी का नहीं रहता।

शोभा ने आकर होरी को पुकारा और पटेश्वरी के रुपए उसके हाथ में रखकर बोला—भैया, तुम जाकर ये रुपए लाला को दे दो। मुझे उस घड़ी न जाने क्या हो गया था।

होरी रुपए लेकर उठा ही था कि शंख की ध्वनि कानों में आई। गाँव के उस सिरे पर ध्यानसिंह नाम के एक ठाकुर रहते थे। पल्टन में नौकर थे और कई दिन हुए दस साल के बाद रजा लेकर आये थे। बगदाद, अदन, सिंगापुर, बर्मा–चारों तरफ घूम चूके थे। अब ब्याह करने की धुन में थे। इसीलिए पूजा-पाठ करके ब्राह्मणों को प्रसन्न रखना चाहते थे।

होरी ने कहा–जान पड़ता है सातों अध्याय पूरे हो गए। आरती हो रही है।

शोभा बोला–हाँ, जान तो पड़ता है, चलो आरती ले लो।

होरी ने चिन्तित भाव से कहा–तुम जाओ, मैं थोड़ी देर में आता हूँ।

ध्यानसिंह जिस दिन आये थे, सब के घर सेर-सेर मिठाई बैना भेजी थीं होरी से जब कभी रास्ते मिल जाते, कुशल पूछते। उनकी कथा में जाकर आरती मे कुछ न देना अपमान की बात थी।

आरती का थाल उन्हीं के हाथ में होगा। उनके सामने होरी कैसे खाली हाथ आरती ले लेगा ! इससे तो कहीं अच्छा है कि वह कथा में जाये ही नहीं। इतने आदमियो में उन्हें क्या यांद आयेगी कि होरी नहीं आया। कोई रजिस्टर लिये तो बैठा नहीं है कि कौन आया, कौन नहीं आया। वह जाकर खाट पर लेट रहा।

मगर उसका हृदय मसोस-मसोसकर रह जाता था। उसके पास एक पैसा भी नहीं है ! ताँबे का एक पैसा ! आरती के पुण्य और महात्म्य का उसे बिल्कुल ध्यान न था। बात थी केवल व्यवहार की। ठाकुरजी की आरती तो वह केवल श्रद्धा की भेंट देकर ले सकता था; लेकिन मर्यादा कैसे तोड़े, सबकी आँखें में हेठा कैसे बने !

सहसा वह उठ बैठा क्यों मर्यादा की गुलामी करे ? मर्यादा के पीछे आरती का पुण्य क्यों छोड़े ? लोग हँसेंगे, हँस लें। उसे परवा नहीं। भगवान उसे कुकर्म से बचाए रखें, और वह कुछ नहीं चाहता।

वह ठाकुर के घर की ओर चल पड़ा।

अठारह

खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती। क्यों नहीं पटती, यह बताना कठिन है। ज्योतिष के हिसाब से उनके ग्रहों में कोई विरोध है, हालाँकि विवाह के समय ग्रह और नक्षत्र ख़ूब मिला लिए गए थे। काम-शास्त्र के हिसाब से इस अनबन का कोई रहस्य हो सकता है, और मनोविज्ञान वाले कुछ और ही कारण खोज सकते हैं। हम तो इतना ही जांनते हैं कि उनमें नहीं पटती। खन्ना धनवान हैं, रसिक हैं, मिलनसार हैं, रूपवान हैं, अच्छे खासे पढ़े-लिखे हैं और नगर के विशिष्ट पुरुषों में हैं। गोविन्दी अप्सरा न हो, पर रूपवती अवश्य है; गेहुँआ रंग, लज्जाशील आँखें, जो एक बार सामने उठकर फिर झुक जाती हैं, कपोलों पर लाली न हो, पर चिकनापन है, गात कोमल, अंगविन्यास सुडौल, गोल बाँहें, मुख पर एक प्रकार की अरुचि, जिसमें कुछ गर्व

की झलक भी है, मानों संसार के व्यवहार और व्यापार को हेय समझती है।

खन्ना के पास विलास के ऊपरी साधनों की कमी नहीं, अव्वल दरजे का बंगला है, अव्वल दरजे का फर्नीचर, अव्वल दरजे की कार और अपार धन; पर गोविन्दी की दृष्टि में जैसे इन चीजों का कोई मूल्य नहीं। इस खारे सागर में वह प्यासी पड़ी रहती है। बच्चों का लालन-पालन और गृहस्थी के छोटे-मोटे काम ही उसके लिए सब कुछ हैं। वह इनमें इतनी व्यस्त रहती है कि भोग की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। आकर्षण क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न हो सकता है, इसकी ओर उसने कभी विचार नहीं किया। वह पुरुष का खिलौना नहीं है, न उसके भोग की वस्तु, फिर क्यों आकर्षक बनने क़ी चेष्टा करे ? अगर पुरुष उसका असली सौन्दर्य देखने के लिए आँखें नहीं रखता, कामिनियों के पीछे मारा-मारा फिरता है, तो वह उसका दुर्भाग्य है। वह उसी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा किये जाती है, जैसे द्वेष ओर मोह-जैसी भावनाओं को उसने जीत लिया है। और यह अपार सम्पत्ति तो जैसे उसकी आत्मा को कुचलती रहती है। इन आडम्बरों और पाखण्डों से मुक्त होने के लिए उसका मन सदैव ललचाया करता है। अपने सरल और स्वाभाविक जीवन में वह कितनी सुखी रह सकती थी, इसका वह नित्य स्वप्न देखती रहती है। तब क्यों मालती उसके मार्ग में आकर बाधक हो जाती ! क्यों वेश्याओं के मुजरे होते, क्यों यह सन्देह और बनावट और अशान्ति उसके जीवन-पथ में काँटा बनती ! बहुत पहले जब वह बालिका-विद्यालय में पढ़ती थी, उसे कविता का रोग लग गया था, जहाँ दुःख औद वेदना ही जीवन का तत्त्व है, सम्पत्ति और विलास तो केवल इसलिए है कि उसकी होली जलाई जाय, जो मनुष्य को असत्य और अशान्ति की ओर ले जाता है। वह अब कभी-कभी कविता रचती थी; लेकिन सुनाए किसे ? उसकी कविता केवल मन की तरंग या भावना की उड़ान न थी, उसके एक-एक शब्द में उसके जीवन की व्यथा और आँसुओं की ठंडी जलन भरी होती थी—किसी ऐसे प्रदेश में जा बसने की लालसा, जहाँ वह पाखंडों और वासनाओं से दूर अपनी शान्त कुटिया में सरल आनन्द का उपभोग करे। खन्ना उसकी कविताएँ देखते, तो उनका मजाक उड़ाते और कभी-कभी फाड़कर फेंक देते।

और सम्पत्ति की यह दीवार दिन-दिन ऊँची होती जाती थी और दम्पति को एक दूसरे से दूर और पृथक करती जाती थी। खन्ना अपने ग्राहकों के साथ जितना ही मीठा और नम्र था, घर में उतना ही कटु और उद्दण्ड। अक्सर क्रोध में गोविन्दी को अपशब्द कह बैठता, शिष्टता उसके लिए दुनिया को ठगने का एक साधन थी, मन का संस्कार नहीं। ऐसे अवसरों पर गोविन्दी अपने एकान्त कमरों में जा बैठती और रात की रात रोया करती और खन्ना दीवानखाने में मुज़रे सुनता या क्लब में जाकर शराबें उड़ाता। लेकिन यह सब कुछ होने पर भी खन्ना उसके सर्वस्व था। वह दलित और अपमानित होकर भी खन्ना की लौंडी थी। उनसे लड़ेगी, जलेगी, रोयेगी; पर रहेगी उन्हीं की। उनसे पृथक जीवन की वह कोई कल्पना ही न कर

सकती थी।

आज मिस्टर खन्ना किसी बुरे आदमी का मुँह देखकर उठे थे। सबेरे ही पत्र खोला, तो उनके कई स्टाकों का दर गिर गया था, जिसमें उन्हें कई हजार की हानि होती थी। शक्कर के मिल मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी और दंगा-फसाद करने पर आमादा थे। नफे की आशा से चाँदी खरीदी थी; मगर उसका दर आज और भी ज़्यादा गिर गया था। रायसाहब से जो सौदा हो रहा था और जिसमें उन्हें खासे नफे की आशा थी, वह कुछ दिनों के लिए टलता हुआ जान पड़ता था। फिर रात को बहुत पी जाने के कारण इस वक्त सिर भारी था और देह टूट रही थी। इधर शोफ़र ने कार के इंजन में कुछ खराबी पैदा हो जाने की बात कही थी और लाहौर में उनके बैंक पर एक दीवानी मुकदमा दायर हो जाने का समाचार भी मिला था। बैठे मन में झुँझला रहे थे कि उसी वक्त गोविन्दी ने आकर कहा—भीष्म का ज्वर आज भी नहीं उतरा, किसी डाक्टर को बुला दो।

भीष्म उनका सबसे छोटा पुत्र था, और जन्म से ही दुर्बल होने के कारण उसे रोज एक-न-एक शिकायत बनी रहती थी। आज खाँसी है, तो कल बुखार; कभी पसली चल रही है, कभी हरे-पीले दस्त आ रहे हैं। दस महीने का हो गया था; पर लगता था, पाँच-छः महीने का। खन्ना की धारणा हो गई थी कि यह लड़का बचेगा नहीं; इसलिए उसकी ओर से उदासीन रहते थे; पर गोविन्दी इसी कारण उसे और सब बच्चों से ज्यादा चाहती थी।

खन्ना ने पिता के स्नेह का भाव दिखाते हुए कहा—बच्चों को दवाओं का आदी बना देना ठीक नहीं, और तुम्हें दवा पिलाने का मरज़ है। ज़रा कुछ हुआ और डाक्टर बुलाओ। एक रोज़ और देखो, आज तीसरा ही दिन तो है। शायद आप-ही-आप उतर जाय।

गोविन्दी ने आग्रह किया—तीन दिन से नहीं उतरा। घरेलू दवायें करके हार गई।

खन्ना ने पूछा—अच्छी बात है, बुला देता हूँ, किसे बुलाऊँ ?

"बुला लो डाक्टर नाग को।"

"अच्छी बात है, उन्हीं को बुलाता हूँ, मगर यह समझ लो कि नाम हो जाने से ही कोई अच्छा डाक्टर नहीं हो जाता। नाग फ़ीस चाहे जितनी ले लें, उनकी दवा से किसी को अच्छा होते नहीं देखा। वह तो मरीज़ों को स्वर्ग भेजने के लिए मशहूर हैं।"

"तो जिसे चाहो बुला लो, मैंने तो नाग को इसलिए कहा था कि वह कई बार आ चुके हैं।"

"मिस मालती को क्यों न बुला लूँ ? फ़ीस भी कम और बच्चों का हाल लेडी डाक्टर जैसा समझेगी, कोई मर्द डाक्टर नहीं समझ सकता।"

गोविन्दी ने जलकर कहा—मैं मिस मालती को डाक्टर नहीं समझती।

खन्ना ने भी तेज आँखों से देखकर कहा—तो वह इंगलैण्ड घास खोदने गयी

थी, और हजारों आदमियों को आज जीवन-दान दे रही हैं, यह सब कुछ नहीं है ?

"होगा, मुझे उन पर भरोसा नहीं है। वह मरदों के दिल का इलाज कर लें। और किसी की दवा उनके पास नहीं है।"

बस ठन गई। खन्ना गरजने लगे। गोविन्दी बरसने लगी। उनके बीच में मालती का नाम आ जाना मानो लड़ाई का अल्टिमेटम था।

खन्ना ने सारे कागजों को जमीन पर फेंककर कहा—तुम्हारे साथ जिन्दगी तलख़ हो गई।

गोविन्दी ने नुकीले स्वर में कहा—तो मालती से ब्याह कर लो न ! अभी क्या बिगड़ा है, अगर वहाँ दाल गले।

"तुम मुझे क्या समझती हो ?"

"यही कि मालती तुम-जैसों को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहती है, पति बनाकर नहीं।"

"तुम्हारी निगाह में मैं इतना जलील हूँ ?"

और उन्होंने इसके विरुद्ध प्रमाण देना शुरू किया। मालती जितना उनका आदर करती है, उतना शायद ही किसी का करती हो। रायसाहब और राजा साहब को मुँह तक नहीं लगाती; लेकिन उनसे एक दिन भी मुलाकात न हो, तो शिकायत करती है ...

गोविन्दी ने इस प्रमाणों को एक फूँक में उड़ा दिया—इसीलिए कि वह तुम्हे सबसे बड़ा आँखों का अन्धा समझती है, दूसरों को इतनी आसानी से बेवकूफ नहीं बना सकती।

खन्ना ने डींग मारी—वह चाहें तो आज मालती से विवाह कर सकते हैं। आज, अभी ...

मगर गोविन्दी को बिलकुल विश्वास नहीं—तुम सात जन्म नाक रगड़ो, तो भी वह तुमसे विवाह न करेगी। तुम उसके टट्टू हो, तुम्हें घास खिलायेगी, कभी-कभी तुम्हारा मुँह सहलायेगी, तुम्हारे पुट्ठों पर हाथ फेरेगी; लेकिन इसलिए कि तुम्हारे ऊपर सवारी गाँठे। तुम्हारे जैसे एक हजार बुद्धू उसकी जेब में हैं।

गोविन्दी आज बहुत बढ़ी जाती थी। मालूम होता है, आज वह उनसे लड़ने पर तैयार होकर आयी है। डाक्टर के बुलाने का तो केवल बहाना था। खन्ना अपनी योग्यता और दक्षता और पुरुषत्व पर इतना बड़ा आक्षेप कैसे सह सकते थे !

"तुम्हारे खयाल में मैं बुद्धू और मूर्ख हूँ, तो ये हजारों क्यों मेरे द्वार पर नाक रगड़ते हैं ? कौन राजा या ताल्लुकेदार है, जो मुझे दण्डवत् नहीं करता ? सैकड़ों को उल्लू बनाकर छोड़ दिया।"

"यही तो मालती की विशेषता है कि जो औरों को सीधे उस्तरे से मूँडता है, उसे वह उल्टे छुरे से मूँडती है।"

"तुम मालती की चाहे जितनी बुराई करो, तुम उसकी पाँव की धूल भी नहीं हो।"

"मेरी दृष्टि में यह वेश्याओं से भी गयी-बीती है, क्योंकि वह परदे की आड़ से शिकार खेलती हैं।"

दोनों ने अपने-अपने अग्निबाण छोड़ दिये। खन्ना ने गोविन्दी को चाहे दूसरी कठोर से कठोर बात कही होती, उसे इतनी बुरी न लगती; मालती से उसकी यह घृणित तुलना उसकी सहिष्णुता के लिए भी असह्य थी। गोविन्दी ने भी खन्ना को चाहे जो कुछ कहा होता, वह इतने गर्म न होते; लेकिन मालती का यह अपमान वह नहीं सह सकते। दोनों एक-दूसरे के कोमल स्थलों से परिचित थे। दोनों के निशाने ठीक बैठे और दोनों तिलमिला उठे। खन्ना की आँखें लाल हो गईं। गोविन्दी का मुँह लाल हो गया। खन्ना आवेश में उठे और उसके दोनों कान पकड़कर जोर से ऐंठे और तीन तमाचे लगा दिए। गोविन्दी रोती हुई अन्दर चली गई।

ज़रा देर में डाक्टर नाग आये और सिविल सर्जन मि० टाड आये और भिषगाचार्य नीलकण्ठ शास्त्री आये; गोविन्दी बच्चे को लिये अपने कमरे में बैठ रही। किसने क्या कहा क्या तशखीश की, उसे कुछ मालूम नहीं। जिस विपत्ति की कल्पना वह कर रही थी, वह आज उसके सिर पर आ गई। खन्ना ने आज जैसे उससे नाता तोड़ लिया, जैसे उसे घर से खदेड़कर द्वार बन्द कर लिया। जो रूप का बाजार लगाकर बैठती है, जिसकी परछाईं भी वह अपने ऊपर पड़ने नहीं देना चाहती... वह उस पर परोक्ष रुप से शासन करे ? यह न होगा। खन्ना उसके पति हैं, उन्हें उसको समझाने-बुझाने का अधिकार है, उनकी मार को भी वह शिरोधार्य कर सकती है; पर मालती का शासन ? असम्भव ! मगर बच्चे का ज्वर जब तक शान्त न हो जाय, वह हिल नहीं सकती। आत्माभिमान को भी कर्त्तव्य के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।

दूसरे दिन बच्चे का ज्वर उतर गया था। गोविन्दी ने एक ताँगा मँगवाया और घर से निकली। जहाँ उसका इतना अनादर है, वहाँ अब वह नहीं रह सकती। आघात इतना कठोर था कि बच्चों का मोह भी टूट गया था। उनके प्रति उसका जो धर्म था, उसे वह पूरा कर चुकी है। शेष जो कुछ है, वह खन्ना का धर्म है। हाँ, गोद के बालक को वह किसी तरह नहीं छोड़ सकती। वह उसकी जान के साथ है। और इस घर से वह केवल अपने प्राण लेकर निकलेगी। और कोई चीज उसकी नहीं है। इन्हें यह दावा है कि वह उसका पालन करते हैं। गोविन्दी दिखा देगी कि वह उनके आश्रय ने निकलकर भी जिन्दा रह सकती है। तीनों बच्चे उस समय खेलने गये थे। गोविन्दी का मन हुआ, एक बार उन्हें प्यार कर ले; मगर वह कहीं भागी तो नहीं जाती। बच्चों का उससे प्रेम होगा, तो उसके पास आयेंगे, उसके घर में खेलेंगे। वह जब जरूरत समझेगी, खुद बच्चों को देख आया करेगी। केवल खन्ना का आश्रय नहीं लेना चाहती।

साँझ हो गई थी। पार्क में रौनक थी। लोग हरी घास पर लेटे हवा का आनंद

लूट रहे थे। गोविन्दी हजरतगंज होती हुई चिड़ियाघर की तरफ़ मुड़ी थी कि कार पर मालती और खन्ना सामने से आते हुए दिखाई दिये। उसे मालूम हुआ, खन्ना ने उसकी तरफ इशारा करके कुछ कहा और मालती मुसकरायी। नहीं, शायद यह उसका भ्रम हो। खन्ना मालती से उसकी निन्दा न करेंगे; मगर कितनी बेशर्म है। सुना है, इसकी अच्छी प्रैक्टिस है, घर की भी सम्पन्न है, फिर भी यों अपने को बेचती फिरती है। न जाने क्यों ब्याह नहीं कर लेती; लेकिन उससे ब्याह करेगा ही कौन ? नहीं, यह बात नहीं। पुरुषों में भी ऐसे बहुत हो गए हैं, जो उसे पाकर अपने को धन्य मानेंगे; लेकिन मालती खुद तो किसी को पसन्द करे ? और ब्याह में कौन-सा सुख रखा हुआ है ? बहुत अच्छा करती है, जो ब्याह नहीं करती। अभी सब उसके गुलाम हैं। तब वह एक की लौंडी होकर रह जायेगी। बहुत अच्छा कर रही है। अभी तो यह महाशय भी उसके तलवे चाटते हैं कहीं इनसे ब्याह कर ले, तो उस पर शासन करने लगें, मगर इनसे वह क्यों ब्याह करेगी ? और समाज में दो-चार ऐसी स्त्रियाँ बनी रहें, तो अच्छा; पुरुषों के कान तो गर्म करती रहे।

आप गोविन्दी के मन में मालती के प्रति बड़ी सहानुभूति उत्पन्न हुई। वह मालती पर आक्षेप करके उसके साथ अन्याय कर रही है। क्या मेरी दशा को देखकर उसकी आँखें न खुलती होंगी ? विवाहित जीवन की दुर्दशा आँखों देखकर अगर वह इस जाल में नहीं फँसती, तो क्या बुरा करती है ?

चिड़ियाघर में चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। गोविन्दी ने ताँगा रोक दिया और बच्चे को लिये हरी दूब की तरफ़ चली; मगर दो ही तीन क़दम चली थी कि चप्पल पानी में डूब गए। अभी थोड़ी देर पहले लॉन सींचा गया था और घास के नीचे पानी बह रहा था। उस उतावली में उसने पीछे न फिरकर एक क़दम और आगे रखा तो पाँव कीचड़ में सन गए। उसने पाँव की ओर देखा। अब यहाँ पाँव धोने के लिए पानी कहाँ से मिलेगा उसकी सारी मनोव्यथा लुप्त हो गई। पाँव धोकर साफ़ करने की नई चिन्ता हुई। उसकी विचारधार रुक गई। जब जक पाँव न साफ़ हो जायँ, वह कुछ नहीं सोच सकती।

सहसा उसे एक लम्बा पाइप घास में छिपा नज़र आया, जिसमें से पानी बह रहा था। उसने जाकर पाँव धोये, हाथ-मुँह धोया, थोड़ा-सा पानी चुल्लू में लेकर पिया और पाइप के उस पार सूखी जमीन पर जा बैठी। उदासी से मौत की याद तुरंत आ जाती है। कहीं वह बैठे-बैठे मर जाये, तो क्या हो ? ताँगेवाला तुरन्त जाकर खन्ना को खबर देगा। खन्ना सुनते ही खिल उठेंगे; लेकिन दुनिया को दिखाने के लिए आँखों पर रूमाल रख लेंगे। बच्चों के लिए खिलौने और तमाशे माँ से प्यारे हैं। यह है उसका जीवन, जिसके लिए कोई चार बूँद आँसू बहानेवाला भी नहीं। तब उसे वह दिन याद आया, जब उसकी सास जीती थी और खन्ना उड़ंछू न हुए थे, तब सास का बात-बात पर बिगड़ना बुरा लगता था; आज उसे सास के उस

क्रोध में स्नेह का रस धुला जान पड़ रहा था। तब वह सास से रूठ जाती थी और सास उसे दुलारकर मनाती थी। आज वह महीनों रूठी पड़ी रहे, किसे परवा है।

एकाएक उसका मन उड़कर माता के चरणों में जा पहुँचा। हाय! आज अम्मा होतीं, तो क्यों उसकी यह दुर्दशा होती! उसके पास और कुछ न था, स्नेह-भरी गोदहीं तो थी, प्रेम-भरा अंचल तो था, जिसमें मुँह डालकर वह रो लेती; लेकिन नहीं, यह रोयेगी नहीं, उस देवी को स्वर्ग में दुखी न बनायेगी। मेरे लिए वह जो कुछ ज्यादा से ज्यादा कर सकती थी, वह कर गई? मेरे कर्मों की साथिन होना तो उनके वश की बात न थी। और वह क्यों रोये? वह अब किसी के अधीन नहीं है। वह अपने गुज़र-भर को कमा सकती हैं वह कल ही गान्धी-आश्रम से चीज़ें लेकर बेचना शुरू कर देगी। शर्म किस बात की? यही तो होगा, लोग उँगली दिखाकर कहेंगे—वह जा रही है खन्ना की बीवी; लेकिन इस शहर में रहूँ क्यों? किसी दूसरे शहर में क्यों न चली जाऊँ, जहाँ मुझे कोई जानता ही न हो। दस-बीस रुपए कमा लेना ऐसा क्या मुश्किल है। अपने पसीने की कमाई तो खाऊँगी, फिर तो कोई मुझ पर रोब न जमायेगा। यह महाशय इसीलिए तो इतना मिज़ाज करते हैं कि वह मेरा पालन करते हैं। मैं अब खुद अपना पालन करूँगी।

सहसा उसने मेहता को अपनी तरफ आते देखा। उसे उलझन हुई इस वक्त वह सम्पूर्ण एकान्त चाहती थी। किसी से बोलने की इच्छा न थी; मगर यहाँ भी एक महाशय आ ही गए। उस पर बच्चा भी रोने लगा था।

मेहता ने समीप आकर विस्मय के साथ पूछा—आप इस वक्त यहाँ कैसे आ गईं?

गोविन्दी ने बालक को चुप कराते हुए कहा—उसी तरह जैसे आप आ गए।

मेहता ने मुस्कराकर कहा—मेरी बात न चलाइये। धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का। लाइए, मैं बच्चे को चुप कर दूँ।

"आपने यह कला कब सीखी?"

"अभ्यास करना चाहता हूँ। इसकी परीक्षा जो होगी।"

"अच्छा! परीक्षा के दिन करीब आ गए?"

"यह तो मेरी तैयारी पर है। जब तैयार हो जाऊँगा, बैठ जाऊँगा। छोटी-छोटी उपाधियों के लिए हम पढ़-पढ़कर आँखें फोड़ लिया करते हैं। यह तो जीवन-व्यापार की परीक्षा है।"

"अच्छी बात है, मैं भी देखूंगी, आप किस ग्रेड में पास होते हैं।"

यह कहते हुए उसने बच्चे को उनकी गोद में दे दिया। उन्होंने बच्चे को कई बार उछाला, तो वह चुप हो गया। बालकों की तरह डींग मारकर बोले—देखा आपने कैसा मन्तर के जोर से चुप कर दिया। अब मैं भी कहीं से बच्चा लाऊँगा।

गोविन्दी ने विनोद किया—बच्चा ही लाइएगा, या उसकी माँ भी?

मेहता ने विनोद-भरी निराशा से सिर हिलाकर कहा—ऐसी औरत तो कहीं मिलती ही नहीं।

"क्यों, मिस मालती नहीं हैं ? सुन्दरी, शिक्षित, गुणवती, मनोहारिणी; और आप क्या चाहते हैं ?"

"मिस मालती में एक बात भी नहीं है, जो मैं अपनी स्त्री में देखना चाहता हूँ।"

गोविन्दी ने इस कुत्सा का आनन्द लेते हुए कहा—उसमें क्या बुराई है सुनूँ। भौंरे तो हमेशा घेरे रहते हैं। मैंने सुना है, आजकल पुरुषों को ऐसी ही औरतें पसन्द आती हैं।

मेहता ने बच्चे के हाथों से अपनी मूँछों की रक्षा करते हुए कहा—मेरी स्त्री कुछ और ही ढंग की होगी। वह ऐसी होगी, जिसकी मैं पूजा कर सकूँगा।

गोविन्दी अपनी हँसी न रोक सकी—तो आप स्त्री नही, कोई प्रतिमा चाहते हैं। स्त्री तो ऐसी शायद ही कहीं मिले।

"जी नहीं, ऐसी एक देवी इसी शहर में है।"

"सच ! मैं भी उसके दर्शन करती, और उसी तरह बनने की चेष्टा करती।"

"आप उसे खूब जानती हैं। एक लखपति की पत्नी है, वह विलास को तुच्छ समझती है; जो उपेक्षा और अनादर सहकर भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती, जो मातृत्व की वेदी पर अपने को बलिदान करती है, जिसके लिए त्याग ही सबसे बड़ा अधिकार है, और जो इस योग्य है कि उसकी प्रतिमा बनाकर पूजी जाय।"

गोविन्दी के हृदय में आनन्द का कम्पन हुआ। समझकर भी न समझने का अभिनय करती हुई बोली—ऐसी स्त्री की आप तारीफ करते हैं। मगर मेरी समझ में तो वह दया की पात्र है। वह आदर्श नारी है और जो आदर्श नारी हो सकती है, वही आदर्श पत्नी भी हो सकती है।

मेहता ने आश्चर्य से कहा—आप उसका अपमान करती हैं।

"लेकिन वह आदर्श इस युग के लिए नहीं है।"

"वह आदर्श सनातन है और अमर है। मनुष्य उसे विकृत करके अपना सर्वनाश कर रहा है।"

गोविन्दी का अन्तःकरण खिला जा रहा था। ऐसी फुरेरियाँ वहाँ कभी न उठी थीं। जितने आदमियों से उसका परिचय था, उनमें मेहता का स्थान सबसे ऊँचा था। उनके मुख से यह प्रोत्साहन पाकर वह मतवाली हुई जा रही थी।

उसी नशे में बोली—तो चलिए, मुझे उनके दर्शन करा दीजिए।

मेहता ने बालक के कपोलों में मुँह छिपाकर कहा—वह तो यहीं बैठी हुई है।

"कहाँ, मैं तो नहीं देख रही हूँ।"

"उसी देवी से बोल रहा हूँ।"

गोविन्दी ने ज़ोर से कहकहा मारा—आपने आज मुझे बनाने की ठान ली,

क्यों ?

मेहता ने श्रद्धानत होकर कहा—देवीजी, आप मेरे साथ अन्याय कर रही हैं, और मुझसे ज़्यादा अपने साथ। संसार में ऐसे बहुत कम प्राणी हैं, जिनके प्रति मेरे मन में श्रद्धा हो। उन्हीं में एक आप हैं। आपका धैर्य और त्याग और शील और प्रेम अनुपम है। मैं अपने जीवन में सबसे बड़े सुख की जो कल्पना कर सकता हूँ, वह आप जैसी देवी के चरणों की सेवा है। जिस नारीत्व को मैं आदर्श मानता हूँ, आप उसकी सजीव प्रतिमा हैं।

गोविन्दी की आँखों से आनन्द के आँसू निकल पड़े। इस श्रद्धा-कवच को धारण करके वह किस विपत्ति का सामना न करेगी ? इसके रोम-रोम में जैसे मृदु-संगीत की ध्वनि निकल पड़ी। उसने अपने रमणीत्व का उल्लास गन में दबाकर कहा—आप दार्शनिक क्यों हुए मेहताजी ? आप को तो कवि होना चाहिए था।

मेहता सरलता से हँसकर बोले—क्या आप समझती हैं, बिना दार्शनिक हुए कोई कवि हो सकता है ? दर्शन तो केवल बीच की मंजिल है।

"तो अभी आप कवित्व के रास्ते में हैं; लेकिन आप यह भी जानते हैं, कवि को संसार में कभी सुख नहीं मिलता ?"

"जिसे संसार दुःख कहता है, वही कवि के लिए सुख है। धन और ऐश्वर्य, रूप और बल, विद्या और बुद्धि, ये विभूतियाँ संसार को चाहे कितना ही मोहित कर लें, कवि के लिए यहाँ जरा भी आकर्षण नहीं है, उसके मोद और आकर्षण की वस्तु तो बुझी हुई आशाएँ और मिटी हुई स्मृतियाँ और टूटे हुए हृदय के आँसू हैं। जिस दिन इन विभूतियों में उसका प्रेम न रहेगा, उस दिन वह कवि न रहेगा। दर्शन जीवन के इन रहस्यों से केवल विनोद करता है, कवि उनमें लय हो जाता है। मैंने आपकी दो-चार कविताएँ पढ़ी हैं और उनमें जितनी पुलक, जितना कम्पन, जितनी मधुर व्यथा, जितना रुलानेवाला उन्माद पाया है, वह मैं ही जानता हूँ। प्रकृति ने हमारे साथ कितना बड़ा अन्याय किया है कि आप जैसी कोई दूसरी देवी नहीं बनायी।"

गोविन्दी ने हसरत-भरे स्वर में कहा—नहीं मेहताजी, यह आपका भ्रम है। ऐसी नारियाँ यहाँ आपको गली-गली में मिलेंगी और मैं तो उन सबसे गयी-बीती हूँ। जो स्त्री अपने पुरुष को प्रसन्न न रख सके, अपने को उसके मन की न बना सके, वह कोई स्त्री है ? मैं तो कभी-कभी सोचती हूँ कि मालती से यह कला सीखूँ जहाँ मैं असफल हूँ, वहाँ वह सफल है। मैं अपने को भी अपना नहीं बना सकती, वह दूसरों को भी अपना बना लेती है। क्या यह उसके लिए श्रेय की बात नहीं ?

मेहता ने मुँह बनाकर कहा—शराब अगर लोगों को पागल कर देती है, तो इसलिए उसे क्या पानी से अच्छा समझा जाय, जो प्यास बुझाता है, जिलाता है, और शान्त करता है ?

गोविन्दी ने विनोद की शरण लेकर कहा—कुछ भी हो, मैं तो यह देखती हूँ

कि पानी मारा-मारा फिरता है और शराब के लिए घर-द्वार बिक जाते हैं, और शराब जितनी ही तेज़ और नशीली हो, उतनी ही अच्छी। मैं तो सुनती हूँ, आप भी शराब के उपासक हैं ?

गोविन्दी निराशा की उस दशा को पहुँच गयी थी, जब आदमी को सत्य और धर्म में भी सन्हेह होने लगता है; लेकिन मेहता का ध्यान उधर न गया। उनका ध्यान तो वाक्य के अन्तिम भाग पर ही चिपटकर रह गया। अपने मसलेहत पर उन्हें जितनी लज्जा और क्षोभ आज हुआ, उतना बड़े-बड़े उपदेश सुनकर भी न हुआ था। तर्कों का उनके पास जवाब था और मुँह-तोड़; लेकिन इस मीठी चुटकी का उन्हें कोई जवाब न सूझा। वह पछताये कि कहाँ उन्हें शराब की युक्ति सूझी। उन्होंने खुद ही मालती की शराब से उपमा दी थी। उनका वार अपने सिर पर पड़ा। लज्जित होकर बोलें—देवीजी, मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझमें यह आसक्ति है। मैं अपने लिए उसकी ज़रूरत बतलाकर और उसके विचारोत्तेजक गुणों के प्रमाण देकर गुनाह का उज्र न करूँगा, जो गुनाह से भी बदतर है। आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि शराब की एक बूँद भी कण्ठ के नीचे न जाने दूँगा।

गोविन्दी ने सन्नाटे में आकर कहा—यह आपने क्या किया मेहताजी ! मैं ईश्वर से कहती हूँ, मेरा यह आशय न था। मुझे इसका दुःख है।

"नहीं, आपको प्रसन्न होना चाहिए कि आपने एक व्यक्ति का उद्धार कर दिया।"

"मैंने आपका उद्धार कर दिया ! मैं तो खुद अपने उद्धार की याचना करने जा रही हूँ।"

"मुझसे ? धन्य भाग।"

गोविन्दी ने करुण स्वर में कहा—हाँ, आपके सिवा मुझे कोई ऐसा नहीं नज़र आता, जिसे मैं अपनी कथा सुनाऊँ। देखिए, यह बात अपने ही तक रखिएगा, हालाँकि आपको यह याद दिलाने की ज़रूरत नहीं। मुझे अब अपना जीवन असह्य हो गया है। मुझसे अब तक जितनी तपस्या हो सकी, मैंने की; लेकिन अब नहीं सहा जाता। मालती मेरा सर्वनाश किये डालती है। मैं अपने किसी शस्त्र से उस पर विजय नहीं पा सकती। आपका उस पर प्रभाव है। वह जितना आपका आदर करती है, शायद और किसी मर्द का नहीं करती। अगर आप किसी तरह मुझे उसके पंजे से छुड़ा दें, तो मैं जन्म-भर आपकी ऋणी रहूँगी। उसके हाथों मेरा सौभाग्य लुटा जा रहा है। आप अगर मेरी रक्षा कर सकते हैं, तो कीजिए। मैं आज घर से यह इरादा करके चली थी कि फिर लौटकर न आऊँगी। मैंने बड़ा ज़ोर मारा कि मोह के सारे बन्धनों को तोड़कर फेंक दूँ; लेकिन औरत का हृदय बड़ा दुर्बल है मेहताजी ! मोह उसका प्राण है। जीवन रहते मोह तोड़ना उसके लिए असम्भव है। मैंने आज तक अपनी व्यथा अपने मन में रखी; लेकिन आज मैं आपसे आँचल फैलाकर भिक्षा माँगती हूँ। मालती से मेरा उद्धार कीजिए। मैं इस मायाविनी के हाथों मिटी जा रही

हूँ।

उसका स्वर आसुँओं से डूब गया। वह फूट-फूटकर रोने लगी।

मेहता अपनी नज़रों से कभी इतने ऊँचे न उठे थे; उस वक़्त भी नहीं, जब उनकी रचना को फ्रांस की एकाडमी ने शताब्दी की सबसे उत्तम कृति कहकर उन्हें बधाई दी थी। जिस प्रतिमा की सच्चे दिल से पूजा करते थे, जिसे मन में वह अपनी इष्टदेवी समझते थे और जीवन के असूझ प्रसंगों में जिससे आदेश पाने की आशा रखते थे, वह आज उनसे भिक्षा माँग रही थी। उन्हें अपने अन्दर ऐसी शक्ति का अनुभव हुआ कि वह पर्वत को भी फाड़ सकते हैं; समुद्र को तैरकर पार कर सकते हैं। उन पर नशा-सा छा गया, जैसे बालक काठ के घोड़े पर सवार होकर समझ रहा हो, वह हवा में उड़ रहा है। काम कितना असाध्य है, इसकी सुधि न रही। अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या करनी पड़ेगी, बिलकुल खयाल न रहा। आश्वासन के स्वर में बोले—मुझे न मालूम था कि आप उससे इतनी दुखी हैं। मेरी बुद्धि का दोष, आँखों का दोष, कल्पना का दोष। और क्या कहूँ, वरना आपको इतनी वेदना क्यों सहनी पड़ती !

गोविन्दी को शंका हुई। बोली—लेकिन सिंहनी से उसका शिकार छीनना आसान नहीं है, यह समझ लीजिए।

मेहता ने दृढता से कहा—नारी-हृदय धरती के समान है, जिससे मिटास भी मिल सकती है, कड़वापन भी। उसके अन्दर पड़ने वाले बीज में जैसी शक्ति हो।

'आप पछता रहे होंगे, कहाँ से आज इससे मुलाकात हो गयी।'

'मैं अगर कहूँ कि आज ही जीवन का वास्तविक आनन्द मिला है, तो शायद आपको विशवस न आये !'

'मैंने आपके सिर पर इतना बड़ा भार रख दिया।'

मेहता ने श्रद्धा-मधुर स्वर में कहा—आप मुझे लज्जित कर रही हैं देवीजी ! मैं कह चुका, आपका सेवक हूँ। आपके हित में मेरे प्राण भी निकल जायँ, तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। इसे कवियों का भावावेश न समझिए, यह मेरे जीवन का सत्य है। मेरे जीवन का क्या आदर्श है, आपको यह बतला देने का मोह मुझसे नहीं रुक सकता। मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और ज़लन के लिए कोई स्थान नहीं हैं मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर,

रूढ़ियों और विश्वासों के इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं; उठने का नाम नहीं लेते, वह सामर्थ्य ही नहीं रही ! जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाई-चारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है; और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों मे आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है। मगर क्षमा कीजिए, मैं तो एक पूरी स्पीच ही दे गया। अब देर हो रही है, चलिए, मैं आपको पहुँचा दूँ। बच्चा भी मेरी गोद में सो गया।

गोविन्दी ने कहा—"मैं तो ताँगा लायी हूँ।"

"ताँगे को यहीं से विदा कर देता हूँ।"

मेहता ताँगे के पैसे चुकाकर लौटे, तो गोविन्दी ने कहा—लेकिन आप मुझे कहाँ ले जायँगे।

मेहता ने चौंककर पूछा—क्यों, आपके घर पहुँचा दूँगा।

"वह मेरा घर नहीं है मेहता जी !"

"और क्या मिस्टर खन्ना का घर है ?"

"यह भी क्या पूछने की बात है ? अब वह मेरा नहीं रहा। जहाँ अपमान और धिक्कार मिले, उसे मैं अपना घर नहीं कह सकती, न समझ सकती हूँ।"

मेहता ने दर्द-भरे स्वर में, जिसका एक-एक अक्षर उनके अन्तः करण से निकल रहा था, कहा—नहीं देवीजी, वह घर आपका है, और सदैव रहेगा। उस घर की आपने सृष्टि की है, उसके प्राणियों की सृष्टि की है। और प्राण जैसे देह का संचालन करता है, प्राण निकल जाय, तो देह की क्या गति होगी ? मातृत्व महान् गौरव का पद है देवीजी ! और गौरव के पद में कहाँ अपमान और धिक्कार और तिरस्कार नही मिला ? माता का काम जीवनदान देना है। जिसके हाथों में इतनी अतुल शक्ति है, उसे इसकी क्या परवाह कि कौन उससे रूठता है, कौन बिगड़ता है। प्राण के बिना जैसे देह नहीं रह सकता, उसी तरह प्राण का भी देह ही सबसे उपयुक्त स्थान है। मैं आपको धर्म और त्याग का क्या उपदेश दूँ ? आप तो उसकी सजीव प्रतिमा हैं। मैं तो यही कहूँगा कि ···

गोविन्दी ने अधीर होकर कहा— लेकिन मैं केवल माता ही तो नहीं हूँ, नारी भी तो हूँ ?

मेहता ने एक मिनट तक मौन रहने के बाद कहा—हाँ, हैं; लेकिन मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है, और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व

का उपक्रम मात्र। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी। आप मिस्टर खन्ना के विषय में इतना ही समझ लें कि वह अपने होश में नहीं हैं। वह जो कुछ कहते हैं या करते हैं, वह उन्माद की दशा में करते हैं; मगर यह उन्माद शान्त होने में बहुत दिन न लगेंगे, और वह समय बहुत जल्द आएगा, जब वह आपको अपनी इष्टदेवी समझेंगे।

गोविन्दी ने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। धीरे-धीरे कार की ओर चली। मेहता ने बढ़कर कार का द्वार खोल दिया। गोविन्दी अन्दर जा बैठी। कार चली; मगर दोनों मौन थे।

गोविन्दी जब अपने द्वार पर पहुँचकर कार से उतरी, तो बिजली के प्रकाश मे मेहता ने देखा, उसकी आंखे सजल हैं।

बच्चे घर में से निकल आये और अम्माँ-अम्माँ कहते हुए माता से लिपट गये। गोविन्दी के मुख पर मातृत्व की उज्ज्वल, गौरवमयी ज्योति चमक उठी।

उसने मेहता से कहा—इस कष्ट के लिए आपको बहुत धन्यवाद !—और सिर नीचा कर लिया। आँसू की एक बूँद उसके कपोल पर आ गिरी थी।

मेहता की आँखें भी सजल हो गयीं—इस ऐश्वर्य और विलास के बीच में भी यह नारी-हृदय कितना दुखी है !

उन्नीस

मिर्ज़ा खुर्शेद का हाता क्लब भी है, कचहरी भी, अखाड़ा भी। दिन-भर ज़मघट लगा रहता है। मुहल्ले में अखाड़े के लिए कहीं जगह नहीं मिलती थी। मिर्ज़ा ने एक छप्पर डलवाकर अखाड़ा बनवा दिया है; वहाँ नित्य सौ-पचास लड़न्तिये आ जुटते हैं। मिर्ज़ाजी भी उनके साथ ज़ोर करते हैं। मुहल्ले की पंचायतें भी यहीं होती हैं। मियाँ-बीवी और सास-बहू और भाई-भाई के झगड़े-टण्टे यहीं चुकाये जाते हैं। मुहल्ले के सामाजिक जीवन का यही केन्द्र है और राजनीतिक आन्दोलन का भी। आये दिन सभाएँ होती रहती हैं। यहीं स्वयंसेवक टिकते हैं, यहीं उनके प्रोग्राम बनते हैं, यहीं से नगर का राजनीतिक संचालन होता है। पिछले जलसे में मालती नगर-कांग्रेस-कमेटी की सभानेत्री चुन ली गयी है। तब से इस स्थान की रौनक और भी बढ़ गयी है।

गोबर को यहाँ रहते साल भर हो गया। अब वह सीधा-सादा ग्रामीण युवक नहीं है। उसने बहुत कुछ दुनिया देख ली और संसार का रंग-ढंग भी कुछ-कुछ समझने लगा है। मूल में वह अब भी देहाती है, पैसे को दाँत से पकड़ता है, स्वार्थ को कभी नहीं छोड़ता, और परिश्रम से जी नहीं चुराता, न कभी हिम्मत हारता है; लेकिन शहर की हवा उसे भी लग गयी है। उसने पहले महीने तो केवल मजूरी की और आधा पेट खाकर थोड़े से रुपये बचा लिये। फिर वह कचालू और मटर और दही-बड़े के

खोंचे लगाने लगा। इधर ज़्यादा लाभ देखा, तो नौकरी छोड़ दी। गर्मियों में शर्बत और बरफ़ की दुकान उठा दी और गर्म चाय पिलाने लगा। अब उसकी रोज़ाना आमदनी ढाई-तीन रुपये से कम नहीं। उसने अंग्रेज़ी फैशन के बाल कटवा लिये हैं, महीन धोती और पम्प-शू पहनता है। एक लाल ऊनी चादर ख़रीद ली है और पान-सिगरेट का शौकीन हो गया है। सभाओं में आने-जाने से उसे कुछ-कुछ राजनीतिक ज्ञान भी हो चला है। राष्ट्र और वर्ग का अर्थ समझने लगा है। सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा और लोक-निंदा का भय अब उसमें बहुत कम रह गया है। आये दिन पंचायतों ने उसे निस्संकोच बना दिया है। जिस बात के पीछे वह यहाँ घर से दूर, मुँह छिपाये पड़ा हुआ है, उसी तरह की, बल्कि उससे भी कहीं निन्दास्पद बातें यहाँ नित्य हुआ करती हैं, और कोई भागता नहीं। फिर वही क्यों इतना डरे और मुँह चुराये !

इतने दिनों में उसने एक पैसा भी घर नहीं भेजा। वह माता-पिता को रुपये-पैसे के मामले में इतना चतुर नहीं समझता। वे लोग तो रूपये पाते ही आकाश में उड़ने लगेंगे ! दादा को तुरन्त गया करने की और अम्मा को गहने बनवाने की धुन सवार हो जायगी। ऐसे व्यर्थ के कामों के लिए उसके पास रुपये नहीं हैं। अब वह छोटा-मोटा महाजन है। पड़ोस के एक्केवालों, गाड़ीवालों और धोबियों को सूद पर रुपये उधार देता है। इस दस-ग्यारह महीने में ही उसने अपनी मेहनत और किफ़ायत और पुरुषार्थ से अपना स्थान बना लिया है और अब झुनिया को यहीं लाकर रखने की बात सोच रहा है।

तीसरे पहर का समय है। वह सड़क के नल पर नहाकर आया है और शाम के लिए आलू उबाल रहा है कि मिर्ज़ा खुर्शेद आकर द्वार पर खड़े हो गये। गोबर अब उनका नौकर नहीं है; पर अदंब उसी तरह करता है और उनके लिए जान देने को तैयार रहता है। द्वार पर जाकर पूछा—क्या हुक्म है सरकार ?

मिर्ज़ा ने खड़े-खड़े कहा—तुम्हारे पास कुछ रूपए हों, तो दे दो आज तीन दिन से बोतल ख़ाली पड़ी हुई है, जी बहुत बेचैन हो रहा है।

गोबर ने इसके पहले भी दो-तीन बार मिर्ज़ाजी को रूपये दिये थे, पर अब तक वसूल न कर सका था। तकाज़ा करते डरता था और मिर्ज़ाजी रुपये लेकर देना न जानते थे। उनके हाथ में रुपये टिकते ही न थे। इधर से आये, उधर ग़ायब। यह तो न कह सका, मैं रुपये न दूँगा या मेरे पास रुपये नहीं हैं, शराब की निन्दा करने लगा—आप इसे छोड़ क्यों नहीं देते सरकार ? क्या इसके पीने से कुछ फ़ायदा होता है ?

मिर्ज़ाजी ने कोठरी के अन्दर खाट पर बैठते हुए कहा—तुम समझते हो, मैं छोड़ना नहीं चाहता और शौक़ से पीता हूँ। मैं इसके बगैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। तुम अपने रूपये के लिए न डरो, मैं एक-एक कौड़ी अदा कर दूँगा।

गोबर अविचलित रहा—मैं सच कहता हूँ मालिक ! मेरे पास इस समय रुपये

होते तो आपसे इनकार करता ?

"दो रुपये भी नहीं दे सकते ?"

"इस समय तो नहीं हैं।"

"मेरी अँगूठी गिरो रख लो।"

गोबर का मन ललचा उठा; मगर बात कैसे बदले ?

बोला—यह आप क्या कहते है मालिक, रुपये होते तो आपको दे देता, अँगूठी की कौन बात थी ?

मिर्ज़ा ने अपने स्वर में बड़ा दीन आग्रह भरकर कहा—मैं फिर तुमसे कभी न माँगूँगा गोबर ! मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है। इस शराब की बदौलत मैंने लाखों की हैसियत बिगाड़ दी और भिखारी हो गया। अब मुझे भी जिद पड़ गयी है कि चाहे भीख माँगनी पड़े, इसे छोड़ूँगा नहीं।

जब गोबर ने अबकी बार इनकार किया तो मिर्ज़ा साहब निराश होकर चले गये। शहर में इनके हज़ारों मिलनेवाले थे। कितने ही उनकी बदौलत बन गये थे। कितनों ही को गाढ़े समय पर मदद की थी; पर ऐसे से वह मिलना भी न पसन्द करते थे। उन्हें ऐसे हज़ारों लटके मालूम थे, जिससे वह समय-समय पर रुपयों का ढेर लगा देते थे, पर पैसे की उनकी निगाह में कोई कद्र न थी। उनके हाथ में रुपये जैसे काटते थे। किसी न किसी बहाने उड़ाकर ही उनका चित्त शान्त होता था।

गोबर आलू छीलने लगा। साल-भर के अन्दर ही वह इतना काइयाँ हो गया था और पैसा जोड़ने में इतना कुशल कि अचरज होता था। जिस कोठरी में वह रहता है, वह मिर्ज़ा साहब ने दी है। इस कोठरी और बरामदे का किराया बड़ी आसानी से पाँच रुपया मिल सकता है। गोबर लगभग साल-भर से उसमें रहता है; लेकिन मिर्ज़ा ने न कभी किराया माँगा, न उसने दिया। उन्हें शायद ख्याल भी न था कि इस कोठरी का कुछ किराया भी मिल सकता है।

थोड़ी देर में एक एक्केवाला रुपये माँगने आया। अलादीन नाम था, सिर घुटा हुआ, खिचड़ी दाढ़ी, और काना। उसकी लड़की विदा हो रही थी। पाँच रुपये की उसे ज़रूरत थी। गोबर ने एक आना रुपया सूद पर दे दिये।

अलादीन ने धन्यवाद देते हुए कहा—भैया, अब बाल-बच्चों को बुला लो। कब तक हाथ से ठोकते रहोगे ?

गोबर ने शहर के ख़र्च का रोना रोया—थोड़ी आमदनी में गृहस्थी कैसे चलेगी ?

अलादीन बीड़ी जलाता हुआ बोला—खरच अल्लाह देगा भैया ! सोचो, कितना आराम मिलेगा। मैं तो कहता हूँ जितना तुम अकेले खरच करते हो, उसी में गृहस्थी चल जायगी। औरत के हाथ में बड़ी बरक्कत होती है। खुदा क़सम, जब मैं अकेला यहाँ रहता था, तो चाहे कितना ही कमाऊँ, खा-पी सब बराबर। बीड़ी-तमाखू को भी पैसा न रहता। उस पर हैरानी ! थके-माँदे आओ, तो घोड़े को खिलाओ और

टहलाओ। फिर नानबाई की दुकान पर दौड़ो। नाक मे दम आ गया। जब से घरवाली आ गयी है, उसी कमाई में उसकी रोटियाँ भी निकल आती हैं और आराम भी मिलता है। आखिर आदमी आराम के लिए ही तो कमाता है। जब जान खपाकर भी आराम न मिला, तो ज़िन्दगी ही गारत हो गयी। मैं तो कहता हूँ, तुम्हारी कमाई बढ़ जायगी भैया! जितनी देर मे आलू और मटर उबालते हो, उतने देर में दो-चार प्याले चाय बेच लोगे। अब चाय बारहो मास चलती है! रात को लेटोगे तो घरवाली पाँव दबाएगी। सारी थकान मिट जायगी।

यह बात गोबर के मन मे बैठ गयी। जी उचाट हो गया। अब तो वह झुनिया को लाकर ही रहेगा। आलू चूल्हे पर चढ़े रह गये। और उसने घर चलने की तैयारी कर दी; मगर याद आया कि होली आ रही है, इसलिए होली का सामान भी लेता चले। कृपण लोगों में उत्सवो पर दिल खोलकर खर्च करने की जो एक प्रवृत्ति होती है, वह उसमे भी सज़ग हो गयी। आखिर इसी दिन के लिए तो कौड़ी-कौड़ी जोड़ रहा था। वह माँ, बहनो और झुनिया के लिए एक-एक जोड़ी साड़ी ले जायगा। होरी के लिए एक धोती और एक चादर। सोना के लिए एक तेल की शीशी ले जायगा, और एक जोड़ा चप्पल। रूपा के लिए जापानी चूड़ियाँ और झुनिया के लिए एक पिटारी, जिसमें तेल, सिन्दूर और आइना होगा। बच्चे के लिए टोप और फ्रॉक, जो बाजार मे बना बनाया मिलता है। उसने रुपये निकाले और बाजार चला। दोपहर तक सारी चीज़ें आ गयी। बिस्तर भी बँध गया, मुहल्लेवालों को खबर हो गयी, गोबर घर जा रहा है। कई मर्द-औरतें उसे विदा करने आये। गोबर ने उन्हें अपना घर सौंपते हुए कहा—तुम्हीं लोगों पर छोड़े जाता हूँ। भगवान् ने चाहा तो होली के दूसरे दिन लौटूँगा।

एक युवती ने मुस्कराकर कहा—मेहरिया को बिना लिये न आना; नहीं घर में न घुसने पाओगे।

दूसरी प्रौढ़ा ने शिक्षा दी—हाँ, और क्या, बहुत दिनो तक चूल्हा फूँक चुके। ठिकाने से रोटी तो मिलेगी!

गोबर ने सबको राम-राम किया। हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे, सभी में मित्रभाव था, सब एक-दूसरे के दुख-दर्द के साथी। रोज़ा रखने वाले रोज़ा रखते थे। एकादशी रखनेवाले एकादशी। कभी-कभी विनोद-भाव से एक-दूसरे पर छींटे भी उड़ा लेते थे। गोबर अलादीन की नमाज़ को उठा-बैठी कहता, अलादीन पीपल के नीचे स्थापित सैकड़ों छोटे-बड़े शिवलिंग को बटखरे बनाता; लेकिन साम्प्रदायिक द्वेष का नाम भी न था। गोबर घर जा रहा है। सब उसे हँसी-खुशी विदा करना चाहते हैं।

इतने में भूरे एक्का लेकर आ गया। अभी दिन-भर का धावा मारकर आया था। ख़बर मिली, गोबर जा रहा है। वैसे ही एक्का उधर फेंक दिया। घोड़े ने आपत्ति की। उसे कई चाबुक लगाये। गोबर ने एक्के पर सामान रखा, एक्का बढ़ा, पहुँचाने वाले गली के मोड़ तक पहुँचाने आये, तब गोबर ने सबको राम-राम किया और

एक्के पर बैठ गया।

सड़क पर एक्का सरपट दौड़ा जा रहा था। गोबर घर जाने की खुशी में मस्त था। भूरे उसे घर पहुँचाने की खुशी में मस्त था। और घोड़ा था पानीदार। घोड़ा चला जा रहा था। बात की बात में स्टेशन आ गया।

गोबर ने प्रसन्न होकर एक रुपया कमर से निकलकर भूरे की तरफ़ बढ़ाकर कहा–लो, घरवालों के लिए मिठाई लेते जाना।

भूरे ने कृतज्ञता-भरे तिरस्कार से उसकी ओर देखा–तुम मुझे ग़ैर समझते हो, भैया ! एक दिन ज़रा एक्के पर बैठ गये तो मैं तुमसे इनाम लूँगा। जहाँ तुम्हारा पसीना गिरे, वहाँ खून गिराने को तैयार हूँ। इतना छोटा दिल नहीं पाया। और ले भी लूँ तो घरवाली मुझे जीता छोड़ेगी ?

गोबर ने फिर कुछ न कहा। लज्जित होकर अपना असबाब उतारा और टिकट लेने चल दिया।

बीस

फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर के सुगन्ध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई सगीत का गुप्त दान कर रही थी।

गाँवों में ऊख की बोआई लग गयी थी। अभी धूप नहीं निकली; पर होरी खेत में पहुँच गया है। धनिया, सोना, रूपा तीनों तलैया से ऊख के भीगे हुए गट्ठे निकाल-निकालकर खेत में ला रही हैं, और होरी गँड़ासे से ऊख के टुकड़े कर रहा है। अब वह दातादीन की मजदूरी करने लगा है। किसान नहीं मजूर है। दातादीन से अब उसका पुरोहित-जजमान का नाता नहीं, मालिक-मजदूर का नाता है।

दातादीन ने आकर डाँटा–हाथ और फुरती से चलाओ होरी ! इस तरह तो तुम दिन-भर में न काट सकोगे।

होरी ने आहत अभिमान के साथ कहा–चला ही तो रहा हूँ महाराज, बैठा तो नहीं हूँ। दातादीन मजूरों से रगड़कर काम लेते थे, इसलिए उनके यहाँ कोई मजूर टिकता न था। होरी उनका स्वभाव जानता था; पर जाता कहाँ !

पण्डित उसके सामने खड़े होकर बोले–चलाने-चलाने में भेद है। एक चलाना वह है घड़ी-भर में काम तमाम, दूसरा चलाना वह है कि दिन-भर में एक ही बोझ ऊख न कटे।

होरी ने विष का घूँट पीकर और ज़ोर से हाथ चलाना शुरू किया। इधर महीनों से उसे पेट-भर भोजन न मिलता था। प्राय एक जून तो चबेने पर ही कटता था। दूसरे जून भी कभी आधा पेट भोजन मिला, कभी कड़ाका हो गया। कितना चाहता था कि हाथ और जल्दी उठे, मगर हाथ जवाब दे रहा था। इस पर दातादीन सिर पर सवार थे। क्षण-भर दम लेने पाता, तो ताज़ा हो जाता; लेकिन दम कैसे ले ?

घुड़कियाँ पड़ने का भय था।

धनिया और तीनों लड़कियाँ ऊख के गट्ठे लिये गीली साड़ियो से लथपथ, कीचड में सनी हुयी आयीं और गट्ठे पटककर दम माने लगीं कि दातादीन ने डाँट वताई—यहाँ तमाशा क्या देखती है धनिया ? जा अपना काम कर। पैसे सेंत में नहीं आते। पहर-भर में तू एक खेप लायी है। इस हिसाब से तो दिन-भर में भी ऊख न ढुल पाएगी।

धनिया ने त्योरी बदलकर कहा—क्या जरा दम भी न लेने दोगे महाराज। हम भी तो आदमी हैं। तुम्हारी मजूरी करने से बैल नही हो गये। जरा मूड़ पर एक गट्ठा लादकर लाओ तो हाल मालूम हो।

दातादीन बिगड़ उठे—पैसे देते हैं काम करने के लिए, दम मारने के लिए नहीं। दम मार लेना है, तो घर जाकर दम लो।

धनिया कुछ कहने ही जा रही थी कि होरी ने फटकार वतायी—तू जाती क्यों नही धनिया ? क्यो हुज्जत कर रही है ?

धनिया ने बीड़ा उठाते हुए कहा—जा तो रही हूँ, लेकिन चलते हुए बैल को औंगी न देना चाहिए।

दातादीन ने लाल आँखें निकाली ली—जान पड़ता है, अभी मिजाज ठण्डा नहीं हुआ। जभी दाने-दाने को मोहताज हो।

धनिया भला क्यो चुप रहने लगी थी—तुम्हारे द्वार पर भीख माँगने नही जाती।

दातादीन ने पैने स्वर मे कहा—अगर यही हाल है तो भीख भी माँगोगी।

धनिया के पास जवाब तैयार था; पर सोना उसे खींचकर तलैया की ओर ले गयी, नहीं बात बढ जाती ; लेकिन आवाज़ में पहुँच के बाहर दिल की जलन निकाली—भीख माँगो तुम, जो भिखमंगे की जात हो। हम तो मजूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायेंगे।

सोना ने उसका तिरस्कार किया—अम्मा, जाने भी दो। तुम तो समय नही देखती, बात-बात पर लड़ने बैठ जाती हो।

होरी उन्मत्त की भाँति सिर से गँडासा उठा-उठाकर ऊख के टुकड़ों के ढेर करता जाता था। उसके भीतर जैसे आग लगी हुयी थी। उसमें आलौकिक शक्ति आ गई थी। उसमें जो पीढ़ियो का संचित पानी था, वह इस समय जैसे भाप बनकर उसे यन्त्र की-सी अन्ध-शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी आँखों में अँधेरा छाने लगा। सिर में फिरकी-सी चल रही थी। फिर भी उसके हाथ यन्त्र की गति से, बिना रुके, उठ रहे थे उसकी देह से पसीने की धारा निकल रही थी, मुँह से फिचकुर फूट रहा था, सिर में धम-धम का शब्द हो रहा था, पर उस पर जैसे कि कोई भूत सवार हो गया हो।

सहसा उसकी आँखों में निविड़ अन्धकार छा गया। मालूम हुआ, वह ज़मीन में धँसा जा रहा है। उसने सँभलने की चेष्टा से शून्य में हाथ फैला दिये और अचेत

हो गया। गँड़ासा हाथ से छूट गया और वह औंधे मुँह ज़मीन पर पड़ गया।

उसी वक़्त धनिया ऊख का गट्ठा लिये आयी। देखा तो कई आदमी होरी को घेरे खड़े हैं। एक हलवाहा दातादीन से कह रहा था—मालिक, तुम्हे ऐसी बात न कहनी चाहिए, जो आदमी को लग जाय। पानी मरते ही मरते तो मरेगा।

धनिया ऊख का गट्ठा पटककर पागलों की तरह दौड़ी हुई होरी के पास गयी, और उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर विलाप करने लगी—तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाते हो ? अरी सोना, दौड़कर पानी ला और जाकर शोभा से कह दे, दादा बेहाल हैं। हाय भगवान ! अब, मैं कहाँ जाऊँ ? अब किसकी होकर रहूँगी ? कौन मुझे धनिया कहकर पुकारेगा।…

लाला पटेश्वरी भागे हुए आये और स्नेह-भरी कठोरता से बोले—क्या करती है धनिया, होश सँभाल। होरी को कुछ नहीं हुआ। गर्मी से अचेत हो गये हैं। अभी होश आया जाता है। दिल इतना कच्चा कर लेगी, तो कैसे काम चलेगा ?

धनिया ने पटेश्वरी के पांव पकड़ लिये और रोती हुए बोली—क्या करूँ लालाजी, जी नही मानता। भगवान ने सब कुछ हर लिया। मै सबर कर गयी। अब सबर नहीं होता। हाय रे, मेरा हीरा !

सोना पानी लायी। पटेश्वरी ने होरी के मुँह पर पानी की छींटे दिये। कई आदमी अपनी-अपनी अँगोछियों से हवा कर रहे थे। होरी की देह ठण्डी पड़ गयी थी। पटेश्वरी को भी चिन्ता हुई; पर धनिया को वह बराबर साहस देते जाते थे।

धनिया अधीर होकर बोली—ऐसा कभी नही हुआ था। लाला, कभी नही।

पटेश्वरी ने पूछा—रात को कुछ खाया था ?

धनिया बोली—हाँ, रोटियाँ पकायी थीं; लेकिन आजकल हमारे ऊपर जो बीत रही है, यह क्या तुमसे छिपा है ? महीनों से भरपेट रोटी नसीब नहीं हुई। कितना समझाती हूँ, जान रखकर काम करो; लेकिन आराम तो हमारे भाग्य में लिखा ही नहीं।

सहसा होरी ने आँखें खोल दी और उड़ती हुई नज़रों से इधर-उधर ताका।

धनिया जैसे जी उठी। विह्वल होकर उसके गले से लिपटकर बोली—अब कैसा जी है तुम्हारा ? मेरे तो परान नहों में समा गये थे।

होरी ने कातर स्वर में कहा—अच्छा हूँ। न जाने कैसा जी हो गया था।

धनिया ने स्नेह में डूबी भर्त्सना से कहा—देह में दम तो है नही, काम करते हो जान देकर। लड़कों का भाग था, नहीं तुम तो ले ही डूबे थे !

पटेश्वरी ने हँसकर कहा—धनिया तो रो-पीट रही थी।

होरी ने आतुरता से पूछा—सचमुच तू रोती थी धनिया ?

धनिया ने पटेश्वरी को पीछे ढकेलकर कहा—इन्हें बकने दो तुम। पूछो, वह क्यों कागद छोड़कर घर से दौड़े आये थे ?

पटेश्वरी ने चिढ़ाया—तुम्हीं हीरा-हीरा कहकर रोती थी। अब लाज के मारे

मुकरती है। छाती पीट रही थी।

होरी ने धनिया को सजल नेत्रों से देखा—पगली है क्या! अब न जाने कौन-सा सुख देखने के लिए मुझे जिलाये रखना चाहती है।

दो आदमी होरी को टिकाकर घर लाये और चारपाई पर लिटा दिया। दातादीन तो कुढ़ रहे थे कि बोआई में देर हुई जाती है, पर मातादीन इतना निर्दयी न था। दौड़कर घर से गर्म दूध लाया, और एक शीशी में गुलाबजल भी लेता आया। और दूध पीकर होरी में जैसे जान आ गयी।

उसी वक्त गोबर एक मजदूर के सिर पर अपना सामान लादे आता दिखाई दिया।

गाँव के कुत्ते पहले तो भूँकते हुए उसकी तरफ दौड़े। फिर दुम हिलाने लगे। रूपा ने कहा—'भैया आये', और तालियाँ बाजाती हुई दौडी। सोना भी दो-तीन कदम आगे बढ़ी; पर अपने उछाह को भीतर ही दबा गयी। एक साल में उसका यौवन कुछ और संकोचशील हो गया था। झुनिया भी घूँघट निकाले द्वार पर खड़ी हो गयी।

गोबर ने माँ-बाप के चरण छुए और रूपा को गोद में उठाकर प्यार किया। धनिया ने उसे आशीर्वाद दिया और उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मानो अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गयी। उसका हृदय गर्व से उमडा पडता था। आज तो वह रानी है। इस फटे-हाल में भी रानी है। कोई उसकी आँखें देखे, उसका मुख देखे, उसका हृदय देखे, उसकी चाल देखे। रानी भी लजा जायंगी। गोबर कितना बडा हो गया है और पहन-ओढकर कैसा भलामानस लगता है। धनिया के मन में कभी अमंगल की शंका न हुई थी। उसका मन कहता था, गोबर कुशल से है और प्रसन्न है। आज उसे आँखों देखकर मानो उसके जीवन के धूल-धक्कड में गुम हुआ रत्न मिल गया है; मगर होरी ने मुँह फेर लिया था।

गोबर ने पूछा—दादा को क्या हुआ है, अम्माँ?

धनिया घर का हाल कहकर उसे दुखी न करना चाहती थी। बोली—कुछ नहीं है, बेटा, जरा सिर-दर्द है। चलो, कपड़े उतारो, हाथ-मुँह धोओ। कहाँ थे तुम इतने दिन? भला, इस तरह कोई घर से भागता है? और कभी एक चिट्ठी तक न भेजी? आज साल-भर के बाद जाके सुधि ली है। तुम्हारी राह देखते-देखते आँखें फूट गयीं। यही आसा बँधी रहती थी कि कब वह दिन आयेगा और कब तुम्हें देखूँगी। कोई कहता था, मिरच भाग गया, कोई डमरा टापू बताता था। सुन-सुनकर जान सूखी जाती थी। कहाँ रहे इतने दिन?

गोबर ने शर्माते हुए कहा—कहीं दूर नहीं गया था, अम्माँ, यह लखनऊ में तो था।

"और इतने नियरे रहकर भी कभी एक चिट्ठी न लिखी?"

उधर सोना और रूपा भीतर गोबर का सामान खोलकर चीज़ का बाँट-बखरा करने में लगी हुई थीं; लेकिन झुनिया दूर खड़ी थी। उसके मुख पर आज मान का

शोख रंग झलक रहा है। गोबर ने उसके साथ जो व्यवहार किया है, आज वह उसका बदला लेगी। आसामी को देखकर महाजन उससे वह रुपये वसूल करने को भी व्याकुल हो रहा है, जो उसने बट्टेखाते में डाल दिये थे। बच्चा उन चीज़ों की ओर लपक रहा था और चाहता था, सब-का-सब एक साथ मुँह में डाल ले, पर झुनिया उसे गोद से उतरने न देती थी।

सोना बोली—भैया तुम्हारे लिए आईना-कंघी लाये हैं भाभी।

झुनिया ने उपेक्षा भाव से कहा—मुझे ऐना-कंघी न चाहिए। अपने पास रखे रहें।

रूपा ने बच्चे की चमकीली टोपी निकाली—ओ हो ! यह तो चुन्नू की टोपी है। और उसे बच्चे के सिर पर रख दिया।

झुनिया ने टोपी उतारकर फेंक दी और सहसा गोबर को अन्दर आते देखकर वह बालक को लिये अपनी कोठरी में चली गयी। गोबर ने देखा, सारा सामान खुला पड़ा है। उसका जी तो चाहता है, पहले झुनिया से मिलकर अपना अपराध क्षमा कराये; लेकिन अन्दर जाने का साहस नहीं होता। वहीं बैठ गया और चीज़ें निकाल-निकाल हर एक को देने लगा, मगर रूपा इसलिए फूल गयी कि उसके लिए चप्पल क्यों नहीं लाये, और सोना उसे चिढ़ाने लगी, तू क्या करेगी चप्पल लेकर, अपनी गुड़िया से खेल। हम तो तेरी गुड़ियां देखकर नहीं रोते, तू मेरा चप्पल देखकर क्यों रोती है ? मिठाई बाँटने की ज़िम्मेदारी धनिया ने अपने ऊपर ली। इतने दिनों के बाद लड़का कुशल से घर आया है। वह गाँव-भर में बैना बँटवायेगी। एक गुलाब-जामुन रूपा के लिए ऊँट के मुँह में जीरे के समान था। वह चाहती थी, हाँड़ी उसके सामने रख दी जाय, वह कूद-कूद खाये !

अब सन्दूक़ खुला और उसमें से साड़ियाँ निकलने लगीं। सभी किनारदार थीं; जैसी पटेश्वरी लाला के घर में पहनी जाती हैं। मगर हैं बड़ी हल्की। ऐसी महीन साड़ियाँ भला कै दिन चलेंगी ! बड़े आदमी जितनी महीन साड़ियाँ चाहें पहनें। मेहरियों को बैठने और सोने के सिवा और कौन काम है ! यहाँ तो खेत-खलिहान सभी कुछ है। अच्छा ! होरी के लिए धोती के अतिरिक्त एक दुपट्टा भी है।

धनिया प्रसन्न होकर बोली—यह तुमने बड़ा अच्छा किया बेटा ! इनका दुपट्टा बिलकुल तार-तार हो गया था।

गोबर को उतनी देर में घर की परिस्थिति का अन्दाज हो गया। धनिया की साड़ी में कई पैबंद लगे हुए थे। सोना की साड़ी सिर पर फटी हुई थी और उसमें से उसके बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें-सी लटक रही थीं। सभी के चेहरे रूखे, किसी की देह पर चिकनाहट नहीं। जिधर देखो, विपन्नता, का साम्राज्य था।

लड़कियाँ तो साड़ियों में मगन थीं। धनिया को लड़के के लिए भोजन की चिन्ता हुई। घर में थोड़ा-सा जौ का आटा साँझ के लिए संचकर रखा हुआ था।

इस वक्त तो चबैने पर कटती थी; मगर गोबर अब वह गोबर थोड़े ही है। उससे जौ का आटा खाया भी जायेगा ? परदेश में न जाने क्या-क्या खाता-पीता रहा होगा। जाकर दुलारी की दुकान से गेहूँ का आटा, चावल, घी उधार लायी। इधर महीने से सहुआइन एक पैसे की चीज़ भी उधार न देती थी; पर आज उसने एक बार भी न पूछा, पैसे कब दोगी।

उसने पूछा—गोबर तो खूब कमा के आया है न ?

धनिया बोली—अभी तो कुछ नहीं खुला दीदी ! अभी मैंने भी कुछ कहना उचित न समझा। हाँ, सबके लिए किनारदार साड़ियाँ लाया है। तुम्हारे आसिरबाद से कुशल से लौट आया, मेरे लिए तो यही बहुत है।

दुलारी ने असीस दिया—भगवान करे, जहाँ रहे कुशल से रहे। माँ-बाप को और क्या चाहिए ! लड़का समझदार है। और छोकरों की तरह उड़ाऊ नहीं है। हमारे रुपये अभी न मिलें, तो ब्याज तो दे दो। दिन-दिन बोझ बढ़ ही तो रहा है।

इधर सोना चुन्नू को उसका फ्राक और टोप और जूता पहनाकर राजा बना रही थी। बालक इन चीज़ों को पहनने से ज़्यादा हाथ में लेकर खेलना पसन्द करता था। अन्दर गोबर और झुनिया में मान-मनौवल का अभिनय हो रहा था।

झुनिया ने तिरस्कार-भरी आँखों से देखकर कहा—मुझे लाकर यहाँ बैठा दिया। आप परदेश की राह ली। फिर न खोज न खबर कि मरती है या जीती है। साल-भर के बाद अब जाकर तुम्हारी नींद टूटी है। कितने बड़े कपटी हो तुम ! मैं तो सोचती हूँ कि तुम मेरे पीछे-पीछे आ रहे हो और आप उड़े, तो साल-भर के बाद लौटे। मर्दों का विश्वास ही क्या, कहीं कोई और ताक ली होगी। सोचा होगा, एक घर के लिए है ही, एक बाहर के लिए भी हो जाये।

गोबर ने सफ़ाई दी—झुनिया, मैं भगवान को साक्षी देकर कहता हूँ, जो मैंने कभी किसी की ओर ताका भी हो। लाज और डर के मारे घर से भागा जरूर; मगर तेरी याद एक छन के लिए भी मन से न उतरती थी। अब तो मैंने तय कर लिया है कि तुझे भी लेता जाऊँगा; इसलिए आया हूँ। तेरे घरवाले तो बहुत बिगड़े होंगे ?

"दादा तो मेरी जान लेने पर ही उतारू थे।"

"सच !"

"तीनों जने यहाँ चढ़ आये थे। अम्माँ ने ऐसा डाँटा कि मुँह लेकर रह गये। हाँ, हमारे दोनों बैल खोल ले गये।"

"इतनी बड़ी जबरदस्ती ! और दादा कुछ बोले नहीं ?"

"दादा अकेले किस-किससे लड़ते ! गाँववाले तो नहीं ले जाने देते थे; लेकिन दादा ही भलमनसी में आ गये, तो और लोग क्या करते ?"

"तो आजकल खेती-बारी कैसे हो रही है ?"

"खेती-बारी सब टूट गयी। थोड़ी-सी पण्डित महाराज के साझे में है। ऊख

बोई ही नहीं गयी।"

गोवर की कमर में इस समय दो सौ रुपए थे। उसकी गर्मी यों भी कम न थी। यह हाल सुनकर तो उसके बदन में आग ही लग गई।

बोला—तो फिर पहले मैं उन्हीं से जाकर समझता हूँ। उनकी यह मज़ाल कि मेरे द्वार पर से बैल खोल ले जायें ! यह डाका है, खुला हुआ डाका। तीन-तीन साल को चले जायेंगे तीनों। यों न देंगे, तो अदालत से लूँगा। सारा घमड तोड़ दूँगा।

वह उसी आवेश में चला था कि झुनिया ने पकड़ लिया और बोली—तो चले जाना, अभी ऐसी क्या जल्दी है ? कुछ आराम कर लो, कुछ खा-पी लो। सारा दिन तो पड़ा है। यहाँ बड़ी-बड़ी पंचायत हुई, पंचायत ने अस्सी रुपये डाँड़ के लगाये। तीन मन अनाज ऊपर। उसी में तो और तबाही आ गयी।

सोना बालक को कपड़े-जूते पहनाकर लायी। कपड़े पहनकर वह जैसे सचमुच राजा हो गया था। गोबर ने उसे गोद में ले लिया; पर इस समय बालक के प्यार में उसे आनन्द न आया। उसका रक्त खौल रहा था और कमर के रुपये आँच और तेज कर रहे थे। वह एक-एक से समझेगा। पंचों को उस पर डाँड़ लगाने का अधिकार क्या है ? कौन होता है कोई उसके बीच में बोलनेवाला ? उसने एक औरत रख ली, तो पंचों के बाप का क्या बिगाड़ा ? अगर इसी बात पर वह फ़ौज़दारी में दावा कर दे, तो लोगों के हाथों में हथकड़ियाँ पड़ जायें। सारी गृहस्थी तहस-नहस हो गयी। क्या समझ लिया है उसे इन लोगों ने !

बच्चा उसकी गोद में जरा-सा मुस्कराया, फिर जोर से चीख उठा, जैसे कोई डरावनी चीज देख ली हो।

झुनिया ने बच्चे को उसकी गोद से ले लिया और बोली—अब जाकर नहा-धो लो। किस सोच में पड़ गये ? यहाँ सबसे लड़ने लगे, तो एक दिन निबाह न हो। जिसके पास पैसे हैं, वही बड़ा आदमी है, वही भला आदमी। पैसे न हों, तो उस पर सभी रोब जमाते हैं।

"मेरा गधापन था कि घर से भागा ; नहीं देखता, कैसे कोई एक धेला डाँड़ लेता है।"

"सहर की हवा खा आये हो, तभी ये बातें सूझने लगी हैं, नहीं घर से भागते क्यों !"

"यही जी चाहता है कि लाठी उठाऊँ और पटेश्वरी, दातादीन, झिंगुरी, सब सालों को पीटकर गिरा दूँ और उनके पेट से रुपये निकाल लूँ।"

रुपए की बहुत गर्मी चढ़ी है साइत। लाओ निकालो, देखूँ, इतने दिन में क्या कमा लाये हो ?

उसने गोबर की कमर में हाथ लगाया। गोबर खड़ा होकर बोला—अभी क्या कमाया; हाँ, अब तुम चलोगी, तो कमाऊँगा। साल-भर तो सहर का रंग-ढंग पहचानने ही में लग गया।

"अम्माँ जाने देंगी, तब तो ?"

"अम्माँ क्यों न जाने देंगी ? उनसे मतलब ?"

"वाह ! मैं उनकी राजी बिना न जाऊँगी। तुम तो छोड़कर चलते बने। और मेरा कौन था यहाँ ? वह अगर घर में न घुसने देतीं तो मैं कहाँ जाती ? जब तक जीऊँगी, उनका जस गाऊँगी और तुम भी क्या परदेश ही करते रहोगे ?"

"और यहाँ बैठकर क्या करूँगा ? कमाओ और मरो, इसके सिवा यहाँ और क्या रखा है ? थोड़ी-सी अकल हो और आदमी काम करने से न डरे, तो वहाँ भूखों नहीं मर सकता। यहाँ तो अकल कुछ काम ही नहीं करती। दादा क्यों मुँह फुलाये हुए हैं ?"

"अपने भाग बखानो कि मुँह फुलाकर छोड़ देते हैं। तुमने उपद्रव तो इतना बड़ा किया था कि उस क्रोध में पा जाते, तो मुँह लाल कर देते।"

"तो तुम्हें भी खूब गालियाँ देते होंगे ?"

"कभी नहीं, भूलकर भी नहीं। अम्माँ तो पहले बिगड़ी थीं; लेकिन दादा ने तो कभी कुछ नहीं कहा, जब बुलाते हैं, बड़े प्यार से। मेरा सिर भी दुखता है, तो बेचैन हो जाते हैं। अपने बाप को देखते तो मैं इन्हें देवता समझती हूँ। अम्माँ को समझाया करते हैं, बहू को कुछ न कहना। तुम्हारे ऊपर सैकड़ों बार बिगड़ चुके हैं कि इसे घर में बैठाकर आप न जाने कहाँ निकल गया। आजकल पैसे-पैसे की तंगी है। ऊख के रुपये बाहर ही बाहर उड़ गये। अब तो मजूरी करनी पड़ती है। आज बेचारे खेत में बेहोश हो गये। रोना-पीटना मच गया। तब से पड़े हैं।"

मुँह-हाथ धोकर और खूब बाल बनाकर गोबर गाँव का दिग्विजय करने निकला। दोनों चाचाओं के घर जाकर राम-राम कर आया। फिर और मित्रों से मिला। गाँव में कोई विशेष परिवर्तन न था। हाँ, पटेश्वरी की नयी बैठक बन गयी थी और झिंगुरीसिंह ने दरवाजे पर नया कुआँ खुदवा लिया था। गोबर के मन में विद्रोह और भी ताल ठोंकने लगा। जिससे मिला, उसने उसका आदर किया, और युवकों ने तो उसे अपना हीरो बना लिया और उसके साथ लखनऊ जाने को तैयार हो गये। साल ही भर में वह क्या से क्या हो गया था।

सहसा झिंगुरीसिंह अपने कुएँ पर नहाते मिल गये। गोबर निकला; मगर न सलाम किया, न बोला। वह ठाकुर को दिखा देना चाहता था, मैं तुम्हें कुछ नहीं समझता।

झिंगुरीसिंह ने खुद ही पूछा—कब आये गोबर, मजे में तो रहे ? कहीं नौकर थे लखनऊ में ?

गोबर ने हेकड़ी के साथ कहा—लखनऊ गुलामी करने नहीं गया था। नौकरी है तो गुलामी। मैं व्यापार करता था।

ठाकुर ने कुतूहल-भरी आँखों से उसे सिर से पाँव तक देखा—कितना रोज पैदा करते थे ?

गोबर ने छुरी को भाला बनाकर उनके ऊपर चलाया—यही कोई ढाई-तीन रुपये मिल जाते थे। कभी चटक गयी तो चार भी मिल गये। इससे बेसी नहीं।

झिंगुरी बहुत नोच-खसोट करके भी पचीस-तीस से ज्यादा न कमा पाते थे। और यह गँवार लौंडा सौ रुपये कमाने लगा। उनका मस्तक नीचा हो गया। अब किस दावे से उस पर रोब जमा सकते हैं ? वर्ण में वह ज़रूर ऊँचे हैं; लेकिन वर्ण कौन देखता है ! उससे स्पर्द्धा करने का यह अवसर नहीं, अब तो उसकी चिरौरी करके उससे कुछ काम निकाला जा सकता है। बोले—इतनी कमाई कम नहीं है बेटा, जो खरच करते बने। गाँव में तीन आने भी नहीं मिलते। भवनिया (उनके जेठे पुत्र का नाम था) को भी कहीं कोई काम दिला दो, तो भेज दूँ। न पढ़े न लिखे, एक न एक उपद्रव करता रहता है। कहीं मुनीमी खाली हो तो कहना, नहीं साथ ही लेते जाना। तुम्हारा तो मित्र है। तलब थोड़ी हो, कुछ गम नहीं। हाँ, चार पैसे की ऊपर की गुंजाइस हो।

गोबर ने अभिमान-भरी हँसी के साथ कहा—यह ऊपरी आमदनी की चाट आदमी को खराब कर देती है ठाकुर; लेकिन हम लोगों की आदत कुछ ऐसी बिगड़ गयी है कि जब तक बेईमानी न करें, पेट ही नहीं भरता। लखनऊ में मुनीमी मिल सकती है, लेकिन हरएक महाजन ईमानदार चौकस आदमी चाहता है। मैं भवानी को किसी के गले बाँध तो दूँ; लेकिन पीछे इन्होंने कहीं हाथ लपकाया, तो वह मेरी गर्दन पकड़ेगा। संसार में इलम की कदर नहीं है ईमान की कदर है।

यह तमाचा लगाकर गोबर आगे निकल गया। झिंगुरी मन में ऐंठकर रह गए। लौंडा कितने घमण्ड की बातें करता है, मानो धर्म का अवतार ही तो है।

इसी तरह गोबर ने दातादीन को भी रगड़ा। भोजन करने जा रहे थे। गोबर को देखकर प्रसन्न होकर बोले—मज़े में तो रहे गोबर ? सुना, वहाँ कोई अच्छी जगह पा गये हो। मातादीन को भी किसी हीले से लगा दो न। भंग पीकर पड़े रहने के सिवा यहाँ और कौन काम है !

गोबर ने बनाया—तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ, कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जनम में लो, मरन में लो, सादी में लो; गमी में लो; खेती करते हो, लेन-देन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल-चूक हो जाये, तो डाँड़ लगाकर उसका घर लूट लेते हो। इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? क्या करोगे बहुत-सा धन बटोरकर कि साथ ले जाने की कोई जुगुत निकाल ली है ?

दातादीन ने देखा, गोबर कितनी ढिठाई से बोल रहा है; अदब और लिहाज जैसे भूल गया। अभी शायद नहीं जानता कि बाप मेरी गुलामी कर रहा है। सच है, छोटी नदी को उमड़ते देर नहीं लगती; मगर चेहरे पर मैल नहीं आने दिया। जैसे बड़े लोग बालकों से मूँछे उखाड़वाकर भी हँसते हैं; उन्होंने भी इस फटकार को हँसी में लिया और विनोद-भाव से बोले—लखनऊ की हवा खा के तू बड़ा चंट हो गया

गोबर ! ला, क्या कमा के लाया है, कुछ निकाल। सच कहता हूँ, गोबर, तुम्हारी बहुत याद आती थी। अब तो रहोगे कुछ दिन ?

हाँ, अभी तो रहूँगा कुछ दिन। उन पंचों पर दावा करना है, जिन्होंने डाँड के बहाने मेरे डेढ़ सौ रुपये हजम किये हैं। देखूँ, कौन मेरा हुक्का-पानी बन्द करता है और कैसे बिरादरी मुझे जात से बाहर करती है ?

यह धमकी देकर वह आगे बढ़ा। उसकी हेकड़ी ने उसके युवक भक्तों को रोब में डाल दिया था।

एक ने कहा—कर दो नालिस गोबर भैया ! बुड्ढा काला साँप है— जिसके काटे मन्तर नही। तुमने अच्छी डाँट बतायी। पटवारी के कान भी जरा गरमा दो। बडा मुतफन्नी है दादा ! बाप-बेटे में आग लगा दे, भाई-भाई मे आग लगा दे। कारिन्दे से मिलकर असामियों का गला काटता है। अपने खेत पीछे जोतो, पहले उसके खेत जोत दो। अपनी सिंचाई पीछे करो, पहले उसकी सिंचाई कर दो।

गोबर ने मूँछों पर ताव देकर कहा—मुझसे क्या कहते हो भाई, साल-भर में भूल थोड़े ही गया। यहाँ मुझे रहना ही नहीं है, नहीं एक-एक को नचाकर छोडता। अबकी होली धूम-धाम से मनाओ और होली का स्वाँग बनाकर इन सबों को खूब भिगो-भिगोकर लगाओ।

होली का प्रोग्राम बनने लगा। खूब भंग घुटे, दूधिया भी, नमकीन भी, और रंगों के साथ कालिख भी बने और मुखियों के मुँह पर कालिख ही पोती जाये। होली में कोई बोल ही क्या सकता है ! फिर स्वाँग निकले और पंचों की भद्द उड़ाई जाय। रुपये-पैसे की कोई चिंता नहीं। गोबर भाई कमाकर आये हैं।

भोजन करके गोबर भोला से मिलने चला। जब तक अपनी जोड़ी जाकर अपने द्वार पर बाँध न दे, उसे चैन नहीं। वह लड़ने-मरने को तैयार था।

होरी ने कातर स्वर में कहा—राढ़ मत बढ़ाओ बेटा ! भोला गोई ले गये, भगवान उनका भला करे; लेकिन उनके रुपये तो आते ही थे।

गोबर ने उत्तेजित होकर कहा— दादा, तुम बीच में न बोलो। उनकी गाय पचास की थी। हमारी गोई डेढ़ सौ में आयी थी। तीन साल हमने जोती। फिर भी सौ की थी ही। वह अपने रुपये के लिए दावा करते, डिग्री कराते, या जो चाहते करते, हमारे द्वार से जोड़ी क्यों खोल ले गये ? और तुम्हें क्या कहूँ ? इधर गोई खो बैठे, उधर ढेड़ सौ रुपये डाँड़ के भरे। यह है गऊ होने का फल। मेरे सामने जोड़ी खोल ले जाते, तो देखता। तीनों को यहाँ जमीन पर सुला देता। और पंचों से तो बात तक न करता। देखता, कौन मुझे बिरादरी से अलग करता है; लेकिन तुम बैठे ताकते रहे।

होरी ने अपराधी की भाँति सिर झुका लिया; लेकिन धनिया यह अनीति कैसे देख सकती थी ? बोली—बेटा, तुम भी अन्धेर करते हो। हुक्का-पानी बन्द हो जाता, तो गाँव में निर्वाह होता ! जवान लड़की बैठी है, उसका भी कहीं ठिकाना लगाना

है कि नहीं ? मरने-जीने में आदमी बिरादरी···

गोबर ने बात काटी—हुक्का-पानी सब तो था, बिरादरी में आदर भी था, फिर मेरा ब्याह क्यों नहीं हुआ ? बोलो। इसलिए कि घर में रोटी न थी। रुपये हों तो न हुक्का-पानी का काम है, न जात-बिरादरी का। दुनिया पैसे की है, हुक्का-पानी कोई नहीं पूछता।

धनिया तो बच्चे का रोना सुनकर भीतर चली गयी और गोबर भी घर से निकला। होरी बैठा सोच रहा था। लड़के की अकल जैसे खुल गयी है। कैसी बेलाग बात कहता है। उसकी वक्र बुद्धि ने होरी के धर्म और नीति को परास्त कर दिया था।

सहसा होरी ने उससे पूछा—मैं भी चला चलूँ ?

"मैं लड़ाई करने नहीं जा रहा हूँ दादा, डरो मत। मेरी तो ओर कानून है, मैं क्यों लड़ाई करने लगा ?"

"मैं भी चलूँ तो कोई हरज़ है ?"

"हाँ, बड़ा हरज है। तुम बनी बात बिगाड़ दोगे।"

होरी चुप हो गया और गोबर चल दिया।

पाँच मिनट भी न हुए होंगे कि धनिया बच्चे को लिये बाहर निकली और बोली—क्या गोबर चला गया, अकेले ? मैं कहती हूँ, तुम्हें भगवान कभी बुद्धि देंगे या नहीं ! भोला क्या सहज में गोई देगा ? तीनों उस पर टूट पड़ेंगे बाज की तरह। भगवान ही कुशल करें। अब किससे कहूँ, दौड़कर गोबर को पकड़ लो। तुमसे तो मैं हार गयी।

होरी ने कोने से डण्डा उठाया और गोबर के पीछे दौड़ा। गाँव बाहर आकर उसने निगाह दौड़ायी। एक क्षीण-सी रेखा क्षितिज से मिली हुई दिखाई दी। इतनी ही देर में गोबर इतनी दूर कैसे निकल गया ! होरी की आत्मा उसे धिक्कारने लगी। उसने क्यों गोबर को रोका नहीं ? अगर वह डाँटकर कह देता, भोला के घर मत जाओ, गोबर कभी न जाता। और अब उससे दौड़ा भी तो नहीं जाता। वह हारकर वहीं बैठ गया और बोला—उसकी रच्छा करो महाबीर स्वामी !

गोबर उस गाँव में पहुँचा तो देखा, कुछ लोग बरगद के नीचे बैठे जुआ खेल रहे हैं। उसे देखकर लोगों ने समझा, पुलिस का सिपाही है। कौड़ियाँ समेटकर भागे कि सहसा जंगी ने उसे पहचानकर कहा—अरे, यह तो गोबरधन है।

गोबर ने देखा, जंगी पेड़ की आड़ में खड़ा झाँक रहा है। बोला—डरो मत जंगी भैया, मैं हूँ। राम-राम ! आज ही आया हूँ। सोचा, चलूँ सबसे मिलता आऊँ, फिर न जाने कब आना हो ! मैं तो भैया, तुम्हारे आसिरबाद से बड़े मजे में निकल गया। जिस राजा की नौकरी में हूँ, उन्होंने मुझसे कहा कि एक-दो आदमी मिल जायँ तो लेते आना। चौकीदारी के लिए चाहिए। मैंने कहा, सरकार ऐसे आदमी दूँगा कि चाहे जान चली जाय, मैदान से हटनेवाले नहीं, इच्छा हो तो मेरे साथ चलो।

अच्छी जगह है।

जंगी उसका ठाट-बाट देखकर रोब में आ गया। उसे कभी चमरौधे जूते भी मयस्सर न हुए थे। और गोबर चमाचम बूट पहने हुए था। साफ-सुथरी, धारीदार कमीज, सँवारे हुए बाल, पूरा बाबू साहब बना हुआ। फटेहाल गोबर और इस परिष्कृत गोबर में बड़ा अन्तर था। हिंसाभाव कुछ तो यों ही समय के प्रभाव से शान्त हो गया था और बचा-खुचा अब शान्त हो गया। जुआड़ी था ही, उस पर गाँजे की लत। और घर में बडी मुश्किल से पैसे मिलते थे। मुँह में पानी भर आया। बोला—चलूँगा क्यों नहीं, यहाँ पड़ा-पड़ा मक्खी ही तो मार रहा हूँ। कै रुपये मिलेंगे ?

गोबर ने बड़े आत्मविश्वास से कहा—इसकी कुछ चिन्ता न करो। सब कुछ अपने ही हाथ में है। जो चाहोगे, वह हो जायेगा। हमने सोचा, जब घर में ही आदमी है, तो बाहर क्यों जायें ?

जगी ने उत्सुकता से पूछा—काम क्या करना पड़ेगा ?

"काम चाहे चौकीदारी करो, चाहे तगादे पर जाओ। तगादे का काम सबसे अच्छा। आसामी से गठ गये। आकर मालिक से कह दिया, घर पर है नहीं, चाहो, तो रुपये-आठ आने रोज बना सकते हो।"

"रहने की जगह भी मिलती है ?"

"जगह की कौन कमी ? पूरा महल पड़ा है। पानी का नल, बिजली। किसी बात की कमी नहीं है। कामता हैं कि कहीं गये हैं ?"

"दूध लेकर गये हैं। मुझे कोई बाजार नहीं जाने देता। कहते हैं, तुम तो गाँजा पी जाते हो। मैं अब बहुत कम पीता हूँ भैया, लेकिन दो पैसे रोज तो चाहिए ही। तुम कामता से कुछ न कहना। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।"

"हाँ-हाँ, बेखटके चलो। होली के बाद।"

"तो पक्की रही।"

दोनों आदमी बातें करते भोला के द्वार पर आ पहुँचे। भोला बैठे सुतली कात रहे थे। गोबर ने लपककर उनके चरण छुए और इस वक़्त उसका गला सचमुच भर आया। बोला—काका, मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई, उसे क्षमा करो।

भोला ने सुतली कातना बन्द कर दिया और पथरीले स्वर में बोला—काम तो तुमने ऐसा ही किया था गोबर, कि तुम्हारा सिर काट लूँ तो भी पाप न लगे; लेकिन अपने द्वार पर आये हो, अब क्या कहूँ ! जाओ, जैसा मेरे साथ किया, उसकी सज़ा भगवान देंगे। कब आये ?

गोबर ने खूब नमक-मिर्च लगाकर अपने भाग्योदय का वृत्तान्त कहा, और जंगी को अपने साथ ले जाने की अनुमति माँगी। भोला को जैसे बेमाँगे वरदान मिल गया। जंगी घर पर एक-न-एक उपद्रव करता रहता था। बाहर चला जायेगा, तो चार पैसे पैदा तो करेगा। न किसी को कुछ दे, अपना बोझ तो उठा लेगा।

गोबर ने कहा—नहीं काका, भगवान ने चाहा और इनसे रहते बना तो साल-दो साल में आदमी हो जायेंगे।

"हाँ, जब इनसे रहते बने।"

"सिर पर आ पड़ती है, तो आदमी आप सँभल जाता है।"

"तो कब तक जाने का विचार है ?"

"होली करके चला जाऊँगा। यहाँ खेती-बारी का सिलसिला फिर जमा दूँ, तो निश्चिन्त हो जाऊँ।"

"होरी से कहो, अब बैठके राम-राम करें।"

"कहता तो हूँ, लेकिन जब उनसे बैठा जाय।"

"वहाँ किसी वैद से तो तुम्हारी जान-पहचान होगी। खाँसी बहुत दिक कर रही है। हो सके तो कोई दवाई भेज देना।"

"एक नामी वैद तो मेरे पड़ोस में ही रहते हैं। उनसे हाल कहके दवा बनवाकर भेज दूँगा। खाँसी रात को जोर करती है कि दिन को ?"

"नहीं बेटा, रात को। आँख नहीं लगती। नहीं वहाँ कोई डौल हो, तो मैं भी वहीं चलकर रहूँ। यहाँ तो कुछ परता नहीं पड़ता।"

"रोजगार का जो मजा वहाँ है काका, यहाँ क्या होगा ! यहाँ रुपये का दस सेर दूध भी कोई भी नहीं पूछता। हलवाइयों के गले लगाना पड़ता है। वहाँ पाँच-छः सेर भाव से चाहो तो एक घड़ी में मनों दूध बेच लो।"

जंगी गोबर के लिए दूधिया शर्बत बनाने चला गया था। भोला ने एकान्त देखकर कहा—और भैया ! अब इस जजाल से जी ऊब गया है। जंगी का हाल देखते ही हो। कामता दूध लेकर जाता है। सानी-पानी, खोलना-बाँधना, सब मुझे करना पड़ता है। अब तो यही जी चाहता है कि सुख से कहीं एक रोटी खाऊँ और पड़ा रहूँ। कहाँ तक हाय-हाय करूँ। रोज लड़ाई-झगड़ा। किस-किसके पाँव सहलाऊँ ? खाँसी आती है, रात को उठा नहीं जाता; पर कोई एक लोटे पानी को भी नहीं पूछता। पगहिया टूट गयी है; मुदा किसी को इसकी सुधि नहीं है। जब मैं बनाऊँगा तभी बनेगी।

गोबर ने आत्मीयता के साथ कहा—तुम चलो लखनऊ काका। पाँच सेर का दूध बेचो, नगद। कितने ही बड़े-बड़े अमीरों से मेरी जान-पहचान है। मन-भर दूध की निकासी का जिम्मा मैं लेता हूँ। मेरी चाय की दुकान भी है। दस सेर दूध तो मैं ही नित लेता हूँ। तुम्हें किसी तरह का कष्ट न होगा।

· जंगी दुधिया शर्बत ले आया। गोबर ने एक गिलास शर्बत पीकर कहा—तुम तो खाली साँझ-सबेरे चाय की दुकान पर बैठ जाओ काका, तो एक रुपया कहीं नहीं गया है।

भोला ने एक मिनट के बाद संकोच-भरे भाव से कहा—क्रोध में बेटा, आदमी अन्धा हो जाता है। मैं तुम्हारी गोई खोल लाया था। उसे लेते जाना। यहाँ कौन

खेती-बारी होती है।

"मैंने तो एक नयी गोई ठीक कर ली है काका !"

"नहीं-नहीं, नयी गोई लेकर क्या करोगे ? इसे लेते जाओ।"

"तो मैं तुम्हारे रुपये भिजवा दूँगा।"

"रुपये कहीं बाहर थोड़े ही हैं बेटा, घर में ही तो हैं। बिरादरी का ढकोसला है, नहीं तुममें और हममें कौन भेद है ? सच पूछो तो मुझे खुश होना चाहिए था कि झुनिया भले घर में है, आराम से है। और मैं उसके खून का प्यासा बन गया था।"

संध्या के समय गोबर यहाँ से चला, तो गोई उसके साथ थी और दही की दो हाँड़ियाँ लिये जंगी पीछे-पीछे आ रहा था।

इक्कीस

देहातों में साल के छः महीने किसी न किसी उत्सव में ढोल-मजीरा बजता रहता है। होली के एक महीना पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है; आषाढ़ लगते ही आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादों में कजलियाँ होती हैं। कजलियों के बाद रामायण-गान होने लगता है। सेमरी भी अपवाद नहीं है। महाजन की धमकियाँ और कारिन्दे की बोलियाँ इस समारोह में बाधा नहीं डाल सकतीं। घर में अनाज़ नहीं है, देह पर कपड़ नही हैं, गाँठ में पैसे नहीं हैं, कोई परवाह नहीं। जीवन की आनन्दवृत्ति तो दबाई नहीं जा सकती, हँसे बिना तो जिया नहीं जा सकता।

यों होली में गाने-बजाने का मुख्य स्थान नोखेराम की चौपाल थी। वहीं भंग बनती थी, वहीं रंग उड़ता था, वहीं नाच होता था। इस उत्सव में कारिन्दा साहब के दस-पाँच रुपये ख़र्च हो जाते थे। और किसमें यह सामर्थ्य थी कि अपने द्वार पर जलसा कराता ?

लेकिन अबकी गोबर ने गाँव के सारे नवयुवकों को अपने द्वार पर खींच लिया है और नोखेराम की चौपाल खाली पड़ी हुई है। गोबर के द्वार पर भंग घुट रही है, पान के बीड़े लग रहे हैं, रंग घोला जा रहा है, फ़र्श बिछा हुआ है, गाना हो रहा है, और चौपाल में सन्नाटा छाया हुआ है। भंग रखी हुई है, पीसे कौन ? ढोल-मजीरा सब मौजूद हैं; पर गाये कौन ? जिसे देखो, गोबर के द्वार की ओर दौड़ा चला जा रहा है, यहाँ भंग में गुलाब-जल और केसर और बादाम की बहार है। हाँ-हाँ, सेर-भर बादाम गोबर खुद लाया। पीते ही चोला तर हो जाता है, आँखें खुल जाती हैं। खमीरा तमाखू लाया है, खास बिसवाँ की ! रंग में भी केवड़ा छोड़ा है । रुपये कमाना भी जानता है और खरच करना भी जानता है। गाड़कर रख लो, तो कौन देखता है ? धन की यही शोभा है। और केवल भंग ही नहीं है। जितने गानेवाले हैं, सबका नेवता भी है। और गाँव में न नाचनेवालों की कमी है, न गानेवालों की, न अभिनय करनेवालों की। शोभा ही लँगड़ों की ऐसी नकल करता है कि क्या कोई करेगा और

बोली की नक़ल करने में तो उसका सानी नहीं है ! जिसकी बोली कहो, उसकी बोले—आदमी की भी जानवर की भी। गिरधर नकल करने में बेजोड़ है। वकील की नक़ल वह करे, पटवारी की नकल वह करे, थानेदार की, चपरासी की, सेठ की—सभी की नक़ल कर सकता है। हाँ, बेचारे के पास वैसा सामान कहाँ हैं मगर अबकी गोबर ने उसके लिए सामान मँगा दिया है, और उसकी नकलें देखने जोग होंगी।

यह चर्चा इतनी फैली कि साँझ से ही तमाशा देखनेवाले जमा होने लगे। आसपास के गाँवों से दर्शकों की टोलियाँ आने लगीं। दस बजते-बजते तीन-चार हज़ार आदमी जमा हो गये। और जब गिरधर झिंगुरीसिंह का रूप धरे अपनी मण्डली के साथ खड़ा हुआ, तो लोगों को खड़े होने की जगह भी न मिलती थी। वही खल्वाट सिर, वही बड़ी मूँछें, और वही तोंद ! बैठे भोजन कर रहे हैं और पहली ठकुराइन बैठी पंखा झल रही हैं।

ठाकुर ठकुराइन को रसिक नेत्रों से देखकर कहते हैं—अब भी तुम्हारे ऊपर वह जोवन है कि कोई जवान भी देख ले, तो तड़प जाये। और ठकुराइन फूलकर कहती हैं, तभी तो नयी नवेली लाये।

"उसे तो लाया हूँ तुम्हारी सेवा करने के लिए। वह तुम्हारी क्या बराबरी करेगी ?"

छोटी बीवी यह वाक्य सुन लेती है और मुँह फुलाकर चली जाती है।

दूसरे दृश्य में ठाकुर खाट पर लेटे हैं और छोटी बहू मुँह फेरे हुए जमीन पर बैठी है। ठाकुर बार-बार उसका मुँह अपनी ओर फेरने की विफल चेष्टा करके कहते हैं—मुझसे क्यों रूठी हो मेरी लाड़ली ?

"तुम्हारी लाड़ली जहाँ हो, वहाँ जाओ। मैं तो लौंडी हूँ, दूसरों की सेवा-टहल करने के लिए आयी हूँ।"

"तुम मेरी रानी हो। तुम्हारी सेवा-टहल करने के लिए वह बुढ़िया है।"

पहली ठकुराइन सुन लेती हैं और झाड़ू लेकर घर में घुसती हैं और कई झाड़ू उन पर जमाती हैं। ठाकुर साहब जान बचाकर भागते हैं।

फिर दूसरी नक़ल हुई, जिसमें ठाकुर ने दस रुपये का दस्तावेज़ लिखकर पाँच रुपये दिये, शेष नजराने और तहरीर और दस्तूरी और ब्याज में काट लिये।

किसान आकर ठाकुर के चरण पकड़कर रोने लगता है। बड़ी मुश्किल से ठाकुर रुपये देने पर राजी होते हैं। जब कागज लिख जाता है और आसामी के हाथ में पाँच रुपये रख दिये जाते हैं तो वह चकराकर पूछता है—

"यह तो पाँच ही हैं मालिक !"

"पाँच नहीं, दस हैं। घर जाकर गिनना।"

"नहीं सरकार, पाँच हैं !"

"एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं ?"

"हाँ, सरकार !"
"एक तहरीर का ?"
"हाँ, सरकार !"
"एक कागद का ?"
"हाँ, सरकार !"
"एक दस्तूरी का ?"
"हाँ, सरकार !"
"एक सूद का ?"
"हाँ, सरकार !"
"पाँच नगद, दस हुए कि नहीं ?"
"हाँ, सरकार ! अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिए।"
"कैसा पागल है ?"

"नहीं सरकार, एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपकी क्रिया-करम के लिए।"

इसी तरह नोखेराम और पटेश्वरी और दातादीन की–बारी-बारी से सबकी ख़बर ली गयी। और फबतियों में चाहे कोई नयापन न हो और नक़लें पुरानी हों; लेकिन गिरधारी का ढंग ऐसा हास्यजनक था, दर्शक इतने सरल हृदय थे कि बेबात की बात में भी हँसते थे। रात-भर भँड़ैती होती रही और सताये हुए दिल, कल्पना में प्रतिशोध पाकर प्रसन्न होते रहे। आखिरी नक़ल समाप्त हुई, तो कौवे बोल रहे थे।

सवेरे होते ही जिसे देखो, उसी की जबान पर वही रात के गाने, वही नक़ल, वही फ़िकरे मुखिये तमाशा बन गये। जिधर निकलते हैं, उधर ही दो-चार लड़के पीछे लग जाते हैं और वही फ़िकरे कसते हैं। झिंगुरीसिंह तो दिल्लगीबाज आदमी थे, इसे दिल्लगी में लिया; मगर पटेश्वरी में चिढ़ने की बुरी आदत थी। और पंडित दातादीन तो इतने तुनुक-मिज़ाज थे कि लड़ने पर तैयार हो जाते थे। वह सबसे सम्मान पाने के आदी थे। कारिन्दा की तो बात ही क्या, रायसाहब तक उन्हें देखते ही सिर झुका देते थे। उनकी ऐसी हँसी उड़ायी जाय और अपने ही गाँव में–यह उनके लिए असह्य था। अगर उनमें ब्रह्मतेज होता तो इन दुष्टों को भस्म कर देते ऐसा शाप देते कि सब के सब भस्म हो जाते; लेकिन इस कलियुग में शाप का असर ही जाता रहा। इसलिए उन्होंने कलियुग वाला हथियार निकाला। होरी के द्वार पर आये और आँखें निकालकर बोले–क्या आज भी तुम काम करने न चलोगे होरी अब तो तुम अच्छे हो गये। मेरा कितना हरज हो गया, यह तुम नहीं सोचते।

गोबर देर से सोया था। अभी-अभी उठा था और आँखें मलता हुआ बाहर आ रहा था किदातादीन की आवाज़ कान में पड़ी। पालागन करना तो दूर रहा,

उलटे और हेकड़ी दिखाकर बोला—अब वह तुम्हारी मजूरी न करेंगे। हमें अपनी ऊख जो बोनी है।

दातादीन ने सुरती फाँकते हुए कहा—काम कैसे नहीं करेंगे ? साल के बीच में काम नहीं छोड़ सकते। जेठ में छोड़ना हो छोड़ दें, करना हो करें। उसके पहले नहीं छोड़ सकते।

गोबर ने जम्हाई लेकर कहा—उन्होंने तुम्हारी गुलामी नहीं लिखी है। जब तक इच्छा थी, काम किया। अब नहीं इच्छा है, नहीं करेंगे। इसमें कोई ज़बरदस्ती नहीं कर सकता।

"तो होरी काम नहीं करेंगे ?"

"ना !"

"तो हमारे रुपये सूंद समेत दे दो। तीन साल का सूद होता है सौ रुपया। असल मिलाकर दो सौ होते हैं। हमने समझा था, तीन रुपये महीने सूद में कटते जायेंगे; लेकिन तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो मत करो। मेरे रुपये दे दो। धन्ना सेठ बनते हो, तो धन्ना सेठ का काम करो।"

होरी ने दातादीन से कहा—तुम्हारी चाकरी से मैं कब इनकार करता हूँ महाराज ? लेकिन हमारी ऊख भी तो बोने को पड़ी है।

गोबर ने बाप को डाँटा—कैसे चाकरी और किसकी चाकरी ? यहाँ तो कोई किसी का चाकर नहीं। सभी बराबर हैं। अच्छी दिल्लगी है। किसी को सौ रुपये उधार दे दिये और उससे सूद में जिन्दगी भर काम लेते रहे। मूल ज्यों का त्यों ! यह महाजनी नहीं है, खून चूसना है।

"तो रुपये दे दो भैया, लड़ाई काहे की। मैं आने रुपये ब्याज लेता हूँ। तुम्हें गाँव-घर का समझकर आध आने रुपये पर दिया था।"

"हम तो एक रुपया सैकड़ा देंगे। एक कौड़ी बेसी नहीं। तुम्हें लेना हो तो लो, नहीं अदालत से ले लेना। एक रुपये सैकड़ा ब्याज कम नहीं होता।"

"मालूम होता है, रुपये की गर्मी हो गई है।"

"गर्मी उन्हें होती है, जो एक के दस लेते हैं। हम तो मजूर हैं। हमारी गर्मी पसीने के रास्ते बह जाती है। मुझे याद है, तुमने बैल के लिए तीस रुपये दिये थे। उसके सौ हुए। और अब सौ के दो सौ हो गये। इसी तरह तुम लोगों ने किसानों को लूट-लूटकर मजूर बना डाला और आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे। तीस के दो सौ ! कुछ हद है ! कितने दिन हुए होंगे दादा ?"

होरी ने कातर कंठ से कहा—यही आठ-नौ साल हुए होंगे।

गोबर ने छाती पर हाथ रखकर कहा—नौ साल में तीस रुपये के दो सौ ! एक रुपये हिसाब से कितना होता है ?

उसने जमीन पर एक ठीकरे से हिसाब लगाकर कहा—दस साल में छत्तीस रुपये होते हैं। असल मिलाकर छाछठ। उसके सत्तर रुपये ले लो। इससे बेसी मैं

एक कौड़ी न दूँगा।

दातादीन ने होरी को बीच में डालकर कहा—सुनते हो होरी, गोबर का फैसला? मैं अपने दो सौ छोड़ के सत्तर रुपये ले लूँ, नहीं अदालत करूँ। इस तरह का व्यवहार हुआ तो कै दिन संसार चलेगा? और तुम बैठे सुन रहे हो; मगर यह समझ लो, मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे रुपये हज़म करके तुम चैन न पाओगे। मैंने ये सत्तर रुपये भी छोड़े, अदालत भी न जाऊँगा, जाओ। अगर मैं ब्राह्मण हूँ, तो अपने पूरे दो सौ रुण्ये लेकर दिखा दूँगा! और तुम मेरे द्वार पर आओगे और हाथ बाँधकर दोगे।

दातादीन झल्लाये हुए लौट पड़े। गोबर अपनी जगह बैठा रहा। मगर होरी के पेट में धर्म की क्रान्ति मची हुई थी। अगर ठाकुर या बनिये के रुपये होते, तो उसे ज़्यादा चिन्ता न होती; लेकिन ब्राह्मण के रुपये! उसकी एक पाई भी दब गई, तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। भगवान न करें कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरे। बंस में कोई चिल्लू-भर पानी देनेवाला, घर में दीया जलानेवाला भी नहीं रहता। उसका धर्म-भीरु मन त्रस्त हो उठा। उसने दौड़कर पण्डितजी के चरण पकड़ लिये और आर्त्त स्वर में बोला—महाराज, जब तक मैं जीता हूँ, तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा। लड़कों की बातों पर मत जाओ। मामला तो हमारे-तुम्हारे बीच में हुआ है। वह कौन होता है?

दातादीन ज़रा नरम पड़े—ज़रा इसकी जबरदस्ती देखो, कहता है, दो सौ रुपये के सत्तर लो या अदालत जाओ। अभी अदालत की हवा नहीं खायी है, जभी। एक बार किसी के पाले पड़ जायेंगे, तो फिर यह ताव न रहेगा। चार दिन शहर में क्या रहे, तानासाह हो गये।

"मैं कहता हूँ महाराज, मैं तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा।"

"तो कल से हमारे यहाँ काम करने आना पड़ेगा।"

"अपनी ऊख बोना है महाराज, नहीं तुम्हारा ही काम करता।"

दातादीन चले गए तो गोबर ने तिरस्कार की आँखों से देखकर कहा—गये थे देवता को मनाने। तुम्हीं लोगों ने तो इन सबों का मिज़ाज बिगाड़ दिया है। तीस रुपये दिये, अब दो सौ रुपये लेगा, और डाँट ऊपर से बताएगा और तुमसे मजूरी कराएगा और काम कराते-कराते मार डालेगा।

होरी ने अपने विचार में सत्य का पक्ष लेकर कहा—नीति हाथ से न छोड़नी चाहिए। क्योंकि अपनी-अपनी करनी अपने हाथ है। हमने जिस ब्याज पर रुपये लिये, वह तो देने ही पड़ेंगे फिर ब्राह्मण ठहरे। इनका पैसा हमें पचेगा? ऐसा माल तो इन्हीं लोगों को पचता है।

गोबर ने त्योरियाँ चढ़ायीं—नीति छोड़ने को कौन कह रहा है? और कौन कह रहा है ब्राह्मण का पैसा दबा लो? मैं तो यही कहता हूँ कि इतना सूद नहीं देंगे। बैंकवाले बारह आने सूद लेते हैं। तुम एक रुपये ले लो। और क्या किसी को लूट

लोगे ?

"उनका रोयाँ जो दुखी होगा ?"

"हुआ करे। उनके दुखी होने के डर से हम बिल क्यों खोदें ?"

"बेटा, जब तक मैं जीता हूँ, मुझे अपने रास्ते चलने दो। जब मैं मर जाऊँ, तो तुम्हारी जो इच्छा हो, वह करना।"

"तो फिर तुम्हीं देना। मैं तो अपने हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी न मारूँगा। मेरा गधापन था कि तुम्हारे बीच में बोला—तुमने खाया है, तुम भरो। मैं क्यों अपनी जान दूँ ?"

यह कहता हुआ गोबर भीतर चला गया। झुनिया ने पूछा—आज सबेरे-सबेरे दादा से क्यों उलझ पड़े ?

गोबर ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में बोला—इनके ऊपर रिन का बोझ इसी तरह बढ़ता जायेगा। मैं कहाँ तक भरूँगा। उन्होंने कमा-कमाकर दूसरों का घर भरा है। मैं क्यों उनकी खोदी हुई खंदक में गिरूँ ? इन्होंने मुझसे पूछकर करज नहीं लिया। न मेरे लिए लिया। मैं उसका देनदार नहीं हूँ।

उधर मुखियों में गोबर को नीचा दिखाने के लिए षड्यन्त्र रचा जा रहा था। यह लौंडा शिकंजे में न कसा गया, तो गाँव में ऊधम मचा देगा। प्यादे से फर्जी हो गया है न, टेढ़े तो चलेगा ही। जाने कहाँ से इतना कानून सीख आया है ? कहता है, रुपये सैकड़े सूद से बेसी न दूँगा। लेना हो लो, नहीं अदालत जाओ। रात इसने सारे गाँव के लौंड़ों को बटोरकर कितना अनर्थ किया। लेकिन मुखियों में भी ईर्ष्या की कमी न थी। सभी अपने बराबरवालों के परिहास पर प्रसन्न थे। पटेश्वरी और नोखेराम में बातें हो रही थीं। पटेश्वरी ने कहा—मगर सबों को घर-घर की रत्ती-रत्ती का हाल मालूम है। झिंगुरीसिंह को तो सबों ने ऐसा रगेदा कि कुछ न पूछो। दोनों ठकुराइनों की बातें सुन-सुनकर लोग हँसी के मारे लोट गये।

नोखेराम ने ठट्ठा मारकर कहा—मगर नकल सच्ची थी। मैंने कई बार उनकी छोटी बेगम को द्वार पर खड़े लौंड़ों से हँसी करते देखा।

"और बड़ी रानी काजल और सेंदुर और महावर लगाकर जवान बनी रहती हैं।"

"दोनों में रात-दिन छिड़ी रहती है। झिंगुरी पक्का बेहया है। कोई दूसरा होता तो पागल हो जाता।"

"सुना, तुम्हारी बड़ी भद्दी नकल की। चमरिया के घर में बन्द कराके पिटवाया।"

"मैं तो बचा पर बकाया लगान का दावा करके ठीक कर दूँगा। वह भी क्या याद करेंगे कि किसी से पाला पड़ा था।"

"लगान तो उसने चुका दिया है न ?"

"लेकिन रसीद तो मैंने नहीं दी। सबूत क्या है लगान चुका दिया ? और यहाँ

कौन हिसाब-किताब देखता है ? आज ही प्यादा भेजकर बुलाता हूँ।"

होरी और गोबर दोनों ऊख के लिए खेत सींच रहे थे। अबकी ऊख की खेती होने की आशा तो थी नहीं, इसलिए खेत परती पड़ा हुआ था। अब बैल आ गये हैं, तो ऊख क्यों न बोयी जाय !

मगर दोनों जैसे छत्तीस बने हुए थे। न बोलते थे, न ताकते थे। होरी बैलों को हाँक रहा था और गोबर मोट ले रहा था। सोना और रूपा दोनों खेत में पानी दौड़ा रही थीं कि उनमें झगड़ा हो गया। विवाद का विषय यह था कि झिंगुरीसिंह की छोटी ठकुराइन पहले खुद खाकर पति को खिलाती है या पति को खिलाकर तब खुद खाती है। सोना कहती थी, पहले वह खुद खाती है। रूपा का मत इसके प्रतिकूल था।

रूपा ने जिरह की—अगर वह पहले खाती है, तो क्यों मोटी नहीं है ? ठाकुर क्यों मोटे हैं ? अगर ठाकुर उन पर गिर पड़ें, तो ठकुराइन पिस जायें।

सोना ने प्रतिवाद किया—तू समझती है, अच्छा खाने से लोग मोटे हो जाते हैं। अच्छा खाने से लोग बलवान हो जाते हैं, मोटे नहीं होते। मोटे होते हैं घास-पात खाने से।

"तो ठकुराइन ठाकुर से बलवान है ?"

"और क्या ! अभी उस दिन दोनों में लड़ाई हुई, तो ठकुराइन ने ठाकुर को ऐसा ढकेला कि उनके घुटने फूट गये।"

"तो तू भी पहले आप खाकर जब जीजा को खिलाएगी ?"

"और क्या !"

"अम्माँ तो पहले दादा को खिलाती है।"

"तभी तो जब तब दादा डाँट देते हैं। मैं बलवान होकर अपने मरद को काबू में रखूँगी। तेरा मरद तुझे पीटेगा, तेरी हड्डी तोड़कर रख देगा।"

रूपा रुआँसी होकर बोली—क्यों पीटेगा, मैं मार खाने का काम ही न करूँगी।

"वह कुछ न सुनेगा। तूने जरा भी कुछ कहा और वह मार चलेगा। मारते-मारते तेरी खाल उधेड़ लेगा।"

रूपा ने बिगड़कर सोना की साड़ी दाँतों से फाड़ने की चेष्टा की और असफल होने पर चुटकियाँ काटने लगी।

सोना ने और चिढ़ाया—वह तेरी नाक भी काट लेगा।

इस पर रूपा ने बहन को दाँत से काट खाया। सोना की बाँह लहुआ गयी। उसने रूपा को ज़ोर से ढकेल दिया। वह गिर पड़ी और उठकर रोने लगी। सोना भी दाँतों के निशान देखकर रो पड़ी।

उन दोनों का चिल्लाना सुनकर गोबर गुस्से में भरा हुआ आया और दोनों को दो-दो घूँसे जड़ दिये। दोनों रोती हुई खेत से निकलकर घर चल दीं। सिंचाई का काम रुक गया। इस पर पिता-पुत्र में एक झड़प हो गयी।

होरी ने पूछा—पानी कौन चलायेगा ? दौड़े-दौड़े गये, दोनों को भगा आये। अब जाकर मना क्यों नहीं लाते ?

'तुम्हीं ने इन सबों को बिगाड़ रखा है।'

'इस तरह मारने से और निर्लज्ज हो जायेंगी।'

'दो जून खाना बन्द कर दो, आप ठीक हो जायँ।'

'मैं उनका बाप हूँ, कसाई नहीं हूँ।'

पाँव में एक बार ठोकर लग जाने के बाद किसी कारण से बार-बार ठोकर लगती है और कभी-कभी अँगूठा पक जाता है और महीनों कष्ट देता है। पिता और पुत्र के सद्भाव को आज उसी तरह की चोट लग गयी थी और उस पर यह तीसरी चोट पड़ी।

गोबर ने घर जाकर झुनिया को खेत में पानी देने के लिए साथ कर लिया। झुनिया बच्चे को लेकर खेत में गयी। धनिया और उसकी दोनों बेटियाँ ताकती रहीं। माँ को भी गोबर की यह उद्दण्डता बुरी लगती थी। रूपा को मारता तो वह बुरा न मानती, मगर जवान लड़की को मारना, उसके लिए असह्य था।

आज ही रात को गोबर ने लखनऊ लौट जाने का निश्चय कर लिया। यहाँ अब वह नहीं रह सकता। जब घर में उसकी कोई पूछ नहीं है, तो वह क्यों रहे। वह लेन-देन के मामले में बोल नहीं सकता। लड़कियों को जरा मार दिया तो लोग ऐसे जामे के बाहर हो गये, मानो वह बाहर का आदमी है। तो इस सराय में वह न रहेगा।

दोनों भोजन करके बाहर आये थे कि नोखेराम के प्यादे ने आकर कहा—चलो, कारिन्दा साहब ने बुलाया है।

होरी ने गर्व से कहा—रात को क्यों बुलाते हैं; मैं तो बाकी दे चुका हूँ।

प्यादा बोला—मुझे तो तुम्हें बुलाने का हुक्म मिला है। जो कुछ अरज करना हो, वहीं चलकर करना।

होरी की इच्छा न थी; मगर जाना पड़ा। गोबर विरक्त-सा बैठा रहा। आध घण्टे में होरी लौटा और चिलम भरकर पीने लगा। अब गोबर से न रहा गया। पूछा—किस मतलब से बुलाया था ?

होरी ने भर्रायी हुई आवाज़ में कहा—मैंने पाई-पाई लगान चुका दिया। वह कहते हैं, तुम्हारे ऊपर दो साल की बाकी है। अभी उसी दिन मैंने ऊख बेची, पचीस रुपये वहीं उनको दे दिये, और आज वह दो साल का बाकी निकालते हैं। मैंने कह दिया, मैं एक धेला न दूँगा।

गोबर ने पूछा—तुम्हारे पास रसीद तो होगी ?

"रसीद कहाँ देते हैं ?"

"तो तुम बिना रसीद लिये रुपये देते ही क्यों हो ?"

"मैं क्या जानता था, वह लोग बेईमानी करेंगे। यह सब तुम्हारी करनी का

फल है। तुमने रात को उनकी हँसी उड़ायी, यह उसी का दण्ड है। पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता। सूद लगाकर सत्तर रुपये बाकी निकाल दिए। ये किसके घर से आयेंगे ?'

गोबर ने अपनी सफ़ाई देते हुए कहा—तुमने रसीद ले ली होती तो मैं लाख उनकी हँसी उड़ाता, तुम्हारा बाल बाँका न कर सकते। मेरी समझ में नहीं आता कि लेन-देन में तुम सावधानी से क्यों काम नहीं लेते। यों रसीद नहीं देते, तो डाक से रुपया भेजो। यही तो होगा, एकाध रुपया महसूल पड़ जायेगा। इस तरह की धाँधली तो न होगी।

'तुमने यह आग न लगायी होती, तो कुछ न होता। अब तो सभी मुखिया बिगड़े हुए हैं। बेदख़ली की धमकी दे रहे हैं। दैव जाने कैसे बेड़ा पार लगेगा !

'मैं जाकर उनसे पूछता हूँ।'

'तुम जाकर और आग लगा दोगे।'

'अगर आग लगानी पड़ेगी, तो आग भी लगा दूँगा। वह बेदख़ली करते हैं, करें। मैं उनके हाथ में गंगाजली रखकर अदालत में कसम खिलाऊँगा। तुम दुम दबाकर बैठे रहो। मैं इसके पीछे जान लड़ा दूँगा। मैं किसी का एक पैसा दबाना नहीं चाहता, न अपना एक पैसा खोना चाहता हूँ।'

वह उसी वक्त उठा और नोखेराम की चौपाल में जा पहुँचा। देखा तो सभी मुखिया लोगों का कैबिनेट बैठा हुआ है। गोबर को देखकर सबके सब सतर्क हो गये। वातावरण में षड्यन्त्र की-सी कुण्ठा भरी हुई थी।

गोबर ने उत्तेजित कण्ठ से पूछा—यह क्या बात है कारिन्दा साहब, कि आपको दादा ने हाल तक का लगान चुकता कर दिया और आप अभी दो साल की बाकी निकाल रहे हैं ? यह कैसा गोलमाल है ?

नोखेराम ने मसनद पर लेटकर रोब दिखाते हुए कहा—जब तक होरी है, मैं तुमसे लेन-देन की कोई बातचीत नहीं करना चाहता।

गोबर ने आहत स्वर में कहा—तो मैं घर में कुछ नहीं हूँ ?

"तुम अपने घर में सब कुछ होगे। यहाँ तुम कुछ नहीं हो।"

"अच्छी बात है, आप बेदख़ली दायर कीजिए। मैं अदालत में तुमसे गंगाजली उठवाकर रुपये दूँगा; इसी गाँव से एक सौ शहादतें दिलाकर साबित कर दूँगा कि तुम रसीद नहीं देते। सीधे-सादे किसान हैं, कुछ बोलते नहीं, तो तुमने समझ लिया कि सब काठ के उल्लू हैं। रायसाहब वहीं रहते हैं, जहाँ मैं रहता हूँ। गाँव के सब लोग उन्हें हौवा समझते होंगे, मैं नहीं समझता। रत्ती-रत्ती हाल कहूँगा और देखूँगा, तुम कैसे मुझसे दोबारा रुपये वसूल कर लेते हो।"

उसकी वाणी में सत्य का बल था। डरपोक प्राणियों में सत्य भी गूँगा हो जाता है। वही सीमेंट, जो ईंट पर चढ़कर पत्थर हो जाता है, मिट्टी पर चढ़ा दिया जावे, तो मिट्टी हो जायेगा। गोबर की निर्भीक स्पष्टवादिता ने उस अनीत के बख़्तर को

बेध डाला, जिससे सज्जित होकर नोखेरात की दुर्बल आत्मा अपने को शक्तिमान समझ रही थी।

नोखेराम ने जैसे कुछ याद करने का प्रयास क़रके कहा—तुम इतना गर्म क्यों हो रहे हो, इसमें गर्म होने की कौन सी बात है। अगर होरी ने रुपये दिये हैं, तो कहीं-न-कहीं तो टाँकें गये होंगे। मैं कल क़ागज निकालकर देखूँगा। अब मुझे कुछ-कुछ याद आ रहा है कि शायद होरी ने रुपये दिये थे। तुम निसाखातिर रहो; अगर रुपये यहाँ आ गये हैं, तो कहीं जा नहीं सकते। तुम थोड़े-से रुपये के लिए झूठ थोड़े ही बोलोगे और न मैं ही इन रुपयों से धनी हो जाऊँगा।

गोबर ने चौपाल से आकर होरी को ऐसा लथाड़ा कि बेचारा स्वार्थ-भीरु बूढ़ा रुआँसा हो गया—तुम तो बच्चों से भी गये बीते हो, जो बिल्ली की म्याऊँ सुनकर चिल्ला उंठते हैं। कहाँ-कहाँ तुम्हारी रच्छा करता फिरूँगा। मैं तुम्हें सत्तर रुपये दिये जाता हूँ। दातादीन ले तो देकर भरपाई लिखा देना। इसके ऊपर तुमने एक पैसा भी दिया, तो फिर मुझसे एक पैसा भी न पाओगे। मैं परदेश में इसलिए नहीं पड़ा हूँ कि तुम अपने को लुटवाते रहो और मैं कमाकर भरता रहूँ। मैं कल चला जाऊँगा; लेकिन इतना कहे देता हूँ, किसी से एक पैसा उधार मत लेना और किसी को कुछ मत देना। मँगरू, दुलारी, दातादीन—सभी से एक रुपया सैकड़े सूद कराना होगा।

धनिया भी खाना खाकर बाहर निकल आयी। बोली—अभी क्यों जाते हो बेटा, दो-चार दिन और रहकर ऊख की बोनी करा लो और कुछ लेन-देन का हिसाब भी ठीक कर लो, तो जाना।

गोबर ने शान जमाते हुए कहा—मेरा दो-तीन रुपये रोज का घाटा हो रहा है, यह भी समझती हो ! यहाँ मैं बहुत-बहुत चार आने की मजूरी ही तो करता हूँ। और अबकी मैं झुनिया को भी लेता जाऊँगा। वहाँ मुझे खाने-पीने की बड़ी तकलीफ होती है।

धनिया ने डरते-डरते हुए कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा ; लेकिन वहाँ वह कैसे अकेले घर सँभालेगी, कैसे बच्चे की देखभाल करेगी ?'

"अब बच्चे को देखूँ कि अपना सुभीता देखूँ, मुझसे चूल्हा नहीं फूँका जाता।"

"ले जाने को मैं नहीं रोकती, लेकिन परदेस में बाल-बच्चों के साथ रहना, न कोई आगे न पीछे; सोचो, कितना झंझट है।"

"परदेस में संगी-साथी निकल ही आते हैं अम्माँ, और यह तो स्वारथ का संसार है। जिसके साथ चार पैसे गम खाओ, वही अपना। खाली हाथ तो माँ-बाप भी नहीं पूछते।"

धनिया कटाक्ष समझ गयी। उसके सिर से पाँव तक आग लग गयी। बोली—माँ-बाप को भी तुमने उन्हीं पैसे के यारों में समझ लिया ?

"आँखों देख रहा हूँ।"

"नहीं देख रहे हो; माँ-बाप का मन इतना निठुर नहीं होता। हाँ, लड़के अलबत्ता

जहाँ चार पैसे कमाने लगे कि माँ-बाप से आँखें फेर लीं। इसी गाँव में एक-दो नहीं, दस-बीस परतोख दे दूँ। माँ-बाप करज-कवाम लेते हैं किसके लिए ? लड़के-लड़कियों ही के लिए कि अपने भोग-विलास के लिए ?"

"क्या जाने तुमने किसके लिए करज लिया ? मैंने तो एक पैसा भी नहीं जाना।"

"बिना पाले ही इतने बड़े हो गये ?"

"पालने में तुम्हारा क्या लगा ? जब तक बच्चा था, दूध पिला दिया। फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया, वही मैंने खाया। मेरे लिए दूध नहीं आता था, मक्खन नहीं बँधा था। और तुम भी चाहती हो, और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा करजा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ। जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने ही के लिए है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं ?"

धनिया सन्नाटे में आ गयी। एक ही क्षण में उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रसन्न थी कि अब उसका दुःख-दरिद्र सब दूर हो गया। जब से गोबर घर आया, उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी में मृदुता और व्यवहारों में उदारता आ गयी। भगवान ने उस पर दया की है, तो उसे सिर झुकाकर चलना चाहिए। भीतर की शान्ति बाहर सौजन्य बन गयी थी। ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद अब जीवन में क्या रस रह गया ? जिस नौका पर बैठकर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी, वह टूट गयी, तो किस सुख के लिए जिये !

लेकिन नहीं ! उसका गोबर इतना स्वार्थी नहीं है। उसने कभी माँ की बात का जवाब नहीं दिया, कभी किसी बात के लिए ज़िद नहीं की। जो कुछ रूखा-सूखा मिला गया, वही खा लेता था। वही भोला-भाला, शील-स्नेह का पुतला आज क्यों ऐसी दिल तोड़नेवाली बातें कर रहा है ? उसकी इच्छा के विरुद्ध तो किसी ने कुछ नहीं कहा। माँ-बाप दोनों ही उसका मुँह जोहते रहते हैं। उसने खुद ही लेन-देन की बात चलायी; नहीं उससे कौन कहता है कि तू माँ-बाप का देना चुका। माँ-बाप कि लिए यही क्या कम दुख है कि वह इज्जत-आबरू के साथ भलेमानसों की तरह कमाता-खाता है। उससे कुछ हो सके, तो माँ-बाप की मदद कर दे। नहीं हो सकता, तो माँ-बाप उसका गला न दबायेंगे। झुनिया को ले जाना चाहता है, खुशी से ले जाये। धनिया ने तो केवल उसकी भलाई के ख्याल से कहा था कि झुनिया को वहाँ ले जाने में उसे जितना आराम मिलेगा, उससे कहीं ज्यादा झंझट बढ़ जायेगा। उसमें ऐसी कौन-सी लगनेवाली बात थी कि वह इतना बिगड़ उठा। हो न हो, यह झुनिया ने लगायी है। वही बैठे-बैठे उसे मन्तर पढ़ा रही है। यहाँ सौक-सिंगार को नहीं मिलता; घर का कुछ न कुछ काम भी करना ही पड़ता है। वहाँ रुपये-पैसे हाथ में आयेंगे, मज़े से चिकना खायेगी, चिकना पहनेगी और टाँग फैलाकर सोयेगी।

दो आदमियों की रोटी पकाने में क्या लगता है, वहाँ तो पैसा चाहिए। सुना, बाज़ार में पकी-पकाई रोटियाँ मिल जाती हैं। यह सारा उपद्रव उसी ने खड़ा किया है, शहर में कुछ दिन रह भी चुकी है। वहाँ का दाना-पानी मुँह लगा हुआ है। यहाँ कोई पूछता न था। यह भोंदू मिल गया। इसे फाँस लिया। जब यहाँ पाँच महीने का पेट लेकर आयी थी, तब कैसी म्याँव-म्याँव करती थी। तब यहाँ सरन न मिली होती, तो आज कहीं भीख माँगती होती। यह उसी नेकी का बदला है! इसी चुड़ैल के पीछे डाँड़ देना पड़ा, बिरादरी में बदनामी हुई, खेती टूट गयी, सारी दुर्गत हो गयी। और आज यह चुड़ैल जिस पत्तल में खाती है, उसी में छेद कर रही है। पैसे देखे, तो आँख हो गयीं। तभी ऐंठी-ऐंठी फिरती है, मिजाज नहीं मिलता। आज लड़का चार पैसे कमाने लगा है न! इतने दिनों बात नहीं पूछी, तो सास का पाँव दबाने के लिए तेल लिए दौड़ती थी। डाइन उसके जीवन की निधि को उसके हाथ से छीन लेना चाहिती है।

दुखित स्वर में बोली—यह मन्तर तुम्हें कौन दे रहा है बेटा, तुम तो ऐसे न थे। माँ-बाप तुम्हारे ही हैं, बहनें तुम्हारी ही हैं, घर तुम्हारा ही है। यहाँ बाहर का कौन है? और हम क्या बहुत दिन बैठे रहेंगे? घर की मरज़ाद बनाये रहोगे, तो तुम्हीं को सुख होगा। आदमी घरवालों ही के लिए धन कमाता है कि और किसी के लिए? अपना पेट तो सूअर भी पाल लेता है। मैं न जानती थी, झुनिया नागिन बनकर हमीं को डसेगी।

गोबर ने तिनककर कहा—अम्माँ, नादान नहीं हूँ कि झुनिया मुझे मन्तर पढ़ायेगी। तुम उसे नाहक कोस रही हो। तुम्हारी गिरस्ती का सारा बोझ मैं नहीं उठा सकता। मुझसे जो कुछ हो सकेगा, तुम्हारी मदद कर दूँगा। लेकिन अपने पाँवों में बेड़ियाँ नहीं डाल सकता।

झुनिया भी कोठरी से निकलकर बोली—अम्माँ, जुलाहे का गुस्सा डाढ़ी पर न उतारो। कोई बच्चा नहीं हैं कि उन्हें फोड़ लूँगी। अपना-अपना भला-बुरा सब समझते हैं। आदमी इसीलिए नहीं जन्म लेता कि सारी उम्र तपस्या करता रहे और एक दिन खाली हाथ मर जाये। सब जिन्दगी का कुछ सुख चाहते हैं, सबकी लालसा होती है कि हाथ में चार पैसे हों।

धनिया ने दाँत पीसकर कहा—अच्छा झुनिया, बहुत ज्ञान न बघार। अब तू भी अपना भला-बुरा सोचने जोग हो गयी है। जब यहाँ आकर मेरे पैरों पर सिर रक्खे रो रही थी, तब अपना भला-बुरा नहीं सूझा था? उस घड़ी हम भी अपना भला-बुरा सोचने लगते, तो आज तेरा कहीं पता न होता।

इसके बाद संग्राम छिड़ गया। ताने-मेहने, गाली-गलौज़, थुक्का-फजीहत, कोई बात न बची। गोबर भी बीच-बीच में डंक मारता जाता था। होरी बरौठे में बैठा सब कुछ सुन रहा था। सोना और रूपा आँगन में सिर झुकाये खड़ी थीं; दुलारी, पुनिया और कई स्त्रियाँ बीच-बचाव करने आ पहुँची थीं। गरजन के बीच में

कभी-कभी बूँदें भी गिर जाती थीं। दोनों ही अपने-अपने भाग्य को रो रही थीं, दोनों ही ईश्वर को कोस रही थीं, और दोनों अपनी-अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर रही थीं। झुनिया गड़े मुर्दे उखाड़ रही थी। आज उसे हीरा और शोभा से विशेष सहानुभूति हो गयी थी, जिन्हें धनिया ने कहीं का न रखा था। धनिया की आज तक किसी से न पटी थी, तो झुनिया से कैसे पट सकती है ? धनिया अपनी सफ़ाई देने की चेष्टा कर रही थी; लेकिन न जाने क्या बात थी कि जनमत झुनिया की ओर था। शायद इसलिए कि झुनिया संयम हाथ से न जाने देती थी। और धनिया आपे से बाहर थी। शायद इसलिए कि झुनिया अब कमाऊ पुरुष की स्त्री थी और उसे प्रसन्न रखने में ज्यादा मसलहत थी।

तब होरी ने आँगन में आकर कहा—मैं तेरे पैरों पड़ता हूँ धनिया, चुप रह। मेरे मुँह में कालिख मत लगा। हाँ, अभी मन न भरा हो तो और सुन।

धनिया फुंकार मारकर उधर दौड़ी—तुम भी मोटी डाल पकड़ने चले। मैं ही दोसी हूँ। वह तो मेरे ऊपर फूल बरसा रही है। संग्राम का क्षेत्र बदल गया।

"जो छोटों के मुँह लगे, वह छोटा।" धनिया किस तर्क से झुनिया को छोटा मान ले ?

होरी ने व्यथित कण्ठ से कहा—अच्छा, वह छोटी नहीं, बड़ी सही। जो आदमी नहीं रहना चाहता, क्या उसे बाँधकर रखेगी ? उनके हाथ-पाँव हो गये। अब तू क्या चाहती है, वे दाना-चारा लाकर खिलायें। माँ-बाप का धरम सोलहों आना लड़कों के साथ है। लड़कों का माँ-बाप के साथ एक आना भी धरम नहीं है। जो जाता है, उसे असीस देकर विदा कर दे। हमारा भगवान मालिक है। जो कुछ भोगना बदा हे, भोगेंगे। चालीस सात सैंतालीस साल इसी तरह रोते-धोते कट गये। दस-पाँच साल हैं, वह भी यों ही कट जायेंगे।

उधर गोबर जाने की तैयारी कर रहा था। इस घर का पानी भी उसके लिए हराम है। माता होकर जब उसे ऐसी-ऐसी बातें कहे, तो अब वह उसका मुँह भी न देखेगा।

देखते ही देखते उसका बिस्तर बँध गया। झुनिया ने भी चुँदरी पहन ली। मुन्नू भी टोप और फ्राक पहनकर राजा बन गया।

होरी ने आर्द्र कंठ से कहा—बेटा, तुमसे कुछ कहने का मुँह तो नहीं है; लेकिन कलेजा नहीं मानता। क्या ज़रा जाकर अपनी अभागिनी माता के पाँव छू लोगे, तो कुछ बुरा होगा ? जिस माता की कोख से जनम लिया और रक्त पीकर पले हो, उसके साथ इतना भी नहीं कर सकते ? गोबर ने मुँह फेरकर कहा—मैं उसे अपनी माता नहीं समझता।

होरी ने आँखों में आँसू लाकर कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। जहाँ रहो, सुखी रहो।

झुनिया ने सास के पास जाकर उसके चरणों को अंचल से छुआ। धनिया

के मुँह से असीस का एक शब्द भी न निकला। उसने आँखें उठाकर देखा भी नहीं गोबर बालक को गोद में लिये आगे-आगे था। झुनिया बिस्तर बगल में दबाये पीछे। एक चमार का लड़का सन्दूक लिये था। गाँव के कई स्त्री-पुरुष गोबर को पहुँचाने गाँव के बाहर तक आये।

और धनिया बैठी रो रही थी, जैसे कोई उसके हृदय को आरे से चीर रहा हो। उसका मातृत्व रोने के समान हो रहा था, जिसमें आग लग गयी हो और सब कुछ भस्म हो गया हो। बैठकर रोने के लिए भी स्थान न बचा हो।

बाईस

इधर कुछ दिनों से रायसाहब की कन्या के विवाह की बातचीत हो रही थी। उसके साथ ही एलेक्शन भी सिर पर आ पहुँचा था, मगर इन सबों से आवश्यक उन्हें दीवानी में एक मुकदमा दायर करना था, जिसकी कोर्ट-फीस ही पचास हज़ार होती थी, ऊपर के ख़र्च अलग। रायसाहब के साले जो अपनी रियासत के एकमात्र स्वामी थे, ऐन जवानी में मोटर लड़ जाने के कारण गत हो गये थे, और रायसाहब अपने कुमार पुत्र की ओर से उस रियासत पर अधिकार पाने के लिए कानून की शरण लेना चाहते थे। उनके चचेरे सालों ने रियासत पर कब्जा जमा लिया था और रायसाहब को उसमें से कोई हिस्सा देने पर तैयार न थे। रायसाहब ने बहुत चाहा कि आपस में समझौता हो जाये और उनके चचेरे साले माकूल गुज़ारा लेकर हट जायें, यहाँ तक कि वह उस रियासत की आधी आमदनी छोड़ने पर तैयार थे। मगर सालों ने किसी तरह का समझौता स्वीकार न किया, और केवल लाठी के जोर से रियासत में तहसील-वसूल शुरू कर दी। रायसाहब को अदालत की शरण जाने के सिवा कोई मार्ग न रहा। मुकदमे में लाखों का ख़र्च था; मगर रियासत भी बीस लाख से कम की जायदाद न थी। वकीलों ने निश्चय रूप से कह दिया था कि आपकी शर्तिया डिग्री होगी। ऐसा मौक़ा कौन छोड़ सकता था ? मुश्किल यही थी कि यह तीनों काम एक साथ आ पड़े थे और उन्हें किसी तरह टाला न जा सकता था। कन्या की अवस्था अठारह वर्ष की हो गयी थी और केवल हाथ रुपये न रहने के कारण अब तक उसका विवाह टलता जाता था। ख़र्च का अनुमान एक लाख का था। जिसके पास जाते, वही बड़ा-सा मुँह खोलता; मगर हाल में एक बड़ा अच्छा अवसर हाथ आ गया था। कुँवर दिग्विजयसिंह की पत्नी यक्ष्मा की भेंट हो चुकी थी, और कुँवर साहब अपने उजड़े घर को जल्द से बसा लेना चाहते थे। सौदा भी वारे से तय.हो गया और कहीं शिकार हाथ ने निकल न जाय, इसलिए इसी लग्न में विवाह होना परमावश्यक था।

कुँवर साहब दुर्वासनाओं के भण्डार थे। शराब, गाँजा, अफीम, मदक, चरस, ऐसा कोई नशा न था, जो वह न करते हों। और ऐयाशी तो रईस की शोभा है। वह रईस ही क्या, जो ऐयाश न हो। धन का उपयोग और किया ही कैसे जाये ?

मगर इन सब दुर्गुणो के होते हुए भी वह ऐसे प्रतिभावान थे कि अच्छे-अच्छे विद्वान उनका लोहा मानते थे। संगीत, नाट्यकला, हस्तरेखा, ज्योतिष, योग लाठी कुश्ती, निशानेबाजी आदि कलाओं में अपना जोड़ न रखते थे। इसके साथ ही बड़े दबंग और निर्भीक थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में दिल खोलकर सहयोग देते थे ; हाँ, गुप्त रूप से। अधिकारियों से यह बात छिपी न थी, फिर भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और साल मे एक-दो बार गवर्नर साहब भी उनके मेहमान हो जाते थे। और अभी अवस्था तीस-बत्तीस से अधिक न थी। और स्वास्थ्य तो ऐसा था कि अकेले एक बकरा खाकर हज़म कर डालते थे।

रायसाहब ने समझा, बिल्ली के भागों छींका टूटा। अभी कुँवर साहब षोडशी से निवृत्त भी न हुए थे कि रायसाहब ने बातचीत शुरू कर दी। कुँवर साहब के लिए विवाह केवल अपना प्रभाव और शक्ति बढ़ाने का साधन था। रायसाहब कौंसिल के मेम्बर थे ही; यों भी प्रभावशाली थे। राष्ट्रीय संग्राम में अपने त्याग का परिचय देकर श्रद्धा के पात्र भी बन चुके थे। शादी तय होने में कोई बाधा न हो सकती थी। और वह तय हो गयी।

रहा एलेक्शन। यह सोने की हँसिया थी, जिसे न उगलते बनता था, न निगलते। अब तक वह दो बार निर्वाचित हो चुके थे और दोनो ही बार उन पर एक-एक लाख की चपत पड़ी थी; मगर अबकी एक राजा साहब उसी इलाके से खड़े हो गये थे और डंके की चोट ऐलान कर दिया था कि चाहे हरएक वोटर को एक-एक हजार ही क्यों न देना पड़े, चाहे पचास लाख की रियासत मिट्टी में मिल जाये; मगर राय अमरपालसिंह को कौंसिल में न जाने दूँगा। और उन्हे अधिकारियों ने अपनी सहायता का आश्वासन भी दे दिया था। रायसाहब विचारशील थे, चतुर थे, अपना नफ़ा-नुक़सान समझते थे; मगर राजपूत थे। और पोतड़ों के रईस थे। वह चुनौती पाकर मैदान से कैसे हट जायें ? यों उनसे राजा सूर्यप्रतापसिंह ने आकर कहा होता, भाई साहब, आप तो दो बार कौंसिल में जा चुके, अबकी बार मुझे जाने दीजिए, तो शायद रायसाहब ने उनका स्वागत किया होता। कौंसिल का मोह अब उन्हें न था; लेकिन इस चुनौती के सामने ताल ठोकने के सिवा और कोई राह न थी। एक मसलहत और भी थी। मिस्टर तंखा ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि आप खड़े हो जाये, पीछे राजा साहब से एक लाख की थैली लेकर बैठ जाइएगा। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि राजा साहब बड़ी खुशी से एक लाख दे देंगे, मेरी उनसे बातचीत हो चुकी है; पर अब मालूम हुआ, राजा साहब रायसाहब को परास्त करने का गौरव नहीं छोड़ना चाहते और इसका मुख्य कारण था, रायसाहब की लड़की की शादी कुँवर साहब से ठीक होना। दो प्रभावशाली घरानों का संयोग वह अपनी प्रतिष्ठा के लिए हानिकारक समझते थे। उधर रायसाहब को ससुराली जायदाद मिलने की भी आशा थी। राजा साहब के पहलू में यह काँटा भी बुरी तरह खटक रहा था। कहीं वह जायदाद इन्हें मिल गयी—और क़ानून रायसाहब के पक्ष में था ही—तब तो

राजा साहब का एक प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हो जायेगा, इसलिए उनका धर्म था कि रायसाहब को कुचल डालें और उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिला दें।

बेचारे रायसाहब बड़े संकट में पड़ गये थे। उन्हें यह सन्देह होने लगा था कि केवल अपना मतलब निकालने के लिए मिस्टर तंखा ने उन्हें धोखा दिया। यह ख़बर मिली थी कि अब राय साहब के पैरोकार हो गये हैं। यह रायसाहब के घाव पर नमक था। उन्होंने कई बार तंखा को बुलाया था, मगर वह या तो घर पर मिलते ही न थे, या आने का वादा करके भूल जाते थे। आखिर खुद उनसे मिलने का इरादा करके वह उनके पास जा पहुँचे। संयोग से मिस्टर तंखा घर पर मिल गये; मगर रायसाहब को पूरे घण्टे-भर उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। यह वही मिस्टर तखा हैं, जो रायसाहब के द्वार पर एक बार रोज़ हाज़िरी दिया करते थे। आज इतना मिज़ाज हो गया है। जले बैठे थे। ज्योंही मिस्टर तंखा सजे-सजाये, मुँह में सिगार दबाये कमरे में आये और हाथ बढ़ाया कि रायसाहब ने बमगोला छोड़ दिया—मैं घण्टे-भर से यहाँ बैठा हुआ हूँ और आप निकलते-निकलते अब निकले हैं। मैं इसे अपनी तौहीन समझता हूँ !

मिस्टर तंखा ने एक सोफ़े पर बैठकर निश्चिन्त भाव से धुआँ उड़ाते हुए कहा—मुझे इसका खेद है। मैं एक ज़रूरी काम में लगा था। आपको फ़ोन करके मुझसे समय ठीक कर लेना चाहिए था।

आग में घी पड़ गया; मगर रायसाहब ने क्रोध को दबाया। वह लड़ने न आये थे। इस अपमान को पी जाने का ही अवसर था। बोले—हाँ, यह ग़लती हुई। आजकल आपको बहुत कम फुरसत रहती है शायद।

"जी हाँ, बहुत कम, वरना मैं अवश्य आता।"

"मैं उसी मुआमले के बारे में आपसे पूछने आया था। समझौता की तो कोई आशा नहीं मालूम होती। उधर तो जंग की तैयारियाँ बड़े ज़ोरों से हो रही हैं।"

"राजा साहब को तो आप जानते ही हैं, झक्कड़ आदमी हैं, पूरे सनकी। कोई न कोई धुन उन पर सवार रहती है। आजकल यही धुन है कि रायसाहब को नीचा दिखाकर रहेंगे। और उन्हें जब एक धुन सवार हो जाती है, तो फिर किसी की नहीं सुनते, चाहे कितना ही नुकसान उठाना पड़े। कोई चालीस लाख का बोझ सिर पर है, फिर भी वही दम-खम है, वही अलल्ले-तलल्ले ख़र्च हैं। पैसे को तो कुछ समझते ही नहीं। नौकरों का वेतन छः-छः महीने से बाकी पड़ा हुआ है; मगर हीरा-महल बन रहा है। संगमरमर का तो फ़र्श है। पच्चीकारी ऐसी हो रही है कि आँखें नहीं ठहरतीं। अफसरों के पास रोज डालियाँ जाती हैं। सुना है, कोई अँग्रेज़ मैनेजर रखनेवाले हैं।"

"फिर आपने कैसे कह दिया था कि आप कोई समझौता करा देंगे ?"

"मुझसे जो कुछ हो सकता था, वह मैंने किया। इसके सिवा मैं और क्या कर सकता था ? अगर कोई व्यक्ति अपने दो-चार लाख रुपये फूँकने ही पर तुला

हुआ हो, तो मेरा क्या बस ?"

रायसाहब अब क्रोध न सँभाल सके—खासकर जब उन दो-चार लाख रुपये में से दस-बीस हज़ार आपके हत्थे चढ़ने की भी आशा हो।

मिस्टर तंखा क्यों दबते ? बोले—रायसाहब, सब साफ़-साफ़ न कहलवाइए। यहाँ न मैं संन्यासी हूँ, न आप। हम सभी कुछ न कुछ कमाने ही निकले हैं। आँख के अन्धों और गाँठ के पूरों की तलाश आपको भी उतनी ही है, जितनी मुझको। आपसे मैंने खड़े होने का प्रस्ताव किया। आप एक लाख के लोभ से खड़े हो गये; अगर गोटी लाल हो जाती, तो आज आप एक लाख के स्वामी होते और बिना एक पाई कर्ज़ लिये कुँवर साहब से सम्बन्ध भी हो जाता और मुक़दमा भी दायर हो जाता, मगर आपके दुर्भाग्य से वह चाल पट पड़ गयी। जब आप ही ठाठ पर रह गये, तो मुझे क्या मिलता ? आखिर मैंने झख मारकर उनकी पूँछ पकड़ी। किसी न किसी तरह यह वैतरणी तो पार करनी है।

रायसाहब को ऐसा आवेश आ रहा था कि इस दुष्ट को गोली मार दें। इसी बदमाश ने सब्ज़बाग़ दिखाकर उन्हें खड़ा किया और अब अपनी सफ़ाई दे रहा है। पीठ में धूल भी नहीं लगने देता, लेकिन परिस्थिति ज़बान बन्द किये हुए थी।

"तो अब आपके किये कुछ नहीं हो सकता ?"

"ऐसा ही समझिए।"

"मैं पचास हज़ार पर भी समझौता करने को तैयार हूँ।"

"राजा साहब किसी तरह न मानेंगे।"

"पच्चीस हज़ार पर तो मान जायेंगे ?"

"कोई आशा नहीं। साफ़ कह चुके है।"

"वह कह चुके हैं या आप कह रहे हैं ?"

"आप मुझे झूठा समझते हैं ?"

"रायसाहब ने विनम्र स्वर में कहा—मैं आपको झूठा नहीं समझता; लेकिन इतना ज़रूर समझता हूँ कि आप चाहते, तो मुआमला हो जाता।"

"तो आपका ख़्याल है, मैंने समझौता नहीं होने दिया ?"

"नहीं, यह मेरा मतलब नहीं है। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप चाहते तो काम हो जाता और मैं इस झमेले में न पड़ता।"

मिस्टर तंखा ने घड़ी की तरफ़ देखकर कहा—तो रायसाहब, अगर आप साफ़ कहलाना चाहते हैं, तो सुनिए—अगर आपने दस हज़ार का चैक मेरे हाथ में रख दिया होता, तो आज निश्चय एक लाख के स्वामी होते। आप शायद चाहते होंगे, जब आपको राजा साहब से रुपये मिल जाते, तो आप मुझे हज़ार-दो हज़ार दे देते। तो मैं ऐसी कच्ची गोली नहीं खेलता। आप राजा साहब से रुपये लेकर तिजोरी में रखते और मुझे अँगूठा दिखा देते। फिर मैं आपका क्या बना लेता ? बतलाइए ? कहीं नालिश-फ़रियाद भी तो नहीं कर सकता था।

रायसाहब ने आहत नेत्रों से देखा–इसे बेईमानी समझते हैं ?

तंखा ने कुरसी से उठते हुए कहा–इसे बेईमानी कौन समझता है ! आजकल यही चतुराई हे। कैसे दूसरों को उल्लू बनाया जा सके, यही सफल नीति है; और आप इसके आचार्य हैं

रायसाहब ने मुट्ठी बाँधकर कहा–मैं ?

"जी हाँ, आप ! पहले चुनाव में मैंने जी-जान से आपकी पैरवी की। आपने बड़ी मुश्किल से रो-धोकर पाँच सौ रुपये दिये, दूसरे चुनाव में आपने एक सड़ी-सी टूटी-फूटी कार देकर अपना गला छुड़ाया। दूध का जला छाँछ भी फूँक-फूँककर पीता है।"

वह कमरे से निकल गये और कार लाने का हुक्म दिया।

रायसाहब का खून खौल रहा था। इस अशिष्टता की भी कोई हद है ! एक तो घण्टे-भर इन्तज़ार कराया और अब इतनी बेमुरौवत से पेश आकर उन्हें ज़बरदस्ती घर से निकाल रहा है। अगर उन्हें विश्वास होता कि वह मिस्टर तंखा को पटकनी दे सकते हैं, तो कभी न चूकते; मगर तंखा डील-डौल में उनसे सवाये थे। जब मिस्टर तंखा ने हार्न बजाया, तो वह भी आकर अपनी कार पर बैठे और सीधे मिस्टर खन्ना के पास पहुँचे।

नौ बज रहे थे, मगर खन्ना साहब अभी तक मीठी नींद का आनन्द ले रहे थे। वह दो बजे रात के पहले कभी न सोते थे और नौ बजे तक सोना स्वाभाविक ही था। यहाँ भी रायसाहब को आधा घण्टा बैठना पड़ा; इसलिए जब कोई साढ़े नौ बजे मिस्टर खन्ना मुसकराते हुए निकले तो रायसाहब ने डाँट बतायी–अच्छा ! अब सरकार की नींद खुली है साढ़े नौ बजे ! रुपये जमा कर लिये हैं न, जभी यह बेफ़िक्री है। मेरी तरह ताल्लुकेदार होते, तो अब तक आप भी किसी द्वार पर खड़े होते। बैठे-बैठे सिर में चक्कर आ जाता।

मिस्टर खन्ना ने सिगरेट-केस उनकी तरफ़ बढ़ाते हुए प्रसन्न मुख से कहा–रात सोने में बड़ी देर हो गयी। इस वक़्त किधर से आ रहे हैं।

रायसाहब ने थोड़े से शब्दों में अपनी सारी कठिनाइयाँ बयान कर दीं। दिल में खन्ना को गालियाँ देते थे, जो उनका सहपाठी होकर भी सदैव उन्हें ठगने की फ़िक्र किया करता था; मगर मुँह पर उसकी खुशामद करते थे।

खन्ना ने ऐसा भाव बनाया, मानो उन्हें बड़ी चिन्ता हो गयी है, बोले–मेरी तो सलाह है; आप एलेक्शन को गोली मारें, और अपने सालों पर मुकदमा दायर कर दें। रही शादी, वह तो तीन दिन का तमाशा है। उसके पीछे जेरबार होना मुनासिब नहीं। कुँवर साहब मेरे दोस्त हैं, लेन-देन का कोई सवाल न उठने पाएगा।

रायसाहब ने व्यंग्य करके कहा–आप यह भूल जाते हैं मिस्टर खन्ना कि मैं बैंकर नहीं, ताल्लुकेदार हूँ। कुँवर साहब दहेज नहीं माँगते, उन्हें ईश्वर ने सब कुछ दिया है; लेकिन आप जानते हैं, यह मेरी अकेली लड़की है और उसकी माँ मर चुकी

है। वह आज ज़िन्दा होती, तो शायद सारा घर लुटाकर भी उसे संतोष न होता। तब शायद मैं उसे हाथ रोककर ख़र्च करने का आदेश देता; लेकिन अब तो मैं उसकी माँ भी हूँ और बाप भी हूँ। अगर मुझे अपने हृदय का रक्त निकालकर भी देना पड़े, तो मैं ख़ुशी से दे दूँगा। इस विधुर-जीवन में मैंने सन्तान-प्रेम से ही अपनी आत्मा की प्यास बुझायी है। दोनों बच्चों के प्यार में ही अपने पत्नीव्रत का पालन किया है। मेरे लिए यह असम्भव है कि इस शुभ अवसर पर अपने दिल के अरमान न निकालूँ। मैं अपने मन को तो समझा सकता हूँ, पर जिसे मैं पत्नी का आदेश समझता हूँ, उसे नहीं समझाया जा सकता। और एलेक्शन के मैदान से भागना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं जानता हूँ, मैं हारूँगा। राजा साहब से मेरा कोई मुकाबला नहीं; लेकिन राजा साहब को इतना ज़रूर दिखा देना चाहता हूँ कि अमरपालसिंह नर्म चारा नहीं है।

"और मुक़दमा दायर करना तो आवश्यक ही है?"

"उसी पर तो सारा दारोमदार है। अब आप बतलाइए, आप मेरी क्या मदद कर सकते हैं?"

"मेरे डाइरेक्टरों का इस विषय में जो हुक्म है, वह आप जानते ही हैं और राजा साहब भी हमारे डाइरेक्टर हैं, यह भी आपको मालूम है। पिछला वसूल करने के लिए बार-बार ताकीद हो रही है। कोई नया मुआमला तो शायद ही हो सके।"

रायसाहब ने मुँह लटकाकर कहा—आप तो मेरा डोंगा ही डुबाये देते हैं मिस्टर खन्ना!

"मेरे पास जो कुछ निज का है, वह आपका है; लेकिन बैंक के मुआमले में तो मुझे अपने स्वामियों के आदेशों को मानना पड़ेगा।"

"अगर यह जायदाद हाथ आ गयी, और मुझे इसकी पूरी आशा है, तो पाई-पाई अदा कर दूँगा।"

"आप बतला सकते हैं, इस वक्त आप कितने पानी में हैं?"

रायसाहब ने हिचकते हुए कहा—पाँच-छः लाख समझिए। कुछ कम ही होंगे।

खन्ना ने अविश्वास के भाव से कहा—या तो आपको याद नहीं है, या आप छिपा रहे हैं।

रायसाहब ने ज़ोर देकर कहा—जी नहीं, मैं न भूला हूँ, और न छिपा रहा हूँ। मेरी जायदाद इस वक्त कम से कम पचास लाख की है और ससुराल की जायदाद भी इससे कम नहीं है। इतनी जायदाद पर दस-पाँच लाख का बोझ कुछ नहीं के बराबर है।

"लेकिन यह आप कैसे कह सकते हैं कि ससुराली जायदाद पर भी कर्ज़ नहीं है?"

"जहाँ तक मुझे मालूम है, वह जायदाद बे-दाग़ है।"

"और मुझे यह सूचना मिली है कि उस जायदाद पर दस लाख से कम का

भार नहीं है। उस जायदाद पर तो अब कुछ मिलने से रहा और आपकी जायदाद पर भी मेरे खयाल में दस लाख से कम देना नहीं है। और वह जायदाद अब पचास लाख की नहीं, मुश्किल से पचीस लाख की है। इस दशा में कोई बैंक आपको कर्ज नहीं दे सकता। यों समझ लीजिए कि आप ज्वालामुखी के मुख पर खड़े हैं। एक हल्की-सी ठोकर आपको पाताल में पहुँचा सकती है। आपको इस मौक़े पर बहुत सँभलकर चलना चाहिए।'

रायसाहब ने उनका हाथ अपनी तरफ़ खींचकर कहा–यह सब मैं खूब समझता हूँ, मित्रवर ! लेकिन जीवन की ट्रैजेडी और इसके सिवा क्या है कि आपकी आत्मा जो काम करना नहीं चाहती, वही आपको करना पड़े। आपको इस मौक़े पर मेरे लिए कम से कम दो लाख का इन्तजाम करना पड़ेगा।

खन्ना ने लम्बी साँस लेकर कहा–माई गॉड ! दो लाख ! असम्भव, बिल्कुल असम्भव !

'मैं तुम्हारे द्वार पर सर पटककर प्राण दे दूँगा खन्ना, इतना समझ लो। मैंने तुम्हारे ही भरोसे यह सारे प्रोग्राम बाँधे हैं अगर तुमने निराश कर दिया, तो शायद मुझे ज़हर खा लेना पड़े। मैं सूर्यप्रतापसिंह के सामने घुटने नहीं टेक सकता। कन्या का विवाह अभी दो-चार महीने टल सकता है। मुकदमा दायर करने के लिए अभी काफ़ी वक्त है; लेकिन यह एलेक्शन सिर पर आ गया है, और मुझे सबसे बड़ी फिक्र यही है।'

खन्ना ने चकित होकर कहा–तो आप एलेक्शन में दो लाख लगा देंगे ?

"एलेक्शन का सवाल नहीं हे भाई, यह इज़्ज़त का सवाल है। क्या आपकी राय में मेरी इज़्ज़त दो लाख की भी नहीं ! मेरी सारी रियासत बिक जाये, गम नहीं; मगर सूर्यप्रतापसिंह को मैं आसानी से विजय न पाने दूँगा।"

खन्ना ने एक मिनट तक धुआँ निकालने के बाद कहा–बैंक की जो स्थिति है, वह मैंने आपके सामने रख दी। बैंक ने एक तरह से लेन-देन का काम बन्द कर दिया है। मैं कोशिश करूँगा कि आपके साथ ख़ास रिआयत की जाये; लेकिन बिजनेस इज बिजनेस–यह आप जानते हैं। पर मेरा कमीशन क्या रहेगा ? मुझे आपके लिए ख़ास तौर पर सिफ़ारिश करनी पड़ेगी; राजा साहब का अन्य डाइरेक्टरों पर कितना प्रभाव है, यह भी आप जानते हैं। मुझे उनके खिलाफ़ गुट-बन्दी करनी पड़ेगी। यों समझ लीजिए कि मेरी जिम्मेदारी पर ही मुआमला होगा।

रायसाहब का मुँह गिर गया। खन्ना उनके अन्तरंग मित्रों में थे। साथ के पढ़े हुए, साथ के बैठनेवाले। और यह उनसे कमीशन की आशा रखते हैं, इतने बुमुरव्वती ? आखिर वह जो इतने दिनों से खन्ना की खुशामद करते हैं, वह किस दिन के लिए ? बाग में फल निकले, शाक-भाजी पैदा हो, सबसे पहले खन्ना के पास डाली भेजते हैं। कोई उत्सव हो, कोई जलसा हो, सबसे पहले खन्ना को निमन्त्रण देते हैं। उसका यह जवाब हो ? उदास मन से बोले–आपकी जो इच्छा हो; लेकिन

मैं आपको अपना भाई समझता था।

खन्ना ने कृतज्ञता के भाव से कहा—यह आपकी कृपा है। मैंने भी सदैव आपको अपना बड़ा भाई समझा है और अब भी समझता हूँ। कभी आपसे कोई पर्दा नहीं रखा, लेकिन व्यापार एक दूसरा क्षेत्र है। यहाँ कोई किसी का दोस्त नहीं, कोई किसी का भाई नहीं। जिस तरह मैं भाई के नाते आपसे यह नहीं कह सकता कि मुझे दूसरों से ज़्यादा कमीशन दीजिए, उसी तरह आपको भी मेरे कमीशन में रिआयत के लिए आग्रह न करना चाहिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि मैं जितनी रिआयत आपके साथ कर सकता हूँ, उतनी करूँगा। कल आप दफ़्तर के वक़्त आयें और लिखा-पढ़ी कर लें। बस, बिजनेस ख़त्म। आपने कुछ और सुना ! मेहता साहब आजकल मालती पर बे-तरह रीझे हुए हैं। सारी फ़िलासफ़ी निकल गयी। दिन में एक-दो बार ज़रूर हाज़िरी दे आते हैं, और शाम को अक्सर दोनों साथ-साथ सैर करने निकलते हैं। यह तो मेरी ही शान थी कि कभी मालती के द्वार पर सलामी करने न गया। शायद अब उसी की कसर निकाल रही है। कहाँ तो यह हाल था कि जो कुछ हैं, मिस्टर खन्ना हैं। कोई काम होता, तो खन्ना के पास दौड़ी आतीं। जब रुपयों की ज़रूरत पड़ती, तो खन्ना के नाम पुरज़ा आता। और कहाँ अब मुझे देखकर मुँह फेर लेती हैं। मैंने खास उन्हीं के लिए फ्रांस से एक घड़ी मँगवायी थी। बड़े शौक़ से लेकर गया; मगर नहीं ली। अभी कल मेवों की डाली भेजी थी—काश्मीर से मँगवाये थे—वापस कर दी। मुझे तो आश्चर्य होता है कि आदमी कैसे इतनी जल्द बदल जाता है।

रायसाहब मन में तो उसकी बेक़द्री पर खुश हुए; पर सहानुभूति दिखाकर बोले—अगर यह भी मान लें कि मेहता से उसका प्रेम हो गया है, तो भी व्यवहार तोड़ने का कोई कारण नहीं है।

खन्ना व्यथित स्वर में बोले—यही तो रंज है भाई साहब ! यह तो मैं शुरू से जानता था, वह मेरे हाथ नहीं आ सकती ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मैं कभी इस धोखे में नहीं पड़ा कि मालती को मुझसे प्रेम है। प्रेम-जैसी चीज़ उनसे मिल सकती है, इसकी मैंने कभी आशा ही नहीं की। मैं तो केवल उनके रूप का पुजारी था। साँप में विष है, यह जानते हुए भी हम उसे दूध पिलाते हैं। तोते से ज़्यादा निठुर जीव और कौन होगा; लेकिन केवल उसके रूप और वाणी पर मुग्ध होकर लोग उसे पालते हैं और सोने के पिंजरे में रखते हैं। मेरे लिए भी मालती उसी तोते के समान थी। अफ़सोस यही है कि मैं पहले क्यों न चेत गया ? इसके पीछे मैंने अपने हज़ारों रुपये बरबाद कर दिये भाई साहब ! जब इसका रुक्का पहुँचा, मैंने तुरन्त रुपये भेजे। मेरी कार आज भी उसकी सवारी में है। उसके पीछे मैंने अपना घर चौपट कर दिया भाई साहब ! हृदय में जितना रस था, वह ऊसर की ओर इतने वेग से दौड़ा कि दूसरी तरफ़ का उद्यान बिल्कुल सूखा रह गया। बरसों हो गये, मैंने गोविन्दी से दिल खोलकर बात भी नहीं की। उसकी सेवा और स्नेह और त्याग

से मुझे उसी तरह अरुचि हो गयी थी, जैसे अजीर्ण के रोगी को मोहनभोग से हो जाती है। मालती मुझे उसी तरह नचाती थी, जैसे मदारी बन्दर को नचाता है। और मैं खुशी से नाचता था। वह मेरा अपमान करती थी और मैं खुशी से हँसता था। वह मुझ पर शासन करती थी और मैं सिर झुकाता था। उसने मुझे कभी मुँह नहीं लगाया, यह मैं स्वीकार करता हूँ। उसने मुझे कभी प्रोत्साहन नहीं दिया, यह भी सत्य है, फिर भी मैं पतंग की भाँति उसके मुख-दीप पर प्राण देता था। और अब वह मुझसे शिष्टाचार का व्यवहार भी नहीं कर सकती ! लेकिन भाई साहब ! मैं कहे देता हूँ कि खन्ना चुप बैठनेवाला आदमी नहीं है। उसके पुरज़े मेरे पास सुरक्षित हैं ; मैं उससे एक-एक पाई वसूल कर लूँगा, और डॉक्टर मेहता को तो मैं लखनऊ से निकालकर दम लूँगा। उनका रहना यहाँ असम्भव कर दूँगा···

उसी वक़्त हार्न की आवाज़ आयी और एक क्षण में मिस्टर मेहता आकर खड़े हो गये। गोरा चिट्टा रंग, स्वास्थ्य की लालिमा गालों पर चमकती हुई, नीची अचकन, चूड़ीदार पाजामा, सुनहली ऐनक। सौम्यता के देवता-से लगते थे।

खन्ना ने उठकर हाथ मिलाया–आइए मिस्टर मेहता, आप ही का जिक्र हो रहा था।

मेहता ने दोनों सज्जनों से हाथ मिलाकर कहा–बड़ी अच्छी साइत में घर से चला था कि आप दोनों साहबों से एक ही जगह भेंट हो गयी। आपने शायद पत्रों में देखा होगा, यहाँ महिलाओं के लिए एक व्यायामशाला का आयोजन हो रहा है। मिस मालती उस कमेटी की सभानेत्री हैं। अनुमान किया गया है कि शाला में दो लाख रुपये लगेंगे। नगर में उसकी कितनी ज़रूरत है, यह आप लोग मुझसे ज़्यादा जानते हैं। मैं चाहता हूँ, आप दोनों साहबों का नाम सबसे ऊपर हो। मिस मालती खुद आनेवाली थीं; पर आज उनके फ़ादर की तबीयत अच्छी नहीं है, इसलिए न आ सकीं।

उन्होंने चन्दे की सूची रायसाहब के हाथ में रख दी। पहला नाम राजा सूर्यप्रतापसिंह का था, जिसके सामने पाँच हज़ार रुपये की रक़म थी। उसके बाद कुँवर दिग्विजयसिंह के तीन हज़ार रुपये थे। इसके बाद और कई रक़में इतनी या कुछ कम थीं। मालती ने पाँच सौ रुपये दिये थे और डॉक्टर मेहता ने एक हज़ार रुपये।

रायसाहब ने अप्रतिभ होकर कहा–कोई चालीस हज़ार तो आप लोगों ने फटकार लिये।

मेहता ने गर्व से कहा–यह सब आप लोगों की दया है। और यह केवल तीन घण्टों का परिश्रम है। राजा सूर्यप्रतापसिंह ने शायद ही किसी सार्वजनिक कार्य में भाग लिया हो; पर आज तो उन्होंने बे-कहे-सुने चेक लिख दिया ! देश में जागृति है। जनता किसी भी शुभ काम में सहयोग देने को तैयार है। केवल उसे विश्वास होना चाहिए कि उसके दान का सद्व्यय होगा। आपसे तो मुझे बड़ी आशा है, मिस्टर

खन्ना !

खन्ना ने उपेक्षा-भाव से कहा—मैं ऐसे फ़जूल के कामों में नहीं पड़ता। न जाने आप लोग पच्छिम की गुलामी में कहाँ तक जायेंगे। यों ही महिलाओं को घर से अरुचि हो रही है। व्यायाम की धुन सवार हो गयी, तो वह कहीं की न रहेंगी। जो औरत घर का काम करती है, उसके लिए किसी व्यायाम की ज़रूरत नहीं और जो घर का कोई काम नहीं करती और केवल भोग-विलास में रत है, उसके व्यायाम के लिए चन्दा देना मैं अधर्म समझता हूँ।

मेहता जरा भी निरुत्साह न हुए—ऐसी दशा में मैं आपसे कुछ मागूँगा भी नहीं। जिस आयोजन में हमे विश्वास न हो, उसमें किसी तरह की मदद देना वास्तव में अधर्म है। आप तो मिस्टर खन्ना से सहमत नही हैं रायसाहब ?

रायसाहब गहरी चिन्ता मे डूबे हुए थे। सूर्यप्रताप के पाँच हज़ार उन्हे हतोत्साह किये डालते थे। चौंककर बोले—आपने मुझसे कुछ कहा ?

"मैंने कहा, आप तो इस आयोजन में सहयोग देना अधर्म नही समझते ?"

"जिस काम मे आप शरीक हैं, वह धर्म है या अधर्म, इसकी मैं परवाह नही करता।"

"मैं चाहता हूँ, आप खुद विचार करे और अगर आप इस आयोजन को समाज के लिए उपयोगी समझे, तो उसमें सहयोग दे। मिस्टर खन्ना की नीति मुझे बहुत पसन्द आयी।"

खन्ना बोले—मैं तो साफ कहता हूँ और इसीलिए बदनाम हूँ।

रायसाहब ने दुर्बल मुस्कान के साथ कहा—मुझमें तो विचार करने की शक्ति ही नही। सज्जनों के पीछे चलना ही मैं अपना धर्म समझता हूँ।

"तो लिखिए कोई अच्छी रकम।"

"जो कहिए, वह लिख दूँ।"

"जो आपकी इच्छा।"

"आप जो कहिये, वह लिख दूँ।"

"तो दो हजार से कम क्या लिखिएगा ?"

रायसाहब ने आहत स्वर में कहा—आपकी निगाह में मेरी यही हैसियत है ?

उन्होंने कलम उठाया और अपना नाम लिखकर उसके सामने पाँच हज़ार लिख दिये। मेहता ने सूची उनके हाथ से ले ली; मगर उन्हे इतनी ग्लानि हुई कि रायसाहब को चन्दे की सूची दिखाकर उन्होंने बड़ा अनर्थ किया, यह शूल उन्हें व्यथित करने लगा।

मिस्टर खन्ना ने रायसाहब को दया और उपहास की दृष्टि से देखा, मानो कह रहे हों, कितने बड़े गधे हो तुम !

सहसा मेहता रायसाहब के गले लिपट गये और उन्मुक्त कंठ से बोले—Three Cheers for Rai Sahib, Hip, Hip Hurrah !

खन्ना ने खिसियाकर कहा—यह लोग राजे-महराजे ठहरे, यह इन कामों में दान न दें, तो कौन दे ?

मेहता बोले—मैं आपको राजाओं का राजा समझता हूँ। आप उन पर शासन करते हैं। उनकी कोठी आपके हाथ में है।

रायसाहब प्रसन्न हो गये—यह आपने बड़े मार्के की बात कही मेहताजी ! हम नाम के राजा हैं। असली राजा तो हमारे बैंकर हैं।

मेहता ने खन्ना की खुशामद का पहलू अख़्तियार किया—मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं है खन्नाजी ! आप अभी इस काम मे नहीं शरीक होना चाहते, न सही, लेकिन कभी न कभी ज़रूर आयेंगे। लक्ष्मीपतियों की बदौलत ही हमारी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ चलती हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन को दो-तीन साल तक किसने इतनी धूम-धाम से चलाया ! इतनी धर्मशालाएँ और पाठशालायें कौन बनवा रहा है ? आज संसार का शासन-सूत्र बैंकरों के हाथ में है। सरकार उनके हाथ का खिलौना है। मैं भी आपसे निराश नहीं हूँ। जो व्यक्ति राष्ट्र के लिए जेल जा सकता है, उसके लिए दो-चार हज़ार ख़र्च कर देना कोई बड़ी बात नहीं है। हमने तय किया है, इस शाला का बुनियादी पत्थर गोविन्दी देवी के हाथो रखा जाये। हम दोनों शीघ्र ही गर्वनर साहब से भी मिलेगे और मुझे विश्वास है, हमें उनकी सहायता मिल जाएगी। लेडी विलसन को महिला-आन्दोलन से कितना प्रेम है, आप जानते ही हैं। राजा साहब की और अन्य सज्जनों की भी राय थी कि लेडी विलसन से ही बुनियाद रखवायी जाये; लेकिन अन्त में यह निश्चय हुआ कि यह शुभ कार्य किसी अपनी बहन के हाथों होना चाहिए। आप कम-से-कम इस अवसर पर आएँगे तो ज़रूर ?

खन्ना ने उपहास किया—हाँ, जब लार्ड विलसन आएँगे तो मेरा पहुँचना ज़रूरी ही है। इस तरह आप बहुत-से रईसों को फाँस लेंगे। आप लोगों को लटके खूब सूझते हैं। और हमारे रईस हैं भी इस लायक़। उन्हें उल्लू बनाकर ही मूँड़ा जा सकता है।

"जब धन ज़रूरत से ज़्यादा हो जाता है, तो अपने लिए निकास का मार्ग खोजता है। यों न निकल पाएगा तो जुए में जाएगा, घुड़दौड़ में जाएगा, ईंट-पत्थर में जाएगा, या ऐयाशी में जाएगा।"

ग्यारह का अमल था। खन्ना साहब के दफ़्तर का समय आ गया। मेहता चले गये। रायसाहब भी उठे कि खन्ना ने उनका हाथ पकड़कर बैठा लिया—नहीं, आप ज़रा बैठिए। आप देख रहे हैं, मेहता ने मुझे इस बुरी तरह फाँसा है कि निकलने का कोई रास्ता ही नहीं रहा। गोविन्दी से बुनियाद का पत्थर रखवाएँगे ! ऐसी दशा में मेरा अलग रहना हास्यास्पद है या नहीं ? गोविन्दी कैसे राज़ी हो गयी; मेरी समझ में नहीं आता और मालती ने कैसे उसे सहन कर लिया, यह समझना और भी कठिन है। आपका क्या ख़याल है, इसमें कोई रहस्य है या नहीं ?

रायसाहब ने आत्मीयता जतायी—ऐसे मुआमले में स्त्री को हमेशा पुरुष से

सलाह ले लेनी चाहिए !

खन्ना ने रायसाहब को धन्यवाद की आँखों से देखा–इन्हीं बातों पर गोविन्दी से मेरा जी जलता है, और उस पर मुझी को लोग बुरा कहते हैं। आप ही सोचिए, मुझे इन झगड़ों से क्या मतलब ? इनमें तो वह पड़े, जिसके पास फालतू रुपये हों, फालतू समय हो और नाम की हवस हो। होना यही है कि दो-चार महाशय सेक्रेटरी और अण्डर सेक्रेटरी और प्रधान और उपप्रधान बनकर अफसरों को दावतें देंगे, उनके कृपापात्र बनेंगे और यूनिवर्सिटी की छोकरियों को जमा करके विहार करेंगे। व्यायाम तो केवल दिखाने के दाँत हैं। ऐसी संस्था में हमेशा यही होता है और यही होगा और उल्लू बनेंगे हम, और हमारे भाई, जो धनी कहलाते हैं और यह सब गोविन्दी के कारण।

वह एक बार कुरसी से उठे, फिर बैठ गये। गोविन्दी के प्रति उनका क्रोध प्रचण्ड हो जाता था ! उन्होंने दोनों हाथों से सिर को सँभालकर कहा–मैं नहीं समझता; मुझे क्या करना चाहिए।

रायसाहब ने ठाकुर-सोहाती की–कुछ नहीं, आप गोविन्दी देवी से साफ कह दें, तुम मेहता को इन्कारी खत लिख दो, छुट्टी हुई। मैं तो लाग-डाँट में फँस गया। आप क्यों फँसे ?

खन्ना ने एक क्षण इस प्रस्ताव पर विचार करके कहा–लेकिन सोचिए, कितना मुश्किल काम है। लेडी विलसन से इसका जिक्र आ चुका होगा, सारे शहर में ख़बर फैल गयी होगी और शायद आज पत्रों में भी निकल जाये। यह सब मालती की शरारत है। उसी ने मुझे जिच करने का यह ढंग निकाला है।

"हाँ, मालूम तो यही होता है।"

"वह मुझे जलील करना चाहती है !"

"आप शिलान्यास के एक दिन पहले बाहर चले जाइएगा।"

"मुश्किल है रायसाहब ! कहीं मुँह दिखाने की जगह न रहेगी। उस दिन तो मुझे हैज़ा भी हो जाये तो वहाँ जाना पड़ेगा।"

रायसाहब आशा बाँधे हुए कल आने का वादा करके ज्यों ही निकले कि खन्ना ने अन्दर जाकर गोविन्दी को आड़े हाथों लिया–तुमने इस व्यायामशाला की नींव रखना क्यों स्वीकार किया ?

गोविन्दी कैसे कहे कि यह सम्मान पाकर वह मन में कितनी प्रसन्न हो रही थी, उस अवसर के लिए कितने मनोयोग से अपना भाषण लिख रही थी और कितनी ओजभरी कविता रची थी। उसने दिल में समझा था, यह प्रस्ताव स्वीकार करके वह खन्ना को प्रसन्न कर देगी। उसका सम्मान तो उसके पति का ही सम्मान है। खन्ना को इसमें कोई आपत्ति हो सकती है, इसकी उसने कल्पना भी न की थी। इधर कई दिनों से पति को कुछ सदय देखकर उसका मन बढ़ने लगा था। वह भाषण से, और अपनी कविता से लोगों को मुग्ध कर देने का स्वप्न देख रही थी।

यह प्रश्न सुना और खन्ना की मुद्रा देखी, तो उसकी छाती धक्-धक् करने लगी। अपराधी की भाँति बोली—डॉक्टर मेहता ने आग्रह किया, तो मैंने स्वीकार कर लिया।

"डॉक्टर मेहता तुम्हें कुएँ में गिरने को कहें, तो शायद इतनी खुशी से न तैयार होगी।"

गोविन्दी की ज़बान बन्द।

"तुम्हें जब ईश्वर ने बुद्धि नहीं दी, तो क्यों मुझसे नहीं पूछ लिया ? मेहता और मालती दोनों यह चाल चलकर मुझसे दो-चार हज़ार ऐंठने की फिक्र में हैं। और मैंने ठान लिया है कि कौड़ी भी न दूँगा। तुम आज ही मेहता को इन्कारी खत लिख दो।"

गोविन्दी ने एक क्षण सोचकर कहा—तो तुम्हीं लिख दो।

"मैं क्यों लिखूँ ? बात की तुमने, लिखूँ मैं ?"

"डॉक्टर साहब कारण पूछें तो क्या बताऊँगी ?"

"बताना अपना सिर और क्या! मैं इस व्यभिचारशाला को एक धेला भी नहीं देना चाहता।"

"तो तुम्हें देने को कौन कहता है ?"

खन्ना ने होंठ चबाकर कहा—कैसी बेसमझी की-सी बातें करती हो ? तुम वहं नीव रखोगी और कुछ दोगी नहीं, तो संसार क्या कहेगा ?

गोविन्दी ने जैसे संगीन की नोक पर कहा—अच्छी बात है; लिख दूँगी।

"आज ही लिखना होगा !"

"कह तो दिया, लिखूँगी।"

खन्ना बाहर आये और डाक देखने लगे। उन्हें दफ़्तर जाने में देर हो जाती थी, तो चपरासी घर पर ही डाक दे जाता था। शक्कर तेज हो गयी। खन्ना का चेहरा खिल उठा। दूसरी चिट्ठी खोली। ऊख की दर नियत करने के लिए जो कमेटी बैठी थी, उसने तय कर लिया कि ऐसा नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। धत् तेरी की ! वह पहले यही बात कर रहे थे; इस पर अग्निहोत्री ने गुल मचाकर जबरदस्ती कमेटी बैठायी। आखिर बचा के मुँह पर थप्पड़ लगा। यह मिलवालों और किसानों के बीच का मुआमला है। सरकार इसमें दख़ल देनेवाली कौन ?

सहसा मिस मालती कार से उतरीं। कमल की भाँति खिली, दीपक की भाँति दमकती, स्फूर्ति और उल्लास की प्रतिमा-सी—निश्शंक, निर्द्वन्द्व, मानो उसे विश्वास है क़ि संसार में उसके लिए आदर और सुख का द्वार खुला हुआ है। खन्ना ने बरामदे में आकर अभिवादन किया।

मालती ने पूछा—क्या यहाँ मेहता आये थे ?

"हाँ, आये तो थे।"

"कुछ कहा, कहाँ जा रहे हैं ?"

'यह तो कुछ नहीं कहा।"

"जाने कहाँ डुबकी लगा गये! मैं चारों तरफ घूम आयी। आपने व्यायामशाला के लिए कितना दिया?"

खन्ना ने अपराधी-स्वर में कहा—मैंने इस मुआमले को समझा ही नहीं।

मालती ने बड़ी-बड़ी आँखों से उन्हें तरेरा, मानो सोच रही हो कि उन पर दया करे या रोष।

"इसमें समझने की क्या बात थी, और समझ लेते आगे-पीछे, इस वक़्त तो कुछ देने की बात थी। मैंने मेहता को ठेलकर यहाँ भेजा था। बेचारे डर रहे थे कि आप न जाने क्या जवाब दें! आपकी इस कंजूसी का क्या फल होगा, आप जानते हैं? यहाँ के व्यापारी समाज से कुछ न मिलेगा। आपने शायद मुझे अपमानित करने का निश्चय कर लिया है। सबकी सलाह थी कि लेडी विलसन बुनियाद रखें। मैंने गोविन्दी देवी का पक्ष लिया और लड़कर सबको राजी किया और अब आप फ़रमाते हैं, आपने इस मुआमले को समझा ही नहीं। आप बैंकिंग की गुत्थियाँ समझते हैं; पर इतनी मोटी बात आपकी समझ में न आयी! इसका अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं है, कि तुम मुझे लज्जित करना चाहते हो अच्छी बात है, यही सही!"

मालती का मुख लाल हो गया। खन्ना घबराये, हेकड़ी जाती रही, पर इसके साथ ही उन्हें यह भी मालूम हुआ कि अगर वह काँटों में फँस गये हैं, तो मालती दलदल में फँस गयी है; अगर उनकी थैलियों पर संकट आ पड़ा है, तो मालती की प्रतिष्ठा पर संकट आ पड़ा है, जो थैलियों से ज़्यादा मूल्यवान है। तब उनका मन मालती की दुरवस्था का आनन्द क्यों न उठाये? उन्होने मालती को अरदब में डाल दिया था और यद्यपि वह उसे रुष्ट कर देने का साहस खो चुके थे; पर दो-चार खरी-खरी बातें कह सुनाने का अवसर पाकर छोड़ना न चाहते थे। यह भी दिखा देना चाहते थे कि मैं निरा भोंदू नहीं हूँ। उसका रास्ता रोककर बोले—तुम मुझ पर इतनी कृपालु हो गयी हो, इस पर मुझे आश्चर्य हो रहा है मालती!

मालती ने भवें सिकोड़कर कहा—मैं इसका आशय नहीं समझी।

"क्या अब मेरे साथ तुम्हारा वही बर्ताव है, जो कुछ दिन पहले था?"

"मैं तो उसमें कोई अन्तर नहीं देखती।"

"लेकिन मैं तो आकाश-पाताल का अन्तर देखता हूँ।"

"अच्छा, मान लो तुम्हारा अनुमान ठीक है, तो फिर? मैं तुमसे एक शुभ-कार्य में सहायता माँगने आयी हूँ, अपने व्यवहार की परीक्षा देने आयी हूँ। और अगर तुम समझते हो, कुछ चन्दा देकर तुम यश और धन्यवाद के सिवा और कुछ पा सकते हो, तो तुम भ्रम में हो।"

खन्ना परास्त हो गये। वह ऐसे सकरे कोने में फँस गये थे, जहाँ इधर-उधर हिलने का भी स्थान न था। क्या वह उससे यह कहने का साहस रखते हैं कि मैंने अब तक तुम्हारे ऊपर हज़ारों रुपये लुटा दिये, क्या उसका यही पुरस्कार है? लज्जा

से उनका मुँह छोटा-सा निकल आया, जैसे सिकुड़ गया हो ! झेंपते हुए बोले—मेरा आशय यह न था मालती, तुम बिल्कुल ग़लत समझीं।

मालती ने परिहास के स्वर में कहा—खुदा करे, मैंने ग़लत समझा हो, क्योंकि अगर मैं सच समझ लूँगी, तो तुम्हारे साये से भी भागूँगी। मैं रूपवती हूँ। तुम भी मेरे अनेक चाहनेवालो में से एक हो। वह मेरी कृपा थी कि जहाँ मैं औरों के उपहार लौटा देती थी, तुम्हारी सामान्य-से-सामान्य चीज़े भी धन्यवाद के साथ स्वीकार कर लेती थी, और ज़रूरत पड़ने पर तुमसे रुपये भी माँग लेती थी। अगर तुमने अपने धनोन्माद में इसका कोई दूसरा अर्थ निकाल लिया, तो मैं तुम्हे क्षमा करूँगी। यह पुरुष-प्रकृति का अपवाद नहीं; मगर यह समझ लो कि धन ने आज तक किसी नारी के हृदय पर विजय नहीं पायी, और न कभी पाएगा।

खन्ना एक-एक शब्द पर मानो गज-गज भर नीचे धँसते जाते थे। अब और ज़्यादा चोट सहने का उनमें जीवट न था। लज्जित होकर बोले—मालती, तुम्हारे पैरो पड़ता हूँ, अब और ज़लील न करो। और न सही तो मित्र-भाव तो बना रहने दो।

यह कहते हुए उन्होंने दराज से चेकबुक निकाला और एक हज़ार लिखकर डरते-डरते मालती की तरफ़ बढ़ाया।

मालती ने चेक लेकर निर्दय व्यंग्य किया—यह मेरे व्यवहार का मूल्य है या व्यायामशाला का चन्दा ?

खन्ना सजल आँखों से बोले—अब मेरी जान बख्शो, मालती ! क्यों मेरे मुँह मे कालिख पोत रही हो।

मालती ने ज़ोर से कहकहा मारा—देखो, डाँट बतायी और एक हजार रुपये भी वसूल किये। अब तो तुम कभी ऐसी शरारत न करोगे ?

"कभी नही, जीते-जी कभी नही।"

"कान पकड़ो।"

"कान पकड़ता हूँ; मगर अब तुम दया करके जाओ और मुझे एकान्त में बैठकर सोचने और रोने दो। तुमने आज मेरे जीवन का सारा आनन्द ...."

मालती और ज़ोर से हँसी—देखो खन्ना, तुम मेरा बहुत अपमान कर रहे हो और तुम जानते हो, रूप अपमान नही सह सकता। मैंने तो तुम्हारे साथ भलाई की और तुम उसे बुराई समझते हो।

खन्ना विद्रोह-भरी आँखो से देखकर बोले—तुमने मेरे साथ भलाई की है या उलटी छुरी से मेरा गला रेता है ?

"क्यों, मैं तुम्हें लूट-लूटकर अपना घर भर रही थी। तुम उस लूट से बच गये।"

"क्यों घाव पर नमक छिड़क रही हो मालती ! मैं भी आदमी हूँ।"

मालती ने इस तरह खन्ना की ओर देखा, मानो निश्चय करना चाहती थी कि वह आदमी है या नहीं।

"अभी तो मुझे इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता।"

"तुम बिलकुल पहेली हो, आज यह साबित हो गया।"

"हाँ, तुम्हारे लिए पहेली हूँ और पहेली रहूँगी।"

यह कहती हुई वह पक्षी की भाँति फुर्र से उड़ गयी और खन्ना सिर पर हाथ रखकर सोचने लगे, यह लीला है या इसका सच्चा रूप।

तेइस

गोबर और झुनिया के जाने के बाद घर सुनसान रहने लगा। धनिया को बार-बार मुन्नू की याद आती रही। बच्चे की माँ तो झुनिया थी ; पर उसका पालन धनिया ही करती थी। वही उसे उबटन मलती, काजल लगाती, सुलाती और जब काम-काज से अवकाश मिलता, उसे प्यार करती। वात्सल्य का वह नशा ही उसकी विपत्ति को भुलाता रहता था। उसका भोला-भाला, मक्खन-सा मुँह देखकर वह अपनी सारी चिन्ता भूल जाती और स्नेहमय गर्व से उसका हृदय फूल उठता। वह जीवन का आधार अब न था। उसका सूना खटोला देखकर वह रो उठती। वह कवच, जो सारी चिन्ताओं और दुराशाओं से उसकी रक्षा करता था, उससे छिन गया था। वह बार-बार सोचती, उसने झुनिया के साथ ऐसी कौन-सी बुराई की थी, जिसका उसने यह दण्ड दिया। डाइन ने आकर उसका सोना-सा घर मिट्टी में मिला दिया। गोबर ने तो कभी उसकी बात का जवाब भी न दिया था। इसी राँड ने उसे फोड़ा और वहाँ ले जाकर न जाने कौन-कौन-सा नाच नचायेगी। यहाँ ही वह बच्चे की कौन बहुत परवाह करती थी। उसे तो अपनी मिस्सी-काजल, माँग-चोटी से ही छुट्टी नहीं मिलती। बच्चे की देखभाल क्या करेगी ? बेचारा अकेला ज़मीन पर पड़ा रोता होगा। बेचारा एक दिन भी तो सुख से नहीं रहने पाता । कभी खाँसी, कभी दस्त, कभी कुछ, कभी कुछ ! यह सोच-सोचकर उसे झुनिया पर क्रोध आता। गोबर के लिए अब भी उसके मन में वही ममता थी। इसी चुड़ैल ने उसे कुछ खिला-पिलाकर अपने वश में कर लिया। ऐसी मायाविनी न होती, तो यह टोना ही कैसे करती ? कोई बात न पूछता था। भौजाइयों की लातें खाती थी। यह भुग्गा मिल गया तो आज रानी हो गयी।

होरी ने चिढ़कर कहा—जब देखो तब तू झुनिया ही को दोष देती है। यह नहीं समझती कि अपना सोना खोटा तो सोनार का क्या दोष ? गोबर उसे न ले जाता तो क्या आप-से-आप चली जाती ? सहर का दाना-पानी लगने से लौंडे की आँखें बदल गयी, ऐसा क्यों नहीं समझ लेती।

धनिया गरज उठी—अच्छा, चुप रहो। तुम्हीं ने राँड़ को मूड़ पर चढ़ा रखा था, नहीं मैंने पहले ही दिन झाड़ू मारकर निकाल दिया होता।

खलिहान में डाठें जमा हो गयी थीं। होरी बैलों को जुखरकर अनाज माँड़ने जा रहा था। पीछे मुँह फेरकर बोला—मान ले, बहू ने गोबर को फोड़ ही लिया, तो तू इतनी कुढ़ती क्यों है ? जो सारा जमाना करता है, वही गोबर ने भी किया। अब

उसके बाल-बच्चे हुए। मेरे बाल-बच्चों के लिए क्यों अपनी साँसत कराये, क्यों हमारे सिर का बोझ अपने सिर रखे !

"तुम्ही उपद्रव की जड़ हो।"

"तो मुझे भी निकाल दे। ले जा बैलों को, अनाज माँड़। मैं हुक्का पीता हूँ।"

"तुम चलकर चक्की पीसो, मैं अनाज माँड़ूगी।"

"विनोद में दुःख उड़ गया। वही उसकी दवा है। धनिया प्रसन्न होकर रूपा के बाल गूँथने बैठ गयी, जो बिलकुल उलझकर रह गये थे, और होरी खलिहान चला। रसिक बसन्त सुगन्ध और प्रमोद और जीवन की विभूति लुटा रहा था, दोनों हाथों से दिल खोलकर। कोयल आम की डालियों में छिपी अपनी रसीली, मधुर, आत्मस्पर्शी कूक से आशाओं को जगाती फिरती थी। महुए की डालियों पर मैनों की बारात-सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा-सा घोल देते थे। होरी आमों के बाग़ में पहुँचा तो वृक्षों के नीचे तारे-से खिले थे। उसका व्यथित, निराश मन भी इस व्यापक शोभा और स्फूर्ति में आकर गाने लगा—

"हिया जरत रहत दिन-रैन।
आम की डरिया कोयल बोले
तनिक न आवत चैन।"

सामने से दुलारी सहुआइन, गुलाबी साड़ी पहने चली आ रही थी। पाँव मे मोटे चाँदी के कड़े थे, गले मे मोटी सोने की हँसली, चेहरा सूखा हुआ; पर दिल हरा। एक समय था, जब होरी खेत-खलिहान मे उसे छेड़ा करता था। वह भाभी थी, होरी देवर था, इस नाते दोनों में विनोद होता रहता था। जब से साहजी मर गये, दुलारी ने घर से निकलना छोड़ दिया। सारे दिन दुकान पर बैठी रहती थी और वहीं से सारे गाँव की ख़बर लगाती रहती थी। कहीं आपस में झगड़ा हो जाये, सहुआइन वहाँ बीच-बचाव करने के लिए अवश्य पहुँचेगी। आने रुपये सूद से कम पर रुपये उधार न देती थी। और यद्यपि सूद के लोभ में मूल भी हाथ न आता था—जो रुपये लेता, खाकर बैठ रहता—मगर उसके ब्याज का दर ज्यों-का-त्यों बना रहता था। बेचारी कैसे वसूल करे ? नालिश-फ़रियाद करने से रही, थाना-पुलिस करने से रही, केवल जीभ का बल था; पर ज्यों-ज्यों उम्र के साथ जीभ की तेजी बढ़ती जाती थी, उसकी काट घटती जाती थी। अब उसकी गालियों पर लोग हँस देते थे और मज़ाक में कहते—क्या करेगी रुपये लेकर काकी, साथ तो एक कौड़ी भी न ले जा सकेगी। गरीब को तो खिला-पिलाकर जितनी असीस मिल सके, ले-ले। यही परलोक में काम आएगा। और दुलारी परलोक के नाम से जलती थी।

होरी ने छेड़ा—आज तो भाभी, तुम सचमुच जवान लगती हो।

सहुआइन मगन होकर बोली—आज मंगल का दिन है, नज़र न लगा देना। इसी मारे मैं कुछ पहनती-ओढ़ती नहीं। घर से निकली तो सभी घूरने लगते हैं, जैसे कभी कोई मेहरिया देखी न हो। पटेश्वरी लाला की पुरानी बान अभी तक नहीं छूटी।

होरी ठिठक गया; बड़ा मनोरंजक प्रसंग छिड़ गया था। बैल आगे निकल गये।

"वह आजकल बड़े भगत हो गये हैं। देखती नहीं हो, हर पूरनमासी को सत्य-नारायण की कथा सुनते हैं और दोनों जून मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं।"

"ऐसे लम्पट जितने होते हैं, सभी बूढ़े होकर भगत बन जाते हैं! कुकर्म का परासचित तो करना ही पड़ता है। पूछो, मैं अब बुढ़िया हुई, मुझसे क्या हँसी।"

"तुम अभी बुढ़िया कैसे हो गयी भाभी? मुझे तो अब भी ..."

"अच्छा, चुप ही रहना, नहीं डेढ़ सौ गाली दूँगी। लड़का परदेश कमाने लगा, एक दिन नेवता भी न खिलाया, सेंत-मेंत में भाभी बनाने को तैयार।"

"मुझसे क़सम ले लो भाभी, जो मैंने उसकी कमाई का एक पैसा भी छुआ हो। न जाने क्या लाया, कहाँ ख़रच किया, मुझे भी पता नहीं। बस, एक जोड़ा धोती और एक पगड़ी मेरे हाथ लगी।"

"अच्छा कमाने तो लगा, आज नहीं कल घर सँभालेगा ही। भगवान उसे खुशी रखे। हमारे रुपये भी थोड़ा-थोड़ा देते चलो। सूद ही तो बढ़ रहा है।"

"तुम्हारी एक-एक पाई दूँगा भाभी, हाथ में पैसे आने दो। और खा ही जायेंगे, तो कोई बाहर के तो नहीं हैं, हैं तो तुम्हारे ही।"

सहुआइन ऐसी विनोद-भरी चापलूसियों से निरस्त्र हो जाती थी। मुस्कराती हुई अपनी राह चली गयी। होरी लपककर बैलों के पास पहुँच गया और उन्हें पौर में डालकर चक्कर देने लगा। सारे गाँव का यही एक खलिहान था। कहीं मँड़ाई हो रही थी, कोई अनाज ओसा रहा था, कोई गल्ला तौल रहा था! नाई-बारी, बढ़ई, लोहार, पुरोहित, भाट, भिखारी, सभी अपने-अपने जेवरे लेने के लिए जमा हो गये थे। एक पेड़ के नीचे झिंगुरीसिंह खाट पर बैठे अपनी सवाई उगाह रहे थे। कई बनिये खड़े गल्ले का भाव-ताव कर रहे थे। सारे खलिहान में मंडी की-सी रौनक़ थी। एक खटकिन बेर और मकोय बेच रही थी और एक खोंचेवाला तेल के सेब और जलेबियाँ लिये फिर रहा था। पंडित दातादीन भी होरी से अनाज बँटवाने के लिए आ पहुँचे थे और झिंगुरीसिंह के साथ खाट पर बैठे थे।

दातादीन ने सुरती मलते हुए कहा—कुछ सुना, सरकार भी महाजनों से कह रही है कि सूद का दर घटा दो, नहीं डिग्री न मिलेगी।

झिंगुरी तमाखू फाँककर बोले—पंडित, मैं तो एक बात जानता हूँ। तुम्हें गरज पड़ेगी तो सौ बार हमसे रुपये उधार लेने आओगे, और हम जो ब्याज चाहेंगे, लेंगे। सरकार अगर असामियों को रुपये उधार देने का कोई बन्दोबस्त न करेगी, तो हमें इस कानून से कुछ न होगा। हम दर कम लिखायेंगे; लेकिन एक सौ में पचीस पहले ही काट लेंगे। इसमें सरकार क्या कर सकती है?

"यह तो ठीक है; लेकिन सरकार भी इन बातों को खूब समझती है। इसकी भी कोई रोक निकालेगी, देख लेना।"

"इसकी कोई रोक हो ही नहीं सकती।"

"अच्छा, अगर वह शर्त कर दे, जब तक स्टाम्प पर गाँव के मुखिया या कारिन्दा के दसखत न होंगे, वह पक्का न होगा, तब क्या करोगे ?"

"असामी को सौ बार गरज होगी, मुखिया को हाथ-पाँव जोड़ के लाएगा और दसखत कराएगा। हम तो एक चौथाई काट ही लेंगे।"

"और जो फँस जाओ ! जाली हिसाब लिखा और गये चौदह साल को।"

झिंगुरीसिंह ज़ोर से हँसा—तुम क्या कहते हो पण्डित, क्या तब संसार बदल जाएगा ? कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई ज़मींदार किसी कास्तकार के साथ सख्ती न करे; मगर होता क्या है। रोज ही देखते हो। ज़मींदार मुसक बँधवा के पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है। जो किसान पोढ़ा है, उससे न ज़मींदार बोलता हे, न महाजन। ऐसे आदमियों से हम मिल जाते हैं और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गर्दन दबाते हैं। तुम्हारे ही ऊपर रायसाहब के पाँच सौ रुपये निकलते हैं; लेकिन नोखेराम में है इतनी हिम्मत कि तुमसे कुछ बोले ? वह जानते हैं, तुमसे मेल करने ही में उनका हित है। असामी में इतना बूता है कि रोज अदालत दौड़े ? सारा कारबार इसी तरह चला जाएगा, जैसे चल रहा है। कचहरी-अदालत उसी के साथ है, जिसके पास पैसा है। हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं।

यह कहकर उन्होंने खलिहान का एक चक्कर लगाया और फिर खाट पर बैठते हुए बोले—हाँ, मतई के ब्याह का क्या हुआ ? हमारी सलाह तो है कि उसका ब्याह कर डालो। अब तो बड़ी बदनामी हो रही है।

दातादीन को जैसे ततैया ने काट खाया। इस आलोचना का क्या आशय था, वह खूब समझते थे। गर्म होकर बोले—पीठ पीछे आदमी जो चाहे बके, हमारे मुँह पर कोई कुछ कहे, तो उसकी मूँछें उखाड़ लूँ। कोई हमारी तरह नेमी बन तो ले। कितनों को जानता हूँ, जो कभी सन्ध्या-वन्दन नहीं करते, न उन्हें धरम से मतलब, न करम से; न कथा से मतलब, न पुरान से। वह भी अपने को ब्राह्मण कहते हैं। हमारे ऊपर क्या हँसेगा कोई, जिसने अपने जीवन में एक एकादशी भी नागा नहीं की, कभी बिना स्नान-पूजन किये मुँह में पानी नहीं डाला। नेम का निभाना कठिन है। कोई बता दे कि हमने कभी बाजार की कोई चीज़ खायी हो, या किसी दूसरे के हाथ का पानी पीया हो, तो उसकी टाँग की राह निकल जाऊँ। सिलिया हमारी चौखट नहीं लाँघने पाती, चौखट; बरतन-भाँड़े छूना तो दूसरी बात है। मैं यह नहीं कहता कि मतई यह बहुत अच्छा काम कर रहा है, लेकिन जब एक बार एक बात हो गयी तो यह पाजी का काम है कि औरत को छोड़ दे। मैं तो खुल्मखुल्ला कहता हूँ, इसमें छिपाने की कोई बात नहीं। स्त्री-जाति पवित्र है।

दातादीन अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके थे; लेकिन अपने नेम-धर्म से कभी नहीं चूके। मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भाँति उन्हीं के पदचिह्नों पर चल

रहा था। धर्म का मूल तत्त्व है पूजा-पाठ, कथाव्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्त्व को पकड़े हुए हैं, तो किसकी मज़ाल है कि उन्हें पथ-भ्रष्ट कह सके ?

झिंगुरीसिंह ने कायल होकर कहा—मैंने तो भाई, जो सुना था, वह तुमसे कह दिया।

दातादीन ने महाभारत और पुराणों से ब्राह्मणों-द्वारा अन्य जातियों की कन्याओं के ग्रहण किये जाने कि एक लम्बी सूची पेश की और यह सिद्ध कर दिया कि उनसे जो सन्तान हुई, वह ब्राह्मण कहलायी और आजकल के जो ब्राह्मण है, वह उन्ही सतानों की सन्तान है। यह प्रथा आदिकाल से चली आयी है और इसमे कोई लज्जा की बात नही।

झिंगुरीसिह उनके पाडित्य पर मुग्ध होकर बोले—तब क्यों आजकल लोग वाजपेयी और सुकुल बने फिरते है ?

"समय-समय की परथा है और क्या! किसी में उतना तेज तो हो। बिस खाकर उसे पचाना तो चाहिए। वह सतजुग की बात थी, सतजुग के साथ गयी। अब तो अपना निबाह बिरादरी के साथ मिलकर रहने में है; मगर करूँ क्या, कोई लड़कीवाला आता ही नहीं। तुमसे भी कहा, औरो से भी कहा कोई नहीं सुनता तो मैं क्या लड़की बनाऊँ ?"

झिंगुरीसिह ने डॉटा—झूठ मत बोलो पण्डित, मैं दो आदमियों को फांस-फूँसकर लाया; मगर तुम मुँह फैलाने लगे, तो दोनों कान खड़े करके निकल भागे। आख़िर किस बिरते पर हज़ार-पाँच सौ माँगते हो तुम ? दस बीघे खेत और भीख के सिवा तुम्हारे पास और क्या है ?

दातादीन के अभिमान को चोट लगी। दाढ़ी पर हाथ फेरकर बोले—पास कुछ न सही, मैं भीख ही माँगता हूँ, लेकिन मैंने अपनी लड़कियों के ब्याह में पाँच-पाँच सौ दिये हैं; फिर लड़के के लिए पाँच सौ क्यों न माँगूँ ? किसी ने सेंत-मेंत में मेरी लड़की ब्याह ली होती, तो मैं भी सेंत में लड़का ब्याह लेता। रही हैसियत की बात। तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे ज़मींदारी समझता हूँ; बंकघर। जमीदारी मिट जाये, बंकघर टूट जाये, लेकिन जजमानी अन्त तक बनी रहेगी। जब तक हिन्दू-जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेंगे और जजमानी भी रहेगी। सहालग मे मज़े से घर बैठे-सौ-दो सौ फटकार लेते हैं। कभी भाग लड़ गया, तो चार-पाँच सौ मार लिया। कपड़े, बरतन, भोजन अलग। कहीं-न-कहीं नित ही कार-परोजन पड़ा ही रहता है। कुछ न मिले तब भी एक-दो थाल और दो-चार आने दक्षिणा मिल ही जाते हैं। ऐसा चैन न जमींदारी में है, न साहूकारी में। और फिर मेरा तो सिलिया से जितना उबार होता है, उतना ब्राह्मण की कन्या से क्या होगा ? वह तो बहुरिया बनी बैठी रहेगी। बहुत होगा रोटियाँ पका देगी। यहाँ सिलिया अकेली तीन आदमियों का काम करती है। और मैं उसे रोटी के सिवा और क्या देता हूँ ? बहुत हुआ,

तो साल में एक धोती दे दी।

दूसरे पेड़ के नीचे दातादीन का निजी पैरा था। चार बैलों से मँड़ाई हो रही थी। धन्ना चमार बैलों को हाँक रहा था, सिलिया पैर से अनाज निकाल-निकालकर ओसा रही थी और मातादीन दूसरी ओर बैठा अपनी लाठी में तेल मल रहा था।

सिलिया साँवली सलोनी, छरहरी बालिका थी, जो रूपवती न होकर भी आकर्षक थी। उसके हास में, चितवन में, अंगों के विलास में हर्ष का उन्माद था, जिससे उसकी बोटी-बोटी नाचती रहती थी। सिर से पाँव तक भूसे के अणुओं में सनी, पसीने से तर, सिर के बाल आधे खुले, वह दौड़-दौड़कर अनाज ओसा रही थी, मानो तन-मन से कोई खेल खेल रही हो।

मातादीन ने कहा—आज साँझ तक नाज बाकी न रहे सिलिया ! तू थक गयी हो तो मैं आऊँ ?

सिलिया प्रसन्न मुख बोली—तुम काहे आओगे पण्डित ! मैं संझा तक सब ओसा दूँगी।

"अच्छा, तो मैं अनाज ढो-ढोकर रख आऊँ। तू अकेली क्या-क्या कर लेगी ?"

"तुम घबड़ाते क्यों हो, मैं ओसा दूँगी, ढोकर रख भी आऊँगी। पहर रात तक यहाँ एक दाना भी न रहेगा।"

दुलारी सहुआइन आज अपना लेहना वसूल करती फिरती थी। सिलिया उसकी दुकान से होली के दिन दो पैसे का गुलाबी रंग लायी थी। अभी तक पैसे न दिये थे। सिलिया के पास आकर बोली—क्यों री सिलिया, महीना-भर रंग लाये हो गया, अभी तक पैसे नहीं दिये ? माँगती हूँ तो मटककर चली जाती है। आज मैं बिना पैसा लिये न जाऊँगी।

मातादीन चुपके-से सरक गया था। सिलिया का तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ न देना चाहता था। सिलिया अब उसकी निगाह में केवल काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं। उसकी ममता को वह बड़े कौशल से नचाता रहता था। सिलिया ने आँख उठाकर देखा तो मातादीन वहाँ न था। बोली—चिल्लाओ मत सहुआइन, यह ले लो, दो की जगह चार पैसे का अनाज। अब क्या जान लेगी ? मैं मरी थोड़ी ही जाती थी।

उसने अन्दाज़ से कोई सेर-भर अनाज ढेर में से निकालकर सहुआइन के फैले हुए अंचल में डाल दिया। उसी वक़्त मातादीन पेड़ की आड़ से झल्लाया हुआ निकला और सहुआइन का आँचल पकड़कर बोला—अनाज सीधे से रख दो सहुआइन, लूट नहीं है।

फिर उसने लाल-लाल आँखों से सिलिया को देखकर डाँटा—तूने अनाज क्यों दे दिया ? किससे पूछकर दिया ? तू कौन होती है अनाज देनेवाली ?

सहुआइन ने अनाज ढेर में डाल दिया और सिलिया हक्का-बक्का होकर

मातादीन का मुँह देखने लगी। ऐसा जान पड़ा, जिस डाल पर वह निश्चिन्त बैठी हुई थी, वह टूट गयी और अब वह निराधार नीचे गिरी जा रही है! खिसियाये हुए मुँह से, आँखों में आँसू भरकर सहुआइन से बोली–तुम्हारे पैसे मैं फिर दे दूँगी सहुआइन! आज मुझ पर दया करो।

सहुआइन ने उसे दयार्द्र नेत्रों से देखा और मातादीन को धिक्कार-भरी आँखों से देखती हुई चली गयी।

तब सिलिया ने अनाज ओसाते हुए आहत गर्व से पूछा–तुम्हारी चीज़ में मेरा कुछ अख्तियार नहीं है?

मातादीन आँखें निकालकर बोला–नहीं, तुझे कोई अख़्तियार नहीं है। काम करती है, खाती है। तो तू चाहे कि खा भी, लुटा भी, तो यह यहाँ न होगा। अगर तुझे यहाँ न परता पड़ता हो, कहीं और जाकर काम कर। मजूरों की कमी नहीं है। सेत में नहीं लेते, खाना-कपड़ा देते हैं।

सिलिया ने उस पक्षी की भाँति, जिसे मालिक ने पर काटकर पिंजरे से निकाल दिया हो, मातादीन की ओर देखा। उस चितवन में वेदना अधिक थी या भर्त्सना, यह कहना कठिन है। पर उसी पक्षी की भाँति उसका मन फड़फड़ा रहा था और ऊँची डाल पर उन्मुक्त वायु-मण्डल में उड़ने की शक्ति न पाकर उसी पिंजरे में जा बैठना चाहता था, चाहे उसे बेदाना, बेपानी, पिंजरे की तीलियों से सिर टकराकर मर ही क्यों न जाना पड़े। सिलिया सोच रही थी, अब उसके लिए दूसरा कौन-सा ठौर है! वह ब्याहता न होकर भी संस्कार में और व्यवहार में और मनोभावना में ब्याहता थी, और अब मातादीन चाहे उसे मारे या काटे, उसे दूसरा आश्रय नहीं है, दूसरा अवलम्ब नहीं है। उसे वह दिन याद आये–और अभी दो साल भी तो नहीं हुए–जब यही मातादीन उसके तलवे सहलाता था, जब उसने जनेऊ हाथ में लेकर कहा था–सिलिया, जब तक दम में दम है, तुझे ब्याहता की तरह रखूँगा: जब वह प्रेमातुर होकर हार में और बाग़ में और नदी के तट पर उसके पीछे-पीछे पागलों की भाँति फिरा करता था। और आज उसका यह निष्ठुर व्यवहार! मुट्ठी-भर अनाज के लिए उसका पानी उतार लिया।

उसने कोई जवाब न दिया। कंठ में नमक के एक डले का-सा अनुभव करती हुई आहत हृदय और शिथिल हाथों से काम करने लगी।

उसी वक़्त उसकी माँ, बाप, दोनों भाई और कई अन्य चमारों ने न जाने किधर से आकर मातादीन को घेर लिया। सिलिया की माँ ने आते ही उसके हाथ से अनाज की टोकरी छीनकर फेंक दी और गाली देकर बोली–राँड़, जब तुझे मजदूरी ही करनी थी, तो घर की मजूरी छोड़कर यहाँ क्या करने आयी! जब ब्राह्मण के साथ रहती है, तो ब्राह्मण की तरह रह। सारी बिरादरी की नाक कटवाकर भी चमारिन ही बनना था, तो यहाँ क्या घी का लोंदा लेने आयी थी! चुल्लू-भर पानी में डूब नहीं मरती!

झिंगुरीसिंह और दातादीन दोनों दौड़े और चमारो के बदले हुए तेवर देखक़र उन्हें शान्त करने की चेष्टा करने लगे। झिंगुरीसिंह ने सिलिया के बाप से पूछा—क्या बात है चौधरी, किस बात का झगड़ा है ?

सिलिया का बाप हरखू साठ साल का बूढ़ा था; काला, दुबला, सूखी मिर्च की तरह पिचका हुआ; पर उतना ही तीक्ष्ण। बोला—झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर, हम आज या तो मातादीन को चमार बनाके छोड़ेंगे, या उनका और अपना रकत एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी-न-किसी के घर जायेगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है; मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है। तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्ज़त लेते हो, तो अपना नाम हमें दो।

दातादीन ने लाठी फटकारकर कहा—मुँह सँभालकर बातें कर हरखुआ ! तेरी बिटिया वह खड़ी है, ले जा जहाँ चाहे। हमने उसे बाँध नहीं रक्खा। काम करती थी, मजूरी लेती थी। यहाँ मजूरों की कमी नहीं है।

सिलिया की माँ उँगली चमकाकर बोली—वाह-वाह पण्डित ! खूब नियाव करते हो। तुम्हारी लड़की किसी चमार के साथ निकल गयी होती और तुम इसी तरह की बातें करते, तो देखती। चमार हैं, इसलिए हमारी कोई इज्ज़त ही नहीं ! हम सिलिया को अकेले न ले जायेंगे, उसके साथ मातादीन को भी ले जायेंगे, जिसने उसकी इज्ज़त बिगाड़ी है। तुम बड़े नेमी-धरमी हो। उसके साथ सोओगे ; लेकिन उसके हाथ पानी न पियोगे ! यही चुड़ैल है कि यह सब सहती है। मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती।

हरखू ने अपने साथियों को ललकारा—सुन ली इन लोगों की बात कि नहीं ! अब क्या खड़े मुँह ताकते हो ?

इतना सुनना था कि दो चमारों ने लपककर मातादीन के हाथ पकड़ लिये, तीसरे ने झपटकर उसका जनेऊ तोड़ डाला और इसके पहले कि दातादीन और झिंगुरीसिंह अपनी-अपनी लाठी सँभाल सकें, दो चमारों ने मातादीन के मुँह में एक बड़ी-सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया। मातादीन ने दाँत जकड़ लिये, फिर भी वह घिनौनी वस्तु उनके ओठों में तो लग ही गयी। उन्हें मतली हुई और मुँह आप-से-आप खुल गया और हड्डी कंठ तक जा पहुँची। इतने में खलिहान के सारे आदमी जमा हो गये; पर आश्चर्य यह है कि कोई इन धर्म के लुटेरों से मुजाहिम न हुआ। मातादीन का व्यवहार सभी को नापसन्द था। वह गाँव की बहू-बेटियों को घूरा करता था, इसलिए मन में सभी उसकी दुर्गति से प्रसन्न थे। हाँ, ऊपरी मन से लोग चमारों पर रोब जमा रहे थे।

होरी ने कहा—अच्छा, अब बहुत हुआ हरखू ! भला चाहते हो, तो यहाँ से

चले जाओ।

हरखू ने निडरता से उत्तर दिया—तुम्हारे घर में भी लड़कियाँ हैं होरी महतो, इतना समझ लो। इसी तरह गाँव की मरजाद बिगड़ने लगी, तो किसी की आबरू न बचेगी।

एक क्षण में शत्रु पर पूरी विजय पाकर आक्रमणकारियों ने वहाँ से टल जाना ही उचित समझा। जनमत बदलते देर नहीं लगती। उससे बचे रहना ही अच्छा है।

मातादीन कै कर रहा था। दातादीन ने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा—एक-एक को पाँच-पाँच साल के लिए न भेजवाया, तो कहना। पाँच-पाँच साल तक चक्की पिसवाऊँगा।

हरखू ने हेकड़ी के साथ जवाब दिया—इसका यहाँ कोई ग़म नहीं। कौन तुम्हारी तरह बैठे मौज करते हैं ? जहाँ काम करेंगे, वहीं आधा पेट दाना मिल जायेगा।

मातादीन कै कर चुकने के बाद निर्जीव-सा ज़मीन पर लेट गया, मानो कमर टूट गयी हो, मानो डूब मरने के लिए चूल्लू-भर पानी खोज रहा हो। जिस मर्यादा के बल पर उसकी रसिकता और घमण्ड और पुरुषार्थ अकड़ता फिरता था, वह मिट चुकी थी। उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज उस धर्म की जड़ कट गयी। अब वह लाख प्रायश्चित्त करे, लाख गोबर खाये और गंगाजल पिये, लाख दान-पुण्य और तीर्थ-व्रत करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता। अगर अकेले की बात होती, तो छिपा ली जाती; यहाँ तो सबके सामने उसका धर्म लुटा। अब उसका सिर हमेशा के लिए नीचा हो गया। आज से वह अपने घर में अछूत समझा जायेगा। उसकी स्नेहमयी माता भी उससे घृणा करेगी। और संसार से धर्म का ऐसा लोप हो गया कि इतने आदमी केवल खड़े तमाशा देखते रहे। किसी ने चूँ तक न की। एक क्षण पहले जो लोग उसे देखते ही पालागन करते थे, अब उसे देखकर मुँह फेर लेंगे। वह किसी मन्दिर में भी न जा सकेगा, न किसी के बरतन-भाँडे छू सकेगा। और यह सब हुआ इस अभागिन सिलिया के कारण।

सिलिया जहाँ अनाज ओसा रही थी, वहीं सिर झुकाये खड़ी थी, मानो यह उसी की दुर्गति हो रही है। सहसा उसकी माँ ने आकर डाँटा—खड़ी ताकती क्या है ? चल सीधे घर, नहीं बोटी-बोटी काट डालूँगी। बाप-दादा का नाम तो खूब उजागर कर चुकी है, अब क्या करने पर लगी है ?

सिलिया मूर्तिवत् खड़ी रही। माता-पिता और भाइयों पर उसे क्रोध आ रहा था। यह लोग क्यों उसके बीच में बोलते हैं ? वह जैसे चाहती है, रहती है, दूसरों से क्या मतलब ? कहते हैं, यहाँ तेरा अपमान होता है, तब क्या कोई ब्राह्मण उसका पकाया खा लेगा ? उसके हाथ का पानी पी लेगा ? अभी ज़रा देर पहले उसका मन मातादीन के निठुर व्यवहार से खिन्न हो रहा था, पर अपने घरवालों और बिरादरी के इस अत्याचार ने उस विराग को प्रचण्ड अनुराग का रूप दे दिया।

विद्रोह-भरे मन से बोली—मैं कहीं न जाऊँगी। तू क्या यहाँ भी मुझे जीने न देगी ?

बुढ़िया कर्कश स्वर से बोली—तू न चलेगी ?

"नहीं।"

"चल सीधे से।"

"नहीं जाती।"

तुरंत दोनों भाइयों ने उसके हाथ पकड़ लिये और उसे घसीटते हुए ले चले। सिलिया जमीन पर बैठ गयी। भाइयों ने इस पर भी न छोड़ा, घसीटते ही रहे। उसकी साड़ी फट गयी, पीठ और कमर की खाल छिल गयी; पर वह जाने को राज़ी न हुई।

तब हरखू ने लड़कों से कहा—अच्छा, अब इसे छोड़ दो। समझ लेंगे मर गयी; मगर अब जो कभी मेरे द्वार पर आयी तो लहू पी जाऊँगा।

सिलिया जान पर खेलकर बोली—हाँ, जब तुम्हारे द्वार पर जाऊँ, तो पी लेनां

बुढ़िया ने क्रोध के उन्मादी में सिलिया को कई लातें जमायीं और हरखू ने उसे हटा न दिया होता, तो शायद प्राण ही लेकर छोड़ती।

बुढ़िया फिर झपटी, तो हरखू ने उसे धक्के देकर पीछे हटाते हुए कहा—तू हत्यारिन है कलिया ! क्या उसे मार ही डालेगी ?

सिलिया बाप के पैरों से लिपटकर बोली—मार डालो दादा, सब जने मिलकर मार डालो ! हाय अम्मा, तुम इतनी निर्दयी हो; इसीलिए दूध पिलाकर पाला था ? सोर में ही क्यो न गला घोंट दिया ? अब तो वह भी मुझे न पूछेगा। लेकिन पूछे न, रहूँगी तो उसी के साथ। वह मुझे चाहे भूखों रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोड़ूँगी। उनकी सांसत कराके छोड़ दूँ ? मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूँगी। एक बार जिसने बाँह पकड़ ली, उसी की रहूँगी।

कलिया ने ओठ चबाकर कहा—जाने दो राँड को। समझती है, वह इसका निबाह करेगा; मगर आज ही मारकर भगा न दे तो मुँह न दिखाऊँ

भाइयों को भी दया आ गयी। सिलिया को वहीं छोड़कर सब-के-सब चले गये। तब वह धीरे-से उठकर लँगड़ाती, कराहती, खलिहान में आकर बैठ गयी और अंचल में मुँह ढाँपकर रोने लगी।

दातादीन ने जुलाहे का गुस्सा डाढ़ी पर उतारा—उसके साथ चली क्यों नहीं गयी सिलिया ! अब क्या करवाने पर लगी हुई है ? मेरा सत्यानाश कराके भी पेट नहीं भरा ?

सिलिया ने आँसू-भरी आँखें ऊपर उठायीं उनमें तेज की झलक थी।

"उनके साथ क्यों जाऊँ ? जिसने बाँह पकड़ी है, उसके साथ रहूँगी।"

पण्डितजी ने धमकी दी—मेरे घर में पाँव रखा, तो लातों से बात करूँगा।

सिलिया ने भी उद्दण्डता से कहा—मुझे जहाँ वह रखेंगे वहाँ रहूँगी। पेड़ तले

रखे, चाहे महल मे रखे।

मातादीन संज्ञाहीन-सा बैठा था। दोपहर होने आ रही थी। धूप पत्तियो से छन-छनकर उसके चेहरे पर पड़ रही थी। माथे से पसीना टपक रहा था। वह मौन, निस्पन्द बैठा हुआ था।

सहसा जैसे उसने होश मे आकर कहा—मेरे लिए अब क्या कहते हो दादा ?

दातादीन ने उसके सिर पर हाथ रखकर ढाढस देते हुए कहा—तुम्हारे लिए अभी मैं क्या कहूँ बेटा ? चलकर नहाओ खाओ, फिर पण्डितो की जैसी व्यवस्था होगी, वैसा किया जाएगा। हाँ, एक बात है, सिलिया को त्यागना पडेगा।

मातादीन ने सिलिया की ओर रक्त-भरे नेत्रो से देखा—मैं अब उसका मुँह न देखूँगा; लेकिन परासचित हो जाने पर फिर तो कोई दोष न रहेगा ?

"परासचित हो जाने पर कोई दोष-पाप नही रहता।"

"तो आज ही पण्डितो के पास जाओ।"

"आज ही जाऊँगा बेटा !"

"लेकिन पण्डित लोग कहे कि इसका परासचित नही हो सकता, तब ?

"उनकी जैसी इच्छा।"

"तो तुम मुझे घर से निकाल दोगे ?"

दातादीन ने पुत्र-स्नेह से विह्वल होकर कहा—ऐसा कही हो सकता है, बेटा ! धन जाये, धरम जाये, लोक-मरजाद जाये, पर तुम्हे नही छोड सकता।

मातादीन ने लकडी उठायी और बाप के पीछे-पीछे घर चला। सिलिया भी उठी और लँगडाती हुई उसके पीछे हो ली।

मातादीन ने पीछे फिरकर निर्मम स्वर मे कहा—मेरे साथ मत आ। मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं। इतनी साँसत करवा के भी तेरा पेट नही भरता।

सिलिया ने धृष्टता के साथ उसका हाथ पकडकर कहा—वास्ता कैसे नही है ? इसी गॉव मे तुमसे धनी, तुमसे सुन्दर, तुमसे इज्जतदार लोग हैं। मैं उनका हाथ क्यो नही पकडती ? तुम्हारी यह दुर्दशा ही आज क्यो हुई ? जो रस्सी तुम्हारे गले में पड गयी है, उसे तुम लाख चाहो, नही छोड सकते। और न मैं तुम्हे छोडकर कही जाऊँगी। मजूरी करूँगी, भीख माँगूगी; लेकिन तुम्हे न छोड़ूँगी।

यह कहते हुए उसने मातादीन का हाथ छोड दिया और फिर खलिहान मे जाकर अनाज ओसाने लगी। होरी अभी तक वहाँ अनाज माँड रहा था। धनिया उसे भोजन करने के लिए बुलाने आयी थी। होरी ने बैलो को पैरा से बाहर निकालकर एक पेड़ से बाँध दिया और सिलिया से बोला—तू भी जा, खा-पी आ सिलिया ! धनिया यहाँ बैठी है तेरी पीठ पर की साडी तो लहू से रँग गयी है रे ! कहीं घाव पक न जाये। तेरे घरवाले बड़े निर्दयी हैं।

सिलिया ने उसकी ओर करुण नेत्रो से देखा—यहाँ निर्दयी कौन नही है,

दादा ! मैंने तो किसी को दयावान नहीं पाया।

"क्या कहा पण्डित ने ?"

"कहते हैं, मेरा तुमसे कोई वास्ता नहीं।"

"अच्छा ! ऐसा कहते हैं !"

"समझते होंगे, इस तरह अपने मुँह की लाली रख लेंगे, लेकिन जिस बात को दुनिया जानती है, उसे कैसे छिपा लेंगे ? मेरी रोटियाँ भारी हैं, न दें। मेरे लिए क्या ? मजूरी अब भी करती हूँ, तब भी करूँगी। सोने को हाथ-भर जगह तुम्हीं से माँगूँगी तो क्या तुम न दोगे ?"

धनिया दयार्द्र होकर बोली—जगह की कौन कमी है बेटी ! तू चल मेरे घर रह।

होरी ने कातर स्वर मे कहा—बुलाती तो है, लेकिन पण्डित को जानती नहीं ?

धनिया ने निर्भीक स्वर में कहा—बिगड़ेंगे तो एक रोटी बेसी खा लेंगे, और क्या करेगे ! कोई उनको दबैल हूँ ? उसकी इज़्जत ली, बिरादरी से निकलवाया, अब कहते हैं, मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं। आदमी है कि कसाई ! यह उसी नीयत का आज फल मिला है। पहले नही सोच लिया था। तब तो बिहार करते रहे। अब कहते हैं, मुझसे कौन वास्ता !

होरी के विचार में धनिया गलत कर रही थी। सिलिया के घरवालों ने मतई को कितना बेधरम कर दिया, यह कोई अच्छा काम नहीं किया। सिलिया को चाहे मारकर ले जाते, चाहे दुलारकर ले जाते। वह उनकी लड़की है। मतई को क्यों बेधरम किया ?

धनिया ने फटकार बताई—अच्छा रहने दो, बड़े न्यायी बने हो। मरद-मरद सब एक होते हैं। इसको मतई ने बेधरम किया, तब तो किसी को बुरा न लगा। अब जो मतई बेधरम हो गये, तो क्यों बुरा लगता है ? क्या सिलिया का धरम, धरम ही नहीं ? रखी तो चमारिन, उस पर नेमी-धर्मी बनते हैं। बड़ा अच्छा किया हरखू चौधरी ने। ऐसे गुण्डों की यही सज़ा है। तू चल सिलिया मेरे घर। न-जाने कैसे बेदरद माँ-बाप हैं कि बेचारी की सारी पीठ लहूलुहान कर दी। तुम जाके सोना को भेज दो। मैं इसे लेकर आती हूँ। होरी घर चला गया और सिलिया धनिया के पैरों पर गिरकर रोने लगी।

चौबीस

सोना सत्रहवें साल में थी और इस साल उसका विवाह करना आवश्यक था। होरी तो दो साल से इसी फ़िक्र में था, पर हाथ ख़ाली होने से कोई काबू न चलता था। मगर इस साल जैसे भी हो, उसका विवाह कर देना ही चाहिए, चाहे कर्ज लेना पड़े, चाहे खेत गिरों रखने पड़ें। और अकेले होरी की बात चलती, तो दो साल पहले

ही विवाह हो गया होता। वह किफ़ायत से काम करना चाहता था। पर धनिया कहती थी, कितना ही हाथ बाँधकर खर्च करो, दो-ढाई सौ लग ही जायेंगे। झुनिया के आ जाने से बिरादरी में इन लोगों का स्थान कुछ हेठा हो गया था और बिना सौ-दो सौ दिये कोई कुलीन वर न मिल सकता था। पिछले साल चैती में कुछ न मिला। था तो पण्डित दातादीन का आधा साझा; मगर पण्डितजी ने बीज और मजूरी का कुछ ऐसा ब्योरा बताया कि होरी के हाथ एक-चौथाई से ज्यादा अनाज न लगा। और लगान देना पड़ गया पूरा। ऊख और सन की फसल नष्ट हो गयी; सन तो वर्षा अधिक होने और ऊख दीमक लग जाने के कारण। हाँ, इस साल की चैती अच्छी थी और ऊख भी खूब लगी हुई थी। विवाह के लिए गल्ला तो मौजूद था; दो सौ रुपये भी हाथ आ जायें, तो कन्या-ऋण से उसका उद्धार हो जाये। अगर गोबर सौ रुपये की मदद कर दे, तो बाकी सौ रुपये होरी को आसानी से मिल जायेंगे। झिंगुरीसिंह और मँगरू साह दोनों ही अब कुछ नर्म पड़ गये थे। जब गोबर परदेश में कमा रहा है, तो उनके रुपये मारे न पड़ सकते थे।

एक दिन होरी ने गोबर के पास दो-तीन दिन के लिए जाने का प्रस्ताव किया।

मगर धनिया अभी तक गोबर के वह कठोर शब्द न भूली थी। वह गोबर से एक पैसा भी न लेना चाहती थी, किसी तरह नहीं !

होरी ने झुँझलाकर कहा—लेकिन काम कैसे चलेगा, यह बता ?

धनिया सिर हिलाकर बोली—मान लो, गोबर परदेश न गया होता, तब तुम क्या कहते ? वही अब करो।

होरी की जबान बन्द हो गयी। एक क्षण बाद बोला—मैं तो तुझसे पूछता हूँ।

धनिया ने जान बचायी—यह सोचना मरदों का काम है।

होरी के पास जवाब तैयार था—मान ले, मैं न होता, तू अकेली रहती, तब तू क्या करती ? वह कर।

धनिया ने तिरस्कार-भरी आँखों से देखा—तब मैं कुश-कन्या भी दे देती तो कोई हँसनेवाला न था।

कुश-कन्या होरी भी दे सकता था ! इसी में उसका मंगल था; लेकिन कुल-मर्यादा कैसे छोड़ दे ? उसकी बहनों के विवाह में तीन-तीन सौ बराती द्वार पर आये थे। दहेज भी अच्छा ही दिया गया था। नाच-तमाशा, बाजा-गाजा, हाथी-घोड़े, सभी आये थे। आज भी बिरादरी में उसका नाम है। दस गाँव के आदमियों से उसका हेल-मेल है। कुश-कन्या देकर वह किसे मुँह दिखायेगा ? इससे तो मर जाना अच्छा है और वह क्यों कुश-कन्या दे ? पेड़-पालो हैं, ज़मीन है और थोड़ी-सी साख भी है; अगर वह एक बीघा भी बेच दे, तो सौ मिल जायें; लेकिन किसान के लिए ज़मीन जान से भी प्यारी है, कुल-मर्यादा से भी प्यारी है। और कुल तीन ही बीघे तो उसके पास है; अगर एक बीघा बेच दे, तो फिर खेती कैसे करेगा ?

कई दिन इसी हैस-बैस में गुजरे। होरी कुछ फैसला न कर सका।

दशहरे की छुट्टियों के दिन थे। झिंगुरी, पटेश्वरी, और नोखेराम तीनों ही सज्जनों के लड़के छुट्टियों में आये थे। तीनों अंग्रेज़ी पढ़ते थे और यद्यपि तीनों बीस-बीस साल के हो गये थे, पर अभी तक यूनिवर्सिटी में जाने का नाम न लेते थे। एक-एक क्लास में दो-दो, तीन-तीन साल पड़े रहते। तीनों की शादियाँ हो चुकी थीं। पटेश्वरी के सपूत बिन्देसरी तो एक पुत्र के पिता भी हो चुके थे। तीनों दिन-भर ताश खेलते, भंग पीते और छैला बने घूमते। वे दिन में कई-कई बार होरी के द्वार की ओर ताकते हुए निकलते और कुछ ऐसा संयोग था कि जिस वक्त वे निकलते उसी वक्त सोना भी किसी-न-किसी काम से द्वार पर आ खड़ी होती। इन दिनों वह वही साड़ी पहनती थी, जो गोबर उसके लिए लाया था। यह सब तमाशा देख-देखकर होरी का खून सूखता जाता था, मानो उसकी खेती चौपट करने के लिए आकाश में ओलेवाले पीले बादल उठे चले आते हों !

एक दिन तीनों उसी कुएँ पर नहाने जा पहुँचे, जहाँ होरी ऊख सींचने के लिए पुर चला रहा था। सोना मोट ले रही थी। होरी का खून आज खौल उठा।

उसी साँझ को वह दुलारी सहुआइन के पास गया। सोचा, औरतों में दया होती है, शायद इसका दिल पसीज जाये और कम सूद पर रुपये दे दे। मगर दुलारी अपना ही रोना ले बैठी। गाँव में ऐसा कोई घर न था, जिस पर उसके कुछ रुपये न आते हों, यहाँ तक कि झिंगुरीसिंह पर भी उसके बीस रुपये आते थे; लेकिन कोई देने का नाम न लेता था। बेचारी कहाँ से रुपये लाये ?

होरी ने गिड़गिड़ाकर कहा—भाभी, बड़ा पुन्न होगा। तुम रुपये न दोगी, मेरे गले की फाँसी खोल दोगी। झिंगुरी और पटेसरी मेरे खेतों पर दाँत लगाये हुए हैं। मैं सोचता हूँ, बाप-दादा की यही तो निसानी है, यह निकल गयी, तो जाऊँगा कहाँ ? एक सपूत वह होता है कि घर की सम्पत बढ़ाता है, मैं ऐसा कपूत हो जाऊँ कि बाप-दादा की कमाई पर झाड़ू फेर दूँ ?

दुलारी ने क़सम खायी—होरी, मैं ठाकुरजी के चरन छूकर कहती हूँ कि इस समय मेरे पास कुछ नहीं है। जिसने लिया, वह देता नहीं, तो मैं क्या करूँ ? तुम कोई गैर तो नहीं हो। सोना भी मेरी लड़की है; लेकिन तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ? तुम्हारा ही भाई हीरा है। बैल के लिए पचास रुपये लिये। उसका तो कहीं पता-ठिकाना नहीं, उसकी घरवाली से माँगो तो लड़ने को तैयार ! शोभा भी देखने में बड़ा सीधा-सादा है; लेकिन पैसा देना नहीं जानता। और असल बात तो यह है कि किसी के पास है ही नहीं, दें कहाँ से ! सबकी दशा देखती हूँ, इसी मारे सबर कर जाती हूँ। लोग किसी तरह पेट पाल रहे हैं, और क्या ! खेती-बारी बेचने की मैं सलाह न दूँगी। कुछ नहीं है, मरजाद तो है।

फिर कनफुसकियों में बोली—पटेसरी लाला का लौंडा तुम्हारे घर की ओर बहुत चक्कर लगाया करता है। तीनों का वही हाल है। इनसे चौकस रहना। यह सहरी हो गये, गाँव का भाई-चारा क्या समझें ? लड़के गाँव में भी हैं; मगर उनमें कुछ

लिहाज है, कुछ अदब है; कुछ डर है। ये सब तो छूटे साँड़ हैं। मेरी कौसल्या ससुराल से आयी थी, मैंने सबों के ढंग देखकर उसके ससुर को बुलाकर विदा कर दिया। कोई कहाँ तक पहरा दे।

होरी को मुस्कराते देखकर उसने सरस ताड़ना के भाव से कहा—हँसोगे होरी तो मैं भी कुछ कह दूँगी। तुम क्या किसी से कम नटखट थे ? दिन में पचीसों बार किसी-न-किसी बहाने मेरी दुकान पर आया करते थे; मगर मैंने कभी ताका तक नहीं।

होरी ने मीठे प्रतिवाद के साथ कहा—यह तो तुम झूठ बोलती हो भाभी ! बिना कुछ रस पाये थोड़े ही आता था। चिड़िया एक बार परच जाती है, तभी दूसरी बार आँगन में आती है।

"चल झूठे।"

"आँखों से न ताकती रही हो ; लेकिन तुम्हारा मन तो ताकता ही था ; बल्कि बुलाता था।"

"अच्छा रहने दो, बड़े अन्तरजामी बनके। तुम्हें बार-बार मँडराते देखके मुझे दया आ जाती थी, नहीं तुम कोई ऐसे बाँके जवान न थे।"

हुसेनी एक पैसे का नमक लेने आ गया और यह परिहास बन्द हो गया। हुसेनी नमक लेकर चला गया, तो दुलारी ने फिर कहा—गोबर के पास क्यों नहीं चले जाते ? देखते भी आओगे और साइत कुछ मिल भी जाय।

होरी निराश मन से बोला—वह कुछ न देगा। लड़के चार पैसे कमाने लगते हैं, तो उनकी आँखें फिर जाती हैं। मैं तो बेहयायी करने को तैयार था; लेकिन धनिया नहीं मानतीं उसकी मरजी बिना चला जाऊँ, तो घर में रहना अपाढ़ कर दे। उसका सुभाव तो जानती हो।

दुलारी ने कटाक्ष करके कहा—तुम तो मेहरिया के जैसे गुलाम हो गये।

"तुमने पूछा ही नहीं तो क्या करता ?"

"मेरी गुलामी करने को कहते तो मैंने लिखा लिया होता, सच !"

"तो अब से क्या बिगड़ा है, लिखा लो न। दो सौ में लिखता हूँ, इन दामों महँगा नहीं हूँ।"

"तब धनिया से तो न बोलोगे ?"

"नहीं, कहो कसम खाऊँ।"

"और जो बोले ?"

"तो मेरी जीभ काट लेना।"

"अच्छा तो जाओ, घर ठीक-ठाक करो, मैं रुपये दे दूँगी !"

होरी ने सजल नेत्रों से दुलारी के पाँव पकड़ लिये। भावावेश से मुँह बन्द हो गया।

सहुआइन ने पाँव खींचकर कहा—अब यही सरारत मुझे अच्छी नहीं लगती।

मैं साल-भर के भीतर अपने रुपये सूद-समेत कान पकड़कर लूँगी। तुम तो व्यवहार के ऐसे सच्चे नहीं हो; लेकिन धनिया पर मुझे विश्वास है। सुना, पण्डित तुमसे बहुत बिगड़े हुए हैं। कहते हैं, इसे गाँव से निकालकर नहीं छोड़ा तो ब्राह्मन नहीं। तुम सिलिया को निकाल बाहर क्यों नहीं करते ? बैठे-बैठाये झगड़ा मोल ले लिया।

"धनिया उसे रखे हुए है, मैं क्या करूँ ?"

"सुना है, पण्डित कासी गये थे। वहाँ एक बड़ा नामी पण्डित है। वह पाँच सौ माँगता है। तब परासचित करायेगा। भला पूछो, ऐसा अन्धेर कहीं हुआ है। जब धरम नष्ट हो गया तो एक नहीं, हजार परासचित करो, इससे क्या होता है ! तुम्हारे हाथ का छुआ पानी कोई न पियेगा, चाहे जितना परासचित करो।"

होरी यहाँ से घर चला, तो उसका दिल उछल रहा था। जीवन में ऐसा सुखद अनुभव उसे न हुआ था। रास्ते में शोभा के घर गया और सगाई लेकर चलने के लिए नेवता दे आया। फिर दोनों दातादीन के पास सगाई की सायत पूछने गये। वहाँ से आकर द्वार पर सगाई की तैयारियों की सलाह करने लगे।

धनिया ने बाहर निकलकर कहा—पहर रात गयी, अभी रोटी खाने की बेला नहीं आयी ? खाकर बैठो। गपड़चौथ करने को तो सारी रात पड़ी है।

होरी ने उसे भी परामर्श में शरीक होने का अनुरोध करते हुए कहा—इसी सहालग में लगन ठीक हुआ है। बता, क्या-क्या सामान लाना चाहिए ? मुझे तो कुछ मालूम नहीं।

"जब कुछ मालूम ही नहीं, तो सलाह करने क्या बैठे हो ? रुपये-पैसे का डौल भी हुआ कि मन की मिठाई खा रहे हो ?"

होरी ने गर्व से कहा—तुझे इससे क्या मतलब ? तू इतना बता दे, क्या-क्या सामान लाना होगा ?

"तो मैं ऐसी मन की मिठाई नहीं खाती।"

"तू इतना बता दे कि हमारी बहनों के ब्याह में क्या-क्या सामान आया था ?"

"पहले यह बता दो, रुपये मिल गये ?"

"हाँ, मिल गये, और नहीं क्या भंग खायी है !"

"तो पहले चलकर खा लो। फिर सलाह करेंगे।"

मगर जब उसने सुना कि दुलारी से बातचीत हुयी है, तो नाक सिकोड़कर बोली—उससे रुपये लेकर आज तक कोई उरिन हुआ है ? चुड़ैल, कितना कसकर सूद लेती है !

"लेकिन करता क्या ? दूसरा देता कौन है ?"

"यह क्यों नहीं कहते कि इस बहाने दो गाल हँसने-बोलने गया था। बूढ़े हो गये, पर यह बान न गयी।"

"तू धनिया, कभी-कभी बच्चों की-सी बातें करने लगती है। मेरे-जैसे फटेहालों

से वह हँसे-बोलेगी ? सीधे मुँह बात तो करती नहीं।"

"तुम-जैसों को छोड़कर उसके पास और जायेगा ही कौन ?"

"उसके द्वार पर अच्छे-अच्छे नाक रगड़ते हैं, धनिया, तू क्या जाने ! उसके पास लच्छमी है।"

"उसने ज़रा-सी हामी भर दी, तुम चारों ओर खुशख़बरी लेकर दौड़े।"

"हामी नहीं भर दी, पक्का वादा किया है।"

होरी रोटी खाने गया और शोभा अपने घर चला गया तो सोना सिलिया के साथ बाहर निकली। वह द्वार पर खड़ी सारी बातें सुन रही थी। उसकी सगाई के लिए दो सौ रुपये दुलारी से उधार लिये जा रहे हैं, यह बात उसके पेट में इस तरह खलबली मचा रही थी, जैसे ताज़ा चूना पानी में पड़ गया हो। द्वार पर एक कुप्पी जल रही थी, जिससे ताक के ऊपर की दीवार काली हो गई थी। दोनों बैल नाँद में सानी खा रहे थे और कुत्ता ज़मीन पर टुकड़े के इन्तज़ार में बैठा हुआ था। दोनों युवतियाँ बैलों की चरनी के पास आकर खड़ी हो गयीं।

सोना बोली—तूने कुछ सुना ? दादा सहुआइन से मेरी सगाई के लिए दो सौ रुपये उधार ले रहे हैं।

सिलिया घर का रत्ती-रत्ती हाल जानती थी। बोली—घर में पैसा नहीं है, तो क्या करें ?

सोना ने सामने के काले वृक्षों की ओर ताकते हुए कहा—मैं ऐसा नहीं करना चाहती, जिसमें माँ-बाप को कर्ज़ा लेना पड़े। कहाँ से देंगे बेचारे, बता ! पहले ही कर्ज़ के बोझ से दबे हुए हैं। दो सौ और ले लेंगे, तो बोझा और भारी होगा कि नहीं ?

"बिना दान-दहेज के बड़े आदमियों का कहीं ब्याह होता है पगली ? बिना दहेज के तो कोई बूढ़ा-ठेला ही मिलेगा। जाएगी बूढ़े के साथ ?"

"बूढ़े के साथ क्या जाऊँ ? भैया बूढ़े थे, जो झुनिया को ले आये ? उन्हें किसने कै पैसे दहेज में दिये थे ?"

"उसमें बाप-दादा का नाम डूबता है।"

"मैं तो सोनारीवालों से कह दूँगी, अगर तुमने एक पैसा भी दहेज लिया, तो मैं तुमसे ब्याह न करूँगी।"

सोना का विवाह सोनारी के एक धनी किसान के लड़के से ठीक हुआ था।

"और जो वह कह दें, कि मैं क्या करूँ, तुम्हारे बाप देते हैं, मेरे बाप लेते हैं, इसमें मेरा क्या अख़्तियार है ?"

सोना ने जिस अस्त्र को रामबाण समझा था, अब मालूम हुआ कि वह बाँस की कैन है। हताश होकर बोली—मैं एक बार उससे कह के देख लेना चाहती हूँ; अगर उसने कह दिया, मेरा कोई अख़्तियार नहीं है, तो क्या गोमती यहाँ से बहुत दूर है ? डूब मरूँगी। माँ-बाप ने मर-मरके पाला-पोसा। उसका बदला क्या यही

है कि उनके घर से जाने लगूँ, तो उन्हें कर्ज़े से और लादती जाऊँ ? माँ-बाप को भगवान ने दिया हो, तो ख़ुशी से जितना चाहें लड़की को दें, मैं मना नहीं करती; लेकिन जब वह पैसे-पैसे को तंग हो रहे हैं, आज महाजन नालिश करके निल्लाम करा ले, तो कल मजूरी करनी पड़ेगी, तो कन्या का धरम यही है कि डूब मरे। घर की ज़मीन-जैजात तो बच जायेगी, रोटी का सहारा तो रह जायेगा। माँ-बाप चार दिन मेरे नाम को रोकर संतोष कर लेंगे। यह तो न होगा कि मेरा ब्याह करके उन्हें जन्म-भर रोना पड़े। तीन-चार साल में दो सौ के दूने हो जायेंगे, दादा कहाँ से लाकर देंगे ?

सिलिया को जान पड़ा, जैसे उसकी आँख में नई ज्योति आ गयी। आवेश में सोना को छाती से लगाकर बोली—तूने इतनी अक्कल कहाँ से सीख ली सोना ? देखने में तो तू बड़ी भोली-भाली है।

"इसमें अक्कल की कौन बात है चुड़ैल ! क्या मेरे आँखें नहीं हैं, कि मैं पागल हूँ ? दो सौ मेरे ब्याह में लें। तीन-चार साल में वह दूना हो जाये। तब रुपिया के ब्याह में दो सौ और लें। जो कुछ खेती-बारी है, सब लिलाम-तिलाम हो जाये, और द्वार-द्वार भीख माँगते फिरें। यही न ? इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं अपनी जान दे दूँ। मुँह अँधेरे सोनारी चली जाना और उसे बुला लाना; मगर नहीं, बुलाने का काम नहीं। मुझे उससे बोलते लाज आयेगी ! तू ही मेरा यह संदेश कह देना, देख क्या जवाब देते हैं। कौन दूर है ? नदी के उस पार ही तो है। कभी-कभी ढोर लेकर इधर आ जाता है। एक बार उसकी भैंस मेरे खेत में पड़ गयी थी, तो मैंने उसे बहुत गालियाँ दी थीं। हाथ जोड़ने लगा। हाँ, यह तो बता, इधर मतई से तेरी भेंट नहीं हुई ? सुना, ब्राह्मन लोग उन्हें बिरादरी में नहीं ले रहे हैं।"

सिलिया ने हिकारत के साथ कहा—बिरादरी में क्यों न लेंगे; हाँ, बूढ़ा रुपये नहीं खरच करना चाहता। इसको पैसा मिल जाये, तो झूठी गंगा उठा ले। लड़का आजकल बाहर ओसारे में टिक्कड़ लगाता है।

"तू इसे छोड़ क्यों नहीं देती ? अपनी बिरादरी में किसी के साथ बैठ जा और आराम से रह। वह तेरा अपमान तो न करेगा।"

"हाँ रे, क्यों नहीं, मेरे पीछे उस बेचारे की इतनी दुरदशा हुई, अब मैं उसे छोड़ दूँ ? अब वह चाहे पण्डित बन जाये, चाहे देवता बन जाये, मेरे लिये तो वही मतई है, जो मेरे पैरों पर सिर रगड़ा करता था; और ब्राह्मण भी हो जाये और ब्राह्मणी से ब्याह भी कर ले, फिर भी जितनी उसकी सेवा मैंने की है, वह कोई ब्राह्मणी क्या करेगी ! अभी मान-मरजाद के मोह में वह चाहे मुझे छोड़ दे; लेकिन देख लेना, फिर दौड़ा आयेगा।"

"आ चुका अब। तुझे पा जाये तो कच्चा ही खा जाय।"

"तो उसे बुलाने ही कौन जाता है ? अपना-अपना धरम अपने-अपने साथ है। वह अपना धरम तोड़ रहा है, तो मैं अपना धरम क्यों तोड़ूँ ?"

प्रातःकाल सिलिया सोनारी की ओर चली; लेकिन होरी ने रोक लिया। धनिया के सिर में दर्द था। उसकी जगह क्यारियों को बराना था। सिलिया इन्कार न कर सकी। यहाँ से जब दोपहर को छुट्टी मिली तो वह सोनारी चली।

इधर तीसरे पहर होरी फिर कुएँ पर चला तो सिलिया का पता न था। बिगड़कर बोला—सिलिया कहाँ उड़ गई ? रहती है, रहती है, न जाने किधर चल देती है, जैसे किसी काम में जी ही नहीं लगता। तू जानती है सोना, कहाँ गयी है ?

सोना ने बहाना किया—मुझे तो कुछ मालूम नहीं। कहती थी धोबिन के घर कपड़े लेने जाना है, वहीं चली गयी होगी।

धनिया ने खाट से उठकर कहा—चलो, मैं क्यारी बराये देती हूँ। कौन उसे मजूरी देते हो जो बिगड़ रह हो ?

"हमारे घर में रहती नहीं है ? उसके पीछे सारे गाँव में बदनाम नहीं हो रहे हैं ?"

"अच्छा, रहने दो, एक कोने में पड़ी हुई है, तो उससे किराया लोगो ?"

"एक कोने में नहीं पड़ी हुई है, एक पूरी कोठरी लिये हुए है।"

"तो उस कोठरी का किराया होगा कोई पचास रुपये महीना।"

"उसका किराया एक पैसा सही। हमारे घर में रहती है, जहाँ जाय, पूछकर जाय। आज आती है तो खबर लेता हूँ।"

पुर चलने लगा। धनिया को होरी ने न आने दिया। रूपा क्यारी बराती थी और सोना मोट ले रही थी। रूपा गीली मिट्टी के चूल्हे और बरतन बना रही थी, और सोना सशंक आँखों से सोनारी की ओर ताक रही थी। शंका भी थी, आशा भी थी, शंका अधिक थी, आशा कम। सोचती थी, उन लोगों को रुपये मिल रहे हैं, तो क्यों छोड़ने लगे ? जिनके पास पैसे हैं, वे तो पैसे पर और भी जान देते हैं। और गौरी महतो तो एक ही लालची हैं। मथुरा में दया है, धरम है ; लेकिन बाप की इच्छा जो होगी, वही उसे माननी पड़ेगी ; मगर सोना भी बच्चा को ऐसा फटकारेगी कि याद करेंगे। वह साफ कहेगी, जाकर किसी धनी की लड़की से ब्याह कर, तुझ-जैसे पुरुष के साथ मेरा निबाह न होगा। कहीं गौरी महतो मान गये, तो वह उनके चरन धो-धोकर पियेगी। उनकी ऐसी सेवा करेगी कि अपने बाप की भी न की होगी। और सिलिया को भर-पेट मिठाई खिलायेगी। गोबर ने उसे जो रुपया दिया था, उसे वह अभी तक संचे हुए थी। इस मृदु कल्पना से उसकी आँखें चमक उठीं, कपोलों पर हल्की-सी लाली दौड़ गई।

मगर सिलिया अभी तक आयी क्यों नहीं ? कौन बड़ी दूर है। न आने दिया होगा उन लोगों ने । अहा ! वह आ रही है; लेकिन बहुत धीरे-धीरे आती है। सोना का दिल बैठ गया। अभागे नहीं माने साइत, नहीं सिलिया दौड़ती आती। तो सोना से हो चुका ब्याह। मुँह धो रखो।

सिलिया आयी जरूर, पर कुएँ पर न आकर खेत में क्यारी बराने लगी। डर

रही थी, होरी पूछेंगे, कहाँ थी अब तक, तो क्या जवाब देगी ! सोना ने यह दो घण्टे का समय बड़ी मुश्किल से काटा। पुर छुटते ही वह भागी हुई सिलिया के पास पहुँची।

"वहाँ जाकर तू मर गई थी क्या ! ताकते-ताकते आँखें फूट गयीं !"

सिलिया को बुरा लगा—तो क्या मैं वहाँ सोती थी ? इस तरह की बातचीत राह चलते थोड़े ही हो जाती। अवसर देखना पड़ता है। मथुरा नदी की ओर ढोर चराने गये थे। खोजती-खोजती उसके पास गयी और तेरा सन्देश कहा। ऐसा परसन हुआ कि तुझसे क्या कहूँ। मेरे पाँव पर गिर पड़ा और बोला—सिल्लो, मैंने तो जब से सुना है कि सोना मेरे घर मे आ रही है, तब से आँखों की नींद हर गयी है। उसकी वह गालियाँ मुझे फल गईं ; लेकिन काका को क्या करूँ ? वह किसी की नहीं सुनते।

सोना ने टोका—तो न सुने। सोना भी जिद्दिन है। जो कहा है, वह कर दिखायेगी। फिर हाथ मलते रह जायेगे।

"बस, उसी छन ढोरों को वहीं छोड़, मुझे लिये हुए गौरी महतो के पास गया। महतो के चार पुर चलते हैं, कुआँ भी उन्हीं का है। दस बीघे का ऊख है। महतो को देख के मुझे हँसी आ गयी, जैसे कोई घसियारा हो। हाँ, भाग का बली है। बाप-बेटे में खूब कहा-सुनी हुई। गौरी महतो कहते थे, तुझसे क्या मतलब, मैं चाहे कुछ लूँ या न लूँ ; तू कौन होता है बोलनेवाला ? मथुरा कहता था—तुमको लेना-देना है, तो मेरा ब्याह मत करो, मैं अपना ब्याह जैसा चाहूँगा, कर लूँगा। बात बढ़ गयी और गौरी महतो ने पनहियाँ उतारकर मथुरा को खूब पीटा। कोई दूसरा लड़का इतनी मार खाकर बिगड़ खड़ा होता। मथुरा एक घूँसा भी जमा देता, तो महतो फिर न उठते; मगर बेचारा पचासों जूते खाकर भी कुछ न बोला। आँखों में आँसू भरे, मेरी ओर गरीबों की तरह ताकता हुआ चला गया। तब महतो मुझ पर बिगड़ने लगे। सैकड़ों गालियाँ दीं ; मगर मैं क्यों सुनने लगी थी ? मुझे उनका क्या डर था ? मैंने सफा कह दिया—महतो, दो-तीन सौ कोई भारी रक़म नहीं है, और होरी मह्तो इतने में बिक न जायेंगे, न तुम्हीं धनवान हो जाओगे, वह सब धन नाच-तमासे में ही उड़ जायेगा। हाँ, ऐसी बहू न पाओगे।

सोना ने सजल नेत्रों से पूछा—महतो इतनी ही बात पर उन्हें मारने लगे ?

सिलिया ने यह बात छिपा रक्खी थी। ऐसी अपमान की बात सोना के कानों में न डालना चाहती थी; पर यह प्रश्न सुनकर संयम न रख सकी। बोली—वही गोबर भैया वाली बात थी। महतो ने कहा—आदमी जूठा तभी खाता है, जब मीठा हो। कलंक चाँदी से ही धुलता है। इस पर मथुरा बोला—काका, कौन घर कलंक से बचा हुआ है ? हाँ, किसी का खुल गया, किसी का छिपा हुआ है। गौरी महतो भी पहले एक चमारिन से फँसे थे। उससे दो लड़के भी हैं। मथुरा के मुँह से इतना निकलना था कि डोकरे पर जैसे भूत सवार हो गया। जितना लालची है, उतना ही क्रोधी भी है। बिना लिये न मानेगा।

दोनों घर चलीं। सोना के सिर पर चरसा, रस्सा और जुए का भारी बोझ था; पर इस समय वह उसे फूल से भी हल्का लग रहा था। उसके अन्तस्तल में जैसे आनन्द और स्फूर्ति का सोता खुल गया हो। मथुरा की वह वीर मूर्ति सामने खड़ी थी, और वह जैसे उसे अपने हृदय में बैठाकर उसके चरण आँसुओं से पखार रही थी। जैसे आकाश की देवियाँ उसे गोद में उठाये, आकाश में छाई हुयी लालिमा में लिये चली जा रही हों।

उसी रात को, सोना को बड़े जोर का ज्वर चढ़ आया।

तीसरे दिन, गौरी महतो ने नाई के हाथ यह पत्र भेजा–

"स्वस्ती श्री सर्वोपमा जोग श्री होरी महतो को गौरीराम का राम-राम बाँचना। आगे जो हम लोगों में दहेज की बातचीत हुई थी, उस पर हमने सान्त मन से विचार किया, समझ में आया कि लेन-देन से वर और कन्या दोनों ही के घर वाले जेरबार होते हैं। जब हमारा-तुम्हारा सम्बंध हो गया, तो हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि किसी को न अखरे। तुम दान-दहेज की कोई फिकर मत करना, हम तुमको सौगन्ध देते हैं। जो कुछ मोट-महीन जुरे, बरातियों को खिला देना। हम वह भी न माँगेंगे। रसद का इन्तज़ाम हमने कर लिया है। हाँ, तुम खुशी-खुर्रमी से हमारी जो खातिर करोगे, वह सिर झुकाकर स्वीकार करेंगे।"

होरी ने पत्र पढ़ा और दौड़े हुए भीतर जाकर धनिया को सुनाया। हर्ष के मारे उछला पड़ता था, मगर धनिया किसी विचार में डूबी बैठी रही। एक क्षण के बाद बोली–यह गौरी महतो की भलमनसी है; लेकिन हमें भी तो अपने मरजाद का निबाह करना है। संसार क्या कहेगा! रुपया हाथ का मैल है। उसके लिए कुल-गरजाद नहीं छोड़ा जाता। जो कुछ हमसे हो सकेगा, देंगे और गौरी महतो को लेना पड़ेगा। तुम यही जवाब लिख दो। माँ-बाप की कमाई में क्या लड़की का कोई हक नहीं है? नहीं लिखना क्या है, चलो, मैं नाई से संदेश कहलाये देती हूँ।

होरी हतबुद्धि-सा आँगन में खड़ा था और धनिया उस उदारता की प्रतिक्रिया में, जो गौरी महतो की सज्जनता ने जगा दी थी, सन्देशा कह रही थी। फिर उसने नाई को रस पिलाया और विदाई देकर विदा किया।

वह चला गया तो होरी ने कहा–यह तूने क्या कर डाला धनिया? तेरा मिजाज आज तक मेरी समझ में न आया। तू आगे भी चलती है, पीछे भी चलती है। पहले तो इस बात पर लड़ रही थी कि किसी से एक पैसा करज मत लो, कुछ देने-दिलाने का काम नहीं है और आज भगवान ने गौरी के भीतर बैठकर यह पत्र लिखवाया, तो तूने कुल-मरजाद का राग छेड़ दिया। तेरा मरम भगवान ही जाने।

धनिया बोली–मुँह देखकर बीड़ा दिया जाता है, जानते हो कि नहीं? तब गौरी अपनी सान दिखाते थे, अब वह भलमनसी दिखा रहे हैं। ईंट का जवाब चाहे पत्थर हो; लेकिन सलाम का जवाब तो गाली नहीं है।

होरी ने नाक सिकोड़कर कहा–"तो दिखा अपनी भलमनसी। देखें, कहाँ से

[illegible] लाता है।"

धनिया आँखें चमकाकर बोली—"रुपये लाना मेरा काम नहीं है, तुम्हारा काम है।"

"मैं तो दुलारी से ही लूँगा।"

"ले लो उसी से। सूद तो सभी लेंगे। जब डूबना ही है, तो क्या तालाब और क्या गंगा ?"

होरी बाहर आकर चिलम पीने लगा। कितने मज़े से गला छूटा जाता था; लेकिन धनिया जब जान छोड़े तब तो। जब देखो, उल्टी ही चलती है। इसे जैसे कोई भूत सवार हो जाता है। घर की दशा देखकर भी इसकी आँखें नहीं खुलतीं।

पच्चीस

भोला इधर दूसरी सगाई लाये थे। औरत के बग़ैर उनका जीवन नीरस था। जब तक झुनिया थी, उन्हें हुक्का-पानी दे देती थी। समय से खाने को बुला ले जाती थी। अब बेचारे, अनाथ-से हो गये थे। बहुओं को घर के काम-धाम से छुट्टी न मिलती थी। उनकी क्या सेवा-सत्कार करतीं; इसलिए अब सगाई परमावश्यक हो गयी थी। संयोग से एक जवान विधवा मिल गयी, जिसके पति का देहान्त हुए केवल तीन महीने हुए थे। एक लड़का भी था। भोला की लार टपक पड़ी। झटपट शिकार मार लाये। जब तक सगाई न हुई, उसका घर खोद डाला।

अभी तक उसके घर में जो कुछ था, बहुओं का था। जो चाहती थीं, करतीं थीं, जैसे चाहती थीं, रहती थीं। जंगी जब से अपनी स्त्री को लेकर लखनऊ चला गया था, कामता की बहू ही घर की स्वामिनी थी। पाँच-छः महीनों में ही उसने तीस-चालीस रुपये अपने हाथ में कर लिये थे। सेर-आध सेर दूध-दही चोरी से बेच लेती थी। अब स्वामिनी हुई, उसकी सौतेली सास। उसका नियंत्रण बहू को बुरा लगता था और आये दिन दोनों में तकरार होती रहती थी। यहाँ तक कि औरतों के पीछे भोला और कामता में भी कहा-सुनी हो गयी। झगड़ा इतना बढ़ा कि अलग्योझे की नौबत आ गयी और यही रीति सनातन से चली आती है कि अलग्योझे के समय मार-पीट अवश्य हो। यहाँ भी उस नीति का पालन किया गया।

कामता जवान आदमी था। भोला का उस पर जो दबाव था, वह पिता के नाते था; मगर नई स्त्री लाकर बेटे से आदर पाने का अब उसे कोई हक न रहा था। कम-से-कम कामता इसे स्वीकार न करता था। उसने भोला को पटककर कई लातें जमायीं और घर ने निकाल दिया। घर की चीजें न छूने दीं, गाँववालों में भी किसी ने भोला का पक्ष न लिया। नई सगाई ने उन्हें नक्कू बना दिया था। रात तो उन्होंने किसी तरह एक पेड़ के नीचे काटी, सुबह होते ही नोखेराम के पास जा पहुँचे और अपनी फरियाद सुनायी। भोला का गाँव भी उन्हीं के इलाके में था और इलाके-भर के मालिक-मुख्यिा जो कुछ थे, वही थे। नोखेराम को भोला पर तो क्या

दया आती; पर उनके साथ एक चटपटी, रँगीली स्त्री देखी तो चटपट आश्रय देने को राजी हो गये। जहाँ उनकी गायें बँधती थीं, वहीं एक कोठरी रहने को दे दी। अपने जानवरों की देखभाल, सानी-भूसे के लिए उन्हें एकाएक एक जानकार आदमी की ज़रूरत मालूम होने लगी। भोला को तीन रुपये महीना और सेर-भर रोजाना पर नौकर रख लिया।

नोखेराम नाटे, मोटे, खल्वाट, लम्बी नाक और छोटी-छोटी आँखोंवाले साँवले आदमी थे। बड़ा-सा पग्गड़ बाँधते, नीचा कुरता पहनते और जाड़ों में लिहाफ ओढ़कर बाहर आते-जाते थे। उन्हें तेल की मालिश कराने में बड़ा आनन्द आता था, इसलिए उनके कपड़े हमेशा मैले, चीकट रहते थे। उनका परिवार बहुत बड़ा था। सात भाई और उनके बाल-बच्चे सभी उन्हीं पर आश्रित थे। उस पर स्वयं उनका लड़का नवें दरजे में अंग्रेज़ी पढ़ता था और उसका बबुआई ठाठ निभाना कोई आसान काम न था। रायसाहब से उन्हें केवल बारह रुपये वेतन मिल रहा था; मगर खर्च सौ रुपये से कौड़ी कम न था। इसलिए असामी किसी तरह उनके चंगुल में फँस जाये, तो बिना उसे अच्छी तरह चूसे न छोड़ते थे। पहले छः रुपये वेतन मिलता था, तब असामियों से इतनी नोच-खसोट न करते थे ; जब से बारह रुपये हो गये थे, तब से उनकी तृष्णा और बढ़ गयी थी, इसलिए रायसाहब उनकी तरक्की न करते थे।

गाँव में और तो सभी, किसी-न-किसी रूप में उनका दबाव मानते थे; यहाँ तक कि दातादीन और झिंगुरीसिंह भी उनकी खुशामद करते थे, केवल पटेश्वरी उनसे ताल ठोकने को हमेशा तैयार रहते थे। नोखेराम को अगर यह जोग था कि हम ब्राह्मण हैं और कायस्थों को उँगली पर नचाते हैं, तो पटेश्वरी को भी घमण्ड था कि हम कायस्थ हैं, क़लम के बादशाह, इस मैदान में कोई हमसे क्या बाजी ले जायेगा ? फिर वह जमींदार के नौकर नहीं, सरकार के नौकर हैं, जिसके राज में सूरज कभी नहीं डूबता। नोखेराम अगर एकादशी का व्रत रखते हैं और पाँच ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं, तो पटेश्वरी हर पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा सुनेंगे और दस ब्राह्मणों को भोजन करायेंगे। जब से उनका जेठा लड़का सजावल हो गया था, नोखेराम इस ताक में रहते थे कि उनका लड़का किसी तरह दसवाँ कर ले, तो उसे भी कहीं नकलनवीसी दिला दें। इसलिए हुक्काम के पास फसली सौगातें लेकर बराबर सलामी करते रहते थे। एक और बात में पटेश्वरी उनसे बढ़े हुए थे। लोगों का ख़याल था कि वह अपनी विधवा कहारिन को रखे हुए हैं। अब नोखेराम को भी अपनी शान में यह क़सर पूरी करने का अवसर मिलता हुआ जान पड़ा।

भोला को ढाढ़स देते हुए बोले—तुम यहाँ आराम से रहो भोला, किसी बात का खटका नहीं। जिस चीज़ की जरूरत हो, हमसे आकर कहो। तुम्हारी घरवाली है, उसके लिये भी कोई न कोई काम निकल आयेगा। बखारों में अनाज रखना, निकालना, पछोरना, फटकना—क्या थोड़ा काम है ?

भोला ने अरज की—सरकार, एक बार कामता को बुलाकर पूछ लो, क्या बाप

के साथ बेटे का यही सलूक होना चाहिए ? घर हमने बनवाया, गायें-भैसें हमने लीं। अब उसने सब कुछ हथिया लिया और हमें निकाल बाहर किया। यह अन्याय नहीं तो क्या है ? हमारे मालिक तो तुम्हीं हो। तुम्हारे दरबार से इसका फैसला होना चाहिए।

नोखेराम ने समझाया—भोला, तुम उससे लड़कर पेश न पाओगे, उसने जैसा किया है, उसकी सजा उसे भगवान देंगे। बेईमानी करके कोई आज तक फलीभूत हुआ है ? संसार में अन्याय न होता, तो इसे नरक क्यों कहा जाता ? यहाँ न्याय और धर्म को कौन पूछता है ? भगवान सब देखते हैं। संसार का रत्ती-रत्ती हाल जानते हैं। तुम्हारे मन में इस समय क्या बात है, यह उनसे क्या छिपा है ? इसी से तो अन्तरजामी कहलाते हैं। उनसे बचकर कोई कहाँ जायेगा ? तुम चुप होके बैठो। भगवान की इच्छा हुई तो यहाँ तुम उससे बुरे न रहोगे।

यहाँ से उठकर भोला ने होरी के पास जाकर अपना दुखड़ा रोया। होरी ने अपनी बीती बतायी—लड़कों की आजकल कुछ न पूछो भोला भाई ! मर-मरकर पालो, जवान हों, तो दुश्मन हो जायें। मेरे ही गोबर को देखो। माँ से लड़कर गया, और सालों हो गये, न चिट्ठी, न पत्तर। उसके लेखे तो माँ-बाप मर गये। बिटिया का ब्याह सिर पर है; लेकिन उससे कोई मतलब नहीं। खेत रेहन रखकर दो सौ रुपये लिये हैं। इज्जत-आबरू का निबाह तो करना ही होगा।

कामता ने बाप को निकाल बाहर तो किया; लेकिन अब उसे मालूम होने लगा कि बुड्ढा कितना कामकाजी आदमी था। सबेरे उठकर सानी-पानी करना, दूध दुहना, फिर दूध लेकर बाज़ार जाना, वहाँ से आकर फिर सानी-पानी करना, फिर दूध दुहना; एक पखवारे में उसका हुलिया बिगड़ गया। स्त्री-पुरुष में लड़ाई हुई। स्त्री ने कहा—मैं जान देने के लिये तुम्हारे घर नहीं आयी हूँ। मेरी रोटी तुम्हें भारी हो, तो मैं अपने घर चली जाऊँ। कामता डरा, यह कहीं चली जाये, तो रोटी का ठिकाना भी न रहे, अपने हाथ से ठोकना पड़े। आखिर एक नौकर रखा; लेकिन उससे काम न चला। नौकर खली-भूसा चुरा-चुराकर बेचने लगा। उसे अलग किया। फिर स्त्री-पुरुष में लड़ाई हुई स्त्री रूठकर मैके चली गयी। कामता के हाथ-पाँव फूल गये। हारकर भोला के पास आया और चिरौरी करने लगा—दादा, मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई हो, क्षमा करो। अब चलकर घर सँभालो, जैसे तुम रखोगे, वैसे ही रहूँगा।

भोला को यहाँ मजूरों की तरह रहना अखर रहा था। पहले, महीने-दो-महीने उसकी जो ख़ातिर हुई, वह अब न थी। नोखेराम कभी-कभी उससे चिलम भरने या चारपाई बिछाने को कहते थे। तब बेचारा भोला ज़हर का घूँट पीकर रह जाता था। अपने घर में लड़ाई-दंगा भी हो, तो किसी की टहल तो न करनी पड़ेगी।

उसकी स्त्री नोहरी ने यह प्रस्ताव सुना तो ऐंठकर बोली—जहाँ से लात खाये, वहाँ फिर जाओगे ? तुम्हें लाज भी नहीं आती !

भोला ने कहा—तो यहीं कौन सिंहासन पर बैठा हुआ हूँ ?

नोहरी ने मटककर कहा—तुम्हें जाना हो तो जाओ, मैं नहीं जाती।

भोला जानता था, नोहरी विरोध करेगी। इसका कारण भी वह कुछ-कुछ समझता था, कुछ देखता भी था, उसके यहाँ से भागने का एक कारण यह भी था। यहाँ उसकी तो कोई बात न पूछता था; पर नोहरी की बड़ी खातिर होती थी। प्यादे और शहने तक उसका दबाव मानते थे। उसका जवाब सुनकर भोला को क्रोध आता; लेकिन करता क्या ? नोहरी को छोड़कर चले जाने का साहस उसमें होता, तो नोहरी भी झख मारकर उसके पीछे-पीछे चली जाती। अकेले उसे यहाँ अपने आश्रय में रखने की हिम्मत नोखेराम में न थी। वह टट्टी की आड़ से शिकार खेलनेवाले जीव थे, मगर नोहरी भोला के स्वभाव से परिचित हो चुकी थी।

भोला मिन्नत करके बोला—देख नोहरी, दिक मत कर। अब तो यहाँ बहुयें भी नहीं हैं। तेरे ही हाथ में सब कुछ रहेगा। यहाँ मजूरी करने से बिरादरी में कितनी बदनामी हो रही है, यह सोच !

नोहरी ने ठेंगा दिखाकर कहा—तुम्हें जाना है, जाओ, मैं तुम्हें रोक तो नहीं रही हूँ। तुम्हें बेटे की लात प्यारी लगती होगी, मुझे नहीं लगती। मैं अपनी मज़दूरी में मगन हूँ।

भोला को रहना पड़ा और कामता अपनी स्त्री की खुशामद करके उसे मना लाया। इधर नोहरी के विषय में कनबतियाँ होती रहीं—नोहरी ने आज गुलाबी साड़ी पहनी है। अब क्या पूछना है, चाहे रोज़ एक साड़ी पहने। सैयाँ भये कोतवाल, अब डर काहे का ! भोला की आँखें फूट गई हैं क्या ?

शोभा बड़ा हँसोड़ था। सारे गाँव का विदूषक, बल्कि नारद। हर एक बात की टोह लगाता रहता था। एक दिन नोहरी उसे घर में मिल गई। कुछ हँसी कर बैठा। नोहरी ने नोखेराम से जड़ दिया। शोभा की चौपाल में तलबी हुई और ऐसी डाँट पड़ी कि उम्र-भर न भूलेगा।

एक दिन लाला पटेश्वरी प्रसाद की शामत आ गयी। गर्मियों के दिन थे। लाला बगीचे में आम तुड़वा रहे थे। नोहरी बनी-ठनी उधर से निकली। लाला ने पुकारा—नोहरी रानी, इधर आओ, थोड़े से आम लेती जाओ, बड़े मीठे हैं।

नोहरी को भ्रम हुआ, लाला मेरा उपहास कर रहे हैं। उसे अब घमण्ड होने लगा था। वह चाहती थी, लोग उसे जमींदारिन समझें और उसका सम्मान करें। घमण्डी आदमी प्रायः शक्की हुआ करता है, और जब मन में चोर हो, तो शक्कीपन और भी बढ़ जाता है। वह मेरी ओर देखकर क्यों हँसा ? सब लोग मुझे देखकर जलते क्यों हैं ? मैं किसी से कुछ माँगने नहीं जाती। कौन बड़ी सतवन्ती है ! जरा मेरे सामने आये, तो देखूँ। इतने दिनों में नोहरी गाँव के गुप्त रहस्यों से परिचित हो चुकी थी। यही लाला कहारिन को रखे हुए हैं और मुझे हँसते हैं। इन्हें कोई कुछ नहीं कहता। बड़े आदमी हैं न ! नोहरी गरीब है, जात की हेठी है, इसलिए सभी उसका उपहास करते हैं। और जैसा बाप है, वैसा ही बेटा। इन्हीं का रमेसरी

तो सिलिया के पीछे पागल बना फिरता है। चमारियों पर तो गिद्ध की तरह टूटते हैं, उस पर दावा है कि हम ऊँचे हैं।

उसने वहीं खड़े होकर कहा–तुम दानी कब से हो गये लाला ! पाओ तो दूसरों की थाली की रोटी उड़ा जाओ। आज बड़े आमवाले हुए हैं। मुझसे छेड़ की तो अच्छा न होगा, कहे देती हूँ।

ओ हो ! इस अहीरिन का इतना मिज़ाज ! नोखेराम को क्या फाँस लिया, समझती है, सारी दुनिया पर उसका राज है। बोले–तू तो ऐसी तिनक रही है नोहरी, जैसे अब किसी को गाँव में रहने न देगी। ज़रा जबान सँभालकर बातें किया कर, इतनी जल्दी अपने को न भूल जा।

"तो क्या तुम्हारे द्वार कभी भीख माँगने आयी थी ?"

"नोखेराम ने छाँह न दी होती, तो भीख भी माँगती।"

नोहरी को लाल मिर्च-सा लगा। जो कुछ मुँह में आया, बका–दाढ़ीजार, लम्पट, मुँह-झौंसा और जाने क्या-क्या कहा और उसी क्रोध में भरी हुयी कोठरी में गयी और अपने बरतन-भाँड़े निकाल-निकालकर बाहर रखने लगी।

नोखेराम ने सुना तो घबराये हुए आये और पूछा–यह क्या कर रही है नोहरी, कपड़े-लत्ते क्यों निकाल रही है ? किसी ने कुछ कहा है ?

नोहरी मर्दों को नचाने की कला जानती थी। अपने जीवन में उसने यही विद्या सीखी थी। नोखेराम पढ़े-लिखे आदमी थे। कानून भी जानते थे। धर्म की पुस्तकें भी बहुत पढ़ीं थीं। बड़े-बड़े वकीलों, बैरिस्टरों की जूतियाँ सीधी की थीं; पर इस मूर्ख नोहरी के हाथ का खिलौना बने हुए थे। भौंहे सिकोड़कर बोली–समय का फेर है, यहाँ आ गयी; लेकिन अपनी आबरू न गवाऊँगी।

ब्राह्मण सतेज हो उठा। मूँछें खड़ी करके बोला–तेरी ओर जो ताके, उसकी आँखें निकाल लूँ।

नोहरी ने लोहे को लाल करके घन जमाया–लाला पटेसरी जब देखो, मुझसे बेबात की बात किया करते हैं। मैं हरजाई थोड़े ही हूँ कि कोई मुझे पैसे दिखाये। गाँव-भर में सभी औरतें तो हैं, कोई उनसे नहीं बोलता। जिसे देखो, मुझी को छेड़ता है।

नोखेराम के सिर पर भूत सवार हो गया। अपना मोटा डंडा उठाया और आँधी की तरह हरहराते हुए बाग़ में पहुँचकर लगे ललकारने–आ जा, बड़ा मर्द है तो। मूँछें उखाड़ लूँगा, खोदकर गाड़ दूँगा ! निकल आ सामने। अगर फिर कभी नोहरी को छेड़ा तो खून पी जाऊँगा। सारी पटवारगिरी निकाल दूँगा। जैसा खुद है, वैसा ही दूसरों को समझता है ! तू है किस घमण्ड में ?

लाला पटेश्वरी सिर झुकाये, दम साधे जड़वत् खड़े थे। ज़रा भी ज़बान खोली और शामत आयी। उनका अपमान जीवन में कभी न हुआ था। एक बार लोगों ने उन्हें ताल के किनारे रात को घेरकर खूब पीटा था; लेकिन गाँव में उसकी किसी

को ख़बर न हुई थी। किसी के पास कोई प्रमाण न था; लेकिन आज तो सारे गाँव के सामने उनकी इज़्ज़त उतर गयी। कल जो औरतें गाँव में आश्रय माँगती आयी थीं, आज सारे गाँव पर उसका आतंक था। अब किसकी हिम्मत है; जो उसे छेड़ सके ? जब पटेश्वरी कुछ नहीं कर सके, तो दूसरों की बिसात ही क्या !

अब नोहरी गाँव की रानी थी। उसे आते देखकर किसान लोग उसके रास्ते से हट जाते थे। यह खुला हुआ रहस्य था कि उसकी थोड़ी-सी पूजा करके नोखेराम से बहुत काम निकल सकता है। किसी को बंटवारा कराना हो, लगान के लिए मुहलता माँगनी हो, मकान बनाने के लिए ज़मीन की ज़रूरत हो, नोहरी की पूजा किये बगैर उसका काम सिद्ध नहीं हो सकता। कभी-कभी यह अच्छे-अच्छे असामियों को डाँट देती थी। असामी ही नहीं अब कारकुन साहब पर भी रोब जमाने लगी थी।

भोला उसके आश्रित बनकर न रहना चाहते थे। औरत की कमाई खाने से ज़्यादा अधम उनकी दृष्टि में दूसरा काम न था। उन्हें कुल तीन रुपये माहवार मिलते थे, यह भी उनके हाथ न लगते। नोहरी ऊपर ही ऊपर उड़ा लेती। उन्हें तमाखू पीने को धेला मयस्सर नहीं, और नोहरी दो आने रोज़ के पान खा जाती थी। जिसे देखो, वही उन पर रोब जमाता था। प्यादे उससे चिलम भरवाते, लकड़ी कटवाते; बेचारा दिन-भर का हारा-थका आता और द्वार पर पेड़ के नीचे झिंलगे खाट पर पड़ा रहता। कोई एक लुटिया पानी देनेवाला भी नहीं। दोपहर की बासी रोटियाँ रात को खानी पड़तीं और वह भी नमक या पानी के साथ।

आख़िर हारकर उसने घर जाकर कामता के साथ रहने का निश्चय किया। कुछ न होगा, एक टुकड़ा रोटी तो मिल ही जायेगी, अपना घर तो है।

नोहरी बोली—मैं वहाँ किसी की गुलामी करने न जाऊँगी।

भोला ने जी कड़ा करके कहा—तुम्हें जाने को तो मैं नहीं कहता। मैं तो अपने को कहता हूँ।

"तुम मुझे छोड़कर चले जाओगे ? कहते लाज नहीं आती ?"

"लाज तो घोलकर पी गया।"

"लेकिन मैंने तो अपनी लाज नहीं पी। तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते।"

"तू अपने मन की है, तो मैं तेरी गुलामी क्यों करूँ ?"

"पंचायत करके मुँह में कालिख लगा दूँगी, इतना समझ लेना।"

"क्या अभी कुछ कम कालिख लगी है ? क्या अब भी मुझे धोखे में रखना चाहती है ?"

"तुम तो ऐसा ताव दिखा रहे हो, जैसे मुझे रोज़ गहने ही तो गढ़वाते हो। तो यहाँ नोहरी किसी का ताव सहनेवाली नहीं है।"

भोला झल्लाकर उठे और सिरहाने से लकड़ी उठाकर चले कि नोहरी ने लपककर उनका पहुँचा पकड़ लिया। उसके बलिष्ठ पंजों से निकलना भोला के लिये मुश्किल था। चुपके से कैदी की तरह बैठ गये। एक ज़माना था, जब वह औरतों

को अँगुलियों पर नचाया करते थे, आज वह एक औरत के करपाश में बँधे हुए हैं और किसी तरह निकल नहीं सकते। हाथ छुड़ाने की कोशिश करके वह परदा नहीं खोलना चाहते। अपनी सीमा का अनुमान उन्हें हो गया है। मगर वह क्यों उससे निडर होकर नहीं कह देते कि तू मेरे काम की नहीं है, मैं तुझे त्यागता हूँ। पंचायत की धमकी देती है, पंचायत क्या हौवा है; अगर तुझे पंचायत का डर नहीं है, तो मैं क्यों पंचायत से डरूँ ?

लेकिन यह भाव शब्दों में आने का साहस न कर सकता था। नोहरी ने जैसे उन पर कोई वशीकरण डाल दिया हो।

छब्बीस

लाला पटेश्वरी, पटवारी-समुदाय के सद्‌गुणों के साक्षात् अवतार थे। वह यह न देख सकते थे कि कोई असामी अपने दूसरे भाई की इंच भर भी ज़मीन दबा ले। न वह यही देख सकते थे कि असामी किसी महाजन के रुपये दबा ले। गाँव के समस्त प्राणियों के हितों की रक्षा करना, उनका परम धर्म था। समझौते या मेल-जोल में उनका विश्वास न था, यह तो निर्जीविता के लक्षण हैं ! वह तो संघर्ष के पुजारी थे, जो सजीवता का लक्षण है। आये दिन इस जीवन को उत्तेजना देने का प्रयास करते रहते थे। एक-न-एक फुलझड़ी छोड़ते रहते थे। मँगरू साह पर इन दिनों उनकी विशेष कृपा-दृष्टि थी। मँगरू साह गाँव का सबसे धनी आदमी था; पर स्थानीय राजनीति में बिलकुल भाग न लेता था। रोब या अधिकार की लालसा उसे न थी। मकान भी उसका गाँव के बाहर था, जहाँ उसने एक बाग़, एक कुआँ और एक छोटा-सा शिव-मन्दिर बनवा लिया था। बाल-बच्चा कोई न था, इसलिए लेन-देन भी कम कर दिया था और अधिकतर पूजा-पाठ में ही लगा रहता था। कितने ही असामियों ने उसके रुपये हज़म कर लिये थे; पर उसने किसी पर नालिश-फरियाद न की। होरी पर भी उसके सूद-ब्याज मिलाकर कोई डेढ़ सौ हो गये थे; मगर न होरी को ऋण चुकाने की कोई चिन्ता थी और न उसे वसूल करने की। दो-चार बार उसने तकाज़ा किया, घुड़का-डाँटा भी; मगर होरी की दशा देखकर चुप हो बैठा। अबकी संयोग से होरी की ऊँख गाँव भर के ऊपर थी। कुछ नहीं तो उसके दो-ढाई सौ सीधे हो जायेंगे, ऐसा लोगों का अनुमान था। पटेश्वरीप्रसाद ने मँगरू को सुझाया कि अगर इस वक्त होरी पर दावा कर दिया जाये, तो सब रुपये वसूल हो जाये। मँगरू इतना दयालु नहीं, जितना आलसी था। झंझट में पड़ना न चाहता था; मगर जब पटेश्वरी ने जिम्मा लिया कि उसे एक दिन भी कचहरी न जाना पड़ेगा, न कोई दूसरा कष्ट होगा, बैठे-बिठाये उसकी डिग्री हो जायेगी, तो उसने नालिश करने की अनुमति दे दी, और अदालत-खर्च के लिए रुपये भी दे दिये।

होरी को खबर भी न थी कि क्या खिचड़ी पक रही है। कब दावा दायर हुआ, कब डिग्री हुई, उसे बिलकुल पता न चला। कुर्कअमीन उसकी ऊख नीलाम करने

आया, तब उसे मालूम हुआ। सारा गाँव खेत के किनारे जमा हो गया। होरी मँगरू साह के पास दौड़ा और धनिया पटेश्वरी को गालियाँ देने लगी। उसकी सहज बुद्धि ने बता दिया कि पटेश्वरी ही की कारस्तानी है, मगर मँगरू साह पूजा पर थे, मिल न सके और धनिया गालियों की वर्षा करके भी पटेश्वरी का कुछ बिगाड़ न सकी। उधर ऊख डेढ़ सौ रुपये में नीलाम हो गई और बोली भी हो गई, मँगरू साह ही के नाम। कोई दूसरा आदमी न बोल सका। दातादीन में भी धनिया की गालियाँ सुनने का साहस न था।

धनिया ने होरी को उत्तेजित करके कहा–बैठे क्यों को, जाकर पटवारी से पूछते क्यों नहीं, यही धरम है तुम्हारा, गाँव-घर के आदमियों के साथ ?

होरी ने दीनता से कहा–पूछने के लिए तूने मुँह भी रखा हों। तेरी गालियाँ क्या उन्होंने न सुनी होंगी ?

"जो गाली खाने का काम करेगा, उसे गालियाँ मिलेंगी ही।"

"तू गालियाँ भी देगी और भाई-चारा भी निभायेगी !"

"देखूँगी, मेरे खेत के नगीच कौन जाता है ?"

"मिलवाले आकर काट ले जायेंगे, तू क्या करेगी, और मैं क्या करूँगा। ? गालियाँ देकर अपनी जीभ की खुजली चाहे मिटा ले।"

"मेरे जीते-जी, कोई मेरा खेत काट ले जायेगा ?"

"हाँ-हाँ, तेरे और मेरे जीते-जी सारा गाँव मिलकर भी उसे नही रोक सकता। अब वह चीज़ मेरी नहीं, मँगरू साह की है।"

"मँगरू साह ने मर-मरकर जेठ की दुपहरी में सिंचाई और गोड़ाई की थी ?"

"वह सब तूने किया; मगर, अब वह चीज़ मँगरू साह की है। हम उनके करजदार नहीं हैं ?"

ऊख तो गई; लेकिन उसके साथ ही एक नई समस्या आ पड़ी। दुलारी इसी ऊख पर रुपये देने पर तैयार हुई थी। अब वह किस जमानत पर रुपये दे ? अभी उसके पहले ही के दो सौ पड़े हुए थे। सोचा था ऊख के पुराने रुपये मिल जायेंगे, तो नया हिसाब चलने लगेगा। उसकी नजर में होरी की साख दो सौ तक थी। इससे ज़्यादा देना ज़ोखिम था। सहालग सिर पर था। तिथि निश्चित हो चुकी थी। गौरी महतो ने सारी तैयारियाँ कर ली होंगी। अब विवाह का टलना असम्भव था। होरी को ऐसा क्रोध आता था कि जाकर दुलारी का गला दबा दे। जितनी चिरौरी-बिनती हो सकती थी, वह कर चुका; मगर वह पत्थर की देवी ज़रा भी न पसीजी। उसने चलते-चलते हाथ बाँधकर कहा–दुलारी, मैं तुम्हारे रुपये लेकर भाग न जाऊँगा न इतनी जल्द मरा ही जाता हूँ। खेत हैं, पेड़-पालो हैं, घर है, जवान बेटा है। तुम्हारे रुपये मारे न जायेंगे, मेरी इज़्ज़त जा रही है, इसे सँभालो। मगर दुलारी ने दया को व्यापार में मिलाना स्वीकार न किया। अगर व्यापार को दया का रूप दे सकती, तो उसे कोई आपत्ति न होती। पर दया को व्यापार का रूप देना उसने न सीखा

था।

होरी ने घर आकर धनिया से कहा–अब ?

धनिया ने उसी पर दिल का गुबार निकाला–यही तो तुम चाहते थे।

होरी ने जख्मी आँखों से देखा–मेरा ही दोष है ?

"किसी का दोष हो, हुई तुम्हारे मन की।"

"तेरी इच्छा है कि जमीन रेहन रख दूँ ?"

"ज़मीन रेहन रख दोगे, तो करोगे क्या ?"

"मजूरी।"

मगर ज़मीन दोनों को एक-सी प्यारी थी। उसी पर तो उनकी इज़्ज़त और आबरू अवलम्बित थी। जिसके पास ज़मीन नहीं, वह गृहस्थ नहीं, मजूर है।

होरी ने कुछ कुछ जवाब न पाकर पूछा–तो क्या कहती है ?

धनिया ने आहत कण्ठ से कहा–कहना क्या है ! गौरी बरात लेकर आयेंगे। एक जून खिला देना। सबेरे बेटी विदा कर देना। दुनिया हँसेगी, हँस ले। भगवान की यही इच्छा है, कि हमारी नाक कटे, मुँह में कालिख लगे तो हम क्या करेंगे !

सहसा नोहरी चुदँरी पहने सामने से जाती हुई दिखायी दी। होरी को देखते ही उसने ज़रा-सा घूँघट निकाल लिया। उससे समधी का नाता मानती थी।

धनिया से उसका परिचय हो चुका था। उसने पुकारा–आज किधर चलीं समधिन ? आओ, बैठो।

नोहरी ने दिग्विजय कर लिया था और अब जनमत को अपने पक्ष में बटोर लेने का प्रयास कर रही थी। आकर खड़ी हो गयी।

धनिया ने उसे सिर से पाँव तक आलोचना की आँखों से देखकर कहा–आज इधर कैसे भूल पड़ीं ?

नोहरी ने कातर स्वर में कहा–ऐसे ही, तुम लोगों से मिलने चली आयी। बिटिया का ब्याह कब तक है ?

धनिया सन्दिग्ध भाव से बोली–भगवान के अधीन है, जब हो जाये।

"मैंने तो सुना है, इसी सहालग में होगा। तिथि ठीक हो गई है ?"

"हाँ, तिथि तो ठीक हो गई है।"

"मुझे भी नेवता देना।"

"तुम्हारी तो लड़की है, नेवता कैसा ?"

"दहेज का सामान तो मँगवा लिया होगा ? ज़रा मैं भी देखूँ।"

धनिया असमंजस में पड़ गयी, क्या कहे। होरी ने उसे सँभाला–अभी तो कोई सामान नहीं मँगवाया है, और सामान क्या करना है, कुस-कन्या तो देना है।

नोहरी ने अविश्वास-भरी आँखों से देखा–कुस-कन्या क्यों दोगे महतो, पहली बेटी है, दिल खोलकर करो।

होरी हँसा; मानो कह रहा हो, तुम्हें चारों ओर हरा दिखाई देता होगा; यहाँ

तो सूखा ही पड़ा हुआ है।

"रुपये-पैसे की तंगी है, क्या खोलकर कहूँ। तुमसे कौन परदा है ?"

"बेटा कमाता है, तुम कमाते हो; फिर भी रुपये-पैसे की तंगी ? किसे विश्वास आयेगा ?"

"बेटा ही लायक होता, तो फिर काहे को रोना था। चिट्ठी-पत्तर तक भेजता नहीं, रुपये क्या भेजेगा ? यह दूसरा साल है, एक चिट्ठी नहीं।"

"इतने में सोना बैलों के चारे के लिये हरियाली का एक गट्ठा सिर पर लिये, यौवन को अपने अंचल में चुराती, बालिका-सी सरल, आयी और गट्ठा वहीं पटककर अन्दर चली गयी।"

नोहरी ने कहा–लड़की तो खूब सयानी हो गई है।

धनिया बोली–लड़की की बाढ़ रेंड़ की बाढ़ है। नहीं, है अभी कै दिन की !

"वर तो ठीक हो गया है न ?"

"हाँ, वर तो ठीक है। रुपये का बन्दोबस्त हो गया, तो इसी महीने में ब्याह कर देंगे।"

नोहरी दिल की ओछी थी। इधर उसने जो थोड़े-से रुपये जोड़े थे, वे उसके पेट में उछल रहे थे। अगर वह सोना के ब्याह के लिए कुछ रुपये दे दे, तो कितना यश मिलेगा। सारे गाँव में उसकी चर्चा हो जायेगी। लोग चकित होकर कहेंगे, नोहरी ने इतने रुपये दे दिये। बड़ी देवी है। होरी और धनिया, दोनों घर-घर उसका बखान करते फिरेंगे। गाँव में उसका मान-सम्मान कितना बढ़ जायेगा। वह उँगली दिखानेवालों का मुँह सी देगी। फिर किसकी हिम्मत है, जो उस पर हँसे, या उस पर आवाज़ें कसे ? अभी सारा गाँव उसका दुश्मन है। तब सारा गाँव उसका हितैषी हो जायेगा। इस कल्पना से उसकी मुद्रा खिल गयी।

"थोड़े-बहुत से काम चलता हो, तो मुझसे लो; जब हाथ में रुपये आ जायें तो दे देना।"

होरी और धनिया दोनों ही ने उसकी ओर देखा। नहीं, नोहरी दिल्लगी नहीं कर रही है। दोनों की आँखों में विस्मय था; कृतज्ञता थी, सन्देह था और लज्जा थी। नोहरी उतनी बुरी नही है, जितना लोग समझते हैं।

नोहरी ने फिर कहा–तुम्हारी और हमारी इज़्ज़त एक है। तुम्हारी हँसी हो तो क्या मेरी हँसी न होगी ! कैसे भी हुआ हो, पर अब तो तुम हमारे समधी हो।

होरी ने सकुचाते हुए कहा–तुम्हारे रुपये तो घर में ही हैं, जब काम पड़ेगा, ले लेंगे। आदमी अपनों ही का भरोसा तो करता है; मगर ऊपर से इन्तजाम हो जाये, तो रुपये क्यों छुए।

धनिया ने अनुमोदन किया–हाँ, और क्या !

नोहरी ने अपनापन जताया–जब घर में रुपये हैं, तो बाहरवालों के सामने

हाथ क्यों फैलाओ ? सूद भी देना पड़ेगा, उस पर स्टाम्प लिखो, गवाही कराओ, दस्तूरी दो, खुशामद करो। हाँ, मेरे रुपये में छूत लगी हो, तो दूसरी बात है।

होरी ने सँभाला—नहीं, नहीं नोहरी, जब घर में काम चल जायेगा, तो बाहर क्यों हाथ फैलायेंगे; लेकिन आपसवाली बात है। खेती-बारी का भरोसा नहीं। तुम्हें जल्दी कोई काम पड़ा और हम रुपये न जुटा सके, तो तुम्हें भी बुरा लगेगा और हमारी जान भी संकट में पड़ेगी। इससे कहता था। नहीं, लड़की तो तुम्हारी है।

"मुझे अभी रुपये की ऐसी जल्दी नहीं है।"

"तो तुम्ही से ले लेंगे। कन्यादान का फल भी क्यों बाहर जाये ?"

"कितने रुपये चाहिए ?"

"तुम कितने दे सकोगी ?"

"सौ में काम चल जायेगा ?"

होरी को लालच आया। भगवान ने छप्पर फाडकर रुपये दिये हैं, तो जितना ले सके, उतना क्यों न ले !

"सौ में भी चल जायेगा। पाँच सौ मे भी चल जायेगा। जैसा हौसला हो।"

"मेरे पास कुल दो सौ रुपये हैं, वह मैं दे दूँगी।"

"तो इतने में बड़ी खुसफैली से काम चल जायेगा। अनाज घर मे हैं; मगर ठाकुराइन, आज तुमसे कहता हूँ, मैं तुम्हें ऐसी लच्छमी न समझता था। इस ज़माने मे कौन किसकी मदद करता है, और किसके पास है। तुमने मुझे डूबते से बचा लिया।"

दिया-बत्ती का समय आ गया था। ठंडक पडने लगी थी। जमीन ने नीली चादर ओढ़ ली थी। धनिया अन्दर जाकर अँगीठी लायी। सब तापने लगे। पुआल के प्रकाश में छबीली, रँगीली, कुलटा नोहरी उनके सामने वरदान-सी बैठी थी। इस समय उसकी उन आँखों में कितनी सहृदयता थी, कपोलों पर कितनी लज्जा, ओठों पर कितनी सत्प्रेरणा !

कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करके नोहरी उठ खड़ी हुयी और कहती हुई घर चली—अब देर हो रही है। कल तुम आकर रुपये ले लेना महतो !

"चलो, मैं तुम्हें पहुँचा दूँ।"

"नहीं-नहीं, तुम बैठो, मैं चली जाऊँगी।"

"जी तो चाहता है, तुम्हें कन्धे पर बैठाकर पहुँचाऊँ।"

नोखेराम की चौपाल गाँव के दूसरे सिरे पर थी, और बाहर-बाहर जाने का रास्ता साफ था। दोनों उसी रास्ते से चले। अब चारों ओर सन्नाटा था।

नोहरी ने कहा—तनकि समझा देते रावत को। क्यों सबसे लड़ाई किया करते हैं। जब इन्हीं लोगों के बीच में रहना है, तो ऐसे रहना चाहिए न कि, चार आदमी अपने हो जायें। और इनका हाल यह है कि सबसे लड़ाई, झगड़ा। जब तुम मुझे परदे में नहीं रख सकते, मुझे दूसरों की मजूरी करनी पड़ती है, तो यह कैसे निभ सकता है कि मैं न किसी से हँसू, न बोलूँ, न कोई मेरी ओर ताके, न हँसे। यह

सब तो परदे में ही हो सकता है। फिर मेल-मुहब्बत से आदमी के सौ काम निकलते हैं। जैसा समय देखो, वैसा व्यवहार करो। तुम्हारे घर हाथी झूमता था, तो अब वह तुम्हारे किस काम का ? अब तो तुम तीन रुपये के मजूर हो। मेरे घर तो भैंस लगती थीं, लेकिन अब तो मजूरिन हूँ, मगर उनकी समझ में कोई बात आती ही नहीं। कभी लड़कों के साथ रहने की सोचते हैं, कभी लखनऊ जाकर रहने की सोचते हैं। नाक में दम कर रखा है।

होरी ने ठकुरसुहाती की–यह भोला की सरासर नादानी है। बूढ़े हुए, अब तो उन्हें समझ आनी चाहिए। मैं समझा दूँगा।

"तो सवेरे आ जाना, रुपये दे दूँगी।"

"कुछ लिखा-पढ़ी ··· ।"

"तुम मेरे रुपये हजम न करोगे, मैं जानती हूँ।"

उसका घर आ गया। वह अन्दर चली गयी। होरी घर लौटा।

सत्ताईस

गोबर को शहर आने पर मालूम हुआ कि जिस अड्डे पर वह अपना खोंचा लेकर बैठता था, वहाँ एक दूसरा खोंचेवाला बैठने लगा है और गाहक अब गोबर को भूल गये हैं। वह घर भी अब उसे पिंजरे-सा लगता था। झुनिया उसमें अकेले बैठी रोया करती। लड़का दिन-भर आँगन में या द्वार पर खेलने का आदी था। यहाँ उसके खेलने को कोई जगह न थी। कहाँजाय ? द्वार पर मुश्किल से एक गज़ का रास्ता था। दुर्गन्ध उड़ा करती थी। गर्मी में कहीं बाहर लेटने-बैठने की जगह नहीं। लड़का माँ को एक क्षण के लिये न छोड़ता था। और जब कुछ खेलने को न हो, तो कुछ खाने और दूध पीने के सिवा वह और क्या करे ? घर पर भी कभी धनिया खेलाती, कभी रूपा, कभी सोना, कभी होरी, कभी पुनिया। यहाँ अकेली झुनिया थी और उसे घर का सारा काम करना पड़ता था।

और गोबर जवानी के नशे में मस्त था। उसकी अतृप्त लालसायें विषय-भोग के सागर में डूब जाना चाहती थीं। किसी काम में उसका मन न लगता। खोंचा लेकर जाता, तो घण्टे-भर ही में लौट आता। मनोरंजन का कोई दूसरा सामान न था। पड़ोस के मजूर और इक्केवान रात-रातभर ताश और जुआ खेलते थे। पहले वह भी खूब खेलता था; मगर अब उसके लिये केवल मनोरंजन था, झुनिया के साथ हास-विलास। थोड़े ही दिनों में झुनिया इस जीवन से ऊब गयी। वह चाहती थी, कहीं एकान्त में जाकर बैठे, खूब निश्चिन्त होकर लेटे-सोए ; मगर वह एकान्त कहीं न मिलता। उसे अब गोबर पर गुस्सा आता। उसने शहर के जीवन का कितना मोहक चित्र खींचा था, और यहाँ इस काल-कोठरी के सिवा और कुछ नहीं। बालक से भी उसे चिढ़ होती थी। कभी-कभी वह उसे मारकर बाहर निकाल देती और अन्दर से किवाड़ बन्द कर लेती। बालक रोते-रोते बेदम हो जाता।

उस पर विपत्ति यह कि उसे दूसरा बच्चा पैदा होनेवाला था। कोई आगे न पीछे। अक्सर सिर में दर्द हुआ करता। खाने से अरुचि हो गयी थी। ऐसी तन्द्रा होती थी कि कोने में चुपचाप पड़ी रहे। कोई उससे न बोले-चाले; मगर यहाँ गोबर का निष्ठुर प्रेम स्वागत के लिए द्वार खटखटाता रहता था। स्तन में दूध, नाम को नहीं; लेकिन लल्लू छाती पर सवार रहता था। देह के साथ उसका मन भी दुर्बल हो गया। वह जो संकल्प करती, उसे थोड़े-से आग्रह पर तोड़ देती। वह लेटी होती और लल्लू आकर ज़बरदस्ती उसकी छाती पर बैठ जाता और स्तन मुँह में लेकर चबाने लगा। वह अब दो साल को हो गया था। बड़े तेज़ दाँत निकल आये थे। मुँह में दूध न जाता, तो वह क्रोध में आकर स्तन में दाँत काट लेता; लेकिन झुनिया में अब इतनी शक्ति भी न थी कि उसे छाती पर से ढकेल दे। उसे हरदम मौत सामने खड़ी नज़र आती। पति और पुत्र-किसी से भी उसे स्नेह न था। सभी अपने मतलब के यार हैं। बरसात के दिनों में जब लल्लू को दस्त आने लगे और उसने दूध पीना छोड़ दिया, तो झुनिया को सिर से एक विपत्ति टल जाने का अनुभव हुआ; लेकिन एक सप्ताह के बाद बालक मर गया, तो उसकी स्मृति पुत्र-स्नेह से सजीव होकर उसे रुलाने लगी।

और जब गोबर, बालक के मरने के एक ही सप्ताह बाद फिर आग्रह करने लगा, तो उसने क्रोध से जलकर कहा—तुम कितने पशु हो !

झुनिया को अब लल्लू की स्मृति लल्लू से भी कहीं प्रिय थी। लल्लू जब तक सामने था, वह उससे जितना सुख पाती थी, उससे कहीं ज़्यादा कष्ट पाती थी। अब लल्लू उसके मन में आ बैठा था, शान्त, स्थिर, सुशील, सुहास। उसकी कल्पना में अब वेदनामय आनन्द था, जिसमें प्रत्यक्ष की काली छाया न थी। बाहरवाला लल्लू उसके भीतरवाले लल्लू का प्रतिबिम्ब मात्र था। प्रतिबिम्ब सामने न था, जो असत्य था, अस्थिर था। सत्य रूप तो उसके भीतर था, उसकी आशाओं और शुभेच्छाओं से सजीव। दूध की जगह वह उसे अपना रक्त पिला-पिलाकर पाल रही थी। उसे अब यह बन्द कोठरी, वह दुर्गन्धमयी वायु और, वह दोनों जून धुएँ में जलना, इन बातों को मानों ज्ञान ही न रहा। वह स्मृति उसके भीतर बैठी हुयी जैसे उसे शक्ति प्रदान करती रहती। जीते-जी, जो उसके जीवन का भार था, मरकर उसके प्राणों में समा गया था। उसकी सारी ममता अन्दर जाकर बाहर से उदासीन हो गयी। गोबर देर में आता है या जल्द, रुचि से भोजन करता है या नहीं, प्रसन्न है या उदास, इसकी अब उसे बिलकुल चिन्ता न थी। गोबर क्या कमाता है और कैसे ख़र्च करता है, इसकी भी उसे परवा न थी। उसका जीवन जो कुछ था, भीतर था, बाहर वह केवल निर्जीव यन्त्र थी।

उसके शोक में भाग लेकर, उसके अन्तर्जीवन में पैठकर, गोबर उसके समीप जा सकता था, उसके जीवन का अंग बन सकता था; पर वह उसके बाह्य जीवन के सूखे तट पर आकर ही प्यासा लौट जाता था।

एक दिन उसने रूखे स्वर में कहा–तो लल्लू के नाम को कब तक रोये जायेगी ! चार-पाँच महीने तो हो गये।

झुनिया ने ठण्डी साँस लेकर कहा–तुम मेरा दुःख नहीं समझ सकते। अपना काम देखो। मैं जैसी हूँ, वैसी पड़ी रहने दो।

"तेरे रोते रहने से लल्लू लौट आयेगा ?"

झुनिया के पास इसका कोई जवाब न था। वह उठकर पतीली में कचालू के लिये आलू उबालने लगी। गोबर को ऐसा पाषाण-हृदय उसने न समझा था।

इस बेदर्दी ने लल्लू को उसके मन में और सजग कर दिया। लल्लू उसी का है, उसमें किसी का साझा नहीं, किसी का हिस्सा नहीं। अभी तक लल्लू किसी अंश मे उसके हृदय के बाहर भी था, गोबर के हृदय में उसकी कुछ ज्योति थी। अब वह सम्पूर्ण रूप से उसका था।

गोबर ने खोंचे से निराश होकर शक्कर के मिल में नौकरी कर ली थी। मिस्टर खन्ना ने पहले मिल से प्रोत्साहित होकर हाल में यह दूसरा मिल खोल दिया था। गोबर को वहाँ बड़े सवेरे जाना पड़ता था, और दिन-भर के बाद जब वह दिया-जलते घर लौटता, तो उसकी देह में ज़रा भी जान न रहती। घर पर भी उसे इससे कम मेहनत न करती पड़ती थी; लेकिन वहाँ उसे ज़रा भी थकान न होती थी। बीच-बीच में वह हँस-बोल भी लेता था। फिर उस खुले हुए मैदान में उन्मुक्त आकाश के नीचे, जैसे उसकी क्षति पूरी हो जाती थी। वहाँ उसकी देह चाहे जितना काम करे, मन स्वच्छन्द रहता था। यहाँ देह की उतनी मेहनत न होने पर भी, जैसे उस कोलाहल, उस गति और तूफानी शोर का उस पर बोझ-सा लदा रहता था। यह शंका भी बनी रहती थी कि न जाने कब डाँट पड़ जाये। सभी श्रमिकों को यही दशा थी। सभी ताड़ी या शराब में दैहिक थकन और मानसिक अवसाद को डुबाया करते थे। गोबर को भी शराब का चस्का पड़ा। घर आता तो नशे में चूर, और पहर रात गये। और आकर कोई-न-कोई बहाना खोजकर झुनिया को गालियाँ देता, घर से निकालने लगता और कभी-कभी पीट भी देता।

झुनिया को अब यह शंका होने लगी कि वह रखेली है, इसी से उसका यह अपमान हो रहा है। ब्याहता होती, तो गोबर की मजाल थी कि उसके साथ यह बर्ताव करता। बिरादरी उसे दण्ड देती, हुक्का-पानी बन्द कर देती। उसने कितनी बड़ी भूल की कि इस कपटी के साथ घर से निकल भागी। सारी दुनिया में हँसी भी हुई और हाथ कुछ न आया। वह गोबर को अपना दुश्मन समझने लगी। न उसके खाने-पीने की परवाह करती, न अपने खाने-पीने की। जब गोबर उसे मारता, तो उसे ऐसा क्रोध आता कि गोबर का गला छुरे से रेत डाले। गर्भ ज्यों-ज्यों पूरा होता जाता है, उसकी चिन्ता बढ़ती जाती है। इस घर में तो उसकी मरन हो जायेगी। कौन उसकी देखभाल करेगा, कौन उसे सँभालेगा ? और जो गोबर इसी तरह मारता-पीटता रहा, तब तो उसका जीवन नरक ही हो जायेगा।

एक दिन वह बम्बे पर पानी भरने गयी, तो पडोस की एक स्त्री ने पूछा—कै महीने का है रे ?

झुनिया ने लजाकर कहा—क्या जाने दीदी, मैंने तो गिना-गिनाया नहीं है।

दोहरी देह की, काली-कलूटी, नाटी, कुरूपा, बड़े-बड़े स्तनोंवाली स्त्री थी। उसका पति एक्का हाँकता था और वह खुद दुकान करती थी। झुनिया कई बार उसकी दुकान से लकड़ी लायी थी। इतना ही परिचय था।

मुस्कराकर बोली—मुझे तो जान पड़ता है, दिन पूरे हो गये हैं। आज ही कल में होगा। कोई दाई-वाई ठीक कर ली है ?

झुनिया ने भयातुर स्वर में कहा—मैं तो यहाँ किसी को नहीं जानती।

"तेरा मर्दुआ कैसा है, जो कान में तेल डाले बैठा है ?"

"उन्हें मेरी क्या फ़िकर !"

"हाँ, देख तो रही हूँ, तुम तो सौर में बैठोगी, कोई करने-धरनेवाला चाहिए कि नहीं ? सास-ननद, देवरानी-जेठानी, कोई है कि नहीं ? किसी को बुला लेना था।"

"मेरे लिये सब मर गये।"

वह पानी लाकर जूठे बरतन माँजने लगी, तो प्रसव की शंका से हृदय में धड़कने हो रही थी। सोचने लगी—कैसे क्या होगा भगवान ! ऊँह ! यही तो होगा, मर जाऊँगी; अच्छा है, जजाल से छूट जाऊँगी।

शाम को उसके पेट मे दर्द होने लगा। समझ गयी विपत्ति की घडी आ पहुँची। पेट को एक हाथ से पकडे हुए पसीने से तर उसने चूल्हा जलाया, खिचड़ी डाली और दर्द से व्याकुल होकर वहीं जमीन पर लेट रही। कोई दस बजे रात को गोबर आया, ताड़ी की दुर्गन्ध उडाता हुआ। लटपटाती हुई जबान से ऊटपटाँग बक रहा था—मुझे किसी की परवाह नही है ! जिसे सौ दफं गरज हो, रहे, नहीं चला जाये। मैं किसी की ताव नही सह सकता। अपने माँ-बाप का ताव नहीं सहा, जिसने जनम दिया, तब दूसरों का ताव क्यों सहूँ ? जमादार आँखें दिखाता है। यहाँ किसी की धौंस सहनेवाले नही हैं। लोगों ने पकड न लिया होता, तो खून पी जाता, खून ! कल देखूँगा बच्चा को, फाँसी ही तो होगी। दिखा दूँगा कि मर्द कैसे मरते हैं। हँसता हुआ, अकड़ता हुआ, मूँछों पर ताव देता हुआ फाँसी के तख्ते पर जाऊँ, तो सही। औरत की जात ! कितनी बेवफ़ा होती है। खिचड़ी डाल दी और टाँग पसारकर सो रही। कोई खाये या न खाये, उसकी बला से। आप मजे से फुलके उड़ाती है, मेरे लिये खिचड़ी ! सता ले जितना सताते बने, तुझे भगवान सतायेंगे जो न्याय करते हैं।

उसने झुनिया को जगाया नहीं। कुछ बोला भी नहीं। चुपके से खिचड़ी थाली में निकाली और दो-चार कौर निगलकर बरामदे में लेट रहा। पिछले पहर उसे सर्दी लगी। कोठरी में कम्बल लेने गया तो झुनिया के कराहने की आवाज सुनी। नशा उतर चुका था। पूछा—कैसा जी है झुनिया ! कहीं दरद है क्या ?

"हाँ, पेट में ज़ोर से दरद हो रहा है।"

"तूने पहले क्यों नहीं कहा ? अब इस बखत कहाँ जाऊँ ?"

"किससे कहती ?"

"मैं क्या मर गया था ?"

"तुम्हें मेरे मरने-जीने की क्या चिन्ता ?"

गोबर घबराया, कहाँ दाई खोजने जाये ? इस वक्त वह आने ही क्यों लगी ? घर में कुछ है भी नहीं। चुड़ैल ने पहले बता दिया होता हो तो किसी से दो-चार रुपये माँग लाता। इन्हीं हाथों में सौ-पचास रुपये हरदम पड़े रहते थे, चार आदमी खुशामद करते थे। इस कुलच्छनी के आते ही जैसे लक्ष्मी रूठ गयी। टके-टके को मुहताज हो गया।

सहसा किसी ने पुकारा—यह क्या तुम्हारी घरवाली कराह रही है ? दरद तो नहीं हो रहा है ?

यह वही मोटी औरत थी, जिससे आज झुनिया की बातचीत हुई थी ? घोड़े को दाना खिलाने उठी थी। झुनिया का कराहना सुनकर पूछने आ गई थी।

गोबर ने बरामदे में जाकर कहा—पेट में दर्द है। छटपटा रही है। यहाँ कोई दाई मिलेगी ?

"वह तो, मैं आज उसे देखकर ही समझ गयी थी। दाई कच्ची सराय में रहती है। लपककर बुला लाओ। कहना, जल्दी चल। तब तक मैं यहीं बैठी हूँ।"

"मैंने तो कच्ची सराय नहीं देखी, किधर है ?"

"अच्छा, तुम उसे पंखा झलते रहो, मैं बुलाये लाती हूँ। यही कहते हैं, अनाड़ी आदमी किसी काम का नहीं। पूरा पेट और दाई की खबर नहीं।"

यह कहती हुई वह चल दी। इसके मुँह पर तो लोग इसे चुहिया कहते हैं, यही इसका नाम था; लेकिन पीछे-पीछे मोटल्ली कहा करते थे। किसी को मोटल्ली कहते सुन लेती थी, तो उसके सात पुरखों तक चढ़ जाती थी।

गोबर को बैठे दस मिनट भी न हुए होंगें कि वह लौट आयी और बोली—अब संसार में गरीबों का कैसे निबाह होगा ! राँड कहती है, पाँच रुपये लूँगी—तब चलूँगी। और आठ आने रोज। बारहवें दिन एक साड़ी। मैंने कहा, तेरा मुँह झुलस दूँ। तू जा चूल्हे में ! मैं देख लूँगी। बारह बच्चों की माँ यों ही नहीं हो गयी हूँ। तुम बाहर आ जाओ गोबरधन, मैं सब कर लूँगी। बख़त पड़ने पर आदमी ही आदमी के काम आता है। चार बच्चे जना लिये तो दाई बन बैठी !

वह झुनिया के पास जा बैठी और उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर उसका पेट सहलाती हुई बोली—मैं तो आज तुझे देखते ही समझ गई थी। सच पूछो, तो इसी धड़के में आज मुझे नींद नहीं आयी। यहाँ तेरा कौन सगा बैठा है ?

झुनिया ने दर्द से दाँत जमाकर 'सी' करते हुए कहा—अब न बचूँगी दीदी ! हाय ! मैं तो भगवान से माँगने न गयी थी। एक को पाला-पोसा। उसे तुमने छीन

लिया, तो फिर इसका कौन काम था ? मैं मर जाऊँ माता, तो तुम बच्चे पर दया करना। उसे पाल-पोस लेना। भगवान तुम्हारा भला करेगे।

चुहिया स्नेह से उसके केश सुलझाती हुई बोली—धीरज धर। अभी छन-भर में कष्ट कटा जाता है। तूने भी तो जैसे चुप्पी साध ली थी। इसमें किस बात की लाज ! मुझे बता दिया होता, तो मैं मौलवी साहब के पास से ताबीज़ ला देती। वही मिर्जाजी जो इस हाते मे रहते हैं।

इसके बाद झुनिया को कुछ होश न रहा। नौ बजे सुबह होश आया, तो उसने देखा, चुहिया शिशु को लिये बैठी है और वह साफ साडी पहने लेटी हुई है। ऐसी कमजोरी थी, मानो देह मे रक्त का नाम न हो।

चुहिया रोज सबेरे आकर झुनिया के लिये हरीरा और हलवा पका जाती और दिन मे भी कई बार आकर बच्चे को उबटन मल जाती और ऊपर का दूध पिला जाती। आज चौथा दिन था; पर झुनिया के स्तनों में दूध न उतरा था। शिशु रो-रोकर गला फाडे लेता था; क्योकि ऊपर का दूध उसे पचता न था। एक छन को भी चुप न होता था। चुहिया अपना स्तन उसके मुँह मे देती। बच्चा एक क्षण चूसता; पर जब दूध न निकलता, तो फिर चीखने लगता। जब चौथे दिन साँझ तक भी झुनिया के दूध न उतरा, तो चुहिया घबरायी। बच्चा सूखता चला जाता था। नखास पर एक पेशनर डॉक्टर रहते थे। चुहिया उन्हें ले आयी। डॉक्टर ने देख-भालकर कहा—इसकी देह मे खून तो है ही नही, दूध कहाँ से आये ? समस्या जटिल हो गयी। देह मे खून लाने के लिये महीनो पुष्टिकारक दवाएं खानी पड़ेगी, तब कहीं दूध उतरेगा। तब तक तो इस मॉस के लोथडे का ही काम तमाम हो जायेगा।

पहर रात हो गयी थी। गोबर ताड़ी पिये ओसारे में पड़ा था। चुहिया बच्चे को चुप कराने के लिए उसके मुँह में अपनी छाती डाले हुए थी कि सहसा उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी छाती में दूध आ गया है। प्रसन्न होकर बोली—ले झुनिया, अब तेरा बच्चा जी जायेगा, मेरे दूध आ गया।

झुनिया ने चकित होकर कहा—तुम्हें दूध आ गया ?

"नहीं री, सच !"

"मैं तो नहीं पतियाती।"

"देख ले !"

उसने अपना स्तन दबाकर दिखाया। दूध की धार फूट निकली।

झुनिया ने पूछा—तुम्हारी छोटी बिटिया तो आठ साल से कम की नहीं है !

"हाँ, आठवाँ है; लेकिन मुझे दूध बहुत होता था।"

"इधर तो तुम्हें कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ।"

"वही लड़की पेट-पोछनी थी। छाती बिलकुल सूख गई थी; लेकिन भगवान की लीला है, और क्या !"

अब से, चुहिया चार-पाँच बार आकर बच्चे को दूध पिला जाती। बच्चा पैदा

तो हुआ था दुर्बल, लेकिन चुहिया का स्वस्थ दूध पीकर गदराया जाता था। एक दिन चुहिया नदी स्नान करने चली गई। बच्चा भूख के मारे छटपटाने लगा। चुहिया दस बजे लौटी, तो झुनिया बच्चे को कन्धे से लगाये झुला रही थी और बच्चा रोये जाता था। चुहिया ने बच्चे को उसकी गोद से लेकर दूध पिला देना चाहा; पर झुनिया ने उसे झिड़ककर कहा—रहने दो। अभागा मर जाये, वही अच्छा। किसी का एहसान तो न लेना पड़े।

चुहिया गिड़गिड़ाने लगी। झुनिया ने बड़े अदरावन के बाद बच्चा उसकी गोद में दिया।

लेकिन झुनिया और गोबर में अब भी न पटती थी। झुनिया के मन में बैठ गया था कि यह पक्का मतलबी, वेदर्द आदमी है; मुझे केवल भोग की वस्तु समझता है। चाहे मैं मरूँ या जिऊँ, उसकी इच्छा पूरी किये जाऊँ, उसे बिलकुल गम नहीं। सोचता होगा, यह मर जायेगी, तो दूसरी लाऊँगा; लेकिन मुँह धो रखे बच्चू। मैं ही ऐसी अल्हड़ थी कि तुम्हारे फन्दे मे आ गई। तब तो पैरों पर सिर रखे देता था। यहाँ आते ही न जाने क्यों जैसे इसका मिज़ाज ही बदल गया। जाड़ा आ गया था; पर न ओढ़न, न बिछावन। रोटी-दाल से जो दो-चार रुपये बचते, ताड़ी मे उड़ जाते थे। दोनों एक ही करवट मे रात काट देते।

गोबर का जी, शिशु को गोद मे लेकर खेलाने के लिये तरसकर रह जाता था। कभी-कभी वह रात को उठाकर उसका प्यारा मुखड़ा देख लिया करता; लेकिन झुनिया की ओर से उसका मन खिंचता था। झुनिया भी उससे बात न करती, न उसकी कुछ सेवा ही करती और दोनों के बीच में यह मालिन्य समय के साथ लोहे के मोर्चे की भाँति गहरा, दृढ़ और कठोर होता जाता था। दोनो एक-दूसरे की बातों का उलटा ही अर्थ निकलते, वही; जिससे आपस का द्वेष और भड़के और कई दिनों तक एक-एक वाक्य को मन में पाले रहते और उसे अपना रक्त पिला-पिलाकर एक-दूसरे पर झपट पड़ने के लिए तैयार रहते, जैसे शिकारी कुत्ते हों।

उधर गोबर के कारखाने में भी आये दिन एक-न-एक हंगामा उठता रहता था। अबकी बजट में शक्कर पर ड्यूटी लगी थी। मिल के मालिकों को मजूरी घटाने का अच्छा बहाना मिल गया। ड्यूटी से अगर पाँच हानि थी, तो मजूरी घटा देने से दस का लाभ था। इधर महीनों से इस मिल में भी यही मसला छिड़ा हुआ था। मजूरों का संघ हड़ताल करने को तैयार बैठा हुआ था। इधर मजूरी घटी और उधर हड़ताल हुयी। उसे मजूरी में धेले की कटौती भी स्वीकार न थी। जब इस तेजी के दिनों में मजूरी में एक धेले की भी बढ़ती नहीं हुई, तो अब वह घाटे में क्यों साथ दे!

मिर्ज़ा खुर्शेद संघ के सभापति और पण्डित ओंकारनाथ, 'बिजली' सम्पादक, मन्त्री थे दोनों ऐसी हड़ताल कराने पर तुले हुए थे कि मिल-मालिकों को कुछ दिन याद रहे। मजूरों को भी हड़ताल से क्षति पहुँचेगी, यहाँ तक कि हजारों आदमी रोटियों

को मोहताज हो जायेंगे, इस पहलू की ओर उनकी निगाह बिलकुल न थी। और गोबर हड़तालियों में सबसे आगे था। उद्दण्ड स्वभाव का था ही, ललकारने की जरूरत थी। फिर वह मारने-मरने को न डरता था। एक दिन झुनिया ने उसे जी कड़ा करके समझाया भी–तुम बाल-बच्चोंवाले आदमी हो, तुम्हारा इस तरह आग में कूदना अच्छा नहीं। इस पर गोबर बिगड़ उठा–तू कौन होती है मेरे बीच में बोलनेवाली ? मैं तुझसे सलाह नहीं पूछता। बात बढ़ गई और गोबर ने झुनिया को खूब पीटा। चुहिया ने आकर झुनिया को छुड़ाया और गोबर को डाँटने लगी। गोबर के सिर पर शैतान सवार था। लाल-लाल आँखें निकालकर बोला–तुम मेरे घर में मत आया करो चूहा, तुम्हारे आने का कुछ काम नहीं।

चुहिया ने व्यंग के साथ कहा–तुम्हारे घर में न आऊँगी; तो मेरी रोटियाँ कैसे चलेंगी ! यहीं से माँग-जाँचकर ले जाती हूँ, तब तवा गर्म होता है ! मैं न होती लाला, तो यह बीवी आज तुम्हारी लातें खाने के लिए बैठी न होती।

गोबर घूँसा तानकर बोला–मैंने कह दिया, मेरे घर में न आया करो। तुम्हीं ने इस चुड़ैल का मिज़ाज आसमान पर चढ़ा दिया है।

चुहिया वहीं डटी हुई निश्शंक खड़ी थी। बोली, अच्छा, अब चुप रहना गोबर ! अपनी अधमरी लड़कोरी औरत को मारकर तुमने कोई बड़ी जवाँमर्दी का काम नहीं किया है। तुम उसके लिए क्या करते हो कि तुम्हारी मार सहे ? एक रोटी खिला देते हो, इसलिए ? अपने भाग बखानो कि ऐसी गऊ औरत पा गये हो। दूसरी होती, तो तुम्हारे मुँह में झाड़ू मारकर निकल गयी होती।

मुहल्ले के लोग जमा हो गये और चारों ओर से गोबर पर फटकारें पड़ने लगीं। वही लोग, जो अपने घरों में अपनी स्त्रियों को रोज पीटते थे, इस वक़्त न्याय और दया के पुतले बने हुए थे। चुहिया और शेर हो गई और फरियाद करने लगी–डाढ़ीज़ार कहता है, मेरे घर न आया करो। बीवी-बच्चा रखने चला है, यही नहीं जानता कि बीवी-बच्चों का पालन बड़े गुर्दे का काम है। इससे पूछो, मैं न होती तो आज यह बच्चा, जो बछड़े की तरह कुलेलें कर रहा है, कहाँ होता ? औरत को मारकर जवानी दिखाता है। मैं न हुई तेरी बीवी, नहीं, यही जूती उठाकर मुँह पर तड़ातड़ जमाती और कोठरी में ढकेलकर बाहर से किवाड़ बन्द कर देती। दाने को तरस जाते।

गोबर झल्लाया हुआ अपने काम पर चला गया। चुहिया औरत न होकर मर्द होती, तो मजा चखा देता। औरत के मुँह क्या लगे !

मिल में असनतोष के बादल घने होते जा रहे थे। मज़दूर 'बिजली' की प्रतियाँ ज़ेब में लिये फिरते और ज़रा भी अवकाश पाते, तो दो-तीन मज़दूर मिलकर उसे पढ़ने लगते। पत्र की बिक्री खूब बढ़ रही थी। मजदूरों के नेता 'बिजली' कार्यालय में आधी रात तक बैठे, हड़ताल की स्कीमें बनाया करते और प्रातःकाल जब पत्र में समाचार मोटे-मोटे अक्षरों में छपता, तो जनता टूट पड़ती और पत्र की कापियाँ दूने-तिगुने दाम पर बिक जातीं।

उधर कम्पनी के डायरेक्टर भी अपनी घात में बैठे हुए थे। हड़ताल हो जाने में ही उनका हित था। आदमियों की कमी तो है नहीं। बेकारी बढ़ी हुई है; इसके आधे वेतन पर ऐसे ही आदमी आसानी से मिल सकते हैं। माल की तैयारी में एकदम आधी बचत हो जायेगी। दस-पाँच दिन काम का हरज होगा, कुछ परवाह नहीं। आखिर यही निश्चय हो गया कि मजूरी में कमी का ऐलान कर दिया जाये। दिन और समय नियत कर दिया गया, पुलिस को सूचना दे दी गयी। मजूरों को कानों-कान खबर न थी। वे अपनी घात में थे। उसी वक्त हड़ताल करना चाहते थे, जब गोदाम में बहुत थोड़ा माल रह जाये और माँग की तेज़ी हो।

एकाएक एक दिन जब मजूर लोग शाम को छुट्टी पाकर चलने लगे, तो डायरेक्टरों का ऐलान सुना दिया गया। उसी वक़्त पुलिस आ गयी। मजूरों को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसी वक्त हड़ताल करनी पड़ी, जब गोदाम में इतना माल भरा हुआ था कि बहुत तेज़ माँग होने पर भी छः महीने से पहले न उठ सकता था।

मिर्ज़ा खुर्शेद ने यह खबर सुनी, तो मुस्कराये, जैसे कोई मनस्वी योद्धा अपने शत्रु के रणकौशल पर मुग्ध हो गया हो। एक क्षण विचारों में डूबे रहने के बाद बोले—अच्छी बात है। अगर डायरेक्टरों की यही इच्छा है, तो यही सही। ग़ालतें उनके मुआफिक हैं; लेकिन हमें न्याय का बल है। वह लोग नये आदमी रखकर अपना काम चलाना चाहते हैं। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि उन्हें एक भी नया आदमी न मिले। यही हमारी फ़तह होगी।

'बिजली' कार्यालय में उसी वक़्त खतरे की मीटिंग हुई, कार्य-कारिणी समिति का भी संगठन हुआ, पदाधिकारियों का चुनाव हुआ और आठ बजे रात को मजूरों का लम्बा जुलूस निकला। दस बजे रात को कल का सारा प्रोग्राम तय किया गया और यह ताकीद कर दी गयी कि किसी तरह दंगा-फसाद न होने पाये।

मगर सारी कोशिश बेकार हुयी। हड़तालियों ने नये मजूरों का टिड्डी-दल मिल के द्वार पर खड़ा देखा, तो इनकी हिंसा-वृत्ति काबू के बाहर हो गयी। सोचा था सौ-सौ पचास-पचास आदमी रोज भर्ती के लिये आयेंगे। उनहें समझा-बुझाकर या धमकाकर भगा देंगे। हड़तालियों की संख्या देखकर नये लोग आप ही भयभीत हो जायेंगे, मगर यहाँ तो नक्शा ही कुछ और था; अगर यह सारे आदमी भर्ती हो गये तो, हड़तालियों के लिये समझौते की कोई आशा ही न थी। तय हुआ कि नये आदमियों को मिल में जाने ही न दिया जाये। बल-प्रयोग के सिवा और कोई उपाय न था। नया दल भी लड़ने-मरने पर तैयार था। उनमें अधिकांश ऐसे भुखमरे थे, जो इस अवसर को किसी तरह भी न छोड़ना चाहते थे। भूखों मर जाने या अपने बाल-बच्चों को भूखों मरते देखने से तो यह कहीं अच्छा था कि इस परिस्थिति से लड़कर मरें। दोनों दलों में फौज़दारी हो गयी। 'बिजली' सम्पादक तो भाग खड़े हुए, बेचारे मिर्ज़ाजी पिट गये और उनकी रक्षा करते हुए गोबर भी बुरी तरह घायल हो गया। मिर्ज़ाजी पहलवान आदमी थे और मँजे हुए फिकैत, अपने ऊपर कोई गहरा

वार न पड़ने दिया। गोबर गँवार था। पूरा लट्ठ मारना जानता था; पर अपनी रक्षा करना न जानता था, जो लड़ाई में मारने से ज्यादा महत्त्व की बात है। उसके एक हाथ की हड्डी टूट गयी, सिर खुल गया और अन्त में वह वहीं ढेर हो गया। कन्धों पर अनगिनत लाठियाँ पड़ी थीं, जिससे उसका एक-एक अंग चूर हो गया था। हड़तालियों ने उसे गिरते देखा, तो भाग खड़े हुए। केवल दस-बाहर जँचे हुए और पराजिस हड़ताली अपने हताहतों को उठा-उठाकर अस्पताल पहुँचाने लगे; मगर अस्पताल में इतने आदमियों के लिये जगह न थी। मिर्ज़ाजी तो ले लिये गये। गोबर की मरहम-पट्टी करके उसके घर पहुँचा दिया गया।

झुनिया ने गोबर की वह चेष्टाहीन लोय देखी, तो उसका नारीत्व जाग उठा। अब तक उसने उसे सबल के रूप में देखा था, जो उस पर शासन करता था, डाँटता था, मारता था। आज वह अपंग था, निस्सहाय था, दयनीय था। झुनिया ने खाट पर झुककर आँसु-भरी आँखों से गोबर को देखा और घर की दशा का खयाल करके उसे गोबर पर एक ईर्ष्यामय क्रोध आया। गोबर जानता था कि घर में एक पैसा नहीं है। वह यह भी जानता था कि कहीं से एक पैसा मिलने की आशा नहीं है। यह जानते हुए भी उसके बार-बार समझाने पर भी, उसने यह विपत्ति अपने ऊपर ली। उसने कितनी बार कहा था—तुम इस झगड़े में न पड़ो। आग लगानेवाले आग लगाकर अलग हो जायेंगे, जायेगी गरीबों के सिर। लेकिन वह कब उसकी सुनने लगा था ? वह तो उसकी बैरिन थी। मित्र तो वह लोग थे, जो अब मजे से मोटरो में घूम रहे हैं। उस क्रोध में एक प्रकार की तुष्टि थी, जैसे हम उन बच्चों को कुरसी से गिर पड़ते देखकर, जो बार-बार मना करने पर खड़े होने से बाज न आते थे, चिल्ला उठते हैं—अच्छा हुआ, बहुत अच्छा, तुम्हारा सिर क्यों न दो हो गया !

लेकिन एक ही क्षण में गोबर का करुण-क्रन्दन सुनकर उसकी सारी संज्ञा सिहर उठी। व्यथा में डूबे हुए यह शब्द उसके मुँह से निकले—हाय-हाय ! सारी देह भुरकस हो गई। सबों को तनिक भी दया न आयी।

वह उसी तरह बड़ी देर तक गोबर का मुँह देखती रही। वह क्षीण होती हुई आशा से जीवन का कोई लक्षण पा लेना चाहती थी। और प्रतिक्षण उसका धैर्य अस्त होने वाले सूर्य की भाँति डूबता जाता था, और भविष्य का अन्धकार उसे अपने अन्दर समेट लेता था।

सहसा चुहिया ने आकर पुकारा—गोबर का क्या हाल है, बहू ! मैंने तो अभी सुना। दुकान से दौड़ी आयी हूँ।

झुनिया के रुके हुए आँसू उबल पड़े; कुछ बोल न सकी। भयभीत आँखों से चुहिया की ओर देखा।

चुहिया ने गोबर का मुँह देखा, उसकी छाती पर हाथ रखा, और आश्वासन-भरे स्वर में बोली—यह चार दिन में अच्छे हो जायेंगे। घबड़ा मत। कुशल हुई। तेरा सोहाग बलवान था। कई आदमी उसी दंगे में मर गये। घर में कुछ रुपये-पैसे हैं ?

झुनिया ने लज्जा से सिर हिला दिया।

"मैं लाये देती हूँ। थोड़ा-सा दूध लाकर गर्म कर ले।"

झुनिया ने उसके पाँव पकड़कर कहा—दीदी, तुम्हीं मेरी माता हो। मेरा दूसरा कोई नहीं है।

जाड़ों की उदास संध्या आज और भी उदास मालूम हो रही थी। झुनिया ने चूल्हा जलाया और दूध उबालने लगी। चुहिया बरामदे में बच्चे को लिये खिला रही थी।

सहसा झुनिया भारी कण्ठ से बोली—मैं बड़ी अभागिन हूँ दीदी ! मेरे मन में ऐसा आ रहा है, जैसे मेरे ही कारन इनकी यह दशा हुई है। जी कुढ़ता है तब मन दुखी होता ही है, फिर गालियाँ भी निकलती हैं, सराप भी निकलता है। कौन जाने मेरी गालियों...

इसके आगे वह कुछ न कह सकी। आवाज आँसुओं के रेले में बह गयी। चुहिया ने अंचल से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—कैसी बातें सोचती है बेटी ! यह तेरे सिन्दूर का भाग है कि यह बच गये। मगर हाँ, इतना है कि आपस में लड़ाई हो, तो मुँह से चाहे जितना बक ले, मन में कीना न पाले। बीज अन्दर पड़ा, तो अँखुआ निकले बिना नहीं रहता।

झुनिया ने कम्पन-भरे स्वर में पूछा—अब मैं क्या करूँ दीदी ?

चुहिया ने ढाढ़स दिया—कुछ नहीं बेटी ! भगवान का नाम ले। वही गरीबों की रक्षा करते हैं।

उसी समय गोबर ने आँखें खोलीं और झुनिया को सामने देखकर याचना भाव से क्षीण-स्वर में बोला—आज बहुत चोट खा गया झुनिया ! मैं किसी से कुछ नहीं बोला। सबों ने अनायास मुझे मारा। कहा-सुना माफ कर ! तुझे सताया था, उसी का यह फल मिला। थोड़ी देर का और मेहमान हूँ। अब न बचूँगा। मारे दरद के सारी देह फटी जाती है।

चुहिया ने अन्दर आकर कहा—चुपचाप पड़े रहो। बोलो-चालो नहीं। मरोगे नहीं, इसका मेरा जुम्मा।

गोबर के मुख पर आशा की रेखा झलक पड़ी। बोला—सच कहती हो, मैं मरूँगा नहीं ?

"हाँ, नहीं मरोगे। तुम्हें हुआ क्या है ? ज़रा-सी चोट आ गयी है और हाथ की हड्डी उतर गयी है। ऐसी चोटें मरदों को रोज ही लगा करती हैं। इन चोटों से कोई नहीं मरता।"

"अब मैं झुनिया को कभी न मारूँगा।"

"डरते होगे कि कहीं झुनिया तुम्हें न मारे।"

"वह मारे भी, तो न बोलूँगा।"

"अच्छे होने पर भूल जाओगे।"

"नहीं दीदी, कभी न भूलूँगा।"

गोबर इस समय बच्चों की-सी बातें किया करता। दस-पाँच मिनट अचेत-सा पड़ा रहता। उसका मन न जाने कहाँ-कहाँ उड़ता फिरता। कभी देखता, वह नदी में डूबा जा रहा है, और झुनिया उसे बचाने के लिए नदी में चली आ रही है। कभी देखता, कोई दैत्य उसकी छाती पर सवार है और झुनिया की शक्ल की कोई देवी उसकी रक्षा कर रही है। और बार-बार चौंककर पूछता—मैं मरूँगा तो नहीं झुनिया ?

तीन दिन उसकी यही दशा रही और झुनिया ने रात को जागकर और दिन को उसके सामने खड़े रहकर जैसे मौत से उसकी रक्षा की। बच्चे को चुहिया सँभाले रहती। चौथे दिन झुनिया एक्का लायी और सबों ने गोबर को उस पर लादकर अस्पताल पहुँचाया। वहाँ से लौटकर गोबर को मालूम हुआ कि अब वह सचमुच बच जायेगा। उसने आँखों में आँसू भरकर कहा—मुझे क्षमा कर दो झुन्ना !

इन तीन-चार दिनों में चुहिया के तीन-चार रुपये खर्च हो गये थे, और अब झुनिया को उससे कुछ लेते संकोच होता था। वह भी कोई मालदार तो थी नहीं। लकड़ी की बिक्री के रुपये झुनिया को दे देती। आखिर झुनिया ने कुछ काम करने का विचार किया। अभी गोबर को अच्छे होने में महीनों लगेंगे। खाने-पीने को भी चाहिए, दवा-दारू को भी चाहिए। वह कुछ काम करके खाने-भर को तो ले ही आयेगी। बचपन से उसने गउओं का पालन और घास छीलना सीखा था। यहाँ गउएँ कहाँ थीं ? हाँ, वह घास छील सकती थी। मुहल्ले के कितने ही स्त्री-पुरुष बराबर शहर के बाहर घास छीलने जाते थे और आठ-दस आने कमा लेते थे। वह प्रातःकाल गोबर को हाथ-मुँह धुलाकर और बच्चे को उसे सौंपकर घास छीलने निकल जाती और तीसरे पहर तक भूखी-प्यासी घास छीलती रहती। फिर उसे मंडी में ले जाकर बेचती और शाम को घर आती।

रात को भी वह गोबर की नींद सोती और गोबर की नींद जागती; मगर इतना कठोर श्रम करने पर भी उसका मन ऐसा प्रसन्न रहता, मानों झूले पर बैठी गा रही है, रास्ते-भर साथ की स्त्रियों और पुरुषों से चुहल और विनोद करती जाती। घास छीलते समय भी सबों में हँसी-दिल्लगी होती रहती। न किस्मत का रोना, न मुसीबत का गिला। जीवन की सार्थकता में, अपनों के लिये कठिन से कठिन त्याग में, और स्वाधीन सेवा में जो उल्लास है, उसकी ज्योति एक-एक अंग पर चमकती रहती। बच्चा अपने पैरों पर खड़ा होकर जैसे तालियाँ बजा-बजाकर खुश होता है, उसी का वह अनुभव कर रही थी; मानों उसके प्राणों में आनन्द का कोई सोता खुल गया हो। उसके अंगों में अब शिथिलता नहीं, चपलता है, लचक है, सुकुमारता है। मुख पर पीलापन नहीं रहा, खून की गुलाबी चमक है। उसका यौवन जो बन्द कोठरी में पड़े-पड़े अपमान और कलह से कुण्ठित हो गया था, वह मानो ताजी हवा और प्रकाश पाकर लहलहा उठा है। अब उसे किसी बात पर क्रोध नहीं आता। बच्चे

के जरा-सा रोने पर जो वह झुँझला उठती थी, अब जैसे उसके धैर्य और प्रेम का अन्त ही न था।

इसके खिलाफ़ गोबर अच्छा होते जाने पर भी कुछ उदास रहता था। जब हम अपने किसी प्रियजन पर अत्याचार करते हैं, और जब विपत्ति आ पड़ने से हममें इतनी शक्ति आ जाती है कि उसकी तीव्र व्यथा का अनुभव करें, तो उससे हमारी आत्मा में जागृति का उदय हो जाता है, और हम उस बेजा व्यवहार का प्रायश्चित करने के लिये तैयार हो जाते हैं। गोबर उसी प्रायश्चित के लिये व्याकुल हो रहा था। अब उसके जीवन का रूप बिलकुल दूसरा होगा जिसमे कटुता की जगह मृदुता होगी, अभिमान की जगह नम्रता। उसे अब ज्ञात हुआ कि सेवा करने का अवसर बड़े सौभाग्य से मिलता है, और वह इस अवसर को कभी न भूलेगा।

अट्ठाईस

मिस्टर खन्ना को मजूरों की यह हड़ताल बिलकुल बेज़ा मालूम होती थी। उन्होंने हमेशा जनता के साथ मिले रहने की कोशिश की थी। वह अपने को जनता का ही आदमी समझते थे। पिछले क़ौमी आन्दोलन में उन्होंने बड़ा जोश दिखाया था। जिले के प्रमुख नेता रहे थे, दो बार जेल गये थे और कई हज़ार का नुकसान उठाया था। अब भी वह मजूरों की शिकायतें सुनने को तैयार रहते थे; लेकिन यह तो नहीं हो सकता कि वह शक्कर मिल के हिस्सेदारो के हित का विचार न करें। अपना स्वार्थ त्यागने को वह तैयार हो सकते थे, अगर उनकी ऊँची मनोवृत्तियों को स्पर्श किया जाता; लेकिन हिस्सेदारों के स्वार्थ की रक्षा न करना, यह तो अधर्म था। यह तो व्यापार है, कोई सदाव्रत नहीं कि सब कुछ मजूरों को ही बाँट दिया जाये। हिस्सेदारों को यह विश्वास दिलाकर रुपये लिये गये थे कि इस क्रम में पन्द्रह-बीस सैकड़े का लाभ है। अगर उन्हें दस सैकड़े भी न मिले, तो वे डायरेक्टरों को और विशेषकर मिस्टर खन्ना को धोखेबाज़ ही तो समझेंगे, फिर अपना वेतन वह कैसे कम कर सकते थे ? और कम्पनियों को देखते, उन्होंने अपना वेतन कम रखा था। केवल एक हजार रुपया महीना लेते। कुछ कमीशन भी मिल जाता था; मगर वह इतना लेते थे, तो मिल का संचालन भी करते थे।

मजूर केवल हाथ से काम करते हैं। डायरेक्टर अपनी बुद्धि से, विद्या से, प्रभाव से काम करता है। दोनों शक्तियों का मोल बराबर तो नहीं हो सकता। मजूरों को यह सन्तोष क्यों नहीं होता कि मन्दी का समय है और चारों तरफ़ बेकारी फैली रहने के कारण आदमी सस्ते हो गये हैं। उन्हें तो एक की जगह पौन भी मिले, तो संतुष्ट रहना चाहिये था। और सच पूछो तो वे सन्तुष्ट हैं। उनका कोई कसूर नहीं। वह तो मूर्ख हैं, बछिया के ताऊ ! शरारत तो ओंकारनाथ और मिर्ज़ा खुर्शेद की है। यही लोग उन बेचारों को कठपुतली की तरह नचा रहे हैं, केवल थोड़े-से पैसे और यश के लोभ में पड़कर। यह नहीं सोचते कि उनकी दिल्लगी से कितने घर

तबाह हो जायेंगे। ओंकारनाथ का पत्र नहीं चलता तो बेचारे खन्ना क्या करें ! और आज उनके पत्र के एक लाख ग्राहक हो जायें, और उससे उन्हें पाँच लाख का लाभ होने लगे, तो क्या वह केवल अपने गुज़ारे-भर को लेकर शेष कार्यकर्ताओं में बाँट देंगे ? कहाँ की बात ! और वह त्यागी मिर्ज़ा खुर्शेद भी तो एक दिन लखपति थे। हज़ारों मजूर उनके नौकर थे। तो क्या वह अपने गुजारे-भर को लेकर सब कुछ मजूरों में बाँट देते थे ? वह उसी गुज़ारे की रकम में युरोपियन छोकरियों के साथ विहार करते थे। बड़े-बड़े अफ़सरों के साथ दावतें उड़ाते थे, हज़ारों रुपये महीने की शराब पी जाते थे और हर-साल फ्रांस और स्वीटज़रलैण्ड की सैर करते थे। आज मजूरों की दशा पर उनका कलेजा फटता है !

इन दोनों नेताओं की तो खन्ना को परवाह न थी। उनकी नियत की सफ़ाई में पूरा सन्देह था। न रायसाहब की ही उन्हें परवाह थी, जो हमेशा खन्ना की हाँ-में-हाँ मिलाया करते थे और उनके हरएक काम का समर्थन कर दिया करते थे। अपने परिचितों मे केवल एक ही ऐसा व्यक्ति था, जिसके निष्पक्ष विचार पर खन्नाजी को पूरा भरोसा था और वह डॉक्टर मेहता थे। जब से उन्होंने मालती से घनिष्ठता बढ़ानी शुरू की थी, खन्ना की नज़रों में उनकी इज़्ज़त बहुत कम हो गई थी। मालती बरसों खन्ना की हृदयेश्वरी रह चुकी थी; पर उसे उन्होंने सदैव खिलौना समझा था। इसमें सन्देह नहीं कि वह खिलौना उन्हे बहुत प्रिय था। उसके खो जाने, या टूट जाने, या छिन जाने पर वह खूब रोते और वह रोये थे, लेकिन थी वह खिलौना ही। उन्हें कभी मालती पर विश्वास न हुआ। वह कभी उनके ऊपरी विलास-आवरण को छेदकर उनके अन्तःकरण तक न पहुँच सकी थी। वह अगर खुद खन्ना से विवाह का प्रस्ताव करती, तो वह स्वीकार न करते। कोई बहाना करके टाल देते।

अन्य कितने ही प्राणियों की भाँति खन्ना का जीवन भी दोहरा या दो-रुखी था। एक ओर वह त्याग, जन-सेवा और उपकार के भक्त थे, तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास, प्रभुता के। कौन उनका असली रुख था, यह कहना कठिन है। कदाचित् उनकी आत्मा का उत्तम आधा सेवा और ? सहृदयता से बना हुआ था, मद्धिम आधा स्वार्थ और विलास से। पर उत्तम और मद्धिम में बराबर संघर्ष होता रहता था। और मद्धिम ही अपनी उद्दण्डता और हठ के कारण सौम्य और शान्त उत्तम पर ग़ालिब आता था। उनका मद्धिम मालती की ओर झुकता था, उत्तम मेहता की ओर; लेकिन वह उत्तम अब मद्धिम के साथ एक हो गया था। उनकी समझ में न आता था कि मेहता-जैसा आदर्शवादी व्यक्ति मालती-जैसी चंचल, विलासिनी रमणी पर कैसे आसक्त हो गया ! वह बहुत प्रयास करने पर भी मेहता को वासनाओं का शिकार स्थिर न कर सकते थे और कभी-कभी उन्हें यह सन्देह भी होने लगता था कि मालती का कोई दूसरा रूप भी है, जिसे वह न देख सके या जिसे देखने की उनमें क्षमता न थी।

पक्ष और विपक्ष के सभी पहलुओं पर विचार करके उन्होंने यही नतीजा निकाला

कि इस परिस्थिति में मेहता ही से उन्हें प्रकाश मिल सकता है।

डॉक्टर मेहता को काम करने का नशा था। आधी रात को सोते थे और घड़ी रात रहे उठ जाते थे। कैसा भी काम हो, उसके लिये वह कहीं-न-कहीं से समय निकाल लेते थे। हॉकी खेलना हो या यूनिवर्सिटी डिबेट, ग्राम्य संगठन हो या किसी शादी का नैवेद्य, सभी कामों के लिये उनके पास लगन थी और समय था। वह पत्रों में लेख भी लिखते थे और कई साल से एक बृहत् दर्शन-ग्रन्थ लिख रहे थे, जो अब समाप्त होनेवाला था। इस वक़्त भी वह एक वैज्ञानिक खेल ही खेल रहे थे। अपने बगीचे में बैठे हुए पौधों पर विद्युत-संचार-क्रिया की परीक्षा कर रहे थे। उन्होंने हाल में एक विद्वान-परिषद में यह सिद्ध किया था कि फसलें बिजली के ज़ोर से बहुत थोड़े समय में पैदा की जा सकती हैं, उनकी पैदावार बढ़ाई जा सकती है और बेफ़स्ल की चीज़ें भी उपजायी जा सकती हैं। आजकल सबेरे के दो-तीन घण्टे वह इन्हीं परीक्षाओं में लगाया करते थे।

मिस्टर खन्ना की कथा सुनकर उन्होंने कठोर मुद्रा से उनकी ओर देखकर कहा—क्या यह ज़रूरी था कि ड्यूटी लग जाने से मजूरों का वेतन घटा दिया जाये ? आपको सरकार से शिक़ायत करनी चाहिए थी। अगर सरकार ने नहीं सुना, तो उसका दण्ड मजूरों को क्यों दिया जाय ? क्या आपका विचार है कि मजूरों को इतनी मजूरी दी जाती है कि उसमें चौथाई कम कर देने से मजूरों को कष्ट नहीं होगा ? आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गंदे बदबूदार बिलों में—जहाँ आप एक मिनट भी रह जायें, तो आपको कै हो जाये। कपड़े जो पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं…

खन्ना ने अधीर होकर कहा—लेकिन हमारे सभी हिस्सेदार तो धनी नहीं हैं। कितनों ही ने अपना सर्वस्व इसी मिल को भेंट कर दिया और इसके नफ़े के सिवा उनके जीवन का कोई आधार नहीं है।

मेहता ने इसी भाव से जवाब दिया, जैसे इस दलील का उनकी नज़रों में कोई मूल्य नहीं है—जो आदमी किसी व्यापार में हिस्सा लेता है, वह इतना दरिद्र नहीं होता कि इसके नफ़े ही को जीवन का आधार समझे। हो सकता है कि नफ़ा कम मिलने पर उसे अपना एक नौकर कम कर देना पड़े या उसके मक्खन और फलों का बिल कम हो जाये; लेकिन वह नंगा या भूखा न रहेगा। जो अपनी जान खपाते हैं, उनका हक़ उन लोगों से ज़्यादा है, जो केवल रुपगा लगाते हैं।

यही बात पण्डित ओंकारनाथ ने कही थी। मिर्ज़ा खुर्शेद ने भी यही सलाह दी थी। यहाँ तक कि गोविन्दी ने भी मजूरों ही का पक्ष लिया था; पर खन्नाजी ने उन लोगों की परवाह न की थी; लेकिन मेहता के मुँह से वही बात सुनकर वह प्रभावित हो गये। ओंकारनाथ को वह स्वार्थी समझते थे, मिर्ज़ा खुर्शेद को ग़ैरज़िम्मेदार

और गोविन्दी को अयोग्य। मेहता की बात में चरित्र, अध्ययन और सद्भाव की शक्ति थी।

सहसा मेहता ने पूछा—आपने, अपनी देवीजी से भी इस विषय में राय ली ?

खन्ना ने सकुचाते हुए कहा—हाँ, पूछा था।

"उनकी क्या राय थी ?"

"वही, जो आपकी है।"

"मुझे यही आशा थी। और आप उस विदुषी को अयोग्य समझते हैं।"

उसी वक़्त मालती आ पहुँची और खन्ना को देखकर बोली—अच्छा, आप विराज रहे हैं ?

मैंने मेहता जी की आज दावत दी है। सभी चीज़ें अपने हाथ से पकायीं हैं। आपको भी नेवता देती हूँ। गोविन्दी देवी से आपका यह अपराध क्षमा करा दूँगी।

खन्ना को कुतूहल हुआ। अब मालती अपने हाथों से खाना पकाने लगी है ? मालती, वही मालती, जो खुद कभी अपने जूते न पहनती थी, जो खुद कभी बिजली का बटन तक न दबाती थी, विलास और विनोद ही जिसका जीवन था।

मुस्कराकर कहा—अगर आपने पकाया है तो ज़रूर खाऊँगा। मैं तो कभी सोच ही न सकता था कि आप पाक-कला में भी निपुण हैं।

मालती निःसंकोच भाव से बोली—इन्होंने मार-मारकर वैद्य बना दिया। इनका हुक्म कैसे टाल सकती ? पुरुष देवता ठहरे।

खन्ना ने इस व्यंग्य का आनन्द लेकर मेहता की ओर आँखें मारते हुए कहा—पुरुष तो आपके लिये इतने सम्मान की वस्तु न थे।

मालती झेंपी नहीं। इस संकोच का आशय समझकर जोश-भरे स्वर में बोली—लेकिन अब हो गयी हूँ; इसलिए कि मैंने पुरुष का जो रूप अपने परिचितों की परिधि में देखा था, उससे यह कहीं सुन्दर है। पुरुष ···इतना सुन्दर, इतना कोमल हृदय ···

मेहता ने मालती की ओर दीन-भाव से देखा और बोले—नहीं मालती, मुझ पर दया करो, नहीं तो मैं यहाँ से भाग जाऊँगा।

इन दिनों, जो कोई मालती से मिलता, वह उससे मेहता की तारीफों के पुल बाँध देती, जैसे कोई नवदीक्षित अपने नये विश्वासों का ढिंढोरा पीटता फिरे। सुरुचि का ध्यान भी उसे न रहता। और बेचारे मेहता दिल में कटकर रह जाते थे। वह कड़ी और कड़वी आलोचना तो बड़े शौक से सुनते थे; लेकिन अपनी तारीफ़ सुनकर जैसे बेवकूफ बन जाते थे; मुँह ज़रा-सा निकल आता था, जैसे कोई फबती छा गयी हो। और मालती उन औरतों में न थी, जो भीतर रह सके। वह बाहर ही रह सकती थी, पहले भी और अब भी; व्यवहार में भी, विचार में भी। मन में कुछ रखना वह न जानती थी। जैसे एक अच्छी साड़ी पाकर वह उसे पहनने के लिए अधीर हो

जाती थी, उसी तरह मन में कोई सुन्दर भाव आये, तो वह उसे प्रकट किये बिना चैन न पाती थी।

मालती ने और समीप आकर उनकी पीठ पर हाथ रखकर मानों उनकी रक्षा करते हुए कहा—अच्छा भागो नहीं, अब कुछ न कहूँगी। मालूम होता है, तुम्हें अपनी निन्दा ज्यादा पसन्द है। तो निन्दा ही सुनो—खन्नाजी, यह महाशय मुझ पर अपने प्रेम का जाल···

शक्कर-मिल की चिमनी यहाँ से साफ़ नज़र आती थी। खन्ना ने उसकी तरफ़ देखा। वह चिमनी खन्ना के कीर्तिस्तम्भ की भाँति आकाश में सिर उठाये खड़ी थी। खन्ना की आँखों में अभिमान चमक उठा। उसी वक्त उन्हें मिल के दफ़्तर में जाना है। वहाँ डायरेक्टरों की एक अर्जेण्ट मीटिंग करनी होगी और इस परिस्थिति को उन्हें समझाना होगा और इस समस्या को हल करने का उपाय भी बतलाना होगा।

मगर चिमनी के पास यह धुआँ कहाँ से उठ रहा है ? देखते-देखते सारा आकाश बैलून की भाँति धुँए से भर गया। सबों ने सशंक होकर उधर देखा। कहीं आग तो नहीं लग गयी ? आग ही मालूम होती है।

सहसा सामने सड़क पर हज़ारों आदमी मिल की तरफ़ दौड़े जाते नज़र आये। खन्ना ने खड़े होकर जोर से पूछा—तुम लोग कहाँ दौड़े जा रहे हो ?

एक आदमी ने रुककर कहा—अजी, शक्कर-मिल में आग लग गयी ! आप देख नहीं रहे हैं ?

खन्ना ने मेहता की ओर देखा और मेहता ने खन्ना की ओर। मालती दौड़ी हुई बँगले में गयी और अपने जूते पहन आयी। अफ़सोस और शिकायत करने का अवसर न था। किसी के मुँह से एक बात न निकली। खतरे में हमारी चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है। खन्ना की कार खड़ी थी ही। तीनों आदमी घबराये हुए आकर बैठे और मिल की तरफ़ भागे। चौराहे पर पहुँचे, तो देखा, सारा शहर मिल की ओर उमड़ा चला आ रहा है। आग में आदमियों को खींचने का जादू है। कार आगे न बढ़ सकी।

मेहता ने पूछा—आग-बीमा तो करा लिया था न !

खन्ना लम्बी साँस खींचकर कहा—कहाँ भाई, अभी तो लिखा-पढ़ी हो रही थी। क्या जानता था, यह आफ़त आनेवाली है !

कार वहीं राम-आसरे छोड़ दी गयी और तीनों आदमी भीड़ चीरते हुए मिल के सामने जा पहुँचे। देखा तो अग्नि का एक सागर आकाश में उमड़ रहा था। अग्नि की उन्मत्त लहरें एक-पर-एक दाँत पीसती थीं, जीभ लपलपाती थीं, जैसे आकाश को भी निगल जायेंगी। उस अग्नि-समुद्र के नीचे ऐसा धुआँ छाया था, मानों सावन की घटा कालिख़ में नहाकर नीचे उतर आयी हो। उसके ऊपर जैसे आग का थरथराता हुआ, उबलता हुआ हिमाचल खड़ा था। हाते में लाखों आदमियों की भीड़ थी, पुलिस भी थी, फायर ब्रिगेड भी, सेवा-समितियों के सेवक भी; पर सब-के-सब आग की

भीषणता से मानो शिथिल हो गए हों। फ़ायर ब्रिगेड़ के छींटे उस अग्नि-सागर में जाकर जैसे बुझ जाते थे। ईंटें जल रही थीं, लोहे के गार्डर जल रहे थे और पिघली हुई शक्कर के परनाले चारों तरफ बह रहे थे। और तो और, ज़मीन से भी ज्वाला निकल रही थी।

दूर से मेहता और खन्ना को यह आश्चर्य हो रहा था कि इतने आदमी खड़े तमाशा क्यों देख रहे हैं, आग बुझाने में मदद क्यों नहीं करते; मगर अब इन्हें भी ज्ञात हुआ कि तमाशा देखने के सिवा और कुछ करना अपने वश से बाहर है। मिल की दीवारों से पचास गज के अन्दर जाना जान-जोखिम था। ईंट और पत्थर के टुकड़े चटाक-चटाक टूटकर उछल रहे थे। कभी-कभी हवा का रुख इधर हो जाता था, तो भगदड़ पड़ जाती थी।

यो तीनों आदमी भीड़ के पीछे खड़े थे। कुछ समझ में न आता था, क्या करें। आखिर आग लगी कैसे! और इतनी जल्द फैल कैसे गयी? क्या पहले किसी ने देखा ही नहीं? या देखकर भी बुझाने का प्रयास न किया? इस तरह के प्रश्न सभी के मन में उठ रहे थे; मगर वहाँ पूछें किससे, मिल के कर्मचारी होगें तो जरूर; लेकिन उस भीड़ में उनका पता मिलना कठिन था।

सहसा हवा का इतना तेज़ झोंका आया कि आग की लपटें नीची होकर इधर लपकीं, जैसे समुद्र मे ज्वार आ गया हो। लोग सिर पर पाँव रखकर भागे। एक-दूसरे पर गिरते, रेलते, जैसे कोई शेर झपटा आता हो। अग्नि-ज्वालायें जैसे सजीव हो गयी थीं, सचेष्ट भी, जैसे कोई शेषनाग अपने सहस्र मुख से आग फुंकार रहा हो। कितने ही आदमी तो इस रेले में कुचल गये। खन्ना मुँह के बल गिर पड़े, मालती को मेहताजी दोनों हाथों से पकड़े हुए थे, नहीं ज़रूर कुचल गयी होती? तीनों आदमी हाते की दीवार के पास एक इमली के पेड़ के नीचे आकर रुके। खन्ना एक प्रकार की चेतना-शून्य तन्मयता से मिल की चिमनी की ओर टकटकी लगाये खड़े थे।

मेहता ने पूछा—आपको ज्यादा चोट तो नहीं आयी?

खन्ना ने कोई जवाब न दिया। उसी तरफ ताकते रहे। उनकी आँखों में वह शून्यता थी, जो विक्षिप्तता का लक्षण है।

मेहता ने उनका हाथ पकड़कर फिर पूछा—हम लोग यहाँ व्यर्थ खड़े हैं। मुझे भय होता है, आपको चोट ज्यादा आ गयी। आइए, लौट चलें।

खन्ना ने उनकी तरफ देखा और जैसे सनककर बोले—जिनकी यह हरकत है, उन्हें मैं खूब जानता हूँ। अगर उन्हें इसी में सन्तोष मिलता है, तो भगवान उनका भला करे। मुझे कुछ परवा नहीं, कुछ परवा नहीं। कुछ परवा नहीं! मैं आज चाहूँ, तो ऐसी नई मिल खड़ी कर सकता हूँ। जी हाँ, बिलकुल नई मिल खड़ी कर सकता हूँ। यह लोग मुझे क्या समझते हैं? मिल ने मुझे नहीं बनाया, मैंने मिल को बनाया। और मैं फिर बना सकता हूँ; मगर जिनकी यह हरकत है, उन्हें मैं खाक में मिला दूँगा। मुझे सब मालूम है, रत्ती-रत्ती मालूम है।

मेहता ने उनका चेहरा और उनकी चेष्टा देखी और घबराकर बोले—चलिये, आपको घर पहुँचा दूँ। आपकी तबीयत अच्छी नहीं है।

खन्ना ने कहकहा मारकर कहा—मेरी तबीयत अच्छी नहीं है ! इसलिए कि मिल जल गयी। ऐसी मिलें मैं चुटकियों में खोल सकता हूँ। मेरा नाम खन्ना है, चन्द्रप्रकाश खन्ना ! मैंने अपना सब कुछ इस मिल में लगा दिया। पहली मिल में हमने २० प्रतिशत नफ़ा दिया। मैंने प्रोत्साहित होकर यह मिल खोली। इसमें आधे रुपये मेरे हैं। मैंने बैंक के दो लाख इस मिल में लगा दिये। मैं एक घण्टा नहीं, आध घण्टा पहले, दस लाख का आदमी था। जी हाँ, दस लाख; मगर इस वक़्त फ़ाकेमस्त हूँ—नहीं दिवालिया हूँ ! मुझे बैंक के दो लाख देना है। जिस मकान में रहता हूँ, वह अब मेरा नहीं है। जिस बर्तन में खाता हूँ, वह भी अब मेरा नहीं है। बैंक से मैं निकाल दिया जाऊँगा। जिस खन्ना को देखकर लोग जलते थे, वह खन्ना अब धूल में मिल गया है। समाज में अब मेरा कोई स्थान नहीं है, मेरे मित्र मुझे अपने विश्वास का पात्र नहीं, दया का पात्र समझेंगे। मेरे शत्रु मुझसे जलेंगे, नहीं, मुझ पर हँसेंगे। आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नक़ली बाट रखे। क्या कीजियेगा, यह सब सुनकर; लेकिन खन्ना अपनी यह दुर्दशा कराने के लिये क्यों ज़िंदा रहे ? जो कुछ होना है हो, दुनिया जितना चाहे हँसे, मित्र लोग जितना चाहें अफ़सोस करें, लोग जितनी गालियाँ देना चाहें दें। खन्ना अपनी आखों से देखने और अपने कानो से सुनने के लिये जीता न रहेगा। वह बेहया नहीं, बेग़ैरत नहीं है !

यह कहते-कहते खन्ना दोनों हाथों से सिर पीटकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे।

मेहता ने उन्हें छाती से लगाकर दुखित स्वर में कहा—खन्नाजी, ज़रा धीरज से काम लीजिये। आप समझदार होकर दिल इतना छोटा करते हैं। दौलत से आदमी को जो सम्मान मिलता है, वह उसका सम्मान नहीं, उसकी दौलत का सम्मान है। आप निर्धन रहकर भी मित्रों के विश्वासपात्र रह सकते हैं और शत्रुओं के भी; बल्कि तब कोई आपका शत्रु रहेगा ही नहीं। आइए, घर चलें। ज़रा आराम कर लेने से आपका चित्त शान्त हो जायेगा।

खन्ना ने कोई जवाब न दिया। तीनों आदमी चौरस्ते पर आये। कार खड़ी थी। दस मिनट में खन्ना की कोठी पर पहुँच गये।

खन्ना ने उतरकर शान्त स्वर में कहा—कार आप ले जायें। अब मुझे इसकी जरूरत नहीं है।

मालती और मेहता भी उतर पड़े। मालती ने कहा—तुम चलकर आराम से लेटो, हम बैठे गप-शप करेंगे। घर जाने की तो ऐसी कोई जल्दी नहीं है।

खन्ना ने कृतज्ञता से उसकी ओर देखा और करुण-कंठ से बोले—मुझसे जो अपराध हुये हैं, उन्हें क्षमा कर देना मालती ! तुम और मेहता, बस तुम्हारे सिवा

संसार में मेरा कोई नहीं है। मुझे आशा है, तुम मुझे अपनी नज़रों से न गिराओगी। शायद दस-पाँच दिन में यह कोठी भी छोड़नी पड़े। किस्मत ने कैसा धोखा दिया !

मेहता ने कहा—मैं आपसे सच कहता हूँ खन्नाजी, आज मेरी नज़रों में आपकी जो इज़्ज़त है, वह कभी न थी।

तीनो आदमी कमरे में दाखिल हुए। द्वार खुलने की आहट पाते ही गोविन्दी भीतर से आकर बोली—क्या आप लोग वहीं से आ रहे हैं ? महाराज तो बड़ी बुरी खबर लाया।

खन्ना के मन में ऐसा प्रबल, न रुकनेवाला, तूफानी आवेश उठा कि गोविन्दी के चरणो पर गिर पड़े और उसे आँसुओं से धो दें। भारी गले से बोले—हाँ प्रिये, हम तबाह हो गये।

उनकी निर्जीव, निराश आहत आत्मा सान्त्वना के लिये विकल हो रही थी, सच्ची, स्नेह मे डूबी हुई सान्त्वना के लिये—उस रोगी की भाँति, जो जीवन-सूत्र क्षीण हो जाने पर भी वैद्य के मुख की ओर आशा-भरी आखों से ताक रहा हो। वही गोविन्दी जिस पर उंन्होने हमेशा जुल्म किया, जिसका हमेशा अपमान किया, जिससे हमेशा बेवफाई की, जिसे सदैव जीवन का भार समझा, जिसकी मृत्यु की सदैव कामना करते रहे, वही इस समय जैसे अचल में आशीर्वाद और मंगल अभय लिये उन पर वार रही थी, जैसे उन चरणो मे ही उनके जीवन का स्वर्ग हो, जैसे वह उनके अभागे मस्तक पर हाथ रखकर ही उनकी प्राणहीन धमनियों में फिर रक्त का संचार कर देगी। मन की इस दुर्बल दशा में, घोर विपत्ति में, मानों वह उन्हें कंठ से लगा लेने के लिये खडी थी। नौका पर बैठे हुए जल-विहार करते समय हम जिन चट्टानों को घा.तक समझते हैं, और चाहते हैं कि कोई इन्हें खोदकर फेक देता, उन्हीं से, नौका टूट जाने पर, हम चिमट जाते हैं।

गोविन्दी ने इन्हें एक सोफा पर बैठा दिया और स्नेह-कोमल स्वर में बोली—तो तुम दिल इतना छोटा क्यों करते हो ? धन के लिए, जो सारे पाप की जड़ है ? उस धन से हमे क्या सुख था ? सबेरे से आधी रात तक एक-न-एक झंझट—आत्मा का सर्वनाश ! लड़के तुमसे बात करने को तरस जाते थे, तुम्हें सम्बन्धियों को पत्र लिखने तक की फुरसत न मिलती थी। क्या बड़ी इज़्ज़त थी ? हाँ, थी; क्योंकि दुनियाँ आज तक धन की पूजा करती चली आयी है। उसे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं। जब तक तुम्हारे पास लक्ष्मी है, तुम्हारे सामने पूँछ हिलायेगी। कल उतनी ही भक्ति से दूसरों के द्वार पर सिजदे करेगी। तुम्हारी तरफ ताकेगी भी नहीं। सत्पुरुष ,धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं, तुम क्या हो; अगर तुममें सच्चाई है, न्याय है, त्याग है, पुरुषार्थ है, तो वे तुम्हारी पूजा करेंगे, नहीं, तुम्हें समाज का लुटेरा समझकर मुँह फेर लेगे, बल्कि तुम्हारे दुश्मन हो जायेंगे। मैं ग़लत तो नहीं कहती मेहताजी ?

मेहता ने मानो स्वर्ग-स्वप्न से चौंककर कहा—ग़लत ? आज वही कह रही हैं, जो संसार के महान पुरुषों ने जीवन का सात्त्विक अनुभव करने के बाद कहा है। जीवन का सच्चा आधार यही है।

गोविन्दी ने मेहता को सम्बोधित करके कहा—धनी कौन होता है, इसका कोई विचार नहीं करता। वही जो अपने कौशल से दूसरों को बेवकूफ बना सकता है ...

खन्ना ने बात काटकर कहा—नहीं गोविन्दी, धन कमाने के लिए अपने संस्कार चाहिये। केवल कौशल से धन नहीं मिलता। इसके लिये भी त्याग और तपस्या करनी पड़ती है। शायद इतनी साधना में ईश्वर भी मिल जाये। हमारी सारी आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों के सामंजस्य का नाम धन है।

गोविन्दी ने विपक्षी न बनकर मध्यस्थ भाव से कहा—मैं मानती हूँ कि धन के लिए थोड़ी तपस्या नहीं करती पड़ती; लेकिन फिर भी हमने उसे जीवन मे जितने महत्त्व की वस्तु समझ रखा है, उतना महत्त्व उसमें नहीं है। मैं तो खुश हूँ कि तुम्हारे सिर से यह बोझ टला। अब तुम्हारे लड़के आदमी होंगे, स्वार्थ और अभिमान के पुतले नहीं। जीवन का सुख, दूसरों को सुखी करने में हैं, उनको लूटने मे नही। बुरा न मानना अब तक तुम्हारे जीवन का अर्थ था आत्मसेवा, भोग और विलास। देव ने तुम्हें उस साधन से वंचित करके तुम्हें ज्यादा ऊँचे, पवित्र जीवन का रास्ता खोल दिया है। यह सिद्धि प्राप्त करने में अगर कुछ कष्ट भी हो, तो उसका स्वागत करो। तुम इसे विपत्ति समझते ही क्यों हो ? क्यों नहीं समझते, तुम्हें अन्याय से लड़ने का यह अवसर मिला है। मेरे विचार में तो पीड़क होने से पीड़ित होना कहीं श्रेष्ठ है। धन खोकर अगर हम अपनी आत्मा को पा सकें, तो यह कोई महँगा सौदा नहीं है। न्याय के सैनिक बनकर लड़ने में जो गौरव, जो उल्लास है, क्या उसे इतनी जल्द भूल गये ?

गोविन्दी के पीले, सूखे मुख पर तेज की ऐसी चमक थी, मानो उसमें कोई विलक्षण शक्ति आ गयी हो, मानो उसकी सारी मूक साधना प्रगल्भ हो उठी हो।

मेहता उसकी ओर भक्तिपूर्ण नेत्रों से ताक रहे थे, खन्ना सिर झुकाये इसे दैवी प्रेरणा समझने की चेष्टा कर रहे थे और मालती मन में लज्जित थी। गोविन्दी के विचार इतने ऊँचे, उसका हृदय इतना विशाल और उसका जीवन इतना उज्ज्वल है !

उन्तीस

नोहरी उन औरतों में न थी, जो नेकी करके दरिया में डाल देती हैं। उसने नेकी की है, तो उसका खूब ढिंढोरा पीटेगी और उससे जितना यश मिल सकता है, उससे कुछ ज्यादा ही पाने के लिए हाथ-पाँव मारेगी। ऐसे आदमी को यश के बदले अपयश और बदनामी ही मिलती है। नेकी न करना बदनामी की बात नहीं—अपनी इच्छा

नही है, या सामर्थ्य नही है। इसके लिये कोई हमे बुरा नही कह सकता। मगर जब हम नेकी करके उसका एहसान जताने लगते हैं, तो वही जिसके साथ हमने नेकी की थी, हमारा शत्रु हो जाता है, और हमारे एहसान को मिटा देना चाहता है। वही नेकी अगर करनेवालो के दिल मे रहे, तो नेकी है, बाहर निकल आये तो बदी है। नोहरी चारो ओर कहती फिरती थी—बेचारा होरी बडी मुसीबत मे था। बेटी के ब्याह के लिये जमीन रेहन रख रहा था। मैंने उनकी यह दशा देखी तो मुझे दया आयी। धनिया से तो जी जलता था, वह रॉड तो मारे घमड के धरती पर पॉव ही नही रखती। बेचारा होरी चिन्ता मे घुला जाता था। मैंने सोचा, इस सकट मे इसकी कुछ मदद कर दूँ। आखिर आदमी ही तो आदमी के काम आता है। और होरी तो अब कोई गैर नही है, मानो चाहे न मानो, वह हमारे नातेदार हो चुके। रुपये निकालकर दे दिये; नही लडकी अब तक बैठी होती।

धनिया भला यही जीट कब सुनने लगी। रुपये खैरात दिये थे ? बडी देनेवाली ! सूद महाजन भी लेगा, तुम भी लोगी। एहसान काहे का ! दूसरो को देती, सूद की जगह मूल भी गायब हो जाता; हमने लिया है, तो हाथ मे रुपये आते ही नाक पर रख देगे। हमी थे कि तुम्हारे घर का बिस उठाके पी गये, और कभी मुँह पर नही लाये। कोई यहाँ द्वार पर नही खडा होने देता था। हमने तुम्हारा मरजाद बना दिया, तुम्हारे मुँह की लाली रख ली।

रात के दस बज गये थे। सावन की अँधेरी घटा छायी थी। सारे गॉव मे अन्धकार था। होरी ने भोजन करके तमाखू पिया और सोने जा रहा था कि भोला आकर खडा हो गया।

होरी ने पूछा—कैसे चले भोला महतो ! जब इसी गॉव मे रहना है तो क्यो अलग छोटा-सा घर नही बना लेते ? गाँव मे लोग कैसी-कैसी कुत्सा उडाया करते हैं, क्या यह तुम्हे अच्छा लगता है ? बुरा न मानना, तुमसे सम्बन्ध हो गया है, इसलिए तुम्हारी बदनामी नही सुनी जाती, नही मुझे क्या करना था।

धनिया उसी समय लोटे मे पानी लेकर होरी के सिरहाने रखने आयी। सुनकर बोली—दूसरा मर्द होता, तो ऐसी औरत का सिर काट लेता।

होरी ने डॉटा—क्यो बे-बात की बात करती है। पानी रख दे और जा सो। आज तू ही कुराह चलने लगे, तो मैं तेरा सिर काट लूँगा ? काटने देगी ?

धनिया उसे पानी का एक छीटा मारकर बोली—कुराह चले तुम्हारी बहन मैं क्यो कुराह चलने लगी ! मैं तो दुनिया की बात कहती हूँ, तुम मुझे गालियाँ देने लगे। अब मुँह मीठा हो गया होगा। औरत चाहे जिस रास्ते जाये, मर्द टुकुर-टुकुर देखता रहे ऐसे मर्द को मैं मर्द नही कहती।

होरी दिल में कटा जाता था। भोला उससे अपना दुख-दर्द कहने आया होगा। वह उलटे उसी पर टूटी पड़ी। जरा गर्म होकर बोला—तू जो सारे दिन अपने ही मन की किया करती है, तो मैं तेरा क्या बिगाड़ लेता हूँ ? कुछ कहता हूँ तो काटने दौड़ती

है यही सोच।

धनिया ने लल्लो-चप्पो करना न सीखा था। बोली—औरत घी का घड़ा लुढ़का दे, घर में आग लगा दे, मर्द सह लेगा; लेकिन उसका कुराह चलना कोई मर्द न सहेगा।

भोला दुखित स्वर में बोला—तू बहुत ठीक कहती है धनिया! बेसक मुझे उसका सिर काट लेना चाहिए था, लेकिन अब उतना पौरुष तो नहीं रहा। तू चलकर समझा दे, मैं सब कुछ करके हार गया।

"जब औरत को बस में रखने का बूता न था, तो सगाई क्यों की थी? इसी छीछालेदर के लिये? क्या सोचते थे, वह आकर तुम्हारे पाँव दबायेगी, तुम्हे चिलम भर-भर पिलायेगी और जब तुम बीमार पड़ोगे, तो तुम्हारी सेवा करेगी? तो ऐसा वही औरत कर सकती है, जिसने तुम्हारे साथ जवानी का सुख उठाया हो। मेरी समझ में यही नहीं आता कि तुम उसे देखकर लट्टू कैसे हो गये! कुछ देखभाल तो कर लिया होता कि किस स्वभाव की है, किस रंग-ढंग की है। तुम तो भूखे सियार की तरह टूट पडें अब तो तुम्हारा धरम यही है कि गड़ासे से उसका सिर काट लो। फाँसी ही तो पाओगे। फाँसी इस छीछालेदर से अच्छी!"

भोला के खून में कुछ स्फूर्ति आयी। बोला—तो तुम्हारी यही सलाह है?

धनिया बोली—हाँ, मेरी यही सलाह है। अब सौ-पचास बरस तो जीओगे नहीं। समझ लेना, इतनी ही उमिर थी।

होरी ने अब की जोर से फटकारा—चुप रह, बड़ी आयी है वहाँ से सतवन्ती बनके। जबरदस्ती चिड़िया तक तो पिंजड़े में रहती नहीं, आदमी क्या रहेगा? तुम उसे छोड़ दो भोला और समझ लो, भर गयी, और जाकर अपने बाल-बच्चों में आराम से रहो। दो रोटी खाओ और राम का नाम लो। जवानी के सुख अब गये। वह औरत चंचल है, बदनामी और जलन के सिवा तुम उससे कोई सुख न पाओगे।

भोला नोहरी को छोड़ दे, असम्भव! नोहरी इस समय भी उसकी ओर रोष-भरी आँखों से तरेरती हुई जान पड़ती थी; लेकिन नहीं, भोला अब उसे छोड़ ही देगा। जैसा कर रही है, उसका फल भोगे।

आँखों में आँसू आ गये। बोला—होरी भैया, इस औरत के पीछे मेरी जितनी साँसत हो रही है, मैं ही जानता हूँ। इसी के पीछे कामता से मेरी लड़ाई हुई। बुढ़ापे में यह दाग़ भी लगना था, वह लग गया। मुझे रोज़ ताना देती है कि तुम्हारी तो लड़की निकल गयी। मेरी लड़की निकल गयी, चाहे भाग गयी; लेकिन अपने आदमी के साथ पड़ी तो है, उसके सुख-दुःख की साथिन तो है। इसकी तरह तो मैंने औरत ही नहीं देखी। दूसरों के साथ तो हँसती है, मुझे देखा तो कुप्पे-सा मुँह फुला लिया। मैं गरीब आदमी ठहरा, तीन-चार आने रोज़ की मजूरी करता हूँ। दूध-दही माँस-मछली, रबड़ी-मलाई कहाँ से लाऊँ!

भोला यहाँ से प्रतिज्ञा करके अपने घर गये। अब बेटों के साथ रहेंगे, बहुत धक्के खा चुके; लेकिन दूसरे दिन प्रातःकाल होरी ने देखा, तो भोला दुलारी सहुआइन

की दुकान से तमाखू लिये चले जा रहे थे।

होरी ने पुकारना उचित न समझा। आसक्ति मे आदमी अपने बस मैं नही रहता। वहाँ से आकर धनिया से बोला–भोला तो अभी वहीं है। नोहरी ने सचमुच इन पर कोई जादू कर दिया है।

धनिया ने नाक सिकोड़कर कहा–जैसी बेहया वह है, वैसा ही बेहया यह है। ऐसे मर्द को तो चुल्लू-भर पानी मे डूब मरना चाहिये। अब वह सेखी न जाने कहाँ गयी। झुनिया यहाँ आयी, तो उसके पीछे डण्डा लिये फिर रहे थे। इज़्जत बिगडी जाती थी। अब इज्ज़त नहीं बिगडती !

होरी को भोला पर दया आ रही थी। बेचारा इस कुलटा के फेर में पड़कर अपनी ज़िन्दगी बरबाद किये डालता है। छोडकर जाये भी, तो कैसे ? स्त्री को इस तरह छोडकर जाना क्या सहज है ? यह चुड़ैल उसे वहाँ भी तो चैन से न बैठने देगी ! कहीं पचायत करेगी, कही रोटी-कपड़े का दावा करेगी। अभी तो गाँव के ही लोग जानते हैं। किसी को कुछ कहते संकोच होता है। कनफुसकियाँ करके ही रह जाते हैं। तब तो दुनिया भी, भोला ही को बुरा कहेगी। लोग यही तो कहेगे, कि जब मर्द ने छोड दिया, तो बेचारी अबला क्या करे ? मर्द बुरा हो, तो औरत की गर्दन काट लेगा। औरत बुरी हो, तो मर्द के मुँह कालिख लगा देगी।

इसके दो महीने बाद, एक दिन गाँव मे यह खबर फैली कि नोहरी ने मारे जूतों के भोला की चाँद गंजी कर दी।

वर्षा समाप्त हो गयी थी और रबी बोने की तैयारियाँ हो रही थीं। होरी की ऊख तो नीलाम हो गयी थी। ऊख के बीज के लिये उसे रुपये न मिले और ऊख न बोयी गयी। उधर दाहिना बैल भी बैठाऊँ हो गया था और एक नये बैल के बिना काम न चल सकता था। पुनिया का एक बैल नाले में गिरकर मर गया था, तब से और भी अड़चन पड़ गयी थी। एक दिन पुनिया के खेत में हल जाता, एक दिन होरी के खेत में। खेतों की जुताई जैसी होनी चाहिए, वैसी न हो पाती थी।

होरी हल लेकर खेत में गया; मगर भोला की चिन्ता बनी हुई थी। उसने अपने जीवन में कभी यह न सुना था कि किसी स्त्री ने अपने पति को जूते से मारा हो। जूतों से क्या, थप्पड़ या घूँसे से मारने की भी कोई घटना उसे याद न आती थी; और आज नोहरी ने भोला को जूतों से पीटा और सब लोग तमाशा देखते रहे। इस औरत से कैसे उस अभागे का गला छूटे ! अब तो भोला को कहीं डूब ही मरना चाहिये। जब जिन्दगी में बदनामी और दुर्दसा के सिवा और कुछ न हो, तो आदमी का मर जाना ही अच्छा है। कौन भोला के नाम को रोनेवाला बैठा है ! बेटे चाहे क्रिया-करम कर दें; लेकिन लोक-लाज के बस, आँसू किसी की आँख में न आयेगा। तिरसना के बस में पड़कर आदमी इस तरह अपनी जिन्दगी चौपट करता है। जब कोई रोनेवाला नहीं, तो फिर जिन्दगी का क्या मोह और मरने से क्या डरना !

एक यह नोहरी है और एक यह चमारिन है, सिलिया ! देखने-सुनने में उससे

लाख दरजे अच्छी। चाहे दो को खिलाकर खाये और राधिका बनी घूमे; लेकिन मजूरी करती है, भूखों मरती है और मतई के नाम पर बैठी है, और वह निर्दयी बात भी नहीं पूछता। कौन जाने, धनिया मर गयी होती, तो आज होरी की भी यही दसा होती। उसकी मौत की कल्पना ही से होरी को रोमांच हो उठा। धनिया की मूर्ति मानसिक नेत्रों के सामने आकर खड़ी हो गयी—सेवा और त्याग की देवी; जबान की तेज, पर मोम-जैसा हृदय; पैसे-पैसे के पीछे प्राण देनेवाली, पर मर्यादा-रक्षा के लिये अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार। जवानी में वह कम रूपवती न थी। नोहरी उसके सामने क्या है ? चलती थी, तो रानी-सी लगती थी। जो देखता था, देखता ही रह जाता था। यह पटेश्वरी और झिंगुरी तब जवान थे। दोनो धनिया को देखकर छाती पर हाथ रख लेते थे। द्वार के पास सौ-सौ चक्कर लगाते थे। होरी उनकी ताक में रहता था; मगर छेड़ने का कोई बहाना न पाता था। उन दिनो घर में खाने-पीने की बड़ी तगी थी। पाला पड़ गया था और खेतो मे भूसा तक न हुआ था। लोग झड़बेरियाँ खा-खाकर दिन काटते थे। होरी को क़हत के कैम्प मे काम करने जाना पड़ता था। छः पैसे रोज़ मिलते थे। धनिया घर मे अकेली ही रहती थी; लेकिन कभी किसी ने उसे किसी छैला की ओर ताकते नही देखा। पटेश्वरी ने एक बार कुछ छेड़ की थी। उसका ऐसा मुँहतोड जवाब दिया कि अब तक नही भूले।

सहसा उसने मातादीन को अपनी ओर आते देखा। कसाई कही का, कैसा तिलक लगाये हुए है, मानो भगवान का असली भगत है। रँगा हुआ सियार ! ऐसे ब्राह्मण को पालागन कौन करे।

मातादीन ने समीप आकर कहा—तुम्हारा दाहिना तो बूढा हो गया होरी, अबकी सिंचाई में न ठहरेगा। कोई पाँच साल हुए होंगे इसे लाये ?

होरी ने दायें बैल की पीठ पर हाथ रखकर कहा—कैसा पाँचवाँ, यह आठवाँ चल रहा है भाई ! जी तो चाहता है, इसे पिंसिन दे दूँ; लेकिन किसान और किसान के बैल, इनको जमराज ही पिसिन दें, तो मिले। इसकी गर्दन पर जुआ रखते मेरा मन कचोटता है। बेचारा सोचता होगा, अब भी छुट्टी नहीं, अब क्या मेरा हाड़ जोतेगा क्या ? लेकिन अपना कोई काबू नहीं। तुम कैसे चले ! अब तो जी अच्छा है ?

मातादीन इधर एक महीने से मलेरिया ज्वर में पड़ा रहा था। एक दिन तो उसकी नाड़ी छूट गयी थी। चारपाई से नीचे उतार दिया गया था। तब से उसके मन में यह प्रेरणा हुई थी कि सिलिया के साथ अत्याचार करने का उसे यह दण्ड मिला है। जब उसने सिलिया को घर से निकाला, तब गर्भवती थी। उसे तनिक भी दया न आयी। पूरा गर्भ लेकर भी वह मजूरी करती रही। अगर धनिया ने उस पर दया न की होती तो मर गयी होती। कैसी-कैसी मुसीबतें झेलकर जी रही है ! मजूरी भी तो इस दशा में नहीं कर सकती। अब लज्जित और द्रवित होकर वह सिलिया को होरी के हस्ते दो रुपये देने आया है; अगर होरी उसे वह रुपये

दे दे, तो वह उसका बहुत उपकार मानेगा।

होरी ने कहा—तुम्हीं जाकर क्यों नहीं दे देते ?

मातादीन ने दीन भाव से कहा—मुझे उसके पास मत भेजो होरी महतो ! कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ ? डर भी लग रहा है कि मुझे देखकर कहीं फटकार न सुनाने लगे। तुम मुझ पर इतनी दया करो। अभी मुझसे चला नहीं जाता; लेकिन इसी रुपये के लिये एक़ जजमान के पास कोसभर दौड़ा गया था। अपनी करनी का फल बहुत भोग चुका। इस बम्हनई का बोझ अब नहीं उठाए उठता। लुक-छिपकर चाहे जितना कुकर्म करो, कोई नहीं बोलेगा। परतच्छ कुछ नहीं कर सकते, नहीं, कुल में कलंक लग जायेगा। तुम उसे समझा देना दादा, कि मेरा अपराध क्षमा कर दे। यह धरम का बन्धन बड़ा कड़ा होता है। जिस समाज में जन्मे और पले, उसकी मर्यादा का पालन तो करना ही पड़ता है। और किसी जाति का धरम बिगड़ जाये, तो उसे कोई बिसेस हानि नहीं होती ; बाम्हन का धरम बिगड़ जाये, तो वह कहीं का नहीं रहता। उसका धरम ही उसके पूर्वजों की कमाई है। उसी की वह रोटी खाता है। इस परासचित के पीछे हमारे तीन सौ बिगड़ गये। तो जब बेधरम होकर ही रहना है, तो फिर जो कुछ करना है, परतच्छ करूँगा। समाज के नाते आदमी का अगर कुछ धरम है, तो मनुष्य के नाते, भी तो उसका कुछ धरम है। समाज-धरम पालने से समाज आदर करता है; मगर मनुष्य-धरम पालने से तो ईश्वर प्रसन्न होता है।

सन्ध्या-समय जब होरी ने सिलिया को डरते-डरते रुपये दिये, तो वह जैसे अपनी तपस्या का वरदान पा गयी। दुःख का भार तो वह अकेली उठा सकती थी। सुख का भार तो अकेले नहीं उठता। किसे यह खुशखबरी सुनाये ? धनिया से वह अपने दिल की बातें नहीं कह सकती। गाँव में और कोई प्राणी नहीं, जिससे उसकी घनिष्ठता हो। उसके पेट में चूहे दौड़ रहे थे। सोना ही उसकी सहेली थी। सिलिया उससे मिलने के लिये आतुर हो गई। रात-भर कैसे सब्र करे ? मन में एक आँधी-सी उठ रही थी। अब वह अनाथ नहीं है। मातादीन ने उसकी बाँह फिर पकड़ ली। जीवन-पथ में उसके सामने अब अँधेरी, विकराल मुखवाली खाई नहीं है; लहलहाता हुआ हरा-भरा मैदान है, जिसमें झरने गा रहे हैं और हिरन कुलेलें कर रहे हैं। उसका रूठा हुआ स्नेह आज उन्मत्त हो गया है। मातादीन को उसने मन में कितना पानी पी-पीकर कोसा था। अब वह उनसे क्षमादान माँगेगी। उससे सचमुच बड़ी भूल हुई कि उसने उनको सारे गाँव के सामने अपमानित किया। वह तो चमारिन है जात क़ी हेठी, उसका क्या बिगड़ा। आज दस-बीस लगाकर बिरादरी को रोटी दे दे, फिर बिरादरी में ले ली जायेगी। उन बेचारे का तो सदा के लिये धरम नास हो गया। वह मरजाद अब उन्हें फिर नहीं मिल सकता। वह क्रोध में कितनी अन्धी हो गयी थी कि सबसे उनके प्रेम का ढिंढोरा पीटती फिरी। उनका तो धरम भिरष्ट हो गया था, उन्हें तो क्रोध था ही, उसके सिर पर क्यों भूत सवार हो गया ? वह अपने ही

घर चली जाती, तो कौन बुराई हो जाती ? घर में उसे कोई बाँध न लेता। देश मातादीन की पूजा इसीलिए तो करता है कि वह नेम-धरम से रहते हैं वही धरम नष्ट हो गया, तो वह क्यों न उसके खून के प्यासे हो जाते ?

ज़रा देर पहले तक उसकी नज़र में सारा दोष मातादीन का था, और अब सारा दोष अपना था। सहृदयता ने सहृदयता पैदा की। उसने बच्चे को छाती से लगाकर खूब प्यार किया। अब उसे देखकर लज्जा और ग्लानि नहीं होती। वह अब केवल उसकी दया का पात्र नहीं। वह अब उसके सम्पूर्ण मातृस्नेह और गर्व का अधिकारी है।

कार्तिक की रुपहली चाँदनी प्रकृति पर मधुर संगीत की भाँति छाई हुई थी। सिलिया घर से निकली। वह सोना के पास जाकर यह सुख-संवाद सुनायेगी। अब उससे नहीं रहा जाता। अभी तो साँझ हुई है। डोगी मिल जायेगी। वह क़दम बढ़ाती हुई चली। नदी पर आकर देखा तो डोंगी उस पार थी। और माँझी का कहीं पता नहीं। चाँद घुलकर जैसे नदी में बहा जा रहा था। वह एक क्षण खड़ी सोचती रही। फिर नदी में घुस पड़ी। नदी में कुछ ऐसा ज्यादा पानी तो क्या होगा ! उस उल्लास के सागर के सामने वह नदी क्या चीज़ थी ? पानी पहले तो घुटनों तक था, फिर कमर तक आया और अन्त में गर्दन तक पहुँच गया। सिलिया डरी, कहीं डूब न जाय। कहीं कोई गढ़ा न पड़ जाय, पर उसने जान पर खेलकर पाँव आगे बढ़ाया। अब वह मझधार में है। मौत उसके सामने नाच रही है, मगर वह घबड़ाई नहीं है। उसे तैरना आता है, लड़कपन में इसी नदी में वह कितनी बार तैर चुकी है। खड़े-खड़े नदी को पार भी कर चुकी है। फिर भी उसका कलेजा धक्-धक् कर रहा है; मगर पानी कम होने लगा। अब कोई भय नहीं। उसने जल्दी-जल्दी नदी पार की और किनारे पहुँचकर अपने कपड़े का पानी निचोड़ा और शीत से काँपती आगे बढ़ी। चारों ओर सन्नाटा था। गीदड़ों की आवाज भी न सुनाई पड़ती थी; और सोना से मिलने की मधुर कल्पना उसे उड़ाये लिये जाती थी।

मगर उस गाँव में पहुँचकर उसे सोना के घर जाते हुए संकोच होने लगा। मथुरा क्या कहेगा ? उसके घरवाले क्या कहेंगे ? सोना भी बिगड़ेगी कि इतनी रात गये, तू क्यों आयी। देहातों में दिन-भर के थके-माँदे किसान सरेशाम ही सो जाते हैं। सारे गाँव में सोता पड़ गया था। मथुरा के घर के द्वार बन्द थे। सिलिया किवाड़ न खुलवा सकी। लोग उसे इस भेस में देखकर क्या कहेंगे ? वहीं द्वार पर अलाव में अभी आग चमक रही थी। सिलिया अपने कपड़े सेंकने लगी। सहसा किवाड़ खुला और मथुरा ने बाहर निकलकर पुकारा—अरे कौन बैठा है अलाव के पास ?

सिलिया ने जल्दी से अंचल सिर पर खींच लिया और समीप आकर बोली—मैं हूँ, सिलिया।

"सिलिया ! इतनी रात गये कैसे आयी ? वहाँ तो सब कुशल है ?"

"हाँ, सब कुशल है। जी घबड़ा रहा था। सोचा, चलूँ, सबसे भेंट करती आऊँ।

दिन को तो छुट्टी ही नहीं मिलती।"

"तो क्या नदी थहाकर आयी है ?"

"और कैसे आती ! पानी कम न था।"

मथुरा उसे अन्दर ले गया। बरोठे में अँधेरा था। उसने सिलिया का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा। सिलिया ने झटके से हाथ छुड़ा लिया और रोब से बोली–देखो मथुरा, छेड़ोगे तो मैं सोना से कह दूँगी। तुम मेरे छोटे बहनोई हो, यह समझ लो ! मालूम होता है, सोना से मन नहीं पटता।

मथुरा ने उसकी कमर में हाथ डालकर कहा–तुम बहुत निठुर हो सिल्लो ? इस बखत कौन देखता है ?

"क्या मैं सोना से सुन्दर हूँ ? अपने भाग नहीं बखानते हो कि ऐसी इन्दर की परी पा गये। अब भौंरा बनने का मन चला है। उससे कह दूँ तो तुम्हारा मुँह न देखे।"

मथुरा लम्पट नहीं था, सोना से उसे प्रेम था। इस वक्त अँधेरा और एकान्त-और सिलिया का यौवन देखकर उसका मन चंचल हो उठा था। यह तम्बीह पाकर होश में आ गया। सिलिया को छोड़ता हुआ बोला–तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ सिल्लो, उससे न कहना। अभी जो सजा चाहो, दे लो।

सिल्लो को उस पर दया आ गयी। धीरे से उसके मुँह पर चपत जमाकर बोली–इसकी सजा यही है कि फिर मुझसे सरारत न करना, न और किसी से करना, नहीं सोना तुम्हारे हाथ से निकल जायेगी।

"मैं कसम खाता हूँ सिल्लो, अब कभी ऐसा न होगा।"

उसकी आवाज में याचना थी। सिल्लो का मन आन्दोलित होने लगा। उसकी दया सरस होने लगी।

'और जो करो ?'

'तो तुम जो चाहना करना।'

सिल्लो का मुँह उसके मुँह के पास आ गया था, और दोनों की साँस, आवाज़ और देह में कम्पन हो रहा था। सहसा सोना ने पुकारा–किससे बातें करते हो यहाँ ?

सिल्लो पीछे हट गयी। मथुरा आगे बढ़कर आँगन में आ गया और बोला–सिल्लो तुम्हारे गाँव से आयी है।

सिल्लो भी पीछे-पीछे आकर आँगन में खड़ी हो गयी। उसने देखा, सोना यहाँ कितने आराम से रहती है। ओसारी में खाट है। उस पर सुजनी का नम्र बिस्तर बिछा हुआ है; बिलकुल वैसा ही जैसा मातादीन की चारपाई पर बिछा रहता था। तकिया भी है, लिहाफ भी है। खाट के नीचे लोटे में पानी रखा हुआ है। आँगन में ज्योत्स्ना ने आईना-सा बिछा रखा है। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के

गड्ढे हैं। समीप ही ओखल है, जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा हुआ है। खपरैल पर लौकी की एक बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं दूसरी ओर की ओसारी में एक गाय बँधी हुई है। इस खंड में मथुरा और सोना सोते हैं। और लोग दूसरे खंड में होंगे। सिलिया ने सोचा, सोना का जीवन कितना सुखी है।

सोना उठकर आँगन में आ गयी थी; मगर सिल्लो से टूटकर गले नही मिली। सिल्लो ने समझा, शायद मथुरा के खड़े रहने के कारण सोना संकोच कर रही है। या कौन जाने, उसे अब अभिमान हो गया हो—सिल्लो चमारिन से गले मिलने में अपना अपमान समझती हो। उसका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया। इस मिलन से हर्ष के बदले उसे ईर्ष्या हुई। सोना का रग कितना खुल गया है, और देह कैसी कंचन की तरह निखर आयी है। गठन भी सुडौल हो गया है। मुख पर गृहिणीत्व की गरिमा के साथ युवती की सहास छवि भी है।

सिल्लो एक क्षण के लिए जैसे मन्त्र-मुग्ध-सी खड़ी ताकती रह गयी। यह वही सोना है, जो सूखी-सी देह लिये, झोटे खोले, इधर-उधर दौड़ा करती थी। महीनों सिर में तेल न पड़ता था। फटे चिथड़े लपेटे फिरती थी। आज अपने घर की रानी है। गले में हँसुली और हुमेल है, कानों में करनफूल और सोने की बालियाँ, हाथों में चाँदी के चूड़े और कंगन। आँखों में काजल है, माँग में सेंदुर। सिलिया के जीवन का स्वर्ग यहीं था, और सोना को वहाँ देखकर वह प्रसन्न न हुई। इसे कितना घमण्ड हो गया है ! कहाँ सिलिया के गले में बाँहें डाले घास छीलने जाती थी, और आज सीधे ताकती भी नहीं। उसने सोचा था, सोना उसके गले लिपटकर जरा-सा रोयेगी, उसे आदर से बैठायेगी, उसे खाना खिलायेगी; और गाँव की सैकड़ों बातें पूछेगी और अपने नए जीवन के अनुभव बयान करेगी—सोहाग-रात और मधुर मिलन की बातें होंगी। और सोना के मुँह में दही जमा हुआ है। वह यहाँ आकर पछतायी।

आखिर सोना ने रूखे स्वर में पूछा—इतनी रात को कैसे चली सिल्लो ?

सिल्लो ने आँसुओं को रोकने की चेष्टा करके कहा—तुमसे मिलने को बहुत जी चाहता था। इतने दिन हो गये, भेंट करने चली आयी।

सोना का स्वर और कठोर हुआ—लेकिन आदमी किसी के घर जाता है, तो दिन को कि इतनी रात गये ?

वास्तव में सोना को उसका आना बुरा लग रहा था। वह समय उसकी प्रेम-क्रीड़ा और हास-विलास का था, सिल्लो ने उसमें बाधक होकर जैसे उसके सामने से परोसी हुई थाली खींच ली थी।

सिल्लो निःसंज्ञ-सी भूमि की ओर ताक रही थी। धरती क्यों नहीं फट जाती कि वह उसमें समा जाये। इतना अपमान ! उसने अपने इतने ही जीवन में बहुत अपमान सहा था, बहुत दुर्दशा देखी थी; लेकिन आज यह फाँस जिस तरह उसके अन्तःकरण में चुभ गयी, वैसी कभी कोई बात न चुभी थी। गुड़, घर के अन्दर मटकों में बन्द रखा हो, तो कितना ही मूसलाधार पानी बरसे, कोई हानि नहीं होती; पर

जिस वक्त वह धूप मे सूखने के लिये बाहर फैलाया गया हो, उस वक्त तो पानी का एक छींटा भी उसका सर्वनाश कर देगा। सिलिया के अन्तःकरण की सारी कोमल भावनायें इस वक्त मुँह खोले बैठी हुई थीं कि आकाश से अमृत-वर्षा होगी। बरसा क्या, अमृत के बदले विष, और सिलिया के रोम-रोम में दौड़ गया। सर्प-दंश के समान लहरें आयीं। घर में उपवास करके सो रहना और बात है; लेकिन पंगत से उठा दिया जाना तो डूब मरने ही की बात है। सिलिया को यहाँ एक क्षण ठहरना भी असह्य हो गया, जैसे कोई उसका गला दबाये हुए हो। वह कुछ न पूछ सकी। सोना के मन में क्या है, यह वह भाँप रही थी। वह बाँबी में बैठा हुआ साँप कहीं बाहर न निकल आये, इसके पहले ही वह वहाँ से भाग जाना चाहती थी। कैसे भागे, क्या बहाना करे ? उसके प्राण क्यों नहीं निकल जाते !

मथुरा ने भण्डारे की कुंजी उठा ली थी कि सिलिया के जलपान के लिए कुछ निकाल लाये; कर्त्तव्यविमूढ़-सा खड़ा था। इधर सिल्लो की साँस टँगी हुई थी, मानों सिर पर तलवार लटक रही हो।

सोना की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप किसी पुरुष का पर-स्त्री और स्त्री का पर-पुरुष की ओर ताकना था। इस अपराध के लिये उसके यहाँ कोई क्षमा न थी। चोरी, हत्या, जाल, कोई अपराध इतना भीषण न था। हँसी-दिल्लगी को वह बुरा न समझती थी, अगर खुले हुए रूप में हो, लुके-छिपे की हँसी-दिल्लगी को भी वह हेय समझती थी। छुटपन से ही वह बहुत-सी रीति की बातें जानने और समझने लगी थी। होरी को जब कभी हाट से घर आने में देर हो जाती थी और धनिया को पता लग जाता था कि वह दुलारी सहुआइन की दुकान पर गया था, चाहे तम्बाखू लेने ही क्यों न गया हो, तो वह कई-कई दिन तक होरी से बोलती न थी और न घर का काम करती थी। एक बार इसी बात पर अपने नैहर भाग गयी थी। यह भावना सोना में और तीव्र हो गयी थी। जब तक उसका विवाह न हुआ था, यह भावना उतनी बलवान न थी, पर विवाह हो जाने के बाद तो उसने व्रत का रूप धारण कर लिया था। ऐसे स्त्री-पुरुष की अगर खाल भी खींच ली जाती, तो उसे दया न आती। प्रेम के लिए दाम्पत्य के बाहर उसकी दृष्टि में कोई स्थान न था। स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के साथ जो कर्त्तव्य है, इसी को वह प्रेम समझती थी। फिर सिल्लो से उसका बहन का नाता था। सिल्लो को वह प्यार करती थी, उस पर विश्वास करती थी। वही सिल्लो आज उससे विश्वासघात कर रही है। मथुरा और सिल्लो में अवश्य ही पहले से साँठ-गाँठ होगी। मथुरा उससे नदी के किनारे खेतों में मिलता होगा। और आज वह इतनी रात गये नदी पार करके इसीलिए आयी है। अगर उसने इन दोनों की बातें सुन ली होतीं, तो उसे खबर तक न होती। मथुरा ने प्रेम-मिलन के लिए यही अवसर सबसे अच्छा समझा होगा। घर में सन्नाटा जो है। उसका हृदय सब कुछ जानने के लिये विकल हो रहा था। वह सारा रहस्य जान लेना चाहती थी, जिसमें अपनी रक्षा के लिए कोई विधान सोच सके। और यह मथुरा यहाँ क्यों

खड़ा है ? क्या वह उसे कुछ बोलने भी न देगा ?

उसने रोष से कहा—तुम बाहर क्यों नहीं जाते, या यहीं पहरा देते रहोगे ?

मथुरा बिना कुछ कहे बाहर चला गया। उसके प्राण सूखे जाते थे कि कहीं सिल्लो सब कुछ कह न डाले।

और सिल्लो के प्राण सूखे जाते थे कि अब वह लटकती हुई तलवार सिर पर गिरा चाहती है।

तब सोना ने बड़े गम्भीर स्वर में सिल्लो से पूछा—देखो सिल्लो, मुझसे साफ़-साफ़ बता दे, नहीं, मैं तुम्हारे सामने, यहीं, अपनी गर्दन में गँड़ासा मार लूँगी। फिर तुम मेरी सौत बनकर राज करना। देखो, गँड़ासा वह सामने पड़ा है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

उसने लपककर सामने आँगन में से गँड़ासा उठा लिया और उसे हाथ में लिये, फिर बोली—यह मत समझना कि मैं खाली धमकी दे रही हूँ। क्रोध में मैं क्या कर बैठूँ, नहीं हर सकती। साफ़-साफ़ बता दे।

सिलिया काँप उठी। एक-एक शब्द उसके मुँह से निकल पड़ा, मानो ग्रामोफोन में भरी हुई आवाज़ हो। वह एक शब्द भी न छिपा सकी, सोना के चेहरे पर भीषण संकल्प खेल रहा था, मानो खून सवार हो।

सोना ने उसकी ओर बरछी की-सी चुभनेवाली आँखों से देखा और मानो कटार का आघात करती हुई बोली—ठीक-ठीक कहती हो ?

"बिल्कुल ठीक। अपने बच्चे की कसम।"

"कुछ छिपाया तो नहीं ?"

"अगर मैंने रत्ती-भर छिपाया हो तो आँखें फूट जायें।"

"तुमने उस पापी को लात क्यों नहीं मारी ? उसे दाँत क्यों नहीं काट लिया ? उसका खून क्यों नहीं पी लिया, चिल्लायी क्यों नहीं ?"

सिल्लो क्या जवाब दे !

सोना ने उन्मादिनी की भाँति अंगारे की-सी आँख निकालकर कहा—बोलती क्यों नहीं ? क्यों तूने उसकी नाक दाँतों से नहीं काट ली ? क्यों नहीं दोनों हाथों से उसका गला दबा दिया ? तब मैं तेरे चरणों पर सिर झुकाती। अब तो तुम मेरी आँखों में हरजाई हो, निरी बेसवा ! अगर यही करना था, तो मातादीन का नाम क्यों कलंकित कर रही है; क्यों किसी को लेकर बैठ नहीं जाती; क्यों अपने घर नहीं चली गयी ? यही तो तेरे घरवाले चाहते थे। तू उपले और घास लेकर बाजार जाती, वहाँ से रुपये लाती और तेरा बाप बैठा, उसी रुपये की ताड़ी पीता, फिर क्यों उस ब्राह्मण का अपमान कराया ? क्यों उसकी आबरू में बट्टा लगाया ? क्यों नदी तालाब में डूब नहीं मरती ? क्यों दूसरों के जीवन में विष घोलती है ? आज मैं तुझसे कह देती हूँ कि अगर इस तरह की बात फिर हुई और मुझे पता लगा, तो हम तीनों में से एक भी जीते न रहेंगे। बस, अब मुँह में कालिख़ लगाकर जाओ। आज से मेरे और तुम्हारे बीच में कोई नाता नहीं रहा।

सिल्लो धीरे से उठी और सँभलकर खड़ी हुयी। जान पड़ा, उसकी कमर टूट गयी है। एक क्षण साहस बटोरती रही, किन्तु अपनी सफाई में कुछ सूझ न पड़ा। आँखों के सामने अँधेरा था, सिर में चक्कर, कंठ सूख रहा था। और सारी देह सुन्न हो गयी थी, मानों रोम-छिद्रों से प्राण उड़े जा रहे हों। एक-एक पग इस तरह रखती हुयी, मानों सामने गड्ढा है, वह बाहर आयी और नदी की ओर चली।

द्वार पर मथुरा खड़ा था। बोला—इस वक्त कहाँ जाती हो सिल्लो ?

सिल्लो ने कोई जवाब न दिया। मथुरा ने फिर कुछ न पूछा।

वही रूपहली चाँदनी अब भी छायी हुई थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थीं। और सिल्लो विक्षिप्त-सी स्वप्न-छाया की भाँति नदी में चली जा रही थी।

तीस

मिल करीब-करीब पूरी जल चुकी है; लेकिन उसी मिल को फिर से खड़ा करना होगा। मिस्टर खन्ना ने अपनी सारी कोशिशें इसके लिये लगा दी हैं। मजदूरों की हड़ताल जारी है; मगर अब उससे मिल-मालिकों की कोई विशेष हानि नहीं है। नये आदमी कम वेतन पर मिल गये हैं और जी तोड़कर काम करते हैं; क्योंकि उनमें सभी ऐसे हैं, जिन्होंने बेकारी के कष्ट भोग लिये हैं और अब अपना बस चलते ऐसा कोई काम करना नहीं चाहते जिससे उनकी जीविका में बाधा पड़े। चाहे जितना काम लो, चाहे जितनी कम छुट्टियाँ दो, उन्हें कोई शिकायत नहीं। सिर झुकाये बैलों की तरह काम में लगे रहते हैं। घुड़कियाँ, गालियाँ, यहाँ तक कि डण्डों की मार भी उनमें ग्लानि नही पैदा करती; और अब पुराने मजदूरों के लिये इसके सिवा कोई मार्ग नहीं रह गया है कि वह इसी घटी हुई मजूरी पर काम करने आयें और खन्ना साहब की खुशामद करें। पण्डित ओंकारनाथ पर तो उन्हें अब रत्ती-भर भी विश्वास नहीं है। उन्हें वे अकेले-दुकेले पायें तो शायद उनकी बुरी गत बनायें; पर पण्डितजी बहुत बचे हुए रहते हैं। चिराग जलने के बाद अपने कार्यालय से बाहर नहीं निकलते और अफ़सरों की खुशामद करने लगे हैं। मिर्ज़ा खुर्शेद की धाक अब भी ज्यों-की-त्यों है; लेकिन मिर्ज़ाजी इन बेचारों का कष्ट और उसके निवारण का अपने पास कोई उपाय न देखकर दिल से चाहते हैं कि सब-के-सब बहाल हो जायें; मगर इसके साथ ही नये आदमियों के कष्ट का ख्याल करके जिज्ञासुओं से यही कह दिया करते हैं कि जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

मिस्टर खन्ना ने पुराने आदमियों को फिर नौकरी के लिये इच्छुक देखा, तो और भी अकड़ गये, हालाँकि वह मन में चाहते थे कि इस वेतन पर पुराने आदमी नयों से कहीं अच्छे हैं। नये आदमी अपना सारा ज़ोर लगाकर भी पुराने आदमियों के बराबर काम न कर सकते थे। पुराने आदमियों में अधिकांश तो बचपन से ही मिल में काम करने के अभ्यस्त थे और खूब मँजे हुए। नये आदमियों में अधिकतर

देहातों के दुखी किसान थे, जिन्हें खुली हवा और मैदान में पुराने ज़माने के लकड़ी के औजारों से काम करने की आदत थी। मिल के अन्दर उनका दम घुटता था और मशीनरी के तेज चलनेवाले पुर्जों से उन्हें भय लगता था।

आखिर जब पुराने आदमी खूब परास्त हो गये, तब खन्ना उन्हें बहाल करने पर राज़ी हुए; मगर नये आदमी इससे कम वेतन पर काम करने के लिये तैयार थे। और अब डायरेक्टरों के सामने यह सवाल आया कि वह पुरानों को बहाल करें या नयों को रहने दें। डायरेक्टरों में आधे तो नये आदमियों का वेतन घटाकर रखने के पक्ष में थे। आधों की यह धारणा थी कि पुराने आदिमयों को हाल के वेतन पर रख लिया जाये। थोड़े-से रुपये ज्यादा खर्च होंगे जरूर, मगर काम उससे ज्यादा होगा। खन्ना मिल के प्राण थे, एक तरह से सर्वेसर्वा। डायरेक्टर तो उनके हाथ की कठपुतलियाँ थे। निश्चय खन्ना ही के हाथों में था और वह अपने मित्रो से नहीं, शुत्रुओं से भी इस विषय में सलाह ले रहे थे। सबसे पहले तो उन्होंने गोविन्दी की सलाह ली। जब से मालती की ओर से उन्हें निराशा हो गयी थी और गोविन्दी को मालूम हो गया था कि मेहता जैसा विद्वान और अनुभवी और ज्ञानी आदमी मेरा कितना सम्मान करता है और मुझसे किस प्रकार की साधना की आशा रखता है, तब से दम्पति में स्नेह फिर जाग उठा था। स्नेह मत कहो; मगर साहचर्य तो था ही। आपस में वह जलन और अशान्ति न थी। बीच की दीवार टूट गयी थी।

मालती के रंग-ढंग की भी कायापलट होती जाती थी। मेहता का जीवन अब तक स्वाध्याय और चिन्तन में गुजरा था, और सब कुछ कर चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छान-बीन कर लेने पर वह इसी तत्त्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिये असंभव समझते थे; पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गयी थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख़्याल था कि मनुष्य ने अपने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हर एक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। इसी तरह टिड्डियाँ भी ईश्वर को उत्तरदायी ठहराती होंगी, जो अपने मार्ग में समुद्र आ जाने पर अरबों की संख्या में नष्ट हो जाती हैं। मगर ईश्वर के यह विधान इतने अज्ञेय हैं कि मनुष्य की समझ में नहीं आते तो उन्हें मानने से ही मनुष्य को क्या सन्तोष मिल सकता है। ईश्वर की कल्पना का एक ही उद्देश्य उनकी समझ में आता था, और वह था मानव-जाति की एकता। एकात्मवाद या सर्वात्मवाद या अहिंसा-तत्त्व को वह आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, भौतिक दृष्टि से ही देखते थे; यद्यपि

इन तत्त्वों का इतिहास के किसी काल में भी आधिपत्य नहीं रहा, फिर भी मनुष्य-जाति के सांस्कृतिक विकास में उनका स्थान बड़े महत्त्व का है।

मानव-समाज की एकता में मेहता का दृढ़ विश्वास था; मगर इस विश्वास के लिए उन्हें ईश्वर-तत्त्व के मानने की ज़रूरत न मालूम होती थी। उनका मानव-प्रेम इस आधार पर अवलंबित न था कि प्राणी-मात्र में एक आत्मा का निवास है। द्वैत और अद्वैत का व्यापारिक महत्त्व के सिवाय यह और कोई उपयोग न समझते थे, और यह व्यापारिक महत्त्व उनके लिये मानव-जाति को एक दूसरे के समीप लाना, आपस के भेद-भाव को मिटाना और भ्रातृ-भाव को दृढ़ करना ही था। एक एकता, यह अभिन्नता, उनकी आत्मा में इस तरह जग गई थी कि उनके लिए किसी आध्यात्मिक आधार की सृष्टि उनकी दृष्टि में व्यर्थ थी। और एक बार इस तत्त्व को पाकर वह शान्त न बैठ सकते थे। स्वार्थ से अलग अधिक-से-अधिक काम करना उनके लिये आवश्यक हो गया था। इसके बग़ैर उनका चित्त शान्त न हो सकता था। यश, लोभ या कर्त्तव्यपालन के भाव उनके मन में आते ही न थे। इनकी तुच्छता ही उन्हें इनसे बचाने के लिए काफी थी। सेवा ही अब उनका स्वार्थ होती जाती थी। और उनकी इस उदार वृत्ति का असर अज्ञात रूप से मालती पर भी पडता था। अब तक जितने मर्द उसे मिले, सभी ने उसकी विलास-वृत्ति को ही उकसाया। उसकी त्याग-वृत्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी ; पर मेहता के संसर्ग में आकर उसकी त्याग-भावना सजग हो उठी थी। सभी मनस्वी प्राणियों में यह भावना छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है। आदमी अगर धन या नाम के पीछे पडा है तो समझ लो कि अभी तक वह किसी परिष्कृत आत्मा के सम्पर्क में नहीं आया।

मालती अब अक्सर गरीबों के घर बिना फीस लिये ही मरीज़ों को देखने चली जाती थी। मरीजों के साथ उसके व्यवहार में मृदुता आ गयी थी। हाँ, अभी तक वह शौक़-सिंगार से अपना मन न हटा सकी थी। रंग और पाउडर का त्याग उसे अपने आंतरिक परिवर्तनों से भी कहीं ज्यादा कठिन जान पड़ता था।

इधर कभी-कभी दोनों देहातों की ओर चले जाते थे और किसानों के साथ दो-चार घण्टे रहकर उनके झोंपड़ों में रात काटकर, और उन्हीं का-सा भोजन करके, अपने को धन्य समझते थे। एक दिन वे सेमरी पहुँच गये और घूमते-घामते बेलारी जा निकले। होरी द्वार पर बैठा चिलम पी रहा था कि मालती और मेहता आकर खड़े हो गये। मेहता ने होरी को देखते ही पहचान लिया और बोला–यही तुम्हारा गाँव है ? याद है, हम लोग रायसाहब के यहाँ आये थे और तुम धनुषयज्ञ की लीला में माली बने थे।

होरी की स्मृति जाग उठी। पहचाना और पटेश्वरी के घर की ओर कुरसियाँ लाने चला।

मेहता ने कहा–कुरसियों का कोई काम नहीं। हम लोग इसी खाट पर बैठ

जाते हैं। यहाँ कुरसी पर बैठने नहीं, तुमसे कुछ सीखने आये हैं।

दोनों खाट पर बैठे। होरी हतबुद्धि-सा खड़ा था। इन लोगों की क्या ख़ातिर करे ! बड़े-बड़े आदमी हैं उनकी ख़ातिर करने लायक उसके पास है ही क्या ?

आख़िर उसने पूछा–पानी लाऊँ ?

मेहता ने कहा–हाँ, प्यास तो लगी है।

"कुछ मीठा भी लेता आऊँ ?"

"लाओ, अगर घर में हो।"

होरी घर में मीठा और पानी लेने गया। तब तक गाँव के बालकों ने आकर इन दोनों आदमियों को घेर लिया और लगे निरखने, मानों चिड़ियाघर के अनोखे जन्तु आ गये हों।

सिल्लो बच्चे को लिये किसी काम से चली जा रही थी। इन दोनों आदमियों को देखकर कुतूहलवश ठिठक गयी।

मालती ने आकर उसके बच्चे को गोद में ले लिया और प्यार करती हुई बोली–कितने दिनों का है ?

सिल्लो को ठीक मालूम न था। एक दूसरी औरत ने बताया–कोई साल-भर का होगा, क्यों री ?

सिल्लो ने समर्थन किया।

मालती ने विनोद किया–प्यारा बच्चा है। इसे हमें दे दो।

सिल्लो ने गर्व से फूलकर कहा–आप ही का तो है।

"तो मैं इसे ले जाऊँ ?"

"ले जाइए। आपके साथ रहकर आदमी हो जायेगा।"

गाँव की और महिलाएँ आ गईं और मालती को होरी के घर में ले गईं। यहाँ मर्दों के सामने मालती से वार्तालाप करने का अवसर उन्हें न मिलता। मालती ने देखा, खाट बिछी है, और उस पर एक दरी पड़ी हुई है, जो पटेश्वरी के घर से माँगे आयी थी, मालती जाकर बैठी। सन्तान-रक्षा और शिशु-पालन की बातें होने लगीं। औरतें मन लगाकर सुनती रहीं।

धनिया ने कहा–यहाँ, यह सब सफ़ाई और संयम कैसे होगा सरकार ! भोजन तक का ठिकाना तो है नहीं।

मालती ने समझाया–सफ़ाई में कुछ खर्च नहीं। केवल थोड़ी-सी मेहनत और होशियारी से काम चल सकता है।

दुलारी सहुआइन ने पूछा–यह सारी बातें तुम्हें कैसे मालूम हुईं सरकार, आपका तो अभी ब्याह ही नहीं हुआ ?

मालती ने मुस्कराकर पूछा–तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मेरा ब्याह नहीं हुआ है ?

सभी स्त्रियाँ मुँह फेरकर मुस्कराईं। धनिया बोली–भला, यह भी छिपा रहता है, मिस साहब; मुँह देखते ही पता चल जाता है।

मालती ने झेंपते हुए कहा–इसलिए ब्याह नहीं किया कि आप लोगों की सेवा कैसे करती !

सबने एक स्वर में कहा–धन्य हो सरकार, धन्य हो।

सिलिया मालती के पाँव दबाने लगी–सरकार कितनी दूर से आयी हैं, थक गई होंगी।

मालती ने पाँव खींचकर कहा–नहीं-नहीं, मैं थकी नहीं हूँ। मैं तो हवागाड़ी पर आयी हूँ। मैं चाहती हूँ, आप लोग अपने बच्चे लायें, तो मैं उन्हें देखकर आप लोगों को बताऊँ कि आप इन्हें कैसे तन्दुरुस्त और नीरोग रख सकती हैं।

ज़रा देर मे बीस-पच्चीस बच्चे आ गये। मालती उनकी परीक्षा करने लगी। कई बच्चों की आँखें उठी थीं, उनकी आँख में दवा डाली। अधिकतर बच्चे दुर्बल थे। इसका कारण था, माता-पिता को भोजन अच्छा न मिलना। मालती को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बहुत कम घरों में दूध होता था। घी के तो सालों दर्शन ही नही होते।

मालती ने यहाँ भी उन्हें भोजन करने का महत्त्व समझाया, जैसा वह सभी गाँवों में किया करती थी। उसका जी इसलिए जलता था कि ये लोग अच्छा भोजन क्यों नहीं करते ? उसे ग्रामीणों पर क्रोध आ जाता था। क्या तुम्हारा जन्म इसीलिए हुआ कि तुम मर-मरकर कमाओ और जो कुछ पैदा हो, उसे खा न सको ? जहाँ दो-चार बैलों के लिए भोजन है, एक-दो-गाय-भैंसों के लिए चारा नहीं है ? क्यों ये लोग भोजन को जीवन की मुख्य वस्तु न समझकर उसे केवल प्राण-रक्षा की वस्तु समझते हैं ? क्यों सरकार से नहीं कहते कि नाम-मात्र के ब्याज पर रुपये देकर उन्हें सूदखोर महाजनों के पंजे से बचाये ? उसने जिस किसी से पूछा, यही मालूम हुआ कि उनकी कमाई का बड़ा भाग महाजनों का कर्ज चुकाने में खर्च हो जाता है। बँटवारे का मरज़ भी बढ़ता जाता था। आपस में इतना वैमनस्य था कि शायद ही कोई दो भाई एक साथ रहते हों। उनकी इस दुर्दशा का कारण, बहुत कुछ उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरता थी। मालती इन्हीं विषयों पर महिलाओं से बातें करती रही। उनकी श्रद्धा देख-देखकर, उसके मन में सेवा की प्रेरणा और भी प्रबल हो रही थी। इस त्यागमय जीवन के सामने वह विलासी जीवन कितना तुच्छ और बनावटी था ! आज उसके वह रेशमी कपड़े, जिन पर ज़री का काम था, और वह गन्ध से महकता हुआ शरीर, और पाउडर से अलंकृत मुख-मंडल, उसे लज्जित करने लगा। उसकी कलाई पर बँधी सोने की घड़ी जैसे अपने अपलक नेत्रों से उसे घूर रही थी। उसके नशे में चमकता हुआ जड़ाऊ नेकलेस मानो गला घोंट रहा था।

इन त्याग और श्रद्धा की देवियों के सामने वह अपनी दृष्टि में नीची लग रही थी। वह इन ग्रामीणों से बहुत-सी बातें ज़्यादा जानती थी, समय की गति ज्यादा

पहचानती थी; लेकिन जिन परिस्थितियों में ये गरीबिनें जीवन को सार्थक कर रही हैं, उनमें क्या वह एक दिन भी रह सकती है ? जिनमें अहंकार का नाम नहीं, दिन-भर काम करती हैं, उपवास करती हैं, रोती हैं, फिर भी इतनी प्रसन्न-मुख ! दूसरे उनके लिये इतने अपने हो गये हैं कि अपना अस्तित्व ही नहीं रहा। उनका अपनापन अपने लड़कों में, अपने पति में, अपने सम्बन्धियों में है। इस भावना की रक्षा करते हुए—इसी भावना का क्षेत्र और बढ़ाकर—भावी नारीत्व का आदर्श निर्माण होगा। जागृत देवियों में इसकी जगह आत्म-सेवन का जो भाव आ बैठा है—सब कुछ अपने लिए, अपने भोग-विलास के लिए—उससे तो यह सुषुप्तावस्था ही अच्छी। पुरुष निर्दयी है, माना; लेकिन है तो इन्हीं माताओं का बेटा। क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माता, स्त्री-जाति की पूजा करता ? इसीलिए कि माता को यह शिक्षा देनी नहीं आती, इसीलिए कि उसने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका व्यक्तित्व ही नष्ट हो गया।

नहीं, अपने को मिटाने से काम न चलेगा। नारी को समाज-कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी, उसी तरह जैसे इन किसानों को अपनी रक्षा के लिए देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।

सन्ध्या हो गयी थी। मालती को औरतें अब तक घेरे हुए थीं। उसकी बातों से जैसे उन्हें तृप्ति न होती थी। कई औरतों ने उससे रात को वहीं रहने का आग्रह किया। मालती को भी उनका सरल स्नेह ऐसा प्यारा लगा कि उसने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। रात को औरतें उसे अपना गाना सुनायेंगी। मालती ने भी प्रत्येक घर में जा-जाकर उसकी दशा से परिचय प्राप्त करने में अपने समय का सदुपयोग किया। उसकी निष्कपट सद्भावना और सहानुभूति, उन गँवारिनों के लिये देवी के वरदान से कम न थी।

उधर मेहता साहब खाट पर आसन जमाये किसानों की कुश्ती देख रहे थे और पछता रहे थे, मिर्ज़ाजी को क्यों न साथ ले लिया, नहीं, उनका भी एक जोड़ हो जाता। उन्हें आश्चर्य हो रहा था, ऐसे प्रौढ़ और निरीह बालकों के साथ शिक्षित कहलानेवाले लोग कैसे निर्दयी हो जाते हैं। अज्ञान की भाँति ज्ञान भी सरल निष्कपट और सुनहले स्वप्न देखनेवाला होता है। मानवता में उसका विश्वास इतना दृढ़, इतना सजीव होता है कि वह इसके विरुद्ध व्यवहार को अमानुषीय समझने लगता है। वह यह भूल जाता है कि भेड़ियों ने भेड़ों की निरीहता का जवाब सदैव पंजे और दाँतों से दिया है। वह अपना एक आदर्श-संसार बनाकर उसको आदर्श मानवता से आबाद करता है और उसी में मग्न रहता है। यथार्थता कितनी अगम्य, कितनी दुर्बोध, कितनी अप्राकृतिक है, उसकी ओर विचार करना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। मेहताजी इस समय इन गँवारों के बीच में बैठे हुए इसी प्रश्न को हल कर रहे थे कि इनकी दशा इतनी दयनीय क्यों है। वह इस सत्य से आँखें मिलाने का साहस न कर सकते थे कि इनका देवत्व ही इनकी दुर्दशा का कारण है। काश,

ये, आदमी ज्यादा और देवता कम होते, तो यों न ठुकराये जाते। देश में कुछ भी हो, क्रान्ति ही क्यों न आ जाय, इनसे कोई मतलब नहीं। कोई दल उनके सामने संबल के रूप में आये, उसके सामने सिर झुकने को तैयार। उनकी निरीहता, जड़ता की हद तक पहुँच गयी है, जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है। उनकी आत्मा जैसे चारों ओर से निराश होकर अब अपने अन्दर ही टाँगें तोड़कर बैठ गयी है। उनमें अपने जीवन की चेतना ही जैसे लुप्त हो गयी है।

सन्ध्या हो गयी थीं। जो लोग अब तक खेतों में काम कर रहे थे, वे भी दौड़े चले आ रहे थे। उसी समय मेहता ने मालती को गाँव की कई औरतों के साथ इस तरह तल्लीन होकर एक बच्चे को गोद में लिए देखा, मानों वह भी उन्हीं में से एक है। मेहता का हृदय आनन्द से गद्गद हो उठा। मालती ने एक प्रकार से अपने को मेहता पर अर्पण कर दिया था। इस विषय में मेहता को अब कोई सन्देह न था; मगर अभी तक उनके हृदय में मालती के प्रति वह उत्कट भावना जागृत न हुई थी, जिसके बिना विवाह का प्रस्ताव करना उनके लिए हास्यजनक था। मालती बिना बुलाये मेहमान की भाँति उनके द्वार पर आकर खड़ी हो गयी थी, और मेहता ने उसका स्वागत किया था। इसमें प्रेम का भाव न था, केवल पुरुषत्व का भाव था। अगर मालती उन्हें इस योग्य समझती कि उन पर अपनी कृपा-दृष्टि फेरे, तो मेहता उसकी इस कृपा को अस्वीकार न कर सकते थे। इसके साथ ही वह मालती को गोविन्दी के रास्ते से हटा देना चाहते थे और वह जानते थे, मालती जब तक आगे अपना पाँव न जमा लेगी, वह पिछला पाँव न उठायेगी। वह जानते थे, मालती के साथ छल करके वह अपनी नीचता का परिचय दे रहे हैं। इसके लिये उनकी आत्मा बराबर उन्हें धिक्कारती रही थी; मगर ज़्यों-ज़्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर न कर सकता था। यह गुण का आकर्षण था। वह यह जानते थे, जिसे सच्चा प्रेम कह सकते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है। इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्तिमात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं ; मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं। सभी पत्थर तो खराद पर चढ़कर सुन्दर मूर्तियाँ नहीं बन जाते। इतने दिनों में मालती ने उनके हृदय के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी रश्मियाँ डाली थीं; पर अभी तक वे केन्द्रित होकर उस ज्वाला के रूप में न फूट पड़ी थीं, जिससे उनका सारा अन्तस्तल प्रज्ज्वलित हो जाता। आज मालती ने ग्रामीणों में मिलकर और सारे भेद-भावों को मिटाकर इन रश्मियों को मानो केन्द्रित कर दिया। और आज पहली बार मेहता को मालती से एकात्मकता का अनुभव हुआ। ज्यों ही मालती गाँव का चक्कर लगाकर लौटी, उन्होंने उसे साथ लेकर नदी की ओर प्रस्थान किया। रात यहीं काटने का निश्चय हो गया। मालती का कलेजा आज न जाने क्यों धक्-धक करने लगा। मेहता के

मुख पर आज उसे एक विचित्र ज्योति और इच्छा झलकती हुई नज़र आयी।

नदी के किनारे चाँदी का फर्श बिछा हुआ था और नदी रत्न-जटित आभूषण पहने मीठे स्वरों में गाती, चाँद और तारों की ओर सिर झुकाये नींद में माते वृक्षो को अपना नृत्य दिखा रही थी। मेहता प्रकृति की उस मादक शोभा से जैसे मस्त हो गये। जैसे उनका बालपन अपनी सारी क्रीड़ाओं के साथ लौट आया हो। बालू पर कई कुलाटें मारी। फिर दौड़े हुए नदी में जाकर घुटने तक पानी में खड़े हो गये।

मालती ने कहा—पानी में न खड़े हो। कहीं ठण्ड न लग जाये।

मेहता ने पानी उछालकर कहा—मेरा तो जी चाहता है, नदी के उस पार तैरकर चला जाऊँ।

"नहीं-नहीं, पानी से निकल आओ। मैं न जाने दूँगी।"

"तुम मेरे साथ न चलोगी उस सूनी बस्ती में, जहाँ स्वप्नों का राज्य है ?"

"मुझे तो तैरना नहीं आता।"

"अच्छा, आओ, एक नाव बनायें, और उस पर बैठकर चलें।"

वह बाहर निकल आये। आस-पास बड़ी दूर तक झाऊ का जंगल खड़ा था। मेहता ने जेब से चाकू निकाला और बहुत-सी टहनियाँ काटकर जमा कीं। कगार पर सरपत के जूट खड़े थे। ऊपर चढ़कर सरपत का एक गट्ठा काट लाये और वहीं बालू के फर्श पर बैठकर सरपत की रस्सी बटने लगे। ऐसे प्रसन्न थे, मानों स्वर्गारोहण की तैयारी कर रहे हैं। कई बार उँगलियाँ चिर गईं, खून निकला। मालती बिगड़ रही थी, बार-बार गाँव लौट चलने के लिये आग्रह कर रही थी; पर उन्हें कोई परवाह न थी। वही बालकों का-सा उल्लास था, वही अल्हड़पन, वही हठ। दर्शन और विज्ञान सभी इस प्रवाह में बह गये थे।

रस्सी तैयार हो गयी। झाऊ का बड़ा-सा तख्त बन गया, टहनियाँ दोनों सिरों पर रस्सी से जोड़ दी गयी थीं। उनके छिद्रों में झाऊ की टहनियाँ भर दी गयी, जिससे पानी ऊपर न आये। नौका तैयार हो गयी। रात और भी स्वप्निल हो गयी थी।

मेहता ने नौका को पानी में डालकर मालती का हाथ पकड़कर कहा—आओ, बैठो।

मालती ने सशंक होकर कहा—दो आदमियों का बोझ सँभाल लेगी ?

मेहता ने दार्शनिक मुस्कान के साथ कहा—जिस तरी पर बैठे हम लोग जीवन-यात्रा कर रहे हैं, वह तो इससे कहीं निस्सार है मालती ? क्या डर रही हो ?

"डर किस बात का, जब तुम साथ हो ?"

"सच कहती हो ?"

"अब तक मैंने बग़ैर किसी की सहायता के बाधाओं को जीता है। अब तो तुम्हारे संग हूँ।"

दोनों उस झाऊ के तख्ते पर बैठे और मेहता ने झाऊ के एक डण्डे से ही

उसे खेना शुरू किया। तख्ता डगमगाता हुआ पानी मे चला।

मालती ने मन को इस तख्ते से हटाने के लिये पूछा—तुम तो हमेशा शहरो में रहे, गाँव के जीवन का तुम्हें कैसे अभ्यास हो गया ? मैं तो ऐसा तख़्ता कभी न बना सकती।

मेहता ने उसे अनुरक्त नेत्रो से देखकर कहा—शायद यह मेरे पिछले जन्म का संस्कार है। प्रकृति से स्पर्श होते ही जैसे मुझमें एक नया जीवन-सा आ जाता है; नस-नस में स्फूर्ति छा जाती है। एक-एक पक्षी, एक-एक पशु, जैसे मुझे आनन्द का निमन्त्रण देता हुआ जान पड़ता है, मानों भूले हुए सुखों की याद दिला रहा हो। यह आनन्द मुझे और कहीं नहीं मिलता मालती, संगीत के रुलानेवाले स्वरों मे भी नही, दर्शन की ऊँची उड़ानो मे भी नहीं। जैसे अपने-आपको पा जाता हूँ, जैसे पक्षी अपने घोसले मे आ जाये।

तख़्ता डगमगाता, कभी तिरछा, कभी सीधा, कभी चक्कर खाता हुआ चला जा रहा था।

सहसा मालती ने कातर-कण्ठ से पूछा—और मैं तुम्हारे जीवन मे कभी नही आती ?

मेहता ने उसका हाथ पकड़कर कहा—आती हो, बार-बार आती हो, सुगन्ध के एक झोके की तरह, कल्पना की एक छाया की तरह और फिर अदृश्य हो जाती हो। दौड़ता हूँ कि तुम्हे करपाश मे बाँध लूँ; पर हाथ खुले रह जाते हैं और तुम गायब हो जाती हो।

मालती ने उन्माद की दशा मे कहा—लेकिन तुमने इसका कारण भी सोचा ? समझना चाहा ?

"हाँ, मालती, बहुत सोचा, बार-बार सोचा।"

"तो क्या मालूम हुआ ?"

"यही कि मैं जिस आधार पर जीवन का भवन खड़ा करना चाहता हूँ, वह अस्थिर है। यह कोई विशाल भवन नहीं है, केवल एक छोटी-सी शान्त कुटिया है; लेकिन उसके लिए भी तो कोई स्थिर आधार चाहिये।"

मालती ने अपना हाथ छुड़ाकर जैसे मान करते हुए कहा—यह झूठा आक्षेप है। तुमने सदैव मुझे परीक्षा की आँखों से देखा, कभी प्रेम की आँखों से नहीं। क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि नारी परीक्षा नहीं चाहती, प्रेम चाहती है। परीक्षा गुणों को अवगुण, सुन्दर को असुन्दर बनानेवाली चीज़ है; प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है, असुन्दर को सुन्दर ! मैंने तुमसे प्रेम किया है, मैं कल्पना ही नहीं कर सकती कि तुममें कोई बुराई भी है; मगर तुमने मेरी परीक्षा की और तुम मुझे अस्थिर, चंचल और जाने क्या-क्या समझकर मुझसे हमेशा दूर भागते रहे। नहीं, मैं जो कुछ कहना चाहती हूँ, वह मुझे कह लेने दो। मैं क्यों अस्थिर और चंचल हूँ ; इसलिए कि मुझे वह प्रेम नहीं मिला जो मुझे स्थिर और अचंचल बनाता; अगर तुमने मेरे सामने उसी

तरह आत्मसमर्पण किया होता, जैसे मैंने तुम्हारे सामने किया है, तो तुम आज मुझ पर यह आक्षेप न रखते।

मेहता ने मालती के मान का आनन्द उठाते हुए कहा—तुमने मेरी परीक्षा कभी नहीं की ? सच कहती हो ?

"कभी नहीं।"

"तो तुमने ग़लती की।"

"भावुकता में न आओ मालती ! प्रेम देने के पहले हम सब परीक्षा करते हैं और तुमने की, चाहे अप्रत्यक्ष रूप से ही की हो। मैं आज तुमसे स्पष्ट कहता हूँ कि पहले मैंने तुम्हें उसी तरह देखा, जैसे रोज ही हजारों देवियों को देखा करता हूँ, केवल विनोद के भाव से, अगर मैं ग़लती नहीं करता, तो तुमने भी मुझे मनोरंजन के लिए एक नया खिलौना समझा।"

मालती ने टोका—ग़लत कहते हो। मैंने कभी तुम्हें इस नज़र से नहीं देखा। मैंने पहले ही दिन तुम्हें अपना देव बनाकर अपने हृदय...

मेहता बात काटकर बोले—फिर वही भावुकता। मुझे ऐसे महत्त्व के विषय में भावुकता पसन्द नहीं; अगर तुमने पहले ही दिन से मुझे इस कृपा के योग्य समझा तो इसका यही कारण हो सकता है, कि मैं रूप भरने में तुमसे ज़्यादा कुशल हूँ, वरना जहाँ तक मैंने नारियों का स्वभाव देखा है, वह प्रेम के विषय में काफ़ी छान-बीन करती हैं। पहले भी तो स्वयंवर से पुरुषों की परीक्षा होती थी ? वह मनोवृत्ति अब भी मौजूद है, चाहे उसका रूप कुछ बदल गया हो। मैंने तब से बराबर यही कोशिश की है कि अपने को सम्पूर्ण रूप से तुम्हारे सामने रख दूँ और उसके साथ ही तुम्हारी आत्मा तक भी पहुँच जाऊँ। और मैं ज्यों-ज्यों तुम्हारे अन्तस्तल की गहराई में उतरा हूँ, मुझे रत्न मिले हैं। मैं विनोद के लिए आया और आज उपासक बना हुआ हूँ। तुमने मेरे भीतर क्या पाया, यह मुझे मालूम नहीं।

नदी का दूसरा किनारा आ गया। दोनों उतरकर उसी बालू के फर्श पर जा बैठे और मेहता फिर उसी प्रवाह में बोले—और आज मैं यहाँ वही पूछने के लिए तुम्हें लाया हूँ ?

मालती ने काँपते हुए स्वर में कहा—क्या अभी तुम्हें मुझसे यह पूछने की ज़रूरत बाकी है।

"हाँ इसलिए कि मैं आज तुम्हें अपना वह रूप दिखाऊँगा, जो शायद अभी तक तुमने नहीं देखा और जिसे मैंने भी छिपाया है। अच्छा, मान लो, मैं तुमसे बिवाह करके कल तुमसे बेवफ़ाई करूँ तो तुम मुझे क्या सज़ा दोगी ?"

मालती ने उनकी ओर चकित होकर देखा। इसका आशय उसकी समझ में न आया।

"ऐसा प्रश्न क्यों करते हो ?"

"मेरे लिए यह बड़े महत्त्व की बात है।"

"मैं इसकी सम्भावना नहीं समझती।"

"संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। बड़ा-से-बड़ा महात्मा भी एक क्षण में पतित हो सकता है।"

"मैं उसका कारण खोजूँगी और उसे दूर करूँगी।"

"मान लो, मेरी आदत न छूटे।"

"फिर मैं नहीं कह सकती, क्या करूँगी। शायद विष खाकर सो रहूँ।"

"लेकिन यदि तुम मुझसे यही प्रश्न करो, तो मैं उसका दूसरा जवाब दूँगा।"

मालती ने सशंक होकर पूछा—बतलाओ !

मेहता ने दृढ़ता के साथ कहा—मैं पहले तुम्हारा प्राणान्त कर दूँगा, फिर अपना।

मालती ने ज़ोर से क़हक़हा मारा और सिर से पाँव तक सिहर उठी। उसकी हँसी केवल उसकी सिहरन को छिपाने का आवरण थी। मेहता ने पूछा—तुम हँसी क्यों ?

"इसलिए कि तुम ऐसे हिंसावादी नहीं जान पड़ते।"

"नहीं मालती, इस विषय में मैं पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता। अध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निःस्वार्थ प्रेम, ज़िसमें आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उसके आनन्द से आनन्दित होता है और उसके चरणों पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं। मैंने पुस्तकों में ऐसी प्रेम-कथायें पढ़ी हैं, जहाँ प्रेमी ने प्रेमिका के नये प्रेमियों के लिए अपनी जान दे दी है; मगर उस भावना को मैं श्रद्धा कह सकता हूँ, सेवा कह सकता हूँ, प्रेम कभी नहीं। प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पढ़ने देता।"

मालती ने उनकी आँखों में आँखें डालकर कहा—अगर प्रेम खूँखार शेर है तो मैं उससे दूर ही रहूँगी। मैंने तो उसे गाय ही समझ रखा था। मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहाँ ज़रा भी स्थान नहीं और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।

वह उठकर खड़ी हो गयी और तेज़ी से नदी की तरफ चली, मनो उसने अपना खोया हुआ मार्ग पा लिया हो। ऐसी स्फूर्ति का उसे कभी अनुभव न हुआ। उसने स्वतन्त्र जीवन में एक दुर्बलता पायी थी, जो उसे सदैव आन्दोलित करती रहती थी, सदैव अस्थिर रखती थी। उसका मन जैसे कोई आश्रय खोजा करता था, जिसके बल पर टिक सके, संसार का सामना कर सके। अपने में उसे यह शक्ति न मिलती थी। बुद्धि और चरित्र की शक्ति देखकर वह उसकी ओर लालायित होकर जाती थी। पानी की भाँति हर एक पात्र का रूप धारण कर लेती थी। उसका अपना कोई रूप न था।

उसकी मनोवृत्ति अभी तक किसी परीक्षार्थी छात्र की-सी थी। छात्र को पुस्तकों से प्रेम हो सकता है और हो जाता है; लेकिन वह पुस्तक के उन्हीं भागों पर ज़्यादा ध्यान देता है, जो परीक्षा में आ सकते हैं। उसकी पहली गरज परीक्षा में सफल होना है। ज्ञानार्जन इसके बाद। अगर उसे मालूम हो जाये कि परीक्षक बड़ा दयालु है या अन्धा है और छात्रों को यों ही पास कर दिया करता है, तो शायद वह पुस्तकों की ओर आँख उठाकर भी न देखे। मालती जो कुछ करती थी, मेहता को प्रसन्न करने के लिए। उसका मतलब था, मेहता का प्रेम और विश्वास प्राप्त करना, उसके मनोराज्य की रानी बन जाना ; लेकिन उसी छात्र की तरह अपनी योग्यता का विश्वास जमाकर। लियाक़त आ जाने से परीक्षक आप-ही-आप उससे सन्तुष्ट हो जायेगा, इतना धैर्य उसे न था।

मगर आज मेहता ने जैसे उसे ठुकराकर उसकी आत्म-शक्ति को जगा दिया। मेहता को जब से उसने पहली बार देखा था, तभी से उसका मन उनकी ओर झुका था। उसे वह अपने परिचितों में सबसे समर्थ जान पड़े। उनके परिष्कृत जीवन मे बुद्धि की प्रखरता और विचारों की दृढ़ता ही सबसे ऊँची वस्तु थी। धन और ऐश्वर्य को तो वह केवल खिलौना समझती थी, जिसे खेलकर लड़के तोड़-फोड़ डालते हैं। रूप में भी अब उसके लिए विशेष आकर्षण न था, यद्यपि कुरूपता के लिए घृणा थी। उसको तो अब बुद्धि-शक्ति ही अपनी ओर झुका सकती थी, जिसके आश्रय में उसमें आत्म-विश्वास जगे, अपने विकास की प्रेरणा मिले, अपने में शक्ति का संचार हो, अपने जीवन की सार्थकता का ज्ञान हो। मेहता के बुद्धिबल और तेजस्विता ने उसके ऊपर अपनी मुहर लगा दी और तब से वह अपना संस्कार करती चली जाती थी। जिस प्रेरक शक्ति की उसे ज़रूरत थी, वह मिल गयी थी और अज्ञात रूप से उसे गति और शक्ति दे रहीं थी। जीवन का नया आदर्श जो उसके सामने आ गया था, वह अंपने को उसके समीप पहुँचाने की चेष्टा करती हुई और सफलता का अनुभव करती हुई उस दिन की कल्पना कर रही थी, जब वह और मेहता एकात्मक हो जायेंगे और यह कल्पना उसे और भी दृढ़ और निष्ठ बना रही थी।

मगर आज जब मेहता ने उसकी आशाओं को द्वार तक लाकर प्रेम का वह आदर्श उसके सामने रखा, जिसमें प्रेम को आत्मा और समर्पण के क्षेत्र में गिराकर भौतिक धरातल तक पहुँचा दिया गया था, जहाँ सन्देह, ईर्ष्या और भोग का राज्य है, तब उसकी परिष्कृत बुद्धि आहत हो उठी। और मेहता से, जो उसे श्रद्धा थी, उसे एक धक्का-सा लगा, मानो कोई शिष्य अपने गुरु को नीच कर्म करते देख ले। उसने देखा, मेहता की बुद्धि-प्रखरता प्रेमत्व की पशुता की ओर खींचे लिये जाती है और उसके देवत्व की ओर से आँखें बन्द किये लेती है, और यह देखकर उसका दिल बैठ गया।

मेहता ने कुछ लज्जित होकर कहा—आओ, कुछ देर और बैठें।

मालती बोली—नहीं, अब लौटना चाहिए। देर हो रही है।

इकत्तीस

रायसाहब का सितारा बुलन्द था। उनके तीनों मंसूबे पूरे हो गये थे। कन्या की शादी धूम-धाम से हो गयी थी, मुक़दमा जीत गये थे और निर्वाचन में सफल ही न हुये थे, होम मेम्बर भी हो गये थे। चारों ओर से बधाइयाँ मिल रही थीं। तारों का ताँता लगा हुआ था। इस मुकदमे को जीतकर उन्होंने ताल्लुकेदारों की प्रथम श्रेणी में स्थान प्राप्त कर लिया था। सम्मान तो उनका पहले भी किसी से कम न था; मगर अब तो उसकी जड़ और भी गहरी और मजबूत हो गयी थी। सामयिक पत्रों में उनके चित्र और चरित्र दनादन निकल रहे थे। क़र्ज़ की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी; मगर अब रायसाहब को इसकी परवाह न थी। वह इस नयी मिलिकियत का एक छोटा-सा टुकड़ा बेचकर क़र्ज़ से मुक्त हो सकते थे। सुख की जो ऊँची-से-ऊँची कल्पना उन्होने की थी, उससे कहीं ऊँचे जा पहुँचे थे। अभी तक उनका बँगला केवल लखनऊ में था। अब नैनीताल, मंसूरी और शिमला–तीनों स्थानों में एक-एक बँगला बनवाना लाज़िम हो गया। अब उन्हें यह शोभा नहीं देता कि इन स्थानों में जायें, तो होटलों में या किसी दूसरे राजा के बँगले में जायें। जब सूर्यप्रतापसिंह के बँगले इन सभी स्थानों में थे, तो रायसाहब के लिये यह बड़ी लज्जा की बात थी कि उनके बँगले न हों।

संयोग से बँगले बनवाने की ज़हमत न उठानी पड़ी। बने-बनाये बँगले सस्ते दामों में मिल गये। हर एक बँगले के लिये माली, चौकीदार, कारिन्दा, खानसामा आदि भी रख लिये गये थे। और सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी कि अबकी हिज़ मैजेस्टी के जन्मदिन के अवसर पर उन्हें राजा की पदवी भी मिल गयी। अब उनकी महत्त्वाकांक्षा सम्पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गयी। उस दिन खूब जश्न मनाया गया और इतनी शानदार दावत हुई कि पिछले सारे रेकार्ड टूट गये। जिस वक़्त हिज़ एक्सेलेन्सी गवर्नर ने उन्हें पदवी प्रदान की, गर्व के साथ राज-भक्ति की ऐसी तरंग उनके मन में उठी कि उनका एक-एक रोम उससे प्लावित हो उठा। यह है जीवन ! नहीं, विद्रोहियों के फेर में पड़कर व्यर्थ बदनामी ली, जेल गये और अफ़सरों की नज़रों से गिर गये। जिस डी.एस.पी. ने उन्हें पिछली बार गिरफ़्तार किया था, इस वक्त वह उनके सामने हाथ बाँधे खड़ा था और शायद अपने अपराध के लिये क्षमा माँग रहा था।

मगर जीवन की सबसे बड़ी विजय उन्हें उस वक्त हुई, जब उनके पुराने, परास्त शत्रु सूर्यप्रतापसिंह ने उनके बड़े लड़के रुद्रपालसिंह से अपनी कन्या के विवाह का सन्देशा भेजा। रायसाहब को न मुकदमा जीतने की इतनी खुशी हुई थी, न मिनिस्टर होने की। वह सारी बातें कल्पना में आती थीं ; मगर यह बात तो आशातीत ही नहीं, कल्पनातीत थी। वही सूर्यप्रतापसिंह, जो अभी कई महीने तक उन्हें अपने कुत्ते से भी नीचा समझा था, वह आज उनके लड़के से अपनी लड़की का विवाह करना चाहता था ! कितनी असम्भव बात ! रुद्रपाल इस समय एम.ए. में पढ़ता था, बड़ा

निर्भीक, पक्का आदर्शवादी, अपने ऊपर भरोसा रखनेवाला, अभिमानी, रसिक और आलसी युवक था, जिसे अपने पिता की यह धन और मानलिप्सा बुरी लगती थी।

रायसाहब इस समय नैनीताल में थे। यह संदेशा पाकर फूल उठे। यद्यपि वह विवाह के विषय में लड़के पर किसी तरह का दबाव डालना न चाहते थे, पर इसका उन्हें विश्वास था कि वह जो कुछ निश्चय कर लेंगे, उसमें रुद्रपाल को कोई आपत्ति न होगी और राजा सूर्यप्रतापसिंह से नाता हो जाना एक ऐसे सौभाग्य की बात थी कि रुद्रपाल का सहमत न होना ख्याल में भी न आ सकता था। उन्होंने तुरन्त राजा साहब को बात दे दी और उसी वक्त रुद्रपाल को फ़ोन किया।

रुद्रपाल ने जवाब दिया—मुझे स्वीकार नहीं।

रायसाहब को अपने जीवन में न कभी इतनी निराशा हुई थी, न इतना क्रोध आया था; पूछा—कोई वजह ?

"समय आने पर मालूम हो जायेगा।"

"मैं अभी जानना चाहता हूँ।"

"मैं नहीं बतलाना चाहता।"

"तुम्हें मेरा हुक्म मानना पड़ेगा।"

"जिस बात को मेरी आत्मा स्वीकार नहीं करती, उसे मैं आपके हुक्म से नहीं मान सकता।"

"रायसाहब ने बड़ी नम्रता से समझाया—बेटा, तुम आदर्शवाद के पीछे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हो। यह सम्बन्ध, समाज में तुम्हारा स्थान कितना ऊँचा कर देगा, कुछ तुमने सोचा है ? इसे ईश्वर की प्रेरणा समझो। उस कुल की कोई दरिद्र कन्या भी मुझे मिलती, तो मैं अपने भाग्य को सराहता, यह तो राजा सूर्यप्रताप की कन्या है, जो हमारे सिरमौर हैं। मैं उसे रोज़ देखता हूँ। तुमने भी देखा होगा। रूप, गुण, शील, स्वभाव में ऐसी युवती मैंने आज तक नहीं देखी। मैं तो चार दिन का मेहमान हूँ। तुम्हारे सामने जीवन पड़ा है। मैं तुम्हारे ऊपर दबाव नहीं डालना चाहता। तुम जानते हो, विवाह के विषय में मेरे विचार कितने उदार हैं, लेकिन मेरा यह भी तो धर्म है कि अगर तुम्हें ग़लती करते देखूँ, तो चेतावनी दे दूँ।"

रुद्रपाल ने इसका जवाब दिया—मैं इस विषय में बहुत पहले निश्चय कर चुका हूँ। उसमें अब कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

रायसाहब को लड़के की जड़ता पर फिर क्रोध आ गया। गरजकर बोले—मालूम होता है, तुम्हारा सिर फिर गया है! आकर मुझसे मिलो। विलम्ब न करना। मैं राजा साहब को जबान दे चुका हूँ।

रुद्रपाल ने जवाब दिया—खेद है, अभी मुझे अवकाश नहीं है।

दूसरे दिन रायसाहब खुद आ गये। दोनों अपने-अपने शस्त्रों से सजे हुए तैयार खड़े थे। एक ओर सम्पूर्ण जीवन का मँजा हुआ अनुभव था, समझौतों से भरा हुआ; दूसरी ओर कच्चा आदर्शवाद था, ज़िद्दी, उद्दण्ड और निर्मम।

रायसाहब ने सीधे मर्म पर आघात किया—मैं जानना चाहता हूँ, वह कौन लड़की है।

रुद्रपाल ने अचल भाव से कहा—अगर आप इतने उत्सुक हैं, तो सुनिये। वह मालती देवी की बहन सरोज है।

रायसाहब आहत होकर गिर पड़े—अच्छा वह !

"आपने तो सरोज को देखा होगा ?"

"जी हाँ, खूब देखा है।"

"फिर भी..."

"मैं रूप को कोई चीज़ नहीं समझता।"

"तुम्हारी अक्ल पर मुझे अफ़सोस आता है। मालती को जानते हो, कैसी औरत है ? उसकी बहन क्या कुछ और होगी ?"

रुद्रपाल ने तेवरी चढ़ाकर कहा—मैं इस विषय में आपसे और कुछ नहीं कहना चाहता; मगर मेरी शादी होगी, तो सरोज से।

"मेरे जीते जी, कभी नहीं हो सकती।"

"तो आपके बाद होगी।"

"अच्छा, तुम्हारे यह इरादे हैं !"

और रायसाहब की आँखें सज़ल हो गयीं। जैसे सारा जीवन उजड़ गया हो। मिनिस्ट्री और इलाक़ा और पदवी, सब जैसे बासी फूलों की तरह नीरस, निरानन्द हो गये हों। जीवन की सारी साधना व्यर्थ हो गयी। उनकी स्त्री का जब देहान्त हुआ था, तो उनकी उम्र छत्तीस साल से ज़्यादा न थी। वह विवाह कर सकते थे, और भोग-विलास का आनन्द उठा सकते थे। सभी उनसे विवाह करने के लिए आग्रह कर रहे थे; मगर उन्होंने इन बालकों का मुँह देखा और विधुर जीवन की साधना स्वीकार कर ली। इन्हीं लड़कों पर अपने जीवन का सारा भोग-विलास न्योछावर कर दिया।

आज तक अपने हृदय का सारा स्नेह इन्हीं लड़कों को देते चले आये हैं, और आज यह लड़का इतनी निष्ठुरता से बातें कर रहा है, मानों उनसे कोई नाता नहीं, फिर वह क्यों जायदाद, सम्मान और अधिकार के लिये जान दें ? इन्हीं लड़कों ही के लिए तो वह सब कुछ कर रहे थे, जब लड़कों को उनका ज़रा भी लिहाज़ नहीं, तो वह क्यों यह तपस्या करें ? उन्हें कौन संसार में बहुत दिन रहना है। उन्हें भी आराम से पड़े रहना आता है। उनके और हज़ारों भाई मूँछों पर ताव देकर जीवन का भोग करते हैं और मस्त घूमते हैं। फिर वह भी क्यों न भोग विलास में पड़े रहें ?

उन्हें इस वक्त याद न रहा कि वह जो तपस्या कर रहे हैं, वह लड़कों के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए; केवल यश के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह कर्मशील हैं और उन्हें जीवित रहने के लिए इसकी जरूरत है। वह विलासी और अकर्मण्य

बनकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट नहीं रख सकते। उन्हें मालूम नहीं, कि कुछ लोगों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि विलास का अपाहिज़पन स्वीकार ही नहीं कर सकते। वे अपने जिगर का खून पीने ही के लिए बने हैं, और मरते दम तक पिये जायेंगे।

मगर इस चोट की प्रतिक्रिया भी तुरन्त हुई। हम जिनके लिए त्याग करते हैं, उनसे किसी बदले की आशा न रखकर भी उनके मन पर शासन करना चाहते हैं, चाहे वह शासन उन्हीं के हित के लिए हो, यद्यपि उस हित को हम इतना अपना लेते हैं कि वह उनका न होकर हमारा हो जाता है। त्याग की मात्रा जितनी ही ज़्यादा होती है, वह शासन-भावना भी उतनी ही प्रबल होती है और जब सहसा हमें विद्रोह का सामना करना पड़ता है, तो हम क्षुब्ध हो उठते हैं, और वह त्याग जैसे प्रतिहिंसा का रूप ले लेता है। रायसाहब को यह ज़िद पड़ गयी कि रुद्रपाल का विवाह सरोज के साथ न होने पाये, चाहे इसके लिए उन्हें पुलिस की मदद क्यों न लेनी पड़े, नीति की हत्या क्यों न करनी पड़े।

उन्होंने जैसे तलवार खींचकर कहा—हाँ, मेरे बाद ही होगी और अभी उसे बहुत दिन हैं।

रुद्रपाल ने जैसे गोली चला दी—ईश्वर करे, आप अमर हों ! सरोज से मेरा विवाह हो चुका।

"झूठ !"

"बिलकुल नहीं, प्रमाण-पत्र मौजूद है।"

रायसाहब आहत होकर गिर पड़े। इतनी सतृष्ण हिंसा की आँखों से उन्होंने कभी किसी शत्रु को न देखा था। शत्रु अधिक-से-अधिक उनके स्वार्थ पर आघात कर सकता था, यह देह पर या सम्मान पर; पर यह आघात तो उस मर्मस्थल पर था, जहाँ जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणा संचित थी। एक आँधी थी, जिसने उनका जीवन जड़ से उखाड़ दिया। अब वह सर्वथा अपंग हैं। पुलिस की सारी शक्ति हाथ में रहते हुए अपंग हैं। बल-प्रयोग उनका अन्तिम शस्त्र था। वह शस्त्र उनके हाथ से निकल चुका था। रुद्रपाल बालिग है, सरोज बालिग है। और रुद्रपाल अपनी रियासत का मालिक है। उनका उस पर कोई दबाव नहीं। आह ! अगर जानते, यह लौंडा यों विद्रोह करेगा, तो इस रियासत के लिए लड़ते ही क्यों ? इस मुकदमेबाज़ी के पीछे दो-ढाई लाख बिगड़ गये। जीवन ही नष्ट हो गया। अब तो उनकी लाज इसी तरह बचेगी कि इस लौंडे की खुशामद करते रहे। उन्होंने ज़रा बाधा दी और इज़्ज़त धूल में मिली। वह जीवन का बलिदान करके भी अब स्वामी नहीं। ओह ! सारा जीवन नष्ट हो गया। सारा जीवन !

रुद्रपाल चला गया था। रायसाहब ने कार मँगवायी और मेहता से मिलने चले। मेहता अगर चाहें तो मालती को समझा सकते हैं। सरोज भी उनकी अवहेलना न करेगी; अगर दस-बीस हज़ार रुपये बल खाने से भी विवाह रुक जाये, तो वह देने को तैयार थे। उन्हें उस स्वार्थ के नशे में यह बिलकुल ख़याल न रहा कि वह मेहता

के पास ऐसा प्रस्ताव लेकर जा रहे हैं, जिस पर मेहता की हमदर्दी कभी उनके साथ न होगी।

मेहता ने सारा वृत्तान्त सुनकर उन्हें बनाना शुरू किया। गम्भीर मुँह बनाकर बोले—यह तो अपकी प्रतिष्ठा का सवाल है।

रायसाहब भाँप न सके। उछलकर बोले—जी हाँ, केवल प्रतिष्ठा का। राजा सूर्यप्रतापसिंह को तो आप जानते हैं ?

"मैंने उनकी लड़की को भी देखा है। सरोज उसके पाँव की धूल भी नहीं है।"

"मगर इस लौंडे की अक्ल पर पत्थर पड़ गया है।"

"तो मारिये गोली, आपको क्या करना है। पछतायेगा।"

"ओह ! यही तो नहीं देखा जाता मेहताजी ! मिलती हुई प्रतिष्ठा नहीं छोड़ी जाती। मैं इस प्रतिष्ठा पर अपनी आधी रियासत कुर्बान करने को तैयार हूँ। आप मालती देवी को समझा दें, तो काम बन जाये। इधर से इन्कार हो जाये, तो रुद्रपाल सिर पीटकर रह जायेगा और यह नशा दस-पाँच दिन में आप उतर जायेगा। यह प्रेम-स्रेम कुछ नहीं, केवल सनक है।'

"लेकिन मालती बिना कुछ रिश्वत लिये मानेगी नहीं।"

"आप जो कुछ कहिये, मैं उसे दूँगा। वह चाहे तो मैं उसे यहाँ के डफ़रिन हास्पिटल का इन्चार्ज बना दूँ।"

"मान लीजिये, वह आपको चाहे तो आप राजी होंगे। जब आपको मिनिस्ट्री मिली, आपके विषय में उसकी राय जरूर बदल गयी होगी।"

रायसाहब ने मेहता के चेहरे की तरफ़ देखा। उस पर मुसकराहट की रेखा नज़र आयी। समझ गये। व्यथित स्वर में बोले—आपको भी मज़ाक करने का यही अवसर मिला। मैं आपके पास इसलिए आया था कि मुझे यकीन था कि आप मेरी हालत पर विचार करेंगे, मुझे उचित राय देंगे। और आप मुझे बनाने लगे। जिसके दाँत नहीं दुखे, वह दाँतों का दर्द क्या जाने !

मेहता ने गम्भीर स्वर से कहा—क्षमा कीजियेगा, आप ऐसा प्रश्न ही लेकर आये हैं कि उस पर गम्भीर विचार करना मैं हास्यास्पद समझता हूँ। आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं। लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खास कर जब आपका लड़का बालिग है और अपना नफा-नुकसान समझता है। कम-से-कम मैं तो शादी-जैसे महत्त्व के मुआमले में प्रतिष्ठा का कोई स्थान नहीं समझता। प्रतिष्ठा धन से होती तो राजा साहब उस नंगे के सामने घण्टों गुलामों की तरह हाथ बाँधे न खड़े रहते। मालूम नहीं कहाँ तक सही है; पर राजा साहब अपने इलाके के दारोगा तक को सलाम करते हैं; इसे आप प्रतिष्ठा कहते हैं ? लखनऊ में आप किसी दुकानदार, किसी अहलकार, किसी राहगीर से पूछिये, उनका नाम सुनकर गालियाँ ही देगा। इसी को आप प्रतिष्ठा कहते हैं ? जाकर आराम से बैठिये।

सरोज से अच्छी वधू आपको बड़ी मुश्किल से मिलेगी।

रायसाहब ने आपत्ति के भाव से कहा—बहन तो मालती ही की है।

मेहता ने गर्म होकर कहा—मालती की बहन होना क्या अपमान की बात है ?

मालती को आपने जाना नहीं, और न जानने की परवा की। मैंने भी यही समझा था; लेकिन अब मालूम हुआ कि वह आग में पड़कर चमकनेवाली सच्ची धातु है। वह उन वीरों में है, जो अवसर पड़ने पर अपने जौहर दिखाते हैं, तलवार घुमाते नहीं चलते। आपको मालूम है, खन्ना की आजकल क्या दशा है ?

रायसाहब ने सहानुभूति के भाव से कहा—सुन चुका हूँ, और बार-बार इच्छा हुई कि उनसे मिलूँ; लेकिन फुरसत न मिली। उस मिल में आग लगना उनके सर्वनाश का कारण हो गया।

"जी हाँ। अब वह एक तरह से दोस्तों की दया पर अपना निर्वाह कर रहे हैं। उस पर गोविन्दी महीनों से बीमार है। उसने खन्ना पर अपने को बलिदान कर दिया, उस पशु पर जिसने हमेशा उसे जलाया; अब वह मर रही है। और मालती रात की रात उसके सिरहाने बैठी रह जाती है—वही मालती, जो किसी राजा-रईस से पाँच सौ फ़ीस पाकर भी रात-भर न बैठेगी। खन्ना के छोटे बच्चों को पालने का भार भी मालती पर है। यह मातृत्व उसमें कहाँ सोया हुआ था, मालूम नहीं। मुझे तो मालती का वह स्वरूप देखकर अपने भीतर श्रद्धा का अनुभव होने लगा। हालाँकि आप जानते हैं, मैं घोर जड़वादी हूँ और भीतर के परिष्कार के साथ उसकी छवि में भी देवत्व की झलक आने लगी है। मानवता इतनी बहुरंगी और इतनी समर्थ है, इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। आप उनसे मिलना चाहें तो चलिये, इसी बहाने मैं भी चला चलूँगा।"

रायसाहब ने सन्दिग्ध भाव से कहा—जब आप ही मेरे दर्द को नहीं समझ सके, तो मालती देवी क्या समझेंगी, मुफ्त में शर्मिन्दगी होगी, मगर आपको पास जाने के लिये किसी बहाने की जरूरत क्यों! मैं तो समझता था, आपने उनके ऊपर अपना जादू डाल दिया है।

मेहता ने हसरत-भरी मुस्कराहट के साथ जवाब दिया—वह बात अब स्वप्न हो गयी। अब तो कभी उनके दर्शन भी नहीं होते। उन्हें अब फुरसत भी नहीं रहती। दो-चार बार गया। मगर मुझे मालूम हुआ, मुझसे मिलकर वह खुश नहीं हुई, तब से जाते झेंपता हूँ। हाँ, खूब याद आया, आज महिला-व्यायामशाला का जलसा है, आप चलेंगे ?

रायसाहब ने बेदिली के साथ कहा—जी नहीं, मुझे फुर्सत नहीं है। मुझे तो यह चिन्ता सवार है कि राजा साहब को क्या जवाब दूँगा। मैं उन्हें वचन दे चुका हूँ।

यह कहते हुए वह उठ खड़े हुए और मन्द गति से द्वार की ओर चले। जिस गुत्थी को सुलझाने आये थे, वह और भी जटिल हो गयी। अन्धकार और भी असूझ

हो गया। मेहता ने कार तक आकर उन्हें विदा किया।

रायसाहब सीधे बँगले पर आये और दैनिक पत्र उठाया था कि मिस्टर तंखा का कार्ड मिला। तंखा से उन्हें घृणा थी, और उनका मुँह भी न देखना चाहते थे; लेकिन इस वक्त मन की दुर्बल दशा में उन्हें किसी हमदर्द की तलाश थी, जो और कुछ न कर सके, पर उनके मनोभावों से सहानुभूति तो करे। तुरन्त बुला लिया।

तंखा पाँव दबाते हुए, रोनी सूरत लिए कमरे में दाख़िल हुआ और जमीन पर झुककर सलाम करते हुए बोला—मैं तो हुजूर के दर्शन करने नैनीताल जा रहा था। सौभाग्य से यहीं दर्शन हो गए ! हुजूर का मिज़ाज तो अच्छा है।

इसके बाद उन्होंने बड़ी लच्छेदार भाषा में, और अपने पिछले व्यवहार को बिलकुल भूलकर, रायसाहब का यशोगान आरम्भ किया—ऐसी होम-मेम्बरी कोई क्या करेगा, जिधर देखिये हुजूर ही के चर्चे हैं। यह पद हुजूर ही को शोभा देता है।

रायसाहब मन में सोच रहे थे, कि यह आदमी भी कितना बड़ा धूर्त्त है, अपनी गरज़ पड़ने पर गधे को दादा कहनेवाला, परले सिरे का बेवफ़ा और निर्लज्ज; मगर उन्हें उन पर क्रोध न आया, दया आयी। पूछा—आजकल आप क्या कर रहे हैं ?

कुछ नहीं हुजूर, बेकार बैठा हूँ, इसी उम्मीद से आपकी खिदमत में हाज़िर होने जा रहा था कि अपने पुराने खादिमों पर निगाह रहे। आजकल बड़ी मुसीबत में पड़ा हूँ हुजूर। राजा सूर्यप्रतापसिंह को तो हुजूर जानते हैं, अपने सामने किसी को नहीं समझते। एक दिन आपकी निन्दा करने लगे। मुझसे न सुना गया। मैंने कहा, बस कीजिए महाराज, रायसाहब मेरे स्वामी हैं और मैं उनकी निन्दा नही सुन सकता। बस इसी बात पर बिगड़ गए। मैंने भी सलाम किया और घर चला आया। साफ़ कह दिया, आप कितना ही ठाठ-बाट दिखायें; पर रायसाहब की जो इज़्ज़त है, वह आपको नसीब नहीं हो सकती। इज़्ज़त ठाठ से नहीं होती, लियाकत से होती है। आपमें जो लियाक़त है, वह तो दुनिया जानती है।

रायसाहब ने अभिनय किया—आपने तो सीधे घर में आग लगा दी।

तंखा ने अकड़कर कहा—मैं तो हुजूर साफ़ कहता हूँ, किसी को अच्छा लगे या बुरा। जब हुजूर के क़दमों को पकड़े हुए हूँ, तो किसी से क्यों डरूँ। हुजूर के तो नाम से जलते हैं। जब देखिए, हुजूर की बदगोई। जब से आप मिनिस्टर हुए हैं, उनकी छाती पर साँप लोट रहा है। मेरी सारी-की-सारी मज़दूरी साफ़ डकार गये। देना तो जानते नहीं हुजूर। असामियों पर इतना अत्याचार करते हैं कि कुछ न पूछिये। किसी की आबरू सलामत नहीं। दिन दहाड़े औरतों को ...

कार की आवाज़ आयी और राजा सूर्यप्रतापसिंह उतरे। रायसाहब ने कमरे से निकलकर उनका स्वागत किया और इस सम्मान के बोझ से नत होकर बोले—मैं तो आपकी सेवा में आनेवाला ही था।

यह पहला अवसर था कि राजा सूर्यप्रतापसिंह ने इस घर को अपने चरणों से पवित्र किया। यह सौभाग्य !

मिस्टर तंखा भीगी बिल्ली बने बैठे हुए थे। राजा साहब यहाँ ! क्या इधर इन दोनों महोदयों में दोस्ती हो गयी है ? उन्होंने रायसाहब की ईर्ष्याग्नि को उत्तेजित करके अपना हाथ सेंकना चाहा था मगर नहीं, राजा साहब यहाँ मिलने के लिए आ भले ही गये हों, मगर दिलों में जो जलन है, वह तो कुम्हार के आँवे की तरह इस ऊपर की लेप-थोप से बुझनेवाली नहीं।

राजा साहब ने सिगार जलाते हुए तंखा की ओर कठोर आँखों से देखकर कहा—तुमने तो सूरत ही नहीं दिखायी मिस्टर तंखा। मुझसे उस दावत के सारे रुपये वसूल कर लिये और होटलवालों को एक पाई न दी, वह मेरा सिर खा रहे हैं। मैं इसे विश्वासघात समझता हूँ। मैं चाहूँ तो अभी तुम्हें पुलिस में दे सकता हूँ।

यह कहते हुए उन्होंने रायसाहब को सम्बोधित करके कहा—ऐसा बेईमान आदमी मैंने नहीं देखा रायसाहब। मैं सत्य कहता हूँ, मैं कभी आपके मुकाबले में न खड़ा होता। मगर इसी शैतान ने मुझे बहकाया और मेरे एक लाख रुपये बरबाद कर दिये। बँगला खरीद लिया साहब, कार रख ली। एक वेश्या से आशनाई भी कर रखी है। पूरे रईस बन गये और अब दग़ाबाजी शुरू की है। रईसों की शान निभाने के लिये रियासत चाहिए। आपकी रियासत अपने दोस्तों की आखो में धूल झोंकना है।

रायसाहब ने तंखा की ओर तिरस्कार की आँखों से देखा और बोले—आप चुप क्यो हैं मिस्टर तंखा, कुछ जवाब दीजिए। राजा साहब ने तो आपका सारा मेहनताना दबा लिया। है इसका कोई जवाब आपके पास ? अब कृपा करके यहाँ से चले जाइये और खबरदार, फिर अपनी सूरत न दिखाइयेगा। दो भले आदमियों मे लड़ाई लगाकर अपना उल्लू सीधा करना बेपूँजी का रोजगार है; मगर इसका घाटा और नफ़ा दोनों ही जान-जोखिम है, समझ लीजिए।

तंखा ने ऐसा सिर गड़ाया कि फिर न उठाया। धीरे से चले गये जैसे कोई चोर कुत्ता, मालिक के अन्दर जाने पर दबकर निकल जाये।

जब वह चले गये, तो राजा साहब ने पूछा—मेरी बुराई करता होगा ?

"जी हाँ; मगर मैंने भी खूब बनाया।"

"शैतान है।"

"पूरा।"

"बाप-बेटे में लड़ाई करवा दे। इस फ़न में उस्ताद है। खैर, आज बचा को अच्छा सबक़ मिल गया।"

इसके बाद रुद्रपाल के विवाह की बातचीत शुरू हुई। रायसाहब के प्राण सूखे जा रहे थे। मानो उन पर कोई निशाना बाँधा जा रहा हो। कहाँ छिप जायेँ। कैसे कहें कि रुद्रपाल पर उनका कोई अधिकार नहीं रहा; मगर राजा साहब को परिस्थिति का ज्ञान हो चुका था। रायसाहब को अपनी तरफ से कुछ न कहना पड़ा। जान बच गयी।

उन्होंने पूछा—आपको इसकी क्योंकर ख़बर हुई ?

"अभी-अभी रुद्रपाल ने लड़की के नाम एक पत्र भेजा है, जो उसने मुझे दे दिया।"

"आजकल के लड़कों में और तो कोई खूबी नज़र नहीं आती, बस स्वच्छन्दता की सनक सवार है।"

"सनक तो है ही; मगर इसकी दवा मेरे पास है। मैं उस छोकरी को ऐसा गायब कर दूँ कि कहीं पता न लगेगा। दस-पाँच दिन में यह सनक ठण्डी हो जायेगी। समझाने से कोई नतीजा नहीं।"

रायसाहब काँप उठे। उनके मन में भी इस तरह की बात आयी थी; लेकिन उन्होंने उसे आकार न लेने दिया था। संस्कार दोनों व्यक्तियों के एक-से थे। गुफावासी मनुष्य दोनों ही व्यक्तियों में जीवित था। रायसाहब ने उसे ऊपरी वस्त्रों से ढँक दिया था। राजा साहब में वह नग्न था। अपना बड़प्पन सिद्ध करने के उस अवसर को रायसाहब छोड़ न सके।

जैसे लज्जित होकर बोले—लेकिन यह बीसवीं सदी है, बारहवीं नहीं। रुद्रपाल के ऊपर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, मैं नहीं कह सकता, लेकिन मानवता की दृष्टि से ···

राजा साहब ने बात काटकर कहा—आप मानवता लिये फिरते हैं और यह नहीं देखते कि संसार में आज भी मनुष्य की पशुता ही उसकी मानवता पर विजय पा रही है। नहीं, राष्ट्रों में लड़ाइयाँ क्यों होतीं ? पंचायतों से मामले न तय हो जाते ? जब तक मनुष्य रहेगा, उसकी पशुता भी रहेगी।

छोटी-मोटी बहस छिड़ गयी और विवाद के रूप में आकर अन्त मे वितंडा बन गयी और राजा साहब नाराज़ होकर चले गये। दूसरे दिन रायसाहब ने भी नैनीताल को प्रस्थान किया। और उसके एक दिन बाद रुद्रपाल ने सरोज के साथ इंगलैण्ड की राह ली। अब उनमें पिता-पुत्र का नाता न था। प्रतिद्वन्द्वी हो गये थे। मिस्टर तंखा अब रुद्रपाल के सलाहकार और पैरोकार थे। उन्होंने रुद्रपाल की तरफ़ से रायसाहब पर हिसाब-फ़हमी का दावा किया। रायसाहब पर दस लाख की डिग्री हो गयी। उन्हें डिग्री का इतना दुःख न हुआ, जितना अपने अपमान का। अपमान से भी बढ़कर दुःख था जीवन की सचित अभिलाषाओं के धूल में मिल जाने का और सबसे बड़ा दुःख था इस बात का कि अपने बेटे ने ही दग़ा दी। आज्ञाकारी पुत्र के पिता बनने का गौरव बड़ी निर्दयता के साथ उनके हाथ से छीन लिया गया था।

मगर अभी शायद उनके दुःख का प्याला भरा न था। जो कुछ कसर थी, वह लड़की और दामाद के सम्बन्ध-विच्छेद ने पूरी कर दी। साधारण हिन्दू बालिकाओं की तरह मीनाक्षी भी बेजबान थी। बाप ने जिसके साथ ब्याह कर दिया, उसके साथ चली गयी; लेकिन स्त्री-पुरुष में प्रेम न था। दिग्विजयसिंह ऐयाश भी थे शराबी भी।

मीनाक्षी भीतर ही भीतर कुढ़ती रहती थी। पुस्तकों और पत्रिकाओं से मन बहलाया करती थी। दिग्विजय की अवस्था तो तीस से अधिक न थी। पढ़ा-लिखा भी था; मगर बड़ा मगरूर, अपनी कुल-प्रतिष्ठा की डींग मारनेवाला, स्वभाव का निर्दयी और कृपण। गाँव की नीच जाति की बहू-बेटियों पर डोरे डाला करता था। सोहबत भी नीचों की थी, जिनकी खुशामदों ने उसे और भी खुशामदपसन्द बना दिया था। मीनाक्षी ऐसे व्यक्ति का सम्मान दिल से न कर सकती थी। फिर पत्रो में स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा पढ़-पढ़कर उसकी आँखें खुलने लगी थीं। वह जनाना क्लब में आने-जाने लगी। वहाँ कितनी ही शिक्षित, ऊँचे कुल की महिलायें आती थीं। उनमें वोट, अधिकार और स्वाधीनता और नारी जागृति की खूब चर्चा होती थी, जैसे पुरुषों के विरुद्ध कोई षडयन्त्र रचा जा रहा हो। अधिकतर वही आती थीं, जिनकी अपने पुरुषों से न पटती थी। जो नयी शिक्षा पाने के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड डालना चाहती थीं। कई युवतियाँ भी थीं, जो डिग्रियाँ ले चुकी थीं और विवाहित जीवन को आत्मसम्मान के लिये घातक समझकर नौकरियों की तलाश में थीं। उन्ही में एक मिस सुलतान थीं, जो विलायत से बार-एट-ला होकर आयी थीं और यहाँ परदानशीन महिलाओं को क़ानूनी सलाह देने का व्यवसाय करती थीं। उन्हीं की सलाह से मीनाक्षी ने पति पर गुज़ारे का दावा किया। वह अब उसके घर में न रहना चाहती थी। गुज़ारे की मीनाक्षी को ज़रूरत न थी। मैके में वह बडे आराम से रह सकती थी; मगर दिग्विजयसिंह के मुख में कालिख लगाकर यहाँ से जाना चाहती थी। दिग्विजयसिंह ने उस पर उलटा बदचलनी का आक्षेप लगाया। रायसाहब ने इस कलह को शान्त करने की भरसक बहुत चेष्टा की; पर मीनाक्षी अब पति की सूरत नहीं देखना चाहती थी। यद्यपि दिग्विजयसिंह का दावा खारिज हो गया और मीनाक्षी ने उस प़र गुज़ारे की डिग्री पायी; मगर यह अपमान उसके जिगर में चुभता रहा। वह अलग एक कोठी में रहती थी और समष्टिवादी आन्दोलन में प्रमुख भाग लेती थी, पर वह जलन शान्त न होती थी।

एक दिन वह क्रोध में आकर हंटर लिये दिग्विजसहि के बँगले पर पहुँची। शोहदे जमा थे और वेश्या का नाच हो रहा था। उसने रणचंडी की भाँति पिशाचों की इस चंडाल चौकड़ी में पहुँचकर तलहका मचा दिया। हंटर खा-खाकर लोग इधर-उधर भागने लगे। उसके तेज़ के सामने वह नीच शोहदे क्या टिकते ? जब दिग्विजयसिंह अकेले रह गये, तो उसने उन पर सड़ासड़ हंटर जमाने शुरू किये और इतना मारा कि कुँवर साहब बेदम हो गये। वेश्या अभी तक कोने में दबकी खड़ी थी। अब उसका नम्बर आया। मीनाक्षी हंटर तानकर जमाना ही चाहती थी कि वेश्या उनके पैरों पर गिर पड़ी और रोकर बोली—दुलहिनजी, आज आप मेरी ज़ान बख्श दें। मैं फिर कभी यहाँ न आऊँगी। मैं निरपराध हूँ।

मीनाक्षी ने उसकी ओर घृणा से देखकर कहा—हाँ, तू निरपराध है। जानती है न, मैं कौन हूँ ! चली जा। अब कभी यहाँ न आना। हम स्त्रियाँ भोग-विलास

की चीज़ें हैं ही, तेरा कोई दोष नहीं !

वेश्या ने उसके चरणों पर सिर रखकर आवेश में कहा—परमात्मा आपको सुखी रखे। जैसा, आपका नाम सुनती थी, वैसा ही पाया।

"सुखी रहने से तुम्हारा क्या आशय है ?"

"आप जो समझे महारानीजी !"

"नहीं, तुम बतलाओ।"

वेश्या के प्राण नखों में समा गये। कहाँ से कहाँ आशीर्वाद देने चली। जान बच गयी थी, चुपके से अपनी राह लेनी चाहिए थी, दुआ देने की सनक सवार हुई। अब कैसे जान बचे ?

डरती-डरती बोली—हुजूर का एक़बाल बढ़े, नाम बढ़े।

मीनाक्षी मुस्करायी—हाँ, ठीक है।

वह आकर अपनी कार में बैठी, हाकिम-ज़िला के बँगले पर पहुँचकर इस कांड की सूचना दी और अपनी कोठी में चली गयी। तब से स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे थे। दिग्विजयसिंह रिवाल्वर लिये उसकी ताक मे फिरा करते और वह भी अपनी रक्षा के लिये दो पहलवान ठाकुरों को अपने साथ लिये रहती थी। और रायसाहब ने सुख का जो स्वर्ग बनाया था, उसे अपनी जिन्दगी में ही ध्वंस होते देख रहे थे और अब संसार से निराश होकर उनकी आत्मा अंतर्मुखी होती जाती थी। अन्त तक अभिलाषाओं से जीवन के लिए प्रेरणा मिलती रहती थी। उधर का रास्ता बन्द हो जाने पर उनका मन आप ही आप भक्ति की ओर झुका, जो अभिलाषाओं से कहीं बढ़कर सत्य था। जिस नयी जायदाद के आसरे पर कर्ज लिये थे, वह जायदाद क़र्ज की पुरौती किये बिना ही हाथ से निकल गयी थी और वह बोझ सिर पर लदा हुआ था। मिनिस्ट्री से ज़रूर अच्छी रक़म मिलती थी; मगर वह सारी की सारी उस मर्यादा का पालन करने में ही उड़ जाती थी और रायसाहब को अपना राजसी ठाठ निभाने के लिए वही असामियों पर इज़ाफा, बेदखली और नज़राना करना और लेना पड़ता था, जिससे उन्हें घृणा थी। वह प्रजा को कष्ट न देना चाहते थे। उनकी दशा पर उन्हें दया आती थी; लेकिन अपनी ज़रूरतों से हैरान थे।

मुश्किल यह थी कि उपासना और भक्ति में भी उन्हें शान्ति न मिलती थी। वह मोह को छोड़ना चाहते थे; पर मोह उन्हें न छोड़ता था और इस खींच-तान में उन्हें अपमान, ग्लानि और अशान्ति से छुटकारा न मिलता था। और जब आत्मा में शान्ति नहीं, तो देह कैसे स्वस्थ रहती ? निरोग रहने का सब उपाय करने पर भी एक बाधा गले पड़ी रहती थी। रसोई में सभी तरह के पकवान बनते थे; पर उनके लिये वही मूँग की दाल और फुलके थे। अपने और भाईयों को देखते थे, जो उनसे भी ज़्यादा मफ़रूज, अपमानित और शोकग्रसत थी, जिनके भोग-विलास में, ठाठ-बाट में किसी तरह की कमी न थी; मगर इस तरह की बेहयायी उनके बस में न थी। उनके मन के ऊँचे संस्कारों का ध्वंस न हुआ था। पर-पीड़ा, मक्कारी,

निर्लज्जता और अत्याचार को वह ताल्लुकेदारी की शोभा और रोब-दाब का नाम देकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर सकते थे, और यही उनकी सबसे बड़ी हार थी।

बत्तीस

मिर्ज़ा खुर्शेद ने अस्पताल से निकलकर एक नया काम शुरू कर दिया था। निश्चिन्त बैठना उनके स्वभाव में न था। यह काम क्या था ? नगर की वेश्याओं की एक नाटक-मण्डली बनाना। अपने अच्छे दिनों में उन्होंने खूब ऐयाशी की थी और इन दिनों अस्पताल के एकान्त में घावों की पीड़ायें सहते-सहते उनकी आत्मा निष्ठावान हो गयी थी। उस जीवन की याद करके उन्हें गहरी मनोव्यथा होती थी। उस वक्त अगर उन्हें समझ होती तो वह प्राणियों का कितना उपकार कर सकते थे; कितनों के शोक और दरिद्रता का भार हलका कर सकते थे; मगर वह धन उन्होने ऐयाशी में उड़ाया। यह कोई नया आविष्कार नहीं है कि संकटों में ही हमारी आत्मा को जागृति मिलती है। बुढ़ापे में कौन अपनी जवानी की भूलों पर दुखी नहीं हो ? काश, वह समय ज्ञान या शक्ति के संचय में लगाया होता, सुकृतियों का कोष भर लिया होता, तो आज चित्त को कितनी शान्ति मिलती। वही उन्हें इसका बेदनामय अनुभव हुआ कि संसार में कोई अपना नहीं, कोई उनकी मौत पर आँसू बहाने वाला नहीं। उन्हें रह-रहकर जीवन की एक पुरानी घटना याद आती थी। बसरे के एक गाँव में जब वह कैम्प में मलेरिया से ग्रस्त पड़े थे, एक ग्रामीण बाला ने उनकी तीमारदारी कितने आत्म-समर्पण से की थी। अच्छे हो जाने पर जब उन्होंने रुपये और आभूषणों से उसके एहसानों का बदला देना चाहा था, तो उसने किस तरह आँखों में आँसू भरकर सिर नीचा कर लिया था और उन उपहारों को लेने से इनकार कर दिया था।

इन नर्सों की शुश्रूषा में नियम है, व्यवस्था है, सच्चाई है, मगर वह प्रेम कहाँ, वह तन्मयता कहाँ, जो उस बाला की अभ्यासहीन अल्हड़ सेवाओं में थी ? वह अनुराग-मूर्ति कब की उनके दिल से मिट चुकी थी। वह उससे फिर आने का वादा करके कभी उसके पास न गये। विलास के उन्माद में कभी उसकी याद ही न आयी। आयी भी तो उसमें केवल दया थी, प्रेम न था। मालूम नहीं, उस बाला पर क्या गुज़री ? मगर आजकल उसकी वह आतुर, नम्र, शान्त, सरल मुद्रा बराबर उनकी आँखों के सामने फिरा करती थी। काश, उससे विवाह कर लिया होता तो आज जीवन में कितना रस होता ! और उसके प्रति अन्याय के दुःख ने उस सम्पूर्ण वर्ग को उनकी सेवा और सहानुभूति का पात्र बना दिया। जब तक नदी बाढ़ पर थी, उसके गंदले, तेज, फेनिल प्रवाह में प्रकाश की किरणें बिखरकर रह जाती थीं। अब प्रवाह और शान्त हो गया था और रश्मियाँ उसकी तह तक पहुँच रही थीं। मिर्ज़ा साहब वसन्त की इस शीतल संध्या में अपने झोंपड़े के बरामदे में दो वीरांगनाओं के साथ बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि मिस्टर मेहता पहुँचे। मिर्ज़ा ने बड़े तपाक

से हाथ मिलाया और बोले—मैं तो आपकी खातिरदारी का सामान लिये आपकी राह देख रहा हूँ।

दोनों सुन्दरियाँ मुसकरायीं। मेहता कट गये।

मिर्ज़ा ने दोनों औरतों को वहाँ से चले जाने का संकेत किया और मेहता को मसनद पर बैठाते हुए बोले—मैं तो खुद आपके पास आने वाला था। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि मैं जो काम करने जा रहा हूँ, वह आपकी मदद के बग़ैर पूरा न होगा। आप सिर्फ मेरी पीठ पर हाथ रख दीजिये और ललकारते जाइये—हाँ मिर्ज़ा, बढ़े चल पट्ठे।

मेहता ने हँसकर कहा—आप जिस काम में हाथ लगायेंगे, उसमें हम-जैसे किताबी कीड़ों की मदद की ज़रूरत न होगी। आपकी उम्र मुझसे ज़्यादा है। दुनिया भी आपने खूब देखी है और छोटे-से छोटे आदमियों पर अपना असर डाल सकने की जो शक्ति आप में है, वह मुझमें होती, तो मैंने खुदा जाने क्या किया होता।

मिर्ज़ा साहब ने थोड़े-से शब्दों में अपनी नयी स्कीम उनसे बयान की। उनकी धारणा थी कि रूप के बाज़ार में वही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर मे किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती हैं, और अगर यह दोनों प्रश्न हल कर दिये जायें, तो बहुत कम औरते इस भाँति पतित हों।

मेहता ने अन्य विचारवान सज्जनो की भाँति इस प्रश्न पर काफी विचार किया था और उनका ख़्याल था कि मुख्यतः मन के संस्कार और भोग-लालसा ही औरतों को इस ओर खींचता है। इसी बात पर दोनों मित्रों में बहस छिड़ गयी। दोनों अपने-अपने पक्ष पर अड़ गये।

मेहता ने गुट्ठी बाँधकर हवा में पटकते हुए कहा—आपने इस प्रश्न पर ठण्डे दिल से ग़ौर नहीं किया। रोज़ी के लिए और बहुत जरिये हैं। मगर ऐश की भूख रोटियों से नहीं जाती। उसके लिए दुनिया के अच्छे-अच्छे पदार्थ चाहिए। जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाये, इस तरह की मण्डली से कोई फ़ायदा न होगा।

मिर्ज़ा ने मूँछें खड़ी कीं—और मैं कहता हूँ कि यह महज रोज़ी का सवाल है। हाँ, यह सवाल सभी आदमियों के लिए एक-सा नहीं है। मज़दूर के लिए वह महज़ आटे-दाल और एक फूस की झोपड़ी का सवाल है। एक वकील के लिए वह एक कार और बँगले और खिदमतगारों का सवाल है। आदमी महज़ रोटी नहीं चाहता और भी बहुत-सी चीज़ें चाहता है। अगर औरतों के सामने भी वह प्रश्न तरह-तरह की सूरतों में आता है तो उनका क्या कुसूर है ?

डाक्टर मेहता अगर ज़रा गौर करते, तो उन्हें मालूम होता कि उनमें और मिर्जा में कोई भेद नहीं, केवल शब्दों का हेर-फेर है; पर बहस की गर्मी में ग़ौर करने का धैर्य कहाँ ? गर्म होकर बोले—मुआफ़ कीजिये, मिर्ज़ा साहब, जब तक दुनियालें कि वेश्यायें आपकी मण्डली में स्थायी रूप से टिक जायेंगी, तो बाजार में उनकी

मे दौलत वाले रहेंगे, वेश्यायें भी रहेंगी। मण्डली अगर सफल भी हो जाये, हालाँकि मुझे उसमें बहुत सन्देह है, तो आप दस-पाँच औरतों से ज्यादा उनमें कभी न ले सकेंगे, और वह भी थोड़े दिनों के लिए। सभी औरतों में नाट्य करने की शक्ति नहीं होती, उसी तरह जैसे सभी आदमी कवि नहीं हो सकते। और यह भी मान जगह खाली न रहेगी। जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे, पत्तियाँ तोड़ने से कोई नतीज़ा नहीं। दौलत वालों में कभी-कभी ऐसे लोग निकल आते हैं, जो सब कुछ त्यागकर खुदा की याद में जा बैठते हैं; मगर दौलत का राज्य बदस्तूर कायम है। उसमें जरा भी कमज़ोरी नहीं आने पायी।

मिर्ज़ा को मेहता की हठधर्मी पर दुःख हुआ। इतना पढ़ा-लिखा विचारवान आदमी इस तरह की बातें करे ! समाज की व्यवस्था क्या आसानी से बदल जायेगी ? वह तो सदियों का मुआमला है। तब तक क्या यह अनर्थ होने दिया जाये ? क्यों न शेर को पिंजरे में बंद कर दिया जाये कि वह दाँत और नाखून होते हुए भी किसी को हानि न पहुँचा सके। क्यों उस वक्त तक चुपचाप बैठा रहा जाये, जब तक शेर अहिसा का व्रत न ले ले ? दौलत वाले और जिस तरह चाहें अपनी दौलत उड़ायें, मिर्ज़ाजी को ग़म नहीं। शराब में डूब जायें, कारों की माला गले मे डाल लें, किले बनवाये, धर्मशालायें और मसज़िदें खड़ी करें उन्हें कोई परवाह नहीं। अबलाओं की ज़िन्दगी न खराब करें। यह मिर्ज़ाजी नहीं देख सकते। वह रूप के बाज़ार को ऐसा खाली कर देंगे कि दौलतवालों की अशर्फियों पर कोई थूकने वाला भी न मिले। क्या जिन दिनों शराब की दुकानों की पिकेटिंग होती थी , अच्छे-अच्छे शराबी पानी पी-पीकर दिल की आग नहीं बुझाते थे ?

मेहता ने मिर्ज़ा की बेवकूफी पर हँसकर कहा—आपको मालूम होना चाहिए कि दुनिया में ऐसे मुल्क भी हैं, जहाँ वेश्यायें नहीं हैं। मगर अमीरों की दौलत वहाँ भी दिलचस्पियों के सामान पैदा कर लेती है।

मिर्ज़ाजी भी मेहता की जड़ता पर हँसे—जानता हूँ मेहबान, जानता हूँ। आपकी दुआ से दुनिया देख चुका हूँ; मगर यह हिन्दुस्तान है, यूरोप नहीं।

"इंसान का स्वभाव सारी दुनिया में एक-सा है।"

"मगर यह भी मालूम रहे कि हरएक कौम में एक ऐसी चीज़ होती है, जिसे उसकी आत्मा कह सकते हैं। असमत (सतीत्व) हिन्दुस्तानी तहज़ीब की आत्मा है।"

"अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन लीजिये।"

"दौलत की आप इतनी बुराई करते हैं, फिर भी खन्ना की हिमायत करते नहीं थकते। न कहियेगा।"

मेहता का तेज़ विदा हो गया। नम्र भाव से बोले—मैंने खन्ना की हिमायत उस वक्त की है, जब वह दौलत के पंजे से छूट गये हैं, और आजकल उनकी हालत आप देखें, तो आपको दया आयेगी। और मैं क्या हिमायत करूँगा, जिसे अपनी किताबों और विद्यालय से छुट्टी नहीं; ज्यादा-से-ज्यादा सूखी हमदर्दी ही तो कर सकता

हूँ। हिमायत की है मिस मालती ने कि खन्ना को बचा लिया। इन्सान के दिल की गहराइयों में त्याग और कुर्बानी की कितनी ताकत छिपी होती है, इसका मुझे अब तक तज़रबा न हुआ था। आप भी एक दिन खन्ना से मिल आइये। फूले न समाइयेगा। इस वक्त उन्हें जिस चीज़ की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, वह हमदर्दी है।

मिर्ज़ा ने जैसे अपनी इच्छा के विरुद्ध कहा—आप कहते हैं, तो जाऊँगा। आपके साथ जहन्नुम में जाने में भी मुझे उज्र नहीं; मगर मिस मालती से तो आपकी शादी होने वाली थी। बड़ी गर्म खबर थी।

मेहता ने झेंपते हुए कहा—तपस्या कर रहा हूँ। देखिये, कब वरदान मिले।

"अजी, वह तो आप पर मरती थी।"

"मुझे भी यह वहम हुआ था; मगर जब मैंने हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ना चाहा तो देखा, वह आसमान में जा बैठी है। उस ऊँचाई तक तो क्या मैं पहुँचूँगा, आरजू-मिन्नत कर रहा हूँ कि नीचे आ जाये। आजकल तो वह मुझसे बोलती भी नहीं।"

यह कहते हुए मेहता ज़ोर से रोती हुई हँसी हँसे और उठ खड़े हुए।

मिर्ज़ा ने पूछा—अब फिर कब मुलाक़ात होगी ?

"अबकी आपको तकलीफ़ करनी पड़ेगी। खन्ना के पास जाइयेगा ज़रूर !"

"जाऊँगा।"

मिर्ज़ा ने खिड़की से मेहता को जाते देखा। चाल में वह तेज़ी न थी, जैसे किसी चिन्ता में डूबे हुए हों !

तैंतीस

डाक्टर मेहता परीक्षक से परीक्षार्थी हो गये हैं। मालती से दूर-दूर रहकर उन्हें ऐसी शंका होने लगी है कि उसे खो न बैठें। कई महीनों से मालती उनके पास न आयी थी और जब वह विफल होकर उसके घर गये तो मुलाकात न हुई। जिन दिनों रुद्रपाल और सरोज का प्रेमकाण्ड चलता रहा, तब तो मालती उनकी सलाह लेने प्रायः एक-दो बार रोज़ आती थी; पर जब से दोनों इंग्लैंड चले गये थे, उसका आना-जाना बन्द हो गया था। घर पर भी मुश्किल से मिलती। ऐसा मालूम होता था, जैसे वह उनसे बचती है, जैसे बलपूर्वक अपने मन को उनकी ओर से हटा लेना चाहती है। जिस पुस्तक में वह इन दिनों लगे हुये थे, वह आगे बढ़ने से इनकार कर रही थी, जैसे उनका मनोयोग लुप्त हो गया हो।

गृह-प्रबन्ध में तो वह कभी बहुत कुशल न थे। सब मिलाकर एक हज़ार रुपये से अधिक महीने में कमा लेते थे; मगर बचत एक धेले की भी न होती थी। रोटी-दाल खाने के सिवा और उनके हाथ कुछ न था। तकल्लुफ अगर कुछ था तो वह उनकी कार थी, जिसे वह खुद ड्राइव करते थे। कुछ रुपये किताबों में उड़ा जाते थे, कुछ चन्दों में, कुछ गरीब छात्रों की परवरिश में और अपने बाग की सजावट में, जिससे

उन्हें इश्क-सा था। तरह-तरह के पौधे और वनस्पतियाँ विदेशों से महँगे दामों मँगाना और उनको पालना—यही उनका मानसिक चटोरपन था या इसे दिमाग़ी ऐयाशी कहें; मगर इधर कई महीनों से बगीचे की ओर से वह कुछ विरक्त-से हो रहे थे और घर का इन्तज़ाम और भी बदतर हो गया था। खाते दो फुलके और खर्च हो जाते सौ से ऊपर ! अचकन पुरानी हो गयी थी; मगर इसी पर उन्होंने कड़ाके का जाड़ा काट दिया। नई अचकन सिलवाने की तौफ़ीक न हुई थी। कभी-कभी बिना घी की दाल खाकर उठना पड़ता। कब घी का कनस्तर मँगाया था, इसकी उन्हें याद ही न थी, और महाराज से पूछें भी तो कैसे ? वह समझेगा नहीं कि उस पर अविश्वास किया जा रहा है ? आखिर एक दिन जब तीन निराशाओं के बाद चौथी बार मालती से मुलाकात हुई और उसने इनकी यह हालत देखी, तो उससे न रहा गया। बोली—तुम क्या अबकी जाड़ा यों ही काट दोगे ? यह अचकन पहनते तुम्हें शर्म भी नहीं आती ?

मालती उनकी पत्नी न होकर उनके इतने समीप थी कि यह प्रश्न उसने उसी सहज भाव से लिया, जैसे अपने किसी आत्मीय से करती।

मेहता ने बिना झेंपे हुए कहा—क्या करूँ मालती, पैसा तो बचता ही नहीं।

मालती को अचरज हुआ—तुम एक हज़ार कमाते हो, और तुम्हारे पास अपने कपड़े बनवाने को भी पैसे नहीं ? मेरी आमदनी चार सौ से ज्यादा न थी; लेकिन मैं उसी में सारी गृहस्थी चलाती हूँ और कुछ बचा लेती हूँ। आखिर तुम क्या करते हो ?

"मैं एक पैसा भी फालतू नहीं खर्च करता। मुझे कोई ऐसा शौक भी नहीं है।"

"अच्छा, मुझसे रुपये ले जाओ और एक जोड़ी अचकन बनवा लो।"

मेहता ने लज्जित होकर कहा—अबकी बनवा लूँगा। सच कहता हूँ !

"अब आप यहाँ आयें तो आदमी बनकर आयें।"

"यह तो बड़ी कड़ी शर्त है।"

"कड़ी सही। तुम जैसों के साथ बिना कड़ाई किये काम नहीं चलता।"

मगर वहाँ तो सन्दूक खाली था और किसी दुकान पर बेपैसे जाने का साहस न पड़ता था ! मालती के घर जायें तो कौन मुँह लेकर ? दिल में तड़प-तड़पकर रह जाते थे। एक दिन नयी विपत्ति आ पड़ी। इधर कई महीने से मकान का किराया नहीं दिया था। पचहत्तर रुपये माहवार बढ़ते जाते थे। मकानदार ने जब बहुत तकाज़े करने पर भी रुपये वसूल न कर पाये, तो नोटिस दे दी; मगर नोटिस रुपये गढ़ने का कोई जन्तर तो है नहीं। नोटिस की तारीख निकल गयी और रुपये न पहुँचे। तब मकानदार ने मजबूर होकर नालिश कर दी। वह जानता था, मेहताजी बड़े सज्जन और परोपकारी पुरुष हैं; लेकिन इससे ज्यादा भलमनसी वह क्या करता कि छः महीने बैठा रहा। मेहता ने किसी तरह की पैरवी न की, एकतरफा डिग्री हो गयी, मकानदार

ने तुरन्त डिग्री जारी करायी और कुर्क अमीन मेहता साहब के पास पूर्व सूचना देने आया; क्योंकि उसका लड़का यूनिवर्सिटी में पढ़ता था और उसे मेहता कुछ वजीफ़ा भी देते थे। संयोग से उस वक्त मालती भी बैठी थी।

बोली—कैसी कुर्की है ? किस बात की ?

अमीन ने कहा—वही किराये की डिग्री जो हुई थी। मैंने कहा, हुजूर को इत्तला दे दूँ। चार-पाँच सौ का मामला है, कौन-सी बड़ी रकम है। दस दिन में भी रुपये दे दीजिये, तो कोई हरज नहीं। मैं महाजन को दस दिन तक उलझाये रहूँगा।

जब अमीन चला गया तो मालती ने तिरस्कार-भरे स्वर से पूछा—अब यहाँ तक नौबत पहुँच गयी ! मुझे आश्चर्य होता है कि तुम इतने मोटे-मोटे ग्रन्थ कैसे लिखते हो ! मकान का किराया छः-छः महीने से बाकी पड़ा है और तुम्हें खबर नहीं ?

मेहता लज्जा से सिर झुकाकर बोले—खबर क्यों नहीं है, लेकिन रुपये बचते ही नहीं। मैं एक पैसा भी व्यर्थ नहीं खर्च करता।

"कोई हिसाब-किताब भी लिखते हो ?"

"हिसाब क्यों नहीं रखता। जो कुछ पाता हूँ, वह सब दर्ज करता जाता हूँ, नहीं इनकमटैक्स वाले ज़िन्दा न छोड़ें।"

"और जो कुछ खर्च करते हो वह ?"

"उसका तो कोई हिसाब नहीं रखता।"

"क्यों ?"

"कौन लिखे ? बोझ-सा लगता है।"

"और यह पोथे कैसे लिख डालते हो ?"

"उसमें तो विशेष कुछ नहीं करना पड़ता। कलम लेकर बैठ जाता हूँ। हर वक्त खर्च का खाता तो खोलकर नहीं बैठता।"

"तो रुपये कैसे अदा करोगे ?"

"किसी से क़र्ज ले लूँगा। तुम्हारे पास हों तो दे दो।"

"मैं तो एक शर्त पर दे सकती हूँ। तुम्हारी आमदनी सब मेरे हाथों में आये और खर्च भी मेरे हाथों से हो।"

मेहता प्रसन्न होकर बोले—वाह, अगर यह भार ले लो, तो क्या कहना; मूसलों ढोल बजाऊँ।

मालती ने डिग्री के रुपये चुका दिये और दूसरे ही दिन मेहता को वह बँगला खाली करने पर मज़बूर किया। अपने बँगले में उसने उनके लिये दो बड़े-बड़े कमरे दे दिये। उनके भोजन आदि का प्रबन्ध भी अपनी ही गृहस्थी में कर दिया। मेहता के पास और सामान तो ज्यादा न था; मगर किताबें कई गाड़ी थीं। उनके दोनों कमरे पुस्तकों से भर गये। अपना बगीचा छोड़ने का उन्हें ज़रूर कलक हुआ; लेकिन मालती ने अपना पूरा अहाता उनके लिए छोड़ दिया कि जो फूल-पत्तियाँ चाहें लगायें।

मेहता तो निश्चिन्त हो गये; लेकिन मालती को उनकी आय-व्यय पर नियन्त्रण करने में बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उसने देखा, आय तो एक हज़ार से ज्यादा है; मगर वह सारी की सारी गुप्तदान में उड़ जाती है। बीस-पच्चीस लड़के उन्हीं से वजीफा पाकर विद्यालय में पढ़ रहे थे। विधवाओं की तादाद भी इससे कम न थी। इस खर्च में कैसे कमी करे, यह उसे न सूझता था। सारा दोष उसी के सिर मढ़ा जायेगा, सारा अपयश उसी के हिस्से पड़ेगा। कभी मेहता पर झुँझलाती, कभी अपने ऊपर, कभी प्रार्थियों के ऊपर जो एक सरल, उदार प्राणी पर अपना भार रखते जरा भी न सकुचाते थे। यह देखकर और भी झुँझलाहट होती थी कि इन दान लेनेवालों में कुछ तो इसके पात्र ही न थे। एक दिन उसने मेहता को आड़े हाथों लिया।

मेहता ने उसका आक्षेप सुनकर निश्चिन्त भाव से कहा—तुम्हें अख़्तियार है, जिसे चाहे दो, चाहे न दो। मुझसे पूछने की कोई ज़रूरत नहीं। हाँ, जवाब भी तुम्हीं को देना पड़ेगा।

मालती ने चिढ़कर कहा—हाँ, और क्या, यश तो तुम लो, अपयश मेरे सिर मढ़ो। मैं नहीं समझती, तुम किस तर्क से इस दान-प्रथा का समर्थन कर सकते हो। मनुष्य-जाति को इस प्रथा ने जितना आलसी और मुफ़्तखोर बनाया है और उसके आत्मगौरव पर जैसा आघात किया है, उतना अन्याय ने भी न किया होगा; बल्कि मेरे ख़्याल में अन्याय ने मनुष्य-जाति में विद्रोह की भावना उत्पन्न करके समाज का बड़ा उपकार किया है।

मेहता ने स्वीकार किया—मेरा भी यही ख़्याल है।

"तुम्हारा यह ख़्याल नहीं है।"

"नहीं मालती, मैं सच कहता हूँ।"

"तो विचार और व्यवहार में इतना भेद क्यों ?"

मालती ने तीसरे महीने बहुतों को निराश किया। किसी को साफ जवाब दिया, किसी से मजबूरी जताई, किसी की फजीहत की।

मिस्टर मेहता का बजट तो धीरे-धीरे ठीक हो गया; मगर इससे उनको एक प्रकार की ग्लानि हुई। मालती ने जब तीसरे महीने में तीन सौ की बचत दिखायी, तब वह उससे कुछ बोले नहीं, मगर उनकी दृष्टि में उसका गौरव कुछ कम अवश्य हो गया। नारी में दान और त्याग होना चाहिये। उसकी यही सबसे बड़ी विभूति है। इसी आधार पर समाज का भवन खड़ा है। वणिक-बुद्धि को वह आवश्यक बुराई ही समझते थे।

जिस दिन मेहता की अचकनें बनकर आयीं और नयी घड़ी आयी, वह संकोच के मारे कई दिन बाहर न निकले। आत्म-सेवा से बड़ा उनकी नज़रों में दूसरा अपराध न था।

मगर रहस्य की बात यह थी कि मालती उनको तो लेखे-ड्योढ़े में कसकर बाँधना चाहती थी। उनके धन-दान के द्वार बन्द कर देना चाहती थी; पर खुद

जीवन-दान देने में अपने समय और सदाशयता को दोनों हाथों से लुटाती थी। अमीरों के घर तो वह बिना फ़ीस लिये न जाती थी; लेकिन गरीबों को मुफ़्त देखती थी, मुफ्त दवा भी देती थी। दोनों में अन्तर इतना ही था, कि मालती घर की भी थी और बाहर की भी; मेहता केवल बाहर के थे, घर उनके लिए न था। निजत्व दोनों मिटाना चाहते थे। मेहता का रास्ता साफ था। उन पर अपनी जात के सिवा और कोई जिम्मेदारी न थी। मालती का रास्ता कठिन था, उस पर दायित्व था, बन्धन था, जिसे वह तोड़ न सकती थी, न तोड़ना चाहती थी। उस बन्धन में ही उसे जीवन की प्रेरणा मिलती थी। उसे अब मेहता को समीप से देखकर यह अनुभव हो रहा था कि वह खुले जंगल में विचरने वाले जीव को पिंजरे में बन्द नहीं कर सकती। और बन्द कर देगी, तो वह काटने और नौचने दौड़ेगा। पिंजरे में सब तरह का सुख मिलने पर भी उसके प्राण सदैव जंगल के लिये ही तड़पते रहेंगे। मेहता के लिए घरबारी दुनिया पर एक अनजानी दुनिया थी, जिसकी रीति-नीति से वह परिचित न थे।

उन्होंने संसार को बाहर से देखा था और उसे मक्र और फरेब से ही भरा समझते थे। जिधर देखते थे, उधर ही बुराइयाँ नज़र आती थीं; मगर समाज में जब गहरायी में जाकर देखा, तो उन्हे मालूम हुआ कि इन बुराइयों के नीचे त्याग भी है, प्रेम भी है, साहस भी है, धैर्य भी है; मगर यह भी देखा कि वह विभूतियाँ हैं तो जरूर पर दुर्लभ हैं, और इस शंका और संदेह में जब मालती का अन्धकार से निकलता हुआ देवी-रूप उन्हें नज़र आया, तब वह उसकी ओर उतावलेपन के साथ, सारा धैर्य खोकर टूटे और चाहा कि उसे ऐसे जतन से छिपाकर रखें कि किसी दूसरे की आँख भी उस पर न पड़े। यह ध्यान न रहा कि यह मोह ही विनाश की जड़ है। प्रेम-जैसी निर्मम वस्तु क्या भय से बाँधकर रखी जा सकती है ? वह तो पूरा विश्वास चाहती है, पूरी स्वाधीनता चाहती है, पूरी जिम्मेदारी चाहती है। उसके पल्लवित होने की शक्ति उसके अन्दर है। उसे प्रकाश और क्षेत्र मिलना चाहिये। वह कोई दीवार नहीं है, जिस पर ऊपर से ईंटें रखी जाती हैं। उसमें तो प्राण है, फैलने की असीम शक्ति है।

जब से मेहता इस बँगले में आये हैं, उन्हें मालती से दिन में कई बार मिलने का अवसर मिलता है। उनके मित्र समझते हैं, यह उनके विवाह की तैयारी है। केवल रस्म अदा करने की देर है। मेहता भी यही स्वप्न देखते रहते हैं। अगर मालती ने उन्हें सदा के लिए ठुकरा दिया होता, तो क्यों उन पर इतना स्नेह रखती ? शायद वह उन्हें सोचने का अवसर दे रही है, और वह खूब सोचकर इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि मालती के बिना वह आधे हैं। वही उन्हें पूर्णता की ओर ले जा सकती है। बाहर से वह विलासिनी है, भीतर से वही मनोवृत्ति शक्ति का केन्द्र है; मगर परिस्थिति बदल गयी है। तब मालती प्यासी थी, अब मेहता प्यास से विकल है। और एक बार जवाब पा जाने के बाद उन्हें उस प्रश्न पर मालती से कुछ कहने का साहस

नहीं होता, यद्यपि उनके मन में अब संदेह का लेश नहीं रहा। मालती को समीप से देखकर उनका आकर्षण बढ़ता ही जाता है। दूर से पुस्तक के जो अक्षर लिपे-पुते लगते थे, समीप से वह स्पष्ट हो गये हैं, उनमें अर्थ है, सन्देश है।

इधरमालती ने अपने बाग के लिए गोबर को माली रख लिया था। एक दिन वह किसी मरीज को देखकर आ रही थी कि रास्ते में पेट्रोल न रहा। वह खुद ड्राइव कर रही थी। फिक्र हुई पेट्रोल कैसे आये ? रात के नौ बज गये थे और माघ का जाड़ा पड़ रहा था। सड़कों पर सन्नाटा हो गया था। कोई ऐसा आदमी नज़र न आता था, जो कार ढकेलकर पेट्रोल की दुकान तक ले जाये। बार-बार नौकर पर झुँझला रही थी। हरामखोर कहीं का, बेखबर पड़ा रहता है।

संयोग से गोबर उधर से आ निकला। मालती को खड़े देखकर उसने हालत समझ ली और गाड़ी को दो फर्लांग, ठेलकर पेट्रोल की दुकान तक लाया।

मालती ने प्रसन्न होकर पूछा—नौकरी करोगे ?

गोबर ने धन्यवाद के साथ स्वीकार किया। पन्द्रह रुपये वेतन तय हुआ। माली का काम उसे पसन्द था। यही काम उसने किया था और उसमें मँजा हुआ था। मिल की मजूरी में वेतन जयादा मिलता था; पर उस काम से उसे उलझन होती थी।

दूसरे दिन गोबर ने मालती के यहाँ काम शुरू कर दिया। उसे रहने को एक कोठरी भी मिल गयी। झुनिया भी आ गयी। मालती बाग में आती तो उसे झुनिया का बालक धूल-मिट्टी में खेलता मिलता। एक दिन मालती ने उसे एक मिठाई दे दी। बच्चा उस दिन से परच गया। उसे देखते ही उसके पीछे लग जाता और जब तक मिठाई न ले लेता, उसका प्रीछा न छोड़ता।

एक दिन मालती बाग में आयी तो बालक न दिखाई दिया। झुनिया से पूछा तो मालूम हुआ बच्चे को ज्वर आ गया है।

मालती ने घबराकर कहा—ज्वर आ गया ! तो मेरे पास क्यों नहीं लायी ? चल देखूँ।

बालक खटोले पर ज्वर में अचेत पड़ा था। खपरैल की उस कोठरी में इतनी सील, इतना अँधेरा, और इस ठण्ड के दिनों में भी इतने मच्छर कि मालती एक मिनट भी वहाँ न ठहर सकी; तुरन्त आकर थर्मामीटर लिया और फिर जाकर देखा, एक सौ चार था ! मालती को भय हुआ, कहीं चेचक न हो। बच्चे को अभी तक टीका नहीं लगा था। और अगर इस सीली कोठरी में रहा, तो भय था, कहीं ज्वर और न बढ़ जाये।

सहसा बालक ने आँखें खोल दीं और मालती को खड़ी पाकर करुण नेत्रों से उसकी ओर देखा और उसकी गोद के लिए हाथ फैलाये। मालती ने उसे गोद में उठा लिया और थपकियाँ देने लगी।

बालक मालती की गोद में आकर जैसे किसी बड़े सुख का अनुभव करने लगा।

अपनी जलती हुई उँगलियों से उसके गले की मोतियों की माला पकड़कर अपनी ओर खींचने लगा। मालती ने नेकलेस उतारकर उसके गले में डाल दी। बालक की स्वार्थी प्रकृति इस दशा में भी सजग थी। नेकलेस पाकर अब उसे मालती की गोद में रहने की कोई ज़रूरत न रही। यहाँ उसके छिन जाने का भय था। झुनिया की गोद इस समय ज्यादा सुरक्षित थी।

मालती ने खिले हुए मन से कहा–बड़ा चालाक है। चीज़ लेकर कैसा भागा !

झुनिया ने कहा–दे दो बेटा, मेम साहब का है।

बालक ने हार को दोनों हाथों से पकड़ लिया और माँ की ओर रोष से देखा।

मालती बोली–तुम पहने रहो बच्चा, मैं माँगती नहीं हूँ।

उसी वक्त बँगले में आकर उसने अपना बैठक का कमरा खाली कर दिया और उसी वक्त झुनिया उस नये कमरे में डट गयीं।

मंगल ने उस स्वर्ग को कुतूहल-भरी आँखों से देखा। छत में पंखा था, रंगीन बल्ब थे, दीवारों पर तस्वीरें थीं। देर तक उन चीजों को टकटकी लगाये देखता रहा। मालती ने बड़े प्यार से पुकारा–मंगल !

मंगल ने मुस्कराकर उसकी ओर देखा, जैसे कह रहा हो–आज तो हँसा नहीं जाता मेम साहब ! क्या करूँ। आपसे कुछ हो सके तो कीजिए।

मालती ने झुनिया को बहुत-सी बातें समझाईं और चलते-चलते पूछा–तेरे घर में कोई दूसरी औरत हो, तो गोबर से कह दे, दो-चार दिन के लिए बुला लावे। मुझे चेचक का डर है। कितनी दूर है तेरा घर ?

झुनिया ने अपने गाँव का नाम और पता बताया। अन्दाज से अट्ठारह-बीस कोस होगा।

मालती को बेलारी याद था। बोली–वही गाँव तो नहीं, जिसके पच्छिम तरफ़ आध मील पर नदी है ?

"हाँ-हाँ मेम साहब, वही गाँव है। आपको कैसे मालूम ?"

"एक बार हम लोग उस गाँव में गये थे। होरी के घर ठहरे थे। तू उसे जानती है ?"

"वह तो मेरे ससुर हैं मेम साहब। मेरी सास भी मिली होंगी ?"

"हाँ-हाँ, बड़ी समझदार औरत मालूम होती थी। मुझसे खूब बातें करती रही। तो गोबर को भेज दे, अपनी माँ को बुला लाये।"

"वह उन्हें बुलाने नहीं जायेंगे।"

"क्यों ?"

"कुछ ऐसा कारन है।"

झुनिया को अपने घर का चौका-बरतन, झाड़ू-बुहारू, रोटी-पानी सभी कुछ करना पड़ता। दिन को तो दोनों चना-चबेना खाकर रह जाते, रात को जब मालती

आ जाती, तो झुनिया अपना खाना पकाती और मालती बच्चे के पास बैठती। वह बार-बार चाहती कि बच्चे के पास बैठे; लेकिन मालती उसे न आने देती। रात को बच्चे का ज्वर तेज हो जाता और वह बेचैन होकर दोनों हाथ ऊपर उठा लेता। मालती उसे गोद में लेकर घंटों कमरे में टहलती। चौथे दिन उसे चेचक निकल आयी। मालती ने सारे घर को टीका लगाया, खुद टीका लगवाया, मेहता को भी लगाया। गोबर, झुनिया, महाराज कोई न बचा। पहले दिन तो दाने छोटे थे और अलग-अलग थे। जान पड़ता था, छोटी माता है। दूसरे दिन जैसे खिल उठे और अंगूर के दाने के बराबर हो गये और फिर कई-कई दाने मिलकर बड़े-बडे आँवले जैसे हो गये।

मंगल जलन और खुजली और पीड़ा से बेचैन होकर करुण स्वर मे कराहता और दीन, असहाय नेत्रो से मालती की ओर देखता। उसका कराहना भी प्रौढ़ों का-सा था, और दृष्टि में भी प्रौढता थी, जैसे वह एकाएक जवान हो गया हो। इस असह्य वेदना ने मानो उसके अबोध शिशुपन को मिटा डालः हो। उसकी शिशु-बुद्धि मानो सज्ञान होकर समझ रही थी कि मालती ही के जतन से वह अच्छा हो सकता है। मालती ज्यों ही किसी काम से चली जाती, वह रोने लगता। मालती के आते ही चुप हो जाता। रात को उसकी बेचैनी बढ़ जाती और मालती को प्रायः सारी रात बैठना पड़ जाता; मगर वह न कभी झुँझलाती, न चिढ़ती। हाँ, झुनिया पर उसे कभी-कभी अवश्य क्रोध आता, क्योकि वह अज्ञान के कारण जो न करना चाहिये, वह कर बैठती।

गोबर और झुनिया दोनों की आस्था झाड़-फूँक में अधिक थी; यहाँ उसको कोई अवसर न मिलता। उस पर झुनिया दो बच्चे की माँ होकर बच्चे का पालन करना न जानती थी। मंगल दिक करता, तो उसे डाँटती-कोसती। जरा-सा भी अवकाश पाती, तो ज़मीन पर सो जाती और सबेरे से पहले न उठती; और गोबर तो उस कमरे में आते जैसे डरता था। मालती वहाँ बैठी है, कैसे जाये ? झुनिया से बच्चे का हाल-हवाल पूछ लेता और खाकर पड़ रहता। उस चोट के बाद वह पूरा स्वस्थ न हो पाया था। थोड़ा-सा काम करके भी थक जाता था। उन दिनों जब झुनिया घास बेचती थी और वह आराम से पड़ा रहता था, वह कुछ हरा हो गया था; मगर इधर कई महीने बोझ ढोने और चूने-गारे का काम करने से उसकी दशा गिर गयी थी। उस पर यहाँ काम बहुत था। सारे बाग को पानी निकालकर सींचना, क्यारियों को गोड़ना, घास छीलना, गायों को चारा-पानी देना और दुहना। और जो मालिक इतना दयालु हो, उसके काम में कामचोरी कैसे करे ? यह एहसान उसे एक क्षण भी आराम से न बैठने देता, और जब मेहता खुद खुरपी लेकर बाग में काम करते तो वह कैसे आराम करता ? वह खुद सूखता था; पर बाग हरा हो रहा था।

मिस्टर मेहता को भी बालक से स्नेह हो गया था। एक दिन मालती ने उसे गोद में लेकर उनकी मूँछ उखड़वा दी थी। दुष्ट ने मूँछों को ऐसा पकड़ा था कि

समूल ही उखाड़ लेगा। मेहता की आँखों में आँसू भर आये थे।

मेहता ने बिगड़कर कहा—बड़ा शैतान लौंडा है।

मालती ने उन्हें डाँटा था—तुम मूँछें साफ़ क्यों नहीं कर लेते ?

"मेरी मूँछें मुझे प्राणों से प्रिय हैं।"

"अबकी पकड़ लेगा, तो उखाड़कर ही छोड़ेगा।"

"तो मैं इसके कान भी उखाड़ लूँगा।"

मंगल को उनकी मूँछें उखाड़ने मे कोई खास मज़ा आया था। वह खूब खिलखिलाकर हँसा था और मूँछो को और ज़ोर से खींचा था; मगर मेहता को भी शायद मूँछें उखाड़वाने मे मज़ा आया था; क्योंकि वह प्रायः दो-एक बार रोज़ उससे अपनी मूँछों की रस्साकशी करा लिया करते थे।

इधर जब से मंगल को चेचक निकल आयी थी, मेहता को भी बड़ी चिन्ता हो गयी थी। अक्सर कमरे में जाकर मंगल को व्यथित आँखों से देखा करते। उसके कष्टो की कल्पना करके उनका कोमल हृदय हिल जाता था। उनके दौड़-धूप से वह अच्छा हो जाता, तो पृथ्वी के उस छोर तक दौड लगाते, रुपये खर्च करने से अच्छा होता, तो चाहे भीख माँगना पड़ता; वह उसे अच्छा करके ही रहते; लेकिन यहाँ कोई बस न था। उसे छूते भी उनके हाथ काँपते थे। कही उसके आँवले न टूट जायें। मालती कितने कोमल हाथों से उसे उठाती, कन्धे पर उठाकर कमरे में टहलाती है और कितने स्नेह से उसे बहलाकर दूध पिलाती है। यह वात्सल्य मालती को उनकी दृष्टि में न जाने कितना ऊँचा उठा देता है। मालती केवल रमणी नहीं है, माता है और ऐसी-वैसी माता नही सच्चे अर्थों में देवी और माता और जीवन देने वाली, जो पराये बालक को भी अपना समझ सकती है, जैसे मातापन का सदैव संचय किया हो और आज दोनों हाथों से उसे लुटा रही हो। उसके अंग-अंग से मातापन फूटा पड़ता था, मानो यही उसका यथार्थ रूप हो, यह हाव-भाव, यह शौक-सिंगार उसके मातापन के आवरण-मात्र हों, जिसमें उस विभूति की रक्षा होती रहे।

रात को एक बज गया था। मंगल का रोना सुनकर मेहता चौंक पड़े। सोचा, बेचारी मालती आधी रात तक तो जागती रही होगी, इस वक्त उसे उठने में कितना कष्ट होगा; अगर द्वार खुला हो तो मैं ही बच्चे को चुप करा दूँ। तुरन्त उठकर उस कमरे के द्वार पर आये और शीशे से अन्दर झाँका। मालती बच्चे को गोद में लिये बैठी थी और बच्चा अनायास ही रो रहा था। शायद उसने कोई स्वप्न देखा था, या और किसी वजह से डर गया था। मालती चुमकारती थी, थपकती थी, तस्वीरें दिखाती थी, गोद में लेकर टहलती थी, पर बच्चा चुप होने का नाम न लेता था। मालती का यह अटूट वात्सल्य, यह अदम्य मातृ-भाव देखकर उनकी आँखें सजल हो गईं। मन में ऐसा पुलक उठा कि अन्दर जाकर मालती के चरणों को हृदय से लगा लें। अन्तस्तल से अनुराग में डूबे हुए शब्दों का एक समूह मचल पड़ा—प्रिये,

मेरे स्वर्ग की देवी, मेरी रानी, डारलिंग ...

और उसी प्रेमोन्माद में उन्होंने पुकारा—मालती, ज़रा द्वार खोल दो।

मालती ने आकर द्वार खोल दिया और उनकी ओर जिज्ञासा की आँखों से देखा।

मेहता ने पूछा—क्या झुनिया नहीं उठी ? यह तो बहुत रो रहा है।

मालती से संवेदना-भरे स्वर में कहा—आज आठवाँ दिन है, पीड़ा अधिक होगी। इसी से।

"तो लाओ, मैं कुछ देर टहला दूँ, तुम थक गयी हो।"

मालती ने मुस्कराकर कहा—तुम्हें ज़रा ही देर में गुस्सा आ जायेगा।

बात सच थी; मगर अपनी कमज़ोरी को कौन स्वीकार करता है ? मेहता ने जिद्द करके कहा—तुमने मुझे इतना हल्का समझ लिया है ?

मालती ने बच्चे को उनकी गोद में दे दिया। उनकी गोद मे जाते ही वह एकदम चुप हो गया। बालकों में जो एक अन्तर्ज्ञान होता है, उसने उसे बता दिया, अब रोने में तुम्हारा कोई फ़ायदा नहीं। यह नया आदमी स्त्री नहीं, पुरुष है और पुरुष गुस्सेवर होता है और निर्दयी भी होता है और चारपाई पर लेटाकर, या बाहर अँधेरे में सुलाकर दूर चला जा सकता है और किसी को पास आने भी न देगा।

मेहता ने विजय-गर्व से कहा—देखा, कैसा चुप कर दिया।

मालती ने विनोद किया—हाँ, तुम इस कला में कुशल हो। कहाँ सीखी ?

"तुमसे।"

"मैं स्त्री हूँ और मुझ पर विश्वास नहीं किया जा सकता।"

मेहता ने लज्जित होकर कहा—मालती, मैं तुमसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, मेरे उन शब्दों को भूल जाओ। इन कई महीनों में कितना पछताया हूँ, कि कितना लज्जित हुआ हूँ, कितना दुखी हुआ हूँ, शायद तुम इसका अन्दाज़ न कर सको।

मालती ने सरल भाव से कहा—मैं तो भूल गयी, सच कहती हूँ।

"मुझे कैसे विश्वास आये ?"

"उसका प्रमाण यही है कि हम दोनों एक ही घर में रहते है, एक साथ खाते हैं, हँसते हैं, बोलते हैं।"

"क्या मुझे कुछ याचना करने की अनुमति न दोगी ?"

उन्होंने मंगल को खाट पर लिटा दिया, जहाँ वह दबककर सो रहा। और मालती की ओर प्रार्थी आँखों से देखा, जैसे उसी अनुमति पर उनका सब कुछ टिका हुआ हो।

मालती ने आर्द्र होकर कहा—तुम जानते हो, तुमसे ज्यादा निकट संसार में मेरा कोई दूसरा नहीं है। मैंने बहुत दिन हुए, अपने को तुम्हारे चरणों पर समर्पित कर दिया। तुम मेरे पथ-प्रदर्शक हो, मेरे देवता हो, मेरे गुरु हो। तुम्हें मुझसे कुछ याचना करने की ज़रूरत नहीं, मुझे केवल संकेत कर देने की ज़रूरत है। जब तुम्हारे

दर्शन न हुए थे और मैंने तुम्हें पहचाना न था, भोग और आत्म-सेवा ही मेरे जीवन का इष्ट था। तुमने आकर उसे प्रेरणा दी, स्थिरता दी। मैं तुम्हारे एहसान कभी नही भूल सकती। मैंने नदी की तटवाली तुम्हारी बाते गाँठ बाँध ली। दुःख यही हुआ कि तुमने भी मुझे वही समझा, जो कोई दूसरा पुरुष समझता, जिसकी मुझे तुमसे आशा न थी। उसका दायित्व मेरे ऊपर है, यह मैं जानती हूँ; लेकिन तुम्हारा अमूल्य प्रेम पाकर भी मैं वही बनी रहूँगी, ऐसा समझकर तुमने मेरे साथ अन्याय किया। मैं इस समय कितने गर्व का अनुभव कर रही हूँ, यह तुम नही समझ सकते। तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर अब मेरे लिये कुछ भी शेष नही रह गया है। यह वरदान मेरे जीवन को सार्थक कर देने के लिए काफी है। यह मेरी पूर्णता है।

यह कहते कहते मालती के मन मे ऐसा अनुराग उठा कि मेहता के सीने से लिपट जाये। भीतर की भावनाये बाहर आकर मानो सत्य हो गयी थीं। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। जिस आनन्द को उसने दुर्लभ समझ रखा था, वह इतना सुलभ, इतना समीप है! और हृदय का वह आह्लाद मुख पर आकर उसे ऐसी शोभा देने लगा कि मेहता को उसमे देवत्व की आभा दिखी। यह नारी है; या मंगल की, पवित्रता की, और त्याग की प्रतिमा!

उसी वक्त झुनिया जागकर उठ बैठी और मेहता अपने कमरे में चले गये और फिर दो सप्ताह तक मालती से कुछ बातचीत करने का अवसर उन्हें न मिला। मालती कभी उनसे एकान्त में न मिलती। मालती के वह शब्द उनके हृदय में गूँजते रहते। उनमे सान्त्वना थी, कितनी विनय थी, कितना नशा था!

दो सप्ताह मे मंगल अच्छा हो गया। हाँ, मुँह पर चेचक के दाग न भर सके। उस दिन मालती ने आस-पास के लड़कों को भरपेट मिठाई खिलायी और जो मनोतियाँ कर रखी थीं, वह भी पूरी कीं। इस त्याग के जीवन में कितना आनन्द है, इसका अब उसे अनुभव हो रहा था। झुनिया और गोबर का हर्ष मानो उसके भीतर प्रतिबिम्बित हो रहा था। दूसरो के कष्ट-निवारण मे उसने जिस सुख और उल्लास का अनुभव किया, वह कभी भोग विलास के जीवन में न किया था। वह लालसा अब उन फूलो की भाँति क्षीण हो गयी थी, जिनमे फल लग रहे हो। अब वह उस दर्जे से आगे निकल चुकी थी, जब मनुष्य स्थूल आनन्द को परम सुख मानता है। यह आनन्द अब उसे तुच्छ पतन की ओर ले जाने वाला, कुछ हल्का, बल्कि वीभत्स-सा लगता था। उस बडे बँगले मे रहने का क्या आनन्द, जब उसके आस-पास मिट्टी के झोपडे मानो विलाप कर रहे हो। कार पर चढ़कर अब उसे गर्व नही होता। मंगल जैसे अबोध बालक ने उसके जीवन मे कितना प्रकाश डाल दिया, उसके सामने सच्चे आनन्द का द्वार-सा खोल दिया।

एक दिन मेहता के सिर मे जोर का दर्द हो रहा था। वह आँखे बन्द किये चारपाई पर पड़े तडप रहे थे कि मालती ने आकर उनके सिर पर हाथ रखकर पूछा—कब से यह दर्द हो रहा है?

मेहता को ऐसा जान पड़ा, उन कोमल हाथों ने जैसे सारा दर्द खींच लिया। उठकर बैठ गये और बोले—दर्द तो दोपहर से ही हो रहा था और ऐसा सिर-दर्द मुझे आज तक नहीं हुआ था; मगर तुम्हारे हाथ रखते ही सिर ऐसा हल्का हो गया है, मानो दर्द था ही नहीं। तुम्हारे हाथों में यह सिद्धि है।

मालती ने उन्हें कोई दवा लाकर खाने को दे दी और आराम से लेट रहने की ताकीद करके तुरन्त कमरे से निकल जाने को हुई।

मेहता ने आग्रह करके कहा—ज़रा दो मिनट बैठोगी नहीं ?

मालती ने द्वार पर से पीछे फिरकर कहा—इस वक्त बातें करोगे तो शायद फिर दर्द होने लगे। आराम से लेटे रहो। आजकल मैं तुम्हें हमेशा कुछ-न-कुछ पढते या लिखते देखती हूँ। दो-चार दिन लिखना-पढना छोड़ दो।

"तुम एक मिनट बैठोगी नहीं ?"

"मुझे एक मरीज़ को देखने जाना है।"

"अच्छी बात है, जाओ।"

मेहता के मुख पर कुछ ऐसी उदासी छा गयी कि मालती लौट पडी और सामने आकर बोली—अच्छा, कहो क्या कहते हो ?

मेहता ने विमन होकर कहा—कोई खास बात नहीं है। यही कह रहा था कि इतनी रात गये किस मरीज़ को देखने जाओगी ?

"वही रायसाहब की लड़की है। उसकी हालत बहुत खराब हो गयी थी। अब कुछ सँभल गयी है।"

उसके जाते ही मेहता फिर लेट रहे। कुछ समझ में नहीं आया कि मालती के हाथ रखते ही दर्द क्यों शान्त हो गया। अवश्य ही उसमें कोई सिद्धि है और यह उसकी तपस्या का, उसकी कर्मण्य मानवता का ही वरदान है। मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुँच गयी थी, जहाँ वह प्रकाश के एक नक्षत्र-सी नज़र आती थी। अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी। अब वह दुर्लभ हो गयी थी और दुर्लभता मनस्वी आत्माओं के लिए उद्योग का मंत्र है। मेहता प्रेम में जिस सुख की कल्पना कर रहे थे, उसे श्रद्धा ने और भी गहरा और भी स्फूर्तिमय बना दिया। प्रेम में कुछ मान भी होता है, कुछ महत्त्व भी। श्रद्धा तो अपने को मिटा डालती है और अपने मिट जाने को ही अपना इष्ट बना लेती है। प्रेम अधिकार कराना चाहता है, जो कुछ देता है, उसके बदले में कुछ चाहता भी है। श्रद्धा का चरम आनन्द अपना समर्पण है, जिसमें अहमन्यता का ध्वस हो जाता है।

मेहता का वह बृहत् ग्रन्थ समाप्त हो गया था, जिसे वह तीन साल से लिख रहे थे और जिसमें उन्होंने संसार के सभी दर्शन-तत्त्वों का समन्वय किया था। यह ग्रन्थ उन्होंने मालती को समर्पित किया, और जिस दिन उसकी प्रतियाँ इंग्लैंड से आयीं और उन्होंने एक प्रति मालती को भेंट की, वह उसे अपने नाम से समर्पित देखकर विस्मित भी हुई और दुखी भी।

उसने कहा—यह तुमने क्या किया ? मैं तो अपने को इस योग्य नहीं समझती

मेहता ने गर्व से कहा—लेकिन मैं तो समझता हूँ। यह तो कोई चीज़ नहीं मेरे तो अगर सौ प्राण होते, तो वह तुम्हारे चरणों पर न्योछावर कर देता।

"मुझ पर ! जिसने स्वार्थ-सेवा के सिवा कुछ जाना ही नहीं।"

"तुम्हारे त्याग का एक टुकड़ा भी मैं पा जाता, तो अपने को धन्य समझता तुम देवी हो।"

"पत्थर की, इतना और क्यों नहीं कहते ?"

"त्याग की, मंगल की, पवित्रता की।"

"तब तुमने मुझे खूब समझा ! मैं और त्याग ! मैं तुमसे सच कहती हूँ, सेवा या त्याग का भाव कभी मेरे मन में नहीं आया। जो कुछ करती हूँ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वार्थ के लिए करती हूँ। मैं गाती इसलिए नहीं कि त्याग करती हूँ या अपने गीतों से दुखी आत्माओं को सान्त्वना देती हूँ; बल्कि केवल इसलिए कि उससे मेरा मन प्रसन्न होता है। इसी तरह दवा-दारू भी गरीबों को दे देती हूँ; केवल अपने मन को प्रसन्न करने के लिए। शायद मन का अहंकार इसमें सुख मानता है। तुम मुझे ख्वाहमख्वाह देवी बनाये डालते हो। अब तो इतनी कसर रह गयी है कि धूप-दीप लेकर मेरी पूजा करो।"

मेहता ने कातर स्वर मे कहा—वह तो मैं बरसां से कर रहा हूँ, मालती, और उस वक्त तक करता जाऊँगा, जब तक वरदान न मिलेगा।

मालती ने चुटकी ली—तो वरदान पा जाने के बाद शायद देवी को मन्दिर से निकाल फेंको।

मेहता सँभलकर बोले—अब तो मेरी अलग सत्ता ही न रहेगी; उपासक उपास्य में लय हो जायेगा।

मालती ने गम्भीर होकर कहा—नहीं मेहता, मैं महीनों से इस प्रश्न पर विचार कर रही हूँ और अन्त में मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आज अवसर आ पड़े तो तुम मेरी रक्षा प्राणों से करोगे। तुममें मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम पर विश्वास करती हूँ, और तुम्हारे लिये कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूँ। और परमात्मा से मेरी यही विनय है कि वह जीवन-पर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ़ रखे। हमारी पूर्णता के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए, और क्या चाहिए ? अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजड़े में बन्द करके, अपने दुःख-सुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं ? वह तो हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा। कुछ विरले प्राणी ऐसे भी हैं, जो पैरों में यह बेड़ियाँ डालकर भी विकास के पथ पर चल सकते हैं

और चल रहे हैं। यह भी जानती हूँ कि पूर्णता के लिए पारिवारिक प्रेम और त्याग और बलिदान का बहुत बड़ा महत्त्व है; लेकिन मैं अपनी आत्मा को उतना दृढ़ नहीं पाती। जब तक ममत्व नहीं है, अपनत्व नहीं है, तब तक जीवन का मोह नहीं है। स्वार्थ का जोर नहीं है। जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ, हम बन्धन में पड़े, उस क्षण हमारा मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जायेगा, नयी-नयी जिम्मेदारियाँ आ जायेंगी और हमारी सारी शक्ति उन्हीं को पूरा करने में लगने लगेगी। तुम्हारे जैसे विचारवान, प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में वन्दी नहीं करना चाहती। अभी तक तुम्हारा जीवन यज्ञ था, जिसमें स्वार्थ के लिए बहुत थोड़ा स्थान था। मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी। संसार को तुम-जैसे साधकों की जरूरत है, जो अपनेपन को इतना फैला दें कि संसार अपना हो जाये। संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहायी मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट-धर्म का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्त्त-पुकार सुनी है। तुम भी न सुनोगे, तो सुनने वाले कहाँ से आयेंगे ? और असत्य प्राणियों की तरह तुम भी उसकी ओर से अपने कान नहीं बन्द कर सकते। तुम्हें वह भोजन भार हो जायेगा। अपनी विद्या और बुद्धि को, अपनी जागी हुई मानवता को और भी उत्साह और ज़ोर के साथ उसी रास्ते पर ले जाओ। मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। अपने जीवन के साथ मेरा जीवन भी सार्थक कर दो। मेरा तुमसे यही आग्रह है। अगर तुम्हारा मन सासारिकता की ओर लपकता है, तव भी मैं अपना कावू चलते तुम्हें उधर से हटाऊँगी और ईश्वर न करे कि मैं असफल हो जाऊँ, लेकिन तब मैं तुम्हारा साथ दो बूँद आँसू गिराकर छोड़ दूँगी, और कह नहीं सकती, मेरा क्या अन्त होगा, किस घाट लगूँगी; पर चाहे वह कोई घाट हो, इस बन्धन का घाट न होगा; बोलो, मुझे क्या आदेश देते हो ?

मेहता सिर झुकाये सुनते रहे। एक-एक शब्द मानो उनके भीतर की आँखें इस तरह खोले देता था, जैसी अब तक कभी न खुली थीं। वह भावनायें जो अब तक उनके सामने स्वप्न-चित्रों की तरह आयी थीं, अब जीवन सत्य बनकर स्पंदित हो गयी थीं। वह अपने रोम-रोम में प्रकाश और उत्कर्ष का अनुभव कर रहे थे। जीवन के महान संकल्पों के सम्मुख हमारा बालपन हमारी आँखों में फिर जाता है। मेहता की आँखों में मधुर बाल-स्मृतियाँ सजीव हो उठीं, जब वह अपनी विधवा माता की गोद में वैठकर महान् सुख का अनुभव किया करते थे। कहाँ है वह माता, आये और देखे अपने बालक की इस सुकीर्ति को। मुझे आशीर्वाद दो। तुम्हारा वह जिद्दी बालक आज एक नया जन्म ले रहा है।

उन्होंने मालती के चरण दोनों हाथ से पकड़ लिये और काँपते हुए बोले—तुम्हारा आदेश स्वीकार है मालती !

और दोनों एकान्त होकर प्रगाढ़ आलिंगन में बंध गये। दोनों की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

चौंतीस

सिलिया का बालक अब दो साल का हो रहा था और सारे गाँव में दौड़ लगाता था। अपने साथ एक विचित्र भाषा लाया था, और उसी में बोलता था, चाहे कोई समझे या न समझे। उसकी भाषा में त, ल, और घ की कसरत थी और स, र आदि वर्ण गायब थे। उस भाषा में रोटी का नाम था ओटी, दूध का तूत, साग का छाग और कौड़ी का तौली। जानवरों की बोलियों की ऐसी नकल करता है कि हँसते-हँसते लोगों के पेट में बल पड़ जाता है। किसी ने पूछा—रामू, कुत्ता कैसे बोलता है ? रामू गम्भीर भाव से कहता—भों-भों, और काटने दौड़ता। बिल्ली कैसे बोले ? और रामू म्याँव-म्याँव करके आँखें निकालकर ताकता और पंजों से नोचता। बड़ा मस्त लड़का था। जब देखो, खेलने में मगन रहता, न खाने की सुधि थी, न पीने की। गोद से उसे चिढ़ थी। उसके सबसे सुखी क्षण वह होते, जब द्वार के नीम के नीचे मनों धूल बटोरकर उसमें लोटता, सिर पर चढ़ाता, उसकी ढेरियाँ लगाता, घरौंदे बनाता। अपनी उम्र के लड़कों से उसकी एक क्षण न पटती। शायद उन्हें अपने साथ खिलाने के योग्य ही न समझता था।

कोई पूछता—तुम्हारा नाम क्या है ?

चटपट कहता—लामू।

"तुम्हारे बाप का क्या नाम है ?"

"मातादीन।"

"और तुम्हारी माँ का ?"

'छिलिया।"

"और दातादीन कौन है ?"

"वह अमाला छाला है।"

न जाने किसने दातादीन से उसका यह नाता बता दिया था।

रामू और रूपा में खूब पटती थी। वह रूपा का खिलौना था। उसे उबटन मलती, काजल लगाती, नहलाती, बाल सँवारती, अपने हाथों कौर-कौर बनाकर खिलाती और कभी-कभी उसे गोद में लिये रात को सो जाती। धनिया डाँटती, तुम सब छुआछूत किये देती है; मगर वह किसी की न सुनती। चीथड़े की गुड़िया ने उसे माता बनना सिखाया था। वह मातृ-भावना जीता-जागता बालक पाकर अब गुड़ियों से सन्तुष्ट न हो सकती थी।

उसी के घर के पिछवाड़े जहाँ किसी ज़माने में उसकी बरदौर थी, होरी के खंडहर में सिलिया अपना एक फूस का झोंपड़ा डालकर रहने लगी थी। होरी के घर में उम्र तो नहीं कट सकती थी।

मातादीन को कई सौ रुपये खर्च करने के बाद अन्त में काशी के पण्डितों ने फिर से ब्राह्मण बना दिया। उस दिन बड़ा भारी हवन हुआ, बहुत-से ब्राह्मणों ने भोजन किया और बहुत-से मन्त्र और श्लोक पढ़े गये। मातादीन को शुद्ध गोबर

और गोमूत्र खाना-पीना पड़ा। गोबर से उसका मन पवित्र हो गया। मूत्र से उसकी आत्मा में अशुचिता के कीटाणु मर गये।

लेकिन एक तरह से इस प्रायश्चित्त ने उसे सचमुच पवित्र कर दिया। हवन के प्रचण्ड अग्नि-कुण्ड में उसकी मानवता निखर गयी और हवन की ज्वाला के प्रकाश से उसने धर्म-स्तम्भों को अच्छी तरह परख लिया। उस दिन से उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो गयी। उसने जनेऊ उतार फेंका और पुरोहिती को गंगा में डुबा दिया। अब वह पक्का खेतिहर था। उसने यह भी देखा कि यद्यपि विद्वानों ने उसका ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया; लेकिन जनता अब भी उसके हाथ का पानी नहीं पीती, उससे मुहूर्त्त पूछती है, साइत और लग्न का विचार करवाती है, उसे पर्व के दिन दान भी दे देती है, पर उससे अपने बरतन नहीं छुलाती।

जिस दिन सिलिया के बालक का जन्म हुआ, उसने दूनी मात्रा में भंग पी, और गर्व से जैसे उसकी छाती तन गयी और उँगलियाँ बार-बार मूँछों पर पड़ने लगी। बच्चा कैसा होगा ? उसी के जैसा ? कैसे देखे ? उसका मन मसोसकर रह गया।

तीसरे दिन रूपा खेत में उससे मिली। उसने पूछा—रुपिया, तूने सिलिया का लड़का देखा ?

रुपिया बोली—देखा क्यों नहीं ! देखा लाल-लाल है खूब मोटा, बड़ी-बड़ी आँखें हैं, सिर में झबराले बाल हैं, टुकुर-टुकुर ताकता है।

मातादीन के हृदय में जैसे वह बालक आ बैठा था, और हाथ-पाँव फेंक रहा था। उसकी आँखों में नशा-सा छा गया। उसने उस किशोरी रूपा को गोद में उठा लिया, फिर कन्धे पर बिठा लिया, फिर उतारकर उसके कपोलों को चूम लिया।

रूपा बाल सँभालती हुई ढीठ होकर बोली—चलो, मैं तुमको दूर से दिखा दूँ। ओसारे में ही तो है। सिलिया बहन न जाने क्यों हरदम रोती रहती है।

मातादीन ने मुँह फेर लिया। उसकी आँखें सजल हो आयी थीं और ओठ काँप रहे थे।

उस रात को जब सारा गाँव सो गया और पेड़ अन्धकार में डूब गये, तो वह सिलिया के द्वार पर आया और सम्पूर्ण प्राणों से बालक का रोना सुना, जिसमें सारी दुनिया का संगीत, आनन्द और माधुर्य भरा हुआ था।

सिलिया बच्चे को होरी के घर में खटोले पर सुलाकर मजूरी करने चली जाती। मातादीन किसी-न-किसी बहाने से होरी के घर आता और कनखियों से बच्चे को देखकर अपना कलेजा और आँखें और प्राण शीतल करता।

धनिया मुस्कराकर कहती—लजाते क्यों हो, गोद में ले लो, प्यार करो, कैसा काठ का कलेजा है तुम्हारा ! बिलकुल तुमको पड़ा है।

मातादीन एक-दो रुपया सिलिया के लिये फेंककर बाहर निकल आता। बालक के साथ उसकी आत्मा भी बढ़ रही थी, खिल रही थी, चमक रही थी। अब उसके जीवन का भी उद्देश्य था, एक व्रत था। उसमें संयम आ गया, गम्भीरता आ गयी,

दायित्व आ गया।

एक दिन रामू खटोले पर लेटा हुआ था। धनिया कही गयी थी। रूपा भी लड़कों का शोर सुनकर खेलने चली गयी। घर अकेला था। उसी वक्त मातादीन पहुँचा। बालक नीले आकाश की ओर देख-देख हाथ-पाँव फेंक रहा था, हुमक रहा था—जीवन के उस उल्लास के साथ जो अभी उसमें ताज़ा था। मातादीन को देखकर वह हँस पड़ा। मतादीन स्नेह-विह्ल हो गया। उसने बालक को उठाकर छाती से लगा लिया। उसकी सारी देह और हृदय और प्राण रोमांचित हो उठे, मानो पानी की लहरों में प्रकाश की रेखायें काँप रही हों। बच्चे की गहरी, निर्मल, अथाह, मोद-भरी आँखों में जैसे उसके जीवन का सत्य मिल गया। उसे एक प्रकार का भय-सा लगा, मानो वह दृष्टि उसके हृदय मे चुभी जाती हो—वह कितना अपवित्र है, ईश्वर का वह प्रसाद कैसे छू सकता है? उसने बालक को सशंक मन के साथ फिर लिटा दिया। उसी वक्त रूपा बाहर से आ गयी और वह बाहर निकल गया।

एक दिन खूब ओले गिरे। सिलिया घास लेकर बाज़ार गयी हुई थी। रूपा अपने खेल में मग्न थी। रामू अब बैठने लगा था। कुछ-कुछ बकवाँ चलने भी लगा था। उसने जो आँगन में बिनौले बिछे देखे, तो समझा, बतासे फैले हुए हैं। कई उठाकर खाये और आँगन में खूब खेला। रात को उसे ज्वर आ गया। दूसरे दिन निमोनिया हो गया। तीसरे दिन संध्या समय सिलिया की गोद में ही बालक के प्राण निकल गये।

लेकिन बालक मरकर भी सिलिया के जीवन को केन्द्र बना रहा। उसकी छाती में दूध का उबाल-सा आता और आँचल भीग जाता। उसी क्षण आँखों से आँसू भी निकल पड़ते। पहले सब कामों से छुट्टी पाकर रात को जब वह रामू को हिये से लगाकर स्तन उसके मुँह में दे देती, तो मानो उसके प्राणों में बालक की स्फूर्ति भर जाती। तब वह प्यारे-प्यारे गीत गाती, मीठे-मीठे स्वप्न देखती और नये-नये संसार रचती, जिसका राजा रामू होता। अब सब कामों से छुट्टी पाकर वह अपनी सूनी झोपड़ी में रोती थी और उसके प्राण तड़पते थे; उड़ जाने के लिए उस लोक में, जहाँ उसका लाल इस समय भी खेल रहा होगा। सारा गाँव उसके दुःख में शरीक था। रामू कितना चौंचाल था, जो कोई बुलाता, उसी की गोद में चला जाता। मरकर और पहुँच से बाहर होकर वह और भी प्रिय हो गया था, उसकी छाया उससे कहीं सुन्दर, कहीं चौंचाल, कहीं लुभावनी थी।

मातादीन उस दिन खुल पड़ा। परदा होता है हवा के लिए। आँधी में परदे उठाके रख दिये जाते हैं कि आँधी के साथ उड़ न जायें। उसने शव को दोनों हथेलियों पर उठा लिया और अकेला नदी के किनारे तक ले गया, जो एक मील का पाट छोड़कर पतली-सी धार में समा गयी थी। आठ दिन तक उसके हाथ सीधे न हो सके। उस दिन वह ज़रा भी नहीं लजाया, ज़रा भी नहीं झिझका।

और किसी ने कुछ कहा भी नहीं; बल्कि सभी ने उसके साहस और दृढ़ता

की तारीफ़ की।

होरी ने कहा—यही मरद का धरम है। जिसकी बाँह पकड़ी, उसे क्या छोड़ना !

धनिया ने ऑखें नचाकर कहा—मत बखान करो, जी जलता है। यह मरद है ? मैं ऐसे मरद को नामरद कहती हूँ। जब बाँह पकड़ी थी, तब क्या दूध पीता था कि सिलिया ब्राह्मणी हो गयी थी ?

एक महीना बीत गया। सिलिया फिर मजूरी करने लगी थी। संध्या हो गयी थी ? पूर्णमासी का चाँद विहँसता-सा निकल आया था। सिलिया ने कटे हुए खेत में से गिरे हुए जौ के बाल चुनकर टोकरी में रख लिये थे और घर जाना चाहती थी कि चाँद पर निगाह पड़ गयी और दर्द-भरी स्मृतियो का मानो स्रोत खुल गया। अंचल दूध से भीग गया और मुख आँसुओं से। उसने सिर लटका लिया और जैसे रुदन का आनन्द लेने लगी।

सहसा किसी की आहट पर वह चौंक पडी। मातादीन पीछे से आकर सामने खड़ा हो गया और बोला—कब तक रोये जायेगी ! रोने से वह फिर तो न आ जायेगा। और यह कहते-कहते वह खुद रो पड़ा।

सिलिया के कण्ठ में आये हुए भर्त्सना के शब्द पिघल गये। आवाज सँभालकर बोली—तुम आज इधर कैसे आ गये ?

मातादीन कातर होकर बोला—इधर से जा रहा था। तुझे बैठा देखा, चला आया।

"तुम तो उसे खेला भी न पाये "

"नहीं सिलिया, एक दिन खेलाया था।"

"सच ?"

"सच !"

"मैं कहाँ थी ?"

"तू बाजार गयी थी ?"

"तुम्हारी गोद में रोया नहीं ?"

"नहीं सिलिया, हँसता था।"

"सच ?"

"सच !"

"बस, एक ही दिन खेलाया ?"

"हाँ, एक ही दिन; मगर देखने रोज आता था। उसे खटोले पर खेलते देखता था और दिल थामकर चला जाता था।"

"तुम्हीं को पड़ा था।"

"मुझे तो पछतावा होता है कि नाहक उस दिन उसे गोद में लिया। यह मेरे पापों का दंड है।"

सिलिया की आँखों में क्षमा झलक रही थी। उसने टोकरी सिर पर रख ली और घर चली। मातादीन भी उसके साथ-साथ चला।

सिलिया ने कहा—मैं तो अब धनिया काकी के बरौठे में सोती हूँ। अपने घर में अच्छा नहीं लगता।

"धनिया मुझे बराबर समझाती रहती थी।"

"सच ?"

"हाँ सच। जब मिलती थी, समझाने लगती थी।"

गाँव के समीप आकर सिलिया ने कहा—अच्छा, इधर से अपने घर चले जाओ। कहीं पण्डित देख न लें।

मातादीन ने गर्दन उठाकर कहा—मैं अब किसी से नहीं डरता।

"घर से निकाल देंगे तो कहाँ जाओगे ?"

"मैंने अपना घर बना लिया है।"

'सच ?"

"हाँ सच।"

"कहाँ, मैंने तो नहीं देखा।"

"चल तो दिखाता हूँ।"

दोनों और आगे बढ़े। मातादीन आगे था। सिलिया पीछे। होरी का घर आ गया। मातादीन उसके पिछवाड़े जाकर सिलिया की झोपड़ी के द्वार पर खड़ा हो गया और बोला—यही हमारा घर है।

सिलिया ने अविश्वास, क्षमा, व्यंग्य और दुःख-भरे स्वर में कहा—यह तो सिलिया चमारिन का घर है।

मातादीन ने द्वार की टाटी खोलते हुए कहा—यह मेरी देवी का मंदिर है।

सिलिया की आँखें चमकने लगीं। बोली—मन्दिर है तो एक लोटा पानी उँड़ेलकर चले जाओगे।

मातादीन ने उसके सिर की टोकरी उतारते हुए कम्पित स्वर में कहा—नहीं सिलिया, जब तक प्राण हैं, तेरी ही शरण में रहूँगा। तेरी ही पूजा करूँगा !

"झूठ कहते हो।"

"नहीं, तेरे चरण छूकर कहता हूँ। सुना, पटवारी का लौंडा भुनेसरी तेरे पीछे बहुत पड़ा था। तूने उसे खूब डाँटा।"

"तुमसे किसने कहा ?"

"भुनेसरी आप ही कहता था !"

"सच ?"

"हाँ, सच।"

सिलिया ने दियासलाई से कुप्पी जलायी। एक किनारे मिट्टी का घड़ा था, दूसरी ओर चूल्हा था, जहाँ दो-तीन पीतल और लोहे के बासन मँजे-धुले रखे थे। बीच

मे पुआल बिछा था। वही सिलिया का बिस्तर था। इस बिस्तर के सिरहाने की ओर रामू की. छोटी खटोली जैसे रो रही थी, और उसी के पास दो-तीन मिट्टी के हाथी-घोड़े अंग-भग दशा में पड़े हुए थे। जब स्वामी ही न रहा तो कौन उनकी देखभाल करता ? मातादीन पुआल पर बैठ गया। कलेजे में हूक-सी उठ रही थी; जी चाहता था, खूब रोये।

सिलिया ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा–तुम्हें कभी मेरी याद आती थी ?

मातादीन ने उसका हाथ पकड़कर हृदय से लगाकर कहा–तू हरदम मेरी आँखों के सामने फिरती रहती थी। तू भी कभी मुझे याद करती थी।

"मेरा तो तुमसे जी जलता था।"

"और दया नही आती थी ?"

"कभी नहीं।"

"तो भुनेसरी..."

"अच्छा, गाली मत दो। मै डर रही हूँ, गाँव वाले क्या कहेगे।"

"जो भले आदमी हैं, वह कहेंगे, यही इसका धरम था। जो बुरे हैं, उनकी मैं परवा नहीं करता।"

"और तुम्हारा खाना कौन पकायेगा ?"

"मेरी रानी, सिलिया।"

"तो ब्राह्मण कैसे रहोगे ?"

"मैं ब्राह्मण नहीं, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धरम पाले, वही ब्राह्मण है, जो धरम से मुँह मोड़े, वही चमार है।"

सिलिया ने उसके गले में बाँहें डाल दीं।

पैंतीस

होरी की दशा दिन-दिन गिरती ही जा रही थी। जीवन के संघर्ष में उसे सदैव हार हुई; पर उसने कभी हिम्मत नहीं हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती थी; मगर अब वह उस अन्तिम दशा में पहुँच गया था, जब उसमें आत्म-विश्वास भी न रहा था। अगर वह अपने धर्म पर अटल रह सकता, तो भी कुछ आँसू पुँछते, मगर वह बात न थी। उसने नीयत भी बिगाड़ी, अधर्म भी कमाया, कोई ऐसी बुराई न थी, जिसमें वह पड़ा न हो; पर जीवन की कोई अभिलाषा न पूरी हुई, और भले दिन मृगतृष्णा की भाँति दूर ही होते चले गये, यहाँ तक कि अब उसे धोखा भी न रह गया था, झूठी आशा की हरियाली और चमक भी अब नज़र न आती थी।

हारे हुए महीप की भाँति उसने अपने को इन तीन बीघे के किले में बन्द कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था। फाके सहे, बदनाम हुआ, मजूरी

की; पर किले को हाथ से न जाने दिया; मगर अब वह किला भी हाथ से निकला जाता था। तीन साल से लगान बाकी पड़ा हुआ था और अब पण्डित नोखेराम ने उस पर बेदखली का दावा कर दिया था। कहीं से रुपये मिलने की आशा न थी। जमीन उसके हाथ से निकल जायेगी और उसके जीवन के बाकी दिन मजूरी करने में कटेंगे। भगवान की इच्छा ! रायसाहब को क्या दोष दे ? असामियों ही से उनका भी गुजर है। इसी गाँव पर आधे से ज़्यादा घरों पर बेदखली आ रही है; आवे। औरों की जो दशा होगी, वही उसकी भी होगी। भाग्य में सुख बदा होता, तो लड़का यों हाथ से निकल जाता ?

साँझ हो गयी थी। वह इसी चिन्ता में डूबा बैठा था कि पण्डित दातादीन ने आकर कहा—क्या हुआ होरी, तुम्हारी बेदखली के बारे में ? इन दिनों नोखेराम से मेरी बोल-चाल बन्द है। कुछ पता नहीं। सुना, तारीख को पन्द्रह दिन और रह गये हैं

होरी ने उनके लिये खाट डालकर कहा—वह मालिक हैं, जो चाहे करें, मेरे पास रुपये होते तो यह दुर्दशा क्यों होती ! खाया नहीं, उड़ाया नहीं; लेकिन उपज ही न हो और जो हो भी, वह कौडियों के मोल बिके, तो किसान क्या करे ?

"लेकिन जैजात तो बचानी ही पड़ेगी। निबाह कैसे होगा ? बाप-दादो की इतनी ही निसानी बच रही है। वह निकल गयी, तो कहाँ रहोगे ?"

"भगवान की मरजी है, मेरा क्या बस !"

"एक उपाय है, जो तुम करो।"

होरी को जैसे अभय-दान मिल गया। इनके पाँव पकड़कर बोला—बडा धरम होगा महाराज, तुम्हारे सिवा मेरा कौन है ? मैं तो निराश हो गया था।

"निरास होने की कोई बात नहीं। बस, इतना ही समझ लो कि सुख में आदमी का धरम कुछ और होता है, दुःख में कुछ और। सुख में आदमी दान देता है, मगर दुःख में भीख तक माँगता है। उस समय आदमी का यही धरम हो जाता है। सरीर अच्छा रहता है तो हम बिना असनान-पूजा किये मुँह में पानी भी नहीं डालते; लेकिन बीमार हो जाते हैं, तो बिना नहाये-धोये, कपडे पहने, खाट पर बैठे पथ्य लेते हैं। उस समय का यही धरम है। यहाँ हममें-तुममें कितना भेद है; लेकिन जगन्नाथपुरी में कोई भेद नहीं रहता। ऊँचे-नीचे सभी एक पगत में बैठकर खाते है। आपतकाल में श्रीरामचन्द्र ने सेवरी के जूठे फल खाये थे, बालि का छिपकर वध किया था। जब संकट में बड़े-बड़ों की मर्यादा टूट जाती है, तो हमारी-तुम्हारी कौन बात है ? रामसेवक महतो को तो जानते हो न ?"

होरी ने निरुत्साह होकर कहा—हाँ, जानता क्यों नहीं।

"मेरा जजमान है। बड़ा अच्छा ज़माना है उसका। खेती अलग, लेन-देन अलग। ऐसे रोबदाब का आदमी ही नहीं देखा ! कई महीने हुए उनकी औरत मर गयी है ! सन्तान कोई नहीं। अगर रुपिया का ब्याह उससे करना चाहो, तो मैं उसे

राजी कर लूँ ! मेरी बात वह कभी न टालेगा। लड़की सयानी हो गयी है और जमाना बुरा है। कहीं कोई बात हो जाये, तो मुँह में कालिख लग जाये। यह बड़ा अच्छा औसर है। लड़की का ब्याह भी हो जायेगा और तुम्हारे खेत भी बच जायेंगे। सारे खरच-बरच से बचे जाते हो।"

रामसेवक होरी से दो ही चार साल छोटा था। ऐसे आदमी से रुपा के ब्याह करने का प्रस्ताव ही अपमानजनक था। कहाँ फूल-सी रुपा और कहाँ वह बूढ़ा ठूँठ ! जीवन में होरी ने बड़ी-बड़ी चोट सही थी, मगर यह चोट सबसे गहरी थी। आज उसके ऐसे दिन आ गये हैं कि उससे लड़की बेचने की बात कही जाती है और उसमें इनकार करने का साहस नहीं है। ग्लानि से उसका सिर झुक गया।

दातादीन ने एक मिनट के बाद पूछा—तो क्या कहते हो ?

होरी ने साफ जवाब न दिया। बोला—सोचकर कहूँगा।

"इसमें सोचने की क्या बात है ?"

"धनिया से भी तो पूछ लूँ।"

"तुम राजी हो कि नहीं ?"

"ज़रा सोच लेने दो महाराज ! आज तक कुल मे कभी ऐसा नहीं हुआ। उसकी मरजाद भी तो रखना है।"

"पाँच-छः दिन के अन्दर मुझे जवाब दे देना। ऐसा न हो, तुम सोचते ही रहो और बेदखली आ जाये।"

दातादीन चले गये। होरी की ओर से उन्हें कोई अन्देशा न था। अन्देशा था धनिया की ओर से। उसकी नाक बड़ी लम्बी है। चाहे मिट जाये, मरजाद न छोड़ेगी।

मगर होरी हाँ कर ले तो वह रो-धोकर मान ही जायेगी। खेतों के निकलने में भी तो मरजाद बिगड़ती है !

धनिया ने आकर पूछा—पण्डित क्यों आये थे ?

"कुछ नहीं, यही बेदखली की बातचीत थी।'

"आँसू पोंछने आये होंगे। यह तो न होगा कि सौ रुपये उधार दे दें।"

"माँगने का मुँह भी तो नहीं।"

"तो यहाँ आते ही क्यों है ?"

"रुपिया की सगाई की बात थी।"

"किससे ?"

"रामसेवक को जानती है ? उन्हीं से।"

"मैंने उन्हें कब देखा, हाँ, नाम बहुत दिन से सुनती हूँ। वह तो बूढ़ा होगा।"

"बूढ़ा नहीं है, हाँ, अधेड़ है।"

"तुमने पण्डित को फटकारा नहीं। मुझसे कहते तो ऐसा जवाब देती कि याद करते।"

"फटकारा नहीं; लेकिन इनकार कर दिया। कहते थे, ब्याह भी बिना

खरच-बरच के हो जायेगा और खेत भी बच जायेंगे।"

"साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि लड़की बेचने को कहते थे। कैसे इस बूढ़े का हियाब पड़ा ?"

लेकिन होरी इस प्रश्न पर जितना ही विचार करता, उतना ही उसका दुराग्रह कम होता जाता था। कुल-मर्यादा की लाज उसे कुछ कम न थी; लेकिन जिसे असाध्य रोग ने ग्रस लिया हो, वह खाद्य-अखाद्य की परवाह कब करता है ? दातादीन के सामने होरी ने कुछ ऐसा भाव प्रकट किया था, जिसे स्वीकृति नहीं कहा जा सकता, मगर भीतर से वह पिघल गया था। उम्र की ऐसी कोई बात नहीं। मरना-जीना तक़दीर के हाथ है। बूढ़े बैठे रहते हैं, जवान चले जाते हैं। रूपा को सुख लिखा है, तो वहाँ भी सुख उठायेगी; दुख लिखा है, तो कहीं भी सुख नहीं पा सकती। और लड़की बेचने की तो कोई बात ही नहीं। होरी उससे जो कुछ लेगा, उधार लेगा और हाथ में रुपये आते ही चुका देगा। इसमें शर्म या अपमान की कोई बात नहीं है। बेशक, उसमें समाई होती, तो वह रूपा का ब्याह किसी जवान लड़के से और अच्छे कुल में करता, दहेज़ भी देता, बरात के खिलाने-पिलाने में भी खूब दिल खोल कर खर्च करता; मगर जब ईश्वर ने उसे इस लायक नही बनाया, तो कुश-कन्या के सिवा और वह क्या कर सकता है ? लोग हँसेगे; लेकिन जो लोग खाली हँसते हैं, और कोई मदद नहीं करते, उनकी हँसी की वह क्यों परवा करे। मुश्किल यही है कि धनिया न राजी होगी। गधी तो है ही। वही पुरानी लाज ढोये जायेगी। यह कुल-प्रतिष्ठा के पालने का समय नहीं, अपनी जान बचाने का अवसर है। ऐसी ही बड़ी लाजवाली है, तो लाये, पाँच सौ निकाले कहाँ धरे हैं ?

दो दिन गुजर गये और इस मामले पर उन लोगों में कोई बातचीत न हुई। हाँ, दोनों सांकेतिक भाषा में बातें करते थे।

धनिया कहती—वर-कन्या जोड़े के हों तभी ब्याह का आनन्द है।

होरी जवाब देता—ब्याह आनन्द का नाम नहीं है पगली, यह तपस्या है।

"चलो तपस्या है ?"

"हाँ, मैं कहता जो हूँ। भगवान आदमी को जिस दशा में डाल दें, उसमें सुखी रहना तपस्या नहीं, तो और क्या है ?"

दूसरे दिन धनिया ने वैवाहिक आनन्द का दूसरा पहलू सोच निकाला। घर में जब तक सास-ससुर, देवरानियाँ-जेठानियाँ न हों, तो ससुराल का सुख ही क्या ? कुछ दिन तो लड़की बहुरिया बनने का सुख पाये।

होरी ने कहा—वह वैवाहिक जीवन का सुख नहीं, दंड है।

धनिया तिनक उठी—तुम्हारी बातें भी निराली होती हैं। अकेली बहू घर में कैसे रहेगी; न कोई आगे न कोई पीछे।

होरी बोला—तू तो इस घर में आयी तो एक नहीं, दो-दो देवर थे, सास थी, ससुर था। तूने कौन-सा सुख उठा लिया, बता ?

"क्या सभी घरों में ऐसे ही प्राणी होते हैं !"

"और नहीं तो क्या आकाश की देवियाँ आ जाती हैं ? अकेली तो बहू । उस पर हुकूमत करने वाला सारा घर । बेचारी किस-किसको खुश करे । जिसका हुक्म न माने, वही बैरी । सबसे भला अकेला ।"

फिर भी बात यहीं तक रह गयी; मगर धनिया का पल्ला हल्का होता जाता था । चौथे दिन रामसेवक महतो खुद आ पहुँचे । कलाँ-रास घोडे पर सवार, साथ एक नाई और एक ख़िदमतगार, जैसे कोई बड़ा ज़मींदार हो । उम्र चालीस से ऊपर थी, बाल खिचड़ी हो गये थे; पर चेहरे पर तेज़ था, देह गठी हुई । होरी उनके सामने बिलकुल बूढ़ा लगता था । किसी मुकदमे की पैरवी करने जा रहे थे । यहाँ ज़रा दोपहरी काट लेना चाहते हैं । धूप कितनी तेज़ है, और कितने ज़ोरों की लू चल रही है ! होरी सहुआइन की दुकान से गेहूँ का आटा और घी लाया । पूरियाँ बनी । तीनो मेहमानों ने खाया । दातादीन भी आशीर्वाद देने आ पहुँचे । बातें होने लगी ।

दातादीन ने पूछा—कैसा मुक़दमा है महतो ?

रामसेवक ने शान जमाते हुए कहा—मुक़दमा तो एक न एक लगा ही रहता है महाराज ! संसार मे गऊ बनने से काम नहीं चलता । जितना दबो, उतना ही लोग दबाते हैं । थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत सब हैं हमारी रक्षा के लिये; लेकिन रक्षा कोई नहीं करता । चारों तरफ लूट है । जो गरीब है, बेकस है, उसकी गर्दन काटने के लिये सभी तैयार रहते हैं । भगवान न करे, कोई बेईमानी करे । यह बड़ा पाप है, लेकिन अपने हक़ और न्याय के लिये न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है । तुम्हीं सोचो, आदमी कहाँ तक दबे ? यहाँ तो जो किसान है, वह सबका नरम चारा है । पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दें, तो गाँव में रहना मुश्किल । ज़मींदार के चपरासी और कारिन्दों का पेट न भरे तो निबाह न हो । थानेदार और कानिसिटिबिल तो जैसे उसके दामाद हैं । जब उनका दौरा गाँव में हो जाये, किसानों का धरम है, वह उनका आदर-सत्कार करें, नज़र-नयाज़ दें, नहीं एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बँध जाये । कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जण्ट, कभी कलक्टर, कभी कमिसनर । किसान को उनके सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिये । उनके लिये रसद-चारे, अंडे-मुर्गी, दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिये । तुम्हारे सिर भी तो वही बीत रही है महाराज ! एक-न-एक हाकिम रोज़ नये-नये बढ़ते जाते हैं । एक डाक्टर कुओं में दवाई डालने के लिये आने लगा है । एक दूसरा डाक्टर कभी-कभी आकर ढोरों को देखता है, लड़कों का इम्तहान लेने वाला इसपिट्टर है, न जाने किस-किस महकमे के अफ़सर हैं, नहर के अलग, जंगल के अलग; ताड़ी-सराब के अलग, गाँव-सुधार के अलग, खेती-विभाग के अलग । कहाँ तक गिनाऊँ ? पादड़ी आ जाता है, तो उसे भी रसद देना पड़ता है, नहीं शिकायत कर दे । और जो कहो कि इतने महकमों और इतने अफ़सरों से किसान का कुछ उपकार होता हो, तो नाम को नहीं । कभी ज़मींदार ने गाँव पर हल पीछे दो-दो रुपये चन्दा लगाया । किसी

बड़े अफ़सर की दावत की थी। किसानों ने देने से इनकार कर दिया। बस, उसने सारे गाँव पर जाफा कर दिया। हाकिम भी ज़मींदार ही का पच्छ करते हैं। यह नहीं सोचते कि किसान भी आदमी हैं, उनके भी बाल-बच्चे हैं, उनकी भी इज़्ज़त-आबरू है। और यह सब हमारे दब्बूपन का फल है। मैंने गाँव-भर में डोंडी पिटवा दी कि कोई बेसी लगान न दो और न खेत छोड़ो, हमको कोई कायल कर दे, तो हम जाफा देने को तैयार हैं; लेकिन जो तुम चाहो कि बेमुँह के किसानों को पीस कर पी जायें तो यह न होगा। गाँव वालों ने मेरी बात मान ली, और सबने जाफा देने से इनकार कर दिया। ज़मींदार ने देखा, सारा गाँव एक हो गया है तो लाचार हो गया। खेत बेदखल कर दे, तो जोते कौन ? इस ज़माने में जब तक कड़े न पड़ो, कोई नहीं सुनता। बिना रोये तो बालक भी माँ से दूध नहीं पाता।

रामसेवक तीसरे पहर चला गया और धनिया और होरी पर न मिटने वाला असर छोड़ गया। दातादीन का मन्त्र जाग गया।

उन्होंने पूछा—अब क्या कहते हो ?

होरी ने धनिया की ओर इशारा करके कहा—इससे पूछो।

"हम तुम दोनों से पूछते हैं।"

धनिया बोली—उमिर तो ज़्यादा है; लेकिन तुम लोगों की राय है, तो मुझे भी मंजूर है। तकदीर में जो लिखा होगा, वह तो आगे आयेगा ही; मगर आदमी अच्छा है।

और होरी को तो रामसेवक पर वह विश्वास हो गया था, जो दुर्बलों को जीवटवाले आदमियों पर होता है। वह शेखचिल्ली के-से मंसूबे बाँधने लगा था। ऐसा आदमी उसका हाथ पकड़ ले, तो बेड़ा पार है।

विवाह मुहूर्त्त ठीक हो गया। गोबर को भी बुलाना होगा। अपनी तरफ़ से लिख दो, आने न आने का उसे अख़्तियार है। यह कहने को तो मुँह न रहे कि तुमने मुझे बुलाया कब था ? सोना को भी बुलाना होगा।

धनिया ने कहा—गोबर तो ऐसा नहीं था, लेकिन जब झुनिया आने दे। परदेस जाकर ऐसा भूल गया कि न चिट्ठी न पत्री। न जाने कैसे हैं।—यह कहते-कहते उसकी आँखें सजल हो गयीं।

गोबर को ख़त मिला, तो चलने को तैयार हो गया। झुनिया को जाना अच्छा तो न लगता था; पर इस अवसर पर कुछ कह न सकी। बहन के ब्याह में भाई का न जाना कैसे सम्भव है ! सोना के ब्याह में न जाने का कलंक क्या कम है ?

गोबर आर्द्र कण्ठ से बोला—माँ-बाप से खिंचे रहना कोई अच्छी बात नहीं है। अब हमारे हाथ-पाँव हैं, उनसे खिंच लें, चाहे लड़ लें; लेकिन जन्म तो उन्हीं ने दिया, पाल-पोस कर जवान तो उन्हीं ने किया, अब हमें चार बात भी कहें, तो हमें ग़म खाना चाहिए। इधर मुझे बार-बार अम्माँ-दादा की याद आया करती है। उस बखत मुझे न जाने क्यों उन पर गुस्सा आ गया। तेरे कारन माँ-बाप को भी छोड़ना पड़ा।

झुनिया तिनक उठी–मेरे सिर पर यह पाप न लगाओ, हाँ ! तुम्हीं को लड़ने की सूझी थी। मै तो अम्माँ के पास इतने दिन रही, कभी साँस तक न लिया।

"लड़ाई तेरे कारन हुई।"

"अच्छा, मेरे ही कारन सही। मैंने भी तो तुम्हारे लिये अपना घर-बार छोड़ दिया।"

"तेरे घर में कौन तुझे प्यार करता था ? भाई बिगड़ते थे, भावजें जलाती थीं। भोला जो तुझे पा जाते, तो कच्ची ही खा जाते।"

"तुम्हारे ही कारन।"

"अबकी जब तक रहें, इस तरह रहें कि उन्हें भी ज़िन्दगानी का कुछ सुख मिले, उनकी मरजी के खिलाफ कोई काम न करें। दादा इतने अच्छे हैं कि कभी मुझे डाँटा तक नहीं। अम्माँ ने कई बार मारा है; लेकिन वह जब मारती थीं, तब कुछ-न-कुछ खाने को दे देती थीं। मारती थीं; पर जब तक मुझे हँसा न लें, उन्हें चैन न आता था।"

दोनों ने मालती से जिक्र किया। मालती ने छुट्टी ही नहीं दी, कन्या के उपहार के लिए एक चर्खा और हाथों का कंगन भी दिया। वह खुद जाना चाहती थी; लेकिन कई ऐसे मरीज़ उसके इलाज में थे, जिन्हें एक दिन के लिये भी न छोड़ सकती थी। हाँ, शादी के दिन आने का वादा किया और बच्चे के लिये खिलौनो का ढेर लगा दिया। उसे बार-बार चूमती थी और प्यार करती थी, मानो सब कुछ पेशगी ले लेना चाहती है और बच्चा उसके प्यार की बिलकुल परवा न करके घर चलने के लिये खुश था–उस घर के लिये, जिसको उसने देखा तक न था। उसकी बाल-कल्पना में घर स्वर्ग से भी बढ़कर कोई चीज़ थी।

गोबर ने घर पहुँचकर उसकी दशा देखी, तो ऐसा निराश हुआ कि इसी वक्त यहाँ से लौट जाये। घर का एक हिस्सा गिरने-गिरने को हो गया था। द्वार पर केवल एक बैल बँधा हुआ था, वह भी नीमजान। धनिया और होरी दोनों फूले न समाये; लेकिन गोबर का जी उचाट था। अब इस घर के सँभलने की क्या आशा है ! वह गुलामी करता है; लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो, वही रोब जमाता है। गुलामी है; पर सूखी। मेहनत करके अनाज पैदा करो और जो रुपये मिलें, वह दूसरों को दे दो। आप बैठे राम-राम करो। दादा ही का कलेजा है कि यह सब सहते हैं। उससे तो एक दिन न सहा जाये।

और, यह दशा कुछ होरी ही की न थी। सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक आदमी भी नहीं, जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणो की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों,

और सारी हरियाली मुरझा गयी हो।

जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है; मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहान में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है, वह भी दूसरो का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी नाक में न गन्ध है, न आँखों में ज्योति। सरेशाम द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं मगर किसी को ग़म नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बग़ैर नाँद में मुँह नहीं डालते; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिये। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिये बेईमानी करवा लो, मुट्ठी-भर अनाज के लिये लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज़्ज़त को भी भूल जाता है।

लड़कपन से गोबर ने गाँवों की यही दशा देखी थी और उनका आदी हो चुका था; पर आज चार साल के बाद उसने जैसे एक नयी दुनिया देखी। भले आदमियों के साथ रहने से उसकी बुद्धि जग उठी है; उसने राजनैतिक जलसों में पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं और उनसे अंग-अंग में बिधा है। उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफ़तों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी। और उसमें गहरी संवेदना सजग हो उठी है। अब उसमें वह पहले की उद्दण्डता और ग़रूर नहीं है। वह नम्र और उद्योग-शील हो गया है। जिस दशा में पड़े हो, उसे स्वार्थ और लोभ के वश होकर और क्यों बिगाड़ते हो ? दुःख ने तुम्हें एक सूत्र में बाँध दिया है। बन्धुत्व के इस दैवी बन्धन को क्यों अपने तुच्छ स्वार्थों से तोड़े डालते हो ? उस बन्धन को एकता का बन्धन बना लो। इस तरह के भावों ने उसकी मानवता को पंख-से लगा दिये हैं।

संसार का ऊँच-नीच देख लेने के बाद निष्कपट मनुष्यों में जो उदारता आ जाती है, वह अब मानो आकाश में उड़ने के लिये पंख फड़फड़ा रही है। होरी को अब वह कोई काम करते देखता है, तो उसे हटाकर खुद करने लगता है, जैसे पिछले दुर्व्यवहार का प्रायश्चित करना चाहता हो। कहता है, दादा अब कोई चिन्ता मत करो, सारा भार मुझ पर छोड़ दो। मैं अब हर महीने खर्च भेजूँगा। इतने दिन तो मरते-खपते रहे, कुछ दिन तो आराम कर लो। मुझे धिक्कार है कि मेरे रहते तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़े। और होरी के रोम-रोम से बेटे के लिये आशीर्वाद निकल जाता है। उसे अपनी जीर्ण देह में दैवी स्फूर्ति का अनुभव होता है। वह इस समय अपने कर्ज़ का ब्योरा कहकर उसकी उठती जवानी पर चिन्ता की बिजली क्यों गिराये ? वह आराम से खाये-पीये, ज़िन्दगी का सुख उठाये। मरने खपने के लिये

वह तैयार है। यही उसका जीवन है। राम-राम जप कर वह जी भी तो नहीं सकता। उसे तो फावड़ा और कुदाल चाहिये। राम-नाम की माला फेरकर उसका चित्त न शान्त होगा।

गोबर ने कहा—कहो, मैं सबसे क़िस्त बँधवा लूँ और हर महीने-महीने देता जाऊँ। सब मिलकर कितना होगा ?

होरी ने सिर हिलाकर कहा—नहीं बेटा, तुम काहे को तकलीफ़ उठाओगे। तुम्ही को कौन बहुत मिलते हैं ! सब देख लूँगा। ज़माना इसी तरह थोडे ही रहेगा। रूपा चली जाती है। अब कर्ज ही चुकाना तो है। तुम कोई चिन्ता मत करना। खाने-पीने का संजम रखना। अभी देह बना लोगे, तो सदा आराम से रहोगे। मेरी कौन ? मुझे तो मरने-खपने की आदत पड गयी है। अभी मैं तुम्हें खेती में नहीं जोतना चाहता बेटा ! मालिक अच्छा मिल गया है। उसकी कुछ दिन सेवा कर लोगे, तो आदमी बन जाओगे ! वह तो यहाँ आ चुकी हैं। साक्षात् देवी हैं।

"ब्याह के दिन फिर आने को कहा है।"

"हमारे सिर-ऑखों पर आयें। ऐसे भले आदमियों के साथ रहने से चाहे पैसे कम भी मिलें;लेकिन ज्ञान बढ़ता है और आँखें खुलती हैं।"

उसी वक्त पण्डित दातादीन ने होरी को इशारे से बुलाया और दूर ले जाकर कमर से सौ-सौ रुपये के दो नोट निकलते हुए बोले—तुमने मेरी सलाह मान ली, बड़ा अच्छा किया। दोनों काम बन गये। कन्या से भी उरिन हो गये और बाप-दादो की निशानी भी बच गयी। मुझसे जो कुछ हो सका, मैंने तुम्हारे लिये कर दिया, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।

होरी ने रुपये लिये तो उसका हाथ काँप रहा था, उसका सिर ऊपर न उठ सका, मुँह से एक शब्द न निकला, जैसे अपमान के अथाह गढ़े में गिर पड़ा है और गिरता चला जाता है। आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है, भाईयो, मैं दया का पात्र हूँ। मैंने नहीं जाना, जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है ! इस देह को चीरकर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है—कितना जख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ ! उससे पूछो, कभी तूने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छाँह में बैठा ? उस पर यह अपमान ! और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम। उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अन्धा हो गया था, मानो टूक-टूक उड़ गया है।

दातादीन ने कहा—तो मैं जाता हूँ। न हो, तो तुम इसी बखत नोखेराम के पास चले जाओ।

होरी दीनता से बोला—चला जाऊँगा महाराज ! मगर मेरी इज्जत तुम्हारे हाथ है।

दो दिन तक गाँव में खूब धूम-धाम रही। बाजे बजे, गाना-बजाना हुआ और रूपा रो-धोकर विदा हो गयी; मगर होरी को किसी ने घर से निकलते न देखा। ऐसा छिपा बैठा था, जैसे मुँह में कालिख लगी हो। मालती के आ जाने से चहल-पहल और बढ़ गयी। दूसरे गाँव की स्त्रियाँ भी आ गयीं।

गोबर ने अपने शील-स्नेह से सारे गाँव को मुग्ध कर लिया है। ऐसा कोई घर न था, जहाँ वह अपने मीठे व्यवहार की याद न छोड़ आया हो। भोला तो उसके पैरों पर गिर पड़े। उनकी स्त्री ने उसको पान खिलाये और एक रुपया बिदायी दी और उसका लखनऊ का पता भी पूछा। कभी लखनऊ आयेगी तो उससे ज़रूर मिलेगी। अपने रुपये की उससे चर्चा न की।

तीसरे दिन जब गोबर चलने लगा, तो होरी ने धनिया के सामने आँखों में आँसू भरकर वह अपराध स्वीकार किया, जो कई दिन से उसकी आत्मा को मथ रहा था, और रोकर बोला–बेटा, मैंने इस ज़मीन के मोह से पाप की गठरी सिर लादी। न जाने भगवान मुझे इसका क्या दण्ड देंगे !

गोबर ज़रा भी गर्म न हुआ, किसी प्रकार का रोष उसके मुँह पर न था। श्रद्धाभाव से बोला–इसमें अपराध की कोई बात नहीं है दादा। हाँ, रामसेवक के रुपये अदा कर देना चाहिये। आखिर तुम क्या करते ? मैं किसी लायक नहीं, तुम्हारी खेती में उपज नहीं, करज कहीं मिल नहीं सकता, एक महीने के लिए भी घर में भोजन नहीं। ऐसी दशा में तुम और कर ही क्या सकते थे ? जैजात न बचाते तो रहते कहाँ ? जब आदमी का कोई बस नहीं चलता, तो अपने को तक़दीर पर ही छोड़ देता है। न जाने यह धाँधली कब तक चलती रहेगी ? जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उसके लिये मरजाद और इज्जत सब ढोंग है। औरों की तरह तुमने भी दूसरों का गला दबाया होता, उनकी जमा मारी होती, तो तुम भी भले आदमी होते। तुमने कभी नीति को नहीं छोड़ा, यह उसी का दण्ड है। तुम्हारी जगह मैं होता, तो या जेल में होता या फाँसी पर गया होता। मुझसे यह कभी बरदाश्त न होता कि मैं कमा-कमाकर सबका घर भरूँ और आप अपने बाल-बच्चों के साथ मुँह में जाली लगाये बैठा रहूँ।

धनिया बहू को उसके साथ भेजने पर राजी न हुई। झुनिया का मन भी अभी कुछ दिन यहाँ रहने का था। तय हुआ कि गोबर अकेला ही जाये।

दूसरे दिन प्रातःकाल गोबर सबसे विदा होकर लखनऊ चला। होरी उसे गाँव के बाहर तक पहुँचाने आया। गोबर के प्रति इतना प्रेम उसे कभी न हुआ था। जब गोबर उसके चरणों पर झुका, तो होरी रो पड़ा, मानो फिर उसे पुत्र के दर्शन न होंगे। उसकी आत्मा में उल्लास था, गर्व था, संकल्प था। पुत्र से यह श्रद्धा और स्नेह पाकर वह तेजवान हो गया है, विशाल हो गया है। कई दिन पहले उस पर जो अवसाद-सा छा गया था, एक अन्धकार-सा, जहाँ वह अपना मार्ग भूल जाता था, वहाँ अब उत्साह

है और प्रकाश है।

रूपा अपनी ससुराल में खुश थी। जिस दशा में उसका बालपन बीता था, उसमें पैसा सबसे कीमती चीज़ थी। मन में कितनी साधें थीं, जो मन ही में घुट-घुटकर रह गयी थीं। वह अब उन्हें पूरा कर रही थी और रामसेवक अधेड़ होकर भी जवान हो गया था। रूपा के लिये वह पति था, उसके जवान, अधेड़ या बूढ़े होने से उसकी नारी-भावना में कोई अन्तर न आ सकता था। उसकी यह भावना पति के रंग-रूप या उम्र पर आश्रित न थी, उसकी बुनियाद इससे बहुत गहरी थी, श्वेत परम्पराओ की तह में, जो केवल किसी भूकम्प से ही हिल सकती थी। उसका यौवन अपने ही मे मस्त था, वह अपने ही लिये अपना बनाव-सिंगार करती थी और आप ही खुश होती थी। रामसेवक के लिये उसका दूसरा रूप था। तब वह गृहिणी बन जाती थी, घर के काम-काज में लगी हुई। अपनी जवानी दिखाकर उसे लज्जा या चिन्ता में न डालना चाहती थी। किसी तरह की अपूर्णता का भाव उसके मन में न आता था। अनाज से भरे हुए बखार और गाँव से सिवान तक फैले हुए खेत और द्वार पर ढोरों की क़तारें और किसी प्रकार की अपूर्णता को उसके अन्दर आने ही न देती थी।

और उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी अपने घरवालों की खुशी देखना। उनकी गरीबी कैसे दूर कर दे ? उस गाय की याद अभी तक उसके दिल में हरी थी, जो मेहमान की तरह आयी थी और सबको रोता छोड़कर चली गयी थी। वह स्मृति इतने दिनों के बाद अब और भी मृदु हो गयी थी। अभी उसका निजत्व इस नये घर में न जम पाया था। वही पुराना घर उसका अपना घर था। वहीं के लोग अपने आत्मीय थे, उन्हीं का दुःख उसका दुःख और उन्हीं का सुख उसका सुख था। इस द्वार पर ढोरों का एक रेवड़ देखकर उसे वह हर्ष न हो सकता था, जो अपने द्वार पर एक गाय देखकर होता। उसके दादा की यह लालसा कभी पूरी न हुई। जिस दिन वह गाय आयी थी, उन्हें कितना उछाह हुआ था, जैसे आकाश से कोई देवी आ गयी हो। तब से फिर उन्हें इतनी समाई ही न हुई कि कोई दूसरी गाय लाते; पर वह जानती थी, आज भी वह लालसा होरी के मन में उतनी ही सजग है। अबकी यह जायेगी, तो साथ वह धौरी गाय ज़रूर लेती जायेगी। नहीं, अपने आदमी से क्यों न भेजवा दे। रामसेवक से पूछने की देर थी। मंजूरी हो गयी, और दूसरे दिन एक अहीर के मारफत रूपा ने गाय भेज दी। अहीर से कहा, दादा से कह देना, मंगल के दूध पीने के लिये भेजी है। होरी भी गाय लेने की फ़िक्र में था। यों अभी उसे गाय की कोई जल्दी न थी; मगर मंगल यहीं है और बिना दूध के कैसे रह सकता है ! रुपये मिलते ही वह सबसे पहले गाय लेगा। मंगल अब केवल उसका पोता नहीं है, केवल गोबर का बेटा नहीं है मालती देवी का खिलौना भी है। उसका लालन-पालन उसी तरह का होना चाहिये।

मगर रुपये कहाँ से आयें ? संयोग से उसी दिन एक ठीकेदार ने सड़क के

लिये गाँव के ऊसर में कंकड़ की खुदाई शुरू की। होरी ने सुना तो चट-पट वहाँ जा पहुँचा, और आठ आने रोज पर खुदाई करने लगा; अगर यह काम दो महीने भी टिक गया तो गाय भर को रुपये मिल जायेंगे। दिन-भर लू और धूप में काम करने के बाद वह घर आता, तो बिलकुल मरा हुआ, अवसाद का नाम नहीं। उसी उत्साह से दूसरे दिन काम करने जाता। रात को भी खाना खाकर डिब्बी के सामने बैठ जाता और सुतली कातता। कहीं बारह-एक बजे सोने जाता। धनिया भी पगला गयी थी, उसे इतनी मेहनत करने से रोकने के बदले खुद उसके साथ बैठी-बैठी सुतली कातती। गाय तो लेनी ही है, रामसेवक के रुपये भी तो अदा करने हैं। गोबर कह गया है। उसे बड़ी चिन्ता है।

रात के बारह बज गये थे। दोनों बैठे सुतली कात रहे थे। धनिया ने कहा—तुम्हें नींद आती हो तो जाके सो रहो। भोरे फिर तो काम करना है।

होरी ने आसमान की ओर देखा, चला जाऊँगा। अभी तो दस बजे होंगे। तू जा, सो रह।

"मैं तो दोपहर को छन-भर पौढ़ रहती हूँ।"

"मैं भी चबेना करके पेड़ के नीचे सो लेता हूँ।"

"बड़ी लू लगती होगी।"

"लू क्या लगेगी ? अच्छी छाँह है।"

"मैं डरती हूँ, कहीं तुम बीमार न पड़ जाओ।"

"चल, बीमार वह पड़ते हैं, जिन्हें बीमार पड़ने की फुरसत होती है। यहाँ तो यह धुन है कि अबकी गोबर आये, तो रामसेवक के आधे रुपये जमा रहें। कुछ वह भी लायेगा। बस, इस साल इस रिन से गला छूट जाये, तो दूसरी ज़िन्दगी हो।"

"गोबर की अबकी बड़ी याद आती है। कितना सुशील हो गया है।"

"चलती बेर पैरों पर गिर पड़ा।"

"मंगल वहाँ से आया तो कितना तैयार था। यहाँ आकर दुबला हो गया है।"

"वहाँ दूध, मक्खन, क्या नहीं पाता था ? यहाँ रोटी मिल जाये, वही बहुत है। ठीकेदार से रुपये मिले और गाय लाया।"

"गाय तो कभी आ गयी होती, लेकिन तुम जब कहना मानो। अपनी खेती तो सँभाले न सँभलती थी, पुनिया का भार भी अपने सिर ले लिया।"

"क्या करता, अपना धरम भी तो कुछ है। हीरा ने नालायकी की तो उसके बाल-बच्चों को सँभालने वाला तो कोई चाहिये ही था। कौन था मेरे सिवा बता ? मैं न मदद करता, तो आज उनकी क्या गति होती, सोच। इतना सब करने पर भी तो मँगरू ने उस पर नालिस कर ही दी।"

"रुपये गाड़कर रखेगी तो क्या नालिश न होगी ?"

"क्या बकती है। खेती से पेट चल जाये, यही बहुत है। गाड़कर कोई क्या रखेगा !"

"हीरा तो जैसे संसार ही से चला गया।"

"मेरा मन तो कहता है कि वह आवेगा, कभी न कभी ज़रूर।"

दोनों सोये। होरी अँधेरे मुँह उठा तो देखता है कि हीरा सामने खड़ा है, बाल बढ़े हुये, कपड़े तार-तार, मुँह सूखा हुआ, देह में रक्त और माँस का नाम नहीं, जैसे कद भी छोटा हो गया है।

दौड़कर होरी के कदमों पर गिर पड़ा।

होरी ने उसे छाती से लगाकर कहा—तुम तो बिलकुल घुल गये हीरा ! कब आये ? आज तुम्हारी बार-बार याद आ रही थी। बीमार हो क्या ?

आज उसकी आँखों में वह हीरा न था, जिसने उसकी ज़िन्दगी तल्ख़ कर दी थी; बल्कि वह हीरा था, जो बे-माँ-बाप का छोटा-सा बालक था। बीच के ये पच्चीस-तीस साल जैसे मिट गये, उनका कोई चिह्न भी नहीं था।

हीरा ने कुछ जवाब न दिया। खड़ा रो रहा था।

होरी ने उसका हाथ पकडकर गद्‌गद कण्ठ से कहा—क्यों रोते हो भैया, आदमी से भूलचूक होती ही है। कहाँ रहा इतने दिन ?

हीरा कातर स्वर में बोला—कहाँ बताऊँ दादा ! बस, यही समझ लो कि तुम्हारे दर्शन बदे थे, बच गया। हत्या सिर पर सवार थी। ऐसा लगता था कि वह गऊ मेरे सामने खड़ी है; हरदम, सोते-जागते, कभी आँखों से ओझल न होती। मैं पागल हो गया और पाँच साल पागलखाने में रहा। आज वहाँ से निकले छः महीने हुये। माँगता-खाता फिरता रहा। यहाँ आने की हिम्मत न पड़ती थी। संसार को कौन मुँह दिखाऊँगा ? आखिर जी न माना। कलेजा मजबूत करके चला आया। तुमने बाल-बच्चों को ...

होरी ने बात काटी—तुम नाहक भागे। अरे, दारोगा को दस-पाँच देकर मामला रफे-दफे करा दिया जाता और होता क्या ?

"तुमसे जीते-जी उरिन न हूँगा दादा !"

"मैं कोई गैर थोड़े हूँ भैया।"

होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी निराशायें मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं ? इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकायें हैं। उसकी छाती फूल उठी है, मुख पर तेज़ आ गया है। हीरा की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान हो गयी हैं। उसके बखार में सौ-दो-सौ मन अनाज भरा होता, उसकी हाँड़ी में हज़ार-पाँच सौ गड़े होते, पर उससे यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था ?

हीरा ने उसे सिर से पाँव तक देखकर कहा—तुम भी तो बहुत दुबले हो गये दादा !

होरी ने हँसकर कहा—तो क्या यह मेरे मोटे होने के दिन हैं ? मोटे वह होते

हैं, जिन्हे न रिन का सोच होता है, न इज्जत का। इस जमाने मे मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख ? सुख तो जब है कि सभी मोटे हों। शोभा से भेंट हुई ?

"उससे तो रात ही भेट हो गयी थी। तुमने तो अपनों को भी पाला, जो तुमसे बैर करते थे, उनको भी पाला और अपना मरजाद बनाये बैठे हो ! उसने तो खेत-बारी सब बेच-बाच डाली और अब भगवान ही जाने, उसका निबाह कैसे होगा ?

आज होरी खुदायी करने चला, तो देह भारी थी। रात की थकान दूर न हो पायी थी; पर उसके क़दम तेज थे और चाल में निर्द्वन्द्वता की अकड़ थी।

आज दस बजे ही से लू चलने लगी और दोपहर होते-होते तो आग बरस रही थी। होरी कंकड़ के झौबे उठा-उठाकर खदान से सड़क पर लाता था और गाड़ी पर लादता था। जब दोपहर की छुट्टी हुई, तो वह बेदम हो गया था। ऐसी थकन उसे कभी न हुई थी। उसके पाँव तक न उठते थे। देह भीतर से झुलसी जा रही थी। उसने न स्नान ही किया न चबेना। उसी थकन में अपना अँगोछा बिछाकर एक पेड के नीचे सो रहा; मगर प्यास के मारे कण्ठ सूखा जाता है। खाली पेट पानी पीना ठीक नहीं। उसने प्यास को रोकने की चेष्टा की; लेकिन प्रतिक्षण भीतर की दाह बढ़ती जाती थी। न रहा गया। एक मजदूर ने बाल्टी भर रखी थी और चबेना कर रहा था। होरी ने उठकर एक लोटा पानी खींचकर पिया और फिर आकर लेट रहा; मगर आधा घण्टे में उसे कै हो गयी और चेहरे पर मुर्दनी-सी छा गयी।

उस मजदूर ने कहा–कैसा जी है होरी भैया ?

होरी के सिर में चक्कर आ रहा था। बोला–कुछ नहीं, अच्छा हूँ।

यह कहते-कहते उसे फिर कै हुई और हाथ-पाँव ठण्डे होने लगे। यह सिर में चक्कर क्यों आ रहा है ? आँखों के सामने कैसा अँधेरा छाया जाता है । उसकी आँखें बन्द हो गयीं और जीवन की सारी स्मृतियाँ सजीव हो-होकर हृदय-पट पर आने लगीं; लेकिन बे-क्रम, आगे की पीछे, पीछे की आगे स्वप्न-चित्रों की भाँति बेमेल, विकृत और असम्बद्ध, वह सुखद बालपन आया, जब वह गुल्लियाँ खेलता था और माँ की गोद में सोता था। फिर देखा, जैसे गोबर आया है और उसके पैरों पर गिर रहा है। फिर दृश्य बदला, धनिया दुलहिन बनी हुई, लाल चुँदरी पहने उसको भोजन करा रही थी। फिर एक गाय का चित्र सामने आया, बिलकुल कामधेनु-सी। उसने उसका दूध दुहा और मंगल को पिला रहा था कि गाय एक देवी बन गयी और ...

उसी मजदूर ने फिर पुकारा–दोपहरी ढल गयी होरी, चलो झौवा उठाओ।

होरी कुछ न बोला। उसके प्राण तो न जाने किस-किस लोक में उड़ रहे थे। उसकी देह जल रही थी, हाथ-पाँव ठण्डे हो रहे थे। लू लग गयी थी।

उसके घर आदमी दौड़ाया गया। एक घण्टा में धनिया दौड़ी हुई आ पहुँची। शोभा और हीरा पीछे-पीछे खटोले की डोली बनाकर ला रहे थे।

धनिया ने होरी की देह छुई, तो उसका कलेजा सन्न् से हो गया। मुख कांतिहीन हो गया था।

काँपती हुई आवाज़ से बोली–कैसा जी है तुम्हारा ?

होरी ने अस्थिर आँखों से देखा और बोला–तुम आ गये गोबर ? मैंने मंगल के लिये गाय ले ली है। वह खड़ी है, देखो।

धनिया ने मौत की सूरत देखी थी। उसे पहचानती थी। उसे दबे पाँव आते भी देखा था, आँधी की तरह भी देखा था। उसके सामने सास मरी, ससुर मरा, अपने दो बालक मरे, गाँव के पचासों आदमी मरे। प्राण में एक धक्का-सा लगा। वह आधार जिस पर जीवन टिका हुआ था, जैसे खिसका जा रहा था; लेकिन नहीं, यह धैर्य का समय है, उसकी शंका निर्मूल है, लू लग गयी है, उसी से अचेत हो गये हैं। उमड़ते हुए आँसुओं को रोककर बोली–मेरी ओर देखो, मैं हूँ, क्या मुझे नहीं पहचानते ?

होरी की चेतना लौटी। मृत्यु समीप आ गयी थी; आग दहकने वाली थी। धुआँ शान्त हो गया था। धनिया को दीन आँखों से देखा, दोनों कोनों से आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ीं। क्षीण स्वर में बोला–मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया ! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-करम में जायेंगे। रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी ? सब दुर्दशा तो हो गयी। अब मरने दे।

और उसकी आँखें फिर बन्द हो गयीं। उसी वक्त हीरा और शोभा डोली लेकर पहुँच गये। होरी को उठाकर डोली में लिटाया और गाँव की ओर चले।

गाँव में यह खबर हवा की तरह फैल गयी। सारा गाँव जमा हो गया। होरी खाट पर पड़ा शायद सब कुछ देखता था, सब कुछ समझता था; पर जबान बन्द हो गयी थी। हाँ, उसकी आँखों से बहते आँसू बतला रहे थे कि मोह का बन्धन तोड़ना कितना कठिन हो रहा है। जो कुछ अपने से नहीं बन पड़ा, उसी के दुःख का नाम तो मोह है। पाले हुये कर्त्तव्य और निपटाये हुये कामों का क्या मोह ! मोह तो उन अनाथों को छोड़ जाने में है, जिनके साथ हम अपना कर्तव्य न निभा सके; उन अधूरे मंसूबों में है, जिन्हें हम न पूरा कर सके।

मगर सब कुछ समझकर भी धनिया आशा की मिटती हुई छाया को पकड़े हुये थी। आँखों से आँसू गिर रहे थे, मगर यन्त्र की भाँति दौड़-दौड़कर कभी आम भूनकर पना बनाती, कभी होरी की देह में गेहूँ की भूसी की मालिश करती। क्या करे, पैसे नहीं हैं, नहीं किसी को भेजकर डाक्टर बुलाती।

हीरा ने रोते हुए कहा–भाभी, दिल कड़ा करो, गो-दान करा दो, दादा चले।

धनिया ने उसकी ओर तिरस्कार की आँखों से देखा। अब वह दिल को और कितना कठोर करे ? अपने पति के प्रति उसका जो कर्म है, क्या वह उसको बताना

पड़ेगा ? जो जीवन का संगी था, उसके नाम को रोना ही क्या उसका धर्म है ?

और कई आवाज़ें आयीं—हाँ, गो-दान करा दो, अब यही समय है।

धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।

और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

• • •

निबन्ध

देशी चीज़ों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है

आजकल जब इस सवाल पर बहस छिड़ती है कि हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों की तरक़्क़ी क्यों नहीं होती तो आमतौर पर यह कहा जाता है कि अभी जनता में देश-प्रेम और क़ौमी हमदर्दी का ख़याल ऐसा नहीं फैला है, कि वह निजी फ़ायदे को नज़र अन्दाज़ करके अपने देश की चीज़ो को, बावजूद उनकी ख़ामियों और बुराइयों के, दूसरे देशों की चीज़ों से बढ़कर जगह दें। इसमें शक नहीं कि यह दलील एक हद तक ठीक है और वास्तविकता पर आधारित है। मगर हम यह हरगिज नहीं कह सकते कि हमारी व्यापारिक मन्दी केवल इसी कारण से है। इसके कुछ और कारण भी हैं जो नीचे की पंक्तियों से प्रकट होंगे।

व्यापार के रास्ते में पहली बाधा यह है कि अभी तक हमारे देशवालों को हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों और कारखानो की ज़रा भी जानकारी नहीं है। जिन लोगों को अख़बार पढ़ने की आदत है वह अलबत्ता कुछ कारखानों से परिचित है। आम तौर पर यह हमको नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान में कौन-सी चीज़ कहाँ बनती है। इस अज्ञान को दूर करने का सिर्फ़ यही इलाज है कि विज्ञापनों से अधिक से अधिक फ़ायदा उठाया जाये और विभिन्न देशी भाषाओं में आसानी से समझ में आने वाले विज्ञापन प्रकाशित किये जायें। उनको आम रास्तों पर ज़्यादा से ज़्यादा चिपकाया जाये। हर शहर के प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनायी जाये और समय-समय पर विज्ञापन उनके पास भेजे जायें। कारख़ानों और उनकी जगहों के नाम खूब रौशन कर दिये जायें। जिन कारख़ानों ने इस तरकीब से फ़ायदा उठाया है उनको आज अच्छी तरक़्क़ी हासिल है। सियालकोट, कानपुर वग़ैरह शहरों में ख़ास-ख़ास चीज़ों के कारखाने खूब रौनक पर हैं। देशी दवाइयों के इश्तिहार खूब छपते हैं और आम सड़कों पर भी खूब ज़्यादा दिखायी पड़ते हैं। इसी वजह से हमारी देशी दवाएँ अंग्रेजी दवाओं के मुक़ाबले में बहुत ज़्यादा गिरी हुई हालत में नहीं हैं। कई आयुर्वेदिक दवाखानों की ख़ासी आमदनी है। अभी बहुत दिन नहीं बीते कि बनारस में नयी चाल के रेशमी कपड़े बनने शुरू हुए और आज काशी सिल्क को लोकप्रियता प्राप्त है। ऐसा कौन-सा सजधज का शौक़ीन आदमी होगा जिसके सन्दूक में दो-एक जोड़े काशी सिल्क के न होंगे। इस तात्त्कालिक उन्नति और लोकप्रियता का यही कारण है कि हर प्रकार के नमूनों के टुकड़े आस-पास चारों तरफ बड़ी संख्या में रवाना

किये गए। कुछ पढ़े-लिखे लोग हर ढंग के कपड़े ले-लेकर दूर-दूर के शहरों में गये और उनकी अच्छाइयाँ और खूबियाँ जनता के दिलों पर अच्छी तरह जमा दीं।

एक बार हमने एक बजाज से पूछा कि तुम कानानोर से देशी कपड़े क्यों नहीं मँगाते। उसने जवाब दिया कि उन कपड़ों की बिक्री में नफ़ा बहुत कम होता है। नफ़े की यह कमी पूँजी के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखती है जिनपर हम इस वक़्त बहस नहीं करना चाहते। कैसा अच्छा होता कि हर शहर के कुछ ज़िन्दादिल, पुरजोश, पढ़े-लिखे लोग कमर कसकर थोड़ी-सी पूँजी से देशी कपड़े मंगाकर मोल के दामों पर बेचते। यह जरूरी नहीं है कि यह लोग बाकायदा दुकान खोलें और दुकान का किराया और दूकानदार की तनख्वाह बढ़ाकर कपड़े को और मँहगा कर दें बल्कि एक उत्साही सज्जन देशप्रेम से काम लेकर आनरेरी मैनेजर हो जाएँ और शाम-सबेरे घंटा-दो घंटा समय इस काम के लिए दें। जब जनता की ओर से उनके प्रयत्नों के लिए प्रशंसा मिलने लगे, देशी कपड़ों की माँग ज़्यादा हो जाए तो पूँजी भी बढ़ाई जा सकती है, दुकान और दुकानदारी का ख़र्चा भी उठाया जा सकता है।

जो लोग अपनी पूँजी से व्यापारिक सिद्धांतों पर देशी कपड़ों की दुकानें खोलें, उनको चाहिए कि ग्राहकों की आव-भगत, खातिर-तवाज़ो अच्छी तरह करें। देशी चलन के पाबन्द लोगों के लिए दो-एक बीड़ा पान, दो-चार इलायचियाँ, जरा-सी तम्बाकू और अंग्रेजी चलने वालों के लिए एक-आध सिगरेट या एक प्याली चाय काफ़ी होगी। इस थोड़े से खर्चे में यकीन है कि ग्राहकों की संख्या बहुत जल्द बढ़ जाएगी क्योंकि लोगों को इस दुकान से एक ख़ास प्रेम हो जाएगा। दुकानदार भी पढ़ा-लिखा होना चाहिए जो ख़रीदारों से सभ्यतापूर्वक बातचीत कर सके। ऐसे दुकानदारों को ग्राहकों के साथ उस बेग़रज़ी और रूखेपन से नहीं पेश आना चाहिए। जिससे आमतौर पर मामूली सौदागर पेश आया करते हैं। अगर इन दुकानों पर एक-दो अंग्रेज़ी और उर्दू अख़बार भी रखने का बन्दोबस्त कर दिया जाए तो यह एक और दिलचस्पी बहुत से खरीददारों को खींच लाएगी। पढ़े-लिखे लोग यहाँ आकर बैठेंगे तो मौके और वक़्त का तकाज़ा यही होगा कि व्यापार की उन्नति के बारे में बातचीत हो। और इस बातचीत से लोगों के दिलों में जोश पैदा होगा और यह जोश देशी व्यापार को उन्नति देने वाला होगा।

कहीं-कहीं देशी चीजों का जिस जोश और हमदर्दी से स्वागत किया गया है, वह उम्मीद दिलाता है कि अब हिन्दुस्तान का व्यापारिक जागरण बहुत दूर नहीं। लाहौर के आर्य समाज मेम्बरों को सर से पैर तक हिन्दोसतान की बनी चीज़ों से सजे हुए देखना सचमुच बहुत दिलचस्प और याद रखने के क़ाबिल दृश्य था। हम अपने समाजी भाइयों के देश-प्रेम और क़ौमी जोश के हमेशा से प्रशंसक रहे हैं और हमको उम्मीद है कि हमारी व्यापारिक उन्नति में यह लोग उसी सम्मान और धन्यवाद के अधिकारी होंगे ज़िसके कि वह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सुधारों में हैं। बम्बई और कलकत्ता जैसे शहरों में स्वदेशी आन्दोलन बड़े जोरों के साथ किया जा रहा है मगर हमको उससे कई गुना ज़्यादा खुशी इस बात पर होती है कि हमारे सोये हुए सूबे

में भी इस तरह की कमज़ोर आवाज़ें कभी-कभी सुनायी दे जाती हैं। हमको यकीन है कि इस साल बनारस में कांग्रेस के अधिवेशन का होना बनारस व लखनऊ व कानपुर के व्यापार के लिए बहुत अच्छा साबित होगा। मगर केवल पढ़े-लिखे लोगों के संरक्षण और सहानुभूति से हमारे व्यापार को भी यथेच्छ उन्नति नहीं हो सकती जब तक कि आबादी का वह बड़ा हिस्सा भी जो मुल्की और कौमी मामलों की तरफ़ से बेख़बर है, इस अच्छे काम में हाथ न बटाये। पढ़े-लिखे लोगों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। उनकी रुचि और उनकी काल्पनिक आवश्यकताओं ने कुछ ऐसा रंग पकड़ लिया है, कि अभी उनको पूरा करने के लिए हमारे व्यापार को एक लम्बी अवधि दरकार है।

हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा देहातों में आबाद है, जिसमें बिना किसी अतिरंजना के निन्यानबे फ़ीसदी तो ऐसे हैं जो अलिफ़ बे के नाम भी नहीं जानते और जिनको शहर मे आने का बहुत कम इत्तफाक होता है। लिहाज़ा शहरों में स्वदेशी दुकानों का खुलना, चाहे वह कैसे ही अच्छे उसूलों पर क्यो न हों, व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुँचा सकता। ऐसी दशा में उचित है कि हमारे व्यापारी भी वही ढग अख्तियार करें जो अरसे से विलायतियों ने अख्तियार किया है।

पाठक जानते हैं कि देहाती किसानों की ज़्यादातर जरूरतें कर्ज़ लेकर पूरी हुआ करती हैं। अगर आज आप किसी किसान को पचास रुपये की चीज़ उधार दे दीजिए तो वह बिना यह सोचे कि मुझमें इस चीज़ के ख़रीदने की योग्यता है या नहीं फ़ौरन मोल ले लेता है और फिर किसी न किसी तरह रो-धोकर उसकी कीमत अदा करता है। विलायतियों ने देहातियो के इस स्वभाव को बखूबी समझ लिया है। चुनाचे वह जत्थे के जत्थे आते हैं, शहरों मे विदेशी और रद्दी माल सस्ते दामों पर खरीदते हैं और तब गाँव में जाकर किसी एक मोतबर आदमी की ज़मानत पर किसानों के हाथ सौदा बेचते हैं। किसान अपनी माली हालत से बिलकुल बेख़बर होता है। उसमें दूरदर्शिता नहीं होती। झुंड-के-झुंड कपड़े खरीदने को टूट पड़ते हैं। आजकल अगर आप किसी गाँव में निकल जाइए तो बजाय इसके कि लोग गजी-गाढ़े पहने हुए नज़र आयें कोई तो इटली की बनी हुई बनियाइन पहने हुए दिखायी देता है, कोई अमरीका की बनी हुई चादर। वही चीज़ जो बाज़ार मे मारी-मारी फिरती है, देहात में जाकर हाथों हाथ बिक जाती है और यह इसी वजह से कि किसानों को ख़रीदते वक़्त दाम नहीं देना पड़ता। इन विलायतियों ने कितने ही जुलाहों को तबाह कर डाला और जुलाहो की तबाही से पूर्वी सूत की माँग जाती रही। इस तरह देशी रुई को मजबूरन इंगलिस्तान की खुशामद करना पड़ी।

हमारे देशी व्यापारियों को वह दिक्कतें हरगिज़ नहीं पेश आ सकतीं जो विलायतियों को पेश आती हैं। उनको सैकड़ों कोस की मंज़िल तय करना पड़ता है, गाँव में प्रभाव रखने वाले लोगों का सहारा ढूँढ़ना पड़ता है और कभी-कभी कीमत की वसूली से हाथ धोना पड़ता है। देशी व्यापारियों को इन कठिनाइयों के बदले में सिर्फ़ इतना करना है कि गाँव में मोतबर एजेण्टों को रवाना करें, उनको उधार

माल बेचने की इजाज़त दे और जहाँ तक हो कम मुनाफ़ा ले। देहाती आमतौर पर ईमानदार होते हैं, सौदा ले लिया तो उसकी क़ीमत अदा करने में गड़बड़ी नहीं करते। अगर खुदा न ख़्वास्ता उनका ईमान ज़रा डगमगाया भी तो वह डरपोक ऐसे होते हैं कि दो-चार धमकियों में सीधे रास्ते पर आ जाते हैं। हमने देखा है कि विलायतियों को दाम वसूल करने में बहुत कम दिक़्क़त होती है। बेचारा किसान सूद पर क़र्ज़ लाता है और निश्चित समय पर चीज़ की क़ीमत अदा करता है। जब विलायतियों को वसूली में कोई दिक़्क़त नही होती तो कोई वजह नहीं कि हमारे देशी एजेण्टो को इस काम में कोई दिक़्क़त हो। बस जाड़े में चीज़ दे आये, उसकी क़ीमत फ़सल तैयार होने पर वसूल कर ली। और गर्मी में जो माल बेचा, उसकी क़ीमत ऊख पेरने के वक़्त वसूल कर ली, न कोई ठकठक न कोई बखेड़ा। व्यापार का यह ढंग उससे कहीं ज़्यादा लाभदायक और देशभक्तिपूर्ण है जिसको हुण्डी कहते हैं। बनारस, मिर्ज़ापुर, इलाहाबाद वग़ैरह शहरों में हुण्डी का आम रिवाज है। इसका तरीक़ा यह है कि हर एक गाँव में महाजन की तरफ़ से कुछ लोग नौकर होते हैं। उनका काम यह है कि देहातियों को रुपया क़र्ज़ दें और उनसे एक निश्चित अवधि के भीतर एक का सवाया वसूल कर ले। व्यापार के इस ढंग से चाहे महाजन को फ़ायदा हो, मुल्क या क़ौम को सरासर नुकसान होता है। क्योंकि बेचारे किसान को दोनो तरफ़ से नुक़सान उठाना पड़ता है। उधर तो मुग़ल सौदागरों को एक का डेढ़ दिया और इधर अपने महाजनों को एक का सवाया देना पड़ा। बेचारे की छोटी-सी आमदनी महाजनों ही भर को हो गयी।

–ज़माना, जून 1905

(उर्दू में : 'ज़माना', जून, 1905)

(हिन्दी में : 'विविध-प्रसंग'– 1 जुलाई, 1962)

हिन्दू सभ्यता और लोक-हित

इसमे कोई सन्देह नही है कि ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता से जिन्दगी की खुशिया और सासारिक सुख सुविधाओ मे बहुत कुछ वृद्धि हुई है और इन सुख सुविधाओ का शुक्रिया दुनिया काफी तौर पर जबान से नही अदा कर सकती। शिक्षा, शारीरिक रोगो का उपचार अनाथो की सहायता इत्यादि कामो को पश्चिमी सभ्यता ने जोर पहुँचाया है, इससे कोई सच्चाई पसन्द आदमी इनकार नही कर सकता। मगर जब यह कहा जाता है कि ईसाई धर्म के अवतरित होने से पहले यह सारी बाते हरेक दूसरे मजहब मे गायब थी या नाममात्र के लिए थी तो यह जरूरी मालूम होता है कि इस गलत ख्याल को उचित और प्रामाणिक वृत्तान्तो और युक्तियो से काटा जाये। भौतिक सुख सुविधाओ और ऐश्वर्य की दृष्टि से हिन्दुओ की प्राचीन सभ्यता का पल्ला सम्भव है हल्का दिखाई पडे। मगर आध्यात्मिक और नैतिक सम्पदाओ और आत्मोत्सर्ग तथा सहानुभूति की प्रेरणाओ की दृष्टि से हिन्दू कोम जिस शिखर पर पहुँच गयी थी वहाँ तक कोई पश्चिमी कौम नही पहुँच सकी और न उसके वर्तमान रग ढग से यह आशा की जा सकती है कि वह भविष्य मे भी इस शानदार सफलता के नजदीक पहुँच सकेगी। वह ईसाई कौम जो बेजबान और बेकम जानवरो के मारने को जिन्दगी की जरूरतो मे दाखिल समझती है, जिसमे कम-से कम पचानबे आदमियो की खुराक गोश्त है, जिस पश्चिमी कौम ने पशुओ की कितनी ही जातियो को दुनिया के पर्दे से मिटा दिया और जो अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमरीका मे हब्शियो के साथ ऐसी कायरो-जेसी क्रूरता से पेश आ रही है वह अपनी बाजू की कूवत, अपनी ताकत और अन्य भौतिक उपलब्धियो पर चाहे जितना घमण्ड करे, मगर जब वह इतने पर सतोष न करके बुलन्द आवाज से पुकारती है कि अस्पताल, मदरसे, जानवरो के अस्पताल वगेरह ईसाई सभ्यता के आने के वाद अस्तित्व मे आये तो वह तथ्यो के घेरे से बाहर हो जाती है। भौतिकता पश्चिमी सभ्यता की आत्मा है। अपनी जरूरतो की बढाना और सुख-सुविधाओ के लिए आविष्कार इत्यादि करना, अपने नफे के लिए दूसरो के जान-माल की परवाह न करना–यह पश्चिमी सभ्यता की विशेषताएँ हैं। जीवन के हर क्षेत्र मे व्यापार के नियम को लागू करना और नफे या नुकसान के खयाल को एक क्षण के लिए भी आँख से ओझल न होने देना यह पश्चिमी सभ्यता के लक्षण हैं। यह सभ्यता स्वार्थ और लाभ को एक क्षण के लिए भी भूल नही सकती।

अगर वह कभी उदारता करती है तो उसकी उदारता अलिफ़ लैला के उस देव जैसी उदारता होती है जो आदमियों को पकड़कर क़ैद करता और बादाम खिलाता था ताकि उनके शरीर पर गोश्त चढ़े और वह गोश्त ज़्यादा मजेदार और मात्रा से अधिक हो। मगर हिन्दुओं ने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों को सांसारिकता से दूर रखकर केवल नैतिकता और आध्यात्मिकता के आधार पर जन साधारण की समृद्धि, लोकहित और मानव कष्टों और आपदाओं को दूर करने में जितनी सफलताएँ प्राप्त की थीं उन्हें आज की पश्चिमी सभ्यता ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकती है। इन कोशिशों में हम ज़रूरत से ज़्यादा लग गये। नैतिक बन्धनों की पाबन्दियों में अपने व्यक्ति और स्वार्थ की परवाह न की और इन्हीं कारणों ने हमको दुर्बल और दरिद्र बना दिया। वहाँ हम जहाँ कहीं चूके हैं, सच्चाई की दिशा में चूके हैं। हम आज उस दरिद्र व्यक्ति के समान हैं जिसने अपनी सारी सम्पदा अच्छे कामों में ख़र्च कर दी हो। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि पर हम आपत्ति कर सकते हैं मगर उसके ऊँचे आदर्श, उसकी दानशीलता, उसके आत्मोत्सर्ग और उसके चारित्रिक साहस से इनकार नहीं कर सकते। लेकिन पश्चिम के विद्वानों और इतिहासकारों की दृष्टि की संकीर्णता और अनुचित राष्ट्र-गौरव उन्हें यह नहीं स्वीकार करने देता कि प्राचीन काल में हिन्दुओं ने मनुष्य और पशु दोनों ही के शारीरिक कष्टों को दूर करने और उनके साथ सहानुभूति का बर्ताव करने में दुनिया के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। हाल की एक अँग्रेजी पुस्तक में जो योरप में बहुत पसन्द की गयी है विद्वान लेखक लिखता है, 'यह ख़याल रखना चाहिए कि हिन्दोस्तान के शानदार धार्मिक सम्प्रदाय, चाहे वह हिन्दू हों या बौद्ध या मुसलमान, उन्हें इन परोपकारी, उदार और सहानुभूतिशील कार्यों का बिलकुल पता न था जो ईसाइयत की अपनी विशेषता हैं। उनके चिकित्सालय, अनाथालय और औषधालय कहाँ हैं ? कोढ़ के मरीज़ों, अंधों, गूँगों और बहरों के लिए घर कहाँ हैं ? इन धर्मों की समाज-व्यवस्था में इन चीज़ो को दख़ल नहीं है।' इसी तरह एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में जो एक जानी मानी प्रामाणिक पुस्तक है और जो इस बात का दावा करती है कि वह योरोपियनों की जानकारी का भण्डार है, उसमें भी इन्हीं विचारों को व्यक्त किया गया है—'सम्भव है कि प्राचीनकाल में यात्रियों और पर्यटकों की सुविधा के लिए सरायें बनायी जाती हो लेकिन इस बात में सन्देह है कि उस ज़माने में रोगियों के कष्ट दूर करने के लिए ऐसे ख़ैराती अस्पताल भी थे और ईसाई मज़हब के साथ-साथ दिखायी दिये।' इन दो उद्धरणों से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी कि इस बारे में योरोपियन विद्वानों के क्या विचार हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि धन-सम्पदा के अंतिम शिखर तक पहुँची हुई योरोपियन क़ौमें किसी दूसरी क़ौम की, जिसे अब वह नीची दृष्टि से देख रही है, प्राचीन महत्ता को स्वीकार न करें और इस ख़याल में डूबे रहें कि दुनिया में जो कुछ शिक्षा और संस्कृति, रोशनी और तरक़्क़ी है वह सब उन्हीं के प्रयत्नों का फल है। इसलिए उनसे इस बारे में निष्पक्ष होकर न्याय कर सकने की आशा करना व्यर्थ है। मगर ऐसा होता है कि हम भी योरोपियन दावों को अपने

अज्ञान के कारण आँख बन्द करके स्वीकार कर लेते हैं और इस तरह अपनी कौम के पुराने कारनामों और मौजूदा खूबियों पर ठीक से कोई राय क़ायम नहीं करते बल्कि खुद अपने आपको धिक्कारने लगते हैं। नीचे की पंक्तियों में पाठकों के सामने वह प्रमाण प्रस्तुत किये जायंगे जिनसे इस योरोपियन दावे का खण्डन होता है और जिनसे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि वह तमाम साधन और योजनाएँ जो कि ईसाइयों की उदारता के कारण योरप में दिखायी दे रही हैं वह ईसाई धर्म के जन्म से हज़ारों वर्ष पहले हिन्दोस्तान में भी किसी न किसी सूरत में मौजूद थीं और हिन्दू संस्कृति का एक आवश्यक अंग समझी जाती थीं। यह प्रमाण हम ज़्यादातर सीलोन के इतिहास से लेंगे जिसने न सिर्फ हिन्दू सभ्यता को ग्रहण कर लिया था बल्कि उसको खूब उजागर भी किया था। यह बात आँख के सामने रखनी चाहिए कि योरप में लोकहित की यह योजनाएँ, बावजूद इसके कि बाइबिल में ग़रीबो की मदद और अनाथों की सहायता पर विशेष रूप से ज़ोर दिया गया है, दसवीं सदी के पहले बिलकुल ग़ायब थीं। सोलहवीं सदी तक यह काम धार्मिक सस्थाओं के हाथ में रहा और इस वक़्त तक उसमें कुछ ज़्यादा तरक़्क़ी न हुई। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में योरप ने इन साधनों को इकट्ठा करने में जो आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय प्रयत्न किये हैं वह धार्मिकता के प्रभाव से नहीं बल्कि साधारण सभ्यता के प्रभाव से और यही वजह है कि पादरियों और वैरागियों के हाथ में इस काम को उन्नति नहीं प्राप्त हुई।

सीलोन का इतिहास प्रमाण देता है कि अकाल और सूखे से पैदा होनेवाली तकलीफ़ों को दूर करने के लिए वहाँ पुराने ज़माने में बहुत बड़े पैमाने पर इन्तज़ाम किये गये थे। इसके बारे में अभी स्पष्ट और सबल ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं। और इस बात को स्वीकार करने में कुछ कहने-सुनने के लिए स्थान नहीं है कि इस अच्छे काम में हिन्दुओं ने जो व्यवस्थाएँ की थीं वह पश्चिमी उदारता की कल्पना से भी बाहर हैं। हज़ारों झीलें, हज़ारों तालाब बीस से पचास मील तक के घेरे में बनाये गये थे जिनमें इतना पानी भरा रहता था कि अगर लगातार कई साल तक बारिश न हो तब भी मुसीबत का सामना न करना पड़े। यह कोशिश की जाती थी कि आसमान से जितना पानी ज़मीन पर आये उसकी एक बूँद भी बेकार समुद्र में न जाने पाये। सब पानी ज़मीन पर कृत्रिम साधनों से रोक लिया जाता था, और यह सारी कोशिशें धर्म के लोकहितकारी पक्ष का परिणाम थीं। आजकल की पश्चिमी क़ौमों की तरह वह लोग इन नेक कामों को इज़ाफ़ा लगान या किसी और व्यावसायिक विचार के साथ लपेटते न थे। सीलोन का प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर टेंट सीलोन के अपने इतिहास में लिखता है कि "सीलोन के अगले बादशाहों ने सिंचाई के लिए ऐसे बड़े और इतने ज़्यादा तालाब बनवाये थे कि आज उन पर विश्वास करना कठिन है।" आनरेबुल जार्ज टर्नर ने जो सीलोन सिविल सर्विस में एक ऊँचे ओहदे पर थे, सीलौन का एक बहुमूल्य इतिहास लिखा है। वह कहते हैं, "सीलोन के बादशाहों ने पानी के ऐसे बड़े-बड़े ख़ज़ाने और सिंचाई के ऐसे विस्तृत साधन एकत्रित किये

थे कि यद्यपि अव वह बहुत बुरी हालत में पड़े हुए हैं, मगर उनकी लम्बाई-चौड़ाई और घेरा देखकर योरोपियन पर्यटक आश्चर्य से दाँतो तले उँगली दबाते हैं। और इतना ही नही, परती ज़मीन को खेती के क़ाबिल बनाने और कृषि को उन्नत करने में भी उन्होंने आश्चर्यजनक प्रयत्न किये थे और यह समस्त पवित्र कार्य धर्म की प्रेरणा पर आधारित था।" हिन्दू धर्म ने लोकमंगल और आचार की सस्कृति, यथार्थ और परमार्थ दोनों का ऐसा समन्वय कर दिया है कि एक क़दम आगे बढ़ाना और दूसरे पहलू को नजर से ओझल कर देना नामुमकिन है। मिस्टर टेंट कहते हैं, "कालावापी तालाब के खंडहर साबित करते हैं कि उसका घेरा चालीस मील से किसी तरह कम न होगा। बारह मील लम्बा तो सिर्फ़ बाँध था। यह झील राजा धातुसेन ने चौथी सदी में बनवायी थी।' सिंहली इतिहास 'राज-रत्नाकर' में इतिहासकार लिखता है कि राजा महासेन ने 'मनहरी' नाम की झील बनवायी। उसके पानी से बीस हज़ार धान के खेतों की सिंचाई होती थी। सीलान में चावल की पैदावार बढ़ाने के लिए इस राजा ने गुलगामी, सालूरा, कांला, महामन्या, सोकूरम, रतमल, कादू और इनके अलावा पच्चीस और बड़े-बड़े तालाब बनवाये।" गरज यह कि सिंचाई के साधन जुटाने में हिन्दुओं की उदारता ने जो प्रयत्न किये और जो नतीजे हासिल किये उनकी मिसाल दुनिया के किसी दूसरे हिस्से में मिलनी कठिन है। मिस्टर टेंट कहते हैं, "राजा पराक्रमबाहु ने खेती को बहुत लाभ पहुँचाया। उसने एक हज़ार चार सौ सत्तर तालाब सीलोन के विभिन्न भागों में बनवाये जिनमें से तीन इतने बड़े थे कि उन्हें पराक्रम-सागर के नाम से याद करते थे। उसने तीन सौ तालाब सिर्फ़ साधु-सन्तों के लिए बनवाये। इनके अलावा नदियों को बाँधकर उसने छोटी-बड़ी पाँच सौ चौंतीस नहरें निकालीं और तीन हज़ार चार सौ इक्कीस पुराने तालाबों की मरम्मत करवायी।' ऐसे निर्माणों की यह संख्या वास्तव में आश्चर्यजनक है।" इससे उन सुन्दर प्रयत्नों का अन्दाज़ा किया जा सकता है जो सीलोन के हिन्दू राजाओं ने बारहवीं सदी में खेती को उन्नत करने के लिए किये थे। कितनी आबादी को इन साधनों से लाभ पहुँचता था और कितनी ज़मीन की सिंचाई इससे होती थी, इसका अन्दाज़ा करना मुश्किल है। हज़ारों झीलें अब भी इस्तेमाल में आ रही हैं हालाँकि वह टूट-फूट गयी हैं और बेमरम्मत हैं। टूटी-फूटी झीलों की संख्या कहीं ज़्यादा है। जहाँ किसी ज़माने में सुनहरी खेती लहराती थी वहाँ अब घना जंगल है और पाँच हज़ार से ज़्यादा तालाब सूखे पड़े हैं।

आनरेबुल एलफ्रेड डीकन जो आस्ट्रेलियन कामनवेल्थ के प्रधानमंत्री थे, और हिन्दोस्तान में सिंचाई के साधनों की जाँच-पड़ताल के लिए तशरीफ लाये थे, अपनी किताब 'हिंदोस्तान की आबपाशी' में जो सन् 1893 में प्रकाशित हुई थी कहते हैं कि "सीलोन में सिंचाई का रिवाज हज़ारों वर्ष से है और ऐसे लम्बे-चौड़े पैमाने पर कि इस द्वीप की लम्बाई-चौड़ाई और पानी इकट्ठा करने की दिक़्क़त के लिहाज़ से सचमुच उस पर अचंभा होता है। इन झीलों को बनाने में जिस मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया गया है और इन झीलों की कल्पनातीत लम्बाई-चौड़ाई आज के

इंजीनियरों के लिए एक न सुलझनेवाली गुत्थी है।" जब यह कोशिशें सीलोन मे इस दर्जे पर पहुँची हुई थीं तो कोई अजब नहीं कि बकौल मिस्टर डीकन, "मद्रास के सूबे में कुओं के अलावा साठ हज़ार से ज्यादा तालाब और पानी के ख़ज़ाने हैं, जहाँ बारिश का पानी गर्मी के मौसम की ज़रूरतों के लिए जमा किया जाता था। उनकी लम्बाई-चौड़ाई अलग-अलग है और अन्दाज़ा किया गया है कि अगर सूबे भर के तालाबों के बाँध एक क़तार में खड़े कर दिये जायें तो वह धरती के घेरे के चारों तरफ छः फुट ऊँची दीवार बनाने के बाद आधे बाकी रह जायेंगे।" इन आश्चर्यों के स्रोत हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास थे। इन विश्वसनीय प्रमाणों से पाठकों के समक्ष यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गयी होगी कि सिंचाई के लिए नहरें बनाने और तालाब बनवाने मे हिन्दुओं ने कैसी शानदार व्यवस्था से काम लिया था। मगर हमारा अभिप्राय इन निर्माणो की विशालता और संख्या पर जोर देना या हिन्दुओं की इंजीनियरी या निर्माण कला की प्रशंसा करना नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल यह दिखलाना है कि हिन्दू धर्म ने सिंचाई और कृषि को भी ,पश्चिमी सभ्यता के विपरीत, अपने लोक-हितकारी कार्यक्रम का एक ज़रूरी अंग समझ लिया था। और है भी ऐसा ही क्योंकि फ़ाक़ाकशी और भूख के मर्ज़ से ज़्यादा तकलीफ़देह और कोई मर्ज़ नहीं होता।

हिन्दुओं की उदारता केवल सिंचाई तक सीमित न थी। शारीरिक रोगों के उपचार के लिए भी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, हिन्दुओं ने उसी व्यापक सहानुभूति और असीम प्रेम से काम लिया था। राजा चन्द्रगुप्त के ज़मारन में जब कि बौद्ध धर्म अपने शैशव में था और हिन्दोस्तान व सीलोन दोनों ही मे ब्राह्मण धर्म का ज़ोर था, चिकित्सालयों के स्थापित होने का प्रमाण मिलता है। राजा चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य एक बड़ा विलक्षण पण्डित था। उसने एक मोटी पोथी 'अर्थशास्त्र' के नाम से लिखी है, जिसमें उसने राजा चन्द्रगुप्त के राज्यकाल की व्यवस्थाओं और प्रबन्ध, कायदे और क़ानून, संस्कृति और जीवन-प्रणाली और देश की सामान्य अवस्था का विस्तार के साथ विवेचन किया है। इस पुस्तक से उस युग के घटाटोप अँधेरे पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। वह शहरों की आबादी के बारे में निर्देश करते हुए लिखता है–

"उत्तर की तरफ़ लुहार, बढ़ई, संगतराश और ब्राह्मणों को आबाद करना चाहिए। पश्चिम की तरफ़ जुलाहे, सूत कातनेवाले, बाँस की चटाइयाँ बनानेवाले, चमड़ा बनानेवाले, हथियार बनानेवाले और शूद्र आबाद किये जायें। दक्षिण की तरफ़ शहर के प्रबन्धकर्ता, कारबार और व्यापार करनेवाले, शराब और गोश्त का रोज़गार करनेवाले, नाच-गानेवाले और वैश्यों के मकान बनाये जायें। पूरब की तरफ़ इत्रफ़रोश, ग़ल्ला बेचनवाले और क्षत्रिय वर्ण के लोग आबाद हों। दक्षिण-पूर्व की तरफ़ ख़ज़ाना, हिसाब-किताब के दफ्तर और कारख़ाने बनाये जायें। उत्तर-पश्चिम की तरफ़ दुकानें और अस्पताल क़ायम किये जायें। उत्तर-पूरब की तरफ़ गौशाले और अस्तबल वग़ैरह बनाये जायें।"

इस उद्धरण से सिद्ध हो जाता है कि इस प्राचीनकाल में हिन्दू क़ौम सामाजिक जीवन के किस ऊँचे शिखर पर पहुँची हुई थी और स्वास्थ्यरक्षा के सिद्धान्तों का किस बुद्धिमत्ता से पालन किया जाता था। और चिकित्सालयों के स्थापित होने का एक ऐसा शक्तिशाली प्रमाण मिल जाता है जिसका खंडन नहीं किया जा सकता। मानों चिकित्सालय हर एक आबादी के आवश्यक अंग समझे जाते थे। ऐसे प्रमाणों के होते हुए भी योरप में यह ख़याल फैला हुआ है कि चिकित्सालय पश्चिमी सभ्यता के परिणाम हैं और लॉर्ड कर्ज़न जैसे जानकार व्यक्ति ने अपने एक भाषण में जो उन्होंने ग्लासगो यूनिवर्सिटी के रेक्टर की हैसियत से हाल में दिया है, कहा कि, "ग़ैर-ईसाई धर्म जनता की भलाई की ऊँची भावनाओं से अपरिचित थे।" इसे देखनेवाले की दृष्टि की संकीर्णता और राष्ट्रीय द्वेष के अलावा और क्या कहा जा सकता है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं सीलोन अपनी सभ्यता के स्तर के लिए हमेशा हिन्दोस्तान पर आश्रित रहा। चन्द्रगुप्त ईसा से लगभग पाँच सौ बरस पहले के विद्वान चाणक्य ने साफ़ बतला दिया है कि उस समय हिन्दोस्तान में चिकित्सालयों का आम रिवाज़ था। इस ज़माने में सीलोन में भी अस्पतालों के क़ायम होने का सबूत मिलता है। महावंश के दसवें अध्याय में, जो सीलोन के प्राचीन युगों का एक प्रामाणिक इतिहास है, सिहली इतिहासकार राजा पण्डूक भाई के राज्यकाल का ज़िक्र करते हुए लिखता है, "राजा ने पाँच सौ चाण्डाल (यानी मेहतर) शहर की सफ़ाई के लिये नियुक्त किये। डेढ़ सौ चाण्डाल लावारिसों की लाश उठाने के लिए और इतने ही आदमी चिताओं की निगरानी और सफ़ाई के लिए नियुक्त किये। विभिन्न धर्मों के माननेवालों की सुविधा के लिए पाँच सौ मकान बनवाये और इसी तरह और भी कई जगहों मे राजा ने अनेक धर्मशाले और चिकित्सालय बनवाये।"

यह तो ईसा से पाँच सौ बरस पहले की बात हुई और इस वक़्त हिन्दू क़ौम पतन की ओर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने गिरती हुई दीवार को सम्हाला। महाराज अशोक के ज़माने में बौद्ध धर्म ने बड़ी तेज़ी से क़दम बढ़ाया और धर्म के साथ-साथ जनता की भलाई के साधन भी बढ़ते गये। अशोक के अभिलेख नं. 2 और 13 से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि, "महाराज अशोक की निगरानी में और उनकी आज्ञा से हिन्दोस्तान, सीलोन, हिन्दोस्तान के उत्तरी और पश्चिमी सीमाप्रान्त, पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के देशों में जहाँ के सम्राटों से महाराज अशोक के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे, आदमियों और जानवरों दोनों ही की तकलीफ़ें दूर करने के लिए औषधालय और चिकित्सालय बनवाये गये। आदमियों और जानवरों दोनों ही को लाभ पहुँचानेवाली बूटियाँ दूसरी-दूसरी जगहों से मँगाकर लगाई गयीं और सड़कों पर मुसाफ़िरों और जानवरों की सुविधा के लिए कुएँ और बावलियाँ बनवायी गयीं और पेड़ लगा दिये गये।"

महाराज अशोक के ज़माने में सीलोन के राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और तब से तेरहवीं शताब्दी तक चिकित्सालयों का निर्माण, सड़कों की सफ़ाई

और मरम्मत, अपाहिज़ों की देख-भाल और दूसरे ऐसे ही लोकहितकारी कार्यों की तरफ़ उत्साह और संकल्प की कमी नहीं रही और मुफ्त और सबको मिलनेवाली शिक्षा की ऐसी चर्चा रही कि कोई बौद्ध मन्दिर ऐसा न था जहाँ पाठशाला न हो। आज भी बर्मा और सीलोन में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या हिन्दोस्तान के मुक़ाबिले में बहुत ज़्यादा है। इन बातों के बहुत से लिखित और प्रामाणिक साक्ष्य मिलते हैं। हम उनमें से कुछ पाठकों के सामने पेश करते हैं :

1. राजा बुद्धदास ने (सन् 341 से लेकर 363 ई.) सिंहल द्वीप के रहनेवालों पर कृपा-दृष्टि करके अनेक चिकित्सालय स्थापित किये और हरेक गाँव के लिए वैद्य नियुक्त किये।

2. राजा द्रुतगामिनी ने (161 से लेकर 137 ई. पू.) अठारह स्थानों पर चिकित्सालय बनवाये जहाँ मरीज़ों के भोजन का प्रबन्ध भी किया जाता था।

3. राजा अपातीसू ने (368 से 410 ई.) गर्भवती स्त्रियो, अन्धों और अपाहिजों के लिए अस्पताल बनवाये।

4. राजा धातुसेन ने (459 ई.) अपाहिज़ों के लिए अस्पताल बनवाये।

5. राजा दिकपोला द्वितीय ने (795 ई.) अस्पताल बनवाये और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए एक विद्यालय स्थापित किया।

6. राजा दिकपोला तृतीय ने (843 ई.) लँगड़े और अन्धे आदमियों के लिए विभिन्न स्थानों पर चिकित्सालय बनवाये।

7. राजा कस्सप चतुर्थ ने शहर में महामारियों के लिए दवाख़ाने खुलवाये।

8. राजा महिन्दा चतुर्थ ने (991 ई.) ख़ैरातख़ाने और ग़रीबों के लिए घर बनवाये। उसने कुल अस्पतालों में दवाओं और पलंग का प्रबन्ध किया।

9. राजा पराक्रमबाहु ने (1164 से 1197 ई०) एक स्वास्थ्य-गृह बनवाया जिसमे कई सौ रोगी रह सकते थे। हर एक रोगी की परिचर्या के लिए एक दाई और एक नौकर तैनात किया जो उसे ज़रूरी खाना दें और दवाएँ पिलायें। वहाँ उसने एक भंडारघर भी बनवाया जहाँ ग़ल्ला और तरह-तरह की दवाएँ और रोगों की चिकित्सा से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य चीज़ें इकट्ठा की जाती थीं। उसने उन पण्डितों और विद्वानों के लिए जीविका का प्रबन्ध किया जो रोगों के कारण और रहस्यों की छानबीन करते थे।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों के सामने कौन न्यायप्रेमी व्यक्ति कह सकता है कि ईसाई धर्म के अस्तित्व में आने से पहले हिन्दू और बौद्ध धर्मों में मनुष्यों और मूक पशुओं के कष्टों को दूर करने का एक ऊँचा मानदण्ड नहीं स्थापित हुआ था। इसके विपरीत, कदाचित् यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस उत्साह और पवित्र भावना से इस ज़माने में यह नेक और अच्छा काम किया जाता था, वह आजकल के ऐसे ही कामों में नहीं पाया जाता और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं हिन्दुओं की उदारता का स्रोत उनका धार्मिक विश्वास था। ईश्वर ने हम सबको पैदा किया, हम

सब भाई हैं, हमारा कर्त्तव्य है कि अपनी शक्तिभर अपने भाई की सहायता करें–यह भावना और यह विश्वास था जो हिन्दू क़ौम के दिलों में एक स्पष्ट जीता-जागता रूप लेकर उन्हें उदारता के अच्छे-से-अच्छे और ऊँचे-से-ऊँचे मानदण्ड की ओर ले जाता था। पश्चिमी क़ौमों के उदार प्रयत्नों में यह धार्मिक उत्साह शायद ही कहीं देखने को मिलता है। वह इन कामों में भी क़ौमी, पोलिटिकल और व्यावसायिक स्वार्थ छिपाये रहते हैं। वह पश्चिमी सभ्यता जो गर्भवती स्त्रियों और छोटी उम्र के लड़कों को जीविका-निर्वाह के लिए विवश करती है, जहाँ विधवाओं और अनाथों के लिए अनाथालयों के सिवाय और कोई ठिकाना नहीं, वह पश्चिमी सभ्यता जहाँ मालिक मज़दूर के हक़ हड़पकर जाने की ताक़ में बैठा रहता है और मज़दूर इस ताक में रहता है कि मालिक की जेब से रुपया निकाल लूँ, वह सभ्यता जो धर्म के प्रचार को राजनीतिक उद्देश्यों का साधन बनाती है और जहाँ मिशनरी हमेशा विजेता का झण्डाबरदार साबित होता है, वह हिन्दू या बौद्ध धर्म को कभी रास्ता नहीं दिखा सकती। देशों को जीत लेना और चीज़ है, ऊँची सभ्यता और चीज़ है। इटली ने निम्न स्तर की सभ्यता रखते हुए यूनान को जीत लिया जो उस ज़माने में सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ था। सभ्यता और हिंस्र भावनाओ का बैर है। बर्बर क़ौमें सभ्य क़ौमों के मुक़ाबले में ज़्यादा लड़ाकू और जान पर खेलनेवाली होती हैं। पश्चिमी सभ्यता में सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि उसने बर्बर क़ौमों की विशेषताओं को सभ्यता के गंभीर प्रभावों से बचाये रक्खा! खुलासा यह कि हिन्दोस्तानी सभ्यता की इमारत धर्म और नेकी की बुनियाद पर थी और पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद लाभ, ईर्ष्या और ऐश्वर्य पर है। यह पवित्र दृश्य हिन्दोस्तान के सिवा और कहाँ दिखायी पड़ता है कि अगर एक घर में दस विधवाएँ हैं तो दसों इज़्ज़त के साथ ज़िन्दगी बसर करती हैं। सम्भव है हिन्दुओं ने सभ्यता का यह मानदण्ड स्थापित करने में बहुत-सी भूलें की हों और ज़रूर कीं मगर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उनके पीछे उदारता की ऊँची भावना थी और ईसाइयों का उपरोक्त कथन बिलकुल झूठ है।

(उर्दू में : 'ज़माना', मार्च, 1912)
(हिन्दी में : 'विविध-प्रसंग'–1] जुलाई, 1962)

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

हिन्दी भाषा के कवियों में बाबू हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। यह ठीक है कि उन्हें तुलसी, सूर, बिहारी या केशव की सी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई मगर इसका कारण यह नहीं कि वे योग्यता मे इन कवियो से घटकर थे। मगर हरिश्चन्द्र ने हर रंग की कविता की। वह काव्य-प्रतिभा जो किसी एक रंग को बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकती थी, बिखर गयी। इसलिए ये कवि ऊँचाई और गंभीरता में यद्यपि हरिश्चन्द्र से बढ़े हुए हैं मगर काव्य-विस्तार की दृष्टि से हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनको गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था। गद्य में तो उन्हे मार्गदर्शक का स्थान प्राप्त है। उनके पहले राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी गद्य में ख्याति पायी थी मगर राजा लक्ष्मण सिंह की योग्यता अधिकतर अनुवादों में खर्च हुई और राजा शिवप्रसाद की हिन्दी मे उर्दू शब्द बड़ी सख्या में रहते थे। शुद्ध हिन्दी की नींव भारतेन्दु ही के क़लम ने डाली और उस ज़माने से अब तक हिन्दी गद्य ने बहुत कुछ तरक़्क़ी हासिल कर ली है मगर आज भी हरिश्चन्द्र के हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता, चुलबुलापन और शुद्धता प्रशंसनीय है। उनकी सबसे अधिक स्मरणीय और स्थायी साहित्यिक पूँजी उनके नाटक हैं। इस मैदान में कोई उनका प्रतियोगी नहीं। हिन्दी नाट्यकला के वे प्रवर्तक हैं। उनके पहले हिन्दी भाषा में नाटकों का अस्तित्व न था। राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास की 'शकुन्तला' का अनुवाद अवश्य किया था पर वह केवल अनुवाद था। मौलिक नाटक अप्राप्य थे। बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-बड़े अठारह नाटक लिखे जिनमें कुछ मौलिक और कुछ अनुवाद हैं। मौलिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' ऐसी किताबें हैं जो संसार की किसी भाषा का गौरव हो सकती है, और 'मुद्राराक्षस' यद्यपि एक संस्कृत नाटक का अनुवाद है तथापि उच्चकोटि की रचना के सारे गुणों से भरपूर। इस सारे साहित्यिक कृतित्व पर दृष्टि डालकर कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कवि हिन्दी भाषा में शायद ही दूसरा पैदा हुआ होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र एक नामवर बाप के बेटे थे। उनके पिता बाबू गोपाल चंद्र बनारस के एक जाने-माने रईस थे। वह 'गिरधर' उपनाम से कविता करते थे। नीति-परक विषयों पर लिखने में वह बेजोड़ थे। हरिश्चन्द्र ने धन-सम्पत्ति के साथ

काव्य-रचना की योग्यता भी उत्तराधिकार में पायी थी और यद्यपि सम्पत्ति उनके खुले हाथों में बहुत दिन न रही मगर काव्य-रचना के उत्तराधिकार में उन्होंने सपूत बेटे की तरह बहुत कुछ वृद्धि की। वह सम्वत् 1907 में पैदा हुए और कुछ दिनों घर पर हिन्दी और फ़ारसी पढ़ने के बाद वह क्वीन्स कॉलेज में दाख़िल हुए मगर यहाँ पढ़ाई का सिलसिला ज्यादा दिनों तक न चल सका। वह पाँच ही साल के थे कि उनकी माँ का देहान्त हो गया और सम्वत् 1917 में जब उनकी उम्र दस साल से ज़्यादा न थी, बाबू गोपाल चंद्र का देहान्त हो गया। इन कारणों से उनकी पढ़ाई ढंग से न हुई और छुटपन में ही गृहस्थी का बोझ भी सिर पर आ पड़ा। पढ़ने-लिखने में यूँ ही उनकी तबीयत न लगती थी, गृहस्थी एक बहाना हो गयी, पढ़ना छोड़ बैठे। मगर इसी उम्र में वह काव्य-रचना की प्रतिभा का प्रमाण दे चुके थे। यह गुण उनमें दैवी था। पाँच ही साल की उम्र में एक दोहा लिखकर अपने कवि पिता को आश्चर्य में डाल दिया था और जिस समय उन्होंने पढ़ना छोड़ा वह अपने काव्यमर्मज्ञ मित्रों के बीच काफ़ी ख्याति पा चुके थे। जीवन के आरंभिक वर्षों में उन्होंने विद्योपार्जन के प्रति बहुत उत्साह नहीं दिखलाया लेकिन अपनी दैवी बुद्धि से इस कमी को बहुत जल्द पूरा किया और हिन्दुस्तान की कुछ भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उनका अंग्रेजी ज्ञान बहुत अच्छा था। यह बात उनके 'दुर्लभ बन्धु' से प्रकट होती है जो शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, उर्दू, मैथिली इन सब भाषाओं में वह केवल अपने विचार ही प्रकट नहीं कर सकते थे बल्कि कविता भी कर सकते थे। इससे उनकी प्रखर बुद्धि का अंदाज़ा किया जा सकता है।

बाबू हरिश्चन्द्र का ख़ानदान बनारस के जाने-माने और पैसेवाले घरानों में था। उन्हें कई लाख की जायदाद उत्तराधिकार में मिली थी मगर उन्होंने धन-सम्पदा की परवाह करना न सीखा था। दोस्तों के आतिथ्य-सत्कार, विलासपूर्ण जीवन, ग़रीबों की मदद और कवियों की क़द्रदानी मे वह रुपया पानी की तरह बहाते थे। दीवाली के रोज़ तेल की जगह इत्र से दिये जलाते थे और सिर और शरीर में तो वह तेल के बदले आमतौर पर खूब महँगे इत्र मला करते थे।

कवियों की क़द्रदानी का यह हाल था कि एक-एक दोहे पर खुश होकर सैकड़ों रुपये इनाम दे देते। याचक को जवाब देना उन्होंने सीखा ही न था। जैसा कि दुनिया का क़ायदा है, ऐसे ख़र्चीले आदमियों की कमज़ोरी से फ़ायदा उठानेवाले भी ढेरों पैदा हो जाते हैं। बाबू हरिश्चन्द्र की दौलत उनकी नाज़बरदारियों में खूब ख़र्च होती थी। उनके इस ख़र्चीलेपन को देखकर एक बार महाराज बनारस ने उनसे कहा, "बाबूजी, घर देखकर काम करो।" इसका जवाब आपने दिया, "महाराज, यह दौलत मेरे कितने ही पुरखों को निगल गयी है, अब मैं इसे खा जाऊँगा।" इससे उनके स्वभाव की मस्ती का सबूत मिल सकता है।

भारतेन्दु बड़े रँगीले, बाँके, सुन्दर, सजीले आदमी थे। सौन्दर्य-प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। सुन्दरता खुद-ब-खुद उनकी आँखों में खुब जाती थी

और कवि में यह एक विशेष गुण है। चित्रों से उन्हें बड़ा प्रेम था। बड़ी तलाश और ख़र्च से उन्होंने एक अनूठा संग्रह एकत्र किया था मगर एक दोस्त को उनके प्रति बहुत अनुरक्त देखकर उन्हें दे डाला। सौन्दर्य की प्रशंसा और वर्णन से उनकी कविता भरी हुई है और साहित्य-रसिकों का विचार है कि इस रंग में उनकी तबीयत असाधारण ज़ोर दिखा गयी है। नाटकों को छोड़कर, उनका काव्य सौन्दर्य और प्रेम की भावनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक कवि चाहे उसने कैसी ही बहुमुखी प्रतिभा क्यों न पायी हो सिर्फ़ एक ही क्षेत्र में चोटी पर पहुँचता है। हरिश्चन्द्र ने करुणा, प्रेम, प्राकृतिक दृश्य, वीरता, वैराग्य, हास्य, नीति आदि सभी रंगों में अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। मगर वह घुलावट जो उनके सौन्दर्य-चित्रण में पैदा हो गयी है, दूसरे रंगों में अपेक्षाकृत कम है।

ज़िन्दादिली बाबू हरिश्चन्द्र का विशेष गुण थी और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती थी। साहित्य-रचना, देशप्रेम, सामाजिकता—इन सब कार्यों में उन्होंने आगे बढ़कर योग दिया। उन्होंने गद्य और पद्य की कई पत्रिकाएँ जारी कीं और नुक़सान उठाकर चलायीं। साहित्य के विकास के लिए एक संस्था स्थापित की। कुछ दिनों तक एक रीडिंग क्लब चलाया और चौखम्बे में एक अंग्रेज़ी स्कूल कायम किया। इसके ख़र्चे वह बारह साल तक खुद अदा करते रहे। उनका लगाया हुआ यह शिक्षा का पौधा अब एक ऊँचा-पूरा पेड हो गया है और विद्यार्थियों की संख्या चौगुनी हो गयी है। इन बातों से प्रकट होता है कि बाबू हरिश्चन्द्र जमाने की रफ़्तार से और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे। उनकी ज़िन्दादिली बहुधा चुहल और दिल्लगीबाज़ी में ख़र्च होती थी। होली के दिनों में उनके यहाँ अबीर और गुलाल का दरिया बहता था। वह खुद कमर में एक मोटा-सा कुण्डा बाँधे, मसख़रों का एक तूफ़ाने-बेतमीज़ी साथ लिये बड़ी आज़ादी से कबीरें गाते निकलते थे। इन दिनों में वह फक्कड़, स्वाग, नक़ल, फ़ोहश, किसी से बाज़ न आते थे। अप्रैल की पहली तारीख़ अंग्रेज़ों के यहाँ दिल्लगी का दिन है। आज के दिन हर किस्म का मज़ाक़ जायज़ है। बाबू हरिश्चन्द्र इस तारीख़ को शहरवालों के दिलबहलाव के लिए ज़रूर कोई-न-कोई गुल खिलाते थे। एक बार एलान कर दिया कि एक मशहूर उस्ताद हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ़्त गाना सुनायेंगे। जब हज़ारों आदमी जमा हो गये तो पर्दा खुला और एक आदमी मसख़रों का भेस बनाये, उल्टा तम्बूरा हाथ में लिये बरामद हुआ और बड़ी भोंड़ी आवाज़ में रेंकने लगा। लोग समझ गये कि भारतेन्दु ने यह शगूफ़ा खिलाया है। शर्मिन्दा होकर वापिस गये।

मगर इस आज़ादी और बेफ़िक्री के बावजूद उनके स्वभाव में संतोष भी बहुत था। वह अपनी कमज़ोरियों पर कभी-कभी लज्जित भी होते थे मगर नानी* ने हरिश्चन्द्र के स्वभाव को देखकर उनके छोटे भाई के नाम सारी ज़ायदाद का हिब्बेनामा कर दिया। हिब्बेनामे पर बाबू हरिश्चन्द्र के दस्तख़त बहुत ज़रूरी थे मगर जब यह

* बाबू हरिश्चन्द्र की ननिहाल बहुत धनाढ्य थी। बाबू हरिश्चन्द्र और उनके भाई इस जायदाद के उत्तराधिकारी थे।

काग़ज उनके सामने आया तो उन्होंने बेधड़क उस पर दस्तखत कर दिये और दो-ढाई लाख की जायदाद की जरा भी परवाह न की। यह उनकी उदारता और निस्पृहता का बहुत अनूठा उदाहरण है।

बाबू हरिश्चन्द्र का साहित्यिक जीवन बाक़ायदा तौर पर अठारहवे साल से शुरू हुआ और यद्यपि उन्होंने उम्र बहुत कम पायी, देहान्त हुआ तो उनकी उम्र सिर्फ़ छत्तीस साल थी, तो भी इन्हीं अठारह वर्षों में उन्होंने अपने क़लम से हिन्दी ज़बान को मालामाल कर दिया। उनकी रचनाएँ तीन हिस्सों में बाँटी जा सकती हैं–नाटक, कविताएँ और गद्य के विविध लेख। इनमें से हर एक की संक्षिप्त चर्चा करना ज़रूरी मालूम होता है।

बाबू हरिश्चन्द्र के नाम से सोलह सम्पूर्ण नाटक मिलते हैं मगर अधिकांश बहुत छोटे हैं जो कुछ ही पन्नों में ही ख़त्म हो गये हैं। इनमें अधिकांश संस्कृत नाटकों के अनुवाद या रूपान्तर हैं। मौलिक नाटकों की संख्या पाँच से अधिक नहीं। इनमे भी चंद्रावली, नीलदेवी और सत्य हरिश्चन्द्र के अलावा और किसी नाटक को ठीक अर्थों में नाटक नहीं कहा जा सकता। वैदिक हिंसा, अंधेर नगरी नाटक नही बल्कि राष्ट्रीय और सामाजिक प्रश्नों पर हास्य-व्यंग्यपूर्ण चुटकुले हैं जो बहुत लोकप्रिय हुए और बार-बार खेले गये। 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र की नैतिक और सांस्कृतिक दुर्बलताएँ बड़े प्रभावशाली, हास्यपूर्ण और कहीं-कहीं दर्दनाक ढंग से दिखाई गयी हैं। 'चंद्रावली' प्रेम और प्रेम के रहस्यों की एक पिटारी है जिससे कवि की सूझ-बूझ और मर्मभेदी दृष्टि का बखूबी अंदाज़ा किया जा सकता है। 'नीलदेवी' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें अमीर अब्दुलशरीफ़ खाँ और महाराज सूरजदेव के मार्के बयान किये गये हैं और सौन्दर्य व प्रेम के मनचले कवि ने लड़ाई के मैदान में ऐसी काटें की हैं कि उसे पढ़कर दिलों में वीरता की एक लहर पैदा हो जाती है। 'मुद्राराक्षस' यद्यपि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद है तो भी इसमें मूल के सब गुण वर्तमान हैं और इसीलिए अनुवाद में जहाँ-तहाँ अनुचित रूपान्तर का धोखा होता है। हरिश्चन्द्र की शायद सबसे प्रसिद्ध कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र की सच्चाई की परीक्षा का ज़िक्र है। 'महाभारत' में इसका संक्षिप्त उल्लेख आया है। जैसे कालिदास ने महाभारत से 'विक्रमोर्वशी' और 'शकुन्तला' का प्लाट लेकर उनकी बुनियाद पर अपने अमर नाटकों की इमारत खड़ी की है उसी तरह बाबू हरिश्चन्द्र ने भी इस नाटक में महाभारत से घटना ले ली है। महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यवंश के एक चक्रवर्ती राजा थे जो सच्चाई, वचन-पालन और वफ़ादारी में इस तरह एक कहावत बन गये हैं जिस तरह हनुमान वीरता में, संकल्प में रावण, न्याय में युधिष्ठिर और हिम्मत में भीष्म पितामह। इस नाटक में विश्वामित्र ऋषि का राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा के लिए आना, राजा का विपत्ति में पड़कर बनारस जाना, वहाँ एक डोम के हाथ बिकना, फिर श्मशान की चौकीदारी पर नियुक्त होना, रानी शैव्या का रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आना, राजा का उससे कफ़न माँगना–ये घटनाएँ बहुत ही करुण, प्रभावशाली और निपुण ढंग से दिखलायी गयी हैं। उनको दुहराने की यहाँ

जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसे बहुत शिक्षित लोग न होंगे जिन्होंने इस नाटक को न पढ़ा हो या खेले जाते न देखा हो। यह घटनाएँ स्वयं मनुष्य की नैतिक ऊँचाइयों का सुन्दरतम उदाहरण हैं। उन पर बाबू हरिश्चन्द्र की जादू-भरी क़लम ने सोने में सुहागे का काम किया है। हमने कई बार इस नाटक का खेल देखा है। जिस वक़्त शैव्या रोहिताश्व की लाश गोद मे लेकर आती है उस वक़्त दर्शकों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। विलाप का दृश्य इससे अधिक प्रभावशाली अगर किसी हिन्दी कवि ने खीचा है तो वह महाराजा रामचन्द्र का वनवास है। ऐसा कोई कालेज, कोई हॉस्टल, कोई लिटरेरी सोसाइटी और कोई ड्रामैटिक कम्पनी न होगी जिसने यह खेल न किया हो। मगर तुलसी के वनवास की तरह हरिश्चन्द्र का यह वर्णन दिलों पर असर किये बग़ैर नहीं रहता। इसमें कोई शक नहीं कि जब तक हिन्दी भाषा ज़िन्दा रहेगी यह नाटक सर्वप्रिय रहेगा। लेकिन अगर इस नाटक को, जिसके कथानक की रचना में कवि को बहुत ज़्यादा प्रयत्न नहीं करना पड़ा, अलग कर दिया जाये तो बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों में एक ख़ास कमज़ोरी नजर आती है और वह है कथानक की दुर्बलता। यह दोष 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी' मे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनमे वर्णन-शक्ति, भाव, दृश्य-चित्रण सब कुछ है मगर प्लाट कमज़ोर है और इसी प्लाट की कमज़ोरी ने अच्छे कैरेक्टरों को पैदा न होने दिया। 'हरिश्चन्द्र' के अलावा उनके बाक़ी मौलिक नाटकों में कोई कैरेक्टर ऐसा नहीं—या हैं तो बहुत कम—जो मनुष्य के उच्च जीवन का आदर्श बन सके और नैतिकता के ऊँचे शिखरों तक पहुँचे। घटनाओं के प्रकार पर कैरेक्टरों की हीनता और उच्चता निर्भर है। दुर्बल घटनाओं की स्थिति में ऊँचे कैरेक्टर क्योंकर पैदा हो सकते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में अगर्चे नाटकों की सी मौलिकता नहीं, क्योंकि इस मैदान में नया कुछ बहुत कम बचा है लेकिन उसका स्थान बहुत ऊँचा है। काव्य-मर्मज्ञों ने उसको बहुत मान दिया है और हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में उनकी गिनती की है। उर्दू में उदाहरण देकर उनकी कविता की विस्तृत चर्चा नहीं की जा सकती। सिर्फ़ इतना कहना काफ़ी है कि उन्होंने हर रंग में अपनी प्रतिभा का जौहर दिखाया। सौन्दर्य और वीरता का मैदान उनके लिए इतना ही आसान था जितना कायरता और घृणा का। तब भी जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, प्रेम के रंग में उनकी कविता असाधारण रूप से सशक्त, प्रभावशाली और नैचुरल है। अध्यात्म और वैराग्य में भी उनकी तबीयत ने ज़ोर दिखाया है और जब यह ख़याल करो कि यह ऐशपसन्द, शौक़ीन, रसीले कवि की रचना है तो सचमुच आश्चर्य होता है। वह अपने युग के केवल कवि नहीं बल्कि राष्ट्रीय कवि थे, और राष्ट्रभाषा की हैसियत से हर एक पब्लिक और राष्ट्रीय घटना पर उन्होंने आवश्यकतानुसार बधाई, शोक, स्वागत, विदाई आदि की कविताएँ लिखी हैं मगर उनमें कोई विशेषता नहीं। कविता से और उसके असली उद्देश्यों से उनका कवि-स्वभाव कैसा परिचित था वह इस बात से बखूबी ज़ाहिर हो जाता है कि उन्होंने कविता के नौ रसों में चार और जोड़े और

काव्य-मर्मज्ञों ने इस संशोधन को एक मत से स्वीकार कर लिया।

बाबू हरिश्चन्द्र के गद्य-लेख विभिन्न विषयों पर हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, नैतिक—ग़रज़ कि सभी प्रश्नों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है मगर उनमें न विचारों की ताज़गी है न खोज, हाँ, ज़बान अलबत्ता साफ़-सुथरी है।

हिन्दी के साहित्य संसार ने भारतेन्दु का यद्यपि उतना सम्मान नहीं किया जिसके वह अधिकारी हैं तो भी तुलसी और केशव जैसे उच्च कोटि के कवियों को देखते हुए काफ़ी गनीमत है। तुलसी की कोई प्रामाणिक और संपूर्ण जीवनी नहीं, सूर और केशव भी गुमनामी के कूचे में पड़े हुए हैं मगर बाबू हरिश्चन्द्र की कई जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें बिहार के बाबू वृजनन्दन सहाय की पुस्तक 'हरिश्चन्द्र का जीवन' बहुत विशद और मनोरंजक है। हिन्दी में उनका वही स्थान है जो उर्दू में 'हयाते ग़ालिब' का है। इन बातों पर नज़र डालते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी भाषा ने हरिश्चन्द्र जैसा समर्थ, उन्नत-विचार और उमंग से भरपूर कवि नहीं पैदा किया और गो अब भाषा की चर्चा दिन ब दिन ज़्यादा हो रही है मगर अभी बहुत अर्सा गुज़रेगा जब हमको साहित्य की गद्दी पर हरिश्चन्द्र का कोई उत्तराधिकारी दिखायी देगा।

(उर्दू में : 'ज़माना', जनवरी, 1913)
(हिन्दी में : 'विविध-प्रसंग' 1 जुलाई, 1962)

कालिदास की कविता

यों तो संस्कृत साहित्य की आज तक थाह नहीं मिली। एक सागर है कि जितना डूबो उतना ही गहरा मालूम होता है। मगर तीन कवि बहुत प्रसिद्ध हैं–वाल्मीकि, व्यास और कालिदास। इनकी कृतियाँ एक-एक युग का संपूर्ण इतिहास हैं और यही उनकी ख्याति का आधार हैं। वाल्मीकि सबसे पुराने थे। उनकी कविता में कर्त्तव्य और सच्चाई का रंग प्रधान है। व्यास, जो उनके बाद हुए, अध्यात्म और भक्ति की ओर झुके और कालिदास ने सौन्दर्य और प्रेम को अपना क्षेत्र बनाया। रामायण वाल्मीकि की और महाभारत व्यास की लोकप्रिय पुस्तकें हैं और ये दोनों हिन्दू धर्म का अंग बन गयी हैं मगर कालिदास को हम कुछ भूल-सा गये थे और अगर अँग्रेजी विद्वानों और लेखकों ने हमारा मार्ग-दर्शन न किया होता तो हम शायद अब तक इस अमर कवि को गुमनामी के कोने में पड़ा रहने देते। कालिदास की इस वक़्त जो कुछ चर्चा है वह अंग्रेज़ी शिक्षा की देन है। कई शताब्दियों के बाद कालिदास का सितारा चमका है और आज उसके जीवन, युग और कृतियों पर अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत खोज और विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे जा रहे हैं। हिन्दुस्तान और यूरोप में एक से उत्साह के साथ उसके संबंध में खोज-बीन की जा रही है, यद्यपि अभी तक प्रामाणिक रूप से उसके जीवन के संबंध में सामग्री प्राप्त नहीं हुई।

कालिदास की कविता संक्षेप में कोमल भावनाओं और अलंकृत कल्पनाओं की कविता है। पुराने कवियों की कविता में सादगी और सहजता का रंग विशेष होता है, उपमाएँ और रूपक सर्वसुलभ, भावनाएँ सच्ची मगर सादा, वर्णनशैली सरल। और यही कारण है कि साधारण लोगों में पुराने कवियों को जो लोकप्रियता प्राप्त होती है उस पर बाद के कवि सदा ईर्ष्या किया करते हैं क्योंकि उनकी कविता, जिसे काव्य-रुचि की आवश्यकताएँ और युग की परिस्थितियाँ रंगीन, सूक्ष्म और उलझा हुआ बना देती हैं, साधारण लोगों की समझ से बाहर होती है। मगर बाद के कवियों में अनुकरण, कृत्रिमता और विषयों की दरिद्रता की जो सर्वसामान्य दुर्बलता पायी जाती है कालिदास की कविता में वही सरलता, वही विषयों की नवीनता और वही कल्पनाओं की बाढ़ मौजूद है जो प्राचीन कवियों की कविता में पायी जा सकती है। उसकी प्रतिभा कविता की हर शैली या रंग में एक-सी समर्थ है। उसकी नाच-गाने की महफिलें निज़ामी को शर्मिन्दा कर देती हैं और लड़ाई के मैदान में

फ़िरदौसी की कल्पना का घोड़ा भी ऐसी उड़ानें नहीं भरता। सिर्फ़ 'मेघदूत' में सौन्दर्य और प्रेम, संयोग और वियोग की भावनाएँ इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि उन पर किसी भाषा की कविता को गर्व हो सकता है। उसकी एक एक कल्पना पर काव्यमर्मज्ञ चकित रह जाते हैं। पहले दिल पर एक नर्म असर होता है और फिर फ़ौरन भावो की सूक्ष्मता, विचारों की विविधता और वर्णन के सौन्दर्य को देखकर आश्चर्य होने लगता है। हमारे उर्दू के प्रेमियों ने प्रातः समीर को दूत बनाया। मीर ने सबसे पहले यह सेवा प्रातः समीर को सौंपी और दाग़ को भी इससे अधिक गतिशील और वाणी-निरपेक्ष कोई दूत दिखायी न पड़ा। दो शताब्दियों तक प्रातःसमीर ने यह सेवा की और अब भी उसका गला न छूटा। मगर कालिदास ने एक नया दूत ढूँढ़ निकाला। वह मेघ को अपनी व्यथा की कहानी सुनाता है। ऐसी ही अछूती बातों से उसकी कविता भरपूर है। संस्कृत कवियों का यह एक विशेष गुण है कि वे अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों की खूब चाशनी देते हैं। उनकी कवि-कल्पनाएँ सदाबहार फूलों और पत्तियों से सजी हुई नज़र आती हैं। कालिदास में यह गुण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। फूल पत्तियों का जिस खूबसूरती और अछूतेपन से उसने प्रयोग किया है वह संस्कृत में भी किसी दूसरे कवि को सुलभ नहीं हुआ। उसकी उपमाएँ नई-नई कोंपलें हैं और रूपक महकते हुए रंग-बिरंगे फूल। यह ठीक है कि उर्दू और फारसी के कवियों ने बेल-बूटों का इस्तेमाल किया है मगर उनके फूल-पत्ते मुर्झाये हुए, बेरंग और बेमज़ा हैं। उनकी कल्पना की उड़ानें उन्हें आसमान पर उड़ा ले गयीं और वहाँ ज़ोहल व अतारिद, ज़ोहरा व मुश्तरी-जैसे नक्षत्रों से उनका परिचय करा दिया, यहाँ तक कि अब किसी फ़ारसी क़सीदे को समझने के लिए ज्योतिष और अंतरिक्ष-विज्ञान का जानना ज़रूरी है। संस्कृत कविता इतने ऊँचे न उड़ सकी मगर उसने इसी दुनिया की हर चीज़ को खूब ग़ौर से देखा-भाला और उसका अध्ययन किया। वह किसी मीनार की तरह ऊँची नहीं बल्कि एक हरे-भरे मैदान की तरह फैली हुई है जिसमें हिरन किलोलें करते हैं, रंग-बिरंगे पंछी चहचहाते हैं, हरियाली लहलहाती है और दर्पन-जैसे पानी के सोते बहते हैं। मतलब यह कि संस्कृत कविता को तीनों लोकों से समान रुचि है। वह जिस दुनिया में पैदा हुई है उसी दुनिया की हर चीज़ से परिचित है और यह सिर्फ़ शकुन्तला नाटक का पहला पार्ट पढ़ने से इस खूबी के साथ प्रकट हो जाता है जिसे बयान नहीं किया जा सकता। हिरन और भौंरा, माधवी और केतकी, कदम्ब और नीम, ये सब हमारे सामने आते हैं, बेजान चीज़ों की तरह नहीं, कवि ने उनमें एक जान डाल दी है, उन सबमें प्रकृति की संवेदना का समान अंश है। इसी सीन को पढ़कर प्रसिद्ध कवि गेटे विभोर हो गया था, और वह भी केवल अंग्रेज़ी अनुवाद के अध्ययन से। और अब इस बात को सिद्ध करने के लिए ज़्यादा दलीलों की ज़रूरत नहीं है कि वह नशे का-सा असर जो सँस्कृत कविता हमारे दिलों पर पैदा करती है, किसी दूसरी भाषा की कविता के सामर्थ्य से परे है, विशेषतया उर्दू कविता के जिसकी उपमा उन पौधों से दी जा सकती है जो अक्सर बाग़ों में बनावटी ज़िन्दगी बसर करते नज़र आते हैं, मुर्झाये हुए पत्ते,

निर्जीव पीला रग, सिमटी हुई शाखे, न फल न फूल। फारस का पौधा हिन्दुस्तान मे लगाया गया, न वह जमीन, न वह आबहवा, न देखने से ऑखो को ताजगी होती है, न दिल को खुशी जहॉ तक उपमाओ और दृश्य-चित्रण का सम्बन्ध है उर्दू कविता बडी हद तक कृत्रिमता और अवास्तविकता की एक पिटारी है। सस्कृत कवियो के दृश्य और भावनाएँ सब इसी धरती की हवा-पानी से बनी हैं और यही उनकी प्रभावोत्पादकता का रहस्य है। देखिए कालिदास वर्षा ऋतु मे शहद की मक्खियो का शहद जमा करना किस नर्मी और खूबसूरती से दिखाता है :

तलाशे शह्द में हैं मक्खियाँ सुबुक परवाज़
मगर मिज़ाज में ये सादगी के हैं अंदाज़
कि नाचते कहीं आते हैं जब नज़र ताऊस
फ़िज़ाये दश्त में फैलाये बाल-ओ-पर ताऊस
तराने गाती हुई जब क़रीब आती है
कँवल के फूलों के धोखे में बैठ जाती है।
महक रही है हवा केतकी के फूलों से
बसी हुई है सबा केतकी के फूलों से
हर एक रविश पे है जमघट परीजमालों का
अजब बनाव है फूलों के गहनेवालों का
चमन में करती हुई सुब्हदम गुलअफ़शानी
लचक लचक के है पौदों को दे रही पानी
कहीं कदम के दरख़्तों पर छा रही है बहार
हरे हरे किसी जानिब हैं नीम के अशजार

सरो, शमशाद और सनोबर के मुकाबले मे कदम्ब और नीम और केतकी कैसे अपने जान पडते हैं।

कविता की इन खूबियो के अलावा कालिदास ने मानव चरित्र को भी बडी गहरी आँखो से देखा था। मानव-स्वभाव के उलट-फेर का उसे पूरा ज्ञान था। किन बातो से आदमी के दिल मे कैसी भावनाएँ और विचार पैदा होते हैं वह उसने आश्चर्यजनक वास्तविकता के साथ दिखलाये हैं। उसके नाटक मानव चरित्र के चित्र हैं जिनके अग-प्रत्यंग के संतुलन, रंगों की उपयुक्तता और चेहरे-मोहरे की सुघरता की तारीफ पूरी तरह नही की जा सकती। और इश्क़ की घातें और मुहब्बत के इशारे तो उसने ऐसी नज़ाकत से दिखाये हैं जो काव्य-रसिकों को मुग्ध कर देते हैं। इस रंग में न कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी है न उसकी बराबरी का दावा करनेवाला और वह इस रंग का उस्ताद है, जोकि यह सच है कि कभी-कभी उसका कलाम अपनी शोखी में हद से आगे बढ़ गया है क्योंकि वह स्वच्छन्द स्वभाव का आदमी था। मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने दाम्पत्य ही को प्रेम की सबसे ऊँची कसौटी माना है। 'मेघदूत' में विरही यक्ष जिस प्रेमिका की याद में तड़पा है वह उसकी पत्नी थी। 'ऋतुसंहार' में भी जहाँ-तहाँ इसके संकेत हैं :

वो महवशें जो बदलती हैं करवटें शब भर
रुला रही है लहू जिनको दूरिये शौहर
बरस रही है उदासी अब उनकी सूरत पर
जिगर की आग क़यामत है इक क़यामत पर

कालिदास आमतौर पर हिन्दुस्तान का शेक्सपियर कहा जाता है और इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं। दुनिया में सिर्फ़ शेक्सपियर ही ऐसा कवि है जिसकी उससे तुलना की जा सकती है। दोनों नाटककार हैं, दोनों मानव-हृदय के मर्मज्ञ। उनकी कल्पनाएँ उनकी बंदिशें बहुत जगहों पर लड़ गयी हैं। एक ही कवि-मन प्रकृति की ओर से दोनों को मिला था। किसी चीज़ को जिस निगाह से शेक्सपियर देखता है उसी निगाह से कालिदास भी उसे देखता है। व्यथा और शोक, निराशा और प्रतिशोध, प्रेम और वियोग में आदमी के दिल में कैसी भावनाएँ लहरें मारती हैं, इसको जिस खूबी से शेक्सपियर ने दिखाया है, उसी रंगीनी के साथ कालिदास ने भी दिखाया है। शेक्सपियर के जितने कैरेक्टर हैं वह सब एक दूसरे से भिन्न हैं। हर एक मे कोई-न-कोई अपनी विशेषता है। कालिदास के कैरेक्टरों की भी यही स्थिति है। शेक्सपियर के मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट की तस्वीरों को कालिदास के दुष्यंत, शकुन्तला, प्रियंवदा की तस्वीरों के मुक़ाबले में रखने से साफ़ मालूम हो जाता है कि इन दोनों कवियों को मनुष्य की प्रकृति का कैसा ज्ञान था। शेक्सपियर और कालिदास में अगर कुछ अंतर है। तो यह है कि शेक्सपियर को मानव-चरित्र के चमत्कार दिखाने में अधिक कौशल है और कालिदास को प्रकृति के चित्रण में। शेक्सपियर को मानव-स्वभाव के भीतर जो पहुँच थी वही कालिदास को प्रकृति के चमत्कारों में थी। इसीलिए शेक्सपियर का साहित्य गंभीर है और कालिदास का रंगीन। शेक्सपियर जिस तरह अपने पहले और बाद के कवियों से बड़ा है उसी तरह कालिदास के साहित्य की रंगीनी और नर्मी संस्कृत में बेजोड़ है।

कालिदास की कविताओं और नाटकों से प्रकट होता है कि वह काव्य-शिल्प और पिंगल आदि के ज्ञान के अलावा विभिन्न शास्त्रों और कलाओं में भी सिद्ध थे। उनके साहित्य में जगह-जगह दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वह सांख्यदर्शन और योग पर अधिकार रखते थे। वह शिव के उपासक थे मगर उनका विचार वेदांत की ओर झुका हुआ था। आत्मा और परमात्मा, शरीर और प्राण, माया और संसार आदि पेचीदा आध्यात्मिक प्रश्नों पर उन्होंने अपने साहित्य में बड़ी स्वतंत्रता के साथ विचार किया है। ज्योतिष की इस युग में बड़ी चर्चा थी। उज्जैन इस विद्या का उन दिनों केन्द्र था। वराह-मिहिर, जो बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी हुआ है, कालिदास के मित्रों में था और इसमें अब कोई संदेह नहीं हो सकता कि कालिदास को इस विद्या का प्रकांड ज्ञान था। उन्होंने खुद ज्योतिष पर एक मार्के की किताब लिखी है जो आज तक चलती है। उनका भौगोलिक ज्ञान भी बहुत विस्तृत था। उन्होंने हिन्दुस्तान के हर कोने में सफ़र किया था। मेघदूत में उनके भौगोलिक ज्ञान का काफ़ी प्रमाण मिलता है। जहाँ कहीं समुद्री दृश्य चित्रित किये हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि वह किसी आँखों-देखे दृश्य की तस्वीर खींच रहे

हैं। प्रकृति-विज्ञान मे भी उनकी दृष्टि गहरी और ठीक थी। ज्वार-भाटा, तूफ़ान, चन्द्र और सूर्य-ग्रहण आदि प्रकृति के चमत्कारो के संबध मे उन्होंने जो चर्चा की है, उनसे मालूम होता है कि उनके बारे में उन्हें वही ज्ञान था जिस पर आज के वैज्ञानिक एकमत हैं। और राजनीति के तो वे जैसे एक सागर थे। 'रघुवश' मे शुरू से आख़िर तक राजाओं ही का ज़िक्र है। इसमें सैकडो ऐसे प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि उन्हें राजनीति का पूरा ज्ञान था। राजा किसे कहते हैं ? उसका क्या धर्म है ? प्रजा के साथ उसका कैसा बर्ताव होना चाहिए ? प्रजा के उस पर क्या अधिकार हैं ? इन बातों को जैसा कुछ कालिदास समझते थे शायद आज बड़े-बड़े बादशाहों को भी वह ज्ञान न होगा। कहने का मतलब यह कि कालिदास एक अत्यंत गुणी व्यक्ति, सिद्धहस्त कवि और ज्ञान का सागर था। उसकी बुद्धि के विस्तार पर हमको आश्चर्य होता है। उपमाओ में दुनिया का कोई कवि उससे आँखें नहीं मिला सकता। उसकी उपमाएँ ऐसी उपयुक्त, ऐसी सटीक, ऐसी सजीव हैं कि अगर उन्हें श्लोक में से निकाल दीजिए तो श्लोक बिलकुल नीरस और फीका हो जाता है। प्रकृति का कोई ऐसा चमत्कार नहीं जिससे उसने उपमा न ली हो। यह ठीक है कि हिन्दुस्तान को उसकी जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है मगर सच तो यह है कि वह हिन्दुस्तान का नहीं बल्कि सारी दुनिया का कवि है। हिन्दुस्तानियों को उसके काव्य से जो आनंद प्राप्त हो सकता है वही किसी दूसरे देश के आदमी को हासिल हो सकता है। उसके लिए दुनिया कविता की एक पिटारी थी। जिस चीज़ पर निगाह डाली है उसे अपनी कविता का आभूषण बना लिया है। वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि विधाएँ जिन्हें कवि रूखा-सूखा समझते थे और जिनका कविता से कोई सम्बन्ध नहीं बतलाया जाता वह कालिदास की कविता के अहाते में आकर कुछ और ही रंग-रूप अख्तियार कर लेती हैं। पदार्थ जगत को कविता के आभूषण से सजानेवाला, ठूँठ पेड़ों और वीरान खँडहरों में वह मज़ा पैदा करनेवाला जो हरे-भरे पेड़ों और सजे हुए महलों से न मिल सके, ऐसा समर्थ कवि दुनिया में दूसरा नहीं पैदा हुआ और जब तक कविता के मर्मज्ञ और सौन्दर्य-रसिक बाक़ी रहेंगे तब तक कालिदास का नाम क़ायम रहेगा। वह संस्कृत कविता का पूनम का चाँद है और जिस व्यक्ति में कविता की जितनी ही रुचि और सच्ची परख है वह कालिदास की कविता से उतना ही आनन्द उठा सकता है।

कालिदास की कृतियाँ, जिनका अब तक पता चला है, संख्या में सोलह हैं मगर उनकी ख्याति और लोकप्रियता जिन पुस्तकों पर आधारित है वे सात से ज़्यादा नहीं, और इन सातों में कोई एक पुस्तक भी उसकी अमरता के लिए काफ़ी है। इन सात तारों के चार अंग चार काव्य हैं–1. रघुवंश 2. कुमार संभव 3. मेघदूत 4. ऋतु संहार। और बाक़ी तीन वे नाटक हैं जिन्होंने कलाविदों को आश्चर्य में डाल दिया है–1. शकुन्तला 2. विक्रमोर्वशी 3. मालविकाग्निमित्र। सभ्य संसार में इन पुस्तकों को जो कीर्ति मिली है वह शायद ही किसी दूसरे कवि को नसीब हुई हो। यूरोप की अधिकांश भाषाओं में उनका अनुवाद हो जाना, उनकी लोकप्रियता का

सशक्त प्रमाण है। हिन्दुस्तान की लगभग सब भाषाओं में भी उनके अनुवाद हो गये हैं। नाटकों की लोकप्रियता का हाल यह है कि वे यूरोप और अमरीका के थियेटरों में खेले जा चुके हैं और कालिदास की रचनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी रखना सभ्य कहलाने के लिए ज़रूरी हो गया है। आज हिन्दुस्तान के चित्रकार कालिदास के कैरेक्टरों और दृश्यों को खींचना अपनी कला का उत्कर्ष समझते हैं। राजा रवि वर्मा का चित्र 'शकुन्तला-पत्र-लेखन' स्वयं सौन्दर्य और प्रेम की एक दुनिया है, जहाँ प्रकृति ने वेदना के मधुर और मोहक साधन एकत्र कर दिये हैं। ऐसी ही कल्पनाओं और दृश्यों से कालिदास की कविता भरी हुई है। नाटकों में प्रथम दो का अनुवाद उर्दू भाषा में भी हो गया है। 'शकुन्तला' का अनुवाद स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद ने किया था और 'विक्रमोर्वशी' का कुछ साल पहले मौलवी मोहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा साहब ने। 'शकुन्तला' का अनुवाद मूल संस्कृत से किया गया है और इसलिए मूल का रस कुछ बाक़ी है। 'विक्रमोर्वशी' शायद अंग्रेज़ी से उर्दू में आयी है इसलिए मूल का आनंद उसमें न पैदा हो सका। तब भी काफ़ी ग़नीमत है। मगर चारों काव्यों में से एक का अनुवाद भी उर्दू में अब तक नहीं हुआ। इस कमी की शिकायत मुसलमान साहित्यकारों से नहीं; मगर हिन्दू सज्जनों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है। कितने ही हिन्दू लोग हैं जिनमें कविता की रुचि है, जो ग़ज़लें और क़सीदे लिखते हैं और गुल-ओ-बुलबुल के झगड़ों में सर खपाते हैं मगर इतना न हुआ कि संस्कृत कवियों की कविता से जाति और भाषा को लाभ पहुँचाएँ। उर्दू शेरोसुख़न का चर्चा ज़्यादातर कायस्थों और कश्मीरियों में है और यह दोनों सम्प्रदाय अब तक आमतौर पर संस्कृत के अध्ययन से अलग-थलग हैं। मगर अब चूँकि संस्कृत की ओर रूझान होने लगा है इससे उम्मीद की जाती है कि शायद कुछ दिनों में हम रघुवंश, मेघदूत और कुमारसंभव को उर्दू भाषा में पढ़ सकें। रहा 'ऋतुसंहार' उसका अनुवाद मिस्टर शाकिर की मदद से स्वर्गीय सुरूर साहब ने किया है और अधिकांश ऋतुओं की कविताएँ 'ज़माना' के पाठकों के सामने पेश हो चुकी हैं।

हम लिख चुके हैं कि 'ऋतु-संहार' कालिदास के चार सर्वश्रेष्ठ काव्यों में से एक है। इसमें कवि ने हिन्दुस्तान की छः ऋतुओं के दृश्य और उनके परिवर्तनों और उनसे पैदा होनेवाली भावनाओं और विचारों को बहुत ही सुन्दर ढंग से बयान किया है। चूँकि उर्दू-फ़ारसी में तीन ही मौसम माने गये हैं इसलिए मुनासिब मालूम होता है कि इन छहों ऋतुओं को यहाँ स्पष्ट कर दिया जाये—

क्रमांक	ऋतु का नाम	हिन्दी महीने	अंग्रेज़ी महीने
1.	ग्रीष्म	जेठ-आसाढ़	जून-जुलाई
2.	वर्षा	सावन-भादों	अगस्त-सितम्बर
3.	शरद	कुआर-कातिक	अक्टूबर-नवम्बर
4.	हेमन्त	अगहन-पूस	दिसम्बर-जनवरी
5.	शिशिर	माघ-फागुन	फरवरी-मार्च
6.	वसन्त	चैत-बैशाख	अप्रैल-मई

उर्दू-फ़ारसी कवियों ने मौसमी भावनाओं को सिर्फ उसी हद तक अपने शेरो में दख़ल दिया है जहाँ तक कि बसंत और पतझड़ का सम्बन्ध है, यहाँ तक कि पतझड़ और बसंत भी केवल रूपक हैं। ख़ुशी के दिनों और ग़म के दिनों के लिए। हाँ, काले बादलों को देखकर कभी-कभी साक़ी की याद आ जाती है :

तुंद ओ पुरशोर सियह मस्त ज़े कोहसार आमद
साक़िया मुज़दा के अब्र आमद ओ विसियार आमद

हिन्दुस्तान में मौसमी भावनाएँ हमारे सामाजिक जीवन में दाख़िल हो गयी हैं। हमेशा से उनकी अभिव्यक्ति होती आयी है। वर्षा ऋतु आयी और घरों में झूले पड़ गये, सावन और मल्हार की तानें गूँजने लगीं, लड़कियों ने हाथ-पाँव में मेहंदी रचाई, प्यार के दर्द भरे भाव ने दिलों को बेचैन करना शुरू किया, यहाँ तक कि गलियों और बाज़ारों में जहाँ-तहाँ इसकी आवाज़ें सुनायी देने लगीं। संस्कृत कवियों ने बसंत को ऋतुराज या मौसमों का राजा माना है। पेड़ों में नयी-नयी कोंपलें निकलीं, आम की बौर की महक से हवा सुगन्धित हो गयी, खलिहानों में सुनहरी बालों के ढेर लग गये, कोयल आम की डाली पर बैठकर कूकने लगी, प्रेमी जनों को रोने की सूझी, उत्सुकता ने दिलों को गुदगुदाया, प्रेमिकाएँ अपना रूठना भूल गयीं, बसंत की सुहानी पुकार कानों में आयी :

आयी वसंत वहार बलम घर न आये सखी

कालिदास ने ऋतुओं के इन्हीं दृश्यों को अपनी चमत्कारिक लेखनी से अंकित किया है और इस ख़ूबी से अंकित किया है कि हर एक मौसम का समां आँखों में फिर जाता है। ख़ासतौर पर बसंत ऋतु का वर्णन ऐसा सरस, ऐसा यथार्थ और सुकुमार भावनाओं से ऐसा अलंकृत है कि उसकी तारीफ़ नहीं की जा सकती :

फूल खिलते हैं जो टेसू के बियाबानों में
जान पड़ जाती है, उश्शाक़ के अरमानों में
आते हैं रूप पे आमों के इसी रुत में शजर
कोयल आती है इसी रुत में दरख़्तों पे नज़र
छेड़ती है लबे जू आके तराना अपना
सारे आलम को सुनाती है फ़साना अपना
भौंरे फूलों पे हैं सरमस्त मये जोशे वहार
झूमते हैं असरे बादे सबा में अशजार
चुटकियाँ लेती हैं रह रहके उमंगें दिल में
नशए शौक़ की उठती हैं तरंगें दिल में

कालिदास की अन्य कृतियों की तरह 'ऋतुसंहार' का अनुवाद भी योरप की अधिकांश भाषाओं में हो गया है। हिन्दी भाषा में लाला सीताराम साहब और राजकुमार बाबू देवकीनन्दन साहब ने उनका पद्यबद्ध अनुवाद किया है। कुछ समय हुआ बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकार बाबू अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ऋतु-संहार' के मौसमी दृश्यों की तस्वीरें खींची थीं जो बहुत पसंद की गयीं। इनके अलावा बम्बई

के प्रसिद्ध चित्रकार मिस्टर धुरन्धर ने भी 'ऋतु-संहार' से सम्बद्ध छः तस्वीरें खींची हैं जो देखने योग्य हैं। योरोपियन कलामर्मज्ञ इस छोटे-से किन्तु मार्मिक काव्य को बड़ी प्रशंसा की आँखों से देखते हैं। जाना-माना इतिहासकार एलफिन्सटन कहता है :

"भावनाओं को अंकित करने के साथ-साथ यह कवि उन तमाम स्थितियों का चित्र खींच देता है जो उन भावनाओं के प्रेरक हुए और दृश्यों की खूबियाँ और उनके आकर्षण ऐसे जादू-भरे शब्दों में बयान करता है कि वह आदमी भी जो इन पौधों और जानवरों से अपरिचित हो हिन्दुस्तानी दृश्य का ख़ाका अपने दिल में क़ायम कर सकता है।"

प्राच्यविदों का शिरोमणि मोनियर विलियम्स लिखता है :

'इस काव्य का एक-एक श्लोक किसी-न-किसी भारतीय दृश्य का एक सम्पूर्ण चित्र है।'

काव्य-मर्मज्ञों का विचार है कि 'ऋतु-संहार' कालिदास के यौवन-काल की कृति है और कई कारणों से इस विचार की पुष्टि होती है। यौवन-काल सौन्दर्य और प्रेम और भोग-विलास का समय होता है। इस वक़्त तक ग़म के काँटे पहलू में नहीं खटकते और दुनिया की कठोरताओं का अनुभव नहीं होता। नौजवान कवि की कविता निराशा और वेदना और शोक और विपत्ति के भावों से मुक्त होती है। कवि को मुहब्बत की दास्तान, मिलन की खुशियों और प्रेमिका की गुपचुप बातों से इतनी फ़ुर्सत ही नहीं मिलती कि वह वेदना का राग गाये। जब दिल हँसता हो तो आँखें क्योंकर रोयें ? 'ऋतु-संहार' शुरू से लेकर आख़िर तक प्रेम के रस में डूबा हुआ है। अरमानों के दिन हैं, मुरादों की रातें। वह तेज़ी, वह जोश, वह बेतकल्लुफ़ी, वह रंगीनी, वह ताज़गी, वह चहल-पहल जो जवानी की ख़ासियतें हैं इस कविता में शुरू से आख़िर तक भरी हुई हैं। सुन्दरियों की चर्चा से कवि का जी नहीं भरता। कहीं उनके गलों के गजरों का बयान है, कहीं उनकी मेहंदी-रची हथेलियों का। कवि ने हर एक मौसम को सुन्दरियों की आँखों से देखा है। हर एक कल्पना, हर एक भाव यहाँ तक कि रूपक और अन्वय सुन्दरियों के रूप से सजे हुए हैं। यह भी नौजवान कवि की एक ख़ासियत है कि उसे हर जगह औरत ही सूझती है। नौजवान कवि के दिल पर कोई जादू इतना असर नहीं करता जितना कि रूप का जादू। सुन्दर स्त्री ही उसकी भावनाओं को उभारती है, सुन्दर स्त्री उसकी आशाओं का आरम्भ और उसकी उमंगों की सीमा और उसके आकर्षणों का स्रोत होती है। कहने का आशय यह कि ऋतु-संहार एक जवान कविता है, जवानी की खुशियों से चमकती हुई, जवानी की मुहब्बत से महकती हुई और जवानी की उम्मीदों से भरी हुई।

हज़रत 'सुरूर' के अलावा मौलवी अब्दुल हलीम साहब 'शरर' ने अपने रिसाले 'दिलगुदाज़' में 'ऋतु-संहार' की दो-तीन ऋतुओं का अनुवाद गद्य में किया है। जून सन् 1914 के 'दिलगुदाज़' में उन्होंने इस काव्य के बारे में इन शब्दों में अपना विचार व्यक्त किया है :

"हिन्दुस्तान के शेक्सपियर कालिदास ने ऋतु-संहार के नाम से छः कविताएँ छः ऋतुओं के संबंध में लिखी हैं जिनमें ख़ास हिन्दुस्तान की ये ऋतुएँ इस खूबी और मज़े के साथ दिखायी हैं कि पढ़ने से मौसमी कैफ़ियत की तस्वीरें आँखों में फिर जाती हैं... इन कविताओं में नयी उपमाएँ, नयी कल्पनाएँ और नयी बंदिशें हैं जो इस लिटरेचर के लिये, जिसका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ, अंग्रेजी और फ़ारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से ज़्यादा उपयुक्त और प्रभावशाली हैं।"

मूल-काव्य में कालिदास की रंगीनबयानी कहीं-कहीं हद से आगे बढ़ गयी है। फल जब ज़्यादा मीठा हो जाता है तो उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। मगर अनुवादक ने इन स्थलों को, जैसा कि उसका नैतिक कर्त्तव्य था, नज़र से ओझल कर दिया है। काश, उर्दू के कवि मौलाना शरर की तरह समझते कि इन कविताओं की नयी उपमाएँ, नयी कल्पनाएँ और नयी बंदिशें उर्दू लिटरेचर के लिए अंग्रेज़ी और फ़ारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से अधिक उपयुक्त हैं तो आज उर्दू शायरी को इतने ताने न मिलते और उसे इतना बुरा-भला न कहा जाता। मगर मौलाना शरर ने इस काव्य का अनुवाद गद्य ही में लिखने पर संतोष किया, हालाँकि यह ज़ाहिर है कि कवि की कल्पनाएँ कविता में ही मज़ा देती हैं। गद्य की काया में आकर उनकी वही हालत हो जाती है जो मज़ेदार शराब की रूखे-सूखे वैरागियों के गिरोह में या किसी सुन्दरी की नग्नता के परिधान में। बहरहाल कालिदास के विचारों को उर्दू पद्य में रूपान्तरित करने का काम जवानी में ही सिधार जानेवाले सुरूर साहब के ज़िम्मे रहा और इसको उन्होंने जिस शानदार कामयाबी के साथ पूरा किया है उसकी तमाम उर्दू पब्लिक को क़द्र करनी चाहिए। दरअसल शायर ने अनुवाद में मूल का रस पैदा कर दिया है। सरलता इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है। संस्कृत में पेचीदा और जटिल भावों को पद्य में रूपान्तरित करते समय सरलता का ध्यान रखना और उसमें कामयाब हो जाना कवि के कौशल और काव्य-शक्ति का प्रमाण है।

थे बरंगे दीदये उश्शाक़ जो चश्मे पुरआब
उड़ रही है ख़ाक उनमें सूरते मौजे सराब
सत्हे गर्दूं को समझ कर चश्मये आबे रवाँ
तक रहे हैं दीदये हसरत से होकर नीमजाँ

कितना सच्चा और नेचुरल ख़याल है और कितनी खूबसूरती से कविता में बाँधा गया है :

धूप से हैं ऐसे घबराये हुए मारे सियाह
बाजुये ताऊस के साये में लेते हैं पनाह

मोर साँप का दुश्मन है मगर सख़्त गर्मी ने उनके होश-हवास इस तरह उड़ा दिये हैं कि न साँप को डर रहा और न मोर को शिकार करने की ताब। उर्दू में ऐसे विचार देखने को नहीं मिलते और अनुवादक ने प्रशंसनीय सामर्थ्य से उन्हें पद्यबद्ध किया है :

धूप की शिद्दत से यूँ आतश बजाँ ताऊस हैं
बाजुए ज़री नहीं हैं शोल-ए-फ़ानूस हैं

कैसा अछूता और अनूठा ख़याल है और जितने संक्षेप में इस भाव को व्यक्त किया गया है वह सोने में सुहागा है !

ठुन्ड कुछ सूखे हुए आते हैं सहरा में नज़र
चोंच खोले जिसपे दम लेती हैं चिड़ियाँ बैठकर

कैसी तस्वीर खींच दी है। इसी का नाम शायरी है। शायर की निगाह किस क़दर पैनी है। जंगली झरबेरियाँ और करौंदे के पेड़ भी उससे नहीं बचे जिनकी तरफ़ उर्दू शायर कभी भूलकर भी आँख नहीं उठाता :

अजब अंदाज़ से बेलों को हिलाती है नसीम
और करौंदे के दरख़्तों को नचाती है नसीम
यूँ हर एक फूल पर टेसू की बरसती है बहार
सुर्ख़ जैसे किसी तोते की नुकीली मिनक़ार
फूल शाख़ों पे हैं खोले हुए आग़ोश निशात
भौंरे कुंजों में हैं सरमस्त मये जोशे निशात

इन उदाहरणों से पाठकों के सामने स्पष्ट हो गया होगा कि अनुवाद में कितने संक्षेप से काम लिया गया है और प्रवाह जो किसी मौलिक कविता में पाया जाता है यहाँ शुरू से आख़िर तक मौजूद है। इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए कि कवि को किस हद तक अनुवाद में सफलता मिली है, उचित तो यह था कि संस्कृत के श्लोक और उनके अनुवाद आमने-सामने लिखे जाते मगर उर्दू में संस्कृत के समझनेवाले बहुत कम हैं और इस बाल की खाल निकालने से कुछ हासिल नहीं। ग्रीष्म ऋतु की कविता को अनुवादक ने कुछ छोटा कर दिया है क्योंकि इसमें अधिकतर ऐसे जानवरों का ज़िक्र था जिनके नाम से भी उर्दू पाठक परिचित न होंगे। कालिदास की काव्य-सामर्थ्य का एक प्रमाण यह भी है कि वह एक ही विचार को बार-बार अलग-अलग ढंग से व्यक्त करता है और विचार की ताज़गी में फ़र्क़ नहीं आता। उर्दू जैसी दरिद्र भाषा में शब्दों की यह बहुतायत कहाँ ! ऐसे विचार चूँकि खूबसूरती से कविता में नहीं आ सकते थे इसलिए शायद पुनरावृत्ति के भय से अनुवादक ने उन्हें नज़र से ओझल कर दिया है और हमारे ख़याल में यह विवशता उनकी नहीं बल्कि उर्दू भाषा की है।

(उर्दू में : 'ज़माना', अगस्त 1914)
(हिन्दी में : 'विविध-प्रसंग–1' जुलाई, 1962)

पुराना ज़माना : नया ज़माना

पुराने ज़माने में सभ्यता का अर्थ आत्मा की सभ्यता और आचार की सभ्यता होता था। वर्तमान युग में सभ्यता का अर्थ है स्वार्थ और आडंबर। उसका नैतिक पक्ष छूट गया। उसकी सूरत बदलकर अब वह हो गयी है जिसे हमारे पुराने लोग असभ्यता कहते। शारीरिक बनाव-सँवार और टीमटाम पुराने तर्ज़ की निगाहों में कभी अच्छी न समझी जाती थी। भोग-विलास के सामान इकट्ठा करना कभी पुरानी सभ्यता का लक्ष्य नहीं रहा। पुराने लोग सजावट और बनावट को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उस समय सभ्य कहलाने के लिए यह ज़रूरी नहीं था कि अपका बैंक में इतना हिस्सा हो, आपके बाल अलबर्ट फ़ैशन के कटे हुए हों, आपकी दाढ़ी इटालियन या फ्रेन्च हो, आपका कोट शिकारी हो या टेनिस हो या कैम्ब्रिज हो या चीनी या जापानी हो, आपके जूते डर्बी या पम्प हों। आपकी शेरवानी या सलीमशाही जूते पर उनकी निगाह न जाती थी। वे उसे शान कहें, प्रदर्शन कहें, शेख़ी कहें लेकिन सभ्यता हर्गिज़ न कहते, सभ्यता के नाम को बट्टा न लगाते। सभ्यता से उनका अभिप्राय नैतिक, आध्यात्मिक, हार्दिक था। उस समय वह व्यक्ति सभ्य था जिसका आचार पवित्र हो, जो धैर्यवान हो, गंभीर हो, हँसमुख हो, विनयशील हो। बड़े-बड़े राजा-महाराजा सन्यासियों को देखकर आदरपूर्वक खड़े हो जाते थे। उनका सम्मान करते थे और केवल औपचारिक या प्रदर्शनपूर्ण सम्मान नहीं, हृदय से उनकी चारित्रिक शुद्धता और आध्यात्मिकता को सिर झुकाते थे, उनसे अपनी भेंट होने को जीवन का एक बड़ा प्रसाद समझते थे। इसका असर उनके मन पर होना ज़रूरी था। सिद्धार्थ, अशोक, शिलादित्य, जनक की उपासना, वैराग्य, तपस्या इन्हीं सत्संगों का परिणाम थी। उन लोगों की आज़ादी को देखिए कि वे अपने सिद्धांतों के सामने सिंहासन और मुकुट की परवाह न करते थे। और एक यह स्वार्थपरता का युग है कि राजा-महाराजा पाँवों में ज़ंजीर होते हुए भी बादशाही के नाम पर मरते हैं। मिस्र, ईरान और यूरोप के पुराने इतिहासों में जनक और अशोक के उदाहरण मिलते हैं लेकिन आज अगर कोई अपना राज्य छोड़कर एकांतवास करने लगे तो लोग यह समझेंगे कि उसका दिमाग़ ख़राब हो गया है।

पुरानी सभ्यता सर्वजन-सुलभ, प्रजातांत्रिक थी। उसकी जो कसौटी धन और ऐश्वर्य की आँखों में थी वही कसौटी साधारण और नीच लोगों की आँखों में भी

थी। ग़रीबी और अमीरी के बीच उस समय कोई दीवार न थी। वह सभ्यता ग़रीबों को अपमानित न करती थी, उसको मुँह न चिढ़ाती थी, उसका मज़ाक़ न उड़ाती थी। ज्ञान और उपासना का, गंभीरता और सहिष्णुता का सम्मान राजा भी करता था और किसान भी करता था उनके दार्शनिक विचार अलग-अलग हों लेकिन सभ्यता की कसौटी एक थी। पर आधुनिक सभ्यता ने विशेष और साधारण में, छोटे और बड़े में, धनवान और निर्धन में एक दीवार खड़ी कर दी है। किसी बिसाती की दुकान पर जाइए, किसी दवाफ़रोश या सौदागर की दुकान को देखिए और आपको मालूम हो जायेगा कि वर्तमान सभ्यता कितनी सीमित और सविशेष है। आपके साबुन, बिस्कुट, लवेन्डर की शीशियाँ, कुन्तल कौमुदी, दस्ताने, कमरबंद, टाई, कालर, बेग, ट्रंक और भगवान जाने विलास की और कौन-कौन-सी सामग्रियाँ दुकानों में सजी नज़र आयेंगी। पेटेन्ट दवाएँ चुनी हुई हैं, लेकिन आपके कितने देशवासी उनसे लाभान्वित होते हैं ? आपका आधुनिक शिक्षा से वंचित भाई आपको इस ठाट में देखता है और यह समझता है कि यह आदमी हममें से नहीं है, हम उनके नहीं हैं। फिर आप चाहे कितनी बुलंद आवाज़ से राष्ट्रीयता की हाँक लगायें वह आपकी ओर ध्यान नहीं देता। वह आपको पराया समझ लेता है। आपके सर्कस और थियेटर में वह सहज सौन्दर्य कहाँ है जो पुराने ज़माने के मेलो और तमाशों में होता था ? आपके काव्य में वह आकर्षण कहाँ जो पुराने ज़माने के भजनों में होता था जिन्हें सुनकर अमीर और ग़रीब, राजा और रक सब के सब सिर धुनने लगते थे ? आधुनिक प्रणाली ने जनसाधारण को अपनी परिधि से बाहर कर दिया है। उसने अपनी दीवार आडंबर पर खड़ी की है। भौतिकता और स्वार्थपरता उसकी आत्मा है। इसके बावजूद जनतांत्रिकता ही आधुनिक सभ्यता का सबसे प्रधान गुण कही जाती है।

वर्तमान सभ्यता का सबसे अच्छा पहलू राष्ट्रीयता की भावना का जन्म लेना है। उसे इस पर गर्व है और उचित गर्व है। लेकिन पुराने ज़माने में भी राष्ट्रीयता की भावना बिलकुल लुप्त न थी। यूनान और ईरान की लड़ाइयाँ, स्पेन और अरब की लड़ाइयाँ, हिन्द और अफ़गानिस्तान के झगड़े किसी-न-किसी हद तक राष्ट्रीयता के उदय और राष्ट्र-गौरव पर आधारित थे लेकिन आधुनिक सभ्यता ने इस भावना को एक संगठित, अनुशासित, एकताबद्ध और व्यवस्थित रूप दे दिया है। पुराने ज़माने में इसका बोध विशेष अवसरों पर होता था। किसी अपमान का बदला, किसी ताने की चुभन या केवल वीरता का प्रदर्शन और विजयी बनने का उत्साह कुछ व्यक्तियों को एकता की डोर में बाँध देता था। एक उबाल था जो थोड़ी देर के लिये दिल को हिला देता था, एक तूफ़ान था कि जो कुछ देर तक पानी की ठहरी हुई सतह में हलचल डाल देता था। लेकिन उबाल के उतरते ही, तूफ़ान का ज़ोर ख़त्म होते ही अलग-अलग तत्त्व अपनी-अपनी स्वाभाविक स्थिति पर आ जाते थे और कुछ दिनों के बाद इन लड़ाइयों की याद भी ख़त्म हो जाती थी या जिन्दा रहती थी तो कवीश्वरों के कवित्तों में। बहुत बार धर्म के प्रचार के लिए ज़बान से ख़ंजर की मदद ली जाती थी। पुरानी रवायतें आज तक नारए तकबीर व तकफ़ीर से गूँज

रही हैं मगर वे अस्थायी क्षणिक उद्‌गार होते थे। उन्होंने सल्तनतें तबाह कर दीं, राष्ट्रों को ग़ारत कर दिया, प्रलय के दृश्य खड़े कर दिये, संस्कृति के चिह्न मिटा दिये मगर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि वे वैयक्तिक और अस्थायी चीज़ें थीं। इसके विपरीत आधुनिक राष्ट्र एक स्थायी, टिकाऊ, सामूहिक और अनिवार्य भावना है। उसकी बुनियाद न व्यक्तिगत सत्ता पर है न धार्मिक प्रचार पर बल्कि निश्चित समुदायों की भलाई और सेवा, शान्ति और दृढ़ता पर। वह पारिवारिक, सांस्कृतिक या धार्मिक संबंधों से पृथक है। वह बाह्यतः भौगोलिक सीमा पर आधारित है और आन्तरिक रूप से उद्देश्यों की एकता पर। वह शहद और दूध की नदी अपने क़ब्जे में रखना चाहती है और किसी दूसरे को उसका एक घूँट भी देना नहीं चाहती। वह खुद आराम से अपना पेट भरेगी चाहे दुनिया भूखों मरे, खुद हँसेगी चाहे दुनिया खून के आँसू रोये। अगर उसे लाल कपड़े पहनने की धुन हो जाये और लाल रंग खून से निकलता हो तो उसे दूसरों का खून करने में भी झिझक न होगी। अगर इंसान के दिल का टुकड़ा उसके शरीर को ताक़त पहुँचानेवाला हो तो निश्चय ही हज़ारों आदमी उसके ख़ंजर के नीचे तड़पते नज़र आयेंगे। उसे अपना अस्तित्व संसार में आवश्यक मालूम होता है। बाक़ी दुनिया मिट जाये, उसे इसकी परवाह नहीं। स्वार्थपरता उसका धर्म, उसकी पुस्तक, उसका रास्ता सब कुछ है। सारी मानवीय भावनाएँ, सारे नैतिक प्रश्न इस हवस के पुतले के आगे सिर झुका देते हैं यह कल और मशीन का युग है और राष्ट्र इस युग की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह देव-जैसी मशीन दिन-रात पागलों जैसी तेज़ी मगर सिपाहियों जैसी पाबन्दी के साथ चलती रहती है। कोई इसके घेरे में आ जाये यह उसे देखते-देखते निगल जायेगी, उसे पीस डालेगी। वह किसी पर दया नहीं करती, किसी के साथ रिआयत नहीं करती। वह एक भीमकाय रोलर है जिसमें व्यापार और प्रभुत्व की दो लाल-लाल आँखें घूर-घूरकर बेख़बर लोगों को चेतावनी देती हैं कि ख़बरदार सामने न आना वर्ना पलक झपकते भर में मारे जाओगे। इस आधुनिक राष्ट्र ने संसार में एक रक्ताक्त जीवन-संघर्ष छेड़ दिया है। जिन मानव समुदायों ने अभी तक राष्ट्र का रूप नहीं ग्रहण किया वे उसके अत्याचारों का क्षेत्र है। वह अफ़्रीका में जाती है और वहाँ के जंगलों और घाटियों को काले रंग के काफ़िरों से पाक कर देती है। वह एशिया में आती है और सभ्यता व शिक्षा का नारा बुलंद करती है। उसके नेक इरादों में शक नहीं। वह किसी को गुलामी का तौक़ नहीं पहनाती, मर्दों और औरतों को गुलाम नहीं बनाती, शहरों को जलाकर ख़ाक नहीं करती मगर एक विचित्र-सा संयोग है कि जो 'अ-राष्ट्र' प्रदेश इस राष्ट्र के हाथों बंदी हुआ, उसका जीवन निराशा और अपमान की भेंट चढ़ जाता है।

प्राचीन युग को अंधकार युग कहा जाता है मगर उस अंधकार युग में सैनिक सेवा हर एक व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर थी। बादशाह किसी को ज़बर्दस्ती लड़ने पर मजबूर न कर सकता था। बहादुरी के मतवाले कर्त्तव्य या मित्रता या विशुद्ध लालच की पुकार सुनकर खड्ग-हस्त हो जाते थे लेकिन इस प्रकाशवान युग ने हर

व्यक्ति को हत्या के लिए तत्पर बना दिया है। नारा व्यक्ति-स्वाधीनता का बुलंद किया जाता है लेकिन सच तो यह है कि राष्ट्र ने व्यक्ति को मिटा दिया, व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र या स्टेट में समाहित हो गया है। हम अब रियासत के गुलाम हैं। उसको अधिकार है चाहे हमको क़त्ल व खून पर मजबूर करे चाहे झगड़े-फ़साद पर। लंका में विभीषण ने अपने भाई रावण के खिलाफ़ रामचन्द्र की मदद की थी मगर विभीषण पूरी आजादी के साथ लंका में रहता था। रावण को कभी इतना साहस न हुआ कि वह विभीषण का एक बाल भी बाँका कर सके। आज लड़ाई के ज़माने में इस तरह का राजद्रोह कोर्टमार्शल का कारण बन जाता। विदुर कौरवों से वज़ीफ़ा पाता था लेकिन एलानिया पांडदों का साथ देता था। तो भी कौरवों ने, यद्यपि वे कर्त्तव्य भावना से रहित कहे जाते हैं, इस निर्भीक स्पष्टता के लिए विदुर को मार डालने के योग्य नही समझा। मगर आप कुछ भी कहें वह अँधेरा युग था, गुलामी और बदहाली से घायल और दुखी। और यह ज़माना जब दुश्मन की ख़ूबियों को स्वीकार करना भी कुफ्र है, जब राष्ट्रीय धर्म से जौ भर भी इधर-उधर होना अक्षम्य पाप है, प्रकाशवान, रौशन ! अगर रोशनी का मतलब बिजली या गैस की रोशनी है। लेकिन अगर रोशनी का मतलब आत्मिक स्वतंत्रता, बौद्धिक और सामाजिक शान्ति है तो वह अँधेरा युग इस रौशन ज़माने से कहीं अधिक प्रकाशवान था। "राष्ट्र" की शक्ति और प्रभुत्व पर ये सब पतिंगे न्योछावर हैं ! और क्या यह व्यापार और कल-कारख़ानो की उन्नति, तरह-तरह के यन्त्रो का आविष्कार, जिस पर नये युग को इतना गर्व है, विशुद्ध सौभाग्य है जब कि सिगरेट कौड़ियों के मोल बिकता है, बटन और टीन के खिलौने मारे-मारे फिरते हैं मगर दूध और घी, मकई और ज्वार का स्थायी अकाल पड़ा हुआ है, जबकि देहात उजड़ते जाते हैं और शहरों की आबादियाँ बढ़ती जाती हैं, जबकि प्रकृति की दी हुई सम्पदा को लात मारकर लोग बनावटी नुमायशी ढकोसलों पर जान दे रहे हैं। जब कि आदम के बेशुमार बेटे बदबूदार और अँधेरी कोठरियों में ज़िन्दगी बसर करने के लिए मजबूर हैं, जबकि लोग अपनी बिरादरी और पड़ोसियों की सीख न मानकर वासना के शिकार होते जाते हैं, जब कि बड़े-बड़े व्यावसायिक नगरों में सतीत्व आवारा और परीशान रोता फिरता है (लंदन में चालीस हज़ार से ज़्यादा वेश्याएँ हैं और कलकत्ते में सोलह हज़ार से ज़्यादा) जब कि आज़ाद मेहनत की रोटी खानेवाले इन्सान पूँजीपतियों के गुलाम होते जाते हैं, जब कि महज़ पैसेवाले व्यापारियों के नफ़े के लिए खूनी लड़ाइयों में कूदने से भी लोग बाज़ नहीं आते, जब कि विद्या और कला और आध्यात्मिकता भी नफ़े-नुकसान के भँवर में फँसी हुई है, जब कि कुशल राजनीतिज्ञों का पाखंड और छल-कपट हंगामा बर्पा किये हुए है और न्याय और सच्चाई का शोर सिर्फ़ ज़ुल्म के मारे हुओं की कमज़ोर पुकार को दबाने के लिए मचाया जाता है, नयी सभ्यता का कोई दीवाना भी इन मुसीबतों और गुलामी के दौर को ख़ालिस बरकत कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। इसमें शक नहीं कि देश के नेता इसके दोषों से परिचित हो गये हैं और इसके सुधार की कोशिशें की जा रही हैं। लेकिन उस

ज़हर को जो समाज-व्यवस्था में घुल गया है, निकालने की कोशिश नहीं की जाती, सिर्फ़ उसके ऊपरी प्रभावों, ऊपरी विकृतियों को छिपाने और मिटाने में लोग लगे हुए हैं। कोढ़ी जिस्म को रंगीन कपड़ों से ढँका जा रहा है।

नये ज़माने ने मानवीय सद्‌गुणों का भी मनमाना विभाजन कर दिया है। पुराने ज़माने में भी श्रेणियों और हैसियतों का विभाजन था मगर नैतिक सिद्धान्तों में विशेष और साधारण, विजेता और विजित का कोई भेद न था। नम्रता और सहिष्णुता, शर्म और हया, सदाचार और मुरव्वत—इन गुणों का सब आदर करते थे चाहे वह मुग़ल हों या तुर्क, ब्राह्मण हों या शूद्र। लेकिन आज हालत कुछ और हैं। ये निर्बलों के गुण हैं। नम्रता को आज निर्बलता की स्वीकृति समझा जाता है। लाज-शर्म नामर्दों के गुण हैं। मीठा बोलना, सुन्दर आचरण और आँख का निहाज़ इस नयी टकसाल के फेंके हुए सिक्के हैं। दया और प्रार्थना, संयम और नर्मी को कायरता और पस्तहिम्मती समझा जाता है। अब डींग मारने और शेखी बघारने का ज़माना है। गुस्सा, नफ़रत, घमंड, ज़बान का कड़ुआपन—ये मर्दाना खूबियाँ हैं। अगर किसी से इनकार करना है तो मुलायमियत से कहने की ज़रूरत नहीं, साफ़ और बेलाग कहिए। इसमें अक्खड़पन जितना ही ज़्यादा हो उतना ही अच्छा। नाक पर मक्खी न बैठने पाये, तलवार हमेशा म्यान के बाहर रहे, ज़रा कोई बात तबीयत के ख़िलाफ़ हो, बस, जामे से बाहर हो जाइए। गुस्सा एक मर्दाना जौहर है। उसे रोकना बुज़दिली की दलील है। आपको चाहे किसी ख़ास बात मे ज़रा भी दख़ल न हो मगर ज़बान से कहिए कि मैं इस फ़न का अरस्तू हूँ। मुरव्वत और इंसानियत और लिहाज़ को पास न फटकने दीजिए। ये ग़रीब और मजबूर लोगों के गुण हैं। आप अपने बर्ताव में दिलेराना साफ़गोई से काम लीजिए। आपको किसी की भावनाओं से कोई प्रयोजन नहीं, और शर्म का तो नाम लेना भी गुनाह है। यह है इस नये ज़माने की खूबियाँ।

हम यह नहीं कहते कि वह पुरानी बातें सब की सब तारीफ़ करने के क़ाबिल हैं मगर वह कितना ही बुरा क्यों न हो और कितने ही ताने उसे क्यों न दिये जायें, वह इस नयी स्वार्थपरता, घमंड और आडंबर से कई गुना अच्छा है। मज़ा यह है कि बचपन ही से इन नैसर्गिक गुणों को मिटाने की कोशिश की जाती है। यह मर्दाना गुण लड़कों को उनके दूध के साथ पिलाये जाते हैं। नये ज़माने का राग अलापने वाला कहेगा यह इकतरफ़ा तस्वीर है। देखिए आज राष्ट्रीय मेल-जोल ने मानव सम्बन्धों को कितना दृढ़ बना दिया है। एक अंग्रेज़ व्यापारी के साथ चीन में कोई बेइन्साफ़ी होती है और सारे इंगलिस्तान में शोर मच जाता है। खून की क़ीमत और क़ानूनी जंग की दुहाई मचने लगती है। एक फ्रांसीसी आदमी का प्रवेश किसी राज्य में बंद कर दिया जाता है और फ्रांसीसी दुनिया में उथल-पुथल मच जाती है। यह हमदर्दी, यह एकता कभी पहले भी थी ? राजपूत मुसलमानों की मातहती में राजपूतों का खून करते थे। मुसलमान सिक्खों के कन्धे से कन्धा मिलाकर मुसलमानों का क़त्ल करते थे। निस्संदेह यह नये युग का एक अच्छा पहलू है। इसके ज़ोर पर हम दुनिया के हर कोने में चैन से रह सकते हैं, हर प्रदेश में व्यापार कर सकते हैं।

मगर सच्चाई यह है कि यह एकता और सहमति इंसानियत की बनिस्बत राष्ट्रीय प्रभुत्व पर अधिक निर्भर है वर्ना क्या वजह है कि किसी दूर-दराज़ मुल्क में एक आदमी की तकलीफ़ या बेइज़्ज़ती क़ौम के दिल को हिला देती है मगर अपने ही पड़ोसी और अपने दोस्तों की भूख और ग़रीबी पर ज़रा भी दिल नहीं पसीजता ? क्या वजह है कि यूरोपियन पूँजीपति धन और ऐश्वर्य की शानदार नैया पर बैठा हुआ उन अनाथों की परवाह नहीं करता जो ग़रीबी और बदहाली के भँवर में पड़े हुए हैं ? यही कि स्वार्थपरता, इंद्रिय-परायणता राष्ट्र की आत्मा है।

वह विशुद्ध सांसारिकता है, सुन्दर भावनाओं से रहित, जिसने दिलों को कठोर और संकीर्ण और भावना-शून्य बना दिया है। वह पैसोंवालों का एक जत्था है जो नैतिक, भावनात्मक, आत्मिक वस्तुओं को व्यावसायिक लाभ और हानि की दृष्टि से देखता है, जिसके निकट वही नेकी आचरण करने योग्य है जो दौलत के ढेर में कुछ वृद्धि करे, वही भाव अच्छे हैं जो अपना प्रभुत्व बढ़ायें। वह आत्मा को भी तराजू के पलड़ों पर तौलता है। उसे जनतंत्र कहना गलती है। बराबरी और भाईचारे को उसने पैरों तले इस तरह रौंदा है कि अब उसकी शक्ल भी पहचानी नहीं जाती। इंसान की क़ीमत उसके नज़दीक इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है। वह क़साई की तरह इंसान के गोश्त और खाल का अंदाजा करके उसकी क़ीमत लगाता है। कहने का मतलब यह है कि पुराना ज़माना अमीरों और सुल्तानों का ज़माना था और नया ज़माना बनियों और व्यापारियों का ज़माना है। इसने दौलत के पहाड़ खड़े कर दिये, दौलत की तलाश में जल-थल को छानता हुआ आसमानों के छोर तक जा पहुँचा और अब सारी दुनिया उसका कार्यक्षेत्र है।

इस नये ज़माने में एक ऐसा रौशन पहलू भी है जो उन काले दाग़ों को किसी हद तक ढँक देता है और वह 'बेज़बानों की ताक़त का ज़ाहिर होना।' हाल के योरोपीय महायुद्ध ने इस पहलू को और भी उजागर कर दिया है। स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गरान्डील पेड़ों को ही नहीं सोये हुए और लुटे हुए हरे भरे मैदानों को भी जगा दिया है। अब एक फ़ाक़ाकश मज़दूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसन्द नहीं करता। उसे अपने कर्त्तव्य चाहे न मालूम हों लेकिन अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है। वह जानता है कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूँ। यह सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति मेरे हाथों का करिश्मा है। अब वह मूक संतोष और सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता।

यह उन चीज़ों की मंदी का युग है और वह भी उन्हें हाथ नहीं लगाता। वह भी आराम, निश्चिन्तता और खुशहाली की माँग करता है। वह भी अच्छे मकानों में रहना चाहता है, अच्छा खाना खाना चाहता है और मनोरंजन के लिए अवकाश की माँग करता है। और वह अपने दावों को ऐसे प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने लगा है कि अधिकारी वर्ग उससे नख़रे नहीं कर सकता। वह पूँजी का दुश्मन है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की जड़ खोदने वाला और व्यापारियों की जत्थेबन्दी का हत्यारा।

यह सच है कि वह भी अपने प्रभाव का क्षेत्र भौगोलिक सीमाओं के अन्दर रखना चाहता है मगर अपनी अमलदारी में बराबरी और सच्चाई का समर्थक है। वह अपने राष्ट्र को एक अकेली सत्ता बनाना चाहता है। हर व्यक्ति के लिए एक जैसा अवसर, एक जैसी सुविधाओं, एक जैसे उन्नति के साधनों की माँग करता है। सबकी एकता उसका जेहाद का नारा है। वह ऊँच-नीच को मिटाकर सारी ज़मीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रक्खे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बाँटे। वह ज़मींदारों को एक गन्दी और बेकार चीज़ समझता है और उनकी सम्पत्ति को उनके कब्जे से निकालकर जनता के कब्ज मे रखना चाहता है। संक्षेप मे, वह सारी सम्पत्तियां, कारखानों, रेलों, जहाजों पर एक विशेष व्यवस्था के द्वारा जनता के अधिकार की माँग करता है और कौन कह सकता है कि यह काम बेहद मुश्किल नहीं है। व्यक्तिगत अधिकार का विचार मनुष्य के स्वभाव का अंग हो गया है। यह उसकी सबसे सशक्त प्रेरक शक्ति है। इसी पर उसके ज़िन्दगी के सारे मनसूबे, सारे इरादे, सारी इच्छाएँ कायम है। 'व्यक्ति' की सत्ता मिटाना दुष्कर है। पूँजी और सम्पत्ति से खूनी लड़ाइयाँ लड़नी (कुछ देशों में जारी हैं) और यद्यपि रंग-ढंग से मालूम होता है कि उसकी इस लड़ाई मे हार हो गयी लेकिन उसका असर ज़िन्दा है और बढ़ता जाएगा। पूँजी उसे अपने काबू में रखने के लिए कुछ और रिआयते करेगी, कुछ बल खायेगी, कुछ नाज़ उठायेगी, उससे लड़ाई करके अपनी हस्ती खतरे में न डालेगी।

जनता की यह हलचल और माँगें चाहे नाजुक कानों को कितनी ही नागवार मालूम हों लेकिन वह उस निस्तब्ध मौन की तुलना में कहीं अधिक जीवनदायक हैं जो पुराने युग की अपनी विशेषता थी और जो अभी तक कुछ एशियाई देशों में चल रही है, जो आग में जलकर, तलवार की चोट खाकर भी उफ़ नहीं करती, सहना और तड़पना जिसकी विशेषता है। नये ज़माने के इस सबसे ताज़ा पहलू ने यूरोप और अमेरिका वगैरह देशों में शूद्रों का ख़ात्मा कर दिया है। अब वहाँ कोई ऐसा नहीं जिसके छूने से ब्राह्मणों का पवित्र अस्तित्व कलंकित हो जाए, कोई ऐसा नहीं जो क्षत्रियों के अत्याचार की फरियाद करे, जो वैश्यों के स्वर्ण-सिंहासन को ढोनेवाला बने।

मगर यह ख़याल करना कि जनतंत्र का यह नया पहलू अपनी भौगोलिक परिधि से बाहर निकलकर निर्बलों और अनाथों की हिमायत करेगा या पूँजीपति 'राष्ट्र' की बनिस्बत 'अ-राष्ट्रों' के साथ ज़्यादा इंसानियत और हमदर्दी का बर्ताव करेगा, शायद ग़लत साबित हो। उसे राज-सिंहासन और स्वर्ण मुकुट से प्रेम नहीं लेकिन राजकीय अधिकार-भावना और राज्य-संचालन की वासना से वह भी मुक्त नहीं। बहुत संभव है कि 'अ-राष्ट्रों' पर इस जनतंत्र का अत्याचार पूँजीपतियों से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो। जब कुछ थोड़े से पूँजीपतियों की स्वार्थपरता दुनिया को उलट-पलट कर रख दे सकती है तो एक पूरे राष्ट्र की सम्मिलित स्वार्थपरता क्या कुछ न कर

दिखायेगी। यह भी जत्थेबंदी की एक सूरत है, ज़्यादा ठोस। वह अपने देश के व्यक्तिगत प्रभुत्व को मिटाकर उसके बदले जनता के प्रभुत्व का झंडा लहरायेगी मगर यह स्पष्ट है कि उसका आधार भी स्वार्थपरता है और जब तक उसके पैरों से यह जंजीर दूर न होगी वह इस इंसानी भाईचारे की मंजिल से एक जौ भी और क़रीब न होगी, जो संस्कृति का लक्ष्य है।

लेकिन नये ज़माने की इस खींचतान और आपसी होड़, अहंकार और भौतिकता के संसारव्यापी अंधकार में आशा की एक किरण दिखायी दे रही है। वह प्रेसीडेंट विल्सन की प्रस्तावित लीग़ आफ नेशन्स या राष्ट्र संघ है। हम अपनी अनाथ और बेबस आँखों से उस किरण की ओर खड़े ताक रहे हैं। हमारे पैरों की कमज़ोरी हमें उस तरफ़ बढ़ने नहीं देती। हमारा दिल उम्मीद से भरा हुआ है। यह किरण हमारी कठिन मंज़िल के किसी आश्रयस्थल को पता दे रही है या केवल मरीचिका है, आनेवाली घड़ियां जल्दी ही इसका फ़ैसला कर देंगी। लेकिन अगर वह मरीचिका ही हो तो क्या हमें शिकायत का कोई मौक़ा है ? यह उन राष्ट्रों का संघ होगा जिन्होंने जनतंत्र का स्थान प्राप्त किया है, जहाँ बहुत से लोग मुट्ठी भर लोगों के हाथों लुटते नही, जहाँ ब्राह्मण और शूद्र का विचार या भेद नहीं है। हम अभी राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक भी नहीं पहुँचे , जनतंत्र की तो बात ही करना व्यर्थ है। ऐसी हालत में अगर हम इस संघ में दाख़िल किये जाने के क़ाबिल न समझे जायें तो हमें ताज्जुब या शिकायत न करनी चाहिए। जब इंगलिस्तान को इस संघ में आने के लिए अपना घेरा बहुत फैलाना पड़ा यहाँ तक कि अब उसकी स्त्री जाति को भी राजनीतिक अधिकार मिल गये, जब आस्ट्रिया और जर्मनी जैसे देश जिनकी राजनीतिक स्थिति हमसे कहीं अच्छी है इस संघ में केवल इसलिए प्रवेश पाने के योग्य नहीं समझे जाते कि वहाँ अभी तक व्यक्तिगत प्रभाव सिद्धान्तों पर भारी पड़ता है और विशाल जनता थोड़े से लोगों के अधीन है तो हिन्दुस्तान किस मुँह से इस संघ में शरीक होने की माँग कर सकता है जहाँ जनता एक बेजान और बेहिस ढेर से ज़्यादा कुछ नहीं। इस बर्बादी का इल्ज़ाम हम गवर्नमेण्ट के सिर नहीं रख सकते। गवर्नमेण्ट की कार्य-प्रणाली अब तक हमेशा ज़बर्दस्तों की हिमायत करती आयी है। जनता को इस जड़ता की स्थिति में रखने का सारा दोष शिक्षित और सम्पन्न लोगों पर है। हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज़्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखायी पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफ़सोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वह अधिकार और शासन की माँग करते हैं और धन और वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। कितने बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदार, बड़े-बड़े ज़मीन्दार, पैसेवाले रईस लोग उन बेज़बान करोड़ों काश्तकारों के साथ हमदर्दी, इंसानियत और देशभाईपने का बर्ताव करते हैं जिन्हें संयोग या गवर्नमेंट की ग़लती या खुद जनता की बेज़बानी ने उनकी तक़दीर का मालिक बना दिया है। आप स्वराज्य की हाँक लगाइए, सेल्फ़ गवर्नमेंट की माँग कीजिए, कौंसिलों को

विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइए, जनता को इन चीज़ो से कोई मतलब नहीं है। वह आपकी माँगों मे शरीक नही है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह आज ज़ोरदार आवाज़ में, शंख बजाकर आपकी इन माँगों का विरोध करेगी। कोई कारण नही है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुक़ाबले में आपकी हुकूमत को ज़्यादा पसन्द करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची ज़मीन्दार के मुँह में दवी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या ज़मानत है कि आपके पंजे मे आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जायेगी ? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहनेवाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का, स्वार्थ का, लोभ का, कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले लेकर खूब फूलें और बगलें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का ध्यान रखना भी ज़रूरी है। जाहिल रईसों या ज़मीन्दारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आँखें उस वक़्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं और ज़मीन्दार हैं, वकील हैं और ज़मीन्दार हैं। वह अपने दिल से पूछें कि वह प्रजा के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहे हैं ? कभी-कभी अपने कृत्यों और कमियों के बारे में अपने दिल से पूछना ज़रूरी होता है। उनका दिल साफ़ कहेगा कि तुम इस तराजू पर तौले गये और ओछे निकले। ज़रा शहर के शान्तिपूर्ण कोने से निकलकर वहाँ जाइए जहाँ जनता की आबादी है, जहाँ आपके नब्बे फ़ीसदी देशवासी बसते हैं। उस तड़प का आपके दिल पर एक निहायत रोशन असर पड़ेगा। आपकी आँखें खुल जायेंगी। अन्याय और अत्याचार के दृश्य आपका दिल हिला देंगे।

क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फ़ीसदी आबादी किसानों की हो उस देश मे कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आपने सैकड़ों मदरसे और कालेज बनवाये, यूनिवर्सिटियाँ खोलीं और अनेक आंदोलन चलाये मगर किसके लिए ? सिर्फ़ अपने लिए, सिर्फ़ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए। और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग़ में थी उसको देखते हुए आपका आचरण ज़रा भी आपत्तिजनक न था। मगर नये ज़माने ने एक नया पन्ना पलटा है। आनेवाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जल्द या देर से, शायद जल्द ही, हम जनता को केवल मुखर ही नहीं अपने अधिकारों की माँग करनेवाले के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी क़िस्मतों की मालिक होगी। तब आपको अपनी बेइंसाफ़ियाँ याद आयेंगी और आप हाथ मलकर रह जायेंगे। जनता की इस ठहरी

हुई हालत से धोखे में न आइए। इन्क़लाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताक़त छिपी हुई है? हार के पहले कौन जानता था कि जर्मनी का एकच्छत्र स्वैराचारी शासन जनता के ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है। निकट भविष्य में हिन्दुस्तान के लाखों मज़दूर और कारीगर फ्रांस से वापस आयेंगे, लाखों सिपाही लड़ाई के बाद अपने-अपने घर लौटेंगे। क्या आप समझते हैं कि उन पर उन आज़ाद देशों की आबोहवा का कुछ भी असर न होगा? अगर क़ौम में इन्सानियत और लाज-शरम नहीं है तो खुद अपनी भलाई का तक़ाज़ा है कि हम अभी से जनता के दिल को अपने बस में करने की कोशिश करें। इस बात में हमारे ताल्लुकेदार और ज़मीन्दार, चाहे वे अँधेरे अवध के हों या उजाले बंगाल के, सबसे ज़्यादा दोषी हैं। उचित है कि वे तात्कालिक हानि की चिन्ता न करके किसानों की भलाई और सुधार की कोशिश करें, स्वेच्छा से उन अधिकारों से हाथ खींच लें जो उन्हें किसानों पर प्राप्त हैं। उनसे बेगार लेना छोड़ दें, उनके साथ आदमियत का बर्ताव करें, इज़ाफ़ा और बेदखली से परहेज़ करें, ताकि जनता के दिलों में उनकी इज़्ज़त और उनके प्रति श्रद्धा हो। हमारे कौंसिलरों और राजनीतिक नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्य-प्रणाली बना लें। स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक़्त अब नहीं क्योंकि आनेवाला ज़माना अब जनता का है और वह लोग पछतायेंगे जो ज़माने से क़दम मिलाकर न चलेंगे।

(उर्दू में : 'ज़माना', फरवरी 1919)
(हिन्दी में : 'विविध-प्रसंग'–1 · जुलाई, 1962)

स्वराज्य के फ़ायदे

स्वराज्य क्या है ?

अपने देश का पूरा-पूरा इन्तज़ाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते हैं। जिन देशो में स्वराज्य है वहाँ की प्रजा अपने ही चुने हुए पंचों द्वारा अपने ऊपर राज करती है। वहाँ यह नही हो सकता कि प्रजा लगान और करों के बीच मे दबी रहे और अधिकारी लोग दिनों-दिन सेना बढ़ाते जायें, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाते जायें। प्रजा भूखों मर रही हो, चारों ओर अकाल पड़ा हो और देश का अन्न दूसरे देशों को ढोया चला जाता हो, मरो, हैज़ा आदि रोग फैल रहे हों और अधिकारी लोग उसके रोकने का उचित प्रयत्न न करके सैर सपाटे किया करते हों, गरीब मुसाफ़िरों को रेलगाड़ियों में बैठने की जगह न मिलती हो और अधिकारियों के वास्ते एक पूरी गाड़ी अलग खड़ी रहती हो, सारांश यह कि अधिकारी लोग प्रजा पर उसके हित के लिए नहीं बल्कि अपने प्रभुत्व जमाने और भोग विलास करने के लिए राज करते हों। जिन देशों में यह दशा होती है और प्रजा के हाथों में उसके सुधारने का कोई साधन नहीं होता, वही देश पराधीन कहलाता है और हमारा भारत इसी प्रकार के देशों में है जहाँ कर्मचारी लोग प्रजा का नमक खाकर अपने को प्रजा का सेवक नहीं, उसका स्वामी समझते हैं। भारत को छोड़कर समस्त संसार में अब एक देश भी ऐसा नहीं है जहाँ कि दशा इतनी खराब हो और आजकल हमारे नेता लोग इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं कि इस दशा से भारत का उद्धार कैसे हो। क्या सारे संसार में हमीं सबसे नीच, सबसे मूर्ख, सबसे निर्बल हैं कि हाथ पर हाथ धरे इस दशा में पड़े रहें ? हमारे पुरुषों में श्री रामचन्द्र जैसे पराक्रमी, महाराणा प्रताप और शिवाजी जैसे रणधीर, बादशाह अकबर जैसे प्रजाभक्त, गुरु वशिष्ठ जैसे आत्मदर्शी हो गये हैं, हम लोग उन्हीं की संतान हैं। क्या हम लोगों में बल, बुद्धि, विद्या सर्वथा लोप हो गयी है ? नहीं, यह बात नहीं है; भीष्म और अर्जुन के नाम पर जान देनेवाले कभी इतने बलहीन, इतने कर्महीन नहीं हो सकते। यह दिनों का फेर है जिसने हमें इस अधोगति को पहुँचा दिया है। लेकिन अब हम सचेत हो रहे हैं, हमारी निद्रा टूट रही है और हमें पूर्ण विश्वास है कि हम अपने सदुपयोग और पूर्वजों के आशीर्वाद से फिर भारत को उसी उन्नत दशा में पहुँचा देंगे जहाँ वह था, हम फिर समस्त भूमण्डल में उनका नाम उजागर कर देंगे। इसका एकमात्र साधन 'स्वराज्य' है और

भारत मे प्रत्येक प्राणी का धर्म है कि वह यथायोग्य इस सद्कार्य मे अपने नेताओ की मदद करे।

स्वराज्य के भेद

स्वराज्य के तीन भेद हैं। एक वह है जहाँ का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है, प्रजा उसके इन्तज़ाम में जरा भी दखल नही दे सकती, जैसे काबुल, नेपाल। दूसरा वह है जहाँ का राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियो की सलाह के बिना कुछ न कर सकता हो, जैसे इग्लिस्तान, जापान। तीसरा वह है जहाँ राजा नहीं होता, उसकी जगह पर पच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुनकर कुछ नियत समय के लिए अपना प्रधान बना लेते हैं और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरों की सम्मति से राज्य का सारा प्रबन्ध करता है, जैसे फ्रांस, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीनो भेदों में से एक में भी नही आता, उसकी दशा सबसे गयी बीती है, न उसका राजा ही भारत का निवासी है और न वह प्रजा के चुने हुए पंचों द्वारा देश पर राज्य ही करता है। वास्तव मे भारत का राजा कोई एक आदमी नहीं है, बल्कि समस्त इग्लैण्ड–नही बल्कि अंग्रेज़ जाति उस पर राज्य करती है, चाहे वह आस्ट्रेलिया मे रहती हो, चाहे कनाडा मे। सोचने की बात है कि जब एक लोभी राजा समस्त देश की प्रजा को नाना प्रकार की विपत्तियों में डाल सकता है तो एक पूरी जाति लोभ के वश मे देश में कितना हाहाकार फैला सकती है। अकेला राजा तो प्रजा को लूटकर अपना पेट भर सकता है लेकिन किसी पराधीन देश के लिए अपने ऊपर राज करनेवाली समस्त जाति का पेट भरना असम्भव है। यही कारण है कि भारत की दशा इतनी हीन हो रही है। अंग्रेज़ जाति के व्यवसायी उसका व्यवसाय अपने हाथों मे करना चाहते हैं, नौकरी-पेशे करनेवाले ऊँचे-ऊँचे ओहदे दबाये बैठे हैं, वहाँ के उद्योगी लोग यहाँ के उद्योग धन्धों पर आसन जमाये हुए हैं, यहाँ तक कि वहाँ के विद्वान लोग यहाँ की विद्या के भी अधिकारी बन गये हैं। हम इन तीनों भेदों में कौन चाहते हैं यह अभी साफ-साफ नहीं कहा जा सकता पर इसमें अब ज़रा भी सन्देह नहीं है कि हम वह स्वराज्य चाहते हैं जहाँ प्रजा के चुने हुए पंचों की सलाह से सब राजकाज किया जाता है और पंचों की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नहीं कर सकते। भारत में ऐसी सभाएँ हैं जहाँ प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते हैं। छोटे लाट साहब और बड़े लाट साहब दोनों ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएँ बनायी गयी हैं। लेकिन एक तो इन सभाओं में जो पंच प्रजा की ओर से भेजे जाते हैं उन्हें वही लोग चुनते हैं जो या तो महाजन हैं या बड़े ज़मींदार या बड़े काश्तकार हैं, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नहीं है, दूसरे इन सभाओं को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियों की इच्छा है चाहे उस राय को मानें या न मानें, वह इन सलाहों के मानने पर मज़बूर नहीं हैं। विदित ही है कि वास्तव में

यह सभाएँ केवल हाथी के दाँत हैं, उनकी जात से जनता की कोई भलाई नहीं हो सकती। उन्हें न तो आमदनी और खर्च के विषय में मुँह खोलने का अधिकार है, न सेना के विषय में, न पुलिस के विषय में। हाँ, शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा और म्यूनिसिपैलिटी के मामलों में उन्हें कुछ सत्ता प्राप्त है, लेकिन वह भी केवल नाम के लिए, क्योंकि जब आमदनी और खर्च उनके अखत्यार के बाहर है तो वह शिक्षा या स्वास्थ्य रक्षा का उचित प्रबन्ध कैसे कर सकते हैं, जब ख़जाने की कुजी शासकों के हाथों में है तो वह उनके आधीन है कि वह शिक्षा के लिए धन दें या न दें। स्वराज्यवादियों का लक्ष्य यही है और महात्मा गाँधी ने साफ़ कह दिया है कि हमको आमदनी और ख़र्च और सेना सम्बन्धी मामलों पर पूरा अखत्यार हो, यही हमारा उद्देश्य है।

स्वराज्य के साधन

स्वराज्य का मुख्य साधन 'स्वावलम्बन' है, अर्थात् अपने देश की सब ज़रूरतों को आप पूरा कर लेना है। जो प्राणी अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े-बखेड़े अपनी पञ्चायत में चुका लेता है उसे हम स्वाधीन कह सकते हैं। हम अपनी ज़रूरतों के लिए दूसरे देशवालों के मुहताज हैं, अनेक छोटे-छोटे घरेलू झगड़े चुकाने के लिए भी अदालतों का मुँह ताकते हैं, यहाँ तक कि अन्न वस्त्र के लिए भी दूसरों के अधीन हैं। यही हमारी पराधीनता है, इस अवस्था को दूर कर देने पर फिर हम सच्चे स्वराज्य का आनन्द उठाने लगेंगे। हमारे देश में काफी कपड़ा नही बनता। वह कपड़ा खरीदने के लिए हमे अपने देश का अनाज, तेलहन आदि अन्य देशों के हाथ बेचना पड़ता है। अनाज के निकल जाने से देश में बारहों मास अकाल की दशा बनी रहती है। महँगी से प्रजा को काफ़ी भोजन नहीं मिलता, वह अपना उदर भरने के लिए नाना प्रकार के कुकर्म करती है, इस प्रकार पुलिस और अदालतों का ज़ोर बढ़ता है। केवल एक कपड़े की कमी से देश के सिर कैसी-कैसी बाधाएँ आ पड़ती हैं। यदि हम लोग अपने तन ढँकने के लिए काफी कपड़े बना लें, तो हमारे 70 करोड़ रुपये देश में रह जायें, धन-धान्य की वृद्धि हो जाये। भोग विलास की चीज़ों के पीछे भी हम अपने देश के करोड़ों रुपये अन्य देशों की भेंट करते हैं। इस मामले में सारा अपराध पढ़े-लिखे अँग्रेजी शिक्षा के भक्तों के सिर है। वह वकालत करके या नौकरी करके या अन्य रीतियों से प्रजा का धन खींच लेते हैं और उसे सिगरेट, साबुन, मोटर, शीशे के सामान, भाँति-भाँति की विलासयुक्त सामग्रियों की वेदी पर चढ़ा देते हैं। जब तक हम लोग अपने देश की कमायी अन्य देशों के हाथों इस प्रकार बेचते रहेंगे हम सच्चे स्वराज्य का आनन्द नहीं उठा सकते। इसलिए निहायत ज़रूरी है कि हम अपने पैरों पर खड़े होना सीखें, किसी के अधीन न रहें। अगर हमारे देश में साठ लाख चर्खे भी चलने लगें, तो हम अपने वस्त्रों के लिए किसी अन्य देश के मोहताज़ न रहें, सारा

देश धन और अन्न से परिपूरित हो जाये। इसी प्रकार यदि हमारे सुशिक्षित भाई लोग भोग-विलास के पदार्थों को त्याग दें तो उन्हें प्रजा को ठगकर, धूर्तता से, छल से धन कमाने की ज़रूरत न रहे। हमारा राष्ट्रीय जीवन कितना सुखद और शान्तिमय हो जाये। कितनी मनोहर कल्पना है। कुछ लोगों के कथनानुसार, यह सुदशा काल्पनिक ही सही, मनोरम स्वप्न ही सही, आदर्श सही, पर कोई कारण नहीं कि हम उस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास न करें। इस अवस्था मे देश का सबसे उपकार जो हम कर सकते हैं वह चर्खे चलाना है। यह केवल व्यावसायिक प्रश्न नहीं है, धार्मिक प्रश्न है। यह केवल दैहिक मुक्ति का नहीं, आत्मिक मुक्ति का साधन है। यह विचार मत करो कि चर्खे चलाने से तो मजूरी नहीं पड़ती। मजूरी समझ कर नहीं, इस काम को अपना कर्त्तव्य समझकर करो। हमारा विशेष अनुरोध उन परदेवाली साध्वी स्त्रियों से है जिनके समय का अधिकांश गपशप या परनिन्दा में कटता है। उन्हें इस समय ईश्वर ने देशोद्धार का बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया है। इस पवित्र काम में उन्हें सहर्ष अपने पुरुषों की सहायता करनी चाहिए। उन्हें केवल वस्त्र दान का पुन्न ही न होगा बल्कि वह अपने देश के उन लाखों जुलाहों को काम में लगा देंगी, उनके परिवार को दरिद्रता के चंगुल से निकाल लेंगी, जो इस समय ताशे ढोल बजाकर, या नेचे आदि बनाकर अथवा पुतली घर में मजूरी करके अपना पेट पाल रहे हैं। इससे भी बड़ा उपकार यह होगा कि हमारे देश से कुली प्रथा उठ जायेगी जिसके कारण आज लाखों परिवार अपने गाँव-घर छोड़कर शहरों की तंग और गन्दी कोठरियों में अपने जीवन के दिन काट रहे हैं और नाना प्रकार की कुवासनाओं में पड़कर अपने जीवन का सर्वनाश कर रहे हैं।

स्वराज्य प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओं का त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती हैं और उसे पराधीन, परावलम्बी बनाती हैं। अदालतें, सरकारी नौकरियाँ, सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलनेवाली, हमारे मन के पवित्र भावों को दमन करनेवाली, हमें कौड़ी का गुलाम बनानेवाली, हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली संस्थाएँ हैं। हमारे बालकवृन्द बालकपन से ही सरकारी नौकरियों की आशा करने लगते हैं, उसी समय से उनकी आत्मा पराधीन होने लगती है। उन्हें पर कटे पक्षी की भाँति दरबे के सिवा और कुछ नहीं सूझता। चापलूसी करने की, काँइयापन करने की आदत पड़ जाती है, वह अपनी इन्द्रियों के दास बन जाते हैं, सरकारी नौकरी ही उनका सर्वाधार बन जाती है। ऐसी शिक्षा पानेवाले युवकों के हृदय में देश प्रेम के उच्च भावों का उदय होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जिनकी आत्मा ही दब गयी वह स्वराज्य और स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह तो हुआ शिक्षा का हाल। अदालतों का प्रभाव इससे कम प्राणघातक नहीं। वहाँ मुकदमेबाजी करने वाली जनता और उनका धन लूटनेवाले वकील मुख्तार दोनों ही अपनी आत्मा को हताहत करते हैं। अगर कोई आदमी, झूठ, छल, कपट, धूर्तता, बेईमानी का भीषण नाटक देखना चाहे तो उसे एक बार अदालत में जाना चाहिए। वहाँ ऐसे-ऐसे घृणोत्पादक दृश्य देखने में आयेंगे कि उसकी आँखें खुल

जायेंगी और मानवी दुर्बलता, दुष्टता तथा नीचता का विकट अनुभव हो जायेगा। कहीं गवाह तैयार किये जा रहे हैं, कहीं मुवक्किलों को उनका बयान तोते की भाँति रटाया जा रहा है, कहीं काँइया मुहर्रिर मुवक्किलों से ख़र्च के लिए तकरार कर रहा है, कहीं कर्मचारी लोग रिश्वत के सौदे चुका रहे हैं, कहीं वकील साहब अपने मेहनताने का सौदा पटाने में मग्न हैं, कहीं मुख़तार देहातियों के एक दल को साथ लिये इज़लासों में दौड़ते फिरते हैं। और यह सब धूर्त लीला खुल्लम खुल्ला बिना किसी संकोच के होती रहती है। आत्मनाश का इससे करुणाजनक दृश्य कल्पना में नहीं आ सकता। वकालत को आज़ाद पेशा मानकर लोग इस पर गर्व करते हैं, यहाँ तक कि शिक्षा का यही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य समझा जाता है। हमारे विद्यालयों से उच्च उपाधियाँ प्राप्त करके लोग यही कामना लिये हुए निकलते हैं पर वास्तव में इससे नीच और परतन्त्र बनानेवाला कोई दूसरा पेशा नहीं है। शिक्षक की, चिकित्सक की, सौदागर की, कारीगर की ज़रूरत हमेशा रहेगी चाहे देश की राजनैतिक स्थिति कुछ भी हो। लेकिन वकीलों की उपयोगिता अदालतों पर ही निर्भर है। आज अदालतें बन्द हो जायें या पंचायतों का सर्वसाधारण से प्रचार हो जाये तो वकीलों को कोई कौड़ी को भी नहीं पूछे। टके-टके मारे फिरें। अंग्रेज़ी राज के पहले यहाँ वकालत का नाम भी न था। अंग्रेज़ी राज के साथ यह पेशा भी आया और उसी राज की भाँति दिनों-दिन उन्नति करने लगा, यहाँ तक कि आज इसने शिक्षित समाज पर एकाधिपत्य-सा कर लिया है। सोचिए कि जिस समाज का प्रतिभाशाली भाग अपनी जीविका के लिए किसी विशेष संस्था के आधीन हो वह स्वराज्य और आज़ादी के भावों का आनन्द कैसे उठा सकता है। वस्तुतः हमारे वकील भाई अदालतों के गुलाम हैं, उन्हें कोई स्वाधीन पेशा नहीं आता, उनमें स्वावलम्बन का भाव लुप्त हो गया है और उनसे समाज के उपकार की कोई आशा नहीं की जा सकती। अब रहे मुकदमेबाज़ लोग, उनमें प्रायः वही लोग हैं जो अपने धन या धूर्तता के बल से अन्याय को न्याय बनाना चाहते हैं। ऐसे आदमियों की आत्मा दुर्बल हो जाती है और वह अपना मतलब निकालने के लिए किसी ग़रीब की जायदाद हज़म करने के लिए अथवा शत्रुओं से अपना वैर चुकाने के लिए तरह-तरह के पाखण्ड रचते हैं। जो आत्मा अनीति की शरण लेती है वह कभी स्वराज्य के योग्य नहीं हो सकती। वह सदैव कुचेष्टाओं के नीचे दबी रहती है, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए सदैव दूसरों की खुशामद किया करती है। उसमें सम्मान का भाव नष्ट हो जाता है, वह पतित हो जाती है। ऐसी गिरी हुई आत्माएँ स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकतीं। उनके संकीर्ण हृदय में स्वार्थ के सिवा ऊँचे और पवित्र भाव उठते ही नहीं। वह नित्य इसी चिन्ता में रहती है कि किसका धन उड़ा लें, किसकी ज़ायदाद हड़प कर जायें। स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार ही की उपासना करनी पड़ेगी और मुकदमेबाज़ी को छोड़ने में हमें इस उपासना में बड़ी मदद मिलेगी।

ऊपर जिन साधनों का ज़िक्र किया गया है वह सभी एक शब्द असहयोग के अन्तर्गत आ जाते हैं। और शासन प्रजा के सहयोग या सहायता के बिना नहीं

चल सकता। प्रजा का धर्म है कि वह अपनी सरकार की यथायोग्य सहायता करे, धन से, बल से, बुद्धि से उनकी सेवा करे, किन्तु जब शासन अनीति पर उतारू हो जाये, प्रजा को कष्ट देने लगे, उसके अधिकारों को कुचलने लगे, अपना रोब जमाने के लिए उस पर अत्याचार करने लगे, तो फिर उसका प्रजा से सहायता पाने का मुँह नहीं रहता, और प्रजा भी उसकी सहायता न करने में दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। भारत में इस समय ऐसा ही अवसर आ पड़ा है। अधिकारी वर्ग नाना प्रकार के विधानों से प्रजा को दमन करने पर तुले हुए हैं। कहीं सभाएँ बन्द की जा रही हैं, कहीं नेताओं का मुँह बन्द किया जा रहा है, कहीं निहत्थी प्रजा पर गोलियाँ चल रही हैं, कहीं कार्यकर्त्ता जेल भेजे जा रहे हैं और वहाँ उनसे कड़ी मेहनत ली जा रही है, कहीं पंचायतो को तोड़ा और पंचों को दण्ड दिया जा रहा है, यहाँ तक कि किसी को शराब पीने से रोकने को भी जुर्म समझा जाता है। महात्मा गांधी की जय-जयकार करने के लिए, खादी पहनने के लिए, चरखों का प्रचार करने के लिए सज्जनों पर तरह-तरह के दोषारोपण किये जा रहे हैं। ऐसी दशा में प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह सरकार को किसी प्रकार की सहायता न दे, क्योंकि अत्याचारी शासन की मदद करना अत्याचार करने से कम पाप नहीं है। सरकार की नौकरी करना अनुचित है इसलिए कि प्रजा पर अत्याचार करने का काम नौकरों द्वारा ही होता है। सरकारी अदालतों में जाना अनुचित है इसलिए कि इससे सरकार का रौब बढ़ता है और प्रजा की आत्मा दुर्बल होती है, वकालत करना अनुचित है, इसलिए कि इससे सरकारी न्यायालयों की पुष्टि होती है, सरकारी विद्यालयों में पढ़ना अनुचित है, इसलिए कि इससे हमारे हृदय में गुलामी के भाव पुष्ट होते हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि हम असहयोग इस हेतु ग्रहण नहीं करते कि इससे सरकार को हानि पहुँचे। नहीं, हम केवल इसलिए असहयोग करते हैं कि हमारा यही वर्तमान धर्म है। सरकार की नीति का हमको जो अनुभव हुआ और हो रहा है उससे भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि स्वराज्य के बिना हमारे देश का कल्याण नहीं हो सकता। उसकी प्राप्ति का साधन शान्तिमय असहयोग है, और आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार असहयोग के तीन अंग हैं। केवल असहयोग हमको स्वराज्य पद पर नहीं पहुँचा सकता। असहयोग तो केवल बाह्य साधन है, आन्तरिक साधन आत्मा की पवित्रता है। अपनी आत्मा को खो देने से हम पराधीन हुए, स्वार्थ परायणता ने ही हमारे गले में दासत्व की जंजीर डाली। आत्मा को पाकर ही हम स्वाधीन हो सकते हैं।

स्वराज्य के फ़ायदे

स्वराज्य के फ़ायदे का शुमार करना ईश्वर के गुणों के गिनने के बराबर है। उसकी महिमा अपरम्पार है। स्वराज्य मिलने पर देश में सुख और शान्ति का स्वराज्य हो जायेगा उसी तरह जैसे कोई क़ैदी जेल से छूटकर सुखी होता है। उसके हाथों में

हथकड़ियाँ नहीं हैं; पैरों में बेड़ियाँ नही, सिर पर सिपाहियों की संगीनें नही हैं, वह अन्न के लिए, वस्त्र के लिए किसी का मुहताज़ नहीं है, जब चाहे सोये, जब चाहे जागे, जब चाहे काम करे, जब चाहे आराम करे, जहाँ चाहे जाये, कोई उसका बाधक नहीं है। इस छुटकारे का आनन्द उसी क़ैदी से पूछिए। वही उसका मज़ा जानता है। स्वराज्य से देश को सबसे बड़ा फ़ायदा जो होगा वह भारतीय जीवन का पुनरुद्धार है। प्रत्येक जाति के जीवन में कोई प्रधान गुण होता है। अंग्रेज जाति का प्रधान गुण पराक्रम है, फ्रांसीसियों का प्रधान गुण स्वतन्त्र प्रेम है, उसी भाँति भारत का प्रधान गुण धर्मपरायणता है। हमारे जीवन का मुख्य आधार धर्म था। हमारा जीवन धर्म के सूत्र में बँधा हुआ था। लेकिन पश्चिमी विचारों के असर से हमारे धर्म का सर्वनाश हुआ जाता है, हमारा वर्तमान धर्म मिटता जाता है, हम अपनी विद्या को भूलते जाते हैं, अपने रहन सहन, रीति-रिवाज़ से विमुख होते जाते हैं, हमारा अद्वितीय सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हुआ जाता है; पच्छिम की देखा देखी हम धनोपार्जन ही को जीवन का लक्ष्य मानने लगे हैं, सम्पत्ति ही को सर्वोपरि समझने लगे हैं, यही हमारा धर्म हो गया है। ज्ञान का, सन्तोष का, कर्त्तव्यपालन का, त्याग का महत्त्व हमारी निगाहों से उठता जाता है। हम विद्या को धर्म समझकर सीखते और सिखाते थे, चाहे वह गान विद्या हो, धनुर्विद्या हो या कोई अन्य विद्या हो। अब हम उसे धनोपार्जन के लिए सीखते और सिखाते हैं। हममें परस्पर प्रेम नही रहा, सहानुभूति नहीं रही। हमारी मैत्री, हमारा प्रेम, हमारी सदिच्छाएँ, हमारे हृदय को उच्च वृत्तियाँ, सभी धन इच्छा के नीचे दबती जाती हैं। सारांश यह है कि हम अपनी आत्मा को भूलते जाते हैं। स्वराज्य पाकर हम अपनी आत्मा को पा जायेंगे, हमारे धर्म का उत्थान हो जायेगा, अधर्म का अन्धकार मिट जायेगा और ज्ञान भास्कर का उदय होगा। वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म का फिर राज होगा। हम फिर अपने भाग्य के विधाता हो जायेंगे, बैलो की भाँति हाँके न जाकर पुरुषों की भाँति अपना मार्ग स्थिर करेंगे। हमको संसार में अपने विचारों के प्रचार करने का, अपने आदर्शों को दिखाने का अवसर मिल जायेगा। हम किसी जाति के पिछलग्गू न बनकर संसार सभा में अपने उचित स्थान पर बैठेंगे, हमारी गणना दीन-हीन परवश जातियों में न होकर उन जातियों में होने लगेगी जिनके हाथों में संसार की बागडोर है। पराधीनता ने हमारी बुद्धि को मन्द कर दिया है। हमारा मानसिक बल लुप्त हो गया है। हमने पिछली कई शताब्दियों से संसार के ज्ञानकोष में कुछ योग नहीं किया, कोई नयी कल्पना नहीं की, विचार सागर में कोई लहर पैदा नहीं की। पश्चिम की जगमगाते हुए बिल्लौर के सामने हमारे जवाहिरात की चमक मन्द पड़ गयी थी। स्वराज्य हमारी बुद्धि को, हमारी विचार शक्ति को मुक्त कर देगा और संसार में फिर उनकी आवाज़ सुनायी देगी। हमारा महत्त्व बढ़ेगा, हमारी प्रतिभा बढ़ेगी और हम उन्नत और बलवान जातियों के सम्मुख बैठने के अधिकारी हो जायेंगे। हम संसार में एक नयी सभ्यता, एक नये जीवन का प्रचार कर देंगे, संसार के वर्तमान धर्म प्रेम को अपने सन्तोषमय जीवन से लज्जित कर देंगे, स्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता को मिटाकर सहकारिता और

प्रेम का सिक्का जमा देंगे। तब–ससार का द्वार हमारे लिए बन्द न होगा हम अछूत, नीच, असभ्य, गँवार न समझे जायेंगे, तब कनाडा और आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और न्यूज़ीलैंड के लोग हमारी सूरत से घृणा न कर सकेंगे, तब फ़िज़ी और डमरा के मदान्ध सौदागर हमें कोड़े मारकर गुलाम न बना सकेंगे, तब हमको कुचलने के लिए हमको गुलाम बनाये रखने के लिए, तरह-तरह के कठोर पाशविक कानून न बनाये जा सकेंगे, क्योंकि तब हमारे हाथों में भी इन अत्याचारों का जवाब देने की शक्ति होगी, तब किसी को हमें नीच समझने का अधिकार न रहेगा, तब हमको जो जाति अपने देश में जाने से रोकेगी उसे हम भारत में पैर न रखने देंगे, उसके साथ व्यवसाय न करेंगे, उससे कोई सम्पर्क न रक्खेंगे। तब हमारे देश में आप ही धन-धान्य की इतनी बहुलता हो जायेगी कि हमारे भाइयों को कुलियों में भर्ती होने की ज़रूरत ही न रहेगी। अंग्रेजी उपनिवेशों में इस समय हमारे भाइयों की जो दुर्गति हो रही है उसे देखकर किन आँखों से आँसू न निकल पड़ेंगे। जिन भारतीय मजूरों ने अपना पसीना और रक्त बहाकर पूर्वीय अफ्रीका, नेटाल, ट्रान्सवाल, फिज़ी को चमन बनाया, जंगलों को काटकर बसाया उन्हीं को अब वहाँ से निकाल देने के लिए मदान्ध, स्वार्थान्ध अंग्रेज, नाना प्रकार के क्रूर व्यवहार कर रहे हैं। स्वराज्य पाने के बाद फिर किसका मुँह है जो हमसे ऐसा बुरा ऐसा पैशाचिक व्यवहार कर सके।

इस धार्मिक और मानसिक उन्नति के अतिरिक्त स्वराज्य से दूसरा बड़ा उपकार जो होगा वह हमारी आर्थिक सुदशा है। प्राचीनकाल मे भारत अत्यन्त समृद्धिशाली देशों में था। यहाँ तक कि अन्य देशों के लोग यहाँ के धन की उपमा देते थे। हमारे कवियों ने भी अपने काव्य ग्रन्थों में नगरों के जो वर्णन किये हैं उनसे भी उसी बात की पुष्टि होती है। अब वह कंचन, वह रत्न कहाँ हैं? आज तो हमारा देश संसार के सबसे कंगाल देशों में है जहाँ के निवासियों को साल में नौ महीने आधे पेट भोजन करके निर्वाह करना पड़ता है। इसका कारण कुछ तो यह है कि भूमि इतनी उर्वरा नहीं रही लेकिन मुख्य कारण हमारी पराधीनता है। हमको लगभग सत्तर करोड़ रुपये प्रतिवर्ष कपड़े के लिए अन्य देशों को देने पड़ते हैं। लगभग चालीस करोड़ रुपये अंग्रेज़ कर्मचारियों के पेन्शन आदि के निमित्त देने पड़ते हैं। सत्तर करोड़ रुपये केवल सेना विभाग के भेंट हो जाते हैं। रेलों की कम्पनियों को कितने ही करोड़ रुपये नफ़ा के देने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ लोग जितना धन चाय, नील, ऊख आदि की खेती करके, अन्न, लोहे, कपड़े आदि के कारख़ाने कायम करके ढो ले जाते हैं उसका कोई हिसाब नहीं। राजकर्मचारियों को वेतन जो यहाँ दिया जाता है वह अन्य देशों के कर्मचारियों से कहीं अधिक है। यह सब धन कहाँ से आता है? हमारी भूमि से। यही कारण है कि ज़मीन पर दिनों दिन लगान बढ़ता जाता है दिनों-दिन भाँति-भाँति के कर लगते जाते हैं कि किसी तरह यह शासन का बढ़ा हुआ ख़र्च पूरा पड़े। शिक्षा के लिए रुपयों का सदैव रोना रहता है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए धन का सदैव तोड़ा रहता है लेकिन पुलिस और सेना के लिए कभी धन की कमी नहीं रहती। स्वराज्य होने से इस दशा में बहुत कुछ सुधार होने की

सम्भावना है।

अभी विश्वस्त रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस शासन का खर्च घटाने में सफल होंगे लेकिन इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि कुछ-न-कुछ किफ़ायत ज़रूर होगी। हम पुलिस की इतनी बड़ी संख्या न रक्खेंगे और पुलिस के उच्च अधिकारियों की संख्या घटाने का प्रयत्न किया जावेगा। ख़र्च की सबसे बड़ी मद सेना है। हम इतनी बड़ी और इतनी महँगी सेना न रक्खेंगे। गोरे सिपाहियों पर बहुत ज़्यादा खर्च पड़ता है। गोरे अफसरों को भी लम्बी-लम्बी तनख्वाह देनी पड़ती हैं। इसकी जगह देशवासी ही अफसर होंगे और सिपाहियों की भी संख्या घटा दी जायेगी। देश रक्षा के लिए स्वयं-सेवकों की सेना बनायी जायेगी, स्थायी सेना के कम हो जाने से खर्च में बहुत बचत हो जायेगी। राज्य कर्मचारियों में अधिकांश इसी देश के लोग होंगे और उन्हें इतना वेतन न देना पड़ेगा। इसी मद मे भी बहुत खासी बचत हो जायेगी। यह भ्रम है कि स्थायी सेना को घटा देने से अन्य जातियाँ हमारे ऊपर आक्रमण करेंगी। इस समय सब देश अपनी आन्तरिक उन्नति के उद्योगों में लगे हुए हैं और बोलशेविजंम के भावों के कारण उन्हें अपना ही घर सँभालना मुश्किल पड़ रहा है। और जिस तरह इस मत का प्रचार बढ़ रहा है उससे बहुत कम राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने की फुरसत या हविश रह जायेगी। बोलशेविजंम का सुधरा हुआ जो रूप आगे बच रहेगा सम्भव है उसमें एक दूसरे पर आक्रमण करके उसका धन धान्य हरण करने का रिवाज़ ही उठ जाये। हम यदि किसी को न सतावेंगे तो दूसरे हमको क्यों सताने लगे। ससार से सैनिकता के उठ जाने के शुभ लक्षण जान पड़ रहे हैं। इसलिए हमें सेना और शासन विभागों में जो बचत होगी वह स्वास्थ्य रक्षा और शिक्षोन्नति में खर्च होगी। इतना करने पर बहुत सम्भव है कि हमारा भूमिकर इससे हल्का हो जाये और अन्य कर तोड़ दिये जायें। हमारे नेता लोग भूमिकर को हल्का करने के लिए सरकार से सदा अनुरोध करते आये हैं। ज़ब प्रबन्ध उनके हाथों में आ जायेगा तो वह अवश्य अपने सिद्धान्त का पालन करेंगे और हमारे किसानों के सिर से लगान का भारी बोझा उतर जायेगा। हमारी अदालतों पर भी इस समय भारी व्यय होता है। न्याय इतना महँगा हो गया है कि बेचारे ग़रीबों के लिए वह दुर्लभ हो गया है। तब अदालतों का बहुत-सा काम पंचायतों को सौंप दिया जायेगा और जनता को बिना घरबार रेहन किये न्याय मिल जाया करेगा। अवैतनिक कर्मचारियों की संख्या बढ़ा देने से भी अदालतों के खर्च में कमी की जा सकेगी।

जब जनता के पास धन एकत्र हो जाये तो वह उससे किसी न किसी काम में लगाना चाहेगी। इस प्रकार देश की व्यावसायिक और व्यापारिक उन्नति होगी। अभी सरकार ने मालगाड़ियों के ऐसे नियम बना रक्खे हैं, विलायत के सौदागरों के माल भेजने के ऐसे सुभीते कर रक्खे हैं कि वह यहाँ सस्ता माल भेज सकें। यह देश अभी कौशल और कलों से काम करने में निपुण नहीं है। इसका फल यह हो रहा है कि बाहर से सस्ती चीज़ों के पट जाने के कारण हम अपने शिल्पादि को

सँभाल नहीं सकते। तब रेलगाड़ियाँ हमारे इन्तज़ाम में होगी। हम अपनी सुविधानुसार आने जाने वाले माल का महसूल बढ़ा-घटा सकेंगे। बाहर से आनेवाली सस्ती चीज़ों पर कड़ा कर लगाकर विदेशी माल को रोक सकेंगे और स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देकर उनका प्रचार बढ़ा सकेंगे। इन थोड़े दिनों में हमारा देश किसी अन्य देश का मुहताज़ न रहेगा। हमारे यहाँ वह सभी जिन्सें पैदा होती हैं या पैदा की जा सकती हैं जो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। फिर हमें किसी दूसरे देश का मुहताज़ क्यों रहना पड़े ? यह भी याद रखना चाहिए कि हमारा देश कृषि प्रधान है। शिल्प और उद्योग यहाँ सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बहुत बड़े-बड़े कारखाने क़ायम नहीं कर सकते क्योंकि इससे मजूर लोग शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों में पड़कर अपने शरीर और आत्मा दोनों का ही सर्वनाश करते हैं। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानों में मजूरों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। हमें यही उद्योग करना चाहिए कि हमारा ग्राम्य जीवन जो स्वास्थ्य रक्षा और आचरण की पवित्रता का पोषक है नष्ट न होने पावे। इसलिए हमें प्रायः उन्हीं उद्योग धन्धों का प्रचार करना होगा जो कृषक लोग घर बैठकर अवकाश के समय कर सकें। छोटे-छोटे कारखाने अलबत्ता कस्बों में खोले जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यावसायिक नीति से हम विदेशी वस्तुओं का मुकाबला न कर सकेंगे। लेकिन जब हम कर लगाकर विदेशी वस्तुओं को रोक देंगे तो उनसे मुकाबला करने का प्रश्न ही न रह जायेगा। इसके सिवा हम तो केवल अपनी ज़रूरत को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते हैं। हमारा उद्देश्य कदापि नहीं है कि सस्ता माल बनाकर निर्बल देशों पर पटकें और व्यवसाय के बहाने उन पर आधिपत्य जमायें। हम सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं, किसी को सताना या दबाना नहीं चाहते। हम उतना ही कपड़ा बनाना चाहते हैं जिससे हमारी प्रजा का तन ढँक जाये। मैनचैस्टर, लंकाशायर आदि की भाँति दूसरे देश के गले अपना सस्ता माल नहीं मढ़ना चाहिए। इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी के कारण योरोप की जातियों में नित्य वैमनस्य बना रहता है, एक दूसरे को शत्रु समझती हैं। उसका भयंकर परिणाम वह महा समर था जिसका अभी तक निबटारा नहीं हुआ। हम इस संगाम से दूर रहना चाहते हैं। ख़िलाफ़त का प्रश्न, जिसने संसार के समस्त मुसलमानों को बेचैन कर रक्खा है, बहुत कुछ इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी से सम्बन्ध रखता है। फ्रांस शामदेश को नहीं छोड़ता इसलिए कि वह शाम के बन्दरगाहों से अपना माल अरब देश में ला सके। अंग्रेज लोग बसरा और बगदाद नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि वहाँ मिट्टी के तेल की खाने हैं। इस व्यावसायिक स्वार्थपरता को छिपाने के लिए तरह-तरह के नैतिक ढकोसले गढ़ते जाते हैं और हम उस देश को छोड़ दें तो वहाँ अराजकता फैल जायेगी, वहाँ के लोग एक दूसरे से लड़ मरेंगे इत्यादि।

कुछ सज्जनों का कहना है कि इस व्यावसायिक काम में हम संसार से अलग नहीं रह सकते। हमारा देश कोई कुटी नहीं है कि उसका द्वार बन्द करके हम शान्ति से बैठें। यह सर्वथा सत्य है। हम भी ऐसा करना नहीं चाहते। हम अन्य देशों से

ज्ञान-विज्ञान सीखना चाहते हैं। उनके आचार-विचार से परिचित रहना चाहते हैं, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि हम अन्य देशों की व्यावसायिक पराधीनता स्वीकार करें। जर्मनी, फ्रांस आदि उन्नत देश भी अपने देश के व्यापार की रक्षा के लिये रक्षणकारी कर लगाते हैं। केवल इंग्लिस्तान अवाद्य वाणिज्य का पक्षपाती है, लेकिन वहाँ भी नीतिज्ञ इस नीति के विरोधी हैं और देश की वस्तुओं की रक्षा करने के लिए अन्य वस्तुओं पर कर लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आजकल सारे अंग्रेजी साम्राज्य के नेता लोग इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने के लिए लंदन में जमा हुए हैं। भारत से भी माननीय श्री निवास शास्त्री जी इस कान्फ्रेंन्स में सम्मिलित होने के लिए गये हैं। जब ऐसे समुन्नत देशों का यह हाल है तो भारत यदि अपने व्यापार की रक्षा करे तो कोई अनुचित बात नहीं है।

रेल विभाग का प्रबन्ध अभी तक अंग्रेजी कम्पनियों के हाथों में है। यद्यपि कई रेल की शाखाएँ अब सरकार की सम्पत्ति हो गयी हैं पर सरकार ने उनका प्रबन्ध अपने हाथ में न लेकर कम्पनियों पर ही छोड़ दिया है। इस काम के लिए वह कम्पनियों को चार रुपये पाँच रुपये सैकड़ा नफा देती है। हमारे नेता सरकार से बार-बार कह चुके हैं कि वह रेलों का इन्तज़ाम स्वयं करें किन्तु सरकार इस ओर ध्यान नहीं देती। इसी बात को जाँच करने के लिए अभी हाल में एक कमेटी बैठी थी। मालूम नहीं उसने क्या निश्चय किया। कम्पनी के इन्तज़ाम से प्रजा को जो कष्ट होता है। कम्पनी प्रजा के सुख और सुभीते पर ध्यान नहीं देती केवल अपने लाभ पर ध्यान रखती है। रेल के विभागों से ऊँचे पदों पर कोई हिन्दुस्तानी नियुक्त नहीं होने पाता। रेलगाड़ियों में जनता को जो कष्ट होता है वह हम अपनी आँखों से देखते हैं। आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जनता की जेब से आता है लेकिन अव्वल और दूसरे दरज़े के मुसाफ़िरों के लिए जहाँ सजी हुई गाड़ियाँ होती हैं, सजी हुई भोजन की गाड़ियाँ और ठहरने के स्थान होते हैं, वहाँ सर्वसाधारण को तीसरे दरज़े की गाड़ियों में भूसे की भाँति भरा जाता है और वह पशुओं की तरह मुसाफिरखानों में पड़े रहते हैं, उन्हें स्टेशनों पर पानी तक नहीं मिलता। स्वराज्य रेलों का सारा प्रबन्ध हमारे हाथ में रख देगा और तब हम–

तीसरे दरजे के मुसाफ़िरों के सुख के लिए यथोचित विधान करेंगे। मालगाड़ियों के इन्तज़ाम में भी हम अंग्रेज व्यापारियों के फ़ायदे के लिए अपने देश के व्यापारियों का नुकसान न करेंगे। तब हमारे व्यापारी मालगाड़ियों के लिए स्टेशन मास्टरों की खुशामद न करेंगे और न बड़ी-बड़ी रिश्वत देंगे। उन्हें ज़रूरत के अनुसार सुगमता से गाड़ी मिल जाया करेगी और माल के रुके रहने से उन्हें जो हानि होती है वह कदापि न होने पायेगी।

मादक वस्तुओं का त्याग करना स्वराज्य प्राप्ति का उपाय है। सरकार को मादक पदार्थों की बिक्री और अफीम के बनाने से करोड़ों रुपयों की आमदनी होती है। यह अधर्म का धन है और अधर्म के धन को भोग करके कोई देश सुखी नहीं रह सकता। मादक वस्तुओं से मनुष्य की जो शारीरिक और आत्मिक हानि होती

है उसके उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं है। हम सभी जानते हैं कि इसका नतीजा खराब होता है। ग़रीबों की पसीने की कमायी नष्ट हो जाती है और वह दरिद्र होकर भाँति-भाँति के दुःख झेलते हैं। हर्ष की बात है कि जिन जातियों को नीच कहा जाता है वह इस बुरी प्रथा को छोड़ रहे हैं लेकिन उच्च जातियों के लोग जो शराब की जगेंह भाँग और अफीम का सेवन करते हैं इनके त्यागने का नाम भी नहीं लेते। उनके विचार में भाँग और अफीम त्याज्य नहीं। यह उनकी भूल है। मादक वस्तुएँ सभी हानिकर हैं और हमारा कर्त्तव्य है कि उन्हें स्वयं छोड़ें और यथाशक्ति दूसरों से छुड़वायें।

उपसंहार

स्वराज्य क्या है, उसके पाने के क्या उपाय हैं। और हमारे क्या लाभ होंगे इनका संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। हमारे देश में कांग्रेस ही वह संस्था है जो स्वराज्य सम्बन्धी बातों का प्रचार करती है। महात्मा गांधी उस सभा के मुखिया हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि स्वराज्य के सुख भोगना चाहते हो तो चर्खे चलाओ, स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करो, अदालतों को छोड़ो, पंचायतों द्वारा अपने कलहों का फैसला कराओ। नशे की चीज़ों को त्यागो, वकालत के निकृष्ट पेशे को छोड़ो और राष्ट्रीय शिक्षा का उचित प्रबन्ध करो। महात्मा गांधी देश भक्त हैं। उन्होंने देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है। हमारी भलाई के लिए वह रात-दिन हिन्दुस्तान भर में दौड़ रहे हैं। यदि ऐसे बुद्धिमान और दूरदर्शी नेताओं की अधीनता में हम स्वराज्य न ले सकेंगे तो फिर हमको बहुत काल तक पछताना पड़ेगा क्योंकि ऐसे महान पुरुष संसार में बिरले ही जनम लिया करते हैं। यह समझना चाहिए कि परमात्मा ने उन्हें भारत का उद्धार करने के लिए अवतरित किया है और यदि हम उनकी आज्ञा न मानें तो हमारा परम दुर्भाग्य है। हम सबको, चाहे विद्यार्थी हों या सौदागर, ब्राह्मण हों या शूद्र, चाहिए कि इस पवित्र उद्योग में अपने नेताओं का हाथ बटायें। ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थपरता को कुछ दिनों के लिए भुला दें और एकदिल होकर स्वराज्य प्राप्ति के लिए उद्योग करें, खुद चरखे चलायें और अपनी घरवालियों से चलवायें। क्योंकि इस समय यह आपत्ति धर्म है, इससे मुँह न मोड़ना चाहिए। अगर घर पीछे एक छटाँक सूत भी रोज निकलने लगे तो देश का बड़ा कल्याण हो और एक छटाँक सूत कातने में घण्टे से ज्यादा समय नहीं लग सकता।

हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें सद्बुद्धि दें और इस उच्च और पवित्र काम में हमारी सहायता करें।

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की परिभाषाएँ नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमता हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते हैं। पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता, अभिन्नता और भिन्नत्व, और भिन्नत्व के अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। सन्तान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान पर मर मिटता है, उनके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरू से, अनुचित रूप में धन संग्रह नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नही करता, जिस तरह भी हो कुछ धन संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानवीय गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है; वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक

नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर यह सारी बुरी आदतें छोड़ देता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए; यहीं से उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गये हैं, एक Idealist या आदर्शवादी दूसरा Realist या यथार्थवादी। Realist चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है, उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा; उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकिसंसारमें सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उलटा मिलता है; प्रकृति का नियम विचित्र है। Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ-न-कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए Realism हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में Realism हमको Pessimist बना देता है, मानव चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई नज़र आने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए Realism अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब Realism दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सभाओं से आगे बढ़ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाये कि चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ है; जहाँ उसे सजीव, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख़याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है तो फिर ऐसी पुस्तकें पढ़े ही क्यों अँधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें। इस कमी को Idealist पूरा करता है। Idealism हमें एसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो

स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु-प्रकृति होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें व्यावहारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कौंइयेंपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है। Realism यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो Idealism हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ Idealism मे यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठे जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नही, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए हम वही उपन्यास उच्च कोटि के समझते हैं जहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया हो। उसे आप Idelistic Realism कह सकते है। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रो की सृष्टि करना है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौडी के हैं। चरित्रों को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह निर्दोष हों। महान से महान पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिये उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यह कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायेगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हम Idealist हैं। हमारे प्राचीन साहित्य पर Idealism की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ज़रूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

उपन्यास-साहित्य पर थोड़ी-सी विवेचना करने के बाद अब हम अपने हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। पाठक गण यह तो जानते ही हैं कि उपन्यास एक पश्चिमी पौधा है जो भारतवर्ष में लगाया गया है। हमारे यहाँ उपन्यास-काल से पहले ऐसे किस्से-कहानियों का बहुत प्रचार था जिनमें प्रेम और विरह के वर्णन ही प्रधान होते थे। प्रेमी एक निगाहे माशूका का 'कुश्तए नाज़' हो जाता था। माशूका अपनी सहेलियों से अपनी विपत्ति कहानी सुनाती थी, आशिक साहब आहें भरते थे,

सिर धुनते थे, घर पर ख़बर होती थी, यार समझाने के लिए जमा हो जाते थे, हकीम दवा करने जाते थे, पर इश्क के बीमार पर किसी दवा या समझाने-बुझाने का असर न होता था। दोनों महीनों, बरसों जुदाई की तकलीफें झेलने के बाद किसी हिकमत से मिल जाते थे। अक्सर किस्सों में तिलिस्म और अय्यारी के विचित्र दृश्य होते थे, जिससे कुतूहल बढ़ता था। उर्दू में 'तिलिस्म होशरुबा' बड़े-बड़े पृष्ठों के सत्ताईस जिल्दों में ख़त्म होता था और 'बोस्ताने ख़याल' सात जिल्दों में। उस वक़्त तक हिन्दी में उपन्यास का मैदान प्रायः खाली था। दो-एक अनुवाद अवश्य निकल गये थे पर कोई उपन्यास-लेखक न पैदा हुआ था। उर्दू में तो उसके पहले 'फ़साना आज़ाद' के रचयिता पंडित रतननाथ दर 'सरशार', मौलवी अब्दुल हलीम शरर, मौलाना मुहम्मद अली आदि कई अच्छे उपन्यासकार हो गये थे। बँगला में भी बंकिम बाबू के उपन्यास निकल चुके थे, लेकिन हिन्दी में मैदान खाली था। उस समय स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' की रचना हुई और वह हिन्दी में अनोखी, एकदम नयी चीज़ थी। हिन्दी पाठक टूट पड़े और 'चन्द्रकान्ता' की खूब धूम हो गयी। यद्यपि 'चन्द्रकांता संतति', 'तिलिस्म होशरुबा' का अनुकरण मात्र है, लेकिन हिन्दी में आशिक़-माशूक़ की जो कथाएँ छपती थीं, जिनमें न कोई भाव होता था न कोई प्रभाव, उन पाठकों के लिए चन्द्रकान्ता ही गनीमत थी। समझ में नहीं आता कि जब अन्य भाषाओं में ऐसे उपन्यासकार पैदा हुए जिनका जोड़ अब तक पैदा नहीं हुआ तो हिन्दी में क्यों यह मैदान खाली रहा।

'चन्द्रकांता' के बाद देवकीनन्दन ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें उपन्यास के अंकुर मौजूद थे। अय्यारी की ऐसी हवा बँधी कि उनके बाद भी बहुत दिनों तक अय्यारी के क़िस्से निकलते रहे। उसके बाद जासूसी उपन्यास निकलने शुरू हुए जो अधिकांश European detective stories के अनुवाद होते थे। कुछ दिनों तक जासूसी उपन्यासों की खूब धूम रही और बहुत संभव था कि उसके बाद मौलिक उपन्यासों की बारी आती, लेकिन इसी बीच में बँगला उपन्यासों का रेला शुरू हुआ और वह अभी तक जारी है। बँगला में अच्छे-बुरे जितने उपन्यास मिल सकते हैं उनका बिना कुछ सोचे-समझे अनुवाद कर लिया जाता है। किसी अन्य भाषा के रत्नों से अपना भंडार भरना आपत्ति की बात नहीं। सम्पन्नतम भाषाओं में अन्य भाषाओं के अनुवाद होते रहते हैं, लेकिन वह भाषा ही क्या जहाँ सब कुछ अनुवाद ही हो और अपना कुछ न हो। इस पहलू से देखिए तो 'चन्द्रकांता संतति' का महत्त्व बहुत कुछ बढ़ जाता है। कम से कम अपनी वस्तु तो है। हमारा ध्येय है कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनायें। क्या अनुवादों से राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया जा सकता है ? एक मित्र से इस विषय पर वार्तालाप होने लगा तो उन्होंने कहा, 'हम मानते हैं कि अनुवाद से भाषा का महत्त्व नहीं बढ़ता लेकिन, जिन लोगों के लिये अनुवाद जीविका का प्रश्न है उन्हें आप क्या कह सकते हैं।' इसका आशय यह हुआ कि जो लोग और किसी उपाय से जीविका का अर्जन नहीं कर सकते वे ही अनुवाद किया करते हैं। मगर इसी तरकीब से तो किसी त्याज्य विषय की रक्षा

की जा सकती है। चोर के लिए चोरी भी तो जीविका ही का प्रश्न है फिर चोर को सजा क्यों दी जाती है ? फिर, जब हम देखते हैं कि हिन्दी जाननेवाला आदमी एक महीने मे बॅगला का इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि बॅगला की साधारण पुस्तके समझने लगे, तो बगला से अनुवाद करने के लिए और भी कोई उज्र नहीं से कही सम्पन्न हैं। हमने अभी तक जिन गिने-गिनाये French या Russian पुस्तकों का हिन्दी मे अनुवाद किया है, अग्रेजी अनुवादो से किया है। हमारे युवको को, जिनका विचार साहित्य-सेवा करने का हो, उनको उचित है कि वे योरोपियन भाषाऍ सीखे और उनके रत्नो से हिन्दी का भंडार भरें। वह हमें कोई ऐसी चीज दे सकेगे जिन्हें प्राप्त करने के हमारे यहाँ बहुत कम साधन हैं।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाये। Art for Art's Sake के सिद्धात पर किसी को आपत्ति नही हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, अनुराग और विराग, दुःख ओर लज्जा—यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियॉ हैं। इन्ही की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नही सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमे कोई सन्देह नही। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान मे रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियो का असर न पडे, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत ही मे नहीं, योरोप के बहुत बडे विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नही करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हे कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका Interest क्षणिक होता है। ह्यूगो का ला मिजरेबुल, टाल्सटाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाऐं विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की है और अब तक उनका Interest कम नही हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बडे-बडे लेखको के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख्याल है कि कुशल कलाकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उनसे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। Art Sake Art's Sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हों जब हम देखते हैं कि हम भॉति-भॉति के राजनैनिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनायी देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का दिल न दहल उठे। हॉ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष

रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पावे, वरना उपन्यास नीरस हो जायेगा।

अन्त में हम अपने सहृदय नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि यदि आप उपन्यास लिखना चाहते हैं तो पहले तैयारी कीजिए। बिना मानव-शास्त्र का उचित ज्ञान प्राप्त किये, कभी न कलम उठाइए। यों तो जिन्हें रचना की ईश्वरदत्त शक्ति प्राप्त है, वह आप ही आप लिख लेंगे, लेकिन मन में वीरभाव होने पर भी तो शास्त्रों का कुछ ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे प्रधान मनोवृत्ति है। एक बार किसी प्रसिद्ध चित्रकार से एक शरीफ ने पूछा कि 'ऐसे सुन्दर रंग आप कहाँ से लाते हैं ?' चित्रकार ने मुसकराकर उत्तर दिया, 'जनाब, अपने दिमाग से।'

(हिन्दी में : 'समालोचक', जनवरी 1925)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

आज़ादी की लड़ाई

आजादी की लड़ाई शुरू हो गयी। महात्मा गांधी ने 6 अप्रैल को समुद्र के तट पर डंडी में गुलामी की बंडी पर पहला हथौडा चलाया और उसकी झंकार सारे देश में गूँज उठी। पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मजाक भी उड़ाया गया। एक गवर्नर ने अपने खुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था, कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आज़ादी का एक प्रचंड प्रवाह सिद्ध हो जायेगा, जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया, जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन-चुनकर जेल भेज दिये गये, अफ़सरों को नये-नये अधिकार दिये गये, वायसराय ने भी अपने स्वरक्षित अस्त्र निकाल लिये, यहाँ तक कि इस लू-मार गर्मी में देवताओं में पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी; लेकिन स्वराज्य-सेना के क़दम आगे ही बढ़े जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं, तो दाँत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता मे फूट डालने की कोशिश हो रही है, (जिस गवर्नर का हमने ऊपर जिक्र किया है, उसी ने एक दूसरे मजमे में ज़मींदारों को इन विद्रोहियों की ख़बर लेने की सलाह भी दी थी) फ़िल्मों पर रोक लगायी जा रही है। तार की खबरों का सेंसर किया जा रहा है। हमने इन सब बातों की कल्पना पहले ही कर ली थी। कोई बात हमारी आशाओं के ख़िलाफ नहीं हुई। अंग्रेजों की दानवता का नाच हम देख चुके हैं। कायरता, कमीनापन, निर्दयता आदि गुणों में इस जाति से बाज़ी ले जाना मुश्किल है। फिर भी हमारा जो कुछ अनुमान था, उससे कुछ ज्यादा ही हो रहा है। न कोई कानून है, न कायदा, न नीति, न धर्म। बस जिधर देखिए, लबड़-धों-धों, एक घबड़ाये हुए आदमी की बौख़लाहट। एक ही अपराध के लिए दो महीने से दो साल तक की सज़ा और वह भी कठोर। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अन्यायों से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिह्न हैं।

हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के कायल हैं। जो बात की, खुदा की कसम

ला जवाब की ! न जाने कहाँ से नमक-कर ख़ोज निकाला, कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। कोई दूसरा ऐसा कर नहीं, जो ग़रीब से ग़रीब आदमी से वसूल किया जाता हो, और न कोई दूसरा कर ऐसा है, जिसका ऐसेम्बली ने इतना विरोध किया हो। अगर हमारी स्मृति भूल नहीं करती, तो शायद 1924 में एसेम्बली ने इस कर को अस्वीकार कर दिया था और वाइसराय को इसे अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करना पड़ा था। कर का व्यापक नियम है कि वह विलास की वस्तुओ पर लगाया जाना चाहिए। जो चीज़ जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी हवा और पानी, उस पर कर लगाना नीति-विरुद्ध है। अंग्रेज़ी राज्य के पहले, भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया-भर मे भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ नमक पर कर लगाया जाता है। मुसलिम स्मृतिकारो ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है; पर हम 150 वर्षों से यह कर देते आये हैं; और मज़ा यह कि जिस वस्तु पर दो आना मन लागत आवे, उस पर सवा रुपये मन कर लिया जाता है, जो लागत का दस गुना है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोड़ा जा सकता है। ऐसा कोई भूभाग नहीं, जहाँ लोनी मिट्टी न हो और शहर या गाँव, दोनों ही जगहों के आदमी बड़ी संख्या में जमा होकर इसे तोड़ सकते हैं और सरकारी नमक को बाज़ार से निकाल बाहर कर सकते हैं। नौकरशाही ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया, जितना पशुबल संभव था, उससे काम लिया; पर कर टूट गया। जिस नियम के भंग करनेवालों को सरकार दंड न दे सके, जिसकी रक्षा करने के लिए डंडे के सिवा और कोई दूसरा साधन न हो, वह कानूनी देवताओं में भले स्वरक्षित रहे; पर व्यावहारिक रूप से वह टूट गया और सरकार के लिए अब इसके सिवा कोई उपाय नहीं है, कि इस कर को मंसूख कर दे और अपनी हार स्वीकार कर ले। गवर्नमेंट सोचती होगी कि जब नमक के बड़े-बड़े कारखाने खुल जायेंगे, तो हम उसे ज़ब्त कर लेंगे और इस तरह आज़ाद नमक को सिर न उठाने देंगे; लेकिन हमारे पास इस चाल का यही जवाब है कि हम अपने-अपने घरों में नमक बनाना उतना ही ज़रूरी समझ लें, जितना भोजन बनाना। फिर हम देखेंगे कि सरकार अपना नमक कैसे हमारे गले मढ़ती है। लक्षणों से मालूम होता है कि नमक आंदोलन असर कर रहा है, और नमक के व्यापारियों ने सरकारी नमक मँगाने में आना-कानी शुरू कर दी है। सरकार के इस प्रचंड दमन के फलस्वरूप बाज बड़े शहरों में जनता भी शांति के आदर्श को न निभा सकी, और कराची, बम्बई, पूना और कलकत्ता आदि शहरों में कुछ गोलमाल हुआ, जिससे पुलिस को अपने दिल के अरमान निकालने का अच्छा मौका मिल गया; पर इन दुर्घटनाओं का दोष अगर किसी के ऊपर है, तो वह सरकार है। अगर वह सत्याग्रहियों को कायदे के अनुसार पकड़ लेती, तो कहीं कुछ न होता, जलूसों को रोकना, सत्याग्रहियों को डंडों से पीटना जनता से अगर न देखा जाये, तो हम उन्हें क्षम्य समझते हैं। अगर नौकरशाही को यही विश्वास है, कि निरस्त्र जनता पर लाठियों का प्रहार करके, वह उन पर धाक जमा सकती है, तो यह उसकी भूल है। इन चारों

स्थानों में ही पुलिस ने जिस गुंडेपन का परिचय दिया है, वह असभ्य से असभ्य जातियों को कलंकित करने के लिए काफी है।

क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं ?

अभी तक तो सरकार के लिए यह कहने की गुजाइश बाकी थी, कि इस आदोलन में केवल कांग्रेस के गरम दलवाले ही शामिल हैं; लेकिन दिन-दिन उस पर यह हकीकत खुलती जाती है कि आज़ादी की लड़ाई में देश के सभी दल मिले हुए हैं। और अगर उसके मिलने में कुछ कसर थी, तो वह सरकार की हिमाकत और पागलपन की बदौलत पूरी हुई जाती है। पुरानी कहावत है—बुरे दिन आते हैं, तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पडता है कि अंग्रेजों के बुरे दिन आ गये है, नही तो अंग्रेजी कपडे को अन्य देशो के कपड़ों से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास करने की जरूरत ही क्या थी। गैर सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था, पर सरकार ने अपनी ज़िद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ ! आज प मदनमोहन मालवीय, मि. केलकर, मि. अणे, मि. हसनइमाम हमारे साथ है और व्यापारी-दल तो बिलकुल अलग ही हो गया। अब सरकार को माडरेटो मे नाम लेने के लिए दो चार लिबरल और रह गये हैं। हमे आशा है, कि उसकी कोई नयी हिमाकत यह कमाल भी कर दिखायेगी। हालांकि लिबरलों के विषय में हमें सन्देह है कि कोई अनीति, कोई अत्याचार इन्हें जगा सकता है। इनकी आशा अपार है और धैर्य अनन्त। वायसराय, सेक्रेटरी, अंडरसेक्रेटरी, और भी जिसकी वाणी की कुछ इज्जत है, कह चुके कि डोमिनियन स्टेटस अभी बहुत दूर है'; लेकिन हमारे लिबरल भाई है कि उस 'बहुत दूर' को 'बहुत नज़दीक' समझने के लिए बेकरार है लिबरलो की राजनीति डिनर-पार्टी और ड्राइंग-रूम तक महदूद है; इसलिए सरकार के अतिम आधार अगर लिबरल हों, तो यह सरकार और लिबरल दोनों ही के लिए आपस मे हाथ मिलाने और बधाइयाँ देने का अवसर हो सकता है। अगर इस तिनके का सहारा सरकार लेना चाहती है, तो शौक मे ले; मगर सरकार ने शुरू से जिस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की उपासना की है, उसे इस सकट के अवसर पर कैसे भूल जाती। कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आंदोलन मे कांग्रेस के साथ नही है। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बन कर क़ैद हों, मार खायें, कितनी ही कांग्रेसी कमेटियो के प्रधान और मंत्री हों; लेकिन फिर भी यही कहा जाता है, कि मुसलमान काग्रेस के साथ नहीं हैं। जमैयतुल-उलमा जैसा सर्वमान्य मंडल पुकार-पुकार कर कह रहा है कि नमक का महसूल इसलामी शरीयत के खिलाफ़ है; पर कहनेवाले कहे जाते हैं—मुसलमान इस आंदोलन के साथ नहीं। मालूम नहीं, वह यह कह-कह कर किसे धोखा देना चाहते हैं। हाँ, हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे खान बहादुर साहबान, जिनकी संख्या ईश्वर की दया से, अंग्रेजों की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज़्यादा नहीं हैं, मगर खाँ साहब नहीं हैं तो बेशक हमारे साथ नही तो राय साहब भी तो

नहीं हैं। यों कहिए कि यह उन लोगों का आंदोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एक मात्र स्वराज्य ही को समझते हैं जो ग़रीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है, कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे ! इसमें न हिन्दू की कैद है, न मुसलमान की। दोनों ही समान रूप से यह संकट झेल रहे हैं, तो दोनों समानरूप से शरीक हैं। मुसलमान आज़ादी के प्रेम में हिन्दुओं से पीछे रह जायें, यह असंभव है। मिस्र, ईरान, अफ़गानिस्तान और तुर्की यह सब मुसलमानों ही के देश हैं। देखिए, अपनी आज़ादी के लिए उन्होंने क्या-क्या किया और कर रहे हैं। वह कौम कभी आज़ादी के ख़िलाफ़ नहीं जा सकती। दो-चार मौलवी, दो-चार 'सर', दस-पाँच 'आनरेबुल' यह हाँक लगाये जायेंगे, शौक से लगावें। हिन्दू हों या मुसलमान, जो अंग्रेज़ी राज्य में धन और अधिकार के सुख लूट रहे हैं, वे अंग्रेजी सरकार के परम भक्त हैं और रहेगे और रहना चाहिए। वे किसी के तो नमक हलाल बने रहे। जिसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने बाहुबल पर भरोसा नहीं है, जो अंग्रेज़ों की शरण आकर कोई ओहदा पा जाना ही अपनी ज़िन्दगी का निर्वाण समझता है, वह हमेशा उस पक्ष की तरफ़ रहेगा, जहाँ उसे सफलता का पूरा भरोसा है। ऐसे लोग खतरे की तरफ भूलकर भी न आवेंगे। अमेरिका के गुलाम भी तो 'गुलामों की आज़ादी' की लड़ाई में मालिकों के पक्ष में लड़े थे। ऐसे गुलाम प्रकृति के लोग हमेशा रहेंगे और उनके रहने से किसी आंदोलन का नाश नहीं होता। मगर हमें यह कोशिश करते रहना चाहिए कि हमारी इस मुसाहलत की हालत में हवा का झोंका न लगने पाये; नहीं तो वह घातक हो जायेगा। कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जायेगी और की जा रही है; कहीं हिन्दू-मुसलमानों को लड़ा देने के मंसूबे सोचे जायेंगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या जमाने की खूबी है, कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज़्यादा दलित किया है, जितना कट्टर से कट्टर हिन्दू-समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिन्तक बने हुए हैं। बेगार की सख्तियों का दोष किस पर है, हिन्दू समाज पर या सरकार पर ? उन्हें अपढ़ रखने का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर ? उन्हें ताड़ी, शराब, गाँजा चरस पिला-पिलाकर कौन रुपये कमाता है, सरकार या हिन्दू-समाज ? प्रारंभिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था, या स्वर्गीय मि० गोखले ने ? उसे किसने धनाभाव का बहाना करके नामंजूर कर दिया, हिन्दू-समाज ने या सरकार ने ? हमें पूरा विश्वास है कि जिस सरकार ने कितनी ही अछूत जातों को जरायम पेशा बना दिया, उसकी शुभ-चिंतना पर हमारे दलित-समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू-समाज अपने दलित भाइयों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगा है और वह दिन दूर नहीं है, जब आर्य और अनार्य, ऊँच और नीच की कैद नाम को भी बाक़ी न रहेगी। संभव है, देहातों के कट्टर हिन्दू कहीं-कहीं अब भी उनके साथ वही पुराना बर्ताव करते हों; लेकिन विचारशील हिन्दू-समाज अब उस अन्याय को क़ायम न रहने देगा।

आज़ादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं ?

इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी, कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहाँ भी होगा; पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या प्रोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेज़ी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्यानवे सैकड़े ग्रेजुऐटों के लिए सभी द्वार बन्द हैं; पर निराशा में भी आश लगाये बैठे हैं, कि शायद हमारी ही तकदीर जाग जाये। देख रहे हैं, कि कांग्रेस के आंदोलन से ही अब थोड़े-से ऊँचे ओहदे हिन्दुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझे बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्म-गौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मन्दोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। हमारा वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की सूरत देखते ही गीदड़ भागे। हमारे बड़े से बड़े नेता–जिनकी जूतियों का तस्मा खोलने के लायक भी यह लोग नहीं–धड़ाधड़ जेलों में बन्द किये जा रहे हैं; पर यह हैं कि अपने बिलों में मुँह छिपाये पड़े हैं। यहाँ तक कि स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते हुए भी उनके हाथ काँपने लगते हैं और क़लम हाथ से छूटकर गिर पड़ती है। और आज़ादी का नमक देखकर तो उन्हें जूड़ी-सी चढ़ आती है। हमें यह देखने का अरमान ही रह गया कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। नहीं, वह तमाशा देखना भी ख़तरनाक समझते हैं। बस, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गये, और घर आये। उन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। इस बेगैरती का भी कोई ठिकाना है ! अभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल जाये, तो मारे खुशी से पागल हो जायें। नेवते के कार्ड के लिए बड़ी-बड़ी चालें चली जाती हैं, नाक रगड़ी जाती हैं, और वह कार्ड तो साक्षात् कल्प-वृक्ष ही है। गोरी सूरत देखी और माथा ज़मीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देशद्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा। वह जनता, जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी, और आन्दोलनों की तरह इस संग्राम में भी आगे-आगे है। हमारे छोटे-छोटे दुकानदार, मज़दूर, पेशेवर ही सैनिकों की अगली सफ़ों में हैं और भविष्य उन्हीं के हाथ में है। लक्षण कह रहे हैं, कि सूट-बूटवाले अंग्रेज़ों के गुलामों की वही हालत होनेवाली है, जो रूस में हुई है। यह लोग खुद अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ़ कर देती है, पर देश-द्रोह को वह कभी मुआफ़ नहीं करती। राष्ट्रीय संस्थाओं को देखिए–गुजरात-विद्यापीठ, काशी-विद्यापीठ, अभय-आश्रम, गुरुकुल-कांगड़ी, प्रेम-विद्यालय वृन्दावन आदि ने अपने-अपने सिपाहियों के जत्थे भेजे और भेज रहे हैं। उनके छात्र जान हथेली पर रक्खे मैदान में निकल पड़े हैं; पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा ? हमें तो खबर नहीं। यूनिवर्सिटियों में भी कोई प्रोफेसर

आगे बढ़ा ? कहाँ की बात ! अपने लोग यह रोग नहीं पालते। आनन्द से भोजन करें, रूसी उपन्यास पढ़ें, ताश खेलें, ग्रामोफ़ोन या रेडियो का आनन्द उठायें, या इस झंझट में पडें ? ज़िन्दगी सुख भोगने के लिए है, झींकने के लिए नहीं ! काश, यह यूनिवर्सिटियाँ न खुली होतीं, काश ,आज उनकी ईंट से ईंट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं, गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। स्वाधीन भारत ऐसे विद्यालयों की जड़ खोदकर फेंक देगा।

देहातों में प्रोपेगंडे की ज़रूरत

अब तक हमारे आन्दोलन शहरों ही तक महदूद रहे हैं; लेकिन नमक-कर-भंग देहातों में भी जा पहुँचा है। सत्याग्रही दलों का देहातों से पैदल निकलना ऐसा प्रोपेगंडा है, जिसके महत्त्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। नौकरशाही का आतंक देहातों पर शहरों से कहीं ज़्यादा छाया हुआ है। वहाँ सब-इंस्पेक्टर का दर्जा ईश्वर से कुछ ही कम होता है और कांस्टेबल तो खुदमुख्तार बादशाह ही है। कोई आन्दोलन जिससे पुलिस के रोब-दाब में फ़र्क़ पड़े, उसकी हवा भी वहाँ नहीं पहुँचने पाती। मगर अब समय आ गया है, कि हमारे स्वयंसेवक बड़ी संख्या में देहातों में पहुँचें और जलसों और जुलूसों से लोगों में राजनैतिक भाव भरें और उन्हें आनेवाले महासंग्राम के लिए तैयार करें। अगर देहातों में यह आग लग गयी, तो फिर किसी के बुझाये न बुझेगी। हम यह मानते हैं कि देहातों में नौकरशाही दमन के कठोर से कठोर शस्त्रों का प्रहार करेगी, ज़मींदारों को भड़कायेगी, तरह-तरह की ग़लतफ़हमियाँ फैलायेगी; पर हमें इन कठिनाइयों का सामना करना है। हमें यह समझा देना है, कि इस राज्य में सबसे ज़्यादा हमारे देहात ही सताये जाते हैं, और स्वराज्य में सबसे ज़्यादा हित देहातवालों ही का सिद्ध होगा।

हिन्दू-मुसलिम बाँट-बखरे का प्रश्न

भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते, कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाये, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फ़ायदा उठानेवाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा। पूरी एकता तो स्वराज्य मिल जाने पर ही हो सकती है। हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिशें की गयीं, यहाँ तक कि आज भी सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल-सम्मेलन करने में लगे हुए हैं; मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला ? समझौता न हुआ, न हुआ। कोई रोज़गार शुरू किया जाता है, तो पहले तो उसके लिये पूँजी जमा की जाती है। फिर संगठन शुरू होता है, तब माल की तैयारी होती

है, इसके बाद खपत का सवाल होता है, आखिर में नफ़े का प्रश्न आता है। यहाँ पहले ही से नफ़े के हिस्से तय करने की सलाह दी जाती है। अरे भाईजान, पहले पूँजी तो लगाओ, अभी नफ़े का क्या सवाल है ? हिन्दुस्तान अगर इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीख सका है, तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असन्तुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति नहीं कर सकता। हमें विश्वास है, कि भारत इस सबक़ को अब कभी न भूलेगा। महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल ही नहीं। स्वराज्य के अधीन राजपद धन कमाने का साधन नहीं, प्रजा की सेवा का साधन होगा। हम तो यही समझे बैठे हैं। अगर उस दशा में भी हमारे मुसलमान भाई राजपदो या मेम्बरियों में बड़ा हिस्सा लेने का आग्रह करेंगे, तो स्वराज्य-सरकार उनके मार्ग मे बाधक न बनेगी। उस वक्त राजपद वही स्वीकार करेगे, जो देश के लिए त्याग करना चाहेंगे, धन-लोलुप और विलासी जनों के लिए स्वराज्यशासन में कोई स्थान न होगा।

मशीनगन और शान्ति

शान्ति स्थापित करने के दो साधन हैं। एक तो मानवी है, दूसरा दानवी। एक मशीनगन है, दूसरा देश की वास्तविक दशा को समझना और उसके अनुकूल व्यवहार करना। सरकार ने अपने स्वभावानुसार मशीनगन से काम लेना ही उचित समझा है। इसका परिणाम क्या होगा, सरकार को इसकी चिन्ता नहीं। पुलिस और सेना उसके पास है। देश में जितने स्वाधीनता के उपासक हैं, वह सब बड़ी आसानी से तोप का शिकार बनाये जा सकते हैं। भारत ग़रीब है, यहाँ ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी, जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने को तैयार रहें। कांग्रेस के लोग जेल में पहुँच ही गये। और दलों के इने-गिने आदमी हैं, उनको फाँस लेना और भी आसान है। रहे हमारे लिबरल भाई, उनकी परवा ही किसे है ? सरकार उनकी सहायता के बगैर भी राज कर सकती है। टैक्सों को दूना कर देने का उसे अख्तियार है। इस तरह वह इससे बड़ी फ़ौज भी रख सकती है। मशीनगनों के सामने चूँ करने का किसे हौसला हो सकता है। अंग्रेज़ अधिकारियों के वेतन बड़ी आसानी से बढ़ाये जा सकते हैं। कुछ थोड़े से ओहदे हिन्दुस्तानियों को देकर बडी आसानी से काम लिया जा सकता है। समाचार-पत्रों को एकदम बंद कर देने से फिर कहीं से विरोध की आवाज़ भी न आवेगी। सरकार अपने दिल में सन्तोष कर सकती है कि अब किसी को कोई शिकायत नहीं रही। रिफ़ार्म की, गोलमेज़-कान्फरेन्स की और डोमिनियन स्टेटस की चर्चा ही व्यर्थ है। यह इसी दानवी नीति का फल है कि आज भारत में अंग्रेजों का कोई दोस्त नहीं है। जो लोग अपने स्वार्थवश सरकार की खुशामद करते हैं, वे भी उसके भक्त नहीं हैं। ऐसा प्रजा पर राज करना, अगर अंग्रेज़ों के लिए गौरव की बात है, तो हम नहीं समझते कि वह अपनी सभ्यता और उच्चता का किस मुँह से दावा कर सकती है। अगर अंग्रेज़ों की जगह इस वक़्त

हब्शी होते, तो वे भी दमन ही तो करते। दमन शासन का सबसे निकृष्ट रूप है और अंग्रेज़ों ने उसी का आश्रय लिया है। क्या उनका ख़याल है कि जिस शक्ति से दबकर उन्होंने सुधार किये और कान्फ़रेन्स के वादे किये, वह शक्ति अब ग़ायब हो गयी है दमन उस शक्ति को दिन-दिन मज़बूत कर रहा है। उस राज्य के लिए इससे बढ़कर कलंक की दूसरी बात नहीं हो सकती, कि उसे हर एक बात के लिए मशीनगनों ही की शरण लेना पड़े। जिस राज्य में जनता पर महज इसलिए गोलियाँ चलायी जायें, कि वह अपने लीडरों की गिरफ्तारी पर शोक मनाने के लिये जमा होती हैं, उसके चल-चलाव के दिन अब आ गये हैं। पेशावर में जो हत्याकाण्ड हुआ है, वह कभी न होता, अगर नौकरशाही ने मशीनगनों और फ़ौजी हथियारों से जनता को धमकाया न होता। वह ज़माना गया, जब जनता पशुबल के प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझकर उसकी जड़ खोदने के लिए और दृढ़ संकल्प कर लेती है। नमक कानून टूट गया। सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं। लाखों नमक बनानेवाले आज गर्व से सिर उठाये घूम रहे हैं। आर्डिनेन्स भी टूट जायेगा। कोई क़ानून, जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशुबल पर आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है। सरकार अगर आँखें बन्द रखना चाहती है, तो रक्खे; पर उसके आँखें बन्द कर लेने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी क़िस्मत का मालिक आप बनना चाहता है। और उसकी क़ीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है। पेशावर और कराची जैसे कांड उसके पतन को और निकट ला रहे हैं।

(हिन्दी में : 'हंस', अप्रैल 1930)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

बच्चों को स्वाधीन बनाओ

वहुत से लोग यह शीर्षक देखकर ही चौंक पड़ेगे। वाह ! लड़के तो आप ही स्वाधीन होते हैं। वह तो बचपन ही में न पुट्ठे पर हाथ रखने देते हैं, न मुँह में लगाम डालने देते हैं और जहाॅं ज़रा समझ आयी कि सरपट दौड़ना शुरू कर देते हैं। ज़रूरत है कि उन्हें आज्ञा पालन सिखाओ, बड़ों का अदब करना सिखाओ, संयम सिखाओ। उन्हें स्वाधीन वनाना तो ऐसा ही है, जैसा आग पर तेल छिड़कना।

यह समय है कि लड़के आजकल उससे कहीं ज़्यादा स्वाधीन हैं, जितने कि उनके माता-पिता इस उम्र में खुद थे। इस स्वाधीन प्रवृत्ति का जो नतीजा हो रहा है, उसे देखकर यदि माता-पिता के मन में ऐसी शंका पैदा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, लेकिन इसीलिए तो ज़रूरत है कि लड़को को स्वाधीन वनने की शिक्षा दी जाये। बालक जितना ही बलशाली होगा, उतना ही स्वाधीन भी होगा, लेकिन अभी हम उसे इसकी शिक्षा नही देते। अगर युवकों को फ़ौज के लिए भर्ती किया जाये, तो उन्हें क़वायद सिखाने की ज़रूरत होती है। अगर वे गायक बनना चाहें, तो यह सम्भव नहीं है, कि बिला सिखाये आप ही आप गाने लग जायें, लेकिन यह देखकर भी कि हमारे बालक वृन्द जितने स्वाधीन आज हैं, उतने किसी अतीत काल में न थे। हम उन्हें बचपन से इस समस्या को हल करने की उचित शिक्षा नहीं दे रहे हैं।

थोड़े से शब्दो में, बालक को प्रधानतः ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, कि वह जीवन में अपनी रक्षा आप कर सके।

यह तो मानी हुई बात है कि आज के बालक स्वाधीन हैं, और अब किसी के बस की बात नहीं है कि इस दशा को पलट दे। इसके बहुत-से कारण हैं–परिवारों का देहातों से निकलकर शहरों में आबाद होना, जहाँ परिचित जनों के दबाव और स्वभाव से लोग मुक्त हो जाते हैं, पुराने नीति-व्यवहारों का शिथिल हो जाना, जिनका पहले विद्रोही युवकों पर बहुत दवाव पड़ता था। मोटरकार, सिनेमा और समाचारपत्र सब स्वाधीनता की प्रवृत्ति को मजबूत करते हैं।

लेकिन इस पर आँसू बहाने से काम न चलेगा। पुराने ज़माने में जब बड़ों का हुक्म और अदब मानना समाज का सबसे मान्य नियम था और हर एक छोटी जाति अपने से ऊँची जाति के सामने अदब से सिर झुकाती थी, तब बालकों को बचपन ही से अदब करना सिखाया जाता था और उचित भी था, लेकिन आज किसी

बाहरी सत्ता की आज्ञाओं को मानने की शिक्षा देना बालकों की सबसे बड़ी ज़रूरत की तरफ़ से आँखें बन्द कर लेना है। युवकों के सामने आज जो परिस्थिति है उसमें अदब और नम्रता का इतना महत्त्व नहीं है, जितना व्यक्तिगत विचारों और कामों की स्वाधीनता का।

इस नयी शिक्षा का आशय क्या है ? आज्ञा-पालन हमारे जीवन का एक अंग है और हमेशा रहेगा। अगर हर एक आदमी अपने मन की करने लगे, तो समाज का शीराजा बिखर जायेगा। अवश्य हर एक घर में जीवन के इस मौलिक तत्त्व की रक्षा होनी चाहिए, लेकिन इसके साथ ही माता-पिता की यह कोशिश भी होनी चाहिए, कि उनके बालक उन्हें पत्थर की मूर्ति या पहेली न समझें। चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने व्यवहार को जितना स्वाभाविक बना सकें, उतना बनाना चाहिए, क्योंकि बालक के जीवन का उद्देश्य कार्य-क्षेत्र में आना है, केवल आज्ञा मानना नहीं। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं, उनमे से आत्म-विश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इन्तज़ार करते हैं। हम समझते हैं कि आज कोई बाप अपने लड़के को ऐसी आदत डालनेवाली शिक्षा न देगा।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि माता-पिता को कोई बात खुद न तय करनी चाहिए, वल्कि लड़कों पर ही छोड देनी चाहिए। एक वादशाह ने जब अपने बालक को एक अध्यापक को सौपा, तो यह सलाह दी—जितनी जल्दी हो सके, अपने को बेकार बना लेना। हमारा यह कर्त्तव्य नही है कि हम सदा अपने लडकों से अपनी आज्ञाएँ मनवाते रहें, बल्कि उनको इस योग्य वना दें, कि वह खुद अपने मार्ग का अपने आप निश्चय कर लें। युवकों में यह प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी, उतनी ही सफल उनकी शिक्षा भी समझनी चाहिए।

तीसरा सिद्धान्त यह है कि गृहस्थी को जनतन्त्र के क़ायदों पर चलाना चाहिए। तजुर्वे से यह वात मालूम होती है कि हम जनतंत्र पर चाहे कितना ही विश्वास क्यो न रक्खें, हमारे घरों मे स्वेच्छाचार ही का राज्य है। घर का मालिक मुसोलिनी या कैसर की तरह डटा हुआ उसे जिस रास्ते चाहता है, ले जाता है और कभी इसका उलटा दिखायी देता है। घर में न कोई क़ायदा है न कोई कानून। जो जिसके जी में आता है, करता है, जैसे चाहता है, रहता है; कोई किसी की खबर नहीं लेता। लड़के अपनी राह जाते हैं, जवान अपनी राह और बूढ़े अपनी राह। दोनों ही तरीक़े जनतन्त्र से कोसो दूर हैं—पहले तरीक़े में स्वतन्त्रता का नाम नहीं, दूसरे तरीक़े में ज़िम्मेदारी का। यह दोनो तरीक़े लड़कों की शिक्षा की दृष्टि से अनुचित हैं। करना यह चाहिए कि घर के मामलों में शुरू ही से बच्चों की राय ली जाये। छोटा बालक भी—अगर उसको सीधे रास्ते पर लगाया जाये—अपनी ज़िम्मेदारी को समझने लगता है। जिन लड़कों के साथ माँ-बाप बुरा व्यवहार करते हैं, वे भी उनके साथ सच्चा स्नेह रखते हैं, मगर माँ-बाप उनकी इस प्रकृति को अपने स्वेच्छाचार से कुचल डालते हैं और उसका बुरा नतीजा हम रोज़ अपनी आँखों से देखते हैं।

हर एक मामूली आदमी को यह जानकर गर्व और आनन्द होता है कि घर

में उसका भी कोई स्थान है, वह भी कुछ समझा जाता है। बालक भी इस भाव से खाली नहीं होता। सफल परिवार का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस प्रवृत्ति को व्यवहार में लावे। ऐसा बालक सदैव परिवार के सम्मान की रक्षा करेगा। यहाँ उसे स्वाधीन राय कायम करने का पाठ मिल रहा है। हो सकता है कि इस विषय मे कुछ लोगों का कड़वा तजुर्बा हो—युवकों ने परिवार के हित की ओर ध्यान न देकर अपने ही अधिकारों पर ज़ोर दिया हो। अभिमान और विलास उनकी राय में आजकल के युवकों में ज़रूरत से ज़्यादा मौजूद है, लेकिन यह बालक का दोष नहीं, माँ-बाप का दोष है। बालकों को यह शिक्षा देने के लिए समय, धैर्य, बुद्धि और सहानुभूति की ज़रूरत है। इसका आशय यह है कि बच्चा ज्यों ही आने और पैसे में फर्क समझने लगें, उनके हाथ में पैसे दे दिये जायें, उनका वज़ीफा बाँध दिया जाये और कुमारावस्था मे ही उन्हें इस योग्य बना दिया जाये कि वे पैसे का मूल्य समझने लगें और खर्च को आमदनी के अन्दर रखने की आदत सीखें।

हम इन बातो पर ध्यान नहीं देते। कितने ही माँ-बाप तो अपने लड़कों के विषय मे उतने ही बेख़बर होते हैं जितने अपने तोते या कुत्ते के विषय में। बदमाश और शरीफ बालकों की पारिवारिक स्थिति की परीक्षा ली जाये, तो सिद्ध हो जायेगा कि बाल-चरित्र में जो दोष आ जाते है, उसका कारण घरवालों की लापरवाही है।

बच्चों में स्वाधीनता के भाव पैदा करने के लिए यह ज़रूरी है कि जितनी जल्दी हो सके, उन्हें कुछ काम करने का अवसर दिया जाये। आमतौर पर यह समझा जाता है कि अच्छे माता-पिता का कर्त्तव्य अपनी सन्तानो को कठिनाइयों से दूर रखना है। इसका फल यह है कि ऊँचे खानदानों मे लड़के क्रियाहीन हो जाते है। जब उन्हे बिना कोई उद्योग किये ही सारी चीजें मिल जाती है, तो फिर वे काम क्यो करे ? हालाँकि विचार शास्त्र का यह एक मोटा सिद्धान्त है कि लड़को को अपने हाथ से, अपने उद्योग से, कोई काम कर दिखाने में या कोई चीज बनाकर खड़ी कर देने में, जितना आनन्द मिलता है, उतना और किसी बात मे नही। लड़का अपनी कागज की नाव पानी में डालकर जितना खुश होता है, उतना बडे-बडे विशाल जहाज़ो को चलते देखकर नही होता।

हमारे सुचालित मदरसों में अब इस बात को लोग समझने लगे हैं कि लड़कों को हाथ से कुछ काम कराना अव्वल दर्जे की मानसिक और नैतिक साधना है। हर एक घर मे ऐसा ही होना चाहिए। लड़को में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का इससे उत्तम कोई साधन नहीं है।

सम्पन्न घरो मे अपने हाथ से कुछ करना अपमान समझा जाता है। लड़कों के हर एक काम के लिए नौकर लगे हुए हैं। आने-जाने के लिए मोटरे है, उन्हें सैर कराने के लिए खूब साफ़ कपड़े पहना दिये जाते हैं और ताकीद कर दी जाती है कि कपडे मैले न होने पावे। उनके मनोरंजन के लिए सिनेमा हैं, चित्रशालाएँ हैं, जहाँ उन्हें केवल आँख से देखने की ज़रूरत है, खुद कुछ करना नहीं पड़ता। इससे परतन्त्रता की जो बुरी आदत पड़ जाती है, वह ज़िन्दगी भर साथ नहीं छोड़ती।

ऐसे ही विलास में पले हुए युवक हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए अपने भाइयों का अहित करते हैं, सरकार की बेजा खुशामद करते हैं।

हम बहुधा लड़कों को कोई नया काम करते देखकर घबड़ा जाते हैं। घड़ी छू रहा है, कहीं तोड़ न डाले ! लड़के ने क़लम हाथ में लिया और हाँ, हाँ, हाँ का शोर मचा ! ऐसा नहीं होना चाहिए। लड़कों की स्वाभाविक रचनाशीलता को जगाना चाहिए। लड़का खिलौने बनाना चाहे, बेतार का यन्त्र बनाना चाहे, मछली का शिकार करना चाहे, तरकारियाँ पैदा करना चाहे, कपड़े सीना चाहे, बीन बजाना चाहे, नाटकों में अभिनय करना चाहे, या कविता लिखना चाहे, उसे बाधा मत दो। अगर कोई बालक साल के चन्द हफ़्ते भी प्राकृतिक शक्तियों के बीच में रहे, दरिया में किश्ती चलाये, मैदान में गाड़ी चलाये या फावड़ा लेकर खेत में काम करे, तो उसे आत्म-विश्वास का जो अनुभव होगा, वह पुस्तकों और उपदेशों से नहीं हो सकता। आश्चर्य तो यह है कि वह लोग भी, जिनकी जवानी कठिनाइयों में गुजरी, अपने बालकों को जीवन-संग्राम के उत्साह बढ़ानेवाले कामों से बचाते हैं।

हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि स्वाधीनता से हमारा मतलब क्या है ? इसका यह मतलब नही है कि हम बिला रोक-टोक जो कुछ चाहें करें और जो कुछ चाहें न करें। इसका मतलब यह है कि बाहरी दबाव की जगह हम में आत्म-संयम का उदय हो। सच्चा स्वाधीन आदमी वही है, जिसका जीवन आत्मा के शासन से संयमित हो जाता है, जिसे किसी बाहरी दबाव की ज़रूरत नही पड़ती। बालकों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे हर एक काम के गुण-दोष को भीतर की आँखों से देखें।

(हिन्दी में : 'हंस', अप्रैल 1930)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

दमन

दमन का बाज़ार गर्म है। निर्बल का एकमात्र आधार रोना है, सबल का एक मात्र आधार आँखें तरेरना। दोनों क्रियाएँ आँखों से ही होती हैं; लेकिन उनमें कितना बडा अन्तर है ! स्वेच्छाचारी सरकारों की बुनियाद पशु-बल पर होती है। वह हरेक अवसर पर अपना पशु-बल दिखाने को तैयार रहती है। प्रजा की हरेक शिकायत की दवा उनके पास संगीन और मशीनगन है। पशु-बल पर उनका अखंड विश्वास है। उनकी समझ में यह हरेक बीमारी की अचूक दवा है। वह कभी इसे स्वीकार नही करती कि यह दवा कभी-कभी चूक भी जाती है। अगर पुराना इतिहास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण देता है, अगर रूस, इटली, फ्रांस और स्वयं इंग्लैंड आदि देशो मे इसका व्यर्थ होना सिद्ध हो गया है, तो हमारी सरकार इससे यह नतीजा निकालती है कि उन देशो में उतना दमन नही किया गया जितना ज़रूरी था। अगर पक्का, सोलहों आना दमन होता, तो मजाल थी कि शासको को सफलता न होती। उन देशों के शासक कच्चे थे, दमन करना न जानते थे। हमारी सरकार दमननीति के व्यवहार में सबसे बाज़ी लिये जा रही है और यह कौन कह सकता है कि वह गलती पर है। पुरानी कहावत है कि मार के आगे भूत भागता है। आख़िर आंदोलन करनेवाले, आदमी ही तो हैं ! मार्शल लॉ से, जेलखानों मे बन्द करके, सरकार उन्हें चुप कर सकती है; मगर जैसा जर्मनी के प्रिंस बिसमार्क जैसे पशुबलवादी को भी स्वीकार करना पडा था कि "संगीन से तुम चाहे जो काम ले लो; पर उस पर बैठ नहीं सकते।" हमारी सरकार दमन के व्यवहार से, चाहे जाति को चुप कर दे; पर उसे शान्त नहीं रख सकती। उसके लिए दोनों रास्ते खुले हुए हैं। एक तो प्रजा की शान्ति–उससे उत्पन्न होनेवाली विभूतियों की ओर ले जाती है, दूसरी प्रजा की अशान्ति–उससे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों की ओर। एक तरफ़ कीर्ति है, गौरव है, पारस्परिक सहानुभूति है; दूसरी ओर अपकीर्ति है, अन्याय है, नोच-खसोट है। हम यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते, कि अंगेरेज़ों को नेकनामी से प्रेम नहीं। व्यक्ति की भाँति ही कोई जाति इतनी पतित नहीं हो सकती, कि उसे बदनामी की लज्जा न हो। क्या आनेवाली अँगरेज़ जाति इतिहास के पन्नों में अपने पूर्वजों की क्रूर कथाएँ पढ़कर गौरवान्वित होगी ? क्या अँगरेज़ जाति चाहती है, कि उसके और भारत के बीच इतना वैमनस्य हो जाये, जो सदियों में भी न मिटे ? अँगरेज़ों का भविष्य

उनके वाणिज्य और व्यवसाय पर है। क्या भारतीय जनता को असन्तुष्ट रखकर वह अपने व्यापार को जीवित रख सकते हैं ? मि० वेजवुड बेन ने अभी अपने व्याख्यान में कहा है कि बड़ी से बड़ी फ़ौजी ताकत भी भारतीय किसानों को अँगरेज़ी चीजें लेने पर मजबूर नहीं कर सकती। तब जान-बूझकर सरकार क्यों इतनी निर्दयता से दमन पर कमर बाँधे हुए है, यह हमारी समझ में नहीं आता। हमने मि. वेजवुड बेन के व्याख्यान को बड़े ध्यान से पढ़ा। उससे हमें घोर निराशा हुई। वह अभी तक भारतीय आंदोलन का तत्त्व ही नहीं समझे, या शायद समझते हुए भी न समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अगर उनका ख़्याल है कि यह आंदोलन कांग्रेस के थोड़े-से आदमियों का खड़ा किया हुआ है और उन्हें जेल में बन्द करके या डंडों से पीटकर इसकी जड़ खोदी जा सकती है, तो यह उनकी भूल है। यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता-प्रेम की विकल जाग्रति है। महात्मा गांधी क्यों भारत के हृदय पर राज्य कर रहे हैं ? इसीलिए कि वह इस विकल जाग्रति के जीते-जागते अवतार हैं। वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं। उन्हें जेल में बन्द करके सरकार ने अगर कोई बात सिद्ध की, तो वह यह है कि जिस शासन में ऐसा देव-तुल्य पुरुष भी स्वाधीन नहीं रह सकता, वह जितनी जल्द मिट जाये, उतना ही भारत के लिए और समस्त संसार के लिए कल्याणकारी होगा। मि. बेन फरमाते हैं कि किसानों पर इस आंदोलन का असर नहीं है और न मुसलमानों पर है। हम मि. बेन को इतना सादालौह न समझते थे। स्वराज्य-आंदोलन ख़ासकर किसानों ही का आदोलन है। क्या किसान इतने बड़े मूर्ख हैं कि वह अपना हित भी नहीं समझते ? सम्भव है कि उनके पास अपने भावो और विचारों के प्रकट करने का वैसा अवसर, साधन और साहस न हो, जिसका मि. बेन जैसे आदमी पर असर पड़ता; पर इसका यह आशय नहीं कि वह इस आंदोलन में शरीक ही नहीं हैं ? अगर इस आंदोलन में उनका कोई फायदा न होता, शिक्षित समाज ने उन्हें बेवकूफ बनाकर केवल अपना मतलब गाँठना चाहा होता तो सम्भव था, किसान शरीक न होते; लेकिन जब किसानों की आर्थिक कठिनाइयों का सुधार इस आंदोलन के मुख्य तत्त्वों में है, तो किसान क्यों न शरीक़ होंगे ? किसानों से ज़्यादा कर और कौन देता है ? उनके खेत में उपज हो या न हो; पर उन्हें लगान अवश्य देना पड़ेगा और लगान भी वह जो बराबर बढ़ता चला जाता है। क्या किसान बोलते नहीं, तो क्या अपनी दशा को महसूस भी नहीं करते ? महात्मा जी ने तो खुद किसानों को 'बेजबान' कहा है। अभी तो इस आंदोलन को चले हुए तीन महीने भी पूरे नहीं हुए। ईश्वर ने चाहा, तो सरकार को यह भी मालूम हो जायेगा, कि किसान इस आंदोलन में कहाँ तक शरीक हैं ! रहे मुसलमान। पिछले वैमनस्यों के कारण अभी कुछ मुसलमान जनता ऐसी अवश्य है, जो इस आंदोलन को शुबहे की निगाह से देखती है; पर अधिकांश लोग हमारे साथ हैं, जैसा कि जमेयतुलउलेमा के फ़ैसले से ज़ाहिर है। पेशावर मुसलमानों का शहर है और वहाँ की जनता पर

जो कुछ हुआ है, उसने हमारे वहुत से मुसलिम भाइयों की आँखें खोल दी हैं। अभी बम्बई के भिंडी बाज़ार में मुसलिम जनता पर जो कुछ किया गया है, उसका असर भी ज़रूर होगा। फिर क्या यह अँगरेज़ी सरकार के लिए गौरव की बात है कि वह आंदोलन के तत्त्व पर विचार न करके ऐसे विचारों से सन्तोष प्राप्त करे, कि इस आंदोलन में फ़लाँ शरीक हैं, फ़लाँ नहीं शरीक हैं। यह एक अप्रिय सत्य है पर उसे विवश होकर कहना ही पड़ता है कि मुसलिम नेताओं में इस वक्त कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं, जिन पर मुसलिम जनता का विश्वास नहीं। कुछ मुसलिम नेता इस आंदोलन से अपना मतलब गाँठने की फ़िक्र में पड़े हुए हैं और मुसलिम जनता के हितों को अपने स्वार्थ पर बलिदान कर रहे हैं। क्या लगान कम हो जाने से केवल हिन्दू किसानों का हित होगा ? क्या स्वदेशी के प्रचार से केवल हिन्दुओं का हित होगा ? मेम्बरियां और ओहदों के लिए झगड़ना मुसलिम जनता के हितो को थोड़े से शिक्षित समाज के स्वार्थ की भेंट करना है। हमें पूरी आशा है, और उसके लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं कि बहुत जल्द मुसलिम जनता अपने नेताओ से फिरकर इस आंदोलन मे शरीक हो जायंगी। मुसलिम जनता को भी अब यह बात मालूम हो गयी है, कि सरकार को न हिन्दुओ से प्रेम है, न मुसलमानों से। उसके मार्ग में जो बाधक होगा, चाहे वह हिन्दू हो, या मुसलमान, उसके साथ किसी तरह की रिआयत न की जायंगी। सरकार को नीच हिन्दू-जातियों से भी कुछ आशा है। कही-कही उसकी तरफ़ से इस आदोलन के विरोध की आवाजे भी आ रही हैं। हमे इस वात से लज्जा और खेद है कि ऊँची जातों ने नीची जातों के साथ पूर्वकाल में ऐसा अच्छा सलूक नहीं किया, जैसा उन्हें करना चाहिए था; लेकिन जागा हुआ हिन्दू-समाज अब अपने पिछले दुर्व्यवहारों का प्रायश्चित कर रहा है और कांग्रेस उन पुराने लचर और अमानुषीय बन्धनों को तोड़ने में अपना पूरा ज़ोर लगा रही है। कांग्रसी हिन्दू की नज़र में सभी हिन्दू बराबर हैं। वह किसी के साथ मिलने, साथ भोजन करने, देवमन्दिरों में एक साथ पूजा करने में आना-कानी नही करता। वह हिन्दू-धर्म के ठेकेदारों से लड़ने पर भी तैयार है। एक अछूत भाई से बराबरी के नाते से मिलकर कांग्रेसमैन को जितना आनन्द होता है, उसे बयान करने की ज़रूरत नहीं। उसका बस चले, तो वह आज ही ऊँच-नीच का भेद केवल इतिहास में रह जायेगा; मगर हम सरकार से पूछते हैं, आप जो अछूतो के बड़े हितैषी बनते हैं, आपने उनके उद्धार के लिए क्या किया है ? आपने क्यों बेगार नहीं बन्द की ? क्या आपको यह नहीं मालूम कि बेगार जिनसे ली जाती है, वह यही नीच भाई हैं ? जरायमपेशा जातियों की सृष्टि किसने की है ? आपने या कांग्रेस ने ? नीच भाइयों की शिक्षा के लिए प्रबन्ध करने में आपने क़ितनी उदारता से काम लिया है ? इन बातों के होते हुए भी आप किस मुँह से अछूतों के हितैषी बनने का दावा कर सकते हैं ? और हमें पूरा विश्वास है कि वह इस अवसर पर अपनी समझ से काम लेंगे। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि कांग्रेस के द्वारा ही उनका उद्धार हो सकता है और कोई शक्ति उनका उपकार

नहीं कर सकती।

जिस निर्दयता से दमन किया जा रहा है, उससे तो यह साफ़ मालूम होता है, कि सरकार भारत की जाग्रति से घबड़ाई हुई है। Law and order का ढकोसला बना सरकार खुद Law and order को भंग कर रही है। क़ानून केवल प्रजा ही के लिए नहीं है। सरकार पर भी उसके बनाये हुए क़ानून उतने ही लागू होते हैं, जितने प्रजा पर; मगर हम यहाँ देखते हैं कि इस जाग्रति को दबाने के लिए सरकार किसी क़ानून की परवा नहीं कर रही है। जिस अपराध के लिए जो दंड नियत कर दिया गया है, उसका वह दंड न देकर सरकार जब जनता पर डंडों का प्रहार कराती है, तो इसे न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। आमतौर पर यही होता है कि कांग्रेस का एक जुलूस निकलता है, अगर जुलूस को अपनी राह चले जाने दिया जाये, तो कोई चूँ भी न करे। कांग्रेस या उससे हमदर्दी रखनेवाली जनता लूटने के लिए जुलूस नहीं निकालती, न शान्ति-भंग करने के इरादे से चलती है; मगर सरकार इसे अपमान समझती है और जुलूस को रोकने के लिए नये-नये दफे लगाती है, पुलिस से निहत्थों को पिटवाती है और जिस चीज़ की रक्षा के लिए वह यह सब कुछ करने का दावा करती है, वह इस कार्रवाई से भंग हो जाता है। पेशावर, पटना, कलकत्ता, लखनऊ सभी जगह वही एक किस्सा है। हम लखनऊ को लेते हैं। जिस हज़रतगंज से कांग्रेस के जुलूस को रोकने के लिए सैकड़ों सिर तोड़ दिए गए, उसी हजरतगंज से उसके पहले दो बार कांग्रेस का जुलूस शान्तिपूर्वक निकल गया था। और एक चींटी की भी जान न गयी थी। इससे स्पष्ट है, कि सरकार भारतीय जाग्रति को दमन के ज़ोर से दबाना चाहती है। Law and order केवल बहाना है। शोलापुर की परिस्थिति पर सरकार ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, या पेशावर की तहक़ीक़ाती कमेटी के सामने सरकारी-कर्मचारियों ने जो बयान दिये है, उनसे भी यही प्रकट होता है कि कर्मचारियों ने बेजा जल्दबाजी से काम लिया। पहले कहा गया था कि शोलापुर में तीन पुलिसमैनों को मारकर जला दिया गया था। अब खुद सरकारी रिपोर्ट कहती है कि यह बात ग़लत थी। तो फिर मार्शल लॉ जारी करने और हत्याकांड का अपराधी कौन है? पेशावर में तहक़ीक़ाती कमेटी के सामने जो बयान हो रहे हैं, उनसे विदित होता है कि जब तक जनता के तीन आदमी सशस्त्र कारों से कुचल नहीं गये, किसी ने पत्थर नहीं फेंके। एक कर्मचारी ने तो यहाँ तक कहा कि फौज को बुलाने की कोई ज़रूरत न थी। फिर भी फ़ौज बुलायी गयी और कितने ही आदमी मार डाले गये। क्या यही Law and order की रक्षा है? हम यह मानते हैं, कि कहीं-कहीं जनता ने पत्थर फेंके होंगे; पर उसी वक्त, जब पुलिस या फ़ौज ने कोई ज़्यादती की होगी। खेद तो इस बात का है कि सेक्रेटरी तक पुलिस की इन डण्डेबाजियों की तारीफ़ें कर रहे हैं और हिज़ एक्सेलेंसी भी यही फ़रमाते हैं कि कहीं उससे ज़्यादा सख़्ती नहीं की गयी जितनी ज़रूरी थी। हमारे नेता गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हैं कि पुलिस घोर अत्याचार कर रही है। इस कठोर दमन से उदासीन होकर लोग

एसेम्बली और कौन्सिलो से धड़ाधड इस्तीफ़े दे रहे हैं; पर सरकार यही कहे जाती है कि जरूरत से ज़्यादा सख्ती कही नही की गयी। सेक्रेटरी साहब ने तो इन इस्तीफो का ज़िक्र तक नही किया। अब तो स्त्रियो पर भी सख्ती होने लगी है। देखना चाहिए, यह दमन क्या-क्या गुल खिलाता है। हम तो इतना ही जानते हैं कि जाग्रति दमन से दबनेवाली नहीं। दमन से वह और भी जोर पकडेगी।

(हिन्दी में : 'हंस', मई, 1930)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

मौलाना हसरत मोहानी

अगर तुम्हें क्रान्ति की तस्वीर देखनी हो, जीती-जागती, बोलती-चालती तस्वीर, अपनी सारी विभूति, सारी कला के साथ, तो मौलाना हसरत मोहानी को देखो। तुम्हें ज्ञात होगा कि क्रान्ति के रूप और तत्त्व में कोई सादृश्य नहीं होता। लेकिन क्या था ? बिलकुल साधारण मज़दूर, जैसा रूस के किसी गाँव में देख सकते हो। चेहरे पर तेज़ और प्रतिभा और संग्राम का नाम नहीं। गाँधी को देखो। इससे ज़्यादा ग़रीब, सरल देहकानी सूरत और किसकी होगी ? बस, ऐसा मालूम होता है कि कोई मज़दूर अभी काम करके लौटा हो। हसरत के चेहरे पर भी वही नम्रता है, वही दीनता है, पर उसके अन्दर क्रान्ति का अथाह समुद्र लहरें मार रहा है। ठिगना क़द, स्थूलता की ओर झुकी हुई सुगठित देह, साँवला रंग, चेहरे पर चेचक के दाग, ख़सख़सी दाढ़ी, फ़ैशन और नुमाइश से कोसों दूर, त्याग और निग्रह की मूर्ति, जिसे रुईदार गदले और खद्दर से स्वाभाविक प्रेम है। अलीगढ़ के ठाट-बाट, रंग-ढंग का जादू कभी उन पर नहीं चला। हम निश्चय नहीं कह सकते; पर हमने, तो उन्हें हमेशा फ़ैशन के ख़िलाफ़ कमर कसे, तलवार खींचे पाया। मुसलमानों में शायद हसरत ही वह बुजुर्ग हैं जिन्होंने आज से पन्द्रह वर्ष पहले भारत की पूरी आज़ादी की कल्पना की और आज तक उसी पर क़ायम हैं। पहले-पहल वह स्वर्गीय महात्मा तिलक के अनुयायी हुए। नरम राजनीति में उनकी गर्म तबीयत के लिए कोई खिंचाव, कोई रुचि न थी। थोड़े ही दिनों में वह अपने गुरु से भी चार क़दम और आगे बढ़ गये और उस समय पूर्ण स्वराज का डंका बजाया, जब कांग्रेस का गर्म से गर्म नेता भी पूर्ण स्वराज का नाम लेते काँपता था। उस ज़माने में हसरत का कोई साथी न था, लोग उन्हें झक्की समझते थे, पर वह शेर अपनी धुन का पक्का था। अपने लक्ष्य से उसने कभी मुँह नहीं मोड़ा। नेहरू रिपोर्ट ने बहुत से मुसलमानों को कांग्रेस से अलग कर दिया। पूरी आज़ादी का दीवाना हसरत भी उस रिपोर्ट का दुश्मन हो गया। मौलाना के विचारों में उस वक्त हिन्दुओं से विरोध की झलक आने लगी थी। उनके हिन्दू मित्रों की समझ में उनकी यह नीति न आती थी। वह समझने लगे, इन पर भी नौकरशाही का जादू चल गया; पर अब विदित हुआ कि मौलाना अपने मार्ग से ज़रा भी विचलित नहीं हुए थे। नेहरू-रिपोर्ट का आदर्श था डोमीनियन स्टेट्स। मौलाना खूब जानते हैं कि जब तक भारत की लगाम अंग्रेजों के हाथ में

रहेगी, हमारी शासन व्यवस्था कितनी ही निर्दोष क्यों न हो, उसका संचालन इस प्रकार किया जा सकता है भिन्न-भिन्न जातियों और मज़हबों को इस भाँति लड़ाया जा सकता है कि नौकरशाही का हमेशा बोलबाला रहे। इसलिए ज्यों ही कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव स्वीकार किया, मौलाना हसरत संग्राम में कूद पड़े। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम समझौते की प्रतीक्षा नहीं की क्योंकि वह जानते हैं कि वर्तमान दशाओं में कोई समझौता होना असम्भव है। यह संग्राम का समय है, समझौते का समय बाद को आयेगा जब कि विजय प्राप्त हो जायेगी। कितने ही बने हुए लोग जो कांग्रेस का विरोध इसलिए करते थे कि यह तो डोमीनियन स्टेट्स को अपना इष्ट बनाये हुए है और हम स्वाधीनता के उपासक हैं, कांग्रेस का क्यों साथ दें, वह लोग आज समझौते का बहाना निकालकर जाति की आँखों में धूल झोंकना और अपनी शान बनाये रखना चाहते हैं; पर कौम उन्हें खूब समझ रही है और अब उनके पंजे में आनेवाली नहीं।

मौलाना हसरत का समस्त जीवन ही व्रत है। औरों की तरह उन्होंने कानून पढ़कर धन कमाने की इच्छा नहीं की, सरकारी नौकरी के लिए कभी सरकार की चौखट पर नाक नहीं रगड़ी। डिग्री लेने के बाद ही उन्होंने 'उर्दू-मुअल्ला' नामक साहित्यिक पत्रिका अलीगढ़ से निकाली और एक मुद्दत तक उसे चलाते रहे। जब वह जेल चले गये तो पत्रिका बन्द हो गयी। कुछ दिनों से आपने मुस्तकिल नाम का दैनिक पत्र निकाला है और उसी को चला रहे हैं। 'उर्दू-मुअल्ला' के दो आश्रय थे—साहित्य और राजनीति। उसके साहित्यिक भाग में जितनी सुरुचि और मौलिकता होती थी, उसके राजनैतिक भाग में उतनी ही निर्भीकता और उदारता। उर्दू-साहित्य के उत्थान में मौलाना ने जो काम किया है वह चिरस्थायी रहेगा।

मौलाना हसरत उर्दू के खास कवि हैं और उर्दू कवियों में उनका स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं। जागृति के भाव तो आपके कलाम में जितने मिलेंगे, उर्दू के किसी कवि के कलाम में नहीं मिल सकते। उर्दू कविता के पुराने रंग को निभाते हुए उन्होंने नयी उमंग और उद्‌गारों को उसमें ऐसा भरा है कि उनका कलाम अपने रंग में निराला है। प्रेम के रहस्य जितनी खूबी से आपने दिखाये हैं, जितनी मार्मिकता से उसका चित्रण किया है, हम दावे से कह सकते हैं कि उर्दू के किसी कवि ने भी नहीं किया और शब्द योजना तो आपका हिस्सा है। उसमें कोई आपका सानी नहीं। आपके शेरों में कितने ऐसे शेर हैं, जिनमें दोहरे अर्थ निकलते हैं। साधारण तौर पर देखिए, तो वह मामूली शृंगार का शेर है, लेकिन ज़रा गौर से पढ़िए तो आपको उसमें एक दूसरा ही समाँ दिखायी देगा—उसमें आज़ादी के दीवाने की तड़प है, नाला है, फ़रियाद है। उर्दू के प्राचीन साहित्य की इतनी खोज भी किसी ने कम ही की होगी। आज उर्दू के पुराने कवियों से जो उर्दू की जनता को इतनी दिलचस्पी है, इसका सेहरा हसरत ही के सिर है।

1921 के असहयोग आन्दोलन में कानपुर में स्वदेशी कपड़ों की एक दुकान 'ख़िलाफ़त स्टोर' के नाम से खुली थी। हसरत उसके मैनेजर थे। उसी दुकान से

मिला हुआ स्वदेशी वस्त्रों का भण्डार था। भण्डार में बिजली की रोशनी और पंखे थे, मगर ख़िलाफ़त स्टोर में इन तकुल्लुफ़ात का गुज़र न था। राष्ट्र का यह सेवक ताड़ की एक पंखिया लिये बैठा रहता और जब गर्मी बहुत सताती तो उसे झल लेता था। यह उनकी सादगी पसन्द या मुश्किल पसन्द प्रकृति की एक छोटी-सी मिसाल है। अमीरी के चोचलों से उन्हें घृणा है। जिस दिल में आज़ादी की लगन समायी हुई हो उसे टीमटाम से क्या मतलब। आज़ादी पहले दिल से शुरू होती है और दिल की आज़ादी यही त्याग यही निग्रह है। जो अपनी ज़रूरतों का गुलाम नहीं वह हमेशा आज़ाद है। जो लोग दिखावे और ठाट के गुलाम होकर आज़ादी की रट लगाते हैं, वे आज़ादी को बदनाम करते हैं।

एक बार कानपुर के डी. ए. वी. कालेज में इस प्रस्ताव पर बहस हुई–स्वराज छोटी-छोटी किस्तों में लिया जाना चाहिए। डिबेट अंग्रेजी में थी। डॉ. दीवानचन्द्र प्रधान थे। हसरत भी मौजूद थे। शायद आपको अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास नहीं है। कांग्रेस के कितने ही अन्य लीडरों की भाँति अंग्रेज़ी में बात करना आप अपने लिए शान की बात नहीं समझते। आप मंच पर गये और दो-चार वाक्य बोलकर चले आये, पर उन थोडे-से शब्दों में आप एक पूरा व्याख्यान दे आये।

(हिन्दी में : 'हंस', मई, 1930)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है

जहाँ किसी नेता के पकड़े जाने का समाचार आया, किसी शहर में सौ-पचास आदमियों के घायल होने की खबर मिली और हमारे चेहरों पर मुर्दनी छायी। हमारे सिर झुक जाते हैं, मुँह से बेकसी की आह निकल जाती है और ऐसा जान पडता है कि हमारे राष्ट्र की नौका अब डूबना चाहती है; मगर सोचिए, वह हमारी हार के लक्षण हैं या जीत के ? महात्मा गाँधी ने जब समर-क्षेत्र में पदार्पण किया; तो उन्होने खूब समझ लिया था कि मैं पकड लिया जाऊँगा। उन्होने अपने जॉनशीन भी चुन लिये थे। तो अगर जेनरल की इच्छानुसार ही सग्राम चल रहा है, तो यह जेनरल की हार है, या जीत ? अगर शत्रु विजयी होता, तो सबसे पहले वह हमारे जेनरल के रचे हुए चक्रव्यूह को तोड़ता, जेनरल ने जितनी चाले सोच रक्खी थी, उन सभो को पलट देता; पर ऐसा वह नही कर सका। उसको झक मारकर हमारे जेनरल के आदेशों के सामने ही सर झुकाना पड़ा, यहाँ तक कि महात्माजी ने संग्राम की प्रगति की जो कल्पना की थी, वह अक्षरशः सत्य होती जा रही है। तो यह हमारे जेनरल की विजय है, या पराजय ?

निःशस्त्र संग्राम का मूल-तत्त्व क्या है ? यही कि शत्रु को हम इतना दमन करने पर मजबूर कर दें कि वह खुद अपनी ही निगाह में गिर जाये, खुद उसकी आत्मा उससे घृणा करने लगे, यहाँ तक कि उसकी पुलिस और सेना उसकी दमनकारी आज्ञाओं का पालन करने से इनकार कर दे। उसके साथ ही हम विनय के प्रत्येक अंग का पालन करते रहें। अविनय का एक शब्द भी हमारे मुँह से न निकले। अविनय का एक भी विचार हमारे मन में न आवे। ऐसे विनय के आदर्श के सामने पशुबल बहुत दिनों तक अपना ज़ोर नहीं दिखा सकता। लोकमत पशुबल की कठोर गति देखकर कृपाशील हो जाता है, आन्दोलन का ज़ोर बढ़ने लगता है, सरकार के बड़े-बड़े भक्त उसका साथ छोड़ देते हैं, उसे ऐसे-ऐसे क़ानून बनाने पड़ते हैं, जिनसे जनता के स्वाभाविक जीवन में बाधा पड़ती है। जनता भी सत्याग्रहियों में सम्मिलित हो जाती है। अधिकारियों को संगीनों और मशीनगनों का आश्रय लेना पड़ता है, उसका आर्थिक और राजनीतिक दीवाला हो जाता है। यहाँ तक कि अधिकारियों को राज्य का संचालन करना असम्भव हो जाता है। क्या हम इन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं ? आन्दोलन इतने दमन के बाद भी क्या बढ़ता नहीं जा रहा है ? उसका

क्षेत्र विस्तृत नहीं होता जा रहा है ? जिन शहरों में दस-बीस स्वयंसेवक न मिलते थे, उन्हीं शहरों में क्या अब दस-बीस आदमी रोज़ जेल नहीं जा रहे हैं ? हम इसे अपनी विजय कहें या पराजय ? कितने ही लिबरल नेताओं ने सरकार की दमन-नीति के विरोध में कौंसिलों से इस्तीफ़े नहीं दिये ? सैयद हसन इमाम और मालवीयजी जैसे लोग किस शक्ति से खिंच आये और जेल में तपस्या कर रहे हैं ? और अभी तो सातवाँ ही महीना है, क्या यह हमारी हार के चिह्न हैं ? मुझे तो यह शानदार फ़तह मालूम होती है।

संग्राम में स्वभावतः विजय वही लाभ करता है, जिसमें दम ज़्यादा है, जो ज़्यादा देर तक मैदान में खड़ा रह सकता है। जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जर्मनी की जीत युद्ध के जल्द से ख़त्म हो जाने में थी। समय के साथ उसकी शक्ति घटती जाती थी। अंग्रेज़ों की जीत युद्ध के तूल खींचने में थी। उसी भाँति हमारी विजय आन्दोलन के दीर्घ होने में है। हमारी शक्ति दिन-दिन बढ़ती जायेगी, हमारा संगठन उत्तरोत्तर पूर्ण होता जायेगा। अभी हमारा कार्य-क्षेत्र शहरों तक है। वह धीरे-धीरे देहातों में फैलेगा। समाज के कितने ही अंग अभी अछूते पड़े हैं। वे भी धीरे-धीरे हमारे प्रभाव में आवेंगे। इसके विपरीत अंग्रेज़ों की शक्ति, दिन-दिन क्षीण होती जायेगी; उसके सहायक, अलग होते जायेंगे; उसकी आय कम होती जायेगी; उसका रोब घटता जायेगा; उसकी साख लुप्त होती जायेगी और जब साख न रही, तो उस राज्य का अन्त ही समझ लो। अभी तक तो सितारा हमारा ही बुलन्द है और ग्रहों का योग बता रहा है कि वह दिन-दिन बुलन्द ही होता जायेगा। जनता पर जितने डण्डे पड़ते हैं, यह अँगरेज़ी आधिपत्य पर एक-एक कुल्हाड़ी के आघात से कम नहीं है। हमने यही समझकर डण्डों का स्वागत किया है, सिर झुका-झुकाकर उसे अंगीकार किया है। यही हमारी विजय है। यही डण्डे बाज़ी, यही दमन, यही पशुता अँगरेज़ी राज्य का विध्वंस करेगी।

हमारी हार उस वक्त हो जाती है, जब हम विनय के आदर्श से गिर जाते हैं, जब हम पुलिस के विरुद्ध गालियाँ और कटु वचनों का प्रयोग करने लगते हैं, जब हम प्रतिकार के वश होकर वार करते हैं, जब हम दंगे-फ़िसाद पर आमादा हो जाते हैं। हमारी जीत लोकमत की सहानुभूति पर है। जिन कामों से आप लोकमत की सहानुभूति पा सकें, वह आपके रोकड़ खाते के हैं, जिन कामों से लोकमत की सहानुभूति खो दें, वह देना खाते के हैं। गालियाँ बक कर, या अधिकारियों के प्रति अपमान-सूचक इशारे करके आप लोकमत के विरुद्ध चले जाते हैं। वहीं आपकी हार है। पर ऐसी वारदातें अभी तक इतनी कम हुई हैं कि हम उन्हें उँगलियों पर गिन सकते हैं।

सबसे बड़ी बात, जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'हक़' है। हम 'हक़' पर हैं और 'हक़' की हमेशा विजय होती है। यह एक अमर सत्य है। समय भी हमारे साथ है। यह डिमाक्रेसी का युग है। निरंकुशता की जड़ें खोखली

होती जा रही हैं। संसार ने निरंकुश शासन का, या तो अन्त कर दिया, या करता जा रहा है; अतएव समय भी हमारे साथ है। लोगों के दिलों में स्वाधीनता की लगन पैदा हो गयी है, उसके लिए कुर्बानियाँ करने पर, उसकी कीमत देने पर, प्राणों की बाज़ी लगाने पर तैयार हैं। गोलियों और लाठियों के सामने साहस-पूर्वक खड़े रहना इतिहास में बहुत बड़े महत्त्व की बात है। इससे उस उन्माद का परिचय मिलता है, जो किसी महान उद्देश्य की सिद्धि के लिए लाज़मी है। समय अपना प्रभाव दिखाकर रहेगा। अंग्रेज़ों के बुरे दिन आ रहे हैं। आर्थिक दशा में वह अब दूसरे दरजे की शक्ति है, सैनिक और नाविक-बल में तीसरे दरजे की। यह बात न भूलनी चाहिए कि संसार की सहानुभूति हमारे साथ है। यद्यपि अभी तक उसका कोई प्रमाण नहीं मिला; पर जर्मनी, जापान, अमेरिका तीनों ही भारतीय परिस्थिति को बड़े ग़ौर से देख रहे हैं। अमेरिका के कई प्रभावशाली सज्जनों ने, जिनका चर्च से सम्बन्ध है, मि. वेजवुड बेन को एक चेतावनी दे दी है, और कहीं-कहीं जलसों में भारत से सहानुभूति भी प्रकट की गयी है। यह सभी शुभ लक्षण हमारी विजय के परिचायक हैं।

हमें सबसे बड़ी शका मुसलमानों की ओर से है। हिन्दू-मुसलिम दंगों की ख़बरें पढ़-पढ़कर हम हताश हो जाते हैं; लेकिन इस पहलू से भी हमारी पोज़ीशन दिन-दिन मज़बूत होती जा रही है। ढाका और किशोरगंज के दंगों के कारण कुछ भी क्यों न हों; पर देश में उनसे कोई खलबली नहीं मची। लोगों ने मन ही मन इन कारणों को समझ लिया और अब अधिक सावधान हो गये हैं। मुसलमानों में इस समय दो राजनीतिक दल हैं। एक कांग्रेस से सहानुभूति रखनेवाला मुसलिम नेशनलिस्ट दल, दूसरा मुसलिम-लीग दल। अब मुसलिम-जनता मुसलिम लीग पार्टी की चालों को खूब समझने लगी है। उसमें अधिकांश वही लोग सम्मिलित हैं, जो या तो अंगरेज़ी सरकार के नौकर हैं, या थे, या जिन्हें अपना कोई स्वार्थ निकालना है। निस्वार्थ भाव से देश सेवा करनेवाले, उस दल में बहुत कम हैं। नेशनलिस्ट दल ने तो लखनऊ में अपना अधिवेशन करके साफ़ कह दिया कि हम कांग्रेस के अवज्ञा-आंदोलन को न्याय-संगत समझते हैं और कांग्रेस की कुर्बानियों की प्रशंसा करते हैं। जब तक कांग्रेस गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में न जायेगी, यह लोग भी न जायेंगे। दूसरे दल ने भी प्रयाग में अपना अधिवेशन किया। उसने कांग्रेस आंदोलन की निंदा की और गोलमेज़ सभा में जाने का निश्चय भी प्रकट किया; पर इतना उनको भी कहना ही पड़ा कि यदि गोलमेज़ सभा में हमारा अभीष्ट न पूरा हुआ, तो वहाँ से लौटकर हम भी यही आंदोलन आरंभ करेंगे। हम जानते हैं कि यह इस दल की धमकी है, और सरकार ने यदि उसके साथ थोड़ी-सी रिआयत कर दी, जिसकी बहुत कुछ संभावना है, तो वह सरकार का तरफ़दार रहेगा। मुसलमानों का एक तीसरा दल भी है, जो सोलहों आना कांग्रेस के साथ है। और आलिमों ने इसी दल को अपनाया है; इसलिये मुसलमानों की ओर से भी हम निश्चिन्त हो सकते हैं। कांग्रेस को इस समय अपनी

उदारता दिखानी चाहिए और यह जानते हुए, कि दो-चार मेम्बर की कमी-बेशी से किसी जाति का भविष्य नहीं बनता-बिगड़ता, मुसलमानों को असंतुष्ट न करना चाहिए। समय आने पर यह धर्मगत वातावरण आप ही आप दूर हो जायगा और आर्थिक सिद्धान्तो के अधीन नये-नये दल बन जायेंगे।

सारांश यह कि हमें चारों ओर अपनी विजय के लक्षण दिखायी देते है, और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे, तो निस्संदेह हमारी मनोकामना पूरी होगी। सरकार ने जो ये आर्डिनेंस पास किये हैं, इन्हीं से प्रकट है कि वह अपनी हार स्वीकार कर रही है। जब राजसंस्था अपने ही बनाये हुए क़ानूनों को पैरों तले रौंदना शुरू करे, तो उसकी दशा उस पागल की-सी समझनी चाहिए, जो आप ही अपनी देह को दाँतों से काटता है, आप ही अपना मास नोचता है। ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नही रह सकता। उसकी जिन्दगी का पैमाना लबरेज़ हो चुका है। आख़िर इन विशेष क़ानूनों का–इन ग़ैरक़ानूनी क़ानूनों का–क्या परिणाम हुआ ? वही, जो होना स्वाभाविक था; पिकेटिंग को सरकार ने बंद करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन-दिन ज़ोर बढ़ता जा रहा है। समाचार-पत्रों के बंद करने में बेशक़ सरकार को सफलता हुई; लेकिन क़ानून तोड़कर साइक्लोस्टाइल पर छपने वाले पर्चों ने तो शासकों की नाक ही तराश ली। आन्दोलन का ज़ोर सौ गुना बढ़ गया। इसमें भी सरकार को सफलता नही मिली। कहीं खादी पहनना अपराध है, कहीं गाँधी टोपी लगाना अपराध है, कही तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड अर्विन अगर मातहतों की इन हिमाक़तों को पसन्द करते है, तो वह कठपुतली हैं, अगर नापसन्द करते हैं, और कुछ बोल नही सकते, तो कमज़ोर। मगर, हमें न उनसे कोई शिकायत है, न उनके मातहतों से। आपको डंडे चलाना मुबारक, हमें डंडे खाना मुबारक ! अगर संसार का कोई नियंता है, तो वह न्याय करेगा। हमें अपने सत्य का ही बल है।

(हिन्दी में : 'हंस', नवम्बर, 1930)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

मानसिक पराधीनता

हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं ; पर मानसिक पराधीनता में अपने-आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है ? उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कलचर। यही कलचर हिन्दू को हिन्दू, मुसलमान को मुसलमान और ईसाई को ईसाई बनाये हुए हैं। मुसलमान इसी कलचर की रक्षा के लिए हिन्दुओ से अलग रहना चाहता है, उसे भय है कि सम्मिश्रण से कही उसके कलचर का रूप ही विकृत न हो जाये। इसी तरह हिन्दू भी अपने कलचर की रक्षा करना चाहता है; लेकिन क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों अपने कलचर की रक्षा की दुहाई देते हुए भी उसी कलचर का गला घोटने पर तुले हुए हैं।

कलचर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कलचर के अंग हैं; पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कलचर की जड काट रहे हैं। पश्चिमवालों को शक्तिशाली देखकर हम इन भ्रम में पड़ गये हैं, कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अन्धभक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा ही को ले लीजिए। आज अंग्रेज़ी हमारे सभ्य-समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है। सरकारी भाषा तो वह है ही, दफ़्तरों में तो हमें अंग्रेज़ी में काम करना ही पड़ता है; पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गये हैं कि निजी चिट्ठियों में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंग्रेज़ी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं, तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है, तो अंग्रेज़ी में। डायरी अंग्रेज़ी में लिखी जाती है। वाह ! क्या भाषा है ! क्या लोच है ! कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द-भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक ! जिसे देखो अंग्रेज़ी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है। यहाँ तक कि हमारी योग्यता और विद्वत्ता की यही एक परख हो गयी है, कि हम अंग्रेज़ी बोलने या लिखने में कितने कुशल हैं। आठवें

प्रयोग में अंग्रेज़ों के मुहाविरों की रटन शुरू हो जाती है, पर्यायों के सूक्ष्म अर्थभेद पर विचार होने लगता है, अपनी अंग्रेज़ी वक्तृता में अंग्रेज़ों का ऐक्सेंट और उच्चारण कैसे लायें, इस प्रयत्न में जान खपा दी जाती है। अगर किसी स्वर का उच्चारण अंग्रेज़ों से उनके मौखिक गठन के दोषों के कारण नहीं होता, तो हम भी अपने में वही बात पैदा करेंगे। आज तक 'The' जैसे साधारण शब्द का भी ठीक उच्चारण—जो अंग्रेज़ों को भी जँचे—बहुत कम लोग कर सकते हैं और हमारी यह मनोवृत्ति राष्ट्रीय भावों के साथ ही साथ बढ़ती जाती है। यहाँ तक तक कि अंग्रेज़ी ही पठित-समाज की भाषा बन गयी है। अपनी भाषा में बातचीत करते समय कभी-कभी एकाध अंग्रेज़ी शब्द आ जाने को तो हम मुआफ़ी के क़ाबिल समझते हैं; लेकिन दुःख तो यह है, कि ऐसे सज्जनों की भी कमी नहीं है, जो बहुत थोड़ी-सी अंग्रेज़ी जानकर भी अंग्रेज़ी ही में अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज़ स्वप्न में भी किसी अंग्रेज से गैर अंग्रेज़ी भाषा में न बोलेगा; मगर यहाँ हम आपस में ही अंग्रेज़ी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। मैं उस मनोवृत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता, जो एक ही भाषा-भाषियों को अंग्रेज़ी में बातें करने की प्रेरणा करती है। किसी मदरासी, बंगाली या चीनी से तो अंग्रेज़ी में बातें करने का कोई अर्थ हो सकता है। उनसे बातें करनी जरूरी है और इस वक्त और कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं, जिसका सभी प्रांतवालों को एक सा ज्ञान हो, मगर एक ही प्रांत के रहनेवाले, एक ही भाषा के बोलनेवाले, क्यों आपस में अंग्रेज़ी बोलें, क्यों अंग्रेज़ी में पत्र लिखें, क्यों 'प्रणाम' या 'नमस्कार,' या 'बंदे' या 'नमस्ते' या 'तस्लीम' करने के बदले 'मार्निंग-मार्निंग' कहें, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों 'हल्लो' ही मुँह से निकले, मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता। संसार में ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है, जो माँगनी की चीजों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीजों का स्वामी समझते होंगे। अंग्रेज़ी का व्यवहार करनेवालों की मनोवृत्ति भी कुछ इसी तरह की होती है। या तो उनका अभिप्राय यह होता है, कि देखें हम दोनों में कौन अच्छी अंग्रेज़ी बोलता है, या यह कि देखो, हम जितनी सफ़ाई से अंग्रेज़ी बोलते हैं, तुममें वह सफ़ाई नहीं है। और इसका परिणाम यह होता है कि अच्छी अंग्रेज़ी लिखनी और बोलनी तो आ जाती है; पर अपनी भाषा भूल जाती है, या हेय और तुच्छ समझकर भुला दी जाती है। यह हमारे शिक्षित-समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं, शोकजनक मानसिक दासता है।

फ्रांसीसी कवि फ्रेंच में कविता करता है, जर्मन, जर्मन में, रूसी रशियन में, कम से कम जिन रचनाओं पर उसे गर्व होता है, वह अपनी ही भाषा में करता है; लेकिन हमारे यहाँ के सारे कवि और सारे लेखक अंग्रेज़ी में लिखने लगें, अगर केवल कोई प्रकाशक उनकी रचनाओं को छापने पर तैयार हो जाये! जिन्हें प्रकाशक मिल जाते हैं, वह चूकते भी नहीं, चाहे अंग्रेज़ आलोचक उनका मज़ाक ही क्यों न उड़ावें; मगर वह खुश हैं।

हम मानते हैं, कि अंगेज़ी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी

से ज़ाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी; लेकिन जब वही लोग, जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें, तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेगे ? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन-सहन, उसकी बोल-चाल, उसकी वेश-भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं। शायद वह अपने दिल मे फूला नहीं समाता, कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गँवार समझता है; लेकिन वह खुद जनता की नजरों से गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती, उसे 'किरंटा' या 'बिगड़ैल', या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है और आज खुदा न ख्वासता वह किसी अग्रेज़ के हाथों पिट रहा हो, तो लोग उसकी दुर्गति का मजा उठावेंगे, कोई उसके पास भी न फटकेगा। ज़रा इस गुलामी को देखिए, कि हमारे विद्यालयो में हिन्दी या उर्दू भी अंग्रेज़ी द्वारा पढ़ायी जाती है। अगर बेचारा हिन्दी-प्रोफ़ेसर अग्रेजी मे लेक्चर न दे, तो छात्र उसे नालायक़ समझते हैं। आदमी के मुख मे कलंक लग जाये तो वह शर्माता है, उस कलंक को छिपाता है, कम-से-कम उस पर गर्व नही करता; पर हम अपनी दासता के कलक को दिखाते फिरते है, उसकी नुमाइश करते हें, उस पर अभिमान करते हैं, मानो वह नेकनामी का तमगा हो, या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वाह री भारतीय दासता, तेरी बलिहारी है !

भाषा को छोड़िए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं, जो हैट-कैट लगाये, ग़रूर से इधर-उधर देखते चले जा रहे है। यह हमारे हिन्दुस्तानी योरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हें ! साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर हैं ! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नज़र आते हैं, जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं, जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। आपमे आत्मबल अवश्य है, बड़े ऊँचे दरजे का आत्मग़ौरव, आप लोक-मत को ठुकरा देते हैं, किसी के नाक-भौं सिकोड़ने की परवा नही करते, जो अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी या अपनी मनोतुष्टि के लिए वांछनीय समझते हैं, वह अबाध्य रूप से करते हैं। क्यों लोकमत का आदर करें ! लोकमत के गुलाम नहीं; लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए कि ज़रा शाम को बिना फेल्टकैप लगाये किसी अंग्रेज़ी-क्लब में चला जाये, तो उसके हाथ-पाँव फूल जायेंगे, खून ठण्डा हो जायेगा, चेहरा फक़ हो जायेगा ! क्यों ? इसलिए कि उसका आत्म-गौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है, उसमें सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी से छोटी रूढ़ियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह खुश रहे तो क्या, और नाराज रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। जिनसे कुछ बनने-बिगड़ने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा—तुम इस ठाठ से क्यों रहते हो, तो बड़े दार्शनिक

भाव से बोले—इसलिए कि अंग्रेज़ों से मिलने जाता हूँ, तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं, उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूँ, जो स्वार्थ लेकर अंग्रेज़ों से मिलने नहीं जाते, वह अचकन नहीं, मिर्जई भी पहने हों, तो उन्हें जूते उतारने की ज़रूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं, वह किसी वेश में हों, उनकी आत्मा दबी रहती है। ऐसे प्राणियों की दशा उस आदमी की-सी है, जो अपने कपड़े पर एक दाग़ को छिपाने के लिए सारा कपड़ा ही काला रंग ले। अगर स्वार्थ मजबूर कर रहा हो, तो मेरे विचार में तो जूते उतार देना इससे कहीं अच्छा है, कि हम उस अपमान से बचने के लिए बेहयाई का एक अपराध और अपने सिर पर लें। यह मत समझो, कि अंग्रेज़ तुम्हारा कोट-पैंट देखकर तुम्हारा ज़्यादा आदर करता है। और अगर ऐसा हो भी, तो अपना वेश छोड़कर उस आदर को लेना, एक प्याले शोरबे के लिए अपने जन्म-सिद्ध गौरव को बेचना है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया, तो बोले—इससे सफ़र करने में बड़ा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब हैं, मेरे डब्बे में नहीं आती। एक और साहब ने कहा—अंग्रेज़ी कपड़े पहनने से देह में बड़ी चुस्ती और फुरती आ जाती है। गरज, लोग तरह-तरह की दलीलों से आपका समाधान कर देंगे। मैं पूछता हूँ—क्यों साहब, क्या सारी चुस्ती और फुरती अंग्रेजी कपड़ों में ही है ? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज़ है, कि वदन पर आयी और आपकी देह में स्फूर्ति दौड़ी ! यह दलीलें लग़ों और लचर हैं। हाँ, इस तर्क में अवश्य सार है, कि जब सारा-संसार योरोपीय वेश के पीछे जा रहा है, तो आप उससे अलग कैसे जा सकते हैं। दूसरी दलील यह हो सकती है, कि हमारा कोई जातीय परिधान भी तो नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रांतीय परिधानों की अपेक्षा तो एक सार्वदैशिक योरोपीय परिधान का होना कहीं अच्छा है। बेशक़ यह टेढ़ा प्रश्न है। यह बात भी विचारणीय है कि अन्य देशों में अमीर-ग़रीब सबका पहनावा एक ही है, चाहे उसके कपड़े में कितना ही अन्तर हो। आपके यहाँ किसान मिर्ज़ई या नीमआस्तीन या कुर्ता-धोती पहनता है, कहीं शलवार है, कही पगड़ी, कहीं जाँघिया। पहले एक जातीय ठाठ की सृष्टि तो कर लीजिए, फिर विलायती पहनावे पर आक्षेप कीजिएगा। भाषा ही की भाँति एक जातीय पहनावा भी बरसों के बाद कहीं जाकर आविर्भूत होता है, किसी संस्था या नीति-द्वारा उसकी सृष्टि नहीं की जा सकती। अभी भारत को एक सार्वदैशिक परिधान के लिए बहुत दिनों तक इन्तजार करना पड़ेगा; मगर जब तक वह समय नहीं आता, तब तक के लिए हमारे विचार में इस नीति को सामने रखना चाहिए, कि यथासाध्य जनरुचि का सम्मान किया जाये। अगर किसी प्रान्त में जनता कोट पहनती है, तो वहाँ के लिए कोट-पतलून ही उपयुक्त है। इसी भाँति जिन प्रान्तों में साधारण जनता कुरता और धोती पहनती है, वहाँ कुरता और धोती को ही जातीय परिधान के पद पर सम्मानित करना चाहिए। अभिप्राय केवल यह है, कि शिक्षित-समाज केवल अपनी विशिष्टता या प्रभुत्व जताने के लिए ऐसे बेश-भूषा का व्यवहार न करे जिसमें विदेशीपन की झलक आती हो। हो सकता है, कि कुछ लोगों को अंग्रेज़ी वेष में

रहने पर भी ज़रा अभिमान या स्वार्थ-सिद्ध की भावना न हो; पर दुर्भाग्यवश यह विदेशी वेश जनता की आँखों में खटकता है और इसे धारण करनेवाले चाहे देवता ही क्यों न हों, वे स्वजाति के द्रोही और शासक जाति के अनन्य भक्त के रूप में नज़र आते हैं। संभव है, स्वाधीन हो जाने पर यही हमारा स्वजातीय वेश हो जाये; लेकिन तब इसमें वह कुसंस्कार न रहेंगे, जिन्होंने इस वक्त इसे इतना अवहेलनीय बना रक्खा है। ज़रा सोचिए, क्या यह एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को शोभा देता है, कि वह अपना रहन-सहन ऐसा बना ले, कि जनता उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने के बदले घृणा या भय की दृष्टि से देखे। किसी समय जनरुचि को पद-दलित करने का नतीजा बुरा भी हो सकता है, और यह तो स्पष्ट ही है, कि अगर जनता के हाथों में प्रभुत्व होता, तो बहुत से अंग्रेज़ी वेश के प्रेमी यह वेश धारण करने के पहले ज़्यादा विचार से काम लेना आवश्यक समझते; मगर हमारी यह मनोवृत्ति भाषा और वेश तक ही रहती, तो अधिक चिंता की बात न थी। इसने हमारे कितने और सामाजिक विचारों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है और अभी से रोक-थाम न की गयी, तो एक दिन हमारी जातीय संस्कृति ही का लोप हो जायेगा। यह एक साधारण-सी बात है कि पराधीन जाति को अपने मे सारी बुराइयाँ और राज्य करनेवाली जाति मे भलाइयाँ नजर आती हैं। हमारी सभ्यता कहती है—अपनी जरूरतो को मत बढ़ाओ, ताकि तुम्हारी जात से कुटुम्ब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतो को खूब बढ़ाओ, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जिओ और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, हम गाँवों मे रहते थे, जहाँ अपने आत्मीयजनो का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहाँ हम सारे बंधनों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता मे सम्मिलित-कुटुम्ब एक प्रधान अग था। पश्चिमी सभ्यता मे परिवार का अर्थ है—केवल स्त्री और पुरुष। दोनो में बुराइयाँ और भलाइयाँ, दोनों ही हैं; पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है, वहाँ दूसरे में स्वार्थ और संकीर्णता। हमारी सभ्यता मे नम्रता का बड़ा महत्त्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्म-प्रशंसा को वही स्थान प्राप्त है। अपने को खूब सराहो, अपने मुँह खूब मियाँ-मिट्ठू बनो। हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था; विद्या और आचरण से आदर मिलता था। पश्चिमी सभ्यता में धन ही मुख्य वस्तु है। हम भी धन कमाते थे; पर दया के साथ। पश्चिम भी धन कमाता है; पर दया का नाम नहीं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार संघर्ष है।

लेकिन यहाँ हम अपने सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करने बैठे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है, कि हमें हरेक पश्चिमी चीज़ के पीछे आँखें बन्द करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे; मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अन्धभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी। योरोपीय सभ्यता की नकल करके

हमें अपने यहाँ भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा, जो योरोप कर रहा है। योरोप पथ-भ्रष्ट है, उसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं और, आज योरोप के विचारवान् लोग कह रहे हैं, कि यह संस्कृति अब विध्वंस के गर्त में जानेवाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नकल करके अपनी संस्कृति को भी विध्वंस के गर्त में ढकेलने की तैयारी करें ? यह समझ लीजिए, कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी; पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को खो दिया, अपने धर्म की सत्ता खो दी, अपनी संस्कृति को खो बैठे, तो हमारा अंत हो जायेगा।

(हिन्दी में : 'हंस', जनवरी, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

कांग्रेस ज़िंदाबाद

गत वर्ष चौथी मार्च को महात्मा गाँधी जी ने डांडी की ओर प्रस्थान करके स्वराज्य-संग्राम की रण-भेरी बजायी थी। पूरे साल भर के बाद चौथी मार्च को क्षणिक-संधि की घोषणा हुई और कांग्रेस ने पहला मोर्चा जीता। यह सफलता किन साधनों द्वारा प्राप्त हुई है, इसको दुहराने की ज़रूरत नहीं। वह सारे दृश्य अभी तक हमारी आँखों के सामने हैं। जिस काम को हम असाध्य समझ रहे थे, वह इतना सरल था, इसकी हमने कल्पना भी न की थी। हमने लगभग अस्सी हज़ार स्वयंसेवक जेल भेजे, कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को बन्दी वनना पड़ा, पर सच पूछिए तो ऐसे महान उद्देश्य के लिए जितना त्याग किया गया वह कुछ नहीं के बराबर है। कुशल सेनापति वही है, जो थोड़े से थोड़े रक्तपात से बड़ी से बड़ी विजय कर दिखाये। महात्मा गाँधी जी उन्हीं कुशल सेनापतियों में हैं। अहिंसा और सत्याग्रह का ऐसा अमोघ अस्त्र उन्होने देश के हाथ में दिया, कि हम ब्रिटिश सरकार की मशीनगनों और हवाई जहाज़ों को तुच्छ समझकर निहत्थे मैदान में निकल पड़े और वह शक्तिशाली साम्राज्य, जिसने संसार पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए पचास लाख आदमियों का वलिदान कर दिया था, हमारा लोहा मान गया। योरोपीय महासमर में भारत ने भी लगभग पन्द्रह लाख सैनिकों का बलिदान किया था और असंख्य धन वारा था, पर उसका क्या फल निकला ! वह पशुबल का संग्राम पशुबल से था। यह आत्मबल का संग्राम पशुबल से था और पशुबल को आत्मबल के सामने नीचा देखना पड़ा। हम यह नहीं कहते कि हमारा अभीष्ट पूरा हो गया और हमे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी, पर जिस सरकार ने पहले हमारे उद्योग को हेय समझा था और उसकी हँसी उड़ायी थी, उसी सरकार का हमसे सन्धि करने पर विवश होना क्या छोटी बात है ? जब विपक्षी ने हमारी शक्ति को स्वीकार कर लिया, तो वह हमसे फिर ताल ठोंकने का साहस नहीं कर सकता। जिस शत्रु के हृदय में आप अपना आतंक जमा सकते हैं, उसकी पीठ में धूल लगा देना उससे कहीं सरल है। मुश्किल होता है, अपनी शक्ति का सिक्का बिठाना। वह अभीष्ट कांग्रेस ने पूरा कर लिया। ब्रिटिश सरकार अब दोबारा भारत की संयुक्त शक्ति का सामना करने का साहस नहीं कर सकती। उसे अब अगर कोई आशा है, तो वह भारत के विभिन्न

समुदायों एवं संप्रदायों का परस्पर वैमनस्य है। अगर कांग्रेस ने इस वैमनस्य को जीत लिया, तो फिर उसकी कोई माँग नहीं जो अंग्रेज़ सरकार पूरी करने के लिए मज़बूर न हो जाये। गोलमेज़-परिषद में सभी वर्गों ने डोमीनियन स्टेट्स का समर्थन करके अंग्रेज़ सरकार को चकित कर दिया था। प्रतिनिधियों का चुनाव जिस रीति से किया गया था, उससे सरकार ने यह आशा बाँध ली थी, कि यह एक स्वर होकर कुछ कह ही न सकेंगे। जितने मुँह होंगे, उतनी ही बातें होंगी। ऐसी परिषद् को बच्चों का खेल सिद्ध कर देना कुछ मुश्किल न था, लेकिन परिषद् ने एक स्वर होकर डोमीनियन स्टेट्स की सदा बुलन्द की। हाँ, ब्रिटिश सरकार की इतनी चाल चल गयी कि परिषद ने संरक्षणों को स्वीकार कर लिया जिसने परिषद को अपंग कर दिया। जो कुछ कसर रही, वह सांप्रदायिक स्वत्वों के बँटवारे के झमेले में पूरी हो गयी। महात्मा गाँधी जी ने देखा कि अब समझौते का अवसर आ गया है और जब समझौता से कार्य सिद्ध हो तो बलिदानों की ज़रूरत क्या। आपने कहा है कि "बलिदानों की एक सीमा तक तो आवश्यकता होती है; लेकिन उस सीमा के निकल जाने पर कष्टों का आवाहन करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।" हमारा राष्ट्रीय आंदोलन महात्मा जी का चलाया हुआ है। वही इसके प्रवर्तक और संचालक हैं। जब उन्हें विश्वास है कि अब वह अवसर आ गया है, जब समझौते से ज़्यादा सफलता की आशा है, तो कौन कह सकता है कि उन्होंने संधि करके भूल की। अब तो हमारी जीत इसी में है कि भारत जो कुछ माँगे, एक स्वर होकर माँगे, फिर अंग्रेज़ सरकार को वह माँग पूरी करने के सिवा और कोई मार्ग न रहेगा। गोलमेज़-परिषद् में स्वत्वों पर जो नोच-खसोट हुई, उसका कारण यही था कि उसके प्रतिनिधि राष्ट्र भक्त न थे, पंथ-भक्त थे। अब वह अविश्वास का वातावरण बदल गया है, और हमें पूरा विश्वास है कि साम्प्रदायिक विरोध की बाधा हमारे मार्ग में न खड़ी होगी। मुसलिम नौजवानों की मनोवृत्ति साम्प्रदायिक नहीं। इसका परिचय पहले ही मिल चुका है। हमारे मुसलिम नौजवान विशेष अधिकारों के उपासक नहीं, वह सरकार का रक्षा का हाथ अपने सिर पर रहना आवश्यक समझते हैं। उनमें पुरुषार्थ है, उत्साह है, आत्मविश्वास है और वह राष्ट्र के हित के लिए पंथगत स्वत्वों को छोड़ना जानते हैं। जिस जाति में व्यापक भ्रातृ-भाव का आदर्श है, जहाँ कोई छोटा है न बडा है, सब बराबर हैं, वह जाति अगर विशेष अधिकारों और छोटी-छोटी नौकरियों के लिए राष्ट्रहित में बाधक हों, तो वह अपने ऊँचे आदर्श से गिर जायेगी। जब नारी जाति में इतना आत्मबल आ गया है कि वह देश के लिए कठिन से कठिन यातना सहने के लिए तैयार है तो क्या हमारे मुसलिम नौजवान इस अवसर पर अपने पुरुषार्थ का परिचय न देंगे ? भारत की वीर देवियों ने इस कठिन अवसर पर जिस वीरता का परिचय दिया है, वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। वे कोमलांगी रमणियाँ, जो परदे में रहना ही अपना गौरव समझती थीं, जिस वीरता से मैदान में आ खड़ी

हुईं, उसने संसार को चकित कर दिया ! हम तो यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं समझते कि इस संग्राम में विजय का सेहरा नारी-जाति ही के सिर है। माताओं ने सदैव अपनी सन्तान के लिए अपना बलिदान किया है और आज उसी मातृत्व ने भारत का उद्धार किया है।

(हिन्दी में : 'हंस', फरवरी, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

नारी-जाति के अधिकार

यों तो भारतीय नारी सदैव कुलदेवी समझी गयी है और उसे समाज में पुरुषों से ऊँचा पद प्राप्त है किन्तु अन्यान्य कारणों से, जिनकी विवेचना करने का यह अवसर नहीं है, उसका स्थान गौण हो गया था। वह मन्दबुद्धिमत्ता जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी पाँव में डाली, दूसरी ओर नारी जाति पर मनमाने अत्याचार करती गयी। ऊँच-नीच का ऐसा संक्रामक रोग फैला कि उसने समाज को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। बल्कि स्त्री-पुरुष में भी भेद डाल दिया। पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया, लेकिन राष्ट्रीयता और सद्‌बुद्धि की जो लहर इस समय आयी हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी माताएँ उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक़ है। भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है। मातृ-पूजा उसके धर्म का एक मुख्य अंग है। क्या आज अपनी माताओं द्वारा विजयी होकर वह नारी-जाति के स्वत्वों को स्वीकार न करेगा ? भारत के पतन-काल में जब पुरुषों को अपने ही ऊपर विश्वास न था, वह स्त्रियों पर क्या विश्वास करते; पर इस एक वर्ष के सत्याग्रह-संग्राम ने सिद्ध कर दिया कि भारत की देवियाँ अब भी धर्म और कर्त्तव्य की वेदी पर अपने को होम कर सकती हैं। यदि पुरुषों को अब भी उन पर शासन करने का उन्माद हो तो उसे शीघ्र से शीघ्र दूर कर देना चाहिए, क्योंकि वह चाहे दें या न दें, देवियाँ अपने स्वत्वों को लेकर ही रहेंगी। उन्हें हर एक विषय में पुरुषों के समान अधिकार होना चाहिए और इसका निर्णय देवियों ही पर छोड़ देना चाहिए कि वे अपने हितार्थ जो स्वत्व चाहें ले लें। हमारे विचार में निम्नलिखित विषयों पर नारियों को असन्तोष है और इस असन्तोष को देवियों की इच्छानुसार ही शमन करना पड़ेगा–

1. एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो। कोई पुरुष पत्नी के जीवन-काल में दूसरा विवाह न कर सके।

2. पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो। वह उसे रेहन-बय जो कुछ चाहे कर सके।

3. पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों और पुत्रियों का समान अधिकार हो।

4. तलाक का कानून जारी किया जाये और वह स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो।

5. तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी सम्पत्ति पाये और यदि मौरूसी जायदाद हो, तो उसका एक अंश।

(हिन्दी में : 'हंस', फरवरी, 1931)

(उर्दू में : अप्रकाशित)

कर्मवीर विद्यार्थी जी

कानपुर से इस हत्याकाण्ड में राष्ट्र को सबसे भयंकर जो क्षति पहुँची है वह विद्यार्थी जी की शहादत है। लुटा हुआ धन फिर आ जायेगा, उजड़े हुए घर फिर आबाद हो जायेंगे, माताओं के गोद में फिर बच्चे खेलेंगे, पर वह कर्मवीर भारत से सदैव के लिए उठ गया। विद्यार्थी जी के जीवन की सरलता और पवित्रता सात्त्विक थी। हम यह तो नहीं कह सकते कि हमारी उनसे घनिष्ठता थी, पर साल में दो-तीन बार हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य अवश्य हो जाता था और उनके दर्शनों से आत्मा पर आशीर्वाद का-सा जो असर पड़ता था, वह अकथनीय है। स्वार्थ-चिन्ता ने कभी उनकी आत्मा को मलिन नहीं किया। उनका समस्त जीवन यज्ञमय था और कदाचित् ईश्वर की इच्छा थी कि उनकी मृत्यु उस यज्ञ की पूर्णाहुति हो। इस विद्रोह के एक या दो दिन पहले लखनऊ कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में हमें उनके दर्शन हुए थे। उनके जेल से लौटने के बाद मैं उनसे मिल न सका था। कितने तपाक से गले मिले। विनोद महान आत्माओं का स्थायी गुण है। उनकी सीधी-सी बात में भी विनोद की कुछ न कुछ मात्रा होती है। अपने जेल जीवन की एक घटना हँस-हँस कर सुनाने लगे। विक्टर ह्यूगो पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। 'नाइंटी थ्री' का अनुवाद वे पहले कर चुके थे। अबकी जेल में ह्यूगो के जगत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले मिज़रेबुल' का उन्होंने अनुवाद किया था। बोले, 'कोई पन्द्रह सौ पृष्ठ होंगे। आपका प्रेस छापना चाहे तो मैं दे सकता हूँ।'

यह तो उनका विनोद मात्र था।

कौन जानता कि यह उनके अन्तिम दर्शन हैं। उस समय तो कराची जाने की बातचीत हो रही थी।

विद्यार्थी जी ने देश में जो सम्मान और यश प्राप्त किया, वह उनकी सेवा का प्रसाद था। वह बहुत बड़े विद्वान न थे, बड़ी-बड़ी उपाधियाँ न प्राप्त की थीं, मगर हृदय में सेवा की ऐसी लगन थी, जिसने उनकी लेखनी को ओज, उनकी भाषा को स्फूर्ति, उनकी वाणी को प्रभाव और व्यक्तित्व को गौरव प्रदान कर दिया था। उनकी आत्मा निष्कपट और निर्भीक थी। राजनीतिक समस्याओं पर वह जितने साहस से अपनी सम्मति प्रकट करते थे, उसने हमारे सम्पादकीय जीवन में अमर स्मृतियाँ छोड़ी हैं। अत्याचार के विरुद्ध उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती

थी। 'प्रताप' ने अपने बीस वर्ष के जीवन में जितनी बाधाओं पर सफलता के साथ विजय पायी वह विद्यार्थी जी के सद्‌साहस, न्याय-निष्ठा और कर्त्तव्य-प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण है।

हिन्दू-मुसलिम एकता के वह अनन्य भक्त थे। विद्यार्थी जी उन राष्ट्र-सेवियों में से थे जिन्होंने साम्प्रदायिकता को कभी अपने पास नहीं आने दिया। यह उनके राष्ट्रीय जीवन का मूल सिद्धान्त था। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कानपुर में जब यह आग भड़की, तो उनकी आत्मा को कितना आघात पहुँचा। शहर में हाहाकर मचा हुआ था। शहर के नेता कर्त्तव्य-भ्रष्ट से अपने-अपने घरों में बैठे थे। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे पर अमानुषिक अत्याचार कर रहे थे, पर यह कर्मवीर अपने प्राणों को हथेली पर लिये पीड़ित परिवारों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाता, आहतों की सेवा और अनाथों की सहायता करता फिरता था। हितचिन्तक गण समझाते थे, पर जिसके जीवन का मूल आधार इतनी निर्दयता से पैरों तले रौंदा जा रहा हो, उसे ऐसी चेतावनियों की क्या परवाह हो सकती थी। धर्म जैसी पवित्र वस्तु भी मलिन आत्माओं में जाकर इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है। धर्म जिसका उद्देश्य है मनुष्य को सत्य की ओर ले जाना, उसकी परलोक बुद्धि को शक्ति देना वही मानवी दुर्बलताओं से कलुषित होकर आज हिंसक जन्तु के रूप में प्रकट हो रहा है। वह धर्मान्धता जो ऐसी पवित्र आत्माओं के रक्त से अपने हाथ रँगती है, उसकी किन शब्दों में निन्दा की जाये। उन्हीं लोगों के हाथों यह अनर्थ हुआ जिनकी रक्षा के लिए वह निकले हुए थे। धर्मान्धता तेरी बलिहारी है। तू शत्रु और मित्र का भी विवेक नहीं रखती।

आज इस कर्मवीर की मृत्यु ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐसा स्थान ख़ाली कर दिया है, जिसकी पूर्ति होना कठिन है।

(हिन्दी में : 'हंस', मार्च, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

साहित्य में समालोचना

साहित्य में समालोचना का जो महत्त्व है उसको बयान करने की ज़रूरत नहीं। सत् साहित्य का निर्माण बहुत गम्भीर समालोचना पर ही मुनहसर है। योरोप में इस युग को समालोचना का युग कहते हैं। वहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकलती रहती हैं, यहाँ तक कि ऐसे ग्रन्थों का प्रचार, प्रभाव और स्थान क्रियात्मक रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रों और पत्रिकाओं में स्थायी रूप से आलोचनाएँ निकलती रहती हैं ; लेकिन हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोचक बहुत कम हैं जो किसी रचना की तह में डूबकर उसका तात्त्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सकें। हाँ, कभी-कभी प्राचीन ग्रन्थों की आलोचना नज़र आ जाती है जिसे सही मानों में समालोचना कह सकते हैं, मगर हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती ही कहेंगे। प्राचीन कवियों और साहित्याचार्यों का यशोगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राणी केवल अतीत में रहे, पुरानी सम्पदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आने वाली बातों की तरफ से आँखें बन्द कर ले, वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें सन्देह है। पुरानों ने जो कुछ लिखा, सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियों के अधीन किया। नये जो कुछ लिखते, सोचते या कहते हैं, वह वर्तमान परिस्थितियों के अधीन करते हैं इनकी रचनाओं में वही भावनाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं जिनसे वर्तमान युग आन्दोलित हो रहा है। यदि हम पुराने विशाल खँडहरों ही को प्रतिमा की भाँति पूजते रहें और अपनी नयी झोंपड़ी की बिल्कुल चिन्ता न करें तो हमारी क्या दशा होगी, इसका हम अनुमान कर सकते हैं

आइए देखें, इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी-साहित्य में ऐसे लेखकों की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार-साहित्य से परिचित हैं, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्त्वों को समझते हैं। साहित्य का पथ-प्रदर्शन उन्हीं का कर्त्तव्य है। लेकिन या तो वे हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य में कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होती। इन तीनों ही कारणों में कुछ-न-कुछ तत्त्व है, मगर इसका इलाज क्या

हिन्दी-साहित्य से मुँह मोड़ लेना है ? क्या आँखें बन्द करके बैठ जाने से ही सारी विपत्ति-बाधाएँ टल जाती हैं ? हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमें हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमें हिन्दी-द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ें जमाना है। क्या इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे ? योरोपीय भाषाओं की इसलिए उन्नति हो रही है कि वहाँ दिमाग़ और दिल रखनेवाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते हैं, बड़े-बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफ़ेसर और धर्म-आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही नहीं, बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अंग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरों और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहाँ चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ़ ताकना भी हेय समझते हैं। कितने ही तो बड़े रोब से कहते हैं–हिन्दी में रखा ही क्या है ! अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो वे समझते हैं इस क्षेत्र में आकर हमने एहसान किया है। वे यह आशा रखते हैं कि हिन्दी संसार उनकी हरएक बात को आँखें बन्द करके स्वीकार करे; उनके क़लम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाये। शायद वे समझते हैं, मौलिकता उपाधियों से आती है वे यह भूल जाते हैं कि बिरला ही कोई उपाधिधारी मौलिक होता है। उपाधियाँ जानी हुई और पढ़ी हुई बातों के प्रदर्शन या परिवर्तन से मिलती हैं। मौलिकता इसके सिवा और कुछ भी है। अगर कोई 'डॉक्टर' या 'प्रोफ़ेसर' लिखे तो शायद ऊँचे मस्तिष्क वालों की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्य-वश हिन्दी के अधिकांश लेखक न डॉक्टर हैं, न फ़िलासफ़र, फिर उनकी रचनाएँ कैसे सम्मान पायें और कैसे आलोचना के योग्य समझी जायें ? किसी वस्तु की प्रशंसा तो और बात है, निन्दा भी कुछ-न-कुछ उसका महत्त्व बढ़ाती है। वह निन्दा के योग्य तो समझी गयी ! हमारी यह दिमाग़वालों की बिरादरी किसी रचना की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकती; क्योंकि इससे उसकी हेठी होती है–दुनिया कहेगी, यह तो शॉ और शेली और शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गये ! हिन्दी में भी कोई ऐसी चीज़ हो सकती है, जिसकी ओर वे आँखें उठा सकें, यह उनकी शिक्षा और गौरव के लिए लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लन्दन की ख़ाक छानी, इसीलिए कि हिन्दी-लेखकों की आलोचना करे ! फ़ारसी पढ़कर भी तेल बेचे ! हम ऐसे कितने ही सज्जनों को जानते हैं जो डॉक्टर या डी. लिट. होने के पहले हिन्दी में लिखते थे; लेकिन जब से डॉक्टरेट की उपाधि मिली, वह पतंग की भाँति आकाश में उड़ने लगे। आलोचना-साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति हो सकती थी; क्योंकि रचना के लिए चाहे विशेष शिक्षा की ज़रूरत न हो, आलोचना के लिए संसार-साहित्य से परिचित होने की ज़रूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखकों की रचनाएँ, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिए आती रहती हैं। लेखक के हृदय में भाव है, मस्तिष्क में विचार हैं, कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार–उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की ज़रूरत है। इतना सहारा पाकर वह कुछ-से-कुछ हो जा सकता है; लेकिन यह सहारा उसे नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति हैं, न समिति, न मण्डल। केवल

पुस्तक-प्रकाशकों की पसन्द का भरोसा है। उसने रचना स्वीकार कर ली, तो ख़ैर, नहीं सारी की-कराई मेहनत पर पानी फिर गया। प्रेरक शक्तियों में यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य भी पूरा नहीं होता, तो लेखक कन्धा डाल देता है। और इस भाँति न जाने कितने गुदड़ी के रत्न छिपे रह जाते हैं। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता है और इस तरह कोई नियन्त्रण न होने के कारण, साहित्य में कुरुचि बढ़ती जाती है। इस तरफ़ जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख', प्रसादजी का 'कंकाल', प्रतापनारायणजी की 'विदा', निरालाजी की 'अप्सरा', वृन्दावनलालजी का 'गढ़कुण्डार' आदि कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। मगर इनमें से एक की भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नहीं निकलती। जिन महानुभावों में ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हें शायद इन पुस्तकों की ख़बर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबें अंग्रेज़ी में निकलती रहती हैं और उन्हें ऊँची बिरादरी वाले सज्जन शौक़ से पढ़ते और संग्रह करते हैं; पर इन रत्नों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिए सचेत हो जाते; पर शायद इसे भी वे अपने लिए ज़लील समझते हैं। इंग्लैण्ड का रेम्ज़े मैकडानल्ड या बौनर ला अंग्रेज़ी-साहित्य पर प्रकाश डालने वाला व्याख्यान दे सकता है; पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का क-ख-ग भी नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्दे मातरम्' को यदि 'विजयी विश्व' के मुक़ाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहाँ अच्छी चीज़ की क़द्र करनेवाले और परखनेवाले नहीं हैं वहाँ नक़ली, घटिया, जटियल चीज़ें ही बाज़ार में आवें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में हमारे यहाँ साहित्यिक जीवन का पता ही नहीं। नीचे से ऊपर तक मुर्दनी-सी छायी हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखकों में बहुत-से ऐसे लोग आ गये हैं जिनका स्थान कहीं और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्त्तव्य की यों अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहाँ साहित्य-सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की कुल संख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहाँ का साहित्य बनने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

(हिन्दी में : 'हंस', मई, 1931)

(उर्दू में : अप्रकाशित)

साहित्यिक क्लबों की आवश्यकता

हिन्दी वोलने और समझनेवालों की संख्या भारत में पन्द्रह करोड़ से कम नहीं है। वंगाली बोलने और समझनेवाले कुल पाँच करोड़ हैं। फिर भी बंगाली पुस्तकों के देखते, हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं की खपत कुछ नहीं है। यहाँ अच्छी-से-अच्छी पत्रिका भी घाटे ही पर चलती है और अच्छी-से-अच्छी पुस्तक भी गोदाम में पड़ी सड़ती है। कोई सज्जन एक पुस्तक मँगा लेते हैं तो सारे मुहल्ले में लूट मच जाती है। लोग एक-दो मील से उसके लिए दौड़ते हैं। अक्सर पुस्तक के स्वामी को पुस्तक देखने को नहीं मिलती और वह हाथों हाथ ग़ायव हो जाती है। यह कैफ़ियत देखकर वह सोचता है, कहाँ से इस वला में आ पड़े। पुस्तक नहीं देते तो वेमुरौवत कहलाते हैं, स्वार्थी की उपाधि मिलती है। देते हैं तो लौटकर नहीं आती। इसलिए पुस्तक मँगायें ही क्यों ? यह है हमारा साहित्यानुराग ! पुस्तक पढ़ना तो चाहते हैं, पर गाँठ का पैसा ख़र्च करके नहीं। जिनकी माक़ूल आमदनी है वह भी पुस्तकों की भिक्षा माँगने में नहीं शरमाते। अगर यही दशा रही तो हम नहीं समझते, साहित्य की उन्नति कैसे होगी। प्रकाशक नये उत्साह से मैदान में आता है पर साल-दो साल में घर की जमा गँवाकर बैठ जाता है। नयी-नयी पत्रिकाएँ निकलती हैं और दस-पाँच हज़ार का खून करके प्रस्थान कर जाती हैं। इस शिथिलता का एक उपाय जगह-जगह साहित्यिक क्लबों का खुलना है। प्रत्येक कस्बे और गाँव में ऐसे क्लब स्थापित होने चाहिए। नगरों में तो हर मुहल्ले में ऐसे क्लबों का खुलना वांछनीय है। अगर दो-एक उत्साही सज्जन भी हिम्मत करें, तो उन्हें दस, वीस, तीस ऐसे साहित्यानुरागी मिल जायेंगे जो उसे चार आने महीने तक खुशी से दे देंगे। अगर इन क्लबों द्वारा सौ रुपये वार्षिक की पुस्तकें और पत्रिकाएँ खपने लगें तो साहित्य का उद्धार हो सकता है। समस्त देश में अगर ऐसे दस हज़ार क्लव भी खुल जायें तो वहुत कुछ काम चल जाये। इस क्लब के मेम्वरों का एक काम यह भी होगा कि वह साहित्य-प्रेमियों को एक रु., दो रु. चार रु. सालाना की पुस्तकें ख़रीदने के लिए नियम-बद्ध कर सकें। सभ्य देशों में ऐसे क्लवों की बड़ी कदर है और यही कारण है कि वहाँ मामूली कितावें भी पचास-पचास हज़ार तक बिक जाती हैं। हमें आशा है, हिन्दी संसार इस प्रस्ताव की ओर ध्यान देगा।

(हिन्दी में : 'हंस', जून, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

श्रीकृष्ण और भावी जगत्

मनुष्य को आदि से सुख और शांति की खोज रही है और अंत तक रहेगी; मानव सभ्यता का इतिहास इसी खोज की कथा है। जिस जाति ने इस रहस्य को जितना अधिक समझा वह उतनी ही सभ्य और जितना ही कम समझा है उतनी ही असभ्य समझी जाती है। लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से चले। किसी ने योग का मार्ग लिया, किसी ने तप का, किसी ने भक्ति का, किसी ने ज्ञान का, किन्तु त्याग सभी वादों का स्थायी लक्षण था। 'निवृत्ति' की दुहाई सभी दे रहे हैं। सुख का मूल निवृत्ति है, सबने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया। मोक्ष, आवागमन के बन्धन से छूट जाना, सुख और शान्ति की चरम सीमा है। मोक्ष-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गो पर दीपक सबके लिए एक है–निवृत्ति।

इसका परिणाम क्या हुआ ? जिसे धर्म का अनुराग हुआ उसने संसार और संसार के व्यापार से मुँह मोड़कर जंगल की राह ली। कर्म बंधन है, कर्म से भागो नहीं। यह बंधन पृथ्वी में बाँध देगा। तपोवन आबाद हो गये। आज भी मोक्षार्थी उसी धर्मतत्त्व पर अटल है। बुद्ध ने भी निवृत्ति को ही प्रधान रखा, जैन मत में भी इसी तत्त्व की प्रधानता रही। भिक्षुओं के विहार बस्ती से दूर बने और वहाँ निर्वाण-पद प्राप्त होने लगा। ईसाई धर्म में भी पोप का राजाओं पर आधिपत्य हुआ, आश्रम बने और क्लर्जी लोग बस्ती से दूर जंगल में रहने लगे। इस्लाम ने भी यही शिक्षा दी कि दुनिया से दिल न लगाओ। शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य सभी निवृत्ति मार्ग के उपासक रहे और यदि जन-साधारण उस मार्ग पर चलने लगते तो आज संसार से मानव-वंश मिट गया होता। किन्तु काम, क्रोध, मोह, लोभ ने मोक्ष-प्राप्ति की निवृत्ति में सदैव बाधा डाली। यह गौरव भगवान कृष्ण को ही है कि उन्होंने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को संयुक्त कर दिया। प्रवृत्ति-युक्त निवृत्ति और निवृत्ति-युक्त प्रवृत्ति के आदर्श की सृष्टि की। कर्म करो, लेकिन उसमें बँधो मत। कर्म बंधन नहीं है, कर्म से फल की आशा रखना बंधन है। यज्ञार्थ जो कर्म किया जाये, जो निष्काम हो, उससे बंधन नहीं होता। वही सुख और शांति का मूल है।

सोचिए कितना महान सत्य है ! कितना मौलिक आदर्श ! निवृत्ति मानव स्वभाव से मेल नहीं खाती। उसके मार्ग पर चलनेवाले विशिष्ट जन ही होंगे। जन-साधारण के लिए वह मार्ग नहीं है। फिर उनके लिए धर्म का क्या आदर्श रह जाता है। वर्णाश्रम धर्म पर चलना। यहाँ ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न हो जाता है। निवृत्ति-मार्ग का पथिक

कर्म के बंधन में फँसे हुए प्राणियों से अपने को यदि ऊँचा नहीं तो पृथक् अवश्य समझता है। कर्म मनुष्य के लिए स्वाभाविक क्रिया है। आँखें हैं तो देखेगा, पॉव हैं तो चलेगा, पेट है तो खायेगा। कर्म के पूर्ण विनाश की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। समाधि भी तो कर्म है। मौन रहना भी कर्म है। सोचना भी कर्म है; नित्य कर्म हो या निमित्त कर्म, आप कर्म के फंदे से नहीं निकल सकते। फिर कर्म सदैव बंधन ही क्यों हो। उससे परमार्थ भी तो किया जा सकता है, सेवा भी तो की जा सकती है। तत्त्व यह निकला कि स्वार्थ भाव से कोई कर्म न किया जाये, वरन् जितने कर्म हों, यज्ञार्थ भाव से, निष्काम भाव से ही किये जायें। यहाँ कर्म का आनन्द तो मिलता है, कर्म से उत्पन्न होनेवाला दुःख नहीं मिलता। न कोई भेद है न द्वेष है। कर्म में पुरुषार्थ भी तो है।

लेकिन कर्मयोग के आदर्श पर जमे रहना छोटी बात नही है। जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाना उतना कठिन नहीं है जितना कर्त्तव्य की वेदी पर अपना बलिदान करना । अपने कर्मों में हानि या लाभ से उदासीन रहना वीरो का ही काम है। और ऐसे कर्मयोगी संसार में विरले ही होते हैं। ममत्व के पंजे से निकलना सिंह के मुँह से निकलना है। समय-समय पर ज्ञानी पुरुष अवतरित होते रहते हैं और ममत्व के बंधन को, दुःख के मूल को, तोड़ने का उद्योग करते हैं, पर यह बंधन झटके पाकर कुछ और दृढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि आज इस संसार में ममत्व का अकंटक राज्य है। भारतीय ममत्व पर कुछ रोक थी, कुछ निग्रह था क्योंकि वह अपने परम्परागत संस्कारों से अपने को मुक्त नही कर सकता था। बुद्ध और अशोक जैसे चरित्र, जो प्रभुता को लात मारकर ज्ञानार्जन के लिए निकल खड़े हों, संसार में मुश्किल ही से मिलेंगे। भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खड़ी की गयी थी। हमारे समाज और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलम्बित थी। लेकिन पाश्चात्य देशो में धर्म को जीवन से पृथक् रखा गया, जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन-संग्राम ने प्रचण्ड रूप धारण कर रखा है। और यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की भाँति फैलती जा रही है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर, अमीर और ग़रीब में भीषण युद्ध हो रहा है। धन और प्रभुता की तृष्णा एक विकराल जंतु की भाँति समस्त सभ्य संसार को निगलती चली जा रही है। उद्धार की जो युक्तियाँ सोची जाती हैं वह फलीभूत नहीं होतीं। हरेक राष्ट्र सशस्त्र दूसरे की गर्दन दबा बैठने की घात में लगा हुआ है। निर्बल जातियाँ उनके पैरों के नीचे पड़ी अंतिम साँसें ले रही हैं। मनुष्य एक मशीन बनकर रह गया है। जीवन में कृत्रिमता बढ़ती जाती है। सम्पदा के पीछे संसार पागल हो रहा है। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार के बंधन नही, बलवान राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का, बलवान व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों का गला दबा रहे हैं। संघर्ष की व्यापक ध्वनि सुनायी दे रही है। कहीं शांति नहीं, कहीं सुख नहीं। ईश्वरहीन उद्योग में शांति कहाँ। हम नहीं समझते कि किसी युग में स्वार्थ का इतना प्राबल्य था। विचारवान लोग कह रहे हैं कि यह प्रलय का मार्ग है, वह संघर्ष एक दिन अग्नि की भाँति फैलकर सारे राष्ट्रों को भस्म कर डालेगा।

ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। इसी तत्त्व को सम्मुख रखकर हम ममत्व, स्वार्थ और संघर्ष के पंजे से छूट सकते हैं। स्वार्थ का विलुप्त होना ही प्रेम का प्रसार है, उसी भाँति जैसे अन्धकार का हटना ही प्रकाश है। हिंसा और अप्रेम से दबा हुआ संसार पंगु हो रहा है। हिंसामय जनतंत्र और हिंसामय एकतंत्र में विशेष अन्तर नहीं है। आधिभौतिकवाद के धर्महीन तत्त्वों से संसार का उद्धार न होगा। उसमें अध्यात्मवाद की स्फूर्ति डालनी पड़ेगी। आधिभौतिकवाद योरोप का आविष्कार नहीं। हमारे यहाँ चार्वाक के सिद्धान्त भी उसी पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। पर योरोप का ईश्वरहीन सुखवाद ही आज संसार पर आधिपत्य जमाये हुए है। 'अधिकांश' प्राणियों का अधिक से अधिक उपकार सिद्धान्त रूप से निर्दोष है लेकिन जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि 'उपकार' से क्या अभिप्राय है तब तक इस मत का भारत समर्थन नहीं कर सकता। जिस तरह 'उपकार' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है। उससे तो यही विदित होता है कि 'उपकार' का आशय स्वार्थ के सिवाय और कुछ नही। यह स्वार्थ-बुद्धि वर्तमान जगत को संग्राम का क्षेत्र बनाये हुए है। समाज में जो विषमता फैली हुई है उसका कारण यही स्वार्थोपासना है। जब तक कर्मयोग के तत्त्व व्यवहृत न होंगे, संसार स्वार्थ के पंजे में दबा पड़ा रहेगा। कर्मयोग ही वह तत्त्व है, जो स्वार्थ को मिटाकर परार्थ की ध्वजा फहरायेगा। योरोप में कांट, हीगेल, शॉपेनहार आदि दार्शनिकों ने अध्यात्मवाद के बीज बो दिये हैं। अमेरिका में वेदांत-तत्त्वों का जिस उत्साह से स्वागत किया जा रहा है, भारत के धर्मोपदेशकों और दार्शनिकों का वहाँ जो सम्मान हो रहा है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि हवा का रुख़ किधर है। वही लोग जो स्वार्थ के सबसे बड़े उपासक हैं, उससे अब विरक्त-से होते जा रहे हैं। विचारशील समुदाय प्रत्येक राष्ट्र में बाह्य व्यवहारों से पराङ्मुख होता जा रहा है। योरोप ने अपनी परम्परागत संस्कृति के अनुसार स्वार्थ को मिटाने का प्रयत्न किया है और कर रहा है। समष्टिवाद और बोलशेविज़्म उसके वह नये आविष्कार हैं जिनसे वह संसार में युगान्तर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही न सकता था। किन्तु अध्यात्मवादी भारत इससे संतुष्ट होने वाला नहीं। वह अपने परलोक को ऐहिक स्वार्थ पर बलिदान नहीं कर सकता। यह अध्यात्मवाद से भटककर दूर जा पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसे एक हज़ार वर्ष तक गुलामी करनी पड़ी। अबकी वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो ससार के सुख और शान्ति का एकमात्र साधन है। अबकी इस जागृति में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद मिट जायेगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनायी देगा और भगवान कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रूप में संसार के उद्धारकर्ता होंगे।[1]

–अमृतराय; 'प्रेमचंद विश्वकोश', खण्ड–2 के अनुसार

यह लेख 'कल्याण', अगस्त, 1931 (श्रीकृष्णांक) में छपा है; उर्दू में : अप्रकाशित)

1. यह लेख मुंशी जी के काग़ज़ों में उन्हीं के हस्ताक्षर में मिल गया। पता नहीं क्यों, छपने के लिए कहीं भेजा नहीं गया, या संभव है कहीं किसी अज्ञात पत्र में छपा हो। कब लिखा गया, कहना मुश्किल है, पर थोड़ा पुराना ज़रूर लगता है। –अमृत राय

नवीन और प्राचीन

पूर्व और पश्चिम की प्राचीन संस्कृति में विशेष अन्तर न था। हाँ, चूँकि नयी संस्कृति का बड़ा भाग पश्चिम से आया है, इसलिए उसे पश्चिमी की उपाधि मिल गयी है। पश्चिमी संस्कृति हमे बहुत दिनों तक चकाचौंध में डाले रखा। उसकी चटक-मटक देखकर हम ऐसे मतवाले हुए कि जो कुछ सुन्दर और सरल भी हमारे यहाँ था, वह भी हमारी नज़रो से गिर गया। वक्त की पाबन्दी ही लीजिए! हमारे यहाँ पुरानी सभ्यता यह थी कि कोई परिचित या मित्र जिस वक्त चाहे हमारे पास बेरोक-टोक आ सकता था। हम उससे बातें करके खुश होते थे। उस वक्त हमें यह विचार कभी न सताता था, कि इस मनुष्य के आ जाने से हमारा समय नष्ट हो रहा है। एक मित्र की दिलजोई हमारी निगाह मे रुपये से कही ज़्यादा मूल्यवान थी। लेकिन अब हम हरेक चीज को रुपये के काँटों पर तौलते हैं, इसलिए किसी ऐसे आदमी का आना, जिससे हमारा कोई स्वार्थ न सिद्ध होता हो, हमें जहर-सा लगता है। एक आदमी आपको अपना हितैषी समझकर अपना दुख रोने, या केवल विनोद के लिए आपके पास आता है और आप उसके पास एक मिनट बैठना भी भार समझते है ! क्योंकि अब समय का मूल्य रुपये से आँका जाता है। मनुष्यता, सहानुभूति, दिलजोई किसी से प्रयोजन नही है। बस जो कुछ है रुपया है! अब हमारे बड़े आदमियों के द्वार पर भी भीतर और बाहर का लेबल लगा रहता है। जिससे स्वार्थ है, उसके लिए भीतर है। जिससे कोई प्रयोजन नही, उसके लिए बाहर है। और हम इस संस्कृति का बखान करते नही थकते। पश्चिम आदमियत का गला घोटकर स्वार्थ की मशीन बन गया है। वही हमें यह सिखा रहा है।

पूर्वीय सभ्यता अतिथियो के आ जाने से फूल उठती थी, इसे अपना अहोभाग्य समझती थी कि कोई मेहमान आया, वह आधी रात को आये, या पिछली रात को, उसकी ख़ातिरदारी में कोई कमी न होती थी। वह घर मे सबसे अच्छी जगह पाता था, सबसे अच्छा भोजन खाता था और सारा घर उसकी सेवा-सत्कार मे लगा रहता था। अब पश्चिम की सभ्यता ने हमें रोटी-चोर बनना सिखा दिया है। मेहमान आया और हमारे प्राण-पखेरू उड़ गये। कहाँ से कहाँ यह बला सिर पड़ी, अब मना रहे हैं कि वह जल्द से जल्द रफ़ा हो जाये! गृह-स्वामी का मुँह उतरा हुआ है, स्वामिनी की भवें चढ़ी हुई हैं। मालूम होती हैं कोई अमंगल अपनी अँधेरी छाया डाले हुए

है। बाबू साहब अपना कमरा नहीं छोड़ सकते। मेहमान बाहर बरामदे में टिका दिया जाता है। स्वामिनी ज़माने भर की लौंडी नहीं है, कि जो चाहे दनदनाता चला आये और वह सबके लिए भोजन बनाने बैठे। उसे तो अपने घरवालों के लिए भोजन बनाना पहाड़ हो रहा है। तब तक यह जमदूत न जाने कहाँ से फट पड़े। और अंधेर तो देखो, पहले से सूचना भी न दी, नहीं कोई बहाना कर लेते कि बीमार हैं या कहीं बाहर जा रहे हैं। जिस दिन मेहमान विदा होता है, घर में जैसे नया दिन होता है। हम इतने स्वार्थी, इतने संकीर्ण हो गये हैं कि निःस्वार्थ-भाव से कोई काम नहीं कर सकते। अगर अतिथि कोई मुक़दमा लाया हो, या उससे किसी मोटे मरीज़ के फँसने की आशा हो, या उसके ज़रिये कोई बड़ा आर्डर मिलने की सम्भावना हो, तो फिर परिस्थिति बदल जाती है। उस अतिथि की खूब ख़ातिर होती है, मालूम होता है, सारा घर उस पर प्राण दे रहा है। यहाँ भी वही रुपया वही हाय ! हाय ! और जो सज्जन नये रंग में जितने रँगे हैं, उनमें यह संकीर्णता उतनी ही अधिक है। देहातियों में, मजूरों में, वैश्यों में यह प्रवृत्ति अभी उतनी तीव्र नहीं है जितनी शिक्षित और सभ्य समाज में। अपने लिए, जो कुछ हो अपने लिए, यही उनका जीवन-तत्त्व है। हम यह नही कहते कि इस नयी संस्कृति में और उस पुरानी अतिथि-सेवा में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ या खूबियाँ ही खूबियाँ हैं। पुराने आतिथ्य में बहुधा बेफ़िकरे और निकम्मे मेहमान सिर पर सवार हो जाते थे। लेकिन बेफिकरे या निकम्मे आदमियों के सत्कार में भी, तो कुछ सज्जनता थी, कुछ उदारता थी। इस नयी संकीर्णता में तो कोरा स्वार्थ है, कोरी खुदगर्जी।

पश्चिम ने हमे सबसे ज़हरीला जो पाठ पढ़ाया है वह यही खुदगर्ज़ी है। समस्त संसार को स्वार्थ के पैरों तले रौंदकर वह अब स्वार्थ का पिशाच हो गया है। उसमें न हृदय है, न कोमलता है, न दर्द है। बस सिर से पैर तक, भीतर से बाहर तक स्वार्थ भरा हुआ है। हँसना-बोलना, रोना-गाना, एक भी स्वार्थ से खाली नहीं। प्राचीन संस्कृति में चिकित्सक के लिए किसी मरीज़ से फ़ीस लेना हराम था। वैद्य जी या हक़ीम साहब को जिस वक्त किसी मरीज़ का बुलावा मिल जाये, उसी वक़्त घर से चल पड़ना अनिवार्य था, उसमें कोई रियायत न थी। हक़ीम जी अक्सर दवा भी खुद ही देते थे, या कोई नुस्ख़ा लिखते थे, तो उसमें दवा के बहाने फ़ीस वसूल करने की कल्पना तक उनके मन में न आती थी। मरीज़ की सेवा करना उनका धर्म था। इसी को वह अपना गौरव समझते थे, पर आज जो कुछ होता है, वह हम रोज़ ही देखते हैं। हाँ, उस परिवार का एक चिह्न अभी बाक़ी है। कितने ही वैद्य या डॉक्टर घर पर मरीज़ से फीस नहीं लेते। हाँ, दवा में कुछ इसकी गुंजाइश निकाल ली जाती है। यही वह आत्मोन्नति है, जो पश्चिम के इन डेढ़ सौ सालों ने हमें दी है। वकील पुराने ज़माने में भी होते थे, अध्यापकों से भी प्राचीन युग ख़ाली न था पर वकील सरकार से वेतन पाता था और अध्यापक भिक्षा माँगकर विद्या-दान देता था। मनुष्य स्वार्थ का पुतला होकर रह गया है। अगर उसमें प्रतिभा है, तो संसार का इससे कोई उपकार नहीं हो सकता। वह जायदाद पैदा करेगा, पहाड़ों पर

जायेगा, हवा में उड़ेगा, शराबें उड़ायेगा। मुफ़्त मे क्यों किसी की सेवा करे ? उसके पश्चिमी गुरु ने उसे यह नया पाठ पढ़ाया है। अब तो हमारे महात्मा लोग बिना पैसे के आशीर्वाद भी नहीं दे सकते। पहले बुद्धि या सिद्धि की सफलता सेवा और उपकार में भी, अब स्वार्थ-सिद्धि में। मरीज़ के होठों पर प्राण लगे हों, डॉक्टर साहब बिना फ़ीस लिये नहीं जा सकते। यह तो दूनी-चौगुनी फ़ीस वसूल करने का मौक़ा है। ऐसे शिकार क्या रोज़ फँसते हैं! जब सभी स्वार्थ के उपासक हैं, कुएँ मे भंग पड गयी है, तो हमारे अध्यापक जी ने क्या अपराध किया है। वह भी योरोप जायेंगे, वहाँ से लौटकर लम्बा वेतन लेंगे। 'कैरियर' बनाना ही तो जीवन का उद्देश्य है! वाह रे पश्चिम! तेरी लीला ईश्वर की लीला से भी विचित्र है! क्या वे दिन फिर कभी आयेंगे, जब हमारी पुरानी संस्कृति का अभ्युदय होगा! उस सस्कृति का जिसमें ग़रीबी कलंक न थी। क्या आशा है।

(हिन्दी में : 'हंस', नवम्बर, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

हिन्दू-मुस्लिम एकता

दिलों में गुबार भरा हुआ है, फिर मैल कैसे हो। मैली चीज़ पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता, यहाँ तक कि जब तक दीवाल साफ़ न हो, उस पर सीमेंट का पलास्तर भी नहीं ठहरता। हम ग़लत इतिहास पढ़-पढ़कर एक-दूसरे के प्रति तरह-तरह की ग़लतफ़हमियाँ दिल में भरे हुए हैं, और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानो उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार हो। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हमसे परहेज़ करते हैं, हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है कि मुसलमानों ने हमारे मन्दिर तोड़े, हमारे तीर्थ-स्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियाँ अपने महल में डालीं, और जाने क्या-क्या उपद्रव किये। हिन्दू-मुसलमानों के आचार और धर्म की हँसी उड़ाते हैं, मुसलमान हिन्दुओं के आचार और धर्म की। विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है, वह है, उनके इतिहास को विषैला बना देना। प्राचीन, हमारे भविष्य का पथ-प्रदर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर, भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है। यह बात हमारे अन्दर ठूँस दी गयी है, कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी दलो में विभाजित रहे हैं, हालाँकि ऐसा कहना सत्य का गला घोंटना है। यह बिलकुल ग़लत है कि इसलाम तलवार के बल से फैला। तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता, और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाये, तो चिरजीवी नहीं हो सकता। भारत में इसलाम के फैलने का कारण, ऊँची जातिवाले, हिन्दुओ का नीची जातियों पर अत्याचार था। बौद्धों ने ऊँच नीच का भेद मिटाकर नीचों के उद्धार का प्रयास किया, और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली, लेकिन जब हिन्दू धर्म ने फिर ज़ोर पकड़ा, तो नीची जातियों पर फिर वही पुराना अत्याचार शुरू हुआ, बल्कि और ज़ोरो के साथ। ऊँचों ने नीचों से उनके विद्रोह का बदला लेने की ठानी। नीचों ने बौद्ध-काल में अपना आत्म-सम्मान पा लिया था। वह उच्चवर्गीय हिन्दुओं से बराबरी का दावा करने लगे थे। उस बराबरी का मज़ा चखने के बाद, अब उन्हें अपने को नीच समझना दुस्सह हो गया। यह खींच-तान हो ही रही थी कि इसलाम ने नये सिद्धान्तों के साथ पदार्पण किया। वहाँ ऊँच-नीच का भेद न था। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच की क़ैद न थी। इसलाम की दीक्षा लेते ही मनुष्य की सारी अशुद्धियाँ सारी

अयोग्यताएँ, मानों धुल जाती थीं। वह मसजिद में इमाम के पीछे खड़ा होकर नमाज़ पढ़ सकता था। बड़े से बड़े सैयद-ज़ादे के साथ एक दस्तरख़ान पर बैठकर भोजन कर सकता था। यहाँ तक कि उच्चवर्गीय हिन्दुओं की दृष्टि में भी उसका सम्मान बढ़ जाता था। हिन्दू अछूत से हाथ नहीं मिला सकता, पर मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने में उसे कोई बाधा नहीं होती। वहाँ कोई नहीं पूछता कि अमुक पुरुष कैसा, किस जाति का मुसलमान है। वहाँ तो सभी मुसलमान हैं। इसलिए नीचों ने इस नये धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया, और गाँव के गाँव मुसलमान हो गये। जहाँ वर्गीय हिन्दुओं का अत्याचार जितना ही ज़्यादा था, वहाँ यह विरोधाग्नि भी उतनी ही प्रचण्ड थी, और वहीं इसलाम की तबलीग़ भी खूब हुई। कश्मीर, आसाम, पूर्वी बंगाल आदि इसके उदाहरण हैं। आज भी नीची जातियों में ग़ाज़ी मियाँ और ताज़ियों की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है। उनकी दृष्टि में इसलाम विजयी शत्रु नहीं, उद्धारक था। यह है इसलाम के फैलने का इतिहास, और आज भी वर्गीय हिन्दू अपने पुराने संस्कारों को नहीं बदल सके हैं। आज भी छूत-छात और भेद-भाव को मानते आते हैं। आज भी मन्दिरों में, कुओं पर, संस्थाओं में, बड़ी रोक-टोक है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में सबसे बड़ा जो काम किया है, वह इस भेद-भाव पर कुठाराघात है। वर्गीय हिन्दुओं में जो एक सूक्ष्म-सी ऊपरी जागृति नज़र आती है, इसका श्रेय महात्मा जी को है।

तो इसलाम तलवार के बल से नहीं, बल्कि अपने धर्म-तत्त्वों की व्यापकता के बल से फैला। इसलिए फैला कि उसके यहाँ मनुष्यमात्र के अधिकार समान हैं। अब रही संस्कृति। हमें तो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं नज़र आता। अगर मुसलमान पाज़ामा पहनता है, तो पंजाब और सीमा प्रान्त के सारे हिन्दू स्त्री-पुरुष पाज़ामा पहनते हैं। अचकन में भी मुसलमानी नहीं रही। रहा चौका-चूल्हा। पंजाब में चौके-चूल्हे का झगड़ा, हिन्दुओं में भी नहीं है, और शिक्षित समाज तो कहीं भी चौके-चूल्हे का कायल नहीं। मध्यप्रान्त के मुसलमान भी हिन्दुओं की ही भाँति चौके-चूल्हे की नीति का व्यवहार करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम भेद के लिए, यहाँ भी कोई टिकाव नहीं मिलता। हमारे देवता अलग हैं, उनके देवता अलग। पुराणों में देवता को चाहे कुछ कहा जाये, हम तो प्रतिमा को ही देवता मानते हैं। शिव और राम, और कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं, वैसे ही मुहम्मद, अली और हुसैन आदि मुसलमानों के देवता या पूज्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भाँति मुस्लिम देवता भी हैं। अगर हम श्री रामचन्द्र को स्मरणीय समझ सकते हैं, तो कोई कारण नहीं, कि हुसैन को उतना ही आदरणीय न समझें। हम मन्दिरों में पूजा करने जाते हैं, मुसलमान मसजिदों में, ईसाई गिरिजाघरों में। मगर कोई जैनी या आर्य-समाजी मन्दिर में पूजा करने नहीं जाता। क्या इसलिए हम जैनियों या आर्य-समाजियों को अपने से पृथक समझते हैं ? सिख भी हमारे मन्दिरों में नहीं जाते। उनके गुरुद्वारे अलग हैं, पर इसलिए हम सिक्खों से लड़ने नहीं जाते। यों तो हिन्दू-हिन्दू में, जाति-जाति

में, वर्ग-वर्ग में भेद है और उन भेदों पर हम लड़ने लग जायें, तो जीवन नरक-तुल्य हो जाये। तो जब हम इन भेदों को भूल जाते हैं, तो मसजिद में नमाज़ पढ़ना क्यों आपत्ति की बात समझी जाये। महात्मा गांधी तो गिरजा में भी प्रार्थना कर लेते हैं। यहाँ भी हमें हिन्दू-मुस्लिम भेद के लिए कोई आधार नहीं मिलता। तो क्या वह गऊ हत्या में है ? या शिखा में ? या जनेऊ में ? जनेऊ तो आज कम-से-कम अस्सी फ़ीसदी हिन्दू नहीं पहनते, और शिखा भी अब उतनी व्यापक वस्तु नहीं है। हम किसी हिन्दू को इसलिए अहिन्दू नहीं कह सकते, कि वह शिखाधारी नहीं है। बंगाल में शिखा का प्रचार नहीं। रही गऊ-हत्या। यह तो मालूम ही है कि अरब में गायें नहीं होतीं। वहाँ तो ऊँट और घोड़े ही पाये जाते हैं। भारत खेती का देश है, और यहाँ गाय को जितना महत्त्व दिया जाये उतना थोड़ा है। लेकिन आज क़ौल-क़सम लिया जाये तो शायद ऐसे बहुत कम राजे-महराजे या विदेश में शिक्षा प्राप्त करनेवाले हिन्दू निकलेंगे जो गौमांस न खा चुके हों। और उनमें से कितने ही आज हमारे नेता हैं, और हम उनके नामों पर जयघोष करते हैं। अछूत जातियाँ भी गौमांस खाती हैं, और आज हम उनके उत्थान के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हमने उनके मन्दिरों में प्रवेश के निमित्त कोई शर्त नहीं लगायी और न लगानी चाहिए। हमें अख़्तियार है, हम गऊ की पूजा करें, लेकिन हमं यह अख़्तियार नहीं है, कि हम दूसरों को गऊ-पूजा के लिए बाध्य कर सकें। हम ज़्यादा से ज़्यादा यही कर सकते हैं, कि गौमांस-भक्षियों की न्यायबुद्धि को स्पर्श करें। फिर मुसलमानों में अधिकतर गौमांस वही लोग खाते हैं, जो ग़रीब हैं, और ग़रीब अधिकतर वही लोग हैं, जो किसी ज़माने में हिन्दुओं से तंग आकर मुसलमान हो गये थे। वे हिन्दू-समाज से जले हुए थे और उसे जलाना और चिढ़ाना चाहते थे। वही प्रवृत्ति उनमें अब तक चली आती है। जो मुसलमान हिन्दुओं के पड़ोस में देहातों में रहते हैं, वे प्रायः गौमांस से उतनी ही घृणा करते हैं जितनी साधारण हिन्दू। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि मुसलमान भी गौभक्त हों, तो उसका उपाय यही है कि हमारे और उनके बीच में घनिष्ठता हो, परस्पर ऐक्य हो। तभी वे हमारे धार्मिक मनोभावों का आदर करेंगे। बहरहाल इस जाति-द्वेष का कारण गौहत्या नहीं है। और उर्दू-हिन्दी का झगड़ा तो थोड़े-से शिक्षितों तक ही महदूद है। अन्य प्रान्तों के मुसलमान उर्दू के भक्त नहीं और न हिन्दी के विरोधी हैं। वे जिस प्रान्त में रहते हैं, उसी की भाषा का व्यवहार करते हैं। सारांश यह कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कोई यथार्थ कारण नहीं नज़र आता। फिर भी वैमनस्य है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि हममें बहुत कम ऐसे महानुभाव हैं, जो इस वैमनस्य के ऊपर उठ सकें। खेद तो यह है, कि हमारे राष्ट्रीय नेता भी इस प्रवृत्ति से ख़ाली नहीं हैं। और यही कारण है कि हम एकता-एकता चिल्लाने पर भी, उस एकता से उतने ही दूर हैं। ज़रूरत यह है कि जैसा हम पहले कह चुके हैं, कि हम ग़लत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-काल को भली भाँति विचार करके अपनी धारणाएँ स्थिर करें। तब हम देखेंगे, कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया

है। हमारे जात-पाँत के कठोर बन्धनों को सरल किया है, और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक हुए हैं। यह कोई छोटी और महत्त्वहीन बात नहीं है। कि 1857 के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता वनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था। हिन्दू-मुसलमान नृपतियों में पहले भी लड़ाइयाँ हुई हैं, पर वह लड़ाइयाँ धार्मिक द्वेष के कारण नहीं, स्पर्धा के कारण थीं, उसी तरह जैसे हिन्दू राजे आपस में लड़ा करते हैं। उन हिन्दू-मुस्लिम लड़ाइयों में हिन्दू सिपाही मुसलमानों की ओर होते थे, और मुसलमान सिपाही हिन्दुओं की ओर।

प्रोफ़ेसर मुहम्मद हबीब ऑक्सन ने अपने 'मध्यमाल में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध' नाम से इस विषय पर एक विद्वतापूर्ण लेख लिखा है, जिसका एक अंश हम नक़ल करते हैं–

'कहा जाता है कि हिन्दुओं को घोड़े पर सवार होने, तीर चलाने और जुलूस निकालने तथा स्नान और पूजा-पाठ का निषेध था, पर यह किम्वदन्तियाँ मौलिक प्रमाणों के ग़लत मुताला (अध्ययन) से पैदा हुई हैं। उस ज़माने का हिन्दू मज़हब संगठित और शक्तिशाली था। उसके साथ मुसलमान बादशाह इसलिए रवादारी बरतते थे, कि इसके सिवा दूसरी राह न थी। ···उनके लिए साम्प्रदायिक संघर्ष का फल तबाही के सिवा और कुछ न होता। यह विचित्र बात है कि मध्यकालीन इतिहास के राजनैतिक या ऐतिहासिक साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का कोई छोटे से छोटा प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दू इसके लिए तैयार न थे। नहीं ! वह तो अपनी रणप्रियता के लिए बदनाम थे। लेकिन उस काल की किसी लड़ाई में भी हम सेनाओं को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ते नहीं पाते। अफ़ग़ानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में राय पिथौरा के नीचे लड़ा था। मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में मराठों की मदद की थी। असली हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई तो वास्तव में कभी हुई ही नहीं।'

(हिन्दी में : 'हंस', नवम्बर, 1931)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली

यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नज़ीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाज़ारी चीज़ों की तरफ़ विद्या बिकती है, यह स्वामी जी ही का दिमाग़ था जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा में भारत के उद्धार का तत्त्व समझा। लड़का जैसी शिक्षा पाता है, वैसा ही मनुष्य बनता है। हमारे विद्यालय ही राष्ट्र; की संस्कृति के सबसे बड़े रक्षक हैं। विद्यालय पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए, चाहे स्वराज्य हो या परराज्य। राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेना मानो शिक्षा का गला घोंटना है। और जब शिक्षा के पैरों में बेड़ियाँ पड़ गयीं तो उस शिक्षा की गोद में पले हुए छात्र भी गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं। राज्य-परिवर्तन होते रहते हैं, राष्ट के आदर्शों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अगर उसके आदर्श बदल जायें तो उसकी परम्परा नष्ट हो जाये और वह राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को खो बैठे। बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुसलिम युग में वह प्रथा नष्ट हो गयी और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र नौका का लंगर उखड़ गया। जीवन के किसी विभाग पर नियंत्रण न रह सका। वर्ण और आश्रम, जो आर्य संस्कृति के स्तम्भ थे, अपना असली रूप खोकर जात-पाँति के रूप में आ गये और गेरुए वस्त्रधारी, अकर्मण्य, पेट के बन्दों ने संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया। अंग्रेज़ी राज्य में नये-नये विद्यालय खुले मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था। वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं, दफ्तरों के लिए कर्मचारियों का निर्माण था। वहा की पुस्तकों पर, शिक्षाविधि पर, अंग्रेज़ी राज की छाप थी। छात्रों के आत्मसम्मान को कुचला जाता था। कोई दुकानदारी थी जहाँ पग-पग पर छात्रों से कुछ वसूल करने की फ़िक्र रहती है। जुर्मानों का भव गर्म है। हाज़िर न हो सको तो जुर्माना दो, देर में आओ तो जुर्माना, शरारत करो तो जुर्माना, सबक याद न हो तो जुर्माना; दर्जनों तरह की फीस—पढ़ाई की फीस, पुस्तकालय की फीस, साइंस की फीस, इम्तहान की फीस, रोशनाई की फीस। ऐसी संस्थाओं के छात्रों से यह आशा करना कि वह राष्ट्र की कोई सेवा करें दुराशामात्र है। उनकी तो आत्मा कुचली जा चुकी है।

भारत के प्राचीन आदर्श की इस पश्चिमी आदर्श से जरा तुलना कीजिए। यहाँ हमारे वाइस-चांसलर साहब साढ़े तीन हजार रुपया महीना वेतन पाते हैं। कितना

शान-दार आपका बँगला है, कितनी अच्छी-अच्छी मोटरें हैं, कितने स्टाइल में रहते हैं ! प्रिन्सिपल साहब का वेतन भी लगभग दो हज़ार है। उतना शानदार बँगला तो आपका नहीं है, पर आप सिगार ज़्यादा कीमती पाते हैं। लेडियों में आपकी ज़्यादा पहुँच है। घुड़दौड़ के शौकीन हैं ही। प्रोफ़ेसर, रीडर, लेक्चरर, डीन, ट्यूटर, डिमांस्ट्रेटर, ग़रज़ ऊपर से नीचे तक वही शान, वही नमूना, वही ठाट। इस वातावरण में चरित्र का ज़िक्र ही क्या। किसी पुराने संन्यासी को लाकर बिठायें तो वह भी विलायती फ़ैशन और पैसे का गुलाम हो जाये, कोमल-हृदय युवकों का पूछना ही क्या। जीवन के वह तकल्लुफ़ और स्पर्द्धा और मिथ्या भोग के दृश्य देख-देखकर युवक भी वही रंग पकड़ता है। सिगार और लेवेंडर, बहुसंख्यक सूट और खुदा जाने क्या-क्या बलाएँ उसके पीछे पड़ जाती हैं, नहीं, बल्कि उसके सिर पर सवार हो जाती हैं। उन व्यसनों को पूरा करने के लिए वह झूठ, छल बहानेबाज़ी, सभी कुछ करता है, यहाँ तक कि आत्म-सम्मान तक खो बैठता है। वह संकटों का ज़रा भी मुक़ाबला नहीं कर सकता। उसे किसी न किसी के आश्रय की ज़रूरत है। अपने बल पर तो खड़ा ही नहीं रह सकता। जो एक वक़्त चाय न मिलने से बदहवास हो जाये, एक वक्त सिग़ार न मिले तो पागल हो जाये, वह जीवन-संग्राम का क्या मुक़ाबला कर सकता है। इस परिस्थिति में भी कभी-कभी रत्न निकल आते हैं। लेकिन वह अपवाद हैं।

प्राचीन प्रथा की तरफ आँखें उठाइए। कुलपति है, वह ज्ञान की मूर्ति, विद्या का भण्डार, ज़मीन का सर्द-गर्म चखे हुए और संसार के प्रलोभनों से ऊँचा उठा हुआ। अध्यापक भी उसी साँचे में ढले हुए, कहीं आडम्बर नहीं, कही मिथ्याभिमान नहीं। वहाँ शान इसमें नहीं कि कौन कितना व्यसनी है, किसके पास कितने अच्छे कुत्ते हैं, या कौन सिनेमा ज़्यादा देखता है, बल्कि इस बात में कि किसमें ज़्यादा त्याग है, किसमें ज़्यादा भक्ति या विद्वत्ता है, कौन ज़्यादा स्वावलम्बी है, किसमें सेवा और सहायता का भाव अधिक है। दोनों आदर्शों में कितना अन्तर है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसी भारतीय आदर्श को ज़िन्दा कर दिखाया। समय उनके अनुकूल न था, विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ़ बाधाएँ ही बाधाएँ। पर जितने आदर्शवादी थे, उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुए गुरुकुलों की स्थापना कर दी। यद्यपि ज़माने ने गुरुकुल पर भी अपना कुछ-न-कुछ असर जमाया। गुरुकुल से निकले स्नातकों को जिस दुनिया में आना पड़ा वह एक और ही दुनिया थी और उसमें सम्मानपूर्वक रहने के लिए उन्हें अपने जीवन में कुछ न कुछ रद्दोबदल करनी पड़ी और वह आदर्श, सजीव और सुन्दर, अपने प्राचीन गौरव से तेजस्वी, बनावट और मिथ्या को हिकारत नहीं दया की आँखों से देखता हुआ प्रतिकूल परिस्थितियों से कुछ चिंतित खड़ा है—अच्छे दिनों के इन्तज़ार में।

(हिन्दी में : 'शुद्धि समाचार', श्रद्धानन्द-बलिदान अंक, जनवरी-फरवरी 1932)

(उर्दू में : अप्रकाशित)

दमन की सीमा

कांग्रेस स्वराज्य माँगती है। सरकार स्वराज्य देने को तैयार है। तो फिर यह दमन क्यों ? यह सत्याग्रह क्यों ? या तो कांग्रेस स्वराज्य नहीं, कुछ और माँगती है, या सरकार स्वराज्य नहीं कुछ और देना चाहती है। आइए इस प्रश्न को देखें।

कांग्रेस के स्वराज्य माँगने का क्या उद्देश्य है ? क्या केवल अधिकार, या ओहदे ? हन जोर देकर कह सकते हैं, कि कांग्रेस अधिकार या ओहदे नहीं चाहती, वह शासन की विभूतियों में हिस्सा बँटाने की इच्छुक नहीं है। वह केवल देश को सुखी देखना चाहती है। देश में आधे आदमी बेकार पड़े हुए हैं, सौ में नब्बे आदमियों को पेट भर भोजन नहीं मिलता, सौ में नब्बे आदमी लिख-पढ़ नहीं सकते और इसलिए वे जो थोड़ा-बहुत कमाते भी हैं, उसे निश्चिन्त होकर खा नहीं सकते। कहीं साहूकार उनके मुँह का कौर छीन लेता है, कहीं पुलिस। कांग्रेस को अगर विश्वास हो जाये, कि देश के लिए जो व्यवस्था गढ़ी जा रही है, उससे यह उद्देश्य पूरा हो जायेगा, तो वह आज ही सरकार के साथ सहयोग करने लगे; पर उसे यह विश्वास कैसे हो ?

कांग्रेस यही आश्वासन चाहती है। सरकार मौखिक आश्वासन तो देती है; पर जब उस पर अमल करने का समय आता है, तब तरह-तरह की रुकावटें पैदा की जाने लगती हैं, जिससे कांग्रेस को सरकार के इरादों पर सन्देह होने लगता है। कांग्रेस की यह कमज़ोरी कहो या ताक़त, कि वह राजनीति की उलझनों से घबड़ाती है। वह अफ़सर में अफसरी का भाव नहीं, सेवा का भाव देखना चाहती है। हम यह भी माने लेते हैं, कि उसे धैर्य नहीं, वह ज़ल्द से ज़ल्द देश का उद्धार करना चाहती है, चाहे इस जल्दबाज़ी से उन लोगों के स्वार्थ को हानि ही क्यों न हो, जो वर्तमान परिस्थिति से लाभ उठा रहे हैं। इसका कारण यह कदापि नहीं है, कि कांग्रेस वर्तमान स्वार्थों को कुचलकर खुद अधिकार का भोग करना चाहती है; बल्कि राष्ट्र की दशा वास्तव में इतनी शोचनीय हो गयी है, कि उसके उद्धार में एक दिन का विलम्ब एक-एक युग के समान है।

प्रजा भूखों मर रही है, हमारे विधाताओं को अपने हलवे-माँड़े में रत्ती-भर की कमी भी स्वीकार नहीं। सब खर्च ज्यों-का-त्यों चल रहा है। प्रजा के पास लगान देने को कुछ न हो; मगर सरकार अपना लगान वसूल करके ही छोड़ेगी, चाहे किसान

बिक जाये, तबाह हो जाये, चाहे उसकी ज़मीन बेदख़ल हो जाये, उसके बरतन-भाँड़े, बैल-बधिये, अनाज-भूसा सब का सब बिक जाये। आत्म रक्षा प्रकृति का नियम है। किसान भी प्रकृति का ही एक अंश है। वह भी चाहता है कि पहले अपने खाने भर को सुरक्षित रख ले, तब चाहे लगान दे, या साहूकार का ऋण चुकावे ; मगर विधाता अपना कर किसी तरह नहीं छोड़ सकते। उनके ख़याल में सरकार प्रजा के लिए नहीं; बल्कि प्रजा सरकार के लिए है। सरकार का शासन रहेगा, और इसी शान से रहेगा, प्रजा से उसे कोई मतलब नहीं। ख़र्च में कोई कमी नहीं हो सकती, या हो भी सकती है, तो बराय नाम। प्रजा पर कर बढ़ाकर शासन का खर्च वसूल कर लिया जायेगा। प्रजा के रहने को झोंपड़े मयस्सर नहीं, सरकार को नयी दिल्ली बनवाने की धुन है; प्रजा को रोटियों का ठिकाना नहीं, अधिकारियों को दस-दस और पाँच-पाँच हज़ार वेतन अवश्य मिलना चाहिए। कमी पूरी करने के लिए बीस मार्ग हैं—रेल और डाक का महसूल बढ़ाया जा सकता है, इनकम टैक्स बढ़ाया जा सकता है, माल पर महसूल बढ़ाया जा सकता है। ख़र्च बदस्तूर रहेगा, उसमें कमी नहीं हो सकती। इस सरकारी नीति से कांग्रेस का आश्वासन नहीं हो सकता और न होना चाहिए। सरकार यों तो जनता के हित-साधन का राग अलापते नहीं थकती; लेकिन जब उसको परिचय देने का समय आता है, तो बग़लें झाँकने लगती है। गोलमेज़ सभा में भी विधाताओं को इसकी फ़िक्र न थी, कि प्रजा की दशा क्योंकर सुधारी जाये; बल्कि यह फ़िक्र थी, कि कांग्रेस की शक्ति क्योंकर तोड़ी जाये। कांग्रेस के प्रोग्राम ने प्रजा को केन्द्रित कर दिया था। कांग्रेस ने शायद पहली बार प्रजा-हित को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया था। जो लोग वर्तमान अनीति से फ़ायदा उठा रहे हैं, उन्होंने कांग्रेस की शक्ति तोड़ने में राजनीति का पूरा ज़ोर लगा दिया और अल्प संख्यक भाइयों का एक संघ बना डाला, जो बहुमत को अल्पमत कर देता है। बहुत के विरुद्ध अल्पमतवालों को कुछ न कुछ असंतोष रहना स्वाभाविक है। इस भावना को खूब उत्तेजित किया गया और संघ का निर्माण हुआ। अगर वह संघ-विधान सफल हो जाता है—और लक्षण कह रहे हैं कि वह अवश्य सफल होगा—तो बहुमत की शक्ति टूटी रखी है और बहुमत के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाली कांग्रेस चाहे निःशक्त न हो जाये पर उसके प्रभाव और विस्तार में कमी अवश्य आ जायेगी।

और यह चालें क्यों चली जा रही थीं ? केवल इसलिए कि प्रजा की वकालत करने वाली संस्था कांग्रेस को अपंग कर दिया जाये। गोरों की सारी कोशिश कांग्रेस के विरुद्ध दलबंदी में लगती रही। मुसलमान भाइयों को, अछूत भाइयों को, दलित भाइयों को, सिक्ख भाइयों को, ईसाई भाइयों को इस तरह संगठित करने की आयोजना की जाती रही, कि ऊँची जातिवाले हिन्दू अलग हो जायें और अल्पमत में हो जायें। न-जाने किस तर्क से यह सोच लिया गया है, कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था और हिन्दुओं ही के हितों की रक्षा करती है। हालाँकि कांग्रेस में अछूत भी हैं, सछूत भी हैं, ईसाई भी हैं, सिख भी हैं, मुसलमान भी हैं। यही वह संस्था है, जो प्रत्येक विषय पर राष्ट्रीय-दृष्टि से विचार करती है और जाति-द्वेष से अपने

को बचाती रहती है।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान सोच निकाला गया। पृथकता ने हिन्दू-मुसलमानों में कितना वैमनस्य पैदा कर दिया है, यह उन सज्जनों को प्रोत्साहित करने के लिए काफ़ी था। एक तरह से यह निश्चय कर लिया गया कि विच्छेद-नीति को बरता जाये। मुसलमान भाइयों को नौकरियों का प्रलोभन दिया गया। अछूत भाइयों को हिन्दुओं से अन्याय की शिकायत है ही और बज़ा शिकायत है। उन्हें पृथक करते क्या देर लगती थी। वहाँ डॉक्टर अम्बेडकर थे ही। वह बड़ी खुशी से इस गुट में आ गये। यह किसी ने सोचने की ज़हमत न उठायी, कि कांग्रेस ने जिस नीति की घोषणा की है, उससे राष्ट्र के किसी अंग को वास्तव में हानि पहुँचती है, या नहीं ? कांग्रेस अगर शासन का ख़र्च कम करने को कहती है, तो इसमें किसी जाति विशेष का हित है। कांग्रेस अगर किसानों का लगान कम करने को कहती है, स्वदेशी का प्रचार करती है, खद्दर का प्रचार करती है, नमक का क़ानून उठवाना चाहती है, नसीली चीज़ों का व्यवसाय बन्द कराना चाहती है; तो इसमें राष्ट्र के किस अंग की हानि है ? इस प्रश्न पर विचार करने की ज़रूरत न समझी गयी। वहाँ तो कांग्रेस की शक्ति को तोड़ना ही ध्येय था, जिससे राष्ट्र में एकता न होने पाये और भेद-नीति द्वारा हमेशा देश पर विदेशियों का प्रभुत्व बना रहे और इस नीति की सफलता के लिए आवश्यक था, कि कांग्रेस को गैरक़ानूनी बना दिया जाये और उसके नेताओं और मददगारों को जेल भेज दिया जाये। इस तरह मैदान साफ़ करके भेद-नीति का बेखटके प्रचार किया जाय। कांग्रेस पर मनमाने आक्षेप लगाये जायें और उसे राष्ट्र.की आँखों में हेय सिद्ध किया जाये और अगर कोई इन आक्षेपों का जवाब दे, तो उस पर तरह-तरह के क़ानून लगा दिये जायें। इस तरह साल-छः महीने के प्रोपेगेण्डा में कांग्रेस का ज़ोर कम हो जायेगा और फिर भेद-पीड़ित राष्ट्र पर मन-माने ढंग से शासन किया जायेगा! काँग्रेस तो राष्ट्र के हित-चिंतन में लगी हुई थी और वहाँ इस बात पर बड़ों-बड़ों की अक्ल ख़र्च हो रही थी कि किस तरकीब से इस बढ़ते हुए राष्ट्र को कुचला जाये। मि. बेंथाल की रिपोर्ट और सर ह्यूबर्ट कार के पत्र ने इस भेद-नीति का भण्डा फोड़ दिया है और उसे नग्नरूप में संसार के सामने खड़ा कर दिया है। फ्रेंचाइज़ कमेटी जो कुछ करेगी, वह हम जानते हैं। उसे जो कुछ करना था, वह इंग्लैंड में पहले ही तय किया जा चुका है। इस तरह जो शासन विधान तैयार होगा, उसमें न शक्ति होगी, न एकता होगी, न संगठन होगा और राष्ट्र की दशा पहले से भी खराब हो जायेगी। मि० बेंथाल की रिपोर्ट में 'स्वराज्य' या सुधार का उद्देश्य भी यही दिखाया गया है; अर्थात्—शासन में और शक्ति का संचार करना। तो यह निष्कर्ष निकला, राष्ट्र जिस स्वराज्य का अर्थ प्रजाधिकारियों की वृद्धि समझता है, शासन पक्षवाले उसी स्वराज्य को अर्थ शासनाधिकार वृद्धि बताते हैं। जब दोनों पक्षों में इतना मौलिक मतभेद है, तब इस आशा को कहीं सहारा नहीं मिलता, कि राष्ट्र की दशा निकट भविष्य

में कुछ सुधरेगी। व्यवस्था कुछ बदल दी जायेगी; पर उससे राष्ट्र का वह हित न होगा, जिसे हम हित समझते हैं; बल्कि उसका उद्देश्य शासन की बेड़ियों का और मजबूत और राजसत्ता को और बलवान करना होगा। इंग्लैंड इसी तरह; बल्कि इससे भी ज़्यादा निश्चिन्तता के साथ भारत का खून चूसता चला जायेगा। ग़रीब देश इसी तरह भूखों मर-मरकर एक रोटी के लिए पसीना वहाता रहेगा और अधिकारी भी इसी तरह चैन की वंशी बजाते रहेंगे। जव राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जायेगी, तो फिर नौकरशाही क्यों किसी की सुनने लगी।

हालाँकि अल्पमतवालों में भी मत-भेद है। अछूतों का एक हिस्सा पृथक् चुनाव चाहता है, तो दूसरा हिस्सा मिले हुए चुनाव के पक्ष में भी है। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, सभी जातियों में यही दशा हो रही है। इनमें कौन हिस्सा बलवान है, कौन हिस्सा वास्तविक रूप में प्रतिनिधि है, इसका फ़ैसला करने का हमारे पास कोई साधन नहीं। सरकार जिसे चाहे, प्रतिनिधि समझे, जिसे चाहे, न समझे। अधिकारियों की प्रवृत्ति पृथक्तावादियों की ओर ही है।

जो कुछ रही-सही आशा थी, उसका फ़ेडरेशन ने चिराग़ गुल कर दिया। धन्य है वह मस्तिष्क, जिसने फ़ेडरेशन की कल्पना की। सुनने में तो ऐसा मालूम होता है कि यह विधान संयुक्त अमेरिका के नमूने पर रचा जा रहा है; पर वास्तव में यह केवल राष्ट्र को चिरकाल तक दासता में जकड़े रखने का एक चमत्कार-पूर्ण साधन है। राजाओं को 1/3 जगहें दे दी जायेंगी। मुसलमान भाई । लिये ही बैठे हैं। वाक़ी 1/3 में अछूत, दलित, हिन्दू, ईसाई, सिख, जमींदार, व्यापारी, किसान, स्त्री और न जाने कितने विशेषाधिकारों के लिए स्थान दिया जायेगा। राष्ट्र का अन्त हो गया। राजाओं के प्रतिनिधि राज-सत्ता की उपासना करेंगे ही, मुसलमान जिस तरफ़ अपना फ़ायदा देखेंगे उधर जायेंगे। सभी दल अपनी-अपनी रक्षा करेंगे। राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा ?

वात यह है कि इंग्लैंड राज-सत्ता का अल्पांश भी छोड़ना नहीं चाहता। कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है; जो जात-पाँत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है; जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखती है; विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान वनाना चाहती है; जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि देश का शासन, देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पलनेवाले कर्मचारी हमीं को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं; जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड में लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं, जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम

पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं; हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो। सरकार यह तो जानती है कि खुले हुए शब्दों में यह कहने से इस समय काम नहीं चल सकता, कि हम भारत में शासन करने आये हैं और शासन करेंगे, इसलिए मुँह से तो वह मीठी-मीठी, राजनैतिक सत्य से भरी हुई बातें कहती है ; लेकिन परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहती है, कि स्वराज्य की आवाज़ उठानेवाली कोई संस्था ही न रह जाये। लोग आपस में क्षुद्र स्वार्थों के लिए लड़ते रहें और सरकार ऊँचे आसन पर बैठकर न्याय का परिचय देती रहे। दरिद्र देशों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं हो सकती, जो अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र का अहित करने को तैयार हो जाएँ और ऐसे मनुष्यों का सहयोग सरकार को प्राप्त हो जायेगा। फ़ौज, पुलिस और ऐसे सज्जनों के सहयोग से भारत पर बहुत दिनों शासन किया जा सकता है; लेकिन जो लोग इस नीति को देश के लिए घातक समझते हैं, उनका हमेशा दमन करना पड़ेगा; अर्थात्--देश में हमेशा फ़ौजी क़ानून से शासन किया जा सकेगा; क्योंकि देश के सेवक चुप होकर न बैठेंगे और उनकी वाणी में सत्य का ऐसा आकर्षण है, कि जनता उनके झंडे के नीचे जमा होने से रुक नहीं सकती। अतएव इंग्लैंड के सामने दो रास्ते हैं। एक तो राज-सत्ता का मार्ग है। तलवार के जोर से प्रजा को दबाये रक्खो, उनके खेत कटवाकर मालगुज़ारी वसूल कर लो, वह जो कुछ गाढ़ा पसीना बहाकर कमाये वह रेल, डाक, नमक आदि के महसूल बढ़ाकर, आमदनी के टैक्स के रूप में वसूल कर लो। दूसरा जन-सत्ता का मार्ग है। प्रजा पर प्रजा के हित के लिये शासन करो। राजा और प्रजा का भाव दिल से निकाल डालो। अफ़सरी की बलाय ताक़ पर रख दो और प्रजा के सेवक बन जाओ। इस तरह राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाकर तुम यश के भागी ही न बनोगे, सुखी और स्वाधीन भारत, इंग्लैंड के लिए इस दरिद्र और दुखी भारत से कहीं ज़्यादा मूल्यवान सिद्ध होगा; लेकिन इस वक्त इंग्लैंड इस तरह की बातें सुनने को तैयार नहीं है। वह भारत से अपना आतंक मनवा कर छोड़ेगा मानो भारत ने कभी उसके आतंक को न माना था आतंक तो वह लगभग दो सौ साल से देखता चला आता है। पहले वह इससे भयभीत होता था, अब भयभीत भी नहीं होता। अब तो आतंक से उसके मन में जलन होती है, अब तो उसे राजसी ठाट-बाट, धूम-धाम, चमक-दमक देखकर घृणा होती है, इक्कीस तोपों की सलामियाँ और स्पेशल गाड़ियों और मख़मली पायंदाज उसे रोब में नहीं डालते, उसके दिल में घृणा का भाव उत्पन्न करते हैं। अब शासकों की स्वार्थ-नीति उनकी निर्दय माया-प्रेम, उनका निरीह, निष्फल आडम्बर, जैसे उसके जले पर नमक छिड़कते हैं। वह सरकार को केवल शोषक के रूप में देखता है। उसकी पुलिस उसे सताती है। उसके कर्मचारी उसके मुँह का कौर छीन कर खा जाते हैं। उसके बनाये हुए ज़मींदार उसे बेदर्दी से कुचलते हैं। उसकी बनायी हुई अदालतें उसे तबाह करती हैं। देहात से, सुधार और सहयोग और

शिक्षा और स्वास्थ्य और सभी आयोजनाएँ, जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता हैं। हम दावे से कह सकते हैं कि आज सरकार के विषय में अगर जनता से वोट लिया जाए तो समस्त भारत में पाँच वोट भी न मिलेंगे। और जब तक हमारे विधाता भारत का शासन भारत के हित के लिये न करेंगे, जब तक भारत को इंग्लैंड का मजूर समझा जायेगा, जब तक भारत को द्रव्योपार्जन का अखाड़ा, मोटी नौकरियों का क्षेत्र और इंग्लैंड के माल का बाज़ार समझा जायेगा, जब तक क़साइयों की भाति इंग्लैंड की निगाह भारत के मांस पर रहेगी, उस वक़्त तक देश में न शांति होगी और न उन्नति। दमन सब कुछ कर सकता है; पर देश का उद्धार नहीं कर सकता, और जब तक देश के उद्धार का आदर्श सामने न हो, शासन केवल लूट है, और कुछ नहीं।

(हिन्दी में : 'हंस', अप्रैल, 1932)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

जाग्रति

(1)

जीवन के लिये जागना जितना ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरी सोना है। दोनों क्रियाएँ एक दूसरे के सहारे पर हैं। नींद का न आना भी एक बीमारी है, जिससे अनेक प्रकार की वाधाएँ आ सकती हैं। और जो प्राणी रात-दिन सोता ही रहे, वह तो मरा-सा है ही। यदि दोनों क्रियाएँ एक दूसरे की सहायता करती रहें—आदमी जागे कर्म करने के लिए, सोये विश्राम करने के लिए—तो जीवन सुखी होता है; लेकिन जागना जीवन का मुख्य लक्षण है, सोना अर्थात्—विश्राम, तो केवल उसका सहायक है। इसलिए, जाग्रति जीवन और अभ्युदय का चिह्न है और निद्रा पतन तथा ह्रास का। जाग्रति रज-प्रधान क्रिया है, निद्रा में तम की प्रधानता होती है। कम-से-कम सोने के लिए अनेक उपाय और साधन बताये गये हैं। अधिक से अधिक सोने के लिए आज तक किसी ने कोई उपाय नहीं बताया—उसी तरह, जैसे स्वस्थ रहने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न किये जाते हैं, पर बीमारी के लिए भी किसी ने कोई प्रयत्न किया है, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। वास्तव में स्वास्थ्य का न होना ही बीमारी है—उसी तरह, जैसे प्रकाश का न होना ही अंधकार है। आदमी जितना ही कम सोये उतना ही जागरूक है, यहाँ तक कि कई विद्वानों का मत है, सोना कोई आवश्यक क्रिया नहीं। संभव है तपस्वियों के लिए सोना आवश्यक न हो, उनकी प्रकृति में रज और सत ही रह जाता हो, तम की सर्वथा हानि हो जाती हो, पर साधारण प्राणियों के लिए भी यही नियम लागू है कि मात्रा से अधिक सोने में हानि है, अतएव जब हम किसी राष्ट्र के विषय में जाग्रति की कामना करते हैं, तो इसका बोध यह होता है कि वह राष्ट्र मात्रा से अधिक तमोगुणी हो गया और उसमें जीवन की मात्रा ज़रूरत से कम है। हम इसी अवस्था में हैं और उससे निकलने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम इस तत्त्व को मानते हैं कि हमारे लिए जाग्रति की बहुत बड़ी ज़रूरत है, लेकिन उस जाग्रति का, उस अभ्युदय का रूप क्या हो, इस विषय में अभी हममें थोड़ा मतभेद है, अनेक विचारक, अनेक सिद्धान्त बताते हैं। हम जागरण के दो-चार अंकों में इसी विषय की विवेचना करना चाहते हैं।

सबसे पहले यह ज़रूरी है कि हम ये समझ लें—हमारे जीवन का उद्देश्य क्या

है। जब तक हम इसका निश्चय न कर लें, हम जाग्रति का रूप स्थिर नहीं कर सकते। जैसे प्राणियों में प्रकृति भेद होता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि जो वस्तु एक आदमी के लिए अमृत है, वही दूसरे आदमी के लिए घातक विष है, वैसे ही जातियों में भी प्रकृति भेद होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं–देश की प्राकृतिक अवस्था जलवायु की विभिन्नता, परम्परा की विशेषता आदि। यदि हम इन परिस्थितियों को अपना दीपक न बनायेंगे, अपना मार्ग ऐसा न बनायेंगे, जो इन हालतों के अनुकूल हो, तो बहुत संभव है कि हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बदले, दिन-दिन उससे दूर होते जायें। हमारी संस्कृति, जो सनातन से चली आती है, उसी के आधार पर हमें चलना होगा, क्योंकि संस्कृति केवल इन्हीं परिस्थितियों का समन्वय-मात्र है। यों कहना चाहिए कि संस्कृति का जो कुछ रूप है, वह इन्हीं परिस्थितियों का बनाया हुआ है। जब हम उस संस्कृति पर विचार करते हैं, तो हमें मालूम होता है वह कर्त्तव्य-प्रधान, धर्म-प्रधान, परमार्थ-प्रधान, अहिंसा-प्रधान व्रत और नियम प्रधान संस्कृति है। उसमें व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य का ऐसा विधान है कि एक दूसरे का शत्रु न होकर सहायक बनी रहे। व्यक्ति के लिए धन और शौर्य प्राप्त करने की पूरी स्वाधीनता है, पर उसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के लिए होना चाहिए, भोग-विलास अथवा निर्बलों पर प्रभुत्व ज़माने के लिए नहीं। 'अहिंसा परमोधर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्,' यह दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्त्व हैं और इस अधोवस्था में हम उन्हें अपनाये हुए हैं। यद्यपि अनेक कारणों से उस संस्कृति का रूप विकृत हो गया है, उसमें असंख्य बुराइयाँ घुस गयी हैं, यहाँ तक कि अब उसका रूप पहचाना नहीं जा सकता, फिर भी यह तत्त्व प्रकाश-स्तम्भों की भाँति अब भी प्रतिकूल दशाओं का सामना करते हुए खड़े हैं। बहुत कुछ खो चुकने पर भी, अब तक हममें जो कुछ रह गया है, वह उन्हीं प्रकाश-स्तम्भों का प्रसाद है। अन्यथा अब तक हमारी नौका न जाने कब की भँवर में पड़कर डूब चुकी होती। इस कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारे जीवन का उद्देश्य प्रभुत्व की प्राप्ति नहीं, बल्कि परमार्थ संचय है। हमारे जीवन का आदर्श स्वार्थ की अंधी उपासना नहीं, संसार की निधि को समेटकर अपनी थैली में भर लेना नहीं वरन् संसार में इस तरह रहना है कि हमसे किसी को हानि न हो, किसी को कष्ट न हो, किसी का गला न दबे। हमारे आदर्श चरित्र नेपोलियन जैसे नहीं, जो संसार पर अधिकार प्राप्त करना चाहता था, न क्लाइब या क्रामबेल जैसे, लेनिन या मुसोलिनी जैसे। हमारे आदर्श चरित्र कृष्ण और राम और अशोक जैसे राजा, अर्जुन और भीष्म जैसे योद्धा और गांधी जैसे गृहस्थ हैं। हमारा विश्वास संघर्ष में नहीं, सहयोग में है।

कहा जाता है कि सिद्धांत रूप से सभी संस्कृतियाँ एक-सी हैं। पूर्व और पश्चिम में कोई अन्तर नहीं। वही अहिंसा और प्रेम और सेवा, जो हमारी संस्कृति का मूल तत्त्व है, पच्छिमी संस्कृति का भी मूलाधार है। जो कुछ अंतर है, वह नयी और पुरानी संस्कृति में है। पच्छिम की पुरानी संस्कृति में है। पच्छिम की पुरानी संस्कृति हमारी

संस्कृति से अभिन्न थी। जब से पच्छिम में कलों का युग आरंभ हुआ, तभी से वहाँ की संस्कृति में स्वार्थ और संघर्ष की प्रधानता हुई। यद्यपि यह कथन बिलकुल सार-हीन नहीं है, फिर भी पच्छिमी संस्कृति का जो उद्‌गम स्थान है, यानी यूनान और रोम, वह संघर्ष-प्रधान राष्ट्र था। ईसाई-धर्म, जो मूल में बौद्ध धर्म और बहुत अंशों में हिन्दू-धर्म का ही रूपान्तर है, पच्छिम में उस पौधे के समान था, जो कहीं विदेश से लाकर आरोपित किया गया हो। कुछ दिनों तक तो उसने अपने भीतर की शक्ति से बाहर की प्रतिकूल शक्तियों का सामना किया, फिर वह नष्ट हो गयी। विदेशी पौधा उस प्रतिकूल जलवायु में फल-फूल न सका। आज पच्छिमी ईसाई कहलाते हुए भी, ईसाइयत से कोसों दूर हैं। ईसाइयत की दया और अहिंसा का वहाँ कहीं नाम भी नहीं। रोम और यूनान के कवि, दार्शनिक, योद्धा तो प्रसिद्ध हैं, पर कोई त्यागी महात्मा था, इसमें सन्देह है। वह भोग-प्रधान संस्कृति थी और राष्ट्र के सभी अंग अधिक से अधिक भोगने के लिए लालायित रहते थे, जिसका परिणाम आपस के संघर्ष के सिवा और हो ही क्या सकता था। भारत में हमें प्राचीनकाल में ऐसे संघर्ष का पता नहीं मिलता। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि यहाँ शक्तिशालियों ने दुर्बलों को इतना कुचल डाला था कि उनमें फ़रियाद करने की सामर्थ्य न थी, या यह कि त्याग और सेवा-भाव का इतना प्रसार था कि संघर्ष को पनपने के लिए कोई अवसर ही न मिलता था। देवताओं और असुरों में लड़ाइयों की कथाएँ मिलती हैं, लेकिन वह स्वार्थ का संघर्ष न था, बल्कि सिद्धांत था। असुर भोगवादी थे, देवता त्यागवादी। देवता जब लड़े आत्मरक्षा के लिए असुरों को परास्त करके उन पर रोब जमाने का भाव कभी उनके मन में न आया। योरोप में इसके प्रतिकूल स्वार्थ का संघर्ष था–गरीबों और अमीरों की, शासकों और शासितों की लड़ाई थी। उसी संघर्ष की छाप पच्छिमी संस्कृति के हरेक अंग पर लगी हुई है। ईसाई धर्म ने कई सदियों तक उस स्वाभाविक मनोवृत्ति को दबाये रखा। अंत में वह भी परास्त हो गयी, अतएव योरोप के जीवन में आज जो स्वार्थ का उन्माद है, यह उसकी स्वाभाविक और सनातन मनोवृत्ति है। बार-बार क्रांति का होना, उसी स्वार्थमय संघर्ष का परिणाम था।

अगले सप्ताह में हम फिर इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

(हिन्दी में : 'जागरण', 5 सितम्बर, 1932)

(उर्दू में : अप्रकाशित)

जाग्रति

(2)

पिछले अंक में हमने योरोप के संघर्ष और भारत के अहिंसा और प्रेम की चर्चा की थी। हमारी सस्कृति का मूल तत्त्व अहिंसा है, पच्छिम की संस्कृति का मूल तत्त्व में संघर्ष है। यह बात नहीं है कि पच्छिम में अहिंसा भाव का अस्तित्व नहीं, या भारत संघर्ष कोई अनोखी बात है, लेकिन हमें यहाँ अपवादों से बहस नहीं। पच्छिमी जीवन की नस-नस में, अणु-अणु में संघर्ष भरा हुआ है। उसी तरह भारतीय जीवन के अंग-अंग में अहिंसा और धर्म बसा हुआ है। संसार की विभूतियों पर अधिकार पाने के लिए और उन्हें भोगने के लिए संघर्ष और संग्राम अनिवार्य है। अहिंसा से तो केवल संतोष और त्याग और निवृत्ति का ही विकास होता है। योरोप का विजेता किसी संग्राम में विजय प्राप्त करने के बाद उस विजय से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। यहाँ अर्जुन विजय प्राप्त करके ग्लानि और विराग में डूब जाते हैं, अशोक प्रभुता के शिखर पर पहुँच कर भिक्षु बन जाता है और धर्म के प्रचार में अपना जीवन सार्थक करता है। संघर्ष में गोलबन्दी होती है; अन्यथा एक वर्ग दूसरे वर्ग को चट कर जाये, इसलिए प्रत्येक वर्ग अपना संगठन करता है और अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए बराबर प्रयत्न करता रहता है। भारत में इस तरह की गुटबंदी का प्रमाण नहीं मिलता। किसी वर्ग को दूसरे वर्ग से इतना भय न था कि वह अपना संगठन करता। प्रत्येक वर्ग का कार्यक्षेत्र नियत था। उस क्षेत्र के अन्दर वह अपना जीवन व्यतीत करता था। ब्राह्मण, समाज और राष्ट्र का नेता था, इसलिए नहीं कि उसमें धन बल था, या बाहुबल था, इसलिए कि उसमें ज्ञानबल था। वैश्य धन कमाता था; पर उस धन को जनहित में खर्च करता था। मनोवृत्तियाँ कुछ इस तरह की हो गयी थीं कि लोग अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों का ज़्यादा विचार रखते थे। उस वक़्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ाता था; बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिंता रहती थी। वह नित्य अपने समय का कुछ न कुछ भाग प्रजा का दुख-दर्द सुनने में व्यतीत करता था, जिससे प्रजा में उसके प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता था। जमींदार केवल किसान से लगान वसूल करके चैन न करता था, बल्कि प्रजा के हित की रक्षा करता था।

कुएँ और तालाब खुदवाना, अकाल और दुर्भिक्ष के समय प्रजा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देना, उसका धर्म था। अवश्य ही लोभी ज़मीदार भी होंगे, लेकिन समाज में वे बदनाम रहते थे और इसलिए उन्हें प्रजा पर अत्याचार करने का साहस न होता था।

इसके विपरीत पच्छिम में स्वार्थ और लोभ का राज है। कलों के आविष्कार ने व्यवसायिकता की एक हवा-सी फैला दी है। यह व्यवसायिकता पच्छिमी सभ्यता का कलंक है। संसार का जितना अहित इस व्यवसायवाद से हुआ है और आगे होगा, वह अभूतपूर्व है। इसी का यह कुपरिणाम है कि जो लोग अपने घरों में बैठ कर अपना काम करते थे, वे अब मिलों में आकर गुलामी करने पर मजबूर हैं। मिल का स्वामी उनसे अधिक से अधिक काम लेकर कम से कम मजूरी देना चाहता है, और यह संघर्ष यहाँ तक ज़ोर पकड़ गया है कि योरोप के प्रत्येक देश में इसे उखाड़ फेंकने का प्रयत्न ज़ोरों से हो रहा है। रूस ने तो उसे उखाड़ ही दिया, पर अन्य देशों में भी कम या ज़्यादा संघर्ष छिड़ा हुआ है। मिलों में थोड़े से मजूर बहुत से आदमियों का काम कर लेते हैं, इसलिए बहुत से लोग बेकार रहते हैं। इस बेकारी को दूर करने के लिए मिलों में ज़्यादा माल बनाना पड़ता है और उस माल की खपत के लिए बाज़ार खोजे जाते हैं। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं। व्यापारियों को माल की खपत के लिए ऐसा बाज़ार चाहिए, जहाँ उनका माल बे-रोक टोक बिक सके, इसलिए कुछ देशों को अपने अधीन रखना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। उनका स्वार्थ इसी में होता है कि उस देश में वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति न हो, अन्यथा उनके माल की बिक्री में बाधा होगी। यों कहना चाहिए कि वर्तमान शासन व्यापारियों के ही हाथ में है। सरकार उन्हीं के बल पर चलती है। उन्हीं की स्वार्थरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखी जाती हैं, खून की नदियाँ बहायी जाती हैं। योरोप का महाभारत इसके सिवाय और क्या था। ओटावा-सम्मेलन इसके सिवा और क्या है। इस व्यावसायिक संस्कृति ने कल-प्रधान राष्ट्रों के लिए लाज़िम कर दिया है कि उनके अधिकार में पराधीन राष्ट्रों की अधिक से अधिक संख्या हो।

इस संघर्ष का सबसे अच्छा उदाहरण वर्तमान पार्टी गवर्नमेंट है। राष्ट्र कई राजनैतिक दलों में विभाजित हो जाता है और जिस दल के प्रतिनिधि अधिक संख्या में होते हैं, उसी के हाथ में शासन आ जाता है। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि राष्ट्र की सारी शक्ति उस पार्टी के हाथ में आ जाती है, जिसमें उस राष्ट्र के एक तिहाई, चौथाई या इससे भी कम आदमी होते हैं। वहाँ की संघर्षमय मनोवृत्ति किसी ऐसी शासन विधि की कल्पना ही नहीं कर सकती, जिसमें सारा राष्ट्र-सम्मिलित हो। कहने को तो बहुमत का शासन होता, पर वह बहुमत वास्तव में अल्पमत होता है। अगर किसी राष्ट्र में आठ दल हैं और प्रत्येक दल के प्रतिनिधियों की संख्या पचीस ही तक रह जाये, तो जिस दल की संख्या छब्बीस होगी वह अधिकारी होगा। शेष सातों दल उसका विरोध करके उसे उखाड़ फेंकने की चेष्टा करते रहेंगे। मज़ा

यह है कि ये आठों दल अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर खड़े होते हैं और अपने सिद्धान्तों को देश के कल्याण के लिए उपयोगी समझते हैं। सबके अपने-अपने देश के सुधार प्रोग्राम हैं। एक मरीज़ के आठ चिकित्सक हैं। चाहिए तो यह था कि आठों आपस में सलाह करके रोगी का इलाज करते, लेकिन वहाँ प्रत्येक वैद्य अपने इलाज से रोगी की चिकित्सा करता है। एक वैद्य भी उसे स्वीकार नहीं करता कि उसके सिवा रोगी की चिकित्सा कोई दूसरा कर सकता है। मरीज़ इस परीक्षा में मरे, या जीयें, यह उसकी तक़दीर है। एक दल कहता है–अवैध व्यापार से देश का कल्याण होगा। दूसरा कहता है–बिलकुल ग़लत, इससे देश रसातल को चला जायेगा। बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाना चाहिए। ज़ाहिर है कि दो मतों में एक अवश्य भ्रम मूलक है। दो परस्पर विरोधी चीज़ें समान फल नहीं पैदा कर सकतीं, लेकिन पार्टी-शासन में यह ताक़त है कि वह विष को भी अमृत बना देता है। गौर करने की बात यह है कि जब राष्ट्र पर कोई संकट आ पड़ता है, तो सभी दलों की अक्ल गुम हो जाती है और थोड़े दिनों के लिए दलबन्दी स्थगित कर दी जाती है। योरोपीय महाभारत के समय इंग्लैंड में किसी एक दल का शासन न होकर संयुक्त राष्ट्र का शासन था। उसने लड़ाई जीत ली। आजकल भी किसी एक दल का शासन नहीं, राष्ट्र के सभी दलों का सम्मिलित शासन है। इस अवसर पर सम्मिलित शासन को वही सफलता होगी या नहीं, कोई नहीं कह सकता। पर, उन महानुभावों के ध्यान में यह बात कभी नहीं आती कि जब सम्मिलित शासन से हम संकटों पर विजय पाने में सफल हो जाते हैं, तो क्या साधारण अवस्थाओं में उससे विशेष उपकार न होगा, लेकिन जिन लोगों की प्रकृति ही झगड़ालू हो, संघर्ष जिनकी घुट्टी में पड़ गया हो, उन्हें सत्य को स्वीकार करने का साहस कहाँ से आवे !

(हिन्दी में : 'जागरण', 12 सितम्बर, 1932
उर्दू में : अप्रकाशित)

महान तप

कल यरवदा जेल में वह महान् तप आरम्भ होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी कठिन तपस्याएँ की गयी हैं, लेकिन यह तपस्या अभूतपूर्व है। भारत के इतिहास में ही नहीं, संसार के इतिहास में भी इसकी नज़ीर न मिल सकेगी। ज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए, प्रभुता के लिए, औरों ने भी तप किये हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गाँधी ही की कीर्ति है। वह सेवा-यज्ञ जो आज से चालीस वर्ष पहले दक्षिण अफ्रीका में हुआ था, उसकी यह पूर्णाहुति है। धन्य हो महात्मा ! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण रह गया था। उसे भी राष्ट्र ही की भेंट करने जा रहे हो। एक समय दधीचि ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिये प्राणों का बलिदान किया था। हम अपनी अश्रद्धा के कारण उसे पौराणिक कथा समझे बैठे थे, पर आज तुमने उस प्राचीन मर्यादा को, उस प्राचीन आदर्श को, उस प्राचीन आत्मोत्सर्ग को, पुनर्जीवित कर दिया। इस छल-प्रपंच के युग में तुमने सतयुग की प्रतिष्ठा कर दी और दिखा दिया कि सतयुग और कलयुग केवल हमारे चित्त की वृत्तियाँ हैं। श्रीरंगा अय्यर ने केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में इस संकल्प की आलोचना करते हुए सत्य ही कहा है कि कृष्ण भगवान ने भारत का उद्धार करने के लिए तुम्हारा रूप धारण किया है। राष्ट्र पर इस समय जो संकट पड़ा हुआ है, उसका मोचन तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता था ? राष्ट्र की नौका साम्प्रदायिक भँवर में चक्कर खा रही थी। समस्त देश इन परिस्थितियों को देख-देखकर निराश और हताश हो रहा था। कहीं-कहीं साम्प्रदायिक द्वंद्व छिड़ गया था। राष्ट्र के मूल तत्त्व को हम भूल से गये थे। गोलमेज़ फिर कैसे हो, उसमें कौन जाये, आदि गौण बातों में पड़े हुए थे। उसी समय यरवदा जेल की ऊँची चारदीवारियों को भेदती, सरकार की गोपन नीति को चीरती हुई तुम्हारी इस भीषण प्रतिज्ञा की आवाज़, आकाशवाणी-सी, हमारे कानों में आती है, और सारा देश सचेत हो जाता है, हमारी मुरझायी हुई आशा फिर लहलहा जाती है, हमारी निर्जीव देह में जान पड़ जाती है। हमारी आँखें खुल जाती हैं और हम देखते हैं कि जब राष्ट्र न रहा तो स्वराज्य कहाँ, जब संस्कृति ही न रही, तो हमारा अस्तित्व ही कहाँ। भारतीय राष्ट्र का आदर्श मानव शरीर है जिसके मुँह, हाथ, उदर और पाँव ये चार अंग हैं। इनमें से किसी

एक अंग के विच्छेद हो जाने से देह अपंग या निर्जीव हो जायेगी। हमारे शूद्र भाई इस देह रूपी राष्ट्र के पाँव ही कट जायें, तो देह की क्या गति होगी ? इस अंग विच्छेद की थोड़ी-बहुत पीड़ा प्रत्येक व्यक्ति को हुई। लेकिन वह हृदय, जो सारे भारत की चेतना का केन्द्र है, उस पीड़ा से विकल हो उठा। उसे मर्मांतक वेदना हुई और उसका चीत्कार संयम और अहिंसा के बंधनों को तोड़ता हुआ निकल आया। आज वह चीत्कार समस्त भारत के वायुमंडल में प्रतिध्वनित हो रहा है। वह नश्तर की भाँति हमारे दिलों में चुभा जा रहा है। हम सिर थामकर उस व्यथा का अनुभव करते हैं। और अपनी परवशता पर रो उठते हैं। आज हम इतने बेकस और बेबस हैं कि उस वेदना का अनुभव करके भी, हृदय से निकलनेवाली आह सुनकर भी, छुरी को पाँव से अलग नही कर सकते।

हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भरकर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज़्यादा दुखी किया है, वह उसी तपस्वी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाइयों की सेवा में ही व्यतीत किया है। आज वह देखता है कि उसके जीवन की सारी तपस्या, सारी साधना धूल में मिली जा रही है। उसने जिस राष्ट्रीय एकता का भवन खड़ा करने के लिए एक-एक कंकड़ जमा किया था, वह सारी सामग्री आँखों के सामने बिखरी जा रही है। मानो उसका जीवन ही निरर्थक हुआ जा रहा है। क्या हमारी ब्रिटिश सरकार उस वेदना का अनुभव कर सकती है ! उस अन्याय के प्रायश्चित्त-स्वरूप वह क्या कुछ न करता, वह यहाँ तक राज़ी है कि दलितों के लिए शिक्षा और ज़ायदाद की कोई शर्त न रखो, उनके हरेक बालिग़ स्त्री-पुरुष को निर्वाचन का अधिकार दे दो, शेष हिन्दू-समाज के लिए निर्वाचन की जितनी कड़ी शर्तें चाहे लगा दो, पर अछूतों को हिन्दुओं से अलग न करो, क्योंकि इससे केवल हिन्दू समाज की ही क्षति न होगी, अछूतों का अस्तित्व ही न रहेगा। हम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे ज़्यादा न्याय और क्या किया जा सकता है। ऐसा विचार उसी आत्मा से निकल सकता है, जो अछूतों की सेवा चिंतन क़रते-करते स्वयं अछूत भावना से ओत-प्रोत हो गया है। हम किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति का नाम नहीं जानते, जिसने इस एकाग्रता, इस प्रेम और इस उत्साह से दलित-समाज की सेवा की हो। महात्मा उन व्यक्तियों में हैं, जो दलितों के उद्धार में ही हिन्दू जाति के उत्थान और उत्कर्ष का रहस्य छिपा हुआ देखते हैं जो हिन्दू जाति के मुख से अन्याय के इस कलंक को मिटा देने के लिए अपने प्राणों को भी अर्पण कर देने को तैयार है। जिस पौधे को उन्होंने तीस साल तक अपने रक्त से सींचा, उस पर कुठाराघात होते देखकर वह कैसे शान्त बैठे रहते ! यदि उन्हें अणु भर भी यह विश्वास होता कि इस विच्छेद से अछूतों के उपकार की संभावना है, तो सबसे पहले वह इसका स्वागत करते। सारा हिन्दू-समाज एक तरफ़ होता, पर वह अकेले, न्याय के बल पर, इस निर्णय को स्वीकार करते। राजनैतिक स्वार्थ का मार्ग यदि न्याय-मार्ग से पृथक् हो, तो महात्मा जी वह अन्तिम व्यक्ति हैं, जो उस मार्ग पर अग्रसर होंगे। वह देखते हैं कि दलित समाज का जीवन

हिन्दूजाति पर इतना अवलंबित है कि सरकार चाहे कुबेर का कोष लेकर भी आये तो उनकी रक्षा नहीं कर सकती।

दलितों के उद्धार का सबसे उत्तम साधन है—सम्मिलित निर्वाचन। यही उनके उत्थान का मूलमंत्र है। उनमें शिक्षा-प्रचार होते अभी बहुत दिन लगेंगे। उनमें कालगति से जो कुसंस्कार आ गये हैं उनका परिशोध भी समय लेगा। हिन्दू जाति में न्याय-भावना को व्यापक रूप से जगाने में भी बहुत दिन लगेंगे। शिक्षित-समाज में तो ऊँच नीच का भाव बहुत दूर हो चुका है। हाँ, अभी उसने क्रियात्मक रूप नहीं धारण किया, लेकिन अनुदारों की संख्या अभी बहुत ज़्यादा है। ग्रामों में अभी इस उदारता का, इस जाग्रति का, प्रकाश नहीं फैलने पाया। ये सभी साधन छः मासवाले रास्ते हैं। निकटतम मार्ग संयुक्त निर्वाचन ही है जिसके सम्मुख यह भेद-भाव यह भिन्नता, यह गर्व ठहर नहीं सकता। उस निर्वाचन में ऐसे अनुदार व्यक्तियों के लिए स्थान ही नहीं है, जिन पर दलित समाज को विश्वास न हो, जिनसे इसे भलाई की आशा न हो, जिन्हें वह अपना सच्चा हितू न समझता हो। हमें विश्वास है कि अगर आज किसी गाँव के चमार या पासी या मुसहर से जिज्ञासा की जाये, तो वह हिन्दू जाति से अलग होना कदापि स्वीकार न करेगा। वह हिन्दू-समाज में रहकर अपना उद्धार चाहता है हिन्दू-समाज से निकलकर नहीं। हमारे देखते-देखते कितनी ही जातियाँ, जो पहले नीच और दलित थीं, आज अपने संस्कारों को बदलकर जनेऊ पहन रही हैं, अपने आचरण सुधार रही हैं, अखाद्य पदार्थों का परित्याग कर रही हैं। उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका यह पतन अज्ञान और आचरण-हीनता ही के हाथों हुआ। यह क्रिया बड़े जोरों के साथ जारी है। वे अब सन्ध्या करते हैं, श्राद्ध करते हैं, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। वे अब अपनी सेवा का गौरव समझने लगे हैं। उनके देवता वही हैं जो सब हिन्दुओं के हैं। आदर्श वही हैं, विश्वास वही हैं, दृष्टिकोण वही हैं। हिन्दुत्व उनके अणु-अणु में भरा हुआ है। उसे आप उनके अन्दर से निकाल नहीं सकते। एक समय था, जब कुलीनता के मतवाले हिन्दुओ को दलितों की बिलकुल परवाह न थी। वे ईसाई हो जायें, मुसलमान हो जायें, हिन्दुओं के कान पर जूँ नहीं रेंगती थी, पर अब हिन्दू समाज इतना चेतना-शून्य नहीं है। दलितों के लिए अब मन्दिर खुलते जा रहे हैं, कुओं पर भी वह रोक-टोक नहीं रही। कट्टरता बड़ा कष्ट-साध्य रोग है, लेकिन लक्षण कह रहे हैं कि उसका आसन उखड़ गया है। पृथक् निर्वाचन से इस स्वाभाविक क्रिया के मार्ग में ऐसी बाधा आ खड़ी हुई है, जो रोग और रोगी दोनों ही का अन्त कर देगी। इसी बाधा को हरने के लिए महात्मा जी अपने प्राणों को भेंट चढ़ाने जा रहे हैं।

अब हमारा क्या कर्त्तव्य है? यों ही भाग्य को रोकर, अपने कुदिन को कोसकर, बैठे रहेंगे? कदापि नहीं। महात्मा जी के इस वज्रनिर्घोष ने सारे देश में तहलका डाल दिया है। घर-घर में यही चर्चा है। समस्त देश एक स्वर से कह रहा है—हम राष्ट्र की इस आशा को अपने जन्म-जन्मान्तरों के तप के इस वरदान को, अपने प्राणों के प्राण गांधी को, यों बलिवेदी पर न चढ़ने देंगे। हम अपने उन अछूत भाइयों

को जो हमसे रूठ गये हैं, मनायेंगे, उनके चरणों पर गिरकर मनायेंगे। हमें विश्वास है डॉ. अम्बेडकर और मि. श्रीनिवासन भी राष्ट्र की इस याचना को अस्वीकार न करेंगे। हमारी नौका को भँवर से निकालकर पार ले जानेवाला अकेला गांधी है। उसी में वह सामर्थ्य है, वह देवत्व है, वह ऐश्वर्य है। हमें विश्वास है वह ईश्वर के दरबार से हमारे उद्धार का बीड़ा लेकर आया है, हम उस दिन का इन्तजार कर रहे हैं, जब वह स्वाधीनता का वरदान लाकर जीर्ण और निराश माता की भेंट करेगा। क्या सामर्थ्यवान गांधी भी विधि की इस गति को टाल सकता है ? नहीं, नहीं, नहीं ! !

(हिन्दी में : 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

नवयुग

राष्ट्र केवल एक मानसिक प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, तो किसी प्रान्त या देश के निवासियों में भ्रातृभाव जागृत हो जाता है। तब उनमें रूढ़ियों से पैदा होनेवाले भेद, पुराने संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली विभिन्नताएँ और ऐतिहासिक तथा धार्मिक विषमताएँ, एक प्रकार से मिट जाती हैं। प्रान्त के निवासियों में एक नये जीवन का संचार हो जाता है। एक नगर में बाढ़ आ जाती है, तो सारे देश में हाहाकार मच जाता है और पीड़ितों की सहायता के लिए चारो ओर से धन और जन की वर्षा होने लगती है। एक स्त्री का अपमान हो जाता है, तो सारे देश को ताव आ जाता है। प्रतिकार के लिए भाँति-भाँति के साधन जमा किये जाने लगते हैं। प्राचीन काल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था कि उसकी संस्कृति एक थी। हिमालय से राजकुमारी तक एक ही संस्कृति का विस्तार था—वही धर्म, वही आहार-व्यवहार, वही जीवन। छोटी-छोटी बातों में प्रान्तीयता मौजूद थी, कोई धोती-कुरता पहनता था, कोई कुरता-पाजामा, कोई बड़ी-सी चोटी रखता था, कोई बहुत छोटी-सी; मूल तत्त्वों में कोई अन्तर न था; परन्तु राजे सैकड़ों-हज़ारों थे, उनमें बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। उनके स्वार्थ अलग थे। वर्तमान राष्ट्र का विकास न हुआ था। संस्कृति तो आज भी योरोप और अमेरिका की एक ही है; लेकिन वहाँ बीसों ही राष्ट्र हैं, उनमें भी आपस में लड़ाइयाँ होती हैं, एक दूसरे को शका और अविश्वास की आँखों से देखता है। एक-दूसरे को निगल जाने के लिए तैयार बैठा हुआ है। वर्तमान राष्ट्र योरोप की इजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी स्पर्द्धा भर दी गयी है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। एक-दूसरे से इतना सशंक है कि जब तक अपने को फौलाद से मढ़ न लें, जब तक अपने को गोले-बारूद के अन्दर बन्द न कर ले, उसे सन्तोष नहीं। सब समझते हैं कि सैनिक व्यय उन्हें मारे डालता है, सब चाहते हैं कि इस शंकामय प्रवृत्ति का अन्त कर दिया जाये। बार-बार इसका उद्योग होता है, सम्मेलन होते हैं; लेकिन सभी चेष्टाएँ निष्फल हो जाती हैं। जब दिलों में सफ़ाई नहीं है, तो सम्मेलनों से क्या होता है। वहाँ भी हरेक इसी फ़िक्र

मे रहता है कि नयी-नयी युक्तियों से दूसरे राष्ट्रों को तो निरस्त्र करा दे; पर आप अक्षुण्ण बना बैठा रहे। इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रक्खा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट-नीति चली जाती है, एक दूसरे की आँखों में धूल झोंकी जाती है। निर्बल राष्ट्र को उभरने नहीं दिया जाता। इसी राष्ट्रवाद का फल है कि कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे विस्तृत भूखंडों में–जो भारतवर्ष के बराबर की आबादी को आश्रय देने की सामर्थ रखते हैं–थोड़े से आदमियों ने एक राष्ट्र बनाकर अपना एकाधिकार जमा लिया है और किसी एशिया-निवासी को उसके अन्दर नहीं जाने देते, हालाँकि यदि अन्य निर्बल देश उसके साथ यही व्यवहार करें तो वे उससे लड़ने पर तैयार हो जायेंगे। अब यह प्रतियोगिता इतनी संक्रामक हो गयी है, कि हरेक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के माल को अपने मुल्क में आने से रोकने के लिए बड़े-बड़े कर लगाने का आयोजन कर रहा है। यह सारे अनर्थ इसीलिए हो रहे हैं, कि धन और भूमि की तृष्णा ने राष्ट्रों को चक्षुहीन-सा कर दिया है। पूर्व ऐतिहासिक काल में एक समय अवश्य ही ऐसा था, जब मानव-जाति किसी एक ही स्थान पर रहती थी। वह साइबेरिया था, या तिब्बत, या भारत, इसके विषय में अभी तक मतभेद है; पर राष्ट्रों की भाषा, नीति, रस्मोरिवाज आदि में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह धारणा पुष्ट हो जाती है। ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती गयी, लोग भिन्न-भिन्न प्रान्तों की ओर फैलते गये। जिसे जहाँ जलवायु अनुकूल मिली वहीं वह आबाद हो गया। फिर शनैः-शनैः उन संस्कारों और संस्थाओं का विकास हुआ, जो किसी न किसी रूप में आज तक विद्यमान हैं। जलवायु और प्राकृतिक प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों की भाषा, आकृति, परिधान–यहाँ तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन होते गये। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ। संभव है, कुछ दिनों भिन्न-भिन्न प्रान्तवालों में मेल रहा हो; पर ज्यों-ज्यों उनके पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष हुआ, उनमें वैमनस्य हुआ और एक दूसरे के आक्रमणों से बचने का प्रयत्न होने लगा। इस संघर्ष ने राष्ट्रों की सृष्टि की; अतएव वर्तमान राष्ट्र उसी युग के चिह्न हैं और अभी तक उनमें यही प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। प्राणी-मात्र को भाई समझनेवाला ऊँचा और पवित्र आदर्श इस राष्ट्रवाद के हाथों ऐसा कुचला गया कि अब उसका कहीं चिह्न भी नहीं रहा और वह मानव-जाति का केवल अलभ्य आदर्श होकर रह गया है। इस युग में जीवित रहने के लिए राष्ट्रों का संगठित होना अनिवार्य-सा हो गया है; अन्यथा असंगठित प्राणि-समूहों का इस राष्ट्रीयता के युग में कहीं पता भी न लगेगा। हाँ, हमें इस शाप को मंगल-रूप में लाना पड़ेगा, इस विष को रस बनाना पड़ेगा। इस संघर्ष का मूल आज का घोर अनात्मवाद है। ईश्वर का संसार से बहिष्कार कर दिया गया है। योरोप के बाज़े राष्ट्रों ने तो गिरजे और देवालय ढा दिये। नये युग के साथ अनात्मवाद और भी प्रचण्ड रूप में आ खड़ा हुआ है। रूस धर्म को अफीम का नशा कहता है। स्पेन का भी कुछ यही विचार है। दोनों ही ईसाई धर्म के केन्द्र थे; पर दोनों ही देशों में गिरजे तोड़े गये हैं।

धर्म-संस्थाओं ने शासक-समुदाय से इस तरह अपने को मिला लिया था और लोकवाद का इतना विरोध किया था और कर रहे हैं कि जनता अब स्वाधीनता की नयी उमंग में धर्म-संस्थाओं को मिटाने पर तुली हुई है। रूस और स्पेन दोनों देशों की यही दशा है। भारत में भी कुछ वही हवा चलती नज़र आती है। नये राष्ट्र बन रहे हैं और राजनीतिक नये सिद्धान्तों पर चलकर वे बलवान और संगठित भी हो जायेंगे; लेकिन संसार में उनसे सुख और शान्ति की वृद्धि होगी, इसमें सन्देह है। जहाँ शासन-संगठन के विरोध में ज़बान खोलना बड़े से बड़ा अपराध है, जिसकी सज़ा मौत है, वहाँ शान्ति कहाँ। विचारों को शक्ति से कुचलकर बहुत दिनों तक शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती। अनीश्वरता की वृद्धि ने संसार को इस दशा में पहुँचाया है और जब तक उसका प्रभुत्व रहेगा, राज-शास्त्र के नियमों के बदलने से विशेष कल्याण की आशा नहीं। कम से कम वह चिरस्थायी नहीं रह सकती। एक समय भारत में था, जब नृपति भी ऋषियों से काँपते थे। आज वह ज़माना है कि समस्त संसार में पशुबल की प्रधानता है सुधार भी होते हैं, तो पशुबल से। मनुष्य में धर्म बुद्धि जैसे रही ही नहीं।

लेकिन इस तिमिराच्छन्न आकाश में अब कहीं-कहीं रजत झालर नज़र आने लगी है। यह नवयुग की ऊषा का चिह्न है। दैवगति से वर्तमान संसार-संस्कृति का दीवाला निकल रहा है। साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानवजीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है, और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासको के कठोर और निर्मम हाथों से निकलकर उन लोगों के हाथों में आ रही है, जिन्हें राजविस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो सन्तोषप्रद शान्ति के उपासक होंगे। न्याय और धर्म की आवाज़ कुछ-कुछ उठने लगी है। जापान ने पचीस साल पहले मंचूरिया को ले लिया होता, तो कोई भिनकता भी नहीं। आज जापान सारे संसार में बदनाम हो रहा है। प्रायः सभी राष्ट्रों में ऐसे विचारवान पुरुष निकल रहे हैं, जिन्हें वर्तमान संस्कृति में संसार की तबाही के लक्षण दिख रहे हैं और वे एक स्वर से इसके परिष्कार की, और ज़रूरत पड़े तो, शान्तिमय क्रान्ति की, ज़रूरत समझ रहे हैं, और समझा रहे हैं। न्याय और धर्म की आवाज़ आत्मवाद के जागने के लक्षण हैं, और दुखी भारत की आशा आत्मवाद के विस्तार में ही है। जब भावना व्यापक रूप धारण करेगी, तब तक उस नवयुग के आवाहन के लिए हमें अविश्रान्त उद्योग करना है।

(हिन्दी में : 'हंस', अक्टूबर-नवम्बर, 1932
उर्दू में : अप्रकाशित)

हतभागे किसान

भारत के अस्सी फ़ीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फ़ीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फ़ौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भर पेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं। कोई जमाना था जब गाँव के लोग अपने डील-डौल, बल-पौरुष के लिए मशहूर थे। जब गाँवों में दूध-घी की इफ़रात थी। जब गाँव के लोग दीर्घजीवी होते थे। जब देहात की जलवायु स्वास्थ्यकर और पोषक थी, लेकिन आज आप किसी गाँव में निकल जाइए, आपको खोजने से भी हृष्ट-पुष्ट आदमी न मिलेगा, न किसी की देह पर मांस है न कपड़ा। मानो चलते-फिरते कंकाल हों। और तो और, उन्हें रहने को स्थान नहीं है। उनके द्वारों पर खड़े होने तक की जगह नहीं, नीची दीवारों पर रक्खी हुई फूस की झोंपड़ियों के अन्दर वह, उसका परिवार, भूसा, लकड़ी, गाय बैल सब के सब पड़े हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। कोई समय था जब भारत के धन का संसार में शोहरा था। यहाँ के सोने और जवाहरात की चमक से दूर-दूर के कवियों की आँखों में चकाचौंध हो जाती थी, विजेताओं के मुँह में पानी भर आता था, मगर आज वह कपोलकथा मात्र है। आज भारत दरिद्रता और अज्ञान के ऐसे गहरे गढ़े में गिरा पड़ा है कि उसकी थाह भी नहीं मिलती। लार्ड कर्जन ने 1901 में यहाँ की व्यक्तिगत आय का अनुमान तीस रु० साल किया था। 1905 में एक दूसरे हिसाबदाँ ने इस अनुमान को पचास रु० तक पहुँचाया, और 1915 में वह समय था जब योरोपीय महाभारत ने चीज़ों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था। 1930 में वही हालत फिर हो गयी जो 1901 में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रु० से अधिक न हो, पर आज तक किसी ने किसानों की दशा की ओर ध्यान नहीं दिया और उनकी दशा आज भी वैसी है जो पहले थी। उनके खेती के औज़ार, साधन, कृषि-विधि, क़र्ज, दरिद्रता सब कुछ पूर्ववत् है।

नहीं, यह कहना गलती होगी कि उनकी दशा की तरफ किसी ने ध्यान नहीं

दिया। सरकार ने समय-समय पर उनकी रक्षा करने के लिए कानून बनाये हैं, और शायद इस तरह के कानून अब तक और ज़्यादा बन गये होते यदि ज़मींदारों की ओर से उनका विरोध न हुआ होता। अबकी बार ही छूट के विषय में ज़मींदारों ने कम रुकावटें नहीं डालीं, लेकिन अनुभव से मालूम हो रहा है कि इस नीति से किसानों का विशेष उपकार नहीं हुआ। इन कानूनों के बगैर सम्भव था, उनकी हालत इससे भी ख़राब होती। इनसे इतना फ़ायदा तो ज़रूर हुआ कि उनकी पतनोन्मुखी प्रगति रुक गयी लेकिन, उन्नति के लिए दशाएँ अनुकूल न हो सकीं। हमें तो उन्नति के लिए ऐसे विधानों की ज़रूरत है जो समाज में विप्लव किये बिना ही काम में लायें जा सकें। हम श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते। हाँ, इतना अवश्य चाहते हैं कि सरकार और ज़मींदार दोनों ही इस बात को न भूल जायें कि किसान भी मनुष्य है, उसे भी रोटी और कपड़ा चाहिए, रहने को घर चाहिए, उसके घर में शादी-ग़मी के अवसर आते हैं, उसे भी अपनी बिरादरी में अपने कुल मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है। बीमारी-आरामी औरों की तरह उस पर भी व्याप्त होती है। इसलिए लगान बाँधते समय इस बात का खयाल रखें कि किसान को कम से कम खेती में इतनी मजूरी तो मिल जाये कि वह अपने बाल-बच्चों का पालन कर सकें। हमारे प्रान्त में अधिकतर किसान ऐसे हैं जिनके पास तीन, चार एकड़ से ज़्यादा भूमि नहीं है। बहुत बड़ा हिस्सा तो ऐसों का है जिनके पास इसकी आधी ज़मीन भी नहीं है। और जमाबंदियाँ जितनी ही छोटी होती हैं, उन पर खेती का ख़र्च उतना ज़्यादा बैठता है। इसलिए ज़मीन के लगान के दर में नये सिरे से तरमीम होनी आवश्यक है। बेशक उससे ज़मीदारों की आमदनी कम हो जायेगी, और सरकार को अपने बजट बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी, लेकिन किसान के जीवन का अन्य सभी हितों से कहीं ज़्यादा मूल्य है।

किन्तु परिस्थितियों को देखते लगान में निकट भविष्य में विशेष कमी नहीं की जा सकती। वास्तव में हालत तो यह है कि छोटे-छोटे किसानों का खेती पर जो खर्च पड़ रहा है वह भी वसूल नहीं होता, लगान तो दूर की बात है। और मान लिया किसी तरह एक या दो साल डंडे के ज़ोर से लगान वसूल कर लिया गया भी तो क्या। जब किसान भूखों मर रहा है तो वह दुर्बल और रुग्ण होगा, खेती में ज़्यादा मेहनत न कर सकेगा और इसलिए उसकी पैदावार भी अच्छी न होगी। हमें तो परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की ज़रूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहे। जमींदार, महाजन और सरकार सबकी आर्थिक समृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है। अगर उसकी आर्थिक दशा हीन हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती। किसी देश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है। थोड़े से जमींदार और महाजन या राजपदाधिकारियों की सुदशा से राष्ट्र की सुदशा नहीं समझी जा सकती।

किसानों के लिए दूसरी ज़रूरत ऐसे घरेलू धन्धों की है जिससे वह अपनी फुरसत के वक़्त कुछ कमा सकें। यह काम असंगठित रूप से सफल नहीं हो सकता।

इसे या तो सहकारी सोसाइटियों के हाथ में दिया जाना चाहिए या सरकार को खुद अपने हाथ में रखकर व्यापार और उद्योग विभाग के द्वारा इसका संचालन कराना चाहिए। एक प्रान्त में बाज़ ऐसी चीज़ें है जिनकी खपत नहीं है, मगर दूसरे प्रान्तों में उनकी अच्छी खपत है। ऐसे उद्योगों का प्रचार किया जाना चाहिए।

खेती की पैदावार बढ़ाने की ओर भी अभी तक काफ़ी ध्यान नहीं दिया गया। सरकार ने अभी तक केवल प्रदर्शन और प्रचार के सीमा के अन्दर रहना ही उपयुक्त समझा है। अच्छे औज़ारों, अच्छे बीजों, अच्छी खादों का केवल दिखा देना ही काफ़ी नहीं है। सौ में दो किसान इस प्रदर्शन से फ़ायदा उठा सकते हैं। जिनको भोजन का ठिकाना नहीं है, जो नाक तक ऋण के नीचे दबा हुआ है उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नयी तरह के बीज़ या औज़ार या खाद खरीदेगा। उसे तो पुरानी लीक से जौ भर हटना भी दुस्साहस मालूम होता है। उसमें कोई परीक्षा करने की, किसी नयी परीक्षा का ज़ोख़िम उठाने की सामर्थ्य नहीं है। उसे तो लागत के दामों यह चीज़ें किस्तवार अदायगी की शर्त पर दी जानी चाहिए। सरकार के पास इन कामों के लिए हमेशा धन का अभाव रहता है। हमारे विचार में इससे ज़्यादा ज़रूरी सरकार के लिए कोई काम ही नहीं है।

दूसरी ज़रूरत ज़मीन की चकबन्दी है। ज़मीन का बँटवारा इतनी कसरत से हुआ है और हो रहा है कि जिसकी कोई हद नहीं। दक्षिण में सन् 1771 ई० से औसत जमाबन्दी चालीस एकड़ की थी। 1915 ई० में वह केवल सात एकड़ रह गयी। बंगाल में तीन एकड़ है और संयुक्त प्रान्त में केवल डेढ़ एकड़। यह डेढ़ एकड़ भी गाँव के चारों दिशाओं में स्थित होता है, इसलिए उसमें बहुत परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। चकबन्दी हो जाने से इतना फ़ायदा होगा कि किसान अपने चक को बाड़ों से घेर सकेगा, उसमें कुएँ बनवा सकेगा, खेती की निगरानी कर सकेगा। इससे उसकी उपज में कुछ बढ़ती होने की आशा हो सकती है।

कीड़ों से भी फ़सल का अक्सर बहुत नुक़सान होता है। पिछले साल चूहों ने कितने खेतों का सफ़ाया कर दिया। कभी लाही आती है, कभी माहों, कभी गेरुई, कभी पतिंगे। कभी दीमकों का ज़ोर होता है, कभी कीड़ों का। किसानों के पास ही इन भौतिक बाधाओं की कोई दवा नहीं है। कृषि विभाग ने इस विषय मे बहुत कुछ खोज किया है और ज़रूरत है कि उसकी परीक्षित अनुभूतियाँ किसानों के कानो तक पहुँचायी जायें। केवल इतना ही नहीं, उनके द्वारों तक पहुँचायी जायें, पर यहाँ तो जो कुछ होता है दफ़्तरी ढंग से, जो इतना पेचीदा और बिलम्बकारी है कि उससे किसानों को फ़ायदा नहीं होता। यहाँ दफ़्तरी ढंग की नहीं, मिशनरी उद्योग की ज़रूरत है। अब तक सरकार ने किसानों के साथ सौतेले लड़के का-सा व्यवहार किया है। अब उसे किसानों को अपना जेठा पुत्र समझकर उसके अनुसार अपनी नीति का निर्माण करना पड़ेगा।

(हिन्दी में : 'जागरण', 19 दिसम्बर, 1932)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

नये-नये सूबों की सनक

अंग्रेज़ों के आने के पहले भारत में बहुत-से छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य थे, जो आपस में बराबर लड़ते रहते थे। ये राज्य भाषा या जाति की एकता के कारण नहीं प्रादुर्भूत हुए थे। जो बलवान था, उसने दूसरे राज्यों के इलाके दबाकर अपने राज्य में मिला लिये। जैसे योरोप में नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षा थी कि योरोप के राष्ट्रों को परास्त करके एक बलवान केन्द्रीय शासन के अधीन कर दिया जाये, उसी भाँति भारत में केन्द्रीयता और प्रान्तीयता में हमेशा संघर्ष होता रहा। अशोक और चन्द्रगुप्त से पहले भी बड़े-बड़े महीपों ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। मुगल, मरहठे, सिक्ख सभी ने प्रांतीयता को दबाने का प्रयत्न किया। जब तक केन्द्रीय शासन के हाथों में शक्ति थी, प्रांतीयता दबी रही; लेकिन केन्द्र के शक्तिहीन होते ही प्रांतों ने स्वाधीनता के झंडे उड़ाना शुरू किये और राष्ट्रीयता की भावना ही ग़ायब हो गयी। अंग्रेजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। किसी एक भारतीय झंडे के नीचे सम्पूर्ण देश को जमा करना असाध्य था। एक दूसरे से सशंक था, उसी तरह, जैसे आज योरोपीय राष्ट्रों की दशा है। अंग्रेजों से उन्हें वंशगत या जातिगत द्वेष न था, उनसे पुराने अपमान के बदले न चुकाने थे; अतएव ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जिन्होंने अंग्रेजों का हृदय से स्वागत किया और अंग्रेजों की सफलता के अन्य कारणों में यह भी एक कारण हो सकता है। देश में जो विचारवान थे, वे आपस की ईर्ष्या और विद्वेष से तंग आ गये थे और शान्ति को किसी दाम पर भी लेने को तैयार थे। केन्द्रीय शक्ति के सिवा इन स्वाधीन राजों को काबू में रखने का और कोई साधन न था। बहुत दिनों के बाद भारत को केन्द्रीय शासन का अवसर मिला और उसका शुभ फल यह हुआ कि देश में राष्ट्र-भावना का विकास होने लगा और दिन-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है।

लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव ज़ोर पकडने लगा है। कहीं प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नये-नये सूबे की माँग की जा रही है। बिहार और सीमाप्रान्त को पृथक् हुए, अर्सा हुआ, अब सिंध और उड़ीसा पृथक् होने के लिए ज़ोर मार रहे हैं। आन्ध्र प्रान्त भी पृथक् होना चाहता है। दिल्ली से भी पृथक् प्रान्त बनाये जाने का आन्दोलन

शुरू हो गया है; पर इन नये उम्मेदवारों में एक भी ऐसा नहीं, जो नये प्रान्त की आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ उठा सके। नये-नये प्रान्तों से नये-नये नगरों का विकास होता है, काउंसिलों में ज़्यादा आदमियों के लिए जगहें निकल आती हैं, नये हाईकोर्ट में ज़्यादा वकीलों की ख़पत हो सकती है। यह सब सही है; पर रुपये किसके घर से आवें ? यह उम्मीदवार स्वयं इसे स्वीकार करते हैं कि वह नये कर अंगीकार करने को तैयार नहीं हैं। हर नये प्रान्त के ख़र्च का तखमीना लगभग दो करोड़ सालाना होता है। दिल्ली या उड़ीसा या सिंध निकट भविष्य में यह ख़र्च उठा सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं है। नतीजा इसके सिवा और क्या होगा कि दूसरे सूबों से उनकी सहायता की जाये। फ़ौज के या दूसरे राजकीय मदों में किसी तरह की कमी की गुंजाइश नहीं है। नये कर लगाये नहीं जा सकते, तो फिर यह सूबे कैसे बने ?

खर्च को छोड़िए। प्रान्तीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी सकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया। दो सदियों की पराधीनता ने हममें ऐक्य का जो भाव जगाया है, वह इस बढ़ती हुई प्रान्तीयता के सामने कै दिन ठहर सकेगा ?

नये प्रान्तों की रचना का एक ही उज्र हो सकता है; अर्थात्–उनसे नये प्रान्तों के विकास और उन्नति की चाल तेज़ हो जाये; मगर इसकी कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि ये नये उम्मीदवार केन्द्रीय सहायता के बल पर ही अपने क़िले बना रहे हैं। यह आशा करना कि केन्द्र से उन्हें इतनी प्रचुर सहायता मिल जायेगी कि वे शिक्षा, व्यवसाय, कृषि आदि विभागों की कायापलट कर सकेंगे, दुराशा मात्र है। गवर्नरों और मिनिस्टरों के बढ़ जाने से ही तो कोई नयी जाग्रति न उत्पन्न हो जायेगी। ये संस्थाएँ विवश होकर अपने को जीवित रखने के लिए, या तो प्रजा पर विशेष कर लगायेंगी, या इन विभागो की ओर से उदासीन हो जायेंगी, नतीजा यही होगा कि प्रजा की दशा मे तो कोई अन्तर न होगा–या वह और भी बदतर हो जायेगी–केवल गर्दन में जुआ और भारी हो जायेगा। किसी नये विधान को प्रजाहित की दृष्टि से देखना चाहिए। अगर यह अर्थ नहीं सिद्ध होता, तो उससे कोई लाभ नहीं। पहले प्रान्तों में मिनिस्टर न थे, काउंसिलों का यह रूप न था। नये विधान ने यह सारा आडम्बर जनता के सिर पर लाद दिया; पर उससे जनता का क्या हित हुआ ? हमारी आर्थिक दशा में क्या उन्नति हुई ? प्रजा की दशा अब भी वही है, जो इन विधानां के पहले थी। केवल अधिकारियों की संख्या बढ़ गयी। तात्पर्य यह है कि हमें यथासाध्य प्रान्तीयता को दबाना चाहिए, जो अब भी हमारी एकता में बाधक हो रही है।

(हिन्दी में : 'हंस', दिसम्बर, 1932)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

सर हरिसिंह गौड़ का तलाक़-बिल

अभी बहुत दिन नही हुए कि तलाक़ का नाम सुनकर हिन्दू समाज के कान खड़े हो जाते थे और उसे योरोप की नक़ल समझकर तिरस्कृत कर दिया जाता था। पर इन कई वर्षों में बहुत बड़ा सामाजिक परिवर्तन हो गया है और समाज की न्याय-चेतना बहुत कुछ जागृत हो गयी है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्त्री और पुरुष दोनों के अधिकार समान होने चाहिए। अभी तो यह हाल है कि पुरुष में चाहे कितने ही दोष हों, चाहे वह कितना ही लम्पट हो, उसके साथ कितना ही अत्याचार करे, औरत के लिए कहीं त्राण नहीं। वह उसकी ख़बर लेना छोड़ दे, अपनी दूसरी शादी कर ले, किन्तु स्त्री पर उसका अधिकार ज्यों का त्यों बना रहता है। स्त्री में रूप न हो, वह फूहड़ हो, उसके सन्तान न होती हो, या किसी कारण-वश उससे असन्तुष्ट हो, तो उसके लिए रास्ता साफ़ है। लेकिन पुरुष में कितनी ही बुराइयाँ हों, स्त्री के लिए कहीं शरण नहीं। यह एकतरफी नीति बहुत दिन चली, लेकिन अब नहीं चल सकती। अब तो न्याय का तक़ाज़ा है कि स्त्री को भी वही अधिकार प्राप्त हों। सर हरिसिंह ने तलाक़ के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है–

1. जबकि पुरुष अव्यवस्थित चित्त हो।
2. जबकि पुरुष को कोढ़ की बीमारी हो।
3. जबकि वह नपुंसक हो।

स्त्री पुरुष में मनोमालिन्य के और बहुत से कारण हो सकते हैं। उनका इस बिल में कोई जिक्र नहीं है। हम नहीं समझते, वर्तमान रूप में किसी को उससे क्या आपत्ति हो सकती है। हिन्दू-विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा है। हिन्दू-विवाह और तलाक़ दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं, लेकिन इस आदर्श का मूल्य बहुत कम हो जाता है, जब उसके पालन का भार केवल स्त्रियों पर रख दिया जाता है। विशेषकर जब हिन्दू देवियाँ खुद इस बिल की माँग पेश कर रही हैं तो पुरुषों को उसे स्वीकार करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। जब तक देवियाँ चुपचाप, बिना किसी तरह का असन्तोष प्रकट किये अपने कष्टों को सहन करती जाती थीं, पुरुषों के पास अपने को धोखा देने का एक बहाना था। वह कह सकते थे–हमारी देवियाँ पतिव्रत पर इतनी जान देनेवाली हैं कि चाहे पुरुष कितना भी ज़ुल्म करे उनके मन में कोई दुर्भावना आ ही नहीं सकती। अब भी हमारी अधिकांश बहनों की यही

मनोवृत्ति है, लेकिन ज्यों-ज्यों उनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है, उनमें अपनी वर्तमान अधोगति से विद्रोह उत्पन्न हो रहा है और तलाक़ की माँग उसी विद्रोह का सूचक है। पुरुषों को अब उनसे समझौता करना होगा। उनकी शिकायतों की अवहेलना करके अब वे अपने पुरुषत्व को कलंक से नहीं बचा सकते। यह सत्य है कि तलाक़ प्रथा का दुरुपयोग किया जा सकता है। पश्चिमीय देशों में उसकी जो छीछालेदर हो रही है, वह हम नित्य अख़बारों में देखते हैं। भारत में भी तलाक़ में मुकदमे अधिकांश ईसाई और ऐंग्लाइंडियन दम्पतियों की ओर से ही दायर किये जाते हैं, लेकिन वर्तमान हिन्दू विवाह में तो ऐसी बुराइयाँ आ गई हैं, नहीं तलाक़ बिल की जरूरत ही क्या थी।

हाँ, इस बिल के साथ इस बात का भी विचार करना आवश्यक है कि पुरुष की ज़ायदाद में स्त्रियों का कुछ अधिकार रहे। अन्यथा ऐसा हो सकता है कि नित नए फूलों का रस लेनेवाली मनोवृत्तियाँ तलाक़ को एक बहाना बना लें।

कुछ लोगों का यह कहना है कि पढ़े-लिखे समाज का एक अल्प भाग ही इस बिल के पक्ष में है। इसलिए वर्तमान प्रथा में अगर सौ में दो-चार शादियाँ दुखमय होती हैं, तो उन दो-चार के लिये सारे समाज को क्यों भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हो। उन्हें हमारा यही उत्तर है कि यह बिल उन्हीं दुखमय दम्पतियों के लिए बनाया जा रहा है। सुखी दम्पतियो के लिए उस बिल का होना न होना दोनों बराबर है। विधवा-विवाह का बिल पास हो जाने से सभी विधवाएँ विवाह तो नहीं करने लगीं। शारदा क़ानून ने भी तो बाल विवाह नहीं बन्द कर दिया, हाँ, उसमें कुछ रुकावट अवश्य डाल दी। सबसे बड़ा कानून जनमत है। लेकिन फिर भी ऐसे क़ानूनों का हमें स्वागत करना चाहिए जिनका उद्देश्य सामाजिक अत्याचारों को दूर करना हो।

(हिन्दी में : 'हंस', मार्च, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

सहयोग या संघर्ष

जीवन के लिए संघर्ष का उतना ही महत्त्व है, जितना सहयोग का। कितने ही ऐसे काम हैं, जिनमें सहयोग से कहीं बढ़कर संघर्ष काम देता है, लेकिन देखना यह है कि कौन-सी नीति मानवता के अनुकूल है और कौन उसके प्रतिकूल। लड़के को पढ़ाने-लिखाने में प्यार और मार दोनों ही अपनी-अपनी जगह कल्याणकारी हैं, लेकिन प्यार हर समय के लिए है, मार केवल विशेष अवसरों के लिए। हम प्रातःकाल बच्चे का चुम्बन लेकर प्रसन्न होते हैं, लेकिन ऐसा तो शायद बहुत कम होता हो कि सवेरे उठते-उठते लड़के को दो-चार चाँटे लगाकर हम अपनी दिनचर्या शुरू करें। हम बच्चे को मारते भी हैं तो इसलिए कि उसे ज़्यादा प्यार कर सकें। डॉक्टर हमें नश्तर लगाता है तो इसीलिए कि फिर उसे नश्तर लगाने की ज़रूरत न पड़े। हम बच्चे को मारने के लिए नहीं मारते और न सर्जन नश्तर लगाने के लिए नश्तर लगाता है। सहयोग प्राप्त करने का एक साधन संघर्ष हो सकता है और होता है, लेकिन संघर्ष पर जीवन और समाज की बुनियाद डाली जाये और संघर्ष को ही विकास का मूल तत्त्व समझा जाये, यह तो कभी हितकर नहीं हो सकता। डार्विन साहब ने संघर्ष-सिद्धांत का आविष्कार करके मानव-जाति में उस पशुता को एक सहारा दे दिया और उस प्रगति को रोक दिया, जिधर उसका स्वाभाविक विकास उसे लिये जाता था। संघर्ष पशुता का लक्षण है, सहयोग मानवता का। हमें उत्तरोत्तर पशुता से मानवता की ओर जाना चाहिए था, लेकिन संग्राम के इस सिद्धात ने उस पशुता को एक नयी शक्ति प्रदान कर दी और उसी का यह फल है कि आज भूमडल पर संघर्ष की दुहाई सुन रहे हैं। इसने हमें कुछ ऐसा सम्मोहित कर दिया है कि इच्छा न रहते हुए भी हम उसी ओर खिंचे जा रहे हैं। आज Exploitation का जो बाज़ार गर्म है, वह संघर्ष-सिद्धान्त का सबसे विनाशकारी अंग है। हमने अपने स्वार्थ की बाग छोड़ दी है, और इसकी कुछ परवाह नहीं करते कि वह कितने बोये हुए खेतों को रौंदता, कितने जीवों को कुचलता चला जा रहा है। योरोप से हमने अगर कुछ सीखा तो वही सीखा, जो उसकी संस्कृति का सबसे निकृष्ट पहलू था। अभी बहुत दिनों की बात नहीं है कि हमें पश्चिम की सभी चीज़ें अपनी सभी चीज़ों से बढ़िया लगती थीं। उनका रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, उनके खान-पान सबमें हमारे लिए एक न रुकनेवाला आकर्षण था। योरोपवाले देर में सोकर उठते हैं, इसलिए हमें भी देर में सोकर उठना चाहिए ! योरोपवाले हरदम कपड़े पहने रहते हैं, इसलिए हमें भी कभी नंगे बदन

न रहना चाहिए ! योरोपवाले खूब शराब पीते हैं, इसलिये शराब पीना भी संसार पर विजय पाने का एक मंत्र है ! वही एकांत प्रेम, वही अपने से नीचे दरजे के आदमियों से पृथक् रहने की आदत, वही मुँह में सिगार दबाकर चलना, ग़रज़ हमने बन्दरों की तरह पच्छिमवालों की नकल शुरू की और अभी तक करते जा रहे हैं। हमारे नेता और अगुआ जब उस प्रवाह में न सँभल सके, तो छोटे-छोटे साधारण आदमी क्या सँभलते ? धीरे-धीरे समय ने हमको बताया कि योरोप में सब कुछ सोना ही सोना नहीं है, उसमें कांसा-पीतल भी है। हम अपने खोये हुए आत्मसम्मान को फिर अपनाने लगे, हमारे नज़रों से वह सम्मोहन हटा और हमें कुछ विचार करने की शक्ति आयी। महात्मा गांधी ने आकर मानों उन बिखरी हुई आकारहीन भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया और योरोप की बुराइयाँ भी हमें नज़र आने लगीं। लेकिन संघर्ष का जो विष संसार की वायु में घुल गया है, उससे हम बचना चाहकर भी नहीं बच सकते। हमारे शासन-विधान में, हमारी व्यापारिक संस्थाओं में, हमारे निजी व्यवहार में, संघर्ष अपना नंगा नृत्य कर रहा है। शक्तिवान और शक्तिवान, धनवान और धनवान होना चाहता है और वह निर्बलों को कुचलता हुआ आगे बढ़ेगा। वह पड़ोसी के बराबर नहीं रह सकता, उससे बढ़कर रहेगा, उसे उखाड़ फेंकेगा। उसे अधिकार चाहिए। सोते, जागते वह अधिकार का स्वप्न देखता है और अधिकार के आगे ही सिर झुकाना जानता है। सच्चाई का बल, दीनता का बल उसके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता। इसे वह दुर्बलता समझता है। उसके सामने केवल पशुबल का महत्त्व है, इसी से वह भयभीत होता है। इसी की पूजा करता है। उसका बढ़ा हुआ अहंकार उसकी आँखों के सामने भूत की तरह खड़ा है। ब्रह्मांड में व्याप्त एक चेतना है, इसे वह स्वीकार नहीं करता। प्राणी-प्राणी में एक दूसरे को खा जाने के सिवा और कोई भावना है, इसे वह नहीं मानता। ममता का एक पतला परदा जो उसे व्यापक सत्य से पृथक् किये हुए है, उसे उसने एक किला बना लिया है, जहाँ बैठा हुआ वह दूसरों पर हमले करता है और खुद हमलों से बचा रहता है।

हमारे सामने जो श्वेत-पत्र रखा गया है, उसके एक-एक शब्द में यही संघर्ष की भावना भरी हुई है। भारत दुर्बल है, असंगठित है, इसलिए उसे क्यों उभरने दिया जाये ? संघर्ष का अविश्वास से प्रेम है ही। इस विधान के एक-एक शब्द से भारतीयों के प्रति अविश्वास टपक रहा है। चूँकि भारत दबाया जा सकता है, उसे दबाये रखना चाहिए। भारत पर विश्वास करके, उसके उद्धार में सहयोग देकर संसार में नवयुग लाया जा सकता है, संघर्षी इंग्लैंड में इतनी कल्पना नहीं है। भारत तबाह हो जाये, उसके साथ चाहे इंग्लैंड खुद तबाह हो जाये, पर भारत पर अपनी गिरफ़्त ढीली नहीं की जा सकती। इग्लैंड की बिलकुल उस शक्की आदमी की-सी दशा है, जो अपनी स्त्री पर अविश्वास करके उसे कोठरी में बंद रखता है, कहीं जाता है, तो कोठरी के द्वार पर ताला डाल देता है। ऐसी स्त्री सुखी नहीं रह सकती, लेकिन क्या ऐसी स्त्री का पुरुष सुखी रह सकता है

(हिन्दी में : 'हंस', 3 अप्रैल, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

पाकिस्तान की नयी उपज

डॉ. सर मुहम्मद इक़बाल पच्छिम में मुसलिम राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। अब उनके भी एक उस्ताद निकल आये हैं वह 'पाकिस्तान' के नाम से एक मुसलिम साम्राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। इस पाकिस्तान में कश्मीर, पंजाब, बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त और अफ़गानिस्तान आदि सम्मिलित होंगे और वह भारतवर्ष से बिलकुल पृथक् होगा। आविष्कारक महोदय का कथन है कि इन प्रान्तों में तीन करोड़ मुसलमान आबाद हैं, जो हालैण्ड, स्पेन, बेलजियम आदि देशो से अधिक हैं। उधर ईरान, तुर्किस्तान, शाम, इराक, मिस्र, तुर्की, मुसलिम रियासते पहले ही से हैं। यह पाकिस्तान सूबा उनके साथ मिल गया, तो एक महान मुसलिम साम्राज्य का उदय हो जायेगा और इसलाम के इतिहास मे जो वात पहले कभी न हुई थी, वह हो जायेगी! बात तो वहुत अच्छी है; पर कुछ कारण ही तो हैं कि अभी तक तुर्की और ईरान मे मेल नहीं हो सका। मेल का जिक्र ही क्या, अभी थोड़े दिन पहले वैमनस्य हो गया था। फिर अफ़गानिस्तान क्यो नही तुर्की से जा मिलता! और तुर्किस्तान को अफ़गानिस्तान से मिलने मे कौन बाधक हो रहा है! अगर धर्म ही राष्ट्र को मिला दिया करता तो जर्मनी और फ्रास और इटली आदि राष्ट्र कब के मिल चुके होते। भारत के पत्रों मे इस वात पर बड़ी हलचल मच गयी है। हम समझते हैं कि जब तक पाकिस्तान का जन्म होगा, दुनिया का रुख और हो चुका होगा।

(हिन्दी में : 'जागरण', 14 मई, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

स्वदेशी

दासता तथा दरिद्रता से–दोनों ही महान् कष्टदायक तथा अपमानजनक रोगों से, रक्षा का एकमात्र उपाय स्वदेशी को अपनाना है। मन से, वचन से, कर्म से 'स्वदेशी' हो जाना, एक कच्चा धागा भी विलायती न खरीदना, यही एक महामंत्र है, जिसको जप कर ब्रिटेन ने आधी दुनिया अपने अधिकार में कर ली, अमेरिका स्वर्ण-भूमि बन गया और जापान एशिया का ब्रिटेन बना हुआ है। इसी एक मंत्र का पाठ पहले भारत करता था, चीन करता था और दोनों अभ्युदय के ऊँचे पद पर बैठे हुए थे। जिस दिन से भारतीय बाज़ारों में विलायती माल भर गया, भारत का गौरव लुट गया। जिस दिन से चीन ने, जिसने स्वयं कागज़ बनाने का तरीका दुनिया को सिखलाया था, विलायती कागज़ तक अपनी दुकानों में भर लिया, उसी दिन चीन की स्वाधीनता की मृत्यु का घंटा विलायती गिरजाघरों में बजने लगा।

स्वदेशी की महानता शब्दों मे नहीं समझायी जा सकती। जब हम अपने शरीर पर, अपने कमरे में, अपने पास एक तिनका भी विलायती रखते हैं, जब कि हम उसके स्थान पर देशी तिनका रख सकते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उस तिनके के बराबर अपना रक्त स्वयं चूस रहे हैं, अपने भाई के सामने की थाली उठाकर दूसरों को दे रहे हैं। स्वदेशी की पूजा सम्राट से रंक तक करते हैं। ब्रिटिश सम्राट् पंचम जार्ज ने एक बार किसी सरकारी कार्यालय का निरीक्षण किया, वहाँ ब्रिटेन के बने टाइपराइटर के बजाय अमेरिकन टाइपराइटर का उपयोग होते देखकर उन्हें बड़ा दुख हुआ। आज भारत में लाखों योरोपियन रहते हैं, आप ज़रा इनके साथ बाहर चले जाइए। जर्मन जर्मनी का बना सामान ख़रीदता है, ब्रिटिश ब्रिटेन का बना हुआ। हमारे यहाँ कितने ऐसे देशी नरेश हैं, जिनके दफ़्तरों में देश की बनी चीज़ें काम में आती हैं, या जो विलायत जाकर यह पूछते हैं कि–"आपके यहाँ अमुक वस्तु भारत की बनी हुई मिलती है ?"

स्वदेशी को न अपनाना एक राष्ट्रीय दुर्गुण है। स्वदेशी सामान महँगा पड़ सकता है, पर अपने घर का माल महँगा पड़ने पर भी खरीदा जाता है। स्वदेशी माल ख़राब हो सकता है, पर अपनी भूल के लिए अपने ही मुँह में चपत कितने आदमी मारते हैं ? अपना अपराध सबसे पहले क्षम्य होता है। ठीक यही दशा स्वदेशी की भी है।

स्वदेशी में सबसे पहले कपड़े का स्थान है। विलायती कपड़ा पहनना वास्तव में देश के प्रति अन्याय है। ईश्वर के प्रति अन्याय है। अपना देश जब अपना माल बनाता है तो फिर बाहरी माल क्यों खरीदा जाये। हम 'बहिष्कार' का पाठ नहीं पढ़ा रहे हैं। किसी के प्रति भेद-भाव नहीं फैला रहे हैं। धरना देने की सलाह नहीं दे रहे हैं। हम केवल प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग कर्त्तव्य बतला रहे हैं। स्वदेशी एक धर्म है, एक कर्त्तव्य है। भारत में राजनीतिक आन्दोलन का प्राबल्य होते हुए भी विदेशी माल–आँकड़े कपड़ा दिनों-दिन अधिकता से आ रहा है। यहाँ पर पाठकों का ध्यान हम उन्हीं आँकड़ों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। पत्र लिखता है–

'स्वदेशी के प्रति ध्यान बढ़ने तथा आर्थिक मन्दी होने पर भी भारत में विलायती कपड़े का आयात अनुमान से अधिक मात्रा में बढ़ता जा रहा है। बम्बई के मिल मालिक संघ की जो सबसे ताज़ी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है, उससे पता चलता है कि 1931-32 तथा 1932-33 के आर्थिक वर्षों (मार्च से मार्च) के विलायती रुई के सूत का आयात उन्चास प्रतिशत और तैयार थानों का आयात अट्ठावन प्रतिशत बढ़ गया है। इस वर्ष के पिछले तीन महीने से विलायती कपड़े का आयात–केवल जापानी सस्ता माल ही नहीं–बहुत बढ़ गया है। ब्रिटिश खाकी कपड़ा एक वर्ष में 83.3 प्रतिशत अधिक आया। जापानी खाकी कपड़ा 32.5 प्रतिशत अधिक आया। 31 मार्च 1933 तक कुल विलायती सूत जो बाहर से आया, 45.10 पौंड था। पिछले साल 31.60 लाख गज़ माल आया था। ब्रिटिश सूत का आयात 11.90 लाख गज़ से बढ़ कर 13.40 लाख गज़ हो गया, जापानी सूत 6.20 लाख से 8.10 लाख गज़। पिछले साल 775.60 गज़ विलायती कपड़ा आया था, इस साल 1,225.30लाख गज़ ! सितम्बर 1932 के बाद सबसे अधिक माल 1933 की मार्च में आया।... विलायती माल बम्बई, मद्रास, बंगाल, सिंध और बर्मा–सब जगह क़रीब-क़रीब बराबर ही आया है।'

भारतीयो, सावधान ! समूची राजनीति एक ओर और स्वदेशी एक ओर ! स्वदेशी प्रचारकों को सतर्क हो जाना चाहिए।

(हिन्दी में : 'जागरण', 12 जून, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

तुलसी-स्मृति-तिथि कैसे मनायी जाये ?

इस महीने (जुलाई, श्रावण) में जगह-जगह तुलसी-तिथि मनायी जायेगी। 29 जुलाई (शनिवार) को इस देश के अनेक नगरों और ग्रामों में विशेष रूप से तुलसीदास-सम्बन्धी उत्सव मनाया जायेगा। यों तो नित्य ही असंख्य स्थानों में तुलसीदास जी का गुणगान हुआ करता है; पर उस दिन उनके निमित्त कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए।

हिन्दी-पाठकों को स्मरण होगा कि महामना मालवीय जी ने काशी के तुलसी-घाट का जीर्णोद्धार करने के लिए पत्रों में एक अपील छपवायी है। उस पर यदि साल-भर में इसी एक दिन ध्यान दिया जाये, तो कुछ ही बरसों में–और अगर सुयोग मिल गया तो एक ही साल में–तुलसी-घाट का जीर्णोद्धार हो जा सकता है। तुलसीदास जी से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक स्थान काशी में हैं और सबकी दशा शोचनीय है। गोपाल मन्दिर के अहाते में एक कोठरी है जिसे लोग गोस्वामी जी का निवास स्थान बतलाते हैं; वह साल-भर में एक वार सिर्फ़ श्रावण-शुक्ला सप्तमी को खुलती है। क्या उस अँधेरी (! ! !) कोठरी का इतना ही सम्मान पर्याप्त है ? जिस स्थान में महीनां और बरसों रहकर गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' के समान अपूर्व विनय-ग्रन्थ लिखा, उस स्थान की दुर्दशा हिन्दीवालों के लिए घोर लज्जाप्रद है।

यही हाल अस्सी घाटवाले तुलसी-मन्दिर का है। जिस भाषा के हिमायती करोड़ों हो, उस भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि के प्रति ऐसी उदासीनता ! अभाग्य तुलसीदास का जो हिन्दुस्तान में हिन्दी के कवि हुए !

हर साल लोग जगह-जगह तुलसी-जयन्ती के नाम से तुलसी-तिथि मनाते हैं। करते क्या हैं ? गाँव वाले दो-चार सेर घी आग में झोंक देते हैं ! हवन के साथ-साथ ब्राह्मण-भोजन तो चाहिए ही ? वह भी थोड़ा-बहुत हो ही जाता है। इसके बाद ढोलक-झाल लेकर लोग तुलसीकृत रामायण गाने लगते हैं। चार-छः घण्टे लोग गला फाड़कर चिल्लाते हैं। बस, हो गये तुलसीदास से उऋण ! शहरवाले एक नोटिस छपवाकर बँटवा देते हैं। लोग निश्चित स्थान पर जुटते हैं। भाषण होते हैं, लेख पढ़े जाते हैं, कविताएँ सुनायी जाती हैं, सबमें यही कहा जाता है कि गोस्वामी जी की कविता ऐसी है, वैसी है, उनके उपकारों का हम बदला नहीं दे सकते–इत्यादि। बस, एक ही तरह की बातें हर साल ! क्या कोई कहेगा कहाँ से ? कोई रिसर्च तो

करता नहीं और जो करता है वह उस उत्सव में आता नहीं। इस तरह एक रस्म-सी पूरी कर दी जाती है। यह तो एक तरह से बला टालना है, इससे कुछ ठोस काम नहीं हो सकता।

इस समय आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ-जहाँ तुलसी-तिथि मनायी जाये, वहाँ तुलसी-निधि के लिए थोड़ा-घना, जो मिल सके, अर्थ-संग्रह किया जाये और वह द्रव्य महामना मालवीय जी को इस निवेदन के साथ भेज दिया जाये कि वे इसे तुलसीदास से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों के जीर्णोद्धार में लगावें। इस तरह अगर कुछ साल भी हर जगह काम हो तो तुलसी-निधि में यथेष्ट धन एकत्र हो सकता है। उससे राजापुर, काशी और अयोध्या में तुलसीदास जी के जितने स्मृति-चिह्न हैं, सबकी रक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा का प्रबन्ध किया जा सकता है।

तुलसीदास जी ने हिन्दूजाति और हिन्दूधर्म का जो उपकार किया है उसके वर्णन करने का यहाँ स्थान नहीं। उन्होंने हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति की बड़ी रक्षा की है। हिन्दू-समाज और हिन्दू-साहित्य उनके उपकार-भार से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए हिन्दू-जाति का प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दूमहासभा का भी कर्त्तव्य है कि वह इस दिशा में अपनी कुछ शक्ति लगावे। गोस्वामी जी की रचनाएँ सनातनधर्म की ढाल हैं; पर सनातनधर्म सभाओं को देश-हित के मार्ग में रोड़े अटकाने से फुर्सत ही नहीं मिलती कि वे अपने अनन्य संरक्षक की ओर कुछ भी ध्यान दें! वैष्णव-महासम्मेलन भी केवल धार्मिक झगड़ों में ही फँसा रहता है—वह सम्पन्न होकर भी तुलसीदास जैसे अनन्य वैष्णव के लिए आज तक कुछ न कर सका। किन्तु इन निर्जीव संस्थाओं से आगे भी विशेष आशा नहीं है। अतएव हिन्दी-साहित्य से प्रेम रखनेवाले लोग ही इस काम को अपने हाथ में लें और हिन्दी के इस लोकप्रिय महाकवि के समुचित सम्मान का आयोजन करें। किन्तु इस आयोजन का श्रीगणेश इसी 22 जुलाई हो जाना चाहिए।

काशी में अन्यत्र एक तुलसीदास जी का मन्दिर भी है, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह काशी-नरेश की सहायता से बना है। उसमें गोस्वामी जी की एक शुभ्र प्रस्तरमूर्ति स्थापित है, जो उनके असली चित्र के आधार पर तैयार की गयी है। सुनते हैं, उसी असली चित्र को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। लेकिन हमने आज तक उस मन्दिर को तीर्थ का रूप नहीं दिया। राजापुर की तीर्थयात्रा के लिए हम कभी उत्साहित नहीं हुए। अस्सी-घाट के तुलसी-मन्दिर में जो खड़ाऊँ गोस्वामी जी की रक्खी हैं उसकी ओर हमारा ध्यान कभी नहीं गया। उसी तुलसी-मन्दिर के पास एक तुलसी-पुस्तकालय है, जिसमें तुलसीदास-सम्बन्धी समस्त साहित्य का संग्रह करने की हमारी प्रवृत्ति कभी नहीं हुई। फिर हम तुलसी-तिथि क्यों मनाते हैं? शेक्सपियर की जन्मभूमि को अंग्रेज़ों ने स्वर्ग बना डाला है और हमारी भाषा के शेक्सपियर की जो दशा है, वह आपके सामने है।

तुलसी के ग्रन्थों से कितने ही लोग लखपती हो गये; बहुतों ने करोड़ों रुपये कमाकर घर में डाल दिये, और न जाने कब तक यह क्रम जारी रहेगा। किन्तु ऐसे

लोगों में कोई ऐसा माई का लाल आज तक आगे आता नहीं दिखायी दिया जो तुलसीदास के नाम पर एक परसेंट रॉयल्टी की रक़म भी खुशी से निकलकर देता। सच तो यह है कि हममें अभी अपनी भाषा के रत्नों की परख करने की योग्यता ही नहीं है, हम सिर्फ लकीर पीटने में ही बहादुर हैं! किन्तु सिर्फ़ पुरानी लकीर पीटकर तुलसीदास जैसे महाकवि को श्रद्धांजलि देने से कोई लाभ नहीं।

(हिन्दी में : 'हंस', जुलाई, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। साम्प्रदायिकता अपने घेरे के अन्दर पूर्ण शान्ति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे ज़रा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अन्दर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बँटा हुआ है, और सभी एक दूसरे को हिंसात्मक सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अन्त न होगा, संसार में शान्ति का होना असंभव है। जागरूक आत्माएँ संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बन्धन में जकड़ा हुआ संसार उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझकर उनकी उपेक्षा करता है।

इसमें तो कोई सदेह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीयता मानव संस्कृति और जीवन का बहुत ऊँचा आदर्श और आदि से संसार के विचारकों ने इसी आदर्श का प्रतिपादन किया है। 'वसुधैव कुटुम्वकम्' इसी आदर्श का परिचायक है। वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार ही तो किया। आज भी राष्ट्रीयता का रोग उन्हीं लोगों को लगा हुआ है, जो शिक्षित हैं, इतिहास के जानकार हैं। वे संसार को राष्ट्रों ही के रूप में देख सकते हैं। संसार के संगठन की दूसरी कल्पना उनके मन में आ ही नहीं सकती। जैसे शिक्षा से और कितनी ही अस्वाभाविकताएँ हमने अपने अन्दर भर ली हैं, उसी तरह से इस रोग को भी पाल लिया है। लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो ? कुछ लोगों का ख़याल है कि राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता की सीढ़ी है। इसी के सहारे हम उस पद तक पहुँच सकते हैं, लेकिन जैसा श्रीकृष्ण मूर्ति ने काशी में अपने एक भाषण में कहा है, यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि आरोग्यता प्राप्त करने के लिए बीमार होना आवश्यक है। तो फिर यह प्रश्न रह जाता है कि हमारी अन्तर्राष्ट्रीय भावना कैसे जागे।

समाज का संगठन आदि काल से आर्थिक भित्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक

आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न की ओर से आँखें बन्द करके समाज का कोई दूसरा संगठन सफल नहीं हो सकता। यह जो प्राणी-प्राणी में भेद है, फूट है, वैमनस्य है, यह जो राष्ट्रों में परस्पर तनातनी हो रही है, इसका कारण अर्थ के सिवा और क्या है। अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही, राष्ट्रीयता के क़िले को ध्वंस कर सकता है।

वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुँचने की चेष्टा की। उसने समझा समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायेगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था। हज़रत ईसा, महात्मा बुद्ध आदि सभी धर्म-प्रवर्तकों ने मानसिक और आध्यात्मिक संस्कार से समाज का संगठन बदलना चाहा। हम यह नहीं कहते कि उनका रास्ता गलत था। नहीं, शायद वही रास्ता ठीक था, लेकिन उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। अन्तर्राष्ट्रीयता, या एकात्मवाद या समता तीनों मूलतः एक ही हैं। उनकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं, एक आध्यात्मिक दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। कई हज़ार वरसों से हम यही परीक्षा करते चले आ रहे है। वह श्रेष्ठतम मार्ग था। उसने समाज के लिए ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श की कल्पना की और उसे प्राप्त करने के लिए ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्त की सृष्टि की थी। उसने मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा और कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गयी। समाज जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया नहीं और पीछे हट गया। संसार मे अनेक मतों और धर्मों और करोड़ों धर्मोपदेशकों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा-भाव है, उतना शायद पहले कभी न था। आज दो भाई एक साथ नहीं रह सकते। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष में संग्राम चल रहा है। पुराने ज्ञानियों ने सारे झगड़ों की ज़िम्मेदारी 'ज़र, ज़मीन, जन' रक्खी थी। आज उसके लिए केवल एक ही शब्द काफ़ी है—सम्पत्ति।

जब तक सम्पत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइए, बेकारों का गुज़ारा दीजिए, ज़मींदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मजूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस टीप-टाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।

संसार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है। जिस पर वह

प्रसन्न हो जायें उसके भाग्य खुल जाते हैं। उसकी सारी बुराइया मुआफ़ कर दी जाती हैं, लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं, डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को अपना क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं ? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं ? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा यंत्र क्यों बनाते हैं ? वेश्याएँ क्यों बनती हैं और डाके क्यों पड़ते हैं ? इसका एक मात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

कुछ लोग समाज के इस आदर्श की वर्गवाद, या 'क्लास वार' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक हैं, वे इसे हौवा समझकर, आँखें बन्द करके, गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शांत मन से देखा जाये, तो असम्पत्तिवाद की शरण में आकर उन्हें भी शान्ति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे सन्तों और सन्यासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती। अगर वे अपने पिछले कारनामों को याद करें तो उन्हें मालूम हो कि सम्पत्ति जमा करने के लिए उन्होंने अपनी आत्मा का, अपने सम्मान का, अपने सिद्धान्त का कितना खून किया। बेशक् उनके पास करोड़ों की विभूति है, पर क्या उन्हें शान्ति मिल रही है ? क्या वे अपने ही भाइयों से, अपनी ही स्त्री से सशंक नहीं रहते ? क्या वे अपनी ही छाया से चौंक नहीं पड़ते ? वह करोड़ों का ढेर उनके किस काम आता है ? वे कुम्भकर्ण का पेट लेकर भी उसे अन्दर नहीं भर सकते। ऐंद्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहंकार को यह सन्तोष हो कि उनके पास एक करोड़ जमा है, और तो उन्हे कोई सुख नहीं है। क्या ऐसे समाज में रहना उनके लिए असह्य होगा, जहाँ उनका कोई शत्रु न होगा, जहाँ उन्हें किसी के सामने नाक रगड़ने की ज़रूरत न होगी, जहाँ उन्हें छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहाँ उनके कुटुम्बवाले उनके मरने की राह न देखते होंगे, जहाँ वे विष के भय के बगैर भोजन कर सकेंगे ? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी ? क्या वे उस विश्वास, प्रेम और सहयोग के संसार से इतना घबराते हैं, जहाँ वे निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त, समष्टि में मिलकर जीवन व्यतीत करेंगे ? बेशक् उनके पास बड़े-बड़े महल और नौकर-चाकर और हाथी घोड़े न होंगे, लेकिन यह चिन्ता, सन्देह और संघर्ष भी तो न होगा।

कुछ लोगों का सन्देह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहाँ से आयेगी। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी ? क्या

गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था कि उस पर उन्हें रॉयल्टी मिलेगी। आज भी हम हज़ारों आदमियों को देखते हैं, जो उपदेशक हैं, कवि हैं, शिक्षक हैं, केवल इसलिए कि इससे उन्हें मानसिक सन्तोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नहीं कर सकते, इसीलिए ऐसी शंकाएँ हमारे मन में उठती हैं। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वयं संस्कृत हो जायेगी।

कुछ लोगों को भय होता है कि तब बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। हम कहते हैं कि आज ऐसा कौन-सा राजा या धनी है जो कि आधी रात तक बैठा सिर नहीं खपाता। यहाँ उन विलासियों की बात नहीं है, जो बाप-दादों की कमाई उड़ा रहे हैं। वे तो पतन की ओर जा रहे हैं। जो आदमी सफल होना चाहता है, चाहे वह किसी काम में हो, उसे परिश्रम करना पड़ेगा। अभी वह अपने और अपने कुटुम्ब के लिए परिश्रम करता है। क्या तब उसे समष्टि के लिए परिश्रम करने में कष्ट होगा ?

(हिन्दी में : 'जागरण', 27 नवम्बर, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

महिला-सम्मेलन में सन्तान-निग्रह

अभी हाल में प्रयाग में प्रान्तीय महिला-सम्मेलन हुआ, उसमें और कई महत्त्व के प्रस्तावों के साथ सन्तान-निग्रह का प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ और म्युनिसिपैलिटियो और सरकारों से इसकी विधि सिखाने का प्रबन्ध करने का आदेश किया गया। युजिनेक शास्त्र यह कहता है कि देश में अयोग्य स्त्री-पुरुषों को 'न्युटरलाइज़' कर देना चाहिए, अर्थात् उन्हें जनन शक्ति से वंचित कर देना चाहिए और देश में सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार ऐसे प्राणियों को मिलना चाहिए, जो दिल, दिमाग़ और देह तीनों से मजबूत हों और इसके साथ ही खुशहाल भी हो। मजूरो और अंर्थ शिक्षित स्त्री-पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति का अधिकार न होना चाहिए। अतएव देश में जो विद्वान, प्रतिभाशाली, तेजस्वी स्त्री पुरुष हैं उन्हीं पर देश मे योग्य सन्तान पैदा करने की ज़िम्मेदारी आती है। अतएव इस सम्मेलन की विदुषी, मनस्वी, स्वाभिमानी देवियों को जहाँ यह प्रचार करने की ज़रूरत है कि अयोग्य स्त्री पुरुष सन्तान उत्पन्न न करें, वहाँ अपनी योग्य बहनों को सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करने की प्रेरणा करनी चाहिए। पढ़ी-लिखी, विचारशील देवियाँ और उन्नत विचार वाले पुरुष सन्तान-निग्रह नहीं कर सकते और न राष्ट्र उन्हे इस ज़िम्मेदारी से आज़ाद कर सकता है। उन्हे तो सन्तान उत्पन्न करके उसका पालन करना ही पड़ेगा, अन्यथा देश मे अयोग्य सन्तान भर जायेगी। देश ने गरीबों का रुपया लेकर आपको पढ़ाया-लिखाया और आपको इस पद पर पहुँचाया। आपकी बात से देश को क्या फ़ायदा पहुँचा ?

उधर बड़े-बड़े विज्ञानशास्त्री इस यत्न में हैं कि लेबोरेटरी मे जिस तरह की सन्तान चाहे पैदा कर सकें। एक विद्वान ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी की है कि दो हज़ार तैंतीस तक इस विषय में बहुत जाँच-खोज हो चुकी होगी और संभव ही नहीं, निश्चित है कि दो हज़ार एक सौ तैंतीस तक विज्ञान द्वारा उत्पन्न स्त्री-पुरुष संसार में हलचल मचा रहे होंगे। इसलिए हमारे उन्नत समाज को यह बेगार थोड़े ही दिनों तक झेलनी पड़ेगी। फिर विज्ञान उन्हें इस जिम्मेदारी से मुक्त कर देगा। तब तक भोजन की समस्या भी हल हो चुकी होगी। एक गोली खाकर हमारी सन्तान उतना ही पोषण प्राप्त कर सकेगी, जितना आजकल दूध, घी, मांस-मछली भरपेट खाकर भी नहीं मिल सकता। बस, सारे दिन सैर और गाना और विहार होगा। अफसोस उस ज़माने में हम न होंगे।

(हिन्दी में : 'हंस', नवम्बर, 1933
उर्दू में : अप्रकाशित)

एम. सी. सी. की जय

कहते हैं कि फ्रेंच-क्रान्ति के पहले जनता तो भूखों मरती थी और उनके शासक और ज़मींदार और महाजन नाटक और नृत्य में रत रहते थे, वही दृश्य आज हम भारत में देख रहे हैं। देहातों में हाहाकार मचा हुआ है। शहरों में गुलछर्रे उड़ रहे हैं। कहीं एम. सी. सी. की धूम है, कहीं हवाई जहाज़ों के मेले की। बड़ी बेदर्दी से रुपये उड़ रहे हैं। काशी के इस क्रिकेट-मैच में कम से कम पाँच हज़ार आदमी तमाशा देख रहे थे। कम से कम पच्चीस हजार रुपये केवल टिकटों से वसूल हुए और दिया किसने, उन्हीं बाबुओं और अमीरों ने जिनसे शायद किसी राष्ट्रीय काम के लिए कौड़ी न मिल सके। खूब तमाशे देखे जावें, खूब मजे उड़ाये जावें। यह दुनिया है, कौन किसी के दुख से दुःखी होता है। यह सिर्रफिरों का काम है। संसार उनका है, जो मौज करते है। शहर के अन्देशों से मरनेवाले अभागे काजी को मरना ही चाहिए। दया अमीरों का चोंचला है, उसकी हमें ज़रूरत नहीं। न्याय के आने में देर है, तब तक चैन किये जावें। सुना इस मेच मे विजयनगरम् टीम जीत गयी। बस, अब स्वराज्य मिलने में देरी नहीं है।

(हिन्दी में : 'जागरण', 15 जनवरी, 1934
उर्दू में : अप्रकाशित)

एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आल-इंडिया संस्थाएँ तो हैं, लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई ख़बर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं, लेकिन गुजराती, तमिल, तेलुगु और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिलकुल अपरिचित हैं। अंग्रेज़ी साहित्य का तो ज़िक्र ही क्या, फ्रांस, जर्मनी, रूस, पोलैण्ड, स्वेडेन, बेलजियम आदि देशों के साहित्य से भी अंग्रेज़ी अनुवादों द्वारा हम कुछ न कुछ परिचित हो गये हैं, लेकिन बँगला को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की प्रगति का हमें बिलकुल ज्ञान नहीं है। हरेक प्रान्तीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती है और करना ही चाहिए। हरेक प्रान्त में लोकल कौंसिलें हैं, पर प्रान्तीय साहित्यों की केन्द्रीय संस्था कहाँ है ? हमारे ख़याल में ऐसी एक संस्था की ज़रूरत है और यदि साहित्य सम्मेलन इसकी स्थापना करे, तो वह राष्ट्र और हिन्दी की बड़ी सेवा करेगा।

अभी तक हिन्दी ने जो विस्तार प्राप्त किया है, वह एक प्रकार से अपनी शक्ति द्वारा किया है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो भारत के सभी बड़े शहरों में समझी जाती है, चाहे बोली न जाती हो। अगर अंग्रेजी बीच में न आ खड़ी होती तो अन्य प्रान्तों के निवासी एक-दूसरे से हिन्दी ही में बातें करते और अब भी करते हैं, यद्यपि वही जो अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ हैं।

अब वह समय आ गया है कि प्रान्तीय भाषाओं का सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ किया जाये और हमारे संस्कारों का ऐसा समन्वय हो जाये कि हम राष्ट्रीय भाषा का ही नहीं, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी कर सकें। हरेक प्रान्त के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ है। यह आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रभाषा में उन सारी विशेषताओं का सामंजस्य हो जाये और हमारा साहित्य प्रान्तीयता के दायरे से निकलकर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुँच जाये। इस विषय में हम अन्य भाषाओं के कर्णधारों की सहायता और सहयोग से जितना आगे बढ़ सकते हैं, उतना और किसी तरह नहीं बढ़ सकते। यों तो कई बँगला और मराठी के विद्वान् हिन्दी में बराबर लिख रहे हैं और अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दी का क्षेत्र सदैव फैलता जायेगा,

लेकिन ऐसी एक राष्ट्रीय साहित्य संस्था द्वारा हम इस प्रगति को और तेज़ कर सकते हैं।

अभी हमें बम्बई जाने का अवसर मिला था। वहाँ हमें गुजरात के प्रमुख साहित्य-सेवियों से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमें मालूम हुआ कि वे ऐसी संस्था के लिए कितने उत्सुक हैं, बल्कि मैं तो कहूँगा कि यह प्रस्ताव उन्हीं महानुभावों का था, और मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माननीय अधिकारियों से अनुरोध करूँगा कि वे इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करें। हिन्दी का प्रचार समस्त भारत में बढ़ रहा है। यदि साहित्य सम्मेलन ऐसी संस्था का आयोजन करे, तो मुझे विश्वास है कि अन्य भाषाओं के लेखक उसका स्वागत करेंगे और हिन्दी का गौरव भी बढ़ेगा और विस्तार भी।

यह कौन नहीं जानता कि भारत में प्रान्तीयता का भाव बढ़ता जा रहा है। इसका एक कारण यह भी है, कि हरेक प्रान्त का साहित्य अलग है। यह आदान-प्रदान और विचार-विनिमय ही है, जिसके द्वारा प्रान्तीयता के संघर्ष को रोका जा सकता है। राष्ट्रों का निर्माण उसके साहित्य के हाथ में है। यदि साहित्य प्रान्तीय है, तो उसके पढ़नेवालों में भी प्रान्तीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य-सेवियों का वार्षिक अधिवेशन होने लगे, तो संघर्ष की जगह सौम्य, सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा और यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यों के सन्निकट हो जाने से प्रान्तों में भी सामीप्य हो जायेगा। जिन विद्वानों का अभी हमने नाम ही सुना है, उन्हें हम प्रत्यक्ष देखेंगे, उनके विचार उनके श्रीमुख से सुनेंगे और सत्संग से बहुत-से भ्रम, बहुत-सी संकीर्णताएँ आप ही आप शान्त हो जायेंगी। अन्यत्र हम पी. ई. एन. नामक विश्व साहित्य संस्था का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर रहे हैं। जब बड़ी-बड़ी उन्नत भाषाओं को ऐसी एक संस्था की ज़रूरत मालूम होती है, तो क्या भारत की आत्मा, अभिव्यक्ति के लिए अपने साहित्यकारों की ओर देख रही है। दार्शनिक उसके विचारों को प्रकट कर सकता है; वैज्ञानिक उसके ज्ञान की वृद्धि कर सकता है; उसका मर्म, उसकी वेदना, उसका आनन्द, उसकी अभिलाषा, उसकी महत्त्वाकांक्षा तो साहित्य ही की वस्तु है और वह महान शक्ति प्रान्तीय सीमाओं के अन्दर जकड़ी पड़ी हुई है। बाहर की ताज़ी हवा और प्रकाश से वह वंचित है और यह बन्धन उसके विकास और वृद्धि में बाधक हो रहा है। सृष्टि-धाराओं को समन्वित करके हम उनमें प्रवाह और प्रगति उत्पन्न कर सकते हैं। और यह हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का नैसर्गिक कर्त्तव्य है।

(हिन्दी में : 'हंस' फरवरी, 1934
उर्दू में : अप्रकाशित)

सन्तान निग्रह और प्राकृतिक नियम

ब्रह्मचर्य के महत्त्व को हिन्दू-शास्त्रकारों ने जितना समझा था, उतना शायद और कहीं न समझा गया हो, लेकिन इसका उद्देश्य सन्तान-निग्रह नहीं, बल्कि मनुष्य के बल-बुद्धि की रक्षा करना था। उत्तम सन्तान के लिए भी बल-बुद्धि की रक्षा आवश्यक थी, लेकिन हम उस आदर्श से गिरते-गिरते यहाँ तक गिरे कि बाल-विवाह की भरमार होने लगी और उसे रोकने के लिए क़ानून बनाना पड़ा। प्राचीन आदर्श हृष्ट-पुष्ट सन्तानों से भरा-पूरा घर था। उस युग में आबादी की ज़रूरत थी और रोटी का प्रश्न इतना जटिल न था। अब ज़माना बदल रहा है और संसार में ज़रूरत से ज़्यादा आदमी हो गये हैं। इसके साथ ही बच्चों के पालन-पोषण का भार भी बढ़ गया है। हम अपने बालकों को पुष्टिकारक भोजन और अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं, और बहुत से बच्चों का बोझ सिर पर लादकर अपनी ज़िन्दगी नहीं तल्ख़ करना चाहते। साधारण वित्त के आदमी को अगर सात-आठ लड़के- लड़कियों का ख़र्च उठाना पड़े, तो समझ लो कि उसकी और बच्चों की शामत है। अपनी भी साँसत और बच्चों की भी साँसत। इसी ज़रूरत ने सन्तान-निग्रह के विचार को जन्म दिया। इसमें तो किसी को आपत्ति नहीं है कि सन्तान-निग्रह आवश्यक वस्तु है। मतभेद इसी में है कि वह उद्देश्य ब्रह्मचर्य द्वारा पूरा किया जाये या कृत्रिम उपायों से। अगर ब्रह्मचर्य द्वारा हो सके, तो सबसे उत्तम, लेकिन वह न हो सके, तो हम कृत्रिम साधनों को भी बुरा नहीं समझते। कुछ विद्वानों का कथन है कि हमें प्राकृतिक विधान मे बाधक न होना चाहिए। क्योंकि इसका परिणाम भीषण होता है। मगर मानव संस्कृति तो प्राकृतिक विधान के विरोध का ही नाम है। अगर हम प्रकृति-मार्ग पर ही चलते तो आज भी कंदराओं में रहते और शिकार पर ज़िन्दगी बसर करते होते। प्रकृति पर विजय पाना तो मानवी सभ्यता का लक्ष्य ही है। हाँ, सन्तान-निग्रह के विरुद्ध जो सबसे विचारने योग्य बात है, वह यह है कि इससे स्त्री-पुरुष की भोग लालसा बढ़ जाती है, और विलास प्रवृत्ति पर अंकुश रखने के लिए जिस त्याग और बलिदान की ज़रूरत है, उसके शिथिल हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष में प्रेम बन्धन ढीला हो जाता है और वह गृह कलह और असन्तोष के रूप में प्रकट होता है। इसके सिवा कुछ बीमारियाँ पैदा हो जाने की शंका भी रहती हैं, अतएव हमारे विचार में दम्पति को अपनी ज़रूरत, स्थिति, स्वास्थ्य आदि का विचार करके ही इस विषय में निश्चय करना चाहिए। इसके लिए कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

(हिन्दी में : 'हंस', मई, 1934
उर्दू में : अप्रकाशित)

सिनेमा और जीवन

सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। केवल इंग्लैण्ड में दो करोड़ दर्शक प्रति-सप्ताह सिनेमा देखने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फ़र्ज हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन-लुटेरो के ही हाथ में न छोड़ दे। व्यवसाय का नियम है कि जनता मे जो माल ज्यादा खपे, उसकी तैयारी में लगे। अगर जनता को ताड़ी शराब से रुचि है, तो वह ताड़ी-शराब की दुकानें खोलेगा और खूब धन कमायेगा। उसे इससे प्रयोजन नहीं कि ताड़ी-शराव से जनता को कितनी दैहिक, आत्मिक, चारित्रिक, आर्थिक और पारिवारिक हानि पहुँचती है। उसके जीवन का उद्देश्य तो धन है और धन कमाने का कोई भी साधन वह नही छोड़ सकता। यह काम उपदेशको और सन्तों का है कि वे जनता मे सयम और निषेध का प्रचार करें। व्यवसाय तो व्यवसाय है। 'बिजनेस इज़ बिजनेस' यह वाक्य सभी की ज़बान पर रहता है। इसका अर्थ यही है कि कारोबार मे धर्म और अधर्म, उचित और अनुचित का विचार नही किया जा सकता। बल्कि उसका विचार करना बेवकूफ़ी है।

इसमे विद्वानों को मतभेद हो सकता है कि आदमी का पूर्व पुरुष बन्दर है या भालू; लेकिन इसमें तो सभी सहमत होंगे कि आदमी में दैविकता भी है और पाशविकता भी। अगर आदमी एक वक़्त मे किसी की हत्या कर सकता है, तो दूसरे अवसर पर किसी की रक्षा में अपने प्राणों का होम भी कर सकता है। आदि-काल से साहित्य काव्य और कलाओं का यही ध्येय रहा है कि आदमी में जो पशुत्व है उसका दमन करके, उसमें जो देवत्त्व है, उसको जगाया जाये। उसमे जो निम्न भावनाएँ हैं उनको दबाकर या मिटाकर कोमल और सुन्दर वृत्तियों को सचेत किया जाये। साहित्य और काव्य में भी ऐसे समय आये हैं, और आते रहते हैं, जब सुन्दर का पक्ष निर्बल हो जाता है और वह असुन्दर, बीभत्स और दुर्वासना का राग अलापने लगता है। लेकिन जब ऐसा समय आता है तो हम उसे पतन का युग कहते हैं। इसी उद्देश्य से साहित्य और कला में केवल मानव-जीवन की नक़ल करने को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जाता और आदर्शों की रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुन्दर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल

और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करे और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जाँच यही है कि उसमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्मल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं, छोटे-छोटे संकटों के सामने हम सिर झुका देते हैं। और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं, तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।

अगर सिनेमा इसी आदर्श को सामने रखकर अपने चित्रों की सृष्टि करता, तो वह आज संसार की सबसे बलवान् संचालक शक्ति होता, मगर खेद है कि इसे कोरा व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊँचे आसन से खींचकर ताड़ी या शराब की दुकान की सतह तक पहुँचा दिया है, यही कारण है कि अब सर्वत्र यह आन्दोलन होने लगा है कि सिनेमा पर नियन्त्रण रखा जाये और उसे मनुष्य की पशुताओं को उत्तेजन देने की कुप्रवृत्ति से रोका जाय।

जिस ज़माने में बम्बई में कांग्रेस का जलसा था, सिनेमा-हाल अधिकांश में से खाली रहते थे, और उन दिनों जो चित्र दिखाये गये, उनमें घाटा ही रहा। इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि जनता के विषय में जो ख़याल है कि वह मारकाट और सनसनी पैदा करने वाली और शोरगुल से भरी हुई तस्वीरों को ही पसन्द करती है, वह भ्रम है। जनता प्रेम और त्याग अथवा मित्रता और करुणा से भरी हुई तस्वीरों को और भी रुचि से देखना चाहती है; मगर हमारे सिनेमावालों ने पुलिसवालों की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे मसखरेपन और भँड़ैती और बलात्कार और सौ फ़ीट की ऊँचाई से कूदने, झूठ-मूठ टीन की तलवार चलाने में ही जनता को आनन्द आता है और कुछ थोडा-सा आलिंगन और चुम्बन तो मानो सिनेमा के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना देह के लिए आँखें। बेशक़ जनता वीरता देखना चाहती है। प्रेम के दृश्यों से भी जनता को रुचि है, लेकिन यह ख़याल करना कि आलिंगन और चुम्बन के बिना प्रेम का प्रदर्शन हो ही नहीं सकता, और केवल नक़ली तलवार चलाना ही जवाँमर्दी है, और बिना ज़रूरत गीतों का लाना सुरुचि है, और मन और कर्म की हिंसा में ही जनता को आनन्द आता है, मनोविज्ञान का बिलकुल ग़लत अनुमान है। कहा जाता है कि, शेक्सपियर के शब्दों में, जनता अबोध बालक है। और वह जिन बातों पर एकान्त में बैठकर घृणा करती है, या जिन घटनाओं को अनहोनी समझती है, उन्हीं पर सिनेमा-हाल में बैठकर उल्लास से तालियाँ बजाती है। इस कथन में सत्य है। सामूहिक मनोविज्ञान की यह विशेषता अवश्य है। लेकिन अबोध बालक को क्या माँ की गोद पसन्द नहीं ? जनता नग्नता और फक्कड़ता और भँड़ैती ही पसन्द करती है, उसे चूमा-चाटी और बलात्कार में ही मज़ा आता है, तो क्या उसकी इन्हीं आवश्यकताओं को मज़बूत बनाना हमारा काम है ? व्यवसाय को भी देश और समाज के कल्याण के सामने झुकना पड़ता है। स्वदेशी आन्दोलन के समय में किसकी हिम्मत थी कि

जो 'बिज़नेस इज बिज़नेस' की दुहाई देता ? बिज़नेस से अगर समाज का हित होता है, तो ठीक है; वर्ना ऐसे बिज़नेस में आग लगा देनी चाहिए। सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनन्द दे पाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और हमें पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्द उसका निशान मिट जाय, उतना ही अच्छा।

और अब यह बात धीरे-धीरे समझ में आने लगी है कि अर्धनग्न तस्वीरें दिखाकर और नंगे नाचों का प्रदर्शन करके जनता को लूटना इतना आसान नहीं रहा। ऐसी तस्वीरें अब आमतौर पर नापसन्द की जाती हैं, और यद्यपि अभी कुछ दिनों जनता की बिगड़ी हुई रुचि आदर्श चित्रों को सफल न होने देगी लेकिन प्रतिक्रिया बहुत जल्द होने वाली है और जनमत अब सिनेमा में सच्चे और संस्कृत जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी अय्याशियों और लड़ाइयों में किसी को प्रेम नहीं रहा।

(हिन्दी में : 'हंस, मार्च, 1935
उर्दू में : अप्रकाशित)

साहित्य की नयी प्रवृत्ति

जिस तरह संस्कृति के और सभी अंगों में योरोप हमार पथ-प्रदर्शक है, उसी तरह साहित्य में भी हम उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने के आदी हो गये हैं। यूरोप आजकल नग्नता की ओर जा रहा है। वही नग्नता जो उसके पहनावे में, उसके मनोरंजन में, उसके रूप-प्रदर्शन में नज़र आती है, उसके साहित्य में भी व्याप्त हो रही है। वह भूला जा रहा है कि कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और रहस्यों में आकर कविता बन जाती है, अपने स्पष्ट या नग्न रूप में बीभत्स हो जाती है। वह नंगे चित्र और मूर्तियाँ बनाना कला का चमत्कार समझता है। वह भूल जाता है कि वह काजल जो आँखों को शोभा प्रदान करता है, अगर मुँह पर पोत दिया जाय तो रूप को विकृत कर देता है। मिठाई उसी वक़्त तक अच्छी लगती है, जब तक वह मुँह मीठा करने के लिए खायी जाय। अगर वह मुँह में ठूँस दी जाय, तो हमें उससे अरुचि हो जायेगी। ऊषा की लाली में जो सुहावनापन है, वह सूरज के सम्पूर्ण प्रकाश में हरगिज नहीं। मगर वर्तमान साहित्य उसी खुलेपन की ओर चला जा रहा है। जिन प्रसंगों में जीवन का माधुर्य है, उन्हें स्पष्ट और नग्न रूप में दिखाकर वह उस माधुर्य को नष्ट कर रहा है। वही प्रवृत्ति, जो आज युवतियों को रेल और ट्राम में बार-बार आईना देखकर ओठों और गालों के धूमिल होते हुए रंग को फिर से चमका देने पर प्रेरित करती है, हमारे साहित्य में भी उन विषयों और भावों को खोलकर रख देने की गुदगुदी पैदा करती है, जिनके गुप्त और अस्पष्ट रहने में ही कला का आनन्द है।

और यह प्रवृत्ति और कुछ नहीं, केवल समाज की वर्तमान व्यवस्था का रूप मात्र है। जब नारी को इसका निराशाजनक आभास होता है कि उसके पास रूप के आकर्षण के सिवा और कुछ नहीं रहा, तो वह नाना प्रकार से उसी रूप को सँवार कर नेत्रों को आकर्षित करना चाहती है। उसमें वह सौन्दर्य नहीं रहा, जो काजल और पाउडर की परवाह न करके, केवल आँखों को खुश करने में ही अपना सार न समझकर अन्तस्तल की गहराइयों से अपना प्रकाश फैलाता है। वही व्यापार-बुद्धि जो आज गली-गली, कोने-कोने में अपना जौहर दिखा रही है, साहित्य और कला के क्षेत्र में भी अपना आधिपत्य जमा रही है। आप जिधर जाइए आपको दीवारों पर, तख्तियों पर व्यापारियों के बड़े-बड़े भड़कीले पोस्टर नज़र आयेंगे। समाचार पत्रों में भी तीन-चौथाई स्थान केवल विज्ञापनों से भरा रहता है। स्वामी को अच्छी

सामग्री देने की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी नफ़ा देने वाले के विज्ञापन हासिल करने की। उसके कन्वेन्सर लेखकों के पास लेख के लिए नहीं जाते, इसके लिए तो एक कार्ड काफ़ी है, मगर विज्ञापनदाताओं की सेवा में प्रसन्न करने में अपना उद्धार पाता है। कितने ही अच्छे-अच्छे पत्र तो केवल विज्ञापन के लिए ही निकलते हैं, लेख तो केवल गौण रूप से इसलिए दे दिये जाते हैं कि साहित्य के रसिकों को उन विज्ञापनों को पढ़ने के लिए प्रलोभन दे सकें। व्यापार के युग में जिस चीज़ का सबसे ज़्यादा महत्त्व होता है, वह धन है। जिसके अन्दर जो शक्ति है, चाहे वह देह की हो या मन की, या रूप की या बुद्धि की, वह उसे धन-देवता के चरणों में ही चढ़ा देता है। हमारा साहित्य भी, जो कला का ही एक अंग है, उसी व्यापार-बुद्धि का शिकार हो गया है। हम किसी चीज़ की रचना इसलिए नहीं करते कि हमें कुछ कहना है, कोई सन्देश देना है, जीवन के किसी नये दृष्टिकोण को दिखाना है, समाज और व्यक्ति में ऊँचे भावों का जगाना है अथवा हमने अपने जीवन में जो कुछ अनुभव किया है, उसे जनता को देना है, बल्कि केवल इसलिए कि हमें धन कमाना है और हम बाजार में ऐसी चीज़ रखना चाहते हैं जो ज़्यादा-से-ज़्यादा बिक सके जब एक बार यह ख़याल दिल में जम गया, तो फिर हम विचार-स्वातन्त्र्य और भाव स्वातन्त्र्य के नाम से ऐसी चीज़ें लिखते हैं, जिनके विषय में जनता को सदैव कुतूहल रहा है और सदैव रहेगा। ड्रामेटिस्ट और उपन्यासकार और कवि सभी नग्न लालसा और चूमा-चाटी से भरी हुई रचनाएँ करने के लिए मैदान में उतर आते हैं, और आपस में होड़-सी होने लगती है कि कौन नयी-से-नयी चौंकानेवाली बातें कह सुनाये, ऐसे-ऐसे प्रसंग उपस्थित करें कि कामुकता के छिपे हुए अड्डों में जो व्यापार होते हैं वह प्रत्येक स्त्री-पुरुष के सामने आ जायें। कोई आज़ाद प्रेम के नाम से, कोई पतितों के उद्धार के नाम से कोमोद्दीपन की चेष्टा करता है, और संयम और निग्रह को दकियानूसी कहकर मुक्त विलास का उपदेश देता है। सत्य और असत्य की उसे परवाह नहीं होती। वह तो चौंकाने वाली और कान खड़े करने वाली बातें कहना चाहता है, ताकि जनता उसकी कृतियों पर टूट पड़े और उसकी पुस्तकें हाथों-हाथ बिक जायें। उसे गुप्त-से-गुप्त प्रसंगों के चित्रण में ज़रा भी संकोच या झिझक नहीं होती। इन्हीं रहस्यों को खोलने में ही शायद उसके विचार में समाज का बेड़ा पार होगा। व्रत और त्याग जैसी चीज़ की उसकी निगाह में कुछ भी महिमा नहीं है। नहीं, बल्कि वह व्रत, त्याग और सतीत्व को संसार के लिए घातक समझता है। उसने इन वासनाओं को बेलगाम छोड़ देने में ही मानव-जीवन का सार समझा है। हक्सले और डी. एच. लारेंस और डिकोबरा आदि, आज अंग्रेज़ी-साहित्य के चमकते हुए रत्न समझे जाते हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ क्या हैं ? केवल उपन्यास-रूपी कामशास्त्र। जब एक लेखक देखता है कि अमुक की रचना नग्नता और निर्लज्जता के कारण धड़ाधड़ बिक रही है, तो वह क़लम हाथ में लेकर बैठता है और उससे भी दस क़दम आगे जा पहुँचता है और इन पुस्तकों की समाज में खूब आलोचनाएँ होती हैं, उनकी निर्भीक सत्यवादिता के खूब ढोल पीटे जाते हैं। इस प्रवृत्ति को यथार्थवाद का नाम दे दिया जाता है और यथार्थवाद की आड़ में आप व्यभिचार

की निर्लज्जता की, चाहे जितनी मीमांसा कीजिए, कोई नहीं बोल सकता। एक महिला क़लम लेकर बैठती है और अपने कुत्सित प्रेम-रहस्यों का कच्चा चिट्ठा लिख जाती है। समाज में उसकी रचना की धूम मच जाती है। दूसरे महोदय अपनी अय्याशियों की झूठी-सच्ची कहानी लिखकर समाज में हलचल पैदा कर देते हैं। पुस्तकों को अधिक-से-अधिक लाभप्रद बनाने के लिए सम्भव है, अपनी आत्म-चर्चा को खूब बढ़ा-बढ़ा कर बयान किया जाता हो। कामुकता का ऐसा नंगा नाच शायद किसी युग में न हुआ हो। दुकानों पर रूपवती युवतियाँ बैठायी जाती हैं। इसलिए कि ग्राहकों की कामुकता को उत्तेजित करके एक पैसे की चीज़ के दो पैसे वसूल कर लिये जायें। ये युवतियाँ मानो वह चारा हैं, जिसे काँटे मे लगाकर मछलियों को फँसाया जाता है। जब सारे कुएँ में ही भंग पड़ गयी है तो कला और साहित्य क्यों अछूते बच जाते ? मगर यह सब उस सामाजिक व्यवस्था का प्रसाद है जो इस वक़्त संसार में फैली हुई है। और वह व्यवस्था है–"धन का कहीं ज़रूरत से ज़्यादा और कहीं ज़रूरत से कम होना। जिनके पास ज़रूरत से ज़्यादा है, वे मानो समाज के देवता हैं और जिनके पास ज़रूरत से कम है, वह हर मुमकिन तरीक़ों से धनवानों को खुश करना चाहते हैं। और धन की वृद्धि सदैव विषय-विलास की ओर जाती है। इसीलिए रूप के बाज़ार सजाये जाते हैं, इसीलिए नग्न चित्र बनाये जाते हैं, इसीलिए साहित्य कामुकता-प्रधान हो जाता है। साहित्य के इस नये पतन का एक कारण यह भी हो सकता है कि आजकल पश्चिमी समाज में फ़ैशन की गुलामी और भोग-लालसा के कारण कितने ही लोग विवाह से काँपते हैं, और उनकी रसिकता और कोई मार्ग न पाकर कामोद्दीपक साहित्य पढ़कर ही अपने दिल को तसल्ली दे लेती है। रूसी समाज को जिन लोगों ने देखा है, वे कहते हैं कि वहाँ की स्त्रियाँ रंग और पाउडर पर ज्ञान नहीं देतीं और न रेशम और लेस के लिए मरती हैं। उनके सिनेमाघरों के दरवाज़ों पर अर्धनग्न पोस्टरों का वह प्रदर्शन नहीं होता, जो अन्य देशों में नज़र आता है। इसका कारण यह है कि वहाँ धन की प्रभुता किसी हद तक ज़रूर नष्ट हो गयी है, और उनकी कला अब धन की गुलामी न करके समाज के परिष्कार में लगी हुई है। हम ऊपर कह आये हैं कि आज यथार्थवाद के पर्दे में बेशर्मी का नगा नाच हो रहा है। यथार्थवाद के माने ही यह हो गये हैं कि वह समाज और व्यक्ति के नीच-से-नीच, अधम-से-अधम और पतित-से-पतित व्यवहारों का पर्दा खोले, मगर क्या यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती ? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा क्या उसके सेवामय, तपोमय जीवन का चित्रण ज़्यादा मंगलकारी नहीं है ? क्या साधु-प्रकृति मनुष्यों का यथार्थ जीवन हमारे दिलों पर कोई असर नहीं करता ? साहित्य में असुन्दर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिए कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके। अन्धकार की अपेक्षा प्रकाश ही संसार के लिए ज़्यादा कल्याणकारी सिद्ध हुआ है।

(हिन्दी में : 'हंस', अप्रैल, 1935
उर्दू में : अप्रकाशित)

साहित्य में बुद्धिवाद

साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद में श्री लक्ष्मीनाराण मिश्र ने इस विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया, जिसमें विचार करने की बहुत-कुछ सामग्री है। उसमें अधिकांश जो कुछ कहा गया है, उससे तो किसी को इनकार न होगा। जब हमें क़दम-क़दम पर बुद्धि की ज़रूरत पड़ती है, और बुद्धि को ताक पर रखकर हम एक क़दम भी आगे नहीं रख सकते, तो साहित्य क्योंकर इसकी उपेक्षा कर सकता है ? लेकिन जीवन के हरएक व्यापार को अगर बुद्धिवाद की ऐनक लगाकर ही देखे, तो शायद जीवन दूभर हो जाये। भावुकता को सीधे रास्ते पर रखने के लिए बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है, नहीं तो आदमी संकटों में पड़ जाये। इसी तरह बुद्धि पर भी मनोभावों का नियन्त्रण ज़रूरी है, नहीं तो आदमी जानवर हो जाये, बल्कि राक्षस हो जाये। बुद्धिवाद हरएक चीज़ को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। बहुत ठीक ! अगर साहित्य का जीवन में कोई उपयोग न हो तो वह व्यर्थ की चीज़ है। वह उपयोग इसके सिवा क्या हो सकता है कि वह जीवन को ज़्यादा सुखी, ज़्यादा सफल बनाये, जीवन की समस्याओं को सुलझाने में मदद दे या जैनेन्द्र जी के शब्दों में, प्रकृति और जीवन में सामंजस्य उत्पन्न करे। कोरी भावुकता यदि यह सामंजस्य नहीं पैदा कर सकती, तो शायद कोरा बुद्धिवाद भी नहीं कर सकता। दोनों का समन्वय होने से ही वह एकता पैदा हो सकती है। सच पूछिए, तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी ही ज़रूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाये। वैराग्यवाद में दुःखवाद और निराशावाद, ये सब जीवन-बल को कम करने वाली चीज़ें हैं और साहित्य पर इनका आधिपत्य हो जाना जीवन को दुर्बल कर देगा लेकिन उसी तरह बुद्धिवाद और तर्कवाद और उपयोगितावाद भी जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौड़ने दिया गया। बिजली की हमें इतनी ही ज़रूरत है कि मशीन चलती रहे; अगर करेण्ट ज़्यादा तेज़ हो गया तो घातक हो जायेगा। दाल में घी ज़रूरी चीज़ है। एक चम्मच और पड़ जाये तो और भी अच्छा, लेकिन घी पीकर तो हम नहीं रह सकते। मथुरा में कुछ ऐसे जन्तु पाये जाते हैं जो घी

के लोंदे-के-लोंदे खा जाते हैं; लेकिन उसमें भी वे खूब शक्कर मिला लेते हैं वरना उनकी भस्मक जठराग्नि भी जवाब दे जाये। बुद्धिवाद का आचार्य बर्नार्ड शॉ भी तो अपने नाटकों में हास्य और व्यंग्य और चुटकियों की चाशनी मिलाता है। वह ज़बान से चाहे कितनी ही बुद्धिवाद की हाँक लगाये, मगर भावुकता उसके पोर-पोर में भरी हुई है। वर्ना वह क्यों रॉल्स राइस कार पर सवार होता ? क्या मामूली बेबी ऑस्टिन से उसका काम नहीं चल सकता था ? उसके बुद्धिवाद पर मिसेज़ शॉ की भावुकता का नियन्त्रण न होता तो शायद आज वह पागलख़ाने की हवा खाता होता। मनुष्य में न केवल बुद्धि है, न केवल भावुकता—वह इन दोनों का सम्मिश्रण है—इसलिए आपके साहित्य में भी इन दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। बुद्धिवाद तो कहेगा कि रस एक व्यर्थ की चीज़ है। प्रेम और वियोग, क्रोध और मोह, दया और शील, ये सब उसकी नज़र में हेय हैं। वह तो केवल न्याय और विचार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है। उसका मन्त्र लेकर हमारी मानवता इतनी क्षीण हो जायेगी कि हवा से उड़ जाये। एक उदाहरण लीजिए।

एक मुसाफ़िर को डाकुओं ने घेर लिया है। अगर संसार में समष्टिवाद का राज हो गया है, तो निश्चय रूप से डाकू न होंगे। तो एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक स्त्री को कुछ लम्पटों ने घेर लिया है—समष्टिवाद भी लम्पटता का अन्त नहीं कर सकता—उसी वक़्त एक मुसाफ़िर उधर से आ निकलता है। भावुकता कहती है—भगा दो इन बदमाशों को और इस देवी का उद्धार करो। बुद्धिवाद कहेगा—मैं अकेला इन पाँच आदमियों का क्या सामना करूँगा ! व्यर्थ में मेरी जान भी जायेगी। लम्पट लोग स्त्री की हत्या न करेंगे लेकिन मेरा तो खून ही पी जायेंगे। यहाँ भावुकता ही मानवता है। बुद्धिवाद कायरता है, दुर्बलता है। प्रेम के आडम्बरों को निकाल दीजिए, तो वह केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा है। मगर शायद बाबा आदम ने भी बीवी हव्वा से सीधे-सीधे यह न कहा होगा—मैं तुमसे सन्तानोत्पत्ति करना चाहता हूँ, इसलिए तुम मेरे पास आओ ! उन्हें भी कुछ-न-कुछ नाज़बरदारी करनी पड़ी होगी। अगर ब्रजभाषा वालों का रति-वर्णन घृणास्पद है, तो बुद्धिवाद का यह लक्कड़तोड़ अनुरोध भी नंगी बर्बरता है। फिर उस बुद्धिवाद को लिखकर ही क्या कीजिए जब कोई उसे पढ़े ही नहीं। अभी किसी बुद्धिवादी साहित्यिक डिक्टेटर का राज़ तो है नहीं, कि वह छायावाद को दफ़ा 124 के अन्दर ले ले। आप जनता तक तभी पहुँच सकते हैं, जब आप उसके मनोभावों को स्पर्श कर सकें। आपके नाटक या कहानी में अगर भावुकता के लिए रस नहीं है, केवल मस्तिष्क के लिए सूखा बुद्धिवाद है, तो नाटककार और नटों के सिवा हॉल में कोई दर्शक न होगा। हँसना और रोना भी तो भावुकता ही है। बुद्धि क्यों रोये ? रोने से मुर्दा जी न उठेगा। और हँसे भी क्यों ? जो चीज़ हाथ आ गयी है वह हँसने से ज़्यादा क़ीमती न हो जायेगी। ऐसा सूखा साहित्य अगर अमृत भी हो तो पड़ा-पड़ा भाप बनकर उड़ जायेगा। साहित्य में जीवन-बल की क्षमता होनी चाहिए। यहाँ तक तो हम आपके साथ हैं; लेकिन

वुद्धिवाद ही यह जीवन-वल दे सकता है, मनोभावो द्वारा यह शक्ति मिल ही नही सकती, यह हम नहीं मानते। आदर्श साहित्य वही है जिसमें बुद्धि और मनोभाव दोनों का कलात्मक सम्मिश्रण हो। बुद्धि के लिए दर्शन है, शास्त्र है, विज्ञान है और अनन्त ज्ञान-क्षेत्र है। क्या वह साहित्य और कला मे भी मनोभावों-मनोवेगो को नही रहने देना चाहता ?

(हिन्दी में : 'हंस', मई, 1935
उर्दू में : अप्रकाशित)

महाजनी सभ्यता

मुज़दः एदिल कि मसीहा नफ्से मी आयद;
कि स अनफ़ाज़ खुशश बूए-कसे मी आयद।[1]

जागीरदारी सभ्यता में बलवान् भुजाएँ और मज़बूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञा-पालन उसके आवश्यक साधन थे; पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गये थे। जागीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को क़ानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजा-पालन भी करता था, न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए या अपनी आनबान, रोब-दाब क़ायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना कदापि न होता था। कारण, यह कि राजा और सम्राट जनसाधारण को अपने स्वार्थसाधन और धनशोषण की भट्ठी का ईंधन न समझते थे; किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुणों की क़द्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में तो सारे कामों की गरज़ महज़ पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज़्यादा-से-ज़्यादा नफ़ा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बँट ग्या है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियाअत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाये। अधिक दुःख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और

1. हृदय, तू प्रसन्न हो कि पीयूष-पाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगन्धि आ रही है!

सिद्धान्त शासित वर्ग के भीतर भी समा गये हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज। वह खुद समाज से बिलकुल अलग है; अगर कोई सम्बन्ध है, तो यह कि किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठाया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानस-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफ़त, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता-स्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला–सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों में हैं। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम हैं कि वह बिना लम्बी फ़ीस लिये बात नहीं करते। वकील और बैरिस्टर हैं कि वे मिनटों को अशर्फ़ियों से तौलते हैं। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। मौलवी साहब और पण्डितजी भी पैसे वालों के बिना पैसे के गुलाम हैं। अख़बार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग़ पर इतना क़ब्जा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखायी देता है। वह दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममता से शून्य जड़यन्त्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नीति-नियम गढ़ लिये हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सबसे बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज़ की नब्ज पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सुई पर। उनका एक-एक मिनट एक-एक अशर्फ़ी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फ़ी नज़र की है, तो वह उसे एक मिनट से ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुःखगाथा सुनाने के लिए बेचैन हैं; पर डॉक्टर साहब का उधर बिलकुल ध्यान नहीं, उन्हें उससे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। उनकी निगाह में उस व्यक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि वह उन्हें फ़ीस देता है। वह जल्द-से-जल्द नुस्खा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जायेंगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घण्टा वक़्त बँधा है। घड़ी सामने रख लेते हैं, जैसे ही घण्टा पूरा हुआ, वह उठ खडे हुए। लड़के का सबक अधूरा रह गया है तो रह जाये, उनकी बला से! अधिक समय कैसे दे सकते हैं क्योंकि समय रुपया है! इस धन-लोभ ने मनुष्यता और मित्रता का नाम-शेष कर डाला है। पति को पत्नी या लड़कों से बात करने की फुर्सत नहीं, मित्र और सम्बन्धी किसकी गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ समय-नाश है। बिना खाये-सोये काम नहीं चलता, बेचारा इससे लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या सम्बन्धी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिए, उसके यहाँ अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे। मुश्किल से आपसे एक-दो बात करेंगे या साफ़ जवाब दे देंगे कि आज फ़ुर्सत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी हैं, मित्रता और शील-संकोच के नाम पर कब की तिलांजलि दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुक़दमे मे फँस गये हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिए। अगर वह मुरव्वत को गंगा में डुबो नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा; पर आपके मुक़दमे की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कही अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जायें और उसकी पूरी फ़ीस अदा करे। ईश्वर न करे कि आप किसी को किसी चीज़ मे कमाल हासिल हो जाये, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायेगी, उसका एक-एक-मिनट क़ीमती हो जायेगा।

इसका अर्थ यह नही कि व्यर्थ की गपशप मे समय नष्ट किया जाये; पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना न बढ़ने दिया जाये कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के गुलाम को बुरा नही कह सकते। सारी दुनिया जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओ का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थी, उस समय लोग इन्ही का अर्जन-अभ्यास करते थे। अब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मजबूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसी की उपासना-आराधना करे। वह कोई साधु-महात्मा, सन्यासी-उदासी नही; वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके है, वह उसी राज-मार्ग के पथिक थे, जिस पर वह खुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह सबको इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते देखता है, तो उन्ही के पद-चिह्नों का अनुसरण करता है। इसमें उसका क्या दोष ? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटायी नही जा सकती। वह देख रहा है कि जिनके पास दौलत नही, और इसलिए नही कि उन्होंने वक्त को दौलत नही समझा, उनको कोई पूछने वाला नही। वह अपने पेशे में उस्ताद है, फिर भी उसकी कही पूछ नहीं। जिस आदमी मे तनिक भी जीवन की आकाक्षा है वह तो इस उपेक्षा की स्थिति को सहन नही कर सकता। उसे तो मुरव्वत, दोस्ती और सौजन्य को धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा, तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा। और यह कोई इच्छाकृत कार्य नहीं; किन्तु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की आस्था अपने-आप कुछ इस तरह की हो गयी है कि उसे धनार्जन के सिवा और किसी काम से लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में आध घण्टा बैठना पड़े, तो समझ लो कि वह क़ैद की घड़ियाँ काट रहा है, उसकी सारी मानसिक, भावगत और

सांस्कृतिक दिलचस्पियाँ किसी केन्द्र-बिन्दु पर आकर एकत्र हो गयी हैं। और क्यों न हों ? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका और कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी ग़रज लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन-सम्बन्धी भी उसके पैसे के ही पुजारी हैं। वह जानता है कि अगर वह निर्धन होता, तो यह जो दोस्तों का जमघटा लग रहा है, उनमें से एक के भी दर्शन न होते; इन स्वजन-सम्बन्धियों में से एक भी पास न फटकता। उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बचाना है, लड़कों के लिए कुछ कर जाना है जिससे उन्हें दर-दर ठोकरें न खानी पड़ें। इस निष्ठुर सहानुभूतिशून्य दुनिया का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पड़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं एवं उमंगों पर पाला गिरा देती हैं हिम्मत-हौसले को तोड़कर रख देती हैं। उसे वे सारी मंज़िलें, जो एक साथ जीवन के आवश्यक अंग हैं, खुद तय करनी होंगी और जीवन को व्यापार के सिद्धान्त पर चलाये बिना वह इनमें से एक भी मंज़िल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस', अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं। पुराने जीवन-सिद्धान्त में वह लट्ठमार साफ़गोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है, जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुज़र है, न मुरव्वत का, न इन्सानियत का। 'बिज़नेस' में दोस्ती कैसी ! जहाँ किसी ने इस सिद्धान्त की आड़ ली और आप लाजवाव हुए। फिर आपकी ज़वान नहीं खुल सकती। एक सज्जन ज़रूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करें। यह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद की दर में वह कुछ रिआयत कर दें; पर जब देखते हैं कि वह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं, तो कुछ रिआयत की प्रार्थना करते हैं, मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आँखों में आँसू भरकर वड़े करुण स्वर में कहते हैं, "महाशय, मैं इस समय बड़ा परेशान हूँ, नहीं तो आपको कष्ट न देता, ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिए। समझ लीजिए कि एक पुराने दोस्त ···।" वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फ़रमाया जाता है, "लेकिन जनाव, आप 'बिज़नेस इज़ बिज़नेस' इसे भूल जाते हैं !" उसी क्षण कातर प्रार्थी पर मानो बम का गोला गिरता है। अब उसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धान्त के भक्त मित्र की सारी शर्तें क़बूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नयी रीति-नीतियाँ चलायी हैं उनमे सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धान्त है। मियाँ-बीवी में बिज़नेस, वाप-बेटे में बिज़नेस, गुरु-शिष्य में बिज़नेस ! सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है तो बिज़नेस का। लानत है इस 'बिज़नेस' पर ! लड़की अगर दुर्भाग्यवश क्वाँरी रह गयी

और अपनी कोई जीविका न निकाल सकी, तो उसे अपने बाप के घर में ही लौण्डी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियाँ सभी घरों में काम-काज करते ही हैं, पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता; पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक ख़ास उम्र के बाद लौण्डी और अपने भाइयों की मज़दूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और माँ अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-सम्बन्धी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर आये तो मेहमान है। अक्सर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बना सब-कुछ अपने लिये।

पर यहाँ भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान-प्रतिष्ठा, वही भविष्य की चिन्ता, वही अपने बाद बीवी-बच्चों की गुज़र का सवाल, वही नुमाइश और दिखावे की आवश्यकता हरएक की गर्दन पर सवार है, और वह हिल नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन न करे तो उसका भविष्य अन्धकारमय है।

अब तक दुनिया के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा कोई उपाय न था। उसे झख मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने जोम में फूला फिरता था। सारी दुनिया चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वज़ीर उसका गुलाम, सन्धि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाये हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला!

परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य-प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने वाली बतायी जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नयी-नयी हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले-से-काले रंग में रँगी जा रही हैं, कुत्सित-से-कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही हैं। उन सभी साधनों से, जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्सन्देह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे, नाखून और दाँत

तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीता रहकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफ़े के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने सड़े-गले माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराये। अगर इसकी स्वाधीनता है तो निस्सन्देह नयी सभ्यता में स्वाधीनता नहीं। पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जन-साधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ़-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी और सस्ते सद्यःसुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है, वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहाने वाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ़्तख़ोर जमात के दम्भमय उपदेशों और अन्धविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्सन्देह वहाँ इस स्वतन्त्रता का अभाव है; पर धर्म-स्वातन्त्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है, वहाँ ईर्ष्या-द्वेष, ज़ोर-ज़बर्दस्ती, बेईमानी, झूठे, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो ? सतीत्व-विक्रय क्यो हो और व्यभिचार क्यों हो ? झूठे मुक़दमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों ? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन हैं; पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने ही इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए पुलिस-अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठे, असम्भव है। पैसा अपने साथ ये सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने-आप मिट जायेंगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना तो बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता; बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुन्दरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन रखना वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता है—धार्मिक दृष्टि से नहीं, किन्तु शुद्ध सामाजिक दृष्टि से; क्योंकि शराबख़ोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अव्यवस्था और श्रमशीलता का अन्त

हो जाता है।

हाँ, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-साधारण को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह-तरह के बहानों से उनकी मेहनत का फ़ायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रक़में उड़ाये और मूँछों पर ताव देता फिरे। वहाँ ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुम्बी प्रसादों में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुज़र करनी पड़ती है। उसकी श्रीमतीजी रानी साहिबा या बेगम बनी हुई स्कूलों में इनाम बाँटती नहीं फिरती; बल्कि अक्सर मेहनत-मजदूरी या किसी अख़बार के दफ्तर में काम करती है। सरकारी पद पाकर व्यक्ति अपने को लाट साहब नहीं, बल्कि जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज-व्यवस्था को क्यों पसन्द करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चाँदी के ढेर लगाने की सुविधाएँ नहीं। पूँजीपति और ज़मींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही काँप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वे लोग भी जो अनजान में महाजनी सभ्यता का समर्थन कर रहे हैं, उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फ़बतियाँ कसने लगते हैं तो हमें उनकी इस दास-मनोवृत्ति पर हँसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौन्दर्य-बोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिसकी नींव लोभ, स्वार्थपरता और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की सम्पत्ति दी है, तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका खून चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा, और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरु-दक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक जैसा ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूल-स्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए भी कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकायेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

हिन्दी में : 'हंस', सितम्बर, 1936)

(उर्दू में : 'कलीम', अगस्त, 1936 में प्रकाशित

नाटक

प्रेम की वेदी

पहला दृश्य

एक बँगलानुमा मकान, सामने बराण्डा है, जिसमें ईंटों के गोल खम्बे हैं। बराण्डे में दो-तीन मोढ़े बेढंगेपन के साथ रखे हुए हैं। बरामदे के पीछे तीन दरवाज़ों का एक कमरा है। कमरे के दोनों तरफ़ दो कोठरियाँ हैं। कमरे में दरी का फ़र्श है जो कई जगह फटा हुआ है। बीच में एक गोल मेज़ है, जिस पर मेज़पोश पड़ा हुआ है और एक गुलदस्ता रखा हुआ है, जिसके फूल सूख गये हैं। पाँच बेंत की कुरसियाँ हैं, जिन पर गर्द पड़ी हुई है; पर मैली और फटी हुई। दीवारों पर कई ईसाई-धर्म विषय के पुराने चित्र हैं, जिन पर गर्द पड़ी है। एक कैलेण्डर है और एक तरफ़ एक बड़ा शीशा। दाहिनी तरफ़ वाली कोठरी में दो कोच हैं, बेंत के; मगर टूटे हुए। नायीं तरफ़वाली कोठरी में एक कुरसी और प्यानो है। कमरे के पीछे वाली दीवार में एक दरवाज़ा है, जो अन्दर जाता है। भीतर एक छोटा-सा आँगन है। आँगन में पानी का नल और मुर्गियों का दरबा है। एक कोने में बावर्चीख़ाना है। सभी दरवाज़ों पर मैले परदे पड़े हुए हैं। मिस जेनी बायीं तरफ़वाली कोठरी में प्यानो पर बैठी गा रही है। उसकी उम्र 18-20 साल की होगी,, साँवला रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, हलके गुलाबी रंग की साड़ी पारसी फ़ैशन से पहन हुए। रहन-सहन से ऐसा मालूम होता है, कि औसत दरजे का ईसाई परिवार है। फ़र्नीचर, फ़र्श सब कुछ उसी तरह का है, जैसा गुदड़ी बाज़ार में मिला करता है। मिस जेनी गाती है–'कभी हमसे तुमसे भी प्यार था, तुम्हें याद हो कि न याद हो।' मिसेज़ गार्डन अन्दर से आँखें मलती आती है। वह अधेड़ स्त्री है, गोरी, सिर के बाल खिचड़ी, मुख से चिन्ता झलक रही है। वह स्कर्ट पहने हुए है। स्कर्ट मैला हो गया है, जो उसके निर्बल शरीर पर खिलता नहीं।

मिसेज़ गार्डन– आज विलियम आता होगा। तू अभी तक यूँ ही बैठी हुई है ?

जेनी– तो क्या करूँ, नाचूँ, या ढोल बजाऊँ ?

मिसेज़ गार्डन– इसी तरह मेहमानों का स्वागत किया जाता है ? अभी तक न मुँह धोया, न कुछ मेक-अप किया।

जेनी– मैंने कह दिया, मेरी तबीयत उनसे नहीं मिलती। आप बरबस उनके पीछे पड़ी हुई हैं।

मिसेज़ गार्डन– तुम तो बेटी, कभी-कभी ऐसी बातें करने लगती हो, जैसे घर का हाल कुछ जानती ही न हो। विलियम में क्या बुराई है, जरा सुनूँ ? या यह भी कोई ज़िद है कि मेरी तबीयत उससे नहीं मिलती। अच्छा-ख़ासा जवान है। शक्ल-सूरत भी बुरी नहीं, बड़ा ही हँस-मुख, बड़ा नेक चलन, बड़ा चरित्रवान, न शराब से मतलब, न किसी और शौक़ से, और मुझे कैसा आदमी चाहिए चार पैसे कमाता है, घर में भी कुछ जायदाद है, और आदमी में क्या चाहिए। फैशनेबल नहीं है, यही ऐब है। मगर तू इसे ऐब समझ, मैं तो हुनर समझती हूँ। मैं सच कहती हूँ, बूढ़ी न होती, तो उससे ज़रूर शादी कर लेती। तुम्हारे पापा को गुज़रे आज पाँचवाँ साल है। हाथ में जो कुछ था, वह सब निकल गया। अब काम कैसे चले ? माना अब तू ग्रेजुएट हो गयी; लेकिन ऐसी कौन-सी बड़ी नौकरी तुझे मिली जाती है। ज़्यादा- से-ज़्यादा सौ की। तेरे पापा पाँच सौ लाते थे, तब गुज़र होता था, और चार पैसे हाथ में रह गये। विलियम की आमदनी चार-पाँच सौ से कम नहीं है। फिर यह अच्छा भी तो नहीं लगता, कि औरत अपऩी गुंज़र-बसर के लिए नौकरी करे। मैं इसे पसन्द नहीं करती। मुझे सौ रुपये की जगह मिलती थी; लेकिन तेरे पापा कभी राज़ी न हुए।

जेनी– मैं तो आप से कह चुकी, मैं शादी नहीं करना चाहती।

मिसेज़ गार्डन– आख़िर क्यों, वही तो पूछती हूँ।

जेनी– इसलिए कि मैं किसी मर्द की गुलामी पसन्द नहीं करती।

मिसेज गार्डन– शादी करना गुलामी है ? वे सभी औरतें जो शादी करती हैं, गुलाम हैं ?

जेनी– गुलाम नहीं तो और क्या हैं। रानियाँ हैं, वह भी गुलाम हैं। मजदूरिनें हैं, वह भी गुलाम हैं। मर्द की दुनिया वह है, जहाँ नाम है, धन है, सम्मान है। स्त्री की दुनिया वह, जहाँ पिसना और घुलना और कुढ़ना है। हर काम में औरत को मर्द की जवाबदेही करनी पड़ती है। अगर उसने चार पैसे ज़्यादा ख़र्च कर दिये, तो मर्द की त्योरियाँ चढ़ गयीं। मर्द के नाश्ते में ज़रा देर हो गयी, तो औरत के सिर आफ़त आ गयी। अगर वह वग़ैर मर्द से पूछे कहीं चली गयी, तो मर्द उसके ख़ून का

प्यासा हो गया। अगर किसी मर्द से हँसकर बोली, तो फिर समझ लो कि उसकी कुशल नहीं। दिखाने को तो मर्द स्त्री की बड़ी इज़्ज़त करता है, मोटर पर अच्छी जगह स्त्री की है, सलाम पहले मर्द करता है, स्त्री का ओवरकोट पुरुष सँभालता है, स्त्री का हाथ पकड़कर गाड़ी से उतारता है, पहले स्त्री को बिठाकर आप बैठता है; लेकिन यह सब दिखावे का शिष्टाचार है। पुरुष दिल में खूब समझता है कि उसने स्त्री की वह चीज़ छीन ली जिसकी पूर्ति में वह जितनी ख़ातिरदारी करे, वह थोड़ी है। वह चीज़ स्त्री की आज़ादी है।

मिसेज़ गार्डन– तेरे विचार बडे विचित्र हैं जेनी !

जेनी– विचित्र नहीं, यथार्थ हैं। हम अपने टामी की कितनी ख़ातिर करते हैं। उसे ताँगे पर साथ बैठाते हैं, गोद में उठाते हैं, उसका मुँह चूमते हैं। गले से लगाते हैं, उसे साबुन से नहलाते हैं ; लेकिन क्या बराबर हमारे मन में यह भाव नहीं रहता, कि यह हमारा कुत्ता है ? उसने ज़रा भी कोई काम हमारी इच्छा के विरुद्ध किया और हमने उस पर हण्टर जमाया। पुरुष विवाह करके स्त्री का स्वामी हो जाता है। स्त्री विवाह करके पुरुष की लौंडी हो जाती है। अगर वह पुरुष की खुशामद करती रहे, उसके इशारों पर नाचती रहे, तो उसके लिए रुपये है, गहने हैं, रेशमी कपड़े हैं, उस पर जान छिड़की जाती है, हृदय न्योछावर किया जाता है; लेकिन स्त्री ने ज़रा भी स्वेच्छा का परिचय दिया, ज़रा भी आत्म-सम्मान प्रकट किया, फिर वह त्याज्य है, कुलटा है। पुरुष उसे क्षमा नहीं कर सकता। पुरुष कितना ही दुराचारी हो, स्त्री जबान नहीं हिला सकती। उसका धर्म है, पुरूष को अपना खुदा समझे। मैं यह नहीं बरदाश्त कर सकती।

मिसेज़ गार्डन– मैं समझती हूँ, तेरी बातों में बहुत कुछ सच्चाई है; लेकिन गुज़ारे की तो कोई फ़िक्र करनी ही पड़ेगी।

जेनी– तो क्या तुम समझती हो, मैं निश्चिन्त हूँ; पर यह न समझना, मैं सौ-पचास की टीचरी करके लड़कियों को ग्रामर रटाऊँगी। अगर तकदीर ने मदद की, तो मैं दिखा दूँगी कि मैं कितना कमा सकती हूँ; विलियम कभी उसका स्वप्न भी नहीं देख सकता।

(मिस उमा आती है। बड़ी रूपवती। माँग का सिन्दूर और भाल-तिलक बतला रहा कि वह विवाहिता है। उनकी गोल कलाई पर जड़ाऊ कंगन है, गले में जड़ाऊ हार, मूल्यवान बनारसी साड़ी पहने हुए, बहुत प्रसन्न वदन, मानो संसार में बसन्त-ही बसन्त, फूल-ही-फूल हैं।)

जेनी– **(कुर्सी पर बैठे-बैठे)** मैं पहले कुरसी से उठकर तुम्हारा सत्कार करती थी; लेकिन आज न उठूँगी। इसलिए कि तुम मेरी निगाह में वह नहीं

रहीं, जो पहले थीं।

उमा– क्यों ? क्या मैं कुछ और हो गयी हूँ ?

जेनी– बेशक ! पहले तुम स्वतन्त्र कुमारी थीं। अब तुम एक पुरुष की दासी हो।

उमा– (मुसकुराकर) लेकिन तुम्हारी सहेली तो हूँ। तुम्हारे साथ पढ़ी तो हूँ, तुम्हारे साथ खेली तो हूँ। यदि मैं अपने पद से गिर गयी हूँ, तब तो तुम्हें मेरा और सत्कार करना चाहिए जिसमें मुझे दुःख न हो।

जेनी– अगर तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ गयी होती–ईश्वर न करे–तो मैं तुम्हारे पैरों-तले आँखें बिछाती; लेकिन तुमने जान-बूझकर अपने पैरों में बेड़ियाँ डाली हैं, अपनी स्वाधीनता, को, अपनी आत्मा को, सोने और रेशम पर बेचा है।

उमा– (हँसकर) अच्छा, ईमान से कहना, मैं पहले से ज़्यादा खूबसूरत नहीं मालूम हो रही हूँ ?

जेनी– अपने स्वामी की आँखों में मालूम होती होगी। मेरी आँखों में तो तुम्हारा रूप-लावण्य इस सोने और रेशम के नीचे दबा-सा मालूम होता है।

उमा– देखो यह कंगन, कितना बारीक़ काम है !

जेनी– (मुँह फेरकर) ग़ुलामी की हथकड़ी है।

उमा– यह हार देखो, हीरे जड़ें हैं।

जेनी– ग़ुलामी का तौक है।

उमा– (कुछ चिढ़कर) जिसे तुम ग़ुलामी की हथकड़ी और ग़ुलामी का तौक़ कहती हो, उसे मैं व्रत और कर्तव्य और आत्म-समर्पण का चिह्न समझती हूँ।

जेनी– यह व्रत यह कर्तव्य और यह आत्म-समर्पण एकतरफ़ा क्यों है ? तुम्हारे ही लिए क्यों इन चिह्नों की ज़रूरत है ? तुम्हारे पति के लिए क्यों ज़रूरी नहीं ? जहाँ तक मेरा अनुभव है, उसके हाथों में न चूड़ियाँ हैं, न कंगन है, न गले में हार है, न माथे पर सिन्दूर का टीका है। यह क्यों ? तुम्हें अपने व्रत पर स्थिर रखने के लिए बन्धन चाहिए, उसे बन्धन की ज़रूरत नहीं ?

(उमा निरुत्तर हो जाती है और उपालंभ की दृष्टि से मिसेज़ गार्डन की ओर देखती है।)

उमा– सुनती हैं मामा, आप इनकी बातें ?

मिसेज गार्डन– मैं इसे कुबुद्धि कहती हूँ। निरी मूर्खता।

जेनी– (विजय भाव से)जवाब दो न। क्यों तुम्हारे पति ने इन बन्धनों को स्वीकार नहीं किया ? क्यों तुम्हारे लिए इन बन्धनों को लाज़िम समझा

गया ? कर्तव्य और प्रेम उसके लिए भी उतना ही आवश्यक है, जितना तुम्हारे लिए। तुम्हें अपने कर्तव्य की याद दिलाते रहने के लिए निशानियों की ज़रूरत है, उसे क्यों नहीं ? इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है, कि तुम ग़ुलाम हो, वह आज़ाद है।

उमा– (एक जवाब सूझता है) पुरुष अपने कर्तव्य की ओर से आँखें बन्द कर ले, तो क्या स्त्री भी बन्द कर ले ? अगर पुरुष अपने व्रत का पालन न करे, अपनी आत्मा को भूल जाय तो क्या स्त्री भी भूल जाय ? मेरा विचार है कि स्त्री परिवार का मुख्य अंग है; इसलिए उसे बन्धनों की ज़्यादा ज़रूरत है। उसी तरह जैसे शूद्रों के लिए किसी निशानी की ज़रूरत नहीं, पर द्विजों के लिए यज्ञोपवीत अनिवार्य है।

जेनी– लचर दलील है। असली बात यह है, कि आदि में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती थी, उसी तरह जैसे पशु, अनाज या घर। जैसे आज जायदाद पर डाके पड़ते हैं, चोरियाँ होती हैं उसी तरह उस समय भी होता था। लड़की बहुधा सबसे बहुमूल्य सम्पत्ति समझी जाती थी। इसलिए ज्यों ही वह सयानी हो जाती थी, उस पर डाके पड़ने लगते थे। पुरुष अपने सूरमाओं को लेकर अस्त्र-शस्त्र के साथ, लड़की के ऊपर छापा मारता था। दोनों दलों में खूब लड़ाई होती थी, खूब रक्तपात होता था। लुटेरे विजय पाते, तो लड़की को ले भागते और उसके साथ घर में जो चल सम्पत्ति मिल जाती, उसे भी उठा ले जाते। लड़की वाले रो-पीटकर रह जाते थे। कन्या विजेताओं के घर में क़ैद कर दी जाती थी। उसके हाथों में हथकड़ियाँ डाल दी जाती थीं, पैरों में बेड़ियाँ, गले में तौक़ और उस संग्राम के स्मृति-स्वरूप उसके माथे पर रक्त का टीका लगा दिया जाता होगा, जिससे कन्या समझती रहे कि उसने कभी भागने का प्रयत्न किया, तो उसकी भी वही दशा होगी जो उसके घरवालों की हुई है। कन्या को कभी घरवालों की याद न आये, वह इन नये स्वामियों को ही अपना सर्वस्व समझने लगे, इसलिए कन्या को उपदेश दिया जाता था कि पति ही तेरा स्वामी है, तेरा देवता है, उसको प्रसन्न रखकर ही तू स्वर्ग में जाएगी। यह है इन निशानियों का तथ्य। आज उन पाशविक प्रथाओं का रूप कुछ बदल गया है अवश्य ; किन्तु मूलाधारवही है। नयी संस्कृति ने कुछ लेप-थोप की है; लेकिन पुरुषों की मनोवृत्ति अब भी वही है और समाज-संस्था का आचार भी वही है। बिलकुल वही।

मिसेज़ गार्डन– यह तुम्हारे मस्तिष्क की उपज है या तुमने कहीं पढ़ा है ?

जेनी– यह एक बड़े फ्रांसीसी तत्त्ववेत्ता के विचार हैं।

मिसेज़ गार्डन– तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी होगी। स्त्री-पुरुष दोनों अपनी रुचि

के अनुसार अपना-अपना बनाव-सिंगार करते हैं। स्त्री पुरुष को आकर्षित करना चाहती है, पुरुष स्त्री को। पुरुष में पशुबल अधिक है, स्त्री में बुद्धिबल अधिक है, इसलिए बाहर की कड़ी मेहनत-मजूरी, लड़ाई-दंगा मर्द के हिस्से पड़ा, भीतर का काम औरत के हिस्से आया। मैंने तो बड़े-बड़े राजाओं को हीरों के हार और मोतियों के कंगन पहने देखा है। फिर देस-देस का रिवाज़ अलग-अलग है। भूटान में तो स्त्री-पुरुष एक-से जान पड़ते हैं। पता ही नहीं चलता, कौन स्त्री है, कौन पुरुष। मज़दूर औरतें भी बहुत कम गहने पहनती हैं। योरप में साधारणतः स्त्रियाँ गहने पहनती ही नहीं हैं। केवल ऊँचे कुलवाली महिलाएँ दो-एक चीज़ पहन लेती हैं। भारत में पोर-पोर गहनों से लदा होता है। अपने-अपने देश की प्रथा है।

जेनी– आप इसे स्वीकार नहीं करतीं कि पुरुष स्त्री पर शासन करता है ?

मिसेज़ गार्डन– नहीं। अगर ऐसे पुरुष हैं, जो स्त्री पर शासन करते हैं, तो ऐसी स्त्रियाँ भी जो पुरुष पर शासन करती हैं। मैं खुद तुम्हारे पापा पर शासन करती थी। वह मुझसे पूछे बिना किसी से मिलने भी न जाते थे। उन्हें लौटने में एक मिनट की भी देर हो जाती थी, तो मैं उनकी बुरी तरह ख़बर लेती थी। यह मैं मान लूँगी कि पुरुष में यह प्रवृत्ति अधिक होती है लेकिन इसका कारण यही है कि पुरुष ने पशुबल के साथ बुद्धिबल में भी उन्नति की, हमने आलस्य और विलास में पड़कर हर तरह से अपनी मिट्टी ख़राब कर ली। समाज की यह जो वर्तमान अधोगति है, इसकी जिम्मेदारी स्त्री-पुरुष दोनों ही पर आती है। केवल पुरुषों को इलजाम देना अन्याय है।

जेनी– यह तो आप मानेंगी ही कि नब्बे फ़ीसदी पुरुष व्यभिचारी होते हैं। ऐसा कोई बिरला ही पुरुष संसार में होगा, जिसने स्त्री पर निगाह न डाली हो।

मिसेज़ गार्डन– अगर ऐसे दगाबाज़ मर्द हैं, तो एसी दगाबाज़ औरतें भी कम नहीं हैं। हो सकता है, मरदों की संख्या अधिक हो; लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि औरतें स्वभावतः विदुषी होती हैं; बल्कि उसे प्रकृति ने जकड़ रखा है। मैं तो मोटी बात यह जानती हूँ कि जो स्त्री-पुरुष सुख-शान्ति से ज़िन्दगी बसर करना चाहते हैं, वह जानते हैं कि पूर्ण विश्वास और प्रेम से ही यह सिद्धि हाथ आ सकती है। जो स्त्री-पुरुष वासना-तृप्ति के उपासक हैं, वह दोनों रोकर और झींककर ज़िन्दगी के दिन काटते हैं।

जेनी– आप तो मामा, आज मरदों की वकालत करने पर तुली हुई हैं।

आपका यही निर्णय है कि पुरुष-स्त्री को अपने बराबर समझता है और उस पर किसी तरह का दबाव नहीं डालता ?

मिसेज़ गार्डन– हाँ , जो पुरुष जीवन का सच्चा अर्थ समझता है, उसका यही व्यवहार होता है। सुशिक्षित जोड़ों में इसका विचार ही नहीं आने पाता कि कौन छोटा है, कौन बड़ा। स्त्री से कोई भूल हुई, पुरुष ने डाँटा। पुरुष से कोई ग़लती हुई, स्त्री ने गरदन नापी। दोनों हर हालत में सन्तुष्ट रहते हैं। मैं यह नहीं कहती कि ऐसा पुरुष सच्चा साधु हो जाता है और उनका मन किसी स्त्री पर चंचल नहीं होता, अथवा हरेक विवाहित स्त्री देवी होती है, लेकिन उन्हें अपने ऊपर निग्रह करना होता है, और कभी-कभी गुप्त प्रेम की आँच में जलकर मर जाना होता है। यदि मुझे अपने पति से अधिक रूपवान् पुरुष को देखकर दिल पर हाथ रखने का अधिकार है, तो मेरे पति को भी मुझसे अधिक रूपवती स्त्री को देखकर यह अधिकार समान रूप से प्राप्त है ; लेकिन हम दोनों समझते हैं कि इस विश्वासघात से हमारे सुख-शान्ति में बाधा पड़ेगी। इसलिए ज़ब्त करते हैं। कुलीन और विचारशील स्त्री-पुरुषों में तो यह भावना आने ही नहीं पाती।

उमा– (प्रसन्न होकर) अब कह जेनी, मामा ने तुम्हारी ज़बान बन्द कर दी या नहीं ?

जेनी– वाह ! इन पुराने विचारों से मेरी ज़बान बन्द हो जाती, तो अब तक मेरी शादी विलियम से हो गयी होती। मेरा तो विचार है, जिन स्त्रियों में कोई व्यक्तित्व नहीं है, कोई उत्साह नहीं है, आदर्श नहीं है, उन्हें विवाह कर लेना चाहिए। लेकिन जिनमें अपने विचार हैं, अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है, जिन्हें कीर्ति और ख्याति की लालसा है, उन्हें अविवाहित रहना चाहिए। अपनी हस्ती को पति की हस्ती मे डुबा देना, इतना बड़ा त्याग है, जो मैं नहीं कर सकती।

(मोटर का हार्न सुनाई देता है।)

उमा– लो, वह महाशय आ पहुँचे। इनके मारे घर से निकलना मुश्किल है। **(मोटर द्वार पर आकर रुकती है और उमा का पति योगराज उतरकर अन्दर आता है । उमा दोनों महिलाओं का अपने पति से परिचय कराती है।)**

योगराज– तुमने मुझसे क्यों न कहा, मिस गार्डन के पास जा रही हूँ, मैं भी तुम्हारे साथ आता।

उमा– तुमने भी तो अपने मित्रों से मेरा परिचय नहीं कराया। मैं क्यों कराती ?

योगराज– मेरे मित्रों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो तुम्हें देखकर मेरा शत्रु न हो जाता। मेरे विचार में तुम्हें अपनी सहेलियों से यह शिकायत न

होगी।

उमा– आप अपने मित्रों की जिस चंचलता से डरते हैं, क्या आप उससे मुस्तना हैं ?

योगराज– था तो नहीं, लेकिन तुमने कर दिया (**मुस्कराता है**)।

उमा– मेरी यह बहन कहती है, स्त्री विवाह करके पुरुष की गुलाम हो जाती है। क्या तुम मुझे अपना गुलाम समझते हो ?

जेनी– (**झेंपकर**) यह इस बहस का अवसर नहीं उमा, आप हमारे मेहमान हैं। हमें आपका कुछ स्वागत करने दो। आपके लिए चाय बनाऊँ ?

(जेनी योगराज को सिर से पाँव तक अनुरक्त नेत्रों से देखकर आँखें झुका लेती है।)

योगराज– जी नहीं, मैं चाय पी चुका हूँ, आप कष्ट न करें।

जेनी– उमा शायद डर रही है, कि मैं चाय में कोई जादू कर दूँगी।

योगराज– मैं तो चाहता हूँ, आप मुझ पर जादू करें, उमा ने मुझ पर जो वशीकरण डाल रखा है, उससे ज़रा छुटकारा तो मिले।

जेनी– आप हैं बड़े भाग्यवान कि उमा जैसी स्त्री पायी।

योगराज– मैंने उस जन्म में कोई बड़ी तपस्या की थी।

उमा– तुम दोनों मिलकर मुझे बनाओगे तो मैं चली जाऊँगी।

(जेनी की आँखें फिर योगराज से मिलती हैं। वह आँखें झुका लेता है। उमा जेनी को तीव्र नेत्रों से देखती है।)

योगराज– (**प्यानो देखकर**) अच्छा, आपको प्यानो का भी शौक है ? फिर तो मेरा जी चाहता है, यहाँ कुछ देर बैठकर संगीत का आनन्द उठाऊँ। क्यों मिस गार्डन, आप हमें निराश तो न करेंगी ?

जेनी– आप तो तकल्लुफ़ की बातें करते हैं बाबूजी ! आइए ! जो कुछ कहिए सुनाऊँ ?

(दोनों प्यनो वाली कोठरी में जाते हैं।)

उमा– (**अधीर होकर**) भाई गाना-वाना सुनाने लगेगी, तो देर होगी। मैंने अम्मा से कहा भी नहीं, चली आयी। वह मुझ पर नाराज़ होने लगेंगी।

जेनी– (**मुस्कराकर**) तो तुम जाओ न। बाबूजी मेरी एक चीज़ सुनकर जाएँगे।

उमा– (**खिसियाकर**) मुझे ड्राइव करना नहीं आता।

जेनी– तो ज़रा देर बैठ जाओ न, अम्मा मार न डालेंगी।

योगराज– नहीं मिस गार्डन, इस वक़्त क्षमा कीजिए। यह दोष मुझ पर आ जाएगा। फिर कभी।

(वह जेनी और मिसेज़ गार्डन से हाथ मिलाता है। उमा भी दोनों से हाथ मिलाती है।)

जेनी— कल आना उमा, और बाबूजी को लाना।

(उमा कोई जवाब नहीं देती। दोनों चले जाते हैं।)

मिसेज़ गार्डन— बड़ा सुशील लड़का है।

जेनी— एक यह आदमी है, एक आप का विलियम। सूरत से उजड्डपन बरसता है। चेहरे पर सौम्यता की परछाई तक नहीं।

मिसेज़ गार्डन— बेटी, सभी आदमी एक-से नहीं होते। यह लोग कुलीन हैं। विलियम का बाप रेलवे-गार्ड था। हाँ, उसने बेटे को अच्छी शिक्षा दिलायी।

जेनी— और आप चाहती हैं कि मैं उस गँवार से विवाह कर लूँ।

मिसेज़ गार्डन— मेरे पास भी दस हज़ार देने को होते, तो मैं भी कोई ऐसा ही वर खोजती। जितना गुड़ डालोगी, उतना ही मीठा तो होगा।

जेनी— इसीलिए तो मैंने निश्चय कर लिया है, विवाह न करूँगी। तुमने देखा मामा, उमा कितनी जली जाती थी।

मिसेज़ गार्डन— अभी नयी मुहब्बत है न !

जेनी— देख लेना, इन दोनों में बहुत दिन पटेगी नहीं। उमा अल्हड़ छोकरी है। योगराज रसिया है। महीने-दो-महीने में वह उसकी तरफ़ से ऊब उठेगा।

मिसेज़ गार्डन— नहीं जेनी, देख लेना दोनों जीवन पर्यन्त सुखी रहेंगे।

जेनी— मैं तो कभी पसन्द न करूँ कि कोई मेरे गले में रस्सी डाले फिराया करे।

(मिसेज़ गार्डन चली जाती हैं। जेनी पिआनो पर बैठकर गाने लगाती है—कभी हमसे तुमको भी प्यार था !)

{परदा}

दूसरा दृश्य

(वही मकान, अन्दर का वावर्चीख़ाना। विलियम एक वेंत के मोढ़े पर वावर्चीख़ाने के द्वार पर बैठा हुआ है। मिसेज़ गार्डन पतीली में कुछ पका रही है। विलियम बड़ा भीमकाय, गठीला, पक्के रंग का आदमी है, वड़ी-वड़ी मूँछें, चौड़ी छाती, फ़ौजी जवान-सा मालूम होता है।)

मिसेज़ गार्डन— तुमने कभी प्रोपोज़ भी किया, या यों ही समझ लिया, कि वह इनकार कर देगी ?

विलियम— मेरी हिम्मत ही जवाब दे देती है। औरतों के सम्मुख मर्द इतना मूक हो जाता है, इसका अनुभव मुझे अब हुआ।

मिसेज़ गार्डन— कायर कहो। ऐसे कायर प्राणी कभी फलीभूत नही हो सकते। तुम ताकते ही रह जाओगे और कोई दूसरा आदमी आ कूदेगा।

विलियम— इसकी तो मुझे चिन्ता नही है मिसेज गार्डन, उसका और अपना ख़ून एक कर दूँगा। मैं चाहे जेनी को न पा सकूँगा; पर कोई दूसरा भी उसे मेरे जीते-जी नहीं पा सकता।

मिसेज़ गार्डन— फिर वही उजड्डपन की वात ! अरे तू प्रोपोज क्यों नही करता भई ?

विलियम— कैसे प्रोपोज करूँ, यही तो मुझे नही आता। कई कितावे देखी ; मगर कुछ साफ न खुला।

मिसेज़ गार्डन— उसे कभी पार्क-वार्क मे ले जाओ ओर वहाँ एकान्त मे प्रोपोज़ करो। और मैं क्या बताऊँ !

विलियम— वह जब मेरे साथ कहीं जाय भी। मुझे देखते ही तो उसके चेहरे पर उदासी छा जाती है। चाहती है मैं उठकर चला जाऊँ। कभी ख़ातिर से बैठाए, कुछ बात-चीत करे, तब तो मेरा दिल बढ़े।

मिसेज़ गार्डन— तो क्या तुम साल-भर से यों ही रास्ता नापने आते हो ?

विलियम— मेरी पहुँच तो आप ही तक है।

मिसेज़ गार्डन— तो क्या मुझसे शादी करेगा ? कैसा युवक है ! होशियार मर्द एक घण्टे में औरत को रास कर लेता है, तुम्हें साल-भर दौड़ते हो गया और अभी क ख की नौबत भी नहीं आयी। कुछ तुममें बूता हो तो

में भी ज़ोर लगाऊँ। बछड़ा तो खूँटे ही के बल पर कूदेगा। आख़िर तुमने उसे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अब तक क्या-क्या कार्रवाई की ?

विलियम– मैंने अंग्रेज़ी बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया है।

मिसेज़ गार्डन– खूब ! तो क्या आप अंग्रेज़ी में प्रोपोज़ करेंगे, या वह तुम्हारे अंग्रेज़ी भाषण का प्रवाह देखकर तुम्हारे ऊपर लट्टू हो जाएगी ?

विलियम– मैंने गाना भी सीख लिया है।

मि. गार्डन– यह तुमने बहुत अच्छा किया। वह गाने में कुशल है। सम्भव है रुचि की समानता आगे चलकर मैत्री का रूप धारण कर ले। पिआनो बजा लेते हो ?

विलियम– जी हाँ, अच्छी तरह।

मि. गार्डन– अभी तो जेनी के आने में देर है। अपनी सहेली से मिलने गयी है। चलो देखूँ तुम कैसा पिआनो बजा लेतो हो ?

(दोनों, पिआने वाली कोठरी में जाते हैं। विलियम पिआनो पर एक वेसुरा राग अलपाता है।)

मि. गार्डन– लाहौल बिलाकूबत ! यही आपका गाना है ! खुदा के लिए कहीं उसके सामने न बजाने लगना, नहीं उसे तुम्हारी सूरत से घृणा हो जाएगी।

विलियम– अभी तो सीख रहा हूँ मिसेज़ गार्डन, कुछ दिनों में देखिएगा !

मि. गार्डन– जाओ भी, चले हो गाना सीखने। अच्छा और क्या सीखा ?

विलियम– टेनिस खेलने लगा हूँ।

मि. गार्डन– हाँ, इसकी बड़ी ज़रूरत थी। खूब अच्छी तरह खेल जाते हो ?

विलियम– जी हाँ, कहिए तो दिखाऊँ ?

मि. गार्डन– टेनिस भी तो पिआनो ही की तरह नहीं सीखा है ?

विलियम– नहीं जी, खूब खेलता हूँ। अच्छे-अच्छों के छक्के छुड़ा दिये हैं।

मि. गार्डन– सच ! अच्छा, कमरे में चलकर दिखाओ तो ज़रा अपना खेल छुड़ा दिये हैं।

(दोनों कमरे में आते हैं। मिसेज़ गार्डन खूँटी पर से दोनों रैकेट उतार लेती है। दोनों एक-एक रैकेट लेकर आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। विलियम गेंद सर्व करता है। मिसेज़ गार्डन गेंद को उसकी तरफ़ लौटाती है। वह गेंद की तरफ़ लपकता है और ज़ोर में आकर लुढ़क जाता है। फिर सँभल कर खड़ा होता है।)

मि. गार्डन– यही आपका खेल है ! तुम इसमें भी फेल हो गये। खुदा के लिए कहीं जेनी के सामने न खेलना, नहीं मुफ़्त की भद होगी।

विलियम– मैं गिरा थोड़े ही था। ज़ोर से दौड़ा तो ज़रा पाँव फिसल गया।

मि. गार्डन– अच्छा, टेनिस-सूट तो बनवा लिया है।

विलियम– यह तो मुझसे किसी न बताया ही नही !

मि. गार्डन– शाबाश ! तो यही लांग बूट पहनकर टेनिस खेलते हो ?

विलियम– बूट पहनकर खूब दौड़ते बनता है।

मि. गार्डन– वही हो और क्या। मैं पूछती हूँ, आख़िर तुम किस दुनिया में रहते हो ? पहले टेनिस सूट बनवाओ, तब टेनिस खेलो। यह नहीं कि यह लक्कड़तोड़ जूते और यह नीचा कोट पहनकर टेनिस खेलने लगे। तुम्हारी हँसी उड़ती होगी और क्या ?

विलियम– मुझसे तो लेडी डगलस ने यही कहा कि फौजी आदमियों के लिए टेनिस सूट की ज़रूरत नहीं।

मि. गार्डन– अच्छा, अब आदमी बनना सीखो। यह जंगल-सी मूँछें साफ़ कराओ। वह ज़माना दूसरा था, जब औरत मर्द की मूँछें देखकर खुश होती थीं। मुझे ही ले लो, मूँडी हुई मूँछे मुझे एक आँख नही भाती; लेकिन अब ज़माना बदल गया है। अब स्त्री चाहती है कि मर्द का चेहरा साफ़ हो। बालों का चिह्न तक न हो।

विलियम– तो कल ही लीजिए। इसमें कौन छप्पन टके का खर्च है।

मि. गार्डन– अच्छा, कुछ नाचना-वाचना भी सीखा है ? जेनी बहुत अच्छा नाचती है।.

विलियम– जी हाँ, नाचना तो पहले ही से आता है।

मि. गार्डन– अच्छा ज़रा, दिखाओ।

(विलियम वहीं बन्दरों की भाँति उचकने लगता है। नाचते समय स्थूल शरीर को सँभालने में उसकी मुखाकृति ऐसी विकृत हो जाती है कि मि. गार्डन हँसते-हँसते लोट जाती है।)

मि. गार्डन– रहने भी दो। यह आपका नाच है, जैसे बनैला सुअर किलोल करे। भई, यह बेल मुँढे चढ़ने की नहीं। अभी तुममें बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ है। पहले इनको दूर करो ! तब हिम्मत करके एक दिन प्रोपोज़ करो।

विलियम– त्रुटियाँ तो मैं पूरी कर लूँगा; लेकिन प्रोपोज़ करना टेढ़ी खीर है।

मि. गार्डन– मैं एक बात कहूँ ... ज़रा-सी शराब पी लेना।

विलियम– ऐसा न हो, बहकने लगूँ ?

मि. गार्डन– अजी नहीं, थोड़ी-सी पीना और बढ़िया क़िस्म की, जिसमें मुँह से सुगन्ध आवे; और देखो गँवारों की तरह बात-चीत न किया करो। शिष्टाचार सीखो। पहनावा भी भले आदमियों-सा रखो। टाई और कॉलर रेशमी लो। कोट के बटन में एकाध गुलाब लगा लिया करो। यह मोटा-सोटा लेडियों के पसन्द की चीज़ नहीं। हलकी-सी सोफियानी छड़ी लो। यह तुमने डिबिया-सी घड़ी और ज़ंजीर लगा

रखी है, इसे धता बताओ। सुनहरी घड़ी कलाई पर बाँधो। तुम्हारे घर में कितने नौकर हैं।

विलियम– नौकर ! नौकरों की क्या ज़रूरत है ? एक बूढ़ी दाई है. वह रोटी और गोश्त पका देती है। दोनों वक्त। सुवह को दो सेर दूध खुद दुहालाता हूँ। बूढ़िया विस्तर डाल देती है। और मुझे नौकर की ज़रूरत ही क्या हैं दफ़्तर से आकर दो ढाई सौ हाथ जेलिम के फेर लाता हूँ। खाना खाकर सो जाता हूँ।

मि. गार्डन– कुछ न हो तो एक वेयरा, एक खानसामाँ और एक अर्दली तो होना ही चाहिए। वावरची अलग। एक मेहतर, एक धोबी और एक बागवान भी रखो। और कैसे मालूम होगा कि तुम साहब हो। अभी मोटर न हो तो कोई हरज नहीं; लेकिन साल-दो साल में उसका प्रबन्ध भी करना पड़ेगा। घर में कुछ तसवीरें हैं।

विलियम– जी हाँ, अखबारों में जो अच्छी तसवीर नज़र आ जाती है, फ्रेम करा लेता हूँ।

मि. गार्डन– शावाश ? तव तो तुम आर्ट के बड़े रसिक हो। अच्छा कभी सिनेमा देखने जाते हो ?

विलियम– वहाँ जाकर नींद कौन खराब करे मि. गार्डन ? मुझे तो उस में कुछ मज़ा नहीं आता।

मि. गार्डन– तो तुम निरे गँवार हो। खाना, काम करना और सोना जानते हो। सभ्यता तो जैसे तुम्हें छू नहीं गई ...।

(जेनी को आहट मिलती है। विलियम पिछवाड़े के द्वार वदहवास भागता है !)

जेनी– आज उमा और उसका पति विदा हो गये मामा ! उमा बहुत रोती थी। मेरे गले लिपटकर रोने लगी। मुझे भी रोना आ गया। अब वेचारी न जाने कब आयेगी !

मि. गार्डन– इन लोगों में विदाई के समय रोने का बुरा रिवाज है।

जेनी– क्या जाने मामा ! मुझे तो खुद रोना आ गया था। मैं तो तुम्हारे पास से जाने लगूँ, तो मुझे ज़रूर रोना आये। योगराज एक सिनेमा-कम्पनी का डायरेक्टर है, मामा ! पन्द्रह सौ वेतन पाता है।

मि. गार्डन– अच्छा ! मगर अभी उम्र तो कुछ नहीं है। अपनी-अपनी तक़दीर है।

जेनी– अमेरिका और इग्लैंड हो आये हैं मामा ! अमेरिका में एक कम्पनी के डायरेक्टर रहे। कितनी ही युवतियाँ वहाँ उनसे शादी करने पर तुली हुई थीं। कितनी ही तो लाखों की सम्पत्ति उन्हें दे रहीं थीं; लेकिन उनकी मँगनी पहले ही उमा से हो गई थी। सबको सूखा जबाब दियां वहाँ होते तो अब तक उन्हें चार-पाँच हज़ार मिलते होते। इस फन

में उन्हें कमाल है। उमा है बड़ी नसीबेवाली। मुझे उन्होंने अपनी कम्पनी में बुलाया है। पहले एक हज़ार देंगे।

मि. गार्डन– **(बेटी को गले लगाकर)** सच !

जेनी– हाँ मामा ! वह तो मुझे अपने साथ ले चलने पर ज़ोर दे रहे थें मैंने कहा–अभी मुझे कुछ तैयारी करनी हैं मुझे पांच सौ का चेक तैयारियों के लिए दे गये हैं।

मि. गार्डन– खुदा का लाख-लाख शुक्र है, कि उसने आड़े वक्त में हमारी मद्द की। वड़ा सरीफ़ आदमी मालूम होता है।

जेनी– **(कुछ शर्माते हुए)** अगर उमा मेरी सहेली न होती और मुझसे इतना प्रेम न करती होती, तो एक बार मैं अपने भाग्य की परीक्षा करती।

मि. गार्डन– क्या कहती है जेनी ! विवाहित पुरुष के साथ ?

जेनी– शादी-विवाह बच्चों का खेल है, मामा ! यह केवल स्त्री और पुरुष के मन का समझौता है। इसमें धर्म को घसीटना मूर्खता है। मैं रूप-रंग में उमा जैसी नहीं; लेकिन उन्हें मैं जितना आकर्षित कर सकती हूँ, उमा नहीं कर सकतीं काश विवाह के पहले इनसे मेरा परिचय हो गया होता ! मेरा गाना सुनकर मस्त हो गये। और तुमसे क्या कहूँ। खेद यही है, कि वह उमा के पति हैं और उमा इतनी निष्कपट और सरल है, कि मुझे उस पर दया आती है। वह तो चाहती है कि उन्हे किसी औरत की हवा भी न लगे।

मि. गार्डन– **(चिन्ता-भाव से)** अब तेरे मन की यह दशा है जेनी, तो मैं तेरी उस कम्पनी में जाना उचित नहीं समझती।

जेनी– तुम भी मामा, मुझे छोकरी समझती हो। मैं योगराज को दिल से चाहती हूँ; लेकिन क्या मज़ाल कि मेरे मुँह से एक शब्द भी निकले, या इशारों से भी इसका आभास मिले। मैं न इतनी कृत्घ्न हूँ और न इतनी मदमाती।

मि. गार्डन– खुदा तेरे इरादों को पाक रखे बेटी ! यही सज्जनों की धन है। खुदा ने चाहा, तो तुझे इससे अच्छा आदमी मिल जायगा। चलो खाना तैयार है।

(दोनों खाना खाने जाती हैं।)

{परदा}

तीसरा दृश्य

(वर्षा काल का एक प्रभात। बादल घिरे हुए हैं। एक शानदार बँगला।) दरवाजों पर जाली लोट के परदे पड़े हुए हैं ! उमा एक कमरे में पलंग पर पड़ी हुई है। एक औरत उसके सिर में तेल डाल रही है। उमा का मुख पीला पड़ गया हैं देह सूख गई है। कमरे के पीछे की तरफ दो खिड़कियाँ हैं, जो बाग में खुलती हैं,)

उमा– (आईने की ओर देखकर) यौवन इतना अस्थिर है, इसकी मैंने कल्पना भी न की थी। मानो एक स्वप्न था कि आँख खुलते ही ग़ायब हो गया; मगर कितना मधुर स्वप्न था ! मैं स्वर्ग की अप्सरा की भाँति विमान में बैठी आकाश में विहार करती थी। अब न वह विमान है, न स्वर्ग। मैं अपनी सारी निधि खोकर दया की भिक्षा पर पड़ी हुई हूँ। क्यों चम्पा तू भी कुछ देखती है, बाबूजी के स्वभाव में कितना परिवर्तन हो गया है ! मुझे ऐसा जान पड़ता है, कि अब उन्हें मेरे समीप बैठने में आनन्द नहीं आता।

चम्पा– नहीं बहूजी, ऐसा न कहें। बाबूजी को मैंने कई बार आपके सिरहाने खड़े रोते देखा है। मुझे देखते ही उन्होंने रुमाल से आँखें छिपा लीं और बाहर चले गये। आप वहाँ लेटी रहती हैं और वह दबे पाँव कमरे के द्वार पर टहलते रहते हैं। शायद उन्हें शंका होती है कि उनके आने से आपको कष्ट होगा।

उमा– (अविश्वास से देखकर) मुझे उनके आने से कष्ट होगा ! यह उनका प्रेम है, जो मुझे जिन्दा रखे हुए है चम्पा ! वही ज्योति मुझे जीवन प्रदान कर रही है। नहीं अब तक यह दीपक कब का बुझ गया होता। (लेडी डाक्टर के साथ योगराज कमरे में आता है और उसे कुरसी पर बैठाकर बाहर चला जाता है।)

लेडी डा.– आज तो आपकी तबियत अच्छी मालूम होती है।

उमा– होगी ! मुझे तो कोई फर्क नहीं मालूम होता।

लेडी डा.– रात को नींद आई थी ?

उमा– जी नहीं। पलक तक नहीं झपकी।

लेडी डा.– मैंने तो आप से पहले ही कहा था, कुछ दिनों के लिये पहाड़ पर चली

जाइए। आप राजी न हुई। कम-से-कम सुबह को हवा खाने तो चली जाया करो।

उमा– इच्छा ही नहीं होती मेम साहब ! सोचती हूँ। जब मरना ही है, तो क्या छः महीने पहले और क्या छः महीने पीछे।

लेडी डा.– नही-नहीं, तुम बहुत जल्दी अच्छी हो जाओगी उमा देवी ! अगर तुम पहाड़ो पर चली जाओ, तो एक महीने मे चगी हो जाओगी। मैं आज बाबूजी से कहती हूँ, तुम्हें कल ही भेज दे।

उमा– आप मुझे अकेले जाने को कहती है। मैं अकेली नही रह सकती।

लेडी डा.– नही, अब मैं अकेली जाने को न कहूँगी। बाबूजी तुम्हारे साथ जायेंगे।

उमा– (प्रसन्न होकर) हाँ ! तब मुझे जाने मे कोई इन्कार नहीं है। (**लेडी डाक्टर थर्मामीटर लगाकर ज्वर देखती हैं और नुस्खा लिखकर चली जाती है। द्वार पर योगराज खड़े हैं**)

लेडी डा.– इनकी हालत खराब होती जाती है। आप इन्हे पहाड पर ले जायें। मैंने पहले इस पर ज्यादा जोर न दिया था। मैने समझा था, दवाओ से काम चल जायगा; लेकिन अब मालूम होता है, पहाड़ो पर जरूर ले जाना पड़ेगा।

योगराज– मैं कल ही चला जाऊँगा।

(**दोनों योगराज के कमरे में आकर बैठते हैं**)

लेडी डा.– हॉं जाइए; मगर आपने किसी तरह का कुपथ्य किया, तो आपको इनसे हाथ धोना पड़ेगा। अब मैं साफ-साफ कहती हूँ, आपके ही कारण इनकी यह दशा हुई। साल भर मे दो गर्भपात और तीसरा गर्भ ! एक कमसिन, कोमल प्रकृति की बालिका कितना अत्याचार सह सकती ! आप शिक्षित है, दुनिया देख चुके हैं, आपको विवाह करने के पहले इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए था। पहले गर्भपात के बाद आपको कम-से-कम साल-भर के लिए उन्हे मैके भेज देना चाहिए था। इनसे पृथक् रहना जरूरी था; पर आपने जरा भी परवाह न की। जिस वक्त उमा देवी आई थी, मैंने उन्हे देखा था। खिले हुए गुलाब का-सा चेहरा था। एक साल के अन्दर उनकी यह दशा हो गई, कि देह में रुधिर का नाम नहीं। इसके जिम्मेदार आप हैं।

योगराज– लेडी विलसन, ईश्वर के लिए मुझे क्षमा कीजिए। मैं आपसे कसम खाकर कहता हूँ, कि मुझे कुछ न मालूम था।

लेडी डा.– तो यह किसका दोष है ? अगर कोई आदमी तैरना न जानने पर भी दरिया में कूदे; तो यह किसका दोष है ? जिसने घोड़े पर सवारी करना न सीखा हो, उसे क्या अधिकार है कि वह घोड़े दौड़ावे ?

उमादेवी वालिका थीं। अपने कर्तव्य का उसे ज्ञान न था। इस विपय मे न उसने कुछ पढ़ा, न किसी से बात-चीत की। वह तो इतना ही जानती थी कि आप उसके स्वामी हैं, आप की इच्छाओं के आगे झुकना उसका कर्तव्य है। उसे क्या मालूम था कि वह आपकी कामुकता के सामने सिर झुकाकर अपने लिए विष बो रही है। आपको भी चाहे अभी कुछ मालूम होता हो; पर जल्द या देर में इसका असर अवश्य होगा। प्रकृति उन लोगों को कभी क्षमा नहीं करती जो उसके नियमों को तोड़ते हैं।

(योगराज निस्पन्द वैठा रहता है, मानो निष्प्राण हो। जब लेडी विलसन टोपी उठाकर जाने लगती हैं, तो वह चौंककर खड़ा हो जाता है ?

योगराज– लेडी विलसन, ईश्वर के लिए इन्हें किसी तरह बचा लीजिए। मैं उम्र भर आपकी गुलामी करूँगा। आप मुझसे मेरा सब कुछ ले लें, केवल इन्हें बचा लें, मुझपर दया कीजिए।

लेडी डा.– लाला योगराज बच्चो, की-सी बातें न करो। बचाना मेरे वश की बात नही है। मैं यथाशक्ति यत्न करूँगी, यह मेरा धर्म है। इससे ज्यादा मे और कुछ नही कर सकती। आपने भी वही नादानी की जो आपके दूसरे भाई किया करते हैं। स्त्री उनके लिए केवल विषय-भोग का यन्त्र है। वह स्त्री पर जितना अत्याचार चाहें कर सकते हैं। अगर स्त्री की ओर से कुछ अरुचि हो, तो उसके शत्रु हो जायँगे। वह बेचारी पति को प्रसन्न रखने के लिए सब कुछ झेलने को तैयार रहती है। सभी घरों में यही तमाशा देखती हूँ। अगर क्षय रोग न फैले, तो क्या हो; लेकिन अव भी घवराने की कोई बात नहीं। कल आप इन्हें पहाड़ पर ले जाइए और पूरा विश्राम कीजिए। नही तो आपको पछताना पड़ेगा।

(लेडी विलसन चली जाती है। योगराज फिर उमा के पास आता है।)

उमा– क्या कहती थीं लेडी विलसन ? तुमसे अलग-अलग बाते कर रहीं थीं ?

योगराज– कुछ नहीं, वहीं पहाड़ पर जाने की बात चीत थी। मैंने निश्चय किया है, कल हम लोग चल दें।

उमा– तो मेरे घर खत लिख दो। अम्माँ और दादा से मुलाकात तो कर लूँ। जेनी से भी मिलने को जी चाहता है। उसे भी एक ख़त लिख दो।

योगराज– इसमें कई दिन लग जायँगे उमा !

उमा– जैसी तुम्हारी इच्छा। कहीं मर गई तो उन लोगों को देख भी न सकूँगी !

(उसकी आँखों से आँसू की दो बूँद गिर पड़ती हैं। योगराजझुककर उसके माथे का चुम्वन लेता है।)

योगराज– **(भर्राई हुई आवाज़ में)** नहीं, नहीं उमा ! ईश्वर ने चाहा, तो तुम वहाँ से स्वस्थ होकर आओगी। वहाँ के जल-वायु का ज़रूर असर होगा।

उमा– **(चम्पा से)** अब रहने दे चम्पा ! बाहर जा, फिर बुलाऊँ जो आ जाना।

(चम्पा चली जाती है।)

मेरे पास आ जाओ राजा। कुछ याद है तुम्हें, आज हमारे विवाह की पहली बरस-गाँठ है। आज ही के दिन तुम मेरे घर गये थे। ज्यों ही मुझे बरात आने की ख़बर मिली, मैं कोठे पर चढ़कर तुम्हें देखने गयी थी। तुम मुझे नहीं देख सके थे ; पर मैंने तुम्हें खूब देखा था। कितनी जल्द एक पूरा साल बीत गया ! आज उसका उत्सव मनाऊँगी। तुम भी दफ़्तर न जाना। आज मेरा जी कुछ हलका मालूम होता है। तुम्हारे साथ खूब बातें करूँगी। तुम चले जाते हो तो घर फाड़ खाने लगता है। एक छन भी तुम्हें नहीं देखती तो जी घबड़ा उठता है। आज मैं अपना कमरा फूलों से सजाऊँगी, लेकिन नहीं। फूलों को न तोड़ना। **(बाग़ की ओर देखकर)** अपनी डालियों पर कितने सुन्दर लगते हैं। तोड़ने से मुरझा जाएँगे।

(चम्पा को बुलाती है, वह आकर खड़ी हो जाती है।)

देख चम्पा, ज़रा मेरी वह साड़ी निकाल ला, जो कई महीने हुए काश्मीर से मँगवायी थी। एक बार भी नहीं पहन सकी। आज उसे पहनूँगी, देख और कपड़ों की तह न विगड़े। साड़ी में थोड़ा अगर मल देना। आज इनसे इनाम लूँगी।

(चम्पा चली जाती है।)

बताओ आज मुझे क्या सौगात दोगे ? कोई अच्छी-सी चीज़ देना।

योगराज काँपते हुए स्वर में क्या लोगी उमा ? मेरे पास जो कुछ है तुम्हारा है।

उमा– **(मुसकराकर उसके गले में हाथ डाल देती है)** जी नहीं, इन बातों में मैं नहीं आती। मैं जो कुछ माँगूँगी, वह तुम्हें देना होगा।

योगराज– तुम्हारे लिए मेरी जान भी हाजिर है उमा !

उमा– मैं तुमसे एक वचन माँगती हूँ।

योगराज– यह तो तुमने कुछ न माँगा।

उमा– नहीं, मैं वही वचन लूँगी। उसमें मुझे जितना आनन्द मिलेगा उतना और किसी चीज़ से न मिलेगा। वचन दो कि मैं मर जाऊँगी, तो मेरी सोहाग-सिन्दूर की डिबिया पर रोज़ दो फूल चढ़ाओगे। उसी सिन्दूर ने तो मुझे तुम्हारा प्रेमदान दिया था। तुम्हें छोड़कर मुझे संसार

मे उससे प्रिय और कोई वस्तु नहीं है। उसकी याद बनाये रखना। (योगराज मुँह फेरकर रूमाल आँखों पर रख लेता है और आँसुओं को रोकता हुआ कमरे के बाहर चला जाता है। एक मिनट तक वह सामने के अशोक-वृक्ष के नीचे खड़ा फूट-फूट कर रोता है। फिर उमा का पुकारना सुनकर द्वार की ओर चलता है; पर अश्रु-विह्वल हो जाने के कारण द्वार पर रुक जाता है।)

{परदा}

चौथा दृश्य

जेनी का मकान, सन्ध्या का समय, विलियम टेनिस सूट पहने-मूँछें मुँड़ाये, एक रैकेट हाथ में लिये, नशे में चूर आता है।

जेनी– आज तो तुमने नया रूप भरा है विलियम। यह किस गधे ने तुमसे कहा कि मूँछें मुँड़ा लो ! बिलकुल हिजड़ों से लगते हो। अपने सिर की क़सम। यह तुम्हें क्या सनक सगर हुई। अच्छी-ख़ासी मूँछें थीं, मुड़ाकर सफ़ाया कर दिया। ज़रा जाकर आईने में अपनी सूरत देखो। एक तो माशा अल्लाह आप यों ही बड़े रूपवान हैं, उस पर मूँछें मुड़ा ली। हो निरे गावदी !

विलियम– **(कुरसी जेनी के पास खींचकर)** आज का दिन बड़ा मुबारक है जेनी !

जेनी– **(मुँह फेरकर)** अरे तुमने तो शराब पी है **(नाक वन्द करके)** नाक फटी जाती है। अलग बैठिए आप। आज तुम्हें हो क्या गया है ?

विलियम– **(जेनी की तरफ़ झुककर)** आज मेरा दिमाग़ सातवें आसमान पर है जेनी। मैं वह विलियम नहीं हूँ अब। आज मैं उस जीवन का स्वप्न देख रहा हूँ, जिस पर फ़रिश्ते भी लट्टू होते हैं। आज मुझे वह वरदान मिलनेवाला है, जिस पर तीनों लोक की निधि कुरवान है, आज मैं तुम्हें अपनी जीवन-सहचरी बनने की दावत देने आया हूँ। आज मैं प्रोपोज़ कर रहा हूँ। **(कुरसी से उतरकर जेनी के पैरों पर सिर रख देता है)** देखो जेनी, खुदा के लिए इनकार मत करना। बोलो, मेरी प्रार्थना स्वीकार करती हो ? तुम्हारे मुख के एक शब्द पर मेरे भाग्य का दारोमदार है। अगर हाँ, कहती हो तो मुझसे बड़ा भाग्यशाली संसार में नहीं। न कहती हो तो मुझसे बड़ा अभागा संसार में न होगा। यदि तुम्हें मुँड़ी हुई मूँछें पसन्द नहीं हैं, तो मैं फिर मूँछें रख लूँगा। देखो, मैंने इसी दिन के लिए यह सूट बनवाया है, और मुझे यक़ीन है कि यह मुझे बुरा नहीं लगता।

जेनी– बिलकुल नहीं, खुदा बुरी नज़र से बचाये।

विलियम– **(अकड़ कर)** मैं टेनिस बहुत अच्छा खेलने लगा हूँ।

जेनी– सच ?

विलियम– अपने सिर की क़मस। और पिआनो भी खूब बजा लेता हूँ।

जेनी– ओहो ! तब तुम पूरे उस्ताद हो गये।

विलियम– नाचता ऐसा हूँ, कि तुम देखो तो खुद नाचने लगो।

जेनी– वाह ! तब तो कोई वज़ह नहीं कि मैं तुमसे शादी न करूँ।

विलियम– वह मेरी ज़िन्दगी का सबसे मुबारक दिन होगा।

जेनी– अच्छा तो आओ हमारी तुम्हारी शर्तें तय हो जायँ।

विलियम– सब कुछ गिरजे में ही हो जाएगा जेनी ! आं हां ! जिस वक़्त मैं तुम्हें आलटर की तरफ़ ले चलूँगा, तुम रेशमी गाउन पहने, हाथ में गुलदस्ता लिये मेरे कन्धे पर सिर रखे चलेगी, वह कितनी मुबारक घड़ी होगी!

जेनी– मुझे उस स्वांग से नफ़रत है।

विलियम– **(ताज्जुब से)** तो फिर और कैसे शादी होगी जेनी !

जेनी– तुम मेरी शर्तें मान लो, बस शादी हो गयी। इसकी क्या ज़रूरत कि गिरजे चलें, पादरी आयें, मेहमान जमा हों, बाजे बजें, रस्में अदा हों। मुझे वह तमाशा पसन्द नहीं। बोलो मेरी शर्तें मंजूर करोगे ?

विलियम– **(निराश होकर)** क्या शर्तें हैं जेनी !

जेनी– मेरी पहली शर्त यह होगी, कि जिस दिन तुम्हें किसी दूसरी औरत से बातें करते देखूँ, उसी दिन तुम्हें घर से निकाल दूँ।

विलियम– **(प्रसन्न होकर)** हाँ, मंजूर है जेनी ?

जेनी– मेरी दूसरी शर्त यह होगी कि शादी के बाद भी मुझे अख़्तियार होगा, जिससे चाहूँ हसूँ-बोलूँ, जहाँ चाहूँ जाऊँ-आऊँ, जिससे चाहूँ प्रेम करूँ। बोलो मानते हो ?

विलियम– यह कैसे मुमकिन है जेनी ! तुम हँसी करती हो। उस वक़्त अगर कोई मर्द तुम्हारी तरफ़ आँखें भी उठाये, तो उसका खून पी जाऊँ, खोदकर ज़मीन में गाड़ दूँ, जीता निगल जाऊँ !

जेनी– तो फिर हमारी-तुम्हारी विधि नहीं मिलती।

विलियम– देखो जेनी, मेरी अभिलाषाओं का खून न करो। मेरी ज़िन्दगी बरबाद हो जाएगी।

जेनी– अच्छा बस, अब हँसी हो चुकी विलियम ! तुमने कभी सोचा है, तुम क्यों शादी करना चाहते हो ?

विलियम– **(हक्का-बक्का होकर)** आख़िर और सब लोग क्यों शादी करते हैं ?

जेनी– और सब लोग झक मारते हैं। मैं तुमसे पूछती हूँ, तुम क्यों शादी करना चाहते हो ?

(विलियम सिर खुजलाता है और बगलें झाँकने लगता है।)

जेनी– तुम्हें नहीं मालूम। अच्छा मुझसे सुनो। तुम केवल इसलिए विवाह करना चाहते हो, कि तुम्हारा चित्त प्रसन्न करने के लिए तुम्हारे घर में एक खिलौना आ जाय।

विलियम– बस-बस, यही बात है जेनी ! तुम कितनी बुद्धिमती हो।

जेनी– तुम इसलिए विवाह करना चाहते हो कि जब मैं बढ़िया सूफियाना साड़ी पहनकर तुम्हारी मोटर साइकिल पर तुम्हारे साथ निकलूँ, तो लोग हँस-हँसकर कहें–वह जा रहा है भाग्य का धनी विलियम !

विलियम– बस-बस यही बात है जेनी ! सचमुच तुम बड़ी बुद्धिमती हो।

जेनी– इसलिए कि जब तुम अपने अफ़सरों की दावत करो, तो मैं उनसे मीठी-मीठी बातें करके उनका दिल खुश करूँ और अफ़सर खुश होकर तुम्हारी तरक्की करें।

विलियम– बस-बस यही बात है जेनी !

जेनी– इसलिए कि तुम्हारे बच्चे हो जायँ और तुमने जो थोड़ी-सी चाँदी जमा कर रखी है, उसके वारिस पैदा हो जायँ।

विलियम– बस-बस जेनी। सुभान अल्लाह !

जेनी– तो मैंने इसके लिए एक बहुत अच्छी औरत तलाश कर रखी है। वह मुझसे कहीं अच्छी बीबी होगी तुम्हारी। तुम जैसे रखोगे वैसे रहेगी। जो चाहोगे वह करेगी, तुम्हारे घर में झाड़ू लगाएगी, तुम्हारा खाना बनाएगी, तुम्हारा बिस्तर लगाएगी।

विलियम– **(प्रसन्न होकर)** वह कौन है जेनी !

जेनी– मेरी मेहतरानी। गोरी, हँस-मुख चंचल, बाँकी औरत है।

विलियम– तुम मेरा अपमान कर रही हो जेनी ! मैं मेहतरानी से विवाह करूँगा ? मैं भी ख़ानदान का शरीफ़ हूँ।

जेनी– अच्छा ! तो तुम ऐसी बीवी चाहते हो, जिससे तुम्हारे ख़ानदान की इज्ज़त में बट्टा न लगे ?

विलियम– और क्या ?

जेनी– तो तुम अभी शादी का अर्थ नहीं समझे।

विलियम– तो क्या मैं नालायक़ हूँ ? मेरे पास ऐसे-ऐसे सर्टिफिकेट है कि देखो तो दंग रह जाओ।

जेनी– अच्छा ! यह नयी बात सुनी।

विलियम– मैं जो ज़रा चुपचाप रहता हूँ, तो तुमने समझ लिया बस यूँ ही है। अपने मुँह अपनी तारीफ़ नहीं करना चाहता। इसे मैं ओछापन समझता हूँ; लेकिन जब ऐसा अवसर आ पड़ा है, तो मुझे उन सनदों को पेश करना पड़ेगा। देखो। **(जेब से कई चिट्ठियों का पुलिन्दा निकालकर)**

यह मिसेज़ डगलस का खत है। उन्होंने मेरे टेनिस खेलने की तारीफ़ की है।

(जेनी खत पढ़ती है–It is hereby certified that Doby William handles his tennis ball just as a skilful wife handles her husband and consequently he should not be disqualified in a matrimonial game on this account.

जेनी– इस सनद ने तो मेरी जबान बन्द कर दी। तुम्हारे पेट में ऐसे-ऐसे गुण भरे हैं ?

विलियम– जी हाँ, और आप क्या समझती हैं। देखती जाइए। यह मिस डासन का ख़त है।

जेनी दूसरा खत पढ़ी है–*It is hereby certified that Doby William has invented an altogether new dance, never heard of before, and no body else can compete him there. It is an extra qualification in his favour for a matrimonial job.*

जेनी– तुमने ऐसे-ऐसे लाजवाब सर्टिफिकेट छिपा रखे हैं ! तुम तो छिपे रुस्तम निकले !

विलियम– देखती जाइए। इस चिट्ठी में हेडमास्टर साहब ने मेरे चाल-चलन की प्रशंसा की है। और यह सनद दिखाना तो मैं भूल ही गया। यह हिज़ हाइनेस गवर्नर ने मेरे फ़ादर को दिया था। मुझे कोई मामूली आदमी न समझिए।

(मिसेज़ डगलस और मिस डासन दो औरतों के साथ आती नज़र आती हैं। विलियम फ़ौरन भाग खड़ा होता है।)

मिस डासन– मैंने कहा चलूँ, विलियम का तमाशा देखती आऊँ ! आज तुम्हें प्रोपोज़ करने आया था। मेरे सिर पर सवार हो गया कि मुझे एक सर्टिफिकेट लिख दो। बताओ क्या लिखती ?

मिसेज़ डगलस– निरा अहमक है। मुझसे ज़िद करने लगा कि टेनिस का सर्टिफ़िकेट दे दीजिए। रैकेट पकड़ने का तो शऊर नहीं। भला मैं क्या लिखती?

मिस डासन– क्या हुआ, उसने प्रोपोज किया ? ज़रा उसका क़िस्सा कहो।

मिसेज डगलस– यही सुनने के लिए तो भागी आ रही हूँ।

जेनी– तुम्हें देखते ही भाग खड़ा हुआ। मगर तुमने बड़े मार्के का सर्टिफिकेट दिया। फूला न समाता था। जेब में लिये फिरता है।

दोनों लेडियाँ– क्या क्या ! हमने कब कोई चिट्ठी दी !

जेनी– दिखाता तो था !

मिस डासन– तो कमबख़्त ने अपने हाथ से लिख ली होगी। जभी भागा। कहाँ हैं दोनों चिट्ठियाँ ?

जेनी– चिट्ठियाँ तो लेता गया: पर उसका मजमून मुझे याद है। हजरत ने अपनी दानिस्त में अपनी तारीफ़ लिखी थी।

(जेनी एक काग़ज़, पर दोनों खतों को याद से लिखती है, और तीनों हँसते-हँसते लोट जाती हैं।)

{परदा}

पाँचवाँ दृश्य

(योगराज का बँगला। प्रातःकाल। योगराज और जेनी एक कमरे में बैठे बातें कर रहे हैं।

योगराज के मुख पर शोक का गाढ़ा रंग झलक रहा है।! आँखें सूजी हुई, नाक का सिरा लाल, कण्ठ-स्वर भारी। जेनी सफरी कपड़े पहने हुए है। मालूम होता है , अभी बाहर से आयी है।)

जेनी– मुझे यही पछतावा हो रहा है, कि एक दिन पहले क्यों न आयी। जिस समय मुझे तार मिला, अम्मा कुछ अस्वस्थ थीं। मैंने समझा ज़रा इनकी तबियत सँभल जाय, तो चलूँ ; अगर जानती यह आफ़त आनेवाली है, तो तुरन्त भागती। देखने भी न पायी !

योगराज– आपका नाम अन्त समय तक उनकी जबान पर था। बार-बार आपको पूछती थीं। **(लम्बी साँस खींचकर)** मैं तो कहीं का न रहा मिस जेनी! मुझे जीवन में वह विभूति मिल गयी थी, कि उसे खोकर अब संसार मेरी आँखों में सूना हो गया। और यह सब मेरे कर्मों का फल है। मैं ही उनका घातक हूँ। मेरी ही भोग-लिप्सा ने उस कच्चे फूल को तोड़कर ज़मीन पर गिरा दिया ! उन्हें दो बार गर्भ-पात हुआ; पर मेरी अन्धी आँखो को कुछ न सूझता था। जिस फूल को सिर और आँखों और हृदय से लगाना चाहिए था, जिसकी सुगन्ध से मुझे अपने जीवन को बसाना चाहिए था, उसे मैंने पैरों से कुचला। कभी-कभी जी में उबाल आता है, कि दीवार से सिर पटक दूँ ! यह दाग़ दिल से कभी न मिटेगा, यह घाव कभी न भरेगा !

(रोता है।)

जेनी– यों अधीर होने से कैसे काम चलेगा बाबूजी ! मैं तो उसकी सहेली थी, लेकिन मुझे उससे जितना प्रेम था, उतना अपनी सगी बहन से भी न होता फिर आपके शोक का अनुमान कौन कर सकता है। उसका शील-स्वभाव ही ऐसा था कि बेअख़्तियार दिल को खींच लेता था: किन्तु अब धैर्य के सिवा और क्या कीजिएगा ! खुदा की यही मर्ज़ी

थी, आदमी की उसमे क्या दख़ल ! अब इसी विचार से दिल को तसल्ली दीजिए कि यह संसार उसके लिए उपयुक्त स्थान न था। वह स्वर्ग के योग्य थी और स्वर्ग ने उसे ले लिया।

योगराज– हाय ! किसी तरह दिल को तसल्ली नहीं होती मिस जेनी ! यो अपनी मृत्यु से वह मर जाती, तो मैं सब्र कर लेता ; लेकिन यह कैसे भूल जाऊँ कि मैंने ही उनकी हत्या की, मेरी ही विषयाशक्ति ने उनकी जान ली। मैंने अमृत को इस तरह खाया, जैसे पशु घास खाता है। वह देवी मुझ पर कुरबान हो गयी। मुझे प्रसन्न रखना उनके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य था। मेरी इच्छा के विरुद्ध कभी एक शब्द भी मुँह से न निकला। प्रातःकाल नींद खुलती, तो उनकी सहास मूर्ति सामने आमोद की वर्षा-सी करती हुई दिखाई देती थी। दिन-दिन दुर्बल होती जाती थीं; लेकिन मेरी ख़ातिरदारी मे अणुमात्र भी कमी न करती थी। इस घर की एक-एक वस्तु पर उनका प्रेम अंकित है। वह खुद फूलों की तरह कोमल थी। और फूलो मे उन्हे असीम प्रेम था। यह गमले जो सामने रखे हुए हे, उन्ही क लगाये हुए हैं खाने की जिस वस्तु मे मेरी रुचि देखती, उसे अपने हाथो से पकाती। कुरसियो पर जो यह फूलदार गद्दे हैं, उन्ही के हाथ काढ़े हुए हैं। मेज पर जो मेजपोश हे, उन्ही का काढ़ा हुआ हे। तकियो के गिलाफ उन्ही के बनाये हुए हैं। किस-किस बात को रोऊँ। उन्होंने अपने को मुझ पर अर्पित कर दिया। मुझ जेसा अनाचारी, व्यसनी, अधम व्यक्ति इस योग्य न था कि उसे ऐसी देवी मिलती। ईश्वर ने सुअर के गले मे मोतियों की माला डाल दी ?

(वह चुप हो जाता है ओर कई मिनट तक आँखें बन्द किये बेठा रहता हे। सहसा सिर पर ज़ोर से हाथ मारकर कमरे से निकलता हे और बगीचे की ओर भागता हे। जेनी उसके पीछे-पीछे जाती हे। वह बगीचे में खड़ा होकर फूलों की क्यारियों की ओर ध्यान से देखता है, जेसे किसी को खोज रहा हो। फिर वहीं से लपका हुआ आता है और उमा के कमरे का परदा हटा कर धीरे से अन्दर जाता है और कमरे को ख़ाली पाकर ज़ोर से छाती पीटकर ज़मीन पर गिर पड़ता है। जेनी की आँखों में आँसू बहने लगते हैं। दौड़कर पानी लाती है और उसके मुँह पर पानी छींटे देती है। एक मिनट में योगराज चौंककर उठ बैठता है।)

जेनी– बाबूजी, आप बुद्धिमान होकर नादान बनते हैं। इस तरह होश-हवास खो देने से क्या फ़ायदा होगा।

योगराज– कह नही सकता मुझे क्या हो जाता है, मिस गार्डन ! मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे उमा अपने कमरे में बैठी हुई हैं, जैसे बगीचे मे घूम

रही हैं। जानता हूँ, अब इस जीवन में उनके दर्शन न होंगे, लेकिन न जाने क्यों यह भ्रम हो जाता है ! मन किसी के मुँह से यह सुनने को लालायित रहता है कि वह दस-पाँच दिनों के लिए कहीं चली गयी हैं। कभी न मिलेंगी, सदा के लिए चली गयीं, यह असह्य है, मैं इसे नहीं बरदाश्त कर सकता... **(एक क्षण के बाद सिर पर हाथ मारकर)** मुझे इसका ध्यान ही न रहा कि आप सफ़र करके आ रही हैं ! हाय ! आज वह होतीं, तो आपको देखकर कितनी ख़ुश होतीं। मैं आपकी क्या ख़ातिर कर सकता हूँ, ख़ातिर करनेवाला तो चला गया !

(महाराज को पुकारता है।)

देखो, मिस साहब के लिए नाश्ता लाओ, बहुत जल्द और महरी को भेजो, आपका हाथ-मुँह धुलाये।

जेनी– आप ज़रा भी तकल्लुफ़ न करें बाबूजी ! अभी नाश्ता करने की ज़रा भी इच्छा नहीं है। जी नहीं चाहता।

योगराज– तो फिर आपकी ख़ातिर क्या करूँ। आइए, आपको उमा का कमरा दिखाऊँ। देखिए उन्होंने कैसी-कैसी साहित्य की पुस्तकें जमा कर रखी थीं। उनकी कविताएँ आपको सुनाऊँ–

(दोनों उमा के कमरे में जाते हैं, जो कालीन और गद्देदार कोचों और शीशे के सामानों से सजा हुआ है। योगराज एक आलमारी खोलता है। उसमें उमा के आभूषणों की संदूक़ची निकल आती है। योगराज तुरन्त उसे निकाल लेता है और उसे खोलकरएक-एक आभूषण लेकर जेनी को दिखाता है।)

योगराज– यह उनके आभूषण हैं। इन्हें पहनकर वह कितनी प्रसन्न होती थीं। इनके एक-एक अणु में उनके स्पर्श का सौरभ है। इन्होंने अपनी सुनहरी आँखों से उनके रूप की छटा देखी है। यह उनके आदर और प्रेम के पात्र रह चुके हैं। यह इस दुरवस्था में पड़े रहें, यह मैं नहीं देख सकता। उन्हें अपने आभूषणों की यह दशा देखकर स्वर्ग में भी कितना दुःख होता होगा। मैं आपके मनोभावों पर आघात नहीं करना चाहता मिस गार्डन ! क्षमा कीजिएगा; लेकिन आप इन चीज़ों को स्वीकार कर लें, तो उनकी आत्मा को कितनी शान्ति होगी ! इनका कोई दूसरा उपयोग ऐसा नहीं है , जिससे उन्हें इतना आनन्द हो। आपको वह अपनी बहन समझती थीं और इस नाते से मैं आपको इन्हें स्वीकार करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ।

(विक्षिप्तों की भाँति मुसकाता है।)

जेनी– **(सजल नेत्रों से)** आपने तो मेरे लिए कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रखी

वाबूजी ! लेकिन मैं अपने को इस योग्य नहीं समझती, आप इन्हें उनकी स्मृति-स्वरूप अपने पास सुरक्षित रखें। शायद कोई ऐसा समय आवे, जब इनका दावेदार घर मे आ जाय। इन्हें मेरी ओर से उसकी भेंट कीजिएगा।

योगराज– **(ठट्ठा मारता है)** वह समय कभी न आएगा जेनी। उमा ने जो स्थान ख़ाली कर दिया है, वह हमेशा खाली रहेगा- हमेशा ! आप मेरी इस याचना को अस्वीकार करके मुझे बड़ा सदमा पहुँचा रही हैं और उनकी आत्मा को भी; लेकिन मैं ज़िद्दी आदमी हूँ, जेनी ! कभी-कभी पागलो के-से काम करने लगता हूँ। आइए, मे आपको एक चीज़ पहनाऊँ। चोट खाये हुए दिल की गुस्ताखियों को क्षमा कीजिएगा।

(वह उस हार को जेनी के गले में डाल देता है। जेनी सिर झुकाये सजल नेत्र शोकातुर बैठी हुई है। योगराज उसकी कलाइयों पर कंगन शेरदहाँ, ब्रेसलेट पहनाता है, गले में नेकलेस डाल देता है। केशों में शीश-फूल लगा देता है। पैरों में पाजेब डालने के लिए झुकता है। जेनी जल्दी से पाँव हटा लेती है और उसके हाथ से पाजेब लेकर पहन लेती है। सामने आईना रखा हुआ है। जेनी की उस पर नजर पड़ जाती है। वह उसमें अपनी सूरत देखती है और खिलखिला कर हँस पड़ती है।)

जेनी– आपने तो मुझे गुड़िया बना दिया। मुझे तो यह चीज बिल्कुल शोभा नहीं देती।

योगराज– आप मेरी ऑखों से नहीं देख रही हैं मिस जेनी ! मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि उमा मेरे ऊपर तरस खाकर आकाश से उतर आयी है। आपमें और उसमे इतना सादृश्य है, इसका अब तक मुझे अनुमान न था। तुम मेरी उमा हो जेनी ! तुममें उसी आत्मा का आभास है, वही रूप-माधुर्य है, वही कोमलता है। तुम वही हो, मेरी प्यारी उमा! तुम मुझसे क्यों रूठ गयी थी ? बोलो, मैंने क्या अपराध किया था? इस तरह कोई अपने प्रेमी से ऑखें फेर लेता है ?

(वह फूट-फूटकर रोने लगता है।)

जेनी– **(घबड़ा कर)** बाबूजी ! होश में आइये। यह आपकी क्या दशा है !

(आदमियों को पुकारती है।)

{परदा}

छठा दृश्य

(योगराज का बँगला। जेनी और योग बैठे बातें कर रहे हैं।)

जेनी– आयी थी दो दिन के लिए और रह गयी तीन महीने ! माँ मुझे रोज़ कोसती होंगी। मैंने कितनी ही बार लिखा कि यहीं आ जाओ ; पर आती ही नहीं। मैं सोचती हूँ, दो-चार दिन के लिए घर हो आऊँ।

योगराज– अजीब स्वभाव है उनका। रुपये भी वापस कर देती हैं, घर से आतीं भी नहीं। आख़िर चाहती क्या हैं ?

जेनी– बस यही कि मैं शादी कर लूँ और उनके पास रहूँ शायद उन्हें यह ख़ौफ़ भी हो कि कहीं तुम मुझे लेकर भाग न जाओ।

योगराज– (हँसकर) तुम जाओगी, तो फिर लौटकर न आने पाओगी। मेरा फ़िल्म अधूरा रह जाएगा। जब तक ड्रामा पूरा न हो जाय, मैं तुम्हें एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ सकता। और अब तुमसे क्या छिपाऊँ जेनी ! छिपाना व्यर्थ है। शायद तुमने पहले ही भाँप लिया है। अब मैं तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। मैंने तुममें अपनी उमा को फिर से पाया। अगर उस वक़्त तुम न आती मालूम नहीं मेरी क्या हालत होती। शायद दीवाना हो जाता, या कहीं डूब मरा होता। तुमने आकर मेरे तड़पते हुए हृदय पर मरहम रखा और मुझे जिला लिया।

जेनी– इसीलिए अब मेरा यहाँ से जाना ज़रूरी है। मैं जाना नहीं चाहती। शायद इतना तुम भी समझ गये होंगे, क्यों नहीं जाना चाहती। लेकिन इसका नतीज़ा क्या है ? खुद रो-रोकर मरूँ और तुम्हें भी हैरान करूँ। मैं तो रोने की आदी हूँ। लेकिन तुम्हारे रास्ते का काँटा क्यों बनूँ? तुम्हारा जी थोड़े दिनों में बदल जाएगा। जीवन के आमोद-प्रमोद तुम्हें फिर अपनी ओर खींच लेंगे और जीवन की अभिलाषाएँ फिर जाग उठेंगी। तुम इतने सहृदय, इतने उदार, इतने सज्जन, इतने उन्नतात्मा हो कि जिस किसी से भी तुम्हारा सम्पर्क हो जाएगा, उसमें तुम अपना आदर्श आरोपित कर दोगे। जब मुझ जैसी औरत में तुमने गुण देख लिए, तो मुझे मालूम हो गया कि तुम अपना स्वर्ग आप बना सकते हो। मिट्टी को भी सोना बनाने का मन्त्र तुम्हें आता है। मैं कभी किसी से प्रेम कर सकूँगी, इसकी मैंने कल्पना तक न

की थी। प्रेम मेरे लिए विनोद और परिहास की वस्तु थी। तुमने मेरे हृदय में प्रेम की ज्योति जलायी और अब उस पिछले जीवन की याद करती हूँ, तो मालूम होता है कितना नीरस, कितना अस्वाभाविक था, लेकिन इसका कोई इलाज नहीं। विधि हमारे और तुम्हारे बीच में खड़ी है और...

योगराज– क्या उस विधि पर हम विजय नही पा सकते जेनी ?

जेनी– कैसे ?

योगराज– हमारी शादी नहीं हो सकती ?

जेनी– धर्म-बन्धन को क्या करोगे !

योगराज– मैं धर्म के बन्धन को तोड़ दूँगा ?

जेनी– **(हाथ से मना करके)** नहीं नही, मै तुम्हें समाज में अछूत नहीं बनाना चाहती। तुम्हारा समाज से निकाल दिया जाना, मेरे लिए असह्य है। मैं तुम्हें इतने घोर धर्म-संकट में नहीं डाल सकती। मेरे प्रति तुम्हारा जो सद्भाव है, उस पर इतना भारी वोझ लादना कि कुछ दिनों में वह दव जाय, न मेरे लिए अच्छा है, न तुम्हारे लिए। मे मानती हूँ, तुम मेरी खातिर वह अरमान और उपहास बर्दाश्त करोगे ; लेकिन मैं इतनी स्वार्थिन नहीं हूँ।

योगराज– में समाज और उसके वन्धनों की परवा नहीं करता जेनी ! अगर मे कोई ऐसा काम करूँ, जिससे समाज का अहित होता हो, तो वेशक समाज मेरा वहिष्कार कर सकता है; लेकिन मैं अपने व्यक्तिगत अधिकार को समाज के भय से नही छोड़ना चाहता।

जेनी– **(सोचकर)** नही; ऐसे मामलो मे तर्क से काम नही चल सकता। मुझे जाने दो। मैं जानती हूँ, तुमसे अलग रहकर संसार मेरे लिए सूना है; लेकिन मुझे इस विचार से सन्तोष होता रहेगा कि मैंने संसार के निर्दय आघातो से तुम्हारी रक्षा की।

योगराज– यह सन्तोष बहुत थोड़े दिन रहेगा जेनी ! अगर तुम्हारा खयाल है कि तुम्हारे जाने के वाद मैं यह सव कुछ भूल जाऊँगा और फिर किसी रूपवती रमणी से विवाह करके आनन्द से रहूँगा, तो वह ग़लत है। तुमने सोचा है, मैं अपना स्वर्ग आप बना सकता हूँ। तुमसे मुझे जो प्रेम है, उसे तुम मेरी इस शक्ति का प्रमाण समझ रही हो। वास्तव में तुम अपना मूल्य बहुम कम समझ रही हो। मैंने तुममें जो कुछ पाया, जो कुछ देखा, वह फिर कहीं और देख सकूँगा. यह असम्भव है। उसका प्रमाण शायद तुम्हें जल्द मिल जाय। निःस्वार्थ प्रेम ऐसी सस्ती चीज़ नहीं है जो बाज़ार में मिलती हो।

(दोनों कुछ देर सिर झुकाये विचारों में डूबे वैटे रहते हैं।)

योगराज– अगर यही समाज का भय है, तो क्यों न हम किसी दूसरी जगह चलें, जहाँ कोई हमें जानता ही न हो ?

जेनी– **(मुसकराकर)** किसान की खेती उसकी आँखों के सामने चरी जाय, क्या तभी उसे दुख होगा ? विना कोई अपराध किये चोरों की तरह रहना वहुत सुखी जीवन नहीं हो सकता। हम जिनसे आदर और सम्मान चाहते हैं, उन्हीं से निन्दा पाकर दुखी होते हैं। और लोग क्या कहते हैं, इसकी हमें परवा नहीं होती ? मामा तो ज़हर ही खा लेगी ओर शायद तुम्हारे घर वाले भी प्रसन्न न होंगे।

योगराज– तुम तो किसी वात पर राजी नहीं हो जेनी !

जेनी– जिन हालतों मे ईश्वर ने हम दोनो को पैदा किया है, उसका एक ही इलाज है कि हम दोनों एक-दूसरे से अलग हो जायँ। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ झेलने को तैयार हूँ; लेकिन तुम्हें उस संकट में नही डाल सकती। तुम्हारे ऊपर यह आक्षेप मैं नहीं सुन सकती कि औरत के पीछे ईसाई हो गया और न शायद तुम मेरे ऊपर यह आक्षेप सुनना पसन्द करोगे कि दौलत के पीछे या भोग-विलास के पीछे एक आदमी के साथ चली गयी। मै आज-कल की प्रथानुसार शुद्ध होकर तुम्हे उस आक्षेप से वचा सकती हूँ; लेकिन शुद्धि को मे विलकुल ढोंग समझती हूँ। में अपने स्वभाव से, अपने संस्कारो से, जो कुछ हूँ वही रहूँगी। हवन कर लेने या दो-चार मन्त्र पढ़ लेने से मेरे संस्कार नही वदल सकते। ईसाई-धर्म मे मुझे वहुत-सी वात खटकती है; पर हिन्दू धर्म मे भी ऐसी बातो की कमी नहीं। ईसाई-धर्म में तो वह चीज भी नही। यहाँ तो केवल रूढ़ियाँ हैं, केवल पुरानी लकीरों को पीटना है। इसके लिए मेरी आत्मा तैयार नही। मुझे हँसकर विदा कर दो; मगर देखना यह विच्छेद हमारे आत्मिक ऐक्य को शिथिल न कर दे। मुझसे नाराज न होना, मेरी तरफ़ से आँखें न फेरना। जेनी तुम्हारी है, और तुम्हारी रहेगी, ससार की आँखों मे नही ईश्वर की आँखो मे, जो संसार की सृष्टि करता है।

योगराज– **(कम्पित स्वर में)** तो यह तुम्हारा अन्तिम फ़ैसला है जेनी ?

जेनी– हाँ प्यारे, यही मेरा अन्तिम फ़ैसला है। तुम थोड़े दिनों में मुझे भूल जाओगे। ईश्वर से मेरी यही दुआ होगी कि तुम मुझे जल्द-से-जल्द भूल जाओ; लेकिन भूलकर भी कभी-कभी याद कर लिया करना। **(रोकर)** ये दिन कितनी जल्द गुज़र जाएँगे, यह मैंने न सोचा था; लेकिन जीवन के लिए जिस प्रेमाधार की ज़रूरत है वह तुमने मुझे

दे दिया और वह मेरी उम्र भर के लिए काफ़ी है। विवाह मेरी दृष्टि में आत्मिक सम्बन्ध है। उसे रस्म के बन्धनों से जकड़ना मैं अनावश्यक ही नहीं, पाप समझती हूँ। दिल का मिलना ही विवाह है। रस्म के बन्धन से स्त्री-पुरुष को बाँध देना तो वैसा ही है, जैसे दो पशु एक रस्सी में जोत दिये गये हों। जिस बन्धन का आधार समाज या धर्म का भय है, वह कभी सुखकर नहीं हो सकता। सुख का मूल स्वच्छन्दता है, बन्धन नहीं। प्रेम भी जल-प्रवाह की भाँति मुक्त रहना चाहता है। अवरोध से उसमें कीट पैदा हो जाते हैं, दुर्गन्ध आने लगता है। मेरा तो विचार है कि प्रेम बन्धनों में पड़कर उस प्रकार निष्प्राण हो जाता है, जैसे कोई पौधा प्रकाश न पाकर निर्जीव हो जाता है। मैं स्वेच्छा से यहाँ रात भर बैठी रह सकती हूँ, लेकिन कोई यह द्वार बन्द कर दे तो मैं इसी क्षण यहाँ से निकल भागने के लिए विकल हो जाऊँगी।

योगराज– मैं तो इसके लिये तैयार हूँ जेनी!

जेनी– लेकिन मैं तो तुम्हें काँटों में नहीं उलझाना चाहती। समाज में तुम्हारा जो स्थान है, उसकी रक्षा करना भी मेरे प्रेम का अंग हो गया है। यह मेरे जीवन का नया अनुभव है। मुझे विश्वास है, तुम अपने ऊपर इस निन्दा और अपमान का कोई असर न होने दोगे; लेकिन मनुष्य तो प्रकृति के नियमों में जकड़ा हुआ है। उससे तुम कैसे बच सकते हो? इस ग्लानि और संकट के वातावरण में तुम बहुत दिन अपने को न सँभाल सकोगे। मैं तुम्हारे ऊपर सन्देह नहीं कर रही हूँ लेकिन टाल्सटाय की अन्नाकरिनिना का अन्त मेरी आँखों के सामने फिरा करता है। मैं उसे भूलना चाहती हूँ पर असफल होती हूँ।

योगराज– (निराश होकर) तुम्हारी जैसी इच्छा हो जेनी! मैं तुम्हें मजबूर नहीं कर सकता। जाओ, ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे। कभी-कभी मेरी खोज-खबर लेती रहना ... आज मुझे मालूम हुआ कि उमा मर गयी और अब फिर नहीं आ सकती!

(रोने लगता है। फिर अपने को सँभालकर)

यह सदमा शायद मैं बर्दाश्त न कर सकूँ जेनी, लेकिन जाओ जहाँ रहो सुखी रहो।

जेनी– अपनी शादी में मुझे ज़रूर बुलाना।

योगराज– जल्द ही होगी जेनी! सुनकर तुम खुद आओगी।

जेनी– हाँ, मैं खुद आऊँगी; लेकिन कम-से-कम इत्तला तो देना।

(आभूषणों की सन्दूक़ची उठाकर)

ओर यह आभूपण उस सोभाग्यवती को मेरी ओर से भेंट कर देना।

योगराज– (संदूकची लेकर) धन्यवाद !

(उठकर सिर झुकाये आहिस्ता-आहिस्ता कमरे के वाहर चला जाता है। जेनी एक क्षण तक उसे देखती रहती है, फिर आँखों में आँसू भरे अपना सामान वाँधने लगती है।)

{परदा}

सातवाँ दृश्य

(जेनी का मकान। मिसेज़ गार्डन मुरगियों को दाना चुगा रही है)

विलियम– मिस गार्डन का कोई पत्र आया था ?

मि. गार्डन– हाँ वह खुद दो-एक दिन में आ रही है।

विलियम– मैं तो उसकी ओर से अब निराश हो गया हूँ मिसेज़ गार्डन ! मैं जो कुछ हूँ, वही रहूँगा। मैंने सब कुछ करके देख लिया। वह मेरे वश की नहीं। फिर अब वह खुद एक हज़ार महीना कमाती है। मेरे तीन सौ उसकी नज़र में क्या जँचेंगे। अब तो वह मुझसे वाह भी करना चाहे तो न करूँ।

मि. गार्डन– सच ! आख़िर क्यों उससे नाराज़ हो गये ? उसके एक हज़ार के साथ तुम्हारे तीन सौ मिलाकर तेरह सौ हो जाएँगे। इतना हिसाब भी नहीं जानते ?

विलियम– लेकिन घर में मेरा पोजीशन क्या होगा, इसका भी आप ख़याल करती हैं ? मैं अपनी बीवी की नज़रों में गिरना नहीं चाहता। आख़िर वह किस लिए मेरा दबाव मानेगी, मेरा लिहाज़ करेगी ! सब लोग यही कहेंगे कि अपनी बीवी की रोटियाँ खाता है, बीवी की कमाई पर शान जमाता है।

मिसेज़ गार्डन– (मुसकराकर) तो इसमें क्या बुराई है ? औरत अपने मर्द की कमाई खाती है, उस पर शान जमाती है तब तो उसे ज़रा भी शर्म नहीं आती।

विलियम– अब मैं आपको कैसे समझाऊँ ? मर्द मर्द है, औरत औरत है।

मि. गार्डन– अच्छा, आज मुझे यह नयी बात मालूम हुई। मैं तो समझती थी, मर्द औरत है, औरत मर्द है।

विलियम– आप तो मज़ाक करती हैं। मेरे दिल में जो भाव है उसे कहने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। मर्द चाहता है कि स्त्री उसका मुँह ताके, जिस चीज़ की ज़रूरत हो उससे कहे, उसका अदब और लिहाज़ करे। इसीलिए वह रात-दिन जी तोड़कर परिश्रम करता है, दग़ा-फरेब, छल-कपट सब कुछ केवल इसीलिए करता है, कि स्त्री की निगाहों

में उसकी साख हो। उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा यही होती है कि स्त्री ज़्यादा-से-ज़्यादा खातिर कर सके, ज़्यादा-से-ज़्यादा आराम दे सके। वह स्त्री के ही लिए जीता है। और स्त्री ही के लिए मरता है। वह उस पर न्योछावर हो जाना चाहता है। लेकिन जब स्त्री खुद पुरुष से ज़्यादा कमाती हो तो उसकी नज़र में पुरुष का क्या महत्त्व होगा ?

मि. गार्डन– अच्छा, तुम्हारा यह मतलब है ! लेकिन मैंने तो देखा है कि अक्सर पुरुषों को मालदार स्त्रियों की तलाश रहती है।

विलियम– ऐसे पुरुष बेहया हैं मिसेज गार्डन ! मैं उन्हें निर्लज्ज समझता हूँ। वे हमेशा स्त्री के मोहताज रहते हैं, उसकी खुशामद करते हैं, उसके इशारों पर चलते हैं। स्त्री उन पर शासन करती है, उनके कान पकड़कर जिस तरह चाहती है, उठाती और बैठाती है। मैं तो यह जिल्लत नही सह सकता।

मि. गार्डन– मैंने तो ऐसे मर्द भी देखे हैं, जो स्त्री के धन पर मज़े उडाते हैं और उस पर रोब भी जमाते हैं।

विलियम– उन लोगों को मैं भाग्यवान समझता हूँ। मै अपना शुमार उन भाग्यवानों में नहीं कर सकता। उनमें कुल-प्रतिष्ठा होगी, रूप-आकर्षण होगा, विद्या-गौरव होगा। मुझमें तो इनमें से एक गुण भी नही। मे तो सीधा सादा गरीब मजदूर हूँ। मेरी हिमाकत थी कि मैंने जेनी का रोग पाला। वास्तव में मैं उसके योग्य नही हूँ।

मि. गार्डन– इसीलिए कि वह तुमसे ज़्यादा कमाती है। ?

विलियम– हाँ प्यारी मिसेज गार्डन ! मैंने अपनी ग़लती मालूम कर ली। इस बीच में मैंने एक बात और मालूम कर ली। देखिए। मेरी हँसी न उडाइएगा। मुझे मालूम हुआ है, कि जीवन में मुझे ऐसी सहचरी की जरूरत हे, जो मुझसे ज्यादा अनुभव, ज़्यादा बुद्धि, ज़्यादा धैर्य रखती हो, जो अपनी सलाहों से मेरी सहायता करती रहे, जिस पर में विश्वास कर सकूँ। मे तुममें ये सभी गुण पाता हूँ। (**ज़मीन पर घुटने टेकता है**) मे आपसे प्रोपोज करता हूँ, मिसेज़ गार्डन ! देखिए खुदा के लिए इन्कार न कीजिएगा। मुझे अब ज्ञात हुआ कि जीवन के आनन्द के लिए रूप और योवन की इतनी ज़रूरत नहीं है, जितनी अनुभव और सेवाभाव की। रूपवती युवती मुझमें हज़ारों त्रुटियाँ पाएगी। वह अपने साथ सन्देह और ईर्ष्या लाती है। मुझे उसकी जासूसी करनी पड़ेगी। वह किससे बोलती है, किससे हँसती है, कहाँ जाती है, मुझे उसकी एक-एक गति पर निगाह रखनी पड़ेगी। यह झझट मेरे मान का नही। आपके ऊपर मैं पूर्ण विश्वास कर सकता हूँ। आप मुझसे

कपट नहीं कर सकतीं।

मि. गार्डन– **(हर्षोन्मत्त होकर)** भला सोचो तो विलियम, दुनिया क्या कहेगी, कि इस औरत को बुढ़ापे में यह हवस पैदा हुई है। यही करना था तो आज से तीन साल पहले क्यों न किया ? तब तो मैं इतनी बूढ़ी न थी। तब शायद तुम्हें कुछ अधिक सन्तुष्ट कर सकती।

विलियम– इसका तो मुझे भी खेद है।

मि. गार्डन– अच्छा बतलाओ, मुझ पर रोब तो न जमाओगे ?

विलियम– नहीं, खुदा की क़सम। मैं आपके हुक्म के बग़ैर एक पग भी न चलूँगा।

(मिसेज़ गार्डन विलियम को छाती से लगाती है।)

मि. गार्डन– मै तुम्हारी ओर से बहुत आशंकित थी विलियम, कि कहीं तुम किसी मायाविनी के जाल मे फँस न जाओ। तुम इतने सरल, इतने निष्कपट, इतने भोले-भाले हो कि मुझे तुम्हारी ओर से बराबर यही खटका लगा रहता था। इसीलिए मै तुम्हें जेनी से मिलाती रहती थी। जेनी मे और चाहे कितनी ही बुराइयाँ हों, चंचलता नहीं है। तुम्हे याद है प्यारे विलियम, मेरी तुमसे पहली मुलाकात पार्क मे हुई थी। मै गिरजे से लौट रही थी। उसी दिन तुमने मेरे हृदय मे स्थान पा लिया था। मेरे दिल ने उसी दिन कहा था कि यह चिड़िया एक दिन तेरे पिजंरे मे आएगी। आज वह सौभाग्य मुझे प्राप्त हो गया। चलो, हम दोनो गिरजे में खुदा का शुक्र करें।

{परदा}

आठवाँ दृश्य

(जेनी का विशाल भवन। जेनी एक सायेदार वृक्ष के नीचे एक चेयर पर विचार-मग्न बैठी है।)

जेनी– **(स्वगत)** मन को विद्वानों ने हमेशा चंचल कहा है। लेकिन मैं देखती हूँ कि इससे ज़्यादा स्थिर वस्तु संसार में न होगी। कितना प्रयत्न किया कि रज्जन को भूल जाऊँ; लेकिन जितना ही उससे दूर भागती हूँ उतना फन्दा और कठोर होता है। महीनों से पिआनो पर नहीं बैठी। दिल जैसे मर गया है। वही सूरत आँखों में फिरती है, वही बातें कानों में गूँजती हैं। यहीं रज्जन से रूपवान् पुरुष पड़े हुए हैं, उनसे कहीं विद्वान्, पर किसी से बोलने की इच्छा नहीं होती। मैं जानती हूँ, मैं जरा भी हिम्मत दिलाऊँ तो वे मुझ पर प्राण देने लगेंगे। कितने आसक्त, लुब्ध नेत्रों से मेरी ओर देखते हैं। किसी से दो-एक बात कर लेती हूँ तो कितने निहाल हो जाते हैं। पर उस देवता के सामने ये सब खिलौने हैं। खिलौने में रंग है, रूप है, कला है, उस देवता से कहीं ज़्यादा; पर कुछ बात है जो देवता में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न करती है, खिलौनों के प्रति केवल विनोद का भाव। वह क्या बात है ? प्यारे रज्जन ! तुमने मुझ पर क्या जादू कर दिया ?

(मिसेज विलियम आती है।)

मि. विलियम– तू यहाँ कब तक बैठी रहेगी जेनी ! अब तो शबनम पड़ने लगी ?

जेनी– कमरे में तो मेरा दम घुटता है मामा !

मि. विलियम– मैंने बहुत अच्छा पुडिंग बनाया है। चल थोड़ा सा खा ले। तूने दिन-भर कुछ नहीं लिया। ज़रा आईने में अपनी सूरत देख। जैसे छः महीने की रोगिनी हो।

जेनी– मेरी अभी कुछ खाने की इच्छा नहीं है मामा ! क्षमा करो। इधर कई दिन से रज्जन का कोई ख़त नहीं आया। मेरा दिल धड़क रहा है। कहीं दुश्मनों की तबियत ख़राब न हो।

मि. विरियम– जब तेरी तबियत का यह हाल है तो क्यों रज्जन से विवाह नहीं कर लेती ? वह बेचारा हर तरह राजी है; पर तुझे न जाने क्या खब्त

हो गया है। खुद भी मरती है और उस बेचारे को भी रुलाती है। जब वह धर्म की और सम्बन्धियों की परवाह नहीं करता तो उससे क्यों नहीं कहती– प्रभु मसीह पर ईमान लाये। प्रेम का उद्देश्य जीवन का सुख है, या सारी उम्र रोते रहना ?

जेनी– यही तो मैं भी सोचती हूँ मामा ! क्या हरज था अगर मैं अपनी शुद्धि करा लेती। मुझमें तो कोई तब्दीली हो न जाती, हाँ उनके समाज को सन्तोष हो जाता। अगर मैं जानती उनका हृदय इतना कोमल है तो उन्हें छोड़कर न आती। मुझे तो अब अपनी ज़िद पर पछतावा हो रहा है। धर्म और सिद्धान्त आदमी के लिये हैं। आदमी उनके लिए नहीं है। मामा, मैं तुमसे अपनी विकलता क्या कहूँ। ऐसा मन होता है कि पर होते तो इसी वक़्त उड़कर पहुँच जाती और कहती– डार्लिंग मुझे क्षमा करो। यह तीन महीने मैंने जिस तरह काटे हैं वह तुमने देखा है, पर मेरे दिल पर जो कुछ गुज़री है वह कौन जान सकता है ? एक क्षण के लिए भी उनकी सूरत आँखों से नहीं उतरी। ऐसे प्रेम पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाले प्राणी भी संसार में हैं, वह मैंने उन्हीं को देखा। मुझे स्वर्ग की विभूति मिल रही थी मामा! मैंने समाज के भय से उसे ठुकरा दिया। मैंने समझा था मामा, मेरे चले जाने के बाद भोग-विलास में इनका जी बहल जाएगा, फिर किसी युवती से विवाह करके इनका जीवन सुखी हो जाएगा। क्या जानती थी वह मेरे वियोग में अपने को घुला डालेंगे। कल अगर उनका पत्र न आएगा तो मैं चली जाऊँगी मामा ! तब मुझे तुम्हारी बड़ी चिन्ता थी मामा ? मैं डरती थी कहीं मैं उनसे विवाह कर लूँ तो तुम ज़हर न खा लो। अब मैं तुम्हारी ओर से भी निश्चिन्त हूँ।

मि. विलियम– क्या तू समझती है विलियम से शादी कर लेने से मेरे दिल में तेरी वह मुहब्बत नहीं रही ?

जेनी– यह बात नही मामा ! कम-से-कम तुम्हारे साथ एक आदमी तो है, जो तुम्हारी रक्षा करता रहेगा।

मि. विलियम– विलियम मेरे पीछे पड़ गया, प्राण दिया देता था, नहीं इस उम्र में मुझे शौहर की हवस नहीं थी।

जेनी– तो मैं तुम्हें कुछ कहते थोड़े ही हूँ मामा ! विलियम में अगर दो-एक बुराइयाँ हैं तो हज़ारों खूबियाँ भी हैं। मैं तो ज्यों-ज्यों उनका परिचय पाती हूँ; उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती है। वह सचमुच ही तुम्हारे योग्य थे मामा !

(चपरासी तार लाता है। जेनी का रंग उड़ जाता है। काँपते हुए हाथों से लेती है। पढ़ते ही मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती है–)

Yograj breathed his last with Jenny's name on his lips to the last moment.

मि. विलियम– या खुदा, या मेरे परवरदिगार, यह क्या गजब हुआ !

(जेनी के हृदयस्थल पर हाथ रखती है। फिर बदहवास दौड़ी हुई अन्दर जाती है और गुलाबजल लाकर जेनी के मुख पर छिड़कती है। समीप कोई पंखा न होने के कारण उस समाचार-पत्र से हवा करती है जो जेनी ने पढ़कर कुरसी के नीचे रख दिया था। बीच-बीच में खुदा का नाम लेती जाती है और इन्तज़ार भरी आँखों से फाटक की ओर देखती है कि विलियम आता होगा। एक मिनट के बाद जेनी सचेत हो जाती है।)

जेनी– मैं बिलकुल अच्छी हूँ मामा, तुम जरा न घबराओ। न जाने कैसा जी हो गया था, जैसे दिल बैठ गया हो। अब बिलकुल अच्छी हूँ। इसका भय तो मुझे पहले से था। जिस वक़्त मैं वहाँ से चली, उसी वक्त उनकी हालत देखकर मुझे वह शंका हुई थी; लेकिन मैंने सोचा मर्द हैं, दस-पाँच दिन में इनका जी बहाल हो जाएगा। क्या जानती थी यह दिन देखना पड़ेगा।

(एक क्षण में उसकी आँखें फिर चंचल हो जाती हैं। हिस्टीरिया की-सी दशा हो जाती है।)

कौन कहता है वह मर गये ? बिलकुल झूठ है। वह मेरे सामने हैं, मेरी आँखों में हैं, मेरे हृदय में हैं। हाँ, उसी तरह खड़े मुझे प्रेमातुर नेत्रों से देख रहे हैं। ज़रा उनकी नटखटी तो देखो मामा, परदे की आड़ में छिप-छिपकर मुझे धोखा देते हैं। मुँह धो रखिए, मैं ऐसे धोखे में नहीं आने की।

(यकायक उठकर कमरे की तरफ़ चलती है। उसकी माँ भी पीछे-पीछे आती है। जेनी अपनी मेज़ पर से योगराज का चित्र उठाकर उसे हृदय से लगाती है। और उसका चुम्बन लेती है।)

मि. विलियम– जेनी, खुदा के लिए दिल को समझाओ।

जेनी– दिल को समझाकर क्या होगा मामा। अब वह किसके काम का है। फिर जब वह मेरे पास भी हो ! वह तो रज्जन के साथ गया। नही, मैं इस तरह बैठी रहती ! सज्जन मर जाते और मै इस तरह बैठी रहती ! ऐ ! मैं इस तरह बैठी रहती ! आँखों से खून निकल पड़ता, मेरी लाश ज़मीन पर पड़ी होती। लेकिन मैं यहीं बैठी हूँ जैसे मुझे कुछ हुआ ही नहीं है।

(वह तस्वीर को मेज पर रख देती है और योगराज के पत्रों को निकालती है जो एक मखमली केस में रखे हुए हैं।)

मेरी अच्छी मामा, ज़रा बैठ जाओ, मैं तुम्हें उनके पत्र सुनाऊँ–'मेरी

बेवफा जेनी' मैं उस वक़्त उनसे रूठ गयी थी कि मुझे बेवफा क्यों कहा; लेकिन अब मालूम हुआ उन्होंने मुझे खूब पहचान लिया था। बेवफा तो मैं हूँ ही, नहीं उन्हें वहाँ छोड़कर चली आती। मैं बेवफा हूँ, बेदर्द हूँ, मायाविनी हूँ ! हाय ! ये गालियाँ कितनी प्यारी लगती हैं। तब मैंने उन्हें डाँट बतायी थी ! इस आक्षेप को स्वीकार न करती थी। आज रज्जन के ये शब्द कितने मीठे, कितने मर्मस्पर्शी हैं। अब मुझे कौन बेवफा कहेगा, कौन बेदर्द कहेगा ! कौन मायाविनी कहेगा? अब किसके साथ बेवफाई करूँगी मामा, बताओ कैसे दिल को समझाऊँ ? कैसे इस अभागे को समझाऊँ ?

(सिर के बाल नोचती है। मिसेज़ विलियम उसे छाती से लगाती है।)

मि. विलियम– बेटा, जेनी, मेरा कलेजा !

जेनी– मामा मैं भूली जाती हूँ, उन्हें छोड़कर यहाँ क्या करने आयी थी ' बिलकुल याद नहीं आती। बताओ, मैं यहाँ क्या करने आयी थी मैंने क्यों उन्हें कत्ल किया ? हाँ, याद आ गया ! उनके कुल-मर्यादा और धर्म की रक्षा करने के लिए ! अपने धर्म की रक्षा करने [illegible]ाए! सोचो इस अनर्थ को ! जिसके चरणों पर अपने प्राणो को अर्पित कर देना मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी, उसे मैंने इन्हीं हाथों से कत्ल किया। मैंने नहीं, मेरे धर्म ने कत्ल कर दिया। धर्म ने भी नहीं मेरी अभिलाषा ने कत्ल किया। लोगों ने यह तरह-तरह के मत बनाकर ससार में कितना विष बोया है, कितनी आग लगायी है, कितना द्वेष फैलाया है। क्या धर्म इसीलिए आया है कि आदमियों की अलग-अलग टोलियाँ बनाकर उनमें भेद-भाव भर दे ? ऐसा धर्म लुटेरों का हो सकता है, स्वार्थियों का हो सकता है, मूर्खों का हो सकता है, ईश्वर का नहीं हो सकता।

मि. विलियम– बेटा, धर्म खुदा ने न भेजा होता, तो दुनिया अब तक तबाह हो गयी होती। आदमी-आदमी को खा गया होता। बाइबिल तो खुदा का क़लामे पाक है।

जेनी– खुदा के तो सभी क़लामे पाक हैं; लेकिन उन पाक-क़लामों ने ससार का क्या उपकार किया, इंसान की इंसानियत को कितना सुधारा ? आज दौलत जिस तरह आदिमियो का खून बहा रही है, उसी तरह, उससे ज़्यादा बेदर्दी से, धर्म ने आदमियों का खून बहाया है। दौलत कम-से-कम इतनी निर्दय, इतनी कठोर नहीं होती ! लेकिन दौलत वही कर रही है जिसकी उससे आशा थी, धर्म तो प्रेम का सन्देश लेकर आता है और काटता है आदमियों का गला ! वह मनुष्य के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर देता है जिसे पार नहीं किया जा सकता।

आखिर सम्पूर्ण जगत् की एक ही आत्मा तो है। धर्म का यह भेद क्या आत्मा की एकता को मिटा सकता है ? वह खुदा जो एक-एक अणु में मौजूद है, उसे हम गिरजे और मसज़िद और मन्दिर में बन्द कर देते हैं और एक दूसरे को काफिर और मलेच्छ कहते है। पूछो, उस विश्वात्मा को तुम्हारे इन झगड़ों से क्या मतलब ? उसे इसकी क्या परवा कि तुम गिरजे मे जाते हो या मसज़िद मे। वह तो केवल इतना देखती है, कि तुम प्रेम से रहते हो या नही। उसके मुक्त प्रवाह में जो कोई भी मेड़ें बाँधेगा, वह प्रकृति के नियम को तोड़ेगा और उसे इसकी सज़ा ज़रूर मिलेगी। हम आये दिन वह सज़ा पा रहे हैं, फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। आदमी की शक्ति है, कि उस जगदात्मा को टुकड़ों में बाँट सके ? उस व्यापक चेतना को ! कभी नहीं। वह तो कोई धर्म नही।

मि गार्डन– खुदा ने तो केवल हमारे नबी को भेजा था।

जेनी– खुदा ने किसी नबी को भी नहीं भेजा मामा। हमारे जितने धर्म है सभी बिगड़े हुए समाज को सुधारने की तदबीरें है; लेकिन धर्मो पर खुदा की कुछ ऐसी मार है, कि वह आते तो हैं सुधार के लिए; लेकिन उलटे और बिगाड कर जाते हैं। यह वही पुराने ज़माने की गिरोहबन्दी है, जब गुफाओं में बसनेवाला आदमी हिंसक पशुओं या अपनी ही जाति की दूसरी टोलियों में अपनी रक्षा करने के लिए गिरोह बनाकर रहता था। नबी आये, वली आये, अवतार हुए, खुदा खुद आया, बार-बार आया। नतीजा क्या हुआ ? लड़ाई और कत्ल ! रंग का भेद, नस्ल का भेद, इन सब भेदो को मिटाने का टीका लिया था धर्म ने; लेकिन वह स्वयं भेद का कारण बन गया, ऐसे भेद का, जो सब भेदो से कठोर है। मैं तुम्हारी लड़की हूँ, मुझे तुमने अपने प्राणो का रक्त पिलाकर पाला है। मै जानती हूँ तुम्हें संसार मे मुझसे प्यारी कोई वस्तु नहीं है; लेकिन आज मैं गिरजे में न जाकर मसजिद में प्रार्थना करने जाऊँ तो तुम मेरी सूरत से नफरत करोगी। सम्भव है, अपने हाथों से मेरी हत्या कर डालो। मैं भी वही हूँ, तुम भी वही हो, फिर यह द्वेष कहाँ से आ गया। मैं कहती हूँ यह धर्म का प्रसाद है जिसने हमारे मन को संकीर्ण बना डाला है।

मि गार्डन– तू मुझे इतनी धर्मान्ध समझती है बेटी ! मुझे अफ़सोस ज़रूर होगा, मैं खुदा से तेरी मुक्ति के लिये दुआ करूँगी; लेकिन तेरा अहित नहीं कर सकती, कभी नहीं।

(जेनी माँ के गले लिपटकर उसका चुम्बन लेती है)

जेनी– मामा, खुदा तुझे ज़न्नत में जगह दे, तुमने मेरे हृदय का बोझ उतार

दिया। अव मुझे कोई शंका नहीं, कोई वाधा नहीं। आज मैं इन सारे ढकोसलों को, इन सारे वनावटी वन्धनों को, प्रेम की वेदी पर अर्पण करती हूँ। यही ईश्वर का धर्म है। धन का धम, विद्या का धर्म, राष्ट्र का धर्म संघर्ष हो सकता है। खुदा का धर्म प्रेम है और इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ। शेष धोखा है। आप फ़ौरन मोटर मँगवाइए। गाड़ी तो दो वजे रात को जाएगी। मैं उसका इन्तज़ार नहीं कर सकती। मोटर से जाऊँगी। सवेरे तक पहुँच जाऊँगी। वहीं प्रभात के शुभ-मुहूर्त में रुज्जन से मेरा विवाह होगा, वड़ी धूम-धाम के साथ, हवन-कुण्ड की परिक्रमा करके, श्लोक और मन्त्र पढ़कर। मेरे लिए आलटर और हवन-कुण्ड में कोई अन्तर नहीं रहा। मुझे शक्ति दो ईश्वर! कि आजीवन इस व्रत को निभा सकूँ। परम पिता! मुझे वल दो, धैर्य और वुद्धि दो।

(प्रथम प्रकाशन : सन् 1933)


विविधा

बाल-कहानियाँ

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक-परिचय

पुस्तक भूमिका

लेख एवं सम्पादकीय

पत्र

साक्षात्कार

भाषण

यात्रा

शेर और लड़का

बच्चो, शेर तो शायद तुमने न देखा हो, लेकिन उसका नाम तो सुना ही होगा। शायद उसकी तसवीर देखी हो और उसका हाल भी पढ़ा हो। शेर अक्सर जंगलों और कछारों में रहता है। कभी-कभी वह उन जंगलों से आस-पास के गाँवों में आ जाता है और आदमी और जानवरों को उठा ले जाता है। कभी-कभी उन जानवरों को मारकर खा जाता है, जो जंगलों में चरने जाया करते हैं। थोड़े दिनों की बात है कि एक गड़ेरिया का लड़का गाय-बैलों को लेकर जंगल में गया और उन्हें जंगल में छोड़कर आप एक झरने के किनारे मछलियों का शिकार खेलने लगा। जब शाम होने को आयी तो उसने अपने जानवरों को इकट्ठा किया, मगर एक गाय का पता न था। उसने इधर-उधर दौड़ धूप की, मगर गाय का पता न चला। बेचारा बहुत घबराया। मालिक मुझे जीता न छोड़ेंगे। इस वक्त ढूँढ़ने का मौका न था, क्योंकि जानवर फिर इधर-उधर चले जाते; इसलिए वह उन्हें लेकर घर लौटा और उन्हें बाड़े में बाँधकर, बिना किसी से कुछ कहे हुए गाय की तलाश में निकल पड़ा। उस छोटे लड़के की यह हिम्मत देखो! अँधेरा हो रहा है, चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ है, जंगल भाँय-भाँय कर रहा है, गीदड़ का होवाना सुनाई दे रहा है, पर वह बेखौफ जंगल में बढ़ा चला जा रहा था।

कुछ देर तक तो वह गाय को ढूँढ़ता रहा, लेकिन जब अँधेरा हो गया तो उसे डर मालूम होने लगा। जंगल में अच्छे अच्छे आदमी डर जाते हैं, उस छोटे-से बच्चे का कहना ही क्या। मगर जाये कहाँ? जब कुछ न सूझी तो एक पेड़ पर चढ़ गया और उसी पर रात काटने की ठान ली। उसने पक्का इरादा कर लिया था कि बगैर गाय को लिये घर न लौटूँगा। दिन भर का थका-माँदा तो था ही, उसे जल्दी नींद आ गयी। नींद चारपाई और बिछावन नहीं ढूँढ़ती।

अचानक पेड़ इतनी जोर से हिलने लगा कि उसकी नींद खुल गयी। गिरते-गिरते बच गया। सोचने लगा; पेड़ कौन हिला रहा है? आँखें मलकर नीचे की तरफ देखा तो उसके रोयें खड़े हो गये। एक शेर पेड़ के नीचे खड़ा उसकी तरफ ललचायी हुई आँखों से ताक रहा था। उसकी जान सूख गयी। वह दोनों हाथों से डाल से चिमट गया। नींद भाग गयी।

* जंगल की कहानियाँ—यहाँ आरम्भिक पाँच बाल कहानियाँ प्रस्तुत हैं।

कई घण्टे गुजर गये, पर शेर वहाँ से ज़रा भी न हिला। वह बार-बार गुर्राता और उछल-उछलकर लड़के को पकड़ने की कोशिश करता। कभी-कभी तो वह इतने नजदीक आ जाता कि लड़का ज़ोर से चिल्ला उठता।

रात ज्यों-त्यों कटी, सवेरा हुआ। लड़के को कुछ भरोसा हुआ कि शायद शेर उसे छोड़कर चला जाये। मगर शेर ने हिलने का नाम तक न लिया। सारे दिन वह उसी पेड़ के नीचे बैठा रहा। शिकार सामने देखकर वह कहाँ जाता। पेड़ पर बैठे-बैठे लड़के की देह अकड़ गयी थी, भूख के मारे बुरा हाल था, मगर शेर था कि वहाँ से जौर भर भी न हटता था। उस जगह से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा झरना था। शेर कभी-कभी उस तरफ़ ताकने लगता था। लड़के ने सोचा कि शेर प्यासा है। उसे कुछ आस बँधी कि ज्योंही वह पानी पीने जायेगा, मैं भी यहाँ से खिसक चलूँगा। आखिर शेर उधर चला। लड़का पेड़ पर से उतरने की फ़िक्र कर ही रहा था कि शेर पानी पीकर लौट आया। शायद उसने भी लड़के का मतलब समझ लिया था। वह आते ही इतनी ज़ोर से चिल्लाया और ऐसा उछला कि लड़के के हाथ-पाँव ढीले पड़ गये, जैसे वह नीचे गिरा जा रहा हो। मालूम होता था, हाथ-पाँव पेट में घुसे जा रहे हैं। ज्यों-त्यों करके वह दिन भी बीत गया। ज्यों-ज्यों रात होती जाती थी, शेर की भूख भी तेज होती जाती थी। शायद उसे यह सोच-सोचकर गुस्सा आ रहा था कि खाने की चीज़ सामने रखी है और मैं दो दिन से भूखा बैठा हूँ। क्या आज भी एकादशी रहेगी? वह रात भी उसे ताकते ही बीत गयी।

तीसरा दिन भी निकल आया। मारे भूख के उसकी आँखों में तितलियाँ-सी उड़ने लगी। डाल पर बैठना भी उसे मुश्किल मालूम होता था। कभी-कभी तो उसके जी में आता कि शेर मुझे पकड़ ले और खा जाये। उसने हाथ जोड़कर ईश्वर से विनय की–भगवान, क्या तुम मुझ ग़रीब पर दया न करोगे?

शेर को भी थकावट मालूम हो रही थी। बैठे-बैठे उसका जी ऊब गया। वह चाहता था किसी तरह जल्दी से शिकार मिल जाये। लड़के ने इधर-उधर बहुत निगाह दौड़ाई कि कोई नज़र आ जाय, मगर कोई नजर न आया। तब वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। मगर वहाँ उसका रोना कौन सुनता था।

आख़िर उसे एक तदबीर सूझी। वह पेड़ की फुनगी पर चढ़ गया और अपनी धोती खोलकर हवा में उड़ाने लगा कि शायद किसी शिकारी की नज़र पड़ जाये। एकाएक वह ख़ुशी से उछल पड़ा। उसकी सारी भूख, सारी कमज़ोरी गायब हो गयी। कई आदमी झरने के पास खड़े उस उड़ती हुई झण्डी को देख रहे थे। शायद उन्हें अचम्भा हो रहा था कि, जंगल के पेड़ पर झण्डी कहाँ से आयी। लड़के ने उन आदमियों को गिना–एक, दो, तीन, चार।

जिस पेड़ पर लड़का बैठा था वहाँ की ज़मीन कुछ नीची थी। उसे ख़्याल आया कि अगर वे लोग मुझे देख भी लें तो उनको यह कैसे मालूम हो कि इसके नीचे तीन दिन का भूखा शेर बैठा हुआ है। अगर मैं उन्हें होशियार न कर दूँ तो यह दुष्ट किसी-न-किसी को ज़रूर चोट कर जायेगा। यह सोचकर वह पूरी ताक़त

से चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनते ही वे लोग रुक गये और अपनी-अपनी बन्दूकें सम्हालकर उसको ताकने लगे।

लड़के ने चिल्लाकर कहा, "होशियार रहो! होशियार रहो! इस पेड़ के नीचे एक शेर बैठा हुआ है!"

शेर का नाम सुनते ही वे लोग सँभल गये, चटपट बन्दूकों में गोलियाँ भरीं और चौकन्ने होकर आगे बढ़ने लगे।

शेर को क्या खबर कि नीचे क्या हो रहा है। वह तो अपने शिकार की ताक में घात लगाये बैठा था। एकाएक पैरों की आहट पाते ही वह चौंक उठा और उन चारों आदमियों को एक टीले की आड़ में देखा। फिर क्या कहना था। उसे मुँह माँगी मुराद मिली। भूख में सब्र कहाँ। वह इतने जोर से गरजा कि सारा जंगल हिल गया और उन आदमियों की तरफ जोर से जम्प मारी। मगर वे लोग पहले ही से तैयार थे। चारों ने एक साथ गोली चलायी। दन! दन! दन! दन! आवाज हुई। चिड़ियाँ पेड़ों से उड़-उड़कर भागने लगीं। लड़के ने नीचे देखा, शेर जमीन पर गिरा पड़ा था। वह एक बार फिर उछला और फिर गिर पड़ा। फिर वह हिला तक नहीं।

लड़के की खुशी का क्या पूछना। भूख प्यास का नाम तक न था। चटपट पेड़ से उतरा तो देखा सामने उसका मालिक खड़ा है। वह रोता हुआ उसके पैरों पर गिर पड़ा। मालिक ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया और बोला, "क्या तू तीन दिन से इसी पेड़ पर था?"

लड़के ने कहा, "हाँ, उतरता कैसे? शेर तो नीचे बैठा था।"

मालिक, "हमने तो समझा था कि किसी शेर ने तुझे मारकर खा लिया। हम चारों आदमी तीन दिन से ढूँढ रहे हैं। तूने हमसे कहा तक नहीं और निकल खड़ा हुआ।"

लड़का, "मैं डरता था, गाय जो खोयी थी।"

मालिक, "अरे पागल, गाय तो उसी दिन आप ही आप चली आयी थी।"

भूख प्यास से शक्ति तक न रहने पर भी लड़का हँस पड़ा।

बनमानुष की दर्दनाक कहानी

आज हम तुम्हें एक बनमानुष का हाल सुनाते हैं। सामने जो तसवीर है, उससे तुम्हें मालूम होगा कि बनमानुष न तो पूरा बन्दर है, न पूरा आदमी। वह आदमी और बन्दर के बीच में एक जानवर है। मगर वह बड़ा बलवान होता है और आदमियों को बड़ी आसानी से मार डालता है। वह अधिकतर अफ्रीका के जंगलों में पाया जाता है।

एक दिन एक शिकारी अफ्रीका के क्लब में बैठा हुआ अख़बार पढ़ रहा था कि उसका एक दोस्त घबराया हुआ कमरे में आया और बोला, "एक हब्शी दूर से यहाँ आया है और कहता है कि पास के जंगल में एक नर बनमानुष निकला है, जो सिर्फ़ आदमियों को मार रहा है।" शिकारी ने उस हब्शी को बुलाकर पूछताछ की तो मालूम हुआ कि उबांशी जाति के एक आदमी ने उस बनमानुष के जोड़े को मार डाला है। शायद इसीलिए वह आदमियों को मार रहा है। हब्शी ने कहा, "साहब ऐसे डीलडौल का बनमानुष कहीं देखने में नहीं आया था। बड़े-बड़े जवानों को बात की बात में मार डालता है। ताज्जुब तो यह है कि वह चुन-चुनकर उसी जाति के आदमियों को मारता है। अब तक क़रीब दस उबांशियों को मार चुका है।" शिकारी शेर का शिकार करने आया था, पर उसने दिल में सोचा–यह बनमानुष तो शेर से भी ज़्यादा ख़ौफ़नाक है। पहले इसी को क्यों न मारूँ ?

दूसरे दिन उसने तड़के ही शिकार का सामान ठीक-ठाक किया और उसी हब्शी को लेकर जंगल की तरफ़ चल खड़ा हुआ। कई सिपाही भी मौजूद थे। वे भी अपनी छोलदारियाँ और बन्दूक़ें लेकर चलने को तैयार हो गये। हब्शी राह दिखाता हुआ आगे-आगे चलने लगा।

दिन भर लगातार चलने के बाद वे लोग उबांशियो के गाँव मे पहुँचे। रास्ते में बहुत-से जानवर मिले, पर बनमानुष का कहीं निशान तक न मिला। अफ्रीका के सब गाँव क़रीब-क़रीब एक ही तरह के होते हैं। गाँव के बीच में उबांशियों के सरदार का झोंपडा था, जो चारों ओर बाँसों से घिरा हुआ था। एक बड़े डील-डौल का आदमी कंधे पर बन्दूक़ रखे सामने टहल रहा था।

शिकारियो की ख़बर पाकर पाकर उबांशी सरदार उनसे मिलने आया और फौजी सलाम करके बोला, "आप लोग ख़ूब आये, अब मुझे उम्मीद है कि बनमानुष जरूर मारा जायेगा। हम लोगों का तो घर से निकलना मुश्किल हो गया है।" शिकारी ने गरूर के साथ कहा, "हाँ देखो क्या होता है, आये तो इसी इरादे से हैं।"

शिकारियो ने सरदार के झोंपड़े के पास ही अपनी छोलदारियाँ लगा दी और पेट देवता की पूजा करने की फ़िक्र करने लगे कि अचानक किसी के कराहने की आवाज़ आयी, जैसे उसका कोई मर गया हो। शिकारी ने पूछा, "यह कौन रो रहा है ?"

हब्शी ने घबरायी हुई आवाज़ में कहा, "हुज़ूर, यह वही बनमानुष है। दिन भर अपने मुर्दा जोड़े के पास बैठा रोता है रात होते ही इधर-उधर घूमने लगता है। न मालूम किस वक़्त चुपके से गाँव में घुस आता है और किसी-न-किसी उबांशी को मार डालता है। और किसी जाति के आदमी से नहीं बोलता।"

लोग दिन भर के थके-माँदे, भूखे-प्यासे थे। बनमानुष का शिकार करने की किसे सूझती थी। जब लोग खा-पीकर फारिग हुए तो सलाह होने लगी कि बनमानुष का शिकार कैसे किया जाये ? उबांशी सरदार ने कहा, "रात को आप लोग उसे नहीं पा सकते। दिन को ही उसका शिकार हो सकता है।"

शिकारियो को भी उसकी सलाह पसन्द आयी। सब अपनी छोलदारियों में घुस गये और बाहर पहरे का यह बन्दोबस्त कर दिया कि दो-दो घण्टे के बाद पहरा बदल दिया जाये। शिकारी थका था, जल्दी ही सो गया, लेकिन थोड़ी ही देर सोया था कि उसकी नींद टूट गयी और सामने एक परछाई-सी खड़ी दिखायी दी। उसकी आँखें आग की तरह जल रही थीं। अफ़सर ने फ़ौरन आवाज़ दी, "सन्तरी !"

पर कोई जवाब न मिला। न मालूम यह आवाज़ सन्तरी के कानों तक पहुँची भी या नहीं।

अफ़सर ने तुरन्त बिजली की बत्ती जलायी। उसका कलेजा सन्न हो गया। सामने छः फीट का वनमानुष खड़ा था और उसके हाथ मे सन्तरी की बन्दूक़ थी, जिसकी नली बिलकुल टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी थी। वह शिकारी की ओर आँखे जमाये हुए था, जैसे सोच रहा हो कि इसे मारूँ या छोड़ दूँ। उसका डरावना चेहरा देखकर शिकारी की घिग्घी बँध गयी, मुँह से आवाज़ तक न निकली।

अचानक बाहर किसी चीज़ के गिरने का धमाका हुआ। शायद कोई संतरी अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ा था। वनमानुष ने झट बन्दूक़ फेंक दी और उछलकर छोलदारी से बाहर निकल गया। अब अफ़सर साहब के होश ठिकाने हुए। बिछावन से उठे, बन्दूक़ सँभाली, बाहर निकले और बिजली की ललटेन लेकर बनमानुष तलाश करने लगे, लेकिन वह वहाँ कहाँ था। मगर इससे ज़्यादा ताज्जुब की बात यह थी कि उस सन्तरी का भी कहीं पता न था, जो पहरा दे रहा था।

शिकारी ने अबकी सन्तरी को ताकीद कर दी कि खूब होशियार रहे, मगर सोने की हिम्मत न पड़ी। बिजली की रोशनी मे बैठे-बैठे गप-शप करके रात काटी। दूसरे दिन तड़के सब लोग शिकार करने चले। गाँव के आदमी उन्हें विदा करने के लिए गाँव के बाहर तक आये। अच्छी ख़ासी भीड़ जमा हो गयी। शिकारी लोग झाड़ियों की आड में चलने लगे, जिसमे वनमानुष उनकी आहट पाकर कहीं भाग न जाये। हब्शी को वह जगह मालूम न थी, जहाँ मादा वनमानुष मरी पड़ी थी। उसी के पीछे लोग चले जा रहे थे। जाते-जाते रास्ते मे एक जगह बड़ी बदबू आने लगी। हब्शी सहमकर ठिठक गया और कान लगाकर सुनने लगा। वहीं रोने की आवाज़ सुनायी दी। शिकारी ने अपने साथियों से कहा, "तुम लोग बन्दूकें तैयार रखो, मैं आगे-आगे चलता हूँ।" मगर अभी दो सौ क़दम न गया था कि उसे वह नज़र आया। मगर वह अकेला न था, उसके जोड़े की लाश भी वहीं पड़ी हुई थी। वनमानुष उस लाश पर झुका हुआ अपने दोनों हाथों से छाती पीट-पीट कर रो रहा था। उसके चेहरे से ऐसा मालूम हो रहा था, मानो वह अपने जोड़े से कह रहा हो कि एक बार फिर उठो, चलो यह देश छोड़कर उस देश में जाकर बसें, जहाँ के आदमी इतने निर्दयी, इतने कठोर नहीं हैं। जब वह देखता था कि उसके इतना समझाने पर भी मादा न तो बोलती है और न हिलती है, तो वह छाती पीटकर रोने लगता था।

यह हाल देखकर शिकारी का दिल दर्द से पिघल गया। बन्दूक उसके हाथ

से गिर पड़ी। शिकारी का जोश ठंडा हो गया। साथियों को लेकर वह डेरे पर लौट आया। सब लोग वहाँ बैठकर बातें करने लगे, "देखो, जानवरों में भी कितनी मोहब्बत होती है, लाश सड़ गयी है, मगर नर अभी तक उसे नहीं छोड़ रहा है। उबांशियों ने यह बहुत बुरा काम किया कि उसके जोड़े को मार डाला।"

अभी यही बातें हो रही थी कि देखा कई आदमी एक लाश लिये चले आ रहे हैं। शिकारी लाश को फ़ौरन पहचान गया। यह उस सन्तरी की लाश थी। मालूम हो गया कि उसी बनमानुष ने रात को उसे मार डाला है। शिकारी क्रोध से अन्धा हो गया, बोला, "अब इस दुष्ट को किसी तरह न छोड़ूँगा। ऐसे खूनी जानवरों पर दया करना पाप है। आज उसका काम तमाम करके ही दम लूँगा।"

यह कहकर फिर उसी जगह जा पहुँचा, जहाँ मादा मरी पड़ी थी। मगर अवकी बनमानुष वहाँ न दिखायी दिया। तब ये लोग उसके पैर का निशान देखते हुए उसकी खोज में चले। आख़िर एक पहाड़ी के नीचे से जहाँ एक पहाड़ी नदी बहती थी, बनमानुष आता दिखायी दिया। उसकी देह से बूँद-बूँद पानी टपक रहा था। मालूम होता था अभी नहाकर निकला है। शिकारियों को देखते ही पहले तो वह गरज उठा, फिर किसी शोक में डूबे हुए आदमी की तरह छाती पीट-पीटकर रोने लगा। वे लोग चुपचाप खड़े रहे। जब वह बिलकुल पास आ गया तो अफसर ने उसके कन्धे पर निशाना लगाकर गोली चलायी। वह ज़ोर से चीख़ा और गिर पड़ा। उसका कन्धा ज़ख्मी हो गया था; पर वह तुरन्त ही दूसरे हाथ के सहारे अफसर की तरफ़ दौड़ा। अफ़सर ने अबकी उसकी छाती पर गोली चलायी। शिकारियों ने समझा, उसे मार लिया; मगर वह झट एक चट्टान फाँदकर भागा और जंगल में घुस गया।

शाम होने को थी। अब उसे ढूँढ़ना बेकार समझकर शिकारी डेरे की तरफ़ लौटे। गोकि यह मालूम था कि वह घायल हो गया है, फिर भी लोगों ने पहरे का बन्दोबस्त किया और खा-पीकर सोये। रात-भर सब लोग आराम से सोते रहे। अफ़सर साहब की नींद खुली ही थी कि एक हब्शी दौड़ा हुआ आया और बोला, "साहब वह तो फिर रो रहा है।" अफ़सर ने ध्यान से सुना, हाँ, यह तो वही रोने की आवाज़ है।

लोगों ने झटपट कपड़े पहने और बन्दूकें लेकर रवाना हो गये! उस जगह पहुँचकर वे लोग झाड़ियों के आड़ से दोनों बनमानुषों की अन्तिम प्रेम-लीला का तमाशा देखने लगे–देखा कि वह अपने जोड़े की लाश को अपने खून से रँगी हुई छाती से दबाकर रो रहा है। उसकी आँखों में नशा-सा छाया हुआ मालूम होता था, जैसे कोई शराब के नशे में चूर हो। यह दर्दनाक मंज़र देखकर शिकारियों की आँखें भी आँसुओं से तर हो गयीं। यह तो मालूम ही था कि वह अब चोट नहीं कर सकता। शिकारी बिलकुल पास चला गया कि अगर हो सके तो उसे जीता पकड़कर मरहमपट्टी की जाये। उसे देखते ही बनमानुष ने बड़ी दर्दनाक आँखों से उसकी ओर देखा, मानो कह रहा था–क्यों देरी करते हो. एक गोली और चला दो कि जल्द इस दुःख-भरे संसार से विदा हो जाऊँ?

शिकारी ने ऐसा ही किया। एक गोली ने उसका काम तमाम कर दिया। इधर बन्दूक़ की आवाज़ हुई, उधर बनमानुष चित हो गया। मगर आवाज़ के साथ ही शिकारी का दिल भी काँप उठा। उसे ऐसा मालूम हुआ, मैंने ख़ून किया है, मैं ख़ूनी हूँ।

दक्षिणी अफ्रीका में शेर का शिकार

एक मशहूर शिकारी ने एक शेर के शिकार का हाल लिखा है। आज हम उसकी कथा उसी की जबान से सुनाते हैं--कई साल हुए एक दिन मैं नैरोवी की एक चौड़ी गली से जा रहा था कि एक शेरनी पर नज़र पड़ी जो अपने दो बच्चों समेत झाड़ियों की तरफ़ चली जा रही थी। शायद शिकार की तलाश में वस्ती में घुस आयी थी। उसे देखते ही मैं लपककर अपने घर आया और रायफल लेकर फिर उसी तरफ़ चला संयोग से चाँदनी रात थी। मैंने आसानी से शेरनी को मार डाला और उसके दोनों बच्चों को पकड़ लिया। इन बच्चों की उम्र ज़्यादा न थी; सिर्फ तीन हफ़्ते के मालूम होते थे। एक नर था, दूसरा मादा। मैंने नर का नाम जैक और मादा का जिल रखा। जैक तो जल्द बीमार होकर मर गया, जिल बच रही। जिल अपना नाम समझती और मेरी आवाज़ पहचानती थी। मैं जहाँ जाता वहाँ कुत्ते की तरह मेरे पीछे-पीछे चलती। मेरे कमरे में फर्श पर लेटी रहती थी। अक्सर मेरे पैरों पर सो जाती और जगाने के वाद अपने पंजे मेरे घुटनों पर रखकर बिल्ली की तरह मेरा सिर अपने चेहरे पर मलती।

एक दिन चाँदनी रात में जिल को साथ लेकर सेर के लिए निकला। हम दोनों खुशी के साथ सड़क पर चले जा रहे थे। मैं यह बिलकुल भूल गया था कि उस होटल में नाच होने वाला है। संयोग से देखिए कि मैं और जिल उस वक्त होटल के पास पहुँचे, जब कोई मेहमान सवारी की तलाश में बाहर खड़ा था। उसने जब देखा, एक शेरनी सड़क के बीचोंबीच उसकी तरफ़ चली आ रही है, तो वह इतना घबराया कि बयान से बाहर है और सामने की तरफ़ बेतहाशा भागा। उसे भागते देखकर और भी दो-तीन आदमी भाग चले। जिल ने समझा यह भी कोई खेल है, वह भी उनके पीछे-पीछे दौड़ी। हँसते-हँसते मेरे पेट में बल पड़ गये। आख़िर मैं भी जिल के पीछे दौड़ा और बड़ी मुश्किल से जिल को पकड़ पाया। यद्यपि उसने किसी को घायल नहीं किया, मगर आनन्द की ज़िन्दगी बितानेवालों की बहादुरी की कलई खुल गयी। फिर में जिल को लेकर चाँदनी रात मे कभी बाहर न निकला।

एक दिन मैं एक जगह दावत खाने गया। वहाँ से अपने बंगले की तरफ़ चला तो आधी रात हो गयी थी। आधा रास्ता तय कर चुका था कि एकाएक बन्दूक चलने की आवाज़ सुनायी दी। ऐसा मालूम हुआ कि कोई आदमी घबराहट में शू-शू कर रहा है। ज़रा और आगे बढ़ा तो देखा कि एक सिख सन्तरी लालटेन के खम्भे

पर चन्द्रा बदहवासी की हालत में थू-थू कर रहा है। मुझे देखते उसने कहा, "साहब, ज़रा बचे रहिएगा; एक शेर बिलकुल पास खड़ा है और घोड़े को खा रहा है।" मैंने इधर-उधर निगाह दौड़ाई तो पचास क़दम के फासले पर एक शेर दिखायी दिया। वह सचमुच एक घोड़े को चट कर रहा था। सन्तरी के शोर-गुल की उसे बिलकुल परवाह न थी।

मैंने सिख सन्तरी को आवाज़ दी कि वह जहाँ है, वहीं ठहरा रहे और मै अकेले एक दोस्त के पास बन्दूक लेने गया। जब रायफल लेकर लौटा तो देखा शेर बैटा ओठ चाट रहा है और सन्तरी ज्यों-का-त्यों खम्भे से चिमटा खड़ा है। मैंने फ़ौरन शेर पर बन्दूक चलायी ? वह जख्मी तो हो गया, मगर मरा नहीं। वह बड़े ज़ोर से गरजा और एक तरफ़ को चल दिया। लेकिन मैं उसे कब छोड़ने वाला था, मै खून का निशान देखता हुआ उसके पीछे चला। आख़िर मैंने उसे खाड़ी के किनारे पर खड़ा देखा। अबकी मेरी गोली काम कर गयी शेर गिर पड़ा। मैं खुश-खुश शेर के पास गया और उसे देखते ही पहचान गया। वह मेरी शेरनी जिल थी !

गुब्बारे पर चीता

"मैं तो जाऊँगा, जरूर जाऊँगा, चाहे कोई छुट्टी दे या न दे।"

एक स्कूल के सामने एक बड़ा मैदान है, कई लड़के खड़े हैं और बलदेव अपनी जेब में हाथ डाले हुए सब लड़कों को सरकस देखने के लिए चलने की सलाह दे रहा है।

बात यह थी कि स्कूल के पास एक मैदान में सरकस पार्टी आयी हुई थी। सारे शहर की दीवारों पर उसके विज्ञापन चिपका दिये गये थे। विज्ञापन में तरह-तरह के जंगली जानवर अजीब-अजीब काम करते दिखाये गये थे। लड़के तमाशा देखने के लिए ललचा रहे थे। पहला तमाशा रात को शुरू होनेवाला था। मगर हेडमास्टर साहब ने लड़कों को वहाँ जाने की मनाही कर दी थी—इश्तिहार बड़ा आकर्षक था—

"आ गया है ! आ गया है !!"

"जिस तमाशे को आप लोग भूख-प्यास छोड़कर इन्तज़ार कर रहे थे, वही बम्बई सरकस आ गया है।"

"आइए और तमाशे का आनन्द उठाइए। बड़े-बड़े खेलों के सिवा एक खेल और भी दिखाया जायेगा, जो न किसी ने देखा होगा और न सुना होगा।"

लड़कों का मन तो सरकस में लगा हुआ था। सामने किताबें खोलें जानवरों की चर्चा कर रहे थे। क्योंकर शेर और बकरी एक बर्तन में पानी पियेंगे ? और इतना बड़ा हाथी पैरगाड़ी पर कैसे बैठेगा ? पैरगाड़ी के पहिये बहुत बड़े-बड़े होंगे ? और तोता बन्दूक़ छोड़ेगा ? और बनमानुष बाबू बनकर मेज पर बैठेगा !

बलदेव सबसे पीछे बैठा हुआ अपनी हिसाब की कापी पर शेर की तसवीर

खीच रहा था और सोच रहा था कि कल शनीचर नहीं, इतवार होता तो कैसा मज़ा आता।

बलदेव ने बडी मुश्किल से कुछ पैसे जमा किये थे। मना रहा था कि कब छुट्टी हो और कब भागूँ। हेडमास्टर साहब का हुक्म सुनकर वह जामे से बाहर हो गया। छुट्टी होते ही वह बाहर मैदान मे निकल आया और लड़कों से बोला, "मैं तो जाऊँगा, जरूर जाऊँगा चाहे कोई छुट्टी दे या न दे।" मगर और लडके इतने साहसी न थे। कोई उसके साथ जाने पर राजी न हुआ। बलदेव अब अकेला पड़ गया। मगर वह बडा जिद्दी था, दिल में जो बात बैठ जाती, उसे पूरा करके ही छोडता था। शनीचर को और लडके तो मास्टर के साथ गेद खेलने चले गये, बलदेव चुपके से खिसककर सरकस की ओर चला। वहाँ पहुँचते ही उसने जानवरों को देखने के लिए एक आने का टिकट खरीदा और जानवरों को देखने लगा। इन जानवरों को देखकर बलदेव मन मे बहुत झुँझलाया। यह शेर है! मालूम होता है महीनों से इसे मलेरिया बुखार आ रहा हो। यह भला क्या बीस हाथ ऊँचा उछलेगा! और यह सुन्दर-वन का बाघ है? जैसे किसी ने इसका खून चूस लिया हो। मुर्दे की तरह पड़ा है। वाह रे भालू! यह भालू है या सूअर, और वह भी काना, जैसे मौत के चंगुल से निकल भागा हो। अलबत्ता यह चीता कुछ जानदार है और एक तीन टाँग का कुत्ता भी।

यह कहकर बड़े जोर से हँसा। उसकी एक टाँग किसने काट ली? दुमकटे कुत्ते तो देखे थे, पैरकटा कुत्ता आज ही देखा। और यह दौड़ेगा कैसे?

उसे अफसोस हुआ कि गेंद छोड़कर यहाँ नाहक आया। एक आने पैसे भी गये। ऐसे जानवरों को तो मैं सेंत-मेंत भी न देखता।

इतने में एक बडा भारी गुब्बारा दिखायी दिया। उसके पास एक आदमी खडा चिल्ला रहा था–'आओ, चले आओ, चार आने में आसमान की सैर करो।'

अभी वह उसी तरफ देख रहा था कि अचानक शोर सुनकर वह चौंक पडा। पीछे फिरकर देखा तो मारे डर के उसका दिल काँप उठा। वही चीता न जाने किस तरह पिंजरे से निकलकर उसी की तरफ दौड़ा चला आ रहा था। बलदेव जान लेकर भागा।

इतने में एक और तमाशा हुआ। इधर से चीता गुब्बारे की तरफ दौड़ा। जो आदमी गुब्बारे की रस्सी पकडे हुए था, वह चीते को अपनी तरफ आता देखकर बेतहाशा भागा। बलदेव को और कुछ न सूझा तो वह झट से गुब्बारे पर चढ गया। चीता भी शायद उसे पकडने के लिए कूदकर गुब्बारे पर जा पहुँचा। गुब्बारे की रस्सी छोड़कर तो वह आदमी पहले ही भाग गया था। वह गुब्बारा उड़ने के लिए बिलकुल तैयार था। रस्सी छूटते ही वह ऊपर उठा। बलदेव और चीता दोनों ऊपर उठ गये। बात की बात में गुब्बारा ताड़ के बराबर जा पहुँचा। बलदेव ने एक बार नीचे देखा तो लोग चिल्ला-चिल्लाकर उसे बचने के उपाय बतलाने लगे। मगर बलदेव के तो होश उड़े हुए थे। उसकी समझ मे कोई बात न आयी। ज्यों-ज्यों गुब्बारा ऊपर उठता जाता था चीते की जान निकली जाती थी। उसकी समझ में न आता

था कि कौन मुझे आसमान की ओर लिये जाता है। वह चाहता तो बड़ी आसानी से बलदेव को चट कर जाता, मगर उसे अपनी ही जान की फिक्र पड़ी हुई थी। सारा चीतापन भूल गया था। आख़िर वह इतना डरा कि उसके हाथ-पाँव फूल गये और वह फिसलकर उलटा नीचे गिरा। ज़मीन पर गिरते ही उसकी हड्डी-पसली चूर-चूर हो गयी।

अब तक तो बलदेव को चीते का डर था। अब यह फिक्र हुई कि गुब्बारा मुझे कहाँ लिये जाता है। वह एक बार घंटाघर के मीनार पर चढ़ा थां ऊपर से उसे नीचे के आदमी खिलौनों-से और घर घरौदों-से लगते थे। मगर इस वक्त वह उससे कई गुना ऊँचा था।

एकाएक उसे एक बात याद आ गयी। उसने किसी किताब में पढ़ा था कि गुब्बारे का मुँह खोल देने से गैस निकल जाती है और गुब्बारा नीचे उतर आता है। मगर उसे यह न मालूम था कि मुँह बहुत धीरे-धीरे खोलना चाहिये। उसने एकदम उसका मुँह खोल दिया और गुब्बारा बड़े ज़ोर से गिरने लगा। जब वह ज़मीन से थोड़ी ऊँचाई पर आ गया तो उसने नीचे की तरफ़ देखा, दरिया बह रहा था। फिर तो वह रस्सी छोड़कर दरिया में कूद पड़ा और तैरकर निकल आया।

पागल हाथी

मोती राजा साहब की खास सवारी का हाथी। यों तो वह बहुत सीधा और समझदार था, पर कभी-कभी उसका मिज़ाज़ गर्म हो जाता था और वह आपे में न रहता था। उस हालत मे उसे किसी बात की सुधि न रहती थी, महावत का दबाव भी न मानता था। एक बार इसी पागलपन में उसने अपने महावत को मार डाला। राजा साहब ने यह ख़बर सुनी तो उन्हें बहुत क्रोध आया। मोती की पदवी छिन गयी। राजा साहब की सवारी से निकाल दिया गया। कुलियों की तरह उसे लकड़ियाँ ढोनी पड़तीं, पत्थर लादने पड़ते और शाम को वह पीपल के नीचे मोटी जंजीरो से बाँध दिया जाता। रातिब बन्द हो गया। उसके सामने सूखी टहनियाँ डाल दी जाती थीं और उन्हीं को चबाकर वह भूख की आग बुझाता। जब वह अपनी इस दशा को अपनी पहली दशा से मिलाता तो वह बहुत चंचल हो जाता। वह सोचता, कहाँ मैं राजा का सबसे प्यारा हाथी था और कहाँ आज मामूली मज़दूर हूँ। यह सोच कर ज़ोर-ज़ोर से चिंघाड़ता और उछलता। आखिर एक दिन उसे इतना जोश आया कि उसने लोहे की जंजीर तोड़ डाली और जंगल की तरफ़ भागा।

थोड़ी ही दूर पर एक नदी थी। मोती पहले उस नदी में जाकर खूब नहाया। तब वहाँ से जंगल की ओर चला। इधर राजा साहब के आदमी उसे पकड़ने के लिए दौड़े, मगर मारे डर के कोई उसके पास जा न सका। जंगल का जानवर जंगल ही

में चला गया।

जंगल में पहुँचकर अपने साथियों को ढूँढ़ने लगा। जब वह कुछ दूर और आगे बढ़ा तो उसे हाथियों ने जब उसके गले मे रस्सी और पाँव में टूटी जंजीर देखी तो मुँह फेर लिया। उसकी बात तक न पूछी। उनका शायद मतलब था कि तुम गुलाम तो थे ही, अब नमकहराम गुलाम हो, तुम्हारी जगह इस जंगल में नहीं है। जब तक वे आँखों से ओझल न हो गये, मोती वहीं खड़ा ताकता रहा। फिर न जाने क्या सोचकर वहाँ से भागता हुआ महल की ओर चला।

वह रास्ते ही में था कि उसने देखा राजा साहब शिकारियों के साथ घोड़े पर चले आ रहे हैं। वह फ़ौरन एक बड़े चट्टान की आड़ में छिप गया। धूप तेज थी, राजा साहब ज़रा दम लेने को घोड़े से उतरे। अचानक मोती आड़ से निकल पड़ा और गरजता हुआ राजा साहब की ओर दौड़ा। राजा साहब घबराकर भागे और एक छोटी झोपड़ी में घुस गये। ज़रा देर बाद मोती भी पहुँचा। उसने राजा साहब को अन्दर घुसते देख लिया था। पहले तो उसने अपनी सूँड़ से ऊपर का छप्पर गिरा दिया, फिर उसे पैरों से रौंदकर चूर-चूर कर डाला।

भीतर राजा साहब का मारे डर के बुरा हाल था। जान बचने की कोई आशा न थी।

आख़िर जब कुछ न सूझी तो वह जान पर खेलकर पीछे दीवार पर चढ़ गये और दूसरी तरफ़ कूदकर भाग निकले। मोती द्वार पर खड़ा छप्पर रौंद रहा था और सोच रहा था कि दीवार को कैसे गिराऊँ आख़िर उसने धक्का देकर दीवार गिरा दी। मिट्टी की दीवार पागल हाथी का धक्का क्या सहती। मगर जब राजा साहब भीतर न मिले तो उसने बाक़ी दीवारें भी गिरा दीं और जंगल की तरफ़ चला गया।

घर लौटकर राजा साहब ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो आदमी मोती को जीता पकड़कर लायेगा, उसे एक हज़ार रुपया इनाम दिया जायेगा। कई आदमी इनाम के लालच से उसे पकड़ने के लिए जंगल मे गये। मगर उनमें से एक भी न लौटा।

मोती के महावत के एक लड़का था। उसका नाम था मुरली। अभी वह कुल आठ-नौ बरस का था, इसलिए राजा साहब दया करके उसे और उसकी माँ को खाने-पहनने के लिए कुछ खर्च दिया करते थे। मुरली था तो बालक पर हिम्मत का धनी था, कमर बाँधकर मोती को पकड़ लाने के लिए तैयार हो गया। मगर माँ ने बहुतेरा समझाया, और लोगों ने भी मना किया, मगर उसने किसी की एक न सुनी और जगल की ओर चल दिया।

जंगल में गौर से इधर-उधर देखने लगा। आख़िर उसने देखा कि मोती सिर झुकाये उसी पेड़ की ओर चला आ रहा है। उसकी चाल से ऐसा मालूम होता था कि उसका मिजाज ठंडा हो गया है।

ज्यों ही मोती उस पेड़ के नीचे आया, उसने पेड़ के ऊपर से पुचकारा 'मोती।'

मोती इस आवाज़ को पहचानता था। वहीं रुक गया और सिर उठाकर ऊपर

की ओर देखने लगा। मुरली को देखकर पहचान गया। यह वही मुरली था, जिसे वह अपनी सूँड़ से उठाकर अपने मस्तक पर बिठा लेता था !' मैंने ही इसके बाप को मार डाला है,' यह सोचकर उसे बालक पर दया आयी। खुश होकर सूँड़ हिलाने लगा।

मुरली उसके मन का भाव पहिचान गया। वह पेड़ से नीचे उतरा और उसकी सूँड़ को थपकियाँ देने लगा। फिर उसे बैठने का इशारा किया। मोती बैठा नहीं, मुरली को अपनी सूँड़ से उठाकर पहले ही की तरह अपने मस्तक पर बिठा लिया और राजमहल की ओर चला।

मुरली जब मोती को लिये हुए राजमहल के द्वार पर पहुँचा तो सबने दाँतों उँगली दबाई। फिर भी किसी की हिम्मत न होती थी कि मोती के पास जाये। मुरली ने चिल्लाकर कहा, "डरो मत, मोती बिलकुल सीधा हो गया है, अब वह किसी से न बोलेगा।" राजा साहब भी डरते-डरते मोती के सामने आये। उन्हें कितना अचम्भा हुआ कि वही पागल मोती अब गाय की तरह सीधा हो गया है।

उन्होंने मुरली को एक हज़ार रुपया इनाम तो दिया ही, उसे अपना ख़ास महावत बना लिया, और मोती फिर राजा साहब का सबसे प्यारा हाथी बन गया।

(हिन्दी में : प्रथम संस्करण, फ़रवरी, 1936)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

कुत्ते की कहानी*

बालको ! तुमने राजाओं और वीरों की कहानियाँ बहुत सुनी होंगी, लेकिन किसी कुत्ते की जीवन-कथा शायद ही सुनी हो। कुत्तों के जीवन में ऐसी बात ही कौन-सी होती है जो सुनायी जा सके। न वह देवों से लड़ता है, न परियों के देश में जाता है, न बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ जीतता है; इसीलिए मुझे भय है कि कहीं तुम मेरी कहानी को उठाकर फेंक न दो। किन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे जीवन में ऐसी कितनी ही बातें हुई हैं, जो बड़े-बड़े आदमियों के जीवन में भी न हुई होंगी। इसीलिए मैं आज अपनी कथा सुनाने बैठा हूँ। जिस तरह तुम कुत्तों को दुत्कार दिया करते हो, उसी भाँति मेरी इस कथा को ठुकरा न देना। इसमें तुम्हें कितनी ही काम की बातें मिलेंगी और अच्छी, बातें जहाँ मिलें, तुरन्त ले लेना चाहिए।

जब मेरा जन्म हुआ, तो मेरी आँखें और कान बन्द थे। इसलिए नहीं कह सकता कि बाजे-गाजे बजे, गाना-बजाना हुआ या नहीं। मुझे तो कुछ सुनाई न दिया। हाँ, जिस बिछावन पर मैं लेटा था, वह रुई की भाँति नर्म था। सर्दी ज़रा भी न

*यहाँ आरम्भिक पाँच अनुच्छेद प्रस्तुत हैं।

लगती थी। मैं दिल में समझ रहा था, किसी वड़े घर में मेरा जन्म हुआ है, लेकिन जव आँखें खुलीं, तो मैंने देखा कि एक भाड़ की गर्म राख में अपनी माता की छाती से चिपटा हुआ पड़ा हूँ। हम चार भाई थे। तीन लाल थे। मैं काला था। उस पर सबसे छोटा और सबसे कमज़ोर।

माता भी हम लोगों के पास बहुत कम रहती थीं। उन्हें खाने की टोह में इधर-उधर दौड़ना पड़ता था। वह रात-रात भर जागकर गाँव की रक्षा करती थीं। क्या मजाल कि कोई अनजान आदमी गाँव में क़दम रख सके। दूसरे गाँव के कुत्तों को तो वह दूर ही से देखकर भगा देती थीं। जव किसी खेत में कोई साँड़ घुसता, तो उसे दूर तक भगा आतीं; मगर इतना सब कुछ करने पर भी कोई उन्हें खाने को न देता था। बेचारी पेट की आग से जला करती थीं। उस पर हम लोगों की चिन्ता उन्हें और मारे डालती थी। इसलिए जब भूख सताती, तो कभी-कभी वह चोरी से घरों मे घुस जातीं और खाने की जो चीज़ मिल जाती, लेकर निकल भागतीं। उन्हे देखते ही लोग मारने दौड़ते और घरों के द्वार वन्द कर लेते।

एक दिन बड़ी ठण्ड पड़ी। बादल छा गये और ठंडी हवा चलने लगी। हमारे दो भाई वह ठण्ड न सह सके और मर गये। हम दो ही रह गये। माताजी बहुत रोयीं, मगर क्या करतीं ? गाव वालों को फिर भी उन पर दया न आयी। आदमी इतने मतलवी और बेदर्द होते हैं, यह मैंने पहली वार देखा।

एक दिन गाँव में उत्सव था। एक बनिये के यहाँ ब्राह्मण-भोज था। सैकड़ों आदमी जमा थे। पूरियाँ बन रही थीं। माताजी वार-बार उधर जातीं, पर दुत्कार पाकर भाग आती थीं। किसी को इतनी दया न आती थी कि एक टुकड़ा उनकी ओर फेंक दे। एक टुकड़ा दे देने से कुछ कमी न पड़ जाती, पर यह कौन समझाये ? जव सव चीज़ें तैयार हो गयीं तो आँगन में पत्तल डाल दिये गये। लोग अपने-अपने आसन पर जा बैठे और भोजन परसा जाने लगा। उसी समय माताजी वहा पहुँचीं। हम दोनों भाई भी उनके साथ थे। द्वार पर ही एक आदमी ने दुत्कारा मगर माताजी भागी नहीं, पूछ हिलाने लगीं और वहीं बैठ गयीं। वह आदमी जव किसी काम से भीतर चला गया तो माताजी भी दबे पाँव दालान में जा पहुँचीं। उन्हे देखकर चारों तरफ़ से धत्! धत् का ऐसा कोलाहल मचा कि माताजी घबरा गयीं। दो-तीन आदमी डंडे लेकर दौड़े। माताजी को अगर दालान से निकल जाने का रास्ता मिलता, तो वह उधर से बाहर निकल जातीं, लेकिन उधर लोग डंडे लिये खडे थे, इसलिए माताजी बैठे हुए आदमियों के बीच से होकर मोरी के रास्ते वाहर निकल आयी !

मगर तमाशा तो देखिए कि माताजी के बाहर निकलते ही भोजन करने वाले भी उठ खड़े हुए ! जानते हो क्यों ? माताजी के उधर से निकल जाने के कारण भोजन भ्रष्ट हो गया ! विचार होने लगा कि क्या किया जाये! बेचारा बनिया फूट-फूटकर रोने लगा। कुछ लोग कहते थे, इसमें दोष ही क्या है कुतिया ने पत्तलों में मुँह तो डाला नहीं, छूने से क्या होता है; किन्तु जो बहुत कुलीन वे, वे कुतिया

का बीच से निकल जाना ही भोजन को भ्रष्ट करने के लिए काफ़ी समझते थे। आख़िर इन्हीं कुलीनों की जीत हुई और सारा भोजन अछूतों में बाँट दिया गया। उस दिन माताजी ने खूब पेट-भर कर खाया। ऐसा सुख उन्हें जीवन में कभी न मिला था।

लेकिन उन बेचारी के भाग्य में सुख लिखा ही न था। भोजन करके ज़रा लेटी ही थीं कि बनिया डंडा लिये आ पहुँचा और लगा पीटने। माताजी को भागने का अवसर न मिला। ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगीं। उनका विलाप सुनकर पत्थर भी पसीज जाता, पर उस निर्दयी को ज़रा भी दया न आयी। मैं मन में कुढ़ रहा था। अपना कुछ वश होता, तो बनियेराम को इस बेदर्दी का मज़ा चखा देता लेकिन जरा-सा बच्चा क्या करता! वारे, यह विलाप सुनकर कुछ लोग जमा हो गये और समझाने लगे—जाने दो भाई, भूख में आदमियों की बुद्धि तो भ्रष्ट हो ही जाती है, यह तो पशु है, इसे क्या मालूम, किसका फायदा हो रहा है, किसका नुकसान। अब तो जो हो गया, सो हो गया। इसे मारकर क्या पाओगे? बनिये के चित्त में यह बात बैठ गयी और माताजी की जान छूटी।

उसी दिन शाम को एक बटोही गाँव में आकर ठहरा। उसने एक पेड़ के नीचे उपले जलाये और हाँडी में दाल चढ़ाकर आटा गूँधने लगा। आटा गूँध चुकने पर उसने हाँडी उतार दी और सामने के कुएँ पर पानी लाने चला गया। गूँधा हुआ आटा पत्तल पर रखा हुआ था। इतने में माताजी घूमती हुई वहाँ पहुँच गयीं और शायद यह समझकर कि मुसाफ़िर ने इतना जूठन छोड़ दिया है, उन्होंने आटा उठा लिया और चम्पत हो गयीं। मुसाफिर ने कुएँ पर से ही धत्-धत् करना शुरू किया, लेकिन माताजी ने पीछे फिरकर भी न देखा। बेचारा माथे पर हाथ धरकर रोने लगा। आज तीन दिनों का भूखा, थका-माँदा उस पर भगवान की यह लीला! दो-तीन आदमियों ने समझाया—भाई, तुम्हारा तो चार-छः आने का नुकसान हुआ, कल तो इसने हज़ारों पर पानी फेर दिया।

मुसाफ़िर ने कहा—मैं क्या जानता था कि यह चाण्डालिन घात में बैठी हुई है! बूढ़े चौधरी बोले—जान पड़ता है, आज का तुम्हारा भोजन उसी के भाग्य में था। मसल है, 'शाह की मुहर आने-आने पर, खुदा की मुहर दाने-दाने पर।' फिर से बना-खा लो।

बेचारे मुसाफिर ने फिर से चौका लगाया, और भोजन बनाने लगा। चौधरी वहीं बैठे रहे। मुसाफिर ने पूछा—बाबा, मैं आपकी उस कहावत का मतलब नहीं समझा! जरा समझा दीजिए।

चौधरी बोले—एक फ़कीर यही कहकर सबके दरवाज़े पर भीख-माँगता फिरता था—'शाह की मुहर आने-आने पर, खुदा की मुहर दाने-दाने पर।'

एक मनचले रईस ने उस फ़कीर से कहा—साईं, यह बात समझ में नहीं आती, भला दानों पर कैसी मुहर?

साईं ने कहा—नहीं बेटा; खुदा जिसको जो दाना देना चाहेगा, वही पा सकता है। दूसरा हरगिज नहीं पा सकता। इसकी जब चाहो तब परीक्षा कर सकते हो।

रईस ने कहा—लीजिए, मैं अभी इसकी परीक्षा लेता हूँ। अगर यह बात सच निकली, तो मैं आपका गुलाम हो जाऊँगा।

रईस ने एक ज्वार का दाना हाथ में लिया और कहा—देखिए, मैं इसे अपने मुँह में डालता हूँ। अगर खुदा की इस पर मुहर है, तो किसी और को दे दे।

यह कहकर उसने दाने को अपने मुँह में फेंका, पर दाना मुँह मे न जाकर ज़मीन पर गिर पड़ा और एक चिड़िया उठाकर ले गयी।

रईस भौंचक्का-सा रह गया। बस, आप भी याद रखिए कि न तो कोई किसी को खिलाता हे, और न किसी का खाता है। सबको खिलानेवाला ईश्वर है।

दो

जव हम दोनो भाई जरा वडे हुए, तो लड़कों ने हमे खेलाना शुरू किया। मैं बहुत खूबसूरत था। मुझे एक पण्डितजी का लडका पकड लाया। मेरे भाई को एक डफाली का लडका पकड़ ले गया। मैं पण्डितजी के घर पलने लगा। मेरा भाई डफाली के घर। सब लोग उसे जकिया कहते थे और मुझे कल्लू।

जाड़े का मोसम था। जब सब लडके धूप मे जमा हो जाते, तो हमें गोद मे ले लेते और चूमते। कोई कहता हमारा बच्चा है। कोई कहता, हमारा मुन्ना है। कोई लडका एक कान पकड़कर उठाता ओर कहता, देखो भाई, चोर है या साह ? जब तक कान दर्द न करते मैं न वोलता। बस, सब कहने लगते, फेंको-फेको यह चोर है। मगर जब कान दुखने से चिल्ला उठता, तो सब साह-साह कहकर हँस पड़ते। प्रायः यह खेल दिन मे सैकडो बार होता। कोई हमारे अगले पैरों को उठाकर कहता—मेरा मुन्नू दो पेर से चलता है। यो चलाये जाने से हमारे पेर दर्द करने लगते थे, पर करते क्या कभी-कभी छोटे-बडे लडके छोटे बच्चों को मेरी पीठ पर बेठा कर कहते—मेरा लल्लू हाथी पर बेठा हे। भला मे उन बच्चों का बोझ क्या उठाता। जब चिल्लाने लगता, तो जान बचती। कोई-कोई लड़के तो मेरे गले मे रस्सी बाँधकर दौड़ाते। भला मै उनके बराबर कैसे दौडता, लेकिन वे अपनी धुन में मुझे घसीटते हुए ले ही जाते थे, इससे सारा बदन दुखने लगता था, मगर मुझ गरीब का वहाँ कोन मददगार बेठा था ? कभी-कभी लडके मुझे पास वाले गड्ढे मे डाल देते ओर मेरी तैराकी का तमाशा देखते। जब मै बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगता, तो लड़के हँस-हँसकर कहते- देखो, कल्लू कैसा तेरता है ! उस समय मैं डूबने-डूबने हो जाता था। पाँव जोर-ज़ोर से चलाता हुआ किसी तरह किनारे आ जाता और मारे ठंड के काँपने लगता। जब धूप लगने से देह मे कुछ गर्मी आती तो कोई शैतान लडका बोल उठता, अबकी मेरी बारी है सुनते ही मेरी जान-सी निकल जाती, मगर भागकर जाता कहाँ। कोई फिर पानी में डाल देता। क्या बतलाऊँ कि उस समय

कितना गुस्सा आता। बार-बार यही जी मे आ जाता था कि कोई इन दुष्टों को भी इसी तरह डुबकियाँ देता, तो इनकी आँखें खुलतीं। हम दोनों भाइयों में से सुखी तो एक भी न थे, पर जकिया की दशा मेरी दशा से अच्छी थी। पण्डितजी के यहाँ मुझे रूखा-सूखा भोजन मिलता था और वह भी बहुत कम, इसलिए मुझे दूसरे द्वारों का चक्कर लगाना पड़ता था।

डफाली मांस का प्रेमी था। रोजाना उसके घर मास पका करता था, इसलिए जकिया को काफ़ी भोजन मिल जाता था। उसे किसी दूसरे दरवाज़े पर जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। कुछ तो बेफ़िक्री और कुछ पूरी खुराक मिलने पर वह दिन-दिन ताक़तवर और तन्दुरुस्त वनने लगा। मैं कभी-कभी भूख से तंग आकर डफाली के दरवाज़े पर पहुँच जाता कि शायद वहाँ कुछ मिल जाये। सोचता, आख़िर जकिया भी अपना ही खून है, उससे आरजू-मिन्नत करूँगा, तो ज़रूर कुछ-न-कुछ दे देगा। फिर उसका कोई नुकसान भी तो नहीं है। मैं उसके खाने में हिस्सा लेना नहीं चाहता था, केवल उसका जूठन चाहता था, पर वह मेरी परछाईं देखते ही गुर्राकर मुझ पर ऐसा झपटता, जैसे मैं उसका कोई दुश्मन हूँ। वह था मुझसे ताकतवर, इसलिए मैं उसका सामना न कर सकता था। वह दाँतों से मुझे खूब काटता और नीचे गिराकर पजों से खसोटता। जब मैं ज़ोर से चिल्लाने लगता और पूँछ सिकोड़ लेता, तब कहीं जान वचती थी। उठकर ज्योंही भागना चाहता कि डफाली कह उठता–पण्डित का भग्गू कुत्ता वह भागा ! वह भागा ! इस पर मुझे बहुत ग्लानि होती थी। मैं फिर जाकर जकिया से उलझ पड़ता और इतनी मुस्तैदी से लड़ता कि भूख का ख़याल ही न रहता। मेरी मुस्तैदी देखकर देखनेवाले कहते–वाह कल्लू ! वाह ! शाबाश ! इससे तबीयत और फड़क जाती थी। और भी ज़ोर लगाता। लेकिन आख़िर मुझे भागना ही पड़ता था। तब सब तालियाँ बजाकर मुझ पर हँसने लगते। जोश ठंडा होने पर देखता तो लहू-लुहान हो गया हूँ। महीनो मे जाकर कहीं घाव अच्छे होते थे। घाव अच्छा होने पर यही जी चाहता कि चलकर जकिया को पछाड़ूँ और पण्डितजी की बदनामी मिटाऊँ, मगर अपनी हालत देखकर रह जाता।

एक दिन मैं जान पर खेलकर जकिया से उलझ पड़ा। वह भी पूरे जोश के साथ मुझसे लड़ने लगा। संयोग से पण्डितजी भी वहाँ पहुँच गये। उनके पहुँचते ही और लोगों ने कहा–कल्लू भग्गू कुत्ता है, कभी भी जकिया का सामना नहीं कर सकता। इस पर मैंने देखा कि पण्डितजी का चेहरा फीका पड़ गया है। तब तो मैंने निश्चय कर लिया कि आज चाहे जान रहे या जाय, मगर जकिया को ज़रूर पछाड़ूँगा। कुछ ऐसे जीवट से लड़ा और ऐसे दाँव-पेंच खेला कि बचा जकिया को छठी का दूध याद आ गया। देखनेवाले कहने लगे कि भाई आज तो कल्लू ने कमाल कर दिया। ठीक है, मालिक को देखकर सबकी छाती बढ़ती है। जकिया डफाली को देख-देखकर ही इसे रोज़ पछाड़ता था। आज पण्डितजी को देखकर कल्लू ने नीचा दिखाया। मैंने देखा, पण्डितजी का चेहरा उस समय खिल उठा था, मानो मैंने

उनकी लज्जा रख ली। अब उन्होने मेरी खुराक कुछ बढ़ा दी। उधर जकिया पर डफाली और भी तवज्जुह करने लगा।

एक दिन की बात है कि माताजी डफाली के दरवाज़े में पहुँच गयीं। उस समय जकिया वहॉ मौजूद न था। डफाली ने माताजी की दीन दशा देखकर एक टुकड़ा फेंक दिया। ज्योंही माताजी टुकड़ा उठाने को आगे बढ़ीं कि जकिया पहुँच गया और माताजी पर टूट ही तो पड़ा। संयोग से वहीं पर मैं भी पहुँच गया। फिर क्या था ? जकिया से जान बचाकर माताजी मुझसे भिड़ गयीं।

मैं तो उन पर वार करना नहीं चाहता था, लेकिन वे पूरी ताकत से मुझ पर वार करने लगी। उस समय मुझे बडी हँसी आती थी। पेट भी क्या चीज़ है ! इसके लिए लोग अपने-पराये को भूल जाते हैं। नहीं तो अपनी सगी माता और अपना सगा भाई क्यो दुश्मन हो जाते। यह तो हम जानवरो की बातें हैं। मनुष्यों की ईश्वर जाने।

तीन

मेरे पण्डितजी के घर अनाज बहुत होता था। घर कच्चा था, लेकिन चूहो ने अपना अड्डा जमा लिया था। उनके उपद्रव से घरवालो का नाको दम था। वे लोग चाहते थे कि चूहेदानी लगाकर इनका सर्वनाश कर दिया जाये। मगर पण्डितजी यह कहकर टाल देते थे कि चूहे गणेशजी के वाहन हैं। इन्हे तक़लीफ न देनी चाहिए, इनके खाने से कितना अनाज कम हो जायेगा ? उनका विश्वास था कि चूहे जितना गल्ला नुकसान करते है, उसका चौगुना श्रीगणेशजी की दया से उपज में बढ़ जाता है, इसलिए जब वह किसी को चूहेदानी लगाते देखते, तो उससे पचासों बाते कहते।

पण्डितजी की धाक लोगो पर ख़ूब बैठ गयी। जब कही देवताओं की भक्ति की चर्चा होती, तो पण्डितजी का नाम पहले लिया जाता था। कैसे सज्जन हैं कि इतना नुक़सान सहने पर भी चूहो को नहीं मारते ! नही तो लोग आदमी की जान तक ले लेते है।

जब तक चूहे अनाज की लूट मचाते रहे, तब तक तो पण्डितजी अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहे, लेकिन जब उनके वार कपड़े-लत्ते पर भी होने लगे, तो उनके आसन डोल गये। जाड़ों के कपड़े कुछ सन्दूक़ों में रखे हुए थे, कुछ अलगनियों पर। गर्मियों में किसी ने उनकी परवाह न की। बरसात में जब उन्हें धूप में डालने के लिए निकाला गया, तो सारे कपड़े कटे पड़े थे। चूहों ने लकड़ी की सन्दूक तक काट डाली थी। पण्डितजी की आँखों में ख़ून उतर आया। चूहों ने एक-एक चीज़ में हज़ारों छेद कर दिये थे। दो-ढाई सौ रुपये पर पानी फिर गया था। फिर तो पण्डितजी ने ठान लिया कि जैसे भी होगा, इन चूहों का सर्वनाश करके ही छोड़ूँगा। उसी दिन एक

बिल्ली पाली और ती-चार चूहेदानियाँ मँगवायीं। फिर क्या था ? रोजाना चूहे फँसने लगे। मुझे भी विनोद का मसाला मिल गया। यों तो मैं सच्चा हिन्दू और पूरा ब्राह्मण हो गया था, क्योंकि विशेषकर ब्राह्मण ही का अन्न-जल खाना-पीना पड़ता था। मांस पर रुचि ही न होती थी, लेकिन शिकार खेलने में बड़ा मज़ा आता था। मज़ा क्यों न आता, यह तो मेरी खानदानी बात थी।

जब पण्डितजी चूहेदानी खोलते, उस समय कल्लू-कल्लू पुकारते। मैं कहीं पर भी होता, तीर की तरह वहाँ पहुँच जाता था। उस समय मैं जो खिलवाड़ करता था, वह देखने ही लायक होता था। चूहों को खिला-खिलाकर जान से मार डालता था, पर खाता न था।

मगर भाई जकिया पक्का मुसलमान था, रोज़ मांस खाता। वह भी उस शिकार में शामिल हो जाता था और कभी-कभी माताजी भी पहुँच जाती थीं। उन दिनों उनका खूब पेट भरने लगा। फिर तो वे मन-ही-मन हम लोगों को आशीर्वाद देने लगी। शायद उन्हें पिछले बच्चों की याद भी आने लगी हो। यदि वे भी जीते होते तो उनकी खूब सेवा करते। भाई साहब के जी में आता, तो दो-एक चूहों को पेट में रख लेते, मगर मैं तो बाबा कालभैरवजी की शपथ खाकर कहता हूँ कि सूँघता भी न था।

उस समय चूहों की जान लेने में हम लोगों को ज़रा भी दया न आती थी। यह ख़याल भी न होता था कि इनमें भी जान है। अब मैं सोचता हूँ, तो मालूम होता है कि बच्चे जो हम लोगों को अपने विनोद के लिए कष्ट देते थे, वह कोई निर्दयता का काम नहीं करते थे। विनोद में इन सब बातों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। पण्डितजी बहुत खुश होते, जब हम लोग चन्द मिनटों में पचासों चूहों को सदा के लिए बेहोश कर देते। उस समय पण्डितजी पर मुझे बहुत हँसी आती थी। अब इनके गणेशजी क्या हुए ! क्या अब ये चूहे गणेशजी के वाहन नहीं हैं ? क्या अब इस हत्या से नाराज होकर गणेश भगवान पण्डितजी को दण्ड ने देंगे ? वाह, क्या समझ है ! इससे तो यही मालूम होता है कि जिस बात से लोगों को नुक़सान तो कम होता है और प्रतिष्ठा बहुत बढ़ती है, उसे तो लोग हँसते बर्दाश्त करते हैं, लेकिन जब अधिक हानि पहुँचती है, तो सब प्रतिज्ञा टूट जाती है।

चार

जिस गड्ढे में फेंक-फेंककर मुझसे लड़के खेलते थे, उसी में गाँव के सभी छोटे-बड़े नहाते-धोते थे। गड्ढा था भी बहुत गहरा। इसीलिए बारहों महीना पानी भरा रहता था। कच्चा होने पर भी उसका पानी स्वच्छ था। पण्डितजी की स्त्री अपने छोटे बच्चे को रोजाना सावधान करती थीं कि खबरदार ! उस गड्ढे की ओर कभी न जाना, नहीं तो डूब जाओगे। प्रायः सभी माँ-बाप अपने बच्चों को ऐसी चेतावनी

देते रहते, मगर लड़के कब मानने लगे ? माँ-बाप की नज़रें बचाकर गड्ढे पर पहुँच ही जाते और तरह-तरह के खेल खेलते। कोई पानी में कत्तल फेंकता, कोई मेंढकों पर निशाना लगाता, कुछ सयाने लड़के पानी में कूद जाते और तैरने का अभ्यास करते।

होनहार को कौन रोक सकता है ? गाँव के कुछ लड़के गड्ढे में तैर रहे थे। पण्डितजी का छोटा लड़का भी पहुँच गया। पहले तो वह किनारे पर ही खेलता रहा, मगर उसके जी में आया कि ज़रा मैं भी तैरूँ। आगे बढ़ा ही था कि पाँव फिसल गये और डूबने लगा। सब लड़के घबराकर चिल्लाने लगे—लड़का डूबा, लड़का डूबा ! मगर किसी की निकालने की हिम्मत न पड़ती थी। अगर कोई सयाना होता, तो कुछ कोशिश भी करता। यों तो डूबते हुए को निकालने में सभी डरते हैं। डूबनेवाला बचानेवाले को इस तरह पकड़ लेता है कि दोनों डूबने लगते हैं। इस काम के लिए बहुत होशियार आदमी की ज़रूरत होती है। यही बात वहाँ भी हुई। पण्डितजी का बड़ा लड़का संयोग से नहाने आ रहा था। भाई को डूबते देखा, तो तुरन्त कूद पड़ा। पर छोटे लडके ने बड़े लड़के को इस प्रकार पकड़ लिया कि दोनों डूबने लगे। फिर तो लड़कों ने और भी शोर मचाया। और बात की बात में गाँव-भर में शोर मच गया—रामू और श्यामू दोनों डूब रहे हैं, चलो निकालो, नहीं तो एक भी न बचेगा। चन्द मिनटों में गड्ढे पर मर्द और औरतों की भीड़ लग गयी। पर कूदने में सब पसोपेश कर रहे थे। इतने में मैं भी वहाँ पहुँच गया। सारी बातें चट समझ में आ गयीं। तुरन्त पानी में तीर की तरह घुसा। उस समय प्रायः दोनों लड़के डूब चुके थे। सिर्फ़ ज़रा-ज़रा बाल दिखाई पड़ रहे थे। मैंने दाँतों से उनके बाल पकड़ लिये और पलक मारते किनारे पर खींच लाया। लोग मेरा यह साहस देखकर दंग रह गये। पण्डितजी उस समय किसी काम से बाहर गये थे। संयोग से वे भी उसी समय आ गये और आदमियों की भीड़ देख बाहर-ही-बाहर वहाँ पहुँच गये। क्षणभर में उन्हें सब बातें ज्ञात हो गयीं। फिर तो उन्होंने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया। पण्डितजी के आने से पहले ही लोगों ने लड़कों के पेट से पानी बाहर कर दिया था। वे स्वस्थ हो गये थे। अब तो गाँव-भर में मेरी खूब तारीफ़ होने लगी। यह कुत्ता पूर्व-जन्म का कोई देवता है। किसी बात से चूका और कुत्ते का जन्म पा गया। कोई कहता—नहीं, इस पर भैरवनाथ की छाया है। देवताओं की इच्छा ही तो है, जिस पर रीझ जायें। उसे दिन से पण्डितजी मुझे अपनी जान से अधिक प्यार करने लगे। अब मुझे पेट के लिए किसी दूसरे के दरवाज़े पर नहीं जाना पड़ता था।

उस समय जकिया भी वहाँ मौजूद था। उसकी मूर्खता तो देखिए, जिस समय लड़कों को निकालकर मैं बाहर आ रहा था, वह बड़े कर्कश स्वर में हाँव-हाँव चिल्ला रहा था। इस पर कुछ लोगों ने उसे ढेले मारकर भगा दिया। ठीक ही था, कहाँ तो घबराये हुए लोग लड़कों की जान बचाने की कोशिश कर रहे थे, कहाँ यह व्यर्थ चिल्ला रहा था। डफाली उसकी यह हरकत देखकर चिढ़ गया। चिढ़ता क्यों न ?

उसको तो यह उम्मीद थी कि मेरा कुत्ता कभी नाम करेगा, उसने उसे खिलाने-पिलाने में कोई कसर न रखी थी, मगर वहाँ पर सबके मुँह से जकिया के लिए दुर-दुर निकल रहा था। उसी दिन से न जाने क्यों वह मुझसे विशेष प्रेम करने लगा। जहाँ देखता, उठा लेता और घण्टों तक मेरी गर्दन सहलाता। इस पर उसे मैं धन्यवाद देना चाहता था, पर सिवा पूँछ हिलाने के और क्या कर सकता था। अब उसकी आँख जकिया की ओर से धीरे-धीरे फिरने लगी थी। मैं अपने भाई से वैर नहीं करना चाहता था; लेकिन जकिया मेरी जान का दुश्मन हो गया। जहाँ देखता, मुझसे भिड़ जाता। मज़बूत था ही, मुझे हार माननी पड़ती।

पाँच

अब पण्डितजी जो कुछ लाते, उसमें अपने लड़कों की तरह मेरा भी हिस्सा लगाते। मैं भी हर वक्त पण्डितजी के साथ-ही-साथ रहता था। वह किसी काम से बाहर जाते, तो मुझे बहुत दुःख होता। जब वह लौटकर आ जाते, तो पूँछ हिला-हिलाकर नाचने लगता। इससे शायद वह भी खिल उठते, क्योंकि उनके चेहरे पर प्रसन्नता की एक गहरी झलक दिखायी पड़ती थी।

एक दिन पण्डितजी के मटर के खेत में एक गड़रिये की भेड़ें पड़ गयीं। पण्डितजी ने देखा, तो उसे डाँट दिया। कई दिनों बाद गड़रिये ने फिर वही शरारत की। अवकी पण्डितजी ने डाँट-फटकार के बाद दो-तीन थप्पड़ भी जमा दिये। मैंने समझा कि गड़रिया अब ऐसी भूल न करेगा, मगर दो-तीन दिन के बाद उसने फिर अपनी भेंड़ें पण्डितजी के खेत में डाल दीं। उस दिन पण्डितजी को बहुत गुस्सा आया। उन्होंने उसे ज़मीन पर पटककर लातों और घूँसों से खूब मारा। मैंने भी गुस्से में आकर उसे खूब काटा, नोचा।

उस दिन तो गड़रिया चला गया। दूसरे दिन से वह मेरी खोज में रहने लगा। मुझे पण्डितजी के साथ देखता, तो होंठ चबाकर रह जाता। मैं भी ताड़ गया था कि यह मुझे अकेला पाते ही अवश्य वार करेगा; इसलिए मैं पण्डितजी का साथ कभी भूलकर भी न छोड़ता था।

अव गड़रिये की भेंड़ पण्डितजी के खेत में कभी न पड़ती थीं। गड़रिया अब बदला लेने पर तुला रहता था।

एक दिन की बात सुनो, पण्डितजी की ईख की खेती बहुत अच्छी थी। गाँव वाले अक्सर कहा करते थे कि इस साल पण्डितजी सबसे बाज़ी मार ले जायेंगे। गड़रिये ने कहा, इस खेत में आग लगा दो, सारी कसर निकल जायेगी। आधी रात के समय खेत पर पहुँच ही तो गया। बचा यह नहीं जानते थे कि यहाँ पर भी मेरा ही पहरा रहता था। ज्योंही आग की चिनगारी ईख में फेंककर भागने का विचार किया कि मैंने झपटकर उसके पाँव पकड़ लिये। वह अचकचाकर गिर पड़ा। क्यों

न गिर पड़ता, चोरो का कलेजा ही कितना ! बचा ने भागने की बहुत कोशिश की, मगर एक न चली। ख़ैरियत यह थी कि खेत गॉव से थोड़ी ही दूर पर था। एकाएक ज्वाला उठी, तो गॉव वाले चटपट पहुँच गये। मुझे गड़रिये का पैर पकड़े देखकर लोग समझ गये कि यह इसी की बदमाशी है। जो आता पहले गड़रिये की पूजा करके तब आग बुझाने जाता। उस बदमाश की ऐसी मरम्मत हुई कि मरने-मरने हो गया। इतने पर भी लोगों को सन्तोष न हुआ। सलाह हुई कि इसे थाने ले चलो, मगर पण्डितजी ने उसे योही छोड़ दिया। लोगो से कहा—जब तक ईश्वर न विगाडेगा, आदमी कुछ नही कर सकता। मसल है—'जाको राखे साइयाँ मार न सकिहैं कोय।'

गॉव वालो को पण्डितजी के व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि ऐसी दशा मे उसे पूरा दण्ड दिलाये बिना कोई भी न छोड़ता। मे तो कहता हूँ कि यदि सब ईख जल गयी होती और गडरिया पकड लिया जाता, तो पण्डितजी जीता न छोडते, मगर यहॉ तो दयालुता का सिक्का जमाना था। क्यों न क्षमा कर जाते। नही तो कहलाने को तो पण्डितजी ब्राह्मण थे; पर दरवाज़े पर भिखमगो को भीख नही मिलती थी।

उस दिन से पण्डितजी मुझ पर और प्रेम करने लगे। सारे गॉव पर मेरी धाक वॅध गयी, लेकिन वह नर-पिशाच इसी फिक्र मे रहता कि कब इसका अन्त कर दूँ। रात-दिन मेरी ही खोज मे रहता, मगर ईश्वर की दया से मेरा बाल भी बाँका न कर सका।

आखिर उसे एक तरकीब सूझ गयी। वह जकिया को खूब खिलाने-पिलाने लगा। उसके समय डफाली ने जकिया को अपने घर से प्रायः निकाल ही दिया था। कभी-कभी दूसरे कुत्तो की तरह उसे भी कौर दे देता था। बात यह थी कि एक दिन एक पुलिस का आदमी उ ाा डफाली के दरवाजे पर रात को गश्त करने आया था। उस समय जकिया ने उसे काट खाया था। पुलिस के आदमी ने डफाली को वहुत तग किया था, तभी से उसे जकिया से घृणा हो गयी थी। उसकी तो ऐसी इच्छा हो गयी थी कि जकिया दरवाजे पर भी न रहे, मगर वहुत दिनो की मुहब्बत के सबब से उसे कुछ-न-कुछ देना ही पडता था।

जकिया ताकतवर तो बहुत था; मगर उसे भले-बुरे का ज्ञान न था। जभी चाहता, बेसुरा राग छेड़ देता। कभी-कभी देवमन्दिरो मे हड्डियाँ रख आता। इससे गॉव वाले भी चिढ़ गये थे। गुण उसमें यही था कि वह मज़बूत बहुत था। क्या मजाल कि कोई दूसरे गाँव का कुत्ता आ जाये। गीदड़ों की तो उसे देखते ही नानी मर जाती थी। हिरन और नीलगायें जो पहले खेतों को तहस-नहस कर देती थीं, अब गाँव में आने का नाम न लेतीं। एक बन्दर ने गाँव में बड़ा उत्पात मचा रखा था। बच्चों के हाथ से रोटी छीन लेता। औरतों को रास्ते में रोक लेता, और जो कुछ उनके पास होता, वह लिये बिना पिण्ड न छोड़ता। लोगों को राह चलनी मुश्किल हो गयी थी। गाँव-भर की खपरैल उलट दी थीं। जकिया ने उसे ऐसा झँझोड़ा कि

बचा ने फिर सूरत ही न दिखायी।

हाँ, तो गड़रिये ने जकिया को इसी इरादे से खिलाना-पिलाना शुरू किया कि मुझसे बदला ले, मगर जकिया भी छटा हुआ था। जो हमेशा मछली और मांस का आदी था वह रूखे-सूखे सत्तू पर कैसे टिक सकता। है ? गड़रिये ने उसे बाँधकर खूब पीटा। तब से वह उसके यहाँ से भाग गया। अब वह किसी का नहीं था। कहलाता तो था डफालीवाला कुत्ता, मगर डफाली से उसका कुछ भी सम्बन्ध न था।

अब गड़रिये ने निश्चय किया कि जैसे भी होगा, मुझे जान से मार डालेगा, चाहे उसकी जान रहे या जाये। एक दिन उस कम्बख्त ने जान पर खेल कर बार कर ही तो दिया। बात यह थी कि पण्डितजी मन्दिर में पूजा कर रहे थे और मैं नीचे बैठा झपकी ले रहा था। पण्डितजी आँख मूँदकर श्री शिवजी का ध्यान कर रहे थे। पूरी ताकत के साथ एक लाठी जमा ही तो दी। लाठी ऐसी घात से लगी कि मेरे मुँह से एक चीख़ निकल गयी। फिर मुझे कोई ख़बर न थी कि मैं कहाँ हूँ। जब होश आया, तो अपने को जानवरों के अस्पताल में पाया। कुछ दिनों में अच्छा होकर अस्पताल से चला आया, मगर मेरी कमर बहुत कमज़ोर हो गयी थी। जब-जब पूर्वी हवा चलती जान ही निकल जाती थी। पीछे पण्डितजी से पता लगा कि वे मेरी उस चीख़ को सुनकर पूजा छोड़कर बाहर निकल आये। देखा कि गड़रिया दूसरा वार करना चाहता है। झट दौड़कर उसे पकड़ लिया और उसके लाठी से उसे खूब पीटा। तब उसका चालान कराके छः महीने के लिए सज़ा करवा दी। फिर तो जेल में उसकी जो दुर्गति या सुगति हुई होगी उसका अनुभव तो वही करेगा, जो कभी जेल गया होगा। ये सब बातें पण्डितजी अपने मित्रों से कहते थे, तो मैं सुनता था। उस समय से पण्डितजी पर मुझे बहुत ही गर्व रहने लगा। मेरा विश्वास था कि पण्डितजी के रहते हुए मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा। कभी मैं पछताता कि मैं भी आदमी क्यों न हुआ।

मेरी माताजी की दशा दिन-दिन ख़राब होती जाती थी। भूख, चिन्ता, मार, इन सब कारणों ने मिलकर उन्हें पागल बना दिया। एक खंडहर में अकेली पड़ी रहतीं। मैं एक बार उन्हें देखने गया था। मुझ पर इतनी तेज़ी से झपटीं कि मैं भाग न जाऊँ तो मुझे ज़रूर काट खायें। उधर से लोगों ने आना बन्द कर लिया। संयोग की बात, गड़रिया उसी दिन सजा भुगतकर निकला था। एकाएक उसी दिन रास्ते में माताजी उसे मिल गयीं और उसके बहुत बचाने पर भी काट खाया। उनके दाँतों में इतना विष था कि दो-तीन दिनों में गड़रिया मर गया। किसी की मृत्यु पर ख़ुश होना, चाहे वह अपना शत्रु ही क्यों न हो, बुरी बात है मगर मैं उछलने लगा। गड़रिया के मरने से मुझे बहुत खुशी हुई। अब मेरा कोई बैरी न था।

मगर इस खुशी ने मुझे जितना हँसाया, उतना ही इस ख़बर ने रुलाया भी कि उसके दो ही तीन दिन बाद पुलिस ने माताजी को गोली मार दी। मैं कई दिन तक दुखी रहा। भला संसार में ऐसा कौन होगा, ज़िसे माता के मरने का मार्मिक

शोक न हो।

अब जकिया के सिवा कोई मेरा सगा न रह गया था। उस समय कभी-कभी मैं सोचता, देखें हम लोगों का अन्त कैसे होता है। यद्यपि उस समय मैं खाने-पीने से सुखी था और जकिया दुखी; मगर सन्तोष इतना ही था कि कहने को भाई तो है। कभी तो उसके भी दिन फिरेंगे ! पहले उसने सुख भोगे, मैंने दुःख झेले। अब मैं सुख भोग रहा हूँ, और वह दुःख। किसी के दिन बराबर नहीं जाते।

जब कभी जकिया पण्डितजी के दरवाजे पर आता, तो मैं कभी चिढ़ता न था। वह तो डरता था कि कहीं यह बदला न ले, मगर मैं वहाँ से टल जाता कि वह निश्चिंत होकर खा ले। कभी-कभी मुझे अधिक भोजन मिल जाता, तो मैं मुँह में रखकर जकिया के पास पहुँचा देता। वह दिखावे में तो प्रसन्न रहता, मगर दिल में मुझसे बराबर जला करता।

(हिन्दी में : प्रथम संस्करण, जुलाई, 1936)
(उर्दू में : अप्रकाशित)

राम कथा

बालकाण्ड *

जन्म

प्यारे बच्चो ! तुमने विजय-दशमी का मेला तो देखा ही होगा। कहीं-कहीं इसे रामलीला का मेला भी कहते हैं। इस मेले में तुमने मिट्टी या पीतल के बन्दरों और भालुओं के-से चेहरे लगाये आदमी देखे होंगे। राम, लक्ष्मण और सीता को सिंहासन पर बैठे देखा होगा और इनके सिंहासन के सामने कुछ फ़ासले पर कागज़ और बाँसों का बड़ा पुतला देखा होगा। इस पुतले के दस सिर और बीस हाथ देखे होंगे। वह रावण का पुतला है। हज़ारों बरस हुए, राजा रामचन्द्र ने लंका में जाकर रावण को मारा था। उसी कौमी फ़तह की यादगार में विजय-दशमी का मेला होता है और हर साल रावण का पुतला जलाया जाता है। आज हम तुम्हें उन्हीं राजा रामचन्द्र की ज़िन्दगी के दिलचस्प हालात सुनाते हैं।

गंगा की उन सहायक नदियों में, जो उत्तर से आकर मिलती हैं, एक सरजू नदी भी है। इसी नदी पर अयोध्या का मशहूर कस्बा आबाद है। हिन्दू लोग आज भी वहाँ तीर्थ करने जाते हैं। आजकल तो अयोध्या एक छोटा-सा क़स्बा है; मगर कई हज़ार साल हुए, वह हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा शहर था। वह सूर्यवंशी खानदान के नामी-गिरामी राजाओं की राजधानी थी। हरिश्चन्द्र जैसे दानी, रघु जैसे ग़रीब परवर, भगीरथ जैसे वीर राजा इसी सूर्यवंश में हुए। राजा दशरथ इसी प्रसिद्ध वंश के एक राजा थे। रामचन्द्र राजा दशरथ के बेटे थे।

उस ज़माने में अयोध्या नगरी विद्या और कला की केन्द्र थी। दूर-दूर के व्यापारी रोज़गार करने आते थे। और वहाँ की बनी हुई चीज़ें ख़रीदकर ले जाते थे। शहर में विशाल सड़कें थीं। सड़कों पर हमेशा छिड़काव होता था। दोनों ओर आलीशान महल खड़े थे। हर क़िस्म की सवारियाँ सड़कों पर दौड़ा करती थीं। अदालतें, मदरसे, औषधालय सब मौजूद थे। यहाँ तक कि नाटक-घर भी बने हुए थे, जहाँ शहर के लोग तमाशा देखने जाते थे। इससे मालूम होता है कि पुराने ज़माने में भी इस देश में नाटकों का रिवाज था। शहर के आस-पास बड़े-बड़े बाग़ थे। इन बाग़ों में किसी को फल तोड़ने की मुमानियत न थी। शहर की हिफ़ाजत के लिए मजबूत चहारदीवारी बनी हुई थी। अंदर एक क़िला भी था। क़िले के चारों ओर गहरी खाई खोदी गयी थी, जिसमें हमेशा पानी लबालब भरा रहता था। क़िले के बुर्जों पर तोपें लगी रहती थीं। शिक्षा इतनी प्रचलित थी कि कोई जाहिल आदमी ढूँढ़ने से भी न मिलता था।

* यहाँ आरम्भिक प्रथम काण्ड प्रस्तुत है।

लोग बड़े अतिथि का सत्कार करनेवाले, ईमानदार, शांतिप्रेमी, विद्याभ्यासी, धर्म के पाबन्द और दिल के साफ थे। अदालतों में आजकल की तरह झूठे मुकदमे दायर नहीं किये जाते थे। हर घर में गायें पाली जाती थीं। घी-दूध की इफरात थी। खेती में अनाज इतना पैदा होता था कि कोई भूखा न रहने पाता था। किसान खुशहाल थे। उनसे लगान बहुत कम लिया जाता था। डाके और चोरी की वारदातें सुनाई भी न देती थीं। और ताऊन, हैज़ा वगैरह बीमारियों का नाम तक न था। वह सब राजा दशरथ की बरकत थी।

एक रोज़ राजा दशरथ शिकार खेलने गये और घोड़ा दौड़ाते हुए एक नदी के किनारे जा पहुँचे। नदी दरख़्तों की आड़ में थी। वहीं जंगल में अन्धक मुनि नामक एक अन्धा रहता था। उसकी स्त्री भी अन्धी थी। उस वक़्त उनका नौजवान बेटा श्रवण नदी में पानी भरने गया हुआ था। उसके कलशे के पानी में डूबने की आवाज़ सुनकर राजा ने समझा कि कोई जंगली हाथी नहा रहा है। तुरंत शब्द-बेधी बाण चला दिया। तीर नौजवान के सीने में लगा। तीर का लगना था कि वह ज़ोर से चिल्लाकर गिर पड़ा। राजा घबराकर वहाँ गये तो देखा कि एक नौजवान पड़ा तड़प रहा है। उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। बेहद अफ़सोस हुआ। नौजवान ने उनको लज्जित और दुःखित देखकर समझाया—अब रंज करने से क्या फ़ायदा ! मेरी मौत शायद इसी तरह लिखी थी। मेरे माँ-बाप दोनों अन्धे हैं। उनकी कुटी वह सामने नज़र आ रही है। मेरी लाश उनके पास पहुँचा देना। यह कहकर वह मर गया।

राजा ने नौजवान की लाश को कन्धे पर रखा और अन्धे के पास जाकर यह दुःखद समाचार सुनाया। बेचारे दोनो बुड्ढे, तिस पर दोनों आँखों के अंधे, और यही इकलौता बेटा उनकी ज़िन्दगी का सहारा था—इसके मरने का समाचार सुनकर फूटकर रोने लगे। जब आँसू जरा थमे तो उन्हे राजा पर गुस्सा आया। उनको खूब जी भरकर कोसा और यह शाप देकर कि जिस तरह बेटे के शोक में हमारी जान निकल रही है उसी तरह तुम भी बेटे ही के शोक मे मरोगे, दोनों मर गये। राजा दशरथ भी रो-धोकर यहाँ से विदा हुए।

राजा दशरथ के अब तक कोई सन्तान न थी। सतान ही के लिए उन्होंने तीन शादियाँ की थीं। बड़ी रानी का नाम कौशल्या था, मँझली रानी का सुमित्रा और छोटी रानी का कैकेयी। तीनों रानियाँ भी संतान के लिए तरसती रहती थीं। अन्धे का शाप राजा के लिए वरदान हो गया। चाहे बेटे के शोक में मरना ही पड़े, बेटे का मुँह तो देखेंगे। ताज और तख़्त का वारिस तो पैदा होगा। इस ख़याल से राजा को बड़ी तसकीन हुई। इसके कुछ ही दिन बाद अपने गुरु वशिष्ठ के मशविरे से राजा ने एक यज्ञ किया। इसमें बहुत से ऋषि-मुनि जमा हुए और सबने राजा को आशीर्वाद दिया। यज्ञ के पूरे होते ही तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं और नियत समय के बाद तीनों रानियों के चार राजकुमार पैदा हुए। कौशल्या से रामचन्द्र हुए, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न और कैकेयी से भरत। सारे राज में मंगल-गीत गाये जाने लगे। प्रजा ने खूब उत्सव मनाया। राजा ने इतना सोना-चाँदी दान किया कि राज

में कोई निर्धन न रह गया। उनकी दिली कामना पूर्ण हुई। कहाँ एक बेटे का मुँह देखने को तरसते थे, कहाँ चार-चार बेटे हो गये। घर गुलजार हो गया। ज्योतिहीन आँखें रोशन हो गयीं।

चारों लड़कों का लालन-पालन होने लगा। जब वह ज़रा सयाने हुए तो गुरु वशिष्ठ ने उन्हें शिक्षा देना शुरू किया। चारों लड़के बहुत ही जहीन थे, थोड़े ही दिनों में वेद-शास्त्र सब ख़त्म कर लिये और रणविद्या में भी खूब होशियार हो गये। धनु-विद्या में, भाला चलाने में, कुश्ती में, किसी फ़न में इनका समान न था। मगर उनमें घमण्ड नाम को भी न था। चारों बुजुर्गों का अदब करते थे। छोटों को भी वह सख़्त-सुस्त न कहते। उनमें आपस में बड़ी गहरी मुहब्बत थी। एक दूसरे के लिए जान देते थे। चारों ही सुन्दर, स्वस्थ और सुशील थे। उन्हें देखकर सबके मुँह से आशीर्वाद निकलता था। सब कहते थे, यह लड़के खानदान का नाम रोशन करेंगे। यों तो चारों में एक-सी मुहब्बत थी, मगर लक्ष्मण को रामचन्द्र से, शत्रुघ्न को भरत से खास प्रेम था। राजा दशरथ मारे खुशी के फूले न समाते थे।

ताड़का और मारीच का वध

एक दिन राजा दशरथ दरबार में बैठे हुए मन्त्रियों से कुछ बात-चीत कर रहे थे कि ऋषि विश्वामित्र पधारे। विश्वामित्र उस समय के बहुत बड़े तपस्वी थे। वह क्षत्रिय होकर भी केवल अपनी आराधना के बल से ब्रह्मर्षि के पद पर पहुँच गये थे। सभी ऋषि उनके सामने आदर से सिर झुकाते थे। मगर ज्ञानी होने पर भी वह किसी हद तक क्रोधी थे। किसी ने उनकी मरज़ी के खिलाफ काम किया और उन्होंने शाप दिया। इससे सभी राजे-महाराजे उनसे डरते थे; क्योंकि उनके शाप को कोई रद्द न कर सकता था। लड़ाई की विद्या में भी वह अद्वितीय थे। राजा दशरथ ने सिंहासन से उतरकर उनका स्वागत किया और उन्हें अपने सिंहासन पर बिठाकर बोले—आज इस ग़रीब के घर को अपने चरणों से पवित्र करके आपने मुझ पर बड़ा एहसान किया। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो बताइए; वह सर आँखों पर बजा लाऊँ।

विश्वामित्र ने आशीर्वाद देकर कहा—महाराज ! हम तपस्वियों को राज-दरबार की याद उसी समय आती है, जब हमें कोई तकलीफ होती है, या जब हमारे ऊपर कोई अत्याचार करता है। मैं आजकल एक यज्ञ कर रहा हूँ किन्तु राक्षस लोग उसे अपवित्र करने की कोशिश करते हैं। वह यज्ञ की वेदी पर रक्त और हड्डियाँ फेंकते हैं। मारीच और सुबाहु दो बड़े ही विद्रोही राक्षस हैं। यह सारा फिसाद उन्हीं लोगों का है। मुझमें अपनी तपस्या का इतना बल है कि चाहूँ तो एक शाप देकर उनकी सारी सेना को जलाकर राख कर दूँ; पर यज्ञ करते समय क्रोध को रोकना पड़ता है। इसलिए मैं आपके पास फरियाद लेकर आया हूँ। आप राजकुमार रामचन्द्र और लक्ष्मण को मेरे साथ भेज दीजिए, जिससे वह मेरे यज्ञ की रक्षा करें और उन राक्षसों को शिथिल कर दें। दस दिन में हमारा यज्ञ पूरा हो जायेगा। राम के सिवा और किसी से यह काम न होगा।

राजा दशरथ बड़ी मुश्किल में पड़ गये। राम का वियोग उन्हें एक क्षण के लिये सह्य न था। यह भय भी हुआ कि लड़के अभी अनुभवी नहीं हैं, डरावने राक्षसों से भला क्या मुकाबला कर सकेंगे। डरते हुए बोले—हे पवित्र ऋषि ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; किन्तु इन अल्प-वयस्क लड़कों को राक्षसों के मुकाबले में भेजते मुझे भय होता है। उन्हें अभी तक युद्ध-क्षेत्र का अनुभव नहीं है। मैं स्वयं अपनी सारी सेना लेकर आपके यज्ञ की रक्षा करने चलूँगा। लड़कों को साथ भेजने के लिए मुझे विवश न कीजिए।

विश्वामित्र हँसकर बोले—महाराज ! आप इन लड़कों को अभी नहीं जानते। इनमें शेरों की-सी हिम्मत और ताक़त है। मुझे पूरा विश्वास है कि ये राक्षसों को मार डालेंगे। इनकी तरफ़ से आप निडर रहिए। इनका बाल भी बाँका न होगा।

राजा दशरथ फिर कुछ आपत्ति करना चाहते थे; मगर गुरु वशिष्ठ के समझाने पर राजी हो गये। और दोनों राजकुमारों को बुलाकर ऋषि विश्वामित्र के साथ जाने का आदेश दिया। रामचन्द्र और लक्ष्मण यह आज्ञा पाकर दिल में बहुत खुश हुए। अपनी वीरता को दिखाने का ऐसा अच्छा अवसर इन्हें पहले न मिला था। दोनों ने युद्ध में जाने के कपड़े पहने, हथियार सजाये और अपनी माताओं से आशीर्वाद लेने के बाद राजा दशरथ के चरणों पर गिरकर खुशी-खुशी विदा हुए। विश्वामित्र ने दोनों भाइयों को एक ऐसा मन्त्र बताया कि जिसको पढ़ने से थकावट पास नहीं आती थी। नये-नये बहुत अद्‌भुत हथियारों का उपयोग करना सिखाया, जिनके मुकाबले में कोई ठहर न सकता था।

कई दिन के बाद तीनों आदमी गंगा को पार करके घने जंगल में जा पहुँचे। विश्वामित्र ने कहा—बेटा ! इस जंगल में ताड़का नाम की दानवी रहती है। वह इस रास्ते से गुज़रनेवाले आदमी को पकड़कर खा डालती है। पहले यहाँ एक अच्छा नगर बसा हुआ था; पर इस दानवी ने सारे आदमियों को खा डाला। अब वही बसा हुआ नगर घना जंगल है। कोई आदमी भूलकर भी इधर नहीं आता। हम लोगों की आहट पाकर वह दानवी आती होगी। तुम तुरन्त उसे तीर से मार डालना।

विश्वामित्र अभी यह वाकया बयान कर ही रहे थे कि हवा में जोर की सनसनाहट हुई और ताड़का मुँह खोले दौड़ती हुई आती दिखायी दी। उसकी सूरत इतनी डरावनी और डील इतना बड़ा था कि कोई कम साहसी आदमी होता तो मारे डर के गिर पड़ता। उसने इन तीनों आदमियों के सामने आकर गरजना और पत्थर फेंकना शुरू किया। विश्वामित्र ने रामचन्द्र को तीर चलाने का इशारा किया। रामचन्द्र एक औरत पर हथियार चलाना नियम के विरुद्ध समझते थे। ताड़का दानवी थी तो क्या, थी तो औरत। मगर ऋषि का संकेत पाकर उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी। ऐसा तीर चलाया कि वह ताड़का की छाती में चुभ गया। ताड़का ज़ोर से चीख़कर गिर पड़ी और एक क्षण में तड़प-तड़प कर मर गयी।

तीनों आदमी फिर आगे चले और कई दिनों बाद विश्वामित्र के आश्रम में

पहुँच गये। था तो यह भी जंगल; पर इसमें अधिकतर ऋषि लोग रहा करते थे। शेर, नीलगाय, हिरन निडर घूमा करते थे। इस तपोभूमि के प्रभाव से शिकार खेलनेवाले भी शिकार की तरफ़ प्रवृत्त न होते थे।

दूसरे दिन से विश्वामित्र ने यज्ञ करना शुरू किया। राम और लक्ष्मण कमर में तलवार लटकाये, धनुष और बाण हाथ में लिये जंगल के चारों ओर गश्त लगाने लगे। न खाने-पीने की फिक्र थी, न सोने-लोटने की। रात-दिन बिना सोये और बिना खाये पहरा देते थे। इस पकार पाँच दिन कुशल से बीत गये। मगर छठे दिन क्या देखते हैं कि मारीच और सुबाहु राक्षसों की सेना लिये यज्ञ को अपवित्र करने चले आ रहे हैं। दोनों भाई तुरन्त सँभल गये। ज्योंही मारीच सामने आया, रामचन्द्र ने ऐसा तीर मारा कि वह बड़ी दूर जाकर गिर पड़ा। सुबाहु बाक़ी था। उसे भी एक अग्नि-बाण में ठंडा कर दिया। फिर तो राक्षसी सेना के पैर उखड़ गये। दोनों भाइयों ने दूर तक उनका पीछा किया और कितनों ही को मार डाला। इस प्रकार यज्ञ सुन्दर रीति से पूरा हो गया। किसी प्रकार की रुकावट न हुई। विश्वामित्र ने दोनों भाइयों की खूब प्रशंसा की।

विवाह

राम और लक्ष्मण अभी विश्वामित्र के आश्रम में ही थे कि मिथिला के राजा जनक ने विश्वामित्र को अपनी लड़की सीता के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए नवेद भेजा। उस समय में प्रायः विवाह स्वयंवर की रीति से होते थे, लड़की का पिता एक उत्सव करता था, जिसमें दूर-दूर से आकर लोग सम्मिलित होते थे। उत्सव में साहस या युद्ध के कौशल की परीक्षा होती थी। जो युवक इस परीक्षा में सफल होता था, उसी के गले में कन्या जयमाल डाल देती थी। उसी से उसका विवाह हो जाता था। विश्वामित्र की हार्दिक इच्छा थी कि सीता का विवाह राम से हो जाये। वह यह भी जानते थे कि राम परीक्षा में अवश्य सफल होंगे। इसलिए जब वह मिथिला जाने लगे, तो राम और लक्ष्मण को भी साथ लेते गये। राजा दशरथ से आज्ञा लेने के लिए अयोध्या जाने और वहाँ से मिथिला आने के लिए काफी वक्त न था। मिथिला वहाँ से करीब ही थी। इसलिए विश्वामित्र ने सीधे वहाँ जाने का निश्चय किया।

आजकल जिस प्रान्त को हम बिहार कहते हैं, वही उस ज़माने में मिथिला कहलाता था। मिथिला के राजा जनक बड़े विद्वान और ज्ञानी पुरुष थे, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनसे ज्ञान की शिक्षा लेने आते थे। कई साल पहले मिथिला में बड़ा भारी अकाल पड़ा था। उस वक्त ऋषियों ने मिलकर फ़ैसला किया कि यह काल यज्ञ ही से दूर हो सकता है। इस यज्ञ को पूरा करने की एक शर्त यह भी थी कि राजा जनक खुद हल चलायें। राजा जनक को अपनी प्रजा अपने प्राण से भी अधिक प्रिय थी। इसके सिर से इस संकट को दूर करने के लिए उन्होंने इस यज्ञ को शुरू कर दिया। जब वह हल-बैल लेकर खेत में पहुँचे और हल चलाने लगे तो क्या देखते

हैं कि फल की नोक से जो ज़मीन खुद गयी है उसमें एक चाँद-सी लड़की पड़ी हुई है। राजा के कोई सन्तान न थी; तुरन्त इस लड़की को गोद में उठा लिया और घर लाये। उसका नाम सीता रखा, क्योंकि वह फल की नोक से निकली थी। फल को संस्कृत में सित् कहते हैं। इस ईश्वरीय देन को राजा जनक ने बड़े लाड़-प्यार से पाला। और अच्छे-अच्छे विद्वानों से शिक्षा दिलवायी। इसी सीता के विवाह पर यह स्वयंवर रचा गया था।

राम-लक्ष्मण और विश्वामित्र सोन, गंगा इत्यादि नदियों को पार करते हुए चौथे दिन मिथिला पहुँचे। सारे शहर के लोग इन राजकुमारों की सुन्दरता और डील-डौल देखकर उन पर मोहित हो गये। सबके मुँह से यही आवाज़ निकलती थी कि सीता के योग्य कोई है तो यही राजकुमार है; जैसी सुन्दर वह है वैसे ही खूबसूरत रामचन्द्र हैं। मगर देखा चाहिए, इनसे शिव का धनुष उठता है या नहीं।

राजा जनक को विश्वामित्र के आने की खबर हुई तो उन्होंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। जब उन्हें मालूम हुआ कि वह दोनों नौजवान राजा दशरथ के बेटे हैं, तब उनके दिल में भी यही ख़्वाहिश हुई कि काश ! सीता का ब्याह राम से हो जाता; मगर स्वयंवर की शर्त से लाचार थे।

विश्वामित्र ने राजा से पूछा—महाराज, आपने स्वयंवर के लिए कौन-सी परीक्षा चुनी है ?

जनक ने उत्तर दिया—भगवन्, क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता। सैकड़ों बरस गुजर गये, एक बार शिवजी ने मेरे किसी पूर्वज को अपना धनुष दिया था। वह धनुष तब से मेरे घर में रखा हुआ था। एक दिन मैंने सीता से अपनी पूजा की कोठरी को लीप डालने के लिए कहा:—उसी कोठरी में वह पुराना धनुष रखा हुआ था। सैकडों बरस से कोई उसे उठा न सका था। सीता ने जाकर देखा तो उसके आस-पास बहुत कूड़ा जमा हो गया था। उसने धनुष को उठाकर एक ओर रख दिया। मैं पूजा करने गया तो धनुष को हटा हुआ देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जब मालूम हुआ कि सीता ने उसे उठाकर ज़मीन साफ़ की है, तब मैंने शर्त की कि ऐसी वीर कन्या का विवाह उसी वर से करूँगा, जो धनुष को चढ़ाकर तोड़ देगा। अब देखूँ, लड़की के भाग्य में क्या है ?

दूसरे दिन स्वयंवर की तैयारियाँ शुरू हुईं। मैदान में एक बड़ा शामियाना ताना गया। सैकड़ों सूरमा जो अपने बल के घमंड में दूर-दूर से आये हुए थे, आ-आकर बैठे। शहर के लाखों स्त्री-पुरुष एकत्रित हुए। शिवजी के धनुष को बहुत-से आदमी उठाकर सभा में लाये। जब सब लोग आ गये तो राजा ज़नक ने खड़े होकर कहा—ऐ भारतवर्ष के वीरो ! यह शिवजी का धनुष आप लोगों के सामने रखा है। जो इसे तोड़ देगा, उसी के गले में सीता जयमाल डालेगी।

यह सुनते ही सूरमाओं और वीरों ने धनुष के पास जा-जाकर ज़ोर लगाना शुरू किया। सभी राजकुमार सीता से विवाह करने का स्वप्न देख रहे थे। कमर कस-कसकर घमंड से ऐंठते-अकड़ते धनुष के पास जाते, और जब वह तिल भर

भी न हिलता तो अपमान से गर्दन झुकाये अपना-सा मुँह लिये लौट आते थे। सारी सभा में एक भी ऐसा योद्धा न निकला जो धनुष को उठा सकता, तोड़ने का तो ज़िक्र ही क्या।

राजा जनक ने यह दशा देखी तो उन्हें बड़ा भय हुआ। सभा में खड़े होकर निराशा-सूचक स्वर में बोले—शायद यह वीर-भूमि अब वीरों से ख़ाली हो गयी। जभी तो इतने आदमियों में एक भी ऐसा न निकला जो इस धनुष को तोड़ सकता। यदि मैं ऐसा जानता तो स्वयंवर के लिए यह शर्त न रखता। ऐसा प्रतीत होता है कि सीता अविवाहित रहेगी। यही इसके भाग्य में है तो मैं क्या कर सकता हूँ। आप लोग अब शौक़ से जा सकते हैं। इस हौसले और ताक़त पर आप लोगों को यहाँ आने की ज़रूरत ही क्या थी ?

लक्ष्मण बड़े जोशीले युवक थे। जनक की यह बातें सुनकर उनसे सहन न हो सका। जोश से बोला—महाराज ! ऐसा अपनी जबान से न कहिए। जब तक राजा रघु का वंश कायम है, यह देश वीरों से ख़ाली नहीं हो सकता। मैं डींग नहीं मारता। सच कहता हूँ कि अगर खाली भाई साहब की आज्ञा पाऊँ तो एकदम मैं इस धनुष के पुरजे-पुरजे कर दूँ। मेरे भाई साहब चाहें तो इसे एक हाथ से तोड़ सकते हैं। इसकी हक़ीक़त ही क्या है। लक्ष्मण की यह जोशपूर्ण बातें सुनकर सारे सूरमा दंग रह गये। रामचन्द्र छोटे भाई की तबीयत से परिचित थे। उनका हाथ पकड़कर खींच लिया और बोले—भाई, यह समय इस तरह की बातें करने का नहीं है। जब तक तुम्हारे बड़े मौजूद हैं, तुम्हें जबान खोलना उचित नहीं।

लक्ष्मण बैठ गये तो विश्वामित्र ने रामचन्द्र से कहा—बेटा, अब तुम जाकर इस धनुष को तोड़ो, जिसमें राजा जनक को तसकीन हो। रामचन्द्र सीता को पहले ही दिन एक बाग़ में देख चुके थे। दोनों भाई बाग़ में सैर करने गये थे और सीता देवी की पूजा करने आयी थीं। वहीं दोनों की आँखें मिली थीं। उसी वक्त से रामचन्द्र को सीता से प्रेम हो गया था। वह इसी समय की प्रतीक्षा में थे। विश्वामित्र की आज्ञा पाते ही उन्होने उन्हें प्रणाम किया और धनुष की ओर चले। सूरगाओ ने अपना अपमान कम करने के विचार से उन पर आवाज़ें कसना शुरू किया। एक ने कहा, ज़रा सँभले हुए जाइएगा, ऐसा न हो, अपने ही ज़ोर में गिर पड़िए। दूसरा बोला—इस पुराने धनुष पर दया कीजिए, कहीं पुरजे-पुरजे न कर दीजिएगा। तीसरा बोला—ज़रा धीरे-धीरे कदम रखिए, ज़मीन हिल रही है। किन्तु रामचन्द्र ने इन तीनों की तरफ़ तनिक भी ध्यान न दिया। धनुष को इस तरह उठा लिया जैसे कोई फूल हो और इतनी ज़ोर से चढ़ाया कि बीच से उसके दो टुकड़े हो गये। इसके टूटने से ऐसी आवाज़ हुई कि लोग चौंक पड़े। धनुष ज्योंही टूटकर गिरा, वह सफलता की प्रसन्नता से उछलकर दौड़े। राजा जनक सभा के बाहर चिन्ता-पूर्ण दृष्टि से यह दृश्य देख रहे थे। रामचन्द्र को गले लगा लिया और सीताजी ने आकर उनके गले में जयमाल डाल दी। नगरवालों ने प्रसन्न होकर जय-जयकार करना शुरू किया। मंगल-गान होने लगा, बन्दूकें छूटने लगीं। और सूरमा लोग एक-एक करके चुपके-चुपके सरकने

लगे। शहर के छोटे-बड़े धनी-निर्धन, सब ख़ुशी से फूले न समाते थे। सभी ने मुँह-माँगी मुराद पायी। सलाह हुई कि राजा दशरथ को शुभ समाचार की सूचना देनी चाहिए। कई ऊँट के सवार तुरन्त कोशल की ओर रवाना किये गये। विश्वामित्र राजकुमारो के साथ राजभवन में जाना ही चाहते थे कि मंडप के बाहर शोर और गुल सुनायी देने लगा। ऐसा मालूम होता था कि बादल गरज रहा है। लोग घबड़ा-घबड़ाकर इधर-उधर देखने लगे कि यह क्या आफत आनेवाली है। एक क्षण के बाद भेद खुला कि परशुराम ऋषि क्रोध से गरजते चले आ रहे हैं। देवों का-सा कद, अगारे-सी लाल-लाल आँखें, क्रोध से चेहरा लाल, हाथ मे तीर-कमान, कधे पर फरसा—यह आपका रूप था। मालूम होता था, सबको कच्चा ही खा जायेगे। आते ही गरजकर बोले—किसने मेरे गुरु शिवजी का धनुष तोड़ा है, निकल आये मेरे सामने, जरा मैं भी देखूँ वह कितना वीर है?

रामचन्द्र ने बहुत नम्रता से कहा—महाराज! आपके किसी भक्त ने ही तोडा होगा और क्या। परशुराम ने फरसे को घुमाकर कहा—कदापि नही, यह मेरे भक्त का काम नहीं। यह किसी शत्रु का काम है। अवश्य मेरे किसी वैरी ने यह काम किया है। मैं भी उसका सिर तन से अलग कर दूँगा। किसी तरह क्षमा नही कर सकता। मेरे गुरु का धनुष और उसे कोई क्षत्रिय तोड डाले? मैं क्षत्रियो का शत्रु हूँ। जानी-दुश्मन! मैंने एक-दो बार नही, इक्कीस बार क्षत्रियो के रक्त की नदी बहायी है। अपने बाप के खून का बदला लेने के लिए मैंने जहाँ क्षत्रियो को पाया है, चुन-चुनकर मारा है। अब फिर मेरे हाथो क्षत्रियो पर वही आफत आनेवाली है। जिसने यह धनुष तोडा हो, मेरे सामने निकल आवे।

दिलेर और मनचले लक्ष्मण यह ललकार सुनकर भला कब सहन कर सकते थे। सामने आकर बोले—आप एक सडे-से धनुष के टूटने पर इतना आपे से क्यो वाहर हो रहे हैं? लडकपन मे ऐसे कितने धनुष खेल-खेलकर तोड डाले, तब तो आपको तनिक भी क्रोध न आया। आज इस पुराने, बेदम धनुष के टूट जाने से आप क्यो इतना कुपित हो रहे हैं? क्या आप समझते हैं कि इन गीदड-भभकियो से कोई डर जायेगा?

जैसे घी पड जाने से आग और भी तेज हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मण के ये शब्द सुनकर परशुराम और भी भयावने हो गये। फरसे को हाथ मे लेकर बोले—तू कौन है जो मेरे साथ इस धृष्टता से व्यवहार करता है? तुझे क्या अपनी जान जरा भी प्यारी नही है, जो इस तरह मेरे सामने जबान चलाता है? क्या यह धनुष भी वैसा ही था, जैसे तुमने लडकपन मे तोडे थे? यह शिवजी का धनुष था।

लक्ष्मण बोले—किसी का धनुष हो, मगर था बिलकुल सडा हुआ। छूते ही टूट गया। जोर लगाने की जरूरत ही न पड़ी। इस जरा-सी बात के लिए व्यर्थ आप इतना बिगड़ रहे हैं।

परशुराम और भी झल्लाकर बोले—अरे मूर्ख, क्या तू मुझे नहीं पहचानता? मैं तुझे लड़का समझकर अभी तरह दिये जाता हूँ, और तू अपनी धृष्टता नही छोड़ता।

मेरा क्रोध बुरा है। ऐसा न हो, मैं एक बार में तेरा काम तमाम कर दूँ।

लक्ष्मण–मेरा काम तो तमाम हो चुका ! हाँ, मुझे डर है कि कहीं आपका क्रोध आपको हानि न पहुँचाये। आप-जैसे ऋषियों को कभी क्रोध न करना चाहिए।

परशुराम ने फरसा सँभालते हुए दाँत पीसते हुए कहा–क्या कहूँ, तेरी उम्र तुझे बचा रही है, वरना अब तक तेरा सिर तन से जुदा कर देता।

लक्ष्मण–कहीं इस भरोसे मत रहिएगा। आप फूँककर पहाड़ नहीं उड़ा सकते। आप ब्राह्मण हैं इसलिए आपके ऊपर दया आती है। शायद अभी तक आपका किसी क्षत्रिय से पाला नहीं पड़ा। जभी आप इतना बफ़ार रहे हैं।

रामचन्द्र ने देखा कि बात बढ़ती जा रही है, तो लक्ष्मण का हाथ पकड़कर बिठा दिया और परशुराम से हाथ जोड़कर बोले–महाराज ! लक्ष्मण की बातों का आप बुरा न मानें। यह ऐसा ही धृष्ट है। यह अभी तक आपको नहीं जानता, वरना यों आपके मुँह न लगता। इसे क्षमा कीजिए छोटों का कुसूर बड़े माफ किया करते हैं। आपका अपराधी मैं हूँ, मुझे जो दण्ड चाहें, दें। आपके सामने सिर झुका है।

रामचन्द्र की यह आदरपूर्ण बातचीत सुनकर परशुराम कुछ नर्म पड़े कि एकाएक लक्ष्मण को हँसेते देखकर फिर उनके बदन में आग लग गयी। बोले–राम ! तुम्हारा यह भाई अति धृष्ट है। विनय और शील तो इसे छू तक नहीं गया। जो कुछ मुँह में आता है, बक डालता है। रंग इसका गोरा है। पर दिल इसका काला है। ऐसा अशिष्ट लड़का मैंने नहीं देखा।

अभी तक तो लक्ष्मण परशुराम को केवल छेड़ रहे थे, किन्तु ये बातें सुनकर उन्हें क्रोध आ गया। बोले–सुनिए महाराज ! छोटो का काम बड़ो का आदर करने का है, किन्तु इसकी भी सीमा होती है। आप अब इस सीमा से बढ़े जा रहे हैं। आखिर आप क्यों इतना अप्रसन्न हो रहे हैं ? आपके बिगड़ने से तो धनुष जुड़ न जायेगा। हाँ, जग-हँसाई अवश्य होगी। अगर यह धनुष आपको ऐसा ही प्रिय है, तो किसी कारीगर से जुड़वा दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त और हम क्या कर सकते हैं। आपका क्रोध बिलकुल व्यर्थ है।

मारे क्रोध के परशुराम की आँखें बीर-बहूटी की तरह लाल हो गयीं। वह थर-थर काँपने लगे। उनके नथने फड़कने लगे। रामचन्द्र ने उनकी यह दशा देखकर लक्ष्मण को वहाँ से चले जाने का इशारा किया और अत्यन्त विनीत भाव से बोले–महाराज ! बड़ों को छोटे, कम-समझ आदमियों की बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। इसके बकने से क्या होता है। हम सब आपके सेवक हैं। धनुष मैंने तोड़ा है। इसका दोषी मैं हूँ। इसका जो दण्ड आप उचित समझें मुझे दें। आप इसका जो दण्ड माँगें, मैं देने को तैयार हूँ।

परशुराम ने नर्म होकर कहा–तावान मैं तुमसे क्या लूँगा। मुझे यही भय है कि इस धनुष के टूट जाने से क्षत्रियों को फिर घमण्ड होगा और मुझे फिर उनका अभिमान तोड़ना पड़ेगा। यह शिव का धनुष नहीं टूटा है, ब्राह्मणों के तेज और बल को धक्का लगा है।

रामचन्द्र ने हँसकर कहा—ऋषिराज ! क्षत्रिय ऐसे नीच नही हैं कि इस ज़रा-से धनुष के टूट जाने से उन्हे घमण्ड हो जाये। अगर आप मेरी वीरता की विशेषता देखना चाहते हैं तो इससे भी बड़ी परीक्षा लेकर देखिए।

परशुराम—तैयार है ?

राम—जी हाँ, तैयार हूँ।

परशुराम ने अपना तीर और कमान रामचन्द्र के समीप फेककर कहा—अच्छा, इस धनुष पर प्रत्यंचा चढा। देखूँ तू कितना वीर है !

रामचन्द्र ने धनुष उठा लिया और बड़ी आसानी से प्रत्यचा चढाकर बोले—कहिए, अब क्या करूँ ? तोड दूँ इस धनुष को ?

परशुराम का सारा क्रोध शान्त हो गया। उन्होने बढ़कर रामचन्द्र को हृदय से लगा लिया और उन्हे आशीर्वाद देते हुए अपना धनुष-वाण लेकर विदा हो गये। राजा जनक की जान सूख रही थी कि न जाने क्या विपदा आनेवाली है। परशुराम के चले जाने से जान मे जान आयी। फिर मंगल-गान होने लगे।

राजा दशरथ रामचन्द्र और लक्ष्मण का कुछ समाचार न पाने से बहुत चिन्तित हो रहे थे। यह शुभ-समाचार मिला तो बडे प्रसन्न हुए। अयोध्या मे भी उत्सव होने लगा। दूसरे दिन धूमधाम से बारात सजा कर वह मिथिला चले।

राजा जनक ने बारात का खूब सेवा-सत्कार किया और शास्त्र-विधि से सीता जी का विवाह रामचन्द्र से कर दिया। उनकी एक दूसरी लड़की थी जिसका नाम उर्मिला था। उसकी शादी लक्ष्मण से हो गयी। राजा जनक के भाई के भी दो लडकियाँ थी। वे दोनो भरत और शत्रुघ्न से ब्याही गयी। कई दिन के बाद बारात विदा हुई। राजा जनक ने अनगिनती सोने-चाँदी के बर्तन, हीरे-जवाहरात, जड़ाऊ झूलों से सजे हुए हाथी, नागौरी बैलो से जुते हुए रथ, अरबी जाति से घोडे दहेज मे दिये।

(उर्दू में, प्रथम संस्करण, 1928(हिन्दी में, 1936 में कभी प्रकाशित)

पुस्तक समीक्षा

स्कन्दगुप्त

लेखक : श्री जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक : भारती भण्डार, काशी। सजिल्द मूल्य : ढाई रुपया ; पृष्ठ-संख्या 250

जयशंकर प्रसाद जी ने बौद्ध इतिहास को खूब पढ़ा है। 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु' आदि नाटक बौद्धकालीन भारत के ही चित्र हैं। 'स्कन्दगुप्त' भी इसी ढंग का ड्रामा है। यह स्कन्दगुप्त वही है, जिसे विक्रमादित्य कहा जाता है। स्कन्दगुप्त की सौतेली माता और सौतेले भाई ने स्कन्दगुप्त का वध करके राज्य पर अधिकार करने की चेष्टा की। दूसरों ने भी उसी समय आक्रमण किया, पर स्कन्दगुप्त ने अन्त में विजय प्राप्त की और हूणों के क़दम भी पीछे हटा दिये। अपने सौतेले भाई को उन्होंने क्षमा ही नहीं किया, उसे अपना युवराज भी बना दिया, इत्यादि। साहित्य के सब अंगों में ऐतिहासिक नाटक लिखना सबसे मुश्किल है। तीन हज़ार वर्ष पहले के चरित्रों, परिस्थितियों, भावों की कल्पना करना लोहे के चने चबाना है। प्रसादजी के और नाटकों की भाँति यह नाटक भी प्राचीन संस्कृत का अनुवाद होकर रह गया है। चरित्र केवल नाम हैं, जिनमें जीवन की गन्ध तक नहीं। भाषा निर्जीव, जटिल है, मानो मनों मिट्टी के बोझ से दबी हुई कोई लाश है। ऐसी भाषा स्कन्दगुप्त के समय के लोग शायद व्यवहार कर सकें, आजकल और वह भी नाटक-जैसी जनप्रिय वस्तु में तो उसका व्यवहार करना साहित्य के गले पर छुरी फेरना है। वही पुराना षड्यन्त्र है, वही जेलखाना, वही ऐन मौके पर प्राण बच जाना, वही सारे पुराने कील-काँटे हैं। नाटकों में गाना ज़रूरी चीज़ है, लेकिन उसका मौक़ा होता है। किसी महफ़िल में आप खूब गाइए, कोई कुछ न कहेगा। कोई राजकुमारी विहार करते वक़्त खूब नाचे, कोई चूँ नहीं कर सकता, राजा साहब भी अपने गाढ़े मित्रों के साथ खूब नाचें-गायें कोई मुज़ायक़ा नहीं, लेकिन ऐसी दशा में, जबकि हूण सैनिक शहर वालों को आग में झोंकने को तैयार हों, सारे नगर में हाहाकार मचा हुआ हो, स्त्रियों और पुरुषों का पद्यों में बात करना हास्यास्पद है !

देखिए—

स्त्रियाँ : हे नाथ !
हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो ?

हमारे दीन के सम्बल कहा हो ?

पुरुष : नहीं हो नाम ही, बस नाम है क्या,
सुना, केवल यहाँ हो या वहाँ हो।

स्त्रियाँ : पुकारा जब किसी ने तब सुना था,
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो ?

मातृगुप्त (कालिदास) : हे प्रभु !
हमें विश्वास दो, अपना बना लो !
सदा स्वच्छन्द हों, चाहे जहाँ हों।

यह तो वही पारसी नाटक वालों की तुकन्दियों मे बातचीत है, और कुछ नही। मजा यह कि गोविन्दगुप्त के आते ही हूण सैनिक परछाई की तरह विलीन हो जाते हैं और स्कन्दगुप्त की जय-जय होने लगती है।

प्रसाद जी सुकवि हैं। हमारे वर्तमान कवियों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। इस नाटक में जितने पद्य आये हैं, सभी सुन्दर हैं।

नाटक में मुख्य घटनाओं को चुन लेना चाहिए और उन्हीं की ओर दर्शक का ध्यान खींचने की चेष्टा करनी चाहिए। मुख्य बातों को गौण और गौण को मुख्य बना देना ऐसी भूल है, जो अक्सर हो जाया करती है। इस नाटक में भी उसने अपनी टाँग अड़ा ही दी। स्कन्दगुप्त का चरित्र दर्शाने में प्रसाद जी को कुछ सफलता मिली है, यद्यपि यह चिरत्र और सुन्दर हो सकता था। हम प्रसाद जी से यहाँ निवेदन करेंगे कि आपको ईश्वर ने जो शक्ति दी है, उसका उपयोग वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के हल करने में लगाइए। स्टेज का आज यही ध्येय माना जाता है। इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से आज कोई फ़ायदा नहीं।

('माधुरी', वर्ष 7, खण्ड 1, संख्या 4, अक्तूबर, 1928)

कंकाल–

लेखक, जयशंकर 'प्रसाद'।

अपनी रचनाओ के अत्यन्त सुन्दर, फड़कते हुए नाम रखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। किताब तो है सड़ियल; पर नाम इतना सुन्दर, मानो साहित्य का रत्न ही है। 'प्रसाद' जी ने इतना सुन्दर उपन्यास लिखकर इतना वीभत्स नाम रख दिया, कि पहले पाठक को एक प्रकार की अरुचि हो जाती है। वह समझने लगता है, कि इसमें कोई पैशाचिक रहस्य होगा, या कोई हत्या-कांड; लेकिन दिल पर ज़ब्र करके जब वह पुस्तक उठाता है और एक परिच्छेद पढ़ जाता है, तब उसे मालूम होता है कि यह तो कोई ऊँचे दर्जे की चीज़ है। पुस्तक समाप्त कर लेने पर उसके सामने कंकाल का भीषण दृश्य नहीं, सौरभ से भरे हुए रमणीक उद्यान का दृश्य आता है, जो हृदय पर न मिटनेवाला असर छोड़ जाता है। यह 'प्रसाद' जी का पहला ही उपन्यास है; पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जो

इसके सामने रक्खे जा सकें। मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीज़ें क्यों नहीं लिखते, जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो ; न-जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गयी है, कि हम आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असम्भव-सा मालूम होता है। हमको उस ज़माने के रहन-सहन, आचार-विचार का इतना अल्पज्ञान है कि क़दम-क़दम पर ठोकरें खाने की संभावना रहती है। हमको बहुत कुछ कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और कल्पना यथार्थ का रूप खड़ा करने में बहुधा असफल होती है। शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है, कि 'प्रसाद' जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था; पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पाँच लताड़ों के बाद ऐसी सुन्दर वस्तु निकल आये, तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैयार हूँ। इस उपन्यास को निकले चार-पाँच महीने हो गये। मैं चाहता था कि कोई मुझसे योग्यतर सज्जन इसकी आलोचना करें। मैंने खुद कई मित्रों से–जिनकी आलोचना शक्ति मुझसे कहीं बढ़ी हुई है–इसकी आलोचना करने की दर्खास्त की; पर सभी वादे करके टाल गये ; इसलिए आज मुझे इस कर्त्तव्य का पालन खुद करना पड़ा। मैं सच्चे हृदय से कहता हूँ, कि मुझे इस रचना में बड़ा आनन्द मिला।

लेखक की कवितामयी शैली में यद्यपि उतनी सजीवता और मरदानापन नहीं; पर उसकी क़सर सौंदर्य और कोमलता ने पूरी कर दी है। दृश्यों के चित्रण में नवीनता है, वैचित्र्य है और हृदय है। चरित्रों में गहराई है, जान है और सत्य है। संभाषणों में विचार है, तथ्य है और चुभनेवाले वाक्य हैं। मंगल का हिन्दू-आदर्शवाद, विजय का दार्शनिक-जड़वाद, स्वामी जी का बगुलाभगतपन, किशोरी की पाखंडमयी धार्मिकता और निर्लज्ज्य विलासिता ; सभी पाठक को मुग्ध कर देते हैं। घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्त्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है। वह भी सती है, यमुना भी सती है, पर दोनों में कितना सूक्ष्म अन्तर है। एक कठोर है, दूसरी कोमल। एक छाछ को गर्म दूध समझनेवाली, दूसरी विष भी ग्रहण करने को तैयार।

मुझे विश्वास है कि 'प्रसाद' जी ऐसे और भी रत्न उत्पन्न करेंगे और हिन्दी भाषा उनका यथोचित सम्मान करेगी।

('हंस', नवम्बर 1930)

परख–

लेखक, श्री जैनेन्द्र कुमार जैन

जैनेन्द्र कुमार की रचनाएँ थोड़े ही दिनों से प्रकाशित होने लगी हैं। कुछ

कहानियाँ 'त्याग भूमि' में निकलीं, कुछ 'माधुरी' में। दो-चार और इधर-उधर निकलीं होंगी और 'परख' तो उनका पहला उपन्यास है, पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, बहुत ही सुन्दर लिखा है। भाषा, चरित्र, चुटकियाँ, सभी अपने ढंग की निराली हैं। उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है, जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक ख़ास लोच, एक ख़ास अन्दाज़ है। इसके साथ ही वह उन रियलिस्टों में नहीं हैं, जिन्हें नग्न चित्रों में ही आनन्द आता है। 'सुन्दर' को वह कभी हाथ से नहीं जाने देते। 'परख' है तो छोटी किताब, पर हिन्दी में एक चीज़ है। भाषा इतनी सजीव, शैली इतनी आकर्षक, चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है, मगर यह नयी विवाह प्रथा हमारी समझ में नहीं आयी। यदि कट्टो और बिहारी को सेवाव्रत ही धारण करना था—और ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वह फिर न मिले होंगे—तो विवाह बन्धन की क्या ज़रूरत थी ? विवाह वासना की चीज़ न हो, सन्तान पैदा करने की चीज़ न हो, पर संगति की चीज़ तो है ही, ऐसी गाड़ी तो है ही जिसके दो पहिये होते हैं। यदि स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के प्रेम, सहारे और सहानुभूति की ज़रूरत न हो, तो विवाह का नाम ही कौन ले। कट्टो का चरित्र एक सरल युवती, विधवा का चरित्र है, जिसमें विराग भी है और तृष्णा भी, अभिलाषा भी है और निराशा भी। विराग कितना व्यंजित, तृष्णा कितनी दबी हुई। बिहारी में जवानी की उमंग है। वह उमंग का सजीव पुतला है। चिन्ता, पसोपेश और परिणाम वह कभी सोचता ही नहीं। खाता है तो उमंग से, बोलता है तो उमंग से, प्रेम करता है तो उमंग से और संन्यास लेता है, तो वह भी उमंग से। सत्यप्रकाश का पतन—हम उसे पतन ही कहेंगे—एक मनस्वी युवक का पतन है, जो निन्यानवे के फेर में पड़ जाता है। हमें विश्वास है इस रचना का आदर होगा। हम जैनेन्द्र जी को इस पर बधाई देते हैं और कथा प्रेमियों से आग्रह करते हैं कि वह इसे अवश्य पढ़ें।

जैनेन्द्र जी से हमारी थोड़ी देर की मुलाकात है। सीधे-सादे खद्दरधारी आदमी हैं, हृदय में देश-भक्ति कूट-कूट कर भरा हुआ, लम्बे-लम्बे सँवारे हुए केश हैं, न आँखों पर सुनहरी ऐनक, न कोई टीम-टाम। चुपचाप काम करनेवाले आदमियों में हैं, पूरे सत्याग्रही। आजकल गुजरात स्पेशल जेल में जेल जीवन पर कोई उपन्यास लिखने की सामग्री जमा कर रहे हैं।

('हंस', फरवरी 1931)

कारवाँ—

लेखक, श्री भुवनेश्वर प्रसाद

'कारवाँ' हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नयी प्रगति का प्रवर्तक है, जिसमें शा और आस्कर वाइल्ड का सुन्दर समन्वय हुआ है। अभी तक हमारा हिन्दी ड्रामा घटनाओं और चरित्रों और कथाओं के आधार पर ही रचा गया है। कुछ समस्या

नाटक भी लिखे गये हैं। जिनमें रूढ़ियों का या नये या पुराने विचारों का खाका खींचा गया है, पर सब कुछ स्थूल, घटनात्मक दृष्टि से ही हुआ है, जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न समस्याओं पर सूक्ष्म, पैनी, तात्त्विक, बौद्धिक दृष्टि डालने की चेष्टा नहीं की गयी जो नये ड्रामा का आधार है। जैसा लेखक ने अपने 'प्रवेश' में खुद कहा है–

'हिन्दी में समस्या नाटककारों का केवल एक सहज आदर्श है। उनके कथोप-कथन में 'समस्या' शब्द का आ जाना।'

लेखक ने यहाँ कुछ मुबालगे से काम लिया है, लेकिन इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि समस्या नाटक की स्पिरिट को उन्होंने खूब पकड़ पाया है और हमारे जीवन के गुप्त रहस्यों, प्रेम और भावुकता की आड़ में छिपे हुए मनोविकारों पर ऐसा निर्दय प्रकाश डाला है कि उनकी ओर ताकते डर लगता है। सम्भाषण में जगह-जगह मनोभावों की ऐसी मार्मिक विवेचना की गयी है कि लेखक की सूझ की प्रखरता और बुद्धि की तीव्रता का कायल होना पड़ता है। राजेन जब स्त्री से कहता है–'स्त्री की घृणा की तीव्रता का कायल होना पड़ता है। राजेन जब स्त्री से कहता है–'हृदय तो टूटने ही के लिए बने हैं। मानव-जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी तो यही है कि हमारे हृदय नहीं टूटते, या जब मिस्टर सिंह कहते हैं–'अनुभव तो मनुष्य जीवन की हार है। संसार का कोई अप्रिय सत्य जब हमें पूर्णतया परास्त कर देता है, तो हम उसे अनुभव कहते हैं।' या जब वह आगे चलकर फिर कहते हैं–'विवाहित जीवन में सुख केवल उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है।' या जब किशोर माया से कहता है–'कोई भी मनुष्य अपने प्रेम पात्र के साथ सुखी नहीं रह सकता, तुम्हें उस बालक के लिए पग-पग पर त्याग और बलिदान करना पड़ेगा। और सुख, सुख नाम है विजय का।' या जब माया कहती है–'स्त्री का वास्तविक जीवन जभी प्रारम्भ होता है, जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है।' तो मानो हमारी बुद्धि पर ऐसी कड़ी चोट पड़ती है कि हम क्षण भर के लिए चौंधिया जाते हैं। और जी चाहता है लेखक का ज़ोरों के साथ खंडन करें, जो शायद इस बात का प्रमाण है कि उसका निशाना ठीक बैठा है।

पुस्तक में प्रवेश और उपसंहार को छोड़कर छः एकांकी नाटक हैं, जिसमें तीन 'हंस' में गत वर्ष छप चुके हैं, शेष तीन या तो अप्रकाशित हैं, या अन्य पत्रिकाओं में निकल चुके हैं। 'श्यामा, एक वैवाहिक विडम्बना' में मिसेज़ पुरी अपने पति से फ़र्माती हैं–'समाज के सम्मुख मैं तुम्हें प्यार करने के लिए उत्तरदायिनी हूँ और विवाह करके यदि मैंने जीविका के लिए अपने आपको नहीं बेचा है–यदि इस कठिन सत्य का सामना तुम नहीं करना चाहते–तो मुझे प्रेम तो चाहिए।' अगर वैवाहिक जीवन में प्रेम नहीं है–और निस्सन्देह नहीं है–तो और कहाँ है ? मुक्ताचरण के जीवन में ? व्यभिचार में प्रेम केवल रसिकों की, मुफ़्त का धन उड़ानेवालों की कल्पना है। अपने नग्न रूप में वह केवल सन्तान की नैसर्गिक प्रेरणा है। भोग की इच्छा का

नाम प्रेम ग़लत रखा गया है। जब एक जोड़ा इस ज़िम्मेदारी से लद जाता है, तो एक दूसरे के प्रति त्याग और सहानुभूति की मानवीय भावनाएँ जाग उठती हैं। यही वैवाहिक जीवन है, यही प्रेम है। अगर प्रेम से कवियों और रसिकों के प्रेम का आशय है, तो वह चन्द्रलोक में होगा, मर्त्यलोक में नहीं। यह ग़लत है, कुफ़्र है, कि स्त्री जीविका के लिए अपने आपको बेचती है। अस्सी फ़ीसदी दुनिया के बसनेवाले मज़दूर हैं। उनके स्त्री-पुरुष दोनों ही परिश्रम करते हैं। प्रायः स्त्री ज़्यादा करती है। जीविका का वहाँ प्रश्न ही नहीं है। फिर भी अधिकतर पुरुष ही प्रधान है। जहाँ लड़कियाँ पिता की सम्पत्ति की वारिस होती हैं, वहाँ भी पुरुष का आदर कम नहीं है, बल्कि और ज़्यादा है। जिसमें बुद्धि बल ज़्यादा है, वही विजयी है। कभी-कभी मेहरे मर्द नज़र आ जाते हैं। ऐसे घरों में स्त्रियों की प्रधानता होती है। वैवाहिक जीवन से घबड़ानेवाले वह पुरुष हैं, जो अपनी अकर्मण्यता के कारण कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते, जो परले सिरे के खुदग़रज हैं, जो विलास के पुतले हैं, चाहे वे कवि हों या फिलासफ़र। विवाह अवश्य एक बन्धन है, लेनिक इस नज़र से देखिए तो जीवन ही क्या है ? किसी भी ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है, जहाँ निरंकुशता का राज हो ? ऐसी यूटोपिया तो आज तक किसी ने नहीं बनायी। कुछ न कुछ बन्धन तो जीवन में रहेगा ही। इसी का नाम संयम है और जिस तरह जीवन के और विभागों में, उसी तरह वैवाहिक जीवन में भी उसका खास महत्त्व है। वैवाहिक जीवन में पाँव रखते ही स्त्री-पुरुष दोनों वफ़ादारी का व्रत कर लेते हैं, और इस व्रत का जितना ही दृढ़ता से पालन होता है उतना ही जीवन सुखी होता है। सुख उस विजय का नाम है जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर पाने में होता है, बड़ी सुन्दर सूक्ति हो सकती है, लेकिन निस्सार। उस विजय का नाम सुख नहीं, बल्कि व्यभिचार है।

ख़ैर यह तो हुई विचार की बात, पर पुरी दम्पति के मनोरहस्यों का बड़ा ही बारीक चित्रण है। बेचारा मिस्टर पुरी एक बड़ा ट्रैजिक व्यक्ति है, पर बिलकुल सच्चा और उसके साथ ही कुछ कमज़ोर, जो नहीं चाहता कि उसकी स्त्री उसका असली रूप देखे। बलवान पुरुष मनोज महोदय की परवाह न करता। किस हिमाकत के साथ आप कहते हैं—"श्यामा मेरी है ··· समाज की एक हृदयहीन लौह विधि ने ही उसे तुम्हारी बनाया है, तुम्हारा उस पर क्या स्वत्व है ?" स्वत्व तो मनोज महाशय का है, क्योंकि आप श्यामा से प्रेम करते हैं। मिस्टर पुरी सम्भव है कहीं क्लर्क हों। नौ बजे से लेकर छः बजे शाम तक किसी दफ़्तर में नाक रगड़ते हों, अपने जीवन-रक़्त का एक-एक बूँद श्यामा के लिए जलाते हों, लेकिन उनका श्यामा पर कोई स्वत्व नहीं है, स्वत्व है मनोज का, क्योंकि वह श्यामा से प्रेम करता है।

'एक साम्यहीन साम्यवादी' में आजकल जैसे साम्यवादी देखने में आते हैं उनकी जीती-जागती तस्वीर। 'मिस्टर मिश्रा का तीस वर्ष के दाहिनी ओर राजनैतिक विचार सहिष्णुता के बायीं ओर ··· रुपये से जहाँ तक उसके कमाने का प्रश्न है निर्लिप्त। नाम और काम दोनों को लोलुप।' कितना अजीब खाका है।

'शैतान' एक उद्दंड, शेखीबाज़, मनचले लोफर का चरित्र है, जिसकी आकस्मिक उदारता उस स्त्री को मुग्ध कर देती है, जो उससे घृणा करती थी। 'प्रतिमा का विवाह' एक धन-लोलुप रमणी का चित्र है, मगर अभी शायद भारत में प्रतिमाओं का जन्म नहीं हुआ है। वह भारतीय नाम की एक अंग्रेज छोकरी हो सकती है, जो बूढ़े पति के धन से जवान प्रेमी के साथ बिहार करके बूढ़े को उसकी बुढ़भस की सज़ा देती है। सम्भव है, नयी रोशनी कुछ दिनों में यहाँ की रमणियों की मनोवृत्ति में यह तब्दीली पैदा कर दे, लेकिन यद्यपि इस क्षेत्र में हमारा अनुभव बहुत ही कम है, फिर भी हम इसी भ्रम में पड़े रहना चाहते हैं कि यह सम्पूर्णतया काल्पनिक सृष्टि है, जीवन से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं।

'लाटरी' का प्रसंग यह है कि एक पुरुष 'विदेश में अपरिचितों में' रंग-बिरंगे स्वप्न देखता है और जब गर्म धड़कता हृदय लेकर घर आता है, तो देखता है उसकी स्त्री किसी दूसरे पुरुष के प्रेम में पागल है। स्त्री अपने आशिक से कहती है–'तुमने मुझे क्यों जानने दिया कि तुम मुझसे प्रेम करते हो, मेरी आत्मा में पैठकर तुमने उस हिंसक बाघिनी को क्यों जगा दिया, मेरे जीवन में चिनगारियाँ क्यों भर दीं ?'

आशिक साहब उसके प्रेम का बल लिये चले जाने को तैयार हैं। फ़रमाते हैं–'मैं तुम्हारे स्वप्न लेकर संसार के किसी कोने में चला जाऊँगा और तुम्हारे जीवन में एक सरस, पर अप्रिय स्वप्न, केवल एक स्वप्न छोड़ जाऊँगा।'

स्त्री जवाब देती है–'और मैं एक पुरुष के गले में निर्जीव लता के समान लिपटी रहूँ, जिसे मैं प्रेम नहीं करती ? उसके लिए बच्चे उत्पन्न करूँ ? उसे प्रेम न करूँ, समझूँ नहीं, पर उसके जीवन में ईर्ष्या की आग लगा दूँ और सदैव अपने हृदय में एक दूसरे पुरुष का दाहक प्रेम लिये रहूँ।'

स्त्री का पति आता है और यह कौतुक देखकर फिर अपनी नौकरी पर चला जाना चाहता है। पत्नी पुरुष में कुछ खरी-खरी बातें होती हैं। आशिक साहब पर इन बातों का कुछ ऐसा असर होता है कि वह अपने प्रेम से इस्तीफ़ा दे देते हैं और जिस पद पर पति जाना चाहता था, उस पर खुद चले जाते हैं

'रोमांस, रोमांस' का प्रसंग भी बहुत कुछ लाटरी से मिलता-जुलता है। हाँ, मिस्टर सिंह ने अपने दिल जले मन में स्त्री के विषय में जो असत्य और अर्धसत्य शब्द कहे हैं उनका Cynicism मन में ग्लानि पैदा करता है और यही क्या इस रचना की एक नाटिका एक 'साम्यहीन साम्यवादी' के सिवा और प्रायः सभी में एक ही विचार, कुछ बदले हुए रूपों में काम कर रहा है, अर्थात्–वैवाहिक जीवन का काला रुख़। जितनी स्त्रियाँ आयी हैं, सभी अपने शौहरों से बग़ावत किये बैठी हैं, सभी किसी दूसरे आदमी से साँठ-गाँठ करती हैं और खुल्लम-खुल्ला करती हैं, और सभी पुरुष ईर्ष्या से जलते हैं और कुढ़ते हैं। वैवाहिक जीवन की यह निस्सारता शायद लेखक ने आस्कर वाइल्ड से उधार ली है। अगर ऐसा है तो ग़नीमत है, लेकिन अगर यह उनके मन की भावनाएँ हैं, तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने उसका केवल सियाह रुख ही देखा है, अगर वैवाहिक जीवन इतना दुखमय होता तो आज संसार

में एक जोड़ा भी नज़र न आता। जीवन में सर्वथा विद्रोह ही विद्रोह नहीं है, कविता भी है, भावुकता भी है, आनन्द भी है, त्याग भी है। वही कवि-प्रतिभा जिसे जीवन में निराशा के सिवा और कुछ नज़र नहीं आता, शायद यहाँ भी प्रस्फुटित हो रही है। और यह उसी के उद्‌गार हैं। या शायद ऐसे प्रसंग इसलिए चुने गये हैं कि दाम्पत्य के विषय में जो भावनाएँ लेखक ने अपने अन्दर भर ली हैं, उनके इज़हार के लिए दूसरे प्रसंगों में गुंजाइश न थी। पुराने जमाने में 'शुक बहत्तरी' के ढंग की पुस्तकें बहुत लिखी जाती थीं, जिनमें स्त्री-पुरुष के बेवफ़ाई पर आक्षेप करती थी और पुरुष-स्त्री की दग़ाबाज़ी पर। दोनों अपने पक्ष के समर्थन में नज़ीरें पेश करते थे और पुस्तक तैयार हो जाती थी। उन क़िस्सों के लेखकों का मंशा केवल मनोरंजन होता था। नया ड्रामा अब उससे बहुत ऊँचा उठ गया है। वह अब जीवन की फ़िलासफ़ी और ज़िन्दगी के मसले हल करता है और मसले भी वह लेता है, जो सार्वजनिक होते हैं, वह नहीं, जिनका केवल मुट्ठी भर दिल जले आदमियों से ताल्लुक़ है।

भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बातें कहने की शक्ति है, मर्म को हिला देने की वाक्‌चातुरी है। काश, वह इसका उपयोग भी 'एक साम्यहीन साम्यवादी' जैसी रचनाओं में करते। आस्कर वाइल्ड के गुणों को लकर क्या वह उसके दुर्गुणों को नहीं छोड सकते।

('हंस' जून 1935)

तितली—

लेखक, जयशंकर प्रसाद

'तितली' प्रसाद जी का दूसरा उपन्यास है और यद्यपि इसमें कंकाल की साहित्यिक छटा नहीं है, पर दृष्टिकोण की स्पष्टता और विचारों की प्रौढ़ता में उससे बढ़ा हुआ है। 'तितली' नाम पढ़कर ऐसा अनुमान होता है कि इसमें किसी चंचल कामिनी का चित्रण होगा, मगर यह अनुमान गलत निकलता है और तितली का विकास आदर्श गृहिणी और मर्यादाओ पर उत्सर्ग करनेवाली देवी के रूप में होता है। वह देहाती स्त्री है, पर उसे अच्छी शिक्षा मिली है और कठिन परिस्थितियों में पड़कर इसका चरित्र कुन्दन की भाँति और भी निखर जाता है...

पुरुषोचित साहस से उसने इन चौदह वर्षों में संसार का सामना किया था। किसी से न झुकने की टेक, अविचल कर्त्तव्यनिष्ठा और अपने बल पर खड़े होकर इतनी सारी गृहस्थी उसने बना ली।

उसके मन में यही आकांक्षा है कि उसका दंडित पति लौटकर आवे और उसकी साधना का पुरस्कार दे। लेकिन, जब यह कामना पूरी नहीं होती और तितली गाँव में संदेह का विषय बन जाती है, तब वह चिल्ला उठती है—

'मैंने इतने धैर्य से इसलिए संसार का सब अत्याचार सहा कि एक दिन वह

आवेंगे और मैं उनकी थाती उन्हें सौंपकर अपने दुःखपूर्ण जीवन से विश्राम लूँगी ··· क्या एक दिन, एक घड़ी, एक क्षण भी मेरा, मेरे मन का नहीं आवेगा--जब मैं अपने जीवन-मरण के सुख-दुःख में साथ रहनेवाले की प्रतिज्ञा करनेवाले के मुँह से अपनी सफ़ाई सुन लूँ।

उधर शैला अंग्रेज़ महिला है, जो इंग्लैंड में कुँवर इन्द्रदेव सिंह की सज्जनता से प्रभावित होकर उनके साथ भारत आती है और यहाँ किसानों की दुर्दशा देखकर उनको संगठित करने और उनकी आर्थिक समस्याओं को हल करने का आयोजन करने लगती है। फिर विद्वान रामनारायण के मुख से हिन्दू धूर्म का उपदेश सुनकर वह हिन्दू धर्म की दीक्षा ले लेती है और कुँवर साहब से उसका विवाह हो जाता है, पर उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं है। स्मिथ नाम का एक अंग्रेज़ उसके मन को बुरी तरह आन्दोलित कर देता है। उसी समय शैला और तितली में जो बातें होती हैं, उससे उनके आदर्श स्पष्ट हो जाते हैं। तितली कहती है–

'तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढँककर हिन्दू स्त्री बन गयी हो सही, किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो। देखो इन्द्रदेव बाबू कैसे देव प्रकृति के मनुष्य हैं। उस त्याग को तुम अपने प्रेम से और उज्ज्वल बना सकती हो।'

जिस तरह शैला और तितली के मनोभावों में अन्तर है, उसी तरह कुँवर इन्द्रदेव और पंडित रामनाथ के जीवन-आदर्शों में भी गहरा अन्तर है। दोनों ही देश और समाज के शुभ चिन्तक हैं, लेकिन इन्द्रदेव समाज को पच्छिमी ढंग पर ले जाना चाहता है, इसके ख़िलाफ़ रामनाथ हिन्दू आदर्शों पर श्रद्धा रखता है और उन्हीं के परिष्कार में जाति का उद्धार देखने का इच्छुक है। इन्द्रदेव जाति की दुर्दशा की चर्चा करते हुए कहते हैं –

'इससे तो अच्छी है पश्चिम की आर्थिक भौतिक समता, जिसमें ईश्वर न रहने पर भी मनुष्य को सब तरह की सुविधाओं की योजना है।'

इन्द्रदेव पश्चिम की भौतिक समता के पुजारी हैं। रामनाथ भी समता के भक्त हैं, पर यह काम भारतीय आत्मवाद द्वारा पूरा करने के इच्छुक हैं। वह इन्द्रदेव के जवाब में कहते हैं–

'जनता को अर्थ प्रेम की शिक्षा देकर उसे पशु बनाने की चेष्टा अनर्थ करेगी। उसमें ईश्वर भाव या आत्मा का निर्वासन होगा, तो सब लोग उस दया, सहानुभूति और प्रेम के उद्‌गम से अपरिचित हो जायेंगे, जिससे आपका व्यवहार टिकाऊ होगा। प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियन्त्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी।'

इन्द्रदेव का पारिवारिक जीवन बाधापूर्ण है। यों घर के स्वामी वही हैं, पर उस पर राज है उनकी बहन माधुरी का, जो पति प्रेम से वंचित होकर मैके में ही

रहती है और इस घर के संचालन में अपने जीवन को सार्थक कर रही है। उनकी माता श्याम दुलारी देवी का समय बीमारी और पूजा-पाठ और अमीरी के चोचलों में कटता है। इन्द्रदेव जब इंग्लैंड से एक अंग्रेजी युवती के साथ लौटता है और दोनों अलग छावनी में रहने लगते हैं, तो माधुरी और श्यामदुलारी दोनों ही चिन्तित होती हैं और शैला को किसी तरह दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करना चाहती हैं। रियासती हथकंडे शुरू हो जाते हैं, यहाँ तक कि इन्द्रदेव घर से विरक्त होकर शहर में चले जाते हैं और वहाँ बैरिस्ट्री करके अपना निर्वाह करने लगते हैं। अपनी सारी सम्पत्ति अपनी माँ के नाम हिब्बा करके वह उस हिब्बानामे की रजिस्ट्री करा देते हैं, लेकिन देहातों के सुधार का विचार उनके हृदय में अभी तक मौजूद है। वह शैला से कहते हैं–

'कुछ पढ़े-लिखे सम्पन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता की प्रलोभनों को छोड़कर देश के गाँवों में बिखर जाना चाहिए। उनके सरल जीवन में–जो नागरिकता के संसर्ग से विषाक्त हो रहा है–विश्वास, प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिए।

मगर आदर्श हिन्दू माता अपने पुरुष से सम्पत्ति दान लेकर क्या अधिकार का सुख भोगने में संतुष्ट हो सकती है ? वह अन्त में सब कुछ अपनी बहू शैला को भेंट करके सुखी होती है। इन्द्रदेव की बहन माधुरी भी अन्त में पति के दुर्व्यवहार से दुखी होकर शैला से स्नेह करने लगती है। इस समय मनोभावों का दर्शन कितना कोमल है–

'प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता ! बार-बार अपने को ठगा कर भी वह उसी के लिए झगड़ती है।'

तितली का पति मधुबन बड़ा मनचला युवक है, जो अन्याय देखकर शान्त नहीं बैठ सकता। उसकी विधवा बहन राजरानी पर जब एक सूदख़ोर महन्त बलात्कार करने की चेष्टा करता है, तो मधुबन क्रोध को क़ाबू में नहीं रख सकता। वह महन्त को गला दबाकर मार डालता है और उसके सन्दूक से रुपयों की थैली लेकर भागता है और कलकत्ता पहुँचता है। वहाँ कई घटना चक्रों में पड़ने के बाद उसे दस साल की सज़ा दी जाती है। जेल में पड़े-पड़े उसके चंचल मन में तरह-तरह के सन्देह उठते हैं और अपने ऊपर ग्लानि होने लगती है। वह सोचता है–

'क्या तितली मुझसे स्नेह करेगी ? मुझ अपराधी से उसका वही सम्बन्ध फिर स्थापित हो सकेगा ? मैंने उसका ही यदि स्मरण किया होता–जीवन के शून्य अंश को उसी के प्रेम से, केवल उसी की पवित्रता से, भर लिया होता, तो आज यह दिन मुझे न देखना पड़ता। किन्तु क्या वही तितली होगी ? अब भी वैसी ही पवित्र ? इस नीच संसार में जहाँ पग-पग पर प्रलोभन है, खाई है, आनन्द की, सुख की लालसा है ?'

जेल से छूटने के बाद वह ठोकरें खाता हरिहर क्षेत्र पहुँचता है और यहाँ अपने पुराने दुश्मन चौबे जी और तहसीलदार की बातचीत से उसे तितली के विषय में

संदेह होता है–उसका लड़का कब हुआ ? प्रतिशोध लेने के लिए उसका पशु साँकल तुड़ा रहा था और वह बार-बार उसे शांत करना चाहता था।

वह घर आता है। उसी समय तितली जीवन से निराश होकर गंगा की गोद में कूद पड़ती है। अंतिम समय उसे मधुबन के दर्शन होते हैं–

उसने देखा सामने एक चिर-परिचित मूर्ति है। जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन विश्राम-शिविर के द्वार पर खड़ा था।

प्रसाद जी कवि हैं और इस कथा में अनेक स्थल ऐसे आये हैं

जहाँ उनकी लेखनी कवित्व में डूब गयी है। दो-एक उदाहरण लीजिए–

'रसीली चाँदनी की आर्द्रता से मन्थर पवन अपनी लहरों से राजकुमारी के शरीर में रोमाच उत्पन्न करने लगा था।'

'अपनी सलज्ज गरिमा को ओढ़े हुए वह स्त्रियों की रानी-सी दिखलायी पड़ती थी।'

'दो वृक्षों की ऊँची चोटियाँ पश्चिम के धुँधले और पीले आकाश की भूमिका पर एक उदास चित्र का अंश बना रही थी।'

इस पुस्तक ने हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में एक की संख्या और बढ़ा दी है। कमी जो खटकती है वह है इसमें विनोद और सजीवता की। चौबे जी शुरू में तो कुछ आशाजनक थे, पर आगे चलकर बदमाश निकल गये। उपन्यास पढ़ते हुए मन इस प्रवंचना में नहीं पड़ने पाता कि यह कोई यथार्थ जीवन का चरित्र है। उसकी औपन्यासिकता मन से दूर नहीं होती। चरित्र सजीव न होकर छाया से मालूम होते हैं। सूर्य का तीव्र प्रकाश कहीं नहीं है, मद्धिम चाँदनी में सारे दृश्य दिखायी देते हुए जान पड़ते हैं। अन्त खुद एक पहेली है। हम चरित्रों की झलक-सी देखते हैं। उनका सम्पूर्ण रूप हमारे सामने नहीं आता, मगर शायद यह उनका अधखुलापन ही है, जो उन्हें हृदय के समीप पहुँचा देता है। कला जितनी छिपाव में है, उतनी दिखाव में नहीं।

('हंस', जुलाई 1935)

मधुबाला–

रचयिता, श्री बच्चन

यह कवि बच्चन के गीतों और कविताओं का दूसरा संग्रह है जो छोटे आकार में बड़ी सज-धज से छपा है। बच्चन में अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फ़िलासफ़ी है। मधु, मधुबाला, साक़ी आदि भावनाएँ हिन्दी में अनोखी हैं। यहाँ तो सोमरस और भंग का प्राधान्य था, मगर सोमरस का वैदिक काल में चाहे जो महत्त्व रहा हो और भंग, गाँजा, चरस आदि का साधु और रसिक-मण्डली में चाहे आज भी कितना ही रिवाज हो, मगर नशे की कल्पना हमारी कविता के क्षेत्र में नहीं घुसने पायी। हमारी मध्यकाल की कविता में बंसी और वृन्दावन

की पुकार है और नयी कविता में वीणा और माला और धूप-दीप की कल्पना का प्राधान्य। वह साकार की भक्ति थी, यह निराकार की उपासना है और इसलिए आत्मानुभूतिपूर्ण और अन्तर्मुखी है। बच्चन जी की कविता में भी वही भावनाएँ हैं मगर कल्पना हिन्दी के लिए सर्वथा अछूती है और यह श्रेय उनको है कि उन्होंने फ़ारसी का यह तख़ैयुल यहाँ ऐसा खपाया है कि उसमें बेगानापन बिलकुल नहीं रहा। और चूँकि हिन्दी में भी बुलबुल और क़फ़स और साक़ी और साग़र के रसिक मौजूद हैं और कसरत से मौजूद हैं; हिन्दी में यह चीज़ पाकर उन्होंने उसका स्वागत किया। फ़ारसी और उर्दू के कवियों ने तो साक़ी और सुराही को अध्यात्म की चीज़ बना डाला है। उनके लिए शराब दैवी आदेश है, या भक्ति या ज्ञान। उनका नशा वह विह्वलता है, जो भक्ति की पूर्णता है। पिंजरे में फँसी हुई बुलबुल का, बाग़ में बनाये हुए घोंसले की याद में तड़पना मनुष्य के जीवन से इतना मिलता है कि हम उसके दुःख में शरीक होने के लिए मजबूर हैं। शराब की कल्पना भी जहाँ इस दुःख भरे संसार से विरक्ति की सूचक है, वहाँ धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता से विद्रोह का भी इशारा करती है। देखिए मधुप भी क्या कहता है–

हमने छोड़ी कर की माला,
पोथी-पत्रा भू पर डाला,
मंदिर-मसजिद के बन्दी-गृह
को तोड़ लिया कर में प्याला।
औ दुनिया को आज़ादी का,
संदेश सुनाने हम आये।

हमें आशा है, बच्चन जी की मधुबाला कहीं निराशावाद की शराब न पिलाये ?

('हंस', अप्रैल 1936)

अन्ना

लेखक : टॉल्स्टॉय
अनुवादक : पं. छविनाथ पाण्डेय

तुर्गनेव ने एक बार काउण्ट टॉल्स्टॉय के विषय में अपनी स्वाभाविक उदारता के साथ कहा था, "मैं उनकी तुलना में क्या कहूँ ? समकालीन योरोपियन साहित्य में उनका कोई जोड़ नहीं। उनकी क़लम में यह जादू है कि वह जो कुछ लिखते हैं, वह जैसे जी उठता है। और उनकी रचना-शक्ति का क्षेत्र कितना विराट है ! उसे देखकर आश्चर्य होता है।"

और इस कथन में रत्ती-भर भी अतिशयोक्ति नहीं है। टॉल्स्टॉय की रचना शक्ति अद्भुत थी, कल्पना-शक्ति अलौकिक थी। जीवन का ऐसा कोई विभाग ऐसा कोई अंग नहीं है, जिस पर उनकी तेज़ आँखें न पड़ी हों। और उनके मस्तिष्क में

जो चीज़ एक बार पहुँच जाती थी, वह अलौकिक हो जाती थी। ऊँची-से-ऊँची या निकृष्ट-से-निकृष्ट सोसाइटी का चित्रण वह समान बारीकी और सच्चाई के साथ करते हैं। आपको कहीं कोई अस्वाभाविकता, कहीं कोई अनाड़ीपन न मिलेगा। अमीरों के नाच और दावतों में, सैनिकों की छावनियों और ग़रीबों की झोंपड़ियों मे, ऐयाशों के विलास और विहार में, त्यागियों की साधना और संयम में, कहीं भी वे बन्द नहीं हैं, कहीं भी वे अजनबी नहीं हैं, कहीं भी वे भटकते नहीं; और मानव-चरित्र का ऐसा वैचित्र्य तो आपको साहित्य में कहीं मिल ही नहीं सकता। उनकी 'वार एण्ड पीस' को ही लीजिए। हज़ारों चरित्र आये हैं, सब अपने-अपने व्यक्तित्व के साथ। बड़े-से-बड़ा वीर, बड़े-से-बड़ा कायर, सज्जन, दुर्जन, लुच्चे, शोहदे, साधु, सज्जन—सभी उनकी क़लम के नीचे आकर सजीव हो जाते हैं, बोलने लगते हैं। आपको उनसे इतनी दिलचस्पी हो जाती है, मानो वे आपके घनिष्ठ हों, आप सम्मोहित हो जाते है। उनकी पहली पुस्तक 1852 में और आख़िरी पुस्तक 1910 में छपी। इस साठ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने क्या कुछ नहीं लिखा ? उपन्यास, गल्प, आलोचना, ड्रामे, राजनीति, जीवन-चरित्र, सभी लिखा जो कुछ लिखा, उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। क्रान्ति उनके रक्त में थी। वही क्रान्ति की भावना, उनकी रचनाओ की प्रेरक थी।

कुछ लोगों के संस्कार ऐसे होते है कि होश सँभालते ही उनके ज्ञान-चक्षु खुल जाते है। बुद्ध, शंकर और दयानन्द इसी श्रेणी के मनुष्यों मे हैं। कुछ लोग ऐसे होते हे जिन्हें साधना और तप से ज्ञान प्राप्त करना होता है। टॉल्स्टॉय इसी श्रेणी के मनुष्य थे। उनका ज्ञान, उनकी सेवा, उनका वैराग्य, सन्देहों और विचारो और मानसिक द्वन्द्वों से होकर निकला था, और इसीलिए उसमें इतनी शक्ति, इतनी तीव्रता भी थी। साहित्य की सृष्टि मानसिक द्वन्द्व से होती है। टॉल्स्टॉय कभी इस द्वन्द्व से ख़ाली नहीं रहे। वह समय ही क्रान्ति का था। फ्रास की क्रान्ति की ध्वनि उस वक़्त तक हवा में गूँज रही थी। छात्रावस्था से ही टॉल्स्टॉय में नैतिक उत्थान की भावना प्रबल थी और इसके साथ ही नैतिक पतन का बीज अहकार भी था। वह मान भी चाहता था, मनुष्यों पर अधिकार भी चाहता था; पर इसके साथ ही मानसिक निर्मलता और विनय की प्रबल आकांक्षा भी रखता था। और उसकी महत्ता का रहस्य यही मानसिक द्वन्द्व था। जीवन के प्रलोभनो से वह सदैव भागना चाहता था। बार-बार प्रण करता था कि भविष्य में सदाचार का पालन करूँगा; लेकिन इच्छा बार-बार प्रतिज्ञा को तोड़ने पर मज़बूर कर देती थी और वह फिर नये सिरे से प्रतिज्ञा करता था। युवावस्था में ही उसकी आत्मा, धर्म और समाज और राष्ट्रीयता के मिथ्या, घातक, स्वार्थमय व्यापारों से विद्रोह करने लगी थी। धर्म में सेवा और त्याग और उपकार का भाव ग़ायब होकर, केवल अन्ध-विश्वास और स्वार्थलिप्सा रह गयी थी। उसे मनुष्य के ऐहिक जीवन की परवाह न थी। वह केवल परलोक सुधारने का बीड़ा लिये हुए था। मसीह ने जीवन का जो आदर्श सामने रखा था, उसका वह नये सिरे से उद्धार करना चाहता था। समाज में ऊँच-नीच का भेद, उस भ्रातृ-भाव का अभाव,

जो ईसा के उपदेशों का मूल तत्त्व था, और जिसने मुट्ठी-भर धनियों और अधिकारियों को सारी जाति के भाग्य का विधाता बना दिया था, उसके लिये असह्य था। उसके विचार में उपजीवी वर्ग समाज का सबसे बड़ा शत्रु था। इस विषय में उनके विचार सम्पूर्णतः सोशलिस्ट थे। जो स्वयं शारीरिक श्रम से अपनी जीविका न प्राप्त कर सके, उसके लिए टॉल्स्टॉय की समाज-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था। कलाकार और लेखक, वकील और डॉक्टर, ये सब उनके विचार में समाज के अनावश्यक अंग थे। एक जुलाहे का, मोची का और लोहार का मूल्य समाज में वकील या कलाकार से कहीं अधिक था। मोची या लोहार या जुलाहा मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। उनके न रहने से समाज को कष्ट होगा। चित्रकारों के मिट जाने से समाज को कोई कष्ट होने की सम्भावना न थी। कला को भी वह सर्वग्राह्य बनाना चाहते थे। जिस कला का आनन्द थोड़े-से शिक्षित लोग ही उठा सकें, यह उनके विचार में कला ही न थी। कला में मनुष्य-मात्र के हृदय पर असर डालने की शक्ति न हो, तो वह केवल समय और धन का अपव्यय है। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्होंने स्वयं कई कहानियाँ लिखीं और उनकी जिन पुस्तकों में मानव-हृदय का चित्रण मात्र था, बाद को उनकी निन्दा की।

आज भी ससार राष्ट्रों के संघर्ष की समस्या को हल करने का विफल प्रयत्न कर रहा है। आज भी इसी उद्देश्य से लड़ाइयों की भीषणता चित्रित की जा रही है। उसका मनुष्य की मानसिक, बौद्धिक और चारित्रिक प्रवृत्तियों पर क्या असर पड़ता है, यह दिखाया जा रहा है; पर इस विषय का जितना सुन्दर, मार्मिक, यथार्थ चित्रण टॉल्स्टॉय ने किया है वह और किसी ने शायद ही किया हो। टॉल्स्टॉय स्वयं पहले फ़ौज में नौकर हुए और सेवास्टोपोल की लड़ाई में भी शरीक भी हुए; पर उन्हें बहुत जल्द इस हत्याकारी व्यापार से घृणा हो गयी। यहाँ उन्हें फ़ौजी अफ़सरों के मनोभावों का अध्ययन करने का जो अवसर मिला, वह शायद और कहीं न मिलता। 'वार एण्ड पीस' के बाद टॉल्स्टॉय ने 'अन्ना करेनिना' की रचना की और हमारे विचार में उनकी रचनाओं मे इसका स्थान अगर कम है, तो 'वार एण्ड पीस' से ही–और वह भी केवल इस दृष्टि से, कि इसका क्षेत्र उतना फैला हुआ नहीं है; लेकिन फैलाव में जो कमी है, वह उसकी गहराई ने पूरी कर दी है। 'अन्ना' टॉल्स्टॉय की सृष्टि में ही नहीं, ससार-साहित्य की सृष्टि में बेजोड़ है, अद्वितीय है। इंगलैंड के प्रसिद्ध उपन्यासकार मेरेडिथ का कथन है कि–" 'अन्ना' उपन्यास ससार का सबसे सम्पूर्ण और सजीव स्त्री-पात्र है।" इस रचना मे टॉल्स्टॉय ने सामाजिक समस्याओं का ऐसा वास्तविक, ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, मन के गुप्त-से-गुप्त रहस्यों पर ऐसा प्रकाश डाला है कि उसे पढ़कर हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। पुस्तक का पहला ही वाक्य इतना गहरा और भावपूर्ण है कि हमारे ऊपर जादू का-सा असर हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है–मानो वे सारे दृश्य हमारी आँखों के सामने हो रहे हैं, मानो हम दूरबीन लगाये सब-कुछ देख रहे हैं। ऐसा कोई स्थल नहीं है, जहाँ चतुर कलाकार को भ्रम या कठिनाई का सामना करना पड़ा हो। वह स्त्री का चित्रण

पुरुष की आँखों से नहीं, स्त्री की आँखों से करता है। एक स्त्री दूसरी स्त्री के विषय में कैसे भाव रखती है, स्त्री के मनोभाव में कैसे परिवर्तन होते हैं, वह पुरुष की किन बातों से दुखित होती है, और एक ही परिस्थिति, भिन्न-भिन्न स्त्रियों पर कैसा भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती है, इसका दिग्दर्शन टॉल्स्टॉय से उत्तम शायद ही किसी ने किया हो। ऐसा जान पड़ता है, उसके पास कोई ऐसा गुप्त साधन है, जिससे वह मन में उठनेवाले भावों को खुली किताब की तरह पढ़ लेता है।

अन्ना विलासिनी स्त्री है, जो पुरुष का सम्पूर्ण हृदय पाकर प्रसन्न हो सकती है। उसका पति शीतल प्रकृति का मनुष्य है, जिसके लिए स्त्री केवल गृहस्वामिनी है। वह राजनीति में इतना व्यस्त रहता है कि अन्ना समझती है, उसे उसमें प्रेम नहीं है। वह रस्की की ओर आकर्षित हो जाती है, लेकिन वह माता हो चुकी है और बालक का प्यार उसे बेचैन करता रहता है, और अन्त में उसकी वही अधिकार-लालसा उसकी आत्म-हत्या का कारण बन जाती है। रूसी साहित्य में अन्ना एक पहेली है और उसको समझने-समझाने की बहुतों ने कोशिश की है। कुछ लोगों का ख़याल है कि अन्ना का अन्त टॉल्स्टॉय की दण्ड-भावना का परिचायक है। उसका आदर्शवाद, ऐसी स्त्री का पश्चात्तापपूर्ण अन्त दिखाये बग़ैर सन्तुष्ट न हो सकता था। कुछ लोगों का कहना है कि वह सामाजिक चित्रण है। पतिव्रता स्त्री भी मानसिक विफलता से आत्म-हत्या कर सकती है। पुस्तक में 'डॉली' का चरित्र बहुत ही सुन्दर है, जो गृहस्थी के जंजाल, बच्चों के पालन-पोषण और पति के व्यभिचार से दुःखी रहकर भी सन्तुष्ट है, पर ऐसी स्त्री के मन में भी कभी-कभी अन्ना के विलास और यौवन को देखकर एक प्रकार की लालसा आये बिना नहीं रहती। लेविन के चरित्र में कदाचित् टॉल्स्टॉय ने अपना ही चित्र खींचा है। इन्हीं दिनों देहात-सुधार की ओर उनका झुकाव हो रहा था।

मैंने आज लगभग बीस साल हुए, तब यह पुस्तक पढ़ी थी। जो कुछ याद था, उसी के आधार पर मैंने ये दो शब्द लिखे हैं। पढ़ते समय मेरे मन में यह इच्छा हुई थी कि इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हो सकता तो बड़ी अच्छी बात होती। हर्ष की बात है कि आज श्री छविनाथ जी और श्री विनोदशंकर जी व्यास के सहयोग से मेरी वह इच्छा पूर्ण हुई।

–प्रेमचन्द

('अन्ना' : मूल लेखक–टॉल्स्टॉय, अनुवादक–पं० छविनाथ पाण्डेय, प्रकाशक–पुस्तक, काशी, प्रथम संस्करण 1933)

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनों,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अजुमनो मे अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मोजूद है, उसका उद्देश्य विचारो और भावो पर असर डालना नही, केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बडे महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारो और भावो को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी ? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने–रास्ता साफ करनेवालों ने–हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हो तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नही। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दे ओर इस पर विचार करे कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्याकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ म 'बागोबहार' ओर 'बेताल पचीसी' की रचना ही सबसे बडी साहित्य सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमे शास्त्र ओर विज्ञान के प्रश्नो की भी विवेचना की जा सके ओर यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है ओर लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने मे भी मोजूद थी पर उन्होने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने करीब के लोगो पर अपने विचार प्रकट करते हैं–अपने हर्ष-शोक के भावो का चित्र खीचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओ की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान मे सचाई है, तो शताब्दियो और युगो तक उसकी रचनाएँ हृदयो को प्रभावित करती रहती हैं।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नही है कि जो कुछ लिख दिया जाये, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेगे। जिसमे कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ, परिमार्जित एवं सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग़

पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं–चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता-सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था–चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और क़फ़स, बर्क़ और ख़िरमन की कल्पनाएँ, विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली बिरह व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो–जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है ? शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस

युग के लिए गर्व करने की वस्तु नही हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता मे दोनो की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय मे जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियो के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसो और अमीरो के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियो को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयो से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बडे पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारो पर ही नही रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिविम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगो के हृदयो को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते है। ऐसे पतन के काल मे लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य मे मन रमाते हैं। जब साहित्य पर ससार की नश्वरता का रग चढा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य मे डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृगारिक भावो का प्रतिविम्ब बन गया हो, तो समझ लीजिए कि जाति जडता और ह्रास के पजे मे फँस चुकी है और उसमे उद्योग तथा सघर्ष का बल बाकी नही रहा, उसने ऊँचे लक्ष्यो की ओर से आँखे बन्द कर ली है और उसमे से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बडी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नही है मनोरजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के सयोग-वियोग की कहानी नही सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओ पर भी विचार करता है, और उन्हे हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्‌भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नही ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नो से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावो और विचारो मे गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि मे अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्को और उपदेशो के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावो का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन मे जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती है।

कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो,

हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने ज़माने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्र्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य को अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से ख़राब हो जायेगी और वह आपके ख़िलाफ़ फ़ैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौक़े पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु स्थिति-चित्रण की प्रकृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है क्योंकि कल्पना

के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है : उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गयी है और अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप से प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाये। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमज़ोरियाँ हैं वह मर्ज़ की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शरीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सन्तुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियों को परे फेककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फ़कीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी-कमज़ोरियों की ज़िम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं ? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है ?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु ? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका-सन्देह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर

सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है ? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है ; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफ़ादारी, सचाई, सहानुभूति, न्याय-प्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा ? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही ये सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-सघ', यह नाम ही मेरे विचार से ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखायी नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाये। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे ? क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायें कि वह गुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाये ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में ज़ोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कलाकुशलता का रहस्य है। पर शायद इस विशेषता पर ज़ोर देने की ज़रूरत इसलिए पड़ी की प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असन्दिग्ध अवनति मान सकता है ; इसलिए

कि यह साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुचँ गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाये, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाये। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोयें, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि सम्बन्धी गति पैदा हुई ? इन बातों से किसी ज़माने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो तो जाता रहा हो पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब ज़माना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो। अब तो हज़रते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं :

> रमूज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाव,
> दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
> ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज़्ज़ते परवाज़,
> गहे वशाख़े गुलम गहे बरलबे जूयम।

{अर्थात् अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।}

अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्संदेह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाये, तो

वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरक्षित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है ; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणितम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभयता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही; पर किसी को सफलता न मिली और छोटें-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में आज प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

"आज़माये को आज़मानी मूर्खता है", इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायें ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाक़ी न रह जायेगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाये। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है। जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिये धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में क़दम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वांगपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख,

आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँड़हर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए, ग्रामवासी को देहाती वेशभूषा और तौर-तरीक़े पर हँसने के लिए। उसका शीन-क़ाफ दुरुस्त न होना या मुहावरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनारा-क़शी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता मे भी सौन्दर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठो, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठो और कुम्हलाये हुए गालों मे सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाये तो वह देखेगा कि रँगे होठो और कपोलो की आड़ मे अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठो और कुम्हलाये हुए गालो के ऑसुओं मे त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावा नही, सुकुमारता नही।

हमारी कला यौवन के प्रेम मे पागल है और यह नही जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

{अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?

अथवा

चूँ मौज साज़े साजूद बजूदम ज़े सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरी बहर साहिले जोयम।

{अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।}

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायेगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि मैं आ जायेगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उनकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भूमंडल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायेंगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हज़ारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल काग़ज़ के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायेंगे, बल्कि उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है–उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारो के लिए समाज में कोई स्थान नहीं–अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है, और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रिमंडल के सदस्य उनसे मिलने में अपना गौरव समझते हैं; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियो से बेख़बर हो जो समाज में हो रही है–अपनी ही दुनियां बनाकर उसमे रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया मे उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई क़ैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कडी शर्तें लगायी हैं और उनकी मानसिक, नैतिक,, आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी हैं; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसका विशेष अंग बन गयी हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या

व्यक्तिवाद तक परिमित नही रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नही देखता, किन्तु उसे समाज के एक अग-रूप मे देखता है। इसलिए नही कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये, मानो उसमे और समाज मे सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममे से जिन्हे सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियॉं मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी हैं। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य समझेगे, जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ साधन मे लगाता है ? समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग मे प्रवेश क्यो न करे, उसे उस विभाग से विशेषत और सब विभागो से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनो की रिपोर्ट पढे, जो हम देखेगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक ओर मनोवैज्ञानिक प्रश्न नही है, जिस पर उसमे विचार विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञानसीमा को देखते हे तो हमे अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य रचना के लिए आशुबुद्धि ओर तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण हे। हमे अपने साहित्य का मानदण्ड ऊंचा करना होगा जिसमे वह समाज की अधिक मूल्यवान सेवा कर सके, जिसमे समाज मे उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमे वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके ओर हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यो का जूठा खाकर ही सन्तोष न करे, किन्तु खुद भी उस पूंजी को बढ़ाये।

हमे अपनी रुचि ओर प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिन्दगी बिता रहे हैं, उसमे यह काम कठिन अवश्य हे, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड की चोटी तक न पहुँच सकेगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायेगे, जो जमीन पर पडे रहने से कही अच्छा हे। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो ओर सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नही जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सके।

जिन्हे धन-वेभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर मे उनके लिए स्थान नही है। यहॉं तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल मे दर्द की तडप हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इ़ज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान,

प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमे क्यों सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों ? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है–हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो ? दूसरों से ज़्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं–उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इक़बाल के साथ कहता है–

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तव येक जामे ज़ुलाले दीगरां।

{अर्थात् मैं आज़ाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।}

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देशवाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जायें, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हर एक सूबे में, हर एक जबान में, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं, जिसमें हर एक भाषा में हम अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हर एक भाषा में इस विचार के बीच प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँकुये भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिये कर्म की आवश्यकता न थी, कर्माभाव ही उसका गुण था क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे

कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ पियो मौज़ करो', का कायल हो। ऐसा स्वच्छन्द-चारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

(प्रगतिशील लेखक-संघ के प्रथम अधिवेशन पर दिये भाषण के अंश)
लखनऊ में होनेवाले प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन 1936 में सभापति आसन से दिया गया भाषण।

(लखनऊ में 10 अप्रैल, 1936 को 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण, जो उर्दू में दिया गया: हिन्दी में : 'हंस', जुलाई, 1936 में प्रकाशित;
उर्दू में : 'ज़माना' अप्रैल, 1937 में, 'अदब की गर्ज़ो गायत' शीर्षक से प्रकाशित)

साहित्य की प्रगति

साहित्य की सैकड़ों परिभाषाएँ की गयी हैं और उनमें से हम अपना मतलब निकालने के लिए एक ले लेंगे। परिभाषा है तो पंडितों की वस्तु, मगर जब घर बनाना है तो नींव डालनी ही पड़ेगी। हवा में मकान बना सकते तो क्या बात थी, लेकिन अभी विज्ञान वह विद्या नहीं जान पाया है। साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि सत्य की खोज की जाये। सत्य क्या है और असत्य क्या है, इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिये असत्य। एक श्रद्धालु हिन्दू के लिए चौबीसों अवतार महान सत्य हैं–संसार की कोई भी वस्तु धन, धरती, पुत्र, पत्नी उसकी नज़रों में इतनी सत्य नहीं हैं। उस सत्य की रक्षा के लिए वह अपनी ही नहीं, अपने पुत्रों की आहुति भी दे देगा। इसी प्रकार दया एक के लिए सत्य है, पर दूसरा उसे संसार के सब दुःखों का मूल समझता है और इसलिए असत्य कहता है। इसी सत्य और असत्य का संग्राम साहित्य है। दर्शन और विज्ञान का उद्देश्य भी यही है, लेकिन वह बुद्धि के रास्ते से वहाँ पहुँचना चाहता है। बेचारा साहित्य भी वही यात्रा कर रहा है लेकिन गंभीर विचार से, मौन न रहकर, केवल थकन मिटाने के लिए अपनी खंजरी बजाकर गाता भी जाता है। यह रास्ता तो काटना ही पड़ेगा, तो क्यों न हँस-खेलकर काटो। इसी 'दया' सत्य पर वड़े-वडे धर्मो की बुनियाद पड़ी, यह मानो मानव जाति की ओर से इन्द्र को ललकार थी, उनका सिंहासन छीनने के लिए, लेकिन आज उसका मज़ाक़ उड़ाया जा रहा है।

यह सत्य और असत्य की यात्रा उसी वक्त से शुरू हुई जव से मनुष्य में आत्मा का विकास हुआ। इसके पहले तो उसकी सारी शक्तियाँ प्रकृति से अपने भोजन के लिए लड़ने में ही खर्च हो जाती थीं। जब यह चिंता लगी हो कि आज बच्चे खायेंगे क्या या आज रात की सर्दी काटने के लिए आग कैसे बने, तो सत्य और असत्य के राग कौन गाता। उस वक्त सबसे बड़ा सत्य वह भूख और ठंड थी। साहित्य और दर्शन सभ्य जीवन के लक्षण हैं, जब हममें इतना सामर्थ्य आ जाये कि पेट के सिवा कुछ और भी सोच सकें। रोटी-दाल से निश्चिन्त होने के बाद ही खीर और पकौड़ी की सूझती है। आदि में मनुष्य में पशु-प्रकृति की ही प्रधानता थी। केवल पशुवल ही सबसे बड़ा अधिकार था। मगर जब मनुष्य आये दिन के कलह और संघर्ष से तंग आ गया तो तरह-तरह के नियम बने और मतों की सृष्टि

हुई। नये-नये सत्यों का आविष्कार हुआ, जो प्रकृत सत्य न थे, वरन् मानव सत्य थे। मनुष्य ने अपने को नीति के बन्धनों से जकड़ना शुरू कर दिया। जातियाँ बनीं, उपजातियाँ बनीं और जायदाद के आधार पर समाज का संगठन हो गया। पहले दस-पाँच भेड़-बकरियाँ और थोड़ा-सा नाज ही सम्पत्ति थीं। फिर स्थावर सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ और चूँकि मनुष्य ने इस सम्पत्ति के लिए बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ की थीं, बड़े-बड़े कष्ट उठाये थे, वह उसकी नज़रो में सबसे बहुमूल्य वस्तु थीं उसकी रक्षा के लिए वह अपनी और अपने पुत्रों के प्राणों की बाज़ी लगा सकता था। विवाह-प्रथा को ऐसा रूप दिया गया कि सम्पत्ति घर से बाहर न जाने पावे। और उस धुँधले अतीत से आज तक का मानव-इतिहास केवल सम्पत्ति-रक्षा का इतिहास है। तब समाज मे दो बड़े-बड़े भेद हो गये। जो संसार के इस सग्राम में परास्त हो गये, उन्होने ईश्वर-भजन का आश्रय लिया और संसार को माया कहकर उससे विरक्त हो गये और नये-नये बन्धन बनने लगे, यहाँ तक कि हमारा क्षेत्र संकुचित होते-होते रूढियों का एक कारागार-सा बन गया। धर्म के नाम पर हज़ारों तरह के पाखंड समाज मे घुस आये, जिनमे उलझकर मानव-समाज की गति रुक गयी। अति सब चीज की दुःखकर होती है। यह प्रकृति का नियम है। वही संस्थाएँ जिनका निर्माण समाज के कल्याण के निमित्त किया गया थॉ, अन्त मे समाज के पाँव की बेडियाँ बन गयीं। वही दूध, जो एक मात्रा मे अमृत है उस मात्रा से बढकर विष हो जाता है। मानव-समाज मे शान्ति का स्थापन करने के लिए जो-जो योजनाएँ सोच निकाली गयी वह सभी कालान्तर मे या तो जीर्ण हो जाने के कारण अपना काम न कर सकी या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगीं। जो पहले कुलपति था वह राजा बना। फिर वह इतना शक्तिशाली बन बैठा कि अपने को भगवान का कारकुन समझने लगा, जिससे बाजपुर्स करने का किसी मनुष्य को अधिकार न था। उसकी अधिकार-तृष्णा बढने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अन्त मे आदम जाति मे इन दशाओ के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। मनुष्य की आत्मा इन निरर्थक ही नही, घातक बन्धनो को मकडी के जाले की भॉति तोड-फोड करके निर्मल, स्वच्छ, मुक्त आकाश और वायु मे विचरण करने के लिए आतुर हो उठी। बीच-बीच मे कितनी ही बार ऐसे विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं, वह सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं, किन्तु उन विद्रोहो मे कलह की जो मुख्य वस्तु थी, वह ज्यो-की-त्यो बनी रही। सम्पत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ या किसी को सूझी ही नही। जो इन सारे दुर्व्यवस्थाओ का मूल था वह इतने सौम्य वेश में धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था, कि किसी को उसकी ओर सन्देह करने की भी प्रेरणा न हुई। हालाँकि उसी के इशारे और सहयोग से समाज पर नित नये बन्धन लगाये जा रहे हैं। यह बड़े-बड़े न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बड़े-बड़े व्यापार के केन्द्र उसी के रचे हुए खिलौने हैं। ये भिन्न-भिन्न मत उसके खिलौनों के सिवा और क्या हैं। यह जात-पाँत, यह ऊँच-नीच का भेद उसी की छोड़ी हुई फुलझड़ियाँ हैं। यह चकले, जो मानव-समाज

के कोढ़ हैं, उसके क्रूर विनोद हैं। ये हमारी असंख्य विधवाएँ, ये हमारे लाखों मजूर जो पशुओं की भाँति जीवन काट रहे हैं, उसी भानमती के छू-मंतर की विभूतियाँ हैं। उसने प्यूरिटेनिज़्म का कुछ ऐसा निषेधात्मक रूप ग्रहण कर लिया है, कि जो उससे अणु मात्र भी विमुख हो जाये, उसकी ख़ैरियत नहीं। उसका क़ानून मार्शल-ला से कहीं कठोर, कहीं जान-लेवा है। उसकी अपील के लिए कहीं कोई Tribunal नहीं है। सारांश यह कि उसने जीवन को इतना संकीर्ण, इतना उलझनदार, इतना अन्यायपूर्ण, इतना स्वार्थमय, इतना कृत्रिम बना दिया है कि मानवता उससे भयभीत हो उठी है और उसको उखाड़ फेंकने के लिए, उसके पंजों से निकल जाने के लिए वह अपना पूरा ज़ोर लगा रही है। इन रूढ़ियों ने, इन बन्धनों ने, इन असत्य बाधाओं ने, ब्रह्माण्ड की व्यापक चेतना में जो दर्बे-से बना दिये हैं, जिनमें बन्द होकर वह अपनी स्वच्छन्दता खो बैठे हैं, आज हमारी आत्मा उन दर्बों को तोड़कर उस व्यापक चेतना से सामंजस्य प्राप्त करने के लिए उतारू हो गयी है। संभव है, रस्सी को ज़ोर से खींचकर इसके टूटने के साथ ही वह अपने ही ज़ोर में गिर पड़े। संभव है पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति पिंजरे से निकलकर वह शिकारी चिड़ियों का ग्रास बन जाये, पर उसे गिरना मंजूर है, ग्रास बन जाना मंजूर है, उन दर्बों में रहना मंजूर नहीं। संसार को जी भर कर भोगने की अबाँध लालसा जिसे सदियों की प्यूरिटेनिज़्म ने खूँख़्वार बना दिया है, सर्वभक्षी बन जाना चाहती है। निषेधों की उसे बिलकुल परवाह नहीं है। वह पाप को पुण्य, असत्य को सत्य और अपूर्ण को पूर्ण बना देना ठान बैठी है। उसने प्यूरिटेनिज़्म का सदियों तक व्यवहार करके देख लिया है और अब बिना उसे ज़मीन में दफ़न किये उसे चैन नहीं। झूठ बोलना पाप है! क्यों पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है तो वह बेशक पाप है। अगर उससे समाज का कल्याण होता है, तो वह पुण्य है। निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार नहीं करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहते हो कि संसार की सारी सम्पत्ति बटोरकर उस पर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छुए तो उसके लिए जेल है, फाँसी है। हममें और तुममें इसके सिवा और क्या अन्तर है कि तुम सफल चोर हो और हम चोर-कला में तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। इस प्यूरिटेनिज़्म ने हमारी आत्मा को कितना शुष्क काठ का-सा बना दिया है कि उसमें रस का लोप हो गया। कविता कितनी ही सुन्दर और भावमयी हो, वह उसका आनन्द नहीं उठा सकती। इससे वासनाओं का उद्दीपन होता है। चित्रकला से तो उसे दुश्मनी है। भला मनुष्य की क्या मजाल है कि वह परमात्मा के काम में दख़ल दे। सृष्टि परमात्मा का काम है। मनुष्य अगर उसकी नक़ल करता है, तो उसे सूली पर चढ़ा दो, फाँसी पर लटका दो। इतिहास में ऐसे धर्मात्माओं की कमी नहीं है जिन्होंने पुस्तकालय जला दिये, चित्रालयों को भूमिस्थ कर दिया, संगीत के उपासकों को निर्वासित कर दिया। तीर्थस्थानों में जो पिशाच-लीलाएँ होती हैं वह इसी प्यूरिटेनिज़्म का प्रसाद है। आज भारत में जो पाँच करोड़ अछूत, नौ करोड़ मुसलमान और शायद एक करोड़ ईसाई हैं और जिस अनैक्य के कारण राष्ट्र के विकास में बाधाएँ खड़ी हो

गयी हैं, उसका ज़िम्मेदार इस प्यूरिटेनिज़्म के सिवा और कौन है ? और जगहों में तो प्युरिटेनिज़्म से ज़्यादा हानि नहीं होती। मत शराब पियो, मत मांस खाओ। इसके बगैर समाज की कोई हानि नहीं। दरिद्र देश में पैसे का दुरुपयोग किसी तरह भी क्षम्य नहीं। लेकिन इससे पैदा होनेवाली अहम्मन्यता तो और भी जघन्य है। त्याग और संयम स्तुत्य है, उसी हालत में, जब अहंकार को न अंकुरित होने दे, लेकिन दुर्भाग्य से इन दोनों में कारण और कार्य का-सा सम्बन्ध पाया जाता है। जो जितना ही नीतिवान है, वह उतना ही अहंकारी भी है। इसलिए समाज आचारवानों को सन्देह की आँखो से देखता है। एक शराबी या ऐयाश आदमी अगर उदार हो, सहानुभूति रखता हो, क्षमाशील हो, सेवा-भाव रखता हो तो समाज के लिए वह एक पक्के आचारवादी किन्तु अनुदार, घमंडी, संकीर्ण-हृदय पुरुष से कहीं ज़्यादा उपयोगी है। प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ बजाये। प्युरिटेनिज्म और अनुदारता दो पर्याय-से हो गये हैं और जहाँ सेक्स का प्रश्न आ जाता है, वहाँ तो वह नंगी तलवार, बारूद का ढेर है। यहाँ वह किसी तरह की नर्मी नहीं कर सकता। उसे अपने नियमों की रक्षा के लिए किसी का जीवन नष्ट कर देने में एक प्रकार का गौरव-युक्त आनन्द प्राप्त होता है। भोग उसकी दृष्टि मे सबसे वडा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते हैं, धोखा देकर, झूठी गवाही देकर, निर्बलों को कुचलकर, मित्रों से विश्वासघात करके, अपनी स्त्री को डंडों से पीटकर हम समाज में रह सकते हैं, उसी शान और अकड़ के साथ, लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं। पुरुषों के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ हो जाये, किन्तु स्त्रियों के लिए क्षमा के द्वार बन्द हैं और उन पर अलीगढ़वाला बारह लीवर का ताला पड़ा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहनें और बेटियाँ आये दिन तीर्थस्थानों में लाकर छोड दी जाती हैं और इस तरह उन्हें कुत्सित जीवन बिताने के लिए मजबूर किया जाता है। हम केवल अपराधी को दंड देकर सन्तुष्ट नहीं होते, उसके कुटुम्ब का, उसकी सन्तान का और सन्तानों की भी सन्तान का बहिष्कार कर देते हैं ! हम स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी व्यभिचार के समर्थक नहीं, लेकिन यह कहाँ का न्याय है कि जिस अपराध के लिए पुरुष को दंड देने में हम असमर्थ हों, उसी अपराध के लिए कुमारियों या विधवाओं को कलंकित किया जाये ? सौभाग्यवतियों को हमने इसलिए छोड़ दिया है कि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल हैं और समाज उन्हें दंड देने में असमर्थ है। जो पुरुष स्वयं बड़े धड़ल्ले से व्यभिचार करता है, वह भी अपनी स्त्री को पिंजरे में बन्द रखना चाहता है और यदि वह मानव स्वभाव से प्रेरित होकर पिंजरे से निकलने की इच्छा करे, तो उसकी गरदन पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकता। यह सामाजिक विषमता असह्य हो उठी है और वह बड़ी तेज़ी से विद्रोह का रूप धारण कर रही है।

इन सामाजिक दशाओं का हमने इसलिए संक्षिप्त वर्णन किया है कि जैसा हमने आरम्भ में कहा है—साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि उससे

सत्य और सुन्दर की खोज की जाये। बाह्य जगत हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत बन जाता है, जिस पर हमारे सुख-दुख, भय-विस्मय, रुचि या अरुचि का गहरा रंग चढ़ा होता है। एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भाव उत्पन्न करता है। एक आदमी अपने लड़के को इसलिए पीट रहा है कि लड़का खेलाड़ी है, मन लगाकर नहीं पढ़ता। इस पर तरह-तरह की आलोचनाएँ होती हैं। बाप का धर्म है कि लड़के को कुराह चलते देखे, तो उसे ताड़ना दे। यह सनातन रीति है। दूसरा कहता है—नहीं, लड़का केवल इसलिए खेलाड़ी हो गया है कि उसे प्रेम से पढ़ाया नहीं जाता। यह बाप का दोष है। तीसरा आदमी एक कदम और आगे जाता है और कहता है—खेलना लड़कों का स्वाभाविक धर्म है, यही उनकी शिक्षा है। बाप को कोई अधिकार नहीं है कि वह लड़के के प्राकृतिक विकास में बाधक हो। एक चौथा आदमी बाप की इस ताड़ना में पुत्र-स्नेह का नहीं—स्वार्थ, लोभ, दम्भ का रंग झलकता हुआ देखता है। बाह्य जगत और मनुष्य जगत में यही अन्तर है। साहित्य की रचना करनेवाले तो वही होते हैं जो जगत-गति से विशेषरूप से प्रभावित होते हैं, जिनके मन में संसार को कुछ अधिक सुन्दर, कुछ अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्त्वाकांक्षा होती है। वे असुन्दर को देखकर जितने दुखी होते हैं, उतना ही सुन्दर को देखकर प्रसन्न होते हैं। और वे अपने हर्ष या शोक को अपने मन में ही रखकर संतुष्ट नहीं होते। वे संसार को भी अपने हर्ष या शोक का एक भाग देना चाहते हैं। भाव को अपना बनाकर सबका बना देना, यही साहित्य है। डॉ. रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौन्दर्य और साहित्य' नामक निबन्ध में लिखा है—

> "सौन्दर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना स्वतन्त्रता के स्थान पर सुसंगति, आघात के स्थान पर आकर्षण, आधिपत्य के स्थान पर सामंजस्य हमें आनन्द देता है।"

हम इसमें इतना और मिला देंगे—अनुदारता की जगह उदारता, भेद की जगह मेल, घृणा की जगह प्रेम।

नवीन साहित्य की रुचि में बिलकुल यही विकास नज़र आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिये जाते हैं जिन्हें कोई प्युरिटन छूना भी पसन्द न करेगा। मैक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, रोमां रोलां, एच. जी. वेल्स आदि योरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरद्‌चन्द्र आदि भारत के—ये सभी हमारे आनन्द के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतारकर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वह किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुँह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वह खूबियाँ, उससे कहीं बड़ी मात्रा में देखती है, जो धर्म ध्वजाधारियों में और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलती। बुरे आदमी को भला समझकर, उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी सम्भावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है।

उसकी गोद में उन्हें आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय हैं, जो पतित हैं, जो अनादृत हैं। माता उस बालक से अधिक-से-अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है, बुद्धिहीन है, सरल है। सपूत बेटे पर वह गर्व करती है। उसका हृदय दुखी होता है, कपूतों ही के लिए। कपूत ही में वह अपने मातृ-वात्सल्य को टिका पाती है। बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर कभी वह साहित्य में लायी जाती थी, तो केवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दंड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नहीं, आदर और प्रेम की वस्तु बन गयी है। गऊ को हत्या के लिए बेचनेवाला अगर दोषी है तो ख़रीदनेवाला कम दोषी नहीं है। ख़रीदनेवाले का अगर समाज में आदर है तो बेचनेवाले का क्यों अनादर हो ? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमें भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है। उसका तो जीवन ही पर-सुख के लिए अर्पित हो गया है। वह समाज के गद्य की सूक्ति है। उसकी शोभा इसी में है कि वह गद्य में घुल-मिलकर सम्पूर्ण गद्य को सजीव और चमत्कृत कर दे। सूक्तियों को चुनकर अलग कर देने से उनका सूक्तिपन ज्यों का त्यों रहता है, समाज शुष्क हो जाता है। अगर कोई ईश्वर है, तो ये देवदासियाँ हिसाब के दिन उससे पूछेंगी—हमने सदा पर-सुख चेष्टा की, सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रक्खा, जख़्मी भी किया, लेकिन प्राण लेने के लिए नहीं, बल्कि अपना प्रेम 'इंजेक्ट' करने के लिए। क्या उसका यही पुरस्कार था ?—और हमें विश्वास है, ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीनकाल की अप्सराएँ तो देवताओ और ऋषि-मुनियों की मंजूरे-नज़र थीं। हम उनकी कलयुगी बेटियों का किस मुँह से अनादर कर सकते हैं।

ईश्वर का जिक्र बडे मौके से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उनसे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मण्डल पर जो अनर्थ किये हैं, और कर रहे हैं, उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमियो के रहने के लिए शहरों में स्थान नहीं है, मगर ईश्वर और उनके मित्रो और कर्मचारियो के लिए बड़े-बड़े मन्दिर चाहिए। आदमी भूखों मर रहे हैं, मगर ईश्वर अच्छे से अच्छा खायगा, अच्छे-से-अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा। अपनी सृष्टि की ख़बर लेना उसने छोड़ दिया, तो साहित्य भी, जो ईश्वर के दरबार में प्रजा का वकील है, साफ़-साफ़ कह देगा—आपकी यह स्वार्थपरता आपकी शान के खिलाफ़ है। लेकिन ईश्वर की लीला कुछ ऐसी विचित्र है, कि हम मुँह से जितने ही अनीश्वरवादी बनते हैं, आत्मा से उतने ही ईश्वरवादी बन जाते हैं। अब तक मुँह से ईश्वरवादी थे, आत्मा से पक्के नास्तिक। अब परिस्थिति बदल रही है और सच्चा ईश्वरवाद उषा की लालिमा से उदित हो रहा है। घृणा को ईश्वरवाद से क्या प्रयोजन। जहाँ मेल है, सामंजस्य है, समन्वय है, वहीं ईश्वर है। नक़ली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है। लेकिन इसके साथ युवकों का भौंरापन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है, जिसके हम समर्थक नहीं। प्रणय केवल मनोविनोद की वस्तु नहीं। वह इससे कहीं पवित्र और महान है। वह

आत्म-समर्पण है, स्त्री के लिए भी और पुरुष के लिए भी। वर्तमान योरोपीय साहित्य बड़े वेग से अबाध प्रेम की ओर जा रहा है। वैवाहिक मैत्री और वैवाहिक परीक्षा की समस्याएँ साहित्य में हल की जा रही हैं। यह पेटभरों की स्वाद-लिप्सा है। संसार का सारा धन खींचकर वे अब निश्चिन्त हो गये हैं और निश्चिन्त आदमी कामुकता की ओर न जाये, तो क्या करे ! बौद्धिक विकास के लिए रसिकता परमावश्यक है। रस की उपेक्षा केवल दुर्बल और रक्तहीन प्राणी ही कर सकता है। जो स्वस्थ है, बलवान है, उसका रसिक होना अनिवार्य है, लेकिन रसिकता और कामुकता में जो अन्तर है, उसे योरोप का साहित्य भूलता जा रहा है। सदियों के बन्धन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है तो वह सर्वभक्षी हो जाना चाहता है। इस क्षुधातुरता की दशा में उसे खाद्य और अखाद्य कुछ नहीं सूझता। स्त्री और पुरुष दोनों ही वैवाहिक जीवन की ज़िम्मेदारियों से भाग रहे हैं। अगर वह प्युरिटनिज़्म सीमा का अतिक्रमण कर गया था, तो यह रसिकता भी सीमा के बाहर निकली जा रही है। अब तक पुरुष इस क्षेत्र में विजय-कामना किया करता था। अब स्त्री भी योरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन कर रही है। उस शीत-प्रधान देश के लिए सदैव उत्तेजना की ज़रूरत है। वहाँ जमे हुए घी को पिघलाने के लिए थोडी-सी गर्मी चाहिए ही। यहाँ तो घी यों ही पिघला रहता है, उसके लिए आँच दिखाने की ज़रूरत नहीं। रसिकता भोजन-रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है, जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नही रह सकता।

विषय बहुत बड़ा है। एक छोटे-से भाषण में उसकी काफ़ी व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज का वर्तमान सगठन दूषित है। दुःख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक के समान हो रहा है, इनका कारण दूषित समाज-संगठन है। सोशियालोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने मे लगा हुआ है।

(हिन्दू विश्वविद्यालय की बिहारी एसोसिएशन के वार्षिकोत्सव पर पढ़ा गया ;
'हंस' मार्च, 1933 में प्रकाशित)

'प्रेम-प्रसून'

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रन्थों में जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं, पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइविल—सभी सद्ग्रन्थों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझायी जातीं ? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन नहीं होता था। सद्ग्रन्थों के रूपकों और बाइबिल के 'पैरेबल्स' देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है; कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी क़िस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना-विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गपशप—सभी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेजी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनट में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और-तो-और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश देना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाक़िस समझी जाती है जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाये।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्म-ग्रन्थों ही में नहीं, साहित्य-ग्रन्थों में भी प्रचलित थी। 'कथा-सरित्सागर' इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक शृंखला में बाँधने की प्रथा चली। 'बैताल-पच्चीसी' और 'सिंहासन-बत्तीसी' इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गयी हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में 'सहस्र-रजनी-चरित्र' इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है, किन्तु उसमें किसी भाँति का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी। उसमें सभी रसों का समावेश है, या अद्भुत-रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस में उपदेश की गुंजाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में 'शुक-बहत्तरी' के ढंग की कथाएँ रची गयीं, जिनमें स्त्रियों की बेवफ़ाई का राग अलापा गया है।

यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढंग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था। आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओं के कीर्ति-गान की। हाँ, शेख़सादी ने फ़ारसी में 'गुलिस्ताँ-बोस्ताँ' की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसकी सुगन्ध से रंजित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृति हुई; और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है, पर मेरे विचार में फ्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्च-कोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेजी में भी डिकेन्स, वेल्स, हार्डी, किलपिंग, शार्लट यंग, ब्राण्टी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ गाईमोपासाँ, बालज़ाक या पियेर-लोटी की टक्कर की नहीं। फ्रांसीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त गाईमोमासाँ और बालज़ाक ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिकता या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझायी गयी हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियाँ काउण्ट टॉल्स्टॉय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं जो प्राचीन काल के दृष्टान्तों की कोटि की हैं। चेख़ब ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमें रूस के विलासप्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। दास्ताव्यस्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं, पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने की चेष्टा की गयी है। भारत में बंकिमचन्द्र और डॉ. रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास मे आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है ? हाँ, है, और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लावें, चाहे जितने दृश्य दिखावें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायें। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी क़लम में जितनी शक्ति हो, उतना ज़ोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने से चले जायेंगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह

नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा नहीं होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिसके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पढ़ा कीजिए—यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफ़िल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है; एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बात-चीत से कथा आरम्भ की जाती है, कहीं पुलिस-कोर्ट के एक दृश्य से, परिचय पीछे आता है। यह अँगरेजी आख्यायिकाओं की नक़ल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरप वालों की देखा-देखी यन्त्रों द्वारा डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी पद्धतियों पर रचना की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सफलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी अन्त की भी ज़रूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। आपको लन्दन के किसी होटल में एक लेडी मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है, "मैं तुम्हें अपना धन न दूँगी।" कन्या कहती है, "मुझे इसकी परवा नहीं।" अन्त में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है। दोनों में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राज़ी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिन तक स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी ख़बर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस, कहानी यहीं समाप्त कर दी जाती है; क्योंकि रीयलिस्ट्स अर्थात् यथार्थवादियों—का कथन है कि संसार में नेकी बदी का फल मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है—यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा क्या! वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य का समाज को दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है।

हमें भी आदर्श की ही मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है। हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। हमारा ख़याल है कि आख्यायिका में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिए–

1. आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश ;
2. अत्यन्त सरल भाषा ;
3. स्वाभाविक वर्णन-शैली।

इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार इन कहानियों की रचना की गयी है। आशा है, पाठकों का इनसे मनोरंजन होगा।

विनीत,
प्रेमचन्द
(प्रथम संस्करण, जुलाई, 1924 से)

कर्बला

प्रायः सभी जातियों के इतिहास में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं, जो साहित्यिक कल्पना को अनन्त काल तक उत्तेजित करती रहती हैं। साहित्यिक समाज नित-नये रूप में उनका उल्लेख किया करता है–छन्दों में, गीतों में, निबन्धों में, लोकोक्तियों में, व्याख्यानों में बार-बार उनकी आवृत्ति होती रहती है, फिर भी नये लेखकों के लिए गुंजाइश रहती है। हिन्दू-इतिहास मे 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाएँ ऐसी ही घटनाएँ हैं। मुसलमानों के इतिहास में 'कर्बला' के संग्राम को भी वही स्थान प्राप्त है। उर्दू और फ़ारसी के साहित्य में इस संग्राम पर दफ़्तर-के-दफ़्तर भरे पड़े हैं, यहाँ तक कि जैसे हिन्दी साहित्य के कितने ही कवियों ने राम और कृष्ण की महिमा गाने में अपना जीवन व्यतीत कर दिया, उसी तरह उर्दू और फ़ारसी मं कितने ही कवियों ने केवल मर्सिया कहने में ही जीवन समाप्त कर दिया। किन्तु जहाँ तक हमारा ज्ञान है, अब तक किसी भाषा में, इस विषय पर नाटक की रचना शायद नहीं हुई। हमने हिन्दी में यह ड्रामा लिखने का साहस किया है।

कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्रायः उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुसलिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं। जहाँ किसी मुसलमान बादशाह का ज़िक्र आया कि हमारे सामने औरंगज़ेब की तसवीर खिंच गयी; लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजो में सदैव होते आये हैं, और होते रहेंगे। मुसलमानों में भी बड़े-बड़े दानी, बड़े-बड़े धर्मात्मा और बड़े-बड़े न्यायप्रिय बादशाह हुए हैं। किसी जाति के महान् पुरुषों के

चरित्रों का अध्ययन उस जाति के साथ आत्मीयता के सम्बन्ध का प्रवर्तक होता है, इसमें सन्देह नहीं।

नाटक दृश्य भी होते हैं और पाठ्य भी। पर हमारा विचार है, दोनों प्रकार के नाटकों में कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। अच्छे अभिनेताओं द्वारा खेले जाने पर प्रत्येक नाटक मनोरंजक और उपदेशप्रद हो सकता है। नाटक का मुख्य अंग उसकी भाव-प्रधानता है, और सभी बातें गौण हैं। जनता की वर्तमान रुचि से किसी नाटक के अच्छे या बुरे होने का निश्चय करना न्यायसंगत नहीं। नौटंकी और धनुष-यज्ञ देखने के लिए लाखों की संख्या में जनता टूट पड़ती है, पर उसकी यह सुरुचि आदर्श नहीं कही जा सकती। हमने यह नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा, मगर हमारा विश्वास है कि यदि कोई इसे खेलना चाहे, तो बहुत थोड़ी काट-छाँट से खेल भी सकते हैं।

यह ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक है। ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना के लिए बहुत संकुचित क्षेत्र रहता है। घटना जितनी ही प्रसिद्ध होती है, उतनी ही कल्पना-क्षेत्र की संकीर्णता भी बढ़ जाती है। यह घटना इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी एक-एक बात, इसके चरित्रों का एक-एक शब्द हज़ारों बार लिखा जा चुका है। आप उस वृतान्त से जौ-भर आगे-पीछे नहीं जा सकते। हमने ऐतिहासिक आधार को कहीं नहीं छोड़ा है। हाँ, जहाँ किसी रस की पूर्ति के लिए कल्पना की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ अप्रसिद्ध और गौण चरित्रों द्वारा उसे व्यक्त किया है। (पाठक इसमें हिन्दुओं को प्रवेश करते देखकर चकित होंगे, परन्तु वह हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक घटना है। आर्य लोग वहाँ कैसे और कब पहुँचे, यह विवादग्रस्त है। कुछ लोगों का खयाल है कि महाभारत के बाद अश्वत्थामा के वंशधर वहाँ जा बसे थे। कुछ लोगों का यह भी मत है कि ये लोग उन हिन्दुओं की सन्तान थे, जिन्हें सिकन्दर यहाँ से कै़द कर ले गया। कुछ हो, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि कुछ हिन्दू भी हुसैन के साथ क़र्बला के संग्राम में सम्मिलित होकर वीर-गति को प्राप्त हुए थे।)

इस नाटक में स्त्रियों के अभिनय बहुत कम मिलेंगे। महाशय डी. एल. राय ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में स्त्री-चरित्र की कमी को कल्पना से पूरा किया है। उनके नाटक पूर्ण रूप से ऐतिहासिक हैं। क़र्बला ऐतिहासिक ही नहीं , धार्मिक भी है, इसलिए इसमें किसी स्त्री-चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकी।

यह नाटक दुःखान्त (Tragedy) है। दुःखान्त नाटक के लिए आवश्यक है कि उसका नायक कोई वीरात्मा हो, और उसका शोकजनक अन्त उसके धर्म और न्यायपूर्ण विचारों और सिद्धान्तों के फलस्वरूप हो। नायक की दारुण कथा दुःखान्त नाटकों के लिए पर्याप्त नहीं है। उसकी विपत्ति पर हम शोक नहीं करते, वरन् उसकी नैतिक विजय पर आनन्दित होते हैं। क्योंकि वहाँ नायक की प्रत्यक्ष हार वस्तुतः उसकी विजय होती है। दुःखान्त नाटकों में शोक और हर्ष के भावों का विचित्र रूप से समावेश हो जाता है। हम नायक को प्राण त्यागते देखकर आँसू बहाते हैं, किन्तु

वे आँसू करुणा के नहीं, विजय के होते हैं। दुःखान्त नाटक आत्म-बलिदान की कथा है, और आत्म-बलिदान केवल करुणा की वस्तु नहीं, गौरव की भी वस्तु है। हाँ, नायक का वीरात्मा होना परम आवश्यक है, जिससे हमें उसकी अविचल सिद्धान्त-प्रियता और अदम्य सत्साहस पर गौरव और अभिमान हो सके।

नाटक में संगीत का अंश होना आवश्यक है, किन्तु इतना नहीं, जो अस्वाभाविक हो जाय। हम महान् विपत्ति और महान सुख, दोनों ही दशाओं में रोते और गाते हैं। हमने ऐसे ही अवसरों पर गान की आयोजना की है। मुसलिम पात्रों के मुख से ध्रुपद और विहाग कुछ बेजोड़-सा मालूम होता है, इसलिए हमने उर्दू-कवियों की गजलें दे दी हैं। कहीं-कहीं अनीस के मर्सियों में से दो-चार बन्द उद्धृत कर दिये हैं। इसके लिए हम उन महानुभावों के ऋणी हैं। कविवर श्रीधर जी पाठक की एक भारत-स्तुति भी ली गयी है, अतएव हम उन्हें धन्यवाद देते हैं।

इस नाटक की भाषा के विषय में कुछ निवेदन करना आवश्यक है। इसकी भाषा हिन्दी-साहित्य की भाषा नहीं है। मुसलमान पात्रों से शुद्ध हिन्दी भाषा का प्रयोग कराना कुछ स्वाभाविक न होता। इसलिए हमने वही भाषा रखी है, जो साधारणतः सभ्य-समाज में प्रयोग की जाती है, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बोलते और समझते हैं।

—प्रेमचन्द

(प्रथम संस्करण, नवम्बर, 1924 से)

आज़ाद-कथा

पण्डित रतननाथ धर 'सरशार' लखनवी उर्दू-भाषा में उपन्यास-साहित्य के नियामक हैं। उनकी रचनाएँ, जिनमे 'फ़िसाना-ए-आज़ाद' सर्वश्रेष्ठ है, और आज भी उर्दू-साहित्य का मुख उज्ज्वल कर रही है। इस वक़्त तक उर्दू में उपन्यासों की प्रथा न थी। भाषा-शैली भी वही थी, जिसका नमूना 'फ़िसाना-अजायब' है—गद्य में भी अलंकार और तुकों की भरमार होती थी। पण्डित रतननाथ ने भी बहुधा उसी ढंग की भाषा लिखी थी। वह जब किसी बाग़ या दृश्य का वर्णन करने लगते हैं, तो उनकी भाषा 'फ़िसाना-अजायब' के ढंग की हो जाती है। लेकिन उनके पात्रों की बातचीत बहुत ही स्वाभाविक और लखनवी बोलचाल का बहुत ही अच्छा नमूना है। पण्डितजी 'अवध अख़बार' के सम्पादक थे, और 'फ़िसाना-आज़ाद' पहले उसी दैनिक पत्र (1878-80 तक) में प्रकाशित हुआ था। शायद पहले पण्डित जी का विचार कोई बड़ा उपन्यास लिखने का न था। आज़ाद नाम के कल्पित चरित्र द्वारा वह वर्तमान समाज पर कटाक्ष करना और चुटकियों द्वारा उसमें नये भावों और विचारों का बीज बोना चाहते थे। पहली ज़िल्द के बड़े भाग में आज़ाद ही के सैर-सपाटों का ज़िक्र है, लेकिन आगे चलकर प्रेम-चर्चा की ज़रूरत मालूम हुई, और कथा ने

यह रूप धारण किया। अब उसकी बड़ी-बड़ी चार ज़िल्दें हैं, और उनमें लगभग 4000 पृष्ठ हैं। उनका पूरा हिन्दी अनुवाद किया जाय तो 12,000 पृष्ठों का बृहद ग्रन्थ हो जाय; लेकिन पुस्तक में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनसे न तो पात्रों पर प्रकाश पड़ता है, और न हास्य या व्यंग्य ही का कुछ स्वाद मिलता है। कहीं-कहीं हास्य इतना नीरस और अश्लील हो गया है कि उसका अनुवाद करना अनुपयुक्त है। हमने इन प्रसंगों को छोड़ दिया है। फुटकर लेखों को भी हमने शृंखला में बाँधने की चेष्टा की है, बोलचाल की भाषा ज्यों-की-त्यों रहने दी है। बहुधा जगह की किफ़ायत के लिए कई-कई वाक्यों को मिला दिया है। अतएव यह 'फ़िसाना-आज़ाद' का अनुवाद नहीं, उसका एक परिष्कृत संस्करण है।

पण्डित रतननाथ लखनऊ में पैदा हुए थे और उनका लड़कपन लखनऊ ही की गलियों में, खेलने में गुज़रा। उन्होंने लखनवी जीवन के सभी अंगों का अवलोकन किया और ये सारे दृश्य उनके स्मृति-पट पर अंकित हो गये थे। 'फ़िसाना-आज़ाद' में आपको लखनऊ के भोले-भाले रंगीन नवाब मिलते हैं, उनके खुशामदी मुसाहवों के दर्शन होते हैं, उनकी बेगमात के हाव-भाव का चित्र नज़र आता है। कहीं बाँके आते हैं तो कहीं अफ़ीमची, कहीं भटियारिनों की तिरछी चितवन है तो कहीं वेश्याओं के नाज़-नख़रे; कहीं मदारी के तमाशे हैं तो कहीं सरकस के; कहीं बाज़ार का मोल-भाव है तो कहीं मजलिसों का राग-रंग। ये सभी दृश्य इतने मनोरंजक, इतने हास्यमय हैं कि पढ़ते ही बनता है। पण्डितजी हास्य रस लिखने में सिद्धहस्त थे। 'फिसाना-आज़ाद' ने लखनऊ के उस पुराने विलासमय जीवन में कितना सुधार किया, इसका अनुमान करना मुश्किल है। 'फ़िसाना-आज़ाद' के अतिरिक्त 'सैर कोहसार' और 'जामेसरशार' भी धर महोदय की उत्तम रचनाएँ हैं। उर्दू में इन पुस्तकों का कितना आदर हुआ, इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि इनके आठ-नौ एडीशन हो चुके हैं और अब तक इनकी माँग में कमी नहीं हुई। उर्दू में शरर, मिर्जा रुसवा, हकीम मुहम्मद अली आदि उपन्यासकारों में किसी की रचनाओं का इतना प्रचार नहीं हुआ।

हमारी बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हास्य और विनोद के इस भण्डार का मज़ा हिन्दी के पाठकों को चखाया जाय; लेकिन काम इतना बड़ा और इतने परिश्रम का था कि बार-बार हिम्मत टूट जाती थी। चार हज़ार उर्दू के बड़े-बड़े पृष्ठों को मथकर हिन्दी के एक हज़ार पृष्ठों में लाना आसान न था, पर हिन्दी-प्रेमियों के प्रोत्साहन ने आख़िर यह काम करा ही डाला। दो ज़िल्दों का इत्र आपकी सेवा में भेंट किया जा रहा है। इसकी सुगन्ध आपको पसन्द आयी, तो शेष दो ज़िल्दों का इत्र खींचने के लिए फिर कमर बाँधूँगा।

प्रेमचन्द

लखनऊ
1-9-25

(प्रथम संस्करण, 1925 से)

गल्प-रत्न

प्राक्कथन

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मन के रहस्य खोला करता है, इसी आलोचना को, इसी रहस्योद्घाटन को, 'साहित्य' कहते हैं, चाहे वह गद्य हो या पद्य। और आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है, आज से नहीं, आदि-काल से ही, जब मनुष्य को लिखना नहीं आता था। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि से बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी, या अध्यात्मविषयक। वर्तमान आख्यायिका, साहित्य के दूसरे अंगों की भाँति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोरहस्य के उद्घाटन को अपना ध्येय समझती है। यह स्वीकार कर लेने में हमें संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है। मगर सौ वर्ष पहले, यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, कुछ परियों और भूतों की कहानियाँ अलबत्ता प्रचलित थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर या उससे भी कम समझो, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है। कोई पत्रिका ऐसी नहीं, जिसमें कहानियों की प्रधानता न हो। यहाँ तक कि कितनी ही पत्रिकाएँ तो कहानियों के सिवा और कुछ देतीं ही नहीं। हाँ, जिन पत्रिकाओं को नफ़ा-नुक़सान की चिन्ता नहीं और जो किसी विशेष उद्देश्य से निकाली जाती हैं, उनकी बात अलग है। ऐसी दार्शनिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, व्यावसायिक पत्रिकाएँ हैं जिनमें कहानियों का प्रवेश नहीं होता, पर वे जनता के लिए नहीं, विशेष सम्प्रदायों के लिए निकाली जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायें और सारे दिन उसी की लहरों में गोते खाया करें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है, इसलिए हम चाहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाय, इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी हैं, अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जाय; उसमें एक वाक्य,

एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे। उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हों। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों का जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोककर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान मे छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक-दो घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती हैं। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सके, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक वनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन मे ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं, और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन सिद्धान्तों की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र प्रधान! चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है। मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है, जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उसके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे

कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

मगर यह समझना भारी भूल होगी कि कहानी वास्तविक जीवन का चित्र होती है। वास्तविक जीवन का चित्र तो किसी डायरी में ही मिल सकता है। कहानी कहानी है; यथार्थ नहीं हो सकती। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है, जब उसकी बिलकुल ज़रूरत न थी; लेकिन कहानी में ऐसा अन्त हो जाय तो वह पाठक को अरुचिकर होगा। पाठक ने जिस पात्र का अंकुर देखा है, वह उसे बढ़कर फलते-फूलते भी देखना चाहता है। कला का रहस्य है कृत्रिमता, पर वह कृत्रिमता जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो। कलाविद् अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ तोड़-मरोड़ करता है–कुछ घटाता है, कुछ बढ़ाता है, कुछ छिपाता है, कुछ खोलता है, तब उसका मनोरथ सिद्ध होता है।

–प्रेमचन्द

(प्रथम संस्करण 1929 से)

प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ

लेखक हमेशा यही चाहता है कि उसकी सब रचनाएँ सुन्दर हों, पर ऐसा होता नहीं। अधिकांश रचनाएँ तो यत्न करने पर भी साधारण होकर रह जाती हैं। अच्छे-से-अच्छे लेखकों की रचनाओं में भी थोड़ी-सी चीज़ें अच्छी निकलती हैं। फिर उनमें भी भिन्न-भिन्न रुचि की चीज़ें होती हैं और पाठक अपनी रुचि की चीज़ों को छाँट लेता है और उन्हीं का आदर करता है। हरएक लेखक की हरएक चीज़, हरएक आदमी को पसन्द आ जाये, ऐसा बहुत कम देखने में आता है।

मेरी प्रकाशित कहानियों की संख्या तीन सौ के लगभग हो गयी है। उनके कई संग्रह छप गये हैं, लेकिन आजकल किसके पास इतना समय है कि उन सभी कहानियों को पढ़ सके। अगर हम हरएक लेखक की हरएक चीज़ पढ़ना चाहें, तो शायद दस-पाँच लेखकों में ही हमारी ज़िन्दगी ख़त्म हो जाये, इसलिए हमारे मित्रों का बहुत दिनों से आग्रह था कि मैं अपना कोई ऐसा संग्रह निकालूँ, जिससे पाठक को मेरी कृतियों का मूल्य निर्धारित करने में सुविधा हो, जिसे मेरी रचनाओं का नमूना कहा जा सके, जिसे पढ़कर लोग जीवन के विषय में मेरी धारणाओं से परिचित हो सकें। यह संग्रह इसी उद्देश्य से किया गया है। इसमें मैंने उन्हीं कहानियों का संग्रह किया है, जिन्हें मैं खुद पसन्द करता हूँ और जिन्हें भिन्न-भिन्न रुचि के आलोचकों ने भी पसन्द किया है।

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हरएक बालक को अपने बचपन की वो कहानियाँ याद होंगी जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहा था, कहानी शुरू होते ही वह किस

तरह सब-कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने और मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये, पर वह कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यह है कि वह एक कहानी बन जाये और उसकी कीर्ति हरएक ज़बान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ़-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। यह उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओ और प्रसंगों कों सुनकर हम अपने बाप-दादों की भाँति ही प्रसन्न होते हैं। हमारा ख़याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़ लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासो का आनन्द नहीं उठा सकती और अगर काउण्ट टाल्सटाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाये, तो अलिफ लैला के सामने स्वयं टाल्स्टाय के 'वार एण्ड पीस' और ह्यूगो के 'ला मिज़रेबल' की कोई गिनती नहीं! इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग-रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियों और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायेगे। जनरुचि तरज़ और विहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज़्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्राम-गीतों में बहुधा बड़े ऊँचे दर्जे की कविता होती है; फिर भी यह कहना असत्य नहीं कि विद्वानों और आचार्यो ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएँ बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और संयत हो गया है। प्रकृति मे जो कला है वह प्रकृति की है, मनुष्य की नही। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव-हृदय के साँचे मे पककर संस्कृत हो गयी हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमे अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उसमे हमे आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका, रंगो और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पावें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है। स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और समझने वाले थोड़े से कलाविद् ही रह जाते हैं; उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं

रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं, पर उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गयी है। हम हरएक विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के काँटे पर तोलते हैं और उसे जौ-भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आज के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को, यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाये कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना, वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं, और जो लेखक मानव-हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते हैं कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने वह काम किया, अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प के ख़ास अंग हैं।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था; लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः इस संग्रह में 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पंच-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' सभी में एक-न-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गयी है।

यह तो सभी जानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है, पर साहित्यिक मनोरंजन वह है जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हम में सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों। कला में मानवीय आत्मा की वह चेष्टा है जो उसके मन में अपने आपको पूर्ण देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है। जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को

बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनन्त प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं। पर ये स्वार्थ, अहंकार और ईर्ष्या की बाधाएँ न होतीं तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती ? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही बिना किसी घुमाव-फिराव के आत्मा के किसी-न-किसी भाव को प्रकट कर देती है, आत्मा की ज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का, क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है, पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमें कहानियों की ही प्रधानता होगी। हाँ, जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते हैं, उनमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती जो इच्छापूर्ण भोजन चाहती है, पर फलों और मिठाइयो की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियो से लुप्त हो जाती है। हमारा खयाल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण संसार के प्राणियों को एक-दूसरे के जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज़ ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियो से बिलकुल अपरिचित रहते हैं; लेकिन मोपासाँ, अनातोले फ्रांस, चेखब और टाल्स्टाय की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रांस और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ो को लाँघता हुआ फ्रास और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान, मज़दूर और विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ठ परिचय हो।

हिन्दी में बीस-पच्चीस साल पहले गल्पों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बँगला या अंग्रेज़ी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ प्रति मास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड़ लिये जाते थे तो कड़ी डाँट पड़ती थी। यह ख़याल किया जाता था कि किस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है और उन 'फ़िसाना-अजायब' और 'शुकबहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख़याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक़्त कहानियाँ कहीं स्कूली पाठ्यक्रम

में रख दी जाती, तो शायद पिताओं का एक डेपुटेशन इसके विरोध में शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की सेवा में पहुँचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियाँ पढ़ाई जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किये जाते है। यह मान लिया गया है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गल्प नही है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हज़ार वर्ष पहले यूनान के विख्यात फिलासफ़र अफ़लातून ने कहा था कि हरएक काल्पनिक रचना में भी मौलिक सत्य मौजूद रहता है। 'रामायण', 'महाभारत' आज उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पाँच हज़ार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन मे सदैव परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धान्त, जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये है और मनोभावों मे कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि "कथा में नाम और सन् के सिवा सब-कुछ सत्य है और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है, किन्तु किसी दशा में भी वह उस महान सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता जो जीवन-सत्य कहलाता है।

–प्रेमचन्द

बनारस अगस्त,1993

(प्रथम संस्करण सितंबर, 1934 से)

मानसरोवर–1

प्राक्कथन

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है। इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास-आदि में शुरू से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखा का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है; इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर-से-क्रूर, अहंकार की नीच-से-नीच, ईर्ष्या की अधम-से-अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी और आप सोचने लगेंगे, क्या मनुष्य इतना अमानुषिक है कि थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है; बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है। उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है, आनन्द नहीं; और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती, वह सुन्दर नहीं हो सकती; और जो सुन्दर नहीं हो सकती, वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है; पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसीलिए वह सत्य है। मनुष्य ने जगत में जो कुछ

सत्य और सुन्दर पाया है, और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं, और गल्प भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनो-रहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसीलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी खोज में लगा हुआ है; अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है; इसलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गल्प या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है—आज से नहीं, आदिकाल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समझ की गति और रुचि के परिवर्तन से बहुत कुछ अन्तर है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषदों और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं ? बाइबिल में भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाये गये हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है। वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञान्कि विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है; बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते, जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाये। कहानियों के पात्रों से हमें एक ही दो मिनट में परिचय का निजत्व हो जाता है, और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है; बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हंसते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणतः सुख-दुख का कोई असर नहीं पड़ता, जिनकी आँखें श्मशान में या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं ; वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थानों पर पहुँचकर रोने लगते हैं। शायद इसका कारण यह भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है, और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है ? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ मालूम हो। उसका मापदण्ड भी जीवन के मापदण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस

समय हो जाता है, जब वह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोईसम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। कम-से-कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है; लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है, और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है और जहाँ वह हमारी मानवीय न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है, तो इसका कारण बताना होगा; दुःख भी मिलता है तो भी उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक मानव की न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है; पर वह भ्रान्ति, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है। कम-से-कम इसका आजकल का विकसित रूप तो पच्छिम का ही है। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओ की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गयी और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव काव्य, नाटक, कथा किसी में भी हम आगे क़दम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें नवीनता न लायी जाये। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है, और वह कोई नयी चीज़ चाहता है, चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जडीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा, उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियो से चिढ़। जीवन के हरएक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की, बेड़ियो से मुक्त हो जाने की छाप लगी है। साहित्य मे भी उसने क्रान्ति मचा दी। शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। 'अलिफ़-लैला' उस वक्त का आदर्श था–उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमांस था; पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ, जब उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और ड्रामा के बीच की वस्तु है। पुराण-दृष्टांत भी रूपान्तरित होकर गल्प बन गये।

मगर सौ वर्ष पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक तथा ऐतिहासिक या सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन

छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं; किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम समझिये, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में कवित्त ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है, और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़ाक, मोपासाँ, चेख़ब, टाल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में तो पचीस-तीस साल पहले तक गल्प का जन्म न हुआ था। आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों; यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने-ख़याल' लेकर बैठ जायें और सारे दिन उसी के कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता। अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते; लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है, इसलिए हम चाहते हैं कि थोड़े-से समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाये। इसलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में हमें महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टे में उठा लेते हैं। कहानी के लिए तो पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं। अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े- से-थोड़े शब्दों में कही जाये, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाये, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यवसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है। विपत्तियाँ पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि वह बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए भी ताल ठोंककर तैयार हो जाता है। उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए

जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर दते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रभावित करती है। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समाधान कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले ! कितना भीषण द्वन्द्व है ! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है; मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग-भर दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है, जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उसके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन थोड़े दिनों में हिन्दी गल्प-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला-कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख गल्प-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गयी है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव, मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गयी है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम-से-कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ़ इशारा भर कर देता है। कभी-कभी तो सम्भाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल लेता है। ऐसे

कितने ही अवसर होते हैं, जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरे वाक्य की ज़रूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही न रहा, उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है, उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह है कि गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

–प्रेमचन्द

(प्रथम संस्करण से, मार्च, 1936)

स्वामी विवेकानन्द

कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास और पाप की प्रबलता होती है, तब-तब मैं मानव-जाति के कल्याण के लिए अवतार लिया करता हूँ। इस नाशवान जगत् में सर्वत्र सामान्यतः और भारतवर्ष में विशेषतः जब कभी पाप की वृद्धि या और किसी कारण (समाज के) संस्कार या नवनिर्माण की आवश्यकता हुई, तो ऐसे सच्चे सुधारक और पथप्रदर्शक प्रकट हुए हैं, जिनके आत्मबल ने सामयिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त की। पुरातन काल में जब पाप-अनाचार प्रबल हो उठे, तो कृष्ण भगवान आये और अनीति-अत्याचार की आग बुझायी। इसके बहुत दिन बाद क्रूरता, विलासिता और स्वार्थपरता का फिर दौरदौरा हुआ, तो बुद्ध भगवान ने जन्म लिया और उनके उपदेशों ने धर्मभाव को ऐसी धारा बहा दी, जिसने कई सौ साल तक जड़वाद को सिर न उठाने दिया। पर जब कालप्रवाह ने इस उच्च आध्यात्मिक शिक्षा की नींव को भी खोखली कर दिया और उसकी आड़ में दंभ-दुराचार ने फिर ज़ोर पकड़ा, तो शंकर स्वामी ने अवतार लिया और अपनी वाग्मिता तथा योगबल से धर्म के परदे में होनेवाली बुराइयों की जड़ उखाड़ दी। अनंतर कबीर साहब और श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए और अपनी आत्म-साधना का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा गये।

ईसा की पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में जड़वाद ने फिर सिर उठाया, और इस बार उसका आक्रमण ऐसा प्रबल था, अस्त्र ऐसे अमोघ और सहायक ऐसे सबल थे कि भारत के आत्मवाद को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा और कुछ ही दिनों में हिमालय से लगाकर कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक उसकी पताका फहराने लगी। हमारी आँखें इस भौतिक प्रकाश के सामने चौंधिया गयीं, और हमने अपने प्राचीन तत्त्वज्ञान, प्राचीन शास्त्रविज्ञान, प्राचीन समाज-व्यवस्था, प्राचीन धर्म और प्राचीन आदर्शों को त्यागना आरंभ कर दिया। हमारे मन में दृढ़ धारणा हो गयी कि हम बहुत दिनों से मार्ग-भ्रष्ट हो रहे थे और आत्मा-परमात्मा की बातें निरी ढकोसला हैं। पुराने ज़माने में भले ही उनसे कुछ लाभ हुआ हो, पर वर्तमान काल के लिए यह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं और इस रास्ते से हटकर हमने नये राज-मार्ग को न पकड़ा, तो कुछ ही दिनों में धरा-धाम से लुप्त हो जायेंगे।

ऐसे समय पुनीत भारत-भूमि में पुनः एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसके

हृदय में अध्यात्म-भाव का सागर लहरा रहा था; जिसके विचार ऊँचे और दृष्टि दूरगामिनी थी; जिसका हृदय मानव-प्रेम से ओतप्रोत था। उसकी सच्चाई-भरी ललकार ने क्षण भर में जड़वादी संसार में हलचल मचा दी। उसने नास्तिक्य के गढ़ में घुसकर साबित कर दिया कि तुम जिसे प्रकाश समझ रहे हो, वह वास्तव में अंधकार है, और यह सभ्यता जिस पर तुमको इतना गर्व है, सच्ची सभ्यता नहीं। इस सच्चे विश्वास के बल से भरे हुए भाषण ने भारत पर भी जादू का असर किया और जड़वाद के प्रखर प्रवाह ने अपने सामने ऐसी ऊँची दीवार खड़ी पायी, जिसकी जड़ को हिलाना या जिसके ऊपर से निकल जाना उसके लिए असाध्य कार्य था।

आज अपनी समाज-व्यवस्था, अपने वेदशास्त्र, अपने रीति-व्यवहार और अपने धर्म को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उसी पूतात्मा के उपदेशों का सुफल है कि हम अपने प्राचीन आदर्शों की पूजा करने को प्रस्तुत हैं और यूरोप के वीर पुरुष और योद्धा, विद्वान और दार्शनिक हमें अपने पंडितों, मनीषियों के सामने निरे बच्चे मालूम होते हैं। आज हम किसी बात को, चाहे वह धर्म और समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हो या ज्ञान-विज्ञान से, केवल इसलिए मान लेने को तैयार नहीं हैं कि यूरोप में उसका चलन है, किन्तु उसके लिए हम अपने धर्मग्रंथों और पुरातन पूर्वजों का मत जानने का यत्न करते और उनके निर्णय को सर्वोपरि मानते हैं, और यह सब ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानंद के आध्यात्मिक उपदेशों का ही चमत्कार है।

स्वामी विवेकानंदजी का जीवन-वृत्तांत बहुत संक्षिप्त है। दुःख है कि आप भरी जवानी मे ही इस दुनिया से उठ गये और आपके महान व्यक्तित्व से देश और जाति को जितना लाभ पहुँच सकता था, न पहुँच सका। 1863 ई० में वह एक प्रतिष्ठित कामराय कुल में उत्पन्न हुए। बचपन से ही होनहार दिखाई देते थे। अंग्रेज़ी स्कूलो मे शिक्षा पायी और 1884 मे बी. ए. की डिग्री हासिल की। उस समय उनका नाम नरेंद्रनाथ दत्त था। कुछ दिनों तक ब्रह्म-समाज के अनुयायी रहे। नित्य प्रार्थना मे सम्मिलित होते और चूँकि गला बहुत ही अच्छा पाया था, इसलिए कीर्तन-समाज में भी शरीक हुआ करते थे, पर ब्रह्म-समाज के सिद्धांत उनकी प्यास न बुझा सके। धर्म उनके लिए केवल किसी पुस्तक से दो-चार श्लोक पढ़ देने, कुछ विधि-विधानों का पालन कर देने और गीत गाने का नाम नहीं हो सकता था। कुछ दिनों तक सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे।

उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। नवयुवक नरेंद्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरंभ किया और धीरे-धीरे उनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उनकी भक्त-मंडली में सम्मिलित हो गये और उस सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदांत रहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा तृप्त की। परमहंसजी के देहत्याग के बाद नरेंद्र ने कोट-पतलून उतार फेंका और संन्यास ले लिया। उस समय से आप विवेकानंद नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी गुरु-भक्ति गुरु-पूजा की सीमा तक पहुँच गयी थी। जब कभी आप उनकी चर्चा करते हैं, तो

एक-एक शब्द से श्रद्धा और सम्मान टपकता है। 'मेरे गुरुदेव' के नाम से उन्होंने न्यूयार्क में एक विद्वत्तापूर्ण भाषण किया, जिसमें परमहंसजी के गुणों का गान बड़ी श्रद्धा और उत्साह के स्वर में किया गया है।

स्वामी विवेकानंद ने गुरुदेव के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है–देखने में वह बिलकुल साधारण आदमी मालूम होते थे। उनके रूप में कोई विशेषता न थी। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने मन में सोचा कि क्या यह संभव है कि यह सिद्ध पुरुष हों। मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँच गया और उनसे वह प्रश्न पूछे, जो मैं अक्सर औरों से पूछा करता था। "महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं ?" उन्होंने जवाब दिया, 'हाँ।" मैंने फिर पूछा,"क्या आप उसका अस्तित्व सिद्ध कर सकते हैं ?" जवाब मिला,"हाँ !" मैंने पूछा,"क्योंकर ?" जवाब मिला–"मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुमको।"

परमहंसजी की वाणी में कोई वैद्युतिक शक्ति थी, जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी और यही प्रभाव स्वामी विवेकानंद की वाणी और दृष्टि में भी था। हम कह चुके हैं कि परमहंसजी के परमधाम सिधारने के बाद स्वामी विवेकानंद ने संन्यास ले लिया। उनकी माता उच्चाकांक्षिणी स्त्री थीं उनकी इच्छा थी कि मेरा लड़का वकील हो, अच्छे घर में उसका ब्याह हो, और दुनिया के सुख भोगे। उनके संन्यास-धारण के निश्चय का समाचार पाया, तो परमहंसजी की सेवा में उपस्थित हुईं और अनुनय-विनय की कि मेरे बेटे को जोग न दीजिए ; पर जिस हृदय ने शाश्वत प्रेम और आत्मानुभूति के आनंद का स्वाद पा लिया हो, उसे लौकिक सुख-भोग कब अपनी ओर खींच सकते हैं ! परमहंसजी कहा करते थे कि जो आदमी दूसरों को आध्यात्मिक उपदेश देने की आकांक्षा करे, उसे पहले स्वयं उस रंग में डूब जाना चाहिए। इस आदेश के अनुसार स्वामीजी हिमालय पर चले गए और वह पूरे नौ साल तक तपस्या और चित्त-शुद्धि की साधना में लगे रहे। बिना खाये, बिना सोये, एकदम नग्न और एकदम अकेले सिद्ध-महात्माओं की खोज में ढूँढ़ते और उनके सत्संग से लाभ उठाते रहते थे। कहते हैं कि परमतत्त्व की जिज्ञासा उन्हें तिब्बत खींच ले गयी, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और साधन-प्रणाली का समीक्षक बुद्धि से अध्ययन किया। स्वामीजी खुद फ़रमाते हैं कि मुझे दो-दो तीन-तीन दिन तक खाना न मिलता था। अक्सर ऐसे स्थान पर नंगे बदन सोया हूँ, जहाँ की सर्दी का अंदाजा थर्मामीटर से नहीं लग सकता। कितनी ही बार शेर, बाघ और दूसरे शिकारी जानवरों का सामना हुआ, पर राम के प्यारे को इन बातों का क्या डर !

स्वामी विवेकानंद हिमालय में थे, जब उन्हें प्रेरणा हुई कि अब तुम्हें अपने गुरुदेव के आदेश का पालन करना चाहिए। अतः वह पहाड़ से उतरे और बंगाल, संयुक्तप्रांत, राजपूताना, बम्बई आदि में रेल से और अक्सर पैदल भी भ्रमण करते; किंतु जो जिज्ञासु जन श्रद्धावश उनकी सेवा में उपस्थित होते थे, उन्हें धर्म और नीति के तत्त्वों का उपदेश करते थे। जिसे विपद्ग्रस्त देखते, उसको सांत्वना देते। मद्रास

उस समय नास्तिकों और जड़वादियों का केंद्र बन रहा था। अँग्रेज़ी विश्वविद्यालयों से निकले हुए नवयुवक, जो अपने धर्म और समाज-व्यवस्था के ज्ञान से बिलकुल कोरे थे, खुलेआम ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार किया करते थे। स्वामीजी यहाँ अरसे तक टिके रहे और कितने ही होनहार नौजवानों को धर्म-परिवर्तन से रोका तथा जड़वाद के जाल से बचाया। कितनी ही बार लोगों ने उनसे वाद-विवाद किया, उनकी खिल्ली उड़ायी; पर वह अपने वेदांत के रंग में इतना डूबे हुए थे कि उन्हें किसी की हँसी-मज़ाक़ की तनिक भी परवाह न थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति नवयुवक-मंडली से बाहर निकलकर कस्तूरी की गंध की तरह चारों ओर फैलने लगीं बड़े-बड़े धनी-मानी लोग भक्त और शिष्य बन गये और उनसे नीति तथा वेदांत-तत्त्व के उपदेश लिये। जस्टिस सुब्रह्मण्यन् अय्यर, महाराज रामनद (मद्रास) और. महाराजा खेतड़ी (राजपूताना) उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

स्वामीजी मद्रास में थे, जब अमरीका में सर्व-धर्म सम्मेलन के आयोजन का समाचार मिला। वह तुरंत उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गये, और उनसे बड़ा ज्ञानी तथा वक्ता और था ही कौन ? भक्त-मंडली की सहायता से आप इस पवित्र यात्रा पर रवाना हो गये। आपकी यात्रा अमरीका के इतिहास की एक अमर घटना है। यह पहला अवसर था कि कोई पश्चिमी जाति दूसरी जातियों के धर्म-विश्वासों की समीक्षा और स्वागत के लिए तैयार हुई हो। रास्ते में स्वामी जी ने चीन और जापान का भ्रमण किया और जापान के सामाजिक जीवन से बहुत प्रभावित हुए। वहाँ से एक पत्र में लिखते हैं–

"आओ, इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो। आओ, मर्द बनो ! अपने संकीर्ण बिलों से बाहर निकलो और ज़रा दुनिया की हवा खाओ।"

अमरीका पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि अभी सम्मेलन होने में बहुत देर है। ये दिन उनके बड़े कष्ट में बीते। अकिंचनता की यह दशा थी कि पास में ओढ़ने-बिछाने तक को काफ़ी न था। पर उनकी संतोष-वृत्ति इन सब कष्ट-कठिनाइयों पर विजयी हुई। अंत में बड़ी प्रतीक्षा के बाद नियत तिथि आ पहुँची। दुनिया के विभिन्न धर्मों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे, और यूरोप के बड़े-बड़े पादरी और धर्म-शास्त्र के अध्यापक, आचार्य हज़ारों की संख्या में उपस्थित थे। ऐसे महासम्मेलन में एक अकिंचन असहाय नवयुवक का कौन पुछैया था, जिसकी देह पर साबित कपड़े भी न थे। पहले तो किसी ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया, पर सभापति ने बड़ी उदारता के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और वह समय आ गया कि स्वामीजी श्रीमुख से कुछ कहें। उस समय तक उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न किया था।

एकबारगी आठ-दस हज़ार विद्वानों और समीक्षकों के सामने खड़े होकर भाषण करना कोई हँसी-खेल न था। मानव-स्वभाववश क्षण-भर स्वामीजी को भी घबराहट रही, पर केवल एक बार तबीयत पर ज़ोर डालने की ज़रूरत थी। स्वामीजी ने ऐसी पांडित्यपूर्ण, ओजस्वी और धाराप्रवाह वक्तृता की कि श्रोतृमंडली मंत्रमुग्ध-सी हो गयी। यह असभ्य हिंदू ; और ऐसा विद्वत्तापूर्ण भाषण ! किसी को विश्वास न होता

था। आज भी इस वक्तृता को पढ़ने से भावावेश की अवस्था हो जाती है। वक्तृता क्या है, भगवद्‌गीता और उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। पश्चिम वालों को आपने पहली बार सुझाया कि धर्म के विषय में निष्पक्ष उदार भाव रखना किसको कहते हैं। और धर्मवालों के विपरीत आपने किसी धर्म की निंदा न की और पश्चिमवालों की जो बहुत दिनों से यह धारणा हो रही थी कि हिंदू तअस्सुब के पुतले हैं, वह एकदम दूर हो गयी। वह भाषण ऐसा ज्ञान-गर्भ और अर्थ-भरा है कि उसका खुलासा करना असंभव है, पर उसका निचोड़ यह है–

"हिन्दू धर्म का आधार किसी विशेष सिद्धांत को मानना या कुछ विशेष विधि-विधानों का पालन करना नहीं है। हिन्दू का हृदय शब्दों और सिद्धांतों से तृप्ति-लाभ नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसा लोक है, जो हमारी स्थूल दृष्टि से अगोचर है, तो हिन्दू उस दुनिया की सैर करना चाहता है; अगर कोई ऐसी सत्ता है, जो भौतिक नहीं है; कोई ऐसी सत्ता है, जो न्याय-रूप, दया-रूप और सर्वशक्तिमान है, तो हिन्दू उसे अपनी अंतर्दृष्टि से देखना चाहता है। उसके संशय तभी छिन्न होते हैं, जब वह इन्हें देख लेता है।"

आपने पाश्चात्यों को पहली बार सुनाया कि विज्ञान के वह सिद्धांत, जिनका उनको गर्व है और जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं, हिन्दुओं को अति प्राचीन-काल से विदित थे और हिन्दू-धर्म की नींव उन्ही पर खड़ी है और जहाँ अन्य धर्मों का आधार कोई विशेष व्यक्ति या उसके उपदेश हैं, हिन्दू धर्म का आधार शाश्वत सनातन सिद्धांत है और यह इस बात का प्रमाण है कि वह कभी-न-कभी विश्व-धर्म बनेगा। कर्म को केवल कर्त्तव्य समझकर करना, उसमें फल या सुख-दुख की भावना न रखना ऐसी बात थी, जिससे पश्चिमवाले अब तक सर्वथा अपरिचित थे। स्वामीजी के ओजस्वी भाषणों और सच्चाई भरे उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि अमरीका के अख़बार बड़ी श्रद्धा और सम्मान के शब्दों में स्वामीजी की बडाई छापने लगे। उनकी वाणी में वह दिव्य प्रभाव था कि सुननेवाले आत्मविस्मृत हो जाते।

भक्तों की संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। चारों ओर से जिज्ञासु जन उनके पास पहुँचते और अपने-अपने नगर में पधारने का अनुरोध करते। स्वामीजी को अक्सर दिन-दिन भर दौड़ना पड़ता। बड़े-बड़े प्रोफ़ेसरों और विद्वानों ने आकर उनके चरण छुए और उनके उपदेशों को हृदय में ध्यान दिया।

स्वामीजी अमरीका में करीब तीन साल रहे और इस बीच श्रम और शरीर-कष्ट की तनिक भी परवाह न कर अपने गुरुदेव के आदेश के अनुसार वेदांत का प्रचार करते रहे। इसके बाद आपने इंग्लैंड की यात्रा की। आपकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। अंग्रेजों, को जो नास्तिकता और जड़ पूजा में दुनिया में सबसे आगे बढ़े हुए हैं, आकृष्ट करने में पहले आपको बहुत कष्ट करना पड़ा; पर आपकी अद्‌भुत अध्यवसाय और प्रबल संकल्प शक्ति अंत में इन सब बाधाओं पर विजयी हुई और आपकी वक्तृताओं का जादू अंग्रेज़ों पर भी चल गया। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक, जिन्हें खाने के लिए भी प्रयोगशाला के बाहर निकलना कठिन था, आपका भाषण सुनने

के लिए घंटों पहले सभा में पहुँच जाते और प्रतीक्षा में बैठे रहते। आपने वहाँ तीन बड़े मारके के भाषण किये और आपकी वाग्मिता तथा विद्वत्ता का सिक्का सबके दिलों पर बैठ गया। सब पर प्रकट हो गया कि जड़वाद में यूरोप चाहे भारत से कितना ही आगे क्यों न हो, पर अध्यात्म में ब्रह्मज्ञान का मैदान हिन्दुस्तानियों का ही है! आप करीब एक साल तक वहाँ रहे और अनेकानेक सभा-समितियों, कॉलिजों और क्लब-घरों से आपके पास निमंत्रण आते थे, पर वेदांत के प्रचार का कोई भी अवसर आप हाथ से न जाने देते। आपकी ओजमयी वक्तृताओं का यह प्रभाव हुआ कि बिशपों और पादरियों ने गिरजों में वेदांत पर भाषण किये।

एक दिन एक संभ्रांत महिला के मकान पर लंदन के अध्यापकों की सभा होनेवाली थी। श्रीमतीजी शिक्षा-विषय पर बड़ा अधिकार रखती थीं। उनका भाषण सुनने तथा उस पर बहस की इच्छा से बहुत से विद्वान एकत्र हुए थे। संयोगवश श्रीमतीजी की तबीयत कुछ ख़राब जो गयी। स्वामीजी वहाँ विद्यमान थे। लोगों ने प्रार्थना की कि आप ही कुछ फ़रमायें। स्वामीजी उठ खड़े हुए और भारत की शिक्षा-प्रणाली पर पांडित्यपूर्ण भाषण किया। उन विद्या-व्यवसायियों को कितना आश्चर्य हुआ, जब स्वामीजी के श्रीमुख से सुना कि भारत में विद्यादान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है और भारतीय गुरु अपने विद्यार्थियों से कुछ लेता नहीं, बल्कि उन्हें अपने घर पर रखता है और उनको विद्यादान के साथ-साथ भोजन-वस्त्र भी देता है।

धीरे-धीरे यहाँ भी स्वामीजी की भक्त-मंडली काफ़ी बड़ी हो गयी। बहुत से लोग, जो अपनी रुचि का आध्यात्मिक भोजन न पाकर धर्म से विरक्त हो रहे थे, वेदांत पर लट्टू हो गये, और स्वामीजी में उनकी इतनी श्रद्धा हो गयी कि यहाँ से जब वह चले, जो उनके साथ कई अंग्रेज शिष्य थे, जिनमें कुमारी नोवल भी थीं, जो बाद को भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामी जी ने अंग्रेजों के रहन-सहन और चरित्र-स्वभाव को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा-समझा। इस अनुभव की चर्चा करते हुए एक भाषण में आपने कहा कि यह क्षत्रियों और वीर पुरुषों की जाति है।

16 सितम्बर,1896 ई० को स्वामीजी कई अंग्रेज़ चेलों के साथ प्रिय स्वदेश को रवाना हुए। भारत के छोटे-बड़े सब लोग आपकी उज्ज्वल विरुदावली को सुन-सुनकर आपके दर्शन के लिए उत्कंठित हो रहे थे। आपके स्वागत और अभ्यर्थना के लिए नगर-नगर में कमेटियाँ बनने लगीं। स्वामीजी जब जहाज़ से कोलम्बो में उतरे, तो जनसाधारण ने जिस उत्साह और उल्लास से आपका स्वागत किया, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कोलम्बो से अलमोड़ा तक जिस-जिस नगर में आप पधारे, लोगों ने आपकी राह में आँखें बिछा दीं। अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े सबके हृदय में आपके लिए एक-सा आदर-सम्मान था। यूरोप में बड़े विजेताओं की जो अभ्यर्थना हो सकती है, उससे कई गुना अधिक भारत में स्वामीजी की हुई। आपके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ जमा हो जाती थी और लोग आपको एक नज़र देखने के लिए मंज़िलें

तय करके आते थे, क्योंकि भारतवर्ष लाख गया-बीता है, फिर भी एक सच्चे संत और महात्मा का जैसा कुछ आदर-सम्मान भारतवासी कर सकते हैं और किसी देश में संभव नहीं। यहाँ मन को जीतने और हृदयों को वश में करनेवाले विजेता का, देश को जीतने और मानव प्राणियों का रक्त बहानेवाले विजेता से कहीं अधिक आदर-सम्मान होता है।

हर शहर में जनसाधारण की ओर से आपके कार्यों की बड़ाई और कृतज्ञता-प्रकाश करनेवाले मानपत्र दिये गये। कुछ बड़े शहरों में तो पंद्रह-पंद्रह बीस-बीस मानपत्र तक दिये गये और आपने उनके उत्तर में देशवासियों को देशभक्ति के उत्साह तथा अध्यात्म-तत्त्व से भरी हुई वक्तृताएँ सुनायीं। मद्रास में आपके स्वागत के लिए 17 आलीशान फाटक बनाये गये। महाराज रामनन्द ने, जिनकी सहायता से स्वामीजी अमरीका गये थे, इस समय बड़े उत्साह और उदारता के साथ आपके स्वागत का आयोजन किया। मद्रास के विभिन्न स्थानों में घूमने और अपने अमृत उपदेशों से लोगों को तृप्त, आह्लादित करते हुए 28 फ़रवरी को स्वामीजी कलकत्ते पधारे। यहाँ आपके स्वागत-अभिनंदन के लिए लोग पहले ही अधीर हो रहे थे। जिस समय आपको मानपत्र दिया गया, सभा में पाँच हज़ार से अधिक लोग उपस्थित थे। राजा विनयकृष्ण बहादुर ने स्वयं मानपत्र पढ़ा, जिसमें स्वामीजी के भारत का गौरव बढ़ानेवाले कार्यों का बखान किया गया था।

कलकत्ता में स्वामीजी ने एक अति पांडित्यपूर्ण भाषण किया ; पर अध्यापन और उपदेश में अत्यधिक श्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जलवायु-परिवर्तन के लिए आपको दार्जिलिंग जाना पड़ा। वहाँ से अल्मोड़ा गये, पर स्वामीजी ने तो वेदांत के प्रचार का व्रत ले रखा था, उनको बेकारी में कब चैन आ सकता था ? ज्यों ही तबीयत ज़रा सँभली, स्यालकोट पधारे और वहाँ से लाहौर वालों की भक्ति ने अपने यहाँ खींच बुलाया। इन दोनों स्थानों मे आपका बड़े उत्साह से स्वागत-सत्कार हुआ और आपने अपनी अमृतवाणी से श्रोताओं के अंतःकरणों में ज्ञान की ज्योति जगा दी। लाहौर से आप कश्मीर गये और वहाँ से राजपुताने का भ्रमण करते हुए कलकत्ता लौट आये। इस बीच आपने दो मठ स्थापित कर दिये थे। इसके कुछ दिन बाद रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोकसेवा है और जिसकी शाखाएँ भारत के हर भाग में विद्यमान हैं तथा जनता का अमित उपकार कर रही हैं।

1897 ई० का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे ? आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था–

"साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-सन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराये। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है, और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी।"

फलतः आपने बड़ी सरगर्मी से ख़ैरातख़ाने खोलना आरंभ किया। स्वामी रामकृष्ण ने देश-सेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मंडली बना दी। यह सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गये। मुर्शिदाबाद, ढाका, कलकत्ता, मद्रास आदि में सेवाश्रम खोले गये। वेदांत के प्रचार के लिए जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किये गये। कई अनाथालय भी खुले और यह सब स्वामीजी के सदुद्योग का सुफल था। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा था, फिर भी वह स्वयं घर-घर घूमते और पीड़ितों को आश्वासन तथा आवश्यक सहायता देते-दिलाते। प्लेग-पीड़ितों की सहायता करना, जिनसे डॉक्टर लोग भी भागते थे, कुछ इन्हीं देशभक्तों का काम था।

उधर इंग्लैंड और अमरीका में भी वह पौधा बढ़ रहा था, जिसका बीज स्वामीजी ने बोया था। दो संन्यासी अमरीका में और एक इंग्लैंड में वेदांत-प्रचार में लगे हुए थे, और प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी।

स्वामीजी का स्वास्थ्य जब बहुत अधिक बिगड़ गया, तो आपने लाचार हो, इंग्लैंड की दूसरी यात्रा की और वहाँ कुछ दिन ठहरकर अमरीका चले गये। वहाँ आपका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। दो बरस पहले जिन लोगों ने आपके श्रीमुख से वेदात दर्शन पर ज़ोरदार वक्तृताएँ सुनी थीं, वह अब पक्के वेदांती हो गये थे। स्वामीजी के दर्शन से उनके हर्ष की सीमा न रही। वहाँ का जलवायु स्वामीजी के लिए लाभजनक सिद्ध हुआ और कठिन श्रम करने पर भी कुछ दिन में आप फिर स्वस्थ हो गये।

धीरे-धीरे हिन्दू दर्शन के प्रेमियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि स्वामीजी दिन-रात श्रम करके भी उनकी पिपासा तृप्त न कर सकते थे। अमरीका जैसे व्यापारी देश में एक हिन्दू संन्यासी का भाषण सुनने के लिए दो-दो हज़ार आदमियों का जमा हो जाना कोई साधारण बात नही अकेले सानफ्रांसिस्को नगर में आपने हिन्दू दर्शन पर पूरे पचास व्याख्यान दिये। श्रोताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी और अध्यात्म-तत्त्व के प्रेमियों की तृप्ति केवल दार्शनिक व्याख्यान सुनने से न होती थी। साधन और योगाभ्यास की आकांक्षा भी उनके हृदयों में जगी। स्वामीजी ने उनकी सहायता से सानफ्रांसिस्को में 'वेदांत सोसाइटी' और 'शांति-आश्रम' स्थापित किया और दोनों पौधे आज तक हरे-भरे हैं शांति-आश्रम नगर के कोलाहल से दूर एक परम रमणीय स्थान पर स्थित है और उसका घेरा लगभग दो सौ एकड़ है। यह आश्रम एक उदार धर्मानुरागिनी महिला की वदान्यता का स्मारक है।

स्वामीजी न्यूयार्क में थे कि पेरिस में विभिन्न धर्मों का सम्मेलन करने की आयोजना हुई और आपको भी निमंत्रण मिला। उस समय तक आपने फ्रांसीसी भाषा में कभी भाषण न किया था। यह निमंत्रण पाते ही उसके अभ्यास में जुट गये और आत्मबल से दो महीने में ही उस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि देखनेवाले दंग हो जाते। पेरिस में आपने हिन्दू-दर्शन पर दो व्याख्यान दिये, पर चूँकि यह केवल निबन्ध पढ़नेवालों का सम्मेलन था, और उसका उद्देश्य सत्य की खोज नहीं, किंतु

पेरिस की प्रदर्शनी की शोभा बढ़ाना था, इसलिए फ्रांस में स्वामीजी को सफलता न हुई।

अंत में अत्यधिक श्रम के कारण स्वामीजी का शरीर बिलकुल गिर गया। यों ही बहुत कमज़ोर हो रहे थे, पेरिस-सम्मेलन की तैयारी ने और भी कमजोर बना दिया। अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा करते हुए जब आप स्वदेश लौटे, तो देह में हड्डियाँ भर रह गयी थीं और इतनी शक्ति न थी कि सार्वजनिक सभाओं में भाषण कर सकें। डॉक्टरों की कड़ी ताकीद थी कि आप कम-से-कम दो साल तक पूर्ण विश्राम करें, पर जो हृदय अपने देशवासियों के दुःख देखकर गला जाता हो, और जिसमें उनकी भलाई की धुन समायी हो, जिसमें यह लालसा हो कि आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल, समृद्ध और आत्मशालिनी आर्य जाति बने, उससे यह कब हो सकता था कि एक क्षण के लिए भी आराम कर सके। कलकत्ते पहुँचते ही, कुछ ही दिन के बाद आप आसाम की ओर रवाना हुए और अनेक सभाओं में वेदांत का प्रचार किया। कुछ तो स्वास्थ्य पहले से ही बिगड़ा हुआ था, कुछ उधर का जलवायु भी प्रतिकूल सिद्ध हुई। आप फिर कलकत्ते लौटे। दो महीने तक हालत बहुत नाजुक रही। फिर बिलकुल तंदुरुस्त हो गये।

इन दिनों आप अक्सर कहा करते थे कि अब दुनिया में मेरा काम पूरा हो चुका, पर चूँकि उस काम को जयारी रखने के लिए जितेंद्रिय, निःस्वार्थ और आत्मबल-सम्पन्न संन्यासियों की अत्यंत आवश्यकता थी, इसलिए अपने बहुमूल्य जीवन के शेष मास आपने अपनी शिष्य-मंडली की शिक्षा और उपदेश मे लगाये। आपका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ाना नहीं है, किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाना है। इन दिनों आप अक्सर समाधि की अवस्था में रहा करते थे और अपने भक्तों से कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय बहुत समीप है। 4 जुलाई, 1902 को यकायक आप समाधिस्थ हो गये। इस समय आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। सबेरे दो घंटे समाधि में रहे थे, दोपहर को शिष्यों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाया था और तीसरे पहर दो घंटे वेदोपदेश करते रहे। इसके बाद टहलने को निकले। शाम को लौटे तो थोड़ी देर माला जपने के बाद फिर समाधिस्थ हो गये और इसी रात को पंचभौतिक शरीर का त्याग कर परमधाम को सिधार गये। यह दुर्बल पार्थिव देह आत्म-साक्षात्कार की दिव्यानुभूति को न सह सकी।

पहले लोगों ने इस अवस्था को समाधि मात्र समझा और एक संन्यासी ने आपके कान में परमहंसजी का नाम सुनाया; पर जब इसका कुछ असर न हुआ, तब लोगों को विश्वास हो गया कि आप ब्रह्मलीन हो गये। आपके चेहरे पर तेज था और अधखुली आँखें आत्मज्योति से प्रकाशित थीं।

इस हृदय-विदारक समाचार को सुनते ही सारे देश में कोलाहल मच गया और दूर-दूर से लोग आपके अंतिम दर्शन के लिए कलकत्ते पहुँचे। अंत में, दूसरे दिन दो बजे के समय गंगातट पर आपकी दाहक्रिया हुई। परमहंसजी की भविष्यवाणी थी कि मेरे इस शिष्य के जीवन का उद्देश्य जब पूरा हो जायेगा, तब वह भरी जवानी

में इस दुनिया से चल देगा। वह अक्षरशः सत्य निकली।

स्वामीजी का रूप बड़ा सुन्दर और भव्य था। शरीर सबल और सुदृढ़ था। वज़न दो मन से ऊपर था। दृष्टि में बिजली का असर था और मुखमंडल पर आत्मतेज का आलोक। आपकी दयालुता की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। कड़ी बात शायद जबान से एक बार भी न निकली हो। विश्वविख्यात और विश्ववंद्य होते हुए भी स्वभाव अति सरल और व्यवहार अति विनम्र था। उनका पांडित्य अगाध, असीम था। अंग्रेज़ी के पूर्ण पंडित और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। संस्कृत-साहित्य और दर्शन के पारगामी विद्वान् और जर्मन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच आदि भाषाओ पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कठोर श्रम तो आपका स्वभाव ही था। केवल चार घंटे सोते थे। चार बजे तड़के उठकर जप-ध्यान में लग जाते। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। भोर में तप-जप से निवृत्त होकर मैदान में निकल जाते और प्रकृति-सुषमा का आनंद लेते। पालतू पशुओं को प्यार करते और उनके साथ खेलते। अपने गुरुदेव की अंत समय तक पूजा करते रहे। स्वर में बड़ा माधुर्य और प्रभाव था।

श्री रामकृष्ण परमहस कभी-कभी आपसे भजन गाने की फ़रमाइश किया करते थे और उससे इतने प्रभावित होते कि आत्मविस्मृत-से हो जाते। मीराबाई और तानसेन के प्रेमभरे गीत आपको बहुत प्रिय थे। वाणी मे वह प्रभाव था कि वक्तृताएँ श्रोताओं के हृदयो पर पत्थर की लकीर बन जातीं। कहने का ढग और भाषा बहुत सरल होती थी; पर उन सीधे-सादे शब्दों मे कुछ ऐसा आध्यात्मिक भाव भरा होता था कि सुननेवाले तल्लीन हो जाते थे। आप सच्चे देशभक्त थे, राष्ट्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने की बात आपसे अधिक शायद ही और किसी के लिए सही हो सकती हो। देशभक्ति का ही उत्साह आपको अमरीका ले गया था। अपने विपद्ग्रस्त राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य तथा दर्शन का गौरव दूसरे राष्ट्रों की दृष्टि मे स्थापित करना, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देना, अपने पीड़ित देशवासियों के लिए जगह-जगह ख़ैरातख़ाने खुलवाना—यह सब आपके सच्चे देशप्रेम के समारक हैं। आप केवल महर्षि ही न थे, ऐसे देशभक्त भी थे, जिसने देश पर अपने आपको मिटा दिया हो। एक भाषण में फरमाते हैं—

"मेरे नौजवान दोस्तो! बलवान बनो। तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे, तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था; किन्तु अर्जुन को दिया गया था, जो बडा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था। कृष्ण भगवान के उपदेश और अलौकिक शक्ति को तुम तभी समझ सकोगे, जब तुम्हारी रगों में खून कुछ और तेज़ी से दौड़ेगा।"

एक दूसरे व्याख्यान में उपदेश देते हैं—

"यह समय आनंद में भी आँसू बहाने का नहीं! हम रो तो बहुत चुके। अब हमारे लिए नरक बनाने की आवश्यकता नहीं। इस कोमलता ने हमें इस हद तक

पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गये हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वह है–लोहे के हाथ-पैर और फौलाद के सारे पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्प शक्ति, जिसे दुनिया की कोई वस्तु रोक नहीं सकती; जो प्रकृति में रहस्यों की हद तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती, चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े। महत्ता का मूल मंत्र विश्वास है–दृढ़ और अटल विश्वास, अपने आप और सर्व शक्तिमान जगदीश्वर पर विश्वास।" स्वामीजी को अपने ऊपर ज़बरदस्त विश्वास था। स्वयं उन्हीं का कथन है–

"गुरुदेव के गले में एक फोड़ा निकल आया था। धीरे-धीरे उसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कलकत्ते के सुप्रसिद्ध डॉक्टर बाबू महेंद्रलाल सरकार बुलाये गये। उन्होंने परमहंसजी की हालत देखकर निराशा जतायी और चलते समय शिष्यों से कहा कि यह रोग संक्रामक है, इसलिए इससे बचते रहो और गुरुजी के पास बहुत देर तक न ठहरा करो। यह सुनकर शिष्यों के होश उड़ गये और आपस में कानाफूसी होने लगी। मैं उस समय कहीं गया हुआ था। लौटा तो अपने गुरुभाइयों को अति भयभीत पाया। कारण मालूम होते ही मैं सीधे गुरुदेव के कमरे में चला गया। वह प्याली, जिसमें उनके गले से निकाला हुआ मवाद रखा हुआ था, उठा ली, और सब शिष्यों के सामने बड़े इत्मीनान से पी गया और बोला, देखो, मृत्यु क्योंकर मेरे पास आती है ?"

स्वामीजी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे, पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किये जाते थे, वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही सम्बन्ध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बधन–यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है, और सभी शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था–अर्थात् श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। यह लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षित-वर्ग उसकी शाखाएँ ! केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो, तो जड़ को सींचना होगा। इसके सिवा इस विषय में आप कठोर शब्दों के व्यवहार को अति अनुचित समझते थे, जिनका फल केवल यही होता है कि जिनका सुधार करना है, वही लोग चिढ़कर ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं। और सुधार का मतलब केवल यही रह जाता है कि निरर्थक विवादों और दिल दुखानेवाली आलोचनाओं से पन्ने-के-पन्ने काले किये जायें। इसी से तो समाज-सुधार के यत्न आरम्भ हुए सौ साल से ऊपर हो चुका और अभी तक कोई नतीजा न निकला।

स्वामीजी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी हैं। पहली यह कि देश और जाति का प्रेम उसका स्वभाव बन गया हो, हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें बसती हो। दूसरी यह कि अपने प्रस्तावित सुधारों पर उसको दृढ़ विश्वास हो। तीसरी यह कि वह स्थिरचित्त और दृढ़ निश्चय हो। सुधार के

परदे में अपना कोई काम बनाने की दृष्टि न रखता हो और अपने सिद्धांतों के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट और हानि उठाने को तैयार हो, यहाँ तक कि मृत्यु का भय भी उसे अपने संकल्प से न डिगा सके। कहते थे कि ये तीनों योग्यताएँ जब तक हममें पूर्ण मात्रा में उत्पन्न न हो जायें, तब तक समाज-सुधार के लिए हमारा यत्न करना बिलकुल बेकार है; पर हमारे सुधारकों में कितने हैं, जिनमें ये योग्यताएँ विद्यमान हों। फरमाते हैं–

"क्या भारत में कभी सुधारकों की कमी रही है ? क्या तुम कभी भारत का इतिहास पढ़ते हो ? रामानुज कौन थे ? शंकर कौन थे ? नानक कौन थे ? चैतन्य कौन थे ? दादू कौन थे ? क्या रामानुज नीची जातियों की ओर से लापरवाह थे ? क्या वह आजीवन इस बात का यत्न नहीं करते रहे कि चमारो को भी अपने संप्रदाय में सम्मिलित कर ले ? क्या उन्होंने मुसलमानों को अपनी मंडली में मिलाने की कोशिश नही की थी ? क्या गुरु नानक ने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था ? इन सब महापुरुषों ने सुधार के लिए यत्न किये और उनका नाम अभी तक कायम है। अतर इतना है कि वे लोग कटुवादी न थे। उनके मुँह से जब निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसी को गाली नही देते थे, किसी की निदा नहीं करते थे। निःसदेह सामाजिक जीवन के सुधार के इन गुरुतर और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की हमने उपेक्षा की है और प्राचीनो ने जो मार्ग स्वीकार किया था, उससे विमुख हो गये हैं।"

सामाजिक सुधार के समस्त प्रचलित प्रश्नों मे से स्वामीजी केवल एक के विषय मे सुधारको से सहमत थे। बाल-विवाह और जनसाधारण की गृहस्थ-जीवन की अत्यधिक प्रवृत्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखते थे, अतः रामकृष्ण मिशन की ओर से जो विद्यालय स्थापित किये गये, उनमे पढनेवालों के माँ-बाप को यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ती है कि बेटे का ब्याह 18 साल के पहले न करेंगे। वह ब्रह्मचर्य के ज़बरदग्न समर्थक थे और भारतवर्ष की वर्तमान भीरुता और पतन को ब्रह्मचर्यनाश का ही परिणाम समझते थे। आजकल के हिन्दुओं के बारे में अक्सर वह तिरस्कार के स्वर मे कहा करते थे कि यहाँ भिखमगा भी यह आकांक्षा रखता है कि ब्याह कर लूँ और देश मे दस-बारह गुलाम और पैदा कर दूँ।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आप कट्टर विरोधी थे। आपका मत था कि "शिक्षा जानकारी का नाम नही है, जो हमारे दिमाग़ मे ठूँस दी जाती है, किन्तु शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरुषार्थ तथा मनोबल का विकास है... अतः हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारी सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का प्रबन्ध हमारे हाथ में हो और उसका सचालन यथासंभव हमारी प्राचीन रीति-नीति और प्राचीन प्रणाली पर किया जाये।"

स्वामीजी की शिक्षा-योजना बहुत विस्तृत थी। एक हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आपका विचार था, पर अनेक बाधाओं के कारण आप उसे कार्यान्वित न कर सके। हाँ, उसका सूत्रपात अवश्य कर गये।

धर्मगत रागद्वेष का तो आपके स्वभाव में कहीं लेश भी न था। दूसरे धर्मों की निन्दा और अपमान को बहुत अनुचित मानते थे। ईसाई धर्म, इसलाम, बौद्ध धर्म सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक भाषण में हज़रत व ईसा को ईश्वर का अवतार माना था। अपने देशवासियों को सदा इस बात की याद दिलाते रहते थे कि आत्मविश्वास ही महत्त्व का मूलमंत्र है। हमें अपने ऊपर बिलकुल भरोसा नहीं। अपने को छोटा और नीचा समझते हैं, इसी कारण दीन-हीन बने हुए हैं। हर अंग्रेज़ समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, साहसी हूँ और जो चाहूँ, कर सकता हूँ। हम हिन्दुस्तानी अपनी असमर्थता के इस हद तक कायल हैं कि मर्दानगी का ख़याल भी हमारे दिलों में नहीं पैदा होता। जब कोई कहता है कि तुम्हारे पुरखे निर्बुद्धि थे, वह ग़लत रास्ते पर चले और इसी कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे, तो हमको जितनी लज्जा होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता, और हमारी हिम्मत और भी टूट जाती है।

स्वामीजी इस तत्त्व को खूब समझते थे और किसी दूषित प्रथा के लिए अपने पूर्व-पुरुषों को कभी दोष नहीं देते थे। कहते थे कि हर एक प्रथा अपने समय में उपयोगी थी और उसकी निंदा करना निरर्थक है। आज हम इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि साधु-समुदाय के अस्तित्व से हमारे देश को कोई लाभ नहीं, और हमारी दान-धारा को उधर से हटकर शिक्षा-संस्थाओं और समाज-सुधार के कार्यों की ओर बहना चाहिए। स्वामीजी इसे स्वार्थपरता मानते थे। और है भी ऐसा ही । साधु कितना ही अपढ़ हो, अपने धर्म और शास्त्रों से कितना ही अनभिज्ञ हो, फिर भी हमारे अशिक्षित देहाती भाइयों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति और मनः समाधान के लिये उसके पास काफी विद्या-ज्ञान होता है। उसकी मोटी-मोटी धर्म-सम्बन्धी बातें कितने ही दिलों में जगह पातीं और कितनों के लिए कल्याण का साधन बनती हैं। अब अगर इनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिसमें उनका काम जारी रहे। पर हम इस दिशा में तो तनिक भी नहीं सोचते और जो रहा-सहा साधन है, उसे भी तोड़-फोड़कर बराबर किया चाहते हैं।

सारांश, स्वामीजी अपनी जाति को आचार-व्यवहार, रीति-नीति, साहित्य और दर्शन, सामाजिक जीवन, उसके पूर्वकाल के महापुरुष और पुनीत भारत भूमि सबको श्रद्धेय और सम्मान्य मानते थे। आपके एक भाषण का निम्नलिखित अंश सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है–

"प्यारे देशवासियो ! पुनीत आर्यावर्त्त के बसनेवालो ! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर-पुरुषों का अधिकार है ? हे भारतनिवासी भाइयो ! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयंती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषो ! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। मैं भारत का रहनेवाला हूँ। हर-एक भारतवासी, चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय सब मेरे भाई हैं। भारतीय मेरा भाई है। भारत मेरा जीवन, मेरा

प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे बचपन का हिंडोला, मेरे यौवन का विलास-भवन और बुढ़ापे का बैकुंठ है। हे शंकर ! हे धरती माता ! मुझे मर्द बना। मेरी दुर्बलता दूर कर और मेरी भीरुता का नाश कर !'

स्वामीजी के उपदेशों का सार यह है कि हम स्वजाति और स्वदेश के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, आत्मबल प्राप्त करें, बलवान और वीर बनें। नीची जातियों को उभारे और उन्हें अपना भाई समझें। जब तक 90 प्रतिशत भारतवासी अपने को दीन-हीन समझते रहेंगे, भारत में एका और मेल का होना सर्वथा असंभव है। हम धर्म में आस्था रखें, पर संन्यासी-विरागी न बनें। हाँ, हम अपने एका के लिए सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहें। हम एक पैसा कमायें, पर उसे अपने सुख-विलास में खर्च न करें, राष्ट्रहित में लगा दें। हिन्दू तत्त्वज्ञान के कर्म-सम्बन्धी अंग का अनुसरण करें। शम, दम और तप, त्याग उन लोगों के लिए छोड़ दें, जिन्हें भगवान ने इस उच्च पद पर पहुँचने की क्षमता प्रदान की है।

स्वामीजी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका धर्म है। उनकी शिक्षा में दुर्बलता और अनुनय-विनय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। उनका वेदांत मनुष्य को सांसारिक दुख-क्लेश से बचाने, जीवन-संग्राम में वीर की भाँति जुटने और मानसिक आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति की समान रूप से शिक्षा देता है।

(उर्दू में : 'जमाना', मई, 1908)
(हिन्दी में : 'कलम, तलवार और त्याग', 1940 में संकलित)

पत्र

जयशंकर प्रसाद को

(1)

हंस कार्यालय,
सरस्वती प्रेस, काशी
24-1-1930

प्रिय प्रसाद जी,

पहले मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं 'कंकाल' पर आपको बधाई दूँ ! मैंने इसे आदि से अन्त तक पढ़ा और मुग्ध हो गया। आपसे मेरी जो पुरानी शिकायत थी, वह बिल्कुल मिट गयी। मैंने एक बार आपकी पुस्तक 'समुद्रगुप्त' (यह पुस्तक 'स्कन्दगुप्त' थी—गोयनका) की आलोचना करते हुए लिखा था कि आपने इसमें गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। इस पर मुझे काफ़ी सज़ा भी मिली थी, पर जो लेखनी वर्तमान समस्याओं को इतने आकर्षक ढंग से जनता के सामने रख सकती है, इस तरह दिलों को हिला सकती है, उसे, फिर वही बात मेरे मुँह से निकलती है, क्षमा कीजिए, पूर्वजों की कीर्ति का भविष्य के निर्माण में भाग होता है और बड़ा भाग होता है, लेकिन हमें तो नये सिरे से दुनिया बनानी है। अपनी किस पुरानी वस्तु पर गौरव करें ? वीरता पर ? दान पर ? तप पर ? वीरता क्या थी ? अपने ही भाइयों का रक्त बहाना। दान क्या था ? एकाधिपत्य का नग्न नृत्य और तप क्या था ? वही जिसने आज कम-से-कम 80 लाख बेकारों का बोझ हमारी दरिद्र जनता पर लाद दिया है। अगर 5 रु. प्रतिमास भी एक साधु की जीविका पर खर्च हो तो लगभग 20 करोड़ हमारी गाढ़ी कमाई के उसी पुराने तप के आदर्श की भेंट हो जाते हैं। किस बात पर गर्व करें ? वर्णाश्रम धर्म पर, जिसने हमारी जड़ खोद डाली ? 'कंकाल' में एक समाज के सच्चे हितैषी की आँखों का गर्म, बड़ी-बड़ी बूँदों वाला आँसू है। घंटी और यमुना दोनों का क्या कहना ! मैं 'हंस' में इसकी बृहद् आलोचना करूँगा।

'हंस' का नाम आ गया। आपसे उसके लिए कुछ याचना करूँ ? मैं छोटे-छोटे 'कंकाल' चाहता हूँ या कोई उपन्यास हो तो वह भी बड़े प्रेम और आदर से प्रकाशित करूँगा। काशी से कोई साहित्य की पत्रिका न निकलती थी। काशी के लोगों के क़लम से दूसरे नगरों को फ़ैज पहुँचता है और काशी में सन्नाटा ! मस्जिद में दीया जले और घर में अँधेरा ! मैं धनी नहीं हूँ, मज़दूर आदमी हूँ, लेकिन काशी का यह

अभाव मुझे लज्जास्पद जान पड़ा और मैंने 'हंस' निकालने का निश्चय कर लिया। धन तो आपसे अभी नहीं माँगता, शायद कभी वह भी माँगूँ, लेकिन आपकी लेखनी की विभूति अवश्य माँगता हूँ। होली तक पत्र निकाल देना चाहता हूँ। सबसे पहला हक़ काशी का है। इसे ख़्याल रखिए। पत्र का इन्तज़ार कर रहा हूँ।

भवदीय,
धनपतराय

(2)

अजन्ता सिनेटोन लि.,
बम्बई-12
1-10-1934

प्रिय भाई साहब,

बन्दे !

मैं कुशल से हूँ और आशा करता हूँ आप भी स्वस्थ हैं और बाल-बच्चे मजे में हैं। जुलाई के अन्त में बनारस गया था, दो दिन घर से चला कि आपसे मिलूँ, पर दोनों ही दिन ऐसा पानी बरसा कि रुकना पड़ा। जिस दिन बम्बई आया हूँ, सारे रास्ते भर भीगता आया और उसका फल यह हुआ कि कई दिन खाँसी आती रही।

मैं जब से यहाँ आया हूँ, मेरी केवल एक तस्वीर फ़िल्म हुई है। वह अब तैयार हो गयी है और शायद 15 अक्टूबर तक दिखायी जाय। तब दूसरी तस्वीर शुरू होगी। यहाँ की फ़िल्म-दुनिया देखकर चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। सब रुपये कमाने की धुन मे हैं, चाहे तस्वीर कितनी ही गन्दी और भ्रष्ट हो। सब इस काम को सोलहों आना व्यवसाय की दृष्टि से देखते हैं, और जन-रुचि के पीछे दौड़ते हैं। किसी का कोई आदर्श, कोई सिद्धान्त नहीं है। मैं तो किसी तरह यह साल पूरा करके भाग आऊँगा। शिक्षित रुचि की कोई परवाह नहीं करता। वही औरतों को उठा ले जाना, बलात्कार, हत्या, नक़ली और हास्यजनक लड़ाइयाँ सभी तस्वीरों में आ जाती हैं। जो लोग बड़े सफल समझे जाते हैं, वे भी इसके सिवा और कुछ नहीं करते कि अंग्रेजी फ़िल्मों के सीन नक़ल कर लें और कोई अण्ट-सण्ट कथा गढ़कर उन सभी सीनों को उसमें खींच लायें।

कई दिन हुए मि. हिमांशु राय से मुलाक़ात हुई। वह मुझे कुछ समझदार आदमी मालूम हुए। फ़िल्मों के विषय में देर तक उनसे बातें होती रहीं। वह सीता पर कोई नयी फ़िल्म बनाना चाहते हैं। उनकी एक कम्पनी क़ायम हो गयी है और शायद दिसम्बर से काम शुरू कर दें। सीता पर दो-एक चित्र बन चुके हैं, लेकिन उनके

ख़्याल में अभी इस विषय पर एक अच्छे चित्र की माँग है। कलकत्ता वालों की 'सीता' कुछ चली नहीं मैंने तो नहीं देखा, लेकिन जिन लोगों ने देखा है उनके ख़्याल में चित्र असफल रहा। अगर आप सीता पर कोई फ़िल्म लिखना चाहें तो मैं हिमांशु राय से जिक्र करूँ! मेरे ख़्याल में सीता का जितना सुन्दर चित्र आप खींच सकते हैं, दूसरा नहीं खींच सकता। आपने तो 'सीता' देखी होगी। उसमें जो कमी रह गयी है, उस पर भी आपने विचार किया होगा। आप उसका कोई उससे सुन्दर रूप खींच सकते हैं तो खींचिए। उसका स्वागत होगा।

प्रेस का हाल आपको मालूम ही है। मैंने 'जागरण' बन्द कर दिया। घाटा तो मेरे सामने ही कम न था, पर इधर उसकी बिक्री बहुत घट गयी थी। अब मैं 'हंस' को सुधारना चाहता हूँ। जैसी कि आपसे कई बार बातचीत हो चुकी है, इसका दाम 5 रु. कर देना चाहता हूँ और 100 पृष्ठ का मैटर देना चाहता हूँ। मगर अभी साल भर पाबन्दी के साथ वक़्त पर निकालकर पाठकों में विश्वास पैदा करना पड़ेगा। 'जागरण' के कारण इसकी ओर ध्यान देने का अवसर ही न मिलता था। अब कोशिश करूँगा कि इसकी सामग्री इससे अच्छी रहे, कहानियों की संख्या अधिक हो और बराबर वक़्त पर निकले। आप अक्टूबर के लिए एक कहानी लिखने की अवश्य कृपा कीजिए। हाँ, मैंने 'तितली' नहीं देखी। उसकी एक प्रति भिजवा दीजिएगा।

मेरा स्वास्थ्य तो कभी अच्छा न था, अब और खराब हो रहा है। क़ब्ज की शिकायत बढ़ती जाती है। सुबह को सोकर उठता हूँ तो कमर बिल्कुल अकड़ी रहती है। सीधा खड़ा नहीं हो सकता, झुकना तो दूर रहा। पेट में वायु भरी रहती है, जब दो-तीन मील चल लेता हूँ तो वायु कम हो जाती है, कमर सीधी होती है और तब शौच जाता हूँ। मेरा विश्वास होम्योपैथी पर ही है, पर यहाँ होम्योपैथी को कोई नहीं जानता। दो-एक डॉक्टर हैं तो वे मेरे घर से छः मील पर रहते हैं जहाँ जाना मुश्किल है। यदि आप डॉक्टर सिन्हा से कोई चीज़ तज़वीज़ कराके मेरे पास वी. पी. द्वारा भिजवा दें तो आपका थोड़ा-सा एहसान मानूँगा, अगर आपकी इच्छा होगी। अपनी जो तरकीबें थीं, उनको आज़मा कर हार गया। वजन भी दो पौण्ड घट गया है। जो देखता है पूछ बैठता है– आप बीमार हैं क्या ? एक बड़े डॉक्टर से कंसल्ट किया। उसने कोयले का बिस्कुट खाने की सलाह दी। एक टिन खा गया, कोई लाभ न हुआ। हींग, अजवाइन, सोंठ सब देख चुका हूँ। कभी-कभी तो रात को नींद खुलती है तो कमर में दर्द होता पाता हूँ और लेटना तकलीफ़देह हो जाता है। तब कमर पकड़कर धीरे-धीरे टहलता हूँ। आप डॉक्टर साहब से ज़रूर कुछ भिजवाइए।

और क्या लिखूँ ? बम्बई सुन्दर है, अगर स्वास्थ्य ठीक हो, ज़्यादा महँगा भी नहीं, बहुत-सी चीज़ें तो वहाँ से भी सस्ती हैं। चमड़े की चीज़ें, कम्बल, विलायती सामान वहाँ से बहुत सस्ता। बिजली 4 आने यूनिट। खाने-पीने की चीज़ों में भी घी और मक्खन खराब, दूध बुरा नहीं शाक-भाजी सस्ती और इफ़रात। आप चार पैसे में मीठा अभी तक ले लीजिए। सन्तरे रुपये के बीस पच्चीस, केले बहुत सस्ते,

मटर वहाँ के सेर से 4 आने सेर। यहाँ सेर केवल सात गण्डे का है।

शेष कुशल है। गौड़ जी से मेरा आदाब अर्ज कहिएगा। चक्कर तो लगते ही होंगे। और मेरी तरफ से और अपनी तरफ़ से भी 'हंस' के अक्टूबर-नवम्बर के लिए कोई हँसाने वाली चीज़ लिखने के लिए आग्रह–

भवदीय
धनपतराय

जैनेन्द्र कुमार को
(1)

नवल किशोर प्रेस,
प्रकाशन विभाग,
लखनऊ।
17 दिसम्बर 1930

प्रिय जैनेन्द्र जी,

बंदे ! पत्र मिला। वाह ! आपने कहानी लिख दी होती तो क्या पूछना। मैंने तो इस वजह से नहीं कहा था कि आपको कष्ट पर कष्ट क्या दूँ। अभी तक समय है, हालाँकि छपाई शुरू हो गयी है। पर आप की कहानी मिल जाती तो आखिर वक़्त भी दे देता। क्या अब भी मुश्किल है ?

'परख' की आलोचना मैं 'माधुरी' या 'हंस' में करूँगा। मेरे पास दो प्रतियों में से एक भी नहीं बची। एक तो जेल भेज दी थी दूसरी एक महिला ले गयीं और अभी तक लौटा रही हैं। इसलिए उसका असर जो दिल पर पड़ा था वही लिखूँगा। 'गढ़ कुंडार' तो नयी चीज़ है, मगर मेरा मन उसके पढ़ने में न लगा। दो एक चरित्रों का चित्रण उसमे अच्छा हुआ है। उनकी आलोचना भी करूँगा।

'गबन' अभी तैयार नहीं हुआ। तीन सौ पृष्ठ छप चुके हैं। अभी एक सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली निभाये जाता हूँ। कथा को बीच में शुरू करना या इस तरह शुरू करना कि उसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाये मेरे लिए मुश्किल है। पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूँगा, पर इस तरह जिस तरह पड़ा हुआ धन मिल जाय। आप या प्रसाद जी पा जायें तो मुझे समान हर्ष होगा। आपको ज़्यादा ज़रूरत है इसलिए ज़्यादा खुश हूँगा।

पुत्र मुबारक। ईश्वर चिरायु करे। या यों कहूँ, चिरायु हो। मैं तो पुराने ख़याल का आदमी हूँ। दो पुत्रों तक तो बधाई दूँगा, इसके बाद ज़रा सोचूँगा।

'हंस' और 'माधुरी' दोनों ही यथास्थान भेज दी जायेंगी। 'शराबी' और 'गढ़ कुंडार' दोनों ही की एक-एक प्रति मिली थी। वे दोनों भी मैंने पढ़कर जेल भेज

दीं। अब तो उनके आने पर किताबें वापस होंगी। आख़िर आप कब तक आयेंगे। 'माधुरी' में दो में से एक भी आलोचना के लिए नहीं आयी।

अब आपके उस प्रश्न का जवाब कि 'परख' को मैं प्रसाद स्कूल के निकट क्यों समझता हूँ। मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता, आपने ही एक बार 'प्रसाद स्कूल', 'प्रेमचन्द स्कूल' की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है, मगर वह अन्तर कहाँ है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता। आपकी शैली में स्फूर्ति–सजीवता कहीं अधिक है। चुटकियां, चुलबुलापन कहीं अधिक है। प्रसाद जी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नही है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ। आपसे मिलने पर 'परख' के विषय में बातें होंगी–तब तक गबन भी तैयार हो जाये।

आशा है आप प्रसन्न होंगे।

भवदीय–
धनपतराय

पी. एस. : अगर हो सका तो मैं 'शराबी', 'गढ़ कुंडार' और 'कंकाल' तीनों ही किसी तरह मँगवाकर भेजूँगा। समालोचना अवश्य कीजियेगा, 'हंस' के लिए।

(२)

186, सरस्वती सदन, दादर,
बम्बई-14,
7 फरवरी, 1935

प्रिय जैनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। हाँ, इधर मैंने तुम्हें कोई पत्र न लिखा। ऋषभ जी आये थे। उनसे तुम्हारी ख़ैरियत का हाल मिल गया था। कुछ ऐसा व्यस्त तो नहीं रहता। हाँ, काम नहीं करता। सात बजे उठता हूँ। साढ़े आठ पर घूमकर आता हूँ। नाश्ता करता हूँ। नौ बजे अख़बार पढ़ता हूँ। कभी घण्टा भर कभी इससे ज़्यादा समय लग जाता है। कभी कोई मिलने आ जाता है। ग्यारह बज जाता है। नहा-खाकर स्टूडियो जाता हूँ। कुछ काम हुआ तो किया नहीं उपन्यास पढ़ा। पाँच बजे लौटता हूँ। हिन्दी के पत्रों-पत्रिकाओं को उलटता-पलटता हूँ। चिट्ठी-पत्र लिखता हूँ, खाना हूँ, और सो जाता हूँ। यही दिनचर्या है। एकाध कहानी महीने में लिखता हूँ और दो-एक पृष्ठ के नोट 'हंस' के लिए। बस।

'मज़दूर' तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता। इसके बाद एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मज़दूर' में भी मैं इतना थोड़ा-सा आया हूँ कि नहीं

के बराबर। फ़िल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, मैं जनरुचि को जानता हूँ।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर ज़ोर से कहता है, आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है और हम जनता की इसलाह करने नहीं आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज़ जनता माँगेगी, वह हम देंगे। इसका जवाब यही है... 'अच्छा साहब! हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अंत में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को संतोष नहीं मिला। संतोष डाइरेक्टरों को भी नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख़ मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो, इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानते हैं और न उर्दू। अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मज़े की है। जो चाहा लिखा।

'हंस' बदस्तूर चला जाता है। जून से अब तक 800 रु० प्रेस की नज़र कर चुका हूँ। व्यापार जानता नहीं, खोल बैठा दुकान, घाटा आप होगा। न किसी ऐसे आदमी का सहयोग ही पा सका जो व्यापार जानता हो।

ऋषभ जी आये थे। वह ऐसी कोई आयोजना बना रहे हैं जिसमें तुम, हम वह और अन्य लोग मिलकर एक लिमिटेड फ़र्म बना लें। ऐसे ही एक सज्जन कहते हैं, मैं अपनी दुकान उठाकर प्रयाग लाऊँ। मेरी समझ में कुछ नहीं आता। जैसे चलता है वैसे चला जाता हूँ।

लेखक संघ की नियमावली तुम्हें मिली होगी। काम की बात कोई नहीं। सहयोग सिद्धांत पर प्रकाशन किया जाय और साहित्य का प्रचार बढ़ाया जाय तभी लेखकों को रोटी मिल सकती है। जब तक प्रचार नहीं बढ़ता, न प्रकाशक ही पनप सकेगा, न लेखक ही। मगर कोपरेटिव पब्लिकेशन के लिए धन कहाँ है। अगर संघ यह न कर सके तो कुछ न कर सकेगा।

तुम्हारी कई चीज़ें पढ़ीं। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' तो हाल में पढ़ा है। वह दिमाग में है। पुरानी शराब चमकदार शीशी में ज़्यादा मोहक हो गयी है। मगर वह औरत घर क्यों चली गयी, यह मेरी समझ में नहीं आया। शायद वह बे पढ़ी-लिखी थी। मगर बे पढ़ी-लिखी औरतों को समय काटने का रोग नहीं होता। यह रोग तो उन अंग्रेजी या नयी रोशनी की देवियों को है, जिनके लिए जीवन में रात-दिन कुछ न कुछ कंपन और सनसनी चाहिए, जो क्षण भर भी घर में नहीं बैठ सकतीं। अगर

इस तरह सभी औरतों का समय काटना दूभर हो जाय और मनमोदन की बैरिस्टरों की दुनिया में कमी है ही नहीं , तब तो सभी आत्माएँ विश्वात्मा में मिल जायँ और कहीं वह (मर्यादा) रहे ही नहीं जो मनुष्य को मनुष्य बनाये हुए है। खुलासा यह है कि इस कहानी का क्या मतलब है, यह मैं न समझ सका। शायद कोई मतलब समझने की बात ही मेरी भूल है। एक युवती के मनोभावों का गहरा सजीव चित्रण है। बस।

मद्रास गया था, वहाँ से मैसूर और बंगलौर भी गया। अपना यात्रा-वृतांत लिख रहा हूँ। कुछ नोट तो किया नहीं। जो कुछ याद है वही लिखता हूँ। हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है, यह देखकर ख़ुशी हुई । जो लोग राष्ट्र की ओर कोई सेवा नहीं कर सकते, वे इसी ख़याल में मगन हैं कि वे राष्ट्र भाषा सीख रहे हैं। मुझे वह प्रदेश बड़ा सुन्दर लगा। गाने-बजाने का घर-घर प्रचार है। मोहल्ले-मोहल्ले स्त्रियों के समाज हैं और प्रायः सभी में हिन्दी की क्लासेज़ हैं। मैं बुद्धू की तरह माला पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक़्त मालूम हुई। जनता समझती है कि हिन्दी का एक बड़ा लेखक है; जाने क्या-क्या मोती उगलेगा और यहाँ है कि कुछ समझ में नहीं आता क्या कहूँ ! खैर, ट्रिप अच्छा रहा। प्रेम जी भी साथ थे। वे बेचारे भी इसी मरज़ में मुबतिला हैं।

और क्या लिखूँ, मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है, जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाकात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। स्टूडियो गये घर आ गये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस। भगवती देवी को मेरा आशीर्वाद कहना।

तुम्हारा–
धनपतराय

(3)

हंस कार्यालय, बनारस।
24 दिसम्बर, 1935

प्रिय जैनेन्द्र,

'सुनीता' पढ़ गया। आधी दूर तक तो कुछ रस न आया, लेकिन पिछला आधा सुंदर है। नारीत्व का जो आदर्श तुमने रखा है, वही सच्चा आदर्श है। नारी केवल गृहिणी क्यों हो , गृहिणी से अलग भी उसका जीवन है। अगर उसमें गृहिणीत्व से आगे बढ़ने की सामर्थ्य है तो वह क्यों न आगे बढ़े। सुनीता के मन में इस नये क्षेत्र में आने से जो संघर्ष हुआ है, वह उसके रक्त में सने हुए गृहिणी जीवन के अनुकूल

है। मगर तुम्हारा हरिप्रसन्न् अंत में जाकर मुझे कुछ... होता जान पड़ता है। शायद मुझे भ्रम हो। लेकिन श्रीकान्त से छिपकर वह कृत्य क्यों किया गया ? इसमें मुझे नैतिक दुर्बलता का भय होता है। श्रीकान्त की पूरी अनुमति से यह काम किया जा सकता था। श्रीकान्त जैसा उदारचेता मनुष्य सुनीता के इस नये मार्ग में बाधक न होता और होता तो सुनीता को अपने निश्चय पर दृढ़ रहना और उसके नतीजे (बर्दाश्त कर) लेना चाहिए था। हरिप्रसन्न ने सुनीता को Seduce किया, कुछ ऐसा भासित होता है। सुनीता ध्वजाधारिणी बने, इसमें कोई हर्ज़, नहीं वह गौरव की बात है। उसके लिए भी और देश के लिए भी। लेकिन हरिप्रसन्न के मन में यह कुत्सित भावना क्यों ? ध्वजाधारिणी के पद से गिराकर उसे व्यभिचारिणी के पद पर क्यों लाना चाहता है ? अगर सुनीता विवाहित न होती, अगर यह प्रेम सत्या के साथ निभाता तो कोई बात न थी। लेकिन जब श्रीकान्त और सुनीता में एक मुआहिदा हो चुका है और वह मुआहिदा उसे स्वीकार है तो फिर यह व्यवहार क्यों ? अगर सुनीता हरिप्रसन्न को जी से चाहती है, तो उसे अपने पति से स्वयं कह देना चाहिए था। यह धोखा और फ़रेब क्यों ? मगर सुनीता कहीं भी हरिप्रसन्न को चाहती नहीं दिखायी दी। विद्रोह या असंतोष की वहाँ गंध भी नहीं फिर वह क्यों हरिप्रसन्न के सामने इस तरह नत हो जाती है। क्या हरिप्रसन्न का Personal Magnetism उस पर असर करता है। अगर ऐसा है तो यह भी हरिप्रसन्न की नीचता और लापरवाही है, मित्र के साथ दग़ा है। उस मित्र के साथ जो उसे अपने भाई से भी प्रिय रखता हो ? क्रान्तिकारी नीति में विवाह हेच वस्तु हो सकती है। मगर इस सामाजिक (बंधन) का महत्त्व क्यों भूल जायँ। स्त्री पत्नी रहते हुए भी अभिनेत्री बन सकती है, और अगर पति दुराचार करे तो उसे लेकर मार सकती है। लेकिन इस तरह एक युवक के पंजे में फँस जाना न उस क्रांतिकारी युवक को शोभा देता है न नारी को।

अगर मेरे समझने में ग़लती हो तो सुधार देना।

मेरे 'कर्मभूमि' का उर्दू एडिशन जामिया मिल्लिया ने निकाला है।

हो सके तो काशी नम्बर 'हंस' के लिए कुछ लिखना।

तुम्हारा–
धनपतराय

दयानारायण निगम को

(1)

बनारस
जून, 1905

बरादरम,

अपनी बीती किससे कहूँ। ज़ब्त किये-किये कोफ़्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशरा काटा था कि ख़ानगी तरद्दुदात का ताँता बँधा। औरतों ने एक दूसरे

को जली-कटी सुनायी । हमारी मखदूमा[1] ने जल-भुन कर गले में फाँसी लगायी। माँ ने आधी रात को भाँपा, दौड़ीं, उसको रिहा किया। सुबह हुई, मैंने ख़बर पायी, झल्लाया, बिगड़ा, लानत-मलामत की। बीवी साहिबा ने अब ज़िद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी। मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था। नाचार खेत का मुनाफ़ा वसूल किया, उनकी रुख़सती की तैयारी की। वह रो-धोकर चली गयीं। मैंने पहुँचाना भी पसन्द न किया। आज उनको गये आठ रोज़ हुए, न ख़त है न पत्तर। मैं उनसे पहले ही खुश न था, अब तो सूरत से बेज़ार हूँ। ग़ालिबन अबकी की जुदाई दायमी[2] साबित हो। खुदा करे ऐसा ही हो। मैं बिला बीवी के रहूँगा। बिल्ली बख़्शे, मुर्ग़ा लँडूरा ही रहेगा। उधर ननिहाल से वालिदा की तरफ़ से ज़िद है कि ब्याह रचे और ज़रूर रचे। जब कहता हूँ मैं मुफ़लिस हूँ, कंगाल हूँ, खाने को मयस्सर नहीं, तो वालिदा साहिबा कहती हैं, तुम अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर करो, तुमसे एक कौड़ी न माँगी जायेगी। सुनता हूँ बीवी हसीन है, बाशऊर है, जेब से ख़र्चने बग़ैर मिली जाती है, फिर तबीयत क्यों न भुरभुराये और गुदगुदी क्यों न पैदा हो! ईश्वर जानता है, दो-तीन दिन उसका ख़्वाब भी देख चुका हूँ। बहरहाल, अबकी तो गला छुड़ा लूँगा। आइंदा की बात नारायण के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी, वैसा करूँगा। इस बारे में अभी फिर मशवरा करने की ज़रूरत बाक़ी है।

रुपये आपने रवाना किये, पहुँचे। ख़त से रूह को मसर्रत[3] हासिल हुई। तीन बार से कम न पढ़ा होगा। किताबें और अख़बार पहुँचे। उर्दूए मुअल्ला हस्बे मामूल पस्त हैं।

ज़माना की छपाई अबकी दो-एक मज़मून की न बनी। लखनऊ और कानपुर की किताबत में साफ़ फ़र्क़-नज़र आता है। छपाई की सफ़ाई लिखाई के ऐब को नहीं मिटा सकी। मगर वक़्त से पर्चा निकले तो यह सब वागुजाश्तें[4] काबिले मुआफ़ी है। अगर देर ही में निकलना है तो अपनी खूबियों में क्यों बट्टा लगाये। जून का पर्चा निकलते ही दस जिल्दें मय चार-पाँच अप्रैल की कापी के रवाना कीजिए। उनके पहुँचते ही ईजानिब रवाना होंगे। फ़ेहरिस्त आपके पास पहुँची होगी। शायद इतमीनान के क़ाबिल भी हो। जी तो चाहता था कि 50 ख़रीदारों के नाम यकबारगी लिखता मगर फ़िलहाल 16 ही पर क़नाअत की। उनके नाम पर्चे भेज दीजिए।

धोती-कुर्ता अपने तोशेख़ाने में रहने दीजिए, यहाँ भेजने की ज़रूरत नहीं, मेरा काम चल रहा है। सफ़र ग़ाजीपुर, आज़मगढ़, बलिया, गोरखपुर और बनारस का करूँगा। बनारस ही में पन्द्रह-बीस ख़रीदार हो जायेंगे। ज़रा तबीयत ठिकाने हो जाये, तो काम शुरू करूँ। गर्मी की कुछ कैफ़ियत न पूछिए। कहलाने को तो साहबे मकान[5] हूँ और ख़ुदा के फ़ज़ल से मकान भी सारे गाँव का महसूद[6] मगर रहने क़ाबिल एक कमरा भी नहीं। कोठे पर आग बरसती है। बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला। नीचे के कमरे सब गंदे। परीशान। किसी में बैल बँधता है, किसी में उपले

---

1 स्वामिनी 2 स्थायी 3 खुशी 4. भूल-चूक 5. मकान मालिक 6. ईर्ष्याका पात्र

जमा हैं, कहीं अनाज का ढेर है, किसी में जाँत, चक्की, ओखली, मूसली वगैरह जुलूसफर्मा है। कोई बैठे कहाँ, सोए कहाँ। मजबूरन अनाज के घर में एक चारपाई की जगह निकाल ली है। उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूँ। अकेले घूमने कहाँ जाऊँ। बच्चे तीन-चार दिन के लिए आये थे। हमारी मख़दूमा को पहुँचाने के लिए बस्ती गये। वहाँ से अपने वालिद के पास चले जायेंगे। इस गर्मी में कैसा पढ़ना कैसा लिखना। सुबह के वक़्त घंटा आध-घंटा वर्क़गरदानी[1] पन्ने पलटना कर लेता हूँ, बाक़ी रात-दिन मैं हूँ और चारपाई। सुलक्कड़ बड़ा हूँ, मगर नींद भी कुछ मेरे घर की लौंडी नहीं। उस पर तरददुद अलग। कहाँ हँसी-मज़ाक़ में दिन कटता था, कहाँ चुप की मिठाई या गूँगे का गुड़ खाकर बैठना पड़ता है। अजब ज़ीक़[2] मुसीबत मे जान मुबतिला है। भाई जल्दी से छुट्टी कटे और फिर यारों के जलसे और चहचहे-क़हक़हे हों। कोई बीस दिन से ज़्यादा गुज़रे, मगर क़सम ले लो जो ज़बान से प्यारा लफ़्ज 'बंबूक' एक बार भी निकला हो।

अधबीच में छोड़नेवाले और होंगे। यहाँ तो जब एक बार बाँह पकडी तो जिन्दगी पार लगा दी। नौबत राय न आये। क्या जहाँ मुर्गा न होगा वहाँ सुबह न होगी। एडिटोरियल मैं सब कर लूँगा। ख़तो-किताबत जो मुआमले की है। वह मैं कर लूँगा। खास एडीटर की तवज्जो के क़ाबिल जो ख़ुतूत होंगे वह ख़िदमते शरीफ में पेश होंगे। और काम करने का बन्दोबस्त होना जरूरी है। लेबल छपा लेगे। आने का वक़्त आयेगा तो मशवरा हो रहेगा। जान गाढ़े मे न डालो। हिम्मते मर्दा मददे ख़ुदा। हिम्मते एडीटराँ, मददे दोस्ताँ। हाँ, यह एलान करना ज़रूरी होगा कि नवाब राय स्टाफ में दाख़िल हो गये। बस। बाबू राम नारायण का क्या हश्र हुआ ? मैं उनको छोड़ आया था। कमसिया है या ग़ायब हो गया। बाबू रामसरन से प्यार और सलाम कहियेगा। यार, गज़ट निकले तो झटपट इत्तला देना।

(अंग्रेज़ी मे) कुछ लेटर पेपर और लिफ़ाफ़े भी।

(2)

महोबा

(तिथि नहीं है। अनुमानतः

सितम्बर सन् 13 मे लिखा गया।)

मकर्रम बन्दा,

तसलीम। इताबनामा,[3] जिसे आपका इनायतनामा,[4] कहना चाहिए, वसूल हुआ। कई दिन हो गये। सोचता रहा किन लफ़्जों में जवाब दूँ। कैसे गुस्सा ठंडा करूँ। कुछ अक्ल ने काम न किया। न शेर ओ शायरी से मस है कि दो चार बढ़िया शेर चस्पां कर दूँ। बिल आख़िर दिल ने यही फैसला किया कि तुम ख़तावार हो। मिज़ाज़े यार[1] में जो कुछ आये कहने दो, और जबान बंद किये सुने

1. पन्ने उलटना 2 मुसीबत3. गुस्से का पत्र, 4. कृपा पत्र,

जाओ। यह कहना कि मैं बेखता हूँ, गालिबन आपके नजदीक कोई मानी नहीं रखता, क्योंकि आपका गुरूर है कि आपके चंद अज़ीज़ भी मुलाज़िमे सरकार हैं, और आप क़वाइद[2] से वाकिफ़ हैं। मगर मुआफ़ कीजियेगा। अगर मैं अर्ज़ करूँ कि आपने अपनी उम्र का सबसे बेशवहा हिस्सा मेरी तरह सरकारी मुलाज़मत में सर्फ़ किया होता तो आप इतनी बेखौफी से यह अल्फाज न लिखते। मैंने रूख़सत लेने में कोई दक़ीक़ा[3] नहीं छोड़ा दो दर्ख़्वास्तें दीं, तार दिया। दर्ख़्वास्तें दोनों बाद अज़ वक़्त[4] दी गयीं और दोनों मेरे पास रक्खी हुई हैं। बेशक़ मैंने मेडिकल सर्टिफ़िकेट देने की कोशिश नहीं की, लेकिन मुझे यहाँ इसके मिलने की उम्मीदी भी न थी। यह इलज़ाम कि दर्ख़्वास्तें क्यों बाद अज़ वक़्त दी गयीं मेरे सर ज़्यादा से ज़्यादा 10 से है, क्योंकि मेरे पहले हफ़्तए क़याम कानपुर में तो आपने रोज़ाना वग़ैरह का कोई डाइरेक्ट तज़किरा नहीं किया। ज़िक्र किया तब जब मेरी रुख़सत ख़तम होने को आयी, और फ़ैसला उस वक़्त हुआ जब कुल तीन दिन रह गये। ऐसी हालत में मेरे जैसे ज़राये[5] का आदमी बजुज इसके और क्या कर सकता था कि रुखसत लेने की कोशिश बहदे इमकान[6] करे और न मिल सके तो मजबूरन व लाचारन अपनी नौकरी पर वापस आ जाये। आप ही फ़रमाइए मुझे क्या गरज पड़ी थी, क्या दबाव था कि मैं पहले काम शुरू कर देता और तब भाग खड़ा होता। आपने मेरा गला नहीं दबाया था, और न दबा सकते थे। आपने मुझे कोई सैक्रिफ़ाइस करने पर मजबूर नहीं किया, न मैंने कोई सैक्रिफ़ाइस की। मेरा माली फ़ायदा था। फिर ऐसा कौन अम्र था जो मेरी बेदिली का बाइस होता। हमीरपुर में मैं ऐसे वक़्त पहुँचा जब मेरी रुख़सत तमाम होनेवाली थी। मैं 13 की शाम को चला और इतवार का दिन। डिप्टी इन्सपेक्टर दौरे पर। ग़रज़ हमीरपुर में ऐसा कोई शख़्स न था जिससे मैं सलाह-मशवरा ले सकता क्योंकि हमीरपुर में मेरे जाननेवाले गिनती के आदमी भी नहीं हैं। यहाँ भागा, और चार्ज लेने में तब भी एक दिन की देर हो गयी जिसका जवाब मुझको देना पड़ा। यह है मेरा बयान हलफ़ी।

अब दूसरे पहलू पर नज़र कीजिए। आपको मेरे भाग निकलने पर नाराज़ होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि जैसा अख़बार आप चाहते हैं वह कम तनख़्वाह और सर्फ़े में निकल सकता है और निकल रहा है। मालूम नहीं इसकी इशाअत क्या है, लेकिन मुझे यक़ीन है कि इसकी वह हैसियत क़ायम है। एक मामूली सेहत और मामूली लियाक़त का आदमी ऐसा अख़बार निकाल सकता है जिसमें बहुत-सा ओरीजिनल न लिखना पड़े। मालूम नहीं आपने रोज़ाना आज़ाद का क्या इन्तज़ाम किया। न मुझे पूछने का कोई हक़ हासिल है। लेकिन यक़ीनन हस्ब-दिलख़्वाह[7] कोई-न-कोई इन्तज़ाम ज़रूर हो गया होगा। और 18 अक्तूबर से तो उसकी दिलचस्पी के लिए किसी मजीद[8] मसाले की ज़रूरत ही बाक़ी न रहेगी। आप और अगर ज़्यादा नहीं

1 यार की तबियत, 2 क़ायदों 3 क़सर 4 वक़्त के बाद 5 ज़रियों, साधनों 6. सामर्थ्य भर
7. मनोनुकूल 8. अतिरिक्त

तो यही ख़याल करके मुझे मुआफ़ कीजिए कि रोज़ाना अख़बार की आरज़ू को अमली सूरत में लानेवाला यही शख़्स है। गाड़ी का पहिया पहले मुश्किल से चलता है और एक बार चल निकला तो चल निकला।

प्रेम पचीसी ग़ालिबन अब हश्र तक न छप सकेगी, क्योंकि रोज़ाना अख़बार की ज़रूरियात कब प्रेस को ख़ामोश बैठने देंगी।

मैं आपसे अर्ज़ कर चुका हूँ मेरे 'आज़ाद' और 'ज़माना' के मज़ामीन के मुताल्लिक़ कुल 72 रु. आते हैं। 56 रु. पहले थे, इन दो ताज़ा क़िस्सों की उजरत शामिल करके 72 रु. हो जाते हैं।

आपने फ़रमाया था कि प्रेम पच्चीसी 4 ½ जुज्ब[1] छप चुकी है और इसके अख़राजात मय किताबत काग़ज़ वग़ैरह 72 रु. हुए हैं। गोया हमारा और आपका हिसाब यहाँ तक साफ़ है। अब अगर आप पच्चीसी को निकालना पसंद करें और आप निस्फ़[2] नफ़े-नुक़सान में शरीक़ हों तो 4 ½ जुज्ब और छपवाइए, ताकि 9 जुज्ब की एक खासी किताब हो जायेंये। गालिबन इस 9 जुज़्ब में 12 कहानियाँ आ जायेंगी। अगर मेरी तरतीब[3] के मुताबिक 12 क़िस्से न आ सकते हों तो आप जरा सी तरमीम[4] क्रम करके इस 9 जुज्व में 12 क़िस्से खपा सकते हैं। यह गोया 'पच्चीसी' का पहला हिस्सा होगा। दूसरा हिस्सा हस्ब ज़रूरत और मसलहत बाद को शाया कर दिया जायेगा लेकिन अगर आपका प्रेस इतना वक़्त भी न निकाल सके तो मैं बदर्ज़ा मज़बूरी यह इल्तमास[5] करूँगा कि या तो मेरे 72 रु. मुझे अता फरमाये जावें या प्रेम पच्चीसी के 4½ जुज्ब छपे हुए रेल के जरिये मेरे पास भेज दिये जावें। ग़ालिबन इन दर्ख़्वास्तों में गैर-माकूलियत से काम नहीं ले रहा हूं। मैं किसी दूसरे पब्लिशर को ढूँढूँगा गर न मिल सका तो इसे 4½ जुज्व की किताब बना लूँगा। सिर्फ़ दीवाचा और टाइटिल की ज़रूरत होगी। और यह भी न हो सका तो शहद और घी लगाकर औराक़[6] को चाटूँगा और समझूँगा। कि :

ज़रे खुद भी खुरम
वा मेवए मेहनते खुद भी खुरम।[7]

बहरहाल आप जो कुछ तसफ़िया करें जल्द करें और मुझे मुत्तला फरमायें। सबसे सहल नुसख़ा बस छपे हुए जुज्ब को भेज देना है। इसमें आपको सिर्फ़ हुक्म देने की देर है। दफ़्तरी ने गट्ठर बनाया और रेल पर रख आये। आपको कोई तकलीफ़ न हुई।

मैं अब सिर्फ़ 9 जुज्व की किताब निकालना पसंद करता हूँ, बशर्ते कि आप शरीक़ हों और जल्द किताब को निकाल सकें। क़यामत के इन्तज़ार में बैठने से तो

1. फर्मे 2. आधे 3. क्रम 4. संशोधन 5. प्रार्थना 6. पन्ने 7. अपना पैसा या अपनी मेहनत का फल खुद खा रहा है

यही बेहतर है कि जो कुछ सवाब इस वक़्त मिलता है मिल जाये। ज्यादा क्या अर्ज़ करूँ ?

नियाज़मंद
धनपतराय

(3)

बस्ती
10 अगस्त, 1915

भाई साहब,

तसलीम। मिज़ाज़ मुबारक। बिल्टी मिली। आज किसी वक़्त इश्तिहार भी आ जायेगा। इसके लिए मशकूर हूँ। दायरातुल अदब देहली मुझसे प्रेम पचीसी बेचने के लिए तलब करते हैं। उनकी निस्बत आपका क्या ख़याल है। हिस्सा दोयम की इशाअत के मुताल्लिक़ भी वह आमादा है। आपका जवाब आ जाये तो मैं भी उन्हें जवाब दूँ। अब रह गयी हमारी बाहमी शरायत[1] की बातचीत।

'ज़माना' चूँकि इस वक़्त बिलकुल पेयिंग कन्सर्न नहीं है, इस वजह से उसका अच्छा नाम उतना बेशक़ीमत नहीं है जितना दूसरी हालत में होता। मैं उसकी कीमत एक हज़ार ख़याल करता हूँ क्योकि गुड नेम के साथ ही इसमें बैड नेम की भी आमेज़िश[2] है। बहरहाल मेरा तख़मीना यह है : मेरा ख़याल है कि अगर कोई नया माहवार काबलियत के साथ एडिट किया जाये और उस पर एक हज़ार रुपया सर्फ़ कर दिया जाय तो उसे इतनी मुश्तहरी[3] हासिल हो जायेगी।

यह मैं तसलीम करता हूँ कि आपको इस माहवार की बदौलत बहुत जेरबार होना पड़ा जिसकी मिकदार गालिबन तीन या चार हज़ार तक हो। मगर ग़ालिबन खुले बाज़ार में इस जिंस की इतनी कीमत हरगिज़ न मिल सकेगी। और फिर इस ख़सारे के और भी असबाब हैं जिनकी तफ़सील की यहाँ ज़रूरत नहीं। अगर एक हजार गुड नेम की क़ीमत हो तो उसका निस्फ़ हिस्सा पाँच सौ होता है। मैं इस रक़म को दो या तीन साल में अदा करने का ज़िम्मेदार हो सकता हूँ। सूद बशरहे बाज़ार[4] महसूब[5] करने को भी रज़ामंद हूँ।

मैं इसका एडिटोरियल और बड़ी हद तक मैनेजीरियल चार्ज लेने पर तैयार हूँ। आप सिर्फ़ अपने रुसूख़ और ज़ाती असर से और नीज़ इशतिहारात के मुताल्लिक जितना मुनासिब समझें काम करेंगे। मैं कोशिश करूँगा कि जहाँ तक मुमकिन हो उसका खर्च कम हो। इसके अलावा फ़ाइनेंशल चार्ज बिलकुल आपका रहेगा। यानी काग़ज़, क़िताबत, छपाई, कटाई, पोस्टल चार्जेज़। उनका हिसाब आप माहवार अदा करने का बंदोबस्त करेंगे। साबिक़ा[6] बक़ाया का हिसाब इससे अलग रहेगा। तारीख़े शराक़त[7] से आप जितना रुपया लगायेंगे वह हर माह के

1 आपसी शर्तों 2. मिलावट 3. प्रचार; प्रसिद्ध 4. बाज़ार की दर से 5. अदा 6. पिछले 7. साझा

आख़िर में या हस्बे गुंजाइश[1] दिसम्बर या जनवरी में अदा होगा। जितना नफ़ा या नुकसान होगा, उसमें हम और आप बराबर के शरीक होंगे। मेरा ख़याल है कि जनवरी तक हम इन रकम को अदा कर सकेंगे। लेकिन अगर उस वक़्त फिर कमी रहे और दूसरे साल के लिए रुपये की ज़्यादा ज़रूरत हो तो फिर हस्बे ज़रूरत कोई सबील[2] करेंगे। मगर तावक़्ते कि ये ज़िम्मेदारियाँ बेबाक़ न हो जायें आमदनी में से जहाँ तक इमकान में होगा कुछ न लेंगे। एडीटर चाहे आप रहें या मैं। अगर आपके नाम से ज्यादा फायदा हो तो मुझे कोई शिकायत नहीं। वर्ना मुझे भी जायंट एडीटर रहना होगा। अगर यह शरारत आपकी यतरमीमात[3] के साथ तय हो जायें तो हम लोग दिसम्बर तक चार-पाँच नम्बर वक़्त पर निकालकर कुछ वक़ार[4] क़ायम कर लेंगे, और जनवरी से ग़ालिबन ज़्यादा फ़ायदे के साथ आग़ाज हो। मैंने माली ज़िम्मेदारियाँ सब आप पर रखी हैं। इसके वजूह सुनिए। मेरे पास इन छः माह की रुख़सत के बाद इस वक़्त कुल आठ सौ रुपये हैं। तीन सौ रुपये मैंने तीन असामियों को अठारह फ़ीसदी सूद पर क़र्ज़ दे दिया है। मेरा नक़दी सरमाया इस वक़्त कुल पाँच सौ रुपया है। इसे मैं उस वक़्त तक के लिये खुरिश का वसीला समझता हूँ जब तक कि 'ज़माना' से मुझे कुछ फ़ायदा न हो। और कौन जानता है उस मुबारक वक्त के लिए कितने दिनो तक इन्तज़ार करना पड़े।

गरज़ मैं माली ज़िम्मेदारियों का बोझ उठाने के बिल्कुल नाक़ाबिल हूँ। इसी असना[5] में अगर छोटक की शादी तय हो गयी तो ग़ालिबन यह रक़म भी मेरे हाथ से निकल जायेगी। छोटक इमसाल फ़ेल हो गये। यहीं हैं। स्कूल लीविंग मे नाम लिखा दिया है। चाची नहीं आयीं। मकान पर है। तेज नरायन भी यहाँ नही। अपने मकान पर हैं।

मैंने अपनी माली हालत का जो किस्सा लिखा है यह हर्फ़-ब-हर्फ़ सही है। मैं। आपके जवाब का इंतज़ार करूँगा।

आजकल एफ. ए. के धुन में कुछ लिटरेरी काम नहीं होता। कहीं से तहरीक[6] भी नहीं हुई। और मुफ़्त में क़लम घिसना फ़िज़ूल मालूम होता है।

बाक़ी सब ख़ैरियत है। अगर मेरी तजावीज में खुदगर्जी की बू आये तो मुआफ़ फ़रमाइयेगा।

लार्ड डलहौज़ी की लाइफ़ देख रहा हूँ। इस पर एक रिव्यू करने का इरादा है जो ग़ालिबन ईद की तातील में पूरा हो सके।

वस्सलाम !

नियाजकेश
धनपतराय

1. जैसी गुंजाइश 2. उपाय 3. संशोधन 4. प्रतिष्ठा 5. बीच 6. प्रेरणा

(4)

नार्मल स्कूल
गोरखपुर
24 अप्रैल, 1919

भाईजान,

तसलीम। आज कार्ड मिला। ज़रा नाना साहब के पास चला गया था। आप फ़रमाते हैं तुम्हारी लाइन यह नहीं है। मैं तसलीम करता हूँ। मगर चारा क्या है। मैं कुर्बानी को अपनी ज़ात तक रखना चाहता हूँ। अयाल को इस चक्की में पीसना नहीं चाहता। फ़िलहाल मेरी रोटियाँ मिली जाती हैं। कुछ लिटरेरी काम कर लेता हूँ। यह कुर्बानी है। खुदा और दुनियाए दूँ, क़ौम और ज़ात, दोनों को साथ लिये हुए हूँ। मैं लिटरेरी काम को थोड़ी क़ुर्बानी नहीं समझता। जो शख़्स अपनी फ़ालतू आमदनी का एक हिस्सा किसी मदरसे के लिए ख़ैरात कर देता है वह हमारी क़ुर्बानी का सही अंदाजा नहीं कर सकता जो अपने ऊपर सोना तक हराम कर लेता है। आपने मेरे लिए कोई ऐसी तजबीज़ नहीं निकाली जिसमें फ़िक्रे मुआश से आज़ाद होकर मैं जिन्दगी काटता। मैं अर्ज़ कर चुका हूँ कि इससे ज़्यादा नफ्सकुशी मेरे इमकान से बाहर है और आप ने जब कभी कोई तजबीज़ की तो वही हवाई। आकाशी मुआश से मुझे इत्मीनान नहीं होता। ज़रूरियात के लिए मुसतकिल सूरत चाहिए। तकल्लुफात के लिए आकाशी सूरत हो तो मुजायका नहीं। मुझे फिलहाल सौ रुपये मिल जाते हैं। अगर साल में एक नाविल लिखूँ तो शायद चार-पाँच सौ रुपये और मिल जायँ। इस तरह से मैं अंपने पसमांदगान के लिए दस साल में शायद 4-5 हज़ार रुपये छोड़ मरूँ। अख़बारी ज़िन्दगी में किस क़दर तो फ़िक्र और झंझट, उस पर पचास-साठ रुपये से ज़्यादा कोई देनेवाला नहीं। अभी हमारे यहाँ वह ज़माना नहीं आया कि जर्नलिज्म को कैरियर बनाया जा सके। आप 'लीडर' की तरह कोई कम्पनी कायम करें। वह माहवार हिसाब, रोज़ाना अख़बार निकाले करकुनों को माकूल तनख़्वाह दे, तब देखिए मैं कितनी खुशी से दौड़ता हूँ। मगर यहाँ तो यह हाल है कि 'अवध अख़बार' भी ग्रेजुएट मुतरज्जिम तलाश करता है। तो उसकी तनख़्वाह सौ रुपया बतलाता है।

मैं अगर इम्तहान में पास हो गया तो किसी aided स्कूल में 125 रु. का हेडमास्टर हो जाऊँगा। वहाँ गोशए आफ़ियत में बैठा हुआ अपना क़लम घिसता रहूँगा। साल में एक क़िस्सा ज़रूर लिख डालूँगा। यही क़ौमी ख़िदमत होगी। मज़ामीन जो क़लम से निकलेंगे वह भी खिदमत ही के मद में डालिए।

अगर आप इससे बेहतर कोई सूरत निकाल सकते हैं तो मैं हाज़िर हूँ। वर्ना मुझे अपने ढर्रे पर चलने दीजिए। 'शाकिर' और 'साविर' बनना मेरे लिए मुमकिन नहीं।

क्या हौसला अख़बार और लिटरेरी काम का हो। 'प्रेम पचीसी' हिस्सा अव्वल को छपे हुए चार साल हुए मगर अभी तक निस्फ़ पड़ी हुई है। हिस्सा दोयम की

मुश्किल से 150 जिल्दें बिकीं । मैं इससे बेहतर नहीं लिख सकता, और बेहतर कामयाबी की उम्मीद नहीं रखता।

आप यह सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अक्सर नक़्क़ादों ने उसे हिन्दी जबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह 'बाज़ारे हुस्न' का तर्जुमा है। 'बाज़ारे हुस्न' अब साफ़ कर रहा हूँ।

उम्मीद है कि आप बख़ैरी आफियत होंगे। मई में ज़रूर हाजिर हूँगा।

आपका
धनपत राय

(5)

आशा भवन, बनारस
23 अप्रैल, 1923

भाईजान,

तसलीम। कल सुबह एक ख़त लिखा, शाम को आपका कार्ड मिला। पढ़कर निहायत सदमा हुआ। बीमारियाँ और परेशानियाँ तो ज़िन्दगी का ख़ास्सा[1] हैं लेकिन बच्चे की हसरतनाक मौत एक दिलशिकन हादसा है और उसे बर्दाश्त करने का अगर कोई तरीक़ा है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ़ का मुस्तहक़[2] होता है जो जीत से फूलता नही, हार से रोता नहीं, जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह कोशिश होती है कि हारे नहीं। हार के बाद जीत की आरजू होती है। हम सबके सब खिलाड़ी हैं मगर खेलना नहीं जानते। एक बाज़ी जीती, एक गोल जीता, तो हिप-हिप हुर्रे के नारों से आसमान गूँज उठा, टोपियाँ आसमान में उछलने नगीं, भूल गये कि यह जीत दायमी[3] फ़तह की गारण्टी नहीं है। मुमकिन है कि दूसरी बाज़ी में हार हो। अलहाज़ा[4] हारे तो पस्तहिम्मती पर कमर बाँध ली, रोयँ, किसी को धक्के दिये, फाउल खेला और ऐसे पस्त हो गये गोया फिर जीत की सूरत देखनी नसीब न होगी। ऐसे ओछे, तंगज़र्फ़[5] आदमी को खेल के वसीह[6] मैदान में खड़े होने का भी मजाज़[7] नहीं। उसके लिए गोशएतारीक[8] है और फ़िक्रे शिकम[9], बस यही उसकी ज़िन्दगी की कायनात[10] है ! हम क्यों ख़याल करें कि हमसे तकदीर ने बेवफ़ाई की ? खुदा का शिकवा क्यों करें ? क्यों इस ख़याल से मलूल[11] हों कि दुनिया हमारी नेमतों से भरी थाली को हमारे सामने से खींच लेती है ? क्यों इस फ़िक्र से मुतव्वहश[12] हों कि क़ज़्ज़ाक हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है ! ज़िन्दगी को इस नुक़्तये निगाह से देखना अपने इत्मीनाने क़ल्ब[13] से हाथ धोना है। बात दोनों एक ही है। क़ज़्ज़ाक ने छापा मारा तो क्या ? हार में सारे घर की दौलत खो बैठे तो क्या ?

1 सहज गुण 2 अधिकारी 3 स्थायी 4 इसी तरह 5 संकीर्ण-हृदय 6 लंबे-चौड़े 7 अधिकार 8 अँधेरा कोना 9 पेट की चिंता 10 कुल पूँजी; सर्वस्व 11 दुःखी 12 पागल 13 मानसिक शांति

फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि एक ज़ब्र है दूसरा अख़्तियार। यह क़ज़्ज़ाक ज़बर्दस्ती जान और माल पर हाथ बढ़ाता है लेकिन हार ज़बर्दस्ती नहीं आती। खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते हैं। क़ज़्ज़ाक के हाथों लूटा जाना ज़िन्दगी का मामूली वाकया नहीं, हादसा है लेकिन खेल में हारना और जीतना मामूली वाक़ये हैं। जो खेल में शरीक होता है वह खूब जानता है कि हार और जीत दोनों ही सामने आयेंगी, इसलिए उसे हार से मायूसी नहीं होती, जीत से फूला नहीं समाता। हमारा काम तो सिर्फ़ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कौनैन[1] की दौलत खो बैठेंगे लेकिन हारने के बाद, पटख़नी खाने के बाद, गर्द झाड़कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर ख़म ठोंककर हरीफ़[2] से कहना चाहिए कि एक बार और !

खिलाड़ी बनकर आपको वाकई बड़ा इत्मीनान होगा। मैं खुद नहीं कह सकता कि मैं इस मेयार[3] पर पूरा उतरूँगा या नहीं मगर कम-से-कम अब मुझे किसी नुक़सान पर इतना रंज न होगा जितना आज से चन्द साल क़ब्ल हो सकता था। मैं अब शायद न कहूँगा कि हाय ज़िन्दगी अकारथ गयी, कुछ न किया। ज़िन्दगी खेलने के लिए मिली थी खेलने में कोताही नहीं की। आप मुझसे ज़्यादा खेले हैं, हार और जीत दोनों देखी हैं, आप जैसे खिलाड़ी के लिए शिकवये तक़दीर की ज़रूरत नहीं कोई गोल्फ़ और पोलो खेलता है कोई कबड्डी खेलता है, बात एक ही है, हार और जीत दोनों ही मैदानों में है। कबड्डी खेलनेवाले को जीत की खुशी कुछ कम नहीं होती। इस हार का ग़म न कीजिए। आपने खुद ही न किया होगा। आप यहाँ मुझसे मश्शाक[4] है। मैं 5 या 6 मई तक कानपुर आने वाला हूँ। यहाँ की कोई चीज़ दरकार हो तो बेतकल्लुफ़ लिखिएगा। दीगर हालात मेरे पहले ख़त से मालूम हुए होंगे।

आपका,
धनपतराय

(6)

सरस्वती प्रेस, काशी
22 जुलाई, 1924

भाईजान,

तसलीम। बेहतर है कि कर्बला न निकालिए। मेरा कोई नुक़सान नहीं है। न मैं मुफ़्त का ख़िलजान[5] सर पर लेने को तैयार हूँ। मैंने हज़रते हुसैन का हाल पढ़ा। उनसे अकीदत[6] हुई। उनके ज़ौक़े शहादत ने मफ़्तूं कर लिया। उसका नतीजा यह ड्रामा था। अगर मुसलमानों को यह भी मंजूर नहीं है कि किसी हिन्दू की ज़बान-ओ-क़लम से उनके किसी मज़हबी पेशवा या इमाम की मद्हसराई[7] भी हो तो मैं इसके लिए मुसिर नहीं हूँ। इस कार्ड का जवाब देना तो फ़िज़ूल है, हाँ, हज़रत

1. इहलोक-परलोक 2. दुश्मन 3. कसौटी 4. कुशल, अनुभवी 5. उलझन 6. श्रद्धा 7. परिवर्तन

हसन के मुताल्लिक़ कुछ अर्ज़ करना चाहता हूँ। आप फ़रमाते हैं शिया हज़रात यह नहीं पसंद कर सकते कि उनके किसी मज़हबी पेशवा का ड्रामा तैयार किया जाये। शिया हज़रात अगर मज़हबी पेशवा की मसनवी पढ़ते हैं, अफ़साने पढ़ते हैं, मर्सिये सुनते और पढ़ते हैं तो उन्हें ड्रामा से क्यों एतराज़ हो। क्या इसलिए कि एक हिन्दू ने लिखा है ?

तारीख़ और तारीख़ी ड्रामा में फ़र्क़ है। जैसा आप ख़ुद तसलीम करते हैं। तारीख़ी ड्रामा खास कैरेक्टरों में तो कोई तग़ैयुर[1] नहीं कर सकता मगर सानवी[2] कैरेक्टरों के तबद्दुल[3] और तरमीम[4] यहाँ तक कि तख़लीक़[5] में भी उसे आज़ादी है। हज़रत असग़र की उम्र छः माह की ... लेकिन बाज़ रिवायतों में छः साल की भी लिखी हुई है। मैंने वही रिवायत अख़्तियार की जो मेरे मुवाफ़िक हाल थी। अगर बिलफ़र्ज़[6] ऐसी रिवायत न भी हो तो हज़रत असग़र इस ड्रामा के कोई ख़ास कैरेक्टर नहीं हैं।

यजीद को अख़लाक़ी[7] हैसियत मुझसे कहीं ज़्यादा बेहतर मुअर्रखीन[8] ने कर दी है। मैं मजबूर था। मैंने तो सिर्फ़ उसकी शराबख़ोरी और ऐशपसदी का ज़िक्र किया है। शराबख़्वार था ही।

खुलफ़ाए राशिदीन के बाद और जितने खुलफ़ा हुए सब पीते थे और धड़ल्ले से पीते थे। देखिए यज़ीद के मुताल्लिक़ मौलाना अमीर अली क्या फ़रमाते हैं :

Yezid was both cruel and treacherous; his depraved nature knew no pity or justice. His pleasures were as degrading as his companions were low and vicious. He insulted the ministers of religion by dressing up a monkey as a learned divine and carrying the animal mounted on a beautifully caparisoned Syrian donkey. Drunken riotousness prevailed at court...

अमीर अली को तो आप मुस्तनद मानते ही होंगे। क्या मैंने यज़ीद को इससे भी ज़्यादा पस्त कर दिया है ? आप फ़रमाते हैं, हालाँकि वह मुसलमान था। खूब दलील है। नवाब रामपुर भी तो मुसलमान था।

तारीख़ी हैसियत से आपने साहब राव के तदाखुल[9] पर एतराज किया है। बेशक़, क़दीम[10] रिवायात में इसका कोई ज़िक्र नहीं। मगर एक रिवायत जो मैंने रिसाला आईना, इलाहाबाद से ली है, मुमकिन है वह रिवायत ग़लत हो। लेकिन अगर मान लीजिए ज़ेब-ए-दास्तां ही के लिए ली गयी है तो ? ड्रामा तारीख़ तो नहीं है। इससे किसी तारीख़ी कैरेक्टर पर असर नहीं पड़ता। इन कैरेक्टरों का मंशा है हिन्दुओं का हज़रत हुसैन पर फ़िदा हो जाना। उनका वजूद[11] भी इसीलिए हुआ है। यह ड्रामा तारीखी होने के साथ पोलिटिकल है। अदबी हैसियत से मुस्तसना।[12] आपका एतराज

1. परिवर्तन 2. गौण 3. परिवर्तन 4. संशोधन 5. सृष्टि 6. मानलीजिए 7. नैतिक 8. इतिहासकारों 9. दाख़िल होना, प्रवेश 10. पुरानी 11. अस्तित्व 12. अलग

तो बसरो चश्म तसलीम करता हूँ। मैंने कभी अदीब होने का दावा नहीं किया। मुझे लोग ज़बर्दस्ती इंशापरदाज[1] और सेहनिगार[2] और अल्लम ग़ल्लम लिख दिया करते हैं। मैं बात को सीधी तरह सीधी जबान में कह देता हूँ। रंग आफ़रीनी[3] और इंशापरदाजी[4] में कासिर[5] हूँ। और जब ड्रामा इसलिए तैयार किया गया है कि हर ख़ास व आम उसे पढ़े तो ज़बान-आराई[6] और भी बेमौक़ा हो जाती। बहरहाल मैं ड्रामा की इशाअत के लिए मुसिर नहीं हूँ। इसलिए यह बहस मुल्तबी और ख़त्म हो गयी।

ख़्वाजा हसन निज़ामी ने कृश्न बीती लिखी। एक हिन्दू नक़्क़ाद ने उसकी तारीफ़ की, सिर्फ़ इसलिए कि मौलाना ने कृष्ण से अपनी अक़ीदत का इज़हार किया था। मेरा भी यही मंशा ··· अगर हसन निज़ामी को वह आज़ादी हासिल है और मुझे नहीं है तो मुझे इसका अफ़सोस नहीं। बराहे करम उस मुसव्वदा को वापस फ़रमा दीजिए। हाँ, मैं यह अर्ज़ करना भूल गया। ड्रामे दो क़िस्म के होते हैं। एक क़िरत[7] के लिए एक स्टेज के लिए। यह ड्रामा महज पढ़ने के लिए लिखा गया था। खेलने के लिए नहीं।

ज्यादा वस्सलाम !

आपका,
धनपतराय

(7)

काशी
23 अप्रैल, 1930

भाईजान,

तसलीम। आपका मुहब्बतनामा कई दिन हुए मिला था। 'प्रेम बत्तीसी' की कीमत आप शौक़ से डेढ़ रुपया कर दें। बल्कि मैं तो चाहूँगा कि वह एक ही रुपये में बिके। मगर लाहौरवाले तो कमी करेंगे नहीं, इसलिए डेढ़ रुपये मुनासिब है। हमारे पास ऐसी कौन-सी बहुत जिल्दें हैं।

रीडरों की तैयारी में मुझसे आप क्या मदद चाहते हैं ? मै तो आजकल बुरी तरह काम कर रहा हूँ। 'हंस' ने और कचूमर निकाल दिया है। दो किस्से हर माह और क़रीब बीस सफ़े एडिटोरियल और दीगर मज़ामीन। इसके अलावा अपना नाविल। फिर प्रेम चालीसी के लिए कहानियों को उर्दू में लाना। और आख़िर में रोज़ाना घंटा दो-घंटा कांग्रेस के कामों में मसरूफ़ रहना मेरे लिए काफ़ी से ज्यादा है। मगर मुझसे जो मदद आप चाहें वह अपने सब काम छोड़कर करने को हाज़िर हूँ। आपने तो कुछ कहा ही नहीं। अगर इमसाल किताबें पेश करनी है तो अब

---

1. रचनाकार 2. लेखनी से जादू पैदा करनेवाला 3. रंग भरना, सजावट 4. रचना-शिल्प 5. असमर्थ 6. भाषा की सजावट 7. पढ़ने

तवक़्क़ुफ़[1] की गुंजाइश नहीं है। एक नक्क़ाल रख लीजिए और उससे मज़ामीन नक़ल कराते जाइए। एक किताब मुकम्मल हो जाय तो मुझे बुलाकर मुझसे मशवरा कर लीजिए। बस इस किताब की किताबत शुरू हो जाये, मज़ामीन की नौइयत[2] आपको मालूम ही है।

हाँ, मेरी किताबों का और 'हंस' का इश्तिहार 'ज़माना' में एक-दो महीने हो जाये तो अच्छा है। यह इश्तिहार भेज रहा हूँ। एक सफ़े में आ जायेगा।

'नमक' को आप कब्ल-अज-वक्त[3] ख़याल करते हैं। जिस तरह मौत हमेशा कब्ल अज़ वक़्त होती है, साहूकार का तक़ाज़ा हमेशा कब्ल अज़ वक़्त होता है उसी तरह ऐसे सारे काम जिनमें हमें माली या वक़्ती नुक़सान का अन्देशा हो क़ब्ल अज़ वक़्त मालूम होते हैं। इस तहरीक की क़बूलियत[4] ही बतला रही है कि वह क़ब्ल अज वक़्त नहीं है।

इस मौक़े पर फिर साफ़ ज़ाहिर हुआ कि अगर दो फ़ीसदी अंग्रेज़ी-ख्वाँ[5] असहाब तहरीक के साथ हैं तो 98 फ़ीसदी उसके मुख़ालिफ़[6] है। क़ौमी एतबार से यूनिवर्सिटियों और स्कूलों पर क़ौम का जितना रुपया सर्फ़ हुआ वह क़रीबन ज़ाया हो गया। यह लोग सरकार के आदमी हुए, क़ौम के नहीं। ग़ैर-अंग्रेजी-दां, कारोबारी और पेशावर तबक़ों ही ने इस तहरीक में जान डाली है। अगर तालीम-याफ़्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद क़यामत तक उसे आज़ादी नसीब न होगी।

जब मालूम है और इसके लिए सबूत और दलील की ज़रूरत नहीं कि सरकार कोई रिफ़ार्म उस वक़्त तक नहीं करती जब तक उसे यह यक़ीन न हो जाय कि इस तहरीक[7] के पीछे कितनी ताकत है, तो तालीम-याफ़्ता जमात का इससे किनारे रहना कितना दिशिकन है। क़ानूनपेशा, तबीबपेशा,[8] प्रोफ़ेसर और सरकारी मुलाज़िमान– इन सबने जितनी ग़ुलामाना[9] ज़ेहनियत का पता दिया है उसकी मुझे उम्मीद न थी। यह तबका अपनी ख़ैरियत गवर्नमेंट का इक़्तदार[10] कायम रहने में समझता है। वह एक लमहे के लिए भी अपनी आसाइश[11] और दुनिया-तलबी[12] को फ़रामोश[13] नहीं कर सकता। ज़र[14] उसका दीन और ईमान है। वह या तो आज़ादी चाहता ही नहीं या उसके लिए क़ीमत न देकर दूसरों पर तकिया करना ही अपनी शान के मुनासिब समझता है। या वह इस ख़याल में मग्न है कि आप ही आप आज़ादी भी मिल जायेगी। कांग्रेस के दौरे अव्वल में वह इससे खाइफ़[15] रहा, कांग्रेस के दौरे सानी[16] में भी उसकी यही हालत रही। वह सरीह[17] देख रहा है कि जो कुछ उसे मिला और जिसे अब वह अपना हक़ समझता है वह दूसरों के ईसारे[18] व कुर्बानी का नतीजा है। फिर भी वह इस ईसार और कुर्बानी में शरीक नहीं होता। यही Bourgeours फ़िज़ा है और यही नादार[19] फ़िर्के को दार[20] फ़िर्के का दुश्मन बना देता है।

---

1. ढील 2. ढंग; प्रकार 3. समय से पहले 4. लोकप्रियता 5. अंग्रेजी 6. विरोधी 7. आन्दोलन 8. डाक्टर 9. गुलामों जैसी 10. अधिकार 11. सुख-सुविधा 12. सांसारिक लाभ 13. भूल नहीं सकता 14 रुपया 15. भयभीत 16. दूसरे दौर 17. साफ 18. त्याग 19. गरीब; वित्तहीन 20. अमीर; वित्तशाली

आपने क्या हैदराबाद जाने का इरादा कर लिया ?

यहाँ तो हम लोग अच्छी तरह हैं। 1 मई तक लोग यहाँ से चले ही जायेंगे।

(8)

24 मार्च, 1931

भाईजान,

तसलीम। दोनों चेक मिल गये। मैं ज़रा हंस के लिए क़िस्सा लिखने में मसरूफ़ था इसलिए जवाब न दे सका। इन इनायात का कहाँ तक शुक्रिया अदा करूँ। मैं ज़रा भी क़बीदाख़ातिर[1] नहीं हूँ। सूदे-मुरक्कब[2] और सूदे-सादा[3] में ऐसा फ़र्क़ ही क्या होता है। यक़ीन मानिए मैंने आपको सूद का ज़िक्र करके जेरबार किया। मेरे सर को झुकाने के लिए यही एहसास क्या कम है।

कराची का इरादा था मगर आज भगतसिंह की फाँसी ने हिम्मत तोड़ दी। अब किस उम्मीद पर जाऊँ। वहाँ गाँधी का मज़ाक़ उड़ेगा, कांग्रेस ग़ैर-जिम्मेदार, शोरिशपसंद[4] तबके के हाथ में आ जायेगी और हमलोगों के लिए उसमें जगह नहीं है। आइन्दा क्या तर्ज़े अमल अख़्तियार करना पड़े, कह नहीं सकता मगर फ़िलहाल दिल बैठ गया है। और मुस्तकबिल[5] बिलकुल तारीक[6] नजर आता है। इधर बनारस, मिर्जापुर, आगरे में जो हालात हुए उनसे गवर्नमेंट का हौसला बढ़ेगा यही मेरा कयास है। मगर इससे ज़्यादा हिमाकत कोई गवर्नमेंट नहीं कर सकती थी। तीन आदमियों की सज़ा में तबदीली करके गवर्नमेंट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी। पर उसके तर्ज़े अमल ने अब साबित कर दिया कि तालीफ़े क़ल्ब[7] उसने अभी तक नहीं किया और अब भी वह अपनी उसी क़दीम[8] ग़ैर ज़िम्मेदाराना रविश[9] पर कायम है।

शाहकार को मैं आज लिखूँगा कि क़िस्सा आपके पास भेज दें।

एकेडेमीवाले सफ़रख़र्च देंगे या नहीं। ख़ुतूत तो मेरे पास भी आये हैं लेकिन जाऊँगा उसी वक़्त जब ख़र्च मिलेगा। ज़रा लिखिएगा। यहाँ साबिक़ दस्तूर चला जा रहा है। मनरो मेहरबान तो है मगर फ़ैसला उसके हाथ में तो नहीं है।

मैं 'इंसाफ़' का तर्जुमा कर रहा हूँ, कोई पचास सुफ़हात हो गये हैं। 'हड़ताल' भी कर दूँगा। 'चाँदी की डिबिया' आप खुद कर लें। जून तक यह सब ख़त्म हो जायेगा।

आपका,
धनपतराय

---

1. अप्रसन्न 2. चक्रवृद्धि 3. ब्याज 4. साधारण ब्याज 5. हृदय परिवर्तन 6. पुरानी 7. पद्धति 8. पुराने ढर्रे

(9)

सरस्वती प्रेस, बनारस।
30 जून, 1935

भाईजान,

तसलीम। आपका खत मिला। अज़ीज़ बिशन नारायण जी अब रू-ब-सेहत हैं और दो-चार रोज़ में चलने-फिरने के काबिल हो जायेंगे। शुक्र है, टाइफाइड बड़ा मूज़ी बुख़ार है।

भाई, मैं तो तालीम-याफ़्ता लड़कियों की जानिब से ख़ुदा जाने क्यों बदगुमान हूँ। अभी तक तो लड़कों की लापरवाइयों के बावजूद गृहस्थी चलती रहती थी, क्योंकि लड़कियाँ आमतौर पर गृहस्थी का पालन करती थीं, लेकिन जब दोनों एक ही रंग में रँग गये तो फिर ख़ुदा ही हाफ़िज़ है। लड़कों को देखता हूँ तो जी चाहता है कि यह यूनिवर्सिटी में न पढ़ते तो अच्छा होता। मुदम्मिग़[1] बदतमीज, कजख़ुल्क़,[2] मिज़ाज में हद दर्जा रऊनत,[3] नाहमदर्द,[4] खुदपसंद और खुदसर।[5] यह आम रविश है। मुसतसनियात[6] भी हैं, लेकिन बहुत कम। लड़कियों में भी यह नक़ाइस[7] नुमायाँ हैं। आख़िर उन्होंने अपने भाइयों ही से तो सबक़ लिया है। और मैं उन्हें मुत्तहम[8] नहीं करता। वह भी सैलाब में बह रही हैं तो उन ग़रीबों का क्या क़सूर है। एक तरफ़ यह सदा है कि उन्हें शौहरों से इक़्तसादी[9] आज़ादी हासिल होनी चाहिए। ख़ैर जी, हमलोग तो चंद दिन के मेहमान हैं। दुनिया अपनी रफ़्तार से जायेगी। दो-चार पुराने ख़याल के लोग सर पीटा करें। मगर क़राईन[10] बतला रहे हैं कि आनेवाला ज़माना गृहस्थी के लिए क़ातिल होगा।

ज़ुबान के मुताल्लिक़ मेरे ख़याल से आपको इत्तफ़ाक़ है, यह बाइसे इतमीनान है। अभी कल लखनऊ गया था। वहाँ जफ़रुलमुल्क साहब से मुलाक़ात हुई। उन्हें इस ख़याल से इख़्तलाफ़ है। उनका ख़याल है कि अब उर्दू और हिन्दी अपनी-अपनी शख़्सियतों का इस क़दर इरतक़ा[11] कर चुकी हैं कि अब उनमें इत्तिहाद[12] की कोई सूरत पैदा नहीं हो सकती। इस ख़याल से सदाक़त[13] है, इसमें शक़ नहीं।

डाक्टर निगम की साहबज़ादी की निस्बत मैंने जो सुना है वह तो यह है कि वह बहुत ही मतीन,[14] फरख़ुदासीरत[15] लड़की है, मरद दुलारे घर की बेटी है और मुतमव्विल[16] बाप की नूरे नज़र[17]। और आपके घर में उसे जो आसाइशें मिल सकेंगी वह मुक़ाबिलतन कम होंगी। अगर उसमें कुछ फ़िरासत[18] है तो घर बिहिश्त हो जायेगा। वर्ना कौन जाने! मैं अपने एक दोस्त को जानता हूँ जिनकी बीवी एम. ए. है। वह खुद बी. ए. भी नहीं हैं, मगर हैं बड़े ही टैक्टफुल। उनकी इज़दिवाजी[19] ज़िन्दगी देखकर मुझे रश्क आता है। ऐसी मुनकसिर[20] मिजाज सेवा भाव से भरी हुई पाकीजा औरतें पढ़ी-लिखी मैंने बहुत कमदेखी है। उससे आप फ्री लव और इम्तहानी[21] शादियों पर

1. घमंडी 2. दुःशील 3. उद्दण्डता 4. सहानुभूतिशून्य 5 उजड्ड; अक्खड़ 6 अपवाद 7 दोष 8 दोष नहीं देता 9 आर्थिक 10 लक्षण 11 विरोध 12 विकास 13 एकता 14 सच्चाई 15. गंभीर 16 सुशील 17 संपन्न 18 दुलारी; आँखों की ज्योति 19. समझदारी 20 दांपत्य . विनम्र 21. प्रयोगात्मक; एक्सपेरिमण्टल

बे-तकल्लुफ़ बहस कर सकते हैं। वह अपने ख़यालात का आज़ादाना इज़हार करती हैं। मगर फलसफियाना अल्हदगी के साथ। यह मसाइल उसके लिए महज इल्मी मसाइल है जिनका। ज़िन्दगी से भी जमाना कोई ताल्लुक नहीं है।

धुन्नू तो अबकी थर्डइयर में गया है। छोटा दसवीं में आया है। मैं खुद इलाहाबाद जा रहा हूँ। गो प्रेस वग़ैरा यही रहेंगे। इस जंजाल से किसी तरह रिहाई नहीं होती। इस कमबख़्त 'जागरण' ने मुझे कोई छः सात हज़ार के पंजे में डाल दिया। अब भी मुझे कोई पन्द्रह सौ रुपये देने हैं। प्रेस से मुझे अब तक कोई पन्द्रह हज़ार का नुक़सान हो चुका है। मगर क्या करूँ, गले में जो ढोल पड़ गयी है उसे बजाए जाता हूँ।

और क्या लिखूँ ? इलाहाबाद आने पर मुलाक़ात की सूरतें आसान हो जायेंगी अबकी सितम्बर से 'हंस' को 120 सफ़हात का कर रहा हूँ। देखूँ क्या होता है। यह भी एक तजरुबा है। कल बम्बई जा रहा हूँ। एक महीने में लौटूँगा।

आपका,
धनपतराय

(10)

16 लाटूश रोड, लखनऊ
5 अगस्त, 1936

भाईजान,

तसलीम। आपको ताज्जुब होगा मैं लखनऊ कैसे आ गया। बात यह है कि कोई डेढ़-दो महीने से मुझे वरमे-जिगर[1] की शिकायत हो गयी है। दो बार मुँह से सेरों खून निकल गया है। बनारस में इलाज़ से कोई फ़ायदा न देखकर 2 को यहाँ आ गया और डाक्टर हरगोविंद सहाय के जेरे इलाज हूँ। पाख़ाना, पेशाब, खून वगैरा की जाँच हो चुकी है। मगर अभी कई दाँत तोड़े जायेंगे, तब डाक्टर साहब मर्ज़ की तशख़ीश करेंगे और इलाज शुरू होगा। शायद यहां पंद्रह दिन लगें। या तो इसलाह ही होगी या ख़ात्मा ही होगा। घुलकर आधा रह गया हूँ। ज़र्द। न कुछ खा सकता हूँ, न हज़्म होता है। एक बार मुश्किल से हार्लिक्स खा लेता हूँ। मास्टर कृपाशंकर साहब का मेहमान हूँ। मगर यह मकान बहुत मुख़्तसर है, और आजकल में कोई दूसरा मकान ले लूँगा। घर से जितने रुपये लेकर चला था सब सर्फ़ हो गया। इरादा था एक्स-रे कराने का, मगर यहाँ के ख़र्च तो आप जानते हैं। क़दम-क़दम पर फ़ीस। मैंने घर पर रुपये के लिए लिखा तो है। लेकिन मुमकिन है वहाँ रुपये देर में आयें, क्योंकि बैंक का अकाउंट तो मेरे नाम है। अगर आप आसानी से मुझे इस वक़्त एक सौ रुपये जरिये तार भेज दें तो बड़ा एहसान करें। मैं यहाँ से जाते-जाते रवाना कर दूँगा। मुमकिन है घर से रुपये आ जायें—और इन रुपयों की ज़रूरत न पड़े, मगर एतिहातन कुछ फाज़िल रुपये अपने पास रखना चाहता हूँ। तार से ज़्यादा ख़र्च

हो तो मनीआर्डर से सही। और क्या लिखूँ ? यहाँ बड़ा लड़का धुन्नू मेरे साथ है। देखिए इस बीमारी से निज़ात मिलती है या यह आख़िरी पैग़ाम है।

आपका,
धनपतराय

बनारसीदास चतुर्वेदी को
(1)

सरस्वती प्रेस, बनारस
14 नवम्बर, 1930

प्रिय बनारसीदास जी,
नमस्ते।

कृपापत्र के लिए धन्यवाद। मैंने सदा आपको अपना सबसे सच्चा दोस्त समझा है और आप मेरे साहित्यिक सलाहकारों में से एक हैं जिसकी आलोचना की मैं सबसे ज़्यादा कदर करता हूँ, क्योंकि वह सहानुभूतिपूर्ण होती है और न्याय-बुद्धि पर आधारित होती है। आलोचकों का मूल्यांकन, जैसा कि आप खुद जानते हैं, लेखकों के लिए बहुत संतोष की चीज़ नहीं होती और वह तो सजग मित्र ही है, जिनको कि वह सदा अपनी आँखों के सामने रखता है। आपने जो-जो कुछ मेरे लिए किया है, उन सबका हवाला देने की तकलीफ आपने नाहक की। मैं उन चीज़ों को सारी जिन्दगी नहीं भूल सकता। जब कोई मौका आया है, मैं आपकी तरफ से हमेशा लड़ा हूँ। और मैं जिस रूप में आपको देखता हूँ उस रूप में मैंने आपको पेश करने की कोशिश की है। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्यिकों में कुछ ऐसे लोग हैं, जो आपकी अवहेलना करते हैं और आपकी सच्ची लगन के लिए आपको अपना उचित प्राप्य नही देते। इतना ही नहीं, कुछ लोग उससे भी बहुत आगे चले जाते हैं। मगर किसकी बुराई करनेवाले लोग नहीं है। खुद मेरे चारों तरफ बुरा-भला कहने वाले लोग जमा हैं जो मुझ पर चोट करने का एक भी मौका हाथ से न जाने देंगे। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे साहित्यिक कर्मियों में विचारों की उदारता और सौहार्द्र का भाव नहीं है। एक श्रेणी ऐसे लोगों की है जिन्हें किसी की कीर्ति का ध्वंस करने में आनन्द आता है, जिस कीर्ति को बनाने में दूसरे आदमी को बरसों लगे हैं। मगर उससे क्या ? हमें अपना अन्तःकरण स्वच्छ रखना चाहिए। और वही असली चीज़ है। ऐसा लगता है कि आप मजाक में की गयी छींटेकशी को ज़रा ज़्यादा महत्त्व देते हैं मैं मानता हूँ कि मैंने दुंढिराज का लेख नहीं पढ़ा और न खैराती खाँ का। आपको पता ही होगा ख़ैराती खाँ ने 'आज' में मेरी अच्छी ख़बर ली है। मगर मैंने उसको बड़ी दिलेरी के साथ कबूल किया। मामला संगीन तब हो जाता है, जब नियत पर शक किया जाने लगता है। यह मैं कभी किसी हालत में बर्दाश्त नहीं कर सकता। साफ दिल से की गयी छींटेकशी का आपको बुरा न मानना चाहिए, अगर आप इतने

तुनुकमिज़ाज हो जायेंगे तो आप अपनी बुराई करनेवालों को और प्रोत्साहन देंगे कि वह आपको चुटकी काटें। मुस्कराते हुए चेहरे के साथ उनका सामना कीजिए। एक समय ऐसा था जब किसी की एक अमित्रतापूर्ण चोट से मैं रात की रात जागता रह जाता था, आँखों की नींद उड़ जाती थी। मगर अब वह हालत गुजर चुकी है और मैं अपने आपको पहले से कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। मतभेद सदा रहेंगे लेकिन उसकी चिन्ता हम क्यों करें। सब लोग मेरी प्रशंसा नहीं करेंगे और न यही कहा जा सकता है कि मैंने जो कुछ लिखा है, सबका सब निर्दोष है। आपको 'कंकाल' अच्छा नहीं लगता, मुझको लगता है। बात ख़तम। प्रसादजी बहुत अच्छे आदमी हैं, अनायास उनसे मुहब्बत हो जाती है। अब जब कि मैं उन्हें पास से देख रहा हूँ तो मैं पाता हूँ कि मैं आपकी ज्यादा से ज़्यादा क़द्र करता हूँ। कोई चीज़ उसको हिला नहीं सकती। वातावरण में जो ईर्ष्या और संकीर्णता छायी हुई है, उसकी सफाई के लिए मैं क्या कुछ न दे दूँगा। हमें विचारों की उदारता से काम लेना चाहिए। आप इस सिद्धान्त को मुझसे ज्यादा अच्छी तरह समझते हैं।

'कर्मभूमि' आपको निश्चय ही भेंट की जायेगी। दो सौ प्रतियाँ जिनकी जिल्द बँधी थी चली गयी। नयी प्रतियों की जिल्दबंदी हो रही है। अब बस चन्द दिनों की बात है।

मैं इस महीने के अन्त तक आपको अपनी कहानी दूँगा।

आपकी 'जागरण' वाली समालोचना बहुत अच्छी है।

धन्यवाद।

आपका,
धनपतराय

(2)

सरस्वती प्रेस, बनारस
24 अगस्त, 1933

प्रिय भाई,

धन्यवाद। आप अपने लेख के लिए तीन-चार-पाँच पेज़ ले लें। उसकी कोई बात नहीं है। आप अपनी बात कहिए, इस कैद को खयाल में मत लाइए। मुझे यह देखकर खुशी हुई कि हम लोग जो काम उठाने जा रहे हैं, आप उसके विस्तार क्षेत्र को समझ रहे हैं।

आपके अत्यन्त मैत्रीपूर्ण परामर्श के लिए मैं सचमुच आपका कृतज्ञ हूँ। उस आदमी के ख़िलाफ़ मेरे मन में जरा भी बुराई नहीं है। सच तो यह है कि मुझे उसके लिए दुख है। लेकिन हिन्दी पाठक इतने उथले और आलोचना-बुद्धि से रहित हैं कि वे ऊटपटाँग से ऊटपटाँग बात को, जो बार-बार उनके कान में डाली जाती है, मान

लेने के लिए हरदम तैयार रहते हैं। मगर आगे से मैं अपने ऊपर अधिक संयम रखूँगा।

'भविष्य किनका है' एक बड़ा विषय है और मैंने कभी उसके बारे में सोचा नहीं। इतने लिखने वाले हैं कि उनमें से कुछ को विशेष रूप से गिनाने के लिए चुनना ज़रा कठिन है। साहित्य केवल कहानी नहीं है। उसमें नाटक है, कविता है, आलोचना है, कहानी है, उपन्यास है, निबन्ध है। हमको उन्हें इस तरह विषयानुसार लेना पड़ेगा। माधुरी के दो अंकों में, साल भर से ज़्यादा हुआ, उमर खय्याम पर जो लेख निकला था उससे अधिक सुन्दर आलोचना हिन्दी में मेरे देखने में नहीं आयी। लेखक का नाम शायद रामदयाल तिवारी था। जिन दिनों मैं सम्पादक था, उन दिनों भी माध्ुरी में एक बड़ी उदात्त आलोचना कालिदास के 'ऋतुसंहार' पर निकली थी। लेखक का नाम भूल गया हूँ लेकिन वह वही सज्जन हैं तो आजकल मथुरा म्यूज़ियम के क्यूरेटर हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी में भी अद्भुत व्याख्यात्मक-विश्लेषणात्मक शक्ति है। नाटक हमारे पास बहुत ही कम हैं। रोमाण्टिक स्कूल के प्रसाद है, बुद्धिवादी स्कूल के पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं, हास्यरस के श्री जी. पी. श्रीवास्तव हैं। सबसे नया आदमी इस लाइन में भुवनेश्वर है जिसने हाल ही में अपने छोटे-छोटे एकांकियों का संग्रह 'कारवाँ' के नाम से छपाया है। मेरे देखने में भुवनेश्वर सबसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न है, अगर वह अपनी प्रतिभा को आलस्य, बेसिर-पैर के सपने देखने, सिगरेट पीने और इश्क़बाज़ी में बर्बाद न कर दे! उसमें अभिव्यक्ति की अद्भुत शक्ति है, आस्कर वाइल्ड और शॉ का रंग लिये हुए। मिश्र जी को मैं पसन्द नहीं कर सका। उनके पास विचार हो सकते हैं मगर अभिव्यक्ति को क्षमता और शक्ति नहीं है। मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी हैं, दोनों में नाटकीय शक्ति है, पर नाटक की आधुनिक पकड़ और सूझ-बूझ नहीं है।

उपन्यासकारों में–वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, निराला, सियाराम शरण गुप्त, प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि हैं। मैं समझता हूँ कि इनमें वृन्दावनलाल वर्मा सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं, गो उन्होंने अब वकालत शुरू कर दी है और लिखना शायद बन्द कर दिया है।

कहानीकारों में चुनाव और भी अधिक कठिन है–जैनेन्द्र सबसे अलग अपनी एक हस्ती रखते हैं। नये लोगों में अज्ञेय, चन्द्रगुप्त, कमला देवी, सुभद्रा, ऊषा मित्रा, सत्यजीवन, भुवनेश्वर, जनार्दन झा, जनार्दन राय नागर, अंचल, ओझा, राधाकृष्ण, वीरेन्द्र कुमार और भी बहुत-से लोग हैं। इनमें अज्ञेय, वीरेन्द्र कुमार, सत्यजीवन में सबसे अधिक संभावनाएँ हैं।

हास्य-रस के लिखने वालों में अन्नपूर्णानन्द बेजोड़ हैं मगर वह बहुत ही कम लिखते हैं। जनार्दन झा भी योग्य लेखक हैं मगर उनमें प्रतिभा की स्फूर्ति या अन्तर्दृष्टि बहुत नहीं है। साहसिक आख्यानों के क्षेत्र में पं. श्रीराम शर्मा अकेले हैं।

सृजनशीलता ही असल चीज़ है, मूल स्रोत। सृजनशील प्रतिभाएँ हमारे यहाँ बहुत कम हैं, कहानीकारों में जैनेन्द्र मैदान सम्हाले हुए हैं। दूसरी क़तार में बहुत से

लोग हैं।

जहाँ तक निबन्धों की बात है, पं. रामचन्द्र शुक्ल सम्राट हैं। हेमचन्द्र जोशी ने कुछ सुन्दर निबन्ध लिखे हैं।

आपके मित्र बाबू ब्रजमोहन वर्मा भी हास्य-व्यंग्य के बड़े प्यारे लेखक हैं, और द्विवेदी ग्रंथ में उनका 'शेख' मास्टरपीस था।

यह सरकारी रायें हैं जिनसे आपको नयी कोई बात न मालूम होगी लेकिन मैं समीक्षाबुद्धि-सम्पन्न पाठक भी तो नहीं हूँ। सच तो यह है कि मुझमें आलोचना-बुद्धि तनिक भी नहीं है।

आपने जो विषय चुना है उसका विस्तार साहित्य का पूरा क्षेत्र है लेकिन इसमें आप कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकते। जिनमें आज सबसे अधिक संभावनाएँ दिखायी पड़ती हैं। हो सकता है कि वे बिलकुल बोदे साबित हों और जो बोदे नज़र जाते हैं वे चमक उठें।

आपका,
धनपतराय

पुनश्च :

आप अपना घर क्यों नहीं बसाते, संन्यास ले रहे है जबकि आपको गृहस्थ होना चाहिए ! भला हो विधवा-विवाह का, आपको अपने लिए कन्या पाने में कोई कठिनाई न होगी। संयम एक वरदान है मगर हत्या करना अभिशाप। एक थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी सुसंस्कृत, अधेड़ महिला आपके लिए आदर्श होगी। तब आपको यहाँ-वहाँ, झुकी हुई, शर्मायी हुई, भीख-सी माँगती हुई नज़रें डालने की ज़रूरत न रहेगी ! वह मानसिक और भावात्मक दोनो रूपों में आपकी रक्षा करेगी।

(3)

सरस्वती प्रेस, बनारस
12 जनवरी, 1934

प्रिय बनारसीदास जी,

धन्यवाद। मैंने वह टुकडा 'जागरण' में दे दिया है जो कि परसों शनीचर के दिन निकलेगा।

निर्मल जी को जवाब देते हुए मैंने 'जागरण' में जो लेख लिखा था, क्या आपने उसको देखा ? यह निर्मल बिलकुल सिद्धान्तहीन आदमी है। जिन दिनों पाक्षिक 'जागरण' बाबू शिवपूजन सहाय के हाथों में था, मेरे और 'जागरण' के बीच एक विवाद उठ खड़ा हुआ। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने कुछ लिखा था उसी को लेकर यह झगड़ा खड़ा हो गया। उस समय निर्मल ने 'जागरण' में एक लेख लिखा था जिसमें मेरे साहित्यिक कार्य का मूल्य गिराया गया था और मुझको सलाह दी गयी थी कि अब मैं और कुछ न लिखूँ। क्योंकि मेरे दिन बीत चुके और अब मैं पुराना

पड़ गया। शिवपूजन सहाय ने इस लेख को नहीं छापा। कुछ समय बाद जब 'जागरण' मेरे हाथ में आया, तो इसी निर्मल ने एक लेख में मेरी तारीफ़ में ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाते हुए लिखा जिसको मैंने इन पुजारियों और महंतों और धार्मिक लुच्चे-लफंगों के कुछ पाखंडों का मज़ाक उड़ाया है। उनको वह ब्राह्मण कहता है और ज़रा भी नहीं सोचता कि उनको ब्राह्मण कहकर वह अच्छे-भले ब्राह्मणों का कितना अपमान करता है। ब्राह्मण का मेरा आदर्श सेवा और त्याग है, वह कोई भी हो। पाखंड और कट्टरता और सीधे-सादे हिन्दू समाज के अन्धविश्वास का फायदा उठाना इन पुजारियों और पंडों का धंधा है और इसीलिए मैं उन्हें हिन्दू समाज का एक अभिशाप समझता हूँ और अपने अधःपतन के लिए उत्तरदायी समझता हूँ। वे इसी काबिल हैं कि उनका मखौल उड़ाया जाय और यही मैंने किया है। यह निर्मल और उसी थैली के चट्टे-बट्टे दूसरे लोग ऊपर से बहुत राष्ट्रीयतावादी बनते हैं मगर उनके दिल में पुजारी वर्ग की सारी कमज़ोरियाँ भरी पड़ी हैं और इसीलिए वे हम लोगों को गालियाँ देते हैं जो स्थिति में सुधार लाने की कोशिश कर रहे हैं।

मैं कुछ समझ नहीं सका कि आप किस चीज़ में पंच बनने जा रहे हैं और मेरे खिलाफ़ जुर्म क्या है। क्या वे कहानियाँ जिनमें मैंने इन पाखंडियों का मखौल उड़ाया है ? बराय मेहरबानी उन्हें पढ़ जाइए। बहुत नहीं है। मखौल की असल चीज़ बात को बढ़ा-चढ़ाकर नमक-मिर्च लगाकर कहना होता है। और यही मैंने किया है। मगर यह काम मैंने साफ़ दिल से, हँसी-दिल्लगी के रंग में किया है। वह द्वेष और विष से पूरी तरह मुक्त है।

मेरी हालत बहुत अच्छी नही है। इस साल मुझे कोई दो हज़ार रुपये का घाटा हुआ। उसने मेरी कमर तोड़ दी है। मैं यह सब प्रेस और प्रकाशन और पत्र लीडर प्रेस को सौंप देने के लिए बातचीत कर रहा हूँ। देखूँ इसका क्या नतीजा निकलता है।

आशा है, आप मजे में है।

आपका,
धनपतराय

(4)

सरस्वती प्रेस, बनारस
1 दिसम्बर, 1935

प्रिय बनारसीदासजी,

आपका कार्ड मुझे मिला था, उसके लिए धन्यवाद। मेरी कितनी इच्छा है, काश कि मैं नोगूची के व्याख्यान सुन सकता मगर मजूर हूँ। घरवालों को कैसे छोड़ूँ, यही समस्या है। लड़के इलाहाबाद में हैं और मैं चला जाऊँगा तो मेरी पत्नी बेहद अकेला

और बेबस महसूस करेंगी। अगर मैं उनको भी अपने साथ लेता आऊँ तो इसके लिए अच्छी ख़ासी रक़म ख़र्च करने के लिए चाहिए। इसलिए अच्छा है, कि घर ही पर पड़े रहो, बजाय इसके कि पैसे की तंगी महसूस हो। और जहाँ तक जवान बने रहने की बात है, वह एक स्वभाव की बात है। बहुत से नौजवान हैं, जो मुझसे बुड्ढे हैं और बुड्ढे हैं जो कि मुझसे जवान हैं। लेकिन मैं तो सोचता हूँ कि मैं रोज़-ब-रोज़ जवान होता जा रहा हूँ। परलोक में मेरा विश्वास नहीं है इसलिए अध्यात्म का विचार जो कि यौवन का सबसे बड़ा घातक है, मेरे पास नहीं फटकता। हाँ, यह ज़रूर है कि एक चीज़ स्वस्थ यौवन होती है और दूसरी उन्मत्त यौवन। स्वस्थ यौवन जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और आशावादी दृष्टिकोण में होता है, और उसके साथ गड्ढों से बचता है। उन्मत्त यौवन का मतलब है बिना सोचे-विचारे कुछ कर बैठना और अपनी क्षमताओं और स्वप्नों को बढ़ा-चढ़ाकर देखना। मैंने सपने देखना बन्द नहीं किया है और थोड़ा-बहुत जल्दबाज़ भी हूँ, बिना सोचे-विचारे कुछ कर बैठता हूँ। लेकिन खुशी की बात है कि अतिरंजना की प्रवृत्ति चली गयी है। इस तरह पागलपन का भी बड़ा हिस्सा मेरे पल्ले पड़ा है। मैं समझने लगा हूँ कि संतुष्ट पारिवारिक जीवन एक बड़ा वरदान है। और बड़े-बड़े दिमागों की दुनिया में कमी नहीं है, ढेरों पड़े हैं। सच्ची महानता और नकली महानता में फ़र्क़ कर सकने के लिए बड़ी न्यायबुद्धि चाहिए। मैं ऐसे महान आदमी की कल्पना ही नहीं कर सकता जो धन-संपत्ति में डूबा हुआ हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी देखता हूँ उसकी कला और ज्ञान की सब बातें मेरे लिए बेकार हो जाती हैं। मुझको ऐसा लगने लगता है कि इस आदमी ने वर्तमान समाज व्यवस्था क़ो, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के शोषण पर आधारित है, स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार कोई भी बड़ा नाम जो लक्ष्मी से असंपृक्त नहीं है, मुझको आकर्षित नहीं करता। यह बहुत सम्भव है कि मेरे मन के इस ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो। हो सकता है कि बैंक में अच्छी रक़म रखकर मैं भी औरों जैसा ही हो जाता—उस लोभ का संवरण न कर पाता। लेकिन मैं खुश हूँ कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी मदद की है और मुझे गरीबों के साथ डाल दिया है। इससे मुझे मानसिक शान्ति मिलती है।

आप कितनी ही बार मुगलसराय से गुजरे मगर कभी यह तकलीफ नहीं की कि एक दिन के लिए यहाँ चले आते। और फिर आप मुझसे उम्मीद करते हैं कि मैं यहाँ से कलकत्ते तक का सफ़र करूँ और अपनी बीवी को नाराज़ कर लूँ। आन्तरिक शान्ति मेरा सिद्धान्त है !

आपका,
धनपतराय

(5)

सरस्वती प्रेस, बनारस
31 मार्च, 36

प्रिय बनारसीदासजी,

पत्र के लिए धन्यवाद। हाँ, अगर आप अंग्रेजी पाठकों से हिन्दी लेखकों का परिचय करा सकें तो यह एक सच्ची सेवा होगी। लेकिन आप तो हिन्दी लेखकों की प्रवृत्ति जानते हैं। जिन-जिनको आप छोड़ेंगे उन सबकी तरफ़ से चौमुख हमले को बर्दाश्त करने के लिए आपको तैयार रहना चाहिए। निर्दोष से निर्दोष बात की भी व्याख्या इस तरह की जा सकती है कि उसमें शरारत भरी हुई मालूम हो।

नागपुर सभा ने बाबू राजेन्द्रप्रसाद को चुना है; इससे अच्छा चुनाव वे नहीं कर सकते थे। सम्मेलन में शरीक़ होने का मेरा कोई इरादा न था। अब तक मैं केवल दिल्ली अधिवेशन में सम्मिलित हुआ हूँ और वह भी जैनेन्द्र के दबाव में पड़कर। लेकिन इस बार भारतीय साहित्य परिषद् जो तीन और चार अप्रैल को वर्धा में होने वाला था, नागपुर सम्मेलन के लिए स्थगित कर दिया गया है। इसलिए मैं वहाँ जाऊँगा, गो अभी तक पक्का नहीं है, क्योंकि यह बजट का सवाल है।

दिल्ली की हिन्दुस्तानी सभा मेरे और जैनेन्द्र के सलाह-मशविरे का नतीजा है। जब तक हम दूसरी भाषाओं के लेखकों से मिलें-जुलें नहीं, दोस्ती न बनायें,साहित्यिक समस्याओं पर एक-दूसरे से रोशनी न लें, विचारों का आदान प्रदान न करें, अपने नतीजों का साथ बैठकर मिलान न करें, तब तक हममें कैसे दृष्टि की वह व्यापकता और मन की वह उदारता आ सकती है जो साहित्यिक कर्मियों के लिए अपरिहार्य है ? योरोप में उनके अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक सम्मेलन होते हैं, और उनमें वे उन सभी विषयों पर विचार-विमर्श करते हैं जिनका साहित्य से संबंध है। हमने अब तक दूसरी भाषाओ के अपने भाइयों से भाईचारा कायम करने की कोई कोशिश नहीं की। उर्दू के पास निस्संदेह एक सांस्कृतिक परम्परा है और उनके सम्पर्क में आने पर हमको अपनी कमज़ोरियाँ मालूम होती हैं। सच तो यह है कि मैंने उनको अधिक सामाजिक और सहानुभूतिशील पाया, और जैनेन्द्र मेरी बात की तसदीक करेंगे। वह अभी हाल में लाहौर गये थे और वहाँ पर उन्होंने कई व्याख्यान दिये और हिन्दुस्तानी सभा संगठित की। उत्साह में भरे हुए वे यहाँ से लौटे हैं और उनके प्रशंसक हो गये हैं। इस बढ़ती हुई खाई को कैसे पाटा जाय ? इन राजनीतिज्ञों से तो कोई उम्मीद रखनी न चाहिए, बिलकुल बेमसरफ लोग हैं। उनसे उदार-मनस्क होने की आशा ही न करनी चाहिए। लेखकों ही को आगे आना पड़ेगा। और शत्रु से अधिक मित्र के रूप में वे ज्यादा अच्छी तरह अगुआई कर सकते हैं। हिन्दुस्तानी सभा पाक्षिक मीटिंगों का संगठन करेगी जिनमें साहित्यिक और भाषा शास्त्रीय विषयों पर निबन्ध और भाषण हुआ करेंगे। जब श्रोता-मण्डली मिले-जुले ढंग की होगी तब वक्ताओं को भी अत्यधिक साहित्यिक होने के लोभ का दमन करना पड़ेगा और वह ज्यादा सरल रूप में अपनी बात कहने के लिए मजबूर होंगे ताकि सब लोग उन्हें समझ सकें। अगर हम

सभी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्रों में ऐसी सभाओं की व्यवस्था कर सकें तो हम वर्तमान संकीर्ण और पार्थक्यवादी दृष्टि को व्यापक बना सकेंगे। तब हमारा साहित्य अधिक समृद्ध अधिक पूर्ण होगा और यही एक मिली-जुली भाषा की समस्या का अकेला हल होगा।

प्रान्तीयता एक नया सन्कट है और हमको सावधान होना पड़ेगा। अगर आप कलकत्ते में एक हिन्दी-बंगाली या हिन्दोस्तानी सभा का संगठन कर सकें, और समय-समय पर उर्दू, हिन्दी और बंगला लेखकों को एक जगह पर जमा कर सकें, तो यह एक असली काम होगा।

आपका,

धनपतराय

बिपिनविहारी श्रीवास्तव, को

नं. 25 मारवाड़ी गली

धनपतराय

बी. ए. एस-सी.

4-4-1928

लखनऊ

(प्रेमचन्द)

सदस्य–हिन्दुस्तान एकादमी

सम्पादक–माधुरी

प्रिय विपिन बाबू,

बाबू सत्यदेव नारायण साही जब यहाँ थे, तब उन्होंने आपका नाम मुझे बताया था और वादा किया था कि जब वह कुछ दिन बाद दुबारा बनारस पहुँचेंगे तब आपसे आपके विवाह के सम्बन्ध में बात करेंगे। ऐसा मालूम होता है कि अपनी विविध गतिविधियों के कारण वह अभी आपसे नहीं मिल पाये हैं। इस बीच मैंने अपने बड़े भाई से निवेदन किया था कि वह आपसे मिलें और आपसे आपका दृष्टिकोण तथा आपकी इच्छाओं को जानें। उन्होंने वैसा ही किया और उनकी रिपोर्ट पर, जो उन्होंने आपसे मिलकर मुझे दी, यह पत्र आपको सम्प्रेषित किया जा रहा है।

मुझे आपको लड़की दिखाने में कोई आपत्ति नहीं। यह इच्छा नितान्त स्वाभाविक है और मैं आपसे-पूर्णतः सहमत हूँ। आप यहाँ आ सकते हैं, बल्कि मेरे ही ख़र्च पर एक काल्पनिक नाम के साथ मुझसे मिलें। मेरा पता ऊपर लिखा है और कोई भी इक्का आसानी से स्टेशन से आपको ले आ सकता है। अनुशासन-रहित औरत वैसी सुखदायी जीवन-साथी नहीं बन सकती, जैसी एक सामान्य शिक्षित तथा

आज्ञाकारी, निस्वार्थ, ईमानदार तथा वफादार लड़की।

जहाँ तक दहेज का प्रश्न है, आप एक शिक्षित आदमी हैं और मैं आपसे सीधे शब्दों में बात करना चाहता हूँ, क्योंकि शिक्षित लोग औचित्यहीन बात नहीं करते। मैं आपके पिता को नहीं जानता और न उनके विचारों तथा सोचने के ढंग को। मैं सदैव आगे बढ़कर आपसे मिलना चाहूँगा। शिक्षित लोगों के बीच ऐसे प्रश्न नहीं उठने चाहिए, अतः सब-कुछ दोनों पक्षों की इच्छा पर छोड़ा जा रहा है। मान लीजिए मैं आपको 5000रु. दूँ और फिर आपसे अपेक्षा करूँ कि आप उसी राशि के जेवरात लायें तो मेरे विचार से पैसे की बर्बादी हो गयी। बधू के हित में ही उपयोग करना दहेज का सदुपयोग है। मैं चाहूँगा कि मेरा दामाद अपना बीमा करा ले, माना 5000 रु. का। मैं लड़की के नाम एक राशि बैंक में जमा कर देता हूँ, जिसके ब्याज से बीमे की राशि की किश्त भरी जा सके। क्या यह ठोस और ग्रहणीय प्रस्ताव नहीं है जो दोनों पक्षों को लाभप्रद हो, विशेष रूप से पत्नी को, यदि कोई अप्रत्याशित आपातिक स्थिति आती है ?

अब मैंने वह सब-कुछ कह दिया है जो मैं कहना चाहता था। मैं आपसे विचार-विनिमय करना चाहूँगा। मेरे बहनोई बाबू सोमेश्वर प्रसाद आपके पास जल्द आयेंगे और आपके पिता से मिलेंगे, किन्तु मैं आपसे आशा करता हूँ कि आप स्वतन्त्र, उन्मुक्त तथा उदार रहेंगे। जैसा कि बूढ़े लोगों में प्रतिकूलता, संकीर्णता तथा तर्कहीनता होने का डर रहता है, वैसा यहाँ कुछ नहीं मिलेगा।

उच्चतम मंगलकामनाओं सहित।

आपका हितैषी,
धनपतराय

'भारत'-सम्पादक को

प्रियवर,

आपने अपने सम्मानित पत्र के 22 सितम्बर के अंक में सरस्वती प्रेस की हड़ताल के विषय में प्रेस कर्मचारी संघ की शानदार फ़तह का जो हाल छापा है उसके बारे में मैं भी कुछ निवेदन करने की आपसे अनुमति चाहता हूँ और मुझे आशा है आप मुझे निराश न करेंगे। सरस्वती प्रेस के प्रोप्राइटर होने के नाते हड़ताल की कितनी ज़िम्मेदारी मुझ पर आती है। उसे स्पष्ट करना आवश्यक है ताकि आपके पाठकों को उससे मेरे बारे में जो ग़लतफ़हमी हो सकती है वह दूर हो जाय।

सरस्वती प्रेस लगातार कई साल से घाटे पर चल रहा है। पहले 'हंस' निकला और उससे तीन साल तक बराबर घाटा होता रहा। अब भी कुछ-न-कुछ घाटा ही है। इसके बाद प्रेस में काम की कमी को पूरा करने और जाति की कुछ सेवा करने के लिए मैंने 'जागरण' निकालने का भार भी ले लिया। यद्यपि काम मेरे बूते का न था लेकिन इस आशा से कि शायद यह उद्योग सफल हो जाय और प्रेस में धनाभाव

का जो रोग लगा हुआ है वह दूर हो जाय मैंने यह भार भी सिर पर ले लिया और दो साल अपने समय का बहुत बड़ा भाग ख़र्च करके उसे चलाता रहा लेकिन तो भी बराबर घाटा ही रहा यहाँ तक कि प्रेस पर कोई चार हज़ार का ऋण हो गया जिसमें कर्मचारियों का देना और कागजवालों का बकाया दोनों शामिल है। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी और जब अपनी बिगड़ी आर्थिक दशा से तंग आकर मैं काशी से चलने लगा तो मैंने 'जागरण' का सम्पादन-भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौंपा जिसे उन्होंने सहृदयता के साथ स्वीकार किया। मगर घाटा बराबर होता रहा। मेरी पुस्तकों की बिक्री के रुपये भी प्रेस के ख़र्च में आते, फिर भी ख़र्च पूरा न पड़ता क्योंकि इधर पुस्तकों की बिक्री भी घट गयी है। बाबू सम्पूर्णानन्द जी के हाथों में 'जागरण' ने सोशलिस्ट नीति की जैसी जोरदार वकालत की वह हिन्दी संसार भली भाँति जानता है। मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ और मेरी सारी ज़िन्दगी ग़रीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। हिन्दी में 'जागरण' एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुए वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया। जब प्रेस की आमदनी का यह हाल था तो कर्मचारियों का वेतन कहाँ से पाबंदी के साथ दिया जा सकता था ? मेरी किताबों से जो कुछ आमदनी होती है वह इतनी भी नहीं है कि उससे मेरा निबाह हो सकता। न मुझमें यह फ़न है कि धनिकों से अपील करके कुछ धन संग्रह कर सकता, ऐसी दशा में प्रेस कर्मचारियों और काग़ज़वालों दोनो ही से मुझे मजबूरन वादा-ख़िलाफ़ी करनी पड़ी। मुझे ऐसी दशा में 'जागरण' को अवश्य बंद कर देना चाहिए था, जैसा मेरे अनेक मित्रों ने कहा लेकिन दुनिया उम्मीद पर क़ायम है और मैं बराबर यही सोचता रहा कि शायद अब पत्र का प्रचार बढ़े। उसके पीछे कई हज़ार का नुक़सान उठा चुकने के बाद उसे बंद करते मोह आता था। मेरे कई मित्रों ने प्रेस को ही बंद करने की सलाह दी, क्योंकि प्रेस के बंधन से मुक्त होकर मैं अपनी पुस्तकों और लेखों से लस्टम-पस्टम अपना निर्वाह कर सकता हूँ। कम-से-कम उस दशा में मुझ पर किसी का क़र्ज़ तो न रहता। लेकिन मुझे यही संकोच होता था कि ये 25-30 आदमी बेकार होकर कहाँ जायेंगे। बला से मुझे कुछ नहीं मिलता; मेहनत भी मुफ़्त में करनी पड़ती है, मगर इतने आदमियों की रोज़ी तो लगी हुई है। महज़ इस ख़याल से मैं हर तरह की ज़ेरबारी उठा कर प्रेस और पत्र चलाता रहा। दिल में समझता था, कर्मचारियों को प्रेस का ज्ञान है ही, क्या वह मेरी मज़बूरी नहीं समझते ? जब उन्हें मालूम है कि मैंने आज तक प्रेस से एक पैसे का लाभ नहीं उठाया और जायज़ कमाई से कम-से-कम दस हज़ार रुपये प्रेस और पत्रों के पीछे फूँक दिये तो उनको मेरे नादिहन्द होने की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मैं तो उलटे अपने को उनकी हमदर्दी का पात्र समझता था। मैं मानता हूँ कि ग़रीबों को समय पर वेतन न मिलने से बड़ा कष्ट होता है, लेकिन क्या ये खुद ही इस प्रेस के मालिक होते तो वे भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते ? उन्हीं कर्मचारियों में कितने ही किसान हैं। क्या उन्हें किसानी में घाटा नहीं हो रहा है

और वे प्रेस की मज़दूरी करके लगान नहीं अदा कर रहे हैं ? कर्मचारी को मालिक से असन्तोष तब होता है जब मालिक खुद तो आमदनी हजम कर जाता है और उन्हें भूखा रखता है। जब उन्हें मालूम है कि मालिक खुद बेगार में रात-दिन पिस रहा है, उसकी जेब में एक पाई भी नहीं है। फिर भी इन परिस्थितियों पर ज़रा भी विचार न करके प्रेस संघ ने प्रेस में हड़ताल करवा दी। मैंने खबर पाते ही संघ के सभापति महोदय को सारा हाल समझा दिया और निवेदन किया कि मैं कर्मचारियों को exploit नहीं कर रहा हूँ बल्कि खुद उनके द्वारा exploit किया जा रहा हूँ, और प्रेस में जो कुछ आयेगा वह कर्मचारियों को दिया जायेगा, मैंने खुद न प्रेस से कभी एक पैसा लिया है, न अब लूँगा, लेकिन उन्हें तो अपनी शानदार फ़तेह की पड़ी थी, मेरी गुजारिशें पर क्यों ध्यान देते ? उन्हें यहाँ तक विचार न हुआ कि इस प्रेस को साहित्य या समाज की सेवा ही के कारण यह घाटा हो रहा है, और यही प्रेस है जो मज़दूरों की वकालत कर रहा है, और इस लिहाज़ से मज़दूरों की हमदर्दी का हकदार है, ऐसी कोशिश करें कि वह सफल हो, और ज्यादा एकाग्रता से उनकी वकालत कर सके। उनके सोशलिज्म में ऐसे तुच्छ विचारों के लिए स्थान ही नहीं था। वहाँ तो सीधा-सादा खुला हुआ सिद्धान्त था कि प्रेस ने मज़दूरी बाक़ी लगा रखी है इसलिए हड़ताल करवा दी। मैं अब भी प्रेस बन्द कर सकता था क्योंकि मैं पहले ही कई बार कह चुका हूँ कि प्रेस से मुझे कोई आर्थिक लाभ नहीं है, बल्कि हमेशा कुछ न कुछ घर से देना पड़ता है, लेकिन फिर यही खयाल करके कि इतने आदमी उसी प्रेस से कुछ न कुछ पा रहे हैं उसे बंद कर देने से उन्हीं का नुक़सान होगा, और उन्हें अपने बाकी वेतन के लिए कई महीनों का इन्तज़ार करना पड़ेगा, प्रेस को ज़ारी कर दिया। यह है उस शानदार विलय का वृतान्त जो संघ को सरस्वती प्रेस पर प्राप्त हुई है। अपने वकील का गला घोंटना अगर विजय है तो बेशक उसे विजय हुई, क्योंकि इस झमेले में 'जागरण' बन्द हो गया। जिन मज़दूरों के लिए वह सैकड़ों का माहवार घाटा सह रहा था, जब उन्हीं मज़दूरों को उस पर दया नहीं आती तो फिर उसका बंद हो जाना ही अच्छा था।

रह गयी अन्य शर्तें। वे सब अच्छी हैं और मैं हमेशा से उनकी पाबंदी करता आया हूँ। मेरे कर्मचारियों में से किसी का साहस नहीं है कि वह मेरे विरुद्ध अपशब्द या डाँट-डपट का आक्षेप कर सके। मैं खुद मजदूर हूँ और मजदूरों का दोस्त हूँ। उनके साथ किसी तरह का अन्याय या सख़्ती देखकर मुझे दुःख होता है। और मेरे मैनेजर ने मार-पीट की थी तो कर्मचारियों को मुझसे कहना चाहिए था, अगर मैं मैनेजर की तम्दीह न करता तो उनका जो जी चाहता वह करते। लेकिन संघ ने अपनी शानदार फ़तेह की धुन में मुझे सूचना देने की ज़रूरत न समझी और हड़ताल करके प्रेस का नुकसान और बढ़ाया। प्रेस की 13 दिन की कमाई मज़दूरों के मुँह से छीन ली। इन शर्तों में एक भी ऐसी नहीं है जो मैं सच्चे मन से मान लेता, बल्कि मैं तो मज़दूरों को आधे महीने की पेशगी देने की शर्त भी मानता, अगर कोष में रुपये होते। मैं

खुद चाहता हूँ कि वह समय आवे जब मज़दूरों को (जिनमें मैं भी हूँ) कम से कम काम करके अधिक से अधिक मज़दूरी मिले, खूब छुट्टियाँ मिलें और जितनी सुविधाएँ दी जा सकें दी जायँ, मगर शर्त यही है कि आमदनी काफी हो। घाटे पर चलनेवाले उद्योग को बड़ी-बड़ी सदिच्छाएँ रखने पर भी बदनाम होना पड़ता है और उस पर कोई भी बड़ी आसानी से शानदार फ़तेह पा सकता है।

प्रेमचन्द
अजंता सिनेटोन
परेल, बम्बई
25 सितम्बर, 1934

डॉ. रघुबीर सिंह को

सरस्वती प्रेस
काशी
3913 / 7-5-1932

प्रियवर,

बन्दे !

कृपा-पत्र के लिए धन्यवाद।

'प्रतिज्ञा' और 'प्रेमी' मेरी ही लिखी हुई हैं। 'प्रेमी' मैंने 1905 में लिखा था। उस वक़्त मैं नवाबराय के नाम से लिखता था। उसमें एक विधवा का विवाह कराया गया था, अर्थात पूर्ण का अमृतराय से विवाह हुआ था। लेकिन आप दोनों पुस्तकों को सामने रख लें तो आपको सिवा बसन्तराय के गंगा वाले दृश्य के और कोई बात न मिलेगी। मैंने विधवा का विवाह कराके हिन्दू नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक़्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति जोरों पर थी। उस रूप मे मैं उस पुस्तक को नहीं देखना चाहता था। इसलिए मैंने कथा में उलटफेर करके इसे लिख डाला। आप देखेंगे कि आरम्भ दोनो का भिन्न है, अन्त भी भिन्न। समानता केवल पात्रों के नामों में है। कुछ 'हंस' के लिए लिखिए। आप हमी से क्यों नाराज़ हैं ?

भवदीय,
प्रेमचन्द

रामचन्द्र टण्डन को

सरस्वती सदन, दादर, बम्बई 14
3 फरवरी, 1935

प्रिय बन्धु,

पत्र के लिए और उन कतरनों के लिए जो आपने कृपापूर्वक भेजी हैं, धन्यवाद।

डॉ. सप्रू का लेख मैं पढ़ चुका था और उसमें बहुत तुक की बातें कही गयी हैं। उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिस पर कोई आपत्ति कर सके। लेकिन मिस्टर धीरेन्द्र के विचार पृथकतावादियों के हैं और मैं उनका समर्थन नहीं कर सकता। शायद आपने इस विषय पर गारसां द तासी के लेख पढ़े हों। 'उर्दू', अंजुमन तरक़्किये उर्दू का मुखपत्र, उन्हें किस्तों में छाप रहा है। हाल में प्रकाशित लेखों में से एक मैंने पढ़ा। उसमें इतनी ताज़गी और साफगोई और दूरन्देशी पाकर मुझे ताज्जुब हुआ। कौन जाने मिस्टर वर्मा ने उसको पढ़ा है या नहीं। उसने इस समस्या का समाधान बहुत उस्तादी ढंग से किया है। उसकी राय है कि लिपि को छोड़कर हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा है। उनमें केवल लिपि का भेद है। कहाँ पर भाषा उर्दू की सीमा को लाँघकर हिन्दी के क्षेत्र में पहुँच जाती है, रेखा खींचकर बतलाना असम्भव है। उर्दू वाले जितना मन चाहे अरबी और फ़ारसी से लें। हिन्दीवाले भी उनका अनुकरण करें। उनकी भाषा प्रान्तीय उर्दू और हिन्दी बनी रहेगी। हमारी हिन्दुस्तानी जनता के रास्ते पर चलेगी और ज़बान जैसे बोली जाती है वैसे लिखने की कोशिश करेगी। जनता से मेरा मतलब स्वभावतः वे लोग हैं जो लिख-पढ़ सकते हैं और जिनके पास साहित्यिक सस्कार हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडमी का काम इसी समस्या से जूझना था। ऐसे ही मेम्बर लीजिए जो एक मिली-जुली भाषा मे आस्था रखते हों। उसे मिली-जुली भाषा में अलग-अलग लिपियों में एक पत्रिका निकालनी चाहिए थी। यह एक सच्ची सेवा होती। सम्प्रति उसकी कार्रवाइयाँ साम्प्रदायिक हैं और उसने अपने अस्तित्व को चरितार्थ नहीं किया।

निस्सन्देह हिन्दुस्तानी अपने रूप और वैभव और शब्द सम्पदा में साहित्यिक भाषा नहीं है। साहित्यिक भाषा बोल-चाल की भाषा से अलग समझी जाती है। मेरा ऐसा विश्वास है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति को बोल-चाल की भाषा के निकट से निकट पहुँचना चाहिए। कम से-कम नाटक, कहानी और उपन्यास साधारण बोल-चाल की भाषा में हम लिख सकते हैं, इन्हीं में हम जीवनी और यात्रा-वर्णनों को भी शामिल कर सकते है और साहित्य की ये शाखाएँ सम्पूर्ण साहित्य का तीन-चौथाई ठहरती है और ऐसा तीन-चौथाई जो सचमुच महत्त्व रखता है। आपका विज्ञान और दर्शन संस्कृत में लिखा जाय या प्राकृत में, मुझे कोई परवाह नहीं। जैसा कि गारसां द तासी कहता है, "हिन्दी को उसके पुराने आधारों के पास खींचकर ले जाना एक वैसा ही वेकार कोशिश है जैसी कि नदी की धारा को मोड़कर वापस उसके उद्गम स्थल पर ले जाना।"

किताबो के वारे में मैंने अपने लड़के को लिखा है कि वह आपको जाकर बतलाये कि वह किताबें उसने किसके पास जमा कीं। आपको शायद पता न हो, मेरे दोनों लड़के कायस्थ पाठशाला इण्टरमीडिएट स्कूल में हैं और उसी इमारत में रहते हैं जिसमें हिन्दुस्तानी एकेडमी है। लेकिन दोनों बेहद झेंपू हैं, जो गुण उन्होंने शायद मुझसे लिया है, यानी अगर ये मान लें कि मैं उनका बाप हूँ। उसका नाम श्रीपतराय है, अगर

आप उसे बुला लें और उससे पूछें तो वह आपको बतलायेगा कि उन किताबों का क्या हुआ।

लेखक संघ। मेरी राय में उसका एकमात्र उपयोगी काम सहकारी प्रकाशन है जिसमें कि हर लेखक जो उसका सदस्य है तीस से लेकर चालीस फ़ीसदी रायल्टी पाने के लिए आश्वस्त हो जाय। हिन्दी का बाज़ार इतना मंदा है और लेखक अपनी पुस्तकें छपवाने के लिए इतने आतुर हैं कि वे प्रकाशकों के साथ कोई भी समझौता कर लेंगे। वे अगर अपनी शर्तों पर अड़े रहें और प्रकाशक उनकी पुस्तकें प्रकाशित करने से इनकार कर दें तो फिर बेचारा कहीं का न रह जायेगा। यह चीज़ वैसी ही है जैसी कि लोगों को वर को दहेज देने से रोकना। लेकिन जब युवकों की कमी हो और कन्या का पिता तुरन्त अपनी कन्या का विवाह कर देने के लिए आतुर हो तब फिर दूषित दहेज प्रथा के आगे घुटने टेक देने के अलावा कोई चारा नहीं। वह तने तो किस बिरते पर। लेकिन सहकारी प्रकाशन के लिए रुपया चाहिए और संगठन चाहिए और स्टाफ़ चाहिए और यह काम तभी हाथ में लिया जा सकता है जब संघ के पास आवश्यक प्रभाव और प्रतिष्ठा हो। लेकिन कोई कारण नहीं है कि वह लेखकों की, जब प्रकाशक अनुचित रूप से उनका शोषण करते हों, सहायता न करे। हमारी वर्तमान आवश्यकता सदस्यता को बढ़ाना है ताकि संघ साहित्यिक काम करनेवालों की ओर से उनके प्रतिनिधि की हैसियत से बोल सके। हमें उसको परवान चढ़ाना है और उस जगह पर पहुँचना है, जहाँ वह असर कर सके। आप भीतर रहकर उसे जिस रूप में चाहे विकसित कर सकते हैं या जिधर चाहें ज़्यादा आसानी से मोड़ सकते हैं। जब उसके बहुत-से सदस्य होंगे तब हर आदमी के लिए यह गुमकिन होगा कि वह जनमत को संगठित करके उसमें जैसी रद-बदल चाहे कर सके। ध्वंसात्मक आलोचनाओं से केवल अलग-अलग पक्षों की कट्टरता और भी बढ़ती है।

मुझे रूसी कहानियों का आपका संग्रह नहीं मिला। मुझे यकीनन उनमें मज़ा आयेगा और मैं उनकी समालोचना करूँगा।

बराय मेहरबानी मेरा आदाब मौलवी असग़र हुसैन साहब से अर्ज़ कर दें। आशा है कि आप पूर्ण स्वस्थ होंगे।

आपका

धनपतराय

पुनश्च–

मैं शायद मिस्टर वर्मा के विचारों का खंडन करते हुए हिन्दुस्तानी में एक छोटा लेख लिखूँगा।

विनोद शंकर व्यास को
(1)

लखनऊ

10 सितम्बर 1929

प्रिय व्यास जी,

बंदे !

आपने 'मधुकरी' पर मेरी सम्मति पूछी है। संग्रह सुन्दर हुआ है और कहानियों के चुनाव में सुरुचि से काम लिया गया है। ऐसे सुन्दर संग्रह पर मैं आपको बधाई देता हूँ। मेरे और आपके साहित्यिक आदर्शों में किंचित् अंतर है, पर यह कैसे आशा की जा सकती है कि सभी लोग एक ही जैसे विचार रखते हों। यह भेद स्वाभाविक है। इससे संग्रह की सुन्दरता में कोई बाधा नहीं पड़ती। संग्रह में बनारसवालों के साथ आपने ज़रूरत से ज़्यादा उदारता की है, पर शायद मैं संग्रह करने बैठता तो मैं भी ऐसा ही करत'। मेरा 'गल्प समुच्चय' तो एक प्रकाशक के संकेत पर केवल स्कूली कक्षाओं के लिए, उसी के बताये हुए लेखकों से किया गया था। उसमें मैं उन लेखकों को कैसे ला सकता था जिनको प्रकाशक ने स्वयं अलग कर दिया था। स्कूल के लिए जटिल भाषा और जवानी से छलकती हुई कहानियों की तो ज़रूरत न थी। वहाँ तो चरित्र का विचार ही प्रधान रहता है। मेरे विचार में–सभी के विचार में–साहित्य के तीन लक्ष्य हैं–परिष्कृति, मनोरंजन और उद्घाटन। लेकिन मनोरंजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योंकि लेखक का मनोरंजन केवल भाड़ों का नक़्कालों का मनोरंजन नहीं होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रखकर ही होता है। हम गुप्त मनोभावों को इसलिए नहीं दर्शाते कि हमें उनको दार्शनिक विवेचना करनी है, बल्कि इसलिए कि हम सुन्दर को आकर्षक और असुन्दर को हेय दिखाना चाहते

क्षमा करना, क्या-से-क्या लिख गया !

भवदीय,

धनपत राय

हाँ, संग्रह में अशुद्धियाँ बेशुमार हैं।

–धनपत राय

(2)

सरस्वती प्रेस काशी
24 जनवरी 1930

प्रिय विनोदशंकर जी,

अबकी मैं प्रयाग गया तो बाबू राजेन्द्रप्रसाद की बातों से मालूम हुआ कि आप मुझसे नाराज़ हैं और इसलिए कि मैंने 'मधुकरी' के लिए आपको कोई गल्प नहीं दी। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने आपसे कह दिया था कि जिन पुस्तकों पर मेरा कोई अधिकार नहीं है उनको छोड़कर आप मेरी जिस पुस्तक से चाहें संग्रह कर सकते हैं। शायद मैंने 'अग्नि समाधि' का नाम भी बतलाया था। आपको वह कहानी अच्छी न लगी लेकिन मेरे कितने ही साहित्यिक मित्रों ने उसे बहुत पसन्द किया।

मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि कहानियों के प्लाट जीवन से लिये जायें और जीवन की समस्याओं को हल करें। कहानी से कविता का काम लेना मुझे नहीं जँचता। यही बात थी जो मैंने किसी पत्र में इशारतन् लिखी थी कि गल्पों के विषय में मेरे और आपके मतभेद हैं। लेकिन इधर आपकी कई कहानियाँ देखकर मुझे मालूम हुआ कि उनके प्लाट अवश्य जीवन से लिये गये हैं—बिलकुल ख़याली, कल्पित नहीं हैं। हाँ, कहानी और गद्यकाव्य में अंतर है, इसे शायद आप भी स्वीकार करेंगे।

गद्यकाव्य हृदय के तारों पर चोट करता है, कहानी से अधिक, क्योंकि वह तो चोट करने के लिए ही लिखा जाता है लेकिन उसकी चोट उस संगीत की ध्वनि के सदृश है जो एक बार कान में पड़कर, एक चुटकी लेकर, ग़ायब हो जाती है। कहानी आपकी आँखों के सामने चरित्रों को खेलते हुए दिखाती है।

खैर, आप 'हंस' के लिए कुछ लिख रहे हैं या नहीं—गद्यकाव्य, गल्प, ऐतिहासिक, कुछ भी हो। उसमें तो सभी चीज़ों की गुंजाइश है। आप लिखिए और अपने ही रंग में। 'दीपदान' की-सी चीज़, खूब थी। काशी से निकलनेवाली पत्रिका की लाज रखिए।

जवाब जल्द दीजियेगा—होली तक पहला अंक निकाल देना चाहता हूँ।

भवदीय,
धनपत राय

साक्षात्कार

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र-साक्षात्कार–

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 11 मई, 1930 को कलकत्ता से पत्र लिखते हुए प्रेमचन्द को सात प्रश्न भेजे थे, जिनका उत्तर प्रेमचन्द ने 3 जून, 1930 को लिखे पत्र में दिया था। यह पत्र-साक्षात्कार यहाँ प्रस्तुत है।

चतुर्वेदी : आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया ?

प्रेमचन्द : मैंने 1907 में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले 1908 में मेरा 'सोज़े-वतन', जो पाँच कहानियों का संग्रह था, ज़माना प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलेक्टर ने मुझसे जलवा डाला था। उनके ख़याल में वह विद्रोहात्मक था, हालाँकि तब से उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं मे निकल चुका है।

चतुर्वेदी : अपनी कौन-कौन-सी गल्प आपको सर्वोत्तम लगती हैं ?

प्रेमचन्द : इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। दो सौ से ऊपर गल्पों में कहाँ चुनूँ, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ–(1) बडे घर की बेटी, (2) रानी सारन्धा, (3) नमक का दारोगा, (4) सौत, (5) आभूषण, (6) प्रायश्चित्त, (7) कामना-तरु, (8) मन्दिर और मस्जिद, (9) घासवाली, (10) महातीर्थ, (11) सत्याग्रह, (12) लांछन, (13) सती, (14) लैला, (15) मन्त्र।

'मंज़िले-मक़सूद' नामक उर्दू कहानी बहुत सुन्दर है। कितने ही मुसलमान मित्रों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है, पर अभी तक उसका अनुवाद नहीं हो सका। अनुवाद में भाषा-सारल्य ग़ायब हो जायेगा।

चतुर्वेदी : आपकी लेखन-शैली पर देशी या विदेशी किन-किन गल्प-लेखकों की रचना का प्रभाव पड़ा है ?

प्रेमचन्द : मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं. रतननाथ दर लखनवी और कुछ डॉ. रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

चतुर्वेदी : आपको अपने ग्रन्थों से, रचनाओं से क्या मासिक आय हो जाती है ?

प्रेमचन्द : आय की कुछ न पूछिए। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। 'प्रेम-पचीसी', 'सेवा-सदन', 'सप्त-सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम' आदि के लिए एकमुश्त तीन हज़ार रुपये हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने दिया। 'नव-निधि' के लिए शायद अब तक दो सौ रुपये मिले हैं। 'रंगभूमि' के लिए अठारह सौ रुपये दुलारेलाल ने दिये। और संग्रहों के लिए सौ-दो-सौ मिल गये। 'कायाकल्प', आज़ाद-कथा', 'प्रेम-तीर्थ', प्रेम-प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापा, पर अभी तक मुश्किल से 600 रुपये वसूल हुए हैं, और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं। फुटकर आमदनी लेखों से शायद 25 रुपये माहवार हो जाती है, मगर इतनी भी नहीं होती। मैं अब 'हंस' और 'माधुरी' के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' में लिखता हूँ, बस ! हाँ, अनुवादों से भी अब तक शायद दो हज़ार से अधिक न मिला होगा। आठ सौ रुपये में 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों का अनुवाद दे दिया था। कोई छापनेवाला ही न मिलता था।

चतुर्वेदी : हिन्दी में गल्प-साहित्य की वर्तमान प्रगति के विषय में आपके क्या विचार हैं ?

प्रेमचन्द : हिन्दी में गल्प-साहित्य अभी अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में है। कहानी लिखनेवालों में सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्रकुमार, 'उग्र', प्रसाद, राजेश्वरी यही नज़र आते हैं। मुझे जैनेन्द्र और 'उग्र' में मौलिकता और बाहुल्य के चिह्न मिलते हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ भावात्मक होती हैं, 'रीयलिस्टिक' नहीं; राजेश्वरी अच्छा लिखते हैं, मगर बहुत कम। सुदर्शन जी की रचनाएँ सुन्दर होती हैं, पर गहराई नहीं होती और कौशिक जी अक्सर बात को बेज़रूरत बढ़ा देते हैं। किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया। 'उग्र' ने किया, मगर बहक गये। मैंने कृषक समाज को लिया, मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं जिन पर रोशनी डालने की ज़रूरत है। साधुओं के समाज को किसी ने स्पर्श तक नहीं किया। हमारे यहाँ कल्पना की प्रधानता है, अनुभूति की नहीं। बात यह है कि अभी तक साहित्य को हम व्यवसाय के रूप में नहीं ग्रहण कर सके। मेरा जीवन तो आर्थिक दृष्टि से असफल है और रहेगा। 'हंस' निकालकर मैंने किताबों की बचत का भी वारा-न्यारा कर दिया। यों शायद इस साल चार-छः सौ मिल जाते, पर अब आशा नहीं।

चतुर्वेदी : आपकी रचनाओ का अनुवाद किन-किन भाषाओ मे हुआ है ?

प्रेमचन्द . मेरी रचनाओ का अनुवाद मराठी, गुजराती, उर्दू, तमिल भाषाओ मे हुआ है। सब का नही। सबसे ज्यादा उर्दू मे, उसके बाद मराठी मे। तमिल और तेलुगु के कई सज्जनो ने मुझसे आज्ञा मॉगी जो मैंने दे दी। अनुवाद हुआ या नही, मैं नही कह सकता। जापानी मे तीन-चार कहानियो का अनुवाद हुआ है, जिसके महाशय सब्बरवाल ने मुझे अभी कई दिन हुए 50 रुपये भेजे हैं। मैं उनका आभारी हूँ। दा-तीन कहानियो का अग्रेजी मे अनुवाद हुआ है, बस।

चतुर्वेदी · आपकी आकाक्षाएँ क्या-क्या हैं ?

प्रेमचन्द : मेरी आकाक्षाएँ कुछ नही हैं। इस समय तो सबसे वडी आकाक्षा यही है कि हम स्वराज्य-सग्राम मे विजयी हो। धन या यश की लालसा मुझे नही रही। खाने-भर को मिल ही जाता है। मोटर और बॅगले की हविस मुझे नही। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तके लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही हो। मुझे अपने दोनो लडको के विषय मे कोई बडी लालसा नही है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हो। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नही चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हॉ, रोटी-दाल ओर तोला-भर घी और मामूली कपडे मयस्सर होते रहे।

इन्द्रनाथ मदान के दो पत्र-साक्षात्कार

इन्द्रनाथ मदान ने अपने विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति के वाद प्रेमचन्द को सन् 1934 में दो वार कुछ प्रश्न भेजे थे, जिनका उनहोंने 7 सितम्बर, 34 तथा 26 दिसम्बर, 34 को उत्तर दिया था। प्रेमचन्द का पहला उत्तर हिन्दी में तथा दूसरा अंग्रेज़ी में उपलब्ध होता है। यहाँ ये दोनों पत्र-साक्षात्कार प्रस्तुत हैं :

(1)

मदान : आप अपने बचपन की स्मृतियो को किस रूप मे प्रस्तुत करेगे ?

प्रेमचन्द : अपने घर की मेरी बचपन की स्मृतियाँ बिलकुल साधारण हैं, न बहुत सुखी, न बहुत उदास। मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ नही रहीं। उसके पहले की मेरी स्मृतियाँ बहुत धुँधली हैं। कैसे मैं बैठा अपनी बीमार माँ को देखता रहता था, जो उतनी ही मुहरब्बती और मौका पड़ने पर उतनी ही कठोर थी, जितनी कि सब अच्छी

माँयें होती हैं।

मदान : आप अपने प्रारम्भिक लेखन-कार्य के बारे में बतायें। आपने कब और कैसे लिखना शुरू किया और उर्दू से हिन्दी में किस प्रकार आये ?

प्रेमचन्द : मैंने उर्दू साप्ताहिकों में और फिर मासिकों में लिखना शुरू किया। लिखना मेरे लिए बस एक शौक़ की चीज़ थी। मुझे सपने में भी ख़याल न था कि मैं आख़िरकार एक दिन लेखक बनूँगा। मैं सरकारी मुलाज़िम था और अपनी छुट्टी के वक़्त लिखा करता था। उपन्यासों के लिए मेरे अन्दर एक न बुझनेवाली भूख थी। जो कुछ मेरे हाथ लगता, मैं चट कर जाता। उसमें कोई भले-बुरे का चुनाव करने की तमीज़ मेरे अन्दर न थी। मेरा पहला लेख सन् 1901 में और मेरी पहली किताब सन् 1903 में छपी। इस साहित्य-रचना से मुझे अपने अहंकार की तुष्टि के अलावा और कुछ न मिलता था। पहले मैं समसामयिक घटनाओं पर लिखता रहा। 1914 में दूसरों ने मेरी कहानियों के अनुवाद किये और वे हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। फिर मैंने हिन्दी सीख ली और 'सरस्वती' में लिखने लगा। उसके बाद मेरा 'सेवा-सदन' निकला और मैंने अपनी नौकरी छोड़ दी और स्वतन्त्र साहित्यिक जीवन बिताने लगा।

मदान : क्या आपके जीवन में कोई प्रणय-प्रसंग घटित हुआ ?

प्रेमचन्द : नहीं, मेरा किसी से कोई प्रणय नहीं हुआ। ज़िन्दगी बहुत उलझानेवाली थी और रोटी कमाना इतना कठिन काम था कि उसमें रोमांस के लिए जगह न थी। कुछ बहुत छोटे-छोटे मामले थे, जैसे कि सबके होते हैं, पर मैं उन्हें प्रेम नहीं कर सकता।

मदान : स्त्री के सम्बन्ध में आपका आदर्श क्या रहा है ?

प्रेमचन्द : स्त्री का मेरा आदर्श त्याग है, सेवा है, पवित्रता है, सब-कुछ एक में मिला-जुला त्याग जिसका अन्त नहीं, सेवा सदैव सहर्ष और पवित्रता ऐसी कि कोई कभी उस पर उँगली न उठा सके।

मदान : अपने दाम्पत्य जीवन के रोमांस तथा अन्य कुछ तथ्यों के बारे में कुछ बतायें।

प्रेमचन्द : मेरे दाम्पत्य जीवन में रोमांस जैसी कोई चीज़ नहीं, बिलकुल साधारण ढंग की चीज़ है। मेरी पहली स्त्री का देहान्त 1904 में हुआ। वह एक अभागी स्त्री थी, तनिक भी सुदर्शन नहीं, और यद्यपि मैं उससे सन्तुष्ट नहीं था, तो भी बिना शिकवा-शिकायत निभाये चल रहा था, जैसे कि सब पुराने पति करते हैं। जब वह मर गयी तो मैंने एक बाल-विधवा से विवाह किया और उसके साथ काफ़ी सुखी हूँ। उसमें कुछ साहित्यिक अभिरुचि भी आ गयी है और वह

कभी-कभी कहानियाँ लिखती है। वह एक निडर, साहसी, समझौता न करनेवाली, सीधी-सादी स्त्री है, दोष की सीमा तक दायित्वशील और अत्यधिक भावुक। वह असहयोग-आन्दोलन में शरीक हुई और जेल गयी। मैं उसके साथ सुखी हूँ। ऐसी कोई चीज़ उससे नहीं माँगता जो वह नहीं दे सकती। टूट भले जाये, पर आप उसे झुका नहीं सकते।

मदान : ज़िन्दगी आपके लिए क्या रही है ? क्या आर्थिक दृष्टि से आप सन्तुष्ट रहे हैं ?

प्रेमचन्द : ज़िन्दगी मेरे लिए हमेशा काम रही है—काम, काम, काम ! मैं जब सरकारी नौकरी में था, तब भी अपना सारा समय साहित्य को देता था। मुझे काम करने में मज़ा आता है। पस्ती के क्षण आते हैं जब पैसे की समस्या आ खड़ी होती है, वरना मैं अपने भाग्य से बहुत सन्तुष्ट हूँ, अपने प्राप्य से अधिक मुझे मिला। आर्थिक दृष्टि से मैं असफल हूँ, व्यवसाय मैं नहीं जानता और तंगी से मुझे कभी छुटकारा नहीं मिलता। मैं कभी पत्रकार नहीं रहा, लेकिन परिस्थितियों ने मुझे ज़बरन बनाया और जो कुछ मैंने साहित्य में कमाया था, जो कि बहुत नहीं था, सब पत्रकारिता में गँवा दिया।

मदान : आप अपनी रचनाओं के कथानक कैसे बुनते हैं ?

प्रेमचन्द : कथानक मैं इस दृष्टि से बुनता हूँ कि मानव-चरित्र में जो कुछ सुन्दर है, मर्दाना है, वह उभरकर सामने आ जाये। यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है। कभी इसकी प्रेरणा किसी व्यक्ति से मिलती है, या कभी किसी घटना से या किसी स्वप्न से, लेकिन मेरे लिए ज़रूरी है कि मेरी कहानी का कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो। मैं मित्रों के सुझावों का सदैव सहर्ष स्वागत करता हूँ।

मदान : आपके पात्रों का स्रोत क्या है ?

प्रेमचन्द : मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से लिये गये हैं, और उन्हे काफ़ी अच्छी तरह पर्दे में ढक दिया गया है। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तविकता में न हो, तब तक वह छाया-सा अनिश्चित रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताक़त नहीं आती।

मदान : आपकी काम करने की पद्धति क्या है ? क्या आप नियमित लेखन-कार्य करते हैं ?

प्रेमचन्द : मैं रोमां रोलाँ की तरह नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूँ।

मदान : क्या 'गोदान' के नाम से आपका नया उपन्यास प्रकाशित होने वाला है ?

प्रेमचन्द : हाँ, मेरा 'गोदान' जल्दी ही प्रेस में जा रहा है। वह लगभग छः सौ पृष्ठों का होगा।

(बम्बई से लिखे 7 सितम्बर, 1934 के पत्र के आधार पर)

(2)

Madan : Which of your works do your consider as your best crea tive work ?

Premchand : Rangabhoomi is, in my opinion, the best of my works.

Madan : It is true that every novel of yours has an ideal character ?

Premchand : Yes, I have in each of my novels an ideal character, with human failings as well as virtues, but essentially an ideal character. In Premashram' there is Premshankar in Ran gabhoomi' there is Surdas. Similarly in Kayakalp' there is Chakradhar, in Karmabhoomi' there is Amarkant.

Madan : How many short-stories in all have you written ? Are there any unpublished stories ?

Premchand : The total number of my short stories reaches an approxi mate figure of 250. Unpublished stories I have got none.

Madam : Do you accept that some writers of the world have influenced you ?

Premchand : Yes, I have been influenced by Tolstoy, Victor Hugo and Romain Rolland. As regards the short stories I was inspired originally by Dr. Rabindra Nath. Since then,I have evolved my own style.

Madan : Have you ever seriously tried to write dramas ? If so, have you got any success in it ?

Premchand : I never seriously attempted drama. I have conceived of one or two plots which I thought might be better utiised in a drama. Drama loses its importance when not staged. India has not got a stage, particularly Hindi and Urdu. What passes for stage is the effecte Parsi stage, for which I have a horror. Then, I never came in touch with drama technique and stage-craft. So my dramas were only meant

as reading dramas. Why should I not stick to my novel where I have greater scope to reveal my characters, than I can possibly have in a drama. This is why I have pre ferred novel as a vehicle of my thought. I still hope to write one or two dramas. As far as financial success is concerned this commodity is rare in Hindi or Urdu. You may get notorious, but by no means financially independ ent. Our people have not the weakness for buying books. It is apathy, dullheadedness and intellectual lethargy.

Madan : What are your experiences of cinema ? Could a writer make a place for himself in the field of cinema ?

Premchand : Cinema is no place for a literary person. I came in this line as it offered some chances of getting independent finan cially but now I see I was under a delusion and am going back to my literature. In fact, I have never ceased contrib uting to literary work, which I regard as the aim of my life. Cinema is only what pleadership might have meant for me, only healthier.

Madan : Were you ever imprisoned during the freedom move ment ?

Premchand : I have never been to jail. I am not a man of action. My writings have several times offended the Powers, one or two of my books were proscribed.

Madan : Do you believe in bring about social changes through Revolution ?

Premchand : I believe in social evolution, our object being to educate public opinion. Revolution is the failure of saner methods. My ideal society is one giving of equal opportunities to all. How is that stage to be reached except by evolution. It is the people's character that is the deciding factor. No social system can flourish unless we are individually uplifted. What fate a revolution may lead us to is doubtful. It may lead us to worse forms of dictatorship denying all personal liberty. I do want to overhaul, but not destroy. If I had some prescience and knew that destruction would lead us to heaven, I would not mind

de stroying even.

Madan : What do you think of Divorce? Do you agree that Divorce is a solution to marital problems?

Premchand : Divorce is common among the proletariat. it is only in the so-called higher classes, where this problem has as sumed a serious shape. Marriage even at its best is a sort of com promise and surrender. If a couple means to be happy, they must be ready to make allowances, while there are people who can never be happy even under the best of circumstances. In Europe and America, divorces are not uncommon, in spite of all courtship and free inter-course. One of the couple must be ready to bend, makee or female it does not matter. I refuse that only males are to be blamed. There are cases where ladies create trouble and fancy grievances. When it is not a certainly that divorces will cure out nuptial evils, I don't want to fasten this on to society. Of course, there are cases when a divorce becomes a necessity. But misfit' is in my opinion nothing but fastidiousness. Divorce without any provision for the poor wife-this demand is only made by morbid individu alism. There is no place for it in a society based on equality.

Madan : Do you believe in the existence of some Super Power?

Premchand : Formerly I believed in a supreme diety, not as a result of thinking, but simply as a traditional belief. That belief is being shattered. Of courcse, there is some hand behind the universe, but I don't think it has anything to do with the importance which we have given to ouownselves has no justification.

(इन्द्रनाथ मदान को लिखित 26 दिसम्बर, 1934 के पत्र के आधार पर)

श्री. रा. टिकेकर का साक्षात्कार

प्रेमचन्द जिन दिनों बम्बई में थे, उनका एक मराठी युवा लेखक श्री. रा. टिकेकर से परिचय हुआ। टिकेकर को उन्होंने घर पर आमन्त्रित किया और इस प्रकार

टिकेकर प्रेमचन्द के घनिष्ठ युवा-मित्र बन गये। अब टिकेकर ने यह उपयुक्त समझा कि हिन्दी-लेखक प्रेमचन्द को मराठी पाठकों से परिचित कराया जाये। इसके लिए उन्हों दिसम्बर, 1934 में इण्टरव्यू लिया, जो मराठी पाक्षिक पत्रिका 'प्रतिभा' के 4 जनवरी तथा 1 फरवरी, 1935 के अंकों में प्रकाशित हुआ। यहाँ इस मराठी इण्टरव्यू का हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है :

ना. सी. फड़के या वि. स. खांडेकर का जो स्थान मराठी साहित्य में है, वही प्रेमचन्द जी का हिन्दी व उर्दू-साहित्य में है। फड़के जी का उपन्यास कहते ही मन पढ़ने के लिए उतावला हो जाता है। खांडेकर जी का कथा-संग्रह हो या उपन्यास, पढ़ने के लिए देने वाले बुकसेलर के पास भी उनकी पुस्तकें उपलब्ध नहीं होतीं और उस पर भी माँग लगी रहती है। मुंशी प्रेमचन्द जी के उपन्यास-साहित्य की भी यही स्थिति है, लेकिन इतने से फड़के-खांडेकर के और सभी गुण मुंशी जी में होंगे ही, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए। तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य में उनका कौन-सा स्थान है, इसकी कल्पना लाने के लिए फड़के-खाँडेकर का नाम लेना पड़ा। हाँ, एक दृष्टि से इन तीनों लेखकों में समानता दिखायी देती है, यह मानना ही पड़ेगा। फड़के प्रोफ़ेसर हैं, खाँडेकर अध्यापन करते हैं, उसी तरह मुंशी जी भी शिक्षा-क्षेत्र में ही पहले शिक्षक और बाद में निरीक्षक के पद पर कार्य करते थे। इस समय नहीं हैं, अर्थात् वर्तमान-भूतकाल का यह अन्तर उनकी आयु दिखलाने के लिए काफ़ी है, लेकिन इसके बारे में बाद में विचार करेंगे। मुंशी जी को 'प्रतिभा' पत्रिका में प्रस्तुत किया गया, सिर्फ़ इसलिए कि उनकी पहचान मराठी पाठकों को होनी चाहिए। अन्य प्रदेशों के प्रसिद्ध लेखकों का (उनकी रचनाओं सहित) परिचय करा देना एक बड़ा उद्देश्य है इसलिए प्रेमचन्द जी का साक्षात्कार लिया। इस साक्षात्कार से जो जानकारी मिली, वह आगे दी जा रही है।

साक्षात्कार के समय मुंशी जी कुर्सी पर बैठकर कुछ लिख रहे थे। टेबल पर पड़े हुए उर्दू-लिपि में लिखे कुछ कागज़ों को देखकर पहले मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह सिर्फ़ हिन्दी लेखक ही हैं, इतनी ही बहुत लोगों के समान मेरी भी जानकारी थी, लेकिन उन्होंने जो जानकारी दी, उससे वह अपूर्ण लगी। पहले तो मुंशी जी को लगा कि इस आदमी को सिर्फ़ मामूली जानकारी ही चाहिए होगी, इसलिए उन्होंने अपने लेखन के सम्बन्ध में, किन-किन मासिक पत्रिकाओं में कौन-कौन-सी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, इसकी सूची दी। पर मैंने कहा, "मुंशी जी, माफ़ कीजिए! मुझे आपका परिचय नहीं चाहिए, बल्कि आपके लेखन के बारे में जानकारी चाहिए।"

प्रेमचन्द : अब आप जो चाहें प्रश्न करें, मैं उत्तर दूँगा। यह सुविधाजनक रहेगा न ?

मैं : हाँ, बिलकुल ठीक रहेगा।

इतना होने पर, मुझे लेखन-चरित्र जानने की उत्सुकता क्यों थी, यह मैंने उन्हें बताया। सर्वसाधारण पाठकों में 'प्रतिभा' का प्रसार न होकर केवल सुशिक्षित लेखक, रसिक टीकाकार कोटि व्यक्तियों में है, जो लेखक की मनोभावनाओं का विश्लेषण चाहते

हैं। प्रेमचन्द जी को यह बात अच्छी लगी। 'अच्छा' कहकर उन्होंने अपने काग़ज़-पत्र दूर रख दिये और प्रश्नों के उत्तर देने के लिए तैयार हो गये।
मुंशी जी की प्रसिद्धि सारे हिन्दुस्तान में फैली हुई है। अतः उन्होंने लेखन की शुरुआत कैसे की, इस बारे में प्रश्न पूछना उचित था। मेरी शंकाओं का समाधान करते हुए उन्होंने उत्तर दिये। मैंने भी अनेक अन्तरंग प्रश्न किये। उनसे जानकारी मिली कि पुराने समय में अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में वह एक उर्दू पत्र में लिखने लगे। बनारस से 'आवाज़-ए-ख़ल्क़' नाम की एक पत्रिका निकलती थी। उसमे उनकी रचनाएँ सबसे पहले प्रकाशित हुईं, लेकिन इतने से उनकी कलम की भूख नहीं मिटी, इसलिए कानपुर से निकलने वाले उर्दू पत्र 'ज़माना' में उन्होंने तत्कालीन नेताओं की छोटी-छोटी जीवनियाँ लिखीं। इन जीवनियों में रानाडे, तिलक, लाजपतराय, बनर्जी, गोखले जैसे देश-भक्तों की अधिकता थी।
प्रश्न : "मगर इस लेखन के कारण कुछ आपको आज की प्रसिद्धि नहीं मिली है। उपन्यास लिखने के लिए आपने आरम्भ कैसे किया ? इसकी प्रेरणा आपको कैसे और कब मिली ?"
उत्तर : हाँ, बचपन में मैंने देवकीनन्दन खत्री के ग्रन्थ पढ़े थे। इसके अतिरिक्त पं. रतननाथ धर की भी पुस्तकों का अध्ययन किया। ऐसा कह सकते हैं कि मुझे इनसे प्रेरणा मिली। इन दोनों लेखकों का प्रभाव मेरे मन पर अधिक हुआ।
इन लेखकों की हम महाराष्ट्रियों को कहाँ से जानकारी होती ? हमने इनके नाम तक सुने नहीं थे। फिर वे कौन थे, उन्होंने कौन-से ग्रन्थ लिखे आदि, कैसे मालूम होता ? प्रेमचन्द जी के बोलने के प्रवाह को बीच में ही रोककर मैंने उनसे अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने की प्रार्थना की।
प्रेमचन्द बोले, पं. रतननाथ धर को उर्दू उपन्यास का प्रणेता कहना चाहिए। 'फ़िसाना-ए-आज़ाद' नाम के 1200 पृष्ठ के महाग्रन्थ की उन्होंने रचना की, जिसके चार खण्ड हैं। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य हास्य-विनोद में निहित है। देवकीनन्दन खत्री का नाम लेते ही उनके लेखन के 27 खण्ड 'वेब्सटर' डिक्शनरी के समान मेरी आँखों को दिखने लगते हैं। कितना प्रचण्ड कार्य उन्होंने किया ! देखिए, 'तिलिस्म होशरुबा', 'बोसतां-ए-ख़्याल' आदि किताबें उर्दू में अनुवाद कीं। ये अत्यन्त लोकप्रिय तो हैं ही, साथ ही आश्चर्य, कुतूहल को भी उत्पन्न करनेवाली हैं।"
प्रश्न : लेकिन, मुंशी जी ! इस उपन्यास या लेखन का विषय क्या है ? इधर के लोगों के हिन्दी व उर्दू-भाषा के विषय में अज्ञान को देखकर कृपया आप हँसिए नहीं।

प्रेमचन्द : पं. रतननाथ धर को बचपन में लखनऊ व इलाहाबाद आदि के नवाबों के अन्तःपुर में रहने का मौका मिला। इस कारण से वहाँ की अज्ञात लेकिन रोमांचक बातें बाहर आयीं। उस समय इस प्रकार के साहित्य को ही अधिक महत्त्व मिला। नवाब रहते कैसे हैं, ज़मींदारों का व्यक्तिगत जीवन कैसा होता है, आदि बातों के बारे में आम लोगों में बिलकुल अज्ञान था। इसके अतिरिक्त ज़मींदारों व नवाबों

के आर्थिक वर्चस्व के कारण लोगों में इनके बारे में जानने का कौतूहल भी अधिक था। इसलिए रतननाथ के लेखन को सर्वत्र चाहा व सराहा गया और देवकीनन्दन के 27 खण्डों से अजब जादू हुआ। उस फ़ारसी ग्रन्थ की आपको कुछ तो जानकारी है क्या ?

फ़ारसी ग्रन्थों के नाम ही हम मराठी पाठकों को कुछ मालूम हुए, तो मुख्यतः प्रो. माधवराव पटवर्द्धन की कृपा से। अन्य भाषाओं के साहित्य की तरफ़ हमारा ध्यान है ही कहाँ ? अन्य प्रान्तों का साहित्य भी हमारे परिचय में नहीं है। अतः मैंने कहा, 'अरेबियन नाइट्स' या 'अजब ऐने महाल' की तरह का ही देवकीनन्दन जी का अनुवाद होगा ?

प्रेमचन्द : अरे, नहीं-नहीं। 'अरेबियन नाइट्स' तो 'तिलिस्म होशरुबा' के आगे कुछ भी नहीं। उसकी अजीब प्रकार की कल्पना भी आप नहीं कर सकते।

इसका मतलब देवकीनन्दन व रतननाथ धर जैसे मूर्धन्य उर्दू लेखकों के नाम भी हमारे परिचय में नहीं थे। आगे इस अज्ञान के लिए मैंने प्रेमचन्द जी से क्षमा माँगी तथा उनसे पूछा कि उनको क्या किसी अन्य लेखक ने भी प्रभावित किया है ?

उन्होने अब्दुल हलीम शरर आदि उपन्यासकारों के नाम बताये। वह उर्दू के ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने करीब-क़रीब छोटे-बड़े सब मिलाकर तीस उपन्यास लिखे होंगे। मुसलमान होने के कारण तथा प्रदेश में इस्लामी वातावरण होने के कारण इस्लामी इतिहास की ही कथाएँ उनके उपन्यास में आयी हैं। ऐसे तीन लेखको से प्रेरणा ग्रहण करने के बाद मुंशी जी उपन्यासकार बनने लगे। यह सत्य है कि समाचार-पत्रों में लिखने का कार्य तो उन्होने 1899 से आरम्भ किया, लेकिन उनका प्रथम उपन्यास प्रकाशित होने में तीन वर्ष का समय लगा। उनका 'किशना' नाम का प्रथम उपन्यास 1902 में प्रकाशित हुआ और वह उर्दू-भाषा में था।

'किशना' में ग्रामीणों का जीवन होने के साथ काबुली पठानों का कितना आतंक किसानों पर था, वह चित्रित किया गया है। उसके तीन साल के अन्तराल के बाद 'प्रेमा' नामक उपन्यास हिन्दी व उर्दू में प्रकाशित हुआ। यह लगभग 250 पृष्ठों का उपन्यास है। तीन विधवाओं की दयनीयता के चित्र के साथ पुनर्विवाह की वकालत होने के कारण प्रकाशक भी बड़ी कठिनाई में रहा। इस प्रकार की धार्मिक मान्यताओ के ख़िलाफ़ पुस्तकें बेचने के कारण प्रकाशक के विरुद्ध बहुत कड़ा आक्रोश पैदा हुआ। तब इस पाप के निवारणार्थ उसने अपने पास की 'प्रेमा' की सारी प्रतियाँ जला डालीं। इसी कारण लोगों में यह उपन्यास अधिक प्रसारित नहीं हुआ। 'प्रेमा' के उपरान्त 'वरदान' जैसे राष्ट्रभक्ति-युक्त उपन्यास का जन्म हुआ। 'वरदान' उपन्यास आयु में 'प्रेमा' से पाँच वर्ष छोटा यानी इसका प्रकाशन 1912 में हुआ। उस समय के राजनीतिक वातावरण को ध्यान में रखा जाये, तो 'वरदान' में आये राष्ट्रभक्ति के विवेचन के औचित्य को समझा जा सकता है। इसके सिवा 'प्रेमा'

का विषय इतने तक ही सीमित न था। विवाह-सम्बन्धी चर्चा हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रान्तीय समाज में अंग्रेज़ों के प्रभाव से प्रारम्भ हुई। उसी तरह संयुक्त प्रान्त में भी हुई और उसका प्रतिबिम्ब प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में देखने को मिला। 'वरदान' में वैवाहिक जीवन सम्बन्धी चर्चा ही बहुत है।

इसके पश्चात् मुंशी जी ने अपनी कल्पना-शक्ति को थोड़ा विराम दिया। महायुद्ध शुरू होने तक उन्होंने कोई उपन्यास नहीं लिखा और छोटी-छोटी कहानियाँ लिखते रहे। उसका कारण जानना आवश्यक था, इसलिए मेरा प्रश्न सुनकर वह बोले, "पहली बात तो यह है कि इन सात सालों में मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था इस कारण शिक्षक का काम छोड़कर मैंने निरीक्षक का काम माँगा। फिर मुझे सदैव बाहर घूमना पड़ा। फिर उपन्यास के लिए आवश्यक एकाग्रता व शान्ति मुझे कहाँ से मिलती ? कारण यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ टैगोर की बहुत-सी हिन्दी में अनुवादित कहानियाँ मैंने पढ़ीं। मुकुट, राजर्षि आदि का परिणाम मेरे मन पर प्रभावकारी हुआ और फिर मैंने वैसी ही छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने का निश्चय किया।"

उनके राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचार कैसे हैं और वे कैसे-कैसे बने, इस विषय में उन्हीं के शब्दों में जानकारी यहाँ प्रकाशित है।

मुंशी प्रेमचन्द जी के विचार जानने के लिए उनसे कुछ प्रश्न पूछे और उन्होंने उनके उत्तर दिये। मैंने सर्वप्रथम पूछा कि प्रचलित समाज-व्यवस्था के विषय में उन्हें क्या लगता है ? समाज-सुधार के लिए उनकी क्या सम्मति है ? इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं पुनर्विवाह किया है। दहेज की पद्धति उन्हें पसन्द नहीं थी, परन्तु विशेष महत्त्व का विषय विवाह-विच्छेद ही था। हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद होना चाहिए या नहीं, ऐसा पूछने पर बोले, "अभी तक इस विषय पर मेरा कोई निश्चित विचार नहीं है, पर मुझे ऐसा लगता है कि विवाह-विच्छेद की परिपाटी से समाज का नुक़सान ही अधिक होगा। उससे थोड़े-से फ़ायदे हैं। नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि सब मिलाकर हानि की ही अधिक सम्भावना है।"

प्रश्न : फिर विवाह-विच्छेद का प्रश्न आपने अपने किसी उपन्यास में उपस्थित नहीं किया होगा ?

उत्तर : नहीं, इस प्रश्न को मैंने स्पर्श नहीं किया।

प्रश्न : फिर अन्तर्राजीय विवाह के सम्बन्ध में आपको क्या लगता है ?

उत्तर : यह प्रश्न चाहे जिसका हो, सुख-प्राप्ति का ध्येय लेकर चलता है। प्रेम में जाति और वर्ग की सीमाएँ नहीं हैं। अपनी जाति में या सम्बन्ध में विवाह करना चाहिए, यह संकुचित रूढ़ि समाप्त करके इसका स्वरूप व्यापक बनाया जाना चाहिए ⋯।

प्रश्न : मगर मुंशी जी, आपने 'रंगभूमि' में राजपूत का ईसाई युवती से विवाह नहीं करवाया। काल्पनिक उपन्यासों में भी अन्तर्जातीय विवाह कराने के लिए आप तैयार नहीं हैं, फिर...?

उत्तर : हाँ, ठीक है। अन्तर्जातीय विवाह होना चाहिए, ऐसा कहते समय भिन्न संस्कृति के लोगों का समावेश मैं उसमें नहीं करता। हिन्दू और ईसाई संस्कृति के

दम्पति कभी भी सुखी नहीं होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इसीलिए 'रंगभूमि' में राजपूत और ईसाई का विवाह नहीं हो सका।

इस पर मुंशी जी से मैंने कहा कि मेरे प्रत्यक्ष परिचय में कई हिन्दू-ईसाई दम्पति बहुत सुखी हैं। आपका मत मैं पक्का समझूँ क्या ?

मगर प्रेमचन्द जी को यह विचार जमा हुआ-सा प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने इस प्रकार के उदाहरणों को अपवाद-स्वरूप माना और संस्कृति की ढाल आगे की। वह बोले, "दोनों ही संस्कृतियाँ इस प्रकार विरोधी हैं, तब उनका संयोग सुखमय नहीं होगा।"

इसके आगे और वाद-विवाद करने का कोई कारण नहीं था।

प्रश्न : आपके उपन्यासों के या कहानियों के दृश्य और पात्र काल्पनिक होते हैं या वास्तविक ? आपके लेखन-कार्य का हेतु क्या है ? आदर्श जीवन को सम्मुख रखने के ध्येय से आप लिखते हैं या नहीं ?

उत्तर : वैसे कहा जाये, तो प्रत्येक लेखक ध्येयवादी है और मैं भी उस नियम के लिए अपवाद नहीं हूँ। मेरे लेखन में यथार्थ रेखांकन बहुत होगा, तो भी आदर्श जीवन के नमूने मैंने बहुत सारे लिये हैं।

प्रश्न : अच्छा, तो फिर आपकी आदर्श सृष्टि में हमें क्या दिखाई पड़ेगा ? संयुक्त प्रान्त का प्रश्न आपने अपने उपन्यास के कथानकों में लिया होगा। ज़मींदार और उसके किसान परिवारों का सम्बन्ध आपकी सृष्टि में कैसा होगा ?

उत्तर : आप जिस प्रकार से कह रहे हैं, उसके अनुसार मेरी सृष्टि में ज़मींदार रहेगा ही नहीं। धीरे-धीरे उसका हृदय-परिवर्तन करके किसान के पास सारी ज़मीन का अधिकार आ जायेगा। ऐसा समाज निर्मित होना चाहिए, यह मेरा ध्येय उपन्यासों में समय-समय पर व्यक्त हुआ है। महात्मा जी जिस प्रकार से कहते हैं, उस प्रकार 'चेंज आफ हार्ट' पर मेरा ज़ोर है। यह मेरा मत है कि ज़बर्दस्ती से किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने के बजाय प्रेम से ही हमारा परिवर्तन होना चाहिए। इसलिए ज़मींदार स्वयं ही ज़मीन पर से अपना अधिकार छोड़ दें, तो फिर झगड़ा रहा कहाँ ?

चेंज आफ हार्ट, प्रेम का सन्देश आदि शब्द सुनकर मैंने मुंशी जी से पूछा, "आप तो गाँधी-पक्षीय भाषा बोलने लगे। गाँधी जी के सभी सिद्धान्त आपको मान्य हैं क्या ?"

इस पर उन्होंने नकारात्मक उत्तर दिया और करबन्दी आन्दोलन किस प्रकार फिस्स हो गया, इसका वर्णन एक उपन्यास में किए जाने की सूचना दी, परन्तु इतना सत्य है कि 'चेंज आफ हार्ट', गाँधी जी की सीख उन्हें मान्य है। आगे वह स्वयं बोले, "मैं कम्युनिस्ट हूँ मगर मेरा कम्युनिज़्म बिल्कुल भिन्न प्रकार का है।"

प्रश्न : कम्युनिज़्म' कहने पर इस शब्द का अर्थ एक ही है। गाँधी जी का कम्युनिज़्म, इंग्लैण्ड का कम्युनिज़्म, रशियन कम्युनिज़्म—उसके ऐसे प्रकार बिलकुल नहीं हो सकते। बल्कि प्रेम का सन्देश फैलानेवाले आप ज़मींदारों को बदलने की

आशा रखते हैं, ऐसी स्थिति में आपको कम्युनिस्ट कैसे कहा जाये ?

उत्तर : क्यों भला मेरा कम्युनिज़्म इस प्रकार का है ? हमारे समाज में ज़मींदार, साहूकार, यह किसान का शोषण करनेवाला समाज बिलकुल रहेगा ही नहीं।

इस प्रकार के विषय पर अधिक चर्चा करना अच्छा नहीं, इसलिए उनकी सृष्टि में कौन-कौन प्राणी रहेंगे, इस विषय में जिज्ञासा प्रकट की। वकीलों को प्रेमचन्द के संसार में रहने के लिए जगह नहीं, ब्राह्मण भी उन्हें निरुपयोगी लगते हैं। संयुक्त प्रान्त में प्रेमचन्द एक ब्राह्मण-द्रोही लेखक हैं, इस प्रकार अनेक सनातनी लेखक उन्हें पहचानते हैं। वकील, ब्राह्मण, ज़मींदार, साहूकार–इन सबके पश्चात् डॉक्टर का नाम इसी सन्दर्भ में आया।

मुंशी जी बोले, "परन्तु डॉक्टर समाज में आवश्यक है।"

इस पर मैंने पूछा, "क्या आप बचपन से बीच-बीच में बीमार रहते हैं ? ऐसे अनेक वर्ष नहीं बीते होंगे, जब आपकी तबीयत बिलकुल ठीक रही होगी ?"

इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक रूप में ही आया। मैं ज़रा हँसा, तब मुंशी जी ने पूछा, "क्यों, हँस क्यों पड़े ?"

"नहीं", मैंने कहा "इसलिए आपकी सृष्टि में डॉक्टरों की आवश्यकता लग़ती है।" इस पर बड़ी ज़ोर की हँसी हुई।

पहले का सूत्र लेकर पुनः बातचीत आरम्भ हुई। मैंने कहा, "फिर आपने अपने उपन्यासों में वकीलों और ब्राह्मणों की ख़बर ली ही होगी। मगर डॉक्टरों पर आपने टीका-टिप्पणी नहीं की होगी।"

प्रेमचन्द बोले, "वैसा कुछ नहीं। मगर अधिकांश में आप जो कहते हैं, वह सत्य है। वकील और ब्राह्मण, इनकी मैंने अच्छी ख़बर ली है, मगर कुछ प्रसंगों में डॉक्टरों के धन-लोभ पर भी मैंने कटाक्ष किया है, पर बहुत ही कम। वकीलों और ब्राह्मणों के व्यंग्य-चित्र मैंने बहुत निकाले हैं।"

प्रश्न : अच्छा, अब आपके उपन्यासों के किसानों के वर्णन किस प्रकार के हैं ? उनके चित्र आपने किस प्रकार के निकाले हैं ?

उत्तर : एक विशेष कारण से मैंने किसानों के दोष नहीं दिखाये। उनके दुर्गुणों का चित्रण मैंने जान-बूझकर टाल दिया है।

प्रश्न : माफ़ कीजिए, मुंशी जी, इस प्रकार की मुलाक़ातों में बहुत सारे वैयक्तिक विचार आ जाते हैं, पर उन्हें टालना सम्भव नहीं होता। आपके इस उत्तर से क्या मैं समझूँ कि आपका बचपन और युवावस्था का बहुत-सा समय किसान के घर में बीता है ? आप भी खुद क्या किसान ही थे ?

थोड़ा हँसकर मुंशी जी बोले, "मेरा बचपन गाँव में ही बीता और 1907 से 1914 के सात वर्षों में मैं गाँव-गाँव घूमता रहा, इसलिए मुझे किसानों के प्रति आत्मीयता अनुभव होती है। उनके सुख-दुःख में मैं समरस हो सकता हूँ, इसका भी यही कारण है।"

इस पर से बातचीत बढ़ी। मुंशी जी ने अपना जन्म-स्थान बनारस के नज़दीक सारनाथ के पास लमही नामक गाँव बतलाया। संवत् 1037, ईसवी सन् 1880 में

उनका जन्म हुआ था। 1904 में वह मैट्रिक हुए। इसके बाद शिक्षा-विभाग में नौकरी करते-करते, 1916 में कॉलिज की पढ़ाई आरम्भ की, फिर 3-4 वर्षों में वह बी. ए. (इलाहाबाद) हुए और असहयोग के पहले ही दौर में उन्होंने शिक्षा-विभाग की सरकारी नौकरी छोड़ दी। तब से वह लेखनोपजीवी हैं। फ़िलहाल बम्बई में उनके कथानकों पर फ़िल्में तैयार होने के कारण उन्हें वहाँ रहना पड़ता है। 'सेवा-सदन' उपन्यास पर फ़िल्म बन चुकी है, 'मिल-मज़दूर' चालू हैं।

इस प्रकार काफ़ी समय तक हँसी और गप्पों के बीच यह मुलाक़ात चलती रही। मराठी और हिन्दी साहित्य में विनिमय होना चाहिए। आप और हम समय-समय पर मिलते रहें, ऐसा हृदय से उन्हें कहकर मैं जाने के लिए निकला। प्रेमचन्द जी ने भी 'पुनः अवश्य आइए' तथा 'मराठी वाङ्मय के विषय में मुझे बहुत सारी बातें पूछनी हैं' कहकर अपनी स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने अपने सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'हंस' मासिक के मुखपृष्ठ पर मराठी लेखक श्री क्रि. कोल्हटकर का प्रकाशित चित्र दिखलाते हुए मुझसे बार-बार मिलने के लिए आग्रह किया।

मराठी पाक्षिक पत्रिका 'प्रतिभा')

(मराठी में : 4 जनवरी एवं 1 फरवरी, 1935;

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आको सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज़ दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाये, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है वह ख़तरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हूँ, जिसकी मुझ मे लियाकत नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुज़रिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ़ कीजिए, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ !

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख़्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमागों ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमायी, जिन्होंने अँग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अँग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं; वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नज़र आते हैं और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता कीं तरंगें उठ रही हैं।। जिन लोगों ने अँग्रेजी लिखने और बोलने में अँग्रेजों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिए अँग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान

मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफ़ाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्र-भाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायेगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज़ होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सब कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नज़र आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अँग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायेगा। क़ैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ़ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसके घर से ज़्यादा हवादार, साफ़-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नही छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कही ज़्यादा उसका असर क़ैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नही पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अँग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमे इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मज़बूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है। अँग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर ज़मीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये; उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मज़ा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़हाट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल ज़रा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमें उड़ने की शक्ति नहीं रही ; वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वहीं कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने ग़रीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेज़ी से विदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धि-बल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस

जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ़ से ठोकरें खा रहा है ? स्वामियों की ओर से इसलिये कि वह समझते हैं–मेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल उनकी वेश-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं ? अभी गत वर्ष एक इंटरयुनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी की जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों ? इसलिए कि अंग्रेज़ी माध्यम के बगैर अँग्रेजी में हमारे बच्चे कच्चे रह जायेंगे और अच्छी अंगेज़ी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंग्लैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अँग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेज़ी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेज़ी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे ग़लती तो नहीं हो गयी ! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अँग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं; लेकिन बड़े से बड़े भारती-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रैजुएटो की अंग्रेज़ी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों मे अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में ग़लतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कम से कम बारह साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिये शिक्षा का अँग्रेजी माध्यम ज़रूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं, लेकिन अँग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायेगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहाँ तक व्यापार में उनका सम्बन्ध है; उन्होंने क़ौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिए कि जिस दिन आप अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक क़ौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे। मुझे याद नहीं आता

कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़, समुद्र और राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक़्त अँग्रेज़ आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिए कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गयी थी। अँग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अँग्रेजी राज विदा हो जाये—और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है—तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायेगा ? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाये और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाये ? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अँग्रेजी राज को अमर रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते है तो हमे राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख़्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेगे। आप उसी राष्ट्र-भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिए, आप कितना महान काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन-मिल के मज़दूर नही बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओ को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयो को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नही है, जिसका आप स्वागत न कर सके। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो; लेकिन आपके आत्मिक सतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए क़दम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलो से सशय और सन्देह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयो में हमें साहस देता है।

राष्ट्र-भाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय मे भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिये, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्रभाषा मे दोनो के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश मे ऐसे लोगों की काफ़ी तादाद निकल आये तो, जो ईश्वर को 'गॉड' कहते हैं, तो राष्ट्रभाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफ़गानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अंगभंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी

शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फ़ैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइए, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक् हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फ़ारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितो के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नही आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे को ? एक चीज़ के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाये, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो क़ौमियत के मतवाले हैं। कट्टर पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फ़ारसी के प्रोफ़ेसर और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से मेरी जो बातचीत हुई उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेज़ार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और क़ौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है– हालाँकि उस गिरोह का ज़ोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है–और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें ? क्या आप समझते हैं, ऐसी

जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है ? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफ़हम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखने वालों के लिए यहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज करने का हक़ है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फ़ारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की गर्दनज़दनी समझते हैं ? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था ? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं ? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरंगज़ेब तक हिन्दी की कविता का ज़ौक रखते थे और औरंगज़ेब ने ही आमों का नाम 'रचना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था ? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफ़ीज़ जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआज़माई करते हैं ? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हज़ारों शब्द, हज़ारों क्रियाएँ अरबी और फ़ारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं ? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ; इसकी कोई तारीख़ी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा ख़राब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं ? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे ? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मज़ा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है, और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नज़र नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है ? इंग्लैंडवाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फ़ारसवाले फ़ारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें ? उर्दू तो न काफ़िये में आती है न रदीफ़ में, न बहर में न वजन में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाये, तो बेशक यहाँ की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता ? हमें दोनों भाषाओं में एक आम लुगत (कोष) की ज़रूरत है, जिसमें आमफ़हम शब्द जमा कर दिये जायें। हिन्दी में तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह ज़रूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना

चाहिए। शायद यह काम कौमी-भाषा-संघ बनते तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफ़हम शब्दों से भी परहेज करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफहम फ़ारसी के शब्द आज़ादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कहाँ तक हमारी ज़रूरतें पूरी कर सकती है ? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्रभाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं ; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखायें भी तो हैं जिनको आप राष्ट्रभाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फ़ारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्रभाषा सर्वांगपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषायें हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं हैं। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं हैं। जो राष्ट्रभाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मज़ा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफ़हम शब्दों की सख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिखा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक़ भाषा में तात्त्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्रभाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फ़िलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें तो हमको संतुष्ट होना चाहिए। इसके साथ ही हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिए। वही संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायेंगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायें और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज़ करने का काम उनको सौंपा जाये। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं

की ? हमारे विद्वान लोग तो अँगरेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ़ से आँखें बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश, उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश, वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेजी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या ? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अँग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हज़ार में 999 आदमी अँग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग़ विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है ? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ़ मुजरिमाना गफ़लत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मौटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फ़ुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँति में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। गैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं। और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूँगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेज़ी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावे, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिए। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाये, जो एक हवा के झोंके में उड़ जाएगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्रभाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल ज़रूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय'

काम की चीज़ है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अँग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारख़ाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, ज़रूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ़ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाज़ारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं ? अँग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अँग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम ज़रूरत से ज़्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीज़ें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफ़रपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइए। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अंग्रेज़ी की गुलामी करने की ज़रूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊँची शिक्षा राष्ट्रभाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज़्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्रभाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की ज़रूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखायी न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे ? अगर हमारे नेता और विद्वान जो राष्ट्रभाषा के महत्त्व से बेख़बर नहीं हो सकते, राष्ट्र-भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अंग्रेज़ियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक-दो कालम नियमित रूप से राष्ट्रभाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे

भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा-पूर्ण रूप से अँग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायेगा, इसका फ़ैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायेगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिए, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने मे कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलानिदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस ज़माने का रग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहरायी, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े

से बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद'; पंत, सुभद्रा, 'लिली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं. माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िए। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायेंगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िए। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठीजी ने खोदकर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहें शौक़ से निकाल ले जाइए और देखिए उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक़ है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िए। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगायी हुई पुष्पबाटियों की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िए। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी. पी. श्रीवास्तव के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिए। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रंग में कमाल कर गये हैं। उमर ख़ैयाम का मज़ा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिए। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायेगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', 'जैनेन्द्र', 'भारतीय', 'अज्ञेय', 'विशेश्वर' आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्ज़ा रुसवा, सज्जाद हुसेन, नज़ीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं। जिनकी कलम में दिल को हिला देने की ताक़त है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीज़ें कम आयी हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रो, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाक़ी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो ? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पच्छिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फ़ारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते

हैं; क्योंकि अरबी और फ़ारसी लिपि में वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फ़ारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो खूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रकार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला क़दम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बँगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायेगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज़्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक क़ौमी लिपि हो जाये। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायेगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायें ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायेगा। यू. पी. में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाये कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सके और ख़त लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायेगा। और जब भाषा एक हो जायेगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायेगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इतना सजीव कर दें कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों का बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज मे हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और ज़िन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं—कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नज़र आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा

का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना नायक हो जायेगा। आपको जीवन ऐसा होना चाहिए कि लोगों को आपमें विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

(दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, 29 दिसम्बर, 1934 ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण हिन्दी में : 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित; उर्दू में : अप्रकाशित)

गुरुकुल काँगड़ी में तीन दिन

पिछले आषाढ़ में मुझे गुरुकुल काँगड़ी के दर्शनों का अवसर मिला। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर यह सोचकर कि उस वेद-वेदांगों के केन्द्र में मुझ-जैसे धर्मशून्य व्यक्ति का कहाँ गुज़र, कभी जाने की हिम्मत न पड़ी। सौभाग्य से साहित्य-परिषद् ने उन्हीं दिनों अपना वार्षिक उत्सव करने की ठानी और मुझे न्योता मिला। ऐसा अवसर पाकर भला कैसे चूकता। दिली मुराद पूरी हुई। रात को लखनऊ से चलकर प्रातःकाल हरिद्वार जा पहुँचा। वहाँ दो ब्रह्मचारी मेरी राह देख रहे थे। गुरुकुल की सिद्धान्त-वादिता का कुछ थोड़ा-सा परिचय मुझे स्टेशन पर ही मिला। एक ताँगा करने की ठहरी। ताँगेवाले ने शायद यह समझकर कि दो नये यात्री हैं, कनखल के आठ आने माँगे। इधर छः आने कहा गया। ताँगेवाले ने शायद कहा, आठ आने से कम न होंगे। ब्रह्मचारियों ने वाजिब किराया कह दिया था। ताँगेवाले से ठाँय-ठाँय करना उनकी शान के ख़िलाफ़ था। आध मील जाकर दूसरा ताँगा उन्हीं दामों पर लाये। पहला ताँगेवाला उन्हीं दामों पर चलने को तैयार था, अपना अपराध क्षमा कराता था, अपनी भूल स्वीकार करता था; पर ब्रह्मचारियों को उस पर दया न आयी। उसने यात्रियों को ठगना चाहा था, इसका दण्ड उसे देना ज़रूरी था। और नीति की दृष्टि से दया का कोई मूल्य नहीं।

ताँगा आध घण्टे में कनखल आ पहुँचा। हम लोग उतरकर घाट पर पहुँचे। सामने की पहाड़ियाँ हरे-हरे आभूषण पहने खड़ी थीं। नीचे गंगा पहाड़ियों की गोद से निकलकर उछलती-कूदती चली जाती थी। यहाँ कई धाराएँ हैं, जो वर्षाकाल में मिलकर काँगड़ी के नीचे तक चली जाती है। मैंने समझा था किसी किश्ती पर नदी पार करनी पड़ेगी, मगर किश्ती का कहीं पता न था। यहाँ पानी का तोड़ इतना तेज़ है, नीचे का पेटा इतना पथरीला कि थोड़ी दूर के बाद किश्ती आगे जा ही नहीं सकती। तमेड़ों पर बैठकर लोग आते-जाते हैं। यह एक प्रकार की घन्नई है, जिसमें मिट्टी के मटकों की जगह टीन के कनस्तर होते हैं। कई कनस्तरों को लम्बे-लम्बे रखकर रस्सी और बाँसों से बाँध देते हैं। तमेड़ा बीच मे चौड़ा और दोनों सिरों पर पतला होता है। जिन्हें इस पर पहली बार बैठना पड़े उन्हें मन में कुछ संशय होने लगता है कि यह डोंगा पार लगेगा या बीच ही में ले डूबेगा। मगर थोड़ी ही दूर चलकर यह संशय दूर हो जाता है। यह डोंगी डूब नहीं सकती। पानी का बहाव

कितना ही तेज़ हो, भँवर कितने ही भयंकर हों, वायु कितनी ही प्रचण्ड हो, लहरें उछलकर उसके ऊपर ही क्यों न आ जाती हों; पर उसे परास्त नहीं कर सकतीं। आदमी अगर उस पर ज़रा सँभलकर बैठा रहे, तो चाहे अनन्त तक पहुँच जाये, डूब नहीं सकता। इस तुच्छ-सी वस्तु को विराट और प्रचण्ड जल प्रवाह का इतनी वीरता से सामना करते देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों कोई अकेली आत्मा प्राण-सागर की लहरों को ठुकराती, विघ्न-बाधाओं को कुचलती परमधाम की ओर चली जा रही हो।

अभी आध घण्टा भी न गुज़रने पाया था कि घटा छा गयी और वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गये, हवा भी चलने लगी। लहरें उछलती ही न थीं, छलाँगें भरती थीं। कई बार तमेड़ा नीचे को चट्टान से टकराया और हम गिरते-गिरते बचे। दस बजते-बजते हम काँगड़ी पहुँच गये।

दो

गुरुकुल की इमारतें देखकर बेअख़्तियार मुँह से निकल गया—नाम बड़े दर्शन थोड़े। एक ही इमारत है जिसे इमारत कह सकते हैं, पर साधारण हाई स्कूलों की इमारत भी इससे अच्छी होती है। तीन साल पहले यहाँ कई और इमारतें थीं। पर सन् 1924 की बाढ़ में कई इमारतें बह गयीं और हरा-भरा बाग़ बालू से भर गया। गिरे हुए भवनों के खँड़हर अभी तक नज़र आते हैं। हम लोग एक छोटे-से पक्के घर में ठहरे, जिसे यहाँ पक्का धर्मशाला कहते हैं। श्रद्धेय पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी आ गये थे। हम दोनों इसी कमरे में ठहरे। स्नान किया। इतने में भोजन आ गया। खाने बैठ गये। पेड़े बहुत स्वादिर्ष्ट थे। अतिथि-सत्कार यहाँ की विशेषता है। भस्मक रोगी भी यहाँ से तृप्त हुए बिना नहीं जा सकता। सबसे बड़ा आनन्द मुझे यहाँ के ब्रह्मचारियों को देखकर हुआ। ऐसे सरल-हृदय, सेवाशील युवक हमारे अंग्रेज़ी कालेजों में बहुत कम हैं। वह पंडिताई वातावरण, जो काशी की किसी संस्कृत पाठशाला में नज़र आता है, यहाँ नाम को भी न था। यहाँ विद्यालय का मेहमान प्रत्येक ब्रह्मचारी का मेहमान है, वह उसकी चारपाई बिछा देगा, उसके लिए पानी भर लायेगा और उसकी धोती भी खुशी से छाँट देगा। यह विद्यालय नहीं, किसी ऋषि का आश्रम मालूम होता है। ऐसे उत्साही युवक मैंने नहीं देखे। जो काम करते हैं, उसमें तन-मन से लिपट जाते हैं। प्रमाद की मात्रा इनमें बहुत ही कम है। कुछ सीखने के लिए, कुछ जानने के लिए ये लोग सदैव उत्सुक रहते हैं।

साहित्य-परिषद का उत्सव संध्या समय हुआ। आचार्य जी का व्याख्यान हुआ। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायीं। कुछ साहित्यिक लेख थे, दो-चार गल्पें थीं, एक-दो लेख ऐतिहासिक थे। इन रचनाओं को किसी ऊँचे आदर्श से तोलना अन्याय होगा—ये प्रौढ़ लेखकों की कृतियाँ न थीं, पर किसी विद्यालय के शिष्यों को उन पर गर्व हो सकता है। हाँ, यहाँ जो संगीत सुनने में आया, उससे कुछ निराशा

हुई। गुरुकुल में संगीत-शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं। शायद संगीत ब्रह्मचर्य के लिए बाधक समझा जाता हो। मगर मुझे तो ऐसी धर्मिक संकीर्णता यहाँ कहीं न दिखायी दी। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे ब्रह्मचारियों में विचार-स्वातन्त्र्य पर हुआ। उनके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचारों में मुझे संकीर्णता का कोई चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन प्रीतभोज था। भोजनगृह में सभी ब्रह्मचारी और आचार्य फ़र्श पर बैठकर थालियों में भोजन कर रहे थे। हमारे अंग्रेज़ी विद्यालयों में कुर्सियों और मेज़ों का व्यवहार होता है। यहाँ अभी तक अंग्रेज़ियत की वह हवा नहीं आयी। हमारी जातीय रीति-नीति, आचार-विचार की रक्षा अगर हो सकती है तो ऐसी ही संस्थाओं में हो सकती है। मगर शायद अब उसकी रक्षा करने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। आजकल वही पक्का आर्य है, जो चाहे और सभी बातों में विदेशियों का गुलाम हो, केवल अन्य धर्मावलम्बियों को गाली देता जाये।

आज संध्या समय एक कवि-सम्मेलन था। पंडित पद्मसिंह जी सभापति थे। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायीं। अधिकांश कविताएँ हास्यास्पद थीं, मगर मैं ब्रह्मचारियों के साहस की तारीफ़ करूँगा कि उन्हें अपनी अंडबंड रचनाएँ सुनाने में लेशमात्र भी संकोच न होता था। किसी हद तक तो यह बालोचित साहस सराहनीय है। हमने ऐसे बालक भी देखे हैं, जो किसी सभा में खड़े कर दिये जायें तो उनकी घिग्घी बँध जायेगी। उस झिझक के देखते तो यह धृष्टता फिर भी अच्छी है। पर रसिकजनों के सामने ऐसी रचनाएँ न सुनाना ही अच्छा, जिन्हें सुनकर हँसी आवे। रचनाओं के समाप्त हो जाने के वाद शर्मा जी ने विचारपूर्ण वक्तृता दी और ब्रह्मचारियो को खूब हँसाया। शर्मा जी जितने विद्वान हैं, उतने ही सरल और उदार हैं। और, मेहमाँनवाज़ी तो उनका जौहर है।

तीसरे दिन हमने मुख्याधिष्ठाता जी के घर भोजन किया। उसका स्वाद अभी तक भूला नहीं। रामदेव जी उन सज्जनो मे हैं, जिनकी बातों से जी नहीं भरता। ज्यों-ज्यों बातें मालूम होती हैं और मनोरंजन भी होता है। आप अंग्रेज़ी साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं और भारतीय इतिहास के तो आप पूरे माहिर हैं। ब्रह्मचारियो को उन पर असीम श्रद्धा है। गुरुकुल अगर कुछ न करे, तो भी इतने युवकों के सम्मुख सरल जीवन और उच्च विचार का आदर्श रखना ही उसके जीवित रहने के लिये काफ़ी है। अंग्रेज़ी कालेजों में तो आवश्यकताओं की गुलामी सिखायी जाती है और अध्यापक लोग ही इस विद्या के सबसे बड़े शिक्षक होते हैं। ज़िन्दगी की दौड़ में वे युवक क्या पेश पा सकते हैं, जिनके पैरों में ज़रूरतों की भारी बेड़ियाँ पड़ी हों। सरकारी विभागों में चाहे वे अच्छे पद पा जायें. पर सरकारी नौकरियों से तो राष्ट्र नहीं बनते। गुरुकुल ने अपने जीवन के थोड़े से सालों में राष्ट्र के जितने सेवक पैदा किये हैं, उतने और किसी विद्यालय ने न किये होंगे। डिग्रियाँ लेकर पद प्राप्त करना राष्ट्रीय सेवा नहीं। प्रचार और उद्धार के कामों को सँभालना ही राष्ट्रीय सेवा है। अब तक गुरुकुल ने एक सौ इकतालीस स्नातक निकाले हैं। उनमें सार्वजनिक जीवन में भाग लेनेवालों की संख्या सत्तासी है। यह कहने में ज़रा भी

अत्युक्ति नहीं है कि हिन्दी भाषा को जितना प्रोत्साहन गुरुकुल से मिला है, उतना शायद ही और किसी विद्यालय से मिला हो।

गुरुकुल की उपयोगिता के विषय में पहले जनता में बड़ा संदेह फैला हुआ था। पर गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों का सांसारिक जीवन देखकर इस विषय की सभी शंकाएँ शान्त हो जाती हैं। एक सौ इकतालीस स्नातकों में उन्तीस तो गुरुकुलों में काम कर रहे हैं, नौ साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं, तेईस आर्य-समाज के उपदेशक हैं, पाँच सफल वैद्य हैं, अट्ठारह व्यापार में लगे हुए हैं और सात विदेश में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से दो उत्तीर्ण होकर लौट आये हैं। डाक्टर प्राणनाथ हाल ही में इंग्लैण्ड से डाक्टर होकर लौटे हैं, एक और महाशय वैरिस्टर हो आये हैं। पिछले साल चार ब्रह्मचारी सीनियर कैम्बिज़ परीक्षा में सम्मिलित हुए और तीन पास हो गये। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचारियों को अंग्रेज़ी में भी काफी अभ्यास हो जाता है। महाशय सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार ने हाल ही में ब्रह्मचर्य पर अंग्रेज़ी में एक ग्रन्थ लिखा है जिसकी शैली और भाषा दोनों ही परिमार्जित हैं। किसी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी के लिए ऐसी पुस्तक लिखना गर्व का कारण हो सकता है।

गुरुकुल विद्यालय में एक आयुर्वेद विद्यालय भी है। यहाँ ब्रह्मचारियों को जड़ी-बूटियों तथा रसों का भी ज्ञान हो जाता है। शरीर-विज्ञान की शिक्षा भी इन वैद्यों को दी जाती है। हमे आशा है कि यहाँ के पढ़े हुए वैद्यों द्वारा आयुर्वेद का उद्धार होगा। वे केवल पुरानी लकीर के फ़कीर नहीं होते, बल्कि मानव-शरीर के तत्त्वों को जानते हैं और शल्य-चिकित्सा में भी दखल रखते हैं।

गुरुकुल की प्राकृतिक शोभा का तो कहना ही क्या। बलवान चरित्र ऐसे ही जलवायु में विकसित होते हैं। सामने गंगा की जल-क्रीड़ा है, पीछे पर्वतों का मौन संगीत। दाहिने-वायें, मीलों तक शीशम और कत्थे के वृक्ष, ऐसी साफ़, छनी हुई, विमल वायु में साँस लेना स्वयं आत्मशुद्धि की एक क्रिया है। न शहरों का दूध-घी, न यहाँ की स्वच्छ वायु। ब्रह्मचारी गंगा माता की गोद में किलोलें करते हैं, और बड़ी दूर तक तैरते चले जाते हैं। नगरों की दूषित जलवायु में यह गुण कहाँ। मगर पिछली बाढ़ ने विद्यालय को जो क्षति पहुँचायी है, उसको देखते हुए अब विद्यालय का स्थान बदल देने का प्रश्न आवश्यक हो गया है इसका प्रबन्ध भी हो रहा है।

('माधुरी', अप्रैल 1928)

दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार यात्रा

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की कृपा से हमें अबकी वहाँ के हिन्दी के उपासकों से मिलने और उनके प्रचार की सफलता को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला। सभा ने इस वर्ष हमें पदवी-दान के अवसर पर दीक्षान्त भाषण करने का नेवता दिया और हम 27 दिसम्बर को बम्बई से चलकर 28 की शाम को मद्रास जा पहुँचे। हमारे साथ हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के मालिक श्री नाथूराम जी प्रेमी और बम्बई-हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री आर. शकरन थे। तीसरे दरजे का सफ़र था, मगर रास्ते में कोई ख़ास तकलीफ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मगदल के लड्डू और पूरियाँ रख लाये थे। बीमारी के बाद से खाने-पीने के विषय में वे बहुत सतर्क रहते है; रास्ते में हमने खूब लड्डू खाये। पूरियाँ इधर बहुत कम स्टेशनों पर मिलती हैं। एक-दो स्टेशनों पर मिलती भी हैं, तो बहुत खराब। एक स्टेशन पर हमने पहली बार इडली खायी। यह चावल और उड़द के दाल के मैदे से बनती है। दोनों मैदों को समान मात्रा मे मिलाकर गूँध लेते हैं, और इस गूँधे हुए आटे को रात-भर यों ही पड़ा रहने देते हैं। इससे इसमें कुछ खट्टापन आ जाता है। दूसरे दिन इसके मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर भाप पर पकाते हैं। इस प्रान्त में इडली खाने का बहुत रिवाज है। होटलों में देखिए तो हर एक आदमी इदली और दाल और चटनी खाता हुआ नजर आयेगा। मिठाई से यहाँ किसी को प्रेम नहीं है। हाँ, अब उत्तर भारत के ससर्ग से मिठाई का कुछ प्रचार हो चला है।

मद्रास पहुँचकर हम रामनाथ जी गोयनका के मेहमान हुए। सौभाग्य से ी काका कालेलकर जी भी वहाँ ठहरे हुए थे। उनके दर्शनों का आनन्द मिला। आप सेवा की मूर्ति हैं। हिन्दी-प्रचार में आप जो निर्माणात्मक कार्य कर रहे हैं, वह बहुत ही आशाजनक है। जब तक किसी बात की उपयोगिता न दिखाई दे, हमारा प्रेम उसके प्रति स्थायी नहीं हो सकता। हिन्दी-ज्ञान को कैसे उपयोगी बनाया जाये—यही प्रश्न आपके सामने है। बड़े-बड़े व्यापार तो अंग्रेज़ों के हाथ में हैं। वहाँ हिन्दी की दाल नहीं गल सकती। मगर छोटे-छोटे व्यापारों में, जो भारतीयों के हाथों में है, हिन्दी का व्यवहार करने से कुछ सुविधा हो सकती है। इसी हेतु से आप परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे हैं। हमारी शुभेच्छाएँ आपके साथ हैं। गोयनका जी उन लक्ष्मी पुत्रों में हैं, जो धन कमाना ही नहीं जानते, उसका सदुपयोग करना भी जानते हैं।

आपकी ज़ात से कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को सहायता मिलती रहती है, और हिन्दी-प्रचार के तो आप एक स्तम्भ हैं। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया। आप बड़े ही हँसमुख, निष्कपट, उद्योगी युवक हैं और सभा के कोषाध्यक्ष हैं। आपके घर हम लोग पाँच दिन रहे, बिलकुल इस तरह, जैसे अपने ही घर में हों।

पदवी-दान का जलसा गोखले हाल में था। मेरा ख़याल था कि बहुत बड़ा जमघट होगा, लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिन्दी-प्रेमी बाहर चले गये हैं। यहाँ के रेलवे विभाग ने सस्ते टिकट जारी करके और भी कितने लोगों को मद्रास से बाहर पहुँचा दिया था ; मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो, वहाँ जितने लोग थे, प्रायः सभी हिन्दी-प्रचार से सम्बन्ध रखते थे और हिन्दी प्रचारकों के इस मिशनरी दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आये थे और उसमें देवियों की भी खासी तादाद थी। इस आन्दोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं, उससे कहीं अधिक कराजनैतिक है, जो सम्पूर्ण देश को एक राष्ट्र-भाषा के सूत्र में बँधा देखना चाहता है। इसलिए, इसे प्रान्त के प्रतिष्ठित नेताओं का सहयोग भी प्राप्त है और त्याग-भावना से भरे कार्यकर्त्ताओं का भी। श्री राजगोपालाचार्य, जिस सभा के डायरेक्टर और श्री के. नागेश्वर राव जिसके वाइस प्रेसीडेंट हों, और केवल नाम के लिए नहीं, बल्कि उसके हरेक काम में दिलचस्पी रखते हों, उस सभा का प्रभाव और प्रचार इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है, तो क्या आश्चर्य है। 1930 में प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा तीनों परीक्षाओं में बैठनेवालों की तादाद एक हज़ार सात सौ थी, 1933 में नौ हज़ार साठ हो गयी, मगर 1934 में यह संख्या घट कर चार हज़ार छः सौ इकतालीस हो गयी। इससे शंका होती है, कहीं हिन्दी का शौक़ घट तो नहीं रहा है। अगर ऐसा है, तो यह खेद की बात होगी। हमारा कर्त्तव्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।

मद्रास में देखने के लायक़ केवल दो चीज़ें हैं। एक तो समुद्र का तट जो सात मील तक चला गया है, दूसरा अधार जो थियोसोफिकल सोसाइटी का केन्द्र है। इतना रमणीक जल-तट भारतवर्ष में और कहीं नहीं। मीलों तक समुद्र के किनारे ठण्डी-ठण्डी हवा का आनन्द उठाते चले जाइए। अधार मद्रास के आठ मील पर समुद्र के किनारे एक कालोनी के रूप में है। उसका क्षेत्रफल दो मील से कम न होगा। बहुत ही साफ़-सुथरी, फूल-पत्तों से सजी हुई जगह है। पुस्तकालय है, प्रकाशन-विभाग है, मन्दिर है, भोजनालय है, कर्मचारियों और अन्य थियोसोफिस्ट सज्जनों के निवास-स्थान हैं। बीच में एक विशाल वट-वृक्ष है, जो अपनी बूढ़ी गोद में लगभग दो हज़ार दर्शकों को शरण दे सकता है। कहते हैं स्व. मिसेज़ एनी बेसेन्ट कभी-कभी वृक्ष के नीचे बैठकर धर्म के पिपासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाया करती थीं। यह तपोभूमि दर्शनीय है। इन दिनों इस संस्था का वार्षिकोत्सव हो रहा है। दूर देशों से प्रतिनिधि आये हुए हैं।

मुझे दो बैठकों में प्रान्त के प्रमुख प्रचारकों से बातचीत करने का सुअवसर

मिला। तीन सज्जन तो उत्तर भारत के हैं, जिन्होंने दक्षिण ही को अपना घर बना लिया है। सभी महानुभावों के दिलों में हिन्दी-प्रचार की लगन मालूम होती थी। सभी में उत्साह दीख पड़ा। सभी इस काम को पेशा समझकर नहीं, दिलचस्पी के साथ कर रहे हैं। उन्हें साहित्य से भी प्रेम है और साहित्यिक-विषय की चर्चा सुनने के लिए बड़े उत्सुक पाये गये। महाशय देवदूत जी विद्यार्थी ने जो केरल प्रान्त के संचालक हैं और बिहार प्रान्त के निवासी हैं, गद्य-काव्य के दो संग्रह भी प्रकाशित कराये हैं और एक ड्रामा भी लिख रहे हैं। इन संग्रहों को पढने से विदित होता है कि आपकी अनुभूतियाँ कितनी कोमल और आपकी भावनाएँ कितनी मार्मिक हैं उसके साथ ही भाषा पर भी आपका पूरा अधिकार है।

एक रात को हमें प्रचारकों का अभिनय-कौशल देखने का अवसर मिला। दो साल हुए कुछ लोगों ने एक नाटक परिषद बना ली थी और प्रचार के लिए साल में दो-एक नाटक खेल लिया करते थे। मतभेद के कारण इस वर्ष परिषद ने कोई नाटक नही खेला। मेरा उन सज्जनों से अनुरोध है कि वे अपने महान उद्देश्य को ध्यान में रखकर वैयक्तिक मतभेदों को भूल जायें और प्रचार के इस अंग को शिथिल न होने दें। मैंने दुर्गादास नाटक के जो दो-तीन दृश्य देखे उनसे इस नतीजे पर पहुँचा कि थोड़े से संयम के साथ यहाँ के अभिनेता बहुत सफल हो सकते हैं। एक सीन में चाणक्य का पार्ट दिखाया गया था। मुझे यह पार्ट बहुत पसन्द आया। चाणक्य के शब्दों में दर्द था, चोट थी, और विद्रोह था—वह विद्रोह जो ईश्वर की सत्ता से भी इनकार करता है, जिसे संसार छल, कपट, अन्याय और अत्याचार का रंगस्थल-सा नज़र आता है।

मद्रास में दो अजायबघर हैं। एक पशु-पक्षियों का और दूसरा जल-जीवों का। जू तो बहुत साधारण है, पर मछली भवन बड़ा सुन्दर है। मछलियों का ऐसा विभिन्न, विचित्र और अद्भुत संग्रह भारतवर्ष में दूसरा नहीं है। शीशे के पानी से भरे कंसों में रंग-बिरंगी मछलियों की क्रीड़ा, बड़ा ही मनोहर दृश्य है।

सभा ने दो मकान किराये पर ले रखे हैं। एक में तो उसका दफ़्तर, पुस्तकालय, परीक्षा-विभाग आदि हैं, दूसरे में प्रेस है। दोनों का किराया तीन सौ पचास रु. देना पड़ता है। मन्त्री जी ऐसे मकान की तलाश में हैं, जहाँ दोनों ही काम हो सकें। ऐसा मकान मिल जाये तो शायद किराये में कुछ किफ़ायत हो और काम ज़्यादा व्यवस्थित रूप से चलने लगे। ऐसी उपयोगी संस्था के पास अपना भवन न हो और उसे साढ़े तीन हज़ार रुपये सालाना किराये के रूप में देना पड़े, यह हिन्दी-प्रेमियों के लिए गर्व की बात नहीं। इसका कारण यही मालूम होता है, कि अभी तक हमने हिन्दी-प्रचार का महत्त्व नहीं समझ पाया। इसकी ज़िम्मेदारी दक्षिण से कहीं ज्यादा उत्तर भारत पर है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। अध्यापक भी प्रायः दक्षिण के लोग हैं। छात्रों को पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिन्दी को व्यवहार में लाने के शायद बहुत कम मौके मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो

सकता है कि उनका भाषा-ज्ञान केवल किताबी ज्ञान होकर रह जाये। इसके कुछ उदाहरण भी मिले। हमे ऐसे कितने ही सज्जन मिले, जो किताबें तो समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी बोल नहीं सकते, और न हिन्दी भाषण आसानी से समझ पाते हैं। अगर अध्यापकगण क्लासों मे छात्रों से हिन्दुस्तानी ही में बोलें और इसका ख़याल रखें कि छात्र भी आपस में कम से कम क्लास में हिन्दुस्तानी का व्यवहार करें, तो उन्हें शुद्ध बोलने का अभ्यास हो जायेगा और वह हास्यजनक भूलें न करेंगे, जिनकी एक विनोदी-प्रचारक महोदय ने कुछ मिसालें देकर हमें खूब हँसाया था। दूसरा निवेदन जो मैं प्रचारक महोदयों से करूँगा, वह यह है कि वे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें, जिससे उनका भाषा ज्ञान बढ़ता जाये। जिन्हें साहित्य-रचना का कुछ शौक़ है, उन्हें कभी-कभी पत्रों में कुछ लिखते रहना चाहिए। दक्षिण के साहित्य में ऐसी कितनी ही चीज़ें होंगी, जिन्हें हिन्दी में लाकर वे उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करेंगे।

मद्रास से हमने पाँचवे दिन मैसूर को प्रस्थान किया। यहाँ से छोटी लाइन जाती है। गाड़ी में बड़ी ठेलम-ठेल थी, लेकिन किसी तरह बैठ गये। मैसूर के मुख्य प्रचारक श्री हिरण्मय जी हमारे पथ-प्रदर्शक थे। बंगलोर के श्री जम्बूनाथ जी भी उसी डब्बे मे थे। मेरे सामने केरल प्रान्त के एक सज्जन बैटे थे। उनसे साहित्य और हिन्दी-प्रचार के विषय में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। हिन्दी-प्रचार से उन्हें प्रेम तो था, पर उन्हें यह भय भी था कि कहीं यह आन्दोलन आगे चलकर हवा में न उड़ जाये। इस तरह का सन्देह कभी-कभी मन में होना स्वाभाविक ही है। हमारे आन्दोलन इतने जोश से शुरू किये जाते हैं, और थोड़े ही दिनों में लोग उनकी ओर इतने उदासीन हो जाते हैं, कि हम किसी आन्दोलन को सजीव देखकर भी आशंकाओं से निवृत्त नहीं हो सकते। मैंने उन सज्जन को विश्वास दिलाया कि हिन्दी प्रचार अब केवल दो-एक उत्साही व्यक्तियों का खेल नहीं रहा, वह एक संस्था है, जिसने जनता के दिलों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है, और आशा है कि दिन-दिन इसकी उन्नति होगी। हम सुबह को मैसूर पहुँचे। हिन्दी-प्रेमियों ने हमारा स्वागत किया और हम कृष्ण-भवन में ठहरे। यहाँ हमें हर तरह का आराम था और होटल के स्वामी श्री शिवप्रसाद जी ने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, उसकी कहाँ तक तारीफ़ करें। इनकी उम्र अभी अट्ठाईस-तीस साल से ज़्यादा नहीं है, और इनका बाल-जीवन भी बड़ा ही संकटमय था, यहाँ तक कि केवल बारह साल की उम्र में इन्हें घर से भागना पड़ा और बंगलोर आकर एक होटल में नौकर हो गये। वहाँ उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया, उससे उन्होंने दो-एक मित्रों के सहयोग से यह होटल खोलने का उत्साह किया। और अब आप अपने पुरुषार्थ के फलस्वरूप स्वतन्त्र हैं। आपको साहित्य और धर्म से विशेष रुचि है; पर आपके विचार बड़े उदार हैं धार्मिक संकीर्णता का कहीं नाम भी नहीं। मानसिक और व्यापारिक उन्नति के साथ आपने दैहिक उन्नति का भी ध्यान रखा है। आप नियमित रूप से सूर्य नमस्कार और व्यायाम करते हैं। आम वैश्यों की भाँति आप केवल धन संग्रह करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए।

बल संग्रह भी किया है। आप बलिष्ठ और स्वस्थ युवक हैं। और किसी दुर्व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देते। बुरी से बुरी दशाओं में पुरुषार्थी आदमी क्या कुछ कर सकता है। यह उपदेश हमारे युवक शिवप्रसाद जी के जीवन से ले सकते हैं। मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि आपने धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया, स्वयं उसके स्वामी हैं। आपके जीवन का उद्देश्य परोपकार है। आपका इरादा है, कि अपने जन्म स्थान बुलन्दशहर में एक अच्छी व्यायामशाला कायम करें और युवकों को अपनी देह और स्वास्थ्य को बलवान करने का अवसर दें। कितना पवित्र उद्देश्य है।

कृष्ण-भवन से मिला हुआ ही एक दूसरा होटल है—आनन्द-भवन। इसके स्वामी बद्रीप्रसाद जी हैं। मैसूर में उत्तर भारतीयों का यह पहला ही होटल है। और बड़े सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। बद्रीप्रसाद जी बड़े प्रसन्न-चित्त, सेवा-तत्पर, साहित्य रसिक व्यक्ति हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्रगति से खूब परिचित हैं। आप भी बुलन्दशहर के निवासी हैं और सपरिवार यहीं रहते हैं। हमें मैसूर के मुख्य दर्शनीय स्थानों की सैर कराने का ज़िम्मा आपने लिया था, और इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

मैसूर में यों तो देखने की बहुत-सी चीज़ें हैं, लेकिन हमारे पास समय न था, इसलिए हमें उन्हीं स्थानों को देखकर संतुष्ट होना पड़ा, जो मैसूर से मिले हुए हैं, और जिन्हें हम कम-से-कम समय में देख सकते हैं। मैसूर बड़ा ही साफ़-सुथरा, सुन्दर उद्यानों से सजा हुआ, रमणीक स्थान है। जिधर जाइए उधर पार्क, यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नज़र आती है। सड़कें चौडी हैं, गर्द-गुबार से पाक, चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्क्वायर बने हैं। बिजली-शक्ति की तो यहाँ इतनी इफ़रात है, कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है। और है भी बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आना यूनिट है। दूसरे शहरों में केवल म्युनिसिपैलिटी के अन्दर रोशनी होती है। उसके बाहर अँधेरा। यहाँ हरेक पक्की सड़क पर बिजली की रोशनी है, और चामुंडा पहाड़ी से नगर को देखिए, तो मालूम होता है, बिजली-प्रकाश का जाल बिछा हुआ है। यह पहाड़ी शहर से मिली हुई है और अक्सर शाम-सवेरे शहर के लोग उस पर हवा खाने जाते हैं। कोई एक हज़ार फीट ऊँची होगी। चढ़ाई के लिए मोटर चलने लायक सड़क बनी हुई है। जिस पर बिजली की रोशनी है। चोटी पर चामुंडा देवी का मन्दिर है। उससे ज़रा और ऊँचाई पर महाराज के निवास के लिए एक सुन्दर बँगला बना हुआ है। चामुंडा देवी मैसूर राजा की कुल-देवी हैं और महाराज अक्सर यहाँ पूजन के लिए आते हैं।

मैसूर नगर से दस-बारह मील पर मैसूर की पुरानी राजधानी सेरिंगापट्टम है। वहाँ तक पक्की सड़क चली गयी है। सेरिंगापट्टम पहले बहुत गुलज़ार बस्ती थी, लेकिन अब लोग इसे छोड़-छोड़कर दूसरी जगहों में आबाद होते जाते हैं। पुराना क़िला तो मिस्मार हो गया। चारदीवारी कहीं-कहीं बाक़ी है। यहाँ की सबसे दर्शनीय वस्तु सुलतान हैदरअली और टीपू की मज़ार है। एक रमणीक उद्यान के मध्य में

मज़ार की शानदार इमारत है, जो काले पत्थर की है। अन्दर बड़ी खूबसूरत पच्चीकारी है और दरवाज़ों पर हाथी दाँत का काम है, जो मैसूर की ख़ास कला है। क़िले के बाहर सुलतान टीपू का महल है, जिसका नाम दरिया दौलत बाग़ है। टीपू सुलतान गर्मियों में यहाँ आकर विश्राम किया करते थे। इसी की बाहरी दीवारों पर उस ज़माने की प्रायः सभी ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओं के चित्र बने हुए हैं, जो बहुत कुछ उन चित्रों से मिलते हैं, जो आज भी शहर के चित्रकार दीवारों पर बनाया करते हैं, लेकिन अन्दर नक्क़ाशी बहुत ही बारीक है। जिस स्थान पर सुलतान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे, वह दरबार किसी तरह भी दिल्ली के दरबार आम से कम विशाल नहीं है।

सेरिंगापट्टम से हम कृष्णराज सागर देखने आये। यह एक बहुत बड़ा सागर है, जो कावेरी नदी को एक बाँध से रोककर बनाया गया है। बाँध कोई दो मील लम्बा और जमीन से कोई एक सौ पचास फीट ऊँचा होगा। चौड़ा इतना है, कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ-जा सकती हैं। इस बाँध को बनने में मैसूर सरकार का करीब दो करोड़ से ऊपर ख़र्च हो गया है। इस सागर से नहर निकाली गयी है, जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है, कि अब यहाँ धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। ऊख की खपत के लिए सरकार ने एक शक्कर मिल भी बनवाया है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड़ ख़र्च हो गये हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बाँध नहीं है। बाँध के नीचे एक रमणीक स्थान है, जिसे वृन्दावन कहते हैं। यहाँ फ़ौवारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बड़े वेग से प्रवाहित किया गया है। दोनों तरफ़ फ़ौवारों की छटा है, जिनके पास रंग-बिरंगे शीशें में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते हुए पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो ऐसा मालूम होता है कि फ़ौवारों से रंगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इन्द्रधनुष का-सा दृश्य आँखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक़ है, मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं। राजभवन तो उन रियासतों में भी आँखों को मुग्ध कर देते हैं, जहाँ प्रजा नरक के कष्ट भोग रही है। हमारे राजाओं में निन्यानबे फ़ीसदी तो वही हैं, जो अपनी रियासत की आमदनी का बड़ा भाग अपने ही भोग-विलास पर उड़ा देते हैं। उनकी प्रजा मानो है ही इसलिए कि कमा-कमाकर राजा साहब को उड़ाने के लिए दे और मुँह से बोले नहीं वर्ना उसकी ज़बान काट ली जायेगी। मैसूर तो सम्पन्न राज्य है और उसके राजभवन को रियासत की शान के अनुसार होना चाहिए। एक-एक हाल की सजावट देखते रहिए। दरबार-हॉल तो इस ठाट का है कि शायद ही किसी राज्य में हो यहाँ दशहरे के उत्सव पर महाराजा साहब सिंहासन पर बिराजते हैं और दरबारी और कर्मचारी अपने रुतबे के अनुसार कुर्सियों पर बैठते हैं। इत्र-पान से उनका स्वागत किया जाता है, मगर इस इन्द्रपुरी का इन्द्र अतुल विभूति का स्वामी होते

हुए भी, त्याग का उपासक है। अन्य रियासतों की भाँति यहाँ का दरबार इन्द्र का अखाड़ा नहीं, किसी संन्यासी का आश्रम है। महाराज को राज्य से बाईस लाख रुपये सालाना मिलते हैं, पर यह उनके भोग-विलास में न ख़र्च कर प्रजा-हित के कामों में ही ख़र्च किये जाते हैं। यही कारण है, कि यहाँ की प्रजा अपने राजा को पूजती है और उस पर गर्व करती है। महाराज संगीत और व्यायाम के प्रेमी हैं और साहित्य से भी आपकी रुचि है।

मैसूर का चिड़ियाघर देखकर बम्बई और मद्रास के चिड़ियाघर वैसे ही लगते हैं जैसे महल के सामने झोंपड़ा। जितने विचित्र पशु-पक्षी और जल-जीव यहाँ हैं, शायद कलकत्ते के चिड़िया घर के सिवा और कहीं नहीं हैं। पशुओं के लिए नैसर्गिक दशाओं की व्यवस्था ऐसी शायद ही और कहीं हो। हमने जितने जीव देखे, सभी हृष्ट-पुष्ट, साफ़-सुथरे और प्रसन्न दिखायी दिये थे।

मैसूर में सरकार की ओर से रेशम का कारख़ाना भी खुला हुआ है, चन्दन के तेल का भी। चन्दन पर इस रियासत की मनोपोली या इज़ारा है। उसका व्यापार सरकार के हाथों में है। कला-कौशल का विभाग भी है, जहाँ लकड़ी, बेंत, हाथी दाँत, धान, कुम्हारी आदि की शिक्षा दी जाती है। वहाँ की बनी हुई चीज़ों का प्रदर्शन होता है और बिक्री भी होती है, पर चीजों की क़ीमत बहुत ज्यादा है। यहाँ सबसे अच्छी बात जो हमें मालूम हुई वह यह है कि रियासत के कर्मचारियों का या पुलिस का यहा बिलकुल आतंक नही है और रिश्वत की चर्चा यहाँ बहुत ही कम है। राज्य की सुव्यवस्था का इससे बढ़कर हमारे विचार में दूसरा प्रमाण नही हो सकता।

मैसूर में हिन्दी-प्रचार के कार्यकर्त्ताओं और सचालको मे मेने शुद्ध एकात्मक भाव देखा। सभी में हिन्दी के प्रति मिशनरी उत्साह और अनुराग है। पं. हिरण्मय जी चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति हैं, जो शायद स्वप्न मे भी प्रचार ही का स्वप्न देखते हों। श्री टी. कृष्णमूर्ति और श्री के श्रीनिवास मूर्ति, दोनो ही सज्जन यहाँ की प्रचार-सभा के मन्त्री हैं और केवल पदाधिकारी मन्त्री नहीं, वल्कि सभा मे जीवन का मन्त्र डालनेवाले मन्त्री। दोनों ही शिक्षा विभाग में अध्यापक है, लेकिन हिन्दी-प्रचार को अपना व्यसन बना चुके हैं। एक तीसरे उत्साही युवक मि. जे. पी. वर्मा हैं। यह इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड में हैं और यहाँ शायद साल भर ही उनका रहना होगा, लेकिन हिन्दी प्रचार में इस जोश से सहयोग दे रहे हैं, जो सक्रामक है। अपने उत्साह के सामने बाधाओं को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें यहाँ उत्तर भारत के रहनेवालों को संगठित करने के लिए एक 'हिन्दुस्तानी' हितैषी मंडल खोलने की धुन है। कोई सुने या न सुने, आप अपना कथन किये जाते हैं। आख़िर मेरे हाथों उस मंडल को स्थापित करा के ही छोड़ा, बुनियाद की रस्म तो मैंने कर दी, उस पर इमारत खड़ी करना मैसूर के उन सज्जनों का काम है, जो व्यापार में धन कमाना ही नहीं चाहते, अपने भाइयों की सेवा में उसका एक अंश अर्पण करना भी चाहते हैं। और ज़िम्मेदारी भी सबसे ज़्यादा उन्हीं लोगों पर आती है, जो संसार की प्रगति को देखते और समझते हैं।

मैसूर में इन्दिरा बहन से मिलकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इस देवी से मैं काशी, प्रयाग और दिल्ली में मिल चुका था। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में दो साल तक इन्होंने हिन्दी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और आजकल यहाँ प्रचार कर रही हैं। आप प्रचार-सभा के मन्त्री श्री कृष्णमूर्ति जी की सहधर्मिणी हैं। हिन्दी-प्रेम इन्हें प्रयाग खींच ले गया। पति ने भी सहर्ष अनुमति दी। अपनी छोटी-सी बच्ची को घर पर छोड़कर, वह प्रयाग चली गयीं। जिस आन्दोलन में ऐसे साधक हों, वह क्यों न सफल हो। एक दूसरी देवी श्रीमती लक्ष्मी अम्माँ हैं। इस वृद्धावस्था में इन्होंने विशारद पास किया और अब उर्दू पढ़ रही हैं। उनका उत्साह अदम्य है और युवकों को भी लज्जित करता है। जहाँ-जहाँ मैं गया वह मेरे स्वागत के लिए मौजूद थीं। हम उनकी कुटिया में उस श्रद्धा से गये जैसे मन्दिर में जाते हैं और वहाँ हमने दस-पाँच मिनट तक इस तरह गुज़ारे मानो अपनी बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई बहन से मिल रहे हों और बहन उतने ही समय में अपने स्नेह और मेहमानदारी के सारे अरमान पूरे कर लेना चाहती हो। प्रो. सूस्त्री के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में फ़ारसी के अध्यापक हैं और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। आपको हिन्दोस्तानी से प्रेम है और संस्कृत के तो आप पंडित हैं। आप इन दिनों भगवत गीता का फ़ारसी में अनुवाद कर रहे हैं। हिन्दू-मुसलिम समस्या पर आपने जो सोने के-से विचार प्रकट किये, काश वह हमारे लीडरों में भी होते तो भारत आज स्वर्ग हो जाता। आप साधुओं का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से आपको घृणा है। आपके चरणों में बैठकर हमने जो आत्मिक शांति लाभ की, वह दिव्य दर्शन से होती है। हिन्दी में एक और उपासक प्रो. नांजुन डैया के सत्संग का भी सुअवसर हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में अँग्रेजी के अध्यापक हैं और इन दिनों अस्वस्थ हैं। आपने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, वह हमारे जीवन की बड़ी मधुर अनुभूति है। आप इन दिनों उर्दू का अध्ययन कर रहे हैं ओर हमारी कई उर्दू रचनाएँ आपकी नज़रों से गुज़र चुकी हैं। आपका विशुद्ध साहित्य-प्रेम और साहित्य के एक तुच्छ सेवक के प्रति आपका उमड़ता हुआ सम्मान देखकर हम कृतार्थ हो गये। आपसे हमें यही शिकायत है कि आपने हाथी दाँत की नक्काशी से सजा हुआ एक सिगरेट बक्स भेंट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है और तब से सिगरेट के प्रति हमारा अनुराग बढ़ गया है, क्योंकि बक्स को हम ख़ाली नहीं देख सकते—दावात में स्याही नहीं तो वह कुल्हिया है—और जब सिगरेटों से भरा हुआ डब्बा सामने हो, तो लोभ को रोकना ज़रा कारे दारद।

यों हमें तो यहाँ दो जलसों में हिन्दी के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला, लेकिन विशेष आनन्द का अवसर वह था, जब हम बिश्वविद्यालय भवन में हिन्दी के सैनिकों से मिले। पचास मित्रों से कम न थे और यह सभी युवक हैं, जो खुद विश्व-विद्यालय में पढ़ रहे हैं। पर हिन्दी से इतना प्रेम रखते हैं कि कुछ न कुछ समय निकालकर हिन्दी-प्रचार की भेंट करते हैं। यह राष्ट्र-भाषा के उत्साही

सैनिक हैं और उसके प्रचार का सम्पूर्ण श्रेय इनको है। कई मित्रों ने हिन्दी में अपनी रची हुई चीज़ें पढ़ीं और हम लोगों में घण्टे भर तक कॉफी के साथ साहित्यिक समस्याओं पर खूब गपशप हुई।

मैसूर की राजभाषा कनाड़ी है और बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है, मगर यह संख्या मद्रास, बम्बई, हैदराबाद रियासत और मैसूर में फैली हुई है और इससे इस भाषा के विकास में बाधा पड़ रही है। कनाड़ी का प्राचीन साहित्य ऊँचे दरज़े का है और नये साहित्य में भी अच्छी उन्नति हो रही है। बंगलौर में कनाड़ी-साहित्य-परिषद का अपना भवन है, पुस्तकालय है और उसके द्वारा कनाड़ी-साहित्य के अच्छेग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। मैसूर में मुझे कई कनाड़ी-साहित्य-सेवियों की सेवा में हाज़िर होने का अवसर मिला। कई अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तरह कनाड़ी को भी यह शंका होने लगी है कि हिन्दी-प्रचार से कनाड़ी की प्रगति में कुछ बाधा न पहुँचे। इसका कारण यही मालूम होता है कि हिन्दी प्रचार के उद्देश्य के विषय में कुछ भ्रम अभी तक बाक़ी है। हिन्दोस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हरगिज़ नहीं है कि वह प्रान्तीय भाषाओं का स्थान छीन ले। वह तो अंग्रेज़ी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है, जो उसने भारतवर्ष में प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं में कुछ वही सम्बन्ध रहेगा, जो प्रान्तीय कौंसिलों और भारतीय एसेम्बली में है। एसेम्बली प्रान्तीय कौंसिलों के किसी काम में बाधा नहीं डालती। हाँ, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनका सम्बन्ध पूर्ण भारत से है और एसेम्बली उन्हीं के विषय में व्यवस्था करती है। जो लेखक या पत्रकार अपनी पुस्तक या पत्र का सारे भारतवर्ष में प्रचार चाहेगा, उसके लिए अंग्रेज़ी माध्यम की जगह हिन्दी माध्यम का साधन उपस्थित कर देना ही हमारा ध्येय है। आख़िर कोई ऐसा दिन तो आयेगा ही, चाहे वह दूर भविष्य में ही क्यों न आये, कि भारत अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के साथ अन्य राष्ट्रों के पहलू में बैठे। अगर हम भारत को एक देश न मान कर महाद्वीप मान लें, जिसमें बहुत से देश हैं, तब भी तो हमें एक प्रधान भाषा की ज़रूरत पड़ेगी ही, जिसमें अन्तर्देशीय व्यवहार किया जा सके। हाँ, अगर इन देशों में कोई सम्बन्ध ही न रहे, तो दूसरी बात है। तब तो एक प्रान्त भी अपनी प्रथक सत्ता न क़ायम रख सकेगा। हमारा ख्याल है कि हिन्दुस्तानी का प्रचार साहित्य-सेवियों के लिए यश और कीर्ति का एक महान क्षेत्र खोल देता है और प्रान्तीय भाषाओं को उससे बदगुमान होने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह प्रान्तीय दृष्टि से ही किया है। हम पारिभाषिक शब्दों का कोश बनाते हैं। तो अलग-अलग साधारण कोश बनाते हैं, तो भी अलग-अलग। अगर हमारे पास कोई अन्तरप्रांतीय या राष्ट्र-भाषा-परिषद ऐसी होती, जहाँ प्रतिवर्ष प्रत्येक भाषा के महारथी एकत्र होकर, दो-चार दिन या दो-चार हफ्ते बैठकर राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया करते, तो शायद दस-बीस साल में हमारी एक सम्पन्न राष्ट्रभाषा बन जाती। पृथक्-पृथक् काम करने से समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। दर्शन, विज्ञान, शास्त्र के हज़ारों ही शब्द हैं, जो

सभी प्रान्तीय भाषाओं में एक हो सकते थे। अलग-अलग माथापच्ची करने की ज़रूरत ही न पड़ती।

पाँच दिन मैसूर की मेहमानी खाकर हमने बँगलोर को प्रस्थान किया।

मैसूर से बंगलोर कोई चार घंटे का सफ़र है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही रमणीक है। कहीं हरे-भरे खेत, कहीं आम, नारियल और सुपारी के बाग़ और कहीं हरियाली से ढकी हुई ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ। आकाश में कुछ बादल थे और उस मंद प्रकाश में वह पर्वत। शोभा स्वप्निल हो गयी थी। बीच-बीच घाटियों की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नज़र आ जाते थे, जिनकी क़लई से पुती हुई दीवारें, गाँववालों की सफ़ाई और सुरुचि का पता दे रही थीं। यहाँ की मिट्टी लाल है, जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है। खेतों में जो किसान काम करते नज़र आते थे, उनका पहिरावा कुरता और जाँघिया था। धोती के मुक़ाबले में जाँघिया किफ़ायत की चीज़ है। वहाँ धान के खेत भी बहुत मिले, जिनमें नहर से सिंचाई हो रही थी। अब यहाँ गन्ना भी पैदा होने लगा है और राज्य की ओर से एक शक्कर की मिल भी है।

शाम को हम बँगलोर पहुँच गये। स्टेशन पर हिन्दी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष श्री निट्टूर, श्री निवास राव, श्री जम्बुनाथन जी आदि सज्जन मौजूद थे। हम अध्यक्ष जी के मेहमान हुए।

बँगलोर समुद्र की सतह से तीन हज़ार फीट की ऊँचाई पर है और मैसूर से कुछ ठंडा है। बंगलोर शहर के दो भाग हैं। शहर जो मैसूर राज्य के अधीन है और छावनी पर अंग्रेज़ी सरकार का राज्य है। आबादी तीन लाख के ऊपर है। शहर में तो कोई ख़ास बात नहीं, प्रयाग या लखनऊ जैसा ही है, लेकिन छावनी की सड़कों की सफ़ाई और बँगलों की सजावट देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बँगलोर में और प्रायः दक्षिण में बे आँगन के घर होते हैं। घर में हैसियत के अनुसार दो-तीन-चार कोठरियाँ होती हैं। मकान के सामने एक छोटा-सा बाग़ और चारदीवारी भी बनायी जाती है। हर एक घर बँगले जैसा मालूम होता है।

पहले दिन प्रातःकाल हम लाल बाग़ की सैर करने गये। इसका रक़बा एक सौ एकड़ है। बाग़ की बनावट और सफ़ाई और सुन्दरता साफ़-सुथरी रविशें, फूलों की क्यारियाँ, शीश मंडप मन को मुग्ध कर लेती है। ख़ास बात यह है कि यह पार्क-सुलतान हैदरअली की सुरुचि और वनस्पति-प्रेम की यादगार है। यहाँ पौधों और बीजों की बिक्री होती है और विचित्र प्रकार की वनस्पतियों को विदेशों से मँगाकर उपजाया जाता हैं बँगलोर की सबसे दर्शनीय वस्तु यही पार्क है

बँगलोर से तीन मील पर विज्ञान का वह प्रसिद्ध विद्यालय है, जिसे जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता ने स्थापित किया था। बँगलोर आकर इस विज्ञान-मंदिर के दर्शन करना दुर्भाग्य की बात होती है। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहाँ पहुँचे। विद्यालय बन्द था, पर डॉ. सर सी. वी. रमन ने बड़ी खुशी से हमारा स्वागत किया और हमें विद्यालय के रासायनिक विभाग, पुस्तकालय और लेबोरेटरी की सैर

करायी। मैं दो-चार वैज्ञानिकों से पहले भी मिल चुका हूँ। यह बड़ा समन्वय बड़ा ही आकर्षक, गूढ़, शुष्क और अपनी धुन में मस्त होता है। प्रकृति की अनन्त रहस्यमयी रचनाओं में संदेह विचरते रहने के कारण कदाचित् मनुष्य उसके लिए मामूली पशु-मात्र रह जाता है, लेकिन वैज्ञानिकों के इस प्रिन्स को देखकर मैं चकित हो गया। ऐसा प्रसन्नचित्त व्यक्ति, जिसका पोर-पोर बालकों के सरल उछाह से उबला पड़ता हो, मैंने दूसरा नहीं देखा। वह विज्ञान के आशिक़ हैं। और वह इश्क़ उनकी आँखें में, उनके कपोलों पर, एक-एक अंग में ग्मा हुआ है। वह इस तरह से दौड़-दौड़कर एक-एक चीज़ हमें दिखा रहे थे, मानों कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे और नये कपड़े दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो और चाहता हो कि एक ही साँस में सारी विभूतियाँ दिखा दूँ, जिसमें कुछ बाक़ी न रह जाये। मैं अगर कहूँ कि इसी इन्स्टीट्यूट में उनके प्राण बसते हैं, तो ग़लत न होगा। इसकी एक-एक रविश, एक-एक फूल, एक-एक पौधे, यहाँ तक कि उसके मनोरम प्राकृतिक दृश्य पर भी उन्हें गर्व है, मानो वह प्राकृतिक छटा भी उनकी अपनी रचना हो। इस विद्यालय से देश को अब तक क्या लाभ पहुँचा है, यह तो कोई वैज्ञानिक ही जानता होगा, हम तो सर रमन के व्यक्तित्व की छाप हृदय पर लेकर आये। विद्युत्-विभाग और अन्य विभाग बन्द थे, वह हम न देख सके। सर रमन ने हमे एक मज़े का तमाशा दिखाया, जो हमारे लिए तो खेल था, पर बुद्धिमानों के लिए तात्त्विक छान-बीन की चीज है। तबले के चर्मभाग पर चुटकी भर बालू विखेर दो और तबले पर एक थाप मारो। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार मे प्रकट होती है। सर रमन जिस ज़िन्दादिली और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे, वह देखकर कौन ऐसा मुर्दा दिल होगा, जो गद्‌गद न हो उठता।

चार बजे हम डॉक्टर साहब से विदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश बड़े लोग अपने बड़प्पन को अपनी क़ब्र न बनाकर ज्योति बना सकते, तो उससे कितना प्रकाश फैलता।

उसी दिन हमने चीनी के बर्तनो का क़ारखाना देखा, जो इन्स्टीट्यूट से मिला हुआ है। क्रिया बिलकुल कुम्हारों की-सी है। एक ख़ास तरह की मिट्टी यहाँ निकलती है, जिसमें दो-एक चीज़ें मिला देने से लुगदी तैयार हो जाती है। लुगदी को भिन्न-भिन्न साँचों में डालकर बाहर निकालते हैं, फिर सुखाते हैं, रंगते हैं, और भट्टी में पकाते हैं। शो-रूम यहाँ के बने हुए खिलौनों और मूर्तियों और फूलवानों आदि का अच्छा संग्रह है जिससे मालूम होता है कि इस काम में यहाँ कितनी उन्नति हुई है। नल, खपरे, मार्बल, तार की चिड़ियाँ सब कुछ यहाँ तैयार होती हैं। मैसूर-राज्य में बिजली का व्यवहार बड़ी कसरत से होता है, उसके लिए चीनी का जितना सामान दरकार होता है, वह इसी कारख़ाने में तैयार होता है।

बैंगलोर में भी मैसूर की भाँति हिन्दी का अच्छा प्रचार हो रहा है। यहाँ नेशनल हाई स्कूल में तो हिन्दी लाज़िमी कर दी गयी है। कुछ उद्योग धन्धे भी सिखाये जाते

हैं। यहाँ एक जलसा हुआ, जिसके सभापति प्रो. ए. आर. वाडिया थे। प्रो. वाडिया मैसूर हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रेसिडेण्ट हैं। मैसूर में उनके दर्शन न हो सके थे। वह सौभाग्य यहाँ मिला। आपको हिन्दी और उर्दू से विशेष रुचि है मगर बोलते हैं अंग्रेज़ी में और बहुत अच्छा बोलते हैं। स्कूल हेड मास्टर श्री सम्पतराव गिरि, एम. ए. भी हिन्दी के उपासक हैं और आपने तुलसीकृत रामायण का कनाड़ी गद्य में अनुवाद किया है। इस स्कूल के साथ एक व्यायामशाला भी है, जिसे गत वर्ष महात्मा जी ने खोला था।

बँगलोर में महिलाओं की कई संचालित संस्थाएँ हैं और प्रायः उन सभी में हिन्दी पढ़ायी जाती है। सिलाई, बुनाई, कताई, बेंत का काम, संगीत, कसीदे काढ़ना प्रायः सभी संस्थाओं में जारी है। अध्यापन और संचालन-कार्य देवियों ही के हाथों में हैं। कहीं-कहीं लड़कियों के लिए व्यायामशालायें भी हैं। स्त्रियों की यह जाग्रति राष्ट्र के आशाःप्रद भविष्यत् की सूचक है। यहाँ का कोमल जलवायु संगीत के लिए बहुत अनुकूल जान पड़ता है। सभी महिला-समाजों में संगीत का प्रचार है। वीणा यहाँ का प्यारा बाजा है। काश, ये देवियाँ महीने में दो दिन आस-पास के देहातों की भेंट कर दिया करें, तो गाँववाली स्त्रियों को भी उनकी जाग्रति का कुछ प्रकाश मिले। यों तो सभी संस्थाएँ तरक्की कर रही हैं; पर मल्लेश्वरम् महिला-समाज की उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ 1930 में हिन्दी क्लास खोला गया। पहले साल केवल चार देवियाँ परीक्षा में बैठीं और गतवर्ष यह संख्या बढ़कर पैंतालीस तक पहुँच गयी। इसी संस्था की दो देवियाँ प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ रही हैं। अव तक तीन सौ देवियाँ इस समाज से हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं। यहाँ एक वाग्वर्धिनी सभा भी है, जिसमें देवियाँ सामाजिक विषयों पर मुबाहसे करती हैं। इतना ही नहीं, यहाँ से 'समाज भारती' नाम का एक हिन्दी त्रैमासिक पत्र भी निकलता है, जिसमें देवियाँ भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखती हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों और राष्ट्र नेताओं के भाषण भी होते हैं। एक बार महात्मा जी भी यहाँ अपना अमृत उपदेश कर चुके हैं। इस कीर्ति पर कौन-सी संस्था गर्व न करेगी ?

कनाड़ी भाषा और साहित्य-परिषद भी बँगलोर में ही है। हमने बड़ी श्रद्धा से इस साहित्य-मंदिर की परिक्रमा की। अच्छा ख़ासा परिषद् का अपना भवन है, जिसमें एक हाल है, एक पुस्तकालय, वाचनालय और दफ़्तर। कनाड़ी भाषा के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं आजकल परिषद में मैसूर राज्य के प्रोत्साहन से एक वृहद कनाड़ी-अंग्रेजी कोश बन रहा है, जिसके एडिटर और कोष-मंडल के अध्यक्ष एक वयोवृद्ध सज्जन प्रो. वेंक़ट नारायणप्पा हैं। आप जिस उत्साह और तन्मयता से यह कार्य-सम्पादन कर रहे हैं, वह जवानों को लज्जित करता है। आप पहले मैसूर विश्वविद्यालय में केमिस्ट्री के अध्यापक थे। अब पेंशन पाते हैं। कनाड़ी साहित्य बहुत पुराना है और इसका काव्य साहित्य तो बड़े ऊँचे दरजे का है। नया साहित्य भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। परिषद् के कुशल उपसभापति

श्री गुडप्पा जी के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें हुआ। आप साहित्य के एक यशस्वी लेखक और कवि हैं और प्राचीन साहित्य के गहरे विद्वान। कनाड़ी साहित्य कितना धनी है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इसमें लगभग बारह सौ कवि हो गये थे, जिनमें पचीस महिलाएँ थीं और पचीस राजे-रईस। एक विद्वान ने तीन ज़िल्दों में उनके जीवन-चरित्र लिखकर कनाड़ी साहित्य के इतिहास की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अगर कनाड़ी साहित्य की कुछ चीज़ें हिन्दी-साहित्य में आ सकें, तो आदान-प्रदान से दोनों ही भाषाओं को लाभ हो। कुमार व्यास की अमर कृति 'भारत' शायद कनाड़ी साहित्य का सबसे उत्तम ग्रन्थ है। कनाड़ी विद्वानों का कहना है कि ऐसे कवि भारतवर्ष में दो ही चार हुए हैं। अब इस प्रान्त में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, तो शायद भविष्यत् में कोई कनाड़ी विद्वान अपने साहित्य-रत्नों को हिन्दी में भेट करे। 'हंस' में गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेज़ी पत्रों के संग्रहणीय और विचारपूर्ण लेखों पर टिप्पणियाँ दी जाती हैं अगर कोई हिन्दी जाननेवाले कनाड़ी विद्वान कनाड़ी के सामयिक साहित्य पर टिप्पणियाँ लिखकर 'हंस' में भेजने की कृपा करें, तो 'हंस' उपकार मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करेगा, बल्कि अपना गौरव समझेगा।

बँगलोर में मि. के. वी. अय्यर का व्यायाम मन्दिर भी देखने की चीज है। मालूम नहीं अय्यर महोदय ने इसका नाम हर्क्यूलीस व्यायाम मन्दिर क्यों रखा है। हमारे हनुमान जी तो हर्क्यूलीस से कुछ कम न थे। हर्क्यूलीस ने अगर पहाड के दो टुकड़े कर दिये थे, तो हनुमान जी सूर्य को साफ निगल गये थे और धोलागिरि पर्वत को एक हाथ पर उठाकर कोई ढाई हज़ार मील दौड़ते चले आये थे। इस मन्दिर में युवकों को हर एक तरह का व्यायाम सिखाया जाता है। अय्यर स्वयं बड़े ही सुगठित शरीर के स्वामी हैं, और आपके कई शिष्य अच्छे-खासे पहलवान हैं। आपने सूर्य नमस्कार के आधार पर अपनी एक व्यायाम-विधि निकाली है और इस विषय का बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित कर चुके हैं, हम उनसे मिल तो न सके, क्योंकि उस दिन वह कहीं बाहर गये हुए थे। लेकिन उनके सचित्र बुकलेट जो हमने पढ़े, उससे मालूम हुआ कि आपने नवीन और प्राचीन विधियों का मिश्रण करके एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निकाला है, जिसमें थोड़े समय में ही आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सकता है। और यह पहलवान अपने बाल्यावस्था मे बहुत ही दुबला-पतला था। ऐसे मन्दिरों की प्रत्येक नगर में जरूरत है और हमारा ख़याल है कि जनता उनका बड़े हर्ष से स्वागत करेगी।

मैसूर राज्य में हिन्दी अभी तक अख़्तियारी मज़मून है। हिन्दी प्रेमियों की ओ से यह आन्दोलन हो रहा है कि हिन्दी को लाज़िमी बना दिया जाये। अगर यह उद्योग सफल हो जाये, तो हिन्दी प्रचार, दुगुनी गति से बढ़ने लगे। इसी विषय पर। विचार विनिमय करने के लिए मैं मैसूर राज्य के दीवान सर मिर्ज़ा इस्माइल ख़िदमत में हाज़िर हुआ। दीवान साहब बड़े ही विद्या प्रेमी और उदार व्यक्ति हमारी बातचीत हिन्दुस्तानी में हुई। उर्दू साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय है;

बेतकल्लुफ उर्दू बोलते हैं। हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रभाषा की ज़रूरत को वह भी स्वीकार करते हैं और इस आन्दोलन से उन्हें सहानुभूति है, लेकिन एक सांस्कृतिक विषय मे वह सरकारी तौर पर कोई कार्रवाई करने के पक्ष में नहीं हैं। जब तक यह माँग इतनी बलवान नहीं हो जाती कि कार्यकारिणी समिति इसे बहुमत से स्वीकार कर ले, तब तक राज्य इसमें दखल देना मुनासिब नहीं समझता। सब कुछ राष्ट्र भाषा के प्रेमियों और प्रचारकों के धैर्य, उत्साह और सेवा पर मुनहसर है। जब तक हम हिन्दुस्तानी को सर्वसम्मति से राष्ट्रभाषा स्वीकार न करा लें, तब तक राज्य उसे कैसे स्वीकार करेगा। दीवान साहब हमारे साथ बड़े मेहरबानी से पेश आये। गोरे अधिकारियों ने हमे यह सिखाया है कि अधिकार और सज्जनता में मेल नहीं होता। दीवान साहब इसके अपवाद हैं। आपसे मिलकर फिर-फिर मिलने की इच्छा होती है।

हमने चौथे दिन बॅंगलोर से पूना को प्रस्थान किया। श्री निवासराव जी ने हमारा जो सत्कार किया, उसके लिए हम उनके एहसानमन्द हैं। आप हैं तो एक हड्डी के व्यक्ति, मगर आपके पोर-पोर मे सजीवता भरी हुई है। आप वकील हैं, प्रकाशक हैं, लेखक हैं और हिन्दी प्रचार के स्तंभ हैं। आपने कनाडी भाषा में 'बुक ऑफ नॉलेज' के ढंग की एक माला मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करना आरम्भ किया है और शायद उसके चार नम्बर निकल चुके हैं। इसमें अनेक ब्लाक हैं, और साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, कला-कौशल, जीव शास्त्र, वनस्पति आदि अनेक विषयों पर बालकोपयोगी निबंध हैं। और चेष्टा की गयी है कि उसकी भाषा सरल, सजीव और रोचक रहे। हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई माला नहीं निकली। श्रीनिवासराव इसका एक हिन्दी एडिशन निकालने का प्रबन्ध कर रहे हैं। ब्लाक उनके पास है ही, केवल निबन्धों का सरल हिन्दी में अनुवाद करना है। हमें आशा है कि हिन्दी मे इस माला का आदर होगा। बच्चों के लिए हिन्दी में किस्से कहानियाँ तो बहुत निकली हैं, लेकिन ज्ञान बढ़ानेवाली पुस्तकों का अभाव है। इस संग्रह से यह कमी पूरी हो जायेगी।

('हंस', फरवरी-मार्च, 1935)